खादी और ग्रामोद्योग कमीशन

- खादी और ग्रामोद्योग कमीशन एक विधि निर्मित संस्था है, जिसकी स्थापना संसद के अधिनियम (१९५६ के ६१ वें) के मुताबिक अप्रैल १९५७ में हुई। इसका काम है अपने अन्तर्गत चलनेवाले १५ ग्रामोद्योगों के लिए योजना बनाना, संगठन करना तथा उनके विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना। स्थापना होने पर इसने भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल का कार्य अपने हाथ में लिया। कमीशन के पांच सदस्य हैं, जिनमें से एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और एक सदस्य-सचिव हैं। इसके सलाहकारी खादी और ग्रामोद्योग मण्डल में ४८ सदस्य हैं। कमीशन साधारणतया इस सलाहकारी मण्डल की राय से कार्य करता है।

- कमीशन के अन्तर्गत खादी के अतिरिक्त ये ग्रामोद्योग हैं अनाज तथा दालों का प्रशोधन, तेल घानी, ग्रामीण चर्म, कुटीर दियासलाई, गुड़-खाण्डसारी, ताड़-गुड़, अखाद्य तेल तथा साबुन हाथ कागज, ग्रामीण कुम्हारी, मधुमक्खी-पालन, रेशा, बढ़ईगीरी तथा लोहारगीरी, खाद तथा मिथेन गैस का उत्पादन व उपयोग और चूना पत्थर तथा उसके उत्पादन।

- कमीशन के कार्यक्षेत्र में खादी तथा ग्रामोद्योगों के उत्पादन का कार्य स्वयम् करने, उनके लिए सहायता तथा प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त ये कार्य भी मुख्य रूप से सम्मिलित हैं खादी तथा ग्रामोद्योगों के उत्पादन-कार्य में लगे कारीगरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना तथा उन्हें अपनी सहकारी समितियाँ बनाने में प्रोत्साहन देना।

- कमीशन खादी तथा ग्रामोद्योगी वस्तुओं के उत्पादकों को सप्लाई करने के लिए कच्ची सामग्री तथा औजारों का संग्रह भी करता है। खादी तथा ग्रामोद्योगी उत्पादनों के बेचने की व्यवस्था करने का कार्य भी कमीशन के जिम्मे है।

- कमीशन को खादी तथा ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में प्रयुक्त होनेवाली प्रविधियों के विषय में अनुसंधान कराने तथा उसे प्रोत्साहन देने और खादी तथा ग्रामोद्योगों से सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन के लिए सुविधाएँ प्रस्तुत करने का कार्य भी सौंपा गया है।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष • जनवरी १९६४ चतुर्थ अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ में मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थ शास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नहीं है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखों पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं ५७१८५२।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार आवश्यक नहीं कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क : ३.५० रुपये, एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स आफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६।

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	—खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
सुशील चन्द्र चौधरी	—नयी दिल्ली स्थित केन्द्रीय खाद्य और कृषि मंत्रालय में आर्थिक और सांख्यिकी सलाहकार।
रघुवीर गिरी	—नयी दिल्ली स्थित केन्द्रीय खाद्य और कृषि मंत्रालय के आर्थिक और सांख्यिकी निर्देशालय के सलाहकार।
विद्या सागर महाजन	—कलकत्ता स्थित केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के औद्योगिक सांख्यिकी विभाग से सम्बद्ध।
दत्तात्रेय नाथोबा दान्डेकर	—बम्बई राज्य के भूतपूर्व उप-मंत्री और प्रसिद्ध तथा अनुभवी समाजसेवी।
विमल शाह	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अहमदाबाद स्थित सघन क्षेत्र योजना (गुजरात) के विकास अधिकारी।
माखन लाल भट	वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित कृषि आर्थिक अनुसंधान केन्द्र में वरिष्ठ अनुसंधान सहायक।
कमल बनर्जी	—खारा (पश्चिम बंगाल) से प्रकाशित **मुर्शिदाबाद समाचार** के सम्पादक।
तंडलम् सोमसुन्दर यशवंत	—मद्रास विश्वविद्यालय के कृषि अर्थशास्त्र अनुसंधान केन्द्र में वरिष्ठ अनुसंधानकर्त्ता
सुभाष चन्द्र सरकार	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित **खादी ग्रामोद्योग** तथा **जागृति** के सम्पादक

दरिद्रता का आभिशाप

विवेकानन्द

भारत को अगर कोई आशा है तो वह एक मात्र उसकी साधारण जनता से

*　　　*　　　*

क्या तुम्हें मनुष्य से प्यार है ? ईश्वर की खोज में कहां भटक रहे हो ? क्या ये सारे गरीब, दुखी और निर्बल ही ईश्वर नहीं हैं ? पहले इन्हीं की पूजा क्यों नहीं करते ? गंगा के तीर पर रहते हुए भी जल के लिए कुआँ खोदना कैसा ?

*　　　*　　　*

हमारे दैनिक स्वभाव की सार्थकता तभी सिद्ध होगी जब दूसरे भी वैसा ही करने को अभिप्रेरित होंगे।

प्रकृति में वैषम्य होते हुए भी सबको समान अवसर मिलने चाहिए—या किसी को ज्यादा और किसी को कम भी मिले तो भी निर्बल को सबल से अधिक अवसर मिलने चाहिए।

*　　　*　　　*

मैं किसी ऐसे ईश्वर या धर्म में विश्वास नहीं करता जो विधवाओं के आँसू न पोंछ सके या अनाथों के मुंह तक रोटी का टुकड़ा न पहुँचा सके। सिद्धान्त चाहे कितने भी ऊँचे क्यों न हों, दर्शन कितना भी तर्कयुक्त क्यों न हो, जब तक वह पोथियों और रुढ़ियों में बन्द है, मैं उसे धर्म नहीं कह सकता। ईश्वर को कहाँ ढूंढ़ रहे हो ? क्या ये सारे गरीब, दुखी और निर्बल ही ईश्वर नहीं हैं ? पहले इन्हीं की पूजा क्यों नहीं करते ?

*　　　*　　　*

कल एक महिला जेलखाने के सुपरिण्टेण्डेण्ड से मिलने आयी थी। वे उस जेलखाने को जेलखाना न कह कर सुधारगृह कहते हैं। मैंने अमेरिका में यह सबसे बड़ी चीज देखी। वहाँ रहनेवालों के साथ कितना सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार किया जाता है, उनमें सुधार लाकर समाज के लिए उपयोगी बना कर उन्हें किस प्रकार वापस भेजा जाता है। यह कितनी बड़ी बात है, कितनी खूबसूरत है ! इन सब को देखिए तब विश्वास होगा। और तभी भारत के गरीबों और दलितों की याद आते ही मेरा हृदय द्रवित हो जाता है। उन्हें कोई अवसर नहीं, बचने की गुंजाइश नहीं, ऊपर उठने का कोई सहारा नहीं। भारत के उन गरीबों, दलितों एवम् पतितों का कोई मित्र नहीं, कोई सहारा नहीं। वे उठ नहीं सकते, चाहे कितनी भी कोशिशें क्यों न करें। दिन-प्रति-दिन वे डूबते ही जा रहे हैं। क्रूर समाज के थपेड़ों को वे महसूस तो करते हैं, पर यह नहीं जानते कि ये थपेड़े उन पर कहाँ से बरसाये जा रहे हैं। वे इस 'सत्य' को भूल चुके हैं कि वे भी इन्सान हैं। और इसीलिए गुलामी भोग रहे हैं।

*　　　*　　　*

मैं महात्मा उसी को कहता हूँ जिसका हृदय गरीबों के लिए द्रवित होता है, नहीं तो वह धूर्तात्मा है, जब तक करोड़ों इन्सान भूख और अज्ञान से पीड़ित हैं, मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को गद्दार समझता हूँ जो उनके बूते यानी खर्च पर पढ़ा-लिखा है पर उनकी ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं देता। मैं उन लोगों को क्रूर कसाई समझता हूँ जो गरीबों को चूस कर शान से अकड़ते चलते हैं और उन करोड़ों के लिए, जो भूख कंकाल बन चुके हैं, कुछ नहीं करते।

*　　　*　　　*

इस उर्वर देश में, जहाँ जल का कोई अभाव नहीं और स्वयम् प्रकृति अन्य देशों से हजार गुना अधिक धन

और फसल प्रदान करती है, तुम्हारे पेट में अन्न नही, तन ढांकने को वस्त्र नही ! धन-धान्य से परिपूर्ण इस देश मे जहाँ की वस्तुओं के प्रसार के साथ दुनिया के अन्य देशों मे सभ्यता का प्रसार हुआ, तुम इतने अध पतन की अवस्था तक पहुँच गये ! तुम्हारी हालत कुत्ते से भी बदतर हो चुकी है। फिर भी, तुम अपने वेदो और वेदान्तो की गरिमा का राग अलापते फिरते हो !

*　　*　　*

जो राष्ट्र स्वयम् के लिए महज भोजन और वस्त्र की भी व्यवस्था न कर सके, जीने के लिए दूसरो पर आश्रित रहे, तो वह जीता ही क्यो है ? इस समय अपने धार्मिक ख्यालात उतार फेंको और सबसे पहले अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष करने को तैयार हो जाओ !

*　　*　　*

सैकडो वर्षों से अपने दिमाग पर जमे हुए अध-विश्वास का भार लेकर बैठे-बैठे, सैकडो वर्षों से भोजन की अस्पृश्यता और स्पृश्यता पर बकवास मे शक्ति का व्यय करते-करते, युगो की लगातार सामाजिक क्रूरता से कुचली हुई मानवता को लेकर आज तुम कहाँ हो ? और अब क्या कर रहे हो ? हाथो मे किताबे लेकर समुद्र के किनारे घूमना, यूरोपीय दिमागी बकवासो की पुनरावृत्ति और महज तीस रुपये की किरानागिरी करने या ज्यादा से ज्यादा वकील बनने की आत्म-प्रवचना—नये भारत की महत्वाकाक्षा—और फिर, प्रत्येक विद्यार्थी के पैरो पर सर पटक-पटक कर रोटी मागनेवाले भूखे बच्चो का समूह ! क्या समुद्र मे इतना जल नही है कि तुम तुम्हारी किताबे, गाउन, विश्वविद्यालय की उपाधियाँ और सब कुछ उसी मे डूबो दो ?

*　　*　　*

आलस्य, नीचता और अहमन्यता ने सारे देश को आच्छादित कर रखा है। क्या कोई प्रखर व्यक्ति इस अवस्था को देख कर शात रह सकता है ? क्या उसकी आखो मे आँसू नही आ जायेगे ? मद्रास, बम्बई, पजाब, बगाल जहाँ-कही भी मै देखता हू, जीवन के चिन्ह कही दिखायी ही नही पडते। तुम समझते हो कि तुमने उच्च शिक्षा प्राप्त की है। किन्तु क्या बकवास तुमने पढा है ? दूसरो के विचारो को विदेशी भाषा से दिलो मे उतार कर और किसी विश्वविद्यालय की डिग्री लेने के लिए माथा-पच्ची करके तुम समझते हो कि तुम पढे-लिखे हो। लानत है तुम्हारे ऊपर। क्या यही शिक्षा है ? तुम्हारी शिक्षा के उद्देश्य क्या है ? किरानागिरी करना या कफन-खसोट वकील बनना या ज्यादा-से ज्यादा डिप्टी मजिस्ट्रेट बन जाना जो किरानागिरी का ही दूसरा रूप है। उससे तुम्हारा या तुम्हारे देश का क्या भला होनेवाला है ? अपनी आँखे खोलो और देखो, इस भारत देश मे, जिसकी धन-सम्पत्ति की गाथाएँ गायी जाती है, अन्न के लिए कितना करुण क्रदन उठ रहा है। क्या तुम्हारी शिक्षा इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है ? कभी नही।

पाश्चात्य विज्ञान की मदद लेकर तुम जमीन खोदो और खाद्यान्न पैदा करो, दूसरो की नीच बटाइदारी के जरिये नही, बल्कि पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से अपने प्रयासो के जरिये उत्पादन के नये क्षेत्रो का पता लगाओ। इसीलिए मै इन देशवासियो को पुरजोर काम करने का उपदेश देता हूँ, ताकि वे अपने लिए खाद्यान्न और वस्त्र उत्पादित करने मे सक्षम हो जाय। खाद्यान्न और वस्त्र की कमी और उसकी चिता मे व्यग्र, हमारे देश का सर्वनाश हो चुका है।

इसका क्या उपाय है, तुम्हारे पास ? अपने धर्म ग्रन्थो को गगा मे फेक दो और जनता को पहले खाद्यान्न और वस्त्र प्राप्त करने के उपाय सिखलाओ। तभी तुम्हे उन्हे धर्म ग्रन्थ सुनाने के अवसर मिल सकेगे। पुरजोर काम करने की प्रवृत्तियो को उभाड कर अगर उनके भौतिक अभावो की पूर्ति नही की गयी, तो आध्यात्मवादी शब्दो को कोई सुनेगा नही। इसीलिए, मै कहता हूँ कि पहले स्वयम् के अन्दर आत्म शक्ति को ऊपर उठाओ और तब उसके प्रति यथा शक्ति आम जनता का विश्वास प्राप्त कर, उन्हे सबसे पहले यह सिखाओ कि

वे खाद्यान्न कैसे प्राप्त कर सकते है। सुस्त होकर बैठने का समय नही है। कौन जानता है, मौत का झपट्टा कब किस पर पडे!

* * *

और, सबसे बडी बात तो यह है कि हम अत्याचार और जुल्म बन्द करे। कितनी हास्यास्पद स्थिति मे हमे ला दिया गया है। अगर कोई भगी कही भगी के रूप मे आता है तो मानो गजब हो गया। लेकिन वही भगी अगर अपने सर किसी पादरी के हाथ से पानी डलवा कर और एक कोट पहन कर, चाहे उसके तार-तार ही क्यो न हो गये हो, किसी रूढीवादी हिन्दू के घर मे भी आता है तो मै देखता हूँ कि कोई उसे कुर्सी देने या उससे हाथ मिलाने मे इन्कार करने का साहस नही करता। इससे बढकर और दुर्भाग्य क्या होगा?

* * *

क्या वह भी कोई धर्म है जो गरीबो के दुख दूर न करे और मनुष्य को ईश्वर के रूप मे न बदल दे? क्या तुम ऐसा सोचते हो कि हमारा धर्म अपने नाम के अनुरूप है? हमारा धर्म तो 'छूओ मत' है, सिर्फ छूओ मत, छूओ मत! भगवान बचाय! ऐसा देश, जिसके नेतागण पिछले दो हजार वर्षों के अन्दर सिर्फ इसी की विवेचना करते आ रहे हो कि दाहिने हाथ से भोजन करना या बाये हाथ से,दाहिने हाथ से पानी पीना है या बाये हाथ से, तो फिर अगर वह देश सर्वनाश को प्राप्त न होगा तो दूसरा कौन होगा?

आओ, इन्सान बनो! उन पुरोहितो को जो प्रगति के विरोधी है, निकाल बाहर करो, क्योकि वे बदल नही सकते, उनका हृदय कभी महान् नही होगा। वे सदियो के अध-विश्वास और अत्याचार की पैदाइश है। पहले उनकी पुरोहिती खत्म करो। आओ, इन्सान बनो। अपने दरबो से निकल कर विशाल दुनिया को देखो। देखो अन्य राष्ट्र कैसे आगे बढ रहे है। क्या तुम्हे इन्सान से प्यार है? क्या तुम्हे अपने देश से प्यार है? अगर हाँ, तो आओ, ऊँची और बेहतर चीज के लिए हम सघर्ष करे। पीछे मत देखो, अगर कोई अपना रोता-चिल्लाता हो, तो भी मत देखो। पीछे नही आगे देखो।

* * *

अपने देश के गरीब लोगो को अन्न के लिए जब तरसते देखता हूँ तो मन मे आता है कि पूजा के सारे नैवेद्य उठा कर फेक दू और चरित्र और साधना के बल से गाँव-गाँव घूम कर धनिको से धन माग कर सग्रह करू और गरीबो की सेवा मे जीवन अर्पित कर दू।

* * *

अफसोस! देश के गरीबो की खोज-खबर लेनेवाला कोई नही है। ये ही लोग देश की रीढ है, ये ही मेहनत करके खाद्यान्न पैदा करते है। ये गरीब भगी और मजदूर अगर एक रोज के लिए भी काम बन्द कर दे, तो शहर तबाह हो जाय। पर, उनके साथ किसी को हमदर्दी नही, उनके दुखो मे उन्हे सात्वना देनेवाला भी कोई नही। क्या इतना उदार और दयावान इस देश मे कोई है? यहाँ तो सिर्फ 'मत छूओ' वाले ही रहते है। इन सारी कुरीतियो को दूर करो। मै कभी-कभी जब 'मत छूओ' की दिवारो को तोड देने की आवश्यकता महसूस करता हूँ तो शीघ्र बाहर निकल कर ऊँची आवाज मे टेरता हूँ— 'सारे गरीब, दुखी, दलित और कमजोर लोगो, आओ,' और उन सबको श्री रामकृष्ण के नाम पर एक करना चाहता हूँ। जब तक वे नही उठेगे, माँ नही उठेगी। हम उनके लिए अन्न, भोजन और वस्त्र की व्यवस्था न कर सके, तब हमने किया क्या? हाय-हाय! वे दुनिया को कुछ भी नही जानते, और इसीलिए दिन-रात काम करके भी अपने लिए भोजन और वस्त्र प्राप्त नही कर सकते। हम लोग, उनकी आँखे खोले। मै दिन के प्रकाश की तरह देखता हूँ कि उनके और मेरे बीच एक ही ब्रह्म है। एक ही शक्ति सब मे मौजूद है। फर्क सिर्फ आत्म प्रकाश मे है। अगर सारे शरीर मे रक्त प्रवाहित नही हो पाता, तो लकवा मार जाता है, पहले एक अग मे, फिर सारे शरीर मे। उस शरीर का

फिर क्या किया जा सकता है ? इस सत्य को जान लो।

* * *

मेरे जीवन का एक मात्र उद्देश्य यही रहा है कि एक यंत्र चलाया जाय, जो प्रत्येक व्यक्ति के द्वार तक अच्छे विचार पहुँचाये, और तब नर-नारियों को अपने भाग्य का फैसला कर लेने दो। उनको यह समझाओ कि हमारे और अन्य देशों के पुरखो ने जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार किये है। उन्हे खास कर यह बताना है कि दूसरे अब क्या कर रहे है, और फिर उन्हे अपना निर्णय स्वयम् लेने दो। हमे समस्त रासायनिक पदार्थ एक जगह रख देने है, प्रकृति स्वयम् उन्हे ठोस बनायेगी। कठिन मेहनत करो, स्थिर रहो और ईश्वर पर विश्वास रखो। काम करो, मै देर-सबेर आ ही रहा हूँ। एक ही उद्देश्य सामने रखो, "धर्म को बिना नुकसान पहुचाये सर्व साधारण को ऊपर उठाना।"

याद रखो कि राष्ट्र झोपडियो मे रहता है। पर अफसोस ! उनके लिए किसी ने कुछ नही किया। हमारे आधुनिक सुधारवादी विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए व्यस्त है। दर-असल मै प्रत्येक सुधारवादी कार्य का हिमायती हूँ, पर किसी राष्ट्र का भाग्य इस बात पर निर्भर नही करता कि कितनी विधवाओ को फिर से पति मिल गये, बल्कि आम जनता के हालात पर। क्या तुम उनमे जागृति ला सकते हो ? क्या उनकी आध्यात्मिक प्रकृति को बिना किसी तरह का नुकसान पहुंचाये, उनका खोया हुआ व्यक्तित्व उन्हे वापस दिला सकते हो ? क्या तुम अपनी समानता, स्वातत्र्य, कर्म और शक्ति की भावनाओ के सम्बन्ध मे घोर पाश्चात्यवादी बने रहने के साथ-साथ धार्मिक, सास्कृतिक तौर पर और अन्तप्रेरणा से मूलत हिन्दू रह सकते हो ? यह करना है और हम करेगे। तुम सब इसे करने के लिए पैदा हुए हो। स्वयम् मे विश्वास रखो, महान विश्वास रखो, महान विश्वास ही महान कार्यों का जनक है। सदा आगे बढे, गरीबो और दलितो के लिए मरते दम तक सहानुभूति रखे, यही हमारा उद्देश्य होना चाहिए। ●

आधुनिक व्यक्ति के जीवन में निश्चयात्मक कारक तकनीको में खोजा जाना चाहिए। हम नयी तकनीको के युग में प्रवेश कर चुके है और वे न सिर्फ जीवन के आर्थिक बल्कि राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रो में भी घुस गयी है। भूतकाल में भी प्राविधिक प्रगति हुई थी, परन्तु हमारे आज के युग की यह एक विशिष्टता बन गयी है कि तकनीको ने अपनी अन्तर्निहित शैतानी शक्ति को प्रकट कर दिया है और वह आदमी को अपना गुलाम बनाने को उद्धत है।

—मैक्सिको के प्रो. लैरोयो द्वारा मैक्सिको मे *थर्टींथ इंटर-नेशनल कॉंग्रेस* ऑफ फिलासफी मे दिये गये भाषण से।

खादी व ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में सहकार : समस्या का मूल

उछरंगराय न. ढेबर

खादी ग्रामोद्योग कार्यक्रम को आगे बढ़ाने, उसे प्रोत्साहन देने के लिए जो व्यक्ति जिम्मेदार है, उन्हें रोजगारी प्रदान करने, तकनीकों में सुधार लाने, सूतकारों व अन्य कारीगरों का सामाजिक तथा आर्थिक दर्जा निर्मित करने के लिए काम करना होगा और यह देखना होगा कि एक ऐसी अवस्था आये कि वे अपना काम कारीगरो के सगठनों को सौंप सके। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन जिस सहकारी सगठन पर जोर देता है उससे जो लाभ प्राप्त होते है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण यह है कि यह स्वरूप मानव मानव के बीच समानता, एक सामूहिक आवाज का होना और प्रत्येक सदस्य में अभिक्रम विकसित करने के लिए अवसर की प्राप्ति सुनिश्चित करता है।

हमें पहले और सबसे पहले, गाधीजी के सगठनात्मक तत्र की तह तक पहुँचना चाहिए। कैसे तो वे इतने सगठन खड़े कर सके और किस तरह इतने विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो के साथ काम कर सके? इसका उत्तर इस तथ्य मे निहित है कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक गतिविधियाँ सभी उनके लिए एक मुख्य साध्य के साधन थे, साध्य था एक भय रहित, गतिशील मानवता—सत्य तथा अहिंसा की ओर आगे बढ रही मानवता-रूपी ठोस आधार पर भारत के सामाजिक एवम् आर्थिक जीवन में पुन प्राण फूंकना। उन्होंने सोचा—और वास्तव में बहुत सही सोचा—कि आदमी को जब तक मौका नही मिलता वह आगे नही बढ सकता, उसका विकास नही हो सकता। अतएव सामाजिक तथा आर्थिक गतिविधियाँ उनके लिए भारतीय पौरुष और नारीत्व के निर्माण हेतु व्यावहारिक मार्ग थे।

व्यक्तित्व विकास

गाधीजी को जो लक्ष्य अथवा साध्य प्रिय था, जिसके लिए उन्होंने काम किया उसे आगे बढाना खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की जिम्मेवारी है। यह काम तभी हो सकता है, जबकि खादी और ग्रामोद्योग जो अवसर उपस्थित करते है उनका उक्त प्रकार की मानवता का निर्माण करने के लिए उपयोग किया जाय। गाधी विचार के अनुसार काम केवल पारिश्रमिक भर प्रदान करने के लिए नही है, उसके मुताबिक मानव के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए वह एक साधन है। इसलिए काम का विवेचन, उससे रुपये-पैसे के रूप मे प्राप्त पारिश्रमिक की शब्दावली में ही नही किया जाना चाहिए। उसका सम्बन्ध वह जिस प्राविधिक ज्ञान का विकास करता है उससे, जो वित्तीय प्रतिष्ठा अथवा साख की पैठ वह जमाता है उससे और प्रबन्ध तथा सगठन मे जिस अभिक्रम को वह प्रोत्साहन देता है, आगे बढाता है, उससे होना चाहिए।

पूंजीवादी व्यवस्था पारिश्रमिक दे सकती है, प्राविधिक ज्ञान का विकास कर सकती है, लेकिन प्रतिष्ठा और व्यवस्थापकीय अभिक्रम के लिए कामगार को उन व्यक्तियो पर निर्भर करना पडेगा जो पूंजी के मालिक है अथवा जिनका उस पर नियत्रण है। नौकरशाही कार्य-कुशलता दे सकती है। वह दूसरे व्यक्तियो को अपने प्राविधिक ज्ञान का विकास करने मे सहायता देगी। लेकिन वह तिजोरी की चाबी और सामरिक महत्व की बातो पर से अपना नियत्रण कभी हाथ से नही निकलने देगी। प्रबन्ध नियन्त्रण तो साम्यवादी

ढाचे मे ढले समाजवादी देशो तक मे भी चन्द व्यक्तियो के हाथ मे ही रहेगा। यदि कोई रास्ता है जिसमे साधारण से साधारण व्यक्ति भी यह आशा कर सके कि जीवन मे उसका जो भी दर्जा हो, विवेक और रुपये-पैसे की दृष्टि से उसके जो भी साधन-स्रोत हो, मानव होने के नाते उसे प्रत्येक दिशा मे अपना अभिक्रम विकसित करने की स्वतत्रता तथा अवसर मिलेगे तो, वह मार्ग गाधीजी की स्वतत्र, भय-मुक्त और अहिंसक समाजवाली कल्पना मे निहित है।

सूनकार और बुनकर तथा धोबी व पिजारे अपनी वर्तमान कठिनाइयों के मध्य भी कमीशन, राज्य मण्डलों और सस्थाओं में काम करनेवाले हम सबसे यह अपेक्षा करते हैं कि हम उन्हे सभ्यता के लाभ प्रदान करवायेंगे। यही प्रन्यासिता (ट्रस्टीशिप) के माने है। एक प्रन्यासधारी न तो जनता के पैसे से चिपक कर यानी उस पर छाती टेक कर ही बैठता है और न तो वह सदैव के लिए प्रबन्ध नियत्रण अपने हाथ में रखने के लिए उसे हडप ही लेता है। वह इसके लिए अवसर की तलाश करता है कि जिनके लिए वह काम करता है वे यथा सभव शीघ्रातिशीघ्र प्रबन्ध अभिक्रम, प्राविधिक ज्ञान और साख हासिल करने मे समर्थ हो।

इस प्रकार कमीशन, राज्य मण्डलो और सस्थाओ के समक्ष एक चौहरा कर्तव्य है

१ काम प्रदान करने के लिए काम करना है,

२ तकनीको में सुधार करने के लिए काम करना है,

३ सूतकारो, बुनकरो आदि का आर्थिक व सामाजिक दर्जा निर्मित करना है, और

४. वैसी स्थिति लाने के लिए काम करना है कि अपना काम उनके हाथ मे सौपा जा सके।

सहकारिताएँ क्यों?

सूतकार, बुनकर आदि उत्पादन करने के लिए जिस प्रकार का सगठन चाहते हो उसका चुनाव कर सकते है। इस सम्बन्ध मे वे पजीकृत सस्था या सहकारी समिति अपना सकते हैं। यदि सस्थाए उक्त चौहरे उद्देश्य की पूर्ति करती है तो कमीशन इस सन्दर्भ मे कोई सख्ती नही बरतना चाहता। सस्थात्मक स्वरूप के बारे में यदि कमीशन सहकारी सगठन का सुझाव देता है तो वह इसलिए कि उसे यह विश्वास है कि इस सम्बन्ध में उससे बहुत लाभ होगा।

सर्व प्रथम, सहकारी व्यवस्था सामाजिक दृष्टि से एक स्वस्थ स्वरूप है। द्वितीय, इससे नौकरशाही का विस्तार नही होता। तृतीय, यह आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद है। चतुर्थ, सहकारी समिति यदि बहुत बडी नही हुई तो सदस्यगण व्यक्तिगत सम्पर्क बढाने मे समर्थ बनते है और इसलिए साथीपन की भावना विकसित करने मे भी। पचम, एकसम आधार पर उधार और प्राविधिक सुविधाएँ प्रदान अथवा प्राप्त करने के लिए वह एक सुविधाजनक साधन बन सकता है। इनके अतिरिक्त और भी लाभ हैं। लेकिन जितने भी लाभ है उनमे सबसे बडा लाभ यह है कि यह स्वरूप मानव-मानव मे समानता, एक सामूहिक आवाज का होना और गाधीजी प्रत्येक सदस्य मे जो अभिक्रम देखना चाहते थे उसका विकास सुनिश्चित करना है। इन सब बातो को देखते हुए ही कमीशन सहकारी विभाग के विस्तार पर जोर देता है।

लोक विश्वास

लेकिन किसी दूसरे आर्थिक सगठन के समान हमारे सामने भी सवाल यह है कि लोगो को इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध मे दिलजमी कैसे करवायी जाय, उन्हे विश्वास कैसे दिलवाया जाय। सम्पर्क स्थापित करके और प्रात्यक्षिको की व्यवस्था करके यह काम किया जा सकता है। अभिक्रम, प्राविधिक ज्ञान और साधन-स्रोतो के निर्माण मे प्रोत्साहन देने हेतु इस सस्थात्मक स्वरूप की क्षमता बढाने के लिए यदि हम दो अन्य कदम उठा सके तो इस विचार-प्रसार मे सुविधा होगी।

प्रथम, कार्य-क्षम सहकारी सगठनो के बारे मे परिपूर्ण जानकारी देना हमारे लिए लाभप्रद होगा। द्वितीय, पजीकृत सस्थाओ का राज्य स्तरीय सगठन की स्थिति से विकेन्द्रीकरण करने के लिए हमे प्रक्रिया यानी विधि तैयार करनी और सुझानी पडेगी कि किस प्रकार क्रमिक रूप से वे अपने काम का विकेंद्रीकरण करके उत्पादन कार्य कारीगरों की सहकारी समितियो को सौंप सकती हैं। वे अपने काम का विकेन्द्रीकरण कर सकती हैं और उत्पादन-तत्र कारीगरो की सहकारी समितियो को सौंप सकती हैं। हाँ, इस बात का ध्यान रखना पडेगा कि सेवा सुविधाएँ कम नही की जाती वरन् बढायी जाती हैं। यह भी देखना होगा कि इस 'लाइन' मे काम करते आ रहे इतर कारीगरों की दिलचस्पी कम नहीं होती, बल्कि बढती है।

अतएव मैं यह सुझाना चाहूँगा कि कमीशन की सहकारी परामर्शदात्री समिति यथा सम्भव शीघ्र ही इस पहलू पर सर्व सेवा सघ की खादी समिति से विचार-विमर्श करे। इसके लिए नमूने के तौर पर चन्द अलग-अलग प्रकार की सहकारिताएँ बनाना आवश्यक होगा, जिनके खण्ड और जिला स्तरीय सहकारी सघ हों, खड और/या जिला स्तरीय सहकारी सेवा सस्थाएँ हो, जिनका खण्ड अथवा जिला स्तर पर पजीकृत सस्थाओ के साथ सजीव सम्बन्ध हो। सस्थात्मक स्वरूप जितना एक समान होगा खादी और ग्रामोद्योगो के हित मे वह उतना ही अच्छा होगा।

उपयुक्त कर्मचारी

द्वितीय प्रश्न है उपयुक्त कर्मचारी तैयार करने का। सस्थाओ को यह देखना होगा कि जिस काम का उन्होने सृजन किया है, उसमे उपयुक्त व्यक्तियो की कमी के कारण कोई बाधा न आने पाये। सबसे बडा सवाल तो है उपयुक्त प्राविधिक कर्मचारियो तथा ऐसे व्यक्तियो की उपलब्धि का, जो ईमानदारी के साथ रुपये-पैसे सम्बन्धी काम सम्हाल सके। कमीशन, राज्य मण्डल व सस्थाओ, सभी को एक साथ बैठ कर ऐसे व्यक्तियो के सम्बन्ध मे सोचना पडेगा। योजना बना ली जाती है तो, मुझे इसमे कोई सन्देह नही कि कमीशन आवश्यक वित्त प्राप्त करने मे समर्थ होगा। मानवीय समानता और स्वतन्त्रता के आधार पर अभिक्रम निर्मित करना खादी आन्दोलन का एक उद्देश्य है और सहकारी विभाग से अपेक्षा की जाती है कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा।

बम्बई ३ दिसम्बर १९६३

यद्यपि प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से गुजराती एक औसतन भारतीय से कुछ अच्छी हालत में है, तथापि इन दोनो की आमदनी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। उपलब्ध प्रमाणो से इस बात का सकेत मिलता है कि खुले आम पूर्ण तथा अर्द्ध-बेरोजगारी का काफी बाहुल्य है। हाल ही में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार ४२ प्रति शत ग्रामीण और ५ प्रति शत शहरी श्रम-शक्ति परिपूर्णत· बेरोजगार है : ग्रामीण क्षेत्रो में कार्य-कारी जन-सख्या के एक-दशाश लोगों के पास उस वक्त जबकि वे काम कर सकते है, इतना काम नही है कि वे अपने को परिपूर्ण रूप से व्यस्त रख सके।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात* : नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

खादी और ग्रामोद्योगों की प्रासंगिकता

वैकुण्ठ ल. मेहता

"भारतीय जनता को एक अच्छा जीवन व्यतीत करने के अवसर" प्रदान करने के लक्ष्य की पूर्ति—जिसकी व्याख्या तृतीय पंच वर्षीय योजना में की गयी है—ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को बहुमुखी बनाये और उस राह पर औद्योगिक उत्पादनों का विकास किये बिना, जोकि आय तथा आर्थिक अधिकार दोनों का ही सकेन्द्रण होने से रोकते हैं तथा ग्रामीण और शहरी आय के बीच का अन्तर कम किये बिना नहीं की जा सकती। राष्ट्रीय योजनाओं में खादी और ग्रामोद्योगों को भावात्मक आधार पर नहीं वरन् 'जांच और मूल्यांकन समितियों' के निष्कर्षों व सिफारिशों की बिना पर शामिल किया गया है।

खादी और ग्रामोद्योग आन्दोलन मे लगे हम कार्यकर्त्ता आजकल अच्छी सोहबत में हैं। कई ऐसे राजनीतिज्ञ तथा प्रचारक हैं, जो आयोजन के दर्शन में विश्वास नही करते अथवा यह दोषारोपण करते हैं कि हमारा आयोजन असफल रहा है। अत एक रविवारीय समाचार पत्र के एक ही अक के कालमो मे हाल ही में दो लेखो का प्रकाशित होना—'खादी और ग्रामोद्योग असफल क्यो रहे हैं' (व्हाई खादी एण्ड विलेज इण्डस्ट्रीज हैव फेल्ड) जिसमें लेखिका का नाम दिया है तथा सम्पादकीय कालम मे लिखा गया 'खादी दर्शन' (दि फिलॉसफी ऑफ खादी)—कोई ताज्जुब की बात नही है। जो लोग देश के गरीब से गरीब लोगो तक उपयोगी कार्यों के माध्यम से जीविकोपार्जन के अवसर प्रदान करने के लिए आयोजित प्रयास की निन्दा करते है, वे हमारे योजित विकास के मूल उद्देश्य के प्रति ही असवेदनशील है, जिसकी व्याख्या तृतीय पच वर्षीय योजना के प्रथम वाक्य में इस प्रकार की गयी है, "मुख्य उद्देश्य निश्चय ही भारतीय जनता को अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए अवसर प्रदान करना है।"

रोजगारी-उन्मुख ग्रामीण औद्योगीकरण

इस उद्देश्य की प्राप्ति तब तक नही हो सकती—जैसा कि दो वर्ष पूर्व 'भारत में आयोजित अर्थ-व्यवस्था की दिशा' पर आयोजित गोष्ठी में कहा गया था—जब तक कि सर्वाधिक प्राथमिकता काम चाहनेवाले हर व्यक्ति को काम देने की व्यवस्था करने को न दी जाय। तदनुसार योजनाधिकारियो के सामने सबसे बडा काम है आबादी के एक बडे भाग के लिए रोजगारी की व्यवस्था करना, ताकि वे कम से कम न्यूनतम भोजन की आवश्यकता तो पूरी कर सके। इसके लिए हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को बहुमुखी बनाना आवश्यक है और उस राह पर औद्योगिक उत्पादनो का विकास करके—जोकि आय तथा आर्थिक अधिकार दोनो का ही सकेन्द्रण होने से रोकते है—ग्रामीण और शहरी आय के बीच का अन्तर कम करना पडेगा।

जैसा कि गोष्ठी ने व्यक्त किया था कि इसकी प्राप्ति छोटी-छोटी पारिवारिक इकाइयो अथवा उत्पादको द्वारा चलायी जानेवाली मध्यम इकाइयों के जरिये उद्योग में स्व-रोजगार का विकास करके हो सकती है। इस प्रकार के विकेन्द्रित औद्योगीकरण के अन्तर्गत एक ऐसे ग्रामीण औद्योगिक विकास के सगठनार्थ प्रयास करना होगा, जिसमें अधिकतम लोगो को रोजगारी मिल सके, विशेष कर यदि कच्चे माल के रूप मे स्थानीय साधन उपलब्ध हो और उत्पादन मुख्यत देहात के लोगो की आम जरूरते पूरी करने हेतु उपभोक्ता सामग्री उपलब्ध कराने के लिए हो।

इस कार्य के लिए अपनायी जानेवाली तकनालाजी का स्तर अनिवार्यत ऐसा करना होगा कि वह विनियोजित पूजी की प्रति इकाई पर काफी लोगो को रोजदारी दे सके। अत उसे ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत आनेवाले गावो मे उपलब्ध पूंजी और श्रम के विशेष मिश्रण के अनुरूप समञ्जित करना होगा। दुर्भाग्यवश देश के अधिकाश भागो मे बहुत अधिक पूर्ण तथा अर्ध बेकारी है। अत इसका मुकाबला करने के लिए निम्म स्तरीय तकनालाजीवाले उद्योगो के लिए जोकि न्यून आय करा सकते है, उपदान की व्यवस्था तब तक करनी ही होगी, जब तक कि क्षेत्र मे कृषि के अलावा अन्य कार्यों मे रोजगारी विस्तार के साथ ही आय का स्तर भी ऊँचा नही उठे।

तकनालाजी का स्तर

यह यथा सभव औद्योगिक गतिविधियो के विकेन्द्रीकरण की ओर सकेत करना है। इस प्रकार का विकेन्द्रीकरण मानवीय उपागम के समानरूप है, जिसके कारण महात्मा गाधी ने शुद्ध स्वदेशी पर जोर दिया और वस्त्र उत्पादन—हमारी एक प्राथमिक आवश्यकता—के क्षेत्र में खादी जिसका प्रतिनिधित्व करती है। कुछ दिनो पहले दक्षिण भारत मे एक स्थान पर भाषण देते हुए हमारे प्रधान मत्री ने यह विचार प्रकट किया बताया कि योजना का लाभ समाज के कमजोर वर्गों को मिले। यह सुनिश्चित करने के लिए गाधीजी द्वारा प्रतिपादित पुर्ननिर्माण कार्य के तौर-तरीको का अपनाना उपयोगी होगा।

भावात्मक आधार पर नहीं

खेद की बात है कि ऊपर बताये गये लेखो में इस विवेकशील दृष्टिकोण को दृष्टि ओझल कर दिया गया है तथा यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि भावनात्मक कारणो से ही खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम को हमारी पच वर्षीय योजनाओ में शामिल किया गया है। यह न तो योजना आयोग के साथ ही न्याय है और न भारत सरकार के साथ ही, कम से कम द्वितीय तथा तृतीय पच वर्षीय योजनाओ मे इनमें से कोई भी सिर्फ भावनात्मक स्थान रखनेवाले कार्यक्रम के लिए शायद ही निधि देने को तैयार होता। यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि जब प्रथम पच वर्षीय योजना बनायी गयी तब कोई अनुभव नही था। परन्तु उसके बाद की जो दो योजनाएँ बनी तब तो कार्यान्वय के परिणाम सामने थे। सच तो यह है कि दोनो ही अवसरो पर योजना आयोग के समक्ष 'जाच और मूल्याकन समितियो' के निष्कर्ष और सुझाव थे। यह मान लिया गया है कि विकास प्रस्तावो को योजना मे शामिल करने के पूर्व उन पर अच्छी तरह विचार कर लिया गया था।

परिव्यय

यदि खर्च के सही आँकडे जिनके आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते है, प्रस्तुत किये गये होते तो कार्यक्रम के साथ न्याय होता। जैसा कि लेखो मे बताया गया है कि पिछले दस वर्ष मे खादी और ग्रामोद्योगो पर १ अरब ७९ करोड रुपये खर्च हुए, यह सही नही है। फिर, जैसा कि लेखो मे अन्यत्र बताया गया है कि प्रथम पच वर्षीय योजनावधि मे ८७ करोड रुपये वितरित हुए, यह सख्या भी सही नही है। सन् १९५३-५४ से १९६२-६३ तक कुल १ अरब ४५ करोड रुपये वितरित किये गये और प्रथम पच वर्षीय योजना में तो परिव्यय सिर्फ ८ करोड ३० लाख रुपये ही था। पिछले दस वर्ष की अवधि मे कुल वितरित रकम मे से १९६३-६४ के आरम्भ में ४७ करोड ९६ लाख रुपये ऋण के बाकी थे, जोकि सचालन पूंजी और उत्पादन के लिए दिये गये थे और इनमे से अधिकाश खादी के मद मे दिया गया था। बाकी रकम छूट (रिबेट) और उपदान (सब्सिडी), सभी स्तरो पर दिये जानेवाले प्रशिक्षण, अनुसधान तथा उत्पादन और बिक्री सगठन पर खर्च हुई।

इस अवधि में खादी का उत्पादन हर वर्ष बढता गया है और दस, वर्ष पहले जो उत्पादन था आज वह सात गुना बढ गया है। इसके साथ ही रोजगारी मे भी वृद्धि हुई है, योजना मे इस कार्यक्रम को शामिल करने के समय से अब तक करीब पाच गुनी वृद्धि हुई है। वृद्धि के अनुपातो मे अन्तर अशत परम्परागत चरखा चलानेवाले सूतकारो को मिली पूरी रोजगारी और अशत अम्बर चरखे की बढी उत्पादकता दर्शाता है। कार्यक्रम मे शामिल ग्रामोद्योगो के उत्पादन मे इसी प्रकार की, परन्तु इससे कुछ कम उल्लेखनीय, वृद्धि हुई है। इन उद्योगो मे, हाथ कागज उद्योग अथवा कुटीर साबुन उद्योग को मुख्यत छोड कर, अतिरिक्त लोगो को रोजगारी देने के बदले पूर्णतर रोजगारी दी गयी है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था जिस बीमारी से पीडित है वह है कृषि और कुटीरोद्योग दोनो ही क्षेत्रो मे बडे पैमाने पर फैली अर्ध बेकारी।

इसमें मुख्य बात यह है कि साल भर पूरे दिन का काम नही मिलता। जैसा कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के नौवे दौर में बताया गया है, दो करोड लोगो के पास प्रति दिन एक घण्टा या उससे कम का काम है और चार करोड लोगो के पास प्रति दिन चार घटा या उससे कम का। करोडो लोगो को लाभदायक रोजगारी नही मिलने के कारण ही ग्रामीण आय का स्तर नीचा है। अत यह एक स्पष्ट और विशिष्ट लाभ है कि परम्परागत उद्योगो में लगे लोगो के लिए पूरे समय का काम प्राप्त होता है, साल के अधिकाश भाग मे जो बेकार रहते है उनके लिए गैर-मौसम मे काम उपलब्ध होता है और आशिक कर्मियो के लिए अधिक सघन कार्य प्राप्त किया जाता है।

पूर्ण रोजगारी

जिनके लिए इस कार्यक्रम के जरिये काम प्राप्त होता है, यदि उनकी औसत आय प्रति वर्ष १०० रुपये के आसपास है तो इसमे कुछ उपहासपूर्ण नही है। यह मानना होगा कि इन लेखो के लेखक इस तथ्य से अवगत नही है कि जब पिछली कृषि जाच समिति ने सर्वेक्षण किया था तो श्रमिको की औसत आय १०० रुपये से कुछ कम ही पायी गयी थी। समाज के कमजोर वर्गों की आय के विषय मे डा राम मनोहर लोहिया के कथन पर जब हाल ही मे लोक सभा मे बहस हुई थी तो डा लोहिया के उत्तर मे श्री गुलजारीलाल नन्दा ने बताया था कि निम्न श्रेणी के दस प्रति शत लोगो का दैनिक खर्च शहरो मे ५ ३ आना और गाँवो मे ४ ३ आना है। यह बहुत ही दु खद अवस्था है कि जिस परम्परागत चरखे पर प्रति दिन मुश्किल से औसत चार आने अर्थात् २५ नये पैसे की आय होती है, आज भी उसे देश के कई भागो मे बहुत बडी सख्या मे कत्तिने, जोकि घोर गरीबी मे दिन बिता रही है, चला रही है तथा अपना रही है। इसके विस्तार की सीमा सिर्फ इसलिए है कि इससे तैयार की गयी खादी की बिक्री मे कठिनाइया आती है।

शक्ति का उपयोग

इसी पृष्ठभूमि मे ग्रामीण आय मे खादी और ग्रामोद्योगो के योगदान को आकना चाहिए, न कि कारखाना उद्योग मे लगे चन्द लोगो की प्रति माह सौ रुपये की आय की पृष्ठभूमि में। इन औद्योगिक कर्मियो की सख्या देश की कुल आबादी के एक प्रति शत से भी कम है। दस वर्ष की सम्पूर्ण योजनावधि मे ऐसे कर्मियो की सख्या ९ लाख ९८ हजार ही बढी है जबकि उनके पीछे कुल निवेश ८ अरब १७ करोड रुपये बढा है। इसके मुकाबले अभी खादी और ग्रामोद्योगो मे लाभदायक रोजगारी पानेवाले लोगो की सख्या करीब २० लाख है, यह एक प्रशसनीय कार्य है, विशेष कर इसमे लगी बहुत कम पूजी को देखते हुए। रोजगारी की दृष्टि से योजित कार्यक्रम के विभिन्न विभागो के कार्य के अध्ययन से पता लगेगा कि खादी और ग्रामोद्योगो का अशदान कितना मूल्यवान रहा है, उनमे कितनी क्षमता है।

कार्यक्रम के अधिकारीगण जिन परम्परागत तकनीको

को अपनाये हुए है तथा तकनीको मे सुधार का जो वे विरोध करते है, उसके विषय मे बहुत टीका की जाती है। सबसे बडा आरोप लगाया जाता है शक्ति के इस्तेमाल न करने का। कार्यक्रम से सम्बन्धित लोगो ने समय-समय पर इस विषय मे स्पष्टीकरण किया है। यदि शक्ति के इस्तेमाल से कुछ कारीगर प्रत्यक्ष रूप मे रोजगारी खो देते है तो ऐसी शक्ति का इस्तेमाल इससे बेकार होनेवाले लोगो को कोई अन्य काम दिये बिना होने देना समाज के लिए घातक होगा। फिर, पहले और आज भी शक्ति का इस्तेमाल सामान्यतः स्व-रोजगार प्राप्त कारीगर को मजदूर बना देने और श्रम के शोषण का विस्तार करने तथा आय का केन्द्रीकरण करने मे किया जाता रहा है। ऐसी अवस्था मे शक्ति के इस्तेमाल को अपनाने देना समाज विरोधी कार्य होगा। जैसा कि **दि अदर अमेरिका** * मे श्री माइकेल हैरिंगटन (Michael Herrington) कहते है, "यदि बिना सामाजिक प्रगति के प्राविधिक प्रगति होती है तो स्वयमेव तुरन्त ही मानवीय दुख-दर्द, गरीबी बढने ही वाली है।" परन्तु जहाँ इस तरह के परिणाम की आशका नही है, वहाँ कार्यक्रम के अधीक्षको ने उच्च तकनालाजी अपनाने का विरोध नही किया है।

मूल्य में कमी करने के उपाय

चाहे कुछ भी सुधार किये जाये, यह ध्यान मे रखना चाहिए कि श्रम-प्रधान उत्पादन कार्यक्रम मे लागत मशीनी उत्पादन से अधिक ही रहेगी। उदाहरण-स्वरूप, शक्ति करघा का उत्पादन हाथ करघे से सस्ता होगा, क्योकि उसमे एक व्यक्ति ५ अथवा ६ व्यक्तियो का काम करता है। तथापि, यदि सामाजिक नीति के तौर पर हाथ करघो को शक्ति करघो मे परिवर्तित न करने का निर्णय किया जाता है तो, हाथ करघे का वस्त्र इसी तरह के शक्ति करघा वस्त्र से महँगा ही बना रहेगा। ग्रामोद्योगो के अधिकाश उत्पादनो पर यह बात लागू होती है, और विशेष कर हाथ कताई पर, जिसमें श्रम-विस्थापन हाथ बुनाई से कही बहुत अधिक होगा। अम्बर चरखे के आविष्कार का स्वागत हुआ है, क्योकि इसके उपयोग से उत्पादकता बढती है। तथापि, इसके आगमन से उत्पादन खर्च मे कमी नही आयी है, क्योकि जान-बूझ कर इस चीज को प्राथमिकता दी गयी है कि प्राविधिक प्रगति का लाभ उपभोक्ताओ के बदले कारीगरो को मिले। सूतकारो और बुनकरो की क्षमता या कार्य-कुशलता सुनिश्चित हो जाने के बाद उत्पादन केन्द्रो मे तथा उनके आसपास मूल्य भी कम किये जा सकते है। सब प्रयास निश्चय ही इस ओर निर्दिष्ट होने चाहिए, विशेष कर वैसी तकनीको और औजारो को अपना कर जोकि उत्पादन का स्तर ऊपर उठाते हो।

स्वदेशी की भावना

अगर यह सुनिश्चित करना है कि हमारी ग्रामीण अर्थ-व्वस्था के सन्दर्भ मे विकेन्द्रित उत्पादन के जो सामाजिक लाभ है प्राविधिक प्रगति का उन पर उल्टा प्रभाव न पडे तो गति थोडी धीमी होगी। जब तक परिवर्तन होता रहता है यह राज्य का कर्तव्य है—चूकि इस कार्यक्रम को राष्ट्रीय योजना का अभिन्न अग माना गया है—कि वह उत्पादन के लिए जरूरी आर्थिक सहायता दे। समाज को भी, सरकार से अलग रूप मे, कुछ वैसी जिम्मेदारी लेनी है, जैसी उसने राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित मे देशी उद्योगो के उत्पादनो को अपना सहयोग देकर निभायी है और आज भी निभा रहा है। गाधीजी ने प्राय यह बताया कि खादी तथा अन्य ग्रामोद्योगी उत्पादन शत प्रति शत स्वदेशी है। स्वदेशी की व्याख्या करते हुए उन्होने इसे पडोसी धर्म कहा था, उन्होने इस बात पर जोर दिया कि स्वदेशी का आग्रह करनेवाला जहा-कही भी सम्भव होगा स्थानीय उत्पादनो को प्राथमिकता देकर अपने पडोसियो की मदद करने की कोशिश करेगा, भले ही वे माल कुछ घटिया किस्म के हो अथवा अन्य स्थानो पर बने माल के मुकाबले महगे हो। पिछले बारह वर्षो के आयोजन मे कई विभागो मे प्रगति होने के बावजूद, यदि हम अपनी अर्थ-व्यवस्था की मौजूदा कमियो को दूर करना चाहते है तो हमे स्वदेशी भावना अपनानी ही चाहिए।

बम्बई १९ दिसम्बर १९६३

---

* माइकेल हैरिंगटन दि अदर अमेरिका (पावर्टी इन दि युनाइटेड स्टेट्स), पेग्विन बुक्स, लडन, १९६३, पृष्ठ १८७, मूल्य ३ शिलिंग ६ पेन्स।

भारत की अर्थ-व्यवस्था में मवेशियों का स्थान

सुशील चन्द्र चौधरी और रघुवीर गिरी

मवेशी न केवल फसल पैदा करने में मदद देते हैं, बल्कि दूध और दुग्धोत्पादनो के रूप में पौष्टिक भोजन भी प्रदान करते हैं। देश के कुल पशु-उत्पादन में मवेशियों का योगदान करीब ८८ प्रति शत है। पशु-पालन के सम्बन्ध में एक विवेकपूर्ण नीति यह होगी कि अमितव्ययी गायों तथा अन्य मवेशियों का वन्ध्यकरण करके जन्मानुपात और जो पशु पैदा हों उनकी अच्छी सार-सम्भाल करके मृत्योनुपात कम करते हुए राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में हानि होना कम किया जाय।

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। देश की लगभग ७५ प्रति शत आबादी अपने जीविकोपार्जन के लिए या तो सीधे रूप में कृषि और अन्य ग्रामीण काम-धंधों मे लगी हुई है अथवा उन पर निर्भर है। राष्ट्रीय आय में करीब आधा हिस्सा खेती तथा अन्य सम्बद्ध उद्योगों का है। इसमें से तकरीबन ४१ प्रति शत प्राप्ति विशुद्ध खेती तथा उसकी सहायक गति-विधियों से होती है, सात प्रति शत पशु-पालन और दुग्ध उद्योग से एवम् शेष वन्य कामों व मत्स्य-पालन से। कृषि विभाग में फसल बोने काटने तथा इस काम की सहायक गतिविधियों के बाद आय का दूसरा प्रमुख स्रोत है पशु-पालन और दुग्ध काम। वास्तव में किसान का सामाजिक दर्जा साधारण तौर पर या तो इस बिना पर आका जाता है कि उसके पास कितनी जमीन है अथवा वह कितनी भूमि जोतता है या फिर इस आधार पर कि उसके पास कितने पशु हैं अथवा खेती करने के लिए वह कितने हल चलाता है।

भारतीय कृषि में मवेशी

विभिन्न प्रकार के पशुओ में मवेशियो* का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण केवल यही नही है कि कुल पशु-धन में उनकी सख्या मोटे तौर पर दो-तिहाई है, बल्कि यह भी कि खेती से उनका बहुत निकट सम्बन्ध है और किसान की समृद्धि मे वे अनेक रूपेण योगदान देते हैं। हल चलाने, खेतों मे खाद डालने, सिचाई के लिए पानी खीचने, उत्पादन ढोने, उत्पादन को खेत से फटकने-बुहारने की जगह तक और फिर वहाँ से बाजार ले जाने तथा गन्ना और तेल पेराई के लिए क्रमश कोल्हू व घानी चलाने जैसे सभी कृषि कार्यों के लिए खीचन-शक्ति प्राप्त करने के वे मुख्य स्रोत हैं। जब तक असख्य किसान अपने मामूली साधन-स्रोतों से छोटे-छोटे अलग-थलग खेतों मे खेती करते रहेगे और यह भी कि जब तक धान की खेती के लिए खेतो को छोटे-छोटे टुकडो मे विभक्त करके पानी रोकने के लिए मेडबन्दी करते रहना पडेगा, तब तक इनमे से अनेक कामो मे यात्रीकरण करने या लाने की बहुत सीमित गुजाइश है। अधिकतम सम्भव सीमा तक यात्रीकरण करने के बाद भी भारत में कृषि-कार्यों के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करने मे ढोरो का बहुत बडा हिस्सा रहेगा।

मवेशियो की महता तो इसी से समझी जा सकती है कि किसी फसल के उत्पादन मे उनका कितना हाथ, योगदान है। देश के विभिन्न भागो मे 'फार्म व्यवस्था' सबधी अध्ययनो से सकलित तालिका १ के आकडो से पता चलेगा कि कृषि-उत्पादन मे मवेशियो और व्यक्तियो के श्रम का सापेक्षिक महत्व कितना है तथा समग्र कृषि-लागत मे उनका सम्मिलित योगदान कितना है।

* इस लेख में मवेशी शब्द का अर्थ भैंस-भैंसों को छोड़ कर है। लेख में उनका वर्णन अलग से किया गया है।

तालिका १

चुनिन्दा क्षेत्रो में खेती की कुल लागत में मानवीय और पशु-शक्ति का योग

सर्वेक्षित क्षेत्र	सर्वेक्षण के अन्तर्गत मुख्य फसले	सर्वेक्षण काल	कुल कृषि खर्च मे औसत प्रातिशत्य		
			जन-शक्ति	पशु-शक्ति	योग
सेलम व कोयम्बतूर (मद्रास)	धान, ज्वार व कपास	१९५४–५५ १९५६–५७	२०२	२२५	४२७
अकोला व अमरावती (महाराष्ट्र)	कपास, ज्वार व मूगफली	" "	३१६	१८६	५०२
अहमदनगर व नासिक (महाराष्ट्र)	गेहूँ, ज्वार और बाजरा	" "	३५०	१९७	५४७
अमृतसर व फिरोजपुर (पजाब)	गेहूँ व कपास	" "	२६१	२२४	४८५
मेरठ व मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश)	गेहूँ व गन्ना	" "	२८.७	४१.८	७०५
हुगली व २४ परगना (पश्चिम बगाल)	धान तथा जूट	" "	४६३	७६	५३९
पश्चिम गोदावरी (आन्ध्र प्रदेश)	धान व तम्बाकू	१९५७–५८ १९५९–६०	२१३	१०६	३१९
सम्बलपुर (उडीसा)	धान	" "	३८०	२००	५८०

स्रोत . विभिन्न राज्यों में स्टडीज इन इकनॉमिक्स ऑफ फार्म मैनेजमेण्ट पर प्रतिवेदन; अर्थ और साख्यिकी निर्देशालय, खाद्य और कृषि मन्त्रालय, भारत सरकार।

देश के विभिन्न भागो मे फसलो की खेती पर जितना खर्च पडता है उसमें ३२ से ७० प्रति शत तक हिस्सा मानवीय और पशु-शक्ति का होता है। खेत और फसल पद्धति के अनुसार मानवीय श्रम तथा पशु-शक्ति का हिस्सा क्रमश २० से ४६ और ८ से ४२ प्रति शत तक होता है। किसी फसल की खेती मे जितनी आदा (इनपुट) होती है, उसमें पशु-शक्ति का योगदान जन-शक्ति के बाद सबसे अधिक है। इन आकडो में कृषि उत्पादन के परिवहन और गन्ना तथा तेल पेराई में पशु-शक्ति का जो हिस्सा है, वह शामिल नही है। इस प्रकार भारतीय कृषि में उनके योगदान का एक आशिक चित्र ही सामने आता है। पर्याप्त आंकडो के अभाव में मवेशियो से प्राप्त शक्ति का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है, किन्तु एक अनुमान के अनुसार यह कहा जा सकता है कि उनका योगदान तीन से पाच अरब रुपये के बराबर होता है।

फसल-उत्पादन मे मवेशियो के योगदान की चर्चा करते समय व्यक्ति के विचार मे जो दूसरा मद सामने आता है वह है उनके गोबर व मूत्र आदि से प्राप्त खाद, क्योकि प्रागारिक द्रव्य का मिश्रण करने पर उससे भूमि की उर्वरकता बढती है। यद्यपि प्रमुख पोषको के सम्बन्ध में कृत्रिम उर्वरको से कमी पूर्ति हो जाती है, तथापि प्रागारिक खाद मे एक लाभ यह है कि वह अनेक गौण पोषक तत्वो की पूर्ति

करती है और भूमि की भौतिक विशिष्टताएँ निर्मित करती है। तीव्र जारण (आक्सीडेशन) के कारण भारत में विभिन्न प्रकार की मिट्टी में प्रागारिक द्रव्य सामान्यत. कम होता है। अनएव आसानी से घुलने, पोषक तत्वों की तुरन्त पूर्ति करने आदि के कारण रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग पर जोर देने के बावजूद मिट्टी में प्रागारिक द्रव्य पुनरापूरित करने और रासायनिक उर्वरकों के अनुपयुक्त उपयोग के फलस्वरूप मिट्टी में पैदा होनेवाले अनेक दोषों को दूर करने, उसे अच्छी अवस्था में रखने के लिए रासायनिक उर्वरकों के साथ ही पूरक रूप में प्रागारिक खाद भी डालनी पडती है।

मवेशी न केवल फसल पैदा करने में ही सहायक होते है, बल्कि वे दुग्ध तथा दुग्धोत्पादनो के रूप में शक्तिवर्द्धक भोजन भी प्रदान करते है। मवेशियों से प्राप्त ये उत्पादन जैविक दृष्टि से मूल्यवान वसा प्राप्ति के मुख्य साधन है। शाकाहारियों के मामले मे यह बात विशेष रूप से लागू होती है। कुछ अनुपात में इन उत्पादनो का अन्तर्राज्यीय व्यापार भी होता है और फलस्वरूप अनेक व्यक्तियो को रोजगारी व जीविकोपार्जन का साधन प्राप्त होता है। डेरी फार्मिंग से उस भारतीय किसान को एक कीमती सहायक उद्योग की पूर्ति होती है, जिसकी आमदनी बहुत कम होती है और खेती से उसे वर्ष के अधिकाश समय काम नही मिलता।

मवेशी खाल व हड्डियो जैसे अन्य महत्वपूर्ण उत्पादनो के भी स्रोत है। देश के द्रुत आर्थिक विकास के फलस्वरूप चर्मोद्योग में खालों की माँग बढ गयी है, जोकि इस उद्योग की बुनियादी कच्ची सामग्री है। इसके अतिरिक्त भारत के निर्यात व्यापार के भी वे महत्वपूर्ण अग है। छोटी-बडी खालो (फर खाल सहित), चमडे व चर्मोत्पादनो का ३४ से ४२ करोड रुपये तक का निर्यात होता है। इस सम्बन्ध मे तालिका २ विस्तृत प्रकाश डालती है।

यदि मृत पशुओं की खाले एकत्रित करने के काम का आज की अपेक्षा अच्छा सगठन किया जा सके तो उक्त उत्पादनों से होनेवाली आमदनी और भी बढ सकती है।

राष्ट्रीय आय में योग

अब हम इस पर विचार कर सकते है कि राष्ट्रीय आय में विभिन्न जाति के मवेशियों से प्राप्त उत्पादनो का क्या योगदान है। देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में पच वर्षीय रूप से की गयी पशु-गणनाओं से पशुओ की सख्या के सम्बन्ध मे विश्वस्त आकडे उपलब्ध है। ये गणनाएँ १९५१, १९५६, और १९६१ में कुछ

तालिका २

छोटी-बड़ी खालो, चमड़े व चर्मोत्पादनो का निर्यात मूल्य

(लाख रुपये में)

मद	१९५९-६०	१९६०-६१	१९६१-६२	१९६२-६३
छोटी-बडी खाले	११,२३.२	९,४५८	८,२१६	१०,८४४
फर चर्म	३४३	५५९	५७४	१६८
चमडा	३०,४४५	२४,८४५	२५,३२.९	२२,५७.८
चर्मोत्पादन	१५५	१२४	१२५	१७४
योग ...	४२,१७५	३४,९८६	३४,२४४	३३,७६४

स्रोत मन्थली स्टेटिस्टिक्स ऑफ फोरेन ट्रेड ऑफ इण्डिया, और 'डिपार्टमेण्ट ऑफ कामर्सियल इण्टेलीजेंस एण्ड स्टेटिस्टिक्स'।

विशेष अच्छी तरह से हुई। उनसे विभिन्न प्रकार के पशुओ की सख्या के सम्बन्ध मे व्यापक व विश्वस्त आकडे प्राप्त हुए है। तथापि, इस सम्बन्ध मे उपलब्ध आकडे इतने विश्वस्त नही है कि पशु-उत्पादनो का परिमाण कितना है। तदर्थ जाँचो पर आधारित खाद्य और कृषि मत्रालय के मार्केटिग और इन्सपेक्शन निर्देशालय के बिक्री व्यवस्था सर्वेक्षण प्रतिवेदन दुग्ध तथा अन्य पशु-उत्पादनो के सम्बन्ध मे कुछ अनुमान प्रस्तुत करते है। भारतीय कृषिक अनुसधान परिषद की कृषिक अनुसधान साख्यिकी सस्था ने दूध-उत्पादन तथा कुछ अन्य पशु-उत्पादनो का ठोस अनुमान प्राप्त करने के लिए प्रति चयन तकनीक का विकास किया है, लेकिन इन उत्पादनो के सम्बन्ध मे विश्वस्त अनुमान प्राप्त करने के लिए राज्यो द्वारा इन तकनीको को अपनाया जाना शेष है। अन्य किसी प्रकार के अनुमानो के अभाव मे भारत सरकार के मार्केटिग और इन्सपेक्शन निर्देशालय द्वारा प्रस्तुत अनुमानो का उपयोग किया गया है। राष्ट्रीय आय मे परिमाण तथा मूल्य के रूप में विभिन्न प्रकार के पशु-उत्पादनो का क्या योगदान है, इस सम्बन्ध मे आकडे तालिका ३ मे दिये गये है।

तालिका ३

प्रचलित मूल्यो के आधार पर १९५८–५९ में पशु-पालन से कुल आय में मवेशी-उत्पादनो का योग

मद	परिमाण	मूल्य (लाख रु मे)	कुल आय मे पशु-पालन का प्रातिशत्य
१. दूध और दूध-उत्पादन	दस हज़ार टन मे		
(क) मवेशी व भैस का दूध	१९,१५५	७,५९,६०	६४ ५
(ख) अन्य	५६१	,	
२. गोबर			
(क) खाद	२२६	१,१३,६१*	९ ७
(ख) ईंधन व अन्य कामो के लिए	१२६	१,१३,६१*	९ ७
३. मॉस व उसके उत्पादन			
(क) गाय व भैस का मॉस	१६७	१०,४०	० ९
(ख) अन्य (माँस व माँस-उत्पादन)		८१,११	७ ०
	लाख की सख्या मे		
४ मवेशी व भैस-भैसो की खाले	२१०	१५,०१	१·३
५ भेड-बकरियो की खाले	४५१	१३,८१	१ २
६ ऊन और बाल		१३,३९	१ १
७ अण्डे व मूर्गी-पालन		२८,३६	२ ४
८ हड्डिया		१,३८	० १
९ स्टाक मे वृद्धि		२४,४०	२ १
	योग	१,१७,४६८	१०० ०

स्रोत (१) नेशनल इनकम स्टेटिस्टिक्स · केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन, सांख्यिकी विभाग; १९६१, (२) मार्केटिंग और इन्सपेक्शन निर्देशालय · खाद्य और कृषि मत्रालय।

* मूल्यांकों में मवेशियो के गोबर की कीमत के अलावा अन्त्रावलियों, श्वास नली, पशु रक्त, सर, टांगों, बेकार मॉस आदि से प्राप्त खाद आदि का मूल्य भी शामिल है। गोबर व अन्य मद्दों का कुल परिमाण ५० लाख २५ हजार टन होगा।

माँस, छोटी खालो, ऊन, बाल तथा मुर्गी-पालन से प्राप्त उत्पादनो के अलावा पशुओं मे जितने उत्पादन प्राप्त होते है, उनके सम्बन्ध मे मवेशी प्रधान स्रोत है। पशु-उत्पादनों के मूल्य मे करीब ८८ प्रति शत हिस्सा इन्ही का होता है। पशु-पालन से जितनी आय होती है उसका प्राय दो-तिहाई हिस्सा दूध तथा अन्य दुग्धोत्पादनो का होता है और करीब पाचवा हिस्सा गोबर का होता है। देश के कुल दुग्ध-उत्पादन मे गायो व भैंसो से करीब ९७ प्रति शत प्राप्ति होती ह (इसमें से ३९ प्रति शत का दूध के रूप मे, ४६ प्रति शत का घी और मक्खन के रूप मे तथा नौ प्रति शत का दही के बतौर एवम् चार प्रति शत से कुछ ऊपर का खोवे के रूप मे इस्तेमाल होता है)। खाल उत्पादन के सम्बन्ध मे भी मवेशी ही प्रमुख स्रोत है। यहाँ यह स्मरण रहे कि देश मे छोटी-बडी खालों के कुल उत्पादन मे करीब ३२ प्रति शत हिस्सा मवेशियो से प्राप्त खालों का है।

एक सही कदम

देश के कुल गोबर उत्पादन का तकरीबन आधा हिस्सा, ईंधन का कोई वैकल्पिक स्रोत न होने की वजह से जलाया जाता है। अधिक उपज प्राप्ति के लिए रासायनिक उत्पादनो का अधिक उपयोग होता है। इस ज्यादा उपयोग के कारण मिट्टि मे जो असंतुलन पैदा हो जाता है, उसे ठीक करने के लिए गोबर की खाद का भी अधिक प्रयोग करने की आवश्यकता है। अतएव गोबर बचाने और उसका खाद के रूप मे इस्तेमाल करने के लिए हर प्रकार का प्रयत्न करना पडेगा। ईंधन के रूप मे जलाने के लिए गोबर से गोबर गैस सयत्र के जरिये अपेक्षाकृत सस्ती लगत पर गैस प्राप्त होती है। इससे गोबर के खाद तत्वो मे भी कोई हानि नही होती। अतएव गोबर गैस सयत्रो को लोकप्रिय बनाना देश के खाद तत्वो की बचत करने के लिए एक सही कदम है।

खालो के साथ ही, मृत तथा काटे गये पशुओ की हड्डियाँ एकत्रित एवम् प्रशोधित करने के लिए उपयुक्त व्यवस्था के अभाव मे पशु स्रोत से प्राप्त हो सकनेवाली काफी खाद की हानि होती है। इस सम्बन्ध मे कुटीरोद्योगी आधार पर हड्डी चर्ण उत्पादन के लिए इकाइयों की स्थापना को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है, क्योकि इससे मवेशियो की हड्डियों का खाद के रूप मे उपयुक्त उपयोग करने को प्रोत्साहन मिलेगा।

पशु-शव के उपयुक्त उपयोग, चर्म शोधन, चर्म कार्य व गैस उत्पादन और उसके इस्तेमाल हेतु चर्मोद्योग के लिए एक सर्वांगीण कार्यक्रम बनाया जा सकता है। हड्डी और माँस खाद, सिंगो, खुरो तथा अन्य बेकार अगो की खाद की पूर्ति, मुर्गी-पालन के लिए आमिष खाद्य, दूध-उत्पादन बढाने हेतु पशुओ को देने के लिए हड्डी-चूर्ण (बोन-मील), साबुन के लिए चर्बी तथा नी-फुट आयल एवम् सरेश की पूर्ति के लिए पशु-शव के उपयोग-कार्य को अधिक अच्छी तरह सगठित करने की आवश्यकता है। गैस सयत्र के सचालन हेतु गोबर के अलावा पशु-शव की रद्दी चीजों व चर्म-शोधनालय के पानी से मिथेन गैस प्राप्त की जा सकती है। इसके बाद गैस सयत्र से गैस बनने के बाद बची रद्दी—गैस रहित—सामग्री का खाद्यान्नो तथा चारे की उपज बढ़ाने के लिए खाद के रूप मे इस्तेमाल किया जा सकता है।

मवेशियो का संघटन

चूँकि भारतीय कृषि मे मवेशियो का प्राय बहुत बडा स्थान है इसलिए उनकी सख्या के सबध मे आकडे इकट्ठे करने के लिए पहले अनेक प्रयास किये गये। तथापि, विभिन्न राज्यो मे पशु-चिकित्सालय तथा पशु-पालन और सेवा विभाग खोल कर देश मे मवेशियो की अवस्था सुधारने के लिए सरकार ने वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक में ही कदम उठाये। पशु-धन के विकास के लिए कार्यक्रम बनाने और कार्यान्वित करने के लिए मवेशियो व अन्य पशुओ के सम्बन्ध मे विश्वस्त आकडों की गहरी आवश्यकता महसूस की गयी। तदनुसार व्यवस्थित तथा सगठित रूप से

पशुओ की गणना प्रथम बार १९१९-२० मे की गयी और उसके बाद पच वार्षिक रूप से होती रही।

पहले की गणनाओ की अपेक्षा अप्रैल १९५१ मे भारत सरकार के खाद्य और कृषि मत्रालय के अर्थ और साख्यिकी निर्देशालय ने जिस सप्तम पशु-गणना का सगठन किया उसका आधार बेहतर था। अप्रैल १९५६ मे हुई आठवी गणना मे और भी सुधार हुआ। इस गणना मे घर-घर के हिसाब से परिगणन किया गया, सभी राज्यो ने एकसम आधार पर गणना करनेवालो व व्यवस्थापकीय अधिकारियो द्वारा अपनाये जाने के लिए बुनियादी सिद्धान्त व परिभाषाए एवम् स्तरीय निर्देश बनाये, निर्धारित किये गये, विभिन्न कार्यो के लिए एक गणना कैलेण्डर निर्धारित किया गया, और यथा सभव एक निश्चित तारीख—उदाहरणार्थ १५ अप्रैल—के सन्दर्भ मे वास्तविक गणना की गयी। गणना के आकडो की विश्वसनीयता मे सुधार करने के लिए एक अमूमन नमूने के आधार पर प्राथमिक गणना के विवेकपूर्ण निरीक्षण का सगठन किया गया। अप्रैल १९६१ मे हुई नवम् पशु-गणना का सगठन भी उन्नत आधार पर हुआ।

तालिका ४ मे प्रस्तुत अन्तिम तीन गणनाओ मे एकत्रित आकडो से पता चलता है कि किस प्रकार पिछले दस वर्षो मे भारत के गोजातीय पशुओ—जिनमे मवेशी व भैंस—भैंसे शामिल है—की उच्च अनुपात मे वृद्धि हुई है।

सन् १९६१ मे समाप्त होनेवाले दस वर्षीय काल मे गोजातीय पशुओ की सुस्थिर वृद्धि मे १९५६-६१ के दौरान १९५१-५६ की अपेक्षा काफी ऊँची दर से वृद्धि हुई। कुछ अश मे यह बात पशु-गणनाओ के सम्बन्ध मे अपनाये गये क्रमिक रूप से उन्नत तौर-तरीको के कारण विशुद्ध साख्यिकीय हो सकती है।

मवेशियो के एक अच्छे खासे भाग का खेती के काम मे व्यवहार होता है। सन् १९६१ मे ७ करोड ६० लाख काम मे आनेवाले बैल, ७१ लाख भैंसे, ५ करोड १० लाख गाये, और २ करोड ४२ लाख दुधारू भैंसे थी। तीन वर्ष तथा उससे ऊपर की उम्रवाले मवेशियो मे नर और मादा का अनुपात १३३ १०० था, जबकि (१) भैंसो के सबध मे यह अनुपात ३१ १०० था। इस अन्तर का कारण इन दो प्रकार के मवेशियो की तुलनात्मक उपयोगिता मे निहित है। खेती के काम मे बैल भारी भरकम न होने और चुस्त होने की वजह से सामान्यत उन्हे तरजीह दी जाती है। देहाती क्षेत्रो मे गाय दूध की अपेक्षा बैल-प्राप्ति के लिहाज से अधिक रखी जाती है। इसके विपरीत डेरी काम के लिए गायो की अपेक्षा भैंसो को अच्छा समझा जाता है।

सन् १९६१ मे भारत मे गोजातीय पशुओ की आबादी मे १९५६ से ११४ प्रति शत अधिक वृद्धि हुई। यह वृद्धि अलग-अलग राज्यो मे भिन्न-भिन्न रही—जैसे पश्चिम बगाल मे ४ ३ प्रति शत और उडीसा मे

तालिका ४

मवेशी और भैंस-भैंसो की सख्या मे वृद्धि : १९५१–६१ (सख्या लाख मे)

वर्ष	मवेशी	भैंस-भैंसे	योग	पूर्व गणना से वृद्धि	पूर्व गणना से वृद्धि का प्रातिशत्य
१९५१	१,५५३	४३४	१,९८७	—	—
१९५६	१,५८७	४४९	२,०३६	४९	२ ५
१९६१	१,७५७	५११	२,२६८	२३२	११ ४

२५ २ प्रति शत । मवेशियो की मंख्या १० ७ प्रति शत बढी और भैंसों की १३ ९ प्रति शत—मवेशियों (भैंसों को छोड कर) की अन्तर्राज्यीय वृद्धि की दर पंजाब में १ ८ प्रति शत मे ले कर उडीसा मे २४ ८ प्रति शत हुई और भैंसों के लिए केरल मे ६ प्रति शत की गिरावट से उडीसा मे २९ ७ प्रति शत की वृद्धि तक—रही। तथापि, यह खुशी की बात है कि तीन वर्ष से ऐसे मवेशियों की मंख्या मे गिरावट आयी है जो न तो किसी काम आते थे और न अभिजनन के लिए ही उपयोगी थे। आर्थिक कारणो मे गायो से भी काम लिया जाता है, खास कर वैसे मामलों में जहाँ दूध की प्राप्ति बहुत कम हो । इस प्रकार की गायों की सख्या १९६१ मे २२ लाख थी, जबकि, १९५६ में १८ लाख । इसी प्रकार भैंसों (मादा) की सख्या में भी वृद्धि हुई—१९५६ में उनकी सख्या ४ लाख २१ हजार थी और १९६१ मे ४ लाख ९८ हजार।

राज्यवार वितरण

सन् १९६१ की गणना के अनुसार राज्यवार वितरण का परीक्षण करते हुए हम देखते है कि मवेशियो की सबसे ज्यादा सख्या (२ करोड ६३ लाख) उत्तर प्रदेश मे थी। समग्र देश की सख्या का यह १५ प्रति शत है। उत्तर प्रदेश के बाद क्रमश. मध्य प्रदेश (१४ १ प्रति शत), बिहार (९ २ प्रति शत), महाराष्ट्र (८ ८ प्रति शत), राजस्थान (७ ५ प्रति शत), मद्रास (६ २ प्रति शत), और शेष राज्यो (२५ ७ प्रति शत) का स्थान आता है। सन् १९-५६–६१ की अवधि मे तीन वर्ष से ऊपर की आयुवाले मवेशियो की सख्या मे केरल को छोड कर—जहाँ ६ प्रति शत कमी हुई—सभी राज्यों मे वृद्धि हुई। दिल्ली, पजाब, गुजरात और पश्चिम बगाल के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यो मे जवान मवेशियो की सख्या मे वृद्धि हुई। उक्त राज्यो मे कमी का प्रातिशत्य क्रमश ६७, ७ और २ था।

जहाँ तक भैस-भैसो का सम्बन्ध है उत्तर प्रदेश मे उनकी सख्या १ करोड १० लाख अर्थात् देश की कुल सख्या का २१ ५ प्रति शत थी । आध्र प्रदेश मे उनकी सख्या ६९ लाख अथवा १३ ६ प्रति शत और मध्य प्रदेश मे ५६ लाख यानी १० ९ प्रति शत थी। हिमाचल प्रदेश, बिहार, पश्चिम बगाल और त्रिपुरा के अलावा १९५६–६१ की अवधि मे तीन वर्ष से ऊपर के भैंसों की सख्या मे सभी राज्यों मे वृद्धि हुई। सर्वाधिक वृद्धि मद्रास मे हुई। इसके बाद गुजरात और आन्ध्र प्रदेश का स्थान रहा। सन् १९६१ मे समाप्त होनेवाली पच वर्षीय अवधि मे केरल और दिल्ली के अतिरिक्त सभी राज्यो की भैसो की सख्या मे वृद्धि हुई, सर्वाधिक प्रातिशत्य (६४ २) पश्चिम बगाल का रहा।

गोजातीय पशुओं की सघनता

विभिन्न राज्यों में गोजातीय पशुओं की सापेक्षिक सघनता के अध्ययन से पता चलता है कि बोयी गयी समग्र भूमि के प्रति १०० हेक्टर जमीन के पीछे सबसे अधिक सघनता (२८३) महाराष्ट्र और गुजरात मे है। इसके बाद हिमाचल प्रदेश, असम, जम्मू और कश्मीर, पश्चिम बगाल तथा उडीसा का स्थान आता है। इन राज्यो मे सघनता क्रमश १७९, २६७, १४१, १८८, और १६२ है। राजस्थान, मैसूर, दिल्ली और पजाब मे इनकी सघनता कम (क्रमश ९६, ९२, ७४, तथा ६२) थी। प्रति व्यक्ति मवेशी वितरण हिमाचल प्रदेश मे सर्वाधिक (प्रति १०० व्यक्ति ९० मवेशी) थी। इसके बाद मध्य प्रदेश (७६), राजस्थान (६५) और उडीसा (५६) का स्थान आता है। समग्र देश के लिए मवेशियो की सख्या जोती गयी प्रति १०० हेक्टर भूमि पर ११६ और प्रति १०० व्यक्तियो पीछे ४० है।

भैसो के सम्बन्ध मे प्रति १०० हेक्टर सर्वाधिक सघनता (५७ भैस) आध्र प्रदेश मे है । जम्मू और कश्मीर, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा पजाब मे उनकी सख्या क्रमश ५३, ५०, ५०, ४८,

और ४५ है। पश्चिम बगाल और उडीसा मे इनकी सघनता सबसे कम (क्रमश १६ और १८) है। प्रति १०० व्यक्ति के लिहाज से भैसो की सर्वाधिक घनता (२२) पजाब मे है। यह घनता राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश मे क्रमश २०, १९, १७, और १५–१५ है। जोती गयी प्रति १०० एकड भूमि और प्रति १०० व्यक्ति पीछे अखिल भारतीय घनता ३४ तथा १२ है।

मवेशी और भैसो मे नश्वरता

तालिका ५ मे बैलो, गायो, भैस व भैंसो का १९६१ की गणना (अस्थायी आकडे) के अनुसार विभिन्न आयु-वर्गो मे अखिल भारतीय वितरण दिया गया है, जिससे पता चलता है कि बैलो के पक्ष मे एक निश्चित चयन की प्रक्रिया है। इसका फल यह होता है कि उनकी अधिक अवहेलना होती है और फलस्वरूप मृत्योनुपात भी अधिक है।

निम्न तालिका के कालम ५ और ६ की तुलना करने पर भैस व भैसो के सम्बन्ध मे एक भिन्न ही रुख सामने आता है। भैसो के १ वर्ष तक और १ से ३ वर्ष तक के आयु वर्ग की सापेक्षिक सख्याएँ मवेशियो के नर तथा मादा दोनो के ही समान है। इससे प्रकट होता है कि जवान भैसे भी उसी अनुपात मे मरती है जिस अनुपात मे मवेशी वर्ग के जवान नर व मादाएँ। लेकिन भैसो (मादा) मे

तालिका ५

भारत में आयु और लिंगानुसार मवेशी व भैस-भैसो का वितरण. १९६१

आयु	मवेशी (लाख मे)			भैस-भैसे (लाख मे)		
	बैल	गाय	योग	भैसे	भैस	योग
१ वर्ष से कम	११५	११४	२२९	४१	५८	९९
१ से ३ वर्ष	१२३	१३७	२६०	२५	६०	८५
३ वर्ष से ऊपर	७२५	५४३	१२६८	७७	२५०	३२७

एक वर्ष और एक से तीन वर्ष के आयु वर्ग मे आनेवाले जवान मवेशियो मे नर तथा मादाओ की सख्या प्राय एक समान है, जिससे प्रकट होता है कि जहाँ तक मवेशियो का सम्बन्ध है जवान मवेशियो मे लिगभेद के अनुसार चयन नही होता। यदि कोई मवेशी मरा न हो तो १ से ३ वर्ष के आयु वर्ग मे आनेवाले मवेशियो की सख्या १ वर्ष तक के आयु वर्ग मे आनेवालो (नर व मादा दोनो) से दुगुनी होनी चाहिए। लेकिन २ से ३ वर्ष तक के आयु वर्ग की सख्या १ वर्ष तक के मवेशियो की सख्या से केवल १ करोड ३५ लाख ही अधिक है। इससे पता चलता है कि जवानो मे नश्वरता अधिक है। प्रौढायु वर्ग मे गायो की सख्या बैलो से करीब एक-चौथाई कम है, नश्वरता बहुत अधिक है, जैसे कि १ से ३ वर्ष तक के आयु वर्ग मे भैसो की सख्या १ वर्ष तक के आयु वर्गवाले भैसे की सख्या के आधे से कुछ ही अधिक है। जवान तथा प्रौढ दोनो ही आयु वर्गो मे भैसो (मादा) की सख्या भैसो (नर) से अधिक है, प्रौढ आयु वर्ग (तीन वर्ष से ऊपर) मे यह अन्तर बहुत अधिक है। इसका निश्चित कारण यह है कि चयन की प्रक्रिया जवानी की अवस्था से ही भैसो (नर) के विरुद्ध है, क्योकि खीचन शक्ति के लिए उनका विशेष उपयोग नही होता।

चूँकि हमारी खेतिहर अर्थ-व्यवस्था मे इतने अधिक मवेशी और भैस-भैसे नही चाहिए अतएव जो भी कम उपयोगी होता है, चयन की प्रक्रिया उसके विपक्ष मे काम करती है। इसका परिणाम निकलता है, अधिक

मृत्यु और उसके फलस्वरूप उपयोगी श्रेणियों में एक सीमा तक उनकी सख्या बनाये रखने के लिए अधिक पैदाइश को प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार यह दुष्चक्र चलता रहता है। मवेशी-पालन के सम्बन्ध मे एक विवेकशील नीति यह होगी कि नर पशुओ तथा अपव्ययी गायो का बधीकरण करके जन्मानुपात कम किया जाय एवम् इस तरह जो पशु पैदा हो उनकी सार-सम्भाल अच्छी की जाय ताकि मृत्यु कम हो और इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था को होनेवाला नुकसान कम किया जाय। केवल आवश्यक सख्या मे ही साड रखे जाय तथा शेष का बधीकरण कर दिया जाय, और मौजूदा गायों व बैलो की नस्लो मे अच्छी नस्ल के साडो के जरिये प्राकृतिक एवम् अप्राकृतिक सेचन के जरिये सुधार किया जाय।

अलाभदायक गायों की समस्या

भारत में दो मुख्य उद्देश्यो को लेकर मवेशी रखे जाते हैं (१) दूध प्राप्ति, और (२) कृषि कार्यों के लिए खीचन शक्ति की पूर्ति। जहाँ गाय दूध प्राप्ति व हल खीचनेवाले मवेशी दोना के रूप मे रखी जाती है वहाँ भैंस मुख्यत दूध प्राप्ति के लिए ही रखी जाती है। भैंस दूध अधिक देती है, लेकिन गाय दूध देने के आलावा ९० प्रति शत से भी अधिक काम के पशु के रूप मे काम देती है। कुछ राज्यो मे तो बैलो से ही सब प्रकार का काम लिया जाता है। इस प्रकार दूध और खीचने-ढोने के काम के सम्मिलित आधार पर राष्ट्रीय आय मे गाय, भैंस से अधिक योगदान देती है। किन्तु गाय का दुग्धोत्पादन इतना कम होता है कि यद्यदि उनकी सख्या भैंसो की दुगुनी से भी अधिक है, उनका दूध भैंसो के दूध के उत्पादन से भी कम है।

भारत मे प्रति गाय दूध उत्पादन (१७३ किलोग्राम प्रति वर्ष) भैंस के दूध-उत्पादन (५०७ किलोग्राम प्रति वर्ष) का अमूमन तौर पर एक-तिहाई है। किन्तु जहाँ तक खीचन शक्ति का सम्बन्ध है, चावल उत्पादक क्षेत्रो को छोड कर—जहाँ कि पानी मे काम करने के लिए भैंसो की उपयुक्तता के कारण उनका काफी हद तक उपयोग होता है—बैल भैंसे की अपेक्षा अधिक कामिल पशु समझा जाता है। इस तरह भारत मे दो प्रकार—काम के लिए बैल और दूध के लिए भैंस—के गोजानीय पशु पाले जाते हैं, जिससे हमारे सीमित साधन स्रोतो पर भारी बोझ पडता है। अन्य देशो मे—खास कर अधिक प्रगतिशील देशो मे—कोई भी दूसरा पशु दूध देने मे गाय की बराबरी नही कर सकता, जोकि खीचन शक्ति का स्रोत भी है। यह भारत में ही है कि भैंसे अधिक दूध देती है। चूँकि दूध प्राप्ति और खीचन शक्ति के लिए अलग-अलग विनियोजन के कारण हमारे सीमित साधन-स्रोतो पर अधिक बोझ पडता है, इसलिए, किसी प्रकार को अपनाने की शक्यता पर विचार करना वाछनीय होगा जोकि वर्तमान व्यवस्था मे कोई विशेष गडबडी पैदा किये बिना धीरे-धीरे क्रमिक रूप से अपनायी जा सकती हो।

अनेक राज्यो मे भैंसो से अधिक मवेशी है, जो सम्भवत इस बात का सकेत करते है कि प्रारभिक समय मे मवेशियों से दूध प्राप्ति और खीचन शक्ति के स्रोत के रूप मे काम लिया जाता था। किन्तु देश के अनेक भागो मे ऐसा लगता है कि भैंस ने अधिक दूध देने और उसके दूध मे घी तथा मक्खन तत्व अधिक होने की वजह से धीरे-धीरे गाय की तुलना मे तरजीह प्राप्त कर ली, और उनकी सख्या गायों की अपेक्षा द्रुत गति से बढती जा रही है। उदाहरण के लिए पजाब में प्रति १०० गायो पीछे १९५१ में भैंसो की सख्या ११४, १९५६ में १२१, और १९६१ में १३७ थी।

भारत में खेती-बाडी व अन्य कार्यों में काम आनेवाले पशुओ मे करीब ८७ प्रति शत बैल, ९ प्रति शत भैंसे, ३ प्रति शत गाय, और १ प्रति शत भैंसें है। इस प्रकार काम देनेवाले पशुओ मे मवेशियो का हिस्सा करीब ९० प्रति शत है। नर पशुओ के आधार पर भी अनुपात कोई विशेष भिन्न नही है—९१ प्रति शत बैल और ९ प्रति शत भैंसे है। मौजूदा

भैंसे काम देनेवाले पशुओ मे इतने कम है कि उनके स्थान पर बैलो से ही काम लेने की बात पर विचार करना अच्छा होगा। यहाँ तक कि उडीसा, पश्चिम बगाल और केरल के चावल उत्पादक क्षेत्रो मे भी—जहाँ अन्य राज्यो की अपेक्षा भैंसो से काफी अधिक काम लिया जाता है—उनका अनुपात काम मे आनेवाले कुल पशुओ मे केवल ८ से २३ प्रति शत ही है। ऐसी अवस्था मे यदि सब-का-सब काम भी बैलो से ही लिया जाय तो भैंसे रखने से छुटकारा पाया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि क्या गाये भी दूध उत्पादन के मामले मे भैंसो का स्थान ले सकती है? भारत मे अमूमन तौर पर प्रति गाय पीछे १ ३ बैल है। अनेक राज्यो मे अनुपात इससे कम है, जबकि कुछ मे ही १ ५ से अधिक है। इस प्रकार यह अनुपात किसी भी राज्य मे इतना नही है कि वह गायो की सामान्य वहन-क्षमता से अधिक हो अथवा उनकी दूध देने की क्षमता मे कमी करे। इसके दूसरी ओर गायो की इतनी बडी सख्या न तो मौजूदा बैल शक्ति और न ही मौजूदा दूध उत्पादन बनाये रखने के लिए आवश्यक है। फिलहाल प्रति गाय कम दूध उत्पादन स्पष्टत ठाठ गायो की सख्या अधिक होने की वजह से है। दुधारू और ठाठ गायो की कुल सख्या मे केवल असम और पजाब ही ऐसे राज्य है जिन्हे दुधारू गायो की सख्या अधिक होने का लाभ प्राप्त है, बिहार और मध्य प्रदेश मे इनकी सख्या प्राय समान है, तथा शेष राज्यो मे ठाठ गायो की सख्या अधिक है। कुछ राज्यो मे ठाठ गायो की सख्या दुधारू गायो की सख्या के १ ५ गुने से भी अधिक है। समूचे भारत मे ठाठी गायो की सख्या दुधारू गायो की सख्या से १ ३५ गुनी अधिक है। तालिका ६ दुधारू तथा ठाठी गायो की सख्या और प्रति दुधारू गाय दूध-उत्पादन एवम् दुधारू और ठाठ गायो के सम्मिलित रूप से प्रति गाय औसत दूध-उत्पादन के सम्बन्ध मे आकडे प्रस्तुत करती है।

जब कुल दूध उत्पादन मे ठाठ और दुधारू गायो का भाग देकर परम्परागत तरीके के अनुसार औसत निकाला जाय तो ठाठ गायो की अधिकता का स्वाभाविक परिणाम है न्यून औसत प्राप्ति। किन्तु इस औसत से गायो के वास्तविक दुग्धोत्पादन व उनकी क्षमता का प्रतिबिम्ब प्राप्त नही होता। तालिका ६ से पता चलेगा कि जब हम केवल दुधारू गायो को ही हिसाब मे शामिल करे तो प्रति गाय औसत उत्पादन काफी बढ जाता है। ऐसे अधिकाश देशो मे जहाँ डेरी उद्योग काफी विकसित हो चुका है, दुधारू पशुओ की सख्या ठाठो से अधिक होती है और बुनियादी अर्थ-व्यवस्था को दृष्टि मे रखते हुए ठाठ पशुओ की सख्या को नियत्रित रखा जाता है।

फार्म और मवेशी

फार्म मैनेजमेण्ट के सम्बन्ध मे जो अध्ययन किये गये है उनसे प्राप्त आकडो से पता चलता है कि फार्मों मे जितने पशु है उनका दो-तिहाई हिस्सा खीचन शक्ति का काम देनेवाले पशु है और शेष दुधारू तथा अन्य प्रकार के मवेशी प्राय बराबर-बराबर की सख्या मे है। खीचन-शक्ति-स्रोत के रूप मे बैलो की ज्यादा कीमत है और इसलिए उनकी खुराक अच्छी होती है। गाये मुख्य रूप से बछडे पैदा करने के लिए रखी जाती है और अधिकाश फार्मों मे दूध-प्राप्ति तो एक अनुप्रासगिक बात है।

इन अध्ययनो से यह भी पता चलता है कि औसत आकार के दो-तिहाई तक के आकार के खेत अमूमन तौर पर कुल फार्मों के दो-पचमाश है, किन्तु फार्मों मे वे कुल मवेशियो का एक-चतुर्थांश ही रखते है। जितने मवेशी वे रखते है वे उनकी खुद की सख्या की तुलना मे आनुपातिक दृष्टि से काफी कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि मवेशी रखने के लिए उनके पास साधन-स्रोत बहुत सीमित है, फार्मो मे अधिकाश मवेशी वे व्यक्ति रखते है जिनके फार्म औसत आकार के दो-तिहाई से बडे है। तथापि, जहाँ तक खीचन शक्ति का काम देनेवाले मवेशियो का

तालिका ६

दुधारू और ठाठ गायें, उनका प्रातिशत्य तथा प्रति गाय दुग्धोत्पादन १९५६

राज्य	ब्यानेवाली अर्थात् तीन वर्ष से ऊपर की, अभिजनन और दूध के लिए रखी गयी गायें ह, जा र में			लब्धि (ठाठ और दुधारू गाय)	प्रति गाय वार्षिक दुग्धोत्पादन (किलोग्राम में)	
	दुधारू	गैर दुधारू (ठाठ व त्रिनाव्यायी)	योग		दुधारू	कुल
आंध्र प्रदेश	१,४३१	२,०७१	३,५०२	१ ४५	५१५	२१०
असम	९३१	५७७	१ ५०८	० ६२	१०७	६६
बिहार	१,७९३	२,०७४	३,८६७	१ १६	६६५	३०८
बम्बई	२,५६०	३,३६०	५,९२०	१ ३१	२२२	९६
जम्मू और कश्मीर	२३१	०७५	६०६	१ ६२	३४१	१३०
केरल	३९६	५७५	९७१	१ ४५	४११	१७१
मध्य प्रदेश	३,०४५	४,००६	७,०५१	१ ३२	१७६	७६
मद्रास	१,१६२	१,५५८	२,७२०	१ ३४	४७३	२०२
मैसूर	१,१८३	१,७२५	२ ९०८	१ ४६	२३९	९७
उडीसा	६२७	१,७१४	२,३४१	२ ७३	३६२	९७
पजाब	९७६	६५८	१,६३४	० ६७	७७७	४६५
राजस्थान	१,७४९	२,६२३	४,३७२	१ ५०	३६५	१४६
उत्तर प्रदेश	२,३७५	३,३८७	५,७६२	१ ४३	७१०	२९२
पश्चिम बगाल	१,३६१	२,१५५	३,५१६	१ ५८	४३९	१७०
केन्द्र प्रशासित क्षेत्र	२७५	२९५	५७०	१ ०७	२६९	१३०
अखिल भारतीय	२०,०९५	२७,१५३	४७,२४८	१ ३५	४०७	१७३

स्रोत कालम २,३ और ४ के लिए डायरेक्टोरेट ऑफ इकनॉमिक्स एण्ड स्टेटिस्टिक्स खाद्य और कृषि मंत्रालय, कालम ७ के लिए डायरेक्टोरेट ऑफ मार्केटिग एण्ड इन्सपेक्शन ।

सबध है, कृषक इस बात का पूरा ध्यान रखते है कि आर्थिक दृष्टि से कैसे और कितने मवेशी रखना लाभप्रद होगा। सामान्यत अपनी जमीन जोतने के लिए वे आवश्यकता से अधिक मवेशी नही रखते। फिर भी, फार्मिंग मे काम का पैमाना खीचन शक्ति के लिए मवेशी रखने में मितव्ययिता बरतने की गुजाइश सीमित कर देता है। एक बडा किसान एक जोडी बैलो से ही छोटे कृषक की अपेक्षा अधिक क्षेत्र की जोताई कर लेता है। यदि छोटे किसान अपनी आवश्यकताएँ एक साथ मिला कर प्रयोग करे तो उन्हे कम खीचन शक्ति की जरूरत पडेगी। लेकिन चूँकि जब तक फार्मों का आकार बडा नही होता है खीचन शक्ति का काम देनेवाले मवेशियो की सख्या कम करने की बात शायद ही सोची जा सके, इसलिए इस बात की आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है कि बडे किसान ज्यादा मवेशी रखें।

भावी कार्य

इस प्रकार भारत मे प्रमुख सवाल यह है कि ठाठ तथा बेकार गायो व अन्य मवेशियों और दुधारू गायो

तथा अन्य उपयोगी मवेशियो के बीच उपयुक्त सतुलन स्थापित किया जाय। कुछ राज्यो मे जहाँ दुधारू और ठाठ गायो का अनुपात सगन है, किसी हद तक यह सन्तुलन है, लेकिन अन्य राज्यो मे असतुलन के अनुसार उनमे बेहतर साम्य मूलक सयोजन स्थापित करने की कोशिश अवश्य ही की जानी चाहिए। यदि न्याय सगत रूप से ऐसा किया गया तो उसका मौजूदा दुग्धोत्पादन पर किसी तरह का बुरा असर नही पडनेवाला है, बल्कि यह कि मवेशियो की सार-सम्भाल पर कम खर्च होगा और फलस्वरूप दूध उत्पादन की लागत भी कम होगी। काम आनेवाले बैल की पूर्ति पर भी कोई बुरा प्रभाव नही पडेगा, गायो की सख्या मे कमी करने से शेष के लिए अधिक चारा उपलब्ध होगा, और अच्छी खुराक के कारण गाये जल्दी गाभिन होगी तथा दूध देना बन्द करने व ब्याने के बीच का समय कम होगा और इस प्रकार वे अनुक्रमिक रूप से वृद्धि-शील दर पर बछडे व दूध दोनो ही दे सकेगी।

बधिया करने व बन्ध्यकरण के जरिये अन्धाधुन्ध रूप से बढनेवाली सख्या को रोक कर अलाभदायक गायो तथा अन्य बेकार मवेशियो की सख्या कम की जा सकती है। जो गाये रखी जायेगी उनकी दुग्ध-क्षमता में इन उपायो को काम मे लाते हुए सुधार भी किया जायेगा गायो को प्रमाणित साडो से गाभिन करवाना, भोगान्तर काल कम करना, गायो और बैलो को एक साथ रखने पर परिपूर्ण रोक लगा कर सम्भोग-नियन्त्रण, गायो की नस्ल (नस्ल परीक्षण) के आधार पर साडो को दागना, व्यापक रूप से कृत्रिम सेचन, वैज्ञानिक ढग मे अभिजनन करके इस प्रकार की जननिक विशेषताओ का विकास करना जो कि दूध-उत्पादन व काम मे आनेवाले पशु पैदा करने की क्षमता की चरम सीमा व जीव्यता को एक साथ मिला दे, और अधिक तथा अच्छी खुराक की व्यवस्था, मवेशियो की नस्ल सुधारने और रोगो पर काबू पाने के लिए प्राविधिक योजनाओ के अतिरिक्त देहातो मे ईंधन की कमी दूर करने के लिए ईंधन वृक्षारोपण कार्यक्रम तथा अन्य उपायो के साथ-साथ किसी प्रकार के फसल आयोजन के अन्दर रहते हुए चारे की खेती का विस्तार करने के लिए समग्र कार्यक्रम बनाने, चलाने पडेंगे। इस प्रकार हमारी अर्थ-व्यवस्था मे मवेशी विकास का उपागम कृषि और ग्रामीण विकास के लिए हमारे जो प्रयत्न हैं उनके अग स्वरूप बनाना अपनाना पडेगा।

योजना के अन्तर्गत गाय की नस्ल सुधारने और उसकी दूध देने की क्षमता में वृद्धि करने तथा दूध न देने की अवधि मे कमी करने के लिए विभिन्न कार्य-क्रमो के अन्तर्गत अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। डेरी सयत्रो, मिल्क कालोनी तथा अन्य प्रकार की दूध सम्बन्धी योजनाओ से दूध के लिए विस्तृत बाजार प्राप्त होता है और अच्छी नस्ल की एवम् ज्यादा दूध देनेवाली गाये रखने के लिए पशु-पालको को एक प्रकार की उत्प्रेरणा मिलती है। पर्याप्त और विश्वस्त आकडो के अभाव मे मवेशी व डेरी विकास के लिए कार्यक्रम बनाने तथा मूल्याकन करने मे अडचन आती है अर्थात् इनका अभाव उक्त काम करने के लिए एक प्रकार की कमी है। इन कामो के लिए प्रमुख गोजातीय मवेशियो की सख्या के सम्बन्ध मे फिलहाल जो पच वर्षीय रूप से जानकारी मिलती है, उससे कुछ जल्दी मिलनी चाहिए।

मवेशियो की क्षमता मे सुधार करने हेतु योजना बनाने के लिए मवेशियो की विभिन्न नस्लो तथा उनकी क्षमता और अनेक पशु-उत्पादनो एवम् पशु-पालन पद्धतियो के सम्बन्ध मे भी विश्वस्त आकडो की अत्य-धिक आवश्यकता है। पशु-धन सम्बन्धी आकडो के मामले मे इन कमियो को दूर करने मे नमूना सर्वे-क्षणो का बहुत बडा महत्व है। इस बात का अध्ययन करने की आवश्यकता है कि विभिन्न दूध योजनाओ से हानि-लाभ क्या है और ग्रामीण सग्रह केन्द्रो पर पशु पालने की पद्धतियो में परिवर्तन तथा पशु-पालको की आर्थिक अवस्था के सन्दर्भ मे उनका क्या प्रभाव पडा है। मवेशी विकास कार्यक्रमो की अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे ऐसे अध्ययन करने के लिए केन्द्र तथा राज्यो के पशु-पालन और डेरी विकास विभागो मे साख्यिकीय इकाइयो की स्थापना करना बहुत ही आवश्यक है। आशा है चतुर्थ पच वर्षीय योजना मे पशु-पालन विकास कार्यक्रमो के साथ इस प्रकार के कार्यक्रम बनाने और उनका मूल्याकन करने के लिए परमावश्यक आकडे इकट्ठे करने सम्बन्धी योजनाओ पर भी उपयुक्त ध्यान दिया जायेगा।

नयी दिल्ली १२ दिसम्बर १९६१

आय वितरण पर एक दृष्टि

विद्या सागर महाजन

विकासोन्मुख देशो का विकास उस दर से– जिस पर कि क्रय-शक्ति के विस्तार से स्थानीय बाजार का निर्माण किया जाता है– वैसे ही निकटतम रूप में सम्बन्धित है जिस प्रकार कि निरन्तर विकास उपभोग में वृद्धि से निकट रूप में सम्बन्धित है और उस पर निर्भर है।

आय वितरण का मामला पूँजीवादी विभाग के अनुकूल होने का मुख्य कारण यह है कि यह विभाग बचत और निवेश के प्रति सचेत है। इस विभाग मे जितनी अधिक आय होगी, समुदाय की पूंजी और वृद्धि दर भी उतनी ही बढेगी। अवस्था इसके विपरीत होगी यदि आय मजदूरी करनेवालो जैसे गैर-पूँजीवादियों की जेब मे चली जाय, जिनकी उपभोग प्रवृत्ति उच्च है और जिस कारण ही सामुदायिक बचत नही हो पाती। फलत तीव्र विकास के लिए पूँजीवादी विभाग का भी साथ ही साथ-विकास होना चाहिए अथवा अर्थशास्त्रीय भाषा मे यह कह सकते है कि 'थोडे-से क्षेत्र मे आय बढाने को प्रोत्साहन देने तथा यथा सभव आय को अधिक लोगो मे वितरित न होने देने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।"

विदेशी बाजार पर निर्भरता

उपर्युक्त तर्क के समर्थन मे जबकि प्राय ऐतिहासिक उदाहरण दिये जाते है, इस बात को अच्छी तरह नही समझा जाता है कि अभी जो विकसित देश है उनमे उनके विकास करने के वक्त जो अवस्था थी, वह आज के विकासशील अर्थात् विकासोन्मुख देशो की अवस्था से मूलत भिन्न थी। ग्रेट ब्रिटेन का उदाहरण लीजिए। ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था मे जबकि तेजी से वद्धि हो रही थी और उसके साथ ही साथ पूँजीवादी विभाग मे आय का वितरण बडी उदारता से हो रहा था, यह सुझाना गलत नही होगा कि यदि ब्रिटेन की विदेशी बाजारो तक पहुँच नही होती तो यह सम्भव नही होता। उसके वस्त्रोद्योग की सफलता, जिसने उसके सम्पूर्ण विकास मे महत्वपूर्ण भाग लिया, बहुत कुछ विदेशी बाजारो के कारण ही थी, भारत जिसका एक बहुत बडा उदाहरण है। अत ब्रिटेन के लिए अपने उत्पादनो के लिए पर्याप्त स्थानीय बाजार का न होना कोई खास महत्व नही रखता था। यह इस बात का भी सुझाव देता है कि यदि किसी अर्थ-व्यवस्था की अपने निर्माताओं के लिए विदेशी बाजार तक पहुँच है तो वह बडी तीव्र गति से विकास कर सकती है, जिसमे आय का वितरण पूँजीवादी विभाग मे होगा।

दुर्भाग्यवश १९५१–७५ की इस अवधि मे यह अब सभव नही है। जबकि ब्रिटेन (अथवा जापान) की विकास प्रक्रिया अपने वस्त्र को दूसरे देशो मे निर्यात कर आरम्भ हो सकी, नये विकासशील देशो को कडी प्रतियोगिता का सामना करना पडता है। उन्हे अपना वस्त्र अपने ही देश मे बेचना पडता है।

विदेशी बाजारो से घरेलू बाजार मे स्थानान्तरण का अर्थ यह भी नही लगाना चाहिए कि सभी देशो मे पर्याप्त घरेलू बाजार ('अथवा आबादी') नही है, जोकि उनके उत्पादन को खपा सके। वेस्ट इडीज, पश्चिम अफ्रीका, आदि जैसे छोटे और विकासोन्मुख देशो का उदाहरण हमारे सामने है, जहाँ घरेलू बाजार इतना छोटा है कि वह अधिकाश निर्माता उद्योगो को जीवित नही रख सकता। परन्तु यहाँ भी विकास प्रक्रिया मे गतिशीलता

मुख्यत उनके द्वारा पडोसी देशो से मिल कर, जोकि कमोबेश विकास की समान अवस्था में ही हो, सीमा-कर सघ (कस्टम्स यूनियन) बनाने से ही आयेगी।[1]

घरेलू क्रय शक्ति

इस प्रकार विकास-समस्या उस गति से निकटतम रूप से सम्बन्धित है, जिससे विकासशील देश अपनी घरेलू क्रय शक्ति निर्मित करने की योग्यता रखते है। पूँजीवादी विभाग की सफलता भी देश के लोगो की क्रय शक्ति पर निर्भर करेगी। अन्य दृष्टि से देखने पर यह सुझाना सही है कि विकासोन्मुख देशोकी धीमी प्रगति का एक मुख्य कारण यह है कि उनमे किसी प्रकार जीवन-यापन भर करनेवाले किसानो का बाहुल्य है, जिनकी क्रय शक्ति बहुत ही कमजोर है। अन्तत यह समस्या गुजर-बसर भर करनेवाले वृहत विभाग और सीमित आधुनिक औद्योगिक विभाग के बीच के अन्तर को कम करने की हो जाती है।

इसी दृष्टि से आय वितरण के प्रश्न पर विचार करना है। सिर्फ पूँजीवादी विभाग के हाथो मे धन का सकेन्द्रण होने से ही वर्तमान बाजार के गतिरोधो को दूर करने मे कोई अधिक सहायता नही मिलेगी, जब तक कि इस धन का उपयोग राष्ट्रीय क्रय शक्ति के विकास के लिए नही किया जाता। विकासशील देश मे राष्ट्रीय क्रय शक्ति का विकास पूँजीवादी विभाग के कार्यक्षेत्र मे बाजार के कडे नियम, पर्याप्त पूँजी के न होने, भारी निवेश की आवश्यकता, लम्बी निर्माण अवधि आदि के कारण सहज ही नही आता। इस प्रकार विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे सरकार को राष्ट्रीय महत्व की पूँजी परिसम्पत्ति का निर्माण करने मे, जोकि अन्तत आय वितरण के आधार को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनो ही रूपो मे विस्तृत करेगी, बडी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभानी पडती है। उदाहरणार्थ, जब लोग पूँजीगत परियोजनाओ मे लगे होते है तो वहाँ आय का प्रत्यक्ष वितरण पारिश्रमिक पानेवालो के पक्ष मे होता है। इस आय के खर्च करने से उपभोक्ता उत्पादक सामग्री की माँग निर्मित होती है तथा आय का और भी आगे वितरण होता है। सक्षेप मे, एक बार जब किसी कार्य, उदाहरण के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम, के जरिये आय वितरण का प्रवाह आरम्भ हो जाता है, तो अर्थ-व्यवस्था के उन अन्य विभागो पर भी उसका माध्यमिक प्रभाव पडता है जहाँ रोजगारी, उत्पादन और पूँजी निर्माण बढ जाता है।

फिर, परियोजनाओ का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया जा सकता है कि अर्थ-व्यवस्था की वह नियमनिष्ठा टूट जाय जोकि विकास की राह मे बाधक है। विकासशील देश मे उच्च आय होने से अनाज की माँग भी अनुपातत अधिक बढेगी, जिसका (अनाज का) उत्पादन रोजगारी मे वृद्धि की दर से अधिक गति से बढना चाहिए। फलत प्रारम्भिक पूँजी निर्माण का अधिकाश भाग सिचाई, नहरो की खुदाई करने, भू-सम्प्राप्ति, बाध-बधाई, अच्छे बीज, खाद, उर्वरक आदि के वितरण के रूप मे होना है, जोकि खेत का उत्पादन बढाने मे सहायक होगा।

उपभोग और विकास

अच्छी पौष्टिकता और कार्य-क्षमता के सन्दर्भ मे भी भोजन का अनुकूल प्रभाव आर्थिक विकास की दृष्टि से इतना स्पष्ट है कि इससे ताज्जुब ही होता है कि इस पर पर्याप्त ध्यान नही दिया गया है। निश्चय ही अधिक विकसित देश भी प्रति कर्मी उत्पादकता बढाने मे प्रगति नही करते, यदि उनकी श्रमिक शक्ति कम विकसित देशो की तरह पूरी खुराक नही पाती। यह इस बात की पुष्टि करता है कि विकासशील देशो मे निरन्तर विकास के लिए खपत बढाना महत्वपूर्ण है और कम उपभोग के सिद्धान्तवालो की इस बात का विरोध करता है कि

---

१ यह घरेलू क्रय-शक्ति के सम्बन्ध में दिये जानेवाले तर्क का महज विस्तार भर है, जोकि विकास की समान अवस्था वाले देश एक-दूसरे के स्रोतों को योग्यतम ढग से विकसित करने का भार लेते हैं तो अधिक कारगर होता है।

विकास उपभोग निग्रह से सम्बन्धित है।[२]

आय वितरण की समस्या को इस नयी दृष्टि से ही समझना होगा। तीव्र विकास के लिए पूंजीवादी विभाग के पक्ष में आय-वितरण का प्रतिष्ठित तर्क विकासशील देश के लिए सिर्फ इसलिए सही नहीं बैठता कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अपना मूल विकास-प्रोत्साहक प्रभाव बहुत-कुछ खो चुका है, जोकि उन्नीसवीं सदी में तथा बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में बहुत अधिक था।[३] अब अर्थ-व्यवस्थाओं को अपने घरेलू बाजार के बल पर विकसित होने को बाध्य किया जाता है। फलतः क्रय शक्ति के विस्तार के जरिये स्थानीय बाजार की वृद्धि विकास के लिए अनिवार्य हो जाती है।[४]

भारत में जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, वह विकास की उपर्युक्त पद्धति में ठीक बैठता है। भारतीय आयोजक प्रारम्भ में ही यह जानते हैं कि देश के विकासार्थ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार अधिक सम्भावना नहीं रखता, भले ही रसायन, धातु आदि जैसी वस्तुओं के निर्यात के लिए, जिनकी मांग अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बढ़ती ही जा रही है, बहुत जोरदार प्रयास किया जाय, क्योंकि सुगठित और सुव्यवस्थित अर्थ-व्यवस्थाओं में बडी कडी प्रयोगिता करनी पड़ती है।

परिणामस्वरूप, वृहत अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की सम्भावना और बढ़ाने के लिए बहुत अधिक ध्यान दिया गया है। यह दो प्रकार से किया गया है। प्रथम, सामाजिक पूंजी को बढ़ाकर और द्वितीय, देश में अतिरिक्त क्रय शक्ति का निर्माण कर, जिसके लिए सामाजिक पूंजी ने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूप में योगदान दिया है। उदाहरणार्थ, प्रथम और द्वितीय योजनाओं में सार्वजनिक विभाग का अधिकांश निवेश सामाजिक पूंजी के रूप में था। भारत के विकास में यातायात, सिंचाई, बिजली, शिक्षा और स्वास्थ्य को उच्च प्राथमिकता दी गयी है (तालिका १ देखें)। इन सुविधाओं ने अर्थ-व्यवस्था के

---

२ तथापि, इसका अर्थ यह नहीं है कि अत्यावश्यक होने पर भी उपभोग पर कोई रोक नहीं रखनी चाहिए। आखिर जब उपभोग समाज की सामान्य अथवा निर्मित उत्पादन क्षमता से अधिक हो जाता है तो स्फीति की अवस्था पैदा हो जायगी और विकास दर पर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः यह आवश्यक है कि उपयुक्त—राजकोषीय, आर्थिक और प्रशासनिक—उपाय साथ-साथ अपनाये जायें ताकि जरूरत से ज्यादा उपभोग पर रोक लगायी जा सके।

३. यह (सम्पूर्ण) विकासोन्मुखी प्रभाव भी मुख्यतः हाल में बसाये गये क्षेत्रों तक ही सीमित था जैसे उत्तरी अमेरिका, ओसीनिया (आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड), जिनमें मुख्यतः वे लोग आ बसे है जोकि तंग बसे पश्चिमी यूरोप और इंगलैंड से निकल आये है, और स्वभावतः इनकी संस्कृति पश्चिमी यूरोप जैसी ही है। (इस विषय पर स्वर्गीय प्रो. रागनर नर्कसे (Ragnar Nurkse) का लिखा विस्तृत लेख पैटर्न्स ऑफ ट्रेड एंड डेवलपमेंट इन स्टॉक होम, १९५८ में पढ़ें।) जहाँ तक एशिया और अफ्रीका के कम विकसित देशों का सवाल है, प्रो. गुन्नार मिरडल ठीक ही सुझाते हैं कि उन्हें महज बचा-खुचा ही मिला, जैसे जबकि विदेशी निर्यात गृहों ने स्थानीय प्राथमिक उत्पादनों का निर्यात तथा आयातीत उत्पादक वस्तुओं का वितरण कर बहुत धन इकट्ठा कर लिया, स्थानीय औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्र समाप्त हो गये और उनका स्थान किसी अधिक योग्य व्यवस्था ने नहीं लिया—इकनॉमिक थियरी एंड अंडर-डेवलप्ड रेजायन्स।

४ किन्तु यह सुझाना बिल्कुल गलत होगा कि वर्तमान विकासशील देशों के लिए विदेशी व्यापार का कोई खास मूल्य ही नहीं है। यही तथ्य कि विकास अन्य देशों से बड़े-बड़े सयंत्रों और यान्त्रिक माध्यमिक वस्तुओं व तकनीकल जानकारी प्राप्त करने की मांग करता है, यह भी बताता है कि इस आयातीत माल की कीमत देने के लिए पर्याप्त निर्यात कार्यक्रम भी होना चाहिए। इस प्रकार भारत जैसे विशाल देश में भी देशी बाजार पर ही पूर्णतः निर्भर करना आर्थिक विकास की दृष्टि से घातक होगा। इससे यह सबक मिलता है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अब 'विकास का इंजिन' नहीं रहा जैसा कि अधिकांश वर्तमान विकसित देशों के मामले में रहा है, फिर भी वर्तमान अवस्था में इसे देशी बाजार के विकास के साथ प्रभावशाली ढंग से जोड़ देना चाहिए।

लिए उत्पादन और वितरण की आधुनिक पद्धतियों का द्वार खोल दिया है, उद्योगों का प्रसार पिछडे क्षेत्रो मे भी हुआ है और उसने राष्ट्रीय पैमाने पर रोजगारी के अवसर निर्मित किये है।[१] स्वास्थ्य और शिक्षा सुविधाओ मे सुधार ने मानव पूजी मे सुधार किया है और विकास मे इसे बहुत बडा कारक बना दिया है।

विस्तृत करने मे और भी सहायता मिली है। सिचाई और अन्य कृषि विस्तार योजनाओ पर किये गये खर्च से भू-स्तर मे सुधार हुआ है तथा उससे भारतीय कृषको को अपनी आय बढाने मे सहायता मिली है। फिर, जिस हद तक उद्योग और सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमो ने कृषि मे लगे अतिरिक्त लोगो के लिए रोजगारी के

तालिका १

सामाजिक बधा खर्च

(लाख रुपये मे)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
यातायान (सचार सहित)	५७,१०० (२४)	१,२९,००० (६९)	१,४५,००० (८६)
सिचाई (छोटी परियोजनाओं को छोड कर)	३७,००० (१५४)	४५,००० (९८)	६५,००० (९०)
बिजली	२६,००० (१११)	४१,००० (८९)	९२,००० (१२८)
सामाजिक सेवाएँ	५३,२०० (२२४)	८६,००० (१८७)	१,२५,००० (१७२)
सामुदायिक विकास और सहकार	९,००० (३८)	२१,००० (४६)	४०,००० (५५)
ग्रामीण और लघु उद्योग	४,९०० (२०)	१८,००० (३९)	२५,००० (३४)

टिप्पणी कोष्ठक में दिये गये आंकड़े प्रत्येक योजना में सार्वजनिक विभाग के कुल खर्च के प्रतिशत्य स्वरूप है।

लघु और कुटीर उद्योगो पर आवश्यक बल तथा उन्हे आवश्यक सहायता (तकनीकल, आर्थिक और इनके ही बडे उद्योगो के उत्पादनो की जगह इनके उत्पादनो को तरजीह दे कर) देने मे आय वितरण के आधार को

अवसर निर्मित किये है, उस हद तक ग्रामीण विभाग मे आय मे वितरण हुआ है तथा रोजगारी के अवसर निर्मित हुए है, जिससे किसानो के रहन-सहन और जीवन-स्तर मे सुधार हुआ है।

---

१ सर्वजनिक विकास के तीनों इस्पात कारखाने उन स्थानों में है, जहाँ कि पहले कोई उद्योग नहीं था। इन कारखानों ने उनके निर्माण, स्थापन, रख-रखाव और दैनिक कार्यवाही की प्रक्रियाओं में (बड़े पैमाने पर) रोजगारी के अवसर प्रदान करने के अतिरिक्त आस-पास के स्थानों में नयी औद्योगिक इकाइयाँ खडी करने में मदद दी है, जिन्होंने पहले के पिछड़े इलाकों में रोजगारी के और भी अवसर निर्मित किये हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक विभाग के अन्य उद्योगो तथा निजी विभाग के चन्द उद्योगो ने भी सरकारी औद्योगिक नीति का अनुसरण करके अपने कारखाने तुलनात्मक रूप मे पिछड़े क्षेत्रों मे स्थापित किये है।

दूसरा प्रश्न उठता है इसका असल सांख्यिकीय प्रमाण क्या है ? यद्यपि तृतीय पंच वर्षीय योजना मे दिये गये आकडों का इस्तेमाल करने मे सावधानी बरतनी चाहिए, तथापि, ये उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि करते है। प्रथम, कृषि उत्पादन ही लीजिए। सन् १९५१ और १९६१ के बीच कृषि उत्पादन ४६ प्रति शत बढा है, जिसने कैलोरी-पान मे १७ प्रति शत वृद्धि की है।[६] कुल वस्त्र उत्पादन मे ६२ प्रति शत वृद्धि हुई है, जिसमे खादी, हाथ करघा और शक्ति करघा वस्त्रों के उत्पादन मे १६२ प्रति शत वृद्धि हुई है तथा इस वृद्धि ने प्रति व्यक्ति वस्त्रोपभोग १९५०–५१ के ९ २ गज से बढा कर १९६०-६१ मे १५ ५ गज कर दिया है (मूल्य वृद्धि के बावजूद)।

पूंजीगत सामान और खनिज उद्योगों मे तो और भी वृहत् प्रगति हुई है। स्टील इगनाट, मशीनी औजारों और अलुमिनियम के उत्पादन मे क्रमश १५०, १,५१८ और ४०० प्रति शत वृद्धि हुई है। और, ये तो सिर्फ चन्द उद्योगों के ही उदाहरण है। जहाँ सन् १९५०–५१ मे भारत मे पेट्रोलियम उत्पादनों का निर्माण नही हुआ करता था, वहाँ १९६०-६१ मे इनका उत्पादन-स्तर ५७ लाख टन तक पहुंच गया। कच्चे लोहे के उत्पादन मे २३४ प्रति शत वृद्धि हुई, परन्तु कोयले मे सिर्फ ६० प्रति शत, पूंजीगत सामग्री उद्योगों मे दिनादिन सरकार के अधिकाधिक भाग लेने से औद्योगिक उत्पादनों के सूचकाक मे अच्छी वृद्धि हुई है—दस वर्ष मे ये ९४ अक बढ गये है।[७]

सामाजिक मदो मे प्रगति अर्थ-व्यवस्था के अन्य विभागो की प्रगति की तरह ही बनाये रखी गयी है। उदाहरणार्थ, विद्युत शक्ति की संस्थापित क्षमता १४८ प्रति शत बढ गयी है (यद्यपि इसका प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों मे अनुमानित दर मे नही हुआ है), रेलवे द्वारा ढोये गये माल मे ६८ प्रति शत वृद्धि हुई है (जोकि रेलवे की वहन क्षमता दर्शाती है), सडकों के क्षेत्र मे ४८ प्रति शत वृद्धि हुई है (इनमे से अधिकाश सडके अध-पक्की है, जोकि सुदूर गाँवों को शहरों से मिलाती है) और जहाजरानी की क्षमता १३१ प्रति शत बढी है (यद्यपि यह भारत के व्यापार को देखते हुए बहुत कम है)।

चिकित्सा सुविधाएँ और शिक्षा प्रदान करने मे भी इसी प्रकार प्रगति हुई है। डाक्टरों की सख्या २५ प्रति शत बढी है और अस्पतालों मे बिछौनों की सख्या ६५ प्रति शत। महामारी और छुआछूत की बीमारियों को रोकने मे बहुत अधिक प्रगति हुई है। सन् १९५१ के पूर्व मलेरिया भारत की बहुत बडी आबादी के लिए घातक सिद्ध हुआ था, अब वह करीब-करीब मिट ही चुका है। स्कूलों मे विद्यार्थियों की सख्या ८५ प्रति शत बढी है और इजीनियरिंग तथा तकनालाजी की शिक्षा लेनेवालों की सख्या २३९ प्रति शत।

निर्यात पीछे रहा है, यह तो इसी से सिद्ध है कि इन १० वर्षो मे सिर्फ ३ प्रति शत वृद्धि हुई है। अत विदेशी अनुबधों को पूर्ण करने के लिए हमे अब से कही अधिक ध्यान निर्यात व्यापार पर देना है।

आय में असमानता

भारत ने निश्चय ही इस दशक मे उत्साहजनक प्रगति की है। यह पूछा जा सकता है कि इस प्रगति ने समाज के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से वास्तव मे कितना लाभ पहुँचाया है। उदाहरणार्थ, आम तौर पर यह शिकायत

६. यही बडी उत्साहजनक बात है कि जहाँ प्रति व्यक्ति चावल, ज्वार और अन्य अनाजो के उपभोग में नाम मात्र की वृद्धि हुई है तथा कुछ मोटे अनाजों में तो कमी ही हुई है, गेहूँ की प्रति व्यक्ति खपत करीब ४२ प्रति शत बढी है।

७ सूचकाक में असल वृद्धि अधिक लगती है। यह इस कारण है कि जिस सामग्री को शामिल किया गया है उसकी गणना पुराने वजन के आधार पर की गयी है। जैसा कि पिछले दशक में इस्पात, रसायन और सामान्य इजीनियरिंग जैसे नये उद्योगों ने परम्परागत उद्योगों (जैसे वस्त्र) से कही अधिक गति से प्रगति की है, नये वजन के अनुसार सूचकाक में सशोधन करने से सम्पूर्ण औद्योगिक विकास में वृद्धि का उच्च प्रातिशत्य प्राप्त होगा। इस सम्बन्ध में देखिए डाक्टर वी० के० आर० वी० राव का लेख. भारत मे औद्योगिक क्रांति—खादी ग्रामोद्योग के जून १९६३ के अक में प्रकाशित।

की जाती है कि हाल के औद्योगीकरण ने समाज मे आय की असमानता को कम करने के बदले और भी बढा दिया है। इस वक्तव्य मे कितना तथ्य है? उपर्युक्त कथन को सही या गलत बताने के लिए साख्यिकी सामग्री की बहुत कमी है (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा किये गये चन्द सर्वेक्षणो को छोड कर, जोकि आद्यतन नही है)। आय जाँच समिति उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देने मे कहाँ तक सफल हुई है, यह देखना अभी बाकी है। अत हमे समस्या की तह तक पहुँचने के लिए कोई व्यापक तरीका अपनाना चाहिए।

आय के सकेन्द्रण के सम्बन्ध मे दो प्रश्न उठते है (अ) इस आय के पानेवाले कौन है, और (आ) वे इसका उपभोग कैसे करते है?

अ दो महत्वपूर्ण विभाग है, जिनके हाथ मे धन है। प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है सार्वजनिक विभाग, जहाँ धन का सकेन्द्रण सन् १९६१ से योजित विकास काल शुरू होने के बाद से काफी ऊँची दर से बढा है। इसका एक प्रत्यक्ष मार्ग है सरकारी (केन्द्रीय और राज्य यानी दोनो सरकारे) राजस्व मे तीव्र गति से वृद्धि, जोकि १९५०–५१ के ७ अरब ८१ करोड रुपये से बढ कर १९६०–६१ मे १७ अरब ७६ करोड १० लाख रुपये हो गया है। यदि हम इसमे पूजीगत प्राप्ति जोडे– जोकि इसी अवधि मे १ अरब २५ करोड से बढ कर १७ अरब ७६ करोड १० लाख रुपये हो गयी है–तो सरकार के हाथ मे धन (आय) का सकेन्द्रण काफी अधिक हुआ है। पिछली दो योजनाओ मे सार्वजनिक विभाग के निवेश कार्यक्रमो को देखने से भी इस धन सकेन्द्रण की पुष्टि होती है, जोकि दूसरी योजना मे पहली योजना के दूने से भी अधिक ३ अरब ६५ करोड रुपये था अर्थात् १९६०-६१ की राष्ट्रीय आय का एक-चौथाई था।

धन पर अधिकार रखनेवाला दूसरा महत्वपूर्ण विभाग है निजी (औद्योगिक) विभाग, जोकि कम से कम सार्वजनिक विभाग जितनी ही गति से बढा है–निगम क्षेत्र मे इन दस वर्षो से प्रदत्त पूजी करीब २५० प्रति शत बढी है।[८] अधिक महत्वपूर्ण इस विभाग की आर्थिक गतिविधियो मे आयी बडी विविधता है, जिसमे पूजीगत सामग्री उद्योगो का महत्वपूर्ण गति से विस्तार हुआ है।[९]

दूसरी ओर, भूस्वामियो और राज-रजवाडो के शासको के हाथ जो धन सकेन्द्रण हुआ था, उसमे काफी कमी हुई है। इनमे बहुत लोग पूजीवादी विभाग की ओर चले गये प्रतीत होते है और उस हद तक अर्थ-व्यवस्था को महत्वपूर्ण लाभ है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विकास की दृष्टि से पूजीवादी विभाग का यह तीव्र विकास और सामान्त विभाग का ह्रास बडा ही महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि निवेश और बचत करनेवाले वर्गो के सघटको मे एक निश्चित परिवर्तन है–अब ये सघटक जमीदारी और राज-रजवाडे न हो कर सरकार तथा निजी औद्योगिक विभाग से सम्बद्ध वर्ग है। इसने खर्च पद्धति को भी बदल दिया है। अब पहले की तरह विलासिता की वस्तुओ के बजाय आर्थिक विकास की दृष्टि से आवश्यक वस्तुओ पर खर्च होता है। जबकि पहले जमीदार और राजा-महाराजा अपने धन

---

८. जबकि १९५१ और १९६० के बीच निजी निगम विभाग में प्रदत्त पूँजी २ अरब ८९ करोड रुपयें से बढ़ कर ७ अरब ८२ करोड रुपये हो गयी, कम्पनियो की सख्या (१९,९६४ से बढ़ कर १९,६१५)। में सिर्फ २० प्रति शत ही वृद्धि हुई सभी ज्वाइंट स्टाक कम्पनियो (सार्वजनिक और निजी) में प्रदत्त पूँजी दूनी हो गयी। देखिए, केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन, नयी दिल्ली का मासिक सांख्यिकी विवरण।

९. विभिन्न यात्रिक सामान्य इजीनियरिग और रसायन उद्योगों का तीव्र विकास–इनमें जितने मदो को शामिल किया गया है उनमें से कई तो १९५१ मे निर्मित ही नही हुए थे अथवा प्रायोगिक अवस्था में थे–अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन के एक नये बयार का सकेत देता है (सरल उपभोक्ता और हल्के इजीनियरिग उत्पादनों से सर्वाधिक उलझे हुए आधुनिक उत्पादनों की ओर)।

का उपयोग सोना और हीरे-जवाहरात खरीदने, ऐशो-आराम, विदेशो की सैर करने आदि मे करते थे, अब पूजीवादी विभाग का अधिकाश धन सयत्र, मशीन आदि जैसी जमा पूजी मे लगता है, जोकि उत्पादन का क्षेत्र विस्तृत करता है, रोजगारी का क्षेत्र बढाता है।

यद्यपि 'प्रदर्शनात्मक प्रभाव' अभी पहले से अधिक प्रचलित है, तथापि 'प्रदर्शनात्मक प्रभाव' शब्द का इस्तेमाल करने मे भी हमे सावधानी रखनी चाहिए। इस तरह का प्रदर्शन सचमुच विकास का एक अभिन्न अग है जो कि प्रक्रिया को गति देता है। उदाहरणार्थ, तथाकथित 'यू' विभाग द्वारा पश्चिमी उपभोग पद्धति की नकल तथा इस विभाग की उपभोग पद्धति की अन्य आय-वर्गो द्वारा नकल-ने बहुत-से नये उद्योगो को खडा करने मे मदद दी है। प्रदर्शनात्मक प्रभाव-जैसा कि यह पहले था-मुख्यत बहुत ही थोडी माँग की विलासिता-सामग्री तक ही सीमित है और औद्योगीकरण तथा रोजगारी पर उसका प्रभाव नगण्य-सा है।

आ सार्वजनिक विभाग की तीव्र प्रगति रोजगारी के अवसर बढाने के साथ निकटतम रूप से सम्बन्धित है, जिसे हमारे आयोजन का मुख्य उद्देश्य माना गया है। निष्क्रिय और अर्ध-सक्रिय जन-स्रोतों मे छिपे धन का पूर्ण एहसास कर उत्पादन की उन तकनीको को प्रोत्साहित करने पर अधिक ध्यान दिया गया है जोकि इनका अधिकतम उपयोग करते है। विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमो में श्रम-प्रधान पद्धतियो का उदारतापूर्वक इस्तेमाल किया गया है। दुर्भाग्यवश इस सम्बन्ध मे आकडे उपलब्ध नही है कि अभी विभिन्न निर्माण योजनाओ मे कितनी जन-शक्ति लगी है, और इस आलोच्य अवधि मे कितनी जन-शक्ति लगी, इसके भी आकडे प्राप्त नही है, जोकि तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयोगी हो। सम्भवत इस तरह के आकडे प्राप्त करना सहज नही है। कारण कि निर्माण कर्मियों का स्थायी हल नही है-इस तरह के कर्मियों को परियोजनाओ की पूर्ति के लिए अस्थायी रूप से नियुक्त किया जाता है। यह भी सच है कि निर्माण कार्य के लिए कर्मियो की पूर्ति और उनकी प्रत्यक्ष नियुक्ति मे ठेकेदारो का बहुत बडा हाथ है, जिससे कि मामला और उलझ जाता है, क्योकि वे अपनी बही आद्यतन नही रखते। तथापि, योजनाओ की बडी सख्या को देखते हुए, जोकि योजनावधि मे या तो पूरी हो चुकी है या अब पूरी होनेवाली है, यह स्पष्ट होना चाहिए कि इन योजनाओं मे रोजगारी पाने-वालो की सख्या काफी बडी है।

निजी विभाग मे भी रोजगारी की गति काफी तेजी से बढी है, यद्यपि भारतीय कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आनेवाले कारखानो, खानो और बागानो मे उनकी वृद्धि-गति कोई महत्वपूर्ण नही है।[10] बादवाला सम्भवत यह दर्शाता है कि सगठित अथवा भारी उद्योग मे रोजगारी क्षमता अभी भी बहुत सीमित है।[11] इसके विपरीत गृह-निर्माण, लघु और कुटीर उद्योगो, वितरण व्यापार और व्यावसायिक प्रतिष्ठानो मे रोजगारी बडी तीव्र गति से बढी है।[12] लघु और कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहित करने की सरकारी नीति तथा गृह-निर्माण उद्योग के लिए बहुत अधिक माँग-औद्योगीकरण और शहरीकरण के फलस्वरूप-दोनो ने रोजगारी मे वृद्धि करने मे बहुत मदद की है।

१०

रोजगारी	१९५०	१९५१	१९६०
अ. कारखाने में	२,९९९	३,११४	३,४७६
आ खानों में	५४४	५९१	६१८
इ. बागानों में	१,२६२	१,१३६	१,२९८(१९५८)

(अक हजार में हैं)

११ यह एक दिलचस्प बात है कि जबकि १९५१ से १९६० के बीच कारखाना उद्योग में रोजगारी में २२ प्रति शत से कम वृद्धि हुई, राष्ट्रीय आय में उनका योगदान १४४ प्रति शत रहा, जोकि बहुत बडी आय का संकेत कराता है—बडे उद्योगों की प्रोत्साहक क्षमता दर्शाता है।

१२. रोजगारी सम्बन्धी आंकडे सिर्फ व्यापारिक संस्थाओं के ही उपलब्ध हैं, जिनमें १९५० और १९५९ के बीच अढाई गुनी वृद्धि हुई।

इस प्रकार उपर्युक्त सर्वेक्षण से, यद्यपि वह अधूरा है, मुख्य निष्कर्ष यही निकलता है कि आय के वितरण मे विस्तार और सकेन्द्रण साथ-साथ हुआ है, न कि सिर्फ सकेन्द्रण, जैसा कि अधिकतर दावा किया जाता है। सार्वजनिक और निजी विभाग मे धन के सकेन्द्रण के साथ-साथ ही आय वितरण प्रक्रिया भी विस्तृत हुई है। ये दोनो निकटतम रूप से सम्बन्धित रहे है और भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे विकास निश्चित करनेवाले मुख्य साधन सिद्ध हुए है। सरकार और निजी विभाग के हाथो मे आर्थिक शक्ति के सकेन्द्रण ने समाज के लोगो मे आय के अन्तर को बढाने के बदले उसे कम किया है। उदाहरणार्थ, पहले जबकि मध्यम वर्ग के औसत सदस्य और निम्न वर्गो के सदस्यो की आय मे बडा अन्तर था, अब यह अन्तर कम हो गया है। (तनकीकल कर्मचारियो की स्थिति तो और भी अच्छी है।) ग्रामीण और शहरी विभाग के बीच का अन्तर भी कम हो रहा है। विभिन्न विकास परियोजनाओ के फलस्वरूप ग्रामीण विभाग की बढती हुई समृद्धि ने औसत किसान को अपनी आय सुधारने मे सहायता की है और बदले मे आय का उपयोग ग्रामीणो की उपभोक्ता और उत्पादक वस्तुओ दोनो—जैसे साइकिल, सिलाई की मशीन, रेडियो, घड़ियाँ, फाउटेन पेन, जूते आदि—तथा विभिन्न कृषि यत्रो की माँग बहुत बढाने मे किया गया है। इस प्रकार आधुनिक बदलौन अर्थ-व्यवस्था सीमान्तो ने—विकास की हाल की पद्धतियो की दया से—सुदूर गाँवो मे भी तेजी से प्रवेश पा लिया है जिससे हमारे विकास मे एक नयी शक्ति का निर्माण हुआ है।

कलकत्ता ११ नवम्बर १९६३

औद्योगिक रूप से उन्नत राज्यो में गुजरात भी एक है। अन्दाज हैं कि १९५५–५६ में ८,७०,०० लोग औद्योगिक कार्यों में लगे थे और उनका योगदान १ अरब १५ करोड़ रुपये का अर्थात् राज्य की आय के एक-पचमांश से कुछ अधिक था। फैक्टरीज एक्ट के अन्तर्गत आनेवाले प्रतिष्ठानो में उद्योगो में रोजगारी पानेवालो में से ४० प्रति शत लोग लगे थे, परन्तु उनका योगदान कुल औद्योगिक उत्पादन के दो-तिहाई से अधिक रहा। राज्य मे औद्योगिक विकास की एक प्रमुख विशेषता यह है कि औद्योगिक गतिविधियाँ व्यापक रूप में फैली हुई है और वे विभिन्न क्षेत्रो में बटी हुई है। प्रमुख औद्योगिक केन्द्र है. अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, भावनगर, जूनागढ़ और राजकोट।

—टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात: नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

आदिवासियों के लिए न्यूनतम जीवन स्तर

दत्तात्रेय ना. वान्द्रेकर

परिगणित क्षेत्र और परिगणित जनजाति आयोग ने आदिवासियों की दुर्दशा पर प्रकाश डाला। राष्ट्रीय योजनाओं का उनके जीवन पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा है। यदि इन क्षेत्रों में वन्य उद्योगों को उपयुक्त ढंग से संगठित करें तो उनसे तीन करोड़ आदिवासियों की दयनीय अवस्था में सुधार लाने में बड़ी मदद मिलेगी।

खादी ग्रामोद्योग के जुलाई १९६३ अक मे श्री वैकुण्ठ ल मेहता ने अपने लेख 'न्यूनतम जीवन-स्तर की प्राप्ति' मे यह दिखाया है कि किस प्रकार ६० प्रति शत लोगो की मासिक आय राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति औसत आय २५ रुपये से भी कम है। अपने इन भाइयो की गरीबी अथवा दुर्दशा—परिगणित क्षेत्र और परिगणित जन जाति (ढेबर) आयोग के शब्दो में—का अन्दाज निम्न तालिका में दिये गये प्रति व्यक्ति आय के आकडो से ही लगाया जा सकता है -

नितल श्रेणी के प्रथम	दस प्रति शत	७	रुपये से रकम
,, द्वितीय	,, ,,	१०	,, ,,
,, तृतीय	,, ,,	१२	,, ,,
,, चतुर्थ	,, ,,	१५	,, ,,
,, पचम	,, ,,	१८	,, ,,
,, पष्ठम	,, ,,	२१ ५०	,, ,,

हृदय विदारक अवस्था

ये आकडे स्थिति को सुस्पष्ट कर देते है। पाँच सदस्यवाला एक परिवार, जिसकी औसत मासिक आय ३५ रुपयें हो, आज के जमाने में जबकि हर चीज की कीमत इतनी अधिक है, किस प्रकार का जीवन व्यक्तीत कर रहा है, इसकी कल्पना भी नही की जा सकती, जबकि स्वास्थ्य और पौष्टिकता का न्यूनतम स्तर बनाये रखने हेतु अकेले भोजन के लिए ही ३५ रु × ५=१७५ रु. की आवश्यकता पडती है। जगली इलाको मे रहनेवाले आदिवासियो के गरीब से गरीब परिवार से भी मैंने मुलाकात की है। हाल ही में मै बम्बई के सत जेवियर कालेज के विद्यार्थियो के साथ महाराष्ट्र के थाना जिला स्थित कोसबाड के निकट बराईपडा गया था। वहाँ पहली ही झोपडी में हमे स्थानीय लोगो की हृदय विदारक अवस्था देखने को मिली। कालेज की छात्राओ ने झोपडी के दरवाजे को खोला तो नजर आया कि एक वृद्धा एक गदे चिथडे में कुछ बाधे मचान की सीढियो से उतर रही है। हमने जानना चाहा कि वह क्या कर रही है। उसने बताया कि बच्चे भूख के मारे बिलख रहे है और घर मे कुछ खाने को नही है, अत वह बीज के लिए रखे थोडे-से धान में से ही चुपचाप दो मुट्ठी निकाल कर लिये आ रही है। वह नही चाहती कि उसका पति इस विषय में कुछ जाने। उसका पति काम की तलाश में घोलवाड गया था और पूछताछ करने पर हमें पता चला कि वह परिवार कद-मूल खाकर जिदा रह रहा है और यह अवस्था मई माह की है, जबकि कोसबाड से तीन मील दूर घोलवाड और बोर्डी मे फल-बागानो में कभी कुछ काम मिल सकता है। यह परिवार अकेले भोजन पर ही १७५ रुपये मासिक खर्च करने के लिए कब आय कर सकेगा? क्या यह इस जीवन मे कभी न्यूनतम जीवन-स्तर प्राप्त कर सकेगा? आदिवासी क्षेत्रो में ऐसे लाखो परिवार है और उन पिछडे वर्गों के लोगो को

तो छोड ही दीजिए जिनकी अवस्था इतनी ही दयनीय होगी। तीसरी योजना मे हम एक खरब रुपये खर्च करने जा रहे है। परन्तु क्या उससे आदिवासियो की, जोकि हमारे समाज का केवल एक ही भाग है, बहुत ही दयनीय अवस्था मे सुधार होने जा रहा है ?

आय में बढ़ता अन्तर

डा धनजयराव गाडगिल के अनुसार पिछली दोनो योजनाओ के कार्यान्वय से अमीर और अमीर हुए है तथा गरीब और गरीब। हमारे प्रधान मत्री के अनुसार धनी और धनी होते जा रहे है तथा निर्धन जहॉ के तहॉ है। जो भी हो, यदि पच वर्षीय योजनाओ के कार्यान्वय का अन्तिम परिणाम यही है तो हमारे आयोजन मे कोई मूलभूत गलती है या फिर इसके कार्यान्वय मे। हमारी तृतीय पच वर्षीय योजना की ७५० पृष्ठवाली पुस्तक में प्रथम वाक्य है: "भारतीय विकास का मुख्य उद्देश्य निश्चय ही भारतीय जनता को सुन्दर जीवन बिताने के लिए अवसर प्रदान करना है।" फिर, अध्याय ४ के पैरा १ का प्रथम वाक्य है "जिस समस्या पर तुरन्त ध्यान देना है वह है गरीबी तथा उससे पैदा होनेवाली बीमारियो का प्रतिरोध करना।" फिर पैरा ५ मे कहा गया है कि गाधीजी के लिए स्वतत्रता प्राप्ति सिर्फ एक राजनीतिक लक्ष्य नही था, बल्कि उसका उद्देश्य लोगो को गरीबी और अधोगति से उबारना भी था। इस उद्देश्य की प्राप्ति नही हो रही है, यह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि आय वितरण के विभिन्न पहलू योजना आयोग के लिए चिन्ता का विषय बन गये है। आय वितरण की पद्धति का अध्ययन करने हेतु प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो की जो समिति नियुक्त की गयी है, वह यह सिद्ध करती है कि योजना आयोग समाज के विभिन्न अगो मे आय की बढती असमानता के प्रति सचेत हो गया है। अत यह स्वाभाविक ही है कि राष्ट्रीय आयोजन सभी परिवारो के लिए बुनियादी उपभोक्ता सामग्री की न्यूनतम उपलब्धि तथा सामाजिक सुविधाओ का प्रावधान करे।

स्वचालन

प्रश्न है कि यह स्तर किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। श्री वैकुण्ठ ल मेहता ने इसका उत्तर दिया है। वे कहते है,—"राष्ट्रीय न्यूनतम मे भी सर्वोपरि बात है—तुरत ही रोजगारी के अवसर बढाना। बेशक लक्ष्य है उचित पारिश्रमिक पर पूर्ण रोजगारी की उपलब्धि।" परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए क्या किया जा रहा है ? क्या इसके लिए कोई नियमित आयोजन है ? लगता है कि सारा अयोजन श्रम बचानेवाले यात्रीकृत भारी उद्योगो का तीव्र गति से विकास करने के लिए है। उद्योग पतियो का उद्देश्य यत्रो का उपयोग कर तथा जन-शक्ति की कम से कम सेवा लेकर अपने उत्पादन को अधिकाधिक बढाना है। हाल ही मे मैंने एक समाचार पढा कि पश्चिम जर्मनी के एक छोटे-से गॉव अलिगा की एक बडी दुग्धशाला (डेरी) इस प्रकार चलायी जा रही है कि अस्तबल साफ करने, मवेशी बाधने, उन्हे खिलाने, नहलाने, उनका दूध दुहने, बर्तनो में दूध भरने तथा बाद मे उन्हे साफ करने, उनका मलमूत्र साफ करने तथा अन्य सभी सम्बन्धित कार्य यत्रो से ही किये जाते है।

उक्त दुग्धशाला के मालिक श्री फ्रेडरिक बेरुहार्ड को एक ही प्रकार का शारीरिक श्रम करना पडता है और वह है अवलोकनार्थियो को चारो ओर घुमाना तथा स्वचालित यत्रो द्वारा की जानेवाली विभिन्न प्रक्रियाएँ समझाना। इसी प्रकार रूस के एक वायुयान निर्माण कारखाने मे सारा काम यत्रो के जरिये ही किया जाता है। कारखाने को चलाने के लिए सिर्फ एक आदमी की जरूरत है। वह एक विशेषज्ञ है और कारखाने से कुछ दूर पर बने अपने कार्यालय से ही सारी प्रक्रियाओ की देखरेख करता है। कारखाने के इन यत्रो ने २,५०० व्यक्तियो को बेकार बनाया

है। बिजली के ऐसे-ऐसे औजार बनाये गये हैं जोकि मनुष्य की तरह काम करते हैं और मनुष्य की जगह खुद सभी प्रक्रियाओ पर नियन्त्रण रखते हैं। इसे तकनालॉजिकल प्रगति कहते हैं। सार्वजनिक और निजी दोनों ही विभाग इसके पीछे पागल हैं और यह तर्क देते हैं कि इसके बिना भारत आज के आधुनिक वैज्ञानिक युग मे जिन्दा नही रह सकता।

मैं इस बात से सहमत हूँ कि भारत को अन्य उन्नत राष्ट्रों जितना उच्च और प्रगतिशील वैज्ञानिक स्तर प्राप्त करना ही चाहिए। लेकिन भारत की आबादी ४३ करोड है और यह प्रति वर्ष २ प्रति शत बढ रही है। इस विशाल और बढ रही आबादी के लिए रोजगार की व्यवस्था कैसे की जायगी और बिना तकनालॉजिकल तथा वैज्ञानिक प्रगति की राह में बाधक बने उनकी गरीबी और अधोगति किस प्रकार दूर की जा सकती है, यही असली समस्या है जिसने हमारे विचारकों और आयोजकों को उलझा रखा है।

श्री वैकुण्ठ ल० मेहता के अनुसार बडे पैमाने पर रोजगारी देनेवाले कार्यक्रम मे वह तकनीक अपनायी जानी चाहिए जोकि कुटीरोद्योगों के विकास के उपयुक्त हो, खासकर, आम माग की उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन से सबधित हो। उन्होने जापान का उदाहरण दिया है जिसने जानबूझ कर चन्द उद्योगो मे तकनालॉजी का स्तर नीचा रखा है ताकि अधिक लोगो को रोजगार मिले, उसका विस्फुरण हो। भारत में भीषण बेकारी की समस्या को ध्यान मे रखते हुए तो यह और भी जरूरी है। परन्तु उपभोक्ताओ अथवा समाज पर बराबर यह बोझ न बना रहे, इसके लिए एक ऐसा कार्यक्रम तो होना ही चाहिए जिसमे तकनालॉजी के स्तर मे धीरे-धीरे सुधार होता जाय। तथापि, मैं यह महसूस करता हूँ कि सिर्फ उपभोक्ता सामग्रियो का उत्पादन ही पर्याप्त नही होगा। उदाहरण स्वरूप, जगली क्षेत्रों के लिए वे उपयुक्त नही होंगे, जहाँ कि तीन करोड वन्य जाति के लोग रहते है। उनके मामले में तो छोटे पैमाने पर चलाये जानेवाले वन्य उद्योगो पर जोर दिया जाना चाहिए, जोकि सहकारी आधार पर चलाये जाये।

सभी जगली क्षेत्रो मे वन्य उद्योगो को आरम्भ करने के लिए जिनका आयोजन करना होगा उनमे से कुछ है आरम्भ किये जानेवाले वन्य उद्योगो की तकनीको का वन्य जाति के लोगो को प्रशिक्षण देने के लिए जगली क्षेत्रो में ही व्यवस्था करना उनमे से ही कुछ लोगों को इन उद्योगो का सगठक बनाने का प्रशिक्षण देना, आवश्यक वित्त और बिक्री-व्यवस्था का प्रावधान आदि। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि हमारे ये भाई कई पुश्त से इस गरीबी और अधोगति में रह रहे हैं। इसमे सुधार लाने में जरा भी देर नही करनी चाहिए। बहरहाल आजादी मिले पन्द्रह साल से भी अधिक गुजर चुके है और योजित विकास पर बहुत भारी रकम खर्च की जा चुकी है, लेकिन आदिवासियो के हालात मे सुधार नही हुआ है। इसके विपरीत, हालत और बिगडी ही है तथा बदतर हो गयी है। हमारे आयोजन का लक्ष्य इससे सबधित होना ही चाहिए।

बम्बई : २५ जुलाई १९६३

पिछले दशक में स्पष्टतः उत्पादन में प्रभावोत्पादक वृद्धि होने के बावजूद राज्य में कृषि क्षेत्र की उत्पादकता आज भी राष्ट्रीय औसत से कम है।

—*टेकनो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात* : नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

वालोद महाल विकास योजना : एक विवेचन

विमल शाह

इस लेख मे गुजरात के सूरत जिले मे स्थित वालोद महाल के समग्र विकास के लिए बनायी गयी योजना के अन्तर्गत किये गये प्रयासों का मूल्याकन किया गया है।

गुजरात के सूरत जिला स्थित वालोद महाल क्षेत्र मे काम कर रही विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी विकास सस्थाओ ने महाल के समग्र विकासार्थ एक साथ मिलकर एक पच वर्षीय योजना बनायी है। यह योजना राज्य की तृतीय पच वर्षीय योजना के साथ-साथ ही कार्यान्वित की जानेवाली थी अर्थात् १९६१ से १९६६ तक। योजना कार्यान्वय के दो वर्ष पूरे हो चुके है और इसने तीसरे मे प्रवेश किया है। पिछले दो वर्षो के कार्यो की समीक्षा करना लाभप्रद होगा, क्योकि इससे, अब तक जो सफलता मिली है उसकी तथा योजना की शेष अवधि मे जो प्राप्त करना बाकी रह गया है उसकी जानकारी मिलेगी।

महाल के ८० प्रति शत लोगो का मुख्य आधार कृषि है, अत विकास योजना मे स्वभावत इसका प्रमुख स्थान है। कृषि एकमुश्त योजना के फलस्वरूप, जिसे कि समूचे जिले मे लागू किया गया है, महाल योजना मे कई कार्यक्रमो को शामिल किया जा सका और उनमे से कुछ ने तो लक्ष्य से भी अधिक सफलता प्राप्त की। उदाहरणस्वरूप, नयी क्यारी जोत तैयार करने तथा पुरानी क्यारी जोत की अवस्था सुधारने के कार्यक्रम मे प्रथम दो वर्षो के लिए क्रमश १०९ एकड और १,१०० एकड भूमि निश्चित की गयी थी, परन्तु असल मे क्रमश १९१ एकड और ४,००० एकड भूमि मे काम किया गया। इसी प्रकार उर्वरको और सुधरे सरजामो के लागू करने तथा फलो के नये वृक्ष लगाने के कार्यक्रमो मे भी लक्ष्य से अधिक काम हुआ। इसके विपरीत बाध बधाई और सिचाई के मामले मे लक्ष्य से बहुत कम काम हुआ। चूँकि एकमुश्त अधिकारीगण इन कार्यो के लिए यात्रिक उपकरण प्राप्त नही कर सके, इसलिए लक्ष्य प्राप्ति नही की जा सकी। कृषि के इन दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यक्रमो की कमी पर आयोजको को अत्यधिक ध्यान देना चाहिए, क्योकि अन्तत उनके ही सफल कार्यान्वय पर कृषि उत्पादन मे वृद्धि निर्भर करेगा।

विकासकालीन कठिनाइयां

एकमुश्त कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि के लिए ऋण मिलना आसान हो गया है। उदाहरणस्वरूप महाल मे १७ बहुधवी और सेवा सहकारिताओ ने कृषि कार्यों के लिए १९६०-६१ मे १,६०,००० रुपये अग्रिम दिया जबकि १९६२-६३ मे १९ समितियो ने ३,३४,००० रुपये लघु कालीन ऋण दिये। इस प्रकार दो वर्ष के अन्दर इसमे १०० प्रति शत से अधिक वृद्धि हुई है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ५० प्रति शत ऋण जिस के रूप मे दिया गया, जिस कारण खाद की खपत काफी बढी। परन्तु इस समस्या का एक पहलू और है जोकि कार्यान्वय के वक्त सामने आया। पचास प्रति शत ऋण अनिवार्य रूप से जिस मे प्राप्त करने के नियम से १९६२-६३ मे किसानो को बडी तकलीफ हुई क्योकि इस वर्ष सिर्फ ३० इच ही बारिश हुई जबकि पिछले वर्ष ७९ इच बारिश हुई थी। इतनी कम बारिश होने पर किसान अच्छी बारिश के समय

जितनी मात्रा मे ही उर्वरक इस्तेमाल करने की जोखम नही उठा सके। फिर भी, नियमानुसार उन्हे पूरा कोटा लेना पडा, जिसे कि उन्हे अपने घरो मे जमा कर देना पडा, जिससे कि पूंजी रुक गयी।

फिर, १९५७ के काश्त अधिनियम के अन्तर्गत काश्तकार जमीन के मालिक बन गये, जिसके लिए उन्हे न्यायालय द्वारा निश्चित कीमत चार से बारह एक-सम किस्तों मे देनी थी। इसने तथा एकमुश्त कार्यक्रम के अन्तर्गत बढे ऋण ने चुकती के मामले को मुश्किल बना दिया था। किसान अपनी फसल मे से पहले भूमि की कीमत की किस्त चुकाने को सोचता है क्योकि देर होने से जमीन के छिन जाने का डर है। उसके बाद भूमि राजस्व का नम्बर आता है। और उसके बाद सहकारी समिति के ऋण को चुकाने का, जिसने एकमुश्त कार्यक्रम के अन्तर्गत उसे ऊँची दर पर ऋण दिया है। हा, यह कह सकते है कि ये प्रारंभिक कठिनाइया है। परन्तु वे कठिनाइया तो है ही और यदि उचित उपाय नही किया गया तो विकास मे बाधा पहुँचने का अदेशा है।

जैसाकि बताया जा चुका है, इस अवधि मे सामान्य बारिश भी नही हुई, जिसके फलस्वरूप फसल पद्धति में बहुत परिवर्तन हुए। सन् १९६२-६३ मे कम बारिश के कारण धान, दाल, गेहूँ और कपास के खेत मे कमी हुई और ज्वार तथा मूगफली के खेत मे वृद्धि। वर्षा के प्रभाव के अतिरिक्त मूगफली के खेत मे निरतर वृद्धि और कपास के खेत में कमी होती गयी। कपास की खेती मे कमी का कारण है पिछले कुछ वर्षों से कपास की फसल पर कीडो का आक्रमण। बारडोली के चीनी कारखाने द्वारा उपलब्ध सुविधाओ के फलस्वरूप गन्ने के खेत में भी निरतर वृद्धि होती गयी। पशु पालन विकास कार्यक्रम ने कोई प्रगति नही की है।

सहकारी संगठन

इस अवधि मे सहकारी सगठन भी काफी मजबूत हुआ है और कई मदो मे इसने लक्ष्य की प्राप्ति की है। सहकारी समितियो की सख्या बढी है और उनके सदस्यो की भी, हिस्सा पूजी और लाभ मे भी वृद्धि हुई है। नयी किस्म की सहकारी समितियो का भी गठन हुआ है। उदाहरणस्वरूप इस अवधि मे तीन कृषि सहकारी समितिया, एक मजदूर ठीका समिति, एक ताड गुड उत्पादक समिति, एक दुग्ध उत्पादक समिति और एक उपभोक्ता भडार का सगठन किया गया है। कपास ओटाई और गाठ बधाई समिति ने इस अवधि में मूगफली का प्रशोधन और बिक्री कार्य भी हाथ मे ले लिया है। फिर भी, जहाँ तक महाल मे उत्पादित वस्तुओ की बिक्री और प्रशोधन का प्रश्न है, बहुत कुछ करना बाकी है। इसे ऋणदात्री सस्थाओं से सम्बन्ध बनाये रखते हुए करना है। तभी सुरक्षित रूप में ऋण दिया जा सकेगा। अभी तो ऐसा चन्द किसानो के मामले मे ही हुआ है। अधिकाश को तो इसका लाभ प्राप्त है ही नही।

औद्योगिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कुटीर दियासलाई और हाथ कागज उद्योगो को हाल ही में आरम्भ किया गया है। पिछले दो वर्षों में सघन क्षेत्र सगठन ने अपने कारखाने मे नये ढग के बालवाडी और स्कूली उपकरणो का निर्माण आरभ किया है। वालोद मे एक नया तेल-कोल्हू बैठाया गया है और गैर-सरकारी क्षेत्र मे धातु उद्योग का विस्तार हुआ है। महाल मे औद्योगिक विकास का उपयुक्त वातावरण निर्मित किया गया है और भारी तथा लघु दोनो ही किस्म के नये उद्योगो को आरभ करने पर गभीरतापूर्वक विचार किया जा रहा है, जैसे धान के डठल से कार्ड-बोर्ड बनाना तथा स्थानीय रूप में उपलब्ध धातुओ से खपरैल बनाना। पिछले दो वर्षों मे महाल मे जो नयी औद्योगिक गतिविधियाँ शुरू हुई है, उनमे १०० से भी अधिक लोगों के लिए काम के नये अवसर निर्मित हुए है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी लक्ष्य की प्राप्ति हुई है

अथवा उससे अधिक काम हुआ है। इस अवधि मे पाच किडरगार्टेन स्कूल और एक हाई स्कूल खोला गया है जबकि प्राइमरी स्कूलो के लिए २४ स्कूली कमरे बनाये गये है। स्कूल मे पढनेवाले लडको की भी सख्या बढी है और पढानेवाले शिक्षको की भी, तब प्रति शिक्षक ४४ के बदले ३७ विद्यार्थी का अनुपात बैठता है । महाल हेड क्वार्टर से १२ मील दूर बारडोली मे आर्टस एड साईन्स कालेज खुल जाने तथा आवागमन की सुविधाएँ उपलब्ध होने से यहाँ के विद्यार्थियो के लिए कालेज की शिक्षा प्राप्त करना भी सभव हो गया है। वालोद मे विज्ञान मदिर ने कार्य करना आरभ कर दिया है और अब यह महाल के विकास मे सहायक सिद्ध होगा।

वालोद में पानी टकी के निर्माण का भी कार्य पूरा हो चुका है तथा उन्हे तीन और जगहो मे आरभ करने की तैयारिया की जा रही है। सभी गाँवो मे पीने के पानी की सुविधाए उपलब्ध करना अभी बाकी ही है क्योकि पाच वर्ष मे ५० कुए खोदने के लक्ष्य मे से अभी सिर्फ चार ही खोदे गये है। चार गैस सयत्र स्थापित किये जा चुके है तथा और शीघ्र ही बैठाये जानेवाले है। सन् १९६३–६४ मे वालोद मे बिजली भी आ जायेगी, ऐसा आश्वासन दिया गया है।

इस प्रकार हम देख सकते है कि पिछले दो वर्षों मे महाल मे चतुर्मुखी विकास हुआ है। यह सरकारी और गैर-सरकारी सस्थाओ द्वारा कधे से कधा मिलाकर काम करने के फलस्वरूप ही हो सका है। ऐसा ही वातावरण बने रहने और तालुका पंचायत के सगठन के जरिये विकास कार्यों को सक्रियता प्रदान करने से ऐसी आशा की जाती है कि पच वर्षीय विकास योजना सफलतापूर्वक कार्यान्वित हो जायगी।

वालोद (गुजरात) . १५ अक्तूबर १९६२

सन् १९५१ के जनगणना-आंकडो की गणना के अनुसार ५८ प्रति शत आबादी की जीविका का मुख्य स्रोत कृषि और उससे सम्बन्धित कार्य है। सन् १९५५-५६ में इस विभाग के लोगो का राज्य की आय में योगदान २ अरब २५ करोड रुपये रहा अर्थात् कुल का ४४ प्रति शत। प्रति एकड़ उत्पादन का मूल्य राष्ट्रीय औसत का करीब दो-तिहाई है। इतनी कम उत्पादकता का मुख्य कारण है निम्न कोटि की फसल पद्धति और अधिकाश प्रमुख फसलो का न्यून उत्पादन, जिनके लिए राज्य के अधिकाश भाग में प्रतिकूल जलवायु अवस्थाओ को दोषी ठहराया जाता है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात*: नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

मैंने खादी ग्रामोद्योग के दिसम्बर १९६३ के अंक में 'रेशम कीट-पालन समस्याएं और सम्भाव्यताएँ' नामक लेख पढ़ा। यह बहुत ही रुचिकर और सुन्दर ढंग से लिखा गया है। तथापि, मैं एक दो तथ्यपूर्ण गलतियों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं।

पृष्ठ २३६ के पैरा २ में यह लिखा है कि शहतूत की पत्तियों की प्रति एकड़ उपज करीब १० हजार पौण्ड वार्षिक है। परन्तु यह औसत उत्पादन नहीं हो सकता। यह तो व्यवहारत पश्चिम बंगाल के माल्दह जिले का औसत उत्पादन है। अन्य स्थानों के मामलों में यह कम है।

उसी पृष्ठ पर पैरा ३ में यह बताया गया है कि फिलहाल देश के उत्पादन में करीब ६५ प्रति शत हिस्सा 'निस्त्री' कोयों का है। यह सही नहीं है। 'निस्त्री' बहु-जननशील देशी कोया है और यह सिर्फ पश्चिम बंगाल में होता है। मैसूर, कश्मीर और रेशम उत्पादन करनेवाले अन्य राज्यों में उनकी अलग ही जातियां— एफ १ क्रास और विदेशी दोनों ही किस्म की—होती है। अत यह कहना गलत होगा कि 'निस्त्री' देश का उत्पादन है।

—सत्य रंजन सेन
निर्देशक (रेशम)
खादी और ग्रामोद्योग कमीशन

कलकत्ता
११ दिसम्बर १९६३

पाली में एकमुश्त कार्यक्रम

माखन लाल भट्ट

चुनिंदा जिलो में कृषि का सघन विकास करना 'एकमुश्त कार्यक्रम' का उद्देश्य है। प्रस्तुत लेख में प्राप्त सफलताओं पर विचार किया गया है, और इसके सफल कार्यान्वय के लिए कुछ सुझाव दिये गये हैं।

राजस्थान का पाली जिला, कृषि उत्पादन पर फोर्ड फाउण्डेशन दल ने जिला कृषि कार्यक्रम–जो 'एकमुश्त कार्यक्रम' के नाम से प्रसिद्ध है–की जो सिफारिश की उसके अनुसार प्रारम्भिक चरण के रूप मे सात राज्यो मे, जिन जिलो का चयन हुआ उनमे से एक है। यह कार्यक्रम विभिन्न विदेशो मे, खास कर सयुक्त राज्य अमेरिका मे, सफलतापूर्वक चलाया जा चुका है। कृषि क्षेत्र का सर्वांगीण विकास करना इस कार्यक्रम का उद्देश्य है। कृषि विकास मे खाद्यान्नो की उपज मे पर्याप्त वृद्धि करना शामिल है, जोकि हमारे वर्तमान अस्तित्व को बनाये रखने और भावी आर्थिक विकास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन व विधिया है (अ) उत्पादन-वृद्धि के लिए 'अनुकूलतम' अवस्थाओवाले चुनिन्दा क्षेत्रो मे उपलब्ध सीमित साधन-स्रोतो पर ध्यान केन्द्रित करना, (आ) वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग करते हुए खाद्य-उत्पादन बढाने के सर्वाधिक प्रभावकारी तरीको व उपायो को प्रत्यक्ष करके दिखाना, और (इ) सिचाई तथा सुनिश्चित जल-पूर्ति-युक्त अन्य अनुकूल क्षेत्रो मे इस प्रकार के सघन कृषि कार्यक्रम का विस्तार करने के लिए विधि यानी तौर-तरीके तथा अन्य आवश्यक बाते निर्मित करना।[1]

मुख्य विशेषताएँ

पाली जिले का क्षेत्रफल ३० लाख १८ हजार एकड है और आबादी ८ लाख ७ हजार। एकमुश्त कार्यक्रम के कार्यान्वय से पूर्व विशुद्ध रूप से १३ लाख १ हजार एकड भूमि पर खेती होती थी। इस जमीन को ८१ हजार परिवार जोतते थे। खेत का औसत आकार १६ १७ एकड था। कुल ९१ हजार यानी प्रति खेतिहर परिवार पीछे १ ९ एकड भूमि ऐसी थी, जिस पर खेती हो सकती थी, पर की नही जाती थी। जितने क्षेत्र मे खेती होती थी उसका २४ ५४ प्रति शत सिचित क्षेत्र था। प्रति एकड औसत उपज यद्यपि राजस्थान के वर्षा पर निर्भर रहनेवाले अन्य क्षेत्रो से अधिक थी पर अखिल भारतीय स्तर से कम। प्रति कर्मी विशुद्ध योगदान और विशुद्ध कृष्य क्षेत्र की प्रति एकड कृषिक-आय अनुमानत समग्र राजस्थान से कम थी, जोकि क्रमश २७० और ६२ रुपये थी।[2] इसका कारण किसी हद तक निम्न कोटि की फसलो के अन्तर्गत अधिक क्षेत्र का होना था, जोकि क्षेत्र मे कम वर्षा होने की वजह से था।

इस पृष्ठभूमि मे १९६३-६४ के अत तक समग्र क्षेत्र को कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने के उद्देश के साथ १९६१ की खरीफ की फसल से प्रारम्भिक तौर पर जिले के दस खण्डो मे से सात मे एकमुश्त कार्यक्रम शुरू किया गया। कार्यक्रम का कुल परिव्यय १ करोड १० लाख रुपये था। कार्यक्रम के अन्तर्गत १० लाख ६८ हजार एकड जमीन लाने और २३ लाख टन उर्वरक वितरित करने की कल्पना की गयी थी। लघु-कालीन ऋण ९ करोड १२ लाख ४९ हजार रुपये और मध्य-कालीन ऋण ३ करोड ६० लाख रुपये तक देने की

१ इन्टेंशिव एग्रीकल्चरल प्रोग्रैम (पैकेज प्रोग्रैम) खाद्य और कृषि मत्रालय, भारत सरकार (मेमो)।

२ टेक्नो–इकनॉमिक सर्वे ऑफ राजस्थान नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

व्यवस्था की गयी। अपेक्षा की गयी थी कि पूरी तौर मे कार्यान्वित होने पर जिले के ६५ प्रति शत परिवार तथा कुल कृष्य भूमि का २५ प्रति शत क्षेत्र इसके अन्तर्गत आ जायेगा और १९५९ के २ लाख २१ हजार टन कृषि उत्पादन के स्थान पर १९६५-६६ मे वह बढ कर ३ लाख ४० हजार टन हो जायेगा।[३]

प्रथम दो वर्षीय काल मे—जोकि प्राप्त परिणामो के मूल्याकन के लिए बहुत ही लघु अवधि है—कार्यक्रम के अन्तर्गत १८ हजार परिवार तथा एक लाख एकड भूमि (लक्ष्याक का २२ २ प्रति शत और करीब १२ ५ प्रति शत) आयी बनायी जाती है। लगभग १२ हजार नये खेतिहर परिवार १९६३ की खरीफ के दौरान और आठ हजार १९६३-६४ की रबी फसल के दरमियान कार्यक्रम के अन्तर्गत आनेवाले है, जिसका मतलब है जिले के करीब ३८ प्रति शत खेतिहर परिवारो का कार्यक्रम के अन्तर्गत आना। यहॉ यह स्मरणीय है कि लक्ष्याक ३५ प्रति शत कृषि परिवारो का था। जो उर्वरक तथा उन्नत बीज वितरित किये गये उनका परिमाण क्रमश २० टन और २२ हजार ७०० टन था।

तालिका १

प्रति एकड तुलनात्मक उपज

(पौण्ड मे)

	ज्वार	बाजरा	मक्का	गेहूँ	जव
फार्म योजना	४११	३२८	९६६	१,१६७	१,१६१
गैर-फार्म योजना	३००	२६१	८२६	९५१	१,१०३
फार्म योजना मे गैर-फार्म योजना से अधिक औसत प्राप्ति	३७	२५ ६७	१६ ९५	२२ ७१	६५ ८०

स्रोत 'क्रॉप कटिंग एक्सपेरीमेण्ट ऑफ पैकेज प्रोग्रैम—प्रिलिमनरी एनलेसिस'।

३ पैकेज प्रोग्रैम—फैक्ट्स एण्ड फिगर्स विस्तार निर्देशालय, खाद्य और कृषि मंत्रालय, भारत सरकार।

तथापि, ऐसा लगता है कि वृद्धि-दर 'फार्म योजनाओ' तक ही सीमित है, शेष भूमि में कोई परिवर्तन नही आया जैसा कि ऊपर तालिका १ से प्रकट है।

यह एक स्पष्ट सकेत है कि कृष्य क्षेत्र के एक मामूली हिस्से में ही उत्पादकता बढी है और इसलिए जिले के समग्र उत्पादन पर उसका कोई विशेष प्रभाव नही पडा है। वस्तुत चन्द किस्मो के उत्पादन मे गिरावट आयी है।

जिले का चुनाव

एकमुश्त कार्यक्रम शुरू करने के लिए किसी क्षे का चुनाव करने के लिए फोर्ड फाउण्डेशन के विशेषज्ञ दल ने यह कसौटी रखी कि (अ) क्षेत्र मे कम से कम प्राकृतिक रुकावटे होनी चाहिए, (आ) उसमें सुनिश्चित जल-पूर्ति हो, और (इ) सहकारी समितियो, पचायतो आदि जैसी सस्थाएँ उसमें सुविकसित हो। पाली जिला ये शर्ते पूरी नही करता था और पिछले तीन वर्ष से उक्त कार्यक्रम इसमें चलने के बावजूद अवस्थाओ में कोई विशेष सुधार नही हुआ है। उदाहरण के लिए, प्रथम, जिले मे बारह माम तथा स्थायी स्वरूप की सिचाई-व्यवस्था नही है। क्षेत्र का करीब ७६ प्रति शत भाग वर्षा पर निर्भर है, जिसका होना अनिश्चित है, उस पर निर्भरता एक प्रकार मे जोखिम से परिपूर्ण है और वह अपर्याप्त है। अधिकाश कुए, जिनकी सख्या २४,७३९ है और जो क्षेत्र के करीब २४ प्रति शत भाग की सिचाई के लिए जिम्मेदार है, ऐसे है जिनके पानी मे अम्लत्व है और फलस्वरूप वह जमीन को कृषि के लिए अयोग्य बना देता है।

द्वितीय, वर्षा का न होना जोकि कोई असामान्य बात नही है। इसके फलस्वरूप सूखा और अकाल पडता है तथा लोगो को अपने मवेशी लेकर एक स्थान मे दूसरे स्थान पर भी जाना पडता है, जिससे उनकी जीवनता यानी सजीवता को ठेस पहुँचती है और भूमि विकास के प्रति

उनका अभिक्रम व प्रयास ढीला पड जाता है, फिर चाहे आविष्कारो, योजनाओं आदि पर उनका कितना ही भरोसा क्यो न हो। तृतीय, सहकारिताएँ जैसी सस्थाएँ अभी अपने शैशव-काल मे है और उनके सदस्य अनपढ तथा फिरका-परस्ती के शिकार है। सामान्यत ये सस्थाएँ अब भी ऊँची जातिवालो, भूतपूर्व जमीदारो या साहूकारो के नियत्रण मे है, जोकि इस प्रकार के कार्यक्रमो के प्रति हमदर्द नही है। एकमुश्त कार्यक्रम शुरू करने से पहले जिले में केवल १७८ कृषि सहकारी समितियाँ थीं और उनके सदस्यो की सख्या १६,००० ही थी अर्थात् ३ २ प्रति शत आबादी ही उनके अन्तर्गत आती थी। इन समितियो के साधन-स्रोत सीमित होने की वजह से १९६० तक वे प्रति कृषक औसतन रूप मे २६ रुपये से अधिक अग्रिम नही दे सकी।

ब्याज की उपयुक्त दर पर और उपयुक्त समय पर सहकारी समितियो के माध्यम से उधार देना इस कार्यक्रम की सफलता के लिए मूल मत्र अथवा रामबाण औषधि है, लेकिन विभिन्न कारणो से ये सस्थाएँ अब तक अपने सदस्यो को उत्पादन तथा उनकी पारीवारिक आवश्यकताओ के लिए पूरा ऋण प्रदान करने मे असमर्थ रही है। इस कमी को पूरा करने के लिए वे साहूकारो के चगुल में फँसते है। यह भी सच है कि वर्तमान हिस्सा-पूजी के अनुसार २५ रुपये औसत हिस्सा पूजी के आधार पर एक व्यक्ति के लिए अधिकतम उधार लेने की सीमा करीब २०० रुपये रखी गयी है, जबकि वास्तविक आवश्यकताएँ एक अच्छे श्रीगणेश के लिए ८२५ और १,६५० रुपये के बीच की है। इसके आलावा पहले से ही किसानो की आवश्यकताए जानने की कोई प्रभावशाली विधि नही है। यह कि किसान अपनी ठीक-ठीक उपभोग आवश्यकताएँ भी पूरी करने मे असमर्थ है, इसलिए यह एक ऐसा कारक है कि उत्पादन के लिए वह जो उधार पाता है उसे उपभोग के लिए काम मे लाने को बाध्य हो जाता है। स्वभावत और अधिक ऋण प्राप्त करने के लिए समितिया अधिकाधिक रूप से दिवालियनी तथा अयोग्य बन जाती है एवम् तदनुसार ऋण के लिए प्रार्थना करनेवाले परिवारो की सख्या कम हुई है।

अब तक हुए अनुभव से पता चलता है कि दुधारू पशु और बैल खरीदने जैसे कामो के लिए मध्य-कालीन ऋण की माग पूरी नही की जा सकी। यदि ऐसे ऋण दिये भी गये तो वैसे मामलो मे अदायगी एक वर्ष के भीतर करने की शर्त रखी गयी, जिसे पूरा करना शायद ही सम्भव था। ऋण स्वीकार करने में जहाँ पर सम्पत्ति की गारण्टी की बात आती है, अनेक कठिनाइया उपस्थित हुई। इन कठिनाइयो में आवश्यक मात्रा तथा उपयुक्त समय पर ऋण न मिलने की बात भी आती है, जो भूमिहीन श्रमिको के लिए खास तौर पर सामने आती है। बताया जाता है कि कार्यक्रम मे किसान अपना विश्वास खोते जा रहे है,

तालिका २
विभिन्न फसलों का उत्पादन

(हजार टन में)

वर्ष	ज्वार	बाजरा	गेहूँ	जव	चना	मक्का
१९५९–६०	० ३६	० २६	० ६७	० ३२	० ०७	० १५
१९६०–६१	० ११	० १९	० ५०	० २७	० ०२	० २६
१९६१–६२	० २२	० ३४	० ७१	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य

स्रोत : 'स्टेटिस्टिकल अब्स्ट्रैक्ट ऑफ राजस्थान', १९६१।

क्योंकि समय पर रसद तथा उधार मुहैया नहीं की जा सकी है। द्वितीय, 'ऋण शीघ्रातिशीघ्र स्वीकार करने का दबाव होने के कारण सम्बद्ध अधिकारियों के लिए ऋण के लिए प्रार्थना पत्रों में लिखित बातों की झूठ-साच का पता लगाना सम्भव नहीं बन पड़ा है।

उपयुक्त प्रणाली यह होगी कि गारण्टी आदि से उत्पादन के लिए दिया गया ऋण फसल से प्राप्त उत्पादन की बिक्री से वसूल किया जा सके।[४] इस सम्बन्ध में जो प्रगति हुई है, वह बहुत ही सीमित है और सहकारिताओं के जरिये उधार के क्षेत्र में हुए विस्तार से तुलना करने पर वह नगण्य बन जाती है। अब तक जितना ऋण दिया गया है उसका मुश्किल से ३३ प्रति शत हिस्सा वापिस वसूल किया जा सका है। इसका कारण यह है कि ऋण वसूल करने के लिए सहकारी समितियों द्वारा कोई प्रयास नहीं किया गया।

तालिका ३

वर्ष	कुल अग्रिम दी गयी रकम (लाख में)	समितियों की संख्या	योग्य घोषित सहकारिताओं की सदस्य-संख्या		ऋण के लिए प्रार्थी परिवारों की संख्या
			समितियाँ	सदस्य	
१९६१ खरीफ	१०.००	२८९	६१३	४०,४४३	(अप्राप्य)
१९६१ रबी	५.५०				
१९६२ खरीफ	६.०९	१३९	३५६	४०,१५१	४,५३९
१९६२ रबी	०.५३				६११

स्रोत 'रिव्यू आफ प्राग्रेस मेड इन १९६२-६३'।

सम्बन्धित नियमों की औपचारिकता को सरल बनाया जाय। यदि सभी सहकारी समितियाँ बहु-उद्देशीय प्रकार की हों, तो ऋण की वापसी यानी वसूली आसान हो सकती है। जहाँ तक सम्भव हो ऋण जिन्स के रूप में देना अच्छा होगा। ऐसा करने से न केवल ऋण का उपयुक्त उपयोग सुनिश्चित होगा, बल्कि किसान को अपनी बचत में से पूरक 'आदा' (इनपुट) की पूर्ति करने की प्रेरणा भी मिलेगी। इस प्रकार इसका परिणाम निकलेगा अर्थ-व्यवस्था में अधिक निवेश।

दूसरा पक्ष इस बात से सम्बन्धित है कि यह सुनिश्चित किया जाय कि सभी रकम उत्पादन कार्य में इस्तेमाल की जाय तथा ऋण की वापसी समय पर हो। इसमें निरीक्षण अथवा देख-रेख के लिए ठोस प्रबन्ध की बात आती है और इन सब के अलावा यह भी कि उधार व बिक्री-व्यवस्था के बीच निकट सम्पर्क हो, ताकि

इसके अतिरिक्त यहाँ पर बिक्री-व्यवस्था संगठन का प्रादुर्भाव हाल ही में हुआ है। खरीद करने के लिए वहाँ के दो बिक्री संगठनों के पास रुपया-पैसा नहीं है और उत्पादन के श्रेणी-विभाजन में उनके सामने अनेक कठिनाइयाँ आती हैं।[५] इन समितियों के सामने आवश्यक व्यवस्थापकीय कर्मचारियों की अपर्याप्तता और वित्त की कमी की समस्याएँ भी हैं। इस प्रकार इन समितियों के जरिये उत्पादन की बिक्री करना वांछनीय होगा या नहीं, यह भी एक ऐसा विषय है जिस पर विचार किया जाना चाहिए।

४ एग्रीकल्चरल सिच्यूएशन इन इण्डिया भारत सरकार; मार्च १९६२, वार्षिकांक १९६१ और १९६२।

५ टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ राजस्थान . नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली, १९६३।

सहकारी सस्थाओं से लिए गये ऋण अधिक हो जाने और उनकी वापसी न किये जाने के अन्य कारण इस प्रकार है (अ) व्यक्ति कितना ऋण वापस कर सकता है, इस दृष्टि से उसकी क्षमता से अधिक ऋण देना, और (आ) जिन व्यक्तियों का कुछ प्रभाव है वे समय पर ऋण की वापसी नही करते, जिसका प्रभाव अन्य सदस्यों पर भी पडता है। इन में से कुछ तो है ही ऐसे कि वे आदतन रूप से ही वापसी नही करते और जिन्होंने उधार सुविधा का लाभ उठाया है तथा इस प्रकार समूची समिति के काम को प्रभावित किया है, उसे दूषित किया है।[६]

एकमुश्त कार्यक्रम के अन्तर्गत यद्यपि कृषि योजनाएँ एक मौसम के लिए ही बनायी और कार्यान्वित की जाती है, तथापि बाडे की खाद, उर्वरक व जमीन तैयार करना—जिसके लिए ऋण दिया जाता है—आदि जैसे कुछ ऐसे मद है जिनका खरीफ और रबी दोनो ही फसलों पर प्रभाव पडता है। फार्म आयोजक को उसे खरीफ के मौसम मे जितना ऋण दिया जाता है, वह सब का सब दिसम्बर के महीने मे एक किश्त मे वापस करना पडता है। इसके अलावा खरीफ की फसल खेतो मे खडी रहते हुए ही उसे रबी की फसल के लिए ऋण प्राप्त करना पडता है। चूँकि खरीफ की फसल रबी की फसल की बोआई करने के वक्त तक भी खडी रहती है, इसलिए इस सम्बन्ध मे नियमो मे कुछ ढिलाई करना तथा अधिकतम उधार की सीमा को कुछ और ऊपर उठाना आवश्यक है।

एक वृत्त मे योजनाएँ बनाने का लक्ष्याक ऐसे ही निर्धारित कर लिया जाता है। उसमे योजनाओ की सम्भाव्यताओ का ध्यान नही रखा जाता और इस प्रकार ऐसी योजनाएँ अधिकाशत वास्तविक नही होती। लक्ष्याक सामने रखे रहने, अकुशलता के लाछन और दण्ड से बचने के लिए क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता प्राय बडी जल्दी-जल्दी मे तथा सम्बद्ध किसान की बिना स्वीकृति लिये ही योजनाएँ बना लेते है। लक्ष्याक इतने ऊँचे होते है कि क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता उन्हे प्राप्त करने मे समर्थ नही होते। इससे उनके काम के गुण मे गिरावट आती है। कार्यक्रम केन्द्रित न हो कर काफी विस्फुरित यानी विस्तृत होने के कारण भी उक्त बात पैदा होती है।

कुछ मामलो मे ऐसा पाया गया कि अनुवर्त्ती सेवा का अभाव है। इसके कारण बादवाले मौसम मे लोगो की ओर से प्रत्युत्तर मे कमी आती है। इसके कारण ये है कि इस कार्यक्रम के मुख्याधार ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता है तथा उनका कार्यक्षेत्र सामान्यत बहुत विस्तृत होता है और रोजमर्रा की कागजी कार्रवाई के अलावा उन्हे और भी अनेक काम करने पडते है।

कार्यक्रम विदेशी अनुभव पर आधारित है। सभी मान्यताएँ और लक्ष्याक विदेशो के गाँवो की गणनाओ आदि पर आधारित है, जोकि सामान्यत हो सकता है कि भारतीय अवस्थाओ मे प्रयोग करने लायक न हो। इस भिन्नता के कई कारण हो सकते है, उदाहरणार्थ, मिट्टी की रचना, जलवायु, धरातल आदि या फिर आबादी का घनत्व, पूजी की उपलब्धि, सामाजिक रीति-रिवाज व धार्मिक मान्यताएँ आदि। इसके अलावा "यूरोपीय तथा अमेरिकी विश्वविद्यालयो मे प्रशिक्षित हमारे यहाँ के कृषि विशेषज्ञ सदैव ही इस काम के लिए उपयोगी नही हो सकते, क्योकि उनके विचार प्राय अधिक कल्पना-प्रधान होते है"......"इसमे जोखिम यह है कि आधुनिकतम तकनीको के लिए अत्यधिक उत्साही बाहरी विशेषज्ञ अथवा स्थानीय अधिकारी अल्प-विकसित क्षेत्रो मे निहित पहलू का बिना खयाल किये आगे बढ सकते है।"[७] और फिर, अनपढ तथा रीति-रिवाजो से बन्धे अथवा

६ वही।

७ यूनाइटेड नेशस' प्रोसीडिंग्स ऑफ साइन्टीफिक कॉन्फ्रेंस ऑन कजरवेशन मे 'इटर अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ एग्रीकल्चरल सर्विस' के प्रोफेसर एलबर्ट रहोड (Albert Rhoad) की प्रमाणोक्ति।

चिपके हुए कृषक तीव्र व क्रातिकारी परिवर्तन अपनाने के जो आदि नही है, भौतिक प्रगति को साधारणतया कम महत्व देते है और कुछ तो ऐसे है जो आधुनिकता को, सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन के अधिक वाछनीय लक्ष्याको की तुलना मे, हीन समझते है। हमारी प्रगति में यह पहलू एक मुख्य बाधा रहा है और आज भी बना हुआ है। अतएव कार्यक्रम की उपयुक्तता व क्षमता और परिवर्तनो की शक्यता के सम्बन्ध मे कृषकों की दिलजमी करने के लिए स्वाभाविक रूप से ही महान प्रयास करने की आवश्यकता है।

कार्यक्रम की प्रगति में अवरोध के लिए जिम्मेदार है पचायतों तथा सहकारिताओ के बीच वैमनश्य का होना – पचायत राज्य के अन्तर्गत ग्राम विकास के लिए उत्तरदायी ये दोनों ही बुनियादी सस्थाएँ है और गांव की नेतागिरी अपने हाथ में रखने के लिए दोनों ही एक-दूसरी से स्पर्धा कर रही है। इन सस्थाओं पर ऐसे शक्तिशाली गुटो का नियन्त्रण है, जिनकी ग्राम विकास मे शायद ही कोई दिलचस्पी हो। एकमुश्त कार्यक्रम को–जोकि एक सयुक्त प्रयास होना चाहिए–वर्तमान अवस्था में इन सस्थाओ में से कोई भी अपना कार्यक्रम नही समझती। इसलिए इस दिशा में कदम उठाने आवश्यक है कि ये सस्थाएं मिल कर समरसता के साथ काम करे।

भावी कार्यक्रम

उक्त बातो को ध्यान मे रखते हुए यदि कार्यक्रम को निरपेक्ष तथा सापेक्ष दोनो ही दृष्टियो से सफलता हासिल करनी है तो उसका पुनर्गठन करना पडेगा और अब तक प्राप्त अनुभव के आधार पर पुन प्राथमिकताएँ निर्धारित करनी पडेंगी। इसके लिए निम्न कदम उठाने आवश्यक है

१ कृषि को वर्तमान जिन्दा भर रहने की अवस्था से बदल कर व्यावसायिक प्रकार देना होगा, ताकि कृषक अधिकतम विशुद्ध लाभ प्राप्त कर सके।

२ कृषि उत्पादन बढाने के लिए पहले से सृजित सुविधाओ के अनुकूलतम उपयोग को प्राथमिकता देने और ऐसी योजनाएँ बनाने की आवश्यकता है, जिनसे कम लागत पर पर्याप्त अधिक प्राप्ति हो।

३ कृषको की कुल आय अधिकतम बनाने की दृष्टि से इस क्षेत्र के अब तक उपेक्षित पशु-धन के विकास को कृषि विकास के साथ जोडा जाय।

४ वर्तमान विकास विधि या स्वरूप जो रूढिगत है अर्थात् जिसमें लचीलापन नही है और जिसमे ऊपर से विकास करने के मार्ग निर्धारित करने की प्रवृत्ति है, उसे बदला जाय। कार्यक्रम मे अधिक लचीलापन होना चाहिए और विकास किस प्रकार किया जाय, इसका निर्धारण किसी निश्चित आधार पर न करके स्थानीय अवस्थाओ के अनुसार किया जाय।

५ एक ही साथ ऐसी अनेक योजननाएँ शुरू करने की प्रवृत्ति से बचा जाय जोकि कर्मचारियो की कमी आदि जैसे कारणो से चलायी नही जा सकती और जिनमें प्रयास व्यर्थ जाते है।

६ कृषि विकास का कार्यक्रम कुछ सुधारात्मक उपाय कार्यान्वित करके अथवा प्राथमिकताएँ निर्धारित करके थोडे-थोडे रूप मे नही चलाया जा सकता। कार्यक्रम से तभी अनुकूलतम परिणाम प्राप्त हो सकते है, जबकि उसे एक सुसयोजित यानी ठोस रूप मे कार्यान्वित किया जाय। इस उद्देश्य के लिए अधिक विस्तृत क्षेत्र अपनाने की अपेक्षा–जोकि वर्तमान पद्धति है–सघन प्रयास करने के लिए छोटा कार्यक्षेत्र अपनाना चाहिए।

७ इन सब उपायो अथवा कदमो की सफलता उन्हे उपयुक्त रूप से कार्यान्वित करने पर निर्भर करती है। यह तभी सम्भव है, जबकि सघन रूप से प्रचार-प्रसार करके तथा अन्य कदम उठा कर कृषक को

योजना की उपयुक्तता के सम्बन्ध मे विश्वास दिला दिया जाय।

८ एकमुश्त कार्यक्रम मे सम्बद्ध अधिकारियो को सर्व प्रथम (अ) जल की पूर्ति, (आ) चने और जव मे होनेवाले 'रूखडी' नामक रोग का अवरोध, (इ) प्रतिरोधी बीजो की पूर्ति, (ई) खाद तथा मल-मूत्र के प्रयोग—खास कर सिंचित क्षेत्रो मे—को लोकप्रिय बनाने, और (उ) आधिकारिक तौर पर रखे गये प्रात्यक्षिक प्लाटो की अपेक्षा फार्म योजना पर निर्भर रहने जैसी समस्याओ पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

यद्यपि एकमुश्त कार्यक्रम से क्षेत्र मे प्राप्त भूतकालीन सफलताएँ साधारण है, तथापि यदि स्थानीय अवस्थाओ और वातावरण के अनुसार सफलता प्राप्त करने के लिए सुसयोजित व ठोस एवम् सघन प्रयास किये जाँय तो इस क्षेत्र मे विकास के लिए महान क्षमता निहित है।

वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) • ४ नवम्बर १९६३ ●

राज्य के दक्षिणी हिस्से अरब सागर के उत्तरी छोर पर बसे है जहाँ कि दक्षिण-पश्चिमी मानसून से बारिश होती है। अत बारिश राज्य के दक्षिणी सिरे पर बसे बलसार में १९१ सेंटीमीटर होती है और फिर वह धीरे-धीरे घटती जाती है, जैसे सूरत में १०४ सेंटीमीटर और अहमदाबाद में ७४ सेंटीमीटर होती है, जोकि करीब १५० मील के दायरे में है। इसके साथ ही बारिश पर भरोसा भी बहुत कम हो जाता है। नर्मदा नदी के उत्तर में भिन्नता ३० प्रति शत से अधिक है। प्राय बारिश स्थानीय रूप से होती है और कहीं-कहीं ही होती है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात:* नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

रेशम उद्योग व रेशम अनुसंधान

कमल बनर्जी

केन्द्रीय सरकार तथा पश्चिम बगाल सरकार के तत्वावधान में बरहमपुर और कालिम्पोंग में रेशम कीट-पालन में अनुसधान करने सम्बन्धी जो गतिविधिया हैं उनका और कोया पालन व रेशम उत्पादन के उन्नत तौर-तरीकों को लोकप्रिय बनाने के लिए जो कदम उठाये गये हैं उनका, प्रस्तुत लेख में सक्षिप्त मूल्याकन किया गया है।

गत तीन शताब्दियों मे पश्चिम बगाल में मुर्शिदाबाद का प्रधान उद्योग रेशम रहा है। इसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जिले की ओर आकर्षित किया, जहाँ डच, फ्रांसिसी और आर्मेनियन उक्त उद्योग के क्षेत्र में उनके प्रतिस्पर्धी थे। मान ट्रेवरनियर (Mon Travernier) ने लिखा था, "सत्रहवी शताब्दी के मध्य तक बगाल में कुल रेशम उत्पादन करीब २५ लाख पौण्ड था। इसमें से दस लाख पौण्ड स्थानीय रूप मे काम में लाया जाता था, साढे-सात लाख पौण्ड का डच निर्यात करते थे और साढे-सात लाख पौण्ड भारत तथा मध्य एशिया में वितरित होता था।" उद्योग की सम्पन्नता इस शताब्दी के प्रारम्भ मे धीरे-धीरे करके गिरने लगी और दो महायुद्धों व देश-विभाजन के कारण पैदा हुई गडबडी से उद्योग बिलकुल तबाह हो गया। इसी बीच जापानी रेशम उद्योग की कडी स्पर्धा का मुकाबला भारतीय रेशम उद्योग के सामने एक गम्भीर समस्या का रूप ले चुका था। फिर भी, रेशम कीट-पालन ने इन सभी प्रकार की स्पर्धाओं के होते हुए भी मुर्शिदाबाद के सबसे बडे कुटीर उद्योग के रूप मे अपनी स्थिति बनाये रखी।

सरकारी प्रयास

रेशम कीट-पालन मे सुधार करने के लिए बगाल सरकार और केन्द्रीय सरकार दोनो ने ही १९४६ में बरहमपुर नामक स्थान पर केन्द्रीय रेशम कीट-पालन अन्वेषण केन्द्र की स्थापना की तथा कालिम्पोंग मे उसका एक उप-केन्द्र खोला। राज्य सरकार ने दोनो ही स्थानो पर अन्वेषण केन्द्र को मुफ्त मे जमीन और इमारत दी तथा भारत सरकार ने अन्वेषण केन्द्र व उप-केन्द्र की वित्तीय व्यवस्था करने का वचन दिया। शुरू-शुरू मे पश्चिम बगाल के रेशम कीट-पालन को प्रभावित करनेवाली समस्याओं का पता लगाने के लिए पश्चिम बगाल के रेशम कीट-पालन उप-निर्देशक को निर्देशक के रूप मे नियुक्त कर अन्वेषण केन्द्र का प्रारम्भ लघु स्तर पर किया गया था। उस समय लडाई में पैराशूट रेशम की बहुत अधिक जरूरत थी और अग्रेजो के आधीन भारत—उस वक्त मैसूर एक रजवाडा यानी रियासत थी— मे रेशम उत्पादन के लिए बरहमपुर ही एक मात्र उपयुक्त केन्द्र के रूप मे स्वीकार किया गया।

उस समय जबकि रेशम उद्योग बडी तीव्रता के साथ गिरता जा रहा था रेशम व्यापारियों की एक समिति ने रेशम के कीड मे आनेवाली बीमारी से लडने के उपाय ढूँढ निकालने और रेशम कोया-पालन मे 'पैशच्योर' पद्धति का समावेश करने की कोशिश की। सन् १९०८ मे तत्कालीन बगाल सरकार ने कृषि निर्देशालय के अन्तर्गत यह प्रयोग किया और बगाल रेशम समिति गठित की गयी, जिसके अध्यक्ष थे कृषि-निर्देशक। बगाल के रेशम कीट-पालन व्यवस्थापक के अन्तर्गत बरहमपुर मे एक रेशम कीट-पालन फार्म खोला गया और मुर्शिदाबाद तथा मालदा जिलों मे सरकारी फार्मों मे रेशम कीट-पालन

अनुसधान शुरू किया गया। आज की तरह वास्तविक रूप से कच्चे रेशम का उत्पादन मुख्यत मालदा जिले मे होता था। बुनकरो के लिए मुर्शिदाबाद प्रसिद्ध था। बरहमपुर स्थित केन्द्रीय पौधशाला आज भी रेशम कोया-पालन और शहतूत की बागबानी के तरीको मे सुधार करने के लिए काम करती है।

वर्णसंकरीय-प्रजाति

सरकारी पौधशालाओ मे जिन प्रमुख भारतीय रेशम कीटो का पालन किया जा रहा था उनमे 'निस्ट्री' और 'छोटा पोलू' मुख्य थे। वर्ण सकरीय अभिजनन के लिए अनेक अन्य प्रजातियां भी लायी गयी। उस समय बरहमपुर मे सी सी घोष नामक एक सज्जन रेशम कीट-पालन के व्यवस्थापक थे। उन्होने कुछ जैव विशेषज्ञो की सहायता से वर्ण सकरीय अभिजनन के लिए अन्वेषण प्रारम्भ किया। खास करके डाक्टर डी सी सरकार तथा डाक्टर एम एल दासगुप्त जैसे कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जो बाद मे चल कर महान जीवशास्त्रियो के रूप मे प्रसिद्ध हुए। भारतीय रेशम कीटो की निस्ट्री प्रजाति मे गर्मी सहने की शक्ति होती है और वह बहु-जननशीलता (मल्टी-वोल्टाइन) विशेषता के लिए प्रसिद्ध है, क्योकि इस प्रजाति मे अनेक उत्पत्यावर्तन (साइकल्स ऑफ प्रोडक्शन) होते है। किन्तु निस्ट्री प्रजाति से उत्पादित रेशम अनेक विदेशी प्रजातियो से प्राप्त, विशेष कर जापानी प्रजाति से प्राप्त, रेशम के मुकाबले निम्न कोटि का होता है। किन्तु निस्ट्री जहाँ बहुजननशील है वहाँ जापानी प्रजातियाँ एको-जननशील अथवा द्वि-जनन-शील है। इसलिए भारतीय तथा विदेशी प्रजातियो के मिश्रित यानी वर्णसकरीय अभिजनन के जरिये रेशमी कीडो की एक नयी नस्ल के सृजन की दिशा मे प्रयास किये गये।

केन्द्रीय रेशम कीट-पालन अनुसधान केन्द्र यद्यपि १९४३ मे स्थापित हुआ तथापि, अनेक कारणो से वह १९६० तक कोई उल्लेखनीय काम नही कर सका। बाद मे भारत सरकार ने बरहमपुर मे केन्द्रीय रेशम कीट-पालन अनुसधान केन्द्र स्थापित करने की योजना पर स्वीकृति दी, जोकि भारत मे सबसे बडा अन्वेषण केन्द्र है और केन्द्र के भवन तथा प्रयोगशालाओ के निर्माण हेतु १८ लाख रुपये मजूर किये। बरहमपुर के पूर्वी छोर पर पचाननटोला मे नये भवन का निर्माण पूर्णावस्था मे है।

वास्तविक अन्वेषण

सन् १९६१ से उक्त अनुसधान केन्द्र वर्णसकरीय अभि-जनन के सम्बन्ध मे वस्तुत कुछ वास्तविक अन्वेषण कार्य कर रहा है और इस प्रकार रेशम-कीडो की नयी प्रजातियो का निर्माण कर रहा है, जोकि रोग-मुक्त होगे तथा जिनमे परिमाणात्मक कोया मूल्य होगा। निस्ट्री और एक जापानी प्रजाति के सहभोग से बरहमपुर मे अच्छे परिणाम प्राप्त हुए है, जबकि मालदा मे जापानी और चीनी प्रजातियो को लेकर प्रयोग चल रहे है। बरहमपुर केन्द्र मे चन्द ऐसी अजरबेजान प्रजातियो को ले कर प्रारम्भिक अन्वेषण हो रहा है, जो स्थानीय प्रजातियो के सहवास से उत्पन्न हुई है। चयन-कारी अभिजनन और बेहतरीन रूप से पालन करके स्थानीय प्रजातियो मे सुधार लाने के लिए स्थानीय रेशम कीट-पालक अधिक ध्यान देते है, तथापि व्यावसायिक दृष्टि से वे कितनी योग्य है, यह अभी देखना है। परिमाणा-त्मक और गुणात्मक दृष्टि से मूल्याकन, कोया पालने के लिए अनवरत अन्वेषण तथा परीक्षण करते रहना ही एक मात्र मार्ग है, ताकि बगाल का रेशम उद्योग अन्त-र्राष्ट्रीय बाजार मे स्पर्धा कर सके।

मुर्शिदाबाद में

मुर्शिदाबाद जिले मे फिलहाल १,२११ एकड भूमि पर शहतूत की खेती होती है और वहाँ का रेशम उद्योग प्रति वर्ष कोई छ लाख पौण्ड रेशम कोये पैदा करता है। यह जिला प्रति वर्ष तीन लाख वर्ग गज रेशमी वस्त्र और ६० हजार पौण्ड कच्चा रेशम तैयार करता है। रेशम के कीडे शहतूत की कोमल पत्तियाँ खाते है, और

सुनियोजित शहतूती बागवानी रेशम कीट-पालन की एक पूर्व शर्त है। किसी समय इस जिले में —खास कर जिले के सदर उप-प्रमण्डल में— शहतूत के विस्तृत बागान थे। बेलडागा थाने के गाँव कभी शहतूती बागवानी के लिए प्रसिद्ध थे, लेकिन समय पाकर जब रेशम कीट-पालन के बुरे दिन आये तो इन गावो की उस भूमि म जहाँ पहले शहतूत क बागान थे सब्जी और अन्य खाद्यान्नों की फसलें बोयी जाने लगी। अब शहतूत की बागवानी के अन्तर्गत और अधिक क्षेत्र लाने तथा शहतूती पौधों से अच्छी प्राप्ति के लिए भी प्रयास किये जा रहे है, ताकि स्वस्थ कोये पाले जा सके। चूकि प्रति वर्ष शहतूत के ताजा पौधे लगाने पर जोर दिया जाता है, इसलिए उक्त काम प्रति वर्ष कृषकों को पौधशालाओं से शहतूत की नयी कलमें प्रदान करते हुए किया जाता है।

कोया-पालन का स्तर

मुर्शिदाबाद और मालदा के गावो मे कोया-पालन एक ऐसा उद्योग है जो छोटे-छोटे खेतों में होता है। प्रत्येक कोया-पालक, जिसे स्थानीय बोल-चाल की भाषा मे 'बसनी' कहते है, साधारण खेती के अलावा कुछ बीघा जमीन पर शहतूत के पौधे भी लगाता है। मुर्शिदाबाद जिले में फिलहाल कोया-पालन करनेवाले परिवारो की सख्या ३,००० से कम नही है और गत वर्ष रेशम कीट-पालन सम्बन्धी पौध-शालाओ ने उन्हे ३०,००० शहतूती कलमो की पूर्ति की। पश्चिम बगाल सरकार की बेलडागा थाने के कुमारपुर नामक स्थान पर एक कलम पौधशाला है। शुरू मे इसकी वित्तीय व्यवस्था केन्द्रीय रेशम मण्डल ने की थी। इसकी स्थापना १९५५-५६ मे हुई। बाद में इस कलम पौधशाला को द्वितीय पच वर्षीय योजना मे शामिल कर लिया गया और पश्चिम बगाल के अन्य जिलो के रेशम-कीट-पालको को उसने हजारों कलमो की पूर्ति की।

विभिन्न प्रकार की खाद, उर्वरक और तौर-तरीके सावधानी पूर्वक उपयोग मे लाते हुए अच्छे गुण-स्तर की शहतूती पत्तियो का उत्पादन बढाने के लिए केन्द्रीय रेशम कीट-पालन अनुसधान केन्द्र मे विस्तृत प्रयोग भी किये जा रहे है। सन्तोषप्रद फल प्राप्त हुए है और इस बात के भी प्रमाण है कि परिमाणात्मक तथा गुणात्मक दोनो ही दृष्टियो से शहतूत की खेती मे सुधार हुआ है। शहतूत की खेती के लिए प्राय सिचाई की समस्या है और राज्य सरकार ने शहतूत की खेती करनेवालो को सिचाई पम्पो की पूर्ति करने की व्यवस्था की है। शहतूत की खेती जिस जमीन पर होती है उसकी सिचाई करने और उसमे खाद डालने के लिए कृषकों को ऋण दिया जाता है। राज्य सरकार ने १९५७-५८ मे ६५० शहतूती कृषको को ऋण दिया।

उन्नत तौर-तरीकों का प्रचार

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने रेशम उत्पादन के अभिनव तौर-तरीको का प्रचार किया है, करती है, और राज्य के रेशम कीट-पालन विभाग के प्रात्यक्षिक दल गाँवो मे रेशम कीट-पालको को कोया-पालन के उन्नत तौर-तरीके सीखाने के लिए नियमित रूप से जाते रहते है। कोया-पालको को स्वस्थ रेशम कीट प्रदान किये जाते है, ताकि वे बेहतरीन और एकसम गुणवाले कोयो का उत्पादन कर सके। सन् १९६० के अन्त तक ७४,५६० 'चन्द्रिकाओं' मे दूसरी 'अवस्था' तक पालन करके ऐसे स्थानीय कोया-पालकों को कोयो की पूर्ति की गयी, जिन्होंने राज्य के रेशम कीट-पालन विभाग के मार्गदर्शन मे उन्नत तौर-तरीको का व्यवहार करते हुए कोया-पालन अपनाया।

मुर्शिदाबाद : ६ अगस्त १९६३

सामाजिक अनुसंधान की भूमिका

सोमसुन्दर यशवन्त

भारत में समाजशास्त्री को इस बात का अध्ययन करना पड़ेगा कि परम्परा यानी रीति-रिवाज तथा जाति जैसे उनके अन्यान्य रूपो का क्या प्रभाव पडा है, क्योंकि ये आन्तरिक तथा बाह्य शक्तियों का प्रतिरोध करते हैं और उन्हे खपा लेते है, एवम् वह आधार प्रस्तुत करते है जिस गुटबन्दी अवस्थित होती हैं।

समाज रचना का महत्व बहुत बडा है, क्योकि एक देश से दूसरे देश मे ही नही बल्कि एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे भी समाज अलग-अलग होते है। एक अल्प-विकसित देश मे जिसकी उत्पादकता कम हो, सामाजिक समस्याओ का समाधान सामाजिक अनुसधान के साथ करने की आवश्यकता है। हमारा भारतीय समाज वशानुगत परम्परा पर आधारित एक गुटबन्दी का शिकार समाज है। इस सम्बन्ध मे जाति वह आधार है, जिस पर गुटबन्दी अवस्थित है। वस्तुनिष्ठ अध्ययनो से पता चलता है कि "इन पक्षो अथवा गुटो का विरोधात्मक कार्यो मे बहुत बडा हाथ है जैसे ग्राम्य एकता और किसी भी प्रकार के सहकार मे अनवरत बाधा, अशान्ति को बढावा और व्यक्ति तथा सम्पत्ति के विरुद्ध हिसात्मक कार्यवाही, मुकद्दमेबाजी, पारस्परिक फूट और दलबन्दी को प्रोत्साहन।"[१] और फिर, "असन्तोष, पारस्परिक कटुता, गुटबन्दी असाक्षरता, अज्ञान जाति-भेद, दलगत दगे-फसाद, सामाजिक तनाव भीषण बेरोजगारी " भारतीय ग्रामीण समाज की विशेषताएँ है।[२] परिणाम-स्वरूप ग्रामीण जनता के दु ख-दर्दो को समाप्त करने पर बहुत ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। समाजशास्त्री अथवा मानव-शास्त्री को उन बुनियादी तत्वो का अध्ययन करना चाहिए जिन पर यह गुटबन्दी आधारित है, जबकि नीति निर्माताओ को ये बुराइयॉ कम करने और अन्ततोगत्वा समाप्त करने के लिए कदम उठाने चाहिए।

सामाजिक अनुसंधान के लिए क्षेत्र

सामाजिक अनुसधान के सगठन मे बेतुके तौर-तरीको से बचना चाहिए और कार्य-विधि का उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रो के लिए भिन्न-भिन्न निदर्शको के साथ वैज्ञानिक उपागम होना चाहिए। उदाहरण के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत आनेवाले और उसके बाहर के गॉव मे विभेद करना चाहिए। इन विकास योजनाओ के शुरू होने के बाद गॉवो मे जो परिवर्तन आये है, उनका मूल्याकन करने के लिए भी इनमे विभेद किया जाना चाहिए। सुधार लागू करना आसान है, लेकिन उनके व्यवहार का मूल्याकन करना मुश्किल है।

समाज-व्यवस्था की खामियो को मोटे रूप मे सामने रखने की दृष्टि से समाजशास्त्री की भूमिका महत्वपूर्ण है। "सामाजिक समस्याओ के समाधान मे सिद्धान्तवादी समाजशास्त्री को अपनी सामाजिक निर्माता की भूमिका निभाने के रूप मे महत्वपूर्ण योगदान देना है। सामाजिक सम्बन्धो के बारे मे अपने विशिष्ट ज्ञान के कारण समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन लाने और सामाजिक प्रगति को गति प्रदान करने मे सहायता दे सकता है, वह

---

१ बलजीत सिंह ' नेक्स्ट स्टेप इन विलेज इण्डिया; एशिया पब्लीशिंग हाउस, बम्बई, १९६१, पृष्ठ ६।

२. उक्त उद्धृत, पृष्ठ ४।

तन्सम्बन्धी भविष्यवाणी कर सकता है, उन पर नियन्त्रण रख सकता है और निर्देशन दे सकता है।"[३]

अल्प विकास की प्रकृति का अध्ययन करने पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए। सामाजार्थशास्त्री सामान्यत यह स्वीकार करते हैं कि एक अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं आबादी का एक बहुत बडा अनुपात—मामा .त ७०–८० प्रतिशत—ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है, जो अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर करता है। समाज में कोई विशेष बचत नही होती। अधिकाश खर्च भोजन व अन्य आवश्यकताओं पर होता है। इस प्रकार इसमे इस बात पर प्रकाश पडता है कि व्यापार आदि के न्यन परिमाण क्यों है, रहन-सहन की अवस्था खराब है। अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं कृषि तकनीकों का निम्न स्तर, अत्यधिक कर्ज, उच्च जन्मानपात तथा मृत्योनुपात, जीवित रहने की कम आशा, न्यून पोषण व सार्वजनिक स्वास्थ्य का निम्न स्तर, बाल-श्रम, अत्यधिक अशिक्षा—खास कर महिलाओं में—महिलाओं का निम्न दर्जा, आदि।

परम्परा

भारतीय समाजशास्त्रीय विचार-धारा पर परम्परा की शक्ति के कारण विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। सामाजिक परम्पराओं का उन्हे प्रभावित करनेवाली आन्तरिक तथा बाह्य शक्तियों को ध्यान में रखते हुए अध्ययन किया जाना चाहिए, क्योंकि परम्पराएँ इन शक्तियो का प्रतिरोध करती है और इन्हे खपा लेती है। रिवाजों, लोक-रीतियो और लोकाचार का विस्तार में अध्ययन करना पडेगा। भारतीय परम्परा की रुढिवादिता जातिवाद के प्रचलन का अध्ययन कर समझी जा सकती है। यह परम्परा का ही परिणाम है कि उसने अन्य संस्कृतियों के आक्रमणों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया है। उसकी गत्यात्मकता ही कमजोर पडी है, किन्तु उसे पूर्णत नेस्तनाबूद नही किया जा सका है।

उपसहार

परिमाणात्मक तथा गुणात्मक यानी दोनो ही दृष्टियो से सामाजिक अध्ययन के रास्ते में जो रुकावटे आती है, उन पर आयोजित उपागमो के जरिये काबू पाया जा सकता है। भाषा, जाति, रीति-रिवाज और पारिवारिक जीवन जैसे पहलुओ को सामाजिक अध्ययन का ब्रॉडकास्ट करके सम्हाला जा सकता है। ये अध्ययन यदि आत्मनिष्ठ दृष्टि से किये गये तो अलग-अलग होंगे लेकिन मानवीय सीमा के कारण आत्मनिष्ठवाद तो एक ही पहलू है, जो अध्ययन मे आता है। "दो मानवशास्त्री एक ही फिरके अथवा गाँव के बारे मे लिखे तो भी कुछ ऐसा लिखेंगे कि उन दोनो का वर्णन अनेक मामलो में एक-दूसरे से भिन्न होगा।"[४] और, समाजशास्त्री तथा मानवशास्त्री की भूमिका प्राय एक समान ही है। भारत मे सामाजिक अनुसधानकर्त्ता को परम्परा तथा जाति आदि जैसे उसी के अन्य रूपो का परिवर्तनो पर जो बहु-विध प्रभाव पडा है, उसकी पृष्ठभूमि मे अपना अध्ययन करना पडेगा और उन प्रभावो का अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पडा है उसके तथा अपने अध्ययन के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होगा।

मद्रास २९ जून १९६३

---

३ डी एन मजूमदार : आर एन सक्सेना द्वारा सम्पादित सोशल, सोशल रिसर्च एण्ड सोशल प्रॉब्लेम्स इन इण्डिया में, पृष्ठ : १२-१३।

४. एम. एन श्रीनिवास : इण्डिया'ज विलेजेज, पृष्ठ : ४।

ग्राम्य जीवन में स्थिरता और परिवर्तन

ग्राम सर्वेक्षण के मालूमात

सुभाष चन्द्र सरकार

सन् १९६१ की जनगणना के अग स्वरूप तैयार किये गये ग्राम सर्वेक्षण 'मोनोग्राफों' से ग्राम समाज की मौजूदा स्थिति पर इस विशेष सन्दर्भ में अच्छा प्रकाश पड़ता है कि वहाँ सचार की समस्या कैसी है और स्वयम् ग्राम समाज मे परिवर्तन के लिए कितनी इच्छा व क्षमता है।

सन् १९६१ की जनगणना के प्रतिवेदन की एक अपनी विशिष्टता है उसमे ग्राम सर्वेक्षण 'मोनोग्राफो' का होना, जिनका उद्देश्य महा-पजीयक और जनगणना आयुक्त श्री अशोक मित्र के शब्दो मे "यह जानना है कि गॉव कितना यानी किस हद तक गतिहीन है और वैसा होते हुए भी वह कितना बदल रहा है तथा परिवर्तन की हवा किस वेग से व किधर से बह रही है।" सामान्य योजना के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य मे कम से कम पैंतीस गॉवो का सर्वेक्षण होता है। सर्वेक्षण मोनोग्राफ के लिए चुने गये गॉवो के मामले मे ऑकडो से जो अर्थ निकलता है अर्थात् जो चित्र सामने आता है, उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए व्यक्तिगत पर्यवेक्षण किया जाता है। लिखित वर्णन के साथ पूरक के रूप मे वास्तविक जन-जीवन के तथा जिस भौतिक वातावरण मे वे रहते है उसके और खेतो मे जिन उपकरणो का वे इस्तेमाल करते हैं उनके चित्र होते हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ मे जिन 'मोनोग्राफो'* का जिक्र है उनके अन्तर्गत पश्चिम बगाल के तीन गॉव आते है, जनगणना कार्यवाहियो के सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री जे सी सेन गुप्त के अनुसार पचास गॉवो का सर्वेक्षण किये जाने की योजना है। चूकि पश्चिम बगाल देश का एक सर्वाधिक औद्योगिक और शहरीकृत राज्य है, इसलिए इन सर्वेक्षणो से—जोकि शहरी क्षेत्रो के पास के दो गॉवो (कोदालिया और कामनारा) तथा राज्य के भीतरी ग्रामीण क्षेत्र के एक गॉव (घाटमपुर) से सम्बद्ध है—देश मे औद्योगीकरण व शहरीकरण की प्रगति और सीमा के विषय मे दिलचस्प चित्र सामने आता है।

कोदालिया चन्दननगर से करीब दो मील और हुगली-चिनसुरा के भी नजदीक ही है, जोकि जिले तथा प्रमण्डल (डिवीजन) का भी सदर मुकाम है। गॉव के लोग अन्य स्थानो मे रेलगाडियो, सार्वजनिक बसो, मोटर कारो (चाहे गॉववालो मे से कोई भी उनका मालिक न हो तब भी) तथा साइकल रिक्शो के माध्यम से जा-आ सकते है। अनेक ग्रामीण वास्तव मे आस-पास के कस्बो मे और यहॉ तक कि कलकत्ता मे भी—जो वहॉ से २० मील पडता है—काम की तलाश करते है, मिलने पर काम करते है।

इसी प्रकार कामनारा बर्दवान-कटवा सडक पर बर्दवान से करीब तीन मील है। आस-पास के शहरी इलाको मे आसानी से जाने-आने की दृष्टि से कामनारा की स्थिति भी केदालिया के समान ही है।

इसके दूसरी ओर घाटमपुर गॉव उद्योग-प्रधान

*सेन्सस ऑफ इण्डिया १९६१, वॉल्युम १६, वेस्ट बगाल, भाग ६, ग्राम मोनोग्राफ। रचियता पश्चिम बगाल और सिक्किम के लिए जनगणना कार्यवाहियों के सुपरिण्टेण्डेण्ट जे सी सेन गुप्त, नयी दिल्ली, १९६३, पृष्ठ. ११ (प्रस्तावना)+३५, ९ (प्रस्तावना)+३१, और ९ (प्रस्तावना)+३९, मूल्य क्रमश २.२० रुपये, २ ८० रुपये, और २.९० रुपये।

हुगली जिले मे ठीक ग्रामीण क्षेत्र के बीच बसा है। जिले के सदर मुकाम चिनसुरा मे वह १६ मील दूर है। सबसे नजदीक का रेलवे स्टेशन गाँव की उत्तरी सीमा मे आधे मील की दूरी पर है, लेकिन निकटतम बस का रास्ता तीन मील पडता है और इसी प्रकार डाकघर (गाँव के लोगो को एक पत्र तक डालने के लिए तीन मील दूर माखनपुर डाकखाने तक जाना पडता है)।

यह उल्लेखनीय है कि तीनो गाँवो मे रेल की लाइन प्रत्येक को दो भागो मे विभाजित करती हुई जाती है।

गाँवो की आबादी का आकार भिन्न है—ग्रामीण क्षेत्र मे बसे गाव की अपेक्षा शहरी क्षेत्र के समीपवर्ती गाँवो की जन-सख्या ज्यादा है। कोदालिया मे १८२ परिवार है और जनसख्या ९२२ कामनारा मे परिवार १५० है और आबादी ९७० । इसके विपरीत घाटमपुर मे १५० घर है और जनसख्या ७२७ है। आबादी बहु-जाति-प्रधान है तथा एक मे तो बहु-धर्मावलम्बी है।

विस्थापन

तीनो ही मामलो मे विस्थापको यानी अन्य स्थानो से आकर बसे लोगो की सख्या काफी अधिक है। कोदालिया मे ५० घर तो इसी पीढी मे आकर बसे है, जबकि आठ परिवार एक पीढी पहले आकर बसे थे। कामनारा मे वर्तमान पीढी मे आये परिवारो की सख्या अडसठ है, जबकि उनतीस पिछली पीढी मे आये थे। घाटमपुर मे सोलह परिवार इस पीढी मे आये और पन्द्रह एक पीढी पहले। किसी भी गाँव से कोई भी परिवार दूसरे स्थान पर जाकर बसा हो ऐसा नही बताया गया।

लोग किस प्रकार के घरो मे रहते है, यह उनकी जाति के अनुसार भिन्न है, जिससे मोटे तौर पर उनकी आर्थिक अवस्था का सकेत मिलता है। कोदालिया मे सबसे ज्यादा घर कर्मकारो के है। उनमे किसी के भी पक्का मकान नही है। गाँव मे सादगोपो के और ब्राह्मणो के इक्कीस-इक्कीस घर है जिनमे से क्रमश १८ तथा १७ परिवार पक्के मकानो मे रहते है। गाँव मे पक्के मकानो की कुल सख्या ५३ है। कामनारा मे मात्र चार घर ही पक्के है। इनमे से दो मकान दो उग्र-क्षत्रियो के है, जिनमे से एक गाँव मे नही रहता। शेष दो पक्के मकानो मे से एक मे स्कूल है और दूसरे मे छात्रावास। देहाती क्षेत्र के घाटमपुर मे १५० परिवारो का सर्वेक्षण किया गया जिनमे मे १४४ घरो की दिवाले कच्ची है, तीन परिवार बास की टाटियो मे बनायी गयी दीवारोवाले घरो मे रहते है और तीन अन्य परिवार ईंटो से बने घरो मे।

पेशेवार वितरण

गाँवो का पेशेवार वितरण निम्न तालिका से दृष्टव्य है

गाँवो का पेशेवार विभाजन

	कोदालिया	कामनारा	घाटमपुर
कुल परिवार सख्या	१८२	१५०	१५०
कृषि	४	६८	४९
खेतिहर मजदूरी	३८	२५	७७
उत्पादन कार्य	—	१२	७
पशु-धन	१०	—	३
निर्माण-कार्य	५	—	—
थोक व्यापार	१८	—	—
फुटकर व्यापार	२७	३	२
यातायात, भाण्डारीकरण व सचार	३५	१	१
अन्य सेवाएँ	३९	३१	४
गृह कार्य	६	—	—
जो कर्मी नही है	—	१०	७

कामनारा और घाटमपुर मे अधिकाश आबादी अब भी खेती पर निर्भर करती है। यहाँ तक कि कोदालिया मे भी खेती से जीविकोपार्जन करनेवाले परिवारो की सख्या बावन है। हम देखेंगे कि घाटमपुर मे आधी से ज्यादा आबादी अपने गुजर-बसर के लिए खेतिहर मजदूरो का काम करती है, जबकि शहरी क्षेत्रो के नजदीक के गाँवो मे खेतिहर मजदूरो का कुल जनसख्या के प्रति अनुपात कम है। इस पर इस सन्दर्भ मे विचार किया जाना चाहिए कि द्वितीय कृषि जाच मे बताया गया था कि पश्चिम बगाल मे भूमिहीन खेतिहर परिवारो का प्रातिशत्य १९५६–५७ मे ६३ ४९ था। यद्यपि कोदालिया मे ऐसा कोई परिवार नही है जो काम नही करता हो, काम न रहनेवाले वर्ग मे आनेवाले परिवारो की सख्या

घाटमपुर मे सात और कामनारा मे दस थी। सम्भवत सब से उल्लेखनीय बात तो यह है कि कोदालिया एक शहरी क्षेत्र के बहुत ही नजदीक बसा है और आसानी से बिजली प्राप्त की जा सकती है, लेकिन उसमे कोई उद्योग नही है। वहाँ औद्योगीकरण एक दूर की चीज ही बनी हुई है। उत्पादन कार्य पर निर्भर करनेवाले कामनारा के १२ परिवारो मे से आठ परिवारो के मुखिया पास के एक स्थान पर चावल मिल मे काम करते है। (इससे भी यही प्रकट होता है कि ग्रामीण जीवन मे धान हाथ कुटाई उद्योग के स्थान पर–जोकि रोजगारी का स्रोत होने के अलावा चावल खानेवालो के लिए पौष्टिक तत्वो का स्रोत भी है– अवाछित प्रकार का औद्योगीकरण आ धमका है।) दो परिवारो के प्रधान बर्दवान के लोको शेड (वह स्थान जहॉ रेलगाडी के इजन साफ-सफाई के लिए रखे जाते है) मे काम करते है, एक घर का मालिक मिठाई बनाकर गॉव के बाहर बेचने का काम करता है, जबकि एक परिवार का मुखिया ऊन के कम्बल बुनता है।

पृष्ठ ३२२ और ३२३ पर ी गयी तालिकाएँ इस सम्बन्धमे विस्तृत आकड प्रस्तुत करती है।

ऋण तथा अल्प पोषण

पेशेवार विभाजन सम्बन्धी तालिकाओ से विभिन्न वर्गो के लोगो की जीवनावस्थाओ के चित्र की कल्पना करना कठिन नही है। कोदालिया के १८२ परिवारो मे से ९९ यानी ५४ प्रति शत परिवार कर्जदार है। कामनारा मे ७३ परिवारो पर ऋण का भार है। घाटमपुर मे ११९ परिवार कर्जदार है। इस गॉव मे केवल ३१ परिवारो पर ही ऋण नही है। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि अनेक परिवार अल्प-पोषित है।

प्रस्तुत तीन गॉवो मे से किसी मे भी बिजली नही है। ऐसा इस तथ्य के बावजूद है कि तीनो गॉव औद्योगिक वृत्त यानी क्षेत्र मे अथवा उसके नजदीक है–दो गॉव तो शहरी क्षेत्रो के बहुत ही निकट है। इस कथन मे यह तथ्य भी सामने रखने की आवश्यकता है कि कोदालिया मे पूर्वी रेलवे के 'इन्स्पेक्टर ऑफ वर्क्स' के घर मे बिजली है। कोदालिया के १०३ घरो मे हैरीकैन लालटेन जलायी जाती है और ७८ मे चिमनियॉ। किसी भी घर मे पेट्रोमेक्स अथवा गैस की लालटेन नही है। श्री सेन गुप्त लिखते (पृष्ठ ९) है कि "रहन-सहन के स्तर से ऑकने पर ७८ परिवारो को गरीब किसानों की श्रेणी मे माना जा सकता है।" कामनारा मे ९१ परिवार लालटेन जलाते है और ५९ घरो मे चिमनियो अथवा डिब्बो का उपयोग होता है। घाटमपुर मे ७० परिवारो मे लालटेन का और शेष ८० घरो मे चिमनियो का इस्तेमाल होता है।

यातायात

यदि मिट्टी के तेल से जलनेवाले स्टोव को औद्योगिक युग का निदर्शक समझा जाय तो कोदालिया के १५ ४ प्रति शत परिवारो के लिए ही यह माना जा सकता है कि उन्होने औद्योगिक युग मे पदार्पण किया है। कामनारा मे यद्यपि ५३ परिवार विशुद्ध रूप से अथवा लकडी के साथ-साथ ईधन के रूप मे कोयले का इस्तेमाल करते है, लेकिन स्पष्टत वहॉ कोई भी स्टोव का उपयोग नही करता। इसी प्रकार घाटमपुर मे केवल तीन परिवारो यानी दो प्रति शत घरो मे ही स्टोव है।

साइकल को यदि औद्योगिक युग का प्रतिनिधि माना जाय तो हालत यह है कि कोदालिया के १८ ७ प्रति शत और कामनारा के १३ ३ प्रति शत घरो मे साइकल है, किन्तु घाटमपुर के एक भी घर मे साइकल नही है।

शिक्षा का विस्तार

तीनो ही गॉवो मे लोग अपने बच्चो को पढाने की आवश्यकता के प्रति पूर्ण रूप से सचेत है। यदि सभी परिवार अपने बच्चो को पढने भेजने मे समर्थ नही है तो इससे यह बात इतनी नही प्रकट होती कि वे बच्चो को स्कूल नही भेजना चाहते, जितनी यह कि वे बच्चो की शिक्षा का खर्च बर्दाश्त करने मे असमर्थ है। स्कूल मे लडके अथवा लडकी की शिक्षा पर औसत खर्च कोदालिया मे अमूमन तौर पर १५० और घाटमपुर मे ४१ रुपये होता है।

कोदालिया गाँव के परिवारो का जाति और पेशे के अनुसार विभाजन

जाति	कृषि	कृषि श्रमिक	पशु धन	निर्माण कार्य	यातायात, भडारीकरण व सचार	थोक व्यापार	फुटकर व्यापार	अन्य सेवाए	गृह कार्य
ब्राह्मण	–	–	–	१	–	५	६	९	–
वैद्य	–	–	–	–	–	–	–	५	–
कायस्थ	–	–	–	१	१	–	–	४	–
सादगोप	१	–	–	–	–	–	४	१५	१
ग्वाला	–	–	९	–	४	७	१	–	–
बौरी	–	१०	–	–	३	–	–	–	३
बागडी	–	२	–	–	३	–	२	–	–
कर्मकार	२	२३	–	३	७	–	११	–	२
राजपूत	–	–	–	–	१	६	–	२	–
हरिजन	–	–	–	–	३	–	–	–	–
कुर्मी	१	१	–	–	१	–	–	–	–
दुसाध	–	१	–	–	२	–	–	–	–
रजवाड़	–	–	–	–	२	–	–	–	–
मल्लाह	–	–	–	–	१	–	२	–	–
साव	–	–	१	–	२	–	–	–	–
साहा	–	–	–	–	–	–	–	१	–
महिश्य	–	–	–	–	–	–	–	१	–
धोबी	–	–	–	–	–	–	–	१	–
अम्बाटी (आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम जिले से आये कृषक)	–	–	–	–	१	–	–	–	–
भुइया	–	–	–	–	१	–	–	–	–
पासी	–	–	–	–	१	–	–	–	–
रमानी-कहार	–	–	–	–	१	–	–	–	–
वैष्णव	–	–	–	–	–	–	–	१	–
भोर	–	–	–	–	१	–	–	–	–
तेली	–	–	–	–	–	–	१	–	–
राजवशी	–	१	–	–	–	–	–	–	–
योग	४	३८	१०	५	३५	१८	२७	३९	६

टिप्पणी : औद्योगिक वर्गीकरण भारत सरकार के श्रम और रोजगार मन्त्रालय के रोजगार और प्रशिक्षण महा निर्देशक द्वारा निर्धारित पद्धति के अनुसार किया गया है, फर्क सिर्फ इतना है कि प्रमण्डल (डिवीजनल) वाणिज्य और व्यवसाय को दो भागो– थोक तथा फुटकर व्यापार–में विभक्त किया गया है। इसी प्रकार अन्य सेवाएँ भी दो भागों -अन्य सेवाएँ तथा गृह कार्य–में विभक्त की गयी हैं।

कामनारा के परिवारो का जाति और घर के मालिक द्वारा अपनाये गये पेशे के अनुसार विभाजन

जाति या फिरका	कृषि	कृषि श्रमिक	उत्पादन कार्य	फुटकर व्यापार	यातायात, भाडारीकरण व सचार	अन्य सेवाएँ	कार्य गृह
ग्वाला या गोप	२९	–	–	१	–	–	५
सताल	१२	८	५	–	–	८	–
उग्र क्षत्रिय	९	१	३	१	१	३	२
बौरी	२	३	२	–	–	११	–
बागडी	–	९	१	–	–	३	२
नामशूद्र	११	२	–	–	–	–	–
मोची	४	२	–	–	–	–	–
गध वणिक	१	–	–	१	–	१	१
ब्राह्मण	–	–	–	–	–	२	–
वैरागी	–	–	–	–	–	२	–
अहीर	–	–	१	–	–	–	–
हरी	–	–	–	–	–	१	–
योग	६८	२५	१२	३	१	३१	१०

घाटमपुर के परिवारो का जाति/फिरका/समुदाय और घर के मालिक के पेशे के अनुसार विभाजन

जाति/फिरका/समुदाय	कुल परिवार	कृषि	कृषि श्रमिक	उत्पादन कार्य	फुटकर व्यापार	अन्य सेवाएँ	पशु धन	यातायात, भाडारीकरण व सचार	गैर कर्मी
मुसलमान	२६	१७	५	–	१	–	–	–	३
सादगोप	२४	१४	२	४	१	१	–	१	१
कोडा	१९	३	१६	–	–	–	–	–	–
कावडा	१५	२	११	–	–	–	–	–	२
देसवाली	१४	२	१२	–	–	–	–	–	–
कर्मकार	१३	–	१२	–	–	–	–	–	१
बौरी	१२	१	११	–	–	–	–	–	–
ग्वाला	११	७	–	–	–	१	३	–	–
ब्राह्मण	६	३	–	३	–	–	–	–	–
बागडी	५	–	५	–	–	–	–	–	–
भूमिज	३	–	३	–	–	–	–	–	–
परमाणिक	१	–	–	–	–	१	–	–	–
क्षत्री	१	–	–	–	–	१	–	–	–
योग	१५०	४९	७७	७	२	४	३	१	७

इसलिए कोदालिया के केवल ३६ ८ प्रति शत परिवार ही अपने आठ और बीस वर्ष के बीच की आयुवाले बच्चों को स्कूल भेज सकते है, कामनारा मे पाँच और सोलह वर्ष के बीच के बच्चों को पढने भेजने की अवस्था मे परिवारो का प्रातिशत्य ५१ है। घाटमपुर के ८९ घरो मे पाँच से सोलह वर्ष तक के आयुवाले बच्चे है। उनमे से केवल ४२ परिवार ही उन्हे स्कूल भेजने मे समर्थ है। घाटमपुर के लोगो के दृष्टिकोण यानी रुख के सम्बन्ध मे श्री सेन गुप्त लिखते है "वे परिवार जिनमे ५–१६ वर्ष के आयु-वर्ग मे आनेवाले बच्चे है और अपने बच्चो को पढने नही भेजते सम्भवत इतने गरीब है कि बच्चे की शिक्षा पर होनेवाला मामूली खर्च भी बर्दाश्त नही कर सकते। कालेज पढने जानेवाले युवक के अभिभावको को उसकी शिक्षा के लिए आन्दाजन ६०० रुपये वार्षिक खर्च करना पडता है।

"गाँव के लोग अपने बच्चो को शिक्षित करने की आवश्यकता के प्रति परिपूर्णत सजग है। यहाँ तक कि १९१६ मे उन्होने खुद ने पहल करके तत्कालीन जमीदार के स्थानीय अहलकार के नोहरे मे एक प्राथमिक विद्यालय स्थापित किया था। सन् १९२५ मे विद्यालय अपने वर्तमान भवन मे स्थानातरित किया गया। स्कूल की इमारत गाँव के ग्वालो और मुसलमानो द्वारा दान मे दी गयी जमीन पर बनायी गयी। मकान ग्रामीणो द्वारा एकत्रित चन्दे से बनाया गया था। गाँव के सादगोपो ने छत के लिए आवश्यक सी आय चादरे दी और दरवाजे तथा खिडकियो के चौखट-किवाडो की भी पूर्ति की। स्कूल को जिला स्कूल मण्डल ने अपने अन्तर्गत लिया उससे पहले उसका आवर्ती खर्च किसी हद तक स्कूल की कार्यकारिणी समिति के सदस्य वहन करते थे।

"पोरबाजार मे एक जूनियर हाय स्कूल और बेलमुडी मे एक हाय स्कूल है।

वे प्रौढ भी साक्षर होने की आवश्यकता महसूस करते है, जिन्हे अपने बचपन मे स्कूल जाने का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। लेकिन गाँव मे प्रौढ शिक्षा केन्द्र नही है।"

सर्वेक्षणो ने वर्तमान सचार व्यवस्था की खामी को सामने ला कर रख दिया है। कोदालिया के अट्ठाईस परिवार अखबार पढते है, जबकि १२ प्रति शत रेडियो सुनते है। कामनारा के १५० घरो मे से ११ ही अखबार मँगवाते है और पढते है। केवल दो घरो में रेडियो ट्राजिस्टर और एक मे ग्रामोफोन है। घाटमपुर के १५ परिवारो मे समाचार-पत्र पढे जाते है और छ परिवारो के पास रेडियो है (तथा छ अन्य परिवार नियमित रूप से रेडियो सुनते है)।

कोदालिया के अधिकाश कर्मकारो, बौरियो और बागडियो को यह नही मालूम है कि छूआछूत कानूनन मिटा दिया गया है। कामनारा मे केवल ५५ घरो के प्रधानो को ही इस बात का ज्ञान है कि अन्तर्जातीय विवाह की कानूनन इजाजत है, जबकि इस बात की जानकारी मात्र ३८ परिवारो को ही है कि छूआछूत कानूनी तौर पर खत्म कर दिया गया है। घाटमपुर मे तो स्थिति और भी खराब है। वहाँ के केवल १७ परिवार ही यह जानते है कि अन्तर्जातीय विवाह करने की कानूनी तौर पर इजाजत है।

दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे सचार की दिशा मे विस्तृत प्रयास किये जाने की आवश्यकता है। निस्सन्देह शिक्षित व्यक्तियो की सख्या मे वृद्धि होने के साथ यह समस्या सहल होगी, लेकिन अनेक परिवारो के अपने बच्चो को स्कूल भेजने का खर्च बर्दाश्त करने मे असमर्थ होने की वजह से असाक्षरता मिटाने मे जल्दी ही सफलता नही मिलनेवाली है। और फिर, प्रौढ असाक्षरता भी कोई मामूली समस्या नही है। इस समस्या को हल करने का सर्वोतम मार्ग यह है कि सबसे पहले सभी स्थानो पर नि शुल्क प्राथमिक शिक्षा दी जाय, प्रौढ शिक्षा वर्ग और रेडियो श्रव्य केन्द्र खोले जायें। तिस पर भी, यदि भूतकालीन अनुभव को मार्गदर्शक माना जाय तो इन सब बातो से लाभ उ ाने के लिए आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए व्यक्तियो को तैयार करने की दिशा मे हो सकता है कि मात्र शैक्षणिक सुविधाओ का विस्तार भर कर देना ही पर्याप्त न हो। अनेक परिवारो के लिए छोटे-मोटे कामो मे मदद देनेवाले अपने बच्चो

को स्कूल भेजना कठिन हो सकता है, और फिर कई परिवारो मे पर्याप्त कपडो का अभाव बच्चो को पढने भेजने के रास्ते मे एक बाधा है।

असमानता और तंगी

सर्वेक्षणो से गाँवो मे असमानता और तगी की मौजूदगी की पुष्टि होती है—जो कि ग्राम्य जीवन की आदर्शवादिता को वहुत कुछ झुठलाती है। असमानता न केवल इस बात मे प्रतिबिम्बित होती है कि लोग कैसे घरो मे रहते है अथवा कैसे आभूषण पहनते है, बल्कि घरो की जमीन के स्वामित्व मे भी इसकी प्रतिछाया मिलती है। उदाहरणार्थ, कामनारा मे ५१ परिवारो के घर दूसरो की जमीन पर है, जबकि घाटमपुर मे ऐसे परिवारो की सख्या ३९ है, जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट है

कामनारा और घाटमपुर में घर की जमीन पर स्वामित्व

घर का क्षेत्रफल	परिवार सख्या	
	कमनारा	घाटमपुर
५ कट्ठो तक	५५	४९
६ से १० कट्ठो तक	२९	२९
११ से १५ कट्ठो तक	३	४
१६ कट्ठो से १ बीघा तक	२	१५
१ बीघा से अधिक	१	१४
इजमाली एस्टेट (सयुक्त स्वामित्व)	९	—
दूसरो की जमीन पर रहनेवाले	५१	३९
योग	१५०	१५०

कृष्य भूमि के मामले मे भी इसी प्रकार की असमानता दृष्टव्य है। घाटमपुर मे ७८ परिवारो के पास ही कृष्य भूमि है, कामनारा के १५० परिवारो मे से केवल ७२ के पास ही कृष्य भूमि है।

घाटमपुर गाँव के सम्बन्ध मे श्री सेन गुप्त लिखते है, "ग्राम समाज ऐक्यता से बहुत दूर है। गॉव मे कई गुट है। गुटो अथवा फिरका-परस्ती के लिए केवल जाति अथवा समुदाय ही जिम्मेदार नही है, क्योकि मुसलमानो तथा सादगोपो और ग्वालो मे भी एक से अधिक गुट है।"—पृष्ठ २९।

इन सर्वेक्षणो के अन्तर्गत आनेवाले गॉवो के लोगो मे यद्यपि अपने वर्तमान काम-धधो के प्रति कुछ असन्तोष है तथापि, परिवर्तन के लिए किसी निश्चित इच्छा का प्रत्यक्ष प्रमाण दृष्टिगोचर नही होता। श्री सेन गुप्त लिखते है कि कमनारा मे "१५० परिवारो मे से ९७ से मुलाकात की गयी और वे अपनी मौजूदा अवस्था से सन्तुष्ट है। जब तक उनके दृष्टिकोण मे कोई परिवर्तन नही होता यह अपेक्षा करना व्यर्थ होगा कि वे अपने जीवन स्तर मे सुधार लाने के लिए स्वयम् कोशिश करेगे।"—पृष्ठ २९। हॉ, इसमे कोई विशेष आश्चर्य की बात भी नही है। परिवर्तनार्थ इच्छा के लिए आगे आने के लिए प्रेरणा की आवश्यकता होती है। एक प्रधान रूप से अनपढ समाज मे लोगो के विचार और उनकी कल्पना स्पष्टत सीमित ही होगी, उन्हे परिवर्तन के लिए इच्छा न होने—जोकि ज्ञान अथवा इस आश्वासन पर ही आगे आती है कि कोई बेहतरीन चीज सम्भव है—के लिए दोषी ठहराना गलत होगा। जिस हद तक गॉवो मे परिवर्तन के लिए इच्छा जागृत नही हुई है उस हद तक स्वयम् आयोजन का एक प्रधान पक्ष असफल रहा है, क्योकि आयोजन खुद ही परिवर्तन की आवश्यकता का द्योतक है। इसलिए आश्यकता इस बात की है कि परिवर्तन की आवश्यकता तथा साथ ही उसकी सम्भाव्यताओ और इस प्रकार का परिवर्तन व्यवहार मे लाने के लिए कार्यक्रमो पर जोर देते हुए ग्रामीणो मे उक्त विचार भरने की कार्रवाई अथवा कार्यक्रम का सृजन किया जाय, उसे चलाया जाय।

अन्त मे सर्वेक्षण के प्रवर्तक धन्यवाद के पात्र है कि उन्होने देहाती क्षेत्रो के वास्तविक जीवन सम्बन्धी भरपूर सहायक जानकारी उपलब्ध करवायी है। जनगणना आयुक्त श्री अशोक मित्र हमे बताते है कि "सम्भवत प्रथम बार किसी देश मे इस प्रकार का सर्वेक्षण किया गया है और वह भी नि शुल्क सेवा के रूप मे।" जाँचकर्ताओ, फोटोग्राफरो तथा लेखक ने अपने काम के द्वारा, और जनगणना आयुक्त ने भी इनके प्रकाशन की योजना स्वीकृत कर, सभी की ओर से आभार अर्जित किया है। आशा है कि भविष्य मे तैयार किये जानेवाले मोनोग्राफो मे इस बात के अध्ययन पर और अधिक ध्यान दिया जायेगा कि 'एस्टेट एक्वीजीशन एक्ट' तथा भूमि मुधार सम्बन्धी उपायो का क्या प्रभाव पडा है।
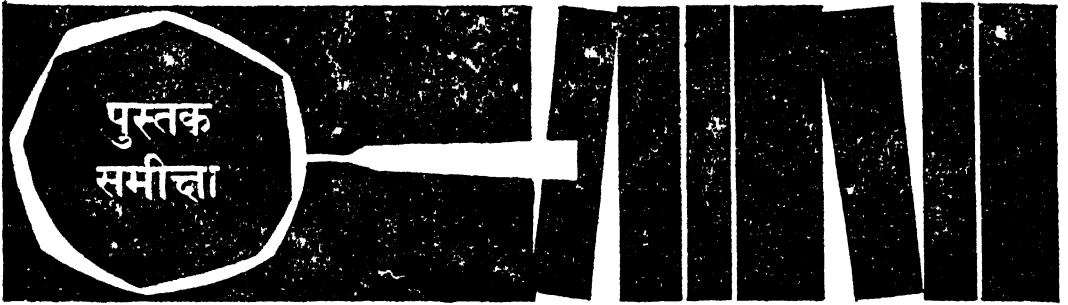
विकास के लिए प्रशासन

एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड इकनॉमिक डेवलपमेण्ट इन इण्डिया: राल्फ ब्रेबाण्टी और जोसेफ जे स्पेंग्लर द्वारा सम्पादित, ड्यूक विश्वविद्यालय प्रेस, डरहम, १९६३, पृष्ठ ३१२; मूल्य ७.५० डालर।

इस सकलन मे, जिसमे प्रख्यात अमरीकी तथा भारतीय समाजशास्त्रियों के लेख सकलित है, भारत मे आर्थिक विकास तथा प्रशासन के सबधो का विवेचन है। इस ग्रन्थ मे प्रकाशित १० मे से ४ लेख १९६० के बसन्त मे ड्यूक विश्वविद्यालय के राष्ट्र मडलीय अध्ययन केन्द्र की सयुक्त विचार-गोष्ठी की बैठको मे प्रस्तुत किये गये थे और उनकी रचना प्रोफेसर मित्र, मैलेनबॉम, सोवनी और पार्क ने की थी। अन्य छ लेख विचार-गोष्ठी के बाद के महीनों मे प्रोफसर ब्रेबाण्टी, जगोटा, टिल्मैन स्पेंग्लर और टिंकर द्वारा लिखे गये थे। सम्पादको ने भूमिका मे लिखा है कि यद्यपि प्रत्येक निबन्ध अलग से लिखा गया है, तथापि सभी आर्थिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों मे विकास की समस्या पर प्रकाश डालते है।

ड्यूक विश्वविद्यालय के प्राफेसर राल्फ ब्रेबाण्टी जो—सम्पादक द्वय मे से एक है—का प्रारम्भिक लेख 'भारत मे नौकरशाही सुधार' (ब्यूरोक्रेटिक रिफार्म इन इडिया) है जिसमे उन्होंने यह अभिव्यक्ति की है कि सन् १९४७ से भारत मे प्रशासनिक सुधार का कार्यक्रम सुचारु रूप मे तैयार किया गया और उसमे व्यवस्था, सन्तुलन और प्राथमिकताओं के सुनियोजन की दृढ भावना उल्लेखनीय है। लेख के प्रथम भाग मे भारत मे प्रशासनिक विकास की सरसरी तौर पर समीक्षा की गयी है, जो उपयुक्त परिकल्पना को न्यायपूर्ण ठहराती हुई प्रतीत होती है। प्रोफेसर ब्रेबाण्टी का विचार यह है कि प्रशासनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपेक्षाकृत यह व्यवस्थित और विवेकपूर्ण सयोजन बहुत हद तक दृढ पारम्परिक बौद्धिकता, स्वतत्र भाव तथा भारतीय नागरिक सेवाओं पर गर्व से सभव हो सका है। इनमे से पहले गुण का, जो हिन्दू समाज से प्राप्त हुआ तथा ब्रिटिश राज द्वारा कायम रखा गया, १९४७ के बाद के उच्च नौकरशाही के विकास मे अपना महत्व है।

लेख के दूसरे भाग मे यह प्रदर्शित करने के लिए प्रमाण उपस्थित करने की कोशिश की गयी है कि बौद्धिकता आई सी एस की परम्परा का प्रमाण चिन्ह थी। तीसरे भाग मे एक परिकल्पनात्मक विरोध का निर्माण करके नौकरशाही सुधार के लिए कूटतार्किक नौकरशाही—बौद्धिकता-युक्त तत्र—को—सगत सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसमे उन राष्ट्रों की द्विविधा की विस्तृत व्याख्या भी सम्मिलित है जो विदेशी सरकारो से बहुत बडी मात्रा मे सहायता ले रहे है। इस विश्लेषण

का तात्पर्य है उन कमजोरियो को दिखाना, जिनको भारत ने टाल दिया है। "यह टालना बौद्धिकता तथा व्यवस्था की सम्मानित परम्परा के कारण सम्भव हो सका है, जो अनिच्छापूर्वक हानिकारक परिवर्तन का प्रतिकार करते हुए प्रवल बौद्धिक अभिमान के अनुकूल परिवर्तनो को स्वीकार करती है। भारत सार्वजनिक प्रशासन मे किसी विदेशी सरकार से बडी मात्रा मे तकनीकी सहायता नही प्राप्त करते हुए अपनी नौकरशाही को नियन्त्रित तथा निर्देशित कर सका है।"

चौथे भाग मे भारतीय नागरिक सेवाओ (इडियन सिविल सर्विसेज) के परिवर्तन का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इसमे यह वात रखी गयी है कि ऐसा परिवर्तन, अधिकतर परिवर्तन के चुनाव-तरीको मे भेदभाव करने की इसकी क्षमता के कारण, सार्वजनिक प्रशासनिक खब्तो के अतिरेक को टालने मे सफल रहा। "भारतीय प्रशासनिक सेवा मे इसका विकास अप्रदर्शित किन्तु व्यवस्थित रहा, भारतीय प्रभुत्व तथा नियत्रण वर्चस्व होने के कारण यह क्षणिक आधुनिकता का त्याग करने तथा भारतीय समाज की विशिष्ट परम्पराओ और मागो का समजन करने मे सफल रहा।"

प्रोफेसर ब्रेबाण्टी अपने अनुभवो को प्रभावित करनेवाली बहुत ही महत्वपूर्ण शर्त की जानकारी प्रदान करते है। वे यह स्पष्ट कर देते है कि उनकी जानकारी वास्तव मे हुए परिवर्तनो पर आधारित नही है, बल्कि वह परिवर्तन की कुल योजनाओ पर आधारित है। "निसदेह सोद्देश्य आयोजन तथा कार्यान्वियन मे विशाल अन्तर है। सचमुच भारत के समक्ष अब भी भयानक प्रशासनिक समस्याएँ है, जिनमे भ्रष्टाचार और अदक्षता, ग्रामीण सुधार और प्रशासन मे विनाशकारी सास्कृतिक शक्तियाँ मुख्य नही है।"

अगले लेख 'भारत मे सार्वजनिक कर्मचारियो का प्रशिक्षण' (ट्रेनिग ऑफ पब्लिक सर्वेण्ट्स इन इडिया) मे मसूरी स्थित राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी के प्रोफेसर एस पी जगोटा ने भारत मे राज्य कार्य के परिवर्तित सदर्भ मे भारत के लिए आवश्यक सार्वजनिक कर्मचारियो के प्रकार तथा उसके कारण उठे प्रश्नो को हल करने का प्रयास किया है। प्रयम पच वर्षीय योजना मे सफल आयोजन की आवश्यक शर्तो मे एक यह भी उल्लिखित है—"आवश्यक योग्यता तथा गुण से युक्त कर्मचारी सहित एक कार्यक्षम, प्रशासनिक सगठन।" इसकी विस्तृत व्याख्या यह हो सकती है कि उच्चतर नागरिक सेवा को देश मे जो कुछ हो रहा है उसका मूलभूत ज्ञान, तत्कालीन सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्तो तथा कार्यो और अन्य स्थानो की तुलनात्मक क्रातियो के इतिहास की जानाकारी अवश्य होनी चाहिए तथा उनमे सार्वजिक सेवाओ की अनेक मागो को पूरा करने के लिए उचित दृष्टिकोण और व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए। उचित दृष्टिकोण तथा व्यवहार मे ईमानदारी, विनम्रता, सार्वजनिक सेवा के लिए सोद्देश्य उत्साह और कार्य के अनुकूल अपने को ढालने की क्षमता—जिसकी अपेक्षा सार्वजनिक कर्मचारी से की जाती है,—शामिल है। प्रशासनिक कर्मचारियो के प्रशिक्षणार्थ वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी योग्यता और गुणवाले कर्मचारी तैयार करने के लिए किये जा रहे प्रयासो की प्रोफेसर जगोटा ने सावधानी तथा समझ के साथ समीक्षा की है। उनका मत है कि यद्यपि कमियाँ हो सकती है और अधिक उन्नति तथा नवीनीकरण की सम्भावना भी, तथापि वर्तमान प्रशिक्षण कार्यक्रम राष्ट्र की आवश्यकताओ के लिए पर्याप्त भी मालूम पडता है। कार्यक्रमो की प्रगति अर्थ-व्यवस्था की बढती हुई जटिल आवश्यकताओ के साथ होती रही है। नवीन उच्च स्तर पर विशिष्टता प्राप्त कार्यक्रम के साथ देश मे बदलती हुई स्थितियो की आवश्यकताओ से समजित नयी सस्थाएँ, विकसित हुई है।

प्रोफेसर जगोटा ने सवैधानिक आयोजन के कुछ पहलुओ (सम एसपेक्ट्सल आफ कान्स्टीट्यूशनल प्लानिग) पर एक दूसरा लेख लिखा है। उन्होने समापन किया है कि भारत मे आयोजन, जो एक सघीय ससदीय जनतत्र के रूप मे चलाया जा रहा है, राज्य और तेजी से आर्थिक

तथा सामाजिक विकास के हित में परिवर्तित हुआ है। आयोजन तंत्र और परिचालन, जो न तो संविधान और न किसी विधि के अन्तर्गत स्थापित होता है, द्वारा नयी संस्थाएँ गठित हुई है, जिनसे राजनीतिक संस्थाओं की क्रिया, सरकारी तंत्र, आय-व्यय का लेखा-जोखा करने के तरीके, संघ और राज्य के संबंध, वित्त आयोग के कार्य आदि प्रभावित हुए हैं। आयोजन से सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के संगठन और सरकार तथा संसद से उनके संबन्धों के विषय में समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। इन समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतः फल-मूलक रहा और परिणाम स्वरूप उचित संस्थाएं और तौर-तरीके प्रकट हो रहे हैं। इन विस्तृत प्रभावों के बावजूद आयोजन ने संवैधानिक स्वरूप के महत्वपूर्ण पहलुओं को विनष्ट नहीं किया है। "देश का स्वरूप मौलिक तौर पर संघीय है और वह इस हद तक कि यह टीका होती है कि उससे राष्ट्रीय एकता में बाधा पड़ती है और इसलिए कुशल प्रशासन तथा तीव्र आर्थिक विकास के लिए देश में एकात्मक सरकार आवश्यक है।"

लन्दन विश्वविद्यालय के प्रोफसर ह्यूज टिकर ने एक लेख 'विकास के स्वरूप में ग्राम' (दि विलेज इन दि फ्रेमवर्क ऑफ डेवलपमेण्ट) में भारत के गाँवों में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। उनका दृष्टिकोण एक इतिहासकार अथवा राजनीति-वेत्ता का है जिसमें व्यापक प्रमाणों के जरिये परिकल्पना की गयी है, न कि एक मानवशास्त्री का, जोकि एक सीमित क्षेत्र के विस्तृत ज्ञान से निर्णय तक पहुँचता है। प्रोफसर टिकर ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि ग्राम स्तरीय जनतंत्र के दर्शन को सफल होना है तो यह बड़ा ही आवश्यक है कि सामुदायिक विकास आन्दोलन ग्राम स्तर पर शक्ति की सस्थिति दर्शाये। वर्तमान पुष्टियों से व्यक्त होता है कि प्रवृत्ति ठीक उल्टे पिरामिड की-सी रही है, जिसकी जयप्रकाश नारायण ने भारत में संसदीय सरकार की असफलता के रूप में निन्दा की है। तथापि, प्रोफेसर टिकर स्वयम् एक स्थान पर स्वीकार करते हैं कि यदि भारत स्वैच्छिक सहयोग से गठित, समान नागरिक के रूप में सामान्य लोगों के साथ-साथ कार्य करने तथा जन सम्पत्ति पर आधारित समाज रचना के निर्माण के अपने घोषित उद्देश्य के प्रति सच होना चाहता है तो इस दिशा में पंचायत राज एक बड़ा कदम है।

मिशिगन विश्वविद्यालय के प्रोफसर रिचर्ड पार्क का लेख है– 'भारत के जिलों में प्रशासनिक सहकार और आर्थिक विकास' (एडमिनिस्ट्रेटिव कोआपरेशन एण्ड इकनॉमिक डेवलपमेण्ट इन दि डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ इंडिया)। वे जिलों में आर्थिक विकास की सरकारी प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं और प्रशासन के ग्रामीण तथा जिला स्तर पर हाल के विधि-निर्माण तथा प्रारूपित प्रस्तावों की समीक्षा करते हैं। "जब तक किसी को यह नहीं मालूम कि कब तथा कैसे किस को क्या करना है, और कब तथा कैसे रसद प्राप्त की जाती है और किससे तथा किस प्रकार राजनीतिक और प्रशासनिक शक्ति स्थापित होती है और इन शक्ति केन्द्रों में कहाँ अन्तिम निर्णय-कर्ता निहित है, तब तक किसी प्रकार की अच्छी योजना का परिणाम प्रभावशाली ढंग से क्रियात्मक नहीं हो सकता।" यह स्वीकार करना चाहिए कि प्रशासन और उसका गठन आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण तत्व है।

पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर विलफ्रेड मैलनबॉम ने अपने लेख 'भारतीय अर्थ-व्यवस्था में नेतृत्व का प्रश्न' (लीडरशिप टास्क इन इंडिया'ज इकनॉमी) में भारत के आर्थिक विकास में सन्निहित राजनीतिक नेतृत्व की कठिनाइयों की विवेचना की है। उनका विचार है कि भारतीय सामाजिक विश्लेषण का सम्पूर्ण ढांचा भारत के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के अपेक्षाकृत अल्प विकसित चरण के लिए बहुत ही कूट तार्किक है। वे भारत की योजनाएँ बनानेवालों का आह्वान करते हैं कि उन्हें अधिक सम्पन्न देशों (राज्यों) के लिए अनुकूल उन्नत सिद्धान्तों और तकनीकों पर अधिक निर्भर न रह कर अल्प विकसित भारत के अपने ही अनुभवों का अध्ययन करना चाहिए, जिससे कि अधिक

यथार्थ रूप मे योजनाएँ बनायी जा सके। योजना बनाने और उसको पूरा करने के बीच की दूरी की ओर सकेत करते हुए प्रोफेसर मैलनबॉम लिखते है कि योजना के कार्यान्विय की कमी के लिए प्रशासनिक सगठन की असफलता की अपेक्षा यथार्थ योजना अधिक उत्तरदायी है। कार्यान्विय के लिए योजना का कार्यान्वित करने योग्य होना अत्यावश्यक है।

टुलेन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर राबर्ट टिलमैन ने 'भारत के आर्थिक विकास मे जाति-प्रभाव' (इन्फ्लूयन्स ऑफ कास्ट इन इडियन इकनॉमिक डेवलपमेण्ट) लेख लिखा है। उनका लेख इस मान्यता पर आधारित है कि आर्थिक आधुनिकीकरण के लिए सामाजिक गतिशीलता आवश्यक शर्त है, प्राचीन प्रथा के अनुसार जातिगत रूप मे मूल्याकन सामाजिक गतिशीलता का विरोधी है और इसलिए भारत के आर्थिक विकास की सफलता कुछ अश मे परम्परा की निश्चलता और परिवर्तन की शक्तियो की अन्त क्रिया के प्रतिफल पर निर्भर करती है। प्रोफेसर टिलमैन समापन करते है कि परम्परागत जातीय विचार-धारा से अलग वातावरण मे जातिवादी भारतीयो की प्रतिक्रिया यह बताती है कि परिवर्तन की अतिक्रमणकारी शक्तियो का देश की सामाजिक व्यवस्था पर कितना प्रभाव पडा है।

सकलन मे ऊपर वर्णित लेख प्रमुख है। शेष तीन लेख अधिक विशिष्ट रूप मे आर्थिक समस्याओ से सबधित है। ड्यूक विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे जे स्पेग्लर कौटिल्य अर्थशास्त्र् के सिद्धान्तो की व्याख्या करते है। गोखले इन्स्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स के प्रोफसर सोवनी अर्थशास्त्रीय तौर पर उन गैर-आर्थिक तथ्यो की व्याख्या करते है जो भारत की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डाल रहे है। पुनर्गठन और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैक (इन्टरनेशनल बैक ऑफ रिकस्ट्रक्शन एण्ड डेवलपमेण्ट) के श्री अशोक मित्र कृषि पर कर-भार और आर्थिक विकास मे उसके सबधो की व्याख्या करते है।

सम्पूर्णत पुस्तक अच्छे ढग से लिखी गयी है और सम्पादक द्वय अभिनन्दनीय है कि उन्होने एक स्थान पर कुछ ऐसे उपयोगी लेखो का सग्रह किया है, जिनसे भारत मे आर्थिक विकास और प्रशासन का अध्ययन करनेवाले भारतीय तथा विदेशी विद्यार्थी पर्याप्त लाभ उठा सकेगे तथा उसे गहरी रुचि के साथ पढेगे।

नयी दिल्ली १० सितम्बर १९६३ **—सुभाष चन्द्र मेहता**

ग्रामीण जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठाने और द्रुत गति से बढ रही शहरी आबादी को खाद्यान्न तथा कच्ची सामग्री प्रदान करने, दोनो ही दृष्टियो से स्पष्ट है कि कृषि उत्पादन में सुस्थिर अर्थात् ठोस वृद्धि करना परमावश्यक है। विकास के स्थूल लक्ष्य के रूप मे राष्ट्रीय प्रयुक्त आर्थिक अनुसधान परिषद का मत है कि १९५६–७५ के दौरान विशुद्ध कृषि उत्पादन दुगुना हो जाना चाहिए अर्थात् प्रति वर्ष औसतन पॉच प्रति शत वृद्धि होनी चाहिए, राष्ट्रीय आयोजन में भी प्रायः यही गति मानी गयी है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात* : नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

मैंने कई लेख पढे। भारत की ग्रामीण अवस्था को यथा सम्भव सच्चे रूप मे प्रस्तुत करना अच्छी बात है। इस दृष्टि से कई लेख स्पष्ट और सगत है, जैसे, सम्पादकीय और श्री उ न ढेबर का लेख तथा उसी तरह कुछ हद तक श्री सुन्दरम् का 'यथार्थ दृष्टिकोण की आवश्यकता' और श्री मुकर्जी का 'गावो के लिए ऋण की व्यवस्था' भी मूल्यवान है। इसी तरह कुछ ऐसे भी लेख है, जोकि मेरी दृष्टि से निश्चय ही कम यथार्थपूर्ण है। उनमे वे लेख है जिनमे ग्रामीण समाज के गरीब और अमीर लोगो के बीच का कोई अन्तर नही बताया गया है तथा फलत ग्राम समाज को बहुत-कुछ सम्पूर्ण दृष्टि से देखा गया है। कृषि उत्पादन बढाने और ग्रामीण बेकारी को दूर करने की समस्याओ को भूमि वितरण और ग्राम समाज के अन्दर शक्ति के स्वरूप की समस्या से अलग करके नही देखा जा सकता, जैसा कि कई लेखो मे अच्छी तरह बताया गया है।

व्यक्तिगत रूप से मै पूर्णत विश्वस्त हूँ कि अभी काफी समय तक ग्रामीण उद्योग बहु-सख्यक भूमिहीन मजदूरो और किसानो तथा छोटे-छोटे किसानो को अतिरिक्त रोजगारी देने व आय कराने के लिए अनिवार्य होगे। मै 'खादी' को भारत की ग्रामीण समस्या को हल करने का साधन नही मानता और इस मामले मे आपके कई लेखको से मेरा मतभेद हो सकता है। यह ग्राम समाज की बीमारियो को दूर करने की दवा नही है—अधिक से अधिक यह उपशामक है। मेरी दृष्टि से मूल बीमारी है गावो मे छोटी सख्यावाले बडे भूस्वामियो की स्थायी शक्ति। इस 'शक्तिशाली वर्ग' की शक्ति पर प्रभुत्व प्राप्त करने और कृषि विकास के प्रयासो की मदद से ही सरकार की भारी उद्योग और गृह उद्योग क्षेत्र मे बडे पैमाने की योजनाए सफल हो सकेगी।

एम्सटर्डम विश्वविद्यालय —**प्रो डब्ल्यू एफ. वर्थिम**
१२ दिसम्बर १९६३

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल · एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई–३४। वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग : १९६२–६३ के विशिष्ट लेख

✻ खादी ग्रामोद्योग (वार्षिकांक) १९६३ ✻

विषय सूची

दशम वर्ष

दशम वर्ष
पंचम अंक
१९६४
फरवरी
खादी
ग्रामोद्योग

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन

- खादी और ग्रामोद्योग कमीशन एक विधिविहित सस्था है, जिसकी स्थापना ससद के अधिनियम (१९५६ के ६१ वे) के मुताबिक अप्रैल १९५७ मे हुई। इसका काम है अपने अन्तर्गत चलनेवाले १५ ग्रामोद्योगो के लिए योजना बनाना, सगठन करना तथा उनके विकास कार्यक्रमो को कार्यान्वित करना। स्थापना होने पर इसने भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल का कार्य अपने हाथ मे लिया। कमीशन के पाच सदस्य है, जिनमे से एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और एक सदस्य-सचिव है। इमके सलाहकारी खादी और ग्रामोद्योग मण्डल मे ४८ सदस्य है। कमीशन साधारणतया इस सलाहकारी मण्डल की राय से कार्य करता है।

- कमीशन के अन्तर्गत खादी के अतिरिक्त ये ग्रामोद्योग है अनाज तथा दाल प्रशोधन, तेल घानी, ग्रामीण चर्म, कुटीर दियासलाई, गुड-खाण्डसारी, ताड-गुड, अखाद्य तेल तथा साबुन, हाथ कागज, ग्रामीण कुम्हारी, मधुमक्खी-पालन, रेशा, बढईगीरी तथा लोहारगीरी, खाद तथा मिथेन गैस का उत्पादन व उपयोग और चूना पत्थर तथा उसके उत्पादन।

- कमीशन के कार्यक्षेत्र मे खादी तथा ग्रामोद्योगो के उत्पादन का कार्य स्वयम् करने, उनके लिए सहायता तथा प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त ये कार्य भी मुख्य रूप से सम्मिलित है खादी तथा ग्रामोद्योगो के उत्पादन-कार्य मे लगे कारीगरो के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना तथा उन्हे अपनी सहकारी समितियाँ बनाने मे प्रोत्साहन देना।

- कमीशन खादी तथा ग्रामोद्योगी वस्तुओ के उत्पादकों को सप्लाई करने के लिए कच्ची सामग्री तथा औजारो का सग्रह भी करता है। खादी तथा ग्रामोद्योगी उत्पादनो के बेचने की व्यवस्था करने का कार्य भी कमीशन के जिम्मे है।

- कमीशन को खादी तथा ग्रामोद्योगो के क्षेत्र मे प्रयुक्त होनेवाली प्रविधियो के विषय में अनुसधान कराने तथा उसे प्रोत्साहन देने और खादी तथा ग्रामोद्योगो से सम्बन्धित समस्याओ के अध्ययन के लिए सुविधाएँ प्रस्तुत करने का कार्य भी सौंपा गया है।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष · फरवरी १९६४ · पंचम अंक

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थ शास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नही है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखो पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन न ५७१४५२।

इस पत्र मे प्रकाशित लेखो मे व्यक्त विचार आवश्यक नही कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६।

इस अंक के लेखक

जवाहरलाल नेहरू	—भारत के प्रधान मत्री।
उछरगराय नवलशकर ढेबर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	—खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
मजेश्वर सदाशिव राव	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की ग्रामीण इजीनियरिग शाखा के निर्देशक।
बालचन्द्र मार्तो अग्शीकर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला के भूतपूर्व रासायनिक तकनीकल सहायक।
भारत भूषण कसाल	—गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) की एम एम कालेज मे वाणिज्य विभाग के अध्यक्ष।
वन्दार वेंकप्प शेट्टी	—शिमोगा (मैसूर राज्य) मे परियोजना मूल्याकन अधिकारी।
नफीस बेग	—अलीगढ मे मुस्लिम विश्वविद्यालय के वाणिज्य विभाग मे रिसर्च फेलो।
चेम्पकमडम परमेश्वरन पिलै सोमनाथन नायर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रचार निर्देशालय मे उप-सम्पादक।
जागेश्वर गोपाल श्रीखण्डे	—सेवाग्राम (वर्धा) स्थित खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला के भूतपूर्व निर्देशक।
दीना नाथ दुबे	—उत्तर प्रदेश खादी तथा ग्राम उद्योग बोर्ड के प्रचार अधीक्षक।
आशीश कुमार बसु	—अखिल भारत दस्तकारी मण्डल के कलकत्ता स्थित कनिष्ठ क्षेत्रीय अधिकारी।

राष्ट्रीय एकता का आर्थिक पक्ष*

जवाहरलाल नेहरू

बुनियादी उद्योगो, बडी-बडी नदी घाटी योजनाओं आदि जैसी देश को आगे बढानेवाली बुनियादी बातो पर जोर देने के साथ ही साथ हमे निचले तबके के लोगो–जिनमे अधिकाशत हमारे किसान और ग्रामीण कारीगर आते है–को तुरन्त लाभ पहुँचानेवाली चीजों पर भी जोर देना होगा। खेती, पशु-पालन, ग्राम और लघु उद्योगों मे अधिक उत्पादन प्राप्त करने यानी उनका उत्पादन बढाने के लिए कुछ किया जाय, तो उससे तुरन्त निचले तबके के लोगों की आमदनी बढेगी।

राष्ट्रीय एकता का एक दूसरा पक्ष और है। और, हमे यह मान लेना चाहिए कि वह बहुत ही महत्व-पूर्ण है। वह पक्ष है हमारी अर्थ-व्यवस्था का विकास। यदि कोई राष्ट्र अपनी विकट आर्थिक समस्याओ को सन्तोषप्रद रूप से हल नही करता है तो वे बद से बदत्तर होती चली जाती है और ऐसी सामाजिक अवस्थाएँ खडी कर देती है, जिनका एकता पर बहुत बुरा असर पडता है। एकता की दृष्टि से यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल है। आप जानते है कि हमारे यहाँ योजना आयोग है। उसने बडा अच्छा काम किया है, लेनिक अनेक कठिन समस्याएँ आज भी हमारे सामने है। तरक्की करने और हमारी समस्याओ को रफ्ता-रफ्ता हल करने के लिए हम केवल आधार ही बना पाये है। योजना आयोग के सामने इस गोष्ठी के अध्यक्ष श्री ढेबरभाई ने जो 'नोट' पेश किया है, उसमे उन्होने ऐसे चन्द महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये है।

कमजोर वर्गो की समस्या

उद्योग और खेती के क्षेत्र मे आर्थिक विकास करने की साधारण समस्याओ के अलावा हमारे सामने एक विशेष समस्या यह है कि देश के कमजोर वर्गो का स्तर ऊपर कैसे उठाया जाय। समाज के कमजोर और निचले तबके के लोगो की तरक्की कोई खास अच्छी नही रही है। उनकी तरक्की की रफ्तार को तेज बनाने के लिए अगर कुछ किया नही गया तो वैसी अवस्था मे हमारे सामने नयी-नयी समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ खडी हो जायेगी। देश मे जो कमजोर वर्ग और निचले तबके के लोग है उन्हे काम देने या मुहैया करवाने का सवाल इस सम्बन्ध मे हमारे सामने एक खास मसला है। किसी देश मे इससे बढ कर बुरी बात कोई नही हो सकती कि उसकी आबादी का एक बडा हिस्सा बेरोजगार हो। ऐसी स्थिति खुद बेरोजगार व्यक्ति के लिए और देश के लिए भी उतनी ही बुरी है, क्योकि बेरोजगार व्यक्ति को भी जिन्दा रखना होता है। उसे खाने-पहनने के लिए भी चाहिए।

भारत : गरीबो का देश

देश को दो प्रकार का भार वहन करना पडता है। एक ऐसे व्यक्तियो का जो उपभोक्ता है पर उत्पादक नही और ऐसे लोगो का जो उत्पादक है लेकिन उपभोक्ता नही बन सकते। देश मे ऐसे खुशहाल आदमी है, जो खुद उत्पादन नही करते बल्कि दूसरों के श्रम और कमाई पर जीते है, पलते है तथा ऐसे लोग भी है जिन्हे काम व कमाई करने का मौका नही मिलता। भारत गरीबो का देश है। शायद ससार के उन अन्य देशो के सम्बन्ध मे भी यह बात सच है, जिन्होने तरक्की की और धनवान

* गाधीग्राम (मदुराई) मे 'राष्ट्रीय एकता' पर सम्पन्न विचार गोष्ठी मे १ दिसम्बर १९६३ को दिये गये समावर्तन भाषण से।

बने। किन्तु बाद मे विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के कारण पश्चिम के देश यह जान गये कि गरीबी कैसे दूर की जा सकती है। यह सही है कि आज भी पश्चिम के देशो मे समस्याएँ है, लेकिन मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जनता की बुनियादी जरूरते पूरी करने के लिए उन्होंने पर्याप्त उत्पादन कर लिया है। भारत तथा एशिया और अफ्रीका के कुछ देशो जैसी गरीबी पश्चिम के देशो मे नही है। गरीबी केवल अधिक उत्पादन से ही दूर की जा सकती है और अधिक उत्पादन आधुनिक विज्ञान तथा तकनीक के तौर-तरीके अपना कर ही किया जा सकता है। हमारे योजना आयोग ने बुनियादी दृष्टि से सोचा और बडे-बडे बाँध, बिजली-घर आदि बनवाये। यदि हम गाँव मे बिजली पहुँचा देते है, तो हम उस गाँव का कायकल्प करने लगते है।

आप गाँव मे, उसकी खेती मे, उसके लघु-स्तरीय उद्योगो मे तथा उसकी सामान्य सुविधाओ मे धीरे-धीरे करके क्रांति लाते है। योजना आयोग ने बडे और बुनियादी उद्योगो को प्रोत्साहन देना शुरू किया। इसके बाद हमे यह सुनिश्चित करना था कि बुनियादी उद्योगो पर किसी एक उद्योगपति का स्वामित्व न हो कर राज्य की मिल्कियत हो अर्थात् वह सार्वजनिक विभाग मे हो। हमे अप` लोकतन्त्रात्मक स्वरूप के अन्तर्गत रहते हुए उत्पादन और वितरण की समस्या पर विचार करना पडता है। मै नही कह सकता कि कस्बो और गाँवो के लाखो-करोडो लोगो तक औद्योगीकरण की प्रक्रिया को पहुँचने मे कितना समय लगेगा।

नीचे से निर्माण

हमारे सामने एक दूसरा तरीका और ह, जिसमे किसी तरह का सघर्ष नही है। वह तरीका है नीचे से शुरुआत करने का। यह एक ऐसा तरीका है जिस पर गाधीजी ने बहुत जोर दिया था। मौजूदा हालत मे जिस चीज को उन्होने सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझा उस पर उन्होने जोर दिया। मै नही कह सकता और न ही मै यह मानता हूँ कि कोई दूसरा ऐसा कह सकता है कि मौजूदा हालत मे गाधीजी क्या सलाह देते। लेकिन मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि वे हमे निश्चय ही सलाह देते कि निचले तबके के लोगो का जीवन-स्तर ऊपर उठाने के लिए जल्दी से जल्दी कुछ न कुछ करना चाहिए। आज देश मे जैसी हालत है, उसकी दृष्टि से यह निश्चय ही बहुत महत्व पूर्ण है। आगे चल कर कोई अच्छे आसार सामने आये, इसका बिना कोई इन्तजार किये सही चीज करने की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। यदि आप फिलहाल सही काम नही करते है तो आगे चल कर सभी प्रकार का तनाव और सघर्ष खडा होगा। इसलिए बुनियादी उद्योगो, बडी-बडी नदी घाटी योजनाओ जैसी देश को आगे बढानेवाली बुनियादी बातो पर जोर देने के साथ ही साथ हमे निचले तबके के लोगो— जिनमे अधिकाशत किसान और ग्रामीण कारीगर आते है—को तुरन्त लाभ पहुँचानेवाली चीजो पर भी जोर देना होगा। हमे अपने उद्योगो, कृषि, पशु-पालन, वनो तथा अन्य अनेक ऐसी ही चीजो का विकास करना होगा।

प्रति व्यक्ति आय

हम प्रति व्यक्ति आय की बात करते है। हमारी आबादी के निचले स्तर पर कुछ किया जाता है तो प्रति व्यक्ति आय पर तुरन्त उसका अच्छा असर पडता है। यदि हमारे यहाँ लोहे और इस्पात के सयत्र तथा अन्य इसी प्रकार के बडे उद्योग है तो बहुत अच्छी बात है और भविष्य की दृष्टि से वे बहुत महत्वपूर्ण है, लेकिन इसके साथ ही यह भी है कि इनसे प्रति व्यक्ति आय नही बढती। खेती, पशु-पालन, ग्राम और लघु उद्योगो मे अधिक उत्पादन प्राप्त करने यानी उनका उत्पादन बढाने के लिए कुछ किया जाय तो उससे तुरन्त निचले तबके के लोगो की आमदनी बढेगी। इससे विभिन्न वर्गो मे एकता की स्थापना को बहुत सहायता मिलेगी। इसलिए, हमे इसे भी ध्यान मे रखना होगा और वह भी काफी हद तक। निस्सन्देह पिछले पन्द्रह वर्ष मे भारत ने अनेक

दिशाओ मे पर्याप्त प्रगति की है, किन्तु मोठे रूप मे यह कहा जा सकता है कि यह प्रगति निचले स्तर की अपेक्षा ऊपर के स्तर पर ज्यादा हुई है। यह जानने के लिए काफी समय से एक समिति नियुक्त की हुई है कि आय का वितरण किस प्रकार हुआ है। कुछ महीनो मे ही इस समिति का प्रतिवेदन प्राप्त होने की अपेक्षा है। तथापि, एक विकासशील देश मे इस बात से बचा नही जा सकता कि आर्थिक विकास के लिए उठाये गये विभिन्न कदमो से ऊपरी स्तर के लोग फायदा उठाये। इस प्रकार के व्यक्ति हो सकता है अधिक कर्मठ या उत्साही हो और उनके पास साधन-स्रोत भी होते है। यह वैसी ही बात है कि एक कम साधन-सम्पन्न किसान की अपेक्षा एक अच्छे किसान की हालत बेहतर होती है।

सहकार: सर्वोत्तम मार्ग

हमे एक छोट किसान को, उसे अवसर प्रदान करते हुए, उसका दृष्टिकोण विस्तृत करते हुए, और उसे अधिक साधन-स्रोत व तकनीकी ज्ञान उपलब्ध करवाते हुए एक अच्छा किसान बनाने की समस्या का सामना करना है। भारत मे खेतो का आकार आम तौर पर छोटा है, इसलिए कृषि सुधार बहुत-कुछ सहकारी तौर-तरीके अपनाने पर निर्भर है। मै नही सोचता कि इसके अलावा कोई दूसरा मार्ग हो सकता है। वास्तव मे कुछ अन्य चीजे भी ऐसी है, जिनसे किसान को सहायता मिल सकती है। लेकिन सहकारी तरीका बहुत जरूरी है। वैसी हालत मे सहकारी सगठन से प्रत्येक किसान को अधिक साधन-स्रोत मिलते है और उसके लिए खेती को पशु-पालन तथा लघु स्तरीय उद्योगो के साथ जोडना आसान है। इस प्रकार कृषि विभाग मे सर्वागीण विकास कार्यक्रम बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि सहकार के क्षेत्र मे कितनी प्रगति होती है। सहज रूप से ही खेती अन्य अनेक कामो से जुडी हुई है और उन्हे केवल सहकारी तरीके से ही सुसगठित किया जा सकता है।

ग्रामीणों की स्थिति मे सुधार

जापान मे कोई पन्द्रह वर्ष पूर्व भूमि सुधार हुआ। मै सोचता हूँ कि वहाँ पर भूमि-सीमा सात एकड रखी गयी। भारत मे भूमि-सुधार की दिशा मे उठाये गये कदमो पर काफी आलोचना व छीटाकसी की गयी है। जापानी किसान ने भूमि सुधार के अन्तर्गत कम से कम भूमि रखते हुए भी उच्च जीवन-स्तर हासिल किया है, क्योकि वह अच्छे और आधुनिक तौर-तरीको से खेती करता है। परिवार के सभी सदस्य—बाप-बेटा, माँ-बेटी सभी—खेती मे काम करते है। खेती के अलावा वह पशु-पालन, मुर्गी-पालन व लघु उद्योगो का काम भी करता है। बडे उद्योगो को प्राय छोट-छोटे भागो मे विभक्त किया जाता है और छोटे-छोटे उद्योग घरो मे चलाये जाते है तथा उनके उत्पादन किसी सामूहिक केन्द्र मे ले जाये जाते है, जहाँ उन्हे जोडा जाता है। कुछ ऐसी बाते है जिनसे हम बहुत शिक्षा ले सकते है। हम अप` बडे उद्योगो को कितना भी विकसित क्यो न करे, फिर भी बहुत-सी आबादी उनके कार्य-क्षेत्र से बाहर रहेगी, जिसे आवश्यक रूप से ही कृषि, लघु स्तरीय तथा ग्राम उद्योगो और स्थानीय साधन-स्रोतो पर निर्भर करना पडेगा। यही कारण है कि इस महान समस्या से लोहा लेने के लिए हमे अपनी कृषि तथा लघु स्तरीय व ग्राम उद्योगो और यहाँ तक कि कुटीर उद्योगो मे भी सुधार लाना होगा। अतएव यद्यपि बडे उद्योग महत्वपूर्ण है लेकिन उनकी दष्टि से ही सोचना पर्याप्त नही होगा। हमे गॉवो मे रहनेवाली जनता का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के सम्बन्ध मे भी सोचना होगा।

अहिंसा के सामाजार्थिक निहितार्थ*

उछरंगराय न. ढेबर

गाधीजी ने महसूस किया कि पाश्चात्य जीवन मार्ग का बिना सोचे-समझे यत्रवत अनुकरण करने से देश की समस्याओ का समाधान नही हो सकता और न ही इस प्रकार की नकल करने से भारतीय जनता की प्रतिभा का विकास हो सकता है।

महापुरुषो के उपागम में सदैव ही कुछ ऐसी बात पायी जाती है, जिसका मूल्य स्थायी होता है। अब यह उनके जीवन का अध्ययन करनेवाले व्यक्ति पर है कि वह उस स्थायी मूल्यवाले हिस्से को पृथक कर ले, उसे छाट ले। वह इस सम्बन्ध मे पर्याप्त नीर-क्षीर विवेकी होना चाहिए कि उन्होने कई बाते ऐसी कही अथवा की जिनका अस्थायी महत्व था। उदाहरण के लिए उन्होने जो कार्यक्रम बनाये और नीतियाँ निर्धारित की वे केवल उस वक्त ही प्रभावशाली हो सकी, क्योंकि उन्होने खास अवसरो की आवश्यकताएँ पूरी की। उन्हे सदैव के लिए उपयोगी समझना गलत होगा। यदि उन्हे किसी ऐसे वक्त काम मे लाने का प्रयत्न किया जाय जब न तो वे किसी परिस्थिति के ही अनुकूल हो और न समय के तकाजे के ही, तो निश्चय ही असफल होगी।

गाधीजी ने स्वतत्रता सग्राम के दिनो मे जो कुछ किया वह उस वक्त अत्यधिक महत्वपूर्ण था। लेकिन एक भारतीय तथा समूचे भारत के लिए जो वस्तु चिरस्थायी महत्व की बनी रहेगी वह है सत्य और न्याय के अनिवार्यत आध्यात्मिक आधार पर मानवीय सम्बन्धो का निर्माण अथवा विकास करने के लिए अहिसा का विश्वस्त व शक्तिशाली माध्यम। इसी प्रकार हम आज की तरह सैनिक दृष्टि से अपनी प्रतिरक्षा कर सकते है, लेकिन स्थायी महत्व की बात यह महसूस करना है कि युद्ध और हिसा मे बहुत ही खतरनाक बाते छिपी हुई होती है। उन्होने ऐसे विवाद पैदा कर दिये है कि उन्हे केवल अहिसात्मक उपागम से ही सुलझाया जा सकता है। इस स्थिति को आज विश्व के सभी महापुरुष महसूस करने लगे है। इसी तरह गाधीजी जो सामाजार्थिक स्वरूप निष्पादित करने की कोशिश कर रहे थे, वह स्थायी मूल्य की तीसरी महत्वपूर्ण वस्तु है। यहाँ भी हमे इस सम्बन्ध मे सतर्क रहना होगा कि हम उन बातो पर जोर न दे जो अस्थायी मूल्य की थी अथवा जो उनकी आत्मनिष्ठ प्रतिक्रियाओ की उपज थी। वैसा करने का अर्थ होगा कि उन्हे वर्तमान सन्दर्भ मे हमने गलत समझा है। इसके साथ ही उनके सामाजार्थिक उत्पादन मे अनेक ऐसी अच्छी बाते है जिनका हमारे लिए चिरतन मूल्य है। यह हमारे खुद के हित का तकाजा है कि हम उनकी उपेक्षा न करे।

भावी भारत का चित्र

भारत के भावी स्वरूप के सम्बन्ध मे १९४५ मे भारत

* प्रस्तुत लेख अन्नमलै विश्वविद्यालय के तत्वावधान में आयोजित 'गांधी व्याख्यान माला' का तृतीय व्याख्यान है। व्याख्यान केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय की प्रोमोशन ऑफ गाधीयन फिलॉसफी—गाधी दर्शन का प्रसार—नामक योजना के अन्तर्गत दिये गये थे। यह तीसरा व्याख्यान इस पत्रिका में मत्रालय की स्वीकृति से प्रकाशित किया जा रहा है। तथापि, शिक्षा मत्रालय इस सामग्री की सर्वेसही के लिए उत्तरदायी नही है और यह भी आवश्यक नही कि व्याख्यान में व्यक्त विचार भारत सरकार के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हों। इस पत्रिका मे प्रस्तुत विचार सामग्री का पुन प्रकाशन भारत सरकार और अन्नमलै विश्वविद्यालय की स्वीकृति से किया जा रहा है।

की दो महान विभूतियो—गाधीजी और पडित जवाहरलाल नेहरू—के बीच एक दिलचस्प पत्र-व्यवहार हुआ था, जिसमे गाधीजी ने पडित जवाहरलाल नेहरू को लिखा था

"मेरा यह दृढ विश्वास है कि यदि भारत को, और उसके जरिये समस्त ससार को सच्ची आजादी हासिल करनी है तो आज या कल इस तथ्य को मानना ही पडेगा कि लोगो को शहरो मे नही, गॉवो मे, महलो मे नही झोपडियो मे रहना होगा। शहरो और महलो मे लाखो-करोडो व्यक्ति कभी अमन-चैन से नही रह सकेगे। वैसी अवस्था मे उनके सामने असत्य और अहिसा के मार्ग पर चलने के अलावा दूसरा कोई चारा नही रह जायेगा।

"मेरा खयाल है कि सत्य तथा अहिसा के बिना मानवता का सर्वनाश के अतिरिक्त और कुछ न होगा। यह सत्य और अहिसा हमे ग्राम्य जीवन की सादगी मे ही मिल सकती है और यह सादगी चरखे व उसके सिद्धान्तो मे ही देखी जा सकती है। आज दुनिया अगर गलत रास्ते पर चल रही है तो मुझे उससे कोई भय नही है। हो सकता है भारत भी उसी रास्ते पर जाय और शमा के ईर्द-गिर्द ही चक्कर काट कर जल जानेवाले परवाने की तरह भस्म हो जाय। लेकिन आखिरी दम तक भारत को और उसके जरिये सारे ससार को उस विनाश लीला से बचाना मै अपना कर्तव्य समझता हूँ।

"मैने जो कुछ कहा है उसका सार यही है कि आदमी को अपनी वास्तविक आवश्यकताओ पर ही सतोष करते हुए आत्म-निर्भर वनाना चाहिए। अगर उसमे इतना सयम नही है तो वह अपने को बचा नही सकता। बूँद-बूँद से सागर बनता है, वैसे ही अलग-अलग आदमियो से ससार का निर्माण होता है। यह सर्वविदित सत्य है।

"जब मै आधुनिक विज्ञान की तारीफ करता हूँ तो देखता हूँ कि उसकी सही दृष्टि से जो पुराना है उसे 'नया जामा' पहनाया जाय और 'नया रूप' दे कर ठीक किया जाय। यह बिलकुल न सोचे कि जिस ग्राम्य जीवन की मै कल्पना कर रहा हूँ वह आज के जैसा होगा। आखिर, हर आदमी के अपने स्वप्न होते है। मेरी कल्पना का जो आदर्श गॉव है वह जानवरो की तरह गदगी और अन्धकार मे नही रहेगा। उसके नर-नारी स्वतन्त्र होगे और ससार मे किसी का भी मुकाबला करने का सामर्थ्य उनमे होगा। उस गॉव मे प्लेग, हैजा और चेचक की बीमारियॉ नही होगी, न कोई बेकार होगा, न कोई विलासी। प्रत्येक व्यक्ति को अपने हिस्से का शारीरिक श्रम करना पडेगा। ऐसे गॉव मे रेलगाडी, डाक व तारघर और अन्य ऐसी चीजो के होने की कल्पना करना सम्भव है ।"

यदि हम इस चित्र का सावधानीपूर्वक अध्ययन करे तो पायेगे कि गाधीजी एक कृषि-औद्योगिक स्वरूप के लिए कार्य कर रहे थे। इस प्रकार के स्वरूप अथवा गठन का प्रारम्भ भारी उद्योगो से नही होगा, जीवन-स्तर को कोई बहुत ऊँचा उठाना उसका उद्देश्य नही होगा, वह प्रतिस्पर्धात्मक भी नही होगा। फिर भी, वह सत्य और अहिमा यानी सर्वोदय के सिद्धान्तो पर सचालित एक सुदृढ तथा सन्तुष्ट समाज की सुनिश्चितता अवश्य प्रदान करेगा। उक्त पत्र-व्यवहार से मोटे तौर पर यह उपागम सामने आता है।

स्वभाविक रूप से ही इस चित्र मे कुछ चीजे ऐसी है जो अस्थायी रूप से उपयोगी है और कुछ ऐसी है, जिनका स्थायी तथा महान महत्व है। द्वितीय श्रेणी मे तीन बाते आती है जो गाधीजी के विचारो को पढने पर आसानी से ढूढी जा सकती है (१) ग्राम-प्रधान अर्थ-व्यवस्था पर जोर, (२) सादगीपूर्ण जीवन पर जोर, और (३) सहकारी सामाजार्थिक सगठन पर जोर। इस पर जोर देने के पीछे स्पष्टत यह उद्देश्य था कि देशवासियो के लिए सत्य और अहिसा पर आधारित जीवन ,

व्यतीत करना सभव तथा सरल हो। यह उनके जीवन का मूल मत्र था।

आधुनिक अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए उसने जो कुछ पढा है उस सबके प्रति यह समचा उपागम एक चुनौती होगा। आधुनिक अर्थशास्त्र यह बताता है कि द्रुत गति से औद्योगीकरण आर्थिक प्रगति की कुजी है। गाधीजी इस मान्यता का विरोध करते लगते है। आधुनिक अर्थशास्त्र इस बात का सुझाव देता है कि उच्च जीवन-स्तर का मतलब है खुशहाल समाज। गाधीजी, ऐसा प्रतीत होता है, इस मत को भी नही मानते। आधुनिक अर्थशास्त्र प्रतिस्पर्धा और भौतिक उत्प्रेरणाओ को आर्थिक प्रगति की एक परमावश्यक शर्त मानता है। गाधीजी इसका भी विरोध करते है। तथापि, उन्होंने किसी भी समस्या पर कभी भी नकारात्मक दृष्टि से विचार नही किया। यद्यपि यदा-कदा उन्होंने आधुनिक उपागमो अथवा दृष्टिकोणो की खामियो के सम्बन्ध मे कुछ कहा, तथापि बुनियादी तौर पर उनका उपागम भारतीय स्थिति की कटु वास्तविकताओ मे ढला था।

ग्रामोन्मुखी गठन

यह स्मरण रखना चाहिए कि गाधीजी कोई कूप-मण्डूक नही थे। उन्होने विस्तृत ससार देखा था। पाश्चात्य देशो द्वारा की गयी महान आर्थिक प्रगति, उसकी गति और पूर्ण रोजगारी, जन-शिक्षण तथा साफ-सफाई व स्वास्थ्य सेवाओ के क्षेत्र मे उसके योगदान के सम्बन्ध मे उन्होने सुना था। वे एक सवेदनशील व्यक्ति थे– मानवीय दु ख-दर्दो के प्रति सवेदनशील, फिर चाहे वे दरिद्रता से पैदा हुए हो अथवा बीमारी या अज्ञान से। वे नही चाहते थे कि देशवासी एक दिन के लिए भी और दु ख-दर्द सहे। तब फिर क्या कारण था कि वे ग्रामोन्मुखी गठन अथवा अर्थशास्त्रियो की भाषा मे एक कृषि-औद्योगिक गठन पर जोर देते थे ? किस कारण से वे पाश्चात्य ढग के औद्योगिक गठन या स्वरूप का विरोध करते थे ? उनका तर्क मूलभूत और भारतीय अवस्थाओ की नितान्त आवश्यकताओ पर आधारित था।

यह कहना कि वे सुधारवादी थे अथवा भारत को ससार से अलग रखना चाहते थे, उनके प्रति अन्याय होगा। मानो, इसी लाछन का उत्तर देते हुए उन्होने एक बार कहा था

> "मै नही चाहता कि मेरे घर के चारो ओर ऊँची-ऊँची दीवारे हो तथा उसके दरवाजे-खिडकियाँ बन्द कर दी जाये। मै चाहता हूँ कि ससार की सभी सस्कृतियो का यथा सम्भव मुक्त प्रवाह मेरे यहाँ हो, पर मै उसी प्रवाह मे बह जाने से इन्कार करता हूँ।"

वे इस बात के प्रति आतुर थे कि विकास की प्रक्रिया मे कही हम भारतीय समाज की मौलिकता को नष्ट न कर दे।

इसी प्रकार यह कहना उनके प्रति अनुदारता अथवा छिद्रान्वेषण होगा कि वे विज्ञान और प्रविधि के विरुद्ध थे। उन्होने कहा था .

> "यदि ग्रामोद्योग की अपनी विशेषता कायम रखी जाय यानी उस पर कोई आँच न आये तो इसमे कोई एतराज की बात नही है कि ग्रामीण ऐसे आधुनिक यत्रो और सरजाम तक का उपयोग करे जो वे प्राप्त कर सकते हो। सिर्फ उनका इस्तेमाल दूसरो का शोषण करने के साधन के रूप मे नही होना चाहिए।"

उनका विश्वास था कि उनकी कल्पना के गॉव एक ऐसा सुदृढ और टिकाऊ आधार प्रदान कर सकेगें जिस पर समूचे भारत का भव्य, विशाल भवन खडा रह सके। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की मौजूदा बुनियाद को अनावश्यक रूप से हिलाने मे उनकी कोई रुचि नही थी, क्योकि उन्हे आशा थी कि आधुनिक विज्ञान और प्राविधि की सहायता से गाँव को 'नया जामा' पहनाना तथा 'नया रूप' देना सम्भव हो सकेगा और द्वितीय यह कि शहरी अर्थ-व्यवस्था का गठन ही कुछ ऐसा है जिसके सम्बन्ध मे उनके मन मे शका थी। विशाल वाणिज्य और बडी पूँजी इसके

आधार-स्तम्भ होते हैं। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था न तो उत्पादन के मामले में तथा न स्पर्धा के क्षेत्र में ही उसकी कोई बराबरी कर सकती है, और न ही वह शहरी अर्थ-व्यवस्था के उस प्रभाव के सामने टिक सकती है, जो वह समाचार-पत्रों, प्रचार व राजनीतिज्ञों के जरिये सरकार पर डालती है।

गांधीजी ने यह भी महसूस किया कि अतीत में भारत के गाँव काम करने के लिए तैयार सभी व्यक्तियों को अभिक्रम और सृजन शक्ति का विकास करने के लिए अवसर प्रदान करते थे। विदेशी शासन ने अपने खुद के फायदे के लिए लोगों से वे जरिये छीन लिए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ग्रामीण जनता के सामने फिर से अभिक्रम और सृजनशक्ति का विकास करने का एक अवसर आया है। उन्हें इस अवसर से वंचित करना न तो ठीक ही होगा तथा न न्यायसंगत ही, वैसी अवस्था में तो और भी नहीं जबकि भविष्य में उन्हें उसी पैमाने पर वैसा ही क्षेत्र प्रदान करना असम्भव हो जाय। जैसा कि गांधीजी ने कहा था, विज्ञान और प्रविधि की सहायता से ग्रामोन्मुखी गठन को 'नया जामा' पहनाया जा सकता है तथा उसे 'नया रूप' दिया जा सकता है। राष्ट्र के सीमित साधन-स्रोतों को देखते हुए वह कम से कम कष्टप्रद साबित हो सकता है और प्रबन्ध, यातायात तथा पर्यवेक्षण पर होनेवाले खर्च से भी बचा जा सकता है।

सर्वांगीण उपागम

गांधीजी को इस बात का यकीन था कि आर्थिक आधार के रूप में कृषि, पशु-पालन और प्रशोधन उद्योगों को सहकारिता के सूत्र में बांध कर भावात्मक तथा सांस्कृतिक आधार के रूप में और बुनियादी तालीम कार्यक्रम के जरिये, जिसमें एक महान देश के निर्माण में लगे सभी व्यक्तियों के मूल्य और मान-मर्यादा पर जोर दिया जायेगा, बडी सरलतापूर्वक देश के जीवन में—सामाजिक वर्गों का उनके उद्गम स्थल पर ही एकीकरण कर—ऐक्य स्थापित किया जा सकता है। वे चाहते थे कि राज्य की सत्ता तथा विशाल पूंजी और व्यापार की शक्ति मनुष्य के मानवीय पहलू के सहायक हों। उनके अनुसार किसान, पशु-पालक और कारीगर भारत के भाग्य विधाता हैं तथा सबसे पहले उन्हें शक्तिशाली बनाया जाय। यह एक सर्वांगीण उपागम था। पंचायत, सहकारी समितियाँ और बुनियादी तालीम सामाजार्थिक परिवर्तन लाने के तीन मुख्य साधन थे।

शहरी अर्थ-व्यवस्था के दोष

इसके विपरीत, गांधीजी के अनुसार शहरी अर्थ-व्यवस्था एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था का प्रतीक है, जिसका उद्देश्य बडे पैमाने पर उत्पादन करना होता है। यह ग्रामीण क्षेत्रों में बचे-खुचे उद्योगों को भी तहस-नहस कर देगी और ग्रामीण श्रम-शक्ति में जो पूर्ण तथा अल्प बेकारी है उसकी स्थिति को बदतर कर देगी। यह अर्थ-व्यवस्था एक ऐसी संस्कृति को प्रोत्साहन देती है, जिसमें स्वार्थपरता और ऐशो-आराम की प्रधानता होती है। ग्राम्य संस्कृति का आधार श्रम होता है। शहरी अर्थ-व्यवस्था मौलिक मानवीय गुणों की विछिन्नता को प्रोत्साहन देती है। वह ग्रामीणों के सामने निष्क्रियता और जडता का एक ऐसा नमूना पेश करती है जो न तो जनता के ही हित में होगा और न देश के ही। शहरी जीवन-स्तर का एक पहलू यह भी है कि वह अधिकाधिक उपभोग की ओर निर्देशित है। इस प्रकार ग्रामीण और शहरी लोगों के जीवन-स्तर में असमानता बढती जायेगी तथा उस अन्तर की खाई को पाटना मुश्किल होगा। उससे आम जनता में फूट पैदा होगी।

भारत में अवस्थित उस वक्त की जिन विशेष अवस्थाओं से बाध्य हो कर गांधीजी जिस निष्कर्ष पर पहुँचे उस पर विचार करने से पूर्व यह जानना वांछनीय होगा कि ऐसे कौन-से कारण थे जिनकी वजह से वे आधुनिक पाश्चात्य आर्थिक गठन या स्वरूप का आग्रहपूर्वक विरोध करते थे। आधुनिक आर्थिक उपागम के प्रति उनके विरोध को मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। उनके अनुसार मानव पशु से इस माने में भिन्न है कि उसके हाथों में औजार है। मानव प्राणी के नाते उसकी प्रगति परिपूर्णतः इस बात पर निर्भर

करती है कि उसे अपने अभिक्रम और सृजनात्मक शक्ति का प्रदर्शन करने का कितना अवसर मिलता है। उत्पादन के पाश्चात्य तरीके आदमी को उक्त दोनो पहलुओ से वचित कर देते है और वह एक यत्रवत प्राणी बन जाता है। द्वितीय, उन्होंने महसूस किया कि औद्योगिक सभ्यता का समूचा सबोध ही, इस पृथ्वी पर मानव अस्तित्व के उद्देश्य के एक अप्राकृतिक दृष्टिकोण पर आधारित है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति को उसके अस्तित्व का जो मुख्य उद्देश्य है उससे दूर ले जाता है। मनुष्य की कुछ प्रेरणाएँ पशु सदृश्य होती है, किन्तु जीवन के प्रति उसके दर्शन की वही अन्तिम मर्यादा नही है। प्रकृति ने उसकी रचना इसलिए की है कि वह अपने उच्च और आध्यात्मिक जीवन के लिए उसके (प्रकृति के) सपने को साकार करे। ज्ञान या चेतना का वरदान उसे इसलिए नही मिला है कि वह पालतू बिल्ली बन कर रह जाय। उसे प्रकृति ने स्वतत्र बनने, जिम्मेदारियाँ सम्हालने, ज्ञान प्राप्त करने, सम्मान अर्जित करने तथा अपने साथियो की खोज-खबर लेने के लिए बनाया है, ताकि वह अपने आपको पहचाने। पाश्चात्य दृष्टिकोण न केवल उसे गलत रास्ते पर ही ले जाता है, बल्कि उसके अस्तित्व के लक्ष्य को भी विकृत कर देता है और स्वतत्रता, ज्ञान व सम्मान के अर्थ को ही भ्रष्ट कर देता है। गाधीजी का मुख्य उद्देश्य हमारी यात्रा का मार्ग निर्दिष्ट करना था, फिर चाहे लक्ष्य तक पहुँचने मे हमे कितना भी समय क्यो न लगे, पर हम गुमराह न हो।

आधुनिक समाज के चरित्र-चित्रण और जिस दिशा मे वह आगे बढ रहा है, उसके सम्बन्ध मे पश्चिम मे भी साहित्य की अभिवृद्धि हो रही है। एरिक फ्रोम उत्पादन के प्रति पाश्चात्य उपागम की विवेकशीलता पर शका उठाते है। जॉर्ज ओरवेल (Orwell) ने अधिकाश मानवीय गुणो से वचित, एक निरकुश सत्ता द्वारा सचालित समाज के आत्माविहीन स्वचलन का चित्र उपस्थित किया है। आल्डुअस हक्सले ऐसे लोकतात्रिक समाज की तस्वीर खीचते है जो आवश्कता मे अधिक सगठन तथा रासायनिक प्रबोधन और कृत्रिम नीद के विमुग्धकारी प्रचार के कारण अपने मानवोचित गुणो की सुध-बुध खोता जा रहा है।

मनुष्यत्व से वंचित

उत्पादन तथा सामाजिक सगठन के पाश्चात्य तौर-तरीको के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए **सेन सोसायटी** (विवेकी समाज) के महान लेखक श्री एरिक फ्रोम कहते है

> "ओरवेल तथा अन्य दो लेखक (हक्सले और जमेतिन (Zamyatin) केवल यह सकेत करते है कि व्यवस्थापकीय औद्योगीकरण का नया स्वरूप–जिसमे आदमी यत्र बनाता है, जो आदमी की तरह काम करते है और आदमी का इस रूप मे विकास होता है कि वह यत्रवत काम करता है– मनुष्यत्व से वचित तथा पूर्ण विलगाव करनेवाले एक ऐसे युग का जनक है, जिसमे आदमी का वस्तु मे रूपान्तरण हो जाता है और वह उत्पादन तथा उपभोग का पुर्जा मात्र बन कर रह जाता है। तीनो लेखक इस बात का सकेत करते है कि यह खतरा केवल रूसी अथवा चीनी प्रकार के साम्यवाद मे ही नही है, बल्कि यह एक ऐसा खतरा है जो उत्पादन व सगठन के आधुनिक तौर-तरीको मे अन्तर्निहित है, और सापेक्षिक तौर पर वह विभिन्न विचारधाराओ से अलग है।"

हक्सले, फ्रोम के उक्त विचार का समर्थन करते है और उत्पादन तथा सगठन के इस पाश्चात्य तरीके का व्यक्ति व समाज पर पडनेवाले सभव प्रभाव का जिक्र करते हुए लिखते है

> "पिछली शताब्दी के दौरान प्रविधि के क्षेत्र मे क्रमिक प्रगति के साथ ही सगठन की दिशा मे भी उन्नति हुई है। जटिल सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल ही जटिल यत्रो का निर्माण करना पडा है, ताकि उत्पादन के नये साधन के रूप मे वह सुगमतापूर्वक काम कर सके। इन सगठनो के अनुरूप

व्यक्तियो को अपने व्यक्तित्व का विघटन करना पडा, उन्हे अपनी सहज भिन्नता मिटानी पडी, अपने को स्नगीय पद्धति के मुताबिक ढलना पडा, स्वय-चालित बन जाने के लिए भरसक प्रयास करना पडा।

"कोई सगठन न तो चेतन है और न जीवित ही। उसका महत्व व्युत्पादक होने और साधन बनने मे है। वह स्वयम् मे 'शिवम्' नही है। वह उस हद तक ही 'शिवम्' है जिस हद तक वह समष्टि के अग स्वरूप व्यष्टि का कल्याण करता है। सगठन को व्यष्टि से अधिक प्राथमिकता देना साध्य को साधन के आधीन करना है। साध्य को साधन के आधीन करने से क्या परिणाम निकलता है, यह हिटलर और स्टालिन के कृत्यो से पूर्णत स्पष्ट हो चुका है। उनके नृशस शासन मे हिसा और प्रचार, सिलसिलेवार आतक और बाकायदा मानसिक दिग्भ्रम के समिश्रण द्वारा साध्य सगठनात्मक साधनो के आधीन कर दिया गया था।"

उत्पादन तथा सामाजिक सगठन के तौर-तरीको अथवा स्वरूप और मानव के गुणात्मक विकास के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण करने के लिए काफी विस्तार मे जाने की आवश्यकता है। विज्ञान और प्रविधि के क्रमिक विकास मे हम देखते है कि समृद्ध समाजो मे कुछ घटनाएँ घटित होती है इच्छाएँ अधिकाधिक रूप से बढती जाती है, मानवीय सम्बन्ध अधिकाधिक व्यावसायिक बनते जाते है, ध्यानाकर्षण और पूर्ति के सम्बन्ध मे प्राथमिकताएँ मानव के स्थान पर सामग्री को दी जाने लगती है, बाल दुराचार, मदिरापान, आत्म-हत्या, हत्या-प्रवृत्ति आदि जैसी सामाजिक बुराइयाँ बढ जाती है, और इन सबसे भयानक दुष्परिणाम तो यह निकलता है कि मानव किसी 'घाट' का नही रहता।

यह सच है कि भारत अभी 'बटन दबाया और काम शुरू' के युग से बहुत दूर है। फिर भी, यह स्वीकार करना पडेगा कि शिक्षित भारत का हृदय पाश्चात्य समाज-व्यवस्था तथा पाश्चात्य उत्पादन पद्धति की ओर है। हम मे से कुछ यदा-कदा बडे-बडे कारखानो, केन्द्रीकरण आदि के विरुद्ध तथा विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे बात करते है। लेकिन व्यक्ति के कथन का कोई महत्व नही है, महत्व तो इस बात का है कि आर्थिक सगठनो का उद्देश्य क्या है, और इन सस्थाओ की व्यवस्था कोई दार्शनिक अथवा शिक्षाशास्त्री नही करते। वर्तमान समाज की बागडोर उन सगठनो के हाथ मे है जो उद्योग और वाणिज्य, बैकिग और बीमा, शेयर बाजार और सोने-चादी के व्यापार मे लगे है और जिनका देश के समाचार-पत्रो व राजनीतिक सगठनो पर बहुत बडा प्रभाव है। यही वजह है कि वे जो कुछ करते है, उसका महत्व है। स्पष्टत लोगो के मन मे 'औद्योगिक समाज' अथवा 'प्राविधिक समाज' का चित्र है। यही उनका निश्चित उद्देश्य है। यह उद्देश्य, जिसकी जडे नागरिक तथा सैनिक दोनो ही कामो के लिए तीव्र औद्योगीकरण मे है, भारतीय समाज को भी उसी गतव्य पर ले जा सकता है, जिसके बारे मे आज पाश्चात्य विचारक इतने परेशान है।

ऐसे व्यक्ति भी हो सकते है जो इस बात मे विश्वास करते हो कि इस प्राविधिक समाज को भारतीय आवश्यकताओ के अनुसार ढाला जा सकता है। सवाल यह है कि इसे कौन और कैसे ढालेगा ? व्यक्ति चाहे कितने ही शक्तिशाली और बडे क्यो न हो, आज जैसी अवस्था है उसमे वे मामूली भूमिका ही निभा सकते है। एक व्यक्ति चाहे कितना भी ताकतवर क्यो न हो, उसे केवल अपने सम्बन्ध मे ही चयन करने की स्वतत्रता है, कभी-कभी वह किसी छोटे या बडे दल के लिए चयन कर सकता है, तथापि, जब एक व्यवस्था का सवाल आता है, जिसकी जडे मानवीय कमजोरियो पर आधारित हो और जिसके पीछे सत्ता, पैसे तथा बुद्धि का हाथ हो तब व्यक्ति को उसे स्वीकार करना ही पडता है। यह सच है कि आशकित परिणामो के भय से हम विज्ञान और प्रविधि से होनेवाले लाभो को अस्वीकृत नही कर सकते, खास कर तब जबकि

हम जानते है कि घोर गरीबी, बीमारिया व अज्ञानता को देश मे मिटा देने के लिए वे उपयोगी हो सकते है। अल्डुअस हक्सले ने पाश्चात्य सामाजिक गठन के उद्देश्यो सम्बन्धी यह प्रश्न उठाया और उन्होने यह बात प्रकाश मे लायी कि गाधीजी का क्या उद्देश्य है। उन्होने कहा कि "हमने सदैव अपनी अर्थ-व्यवस्था और प्रविधि को समाज के अनुकूल बनाने का चुनाव किया है, समाज को किसी परायी अर्थ-व्यवस्था और प्रविधि के अनुसार ढालने का नही।"

ऐरिक फ्रोम कुछ इस प्रकार निष्कर्ष निकालते है

"तथापि, प्रूधो, टालस्टाय और बाकुनिन, दुरखीन और मार्क्स, आईस्टन और स्विट्जर आदमी की और उसके साथ हमारी औद्योगिक व्यवस्था मे क्या होता है, इसकी बात करते है। यद्यपि वे यह बात भिन्न-भिन्न रूपो मे रखते है, तथापि इस सम्बन्ध मे वे सभी एकमत है कि मानव ने अपना केन्द्रीय स्थल खो दिया है, आर्थिक उद्देश्यो के लिए उसे एक साधन बना दिया गया है, उसे अपने साथियो व प्रकृति से परकीय बना दिया गया है तथा उसने व्यक्ति-व्यक्ति तथा प्रकृति के बीच का ठोस सबध खो दिया है, और यह कि अब उसका जीवन सार्थक नही रहा।

"उसका विवेक श्रेष्ठ है, उसका तर्क गिरता जा रहा है और वह सभ्यता को तथा यहाँ तक कि मानवीय अस्तित्व को ही खतरे मे डालता जा रहा है।"

हो सकता है गाधीजी ने वह सब नही पढा हो जो पश्चिम मे लिखा गया है। लेकिन उनकी अर्न्तदृष्टि ने यह जान लिया था कि पाश्चात्य ढग अक्षम है, उसका मूल ही त्रुटिपूर्ण है और किसी भी अवस्था मे वह भारतवासियो की प्रकृति तथा भारत की अवस्थाओ मे उपयोग की दृष्टि से किसी भी हालत मे अनुकूल नही है। जहाँ उनका दृष्टिकोण धार्मिक भाषा मे व्यक्त हुआ वहाँ यह भी है कि उसमे व्यावहारिकता की कमी नही थी। अत हमे समस्या के उस व्यावहारिक पक्ष पर थोडा विचार करना चाहिए जिससे प्रेरित होकर उन्होने ग्रामोन्मुख गठन पर दिन-रात इतना अधिक जोर दिया।

व्यावहारिक तथ्य

गाधीजी के अनुसार भारत का भविष्य भारतीय जीवन के तीन बुनियादी पहलुओ द्वारा निश्चित होनेवाला है। वे तीन पहलू है

अ जनता का सामाजिक दृष्टिकोण,

आ राष्ट्रीय जीवन पद्धति अथवा देश के साधन-स्रोतो के अनुसार जीवन-स्तर, और

इ भारत की आबादी की विशालता को ध्यान मे रखते हुए औद्योगिक गठन का स्वरूप।

हम उनके सामाजिक उद्देश्यो के तात्विक पहलू पर विचार कर चुके है। उनका विश्वास था कि मानव जीवन का परमावश्यक उद्देश्य भौतिक साधनो की सम्प्राप्ति नही बल्कि आत्म शुद्धि के जरिये ईश्वर की खोज है, जिसे उन्होने सत्य की खोज कहा था। उनका यह आग्रह था कि इसी जीवन दर्शन के लिए भारत जीवित रहा है और काम कर रहा है।

राष्ट्रीय जीवन पद्धति के सम्बन्ध मे गाधीजी ने जोर दे कर कहा

"सभ्यता वास्तव मे मागे बढाते जाने मे नही बल्कि जान-बूझ कर और स्वेच्छापूर्वक उन्हे सीमित रखने मे निहित है। इसी से वास्तसिक हर्ष और सतोष प्राप्त होता है तथा सेवा करने की शक्ति बढती है।"

व्यक्तिगत खुशहाली के इस पक्ष के अलावा, जिस पर लोगो के अलग-अलग मत हो सकते है, गाधीजी भारतीय स्थिति की वास्तविकताओ के प्रति परिपूर्ण रूप से सजग थे। जैसा कि उन्होने अपने पत्र मे लिखा है, जो प्रश्न उन्होने देश के सामने रखा वह यह था कि उपलब्ध वित्तीय साधन-स्रोतो को ध्यान मे रखते हुए क्या देशवासी अपनी वास्तविक आवश्यकताओ से

ऊँचा जीवन-स्तर बनाये रखना बर्दाश्त कर सकते है ? यह सवाल आज भी हमारे सामने है। साख्यिकीय आकडो से पता चलता है कि १९६१–६२ मे देश की आबादी के नितल दस प्रति शत लोगो की प्रति व्यक्ति मासिक आय ६ ६० रुपये थी, और उनसे ऊपर की पॉच श्रेणियो मे आनेवाले व्यक्तियो की क्रमश ९ ६० रुपये, ११ ७० रुपये, १३ २५ रुपये, १७ ३५ रुपये, और २१ ५० रुपय। इस प्रकार इन अको के अन्तर्गत भारत की ६० प्रति शत जन-सख्या आ जाती है।

औद्योगिक स्वरूप

इसके समक्ष पोषण सलाहकार समिति का अनुमान है कि एक व्यक्ति को अपना स्वास्थ्य भलीभाति बनाये रखने के लिए ३५ रुपये मासिक तो अकेले भोजन के लिए ही चाहिए। यह उपलब्ध नही है तो इसमे सरकार या अन्य किसी की गलती नही है। लेकिन मै जो वस्तु स्थिति है, वह बता रहा हूॅ। भारत अगर आन्तरिक सघर्प से बचना चाहता है तो उसे यह बुनियादी तथ्य ध्यान मे रखना चाहिए कि अधिकाश जनता का जीवन-स्तर इस शताब्दी के अन्त तक गुजर-बसर करने की अवस्था से शायद ही ऊपर उठे। गाधीजी का विचार था कि इन परिस्थितियो की दृष्टि से न्यूनतम और अधिकतम उपभोग स्तर के बीच का अन्तर ज्यादा नही होना चाहिए। व्यावहारिक और नैतिक विचार की दृष्टि से यह सुझाव मिलता है कि राष्ट्रीय जीवन पद्धति कुछ ऐसी होनी चाहिए, जो देश के बूते से बाहर की चीज न हो। वर्तमान शताब्दी के अन्त मे नितल श्रेणी के २० प्रति शत लोगो की प्रति व्यक्ति मासिक आय बढ कर २० रुपये हो जाने की सम्भावना है। उच्च जीवन-स्तर वाले वर्गो को बढावा देना और खास तौर पर अपरिमार्जित प्रदर्शन की ओर प्रवृत होना सकटमय होगा, जबकि अधिकाश जनता महज दो जून रोटी भर प्राप्त कर सकने की स्थिति मे ही है।

लेकिन गाधीजी के लिए जीवन पद्धति से भी अधिक महत्वपूर्ण सवाल था औद्योगिक स्वरूप का। देश मे मौजूद पूर्ण और अर्ध बेकारी की स्थिति का उन पर बहुत असर पडा था। यहॉ तक कि भारत मे आज भी एक करोड व्यक्ति पूर्ण और इससे भी दुगुने लोग आशिक रूप मे बेरोजगार है। प्रति वर्ष देश की श्रम-शक्ति मे २५-३० लाख व्यक्ति नये आ जाते है। ग्रामीण आबादी मे पन्द्रह प्रति शत लोग भूमिहीन श्रमिक है। जितने लोगो के पास जमीन है उनमे से पन्द्रह प्रति शत के पास एक-एक एकड से भी कम है। गाधीजी ने महसूस किया कि उत्पादन के पाश्चात्य तौर-तरीको मे जो अन्तर्निहित कमजोरियॉ है वे तो है ही लेकिन भारत मे औद्योगीकरण की समस्या पर विचार करते वक्त भारत के पास जो बहुत ही कम साधन-स्रोत है उन्हे भी ध्यान मे रखना चाहिए।

अर्थ-व्यवस्था के अभिन्न अग

पूर्ण और अर्द्ध बेरोजगारो की जो विशाल सख्या है, वह यद्यपि ग्रामीण आबादी का एक अभिन्न अग है तथापि वे फिलहाल ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की परिधि मे नही आते। उनका शहरी गठन मे भी कोई स्थान नही है। गाधीजी का विचार था कि उन्हे इस प्रकार लगाया जाय कि वे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के अभिन्न अग बन जाये। इतनी बडी और वृद्धिशील सख्या मे लोगो को विना काम के छोडना उनकी दृष्टि मे खतरे से खाली नही है। उन्होने महसूस किया कि जब तक इतने अधिक लोगो के लिए स्थायित्व सुनिश्चित न कर दिया जाय तब तक भारत मजबूती या स्थायित्व नही प्राप्त कर सकता। इसी कारण उन्होने कृषि-औद्योगिक गठन का सुझाव दिया और उद्योग के क्षेत्र मे केन्द्रीकरण का विरोध किया। जिन अर्थशास्त्रियो ने रोजगारी की समस्या का अध्ययन किया है, उनके लिए यह स्पष्ट होता जा रहा है कि गाधीजी ग्रामोद्योगो पर जो बल देते थे उसके लिए वे बिल्कुल ही गलत नही थे। आज की धारा उसी दिशा मे उन्मुख हो रही है जिस दिशा का उन्होने सकेत दिया था। अधिकाधिक रूप से यह महसूस किया जा रहा है

कि प्रशोधन उद्योग यथा सभव विकेन्द्रित ग्रामीण क्षेत्र मे स्थापित किये जाय। लेकिन इसी से समस्या का पूर्ण समाधान हो जानेवाला नही है। यदि हम चाहते है कि राष्ट्रीय आर्थिक गठन मे हमारी आबादी का यह विभाग स्थायित्व महसूस करे तो हमे और भी आगे बढना होगा यानी कुछ और भी करना पडेगा तथा यह देखना होगा कि उनके जीवन को ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का अभिन्न अग बनाने के लिए क्या किया जा सकता है।

ग्रामीण आधार को शक्तिशाली बनाना

इसे प्रतिगामी कदम अथवा यह समझना गलत होगा कि ऐसा करना आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था के लिए कोशिश करना है। जिस प्रकार हमारी प्राचीन अर्थ-व्यवस्था के प्रति हमारे मन मे जो प्रेम है उसके कारण हम 'परिवर्तन के प्रति' आँखे नही बन्द कर लेनी चाहिए, उसी प्रकार 'परिवर्तन के प्रति' हमारे प्रेम के कारण हमे देश की वास्तविकताओ की ओर से भी आँखे नही मूद लेनी चाहिए और फिर यह सोचना कि उद्योगो का केन्द्रीकरण करना ही एक ऐसा मार्ग है जिसमे जनता की भलाई के लिए आधुनिक विज्ञान और प्रविधि का प्रयोग किया जा सकता है, यह तर्क देना है कि वास्तविकताएँ जो भी हो विज्ञान व प्रविधि अपनानी ही चाहिए। अन्ततोगत्वा विज्ञान और प्रविधि मानव के लिए है मानव उनके लिए नही। केन्द्रीकरण अपेक्षाकृत कम आबादी-वाले देशो तक मे बेकारी की समस्याएँ खडी कर रहा है। तब फिर भारत मे तो पूर्ण रोजगारी मिल ही नही सकती, जोकि सघन रूप से बसा हुआ देश है। द्वितीय, विकेन्द्री-करण का मतलब भारी और बुनियादी सामग्री तैयार करने वाले उद्योगो का अभाव नही है। जिसे भी इस सम्बन्ध मे कोई शका अथवा भय है, वह १९३१ मे स्वीकृत कॉग्रेस के कराची प्रस्ताव का अध्ययन कर सकता है। किसी भी चीज को बिल्कुल त्यागने का विचार कभी भी नही रहा। विचार है देश की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की नीव मजबूत करने का। इस सम्बन्ध मे जो भी चीज बाधक हो वह गाधीजी को स्वीकार नही थी। उनके लिए ऐसी कोई भी चीज प्रतिबन्धित नही थी, जिससे उक्त प्रक्रिया मे सहयोग मिले।

इस परीक्षण के आधार पर भारत को हर हालत मे अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रित गठन अथवा स्वरूप को शक्तिशाली बनाने के लिए भारी उद्योगो की आवश्यकता होगी। भारत को ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के लिए आर्थिक निर्माण खर्च (जैसे मशीने, बिजली, यातायात आदि) प्रदान करने के लिए भी भारी उद्योगो की आवश्यकता होगी। उसे बैको, बीमा तथा वाणिज्य व व्यवसाय सम्बन्धी अन्य सस्थाओ की भी आवश्यकता होगी। तथापि उन सबके पीछे प्रेरक शक्ति के रूप मे एक ही विचार होगा कि ग्रामीण आधार को शक्तिशाली बनाया जाय।

भारतीय आयोजन

यह पूछा जा सकता है कि क्या भारतीय आयोजन इस आधार पर आगे बढ रहा है? इसका उत्तर देना सहल नही है। दो विचारधाराएँ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि चन्द व्यक्ति क्या कहते है, इसका महत्व नही है। इसमे कोई सदेह नही कि जिस क्षेत्र का पलडा भारी है, वह इस उपागम के विरुद्ध है। भारत पिछले कुछ सप्ताह मे अपनी नयी जिम्मेदारियो के प्रति सचेत बन गया है। चीनी आक्रमण से उसकी रक्षा करना एक महान और अच्छा कार्य है। भारत को अपनी जन-शक्ति और प्राकृतिक साधन-स्रोतो का इस ढग से विकास करने मे मदद देने के सम्बन्ध मे भी कि वह अपने परमावश्यक व्यक्तित्व का विकास कर सके, यही बात कही जा सकती है। कोई भी यह नही चाह सकता कि भारत किसी विदेशी अर्थ-व्यवस्था की नकल करे। भारत बाहर की जो चीज उसके 'हित' मे है—उसे अपना सकता है लेकिन अन्ततोगत्वा अपनी समस्याएँ उसे स्वयम् को ही हल करनी पडेगी। कोई दूसरा उन्हे उसके लिए हल नही कर सकता। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भारत ऐसा करने मे सफल होगा।

हम ने चन्द उन बुनियादी तथा मूलभूत सत्य बातो

पर विचार किया है जो गाधीजी के उपदेशो से सामने आती है और जो देश के हित मे स्थायी महत्व की है। उन्होने हमे एक नया माध्यम दिया। उसी माध्यम से जाति अथवा धर्म, राष्ट्रीयता अथवा पद का बिना कोई भेद-भाव रखे और इस सम्बन्ध मे कि दूसरा व्यक्ति हमारा मित्र है अथवा विरोधी, बिना किसी विभेद के व्यक्ति-व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध नियत्रित होने चाहिए। उन्होने हमे एक ऐसी शक्तिशाली तकनीक प्रदान की है, जिससे हम असत्य और अन्याय से लोहा ले सकते है, फिर चाहे उनका उद्गम कुछ भी क्यो न हो। मानव की सबसे बडी समस्या—मानवीय अस्तित्व की समस्या—के सम्बन्ध मे भी उन्होने मानवता को आशा प्रदान की। अन्त मे, उन्होने हमे सामाजार्थिक क्षेत्र मे अपनी प्रगति मापने के लिए एक माप दण्ड भी दिया। आदमी का मार्ग सही होना चाहिए। उसे अपने इर्द-गिर्द के अन्य व्यक्तियो के बारे मे भी सोचना चाहिए। समाज रचना का मूल्याकन इसी आधार पर किया जा सकता है कि समाज के सदस्य उसके सबसे कमजोर और अल्प विकसित व्यक्तियो के साथ कैसा व्यवहार करते है। गाधीजी के अनुसार भारत के लिए सबसे सुरक्षित मार्ग यह है कि वह गॉव से प्रारम्भ करके आगे बढे। यह सच है कि हम एक ही छलाग मे गाधीजी चाहते थे उतनी दूर नही जा सकते। तथापि, इस उक्त तथ्य रूपी दर्पण को सामने रखना हमारे लिए लाभप्रद होगा ताकि हम जान सके कि हमारे पास क्या है, बल्कि इससे भी अधिक यह कि हम यह जान सके कि हममे किस बात की कमी है। ●

पिताजी का परिवार में बड़ा सम्मान था और लोग उन्हे 'महर्षि' कहते थे, किन्तु मै विरागी बना रहा तथा कुछ भी वाह्य शिक्षा ग्रहण नही कर पाया। कुछ दिनो बाद उन्ही पाठ्य पुस्तको की पुनरावृत्ति कष्ट साध्य प्रतीत होने लगी। 'महर्षि' स्वयम् मुझे पढाने लगे, लेकिन उस क्रम को अब और जारी रखना मेरे बूते के बाहर था। अपने लोग समझने लगे कि मै नास्तिक हो गया।

और फिर, शातिपूर्वक अपने अनुभवो के प्रकाश से उनके आन्तरिक अर्थ का कुछ-कुछ मेरी समझ मे आने लगा। मैने यह भी समझा कि उन श्लोको या मत्रो की मेरी अपनी व्याख्या हमारे शिक्षक की व्याख्या से मिलती नही थी। मै अब भी ऐसा ही समझता हूँ कि मेरी व्याख्या मे उन श्लोको अथवा मत्रो में अन्तर्निहित सत्य के तत्व मौजूद थे। इसलिए आप समझ सकते है कि बच्चो को धर्म-शिक्षा देने मे मै क्यो विश्वास नही करता।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

खादी और अर्थ-व्यवस्था

वैकुण्ठ ल. मेहता

खादी उद्योग के लिए राज्य सहायता का नया स्वरूप अपनाना उत्पादन क्षेत्रों मे ही उसकी बिक्री बढाने तथा कार्यक्रम के प्रति ग्रामीण समुदाय में और अधिक उत्साह पैदा करने के लिए कार्यकर्त्ताओं की बढती हुई अभिलाषा का परिणाम है।

बम्बई के एक समाचार पत्र ने 'नया मोड' शीर्षक मे अपने एक लेख मे पूणत "खादी की बिक्री पर मौजूदा छूट की जगह खादी वस्त्र की बुनाई पर उपदान" विषय को लिया है। इस लेख का अवश्य महत्व होता अगर लेखक महोदय ने 'नया मोड' शब्द के प्रति समझदारी दिखायी होती। जैसा कि पिछले चार वर्षों मे खादी आन्दोलन से सम्बन्धित कार्यकर्त्तागण इस शब्द को प्रयोग मे ला रहे है, यह शब्द खादी-उत्पादन को ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के अन्य पहलुओ के साथ जोडने और उसे ग्रामीण विकास की समग्र योजना का एक सजीव अग बनाने के प्रयास का द्योतक है। 'नया मोड' मे निहित एक दूसरी बात यह भी है कि उस विकास कार्य-क्रम को राष्ट्रव्यापी स्तर पर चलाने के लिए यह परमावश्यक है कि ग्रामीण समुदाय उसमे सक्रिय भाग ले। यदि इस विचार मे निहित बातो को समझ लिया जाता है तो राज्य सहायता के एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप को अपनाने के महत्व को उपयुक्त रूप से महसूस किया जा सकता है।

समितियों के मत

खादी-उत्पादन पर उपदान की बात प्रारम्भिक तौर पर १९५३ मे स्वीकृत की गयी थी—अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के गठन से भी पहले। उस स्वीकृति का आधार यह था कि खादी उपयुक्त किस्म के उत्पादन कार्यो मे ग्रामीण क्षेत्र के पूर्ण अथवा अल्प बेरोजगारो को बडी तादाद मे रोजगारी प्रदान करती है—और अधिकाधिक रोजगारी प्रदान कर सकने की शक्यता भी उसमे है। कि समूचे देहाती क्षेत्रो मे शुरू करने के लिए हाथ-कताई सर्वाधिक उपयुक्त धधा है, ये मालूमात है १९३७ मे बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त एक जाच समिति के जिसके अध्यक्ष थे स्वर्गीय सर पुरुषोत्तम-दास ठाकुरदास और सदस्य-सचिव थे वर्तमान योजना आयोग के सदस्य डाक्टर विजयेन्द्र कस्तूरी रग वरदराज राव। उसके १८ वर्ष बाद ग्राम और लघु स्तरीय उद्योग समिति ने, जिसके अध्यक्ष थे प्रोफेसर दत्तात्रेय गोपाल कर्वे (अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के डिप्टी-गवर्नर) और प्रोफेसर धनजय राव गाडगिल सदस्य थे, एक ऐसी योजना का अनुमोदन किया, जिसमे खादी-उत्पादन पर उपदान देने की बात आती थी। इसी बीच एक ओर उल्लेखनीय बात हुई। सर पुरुषोत्तमदास तथा उनके कई अन्य साथियो (जिनमे स्वर्गीय डा जान मथाई भी थे) द्वारा प्रस्तुत १९४४ की बम्बई (उद्योग-पतियो की) योजना आयी, जिसमे सुनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उपभोग की वस्तुओ की बढती हुई मॉग की पूर्ति के लिए कुटीर उद्योग के विकास का आग्रह किया गया था। द्वितीय पच वर्षीय योजना बनाते वक्त डा पी सी महलनवीस तथा अर्थशास्त्रियो के एक दल ने भी इसी तरह के विचार व्यक्त किये थे।

बेरोजगारी की भारी समस्या

प्राय इस प्रकार के तर्क उपस्थित किये जाते है कि हो सकता है खादी कार्यक्रम पर प्रारम्भिक रूप मे विशुद्धत 'सक्रमण राहत योजना' के बतौर ध्यान

दिया गया हो। समझ मे नही आता कि 'सक्रमण' शब्द का उपयोग कर, क्या कहने की चेष्टा की जाती है। अगर उनका तात्पर्य यह है कि अर्थ-व्यवस्था की सक्रमण अवस्था मे इस योजना को प्रश्रय मिला तो उन्हे यह भी जानना चाहिए कि सक्रमण काल आया भी है या नही। बारह वर्ष के आयोजन के बाद भी हम देखते है कि हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था गतिहीनता की अवस्था मे पडी हुई है। कृषिक मजदूरो की कमाई, कुछ कम ही हुई है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के तत्वावधान मे किय गये अध्ययनो से पता चलता है कि हमारी आबादी का कम से कम आधा हिस्सा अपने को जीवित भर रखने के लिए रोजाना ५० नये पैसे से भी कम खर्च कर पाता है और करोडो के पास औसतन महज आधे दिन का ही काम है।

बिक्री पर छूट

सरकारी आकडो के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो मे फैली विस्तृत बेरोजगारी की बात तो अलग रही, यह अवस्था तो गॉवो मे फैली अर्द्ध बरोजगारी का ही परिणाम है। फिर शहरो और नगरो की ओर उनका ताता लगा हुआ है, जिससे वहॉ भी बेकारो की तादाद बढती जा रही है। जैसा कि हम सभी अच्छी तरह जानते है, वहॉ भी सुनियोजित आर्थिक विकास के प्रभावो के बावजूद, बेरोजगारी की समस्या चरम सीमा पर पहुॅच गयी है। हमारे सार्वजनिक और निजी विभागो के विशाल उद्योग, छोटे या बडे, जो उपभोक्ता और उत्पादक वस्तुओ के निर्माण मे लगे है, इन १२ वर्षो के आयोजन काल मे—जैसा कि हमारे योजना-अधिकारीगण भी भलीभाति जानते है—जितने लोगो को रोजगारी दी जानी थी, उनसे बहुत ही कम लोगो को काम मे लगा सके है।

इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। महज इसी स्थिति का मुकाबला करने के लिए योजना अधिकारियो ने आम मॉग की उपभोक्ता वस्तुओ का उत्पादन करनेवाले ग्राम्य तथा लघु उद्योगो को योजना के अभिन्न अग के रूप मे विकसित करना स्वीकृत किया है। आयोजन के विद्यार्थी जानते है कि योजना आयोग ने प्रथम पच वर्षीय योजना मे उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन करनेवाले कुटीर तथा बडे उद्योगो के लिए एक सयुक्त उत्पादन कार्यक्रम का आधार निर्मित किया था। उस कार्यक्रम के एक सारभूत अश के रूप मे, इस बात का सुझाव दिया गया था कि यत्र और हाथ से उत्पादित वस्तुओ के लागत खर्च के फर्क को पाटने के लिए कुटीर उद्योगो के उत्पादनो के मूल्य पर छूट (रिबेट) दी जा सकती है। यही से हाथ करघा वस्त्र तथा खादी की बिक्री पर छूट का जन्म हुआ।

शुरू मे यह सहायता १९५२ मे मिलो मे उत्पादित वस्त्रो पर लगाये गये उप-कर (सेस) से सम्बद्ध थी, किन्तु बाद मे कपडे पर उत्पादन-शुल्क का स्तर बढ जाने के कारण यह सहायता आम राजस्व से दी जाने लगी। इसकी कुल मात्रा का निर्धारण हाथ करघा वस्त्र अथवा खादी की बढती या घटती मॉग के आधार पर किया जाता है। चूॅकि साल-दर-साल खादी की बिक्री बढती गयी, इसलिए उसी के अनुसार छूट देने की मॉग भी बढी। किन्तु प्रति वर्ष बिक्री की इस वृद्धि के बावजूद, इधर हाल के वर्षो मे उत्पादन उससे आगे बढ गया है। यह उत्पादन की वृद्धि इसलिए नही हुई कि उसमे किसी का स्वार्थ निहित है, बल्कि देश के कुछ ग्रामीण क्षेत्रो मे गरीबी इतने हद दर्जे की है और कम आय मिलने के बावजूद चरखे पर काम करने की मॉग इतनी ज्यादा व जोरदार है कि किन्ही-किन्ही स्थानो पर तो अपने परिवारो के लिए कुछ अर्जित कर सकने के लिए उत्सुक सूतकारो द्वारा लाये गये सूत की विशाल मात्रा को सम्भालना भी एक समस्या हो गयी है।

नयी योजना से लाभ

इस प्रकार हाथ कताई ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की एक निहायत जरूरत पूरी करती है। और चूकी यह आवश्यकता बनी हुई है, इसलिए उत्पादन बढ सकता है, पर पिछले कुछ दिनो से आन्दोलन के कर्णधार, जिनमे कई

वे व्यक्ति भी शामिल है, जिन्हे महात्मा गाधी के नीचे यह काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, राज्य सहायता के मौजूदा स्वरूप की सीमाओ को महसूस करने लगे है। खादी के मूल्यान्तर को जहा राज्य द्वारा दी गयी छूट से आशिक तौर पर पूरा किया जाता है, वहॉ उसका अधिकाश उपभोक्ता को ही वहन करना पडता है। ऐसी स्थिति मे ऐसी भावनाए जागृत हुई कि उत्पादन के क्षेत्र मे ही बिक्री को विकसित करने और ग्रामीण आबादी के अन्दर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे स्थानीय तौर पर उत्पादित हाथ-कते और हाथ-बुने वस्त्रो की देन के प्रति चेतना जागृत करने के प्रयास किये जाय।

राज्य सहायता देने के स्थान मे अगर ऐसा परिवर्तन हुआ है कि उपभोक्ताओ के बदले स्थानीय उत्पादको को सहायता दी जाय, तो उम्मीद यह की जाती है कि इससे ग्रामीण समाज मे कार्यक्रम के प्रति अधिक उत्साह पैदा होगा। सूत कताई और बुनाई, दोनो को उत्तरोत्तर रूप से ऐसा उत्पादक कार्य समझा जायेगा, जिससे कुछ कमजोर वर्गों को प्रत्यक्ष सहायता मिलेगी तथा एक परमावश्यक उपभोग की आवश्यकता की पूर्ति स्थानीय उत्पादन से हो जायेगी। बुनाई लागत के बराबर उपदान देने की नयी योजना—जिसमे ऊपरी खर्च नही पडेगा और उत्पादन स्तर पर ही उपदान दिया जायेगा—का लाभ यह होगा कि उत्पादन के क्षेत्र मे वस्त्र का मूल्य सूतकारो के लिए नाम मात्र तथा गैर सूतकारो के लिए भी बहुत कम होने की वजह से आकर्षक होगा।

ग्रामीणों में अभिरूचि जगाना

इस तरह स्वावलम्बन को बढावा देने मे सकीर्ण मनोवृत्ति की कोई बात नही है। दर असल, इससे एक विशिष्ट सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति होती है और इसलिए इसका स्वागत होना चाहिए। पहली बात तो यह है कि इस से आबादी के एक बहुत बडे हिस्से के अंदर सृजनात्मक प्रयासो को प्रोत्साहन मिलता है। लार्ड बेवरीज ने अपनी रचना 'पिलर्स ऑफ सेक्यूरिटी' मे 'आलस्य' को शैतान की सज्ञा देते हुए दरिद्रता के खिलाफ युद्ध मे उसे परास्त करने की सलाह दी है। जबरदस्ती यानी इच्छा के विरूद्ध आलसी रहने की स्थिति, ग्रामीण क्षेत्रो मे ही हो, ऐसी कोई बात नही है, किन्तु इस स्थिति को जहॉ-कही भी लाभकारी काम की व्यवस्था के जरिये दूर किया जा सकता है, जैसे गॉवो मे, वहॉ वैसे काम की व्यवस्था को आशिक तौर पर सरकारी खर्च पर प्रोत्साहन देना पडता है। उत्पादन की अवस्था मे सहायता देने से उम्मीद है कि उत्पादन के सगठन के प्रति ग्रामीण समाज मे दिलचस्पी पैदा होगी।

श्रम विस्थापन रोकना

फिलहाल खादी के अधिकाश उत्पादन की जिम्मेवारी सामाजिक कार्यकर्त्ताओ पर है, जो खादी आन्दोलन मे उन दिनो से लगे है, जब महात्मा गाधी की प्रेरणा से इसका सचालन होता था। उन्ही लोगो ने महसूस किया कि अब ऐसा वक्त आ गया है, जब इस कार्य की मूल धारा सूत-उत्पादन केन्द्रो मे प्रवाहित हो और उन्होने बिक्री से अधिक उत्पादन पर जोर देने की स्थिति का स्वागत किया है। अब से वे अपनी सेवाएँ खुले दिल से ग्रामीण समाज की मर्जी पर अर्पित करेगे और उन्हे खादी कार्यक्रम को ग्रामीण सामाजार्थिक विकास योजना के अभिन्न अग के रूप मे सचालित करने की जिम्मेवारी खुद उठाने मे मार्गदर्शन देगे।

यह बात निसकोच कही जा सकती है कि जो लोग हाथ कताई और हाथ बुनाई को भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त कुटीर उद्योग होने के तर्क उपस्थित करते है, उन्होने अन्य ग्रामीण उद्योगो की उपयोगिता को कभी हेय नही कहा है। हमारी अर्थ-व्यवस्था के इस क्षेत्र की हाल की गतिविधियो को समझनेवाले यह जानते है कि खास तौर से विभिन्न किस्मो के ग्रामीण उद्योगो की उन्नति को योजना आयोग के तत्वावधान मे एक सुगठित आधार प्रदान करने के लिए ग्रामीण उद्योग

आयोजन समिति का गठन करने की बात १९६२ के शुरू मे श्री जयप्रकाश नारायण की ओर से आयी थी, जो पिछले कई वर्षो से खादी आन्दोलन के महान समर्थको मे है। अगर कुछ उद्योगो मे नयी तकनीके अपनाने की कोशिश नही की गयी है–जैसा कि हाथ करघे की जगह शक्ति करघे का प्रयोग आदि–तो इसके पीछे महज एक ही सहज इच्छा है कि दीर्घ स्तर पर श्रम-विस्थापन को रोका जाय और इस प्रकार उन लोगो की सख्या बढाने की स्थिति से बचा जाय, जिनके लिए काम का बन्दोबस्त करना है।

गाधीजी मात्र खादी को ही शत प्रति शत स्वदेशी वस्त्र महज एक इस भाव से समझते थे कि जो हमारे सर्वाधिक निकट है, उनकी सेवा की जाय। आज की परिस्थितियो मे सर्वोत्तम सेवा यही है कि यह सुनिश्चित किया जाय कि पारम्परिक उद्योगो मे लगे लोग उखड कर कही अपने भाग्य के भरोसे भटकने न लगे। इस स्वदेशी भावना से हमारे अन्दर उन पारम्परिक उद्योगो की वस्तुओ को सरक्षण प्रदान करने की महज प्रेरणा ही उत्पन्न नही होनी चाहिए, बल्कि राज्य तथा राज्य के निर्देश मे समाज के कुछ सर्वाधिक कमजोर वर्गो के उत्पादन और सृजनात्मक प्रयासो को जीवित रखने तथा मजबूत बनाने के प्रयासो के प्रति सराहना व समर्थन के भाव भी उत्पन्न होने चाहिए।

बम्बई . २९ दिसम्बर १९६३

शिक्षा ने अभी तक प्रविधि को मानवीय माध्यम के रूप मे स्वीकार नहीं किया है। यह विचार कि अगर इतिहासकार नही बनना है तो इतिहास पढ़ने मे कोई तुक नही है, हेय समझा जायेगा–और ऐसा समझना सही भी है। किन्तु यह समझना कि अगर आपको प्राविधिज्ञ नही बनना है तो प्रविधि सीखने से क्या लाभ, पूर्णत स्वाभाविक प्रतीत होता है। पर वस्तुतः ऐसा खयाल भी हेय है; क्योकि कोई भी व्यक्ति यदि प्रविधि के सिद्धान्त अर्थात् काम करने के सुव्यवस्थित ज्ञान को उपयोग मे लाने की कला और विज्ञान के बारे मे कुछ जानता नही है तो वह अपने आपको पर्याप्त रूप से शिक्षित कहने का अधिकारी नही है।

—सर एरिक ॲशबी. 'इन्वेस्टमेण्ट इन मैन', न्यू साइन्टिस्ट, लन्दन।

हाथ कागज उद्योग में निस्यन्दक पत्र का उत्पादन

सदाशिव राव और बालचन्द्र मा. अग्शीकर

वैज्ञानिक और औद्योगिक कार्यों के लिए निस्यदक पत्र की बड़ी माग है। इग्लैण्ड और जर्मनी मे इसका उत्पादन हस्त प्रक्रिया से होता है। हमारे देश में जितने भी निस्यदक पत्रों का इस्तेमाल किया जाता है अभी तक वे आयात किये जाते रहे है और अब आयात पर रोक लगाने से उनका मिलना दुर्लभ हो गया है। निस्यंदक पत्र के निर्माण में विशिष्टता प्राप्त करनेवाले हाथ कागज केन्द्र यह कमी पूरी कर सकते है।

हाथ कागज उद्योग मे ऊँची जात के जिन कागजों का लाभदायक रूप मे उत्पादन किया जा सकता है उनमे एक निस्यदक पत्र (फिल्टर पेपर) भी है, जिसकी वैज्ञानिक और औद्योगिक कार्यों के लिए बहुत माग है। निस्यदक पत्र का उत्पादन इग्लैण्ड और जर्मनी मे हस्त प्रक्रिया द्वारा होता है। इसके साथ ही, 'सेरा' तथा 'वैक्सीन' के विसक्रमित निस्यदन अथवा फलो के रस व पेय पदार्थों के लिए निस्यदक-उपधान (फिल्टर पैड) और प्रयोगशालाओं मे स्नेह, वसा आदि के निस्सारण के लिए निस्यदक थिम्बल भी बनाये जाते हैं। भारत मे अब तक आयात किये गये निस्यदक पत्रो का उपयोग होता रहा है और हाल ही मे आयात पर लगी रोक-थाम के फल स्वरूप वे दुष्प्राप्य हो गये हैं। निस्यदक पत्र के उत्पादन मे विशेषता हासिल कर रहे हाथ कागज केन्द्र आगे आकर अब तक जिन भातो के कागजो का आयात किया जाता रहा है प्राय उन सभी का उत्पादन कर बेच सकते है।

मानक-गुण

निस्यदक पत्र असज्जीकृत यानी साइजिग नही किया हुआ विशुद्ध सैलूलोज से बना अवशोषक कागज होता है। सैलूलोज अत्यधिक विशुद्ध होनी चाहिए। उसमे कम से कम ९५ प्रति शत ऐल्फा सैलूलोज होना चाहिए। इस मे थोडा-सा अपचायक गुणधर्म, ० ५ से अधिक नही, ६ और ८ के बीच **पी एच** अक और थोड़ी-सा राख-अश होना चाहिए। ये कागज कई श्रेणी की सरध्रता मे बनाये जाते हैं ताकि निस्यदन के समय विभिन्न आकार के अवक्षेप को रोक सके। अत निस्यदक पत्र के निर्माण मे अन्य उच्च किस्म के कागजो की बनिस्बत अधिक तकनीकल ज्ञान और सावधानी की जरूरत है। उत्पादन केन्द्र मे लुग्दी के स्तर-नियत्रण और तैयार माल के मानकीकरण हेतु एक छोटी प्रयोग-शाला होनी ही चाहिए। इन केन्द्रों के प्रबन्धको को कम से कम विज्ञान का स्नातक तो होना ही चाहिए और फिर उन्हे उच्च किस्म के कागज निर्माण तथा मानकीकरण मे सामान्य तथा निस्यदक पत्र मे विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए।

निस्यंदक पत्र की मानक किस्में

निस्यदक पत्र के अधिकाश विदेशी निर्माताओं का विभिन्न किस्म के कागजो के वर्गीकरण का अपना मानक और तरीका है। तथापि सभी निस्यदक पत्र निम्न दो प्रकाशित मानक विशिष्टीकरण के अन्तर्गत आ सकते है (१) ए एस टी एम मानक विशिष्टि-करण (अमेरिकन सोसायटी फॉर टेस्टिंग मैटेरियल द्वारा प्रस्थापित मानक), और (२) ताप्पी मानक विशिष्टीकरण (टेकनीकल एसोसिएशन फॉर पल्प एण्ड पेपर इण्डस्ट्री, न्यूयॉर्क द्वारा प्रस्थापित मानक)। निस्यदक पत्र के मानकीकरण हेतु उपयोगी मानक विशिष्टीकरणो का सक्षिप्त विवरण इस लेख के अत मे दिया गया है।

ए एस टी एम मानक ने निस्यदक पत्र के लिए

निम्न श्रेणियाँ निश्चित की प्रकार १– सामान्य निस्यदन कार्य तथा गुणात्मक विश्लेषणात्मक के लिए उपयोग किया जानेवाला निस्यदक पत्र। इस किस्म को चार वर्गों मे विभक्त किया जाता है (अ) मोटे और श्लेषीय अवक्षेपो के लिए, (आ) मध्यम आकार के अवक्षेपो के लिए, (इ) महीन अवक्षेपो के लिए, और (ई) महीन अवक्षेपो के लिए कडे कागज। प्रकार २– परिमाणीय विश्लेषण के लिए उपयोग किया जानेवाला और वैसी लुग्दी से बना निस्यदक पत्र, जोकि राख-अश को कम करने के लिए अम्ल से दो बार धुला हो। इन्हे 'राख-रहित निस्यदक पत्र' भी कहते है। इसे भी पुन चार वर्गो मे बाटा जाता है– उ, ऊ, ओ और औ, जोकि सरन्ध्रता मे प्रकार १ के क्रमश वर्ग अ, आ, इ और ई समान है।

उपकरण

निस्यदक पत्र के लिए जिन मूल सरजामो की आवश्यकता है, वे बहुत-कुछ खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के हाथ कागज उद्योग योजनान्तर्गत बडी और मध्यम किस्म की इकाइयो के लिए जो उपकरण निर्दिष्ट है, वैसे ही है। इन उपकरणो मे उगलनेवाले किस्म का पाचक-यत्र (डाइजेस्टर), एक शक्ति-चालित हॉलैण्डर लूग्दी कूटक, एक शक्ति-चालित कैलेण्डर रोल, एक बडा स्क्रू-प्रेस, कागज ऊठानेवाले साचे, वाट और कागज काटनेवाली मशीन शामिल होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त जिस सरजाम की आवश्यकता होगी उसमे योग्य लुग्दी धुलाई के लिए हायड्रो-एक्स्ट्रैक्टर (जैसा कि कपडा धुलाई उद्योग मे इस्तेमाल किया जाता है) और लुग्दी के अम्लीय शोधन के लिए अम्लाभेद्य एपोक्सी-रेजिन पेट से रगा लकडी का वाट अथवा पोलीथीन टैंक की जरूरत होगी। निस्यदक पत्र के निर्माण मे अधिक मात्रा मे शुद्ध जल की आवश्यकता पडती है, जैसे अन्तिम प्रक्रियाओ मे आसुत जल की। आसुत जल तैयार करने के लिए जल भभका की जरूरत पडती है, जिसकी क्षमता तीन से पाच गैलन जल प्रति घटा बिजली अथवा छोटे-से प्रेसर-बायलर से प्राप्त वाष्प से गर्म करने की होनी चाहिए।

आसुत जल के बदले, जिसे तैयार करना खर्चीला है, खनिज निकाले जल का इस्तेमाल कर सकते है। इसके लिए जल को खनिज रहित करनेवाले उपकरण की जरूरत पडेगी, जिसमे से नल का सामान्य मृदु जल केशन्स और एनियन्स दूर कर, जोकि उपकरण मे लगे जियोलाइट्स, विशेष रेजिन, कार्बियोन आदि द्वारा सोख लिये जाते है, शुद्ध जल प्राप्त किया जाता है। कागज हाथ से उठाया जाता है, लेकिन ताव का मानक वजन और मोटापन सुनिश्चित करने के लिए 'पोर मोल्ड' किस्म के वाट का इस्तेमाल करना जरूरी है, जैसा कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला मे एक विकसित गया है। इस वाट मे पानी की बहुत बचत होती है, जोकि जहा आसुत जल इस्तेमाल किया जाता है वहा के लिए अत्यावश्यक है। कागज सुखाने के लिए एक विशेष कमरे की जरूरत होगी, जहा कि तार पर लटका कर हवा से कागज सुखाने होगे। सामान्य पद्धति से दीवाल पर कागज सुखाने का परिणाम यह निकलता है कि उसका राख-अश बढ जाता है, जिस कारण इसे निस्यदक पत्र के लिए नही अपनाया जा सकता।

निर्माण प्रक्रिया

निस्यदक पत्र निर्माण के लिये कच्चे माल के रूप मे सफेद कपडे की कतरनो (अथवा गजियो की कतरनो) का उपयोग किया जाता है, जोकि शुद्ध सूती वस्त्रो से प्राप्त की जाती है और यथा सम्भव वे एक ही किस्म और मूल की होनी चाहिए। कपास का भी इस्तेमाल किया जाता है। कतरना को हाथ से चुनना होगा ताकि रगीन टुकडे तथा अन्य किस्म के प्राकृतिक और मनुष्य निर्मित वस्त्र टुकडो को निकाला जा सके। वैज्ञानिक इस्तेमाल हेतु तैयार किये जानेवाले निस्यदक पत्र के लिए श्वेतीकरण की हुई कतरने ही चाहिए। तथापि

औद्योगिक निस्यदन के लिए भूरा निस्यदक पत्र सफेद और रगीन कतरनो को मिला कर बनाया जा सकता है। चुनिन्दा कतरनो को पाचक यत्र मे ५ प्रति शत (चिथडो के वजन का) दाहक सोडे के साथ दो घटे उबालते है अनन्तर धोते है और नम अवस्था मे ८ से १० सप्ताह तक अम्बार लगाते है। इस अवधि मे छोटे-छोटे फफुदे उग आते है, जो कि रेशो को मुलायम कर देते है। फिर कतरनो को नल-जल मे अच्छी तरह धोते है, हायड्रो एक्स्ट्रेक्टर के जरिये उनका जल निकालते है और सुखाते है। फिर उनके और छोटे-छोटे टुकडे करते है, जो करीब १ वर्ग इच के हो जाते है, और हॉलैण्डर बीटर मे नल-जल मिला कर बेलन के सामान्य दबाव पर, बिना कटक योगजो अथवा रसायनो के उपयोग के, कूटते है। कूटने की यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि लुग्दी स्कापर-रीग्लर मुक्तता परीक्षक मे परीक्षण किये जाने पर करीब **30 एस. आर.** मुक्तता न दिखाने लगे।

इस शुद्धता की लुग्दी वैसे निस्यदक पत्र तैयार करती है जोकि मोटे और श्लेषीय अवक्षेपो को छानने के लिए आवश्यक है (वर्ग अ और उ)। महीन अवक्षेपो को छानने के लिए लुग्दी को एस आर के और उच्च डिग्री तक कूटना पडेगा। इस कार्य के लिए कोई मानक निश्चित नही किया जा सकता, क्योकि किस हद तक कुटाई होगी और शुद्धता रहेगी, वह कई कारको पर निर्भर करेगी और उनका निर्णय और मानकीकरण उत्पादन केन्द्र मे परीक्षण दल बना कर तथा इस तरह तैयार किये गये पत्र का ए एस टी एस मानक से सरघ्नता के लिए परीक्षण कर करना पडेगा। कूटी हुई लुग्दी बाद मे धोयी जाती है और ५ से ७ प्रति शत ब्लिचिग पावडर के साथ श्वेत की जाती है। श्वेतीकरण टब या टकी मे करना अच्छा है। श्वेतीकरण के बाद और पूर्णत धोने के पूर्व लुग्दी को ० १ प्रति शत हायड्रोक्लोरिक एसिड के साथ शोधन करने की जरूरत है, जोकि रेशो के राख अश को कम कर देता है।

राख-रहित निस्यदक पत्र (प्रकार २) के निर्माण के लिए दोहरी अम्लीय धुलाई होनी चाहिए, जिसमे दूसरी धुलाई एपोक्सी-रेजिन से रगी लकडी की टकी अथवा पोलीथिन टकी मे बहुत ही हल्के हायड्रोक्लोरिक एसिड और हायड्रोक्लोरिक एसिड का घोल मिला कर होनी चाहिए। तैयार पत्र को सुखाने के बाद उसे सामान्य तीव्रतावाले सल्फूरिक एसिड मे थोडे समय सुखाने से और फिर से सुखाने के पूर्व जल से अच्छी तरह धोने से कडा निस्यदक पत्र मिलता है। आम्ल-शोधित लुग्दी को प्रथम नल-जल से और अन्तत आसुत (अथवा खनिज रहित) जल से तब तक धोते है जब तक कि वह क्लोराइड रहित न हो जाय। क्लोराइड का अश जानने के लिए सिल्वर नाइट्रेट् घोल परीक्षण करते है। **पी. एच.** सूचकाक मे इसकी नकारात्म प्रतिक्रिया होनी चाहिए।

कागज उठाने का काम हाथ से किया जाता है और उस मे पोर-मोल्ड का इस्तेमाल किया जाता है जिससे ५ प्रति शत से अधिक वजन और मोटापन व भिन्नता का कागज न उठे। इस कार्य के लिए आसुत अथवा खनिज रहित जल अत्यावश्यक है। साचे मे फोसफर-ब्रॉज-स्क्रीन लगा होना चाहिए। उठाये गये गीले कागज के तावो के बीच अच्छी तरह धुले कपडे अथवा फैल्ट रहते है। स्क्रू-प्रेस मे १०० से १५० तावो को अच्छी तरह दबाते है। उसके बाद उन्हे कपडे (अथवा फेल्ट) सहित लकडी अथवा प्लास्टिक क्लिपो के जरिये तार पर लटका देते है। सूखे कागजो की कैलेण्डरिग और कटाई सामान्य तरीके से की जाती है। निस्यदक पत्र न सिर्फ ५०० तावो (माग के अनुसार आकारो मे) के रीमो मे बिकते है बल्कि विभिन्न मानक व्यास के गोल आकारो मे १०० ताव के कूट के बक्सो मे भी बिकते है। गोल आकार मे काटने के लिए यत्र की आवश्यकता होती है। एक बैच तैयार हो जाने पर तब तक के लिए उसे अलग रख दिया जाता है, जब उसके नमूने पर प्रयोगशाला मे परीक्षण न हो जाये। अन्तिम पैकिग मे बक्स पर बैच नबर, श्रेणी, कागज का आकार (या गोलाई का व्यास) और राख-रहित

पत्रो के मामलो मे उसके नमूने मे प्राप्त राख अश की सही मात्रा दर्ज होती है।

विशिष्टीकरण

सामान्य तौर पर किस्म १ के वर्ग अ निस्यदक पत्रो की अन्य पत्रो से बहुत अधिक माग है। जो उत्पादन केन्द्र निस्यदक पत्र मे विशिष्टीकरण करते है, उन्हे प्रथम इस श्रेणी का पत्र अच्छे स्तर पर बनाना ही चाहिए। जोरदार विश्वास हो जाने के बाद उच्च और राख-रहित श्रेणी के पत्र तैयार करने की कोशिष करनी चाहिए। फिल्टर थिम्बल का उत्पादन (जोकि प्रकार १ के वर्ग अ के समान है) आसान है। इस कार्य के लिए केन्द्रीय अनुसधानशाला मे विशेष साचा तैयार किया गया है। कीटाणु रहित और अन्य निस्यदन के लिए निस्यदक उपधानो का उत्पादन अधिक कठिन है और इसके लिए परीक्षण की विशेष प्रक्रिया की जरूरत होती है, जिसमे कीटाणु सवर्धन का उपयोग किया जाता है। यह कार्य अच्छा अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद ही करना चाहिए। कीटाणु अभेद्य निस्यदक उपधान सामान्यतया या तो शुद्ध एसबेसटस लुग्दी से बनाये जाते है अथवा सैलूलोज और एसबेसटस लुग्दी को मिला कर, ताकि वे अधिक गीलापन सह सके।

नियंत्रण प्रयोगशाला

निस्यदक पत्र का निर्माण करनेवाले प्रत्येक केन्द्र के पास नियत्रण और मानकीकरण कार्य के लिए उपकरण और कार्यकर्त्ताओ से सुसज्जित प्रयोगशाला होनी चाहिए। निस्यदक पत्र मानकीकरण के लिए महगे भौतिक परीक्षण यत्रो की आवश्यकता नही है, जिनका इस्तेमाल लिखने और छपाई के कागजो के लिए किया जाता है। परन्तु उनमे भी अपवाद है–(१) गीलापन, स्फूटन सामर्थ्य जाचने के लिए मलेन स्फूटन सामर्थ्य परीक्षक, (२) कागज की मोटाई नापने के लिए डॅड वेट डेस्क माइक्रोमीटर, (३) लुग्दी के लिए स्कॉपर रीगलर मुक्तता परीक्षक, और (४) कीरनर किस्म का विघटक। हमारे देश मे तैयार किये गये औजार आसानी से ताप्पी मानक के मद (१), (३) और (४) का निर्माण कर सकते है। अन्य परीक्षणो की तरह यह उपकरण प्रयोगशाला मे इस्तेमाल किया जानेवाला शीशे का बर्तन होता है, जोकि सहज ही बै ाया जा सकता है और रसायन भी सहज ही प्राप्त हो जाते है। उपकरण का विवरण प्रकाशित मानको मे दिया गया है।

प्रकाशित मानक

निस्यदक पत्र के लिए निम्न मानक विशिष्टीकरण सन्दर्भ के लिए अत्यावश्यक है। प्रत्येक के अतर्वस्तु की सक्षिप्त जानकारी यहा दी जा रही है।

१ ए एस. टी. एस मानक डी ११००–५२ विशिष्टीकरण का उपयोग रसायन विश्लेषण मे इस्तेमाल किये जानेवाले निस्यदक पत्रो के लिए किया जाता है। (इसका विवरण ऊपर दिया गया है)। गोलाई के लिए मानक व्यास भी दिये गये है। ऐल्फा सैलूलोज कापर नम्बर, पी एच वैल्यू, और राख अश की सीमाए भी निर्धारित है। नमूना बनाने की विधि भी बतायी गयी है। अवक्षेपो के छनने, जल प्रवाह का समय, राख अश और गीलापन स्फूटन सामर्थ्य निश्चित करने के तरीके भी बताये गये है और विभिन्न श्रेणीयो की सीमाएँ निर्धारित है।

२ ताप्पी मानक टी–४२९ एम–४८ यह निस्यदक पत्र लुग्दी मे ऐल्फा, गामा, बीटा, सैलूलोज की मात्रा निश्चित करने का तरीका बताता है।

३. ताप्पी मानक टी–४३० एम-५२ यह निस्यदक पत्र लुग्दी का कापर नम्बर निश्चित करने का तरीका बताता है।

४ ताप्पी मानक टी–४३५ एम –५२ यह पत्रो मे हायड्रोजन सकेन्द्रण (पी एच) निश्चित करने का तरीका बताता है।

बम्बई ५ दिसम्बर १९६१

ग्रामीण औद्योगीकरण के लाभ

भारत भूषण कंसाल

वर्तमान दुरावस्था मे सुधार लाने के लिए ऐसा कोई भी निदान प्रभावक नहीं हो सकता जिसमें कृषि क्षेत्र की अतिरिक्त जन-शक्ति को लगाने के लिए विभिन्न प्रकार के काम-धधों की व्यवस्था न हो।

आधुनिक उद्योग जगत राकेट की गति से आगे बढ रहा है। ऐसी अवस्था मे क्या हमारे लिए यह उचित है कि हम अपनी पुरानी परम्परागत बैलगाडी से ही चिपके रहे? क्या हमें भारत को एक अल्प विकसित देश कहा जाना पसन्द है? हमारे आयोजको, अर्थशास्त्रियो और यहां तक कि सामान्य व्यक्ति के मन मे भी ये प्रश्न सर्वाधिक रूप से उठते हैं। औद्योगिक विकास के इतिहास से पता चलता है कि पश्चिम के उन्नत देश यान्त्रीकरण से आगे बढे हैं। तब प्रश्न उठता है कि क्यो न भारत भी रूढिवादिता की जजीर तोड फेंके और जमाने की रफ्तार के साथ आगे बढे? तथापि, यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत एक अल्प-विकसित देश है, जिसमे घोर गरीबी, निरक्षरता, निम्न जीवन-स्तर, बचत और विनियोग की अल्प दर, कुशल तथा सक्षम श्रमिको का अभाव, प्रभावक माँग की कमी और अत्यधिक जन-सख्या का दबाव है।

सन् १९६१ की जनगणना के प्रतिवेदन से भविष्य के सम्बन्ध मे एक सकटपूर्ण सकेत मिलता है। सन् १९६१ मे ससार की जन-सख्या तीन अरब थी, जिसमे से भारत की आबादी ४३ करोड ८० लाख थी। इस प्रकार हम भारतवासी विश्व जन-सख्या के एक-सप्ताश है। भारत का भूमि-क्षेत्र ससार के समस्त भूमि-क्षेत्र का २ ४ प्रति शत है और जन-सख्या ससार की आबादी का १४ ५ प्रति शत। अत भूमि-क्षेत्र के आधार पर भारत मे जन-सख्या का भार ससार के अन्य क्षेत्रो की तुलना मे बहुत अधिक है। विश्व की जन-सख्या १९५० मे २ अरब ५० करोड थी, वही गत दशक मे बढ कर तीन अरब हो गयी। इस प्रकार २० प्रति शत वृद्धि हुई। इसके समक्ष उक्त अवधि मे भारत की जन-सख्या मे २२ प्रति शत वृद्धि हुई।*

योजना आयोग का मत

इस प्रकार देश मे आर्थिक तथा सामाजिक हालातो को देख कर कोई भी यह कह सकता है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था विकसित देशो की अर्थ-व्यवस्था से ठीक विपरीत दिशा मे है। हमारी आर्थिक समस्याओ का एकमात्र हल ग्रामीण औद्योगीकरण का मार्ग अपनाने मे निहित है, जोकि हमारे विशाल अतिरिक्त श्रम, उत्पादन के अयोग्य साधनो तथा अल्प पूँजी स्रोतो के अनुकूल है, और इस प्रकार किसान को गैर-मौसमी, अश कालीन और पूरक रोजगारी प्रदान करता है। इसमे उसकी आय भी बढेगी और आम जरूरत की उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करने मे मदद मिलेगी। योजना आयोग भी ग्रामीण उद्योगो के विकास को बहुत महत्व देता है जोकि इस सम्बन्ध मे पहली, दूसरी और तीसरी योजना मे किये गये निम्नलिखित उल्लेखो से परिलक्षित होता है।

प्रथम योजना "इस देश की कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था मे लघु स्तरीय उत्पादन के महत्व पर शायद ही जोर देने की आवश्यकता हो। जनतात्रिक तरीके

---

* अखिल भारत कॉंग्रेस कमेटी की पत्रिका आर्थिक समीक्षा के जुलाई १९६३ के अक मे ससद सदस्य श्रीरामा रेड्डी का लेख—भारत मे कृषि विकास।

से आर्थिक विकास के लिए यह परमावश्यक है कि अधिकारो के स्रोतो और उत्पादन के साधनो का विस्फुरण हो, जिससे लोगो मे नयी शक्ति उत्पन्न होगी और वे योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था के सचालन मे सक्रिय रूप से भाग ले सकेगे, फिर चाहे उनका कार्य-क्षेत्र कितना ही छोटा क्यो न हो। अब यह व्यापक तौर पर स्वीकार कर लिया गया है कि अत्यधिक केन्द्रीकरण—जोकि अभिक्रम और उद्यमशीलता को मृतप्राय बना देता है—की खामियो को दूर करने के लिए स्थानीय स्वशासन तथा आर्थिक शक्तियो के विस्फुरण का होना अत्यावश्यक है। लघु उद्योग सहायक अथवा वैकल्पिक काम-धधे प्रदान करने तथा स्थानीय कच्चे माल का उपयोग करने या स्थानीय बाजारो को माल की पूर्ति करने के लिए भी अत्यावश्यक है।"

द्वितीय योजना: "ग्रामीण तथा लघु उद्योग अपने विभिन्न रूपो मे विभिन्न आर्थिक व्यवस्था तथा राष्ट्रीय आयोजन दोनो मे ही अभिन्न व स्थायी अग है। ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु उद्योगो को विकसित करने का मुख्य उद्देश्य है रोजगारी के अवसरो का विस्तार करना, आय की वृद्धि करना तथा जीवन-स्तर ऊँचा उठाना और एक सन्तुलित तथा समन्वित ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना। आवश्यक रूप से ही ग्रामीण क्षेत्रो मे परम्परागत उद्योगो पर तुरन्त ध्यान देना पडेगा।"

तृतीय योजना. "प्रथम और द्वितीया योजना मे रोजगारी विस्तार, अधिक उत्पादन और अधिक न्याय सगत वितरण की दिशा मे ग्राम तथा लघु उद्योगो ने उल्लेखनीय योगदान दिया है। तृतीय योजना मे और भी अधिक विस्तृत व व्यापक कार्य पूरे करने के सन्दर्भ मे उनकी भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण होगी प्राविधिक परिवर्तनो की गति इस प्रकार नियमित करनी पडेगी कि दीर्घ स्तरीय प्राविधिक बेरोजगारी और उसके फलस्वरूप लाखो लोगो को होनेवाली तकलीफो व कठिनाइयो से बचा जा सकें। इसलिए खादी और ग्रामोद्योगो की समस्याओ पर निरन्तर विचार करते रहने की और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे विकेन्द्रित उद्योगो को एक अत्यावश्यक तथा स्थायी तत्व के रूप मे पूर्ण क्षमता प्राप्त करवाने के लिए आवश्यक कदम उठाने की आवश्यकता है।"

लघु उद्योगों की बहुमुखी भूमिका

जिन आधारो पर लोग ग्रामीण उद्योगो के विकास कार्यक्रम का समर्थन अथवा विरोध करते है, उन्हे सक्षेप मे इस प्रकार रखा जा सकता है

अ जो इन उद्योगो के विकास के पक्ष मे है वे कह सकते है कि मौजूदा अवस्थाओ मे, जोकि अधिकाशत अर्थ-व्यवस्था के अल्प विकसित स्वरूप को और जिस सक्रमण की प्रक्रिया से होकर वह गुजर रही है उस पर प्रकाश डालती है, लघु उद्योगो के अनेक कार्य है, जैसे (१) रोजगारी की दृष्टि से देखने पर वे पूर्ण अथवा अल्प समय का रोजगार और चन्द परिस्थितियो मे आर्थिक दृष्टि से सकट मे पडे लोगो को राहत प्रदान करते है, (२) उत्पादन के विचार से वे बडे उद्योगो के उत्पादन के पूरक है और इस प्रकार उपभोक्ता सामानो तथा लघु उत्पादको की वस्तुओ की पूर्ति मे वृद्धि करते है, (३) वे सम्भवत अल्प विकसित देश मे अत्यन्त दुर्लभ स्रोत—मतलब यह कि पूंजी—का लाभदायक रूप से उपयोग करने मे सहायता प्रदान करते है, और (४) सृजनात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति मे सुविधा प्रदान करने और स्वतत्र कारीगरो तथा लघु उद्योग-पतियो की परम्परा को कायम रखने तथा मजबूत बनाने के लिए उनका उपयोगी स्थान है।

आ जो लोग ऐसे उद्योगो के पक्ष मे नही है वे कहते है कि (१) उनमे निम्न कोटि तथा कई मामलो मे तो अप्रचलित व पुरानी उत्पादन तकनीको का व्यवहार होता है और यह कि पूँजी की प्रति इकाई के उपयोग से प्राप्त उत्पादन की दृष्टि से देखने पर यह कथन भी भ्रामक मालूम पडता है कि ये उद्योग पूजी का लाभदायक रूप मे उपयोग करते है, (२) इन उद्योगो से उत्पादन मे जो योगदान मिलता है उसके लिए किसी हद तक राष्ट्र

को कीमन चुकानी पडती है, क्योंकि कम कुशल उत्पादन प्रणाली के लिए बेहतर तथा अधिक कुशल उत्पादन प्रणाली का परित्याग किया जाता है, (३) इन उद्योगो म कर्मी को अपेक्षाकृत कम पारिश्रमिक स्वीकार करना पडता है, (४) आर्थिक उन्नति की प्रक्रिया से स्रोतो का अनुकूलतम, न कि अधिकतम, उपयोग सुनिश्चित होता है, इसलिए यह आशा करना ठीक नही होगा कि प्रगति की अवस्थाओ के अन्तर्गत प्रत्येक स्रोत का पूर्ण उपयोग होगा, और (५) अस्थायी बेकारी तथा अपने पैरो पर खडे होने में असमर्थ अक्षम उद्योगो का अवसान आदि प्रगति पथ मे 'मील के पत्थर' है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण वांछनीय

इस विवाद मे एक ऐसा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाना उचित होगा जो निम्न बातो के अनुकूल हो

(१) एक करोड मे अधिक व्यक्ति, पूर्णत अथवा अशत अपनी आजीविका के लिए लघु उद्योगो पर निर्भर करते है। इस बडी सख्या मे लोग सरलता से दूसरे अधिक लाभकारी उद्यम में नही लगाये जा सकते और इस प्रकार का परिवर्तन करने का कोई प्रयास किया गया तो उसके परिणाम-स्वरूप अनेक लोगो की रोजगारी ही नही छिन जायेगी, बल्कि उससे इस उद्योग मे लगी कुशलता और पूँजी की बहुत बडी मात्रा मे हानि भी होगी, (२) तकनालॉजी के परिवर्तनो से बेरोजगार हुए लोगो को रोजगार प्रदान करने के लिए यथोचित कार्यवाही का उत्तरदायित्व राज्य सत्ता को लेना पडेगा, (३) ग्रामीण उद्योग ऐसे साधनो में से है जिनके द्वारा जन-समूह के कुछ ऐसे तबको के लिए काम का अवसर प्रदान किया जा सकता है जिनकी आर्थिक स्थिति खराब है जैसे खेत मजदूर, शिक्षित बेकार, विस्थापित लोग आदि, (४) यह तथ्य कि बहुत कम आय होने के बावजूद बहुत बडी सख्या मे लोग सूत कताई जैसे हल्के औद्योगिक कामो को भी अपना लेते है, इस बात पर प्रकाश डालता है कि फिलहाल कोई अधिक लाभदायक रोजगारी का जरिया तुरत-फुरत उपलब्ध नही है, और (५) लघु उद्योगो मे ३० लाख से अधिक लोगो को रोजगार प्रदान करनेवाला हाथ करघा उद्योग शायद सबसे बडा क्षेत्र है और सम्भवत वह उत्पादन मे भी सर्वाधिक योगदान देता है, क्योंकि घरेलू उपभोग के लिए कुल वस्त्रोत्पादन का ३० प्रति शत हाथ करघो पर तैयार होता है।

उपर्युक्त व्याख्या का तात्पर्य यह है कि इस रोग के लिए कोई भी ऐसी दवा कारगर नही होगी जिसमे विविध उद्यमो का, जिनमे कृषि से अतिरिक्त जन-सख्या हटा कर जीवन-यापन के अन्य साधन प्राप्त करने की ओर प्रेरित की जा सके, समावेश न हो।

लघु स्तरीय उद्योग

बडे तथा ग्रामोद्योगो के मध्य अन्य उद्योग है जो साइकल, रेडियो के पुर्जे, सामान्य विद्युत सामान, चाकू-छुरी, ताले, बटन, कृषि सरजाम आदि बनाते है। ये उद्योग यत्र, पूँजी और कच्चे माल का लघु स्तर पर इस्तेमाल करते है। इसलिए इन्हे लघु स्तरीय अथवा लघु उद्योग कहा जाता है। और फिर, देश भर मे ऐसे कारीगर और कलाकार फैले हुए है जो अपने हाथो से बहुत सुन्दर सामान बनाते है। इसमे धातु के बर्तन, गुडियाँ और खिलौने, पत्थर और सगमरमर पर खुदाई, कलात्मक मिट्टी-बर्तन, चटाइयाँ और कालीन तथा फैशनवाली चमडे की वस्तुएँ सम्मिलित है। ये हमारे चन्द मूल्यवान शिल्पो मे है।

सक्षेप मे, ये मुख्यत स्थानीय बाजारो के लिए स्थानीय कच्चे माल से और वह भी साधारण तकनीको का प्रयोग कर सामान तैयार करते है। वस्तुत यह तय करने के लिए कि अमुक उद्योग बडा उद्योग है या छोटा, अनेक कसौटियाँ सुझायी गयी है। लघु उद्योग का तात्पर्य है एक ऐसी औद्योगिक इकाई जिसमे शक्ति का प्रयोग किया जाता हो और ५० से कम व्यक्ति काम करते हो अथवा जिसमे विद्युत का प्रयोग नही किया जाता हो और १०० से कम व्यक्ति काम करते हो तथा उसकी सम्पत्ति पाँच लाख रुपये से अधिक न हो। हाल ही मे, इस परिभाषा मे सशोधन किया गया है, जिसमे कर्म-

चारियो की सख्या का जिक्र नही है और कसौटी यह रखी गयी है कि सकल अचल पूँजी (ग्रॉस फिक्सड कैपीटल) पाँच लाख रुपये या उससे कम हो। यह इसलिए किया गया है कि लघु उद्योग द्वारा प्रदत्त रोजगारी की मात्रा पर से बन्धन हटाया जा सके। इस प्रकार के उद्योग का मुख्य उद्देश्य है रोजगारी मे वृद्धि करना और इसलिए यह सोचा गया है कि काम मे लगे कर्मचारियो की सख्या पर से प्रतिबन्ध खत्म किया जाय। अब लघु उद्योग का अर्थ है पॉच लाख रुपये अथवा उससे कम अचल पूँजी सम्पत्तिवाले सभी औद्योगिक सगठन।

उपर्युक्त परिभाषा मे एक बहुत बडा समूह आ जाता है जो स्वयम् विजातीय है अर्थात् उसमे कई तरह के उद्योग आते है लघु स्तरीय उद्योगो को दो मुख्य प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, कुटीर उद्योग, जो परम्परागत उत्पादनो के लिए परम्परागत तरीको का इस्तेमाल करते है। ये गॉवो मे स्थित है और घरेलू उद्योगो के रूप मे चलाये जाते है (जिनमे मजदूरी पर बहुत कम या कोई श्रमिक नही रखा जाता)। ये मुख्यत अपना कच्चा माल स्थानीय स्रोतो से प्राप्त करते है और अपने उत्पादनो को स्थानीय बाजारो मे बेचते है। सामान्यत ये उद्योग ग्रामीण, घरेलू तथा स्थानीय है और तकनीकी दृष्टि से पिछडे हुए। द्वितीय मुख्य प्रकार के लघु स्तरीय उद्योग पूर्णत भिन्न है। ये आधुनिक लघु अभियत्रण ('इजीनियरिग) और रासायनिक उद्योग है जो धातु के बर्तन, साइकल के सामान, सिलाई की मशीने, औजार, दाढी बनाने के लिए इस्तेमाल की जानेवाली पत्ती, इलेक्ट्रिक मोटर, चश्मो के फ्रेम और अन्य अनेक आधुनिक वस्तुओ का उत्पादन करते है। घरेलू उद्योगो से विपरीत ये उद्योग सामान्यत शहरो मे स्थित है। इनमे मजदूरी पर श्रमिक रखे जाते है और प्राय दूर से मगाये गये इस्पात तथा रसायनो जैसे कच्चे माल का इस्तेमाल होता है और इनके उत्पादनो की बिक्री बहुत दूर तक के क्षेत्रो मे होती है।

इन दो श्रेणियो के बीच माध्यमिक उद्योग हो सकते है, जो प्राय परम्परागत तकनीक का इस्तेमाल करके कमोबेश आधुनिक वस्तुएँ बनाते है, जिनमे जूते, फर्नीचर, ईटे, मोमबत्तियॉ और इस तरह के अन्य सामान है। ये मुख्यत हाथ से बनाये जाते है न कि मशीन से। ये भी श्रम-प्रधान, पूँजी बचतकारी तकनीके है।

इस प्रकार लघु स्तरीय उद्योग का क्षेत्र तकनीक, उत्पादन और इसके द्वारा उत्पन्न सामानो के प्रकार की दृष्टि से एक विषम क्षेत्र है। तथापि, प्राय ये श्रम-प्रधान है और इन्हे बहुत कम पूँजी स्रोत की आवश्यकता पडती है। किन्तु इनकी श्रम तथा पूँजी सघनता मे भी बहुत अधिक भिन्नता है। इन उद्योगो मे अनेक प्रकार की क्रियाशीलताएँ सम्मिलित है। इनमे खाद्य वस्तुओ, तबाकू के सामान, ऊन, रेशम और कपास के वस्त्र, लकडी और लकडी की वस्तुएँ, चमडा तथा चमडे की वस्तुएँ, मिट्टी के बर्तन, ईटे, शीशे तथा धातु की वस्तुएँ बनाना सम्मिलित है।

संगठन की वैयक्तिक विशेषता

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आकडो मे कुछ समायोजन करने के बाद श्री धर और लिण्डाल* ने यह हिसाब लगाया है कि इस वर्ग मे घरेलू उद्योग प्रधान रहे है और उनकी सख्या ५० लाख तथा उनमे रोजगार पानेवाले लोगो की सख्या १ करोड २० लाख रही है। पॉच से नौ व्यक्तियो को काम देनेवाले प्रतिष्ठानो की सख्या १ लाख ३० हजार और उनमे रोजगार पानेवाले लोगो की सख्या नौ लाख दस हजार रही, दस से उन्नीस व्यक्तियो को काम देनवाले प्रतिष्ठानो की सख्या ४३ हजार और उनमे रोजगार पानेवाले व्यक्तियो की सख्या पॉच लाख रही, बीस से उनचास व्यक्तियो को काम देनेवाले १८ हजार प्रतिष्ठान थे, उनमे काम करनेवाले लोगो की सख्या पॉच लाख साठ हजार रही, और ५० से ९९ तक लोगो को काम देनेवाले प्रतिष्ठान ४,६६० थे और उनमे काम करनेवाले लोग ३ लाख ४० हजार थे।

* पी एन धर और एच एफ लिण्डाल . दि रोल ऑफ स्माल इण्टर प्राइजेज इन इण्डियन इकनॉमिक डेवलपमेण्ट बम्बई, १९६१, के पृष्ठ ७ पर दी गयी तालिका देखिए।

कुटीर और लघु स्तरीय उद्योगों का विशिष्ट स्वरूप है, बडे उद्योगो के प्रमुख रूप मे अवैयक्तिक प्रबन्ध के विपरीत इनके सगठन तथा प्रबन्ध मे वैयक्तिकता का होना। कुटीर उद्योग सामान्यत पारिवारिक आधार पर चलाया जाता है तथा लघु उद्योग स्वामित्व के आधार पर और कभी-कभी साझेदारी के तौर पर सगठित किया जाता है, किन्तु शायद ही वह कभी कम्पनी के तरह के सगठन के आधार पर चलाया जाता हो। अधिकाशत उद्योग का मालिक खुद ही प्रबन्धक, तकनीज्ञ और वित्त दाता होता है। स्वामित्व तथा प्रबन्ध अधिकाश मामलों मे वस्तुत एक सम होता है। इन उद्योगो के मालिक स्वतत्र रहते है। इन उद्योगो के सचालन के लिए नियम और विधिया सगठित उद्योगो के नियम और विधियों मे कम है। इस तरह यह प्रणाली कानूनी रोक-थाम से मुक्त है। यह शीघ्र तथा त्वरित कार्यान्विय के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान करती है।

तथापि, उत्पादन की अधिक लागत के परिणाम स्वरूप इन उद्योगो की प्रतियोगिता की क्षमता पर बुरा प्रभाव पडा है। इसके सिवाय मध्यस्थ व्यापारी अथवा दलाल (मिडलमैन, ट्रेडर) का बहुत अधिक लाभाश भी जोडा जा सकता है। वास्तविक उत्पादक को दोनो तरह से हानि उठानी पडती है—कच्ची सामग्री तथा अन्य मदो के लिए उसे अधिक कीमत देनी पडती है और तैयार माल का उसे अलाभकारी मूल्य मिलता है। लागत कम करने, कार्यक्षमता बढाने और उसके द्वारा प्रतियोगिता की शक्ति मे अभिवृद्धि करने के लिए सभी दिशाओ मे एक साथ प्रयास करने से ये कठिनाइयाँ हल की जा सकती है तथा अवरोध दूर किये जा सकते है।

सरकारी नीति और प्रयास

राष्ट्रीय सरकार लघु उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए शुरू से ही प्रयत्नशील है। प्रथम औद्योगिक नीति प्रस्ताव (१९४८) मे उनके महत्व पर जोर दिया गया था और उनके लिए सरकारी सहायता का आश्वासन दिया गया था। प्रथम पच वर्षीय योजना मे ग्रामीण तथा लघु उद्योगो के लिए ३० करोड रुपये (सार्वजनिक विभाग के कुल परिव्यय का १ ३ प्रति शत) व्यय करने का प्रावधान रखा गया। द्वितीय औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे उनके महत्व को दोहराया गया और भारत की अर्थ-व्यवस्था मे उनके विशेष महत्व पर जोर दिया गया। ग्राम तथा लघु उद्योग (द्वितीय पच वर्षीय योजना) समिति ने विस्तार मे वे तर्क पेश किये, जिनके आधार पर इन उद्योगो को न्यायसगत बताया गया है। उसने दूसरी योजना मे २ अरब ६० करोड रुपये के व्यय का कार्यक्रम सुझाया और बहुत महत्वपूर्ण सिफारिशे की। फोर्ड फाउण्डेशन दल, जापानी दल और अनेक कार्यकारी दलों तथा समितियों ने इन उद्योगो के कार्य की भी जाँच की है। इन सगठनो ने भी इन उद्योगो की कार्यक्षमता बढाने और वित्तीय स्थिति अच्छी करने के लिए सिफारिशे की है।

द्वितीय पच वर्षीय योजना मे ग्राम तथा लघु उद्योगो के विकास के लिए २ अरब रुपये (सार्वजनिक क्षेत्र मे कुल परिव्यय का ४ १ प्रति शत) का साहसिक कार्यक्रम शामिल किया गया। उनकी प्रतियोगितात्मक क्षमता को बढाने के लिए सगठनात्मक तथा अन्य अनेक प्रकार के कदम उठाने का प्रस्ताव किया गया। तृतीय योजना मे ग्राम तथा लघु उद्योगो के कार्यक्रम के लिए कुल २ अरब ६४ करोड रुपये का परिव्यय प्रस्तावित है, जबकि द्वितीय योजना मे १ अरब ८० करोड रुपये से कम व्यय होने का अनुमान लगाया जाता है।

आशा है कि दो दशकों से भी अधिक समय की अवधि तक प्राप्त प्रश्रय तथा सहायता के बाद विकेन्द्रित उद्योग अपने पैरो पर खडा होना सीख सकेगे।

गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) . ११ दिसम्बर १९६३

मैसूर के गाँवों में प्रचलित काम-धंधे

वन्दार वेकप्प शेट्टी

मैसूर राज्य के बेल्लारी जिले मे १९५७-५८ मे दो गॉवो का आर्थिक सर्वेक्षण किया गया। सर्वेक्षण से पता चलता है कि यद्यपि दोनों गॉव एक-दूसरे के बहुत निकट हैं, तथापि कोई खास गैर-खेतिहर काम न होने की वजह से एक के काम-धंधे के स्वरूप में बहुत ही कम परिवर्तन आया है, जबकि दूसरे गॉव मे प्रचलित काम-धधो के स्वरूप मे पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, जोकि एक वृद्धिशील गैर-खेतिहर विभाग के साथ द्रुत गति से एक कस्बे के रूप मे विकसित हो रहा है।

मैसूर राज्य के बेल्लारी जिले मे कुछ गॉवो का ग्रामीण क्षेत्रों मे आर्थिक परिवर्तनो का अध्ययन करने के उद्देश्य से पूना स्थित 'गोखले इन्स्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स' के तत्वावधान मे एक व्यापक सर्वेक्षण किया गया। जिन गॉवो का सर्वेक्षण किया गया उनमे से दो गॉवो के नाम है हगरी बोम्मन हल्ली जिसे लेख मे आगे ह बो हल्ली कहा जायेगा, और चित्रपल्ली। गॉवो मे प्रचलित काम-धधो का अध्ययन करना सर्वेक्षण का एक महत्वपूर्ण विषय था। प्रस्तुत लेख मे इस काम-धधे के स्वरूप पर विचार किया गया है। ह बो हल्ली ओर चित्रपल्ली होसपेट से २५ मील की दूरी पर एक-दूसरे के पडोसी गॉव है, लेकिन अनेक बातो के सम्बन्ध मे उनमे भिन्नता पायी जाती है।

सर्वेक्षण के वक्त ह बो हल्ली मे कुल आबादी १,०१८ थी। चित्रपल्ली काफी छोटा है। उसमे जन-सख्या, सर्वेक्षण के समय मात्र २८८ थी। तालिका १ मे परिवारो का मुख्य पेशे के अनुसार विभाजन प्रस्तुत है

निम्न तालिका से स्पष्ट है कि चित्रपल्ली की अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान है, जबकि ह बो हल्ली मे ६० प्रति शत लोगो के जीविकोपार्जन का जरिये इतर खेतिहर धधे है। कृषि के सम्बन्ध मे एक दिलचस्प बात यह है कि दोनो ही गॉवो मे काश्तकार कृषको की सख्या बहुत कम है। ह बो हल्ली मे ४०७ परिवार खेती करते है। उनमे से केवल १० परिवार ही काश्तकार कृषक है। चित्रपल्ली मे भी इनका अनुपात तीन प्रति शत से अधिक नही है। तथापि, खेतिहर मजदूरो का प्रातिशत्य दोनो ही गॉवो मे पर्याप्त अधिक है। ह बो हल्ली मे जितने व्यक्ति खेती पर निर्भर करते है उनमे ३७ प्रति शत और चित्रपल्ली मे २६ प्रति शत व्यक्ति कृषिक श्रमिक है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ह बो हल्ली मे गैर-खेतिहर विभाग का आकार सामान्यत काफी बडा है। इस विभाग मे मुख्यत मूगफली के छिलके उतारने और तेल पेराई तथा बुनाई का काम करनेवाली पॉच-सात मिले है, जिनसे लगभग ५० परिवारो को रोजगारी

तालिका १

पेशेवार विभाजन

पेशा	परिवारो का प्रातिशत्य	
	ह बो हल्ली	चित्रपल्ली
कृषि व प्राथमिक उत्पादन	४० १	९१ १
खाद्य सामग्री व कपडे आदि का प्रशोधन व उत्पादन	२५ ५	३ १
वाणिज्य	९ ३	२ ८
परिवहन	२ ६	—
निर्माण कार्य आदि	६ ३	१ ०
स्वास्थ्य, शिक्षा, ग्राम प्रशासन आदि	५ ४	० ३
अन्य सेवाएँ	१० १	१ ७
योग	१०० ००	१०० ००

मिलती है। कई परिवार वाणिज्य—गाव मे व्यवस्थित वाजार है—और निर्माण कार्य भी करते है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि यह भारत के वैसे गॉवो मे से ह, जो लघु उद्योगो और व्यावसायिक काम-धन्धो के जरिये ग्रामीण विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। तथापि, उल्लेखनीय बात यह है कि वास्तव मे ह बो हल्ली की विकास प्रक्रिया ने पास के गाव चित्रपल्ली की अर्थ-व्यवस्था पर कोई प्रभाव नही डाला, जहाँ ९० प्रति शत से भी अधिक जन-सख्या अब भी कृषि मे लगी है। फलस्वरूप दोनो गाँवा के जीवन-स्तर मे पर्याप्त विभद पाया जाता है।

प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ह वो हल्ली मे २७४ रुपये है, जबकि चित्रपल्ली मे २२८ पये। ह बो हल्ली मे विकास की शक्तियों की जो हवा बही उसका पास के गाँव की अर्थ-व्यवस्था पर कोई असर नही पडा। इसका एक ही कारण है कि ह बो हल्ली मे गैर-खेतिहर विभाग का विकास हाल ही मे हुआ है और वह भी आकस्मिक रूप से। सर्वेक्षण से करीब छ वर्ष पूर्व ह बो हल्ली भी चित्रपल्ली के समान ही अविकसित था। एक पुनर-स्थापन योजना के अन्तर्गत ह बो हल्ली मे कई परिवार आ कर बसे। इनके साथ ह बो हल्ली मे न केवल व्यावसायिक चातुर्य आया बल्कि कई आत्म निर्भर गैर-खेतिहर प्रतिष्ठानो की स्थापना भी हुई। इससे ह बो हल्ली की अर्थ-व्यवस्था को एक झकझौला लगा, लेकिन उसका चित्रपल्ली पर कोई तुरन्त प्रभाव नही पडा।

काम-धंधो का सम्मिश्रण

गॉवो मे बहुत कम परिवार एक ही पेशे मे लगे है, क्योकि या तो परिवार के सभी व्यक्तियो के लिए एक ही पेशे मे, खास कर गैर-खेतिसर धधे मे, काम प्राप्त करना मुश्किल है या फिर हो सकता है कि परिवार के सभी कमाऊ व्यक्तियो के लिए अपने को एक ही पेशे तक सीमित रखना लाभप्रद न हो, जैसे कृषि मे। उक्त दो गाँवो मे विभिन्न प्रकार के काम-धधो म लगे व्यक्तियो के विश्लेषण से पता चलता है कि ह बो हल्ली मे परिवार के ७९ प्रति शत पुरुष और ७० प्रति शत महिलाएँ परिवार के मुख्य पेशे मे लगी है। चित्रपल्ली के लिए इनका प्रातिशत्य क्रमश ६७ और ६० है। इन दो गावो के काम-धधो के सम्मिश्रण के सम्बन्ध मे एक बात यह मिलती है कि पूरक अथवा सहायक और स्वतत्र काम-धधो मे लगे व्यक्तियो का अनुपात ह बो हल्ली मे चित्रपल्ली की अपेक्षा काफी अधिक है। उदाहरण के लिए सहायक धधो मे लगे व्यक्तियों का अनुपात ह बो हल्ली मे ६३ प्रति शत और चित्रपल्ली मे ४८ प्रति शत है। इसके अतिरिक्त किसी ने यह नही बताया कि चित्रपल्ली मे कोई स्वतत्र काम है, जबकि ह बो हल्ली मे स्वतत्र काम करनेवाले पुरुषो की सख्या क़रीब दो प्रति शत और प्रौढ महिलाओ की ० ३ प्रति शत है।

कुल मिला कर ह बो हल्ली म ८५ प्रति शत और चित्रपल्ली म ७१ प्रति शत कार्यकारी प्रौढ पुरुष केवल एक ही काम करते है—या तो वे मुख्य पेश मे लगे है अथवा फिर पूरक मे— तथा शेष व्यक्ति एक से अधिक कामो मे लगे है, जिनका सयोग इस प्रकार है 'मुख्य और सहायक', 'मुख्य तथा स्वतत्र' आदि। ऐसा बताया गया कि ह बो हल्ली मे २१ प्रति शत और चित्रपल्ली मे ३२ प्रति शत प्रौढ महिलाए दो धधो मे लगी है। लेकिन महिलाओ के मामले मे सम्मिश्रण प्राय परिपूर्ण रूप से 'मुख्य और सहायक' का है। समग्र गाव को एक साथ लेकर विचार करने पर पता चलता है कि ह बो हल्ली मे ९५ प्रति शत प्रौढ पुरुष और ५७ प्रति शत प्रौढ महिलाएँ उत्पादक कार्यो मे लगी है, जबकि चित्रपल्ली मे प्रौढ पुरुषो और महिलाओ का तत्सम्बन्धी अनुपात क्रमश ९६ तथा ६५ प्रति शत है। इसके अलावा दोनो ही गाँवो मे अप्रौढो से भी काम लिया जाता है। ह बो हल्ली मे कुल अप्रौ पुरुषो का ३५ प्रति शत और महिलाओ का १० प्रति शत काम करता है। चित्रपल्ली मे यह प्रातिशत्य क्रमश २० और १८ है। तथापि, अप्रौढ पुरुष व महिलाएँ सभी परिवार के मुख्य पेशे मे काम करती है।

अब यह एक सामान्य धारणा है कि एक अल्प विकसित देश की विकास-प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब इस बात मे मिलता

है कि लोगो ने प्राथमिक विभाग से मध्यम तथा गौण यानी तृतीय श्रेणीवाले विभाग को कितना अपनाया है। इसलिए इस परिवर्तन के परिमाण को ग्रामीण क्षेत्रो मे आर्थिक विकास का द्योतक माना जा सकता है। इस दृष्टि से परिवारो के वर्तमान और भूतकालीन प्रधानो के मुख्य पेशो के सम्बन्ध मे आकडे इकट्ठे किये गये तथा पिता के बाद पुत्र द्वारा विभिन्न विभाग अपनाने सम्बन्धी परिमाण का हिसाब लगाया गया।

तालिका २

पिता के बाद पुत्र द्वारा पेशा-परिवर्तन का प्रातिशत्य

विभाग	ह बो हल्ली	चित्रपल्ली
प्राथमिक	– ३७४	– २६
माध्यमिक	+ ६१५	+ १४३
तृतीयक	+ ७५२	+ १८०

तालिका २ उक्त दोनो गॉवो मे एक पीढी के दौरान काम-धधो मे आये परिवर्तन के आकडे दर्शाती है। तुलनात्मक रूप से पिता के बाद पुत्र द्वारा पेशा परिवर्तन ह बो हल्ली मे अधिक मिलता है। प्राथमिक विभाग मे ह बो हल्ली मे पर्याप्त गिरावट आयी। वहाँ यह गिरावट ३७ प्रति शत रही, जबकि चित्रपल्ली मे तीन प्रति शत।

ह बो हल्ली मे जिन लोगो ने खेती का काम छोडा उन्होने प्रशोधन व उत्पादन, परिवहन तथा शैक्षणिक एवम् क्लर्की के काम मे रोजगार प्राप्त किया। इस प्रकार ह बो हल्ली मे माध्यमिक श्रेणी के काम-धधो मे ६२ प्रति शत और तृतीयक श्रेणीवाले कामो मे ७५ प्रति शत वृद्धि हुई।

पेशे मे परिवर्तन का प्रभाव तालिका ३ मे और भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जिसमे दो पीढियो के दौरान विभिन्न प्रकार के काम-धधो मे लगे लोगो का अनुपात प्रस्तुत किया गया है।

निम्न आकडो से यह समझा जा सकता है कि जहाँ एक ही पीढी मे ह बो हल्ली मे कृषि पर निर्भर रहनेवाले व्यक्तियो का प्रातिशत्य ६४ से गिर कर ४० हो गया, वहाँ चित्रपल्ली मे कोई खास परिवर्तन नही आया। ह बो हल्ली मे जो व्यक्ति खेती से मुक्त हुए उन्होने मूगफली के कारखानो, होटलो तथा अन्य छोटे प्रतिष्ठानो मे काम प्राप्त किया। यह बात स तथ्य

तालिका ३

दो पीढियो के वक्त विभिन्न काम-धधो मे लगे व्यक्तियो का प्रातिशत्य

पेशा	ह बो हल्ली		चित्रपल्ली	
	परिवार का प्रधान			
	पिता	पुत्र	पिता	पुत्र
प्राथमिक उत्पादन	६३५	४०१	९३४	९११
खाद्यान्न प्रशोधन, वस्त्रोत्पादन आदि	१४१	२५५	३८	३१
वाणिज्य	७६	९२	०३	२८
परिवहन	१०	२६	—	—
निर्माण व अन्य उपयोगी कार्य	५०	६३	१०	१०
स्वास्थ्य, शिक्षा, ग्राम-प्रशासन आदि	२४	५४	०३	०३
अन्य सेवाएँ	४०	१०१	०३	१७
अनुत्पादक	२४	०७	०९	—
योग	१०००	१०००	१०००	१०००

मे प्रतिबिम्बित होती है कि अब प्रशोधन, उत्पादन और वाणिज्य सम्बन्धी गैर-खेतिहर कामो पर निर्भर रहनेवाले व्यक्तियो का प्रातिशत्य एक पीढी पहले के व्यक्तियो से अधिक है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि उक्त दोनो गॉव एक-दूसरे के बहुत निकट है, तथापि किसी खास गैर-खेतिहर काम-धधे के अभाव मे चित्रपल्ली मे पेशे सम्बन्धी परिवर्तन बहुत कम हुआ है। इसके विपरीत ह बो हल्ली के काम-धधे के स्वरूप मे पर्याप्त परिवर्तन आया है। ह बो हल्ली बढते हुए गैर-खेतिहर विभाग के साथ बडी द्रुत गति से एक कस्बे के समान रूप ले रहा है। आशा की जा सकती है कि पडोसी चित्रपल्ली गॉव भी शीघ्र ही इस प्रवाह मे आ जायेगा।

शिमोगा (मैसूर) १९ नवम्बर १९६३

पंचायत राज और सामुदायिक विकास

नफीस बेग

यदि सामुदायिक विकास के लिए प्रवर्तक शक्ति जनता की ओर से आनी है, तो योजना बनाने और कार्यान्वित करने में लोक-भागीदारी का होना एक परमावश्यकता है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण (पचायत राज) का उद्देश्य है सामुदायिक विकास कार्यक्रम के लिए लोक-अभिक्रम जगाना और उनका समर्थन प्राप्त करना।

'सामुदायिक विकास' अपेक्षाकृत नया शब्द है। राष्ट्र सघ के अनुसार 'सामुदायिक विकास' का अर्थ है वह प्रक्रिया जिसके जरिये समुदायो की आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक अवस्थाएं सुधारने, इन समुदायो को राष्ट्रीय जीवन मे मिलाने तथा राष्ट्रीय प्रगति मे इन्हे पूर्ण योगदान देने योग्य बनाने के लिए जनता द्वारा किये गये प्रयासो को सरकारी अधिकारियो के प्रयासो से सयुक्त किया जाता है। हम भारतवासियो के लिए 'समुदाय' अथवा 'समाज' का अलग ही अर्थ है, इसका उपयोग 'हिन्दू समाज,' 'मुस्लिम समाज' अथवा 'ब्राह्मण' या 'सीया' समाज के रूप मे किया जाता है। फिर, 'व्यापारी समाज' भी प्रचलित है। विदेशी शासन-काल मे हमारे यहाँ 'सामुदायिक विकास' करके कुछ नही था। बेशक कई कार्यक्रम तब भी चलते थे, जोकि सचमुच ही सामुदायिक विकास के ही विभिन्न पहलू थे। जैसे, ग्राम विकास, ग्रामोन्नति, प्रौढ शिक्षा आदि की योजनाएं। लेकिन विकास के लिए कोई समन्वित प्रयास नही किया जाता था और कोई खास परिणाम भी नही निकला। आजादी मिलने और सामुदायिक विकास आन्दोलन शुरू होने के बाद 'सामुदायिक विकास' शब्द का अर्थ हुआ धार्मिक, जातीय, सामाजिक और आर्थिक भेद को अलग रखते हुए ग्राम समाज के हर पहलू को छूनेवाले समग्र कार्यक्रमो का विस्तृत विचार।

करीब ग्यारह साल पहले अक्तूबर १९५२ मे 'सामुदायिक विकास' कार्यक्रम भारत मे योजित विकास प्रक्रमो के अग स्वरूप आरम्भ किया गया। देश के अन्य भागो मे इसका तेजी से विस्तार किया गया और चन्द वर्षो मे इसके अन्तर्गत देश की करीब ७० प्रति शत ग्रामीण आबादी आ गयी, सन् १९६३ के अन्त तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्पूर्ण ग्रामीण भारत को लाने की योजना है। यह कार्यक्रम शैक्षणिक भी है और सगठनात्मक भी, इसका उद्देश्य है ग्रामीणो मे उन्नत जीवन के लिए लालसा पैदा करना और मुख्यत स्वय-सेवा के जरिये ही इसकी पूर्ति के लिए राह दिखाना। इस उद्देश्य की पूर्ति, जब कभी आवश्यक हो, वर्तमान ग्रामीण सस्थाओ को प्राणवान बना कर तथा नयी सस्थाएँ खडी करके करनी है। ग्राम समाज के सामाजिक और आर्थिक जीवन मे परिवर्तन लाने के लिए पहले जो प्रयास किये गये, उनसे यह अनुभव हुआ कि लोगो का जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए जीवन के हर पहलू का—कृषि, ग्रामीण उद्योग, शिक्षा, आवास, स्वास्थ्य, मनोरजर आदि—समावेश करनेवाला सघन और विस्तृत कार्यक्रम परमावश्यक है, और इस कार्यक्रम को एक सयुक्त माध्यम के जरिये फैलाना चाहिए। यद्यपि यह जन-सहयोग के साथ सरकारी कार्यक्रम के रूप मे शुरू हुआ, मूल नीति इसे जन कार्यक्रम मे बदलने की थी, सरकारी सहयोग सिर्फ प्रोत्साहन हेतु ही रहता।

जन-सहयोग

भारत मे जिस मूल उद्देश्य पर 'सामुदायिक विकास' आधारित है, वह यह है कि इसे आगे बढाने मे मुख्य शक्ति जनता की लगनी चाहिए। उद्देश्य इसे सचमुच ही जन-आन्दोलन बनाने का है। अत गाँव के सामाजिक और आर्थिक जीवन का परिवर्तन करने मे इस उद्दश्य

की कहाँ तक पूर्ति हो रही है, जन-सहयोग इसका बडा ही महत्वपूर्ण भाग है। हम यो भी कह सकते है कि गाँवो का चित्र मुख्यत हर व्यक्ति द्वारा विकास कार्यक्रम मे भाग लेने पर निर्भर करता है। सर्वोत्तम ढग से इसकी पूर्ति लोगो द्वारा अपनी पचायत और अन्य ग्राम समितियो जैसी प्रतिनिधि सस्थाओ के जरिये कार्य का सगठन करके ही की जा सकती है। सच तो यह है कि कल्पनानुसार सामुदायिक विकास की एक विशिष्टता है लोकतात्रिक आयोजन और कार्यान्विय पर बल। इसमे नीचे से निर्माण की योजना बनानी होती है और उसके आयोजन तथा कार्यान्विय मे जनता का हाथ होता है। इसे दोहराने की जरूरत नही है कि यदि पचायत राज सस्थाओ के जरिये इसका कार्यान्विय किया जाय तो यह ग्रामीणो को विकास और अपने तथा पूरे लोकतन्त्र मे भी अपने स्थान का महत्व समझने योग्य बना कर लोकतत्र की नीव मजबूत करेगा।

भारत ने लोकतात्रिक समाजवादी समाज की स्थापना का सकल्प किया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्थिक सस्थाओ और प्रक्रियाओ के विकेन्द्रीकरण का रास्ता खोजना है। इस दिशा मे 'पचायत राज' की स्थापना कर 'सहयोगी लोकतत्र' की नीव डाल दी गयी है। यह ज्ञात होना चाहिए कि पचायत राज के लिए पहल मूलत लोकतत्र के आधार को विस्तृत करने के राजनीतिक उद्देश्य से नही, बल्कि विकास कार्यक्रमो के कार्यान्विय मे जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने की चिता से आयी। पचायत राज के जरिये विकास की यह योजना प्रगति की ओर एक महत्वपूर्ण कदम है। इसके पीछे विचार यह है कि विकास कार्यक्रमो के कार्यान्विय की जिम्मेदारी अन्तत अधिकाधिक ग्राम और खड के लोगो पर रहेगी।

मेहता समिति की रिपोर्ट

योजना परियोजना समिति ने सामुदायिक विकास परियोजनाओ और राष्ट्रीय विस्तार सेवा के लिए जो अध्ययन दल नियुक्त किया था, लोकतात्रिक सस्थाओ अथवा 'पचायत राज' के जरिये 'सामुदायिक विकास' की योजना उसी की सिफारिशो का परिणाम है। अध्ययन दल ने सामुदायिक विकास कार्यक्रम के आरम्भ के समय से इसके कार्यान्विय की जॉच की और यह बताया कि जब तक विकास की जिम्मेदारी खड स्तर पर किसी लोकतात्रिक सस्था को नही दी जाती, विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए जनता मे पहल लाने तथा ग्राम के सभी सदस्यो के कल्याण के लिए ग्राम समाज को जिम्मेदार बनाने के मूल उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकेगी। दल का मत था कि जिले के अन्दर योजना बनाने के लिए सबमे सहज इकाई है सामुदायिक विकास खड। दल ने एक योजना बनायी जिसमे त्रि-सूत्री सगठन की कल्पना थी। हर स्तर का पूरे सगठन मे प्राणवान सम्बन्ध है, जैसे ग्राम स्तर पर पचायत, खड स्तर पर पचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद का।

इस प्रकार लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण अथवा पचायत राज की योजना आरम्भ करने के सम्बन्ध मे बलवन्त राय समिति की सिफारिशो को १९५८ से स्वीकार किये जाने का सामुदायिक विकास कार्यक्रम के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान है। इस बात पर जोर दिया जाता है कि राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत एक व्यापक पद्धति के अन्तर्गत विकास योजनाओ के आयोजन और कार्यान्विय के क्षेत्र मे पहल और जिम्मेदारियो के स्थानान्तरण से लोगो का बडे पैमाने पर सहयोग प्राप्त करने मे मदद मिलेगी। इस तरह के परिवर्तन से लोगो के मन मे यह भाव पैदा होगा कि गॉव का जीवन बदलना गॉववालो के हाथ मे है। बेशक सरकार से आवश्यक सहायता मिलेगी, परन्तु मूलत जनता की नीति और कार्यवाही ही परिवर्तन के स्वरूप को निश्चित करेगी। गॉवो की आर्थिक जीव्यता पर आधारित प्रत्येक गॉव अथवा ग्राम समूह के लिए एक ग्राम पचायत रहेगी, जोकि प्राथमिक नागरिक सुविधाओ की व्यवस्था करने और सामुदायिक विकास तथा सम्बन्धित कार्यक्रमो के कार्यान्विय के लिए जिम्मेदार होगी। सम्पूर्ण विकास खड के लिए पचायत समिति वह मुख्य सस्था है जोकि खड विकास की योजना बनाने तथा उसे कार्यान्विय करने के लिए जिम्मेदार है। कुछ

राज्यों में समितियों के सदस्यों का प्रत्यक्ष चुनाव होता है, कुछ में ग्राम पचायतों के सरपच स्वयमेव इनके सदस्य बन जाते हैं। इनमें महिलाओं, परिगणित जातियों और सहकार आन्दोलन से सम्बन्धित लोगों आदि के प्रतिनिधित्व का भी प्रावधान है, जिनके प्रतिनिधियों को समितियों के सदस्य के रूप में शामिल कर लिया जाता है। इसके ऊपर रहेगी जिला परिषद, जिसके सदस्य जिलाधीश, जिला अधिकारीगण, जिले के विधायकगण और ससद-सदस्य तथा पचायत समितियों के प्रमुख रहेगे। पचायत राज का उद्देश्य है कार्यक्रम का कार्यान्वय जनता और उसके प्रतिनिधियो के जरिये करवाना। परिवर्तित अवस्था मे खड के कर्मियो को पेशेवर नेता, आयोजक, प्रौढ शिक्षक आदि के रूप में अधिकाधिक सख्या मे भाग लेने के लिए आमत्रित किया जायगा।

पचायत राज अथवा लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण में सहकार और लोकतात्रिक मूल्यों का प्रशिक्षण देने हेतु बहुत बडा क्षेत्र प्रदान करने की क्षमता है। हम यह याद रखना चाहिए कि जब सामुदायिक विकास कार्यक्रम आरम्भ किया गया था तब लोगों में कितना बडा उत्साह था। हमें वही उत्साह फिर से पैदा करना है, परन्तु जरा बडे पैमाने पर। उत्पादक कार्यों के लिए यह उत्साह पैदा करने हेतु सावधानीपूर्वक तथा समय पर कार्यवाही की जानी चाहिए। पचायत राज की सफलता के लिए यह अत्यावश्यक और बडा ही महत्वपूर्ण है कि सरकार द्वारा प्रदत्त तकनीकी और प्रशासनिक स्वरूप की समग्रता तथा उन्हे दी गयी जिम्मेदारियों और कार्यो को पूरा करने की उनकी क्षमता बनाये रखनी ही चाहिए, जबकि उनका ज्ञान और अनुभव जिला तथा खड स्तरीय निर्वाचित सस्थाओ को उपलब्ध किया जाय।

अब तक प्राप्त सीमित अनुभव के आधार पर सामुदायिक विकास के क्षेत्र मे लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण का प्रभावशाली और सफल कार्यान्वय सुनिश्चित करने के लिए निम्न सुझाव दिये जाते हैं

१ पचायतो और पचायत समितियो को सहयोगियो के पूर्ण सहयोग से समाज के गरीबतर वर्गों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए यह सुनिश्चित करना चाहिए कि सामग्री और सेवाओं का सम तथा समय पर वितरण हो। इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि सामग्री का इस्तेमाल उसी मे किया जाय, जिस हेतु वह दी गयी है।

२ पचायत समिति कोष का कुछ हिस्सा कमजोर वर्गो के आर्थिक विकास और कल्याण हेतु विशिष्ट सामुदायिक विकास कार्यक्रम के लिए अलग कर देना चाहिए।

३ ऐच्छिक सस्थाओं को यथा सम्भव पचायत समितियों के सहयोग से कार्य करना चाहिए। उन्हे विशिष्ट कार्यो के लिए दी जानेवाली निधि राज्य सरकार, परिषदो और पचायत समितियो के जरिये दी जाय।

४ केन्द्रीय सामुदायिक विकास और सहकार मत्रालय को योजना आयोग और अखिल भारत ऐच्छिक सस्थाओ के परामर्श से इस बात का अध्ययन और निश्चय करना चाहिए कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम हेतु पचायत राज सस्थाओं के लिए उन सस्थाओं का कितना सर्वोत्तम सहयोग और सहायता प्राप्त की जा सकती है।

विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया प्रशासन को जनता के निकट सम्पर्क में लायेगी और इस प्रकार योग्यता भी बहुत बढनी चाहिए। पचायत राज योजना के मूल सिद्धान्तो से तो किसी को कोई मतभेद हो ही नही सकता। स्वायत शासन हमारे देश के लिए कोई नयी वस्तु नही है और यद्यपि विदेशी शासन-काल मे इसने बहुत ऊँच-नीच देखे हैं, पचायतो की भव्य-क्षमता सर्वमान्य है। हमारे सविधान मे कहा गया है– "सरकार ग्राम पचायतो के सगठन बनायेगी और उन्हे ऐसे अधिकार देगी जोकि उन्हे स्वायत सरकार की इकाइयाँ बनाने के लिए आवश्यक होगे।" प्रथम पच वर्षीय योजना मे यह बताया गया था कि पचायतो को ग्राम निर्माण और विकास का माध्यम होना चाहिए। जब तक गाँव की सस्था गाँव के साधन-स्रोतो का विकास करने के लिए जिम्मेदारी लेने और पहल करने की अवस्था मे नही होती, ग्रामीण जीवन पर कोई विशेष प्रभाव डालना कठिन होगा, क्योकि ग्राम पचायतो और ग्राम सहकारी समितियो जैसी ग्रामीण सस्थाएँ ही आवश्यक नेतृत्व प्रदान कर सकेगी। यही 'सामुदायिक विकास' आन्दोलन का मार्ग है।

अलीगढ ७ नवम्बर १९६३

खादी-ग्रामोद्योग तथा उनकी स्फीति निवारक क्षमता

सोमनाथन नायर

एक विकासोन्मुख देश मे मुद्रा-स्फीति को रोकने और आर्थिक विकास की प्रक्रिया के दौरान आय का प्रसार करने अर्थात् इन दोनों ही दृष्टियो से उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन अपरिहार्य है। प्रस्तुत लेख में इस बात का मूल्याकन करने का प्रयास किया गया है कि खादी और ग्रामोद्योगो ने इस दिशा में कितना योगदान दिया है।

रोजगारी के आधुनिक सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण तत्व गुणक है। यह विनियोजन मे प्रारभिक अभिवृद्धि तथा सम्पूर्ण आय मे अन्तिम अभिवृद्धि के बीच का सम्बन्ध प्रकट करता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि यह विनियोजन मे परिवर्तन के प्रति आय मे परिवर्तन का अनुपात है। विनियोजन का उद्देश्य सिर्फ मूल विनियोजन की राशि के अनुपात से ही आय बढाना नही होता, बल्कि मूल विनियोजन के अनुपात से भी अधिक आय करना होता है। ऐसा इसलिए होता है कि मूल विनियोजन सिर्फ उन्ही उद्योगो की आय मे अभिवृद्धि नही करता, जिनमे वह किया जाता है, बल्कि उन अन्य उद्योगो की आमदनी को भी बढाता है जिनके उत्पादनो की आवश्यकता विनियोजित उद्योगो मे पडती है। गुणक की मात्रा उपभोग करने की सीमान्त प्रवणना की मात्रा पर निर्भर करती है। उपभोग करने की सीमान्त प्रवणता की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, गुणक का आकार भी उतना ही बडा होगा और इसी प्रकार गुणक की मात्रा जितनी ही अधिक होगी उपभोग करने की सीमान्त प्रवणता भी उतनी ही अधिक होगी।

विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्थाओं मे

गुणक का सिद्धान्त विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्थाओ मे भी काम करता है किन्तु उसका आकार सिर्फ उपभोग करने की सीमान्त प्रवणता पर ही नही बल्कि इस पर भी निर्भर करता है कि आय रूपी स्रोत से रिसाव कितना होता है। आय स्रोत से होनवाले सामान्य रिसाव इस प्रकार है (१) ऋण-अदायगी यानी आय की नयी अभिवृद्धि के एक अश को पुराना ऋण चुकाने के काम मे लाना। इस प्रकार उपभोग पर इसका कोई असर नही पडता, (२) रकम का बन्द पड जाना यानी बढी हुई आय का एक अश बचा कर निष्क्रिय रूप मे रखा जा सकता है, जिसका उपभोग वृद्धि पर असर नही पड सकता, (३) पुराने शेयरो एवम् सेक्यूरिटियो की खरीद यानी नयी आय का एक अश दूसरो से पुराने शेयर तथा सेक्यूरिटियो की खरीद के लिए उपयोग मे लाया जा सकता है, और उनकी बिक्री से हुई प्राप्ति का उपभोग मे इस्तेमाल नही होता, (४) आयात यानी आयातीत माल पर व्यय की जानेवाली राशि का देशी वस्तुओ का उपभोग बढाने पर विशेष असर नही पडेगा, किन्तु उसे घरेलू आय के स्रोत से एक महत्वपूर्ण रिसाव समझा जा सकता है, और (५) मूल्य-स्फीति यानी मूल्य-स्फीति के कारण बढी हुई आय का एक बहुत बडा अश उपभोग, आय और रोजगारी बढाने की बजाय उच्चतर मूल्यो को अदा करने मे ही व्यय हो जायेगा। इन रिसावो के कारण आय वृद्धि की प्रक्रिया शीघ्र ही खत्म हो जा सकती है। आय के स्रोत से ये रिसाव जिस हद तक बन्द किये जा सकेगे, विनियोजन की प्रारम्भिक वृद्धि का आय-सृजन मे उतना ही अधिक गुणक प्रभाव पडेगा।

उपभोक्ता सामग्री

फिर भी, यह आवश्यक नही है कि प्रारम्भिक विनियोजन पूँजीगत वस्तुओ या सार्वजनिक निर्माण कार्य के लिए परिव्यय हो। वह उपभोक्ता वस्तुओ

के उत्पादन के लिए भी हो सकता है। प्रारम्भिक व्यय का स्वरूप जो भी हो—चाहे वह विनियोजन पर हो या उपभोग पर—हेन्सेन* के शब्दों में उसका असर जहाँ तक गुणक प्रक्रिया का सम्बन्ध है, एक-सा ही पड़ता है।

आय प्रसार की प्रक्रिया की एक महत्वपूर्ण शर्त है—उपभोक्ता वस्तुओं की उपलब्धि। अगर उपभोक्ता वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है तो गुणक का काम होता रहेगा और नयी आय का प्रसार बढ़ता जायेगा। भारत जैसे विकासशील देश में सीमान्त उपभोग प्रवणता की कमियों के कारण गुणक के काम की सीमा निर्धारित नहीं होती। दर असल, ऐसे देशों में सीमान्त उपभोग प्रवणता तो बहुत अधिक होती है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहलू तो उपभोग वस्तुओं की उपलब्धि है।

२

विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में नये विनियोजन का एक दूसरा पहलू भी है। विकसित देशों में औद्योगिक उत्पादनों में लचकदार पूर्ति रेखा (शीघ्र पूर्ति) की तुलना में अल्प विकसित या कृषि-प्रधान देशों में खाद्य के मामले में गैर लचकदार पूर्ति रेखा (शिघ्र पूर्ति नहीं) की वजह से विनियोजन तथा उत्पादन की अभिवृद्धि के बीच विलंब आ जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप विस्तार की प्रक्रियाओं में रुपये-पैसे की शब्दावली में आय और वस्तुओं के मूल्य वास्तविक आय और उत्पादन से अधिक तेज रफ्तार से बढ़ने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, विनियोजन और उत्पादन की इस बीच की अवधि में वस्तुओं की पूर्ति उनकी माँग को पूरा कर सकने में असमर्थ रहेगी और तब मुद्रा-स्फीति की स्थिति आ सकती है। इस प्रकार कम से कम अस्थायी तौर पर ही अर्थ-व्यवस्था में मूल्यों में वृद्धि आ जायेगी। विकास के लिए विनियोजन के तत्व का तथा उसके परिणाम-स्वरूप रुपये-पैसे की पूर्ति और उधार विस्तार के संदर्भ में भारतीय अर्थ-व्यवस्था में मूल्यों की प्रवृत्ति का विश्लेषण उपर्युक्त दृष्टिकोण का प्रमाण है।

राष्ट्रीय आय

सही अर्थों में प्रथम और द्वितीय योजनाओं की अवधि में राष्ट्रीय आय या उत्पादन स्थिर (१९४८–४९) मूल्यों के आधार पर क्रमश ३ ४ और ४ १ प्रति शत वार्षिक की दर से बढ़ा है। (देखिए तालिका १।) रकम के रूप में यानी प्रचलित मूल्यों के आधार पर प्रथम और द्वितीय योजना-काल में क्रमश १ ०८ और ७ ३४ प्रति शत के हिसाब से वृद्धि हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रथम योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय में सही अर्थों में, प्रचलित मूल्यों के आधार पर आय में जो सालाना वृद्धि हुई उससे २ ३२ प्रति शत अधिक वृद्धि हुई और इसकी वजह से मूल्यों पर दवाव नहीं पड़ा। पर दूसरी योजना की अवधि में प्रचलित मूल्यों के आधार पर आय में सालाना वृद्धि वास्तविक आय से ३ २४ प्रति शत अधिक हुई। इस प्रकार दूसरी योजना की अवधि में मूल्यों में लगभग ३ २४ प्रति शत सालाना वृद्धि हुई।

उत्पादन

कृषि उत्पादन का सूचकांक १९५५-५६ के ११६ ३ प्रति शत से बढ़ कर १९६०-६१ में १३९ ९ प्रति शत हो गया (आधार १९५०=१००)। सन् १९६१-६२ में उत्पादन उसी स्तर पर रहा। औद्योगिक उत्पादन १९५७ के १०४ १ प्रति शत से बढ़ कर १९६१ में १३९ ३ प्रति शत तक पहुँच गया (आधार १९५६=१००)। अस्थायी आंकड़ों से पता चलता है कि १९६२ में सूचकांक १४९ ५ तक बढ़ा। सन् १९६२ की यह वृद्धि दूसरी योजना की अवधि में वृद्धि की औसत दर से अस्थायी तौर पर ही ऊँची रही।§ इस प्रकार वास्तविक राष्ट्रीय

* हेन्सेन : ए गाइड टू कीन्स, मैक्ग्रा हिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क; १९५३; पृष्ठ ९०।

§ 'रिपोर्ट ऑन करेंसी एण्ड फायनेंस फॉर १९६२-६३', पृष्ठ १६।

तालिका १

राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय में झुकाव

वर्ष	१९४८–४९ के मूल्यो के आधार पर राष्ट्रीय आय (करोड रुपयो मे)	प्रचलित मूल्यो के आधार पर राष्ट्रीय आय (करोड रुपयो मे)	१९४८–४९ के मूल्यो के आधार पर प्रति व्यक्ति आय (रुपयो मे)	प्रचलित मूल्यो के आधार पर प्रति व्यक्ति आय (रुपयो मे)
१९५१–५२	९,१०० (+२ ८)	९,९७० (+४ ६)	२५० ३ (+१ १)	२७४ २ (+२ ९)
१९५२–५३	९,४६० (+४ ०)	९,८२० (–१ ५)	२५५ ७ (+२ २)	२६५ ४ (–३ २)
१९५३–५४	१०,०३० (+६ ०)	१०,४८० (+६ ७)	२६६ २ (+४ १)	२७८ १ (+४ ८)
१९५४–५५	१०,२०८ (+२ ५)	९,६१० (–८ ३)	२६७ ८ (+० ६)	२५० ३ (–१० ०)
१९५५–५६	१०,४०८ (+१ ९)	९,९०८ (+३ ९)	२६७ ८ (–)	२५५ ० (+१ ९)
१९५६–५७	११,००० (+५ ०)	१,३१० (+१३ ३)	२७५ ६ (+२ ९)	२८३ ३ (+११ १)
१९५७–५८	१०,८०९ (–१ ०)	११,३९० (+० ७)	२६७ ३ (–३ ०)	२७९ ६ (–१ ३)
१९५८–५९	११,६५० (+७ ०)	१२,६०० (+१० ६)	२८० १ (+४ ८)	३०३ ० (+८ ४)
१९५९–६०	११,८६० (+१ ८)	१२,९५० (+२ ८)	२७९ २ (–० ३)	३०४ ८ (+० ६)
१९६०–६१*	१२,७५० (+७ ५)	१४,१६० (+९ ३)	२९३ ७ (+५ २)	३२६ २ (+७ ०)
१९६१–६२‡	१३,०२० (+२ १)	१४,६३० (+३ ३)	२९३ ४ (–० १)	३२९ ७ (+१ १)

टिप्पणी कोष्ठक के आकड़े पूर्व वर्ष की तुलना मे प्रातिशत्य विभेद (जोड़ और घटाव) बताते हैं। इसी प्रातिशत्य के आधार पर प्रथम और द्वितीय योजनाओं की अवधि में वार्षिक विभेद का अदाज लगाया गया है।

*सशोधित।

‡प्रारम्भिक।

स्रोत रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फायनेस फॉर १९६२–६३, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, बम्बई; पृष्ठ : २२।

उत्पादन मे निरपेक्ष झुकाव के साथ अर्थ-व्यवस्था के उत्पादक स्वरूप मे मामूली परिवर्तन ही हुआ है।§

मूल्य

सन् १९५५–५६ और १९६२–६३ के बीच उपभोग की समस्त वस्तुओ का थोक मूल्य सूचकाक ३५ ४ प्रति शत बढा (आधार १९५२-५३=१००)। उसी आधार पर उसी अवधि मे कृषिक वस्तुओ का थोक मूल्य सूचकाक ३५ ३ प्रति शत तथा अकेले खाद्य पदार्थो का ३९ ५ प्रति शत बढा। उसी आधार पर, उसी अवधि मे औद्योगिक कच्चे माल तथा निर्माण सामग्री के

§ इकनॉमिक सर्वे ऑफ एशिया एण्ड दि फार ईस्ट, १९६१, राष्ट्र संघ, बैंकाक; १९६२, पृष्ठ ८२।

थोक मन्य सूचकाक क्रमश ३७५ प्रति शत नथा २९.२ प्रति शत ऊपर उठे। इनका नथा माथ ही माथ है, क्योकि अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन और आय की दरों मे वृद्धि से अधिक मूल्यो मे वृद्धि हुई है। विश्लेषण

तालिका २

थोक मूल्यो के सूचकाक

(आधार १९५२–५३)

वर्ष	सभी वस्तुएँ	कृषिक वस्तुएं	खाद्य वस्तुएँ	औद्योगिक कच्चा माल	निर्माण सामग्री	शराब व तम्बाकू	ईंधन, शक्ति, प्रकाश व स्नेहक द्रव्य
१९५१–५२	११८०	११८८	१११०	१४१५	११९३	१२१९	९६५
१९५५–५६	९२५	८८०	८६६	९९०	९९७	८१०	९५२
१९५६–५७	१०५३	१०८५	१०२३	११६०	१०६३	८४४	१०४२
१९५७–५८	१०८८	१०७४	१०६४	११६५	१०८१	९४०	११३५
१९५८–५९	११२९	११८०	११५२	११५६	१०८४	९५४	११५४
१९५९–६०	११७१	११६५	११९०	१२३७	१११७	९९५	११६५
१९६०–६१	१२४९	१२३८	१२००	१४५४	१२३९	१०९९	१२००
१९६१–६२	१२५१	१२२८	१२०१	१४२६	१२६६	१००३	१२२१
१९६२–६३	१२७९	१२३३	१२६१	१३६५	१२८९	१०००	१२४३

स्रोत 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन', जून १९६३, पृष्ठ ८७७।

शराब, तम्बाक, ईंधन, शक्ति तथा स्नेहक द्रव्यो सबन्धी वितृत वितरण तालिका २ मे दिया गया है।

जीवन-यापन का खर्च

जीवन-यापन के सूचकाक मे मोटे तौर पर थोक मूल्य के अनुरूप ही हेरफर हुआ है। सन् १९५५-५६ से (आधार १९४९=१००) मजदूर वर्ग का उपभोक्ता मूल्य सूचकाक ३५ प्रति शत बढा है। मध्यम वर्ग का जीवन-यापन सूचकाक १९५५ के ३९३ बिन्दु से बढ कर १९६० मे ४५३ बिन्दु तक पहुँच गया। (आधार १९३९=१००)। इसका विस्तत विवरण तालिका ३ मे दिया गया है।

उक्त अनुच्छेदो से स्पष्ट रूपेण असतुलन प्रकट होता से यह भी प्रकट होता है कि प्रथम योजना-काल के अत मे अर्थ-व्यवस्था मे सतुलन की स्थिति थी, मुद्रा-सम्भरण और उत्पादन कम-वेश बराबर अनुपात से बढे। इस प्रकार प्रथम योजना-काल मे मुद्रा-स्फीति का व्यवहारत कोई दबाव दृष्टिगोचर नही हुआ। किन्तु दूसरी योजना की अवधि मे यह स्थिति उलटी हो गयी।

स्फीत्यात्मक झुकाव

अनुक्रमिक पच वर्षीय योजनाओ मे विनियोजन बढाने के परिणाम-स्वरूप मुद्रा-सम्भरण का विस्तार ११ अरब ५६ करोड ६० लाख रुपये तक पहुँच गया है यानी मई १९६३ के अन्त मे समाप्त होनेवाले आठ वर्षो मे लगभग ५२ प्रति शत बढा है। द्वितीय योजना

मे ४६ अरब रुपये के योजना परिव्यय के समक्ष मुद्रा सम्भरण तथा बैंक ऋण का विस्तार क्रमश ५ अरब २८ करोड ८० लाख रुपये तथा ३ अरब ८७ करोड ८० लाख रुपये तक हुआ। इसके साथ ही साथ दूसरी योजना की अवधि मे ९ अरब ४८ करोड*रुपये का हीनार्थ प्रबन्ध किया गया। इससे मूल्यो की वृद्धि तथा मुद्रा-सम्भरण के विस्तार के बीच तात्कालिक सम्बन्ध स्थापित हुआ, साथ ही साथ इससे यह भी प्रतीत होता है कि अर्थ-व्यवस्था मे राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि को मद्देनजर रखते हुए विचार करने पर उत्पादकता की गति इतनी पर्याप्त नही रही कि मुद्रा-सम्भरण के विस्तार की आवश्यकताओ को पूरा कर सके। (देखिए तालिका ४।)

तालिका ३
जीवन-यापन का सूचकाक

वर्ष	उपभोक्ता मूल्य सूचकाक (श्रमजीवी वर्ग—आधार १९४९=१००)	जीवन-यापन सूचकाक (मध्यम वर्ग—आधार १९३९=१००)		
		सामान्य	खाद्य	वस्त्र
१९५५–५६	९६	३९३	४४२	४९७
१९५६–५७	१०७	४१२	४७०	५३०
१९५७–५८	११२	४२६	४८८	५४५
१९५८–५९	११८	४३८	५०७	५४९
१९५९–६०	१२३	४४६	५१३	५४९
१९६०–६१	१२४	४५३	५२५	५६९
१९६१–६२	१२७	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य
१९६२–६३	१३१	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य

स्रोत (अ) रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फायनेन्स फार १९६२-६३ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, बम्बई,
(आ) कैपीटल, कलकत्ता।

तीसरी पच वर्षीय योजना के शुरू होने के समय से लेकर मुद्रा-सम्भरण तथा बैंक उधार का विस्तार क्रमश १५ अरब २ करोड ८० लाख रुपये तथा २ अरब ९३ करोड २० लाख रुपये हुआ। इससे तथा योजनाओ के अतर्गत विनियोजन कार्यक्रम के अनुसार बढी हुई आर्थिक गतिविधियों से उन लोगो की क्रय-शक्ति और भी बढेगी, जिनकी सीमान्त उपभोग प्रवणता एक से अधिक है और अधिकाश गुप्त उपभोक्ता मॉग का दबाव आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओ के मूल्यो पर पडेगा।

प्रतिरक्षा व्यय

उपर्युक्त बातो मे हाल मे बढा प्रतिरक्षा व्यय भी मिलाया जा सकता है। पिछले दो वर्ष मे इस मद पर भारत का खर्च काफी बढ गया है। सन् १९६२–६३ के लिए सशोधित आकडे ५ अरब ५ करोड रुपये के है। चालू साल के लिए प्रतिरक्षा परिव्यय ८ अरब ६७ करोड २३ लाख रुपये रखा गया है।§ (यह सभी को मालूम है कि प्रतिरक्षात्मक कार्यो मे किया गया सारा व्यय आर्थिक शब्दावली मे अनुत्पादक होता है।) अगर इसी अनुपात से वस्तुओ के, खास कर उपभोग की वस्तुओ के, उत्पादन मे वृद्धि नही हुई तो देश के इन सारे खर्चो का मूल्यो पर तत्काल प्रभाव पडेगा।

उपचार के तरीके

विकासोन्मुख देश मे मूल्य वृद्धि की समस्याएँ विकसित

* तृतीय पच वर्षीय योजना १९६१ का अनुमान, पृष्ठ ९९।

§ भारत सरकार का वर्ष १९६३-६४ के लिये बजट।

तालिका ४

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में स्फीत्यात्मक झुकाव दर्शानेवाले कारक

वर्ष	मुद्रा-सम्भरण (करोड रु में)	उत्पादन सूचकांक			मूल्य सूचकांक (आधार १९५२-५३=१००)			जीवन-यापन व्यय		अनुसूचित बकों में उधार (करोड रु मे)
		कृषिक (आधार १९५०=१००)	खाद्यान्न (आधार १९५०=१००)	औद्योगिक (आधार १९५६=१००)	थोक	कृषिक	खाद्यान्न	श्रमजीवी वर्ग (आधार १९४८=१००)	मध्यम वर्ग (आधार १९३९=१००)	
१९५०–५१	२,०१७ ५६	९५ ६	९० ५	७३ ०	१११ ८	अप्राप्य	११२ ५	१०१	अप्राप्य	४५८ ९०
१९५५–५६	२,२१९ ९२	११६ ८	११५ ३	९२ ३	९२ ५	८८ ०	८६ ६	९६	३९३	६३२ ४६
१९५६–५७	२,३४५ ३०	१२४ ३	१२० ८	१०४ १	१०५ ३	१०८ ५	१०२ ३	१०७	४१२	७८१ ६४
१९५७–५८	२,४१७ ००	११५ ९	१०९ २	१०८ १	१०८ ४	१०७ ४	१०६ ४	११२	४२६	८९० ८०
१९५८–५९	२,५३० २७	१३३ ८	१३१ ०	११६ ९	११२ ९	११४ ०	११५ २	११८	४३८	८९९ १७
१९५९–६०	२,७२५ ०४	१२८ ५	१२६ ८	१२९ ८	११७ १	११६ ५	११९ ०	१२३	४४६	९८७ ४९
१९६०–६१	२,८७४ ११	१३९ ९	१३५ ६	१३९ ३	१२४ ९	१२३ ८	१२० ०	१२४	४५३	१,१६० १९
१९६१–६२	३ ०४९ ४५	१३९ ९	१३५ २	१४९ ६	१२५ १	१२२ ८	१२० १	१२७	अप्राप्य	१,२७८ ५७
१९६२–६३	३,३१५ १४	अप्राप्य	अप्राप्य	१५५ ३*	१२७ ९	१२३ ३	१२६ १	१३१		१,४३२ ०६
१९६३ (मई तक)	३,३७६ ५५*	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य	१३२ ०	१२४ १	१३१ ४	अप्राप्य		१,५५३ ३६

* अस्थायी।

स्रोत 'रिपोर्ट ऑन करेंसी एण्ड फायनेंस फॉर १९६२-६३', रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, और 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन,' जून १९६३ के अंक से संकलित

तालिका ५

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत अपभोक्ता सामग्री का उत्पादन : १९५५-६२

(मूल्य लाख रु में)

उद्योग	१९५५–५६	१९५६–५७	१९५७–५८	१९५८–५९	१९५९–६०	१९६०–६१	१९६१–६२	योग (१९५५–६२)
खादी	५५४ ३३	८२२ ५२	१,१४८ ३९	१,३७५ ७२	१,४१४ ४६	१,४२३ ४९	१,७५४ ५४	८,४९३ ४५
ग्रामीण तेल	४१ ७०	९३ ६५	२६९ २३	७८९ ९२*	१,२२८ ६४*	१,६६१ १२*	२,०७० ३८*	६,१६२ ६४
ग्रामीण चर्म	८८	३ ५६	१० ३८	१४ ४५	२६ ६२	३५ ५०	९१ ०८	१८२ ४७
कुटीर दियासलाई	२१	७६	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य	२ ५६†	३ ५३
गुड-खाण्डसारी	४८७ ८०	५०४ ९७	५७१ ३४	१,१९८ ६९	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य	२,७६२ ८०
ताड-गुड	४५५ ७०	३५६ ८९	अप्राप्य	अप्राप्य	२२ ९६§	३४ ५५§	२३ ०३§	८९३ १३
अखाद्य तेल और साबुन	२ ६७	६ ७३	१४ ६८	२० १९	३४ ७९	३४ ९२	३६ ३७	१५०.३५
हाथ कागज	१७ ६७	१६ २५	१५ ६५	२१ १६	२३ ५८	२४ २३	२३ ९९	१४२ ५३
मुधुमक्खी–पालन	५७	१ ९८	५ ९७	१० ६३	११ ८८	१७ ३८	२२ ६०	७१ ०१
ग्रामीण कुम्हारी	कुछ नही	१ ११	३ १९	११ १३	१७ ५७	४१ ९८	४९ ०८	१२४ ०६
रेशा	४०	४०	४८	४ २४	१ ५५	६ ५६	१४ १८	२७ ८१
कुल योग	१,५६१ ९३	१,८०८ ८२	२,०३९ ३१	३,४४६ १३	२,७८२ ०५	३,२८७ ७३	४,०८७ ८१	१९,०१३ ७८

अप्राप्य =मूल्य की शब्दावली में अनुपलब्ध । * तेल और खली सहित । § केवल नीरा के लिए, ताड़-गुड उत्पादन कमीशन के वार्षिक विवरण में मनों में दिया गया है ।

† उत्पादित २६,६२१ ग्रूस दियासलाइयो का बिक्री मूल्य । अन्य वर्षो के लिए उत्पादन वार्षिक विवरण में ग्रूस की सख्या में ही दिया गया है, उनकी कीमत का उल्लेख नहीं है ।

स्रोत · खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के वार्षिक विवरण ।

देशो की समस्याओ से अलग होती है और इसलिए उनके उपचार सम्बन्धी उपाय भी भिन्न होते है। विकसित देशो मे मुद्रा-स्फीति को बडी आसानी से मोनेट्री तथा अर्थ-विषयक उपायो से एवम् वास्तविक वाह्य प्रतिबधो से रोका जा सकता है, क्योंकि उन देशो की अर्थ-व्यवस्था लगभग पूर्ण रोजगारी प्राप्ति की अवस्था में होती है और उनकी समस्याएँ उसे विकसित करने की नही, बल्कि विकास की स्थिति को बनाये रखने की होती है। इसके दूसरी ओर विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में इस तरह के उपायो का या तो कोई असर नही पडेगा या विकास के लक्ष्य तक पहुचने मे हानिप्रद होगा। ऐसी अवस्था मे विकासोन्मुख देश म उपर्युक्त तरह के नकारात्मक उपायों के बदले उत्पादन बढाने की सकारात्मक नीति अपनानी चाहिए। और, यहाँ भी इस बात का खयाल रखना चाहिए कि उपभोग की वस्तुओ की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि मूल्यो पर उनका तत्काल और प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है।

और इस सबके बावजूद, विकास की अवस्था मे उपभोग की वस्तुओ की पूर्ति एवम् उनकी माँग के बीच का फर्क जब तक दूर नही किया जाता, तब तक जन-सख्या और प्रति व्यक्ति आय में हुई वृद्धि उपभोग की वस्तुओ के मूल्यो पर गुणक प्रभाव लायेगी और परिणाम-स्वरूप मूल्यो मे सर्वतोमुखी वृद्धि को आमत्रण मिलेगा। अतः उपभोग की वस्तुओ के क्षेत्र मे यथा सम्भव तीव्र गति से उत्पादन बढाने के अलावा दूसरा कोई बेहतर उपाय नही है।

३

यहाँ सरसरी तौर पर एक ऐसे अभिकरण की कार्य-शीलता का उदाहरण दिया जा सकता है जो सिर्फ उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन मे ही सलग्न है। इस कथन का तात्पर्य खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्य से है। इस लेख के दूसरे प्रकरण के सन्दर्भ मे यहाँ द्वितीय पच वर्षीय योजना के शुरू होने के बाद के उत्पादन का ही हवाला दिया गया है।

कमीशन के दायरे में आनवाले १४ उद्योगो मे से खादी तथा दस ग्रामोद्योगों का उत्पादन—१९५५-५६ से १९६१-६२ तक—कमीशन के प्रतिवेदनों के अनुसार, जिनमें कुछ उद्योगों का उत्पादन-मूल्य दिया गया है, लगभग दो अरब रुपये की कीमत का हुआ है। लेकिन अन्य उद्योगो की, खास कर अनाज और दाल प्रशोधन उद्योग की, रकमो को जोडने पर उत्पादन का मूल्य दो अरब रुपय मे भी अधिक होगा। (देखिए तालिका ५।) दूसरे शब्दो मे, कमीशन ने उपभोग की वस्तुओ का कुछ हद तक उत्पादन बढाने मे मदद की है जिसके लिए यह भी कहा जा सकता है कि उसके गुणक प्रभाव से मुद्रा-स्फीति रोकने मे सहायता भी पहुँचायी है।

उपसंहार

कोई भी अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था, जिसमे विस्तृत गैर-मुद्रीकृत क्षेत्र मौजूद है, मुद्रीकृत अर्थ-व्यवस्था स्थापित करने की प्रक्रिया में मूल्यो पर कुछ दबाव अवश्य डालेगी और मूल्यो को अगर अनियत्रित छोड दिया गया तो वे तब तक बढने जायेंगे जब तक पूर्ण रोजगारी के पूर्व की मुद्रा-स्फीति की प्रक्रिया शुरू न हो जाय, जिसका परिणाम होगा बाजारो मे उपभोक्ता वस्तुओ की भारी कमी और अन्य स्थानो पर उत्पादन के साधनो की बेकारी। दूसरे शब्दो में, मूल्यों की साधारण वृद्धि जहाँ एक ओर किसी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे सहायक सिद्ध होती है, तीव्र वृद्धि हानिप्रद।

उपर्युक्त विश्लेषण से प्रकट होता है कि आय प्रसार की प्रक्रिया मे गुणक के कार्य के लिए अथवा बढी हुई आर्थिक कार्यवाहियो या प्रतिरक्षा परिव्यय की वजह से उत्पन्न मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन बढाना एक परमावश्यक शर्त है। इस दृष्टि से भी खादी और ग्रामोद्योग जो योगदान दे सकते हैं वह काफी मूल्यवान है।

बम्बई . ५ दिसम्बर १९६३

पश्चिम बंगाल के कुटीर शिल्प

आशीश कुमार बसु

प्रस्तुत लेख मे पश्चिम बगाल के कुटीर शिल्पो का संक्षिप्त मूल्याकन करते हुए उनकी विशेषताओ और उनके विकास के पीछे ऐतिहासिक दृष्टि से जिन शक्तियो का हाथ रहा है उन पर प्रकाश डाला गया है।

पश्चिम बगाल के कुटीर शिल्प को मोटे तौर पर तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—परम्परागत शिल्पियो की जातियो का शिल्प, आदिवासियो का शिल्प और लोक-शिल्प (आदिवासी-शिल्प को कभी-कभी लोक-शिल्प का पर्याय समझ लिया जाता है) तथा वह शिल्प, जो लोगो की आधुनिक रुचि के विकास के साथ परिष्कृत हुआ है। पारम्परिक शिल्पकारो का प्रथम वर्ग स्थानीय तौर पर सूत्रधार, कर्मकार, कुम्भकार, ततुवाय, कासाकार, स्वर्णकार, शखार, चित्रकार, मालाकार आदि नामो से पुकारा जाता है। यह सब कारीगरो का वह वर्ग है, जो काष्ठ, पीतल, अष्ट धातु, चाक तथा करघो पर काम करते है या इसी तरह के अन्य धधो मे लगे है। वशानुक्रम से पिता से पुत्र ने सीखा और इस प्रकार उन्होंने इस समद्धिशाली विरासत को बचा कर रखा। बाकुडा, बर्दवान, बीरभूम, पुरुलिया तथा मेदिनीपुर जिलो मे एवम् पहाडी इलाको मे जो आदिवासी कारीगर पाये जाते है, उनके सम्बन्ध मे ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे दक्षिण भारत, वर्मा आदि से समुद्री मार्ग द्वारा आ कर गगा के मैदान के निचले प्रदेशो मे बस गये। बर्दवान जिले मे दरियापुर तथा बाकुडा के नूतन चट्टी के धातु शिल्पकारो ने आदिकालीन **सिरे-पेरडू** ढलाई को (मोम का आकार बना कर उस पर की

कालीघाट की गुडिया के नाम से प्रसिद्ध नूतनग्राम की काठ की बनी मम्मी गुडिया

जानेवाली ढलाई) बचा कर रखा है, जो आज भी सम्बल, मयूरभज, लोहारडी आदि स्थानो के आदिवासियो के बीच प्रचलित है।

रेशमी तथा सूती वस्त्रो की छपाई, वर्त्तक गुडियो का निर्माण तथा बास पर नक्काशी करने का आधुनिक शिल्प भी वहाँ प्रचलित है।

दक्षिण द्वार के नाम से प्रसिद्ध पश्चिम बगाल के मिट्टी के खिलौने

पश्चिम बगाल मे इन दिनो कारीगरो का जो इतना भारी जमाव हो गया है, उसमे बगाल के विभाजन का भी बहुत बडा हाथ है। गीतल पाटी बनानेवाले, बुनकर, शख की चूडियाँ वनानेवाले तथा कुम्भकार काफी बडी तादाद मे पश्चिम बगाल आये और धीरे-धीरे वही बस गये।

देश के अन्य शिल्प केन्द्रो की तरह पश्चिम बगाल मे भी शिल्प का विकास शासक राजाओ तथा नवाबो की राजधानियो के इर्द-गिर्द हुआ। इस प्रकार सूती और रेशमी वस्त्रोद्योग का विकास मालदा (पूर्व का गौर), मुर्शिदाबाद, बाकुडा तथा बीरभूम के आस-पास हुआ। हाथी दात की वस्तुओ का निर्माण, पीतल और अष्ट धातु की वस्तुओ का निर्माण, धातु की ढलाई तथा तेरा कोटा कुम्हारी आदि छोटे शिल्प शासको के सरक्षण
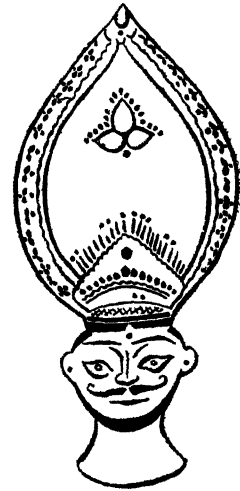
म पनपे। अंग्रेजी का ग्राफ्ट (Graft) शब्द (कलमकारी) का प्राय समस्त ग्रामीण उद्योगों के लिए प्रयोग होता है, किन्तु यहा सिर्फ उन्ही उद्योगों की चर्चा की गयी है जिनका सम्बन्ध कला और शिल्प मे है।

महत्वपूर्ण शिल्प केन्द्र

उन केन्द्रों के नाम इस प्रकार है, जहाँ खास-खास शिल्प पद्धतिया के मूल तत्व देखने म आये है **काष्ठ-शिल्प तथा काठ के खिलौने** नूतनग्राम तथा दैनहाट (वर्दवान), करिध्या (बीरभूम), **काष्ठ-कार्य.** हृपनिया (बाकुडा) **प्रस्तर शिल्प**· सुसुनिया (बाकुडा) और दनहाट (वर्दवान) **हाथी दात-शिल्प**· बरहमपुर (मुर्शिदाबाद), **रेशम-बुनाई** सोनामुखी और विष्णुपुर (बाकुडा), नानीपाडा और करिध्या (बीरभम) तथा मुर्शिदाबाद और मालदा के कछ क्षेत्र, **पीतल और अष्ट धातुशिल्प** विष्णुपुर (बाकडा), खगडा (मर्शिदाबाद) और खरार (मेदिनीपुर), **पीठ कार्य तथा डाक साज** कुमारटोली (कलकत्ता) और कालीगज)(नदिया), **मिट्टी की मूर्तिया और खिलौने** कृष्णनगर (नदिया), राजनगर (बीरभूम), जयनगर-मजिलपुर (२४परगना), नगाजोल (मेदिनीपुर) और कुमारटोली (कलकत्ता), **आभूषण एवम् रौप्य शिल्प** कलकत्ता, **चटाई-निर्माण:** एगरा, सबग और रामनगर (मेदिनीपुर), **शख-शिल्प** विष्णुपुर (बाकुडा), कासिम बाजार (मुर्शिदाबाद) तथा बतूल (हावडा), और **तेरा कोटा कुम्भकारी:** पचमुरा और सोनामुखी (बाकुडा)।
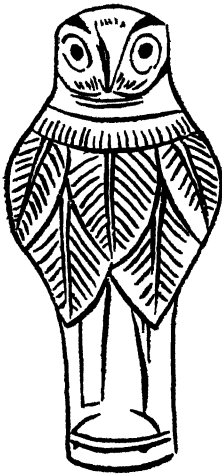
काठ का बना उल्लूनुमा बर्दवानी खिलौना

इस सूची से पश्चिम बगाल मे शिल्पकारो के जमाव की एक मोटा-मोटी जानकारी मिलती है। उपर्युक्त श्रेणियो के ऐसे सैकडो शिल्पकार वहा होगे, जिनकी गणना इस सूची मे नहीं आ पायी है।

स्वरूप-चित्रण, प्रारूप तथा रूपांकन

ढोकरा धातु शिल्प-सिरे-पेरडू ढलाई का एक नमूना।

पश्चिम बगाल की शिल्प परम्परा ने बहुत-से देशी और विदेशी स्त्रोतो से स्वरूप-चित्रण प्रारूप तथा रूपाकन की कलाए अपनायी और कुशल शिल्पियो ने उसे आगे बढाया। पश्चिम बगाल के शिल्प मे स्वरूप-चित्रण का सम्बन्ध उस कला से जोडा जा सकता है, जो मूलत फारस की भूमि से आयी है।

फिर एक ऐसा वक्त आया जब गति अवरुद्ध हो गयी। मुहताज होकर शिल्पकारो ने दूसरे धधे अपना लिये। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से धीरे-धीरे जनता का सम्पर्क गाँवो और ग्राम्य शिल्पों से टूटता गया। पश्चिम बगाल की सुप्रसिद्ध **कथा** बुनाई का कही नामोनिशा भी नही रह गया है, मेदिनीपुर, बीरभूम और बाकुडा के बर्तनो पर नक्काशी करनेवाले तथा ताम्र बनानेवालो का गौरव मिट गया और इसी तरह बहुत-से शिल्प समाप्त हो गये, जिनकी कृतियो के सुन्दर नमूने आज भी अजायबघरो मे रखे हुए है, जो भारतीय जनता को उसके गौरवपूर्ण अतीत का सदेश देते है। बाकुडा मे निर्मित घोडे आज भी देश-विदेश मे बैठक के कमरो की शोभा बढाते है और छपे हुए रेशमी कपडे न्यूयार्क तथा मास्को वासियो के सजे हुए घरो मे चार चाद लगाते हैं। (रेखा चित्र श्री सुधीन बनर्जी द्वारा)

कलकत्ता १० जुलाई १९६३

पंचायतों के साधन-स्रोत

पंचायत राज संस्थाओं के वित्तीय साधन-स्रोतों का अध्ययन करने के लिए भारत सरकार द्वारा श्री के सन्तानम् की अध्यक्षता में नियुक्त अध्ययन दल ने अपना प्रतिवेदन जुलाई १९६३ में पेश किया। पंचायतों के साधन-स्रोतों से सम्बन्धित प्रतिवेदन का चौथा अध्याय यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है, जिसमें विविध स्रोतों का वर्णन करते हुए उनमें वृद्धि करने के लिए उपाय सुझाये गये है।

भारत के लगभग ९४ प्रति शत गाँवों में ३१ मार्च १९६२ तक विधिविहित पंचायतों की स्थापना हो चुकी थी। ग्रामीण आबादी के हिसाब से करीब ३५ करोड २० लाख लोग इनके दायरे में आ चुके हैं। इस सम्बन्ध मे पश्चिम बंगाल ही एक अपवाद रह गया है, जहा अब तक सिर्फ ३८ प्रति शत गाव ही इस क्षेत्र के अन्तर्गत आ पाये हैं, लेकिन उम्मीद है कि उस राज्य के बचे हुए गाँवों में भी पंचायतों की स्थापना होने म अधिक समय नहीं लगेगा।

आबादी और क्षेत्र की दृष्टि से इन पचायतों में काफी विभिन्नताएँ हैं। केरल की एक पचायत की औसत आबादी जहाँ १५,४९३ है, उडीसा में ६,७४६, बिहार, जम्मू और कश्मीर, असम तथा पश्चिम बगाल मे ३,००० से ४,००० के बीच, मैसूर, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में २,००० से ३,००० के बीच, आन्ध्र प्रदेश और मद्रास में १,५०० से २,००० के बीच, और गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, पजाब तथा दिल्ली म १,००० से १,५०० के बीच, एवम् उत्तर प्रदेश में १,००० से भी कम है। प्रत्येक राज्य की पचायतों मे भी विभिन्नताएँ हैं। मद्रास और मैसूर में पाच हजार की आबादी और १० हजार रुपये वार्षिक से अधिक आयवाली पचायत को **शहर पचायत** की सज्ञा दी गयी है तथा आन्ध्र प्रदेश मे उसे **अधिसूचित पचायत** कहा गया है। गुजरात मे ऐसी ग्राम पचायतो को, जिनकी आबादी १० हजार से अधिक तथा ३० हजार से कम है, **नगर पचायत** कहा जाता है। इस तरह का वर्गीकरण उपयोगी होगा, क्योंकि इन पचायतों का स्वरूप नगरपालिका से मिलता-जुलता-सा है और वे उपयुक्त प्रशासन कर्मचारी रख सकती हैं।

साधन-स्रोत तथा कर्तव्य

नाम एवम् वर्गीकरण मे पर्याप्त विभेद के बावजूद विभिन्न राज्यो की पचायतो के कामो मे सादृश्य है। कुछ राज्यो मे उन्हे दो श्रेणियो मे विभक्त किया गया है अनिवार्य तथा विवेकाधीन। उदाहरणार्थ मद्रास मे आठ अनिवार्य एवम् दस विवेकाधीन तथा आन्ध्र प्रदेश में १२ अनिवार्य और २७ विवेकाधीन कार्यो का विभाजन किया गया है। पजाब मे २७ कार्यो को अनिवार्य किया गया है और राज्य सरकार को यह भी अधिकार है कि वह सात विवेकाधीन कार्यो को भी अनिवार्य घोषित कर सकती है। महाराष्ट्र केरल, मैसूर तथा अन्य कई राज्यों मे कृषि, पशु-पालन, शिक्षा तथा स्वास्थ्य आदि जैसे प्रत्येक मद के अन्तर्गत कई काम रखे गये है। इस बात का आम उल्लेख किया गया है कि अपनी आर्थिक सीमाओं के अन्दर पचायते पीने के पानी की पूर्ति, सफाई, ग्रामीण सडको की देख-भाल, पाठशालाओ के भवन, सडको पर रोशनी तथा रेडियो, सामुदायिक सभा भवन व बालवाडियो आदि की व्यवस्था करे। विधान सभाओं में कानून बनाते वक्त इस बात का अन्दाज लगाने की कोशिश की गयी है कि पचायतो के अनिवार्य कार्यो की पूर्ति के लिए कम से कम कितना खर्च पडेगा और उसके लिए साधन-स्रोतो की व्यवस्था कैसे की जाय। अनिवार्य कार्यो के विस्तार के अनुसार वास्तविक साधन-स्रोत प्राय भिन्न होते हैं।

पंचायतों के साधन-स्रोत प्राय निम्न श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं

क उनके द्वारा लगाये जानेवाले करों की आय,

ख उनके द्वारा लगायी गयी फीस तथा चुगी की आय,

ग सम्पत्ति, विनियोजन तथा लाभकारी कारोबार से आय,

घ राज्य सरकारों से प्राप्त सहायताए, और

च जनता की ओर से प्राप्त अशदान।

अनिवार्य व ऐच्छिक कर

सभी पचायत अधिनियमों में पचायतों द्वारा कर लगाये जाने की व्यवस्था है। चन्द कानूनों में कुछ कर अनिवार्य हैं और कुछ ऐच्छिक। असम, गुजरात, जम्मू और कश्मीर, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश में सब कर ऐच्छिक हैं। आन्ध्र प्रदेश, केरल, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर तथा पजाब में गृह-कर अनिवार्य हैं। इन राज्यों में महाराष्ट्र और पजाब को छोड कर पेशा-कर भी अनिवार्य हैं। केरल और मद्रास में परिवहन-कर अनिवार्य हैं।

कराधान, निसदेह एक अप्रिय कार्य है। हम जिन पचायतों में गये, उनमें से कई में ऐसे तर्क उपस्थित किये गये कि चूकि केन्द्र और राज्य सरकारे अनेक प्रकार के कर लगा रही हैं, इसलिए ऐसी हालत में पचायतो को जनता पर कर लगाने को बाध्य न किया जाय और वे सरकार से प्राप्त धन-राशि अथवा ऐच्छिक कर, फीस तथा अशदान यानी चन्दे आदि जैसे स्रोतों से ही अपने कार्य करे। किन्तु हम इस विचार से सहमत नही है। हमारे खयाल से चन्द अनिवार्य करो का लगाना सिर्फ इसलिए ही जरूरी नही है कि प्रत्येक पचायत को अपने स्वयम् के साधन-स्रोतो से थोडी-बहुत आय हो जाय, बल्कि इसलिए भी कि वह यह महसूस करे कि वह एक स्वायत्त सस्था है। गृह-कर, पेशा-कर तथा परिवहन-कर इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

किन्तु इसके साथ-साथ हम यह भी सोचते हैं कि पचायते इन करों की किसी सख्त दर पर ही अडी न रहे। कर की अधिकतम और न्यूनतम दरे निर्धारित की जानी चाहिए। जहा यह समझा जाय कि पचायत न्यूनतम कर लगाये, वहा उसे यह भी अधिकार होना चाहिए कि उसे वह अधिकतम सीमा तक बढा सके।

गृह-कर का आधार

गृह-कर किसी मकान के पूजी मूल्य, उसके वार्षिक भाडे या राज्य सरकार द्वारा निर्धारित किसी अन्य आधार पर लगाया जाता है। मद्रास में यह कर मकानो के पूजी मूल्य, भाडा मूल्य, मकान के रकबे या इनमे से किन्ही दो अथवा अधिक आधारों को मिला कर लगाया जाता है। पूजी मूल्य पर कर लगाने के लिए छ माह की न्यूनतम दर उस मूल्य का ३/१६ प्रति शत और अधिकतम ३/४ प्रति शत है। सालाना मूल्य पर आधे वर्ष के लिए १ प्रति शत न्यूनतम तथा १० प्रति शत अधिकतम है। राज्य कानून में मकानों की नीव के विस्तार के आधार पर भी पक्की छत, छप्पर, खपरैल आदि की छत के अनुसार न्यूनतम व अधिकतम कर का निर्धारण है। किन्तु शहर पचायत तथा उसी तरह की बडी पचायतो को छोड कर अधिकाश ग्रामीण क्षेत्रों में भाडे के आधार पर कर लगाने की बात महज काल्पनिक ही होगी, इसलिए वहा पूजी मूल्य के आधार पर ही गृह-कर लगाना वाछनीय होगा।

किन्तु इस गृह-कर के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि किसी को छोडा जाय या नही। मद्रास और आन्ध्र प्रदेश में किसी को छोडा नही गया है। किन्तु मध्य प्रदेश में १,००० रुपये की कीमत से कम मूल्य के सभी घरो पर कर नही लगाया जाता। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों के गरीब लोगों को, खास कर कच्चे मकानो में रहनवालों को छोड दिया जाय, किन्तु हम महसूस करते हैं कि किसी को भी अपवाद न माना जाय। ऐसा सोचने का हमारा आधार सामाजिक और आर्थिक दोनो है। ढाई-सौ पये के मूल्यवाली एक

झोपडी पर ६% प्रति शत की न्यूनतम दर से २५ नये पैसे या ५०० रुपये कीमतवाली पर ५० नये पैसे कर स्वरूप देने पडेगे। हम नही समझते कि गरीब से गरीब परिवारो को भी इतना कम कर देने मे कोई कठिनाई होगी। ऐसा कर दे कर वे महसूस करेगे कि पचायतो के कोष मे वे प्रत्यक्ष रूप मे योगदान दे रहे है और इसलिए अन्य निवासियो के लिए प्रदान की जानेवाली सेवाओ तथा सुविधाओ को प्राप्त करने के अधिकारी है। गृह-कर की इम व्यापकता से प्रत्येक पचायत को विभिन्न वर्गो के प्रत्येक घर की नवीनतम सूची रखनी पडेगी और फलस्वरूप उस सूची के आकडे गॉवो की समृद्धि के विकास को सही रूप मे पेश करेगे। दूसरी तरफ किसी भी प्रकार की छूट से गृह-कर से होनेवाली आय कम हो जायेगी, खास कर उन गरीब गॉवो मे जहॉ इस तरह की आय का काफी मूल्य होगा। अगर हमारा आयोजन वास्तविक है तो कालातर मे समस्त झोपडियो को पक्के मकानो मे बदला जाना चाहिए। जिन राज्यों की पचायतो का हम ने अवलोकन किया, उनमे सन् १९६१-६२ मे गृह-कर का मोटा-मोटी स्वरूप इस प्रकार था

राज्य	प्रति व्यक्ति नये पैसे
मैसूर	७३
आन्ध्र प्रदेश	६०
महाराष्ट्र	५२
मद्रास	३६
पजाब	१३

इस सम्बन्ध मे दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है, घरो का सही मूल्य निर्धारित करना। अनेक अधिनियमो मे राज्य सरकारो को मूल्य निर्धारित करने के नियम बनाने के अधिकार दिये गये है। हम समझते है कि आन्ध्र प्रदेश मे इस कार्य के लिए सरकार एक स्वतत्र अभिकरण की स्थापना करने जा रही है। हमारी समझ से यह एक वाछनीय कदम है और जहॉ-कही भी ऐसी व्यवस्था की जायगी, गृह-कर से होनेवाली आय काफी बढ जायेगी।

इसलिए हम सिफारिश करते है कि समस्त राज्यो मे बिना किसी छूट के अनिवार्य गृह-कर लगाया जाय। घरो के पूजी-मूल्य के आधार पर उनकी वार्षिक न्यूनतम और अधिकतम दरे इस प्रकार हो सकती है

- क २५० रुपये तक के पूजी मूल्य के घरो पर न्यूनतम २५ नये पैसे और अधिकतम १ रुपया,
- ख २५१ रुपये से ५०० रुपये तक के पूजी मूल्य के घरो पर न्यूनतम ५० नये पैसे और अधिकतम २ रुपये,
- ग ५०१ रुपये से १,००० रुपये तक के पूजी मूल्य के घरो पर न्यूनतम १ पया और अधिकतम ५ रुपये, और
- घ १००० रुपये से अधिक पूजी मूल्य के घरो पर— वृद्धि के प्रत्येक ५०० रुपये अथवा उसके हिस्से पर न्यूनतम दर मे ५० नये पैसे तथा अधिकतम मे २५० रुपये अधिक।

शहर पचायतो के लिए दरे अधिक हो सकती है।

कुछ राज्यो मे किसी गॉव मे साल मे कुल मिला कर ६० दिनो तक कारबार करनेवाली किसी भी फर्म या कम्पनी पर या किसी भी ऐसे व्यक्ति पर जो कम से कम ६० दिनो तक उस गॉव मे कोई पेशा या कारबार करता है अथवा सार्वजनिक या निजी क्षेत्र मे नौकरी करता है और उस गॉव मे रहता है, पचायते पेशा-कर लगा सकती है। यह कर उन लोगो पर भी लगाया जा सकता है जो उस गॉव मे रहते है और पेन्शन पाते है। आम तौर से ३०० रुपये से कम वार्षिय आय पानेवाले इस कर से मुक्त रखे गये है। आन्ध्र प्रदेश के ग्राम पचायत अधिनियम मे अगले पृष्ठ पर दी गयी तालिका मे वर्णित न्यूनतम और अधिकतम दरे रखी गयी है

हम समझते है कि निम्न दरे उपयुक्त है। अनेक राज्यो मे, हम देखेगे कि सविधान के अनुच्छेद २७६ मे स्वीकृत अधिकतम २५० रुपये से बहुत कम अधिकतम निर्धारित किया गया है। इस हद तक कर लगाने से पचायतो के अधिकारो को कानूनी तौर पर रोकने मे हम कोई तर्क

नही देखते। ऊँची दरो के कर बडी आमदनी पर ही लगाये जा सकते है। निम्न तालिका मे सालाना ५० रुपये की न्यूनतम दर उन्ही पर लगायी जानी है, जिनकी वार्षिक आय १२,००० रुपये से अधिक हो। हम नही समझते कि इसमे किसी तरह की कठिनाई होगी। इसलिए हम इस बात की सिफारिश करते है कि इस परिच्छेद मे पूर्व वर्णित श्रेणी के लोगो पर उपर्युक्त तालिका मे बतायी गयी दर से पेशा-कर लगाया जाना चाहिए।

वर्ग	वार्षिक आय (रुपये मे)				न्यूनतम वार्षिक कर (रुपये मे)	अधिकतम वार्षिक कर (रुपये मे)
१	३०,०००	रुपये से अधिक			२००	२५०
२	२४,०००	रुपये से अधिक पर	३०,०००	रुपये से ज्यादा नही	१५०	२००
३	१८,०००	रुपये से अधिक पर	२४,०००	रुपये से ज्यादा नही	१००	१५०
४	१२,०००	रुपये से अधिक पर	१८,०००	रुपये से ज्यादा नही	५०	१००
५	९,०००	रुपये से अधिक पर	१२,०००	रुपये से ज्यादा नही	२४	५०
६	६,०००	रुपये से अधिक पर	९,०००	रुपये से ज्यादा नही	१२	२४
७	३,६००	रुपये से अधिक पर	६,०००	रुपये से ज्यादा नही	८	१२
८	२,४००	रुपये से अधिक पर	३,६००	रुपये से ज्यादा नही	४	८
९	१,२००	रुपये से अधिक पर	२,४००	रुपये से ज्यादा नही	२	४
१०	६००	रुपये से अधिक पर	१,२००	रुपये से ज्यादा नही	१	२

परिवहन-कर

तीसरा कर जिसे हम अनिवार्य कर देना उपयुक्त समझते है, परिवहन-कर है। आम तौर से मोटर गाडियो को इस कर से स्वतत्र रखा जाता है, क्योकि उनके लिए विशेष कर-कानून लागू है। इसके अतिरिक्त चन्द मामलो को छोड कर, मोटर गाडियो के मालिक आम तौर पर गॉव के निवासी नही होते और जहॉ-कही वे है भी वहॉ उनका पजीकरण शहरो मे किया हुआ होता है। दोहरे कर से बचाव के प्रावधान की वजह से पचायते उन पर कर नही लगा सकेगी। किन्तु इसके अतिरिक्त बैलगाड़ियॉ, साइकल तथा अन्य परिवहनो पर कर लगाया जा सकता है। साइकलो पर कर लगाये जाने के सम्बन्ध मे हम देखते है कि पचायतो की रुझान यह कर न्यूनतम करने की ओर रहती है, ताकि पडोसी इलाको के साइकलवाले भी पजीकरण के लिए आकर्षित हो। इसलिए हम समझते है कि पचायत समिति न्यूनतम और अधिकतम दरो के बीच की दर निर्धारित करे और अपने समूचे क्षेत्र मे एक समान रूप से उसे लागू करे। इस बात के लिए भी कदम उठाये जाने चाहिए कि उस क्षेत्र की नगरपालिकाएँ भी उसी दर से कर लगाये। मद्रास मे इस कर की न्यूनतम और अधिकतम दरे क्रमश दो और चार पये वार्षिक है, मैसूर मे सिर्फ अधिकतम दर तीन रुपये ही नर्धारित है, और उडीसा मे वही दो रुपये की है। अन्य राज्यो मे राज्य सरकारो पर यह बात छोड दी गयी है कि वे दर निर्धारित करे। हम मद्रास की दरो को उपयुक्त समझते है। बैलगाड़ियो के सम्बन्ध मे एक सवाल उठता है कि किसी किसान की बैलगाडी पर कर लगाया जाय या नही। अधिकाश गाडियो के मालिक किसान होते है और वे उनसे खेती-बाडी से सम्बन्धित व उत्पादन को बाजारो मे लेजा कर बेचने और खरीदने का काम लेते है। राजस्थान के कानून मे खेती कार्य मे उपयोग मे लायी जानेवाली गाडियो को कर से मुक्त रखा गया है। गॉव की सडक को अच्छी हालत मे बनाय रखना बैलगाडियो के मालिको

के लिए महत्वपूर्ण है।

इसलिए हम सिफारिश करते है कि समस्त परिवहन पर, साइकलो सहित, परिवहन-कर लगाया जाय, पर न्यूनतम दर काफी कम होनी चाहिए – उदाहरणार्थ सालाना दो रुपये। हम इस प्रकार वार्षिक दरो की सिफारिश करते है

	न्यूनतम	अधिकतम
साइकले	२ रुपये	४ रुपये
बैलगाडियॉ	२ रुपये	१० रुपये

बैलगाडियो पर १० रुपये की अधिकतम दर इसलिए रखी गयी है कि किराये पर चलनेवाली गाडियो से पचायते अधिकाधिक आय प्राप्त कर सके। अन्य परिवहनो पर कर की उपयुक्त दरे निर्धारित की जा सकती है।

पश्चिम बगाल, बिहार और उडीसा म सम्पत्ति और परिस्थिति-कर लगाये गये है, जो भूमि उप-कर (सेस) और गृह-कर का मिश्रण है। हमारी सिफारिश है कि उमे गृह-कर और भूमि-कर के शीर्षो से अलग-अलग रखा जाय, ताकि कर लगाने और वसूल करने मे सहूलियत हो।

अन्य कर

इन करो के अतिरिक्त कुछ अधिनियमो मे पचायतो के इच्छानुकूल निम्न कर लगाने का प्रावधान है

क 'कोलागरम,' अथवा 'कटारुसुम' कर आन्ध्र प्रदेश के कुछ जिलो मे माप-तौल या गिन कर बेचे जानेवाले ग्रामीण उत्पादन पर लगाया जाता है। इस कर को वसूल करने की जिम्मेवारी, आम तौर से, केदारो को दे दी जाती है, जिनका काम बिक्री पर निगरानी रखना तथा कर सग्रह करना होता है। उस राज्य की बहुत-सी पचायतो के लिए यह आय का कीमती स्रोत है। गॉव की सीमा के अन्दर बेचे जानेवाले उत्पादनो पर मामूली कर भी काफी आय दे सकता है। हम सिफारिश करते है कि जहॉ-कही भी इसका प्रावधान नही है, इसे ऐच्छिक कर के रूप मे शामिल किया जाय और लगाने के लिए पचायतो को प्रोत्साहन दिया जाय।

ख मैसूर, गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान मे चुगी (आक्ट्राय) की व्यवस्था है। मैसूर मे उसकी व्यवस्था सिर्फ शहर पचायतो तक ही है। बडी पचायतो के क्षेत्र मे, सम्भव है, यह पर्याप्त आय का साधन सिद्ध हो सके किन्तु आम तौर से उसे प्रतिगामी कर समझा जाता है। ऐसी अवस्था मे, जहॉ-कहॉ भी यह कर चालू है, वहॉ उसे तत्काल उठा देना तो व्यावहारिक नही है, किन्तु हमारी सलाह है कि सम्बद्ध सरकारे इस बात पर विचार करे कि क्या उसकी जगह कोई और प्रगतिशील कर लगाया जा सकता है।

तीर्थयात्री कर

ग महाराष्ट्र, गुजरात, जम्मू और कश्मीर, राजस्थान तथा बिहार मे पचायतो की इच्छा से तीर्थयात्री-कर लगाया जा सकता है। महाराष्ट्र के पूना जिले मे देहू नामक स्थान पर, जो सत तुकाराम का जन्म स्थान है, हमने देखा कि पचायत को इस कर से इतनी अधिक आय हो जाती है कि उसने अन्य सभी कर-स्रोतो की अवहेलना कर दी है। हम समझते है कि चूकि तीर्थयात्री-कर धार्मिक प्रसिद्धि के कुछ ही स्थानो पर लगाया जा सकता है, इसलिए उसे लगाने के अधिकार पचायतो को न दिये जाये। जहॉ-कही भी उसे लगाना वाछनीय हो, यह काम पचायत समिति या जिला परिषद के जरिये होना चाहिए। उसकी आय का कुछ भाग सम्बद्ध पचायत को देना चाहिए तथा शेष पचायत समिति या जिला परिषद के क्षेत्र की जनता के समान लाभ के लिए उपयोग मे लाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे होनेवाले खर्च मे भी सबको उपयुक्त हिस्सा बॅटाना चाहिए।

घ जम्मू और कश्मीर के पचायत अधिनियम मे पशुओ पर कर लगाने के अधिकार दिये गये है। पजाब राज्य की यात्रा के दौरान हमे पता चला कि भैसे तथा दूध देनेवाले अन्य मवेशियो पर कर लगाने से पचायतो को पर्याप्त आय हो सकती है। हमारा सुझाव है कि

राज्य सरकारे इस बात पर विचार करे कि क्या इस तरह का कर लगाने का अधिकार पचायतो के कर लगाने के अधिकार मे शामिल किया जा सकता है।

फीस और दरो को मोटा-मोटी तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है (क) सेवाओ के लिए फीस, (ख) लाइसेस फीस, और (ग) जुर्माने और दण्ड की फीस।

विभिन्न प्रकार की फीस

क अनेक कानून जल-पूर्ति, गदे नालो, सडको की रोशनी तथा सफाई के लिए फीस लगाने के अधिकार प्रदान करते है। आम तौर से यह ऐच्छिक होना चाहिए, क्योकि ये साधारण सामाजिक सेवाऍ है, जिन्हे लोगो को प्रदान करने की पचायतो से अपेक्षा की जाती है। पर जहॉं-कही भी जल-पूर्ति, बिजली की रोशनी और गन्दे नाले की व्यवस्था ऋण ले कर प्रदान की जाय, वहॉं उससे लाभ उठानेवाले समस्त लोगो से फीस लेना सही होगा। अगर किसी पचायत मे कई गॉव अथवा टोले आते हो और उक्त सेवाओ की व्यवस्था उसके क्षेत्र के कुछ ही हिस्से मे है, तो उन लोगो को, जो उससे फायदा नही उठाते, फीस से मुक्त रखा जाय। साधारणतया, इस फीस की दर निर्धारित करने का आधार ऋण का ब्याज अथवा इस मद की देनदारी होनी चाहिए।

ख लाइसेस फीस बेचे जानेवाले पशुओ के पजीकरण, खाल तथा चमडे के सग्रह, चाय, भोजनालय या विश्राति-गृह या बाजार मे बिक्री के लिए रखी गयी वस्तुऍ, नये भवनो के निर्माण, सार्वजनिक भूमि और सामुदायिक सम्पत्ति का उपयोग और जन-स्वास्थ्य के लए अहितकर या खतरनाक व्यापार पर लगायी जाती है। हमारी राय है कि इस सम्बन्ध मे पचायतो के अधिकारो को यथा सम्भव विस्तृत बनाने के लिए प्रत्येक राज्य की सरकार स्थिति पर फिर से गौर करे।

ग पचायते निम्न स्थितियो मे जुर्माने कर सकती है और दण्ड दे सकती है (१) अतिचार, (२) लाइसेस न लेना, तथा (३) प्रतिबधित वस्तुए रखना या उनकी बिक्री करना।

न्याय पंचायतो के लिए निधि

कुछ अधिनियमो मे यह भी विधि है कि न्याय पचायतो द्वारा किये गये जुर्माने ग्राम पचायतो को दे दिये जाय। आम तौर पर इसके साथ ही ग्राम पचायतो पर न्याय पचायतो के खर्च वहन करने की जिम्मेदारी भी होती है। न्याय पचायतो के अध्ययन के लिए गठित दल के प्रतिवेदन मे सिफारिश की गयी है कि "ग्राम पचायते कानूनन अपने कोष का एक अश न्याय पचायतो को हस्तातरित करे या विकल्प रूप मे राज्य सरकारे न्याय पचायतो को समुचित अनुदान दे सकती है।" हम इस विकल्प सुझाव का समर्थन करते है। न्याय पचायतो के कार्य का परिमाण विभिन्न स्थानो मे कम या अधिक हो सकता है और अगर कही इतना अधिक हो कि एक पूरे समय के मत्री की आवश्यकता हो या ग्राम पचायत के कर्मचारियो पर काम का अधिक बोझ पडे तो ऐसी अवस्था मे दोनो के आय-व्यय को मिलाने से दोनो सस्थाओ के काम का नुकसान होगा। इसकी व्यवस्था पचायत समिति के स्तर पर हो सकती है, जहॉ न्याय पचायतो के वास्तविक खर्च के आधार पर अनुदान देने मे सरकार के लिए आसानी होगी।

पचायत राज सस्थाऍ राज्य सरकार के अभिन्न अग है। इस वजह से यह ठीक ही है कि ग्राम-स्तर पर राज्य सरकार की ऐसी समस्त सम्पत्ति की जिम्मेदारी जिसकी व्यवस्था पंचायते कर सकती है उन्हे दे दी जाय और उसे बरकरार रखने तथा सुधारने का दायित्व भी उन्ही के ऊपर रहे। हमे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि अनेक पचायत अधि-नियमो के अनुसार राज्य सरकारो की खाली जमीन पर अधिकार पचायतो का है।

सरकारी सम्पत्ति पर स्वामित्व

अपने दौरो के दरमियान हमने देखा कि सरकारी

जमीन तथा अरक्षित वनो को पचायतो को हस्तातरित करने मे, जहाँ यह हस्तातरण विवेकाधीन है, राजस्व तथा वन विभाग के अधिकारी गण काफी आनाकानी करते है। हमे यह देख कर भी आश्चर्य हुआ कि राष्ट्रीय और राज्यीय राजपथो के किनारे लगे पेडो मे लगे फलो का उपभोग करने के अधिकार हस्तातरित न करने की भी कोशिश की जाती है। कुछ राज्यो मे मवेशियो के पानी पीने के तालाब भी राजस्व अधिकारियो के नियत्रण मे बने हुए है। हमारी सलाह है कि ये प्रवृत्तिया छोड दी जाये। जब तक सविशेष उल्लेख के साथ छोड न दिया गया हो, पचायत क्षेत्र के अन्दर की निम्न सम्पत्ति, जिसका कोई निजी मालिक न हो, पचायतो को हस्तान्तरित कर दी जाय (क) समस्त भूमि, (ख) समस्त पेड, (ग) पोखर और तालाब तथा उनमे मछली पकडने के अधिकार, (घ) अरक्षित जगलात, और (च) सराय, धर्मशाला, विश्राम-गृह, तथा अन्य मकानात।

यह सुनिश्चित करने के लिए नियम बनाने होगे और प्रतिबन्ध लगाने पडेगे कि पचायते इस तरह की सम्पत्ति का दुरुपयोग, उसकी बर्बादी या अवहेलना न कर सके। राजस्थान की एक पचायत मे यह देख कर हम दग रह गये कि वह आबादी की जमीन को बेच कर मिले रुपये से अपने चालू खर्च चला रही थी। मकान बनाने के लिए जमीन बेचना न्याय सगत हो सकता है, किन्तु उससे मिलनेवाली रकम पूजी कोष मे जानी चाहिए और उसका व्यय कुछ इस प्रकार होना चाहिए कि पचायत के लिए स्थायी सम्पत्ति का निर्माण हो। पचायत द्वारा गॉव की किसी भी अचल सम्पत्ति का स्वत्व हस्तान्तरण निर्धारित अधिकारी की अनुमति अथवा स्वीकृति से ही होना चाहिए। इसी तरह पचायत को अपने क्षेत्र मे लगे पेडो के फलो का उपयोग करने का अधिकार हो, लेकिन पेड काटने के अधिकार के साथ सख्त शर्ते होनी चाहिए।

गॉवो मे जलावन की व्यवस्था का यह हाल है कि वहॉ की सार्वजनिक भूमि तथा आरक्षित जगलात से लोग-बाग बेतहासा पेड काट रहे है। इसके परिणाम स्वरूप जलावन की कमी हो गयी है। पेडो की छाया न होने के कारण ग्रीष्म काल मे मनुष्य तथा मवेशियो को काफी कष्ट होता है। पचायतो को प्रत्येक तरीके मे अधिकाधिक पेड लगाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। हमे इस बात का यकीन है कि अगर भूमि और वृक्षो से सम्बन्धित अधिकार पचायतो को दे दिये जाये और उनकी देख-भाल की जिम्मेवारी भी पूर्णत इन्ही सस्थाओ की रहे, तो गॉव हरे-भरे हो जायेग और कालातर मे जलावन के मामले मे भी गॉव स्वावलम्बी हो जायेगे। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि पजाब मे चकबन्दी के परिणाम स्वरूप चकबन्दी की गयी कुल भूमि का $\frac{1}{10}$ भाग सरकार का होता है तथा उस भूमि मे से पाच एकड भूमि पचायत को मिलती है।

पंचायतों के लिए भूमि

कुछ राज्यो मे गाँवो मे खेती के लायक बहुत-सी ऐसी जमीन है जो खेती के लिए किसी को नही दी गयी है। ऐसी जमीन को पूर्णत पचायतो को हस्तान्तरित कर देना तथा भूमिहीन मजदूरो और अन्य लोगो के बीच उसे वितरित करने के लिए पचायतो को ही एजेण्ट बना देना वाछनीय नही होगा। इस सम्बन्ध मे हमारी राय है कि प्रति व्यक्ति न्यूनतम एक सेट भूमि प्रत्येक पचायत को हस्तान्तरित कर दी जाय, जिसे वह सामुदायिक सम्पत्ति के रूप मे उपयोग मे लाये, पर उसका स्वत्व हस्तान्तरित न करे, और शेष जमीन सरकार के पास बनी रहे। दूसरी तरफ यह भी स्थिति है कि समस्त जमीन स्वतत्र लोगो की सम्पत्ति हो गयी है और पचायतो के पास गाँव का कूडा-कर्कट आदि जमा करने के लिए भी जमीन नही है। हम समझते है कि कम्पोस्ट खाद बनाना प्रत्येक पचायत का कर्तव्य होना चाहिए। हम से कहा गया है कि मैसूर राज्य की एक साहसिक पचायत कम्पोस्ट खाद की बिक्री से हर साल बडी आय कर रही है। हमारी सलाह है कि जहॉ-कही भी आवश्यक हो, राज्य सरकार भूमि

का अभिग्रहण कर कम से कम पाच एकड भूमि प्रत्येक पचायत को दे, जो मकान बनाने, कम्पोस्ट खाद तैयार करने, पेड लगाने, पौधो की कलम तैयार करने व अन्य ऐसे ही कार्यो मे सामुदायिक सम्पत्ति के रूप मे काम आवे।

मत्स्य-पालन से आय

जहा-कही भी ऐसे पोखर या तालाब हो जो ग्रीष्म काल मे सूखते नही, वहॉ मत्स्य-पालन, ग्राम पचायतो की आय के लिए मूल्यवान स्रोत हो सकता है। हमे यह जानकर सन्तोष हुआ कि उडीसा की सरकार ने समूचे राज्य मे वैज्ञानिक ढग से मत्स्य-पालन का सगठन करने के लिए बडा दूरदर्शी कदम उठाया है। जहा-कही भी मछली पकडने के अधिकार रीत्यानुसार स्थानीय मछुओ की जाति को प्राप्त है, उनके अन्तर्गत रहते हुए अर्थात् उनकी अवहेलना न करते हुए पोखर या तालाबो की व्यवस्था के अधिकार पचायत को होने चाहिए। मछली पकडने के धधे मे लगे मछुओ तथा पचायतो के बीच आय का हिस्सा बटाने का कोई रास्ता निकाल लेना सम्भव है।

पचायते इन पोखर और तालाबो की देख-रेख तथा मरम्मत का काम करेगी एवम् जिन व्यक्तियो हक मे उक्त प्रकार के अधिकार है, उनसे खर्च वसूल करेगी। हम समझते है कि मवेशियो के जल पीने के पोखर, साधारणतया, पचायत की सम्पत्ति होने चाहिए। मध्य प्रदेश जैसे कुछ राज्यो मे पचायतो की आय के वे बडे महत्वपूर्ण स्रोत है। ये तालाब या पोखर पचायतो को सौप देने चाहिए—अगर उनसे कोई आय न होती हो तो भी, क्योकि यह अनिवार्यत एक स्थानीय कार्य है। मवेशियो के जल पीनेवाले पोखर को उपयोग मे लानेवालो पर न्यूनतम तथा अधिकतम कर लगाने के अधिकार पचायतो को मिलने चाहिए।

बाजार और मेले पचायतो की आय के अच्छे स्रोत होते है। अनेक अधिनियमो मे राज्य सरकारो को अधिकार है कि वे बाजारो को पचायत बाजारो या समिति बाजारो की श्रेणी मे विभक्त कर सकती है। कुछ राज्यो मे मवेशियो के बडे वार्षिक मेले जिला परिषदो को सौपे गये है। यह वर्गीकरण आवश्यक और न्याय सगत है, क्योकि कोई मेला या बाजार सिर्फ एक पचायत के ही काम नही आता। हम समझते है कि यह वर्गीकरण इस तरह के मेले और बाजारो की आय तथा जितनी आबादी को उससे फायदा होता हो उसी के आधार पर किया जाये। जो बाजार पचायत बाजार की श्रेणी मे आवे, उनकी आय पचायतो को मिल सकती है। समिति या जिला परिषद बाजार की श्रेणी मे आनेवाले बाजार की आय का एक उपयुक्त हिस्सा उस पचायत को मिलना चाहिए जिसके क्षेत्र मे मेला या बाजार लगता है। यह हिस्सा कुल आय का $\frac{1}{3}$ हो सकता है—ज्यादा से ज्यादा आबादी के प्रति व्यक्ति एक रुपये के हिसाब से। कुछ स्थानो पर बाजारो का नियत्रण विशेष कानूनो के अनुसार गठित बाजार कमेटिया या समितिया करती है। अगर ये कानून न होते तो पचायते और समितिया बाजारो की व्यवस्था करके या लाइसेन्स फीस लगा कर आय कर लेती। इसलिए यह उपयुक्त होगा कि जहा-कही भी बाजार कमेटिया या समितिया लाभ उठाती है या आय करती है, वहाँ उसका उपयुक्त हिस्सा समस्त पचायत राज सस्थाओ को भी मिलना चाहिए। हमारी सलाह है कि राज्य सरकारे इस विषय मे सावधानीपूर्वक विचार करे। हम यह भी सिफारिश करते है कि जहा-कही भी सम्भव हो सके, पचायतो और समितियो को बाजारो के सगठन मे सक्रिय रूप से भाग लेने देना चाहिए।

राज्य सहायता की सीमा

समस्त स्थानीय सस्थाओ को कम-बेश राज्य सहायता पर निर्भर रहना पडता है। पचायत अधिनियमो मे इसके लिए कई ढँग से व्यवस्था की गयी है। भूमि राजस्व और उस राजस्व पर स्थानीय उप-कर पचायतो को राज्य सहायता का महत्वपूर्ण अश होता है। मोटे तौर पर उसे तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है (क) समस्त पचायतो को दिया जानेवाला आम अनुदान, (ख) समकारी निधि से अतिरिक्त आम अनुदान, तथा (ग) विशेष अनुदान।

विभिन्न राज्यो मे यह सहायता इस प्रकार दी जाती है

क	आन्ध्र प्रदेश	–२५ नये पैसे प्रति व्यक्ति और उप-कर (सेस) के प्रति पये पर १६ नये पैसे।
ख.	बिहार	–भूमि राजस्व का ६¼ प्रति शत (किन्तु अब तक इसे क्रियान्वित नही किया गया है)।
ग	केरल	–बुनियादी कर (कानून मे वर्णित है) का तीन-चौथाई (किन्तु इस कर के कानून की सवैधानिकता पर विवाद है, इसलिए वास्तविक हस्तातरण नही किया गया है)।
घ	मद्रास	–शहर पचायत के लिए भूमि-उप-कर के प्रति रुपये पीछे १० नये पैसे तथा ग्राम पचायतो के लिए भूमि-उप-कर से २० नये पैसे प्रति व्यक्ति।
च	महाराष्ट्र	–वसूली के आधार पर भूमि राजस्व का ३० प्रति शत।
छ	मैसूर	–भूमि राजस्व का ३० प्रति शत।
ज	पजाब	–भूमि राजस्व का १० प्रति शत।
झ	राजस्थान	–प्रति व्यक्ति २० नये पैसे, अधिकतम ४०० रुपये तक।

मुद्राक शुल्क (स्टाम्प ड्यूटी) पर सरचार्ज लगाना पचायतो को दी जानेवाली राज्य सहायता का दूसरा रास्ता है। आन्ध्र प्रदेश और मद्रास मे सम्पत्ति विनिमय अथवा उपहार मे दी गयी सम्पत्ति के दस्तावेज मे उल्लिखित मूल्य या बिक्री के मामले मे प्रतिफल की रकम पर अथवा रेहन रखने पर प्राप्त रकम पर अधिकतम पाच प्रति शत सरचार्ज लगाया जाता है। केरल मे सरचार्ज की अधिकतम दर चार प्रति शत है। यह सहायता कभी-कभी प्रति व्यक्ति अनुदान से अधिक होती है। पचायतो तथा अन्य शीर्ष सस्थाओ के लाभार्थ विभिन्न राज्यो मे मुद्राक शुल्क पर सरचार्ज की दरो का वर्णन अगले पृष्ठ पर दी गयी तालिका मे किया गया है।

पचायतो की आर्थिक अवस्था सुदृढ करने के लिए मुद्राक शुल्क बहुत ही उपयुक्त है, क्योकि इस शुल्क की अदायगी करनेवाले खरीदार या रेहन रखनेवाले होगे, इसलिए आम जनता पर इसका कोई असर नही पडेगा।

मुद्राक-शुल्क के सम्बन्ध मे एक प्रश्न है कि यह पूर्णत पचायत को ही मिले, जैसा कि मद्रास मे होता है, या पचायत राज की अन्य सस्थाओ को भी उसका हिस्सा दिया जाय। मद्रास मे एक समूचे पचायत सघ क्षेत्र के लिए मुद्राक-शुल्क की वसूली की जाती है और बाद मे भूमि राजस्व के सग्रह के आधार पर पचायतो मे उसका वितरण किया जाता है। आन्ध्र प्रदेश मे पचायत अपने क्षेत्र मे सग्रह किये गये शुल्क का ३/६ हिस्सा प्राप्त करती है और शेष भाग का समिति तथा जिला परिषद के बीच बराबर के हिसाब से बटवारा होता है। लेकिन हम ऐसा हमसूस करते है कि उसका समिति और उसकी पचायतो के बीच साम्य-मूलक बटवारा होना चाहिए। इसलिए हम सिफारिश करते है कि

१ पचायत राज सस्थाओ के लाभ के लिए मुद्राक-शुल्क पर सरचार्ज लगाया जाय जो सम्पत्ति के मूल्य पर पाच प्रति शत से अधिक न हो,

२ यह सरचार्ज राज्य सरकार द्वारा लगाया जाना चाहिए तथा राज्य के मुद्राक-शुल्क के साथ ही वसूल करना चाहिए, और

३ एक पचायत समिति के क्षेत्र के अदर सग्रह किये गये शुल्क को समिति और उसकी पचायतो के बीच साम्य-मूलक आधार पर वितरित करना चाहिए।

दूसरा महत्वपूर्ण कर, जिसका आगम पूर्णत या अशत पचायतो अथवा समितियो को दिया जा सकता है, राज्य मनोरजन कर है। मद्रास और आन्ध्र प्रदेश मे यह व्यवस्था है कि किसी पचायत सघ समिति के क्षेत्र मे सग्रह किये गये मनोरजन कर का ९० प्रति शत

हस्तातरित कर उस पचायत सघ समिति और उसकी पचायतों के बीच राज्य सरकार द्वारा निर्धारित अनुपात के अनुसार वितरण किया जाय। फिलहाल पूरा अश पचायतो को दिया जाता है। गुजरात, महाराष्ट्र, केरल और मैसूर के अधिनियमों मे पचायतो को मनोरजन कर लगाने के अधिकार दिये गये है, जो आम तौर से सिर्फ प्रदर्शन कर ही है। हमारी सलाह है कि राज्य सरकार द्वारा लगाया गया मनोरजन कर पूर्णत या अशत पचायतो तथा समितियो के साथ बाटा जाय। इसके अतिरिक्त वे प्रदर्शन कर भी लगा सकती है।

अनेक राज्यो मे भूमि राजस्व और उप-करो के आधार पर होनेवाली आय की असमानताओ को दूर करने के लिए समकारी अनुदान दिये जाते है। इस आधार पर उपजाऊ और सिचित भूमिवाले क्षेत्रो की पचायतो को अवश्य ही अन्य क्षेत्रों से अधिक आय होगी। महाराष्ट्र मे भूमि राजस्व के ३० प्रति शत के बराबर के अनुदान तथा प्रति व्यक्ति एक रुपये की दर के हिसाब से जो रकम आती है उनका फर्क राज्य सरकार पूरा करती है। आन्ध्र प्रदेश मे प्रति व्यक्ति २५ नये पैसे के हिसाब से जो रकम होती है, वह पिछडी हुई पचायतो के बीच वितरित करने के लिए समकारी कोष के रूप मे रखी जाती है। मैसूर मे ३० प्रति शत भूमि राजस्व अनुदान से होनेवाली आय, जिन पचायतो की प्रति व्यक्ति ४५ नये पैसे के हिसाब मे होनेवाली रकम से कम पडती हो, उन्हे इस अन्तर के बराबर सहायता दी जाती है।

राज्य	आगम प्राप्त करनेवाली सस्था	अधिनियम मे निर्धारित सीमा
आन्ध्र प्रदेश	पचायत समिति परिषद	—ऐसी दर पर जो सरकार द्वारा मुकर्रर हो, लेकिन सम्पत्ति की कीमत पर पाच प्रति शत से अधिक नही।
असम	पचायत	—निर्धारित समय पर और तरीके से लगाया जायेगा।
गुजरात	तालुका पचायत	—तालुका पचायत / जिला पचायत की दर्ख्वास्त पर लगाया जायेगा लेकिन उसकी दर मुद्राक शुल्क के १५ प्रति शत से अधिक नही होगी।
	जिला पचायत	—जिला पचायत की दर्ख्वास्त पर लगाया जायेगा जिसकी दर मुद्राक शुल्क के १० प्रति शत से अधिक नही होगी।
केरल	पचायत	—सरकार द्वारा निर्धारित की जानेवाली दर पर लगाया जायेगा, किंतु सम्पत्ति की कीमत के चार प्रति शत से अधिक नही होगा।
मध्य प्रदेश	जनपद पचायत	—सम्पत्ति के मूल्य पर ½ प्रति शत बढाने का अधिकार।
मद्रास	पचायत	—सरकार द्वारा निर्धारित की जानेवाली दर पर, किन्तु सम्पत्ति के मूल्य के पाच प्रति शत से अधिक नही।
महाराष्ट्र	जिला परिषद	—सम्पत्ति के मूल्य पर ½ प्रति शत।
मैसूर	तालुका मण्डल	—ऐसी दर पर जो सम्पत्ति के मूल्य की पाच प्रति शत से अधिक न हो।
पजाब	पचायत	—सरकार द्वारा निर्धारित की जानेवाली दर पर, जो दो प्रति शत से अधिक न हो।

कुछ राज्यो मे पचायत के मत्री का पूर्ण अथवा आशिक वेतन दे कर उस रूप मे राज्य सहायता दी जाती है। इस सम्बन्ध मे हम मशविरा देते है कि अगर प्रति व्यक्ति अनुदान (बशर्ते कोई हो) से आवश्यकता पूरी न होती हो तो यह सहायता प्रयोजनात्मक अनुदान के रूप मे होनी चाहिए। यह आवश्यक है कि मत्री का वेतन प्रत्यक्षत पचायत ही दे।

उडीसा मे केंदू-पत्ती की बिक्री मे होनेवाली आय पचायतो तथा पचायत समितियो के बीच बॅाटी जाती है। हमारी सलाह है कि मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश की सरकारे भी, जिनके यहॅा भी राजस्व का यह स्रोत है, उडीसा का अनुकरण करने की बात पर विचार कर सकती है।

मद्रास की सरकार पचायतो को अधिक दर पर कर लगाने तथा उन्हे समय पर वसूल करने की बात को प्रोत्साहन देने के लिए पचायतो द्वारा गृह-कर के रूप मे वसूल की गयी रकम के बराबर अनुदान देती है। कुछ राज्यो मे अपना फर्ज अच्छी तरह निभाने के लिए, जिसमे राजस्व का सग्रह भी शामिल है, पचायतो को पुरस्कार देने की व्यवस्था भी की गयी है। हम समझते है कि मद्रास से अधिक विस्तृत आधार पर उपयुक्त अनुदान देने से, किन्तु अधिक उदार दर पर, पचायतो के अन्दर करो की दर न्यूनतम से ऊपर उठाने तथा समय पर उसे वसूल करने की प्रेरणा जागृत होगी। इसलिए हम सिफारिश करते है कि पचायतो को उनके द्वारा लगाये गये पूरे कर (बकाया रकम छोड कर) को आधार मान कर उसके तुल्य अनुदान दिया जाय। अगर एक साल के अन्दर ७५ प्रति शत वसूली कर ली जाती है तो उस वसूली पर १५ प्रति शत के बराबर रकम तुल्य अनुदान के रूप मे दी जाय और उसके बाद प्रति पाच प्रति शत की वसूली पर उक्त प्रकार के अनुदान मे भी एक प्रति शत की वृद्धि की जाय। पिछडे हुए क्षेत्रो की पचायतो के लिए यह अनुदान और भी उदार आधार पर दिया जाना चाहिए।

अनुरक्षण सहायता

इन समस्त सहायताओ के बावजूद हमे खेद के साथ इस बात का उल्लेख करना पडता है कि अधिकाश पचायतो की कुल आय आवश्यकता से काफी कम है। कि उनका आधार मजबूत हो सके। यह स्पष्ट है कि आवश्यक प्रशासनात्मक कर्मचारियो के बिना कोई भी ग्राम पचायत प्रभावकारी ढग से अपना काम नही कर सकती। स्थानीय करो तथा अन्य तरीको मे पचायते अपने आपके स्रोतो का विस्तार करने के प्रयासो मे तब और भी अधिक सफल हो सकेगी, जब कि जनता यह समझ ले कि उस आय का उपयोग उनकी सुख-सुविधाओ के लिए होगा, न कि सिर्फ प्रशासनिक खर्चो के लिए। इसलिए, हम मशविरा देते है कि प्रत्येक पचायत को प्रति व्यक्ति एक रुपये के न्यूनतम आधार पर अनुरक्षण सहायता दी जाय और केन्द्र तथा राज्य की सरकारे इस सहायता मे बराबर अश का योगदान करे। यहॅा यह तर्क दिया जा सकता है कि अब तक भारत सरकार ने इस कार्य के लिए पचायतो को कोई प्रत्यक्ष सहायता नही दी है। किन्तु हम अच्छी तरह जानते है कि केन्द्रिय सरकार भी राज्य सरकारो की तरह ही इस बात के लिए व्यग्र है कि पचायत राज की ये बुनियादी इकाइया न्यूनतम आय के अभाव मे कमजोर न होने पाये अथवा खण्डित न हो जाय।

केन्द्रीय सहायता

हम नही सोचते कि बलवतराय मेहता समिति के प्रतिवेदन तथा राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रस्ताव द्वारा प्रदत्त उत्प्रेरणा के विना सारे भारत मे इतने व्यापक पैमाने पर ग्राम पचायतो की स्थापना हो पाती। जहॅा तक केन्द्रीय सरकार का ताल्लुक है, यह अनुदान-जिस पर करीब १२ करोड रुपये सालाना खर्च होगे-तीसरी पच वर्षीय योजना की शेष अवधि के लिए सविधान के अनुच्छेद २८२ के अनुसार मौजूदा समय मे राज्यो को दिये जा रहे अनुदान के साथ पूर्णत या अशत समायोजित किया जा सकता है। यह कार्य जिस सीमा तक होगा, वही केन्द्रीय सहायता होगी तथा इस प्रकार राज्यो को दी जानेवाली केन्द्रीय सहायता मे पचायतो के लाभार्थ दी जानेवाली रकम का अलग उल्लेख रहेगा। पचायतो को राज्य सरकारो की ओर से आर्थिक सहायता ऊपर वर्णित विभिन्न रूपो मे दी जाती है, किन्तु जहॅा-कही भी यह सहायता न्यूनतम ५० नये पैसे प्रति व्यक्ति के हिसाब से कम पडती है, उसे पूरी करने के बाद ही राज्य सरकारे केन्द्रीय सहायता प्राप्त कर सकने के योग्य हो सकेगी।

हमारी सलाह यह नही है कि कोई भी राज्य पचायतो को प्रति व्यक्ति ५० नये पैसे के हिसाब से सहायता दे कर ही सतुष्ट हो जाय। जब तक पर्याप्त रकम की व्यवस्था नही हो जाती, पचायते अपने दायित्व को निभा सकने मे असमर्थ रहेगी। फ्रान्स, ब्रिटेन तथा कुछ अन्य देशो मे इन पचायतो जैसी स्थानीय सस्थाओ की प्रति व्यक्ति आय ५० रुपये से १०० पये तक है। अपनी पचायतो की औसत आय तो प्रति व्यक्ति पाच पये तक पहुँचाने मे ही हमे काफी वक्त लग जायेगा। हमारा विश्वास है कि प्रति व्यक्ति एक रुपया न्यूनतम सहायता तो प्रत्येक पचायत को केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो से मिलनी ही चाहिए। हमे इस बात मे कतई सदेह नही है कि अगर यह सिफारिश मजूर कर ली गयी तो सारे देश की पचायतो मे एक मनोवैज्ञानिक क्रान्ति उत्पन्न हो जायेगी और तब वे अपने स्रोतो से आज की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त कर सकने मे समर्थ होगी तथा जैसा कि हमने ऊपर कहा है, वे अनिवार्य और ऐच्छिक करो से पूर्ण लाभ उठाने की चेष्टा करेगी।

उल्लेखनीय सफलता

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की उल्लेखनीय सफलता यह है कि विद्यालय भवन, सड़के, दवाखाना, सार्वजनिक शौचालय, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, पचायत घर आदि जैसे विकास कार्यो के लिए पर्याप्त स्थानीय योगदान प्राप्त करने की प्रथा सामान्य हो गयी है। यह इसलिए सम्भव हो सका है कि सरकार की ओर से भी उसके तुल्य सहायता देने का प्रस्ताव किया गया है। हम इस बात के लिए उत्सुक है कि यह तरीका कायम रखा जाय। कुछ राज्यो के पचायत कानूनो मे मजदूरी-कर की विधि है, जोकि नकद मुजरा किया जा सकता है। फिर पचायतो को यह भी अधिकार दिया गया है कि किसी खास उद्देश्य के लिए वे भूमि-कर आदि के आधार पर विशेष कर लगा सकती है। हाल ही मे, सामुदायिक विकास मत्रालय की प्रेरणा से 'सुरक्षा श्रम बैंको' की स्थापना की गयी है जिनमे ग्रामीण जनता के श्रम का हिसाब रखा जाता है। हम समझते है कि इन समस्त प्रयासो को विवेकपूर्ण बनाया जाय। इसके लिए हम निम्न सिफारिश करते है

उपसंहार

समस्त राज्यो की पचायतो को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वे किसी विशेष विकास परियोजना को क्रियान्वित करने के लिए भूमि-राजस्व, गृह-कर या अन्य करो के आधार पर विशेष कर लगा सके। यह प्रकार सिर्फ एक वर्ष के लिए वैध होना चाहिए, लेकिन प्रस्ताव के जरिये उसे पुन नवीन किया जा सकता है। सबसे पहले तो इस बात की कोशिश की जानी चाहिए कि योजना को स्वैच्छिक योगदान के रूप मे प्राप्त धन और श्रम के बल पर पूरा किया जाय। अगर यह योगदान पर्याप्त न हो तो 'सुरक्षा श्रम बैंक' श्रम कर या नकद अथवा श्रम के रूप मे दिये जा सकनेवाले विशेष कर लगाने का मार्ग अपनाना चाहिए। स्वैच्छिक अशदान को इन करो के साथ समायोजित किया जा सकता है। यह देखना भी जरूरी है कि इस तरह की स्वैच्छिक, अनिवार्य या दोनो प्रकार की अत्यधिक मागो का जनता पर अधिक बोझ न पडे। इसके साथ-साथ इस बात का भी स्मरण रखना है कि बेकार श्रम को उपयोगी व सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप मे बदलना हमारे गावो के विकास का सर्वाधिक उपयुक्त मार्ग है।

ग्राम सफाई

जागेश्वर गोपाल श्रीखण्डे

ग्रामीण क्षेत्रों मे वातावरण को स्वच्छ बनाये रखने की दृष्टि से मानव मल-मूत्र को योग्य ढग से तथा सस्ते में उपयुक्त स्थान में पहुँचाने की कितनी जरूरत है, इस विषय पर विशेष बल देने की आवश्यकता नही है। इसी समस्या का हल करने मे हरेक को सहज ही उपलब्ध होने-वाला सस्ता जल-बद शौचालय सहायक होना चाहिए।

यह सभी जानते है कि हमारे देश मे प्रत्येक वर्ष बहुत लोग हैजा, मियादी बुखार और सग्रहणी जैसी महामारियो के शिकार हो चल बसते है और लाखो लोग अपग हो जाते है। इसी प्रकार आत-आकीर्णन भी बडी बीमारी है। अस्सी प्रति शत से अधिक ग्रामीण इससे पीडित है। आतो पर आक्रमण करनेवाली जोक भोजन खा जाती है और उसके कारण मनुष्य धीरे-धीरे दुर्बल होने लगता है। यह रोग कब्ज के कारण होता है। शहरी कूडे-कचरे तथा मानव मल-मूत्र से गर्म खमीर प्रक्रिया के जरिये खाद बनाने पर भी आकीर्णन का भय रहता है।

वातावरण की स्वच्छता

स्वच्छता तथा सफाई ने, विशष कर वातावरण की, शहरी और ग्रामीण दोनो ही क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लया है। आयोजन नही होने के कारण गॉवो और शहरो का बेतरतीब विकास हुआ, जोकि अपनी बढती आबादी के लिए उपयुक्त सफाई व्यवस्था नही कर सके। फिर, यातायात के विकास ने लोगो का एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना बहुत ही सहज कर दिया है और यदि समाज के चन्द लोग भी स्वास्थ्य-नियमो को नजरदाज करते है तो महामारी फैल सकती है। अत हमारी आबादी के बढते जाने के साथ ही साथ वातावरण की स्वच्छता पर ध्यान देना उतना ही जरूरी हो जाता है।

वातावरण की स्वच्छता बनाये रखने के लिए अत्या-वश्यक है कि मानव मल-मूत्र का सफाई के साथ परित्याग किया जाय, पीने के पानी मे कीडे न पड सके, उपयुक्त नालियॉ बनायी जाये, मक्खियो और मच्छरो पर नियत्रण पाया जाय और अन्न तथा वातावरण के सम्बन्ध मे स्वास्थ्य-नियमो का कडाई से पालन किया जाय। ग्रामीण क्षेत्रो मे मल-मूत्र का सफाई के साथ परित्याग तथा पानी की पर्याप्त पूर्ति जन स्वास्थ्य को बनाये रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण समस्या रही है और अब भी बनी हुई है। मल-मूत्र के बेढगे परिन्याग और पीने के गदे पानी के कारण भारत मे प्रत्येक वर्ष काफी लोग जठरान्त्रिक बीमारी मे पीडित होते है और उनमे से बहुत-से मर जाते है।

आकीर्णन

हमारे गॉवो मे, जहॉ कि हमारी ८० प्रति शत आबादी रहती है, दूसरी बडी बीमारी आकीर्णन के कारण होती है, जोकि मनुष्य की शक्ति को क्षीण करती है। इससे पीडित लोग दैनिक कार्य भी नही कर पाते। इन बीमारियो को दूर करन का एक ही सतोषजनक उपाय है और वह है मल-मूत्र को सुरक्षित जगह मे पहुँचाना।

इस प्रकार शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों मे वातावरण की स्वच्छता ही वह आधार है, जिससे जन-स्वास्थ्य की दिशा मे प्रगति की जा सकती है। वातावरण स्वच्छ न होने पर समाज के स्वास्थ्य-स्तर मे किसी सुधार की अपेक्षा नही की जा सकती। इस प्रकार देश मे जन स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त स्वच्छता और सफाई अति आवश्यक पहलू है। दूषित वातावरण के कारण होने-वाली बीमारी और मृत्यु की रोकथाम जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र मे काम करनेवालो के लिए प्रमुख कार्य होना

चाहिए, जिन्हे कि वे अभिनव सफाई व्यवस्थाओ के जरिये दूर कर सकते है।

यह आम धारणा है कि ग्रामीण जल पूर्ति और सफाई योजनाएँ बनाना व कार्यान्वित करना सरल है तथा उनके कार्यान्वय मे किसी तकनीकल दक्षता की आवश्यकता नही पडती। समय-समय पर यह पाया गया है कि क्षेत्र मे काम करनेवाली विभिन्न सस्थाओ के विचार-वैभिन्य और बिना स्तरीय पद्धतियो को अपनाये ग्रामीण जल पूर्ति योजनाओ को कार्यान्वित करने के भिन्न तरीको के कारण ही ये योजनाएँ असफल रही है। शहरी क्षेत्रो के लिए जबकि जल पूर्ति और नाली योजनाओ के लिए निश्चित मानक और डिजाइन हो सकती है, ग्रामीण क्षेत्रो मे जल पूर्ति के लिए किसी खास किस्म की डिजाइन व मानक का सुझाव देना तथा उसे कार्यान्वित करना कठिन है।

नल के जरिये जल पूर्ति

इन योजनाओ को ग्रामीण क्षेत्रो मे गाँव के नक्शे, आबहवा और सामाजार्थिक अवस्थाओ के अनुसार बनाया और कार्यान्वित किया जाता है, जोकि जगह-जगह पर बहुत भिन्न है। अत योजनाओ के बनाने मे अनुभवी जन-स्वास्थ्य इजीनियर की सहायता बहुत ही आवश्यक है, ताकि लोग उन्हे स्वीकार कर सके और जोकि उनकी आर्थिक पहुँच के अन्दर भी होगा। शहरी योजनाओ के मामले मे इस तरह की विशिष्ट समस्याएँ नही उठेगी, परन्तु ग्रामीण योजनाओ के लिए ये बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाती है।

नल के जरिये जल पूर्ति का कितना महत्व है तथा यह कितना वाछनीय है, इसे अधिक बताने की आवश्यकता नही है, परन्तु साथ ही यह नही कहा जा सकता कि ग्रामीण जल पूर्ति की समस्या का यही एक मात्र हल है। बहुधा यह देखा जाता है कि ग्रामीण नल जल-पूर्ति व्यवस्था को उदारतापूर्वक नही अपनाते, क्योकि इससे गाँव की कच्ची गलियो मे पानी इकट्ठा हो जाता है।

सस्ते और स्वच्छ शौचालय

ग्रामीण सफाई के क्षेत्र मे मानव मल-मूत्र को उपयुक्त जगह मे भेजने की व्यवस्था की जा रही है और ग्रामीण घरो के लिए उपयुक्त तथा प्रभावकारी जल-बन्द शौचालय भी बनाये गये है। परन्तु ये शौचालय महगे है और इनमे सीमेट की जरूरत पडती है, जिसकी कमी है। गाँव के प्रत्येक घर मे, जहा कि अब पानी उपलब्ध है, चार से पाच व्यक्तियो के लिए सस्ता और जल-बन्द शौचालय (जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है) उपलब्ध करना
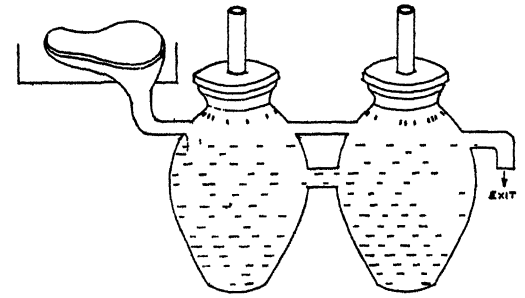
सस्ता, स्वच्छ जल-चोलित शौचालय

सम्भव है। इस शौचालय के ये लाभ है (१) सरल और सादा है, (२) सस्ता है— कीमत ३० रुपये, (३) बहुत कम सीमेट की आवश्यकता होती है, (४) सपूर्णत ग्रामोद्योगी उत्पादनो से ही बनता है, (५) ढक्कन को सहज ही हटाया जा सकता है और मल-मूत्र निलकाने के बाद फिर अपनी जगह बैठा दिया जा सकता है, और (६) गदा पानी जमीन के नीचे बनी ६ इच व्यासवाली नाली के जरिये, जोकि गावो मे कुम्हारो द्वारा बनायी जाती है, खेत मे पहुँचाया जा सकता है। मिट्टी के बने बर्तनो पर सीमेट की पर्त चढाना आवश्यक है, ताकि उनमे से पानी नही रिसे। ऐसा नही करने से पीने के पानी का स्रोत गदा हो सकता है।

वर्धा १० मई १९६३

गुड़ और खाण्डसारी उद्योग

दीना नाथ दुबे

गुड़-खाण्डसारी उद्योग उत्तर प्रदेश मे एक कठिन समय मे हो कर गुजर रहा है। उद्योग को दृढ आधार पर प्रतिष्ठापित करने के लिए यह आवश्यक है कि गुड़ खाण्डसारी के उत्पादन मे उन्नत साधन-सरजाम व तकनीकों के व्यवहार को लोकप्रिय बनाया जाय ताकि वे ज्यादा दिनो तक टिक सके और स्तर-निर्धारण, प्रमाणीकरण आदि की व्यवस्था की जा सके।

देश की वर्तमान अर्थ-व्यवस्था के कृषि-प्रधान उद्योगो मे गन्ने से गुड और खाण्डसारी बनाना एक मुख्य ग्रामोद्योग है अथवा यो कहिये कि यह खेती के बाद ऐसा धधा है जिसके माध्यम से ग्रामीणो और बैलो को चार-पॉच महीने रोजगार मिल जाता है, जबकि उनके पास कोई काम नही होता। गॉवो मे गन्ने से गुड़, राब और खाण्डसारी बनाने की कई विधियॉ है। साधारणतया कोल्हू से चार व्यक्तियो को रोजी मिलती है। सन् १९५६ की पशु-गणना के अनुसार समूचे देश मे कुल ५,४४,९८८ बैल-चालित कोल्हू है। इनमे से ३,०५,१५६ कोल्हू तो अकेल उत्तर प्रदेश मे ही चलते है। यदि चार व्यक्तियो के हिसाब से रोजगारी का तखमीना निकाला जाय तो अकेले उत्तर प्रदेश मे १२,२०,६२४ लोगो को घर बैठे रोजगारी प्राप्त होती है। इसी प्रकार २३,२९१ शक्ति-चालित कोल्हू (पावर क्रशर) तथा ८०० सेन्ट्री-फ्यूगल है। इन सबसे देश भर मे ३० लाख लोगो को तथा उत्तर प्रदेश मे २० लाख व्यक्तियो को मौसमी रोजगारी मिलती है।

विश्व की जितनी जमीन पर गन्ने की खेती होती है, उसकी ३० प्रति शत भूमि भारत मे है, किन्तु देश की कृषि भूमि का यह दो प्रति शत है। गन्ने की अत्यधिक फसल का कारण यह है कि पैदावार का ५५ प्रति शत बैल से चलनेवाले कोल्हूओ से पेरा जाता है। कुल गन्ना-उत्पादन का ६० प्रति शत भाग गुड-खाण्ड-सारी बनाने, ३० प्रति शत चीनी तथा शेष १५ प्रति शत चूसने व बीज के काम आता है।

योजना आयोग द्वारा नियुक्त ग्राम और लघु स्तरीय उद्योग (द्वितीय पच वर्षीय योजना) समिति ने लिखा था 'गुड उद्योग खास तौर पर इसलिए महत्वपूर्ण है कि उससे बहुत-से लोगो को रोजगार मिलता है।' देश के बहुत-से हिस्सो मे गुड उद्योग को दो मुख्य दिक्कतो का सामना करना पडता है। इनमे एक दिक्कत तकनीको सम्बन्धी है, जहॉ अविकसित औजारो व उत्पादन के पिछडे तरीको का प्रचलन है। दूसरी दिक्कत बाजार व्यवस्था सम्बन्धी है जहॉ माल रखने के स्थान यानी अच्छे गोदामो वगैरह की कमी, पैकिग और उत्पादन, प्रमाणीकरण व स्तर निर्धारण आदि की दिक्कत उसे उठानी पडती है। इसलिए गुड उद्योग के विकास कार्यक्रम का एक खास उद्देश्य यह होना चाहिए कि तकनीकी तौर पर बिजली से चलनेवाले कोल्हू जारी किये जाय और उन्नत प्रकार के कडाह तथा अन्य साधन प्रयोग मे लाये जाय एवम् गुड-खाण्डसारी इस प्रकार बनायी जाय कि वह ज्यादा दिनो तक टिक सके और भाण्डारीकरण, पैकिग व स्तर निर्धारण, प्रमाणीकरण आदि की ठीक व्यवस्था की जा सके।'

पृष्ठभूमि

गुड और खाण्डसारी का एक-दूसरे से अटूट सम्बन्ध है। जब गुड की कीमते गिरती है तो खाण्डसारी बना कर होनेवाली हानि को रोकने की चेष्टा की जाती है। कुछ लोग गुड-खाण्डसारी को चीनी उद्योग के विकास मे बाधक बताते है, किन्तु वे इस तथ्य को भूल जाते है कि देश के अधिकाश लोगो की प्रति व्यक्ति दैनिक

आय २५ नये पैसे भी नही है और ऐसे लोगो की मीठे सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति गुड-खाण्डसारी से ही होती है। इसके अलावा लाखो लोगो को इस उद्योग से रोजगार मिलता है, वह अलग।

हाल ही मे इस उद्योग के सामने एक बाधा आयी जिससे इन चार दुष्परिणामो को प्रश्रय मिला (१) गन्ना उत्पादको मे क्षोभ का उत्पन्न होना, (२) गुड-खाण्डसारी के उत्पादन मे गिरावट, (३) उद्योग मे लगे लोगो का बेरोजगार होना, और (४) गन्ने का उत्पादन भी कम होना। गन्ना उत्पादको के लिए चीनी मिलो को गन्ना बेचना असुविधाजनक रहा है, उन्हे कठिनाइयाँ बर्दाश्त करनी पडी है। अत यदि गन्ना उत्पादको को गन्ना देने के लिए अनिवार्य रूप से विवश किया जाता है तो निस्सन्देह चीनी मिले उनकी बेबसी का फायदा उठायेंगी और वैसी अवस्था मे गन्ना उत्पादको को जो परेशानी होगी उसका स्पष्ट परिणाम यह निकलेगा कि गन्ने का उत्पादन कम हो जायेगा। परिणाम-स्वरूप यह खतरा है कि गुड-खाण्डसारी उद्योग को अभीष्ट गन्ना नही मिल पायेगा, जिससे उद्योग का उत्पादन घटने के साथ ही साथ इसमे लगे लोगो के समक्ष बेकारी की समस्या भी खडी हो जायेगी। इसके अतिरिक्त मौजूदा नियत्रणो से गुड बनाने मे भी शिथिलता आ गयी है, क्योकि गुड की लदान बन्द होने से भाव गिर गया है तथा जिन राज्यो मे गुड जाता था वहाँ गुड न पहुँचने से भाव बेतहाशा बढ गये है और चोर बाजारी जैसी बुराइयाँ बढ गयी है।

संतुलित विकास

देश की प्रगति के लिए गुड-खाण्डसारी और चीनी उद्योग सभी के सतुलित विकास की आवश्यकता है। चीनी मिलो के समक्ष गन्ने की पूर्ति का जो प्रश्न है वह गन्ने की सघन खेती के माध्यम से हल किया जाय तो वैसा करना किसान, चीती मिलो और देश तीनो के लिए हितकर होगा। गुड-खाण्डसारी का विकास इस तरह किया जाय कि देश मे आतरिक खपत के लिए उसका उत्पादन बढे और मिल शक्कर का अधिकाश भाग विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए निर्यात किया जाय।

देश मे आज भी स्थिति यह है कि जन सधारण को पोष्टिक दृष्टि मे जितने मीठे की आवश्यकता होती है उतना नही मिल रहा है। अन्य देशो की तुलना मे हमारे देश मे प्रति व्यक्ति मीठे का उपभोग केवल २८ पौण्ड (१६ पौण्ड गुड तथा १२ पौण्ड चीनी) वार्षिक है, जबकि आस्ट्रेलिया मे १४३, अल्जीरिया मे १०६ तथा ब्रिटेन मे ९६ पौण्ड है—डाक्टरो के अनुसार एक स्वस्थ व्यक्ति को ४५.६ पौण्ड मीठे की उपलब्धि वार्षिक रूप से होनी चाहिए। देश की अधिकाश गरीब जनता अपनी मीठे सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति गुड-खाण्डसारी से ही करती है।

उत्पादन लक्ष्य

गुड-खाण्डसारी मागलिक पदार्थ होने के साथ-साथ उत्तम खाद्य पदार्थ भी है। आहार की दृष्टि से चीनी की अपेक्षा गुड मे पौष्टिक तत्व अधिक रहते है। गुड मे ऐसे सभी खनिज तत्व होते है जोकि गन्ने के रस मे मिलते है। चीनी मे ऐसे तत्वो का अभाव रहता है। यही कारण है कि राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने स्वास्थ्य और रोजगार दोनो की दृष्टि से इस उद्योग के विकास पर अत्यधिक जोर दिया था। सन् १९३२-३३ मे टैरिफ बोर्ड ने खाण्डसारी उत्पादन का लक्ष्य ढाई लाख टन आका था। योजना आयोग ने द्वितीय योजना मे सात लाख टन खाण्डसारी उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया था, किन्तु उसका उत्पादन मुश्किल से तीन लाख टन तक पहुँच पाया होगा। सरकार जैसे चीनी के लिए लक्ष्य निर्धारित करती है, वैसे ही गुड और खाण्डसारी के लिए भी लक्ष्य निर्धारित करने की आवश्यकता है। यदि इस उद्योग का वैज्ञानिक ढग पर विकास किया जाय, तो निस्सदेह ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था रूपी वस्त्र मे गरीबी और बेकारी का जो धब्बा लगा हुआ है वह काफी हद तक दूर हो सकता है। इसके अतिरिक्त चीनी की तरह गुड के निर्यात की भी काफी सभावना है।

कानपुर ९ जनवरी १९६४ ●

खादी ग्रामोद्योग के दशम वार्षिकाक मे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न विषयो पर कई अच्छे लेख है। खादी-विषयक तीन और अम्बर-विषयक एक लेख का जिक्र विशेष रूप से किया जा सकता है। ग्रामोद्योगो के विकास– जिसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण जनता का जीवन स्तर सुधारना है– मे इस पत्रिका ने अपने जीवन के दौ वर्षो मे जो योगदान दिया है, सम्पादकीय मे उसका अच्छा सर्वेक्षण किया गया है। आपकी पत्रिका के उज्ज्वल भविष्य के लिए मेरी शुभकामनाएँ।

शांतिनिकेतन (पश्चिम बगाल) **एस आर दास**
१ दिसम्बर १९६३ उपकुलपति
विश्वभारती

* * *

खादी ग्रामोद्योग के दशम वार्षिकाक मे खादी की भूमिका तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्य सम्बन्धी जानकारी-प्रधान और उद्देश्यपूर्ण आलोचनात्मक बहुमूल्य लेख है। लेखक-गण अपने क्षेत्र मे काफी अनुभवी है, जिनके विचारो पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

द्वितीय योजनावधि मे सरकार ने खादी और ग्रामोद्योगो पर ८७ करोड से कुछ अधिक रुपये खर्च किये, जिनमे से अकेली खादी पर ६८ करोड ६८ लाख रुपये व्यय हुए। तृतीय योजनावधि के लिए ९२ करोड रुपये का प्रावधान है।

निवेश की तुलना मे हो सकता है कि इस धन-राशि से कोई खास आर्थिक लाभ न हो। लेकिन जब तक व्यापक उत्पादक रोजगारी और आय का समाजवादी वितरण पूर्णता पर नही पहुँच जाता, तब तक ग्रामीण दस्तकारियो को अपने विभिन्न सीमा तक के यात्रीकरण–तकली और चरखा भी यत्र ही है–के साथ और बिजली का अधिकाधिक इस्तेमाल करते हुए ग्रामीणो के धधे और आय मे पूरक बना ही रहना है। जिम्मेदार सरकार और सामाजिक रूप से चेतन नागरिक को इन दस्तकारियो तथा इन पर निर्भर करनेवाले लाखो लोगो को सहारा देना ही है।

तथापि, हमे हमेशा यह तथ्य ध्यान मे रखना चाहिए–जैसा कि गाधीजी ने रखा–कि खादी तथा अन्य शारीरिक मेहनतवाले कार्य लक्ष्य तक पहुँचने के साधन भर है और लक्ष्य है बेरोजगारी व गरीबी को दूर करना। कृषि के लिए साल भर जल पूर्ति और कुटीर तथा लघु उद्योगो के लिए सस्ती बिजली देने से पूर्ण रोजगारी और पर्याप्त आय दोनो ही सुनिश्चित होते है। एक एकड सिंचित भूमि चार व्यक्तियो को साल भर काम देती है और एक किलोवाट बिजली कई लोगो को धधे मे लगायेगी। अत हमारे लिए यह आवश्यक होगा कि हम आज की आवश्यकता को हमेशा का लक्ष्य न बना ले। जैसा कि श्री अरुण चन्द्र गुहा ने अपने लेख मे कहा है, "(खादी और ग्रामोद्योग) कमीशन को यह महसूस नही करना चाहिए कि बडी इकाइयो की शक्ति का कुटीरोद्योगो मे इस्तेमाल करने से वे दूपित हो सकते

है। कमीशन इस सवाल पर विचार कर सकता है कि शक्ति चालित करघो के साथ शक्ति मे चलाये जानेवाले कताई यत्र को कुटीर उद्योग का आधार माना जा सकता है या नही।"

बिजली न सिर्फ रोजगारी फैलाने और उत्पादन बढाने का हल प्रदान करती है, बल्कि समझ-बूझ और सोच-विचार कर उसकी योजना बनाने से वह गॉववालो को खुशी-खुशी गॉव मे रख भी सकती है। इसका हितावह परिणाम तुरन्त ही स्पष्ट हो जायगा। शहरो मे उद्योगो के जमाव से लोगो का जो अवाछित जमाव हो जाता है, गदी बस्तियाँ तथा तकलीफे बढ जाती है, वे सब सदा के लिए दूर हो जायेगी। अत सुदूर गॉवो तक बिजली के वितरण तथा धन और अवकाश के सम वितरण से गाधीजी के सपनो का गॉव तैयार होना चाहिए, जोकि सचमुच उनके सपनो का भारत है।

नयी दिल्ली — **के एल राव**

१६ दिसम्बर १९६३ — केन्द्रीय सिंचाई और बिजली मत्री

मैने विशेषाक बडी दिलचस्पी के साथ पढा। कमीशन के नये अध्यक्ष ने अपने लेख मे ग्रामोद्योगो की भूमिका के एक विशेष गुण साथ ही ("साथ वे प्रविधि तथा उत्पादन मे व्यवहृत उपकरणो और तौर-तरीको मे सुधार करने के अवसर भी प्रस्तुत करते है। धीरे-धीरे सुस्थिर गति से नव अभिक्रम का निर्माण करने तथा सृजनशीलता को बढावा देने मे भी वे सहायक होते है।") की ओर ध्यान आकर्षित किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनके नेतृत्व मे कमीशन ग्रामोद्योग की सुस्थिर प्रगति मे अधिकाधिक सहायक हो सकेगा। मुझे विश्वास है कि मेरे समान अन्य पाठक भी इस प्रकार उन्नति करने के सन्दर्भ मे आपकी अमूल्य पत्रिका का पठन करेगे। अपने उच्च कोटि के विशेषाक के लिए क्या मै आपको बधाई दे सकता हूँ।

बम्बई — **दत्तात्रेय गोपाल कर्वे**

१४ अक्तूबर १९६३ — डिप्टी गवर्नर

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

बर्तानिया पहले से ही उच्च शिक्षा के व्यापक विस्तार के प्रति कृत-सकल्प है। आम तौर पर यह आलोचना होती है कि विस्तार का पैमाना बहुत छोटा है। आगामी बीस वर्ष का हमे पता है कि छात्र कहाँ से आयेंगे और यह मानने के अच्छे-भले कारण है कि उनके स्नातक बनने पर यहाँ अथवा अन्यत्र उन्हें काम मिल जायेगा अर्थात् उनके लिए काम मौजूद है। हम यह भी जानते है कि बढ़ती हुई सख्या की आवास-व्यवस्था के लिए भवन-निर्माण कैसे किया जाय, लेकिन हम यह नही जानते कि शिक्षक कहाँ से आयेंगे।

—सर एरिक ॲशबी 'इनवेस्टमेण्ट इन मैन', न्यू साइन्टिस्ट, लन्दन।

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई—५६ मे प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई—३४। वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष · मार्च १९६४ · षष्ठम अंक

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थ शास्त्र विषयक मासिक है, जिमका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नही है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखो पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन न ५७१३२९।

इस पत्र मे प्रकाशित लेखो में व्यक्त विचार आवश्यक नही कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क २.५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६।

इस अंक के लेखक

उछरगराय नवलशकर ढेबर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैंकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
अनन्त वासुदेव सहस्रबुद्धे	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
राम सुभग सिंह	–केन्द्रीय कृषि मंत्रि।
विक्टर सालवादोर डी'सोजा	–चण्डीगढ स्थित पंजाब विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष।
सुभाष चन्द्र सरकार	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित 'खादी ग्रामोद्योग' तथा 'जागृति' के सम्पादक।
सीताराम गगाधर शेण्डे	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन मे मधुमक्खी-पालन उद्योग निर्देशक।
गोविन्द बालकृष्ण देवडीकर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पूना स्थित केन्द्रीय मधुमक्खी अनुसधान तथा प्रशिक्षण सस्था मे मधुमक्खी-पालन के अवैतनिक वैज्ञानिक सलाहकार।
हरिहरन विश्वनाथन	–मद्रास राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के मधुमक्खी-पालन विकास अधिकारी।
जे राजय्या	–मार्तण्डम (मद्रास) स्थित यग मेन क्रिश्चियन एसोसिएशन के कार्यभारी (मधुमक्खी-पालन) सचिव।
कमलेश्वरानन्द पाण्डेय	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य, दिल्ली।
इस्तफा हुसैन	–उत्तर प्रदेश सरकार के भूतपूर्व ससदीय सचिव, गोरखपुर।
प्रभाकर शकर नाडकर्णी	–महाराष्ट्र के पूना स्थित सयुक्त औद्योगिक सहकार पंजीयक।
त्यमगुण्डलू कृष्णमूर्ति	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के ग्रामीण तेल उद्योग विकास अधिकारी।

सामान्य उत्पादन कार्यक्रम

उछरगराय न. ढेबर

भारतीय आर्थिक विकास का प्रश्न सिर्फ आर्थिक दृष्टि से पिछड़ेपन का ही नहीं, बल्कि एकागी अभिवृद्धि का भी है। पाच करोड हरिजनों को जानबूझ कर, ग्रामीण अर्थ व्यवस्था से अलग रखा गया है। सामाजिक और आर्थिक अस्पृश्यता ने उनके मानसिक धरातल पर हीन ग्रथियो और सशय की अमिट छाप छोड रखी है। हम लोग इस वास्तविक तथ्य को नजरदाज नही कर सकते कि हम एक ऐसे समुदाय मे काम कर रहे है, जिसमें सामुदायिक जागरण और अभिवृद्धि की अवस्थाएँ तथा स्तर भिन्न-भिन्न हैं। जब तक व्यष्टि और समष्टि यानी दोनों स्तरों पर इतनी चेतना का सृजन न हो जाय कि प्रत्येक व्यक्ति भलिभाति अपना कर्तव्य समझने लगे, तब तक आम जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सकना बहुत ही मुश्किल है।

सामान्य उत्पादन कार्यक्रम का उद्देश्य था ऐसी व्यवस्था करना कि लघु उद्योग अपने लिए निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति करने मे समर्थ हो सके। इस लक्ष्य-पूर्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए हमे तीन स्थितियो पर गौर करना होगा— लक्ष्यो तक पहुँचने मे कहाँ तक सफलता मिली, साथ-साथ उन लक्ष्यो की पूर्ति के लिए सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से जो उपाय किये गये वे पर्याप्त थे या नही और उन उपायो तथा क्षेत्र की वास्तविक अवस्थाओ के बीच कोई अतराल तो नही था। कुछ आलोचको ने खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम की आलोचना इस कल्पना के आधार पर की है कि प्रस्तावित उपाय पर्याप्त थे तथा क्षेत्रीय स्तर की तत्कालीन अवस्था एव किये गये उपायो के बीच कोई अतराल नही था। उनका अन्तत खयाल ऐसा है कि चूकि लक्ष्यो की पूर्ति नही हो सकी है, इसलिए कार्यक्रम को ही रद्द कर दिया जाय, क्योकि समुदाय की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए न तो वह कुछ दे रहा है और न कुछ दे सकने की सम्भावना ही है।

विचारधारा में अन्तर

स्थिति का नक्शा कुछ इस प्रकार है, जिसका चित्रण मै यहाँ कर रहा हूँ और मै समझता हूँ इसमे मै स्पष्ट हूँ। मै महसूस करता हूँ कि किये गये उपाय सिर्फ अपर्याप्त ही नही थे, बल्कि हमारी विचारधारा मे एक ऐसा अन्तराल रह गया है जिसके परिणाम हम मे से अनेक लोगो को पसन्द नही है। हमारी विचारधारा का यह अतराल इतना व्यापक है कि उसके परिणाम-स्वरूप हम अनेक क्षेत्रो मे लक्ष्य तक नही पहुँच सके और या तो खुद कार्यक्रम को ही दोषी ठहराने का रुख अख्तियार कर रहे है, जैसा कि कुछ लोग कहते है, या फिर ऐसा बलि का बकरा खोजते फिरते है जो आसानी से मिल जाय।

योजना आयोग के समक्ष पेश किये गये अपने 'नोटो' मे मैंने इस प्रश्न की व्याख्या की है और न्यूनतम आय तथा अर्थ-व्यवस्था के आम विकास, दोनो को लिया है। सक्षेप मे मेरी व्याख्या इस प्रकार है हम लोग एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करने की कोशिश कर रहे है, जिसे हमारे देश की आम जनता प्रत्यक्ष रूप से तब तक स्वीकार नही कर सकती, जब तक उसके अन्दर इतनी चेतना न आ जाय कि वह उसे अतर्ग्रहण कर सके। ग्रामीण उद्योगो मे सहकारिता की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए डा सुन्दरम* ने भी यही बात कही है। उनका कहना

* जो दु सुन्दरम · 'कॉमन प्रोडक्शन प्रोग्रैम', कॉमर्स, बम्बई, ७ और १४ दिसम्बर १९६२।

है, "ग्रामीण औद्योगीकरण मे सहकारिता की भूमिका पर बारबार कुछ ऐसा जोर दिया जा रहा है, मानो व्यष्टि और सामाजिक चेतना एव सामाजिक दायित्व तथा जागरण की समस्त समस्याएँ हल कर ली गयी।" जब तक व्यक्तिगत ओर सामाजिक दोनो स्तरो पर इतनी चेतना न आ जाये कि हर व्यक्ति अपने कर्तव्य के प्रति सचेत हो जाय, तव तक आम जनता से सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सकना मुश्किल होगा। ग्रामीण क्षेत्रो मे सहकार आन्दोलन को जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, वे इसी बुनियादी कारण से उत्पन्न होती है। मेरा खयाल है कि इस क्षेत्र मे हम विनोबाजी और गाधीजी के उपदेशो से काफी लाभ उठा सकते है।

निराधार

ग्रामीण विकास की समस्या पर जितना ही विचार करता हूँ, ऐसा प्रतीत होता है कि उस पर और गहन विचार करने की आवश्यकता है। प्रश्न सिर्फ आर्थिक पिछडेपन का ही नही है, बल्कि एक पक्षीय अभवृद्धि का भी है। इस एक पक्षीय पहलू का निराकरण जब तक नही हो जाता, पिछडापन भी आसानी से नही जा सकेगा। यह तो कुछ ऐसा है कि ोस बुनियाद की कल्पना के आधार पर हम अट्टालिका खडी करने की कोशिश कर रहे है, जबकि दरअसल, स्थिति यह है कि बुनियाद मे पत्थर की कौन कहे, बालू की भित्ति भी नही है।

पाच करोड हरिजनो को, जिनमे से अधिकाश ग्रामीण क्षेत्रो मे रहते है, जानबूझ कर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था से अलग रखा गया है। वे सब तरह के घटिया काम करते है, किन्तु उनके साथ अनिवार्य रूप से सामाजिक और आर्थिक च्युति के व्यवहारो ने उनके मानसिक धरातल पर हीन भावनाओ एव आत्म सशय की अमिट छाप छोड दी है। इसी तरह करीब ाई करोड आदिवासी पूरे अलगाव मे रहते है। वे अब तक यह भी नही जानते कि 'योजना' नामक दस्तावेज मे क्या है। उनकी चेतना का स्तर अब भी यही है कि अपने दलीय विकास पर सोचने की बजाय वे अब तक सिर्फ अपने ही आराम की बात सोचते है। भारतीय समाज का एक बहुत बडा अग सिर्फ मवेशियो की नस्ल-सुधार का काम करता है। वे अधिकतर खानाबदोश होते है। इसी तरह और भी बहुत-से सामाजिक दल है, जो उतने ही या उनसे अधिक पिछडे हुए है। ग्रामीण समुदाय शब्द से बोध होता है एक पचमेल समाज का, जिसकी जटिल आतरिक समस्याएँ 'यह करो', 'वह न करो' की आज्ञाओ या बर्जन की आज्ञाओ से और भी जटिल बन गयी है। इस गड्डमड्ड सामाजार्थिक मकडी के जाले को काटना निहायत जरूरी है। पहले हमे इतना स्पष्ट नही मालूम था। अत अगर हाथ करघे या अम्बर चरखे के कार्यो मे कोई दिक्कत हुई तो वह कार्यक्रम के स्वरूप मे किसी अर्तानिहित भूल की वजह से नही। बुनियादी भूल तो हमारी इस कल्पना मे है कि जिस किसी वक्त हम कार्यक्रम को भारतीय समाज के दरवाजे पर ले जायेगे, वह उसके वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी पहलू को तहे दिल से स्वीकार करने के लिए तैयार बै ा है। असल कठिनाई तो यही है कि भारतीय आम जनता और किसी प्रौद्योगिकीय ोस कार्यक्रम के प्रति उसकी स्वीकृति के बीच मानसिक सकोच की कुण्ठा व्याप्त है, जो सिमेण्ट की दिवाल की तरह खडी है। आम जनता आज भी अपनी अवस्थाएँ और शर्तो के मुताबिक ही अपने विकास की बात सोचती है, ताकि उसका वर्तमान सामाजिक ताना-बाना अक्षुण्ण वना रहे।

जनता और विकास कार्य

इस सदर्भ मे १८८५ से १९१५ के बीच राजनीतिक नेताओ के प्रयासो की याद करना शिक्षाप्रद होगा। उन लोगो ने शौर्य-पूर्ण वार्ताओ के जरिये स्वतत्रता के प्रश्न पर भारतीय जनता की उदासीनता के जाल को छिन्न-भिन्न करने की कोशिश की। वे पश्चिमी दुनिया के धाघ राजनीतिज्ञो तथा अर्थ-शास्त्रियो की भाषा मे बोलते थे। यह यथा योग्य भी था। किन्तु जनता की अवस्था यह थी कि पश्चिमी दुनिया के चेतना स्तर तक वह नही पहुँच पायी थी और भारतीय राजनीतिक

नेताओ की भाषा साधारण भारतीय जनता की पहुँच के बाहर थी। गाधीजी ही एकमात्र नेता थे, जिन्होने सर्व प्रथम राजनीतिक और आर्थिक विषयो की ओर उदासीन जनता का ध्यान आकर्षित किया। ऐसा कर सकने मे वे इसलिए सफल हुए कि वे ऐसी भाषा बोलते थे जो साधारण जनता की समझ मे आये। बद्किस्मती से, वह भाषा, जिसमे आम जनता समझ सकती थी, बौद्धिक वर्ग के लिए दुर्बोध्य थी। आज हम विकास के क्षेत्र मे वही अवस्था देखते है। हम मे से अधिकाश ऐसी भाषा बोलते है, जो जनता मुश्किल से समझ सकती है, किन्तु हम विश्वास किये बैठे है कि चूकि हम लोग उसके लिए स्कूलो और अस्पतालो की व्यवस्था कर रहे है, इसलिए वह हमारे प्रयासो मे अवश्य साथ देगी।

हमने जो भी सुविधाएँ प्रदान की है, भारतीय जनता ने उन्हे स्वीकार किया है। किन्तु ये सुविधाएँ उन लोगो को राष्ट्रीय विकास के प्रयासो की प्रमुख धारा की ओर आकर्षित कर सकने मे सफल नही हो पायी है, क्योकि हम उस तार को झकृत नही कर पाये है जो उन्हे स्वयमेव धारा की ओर खीच ले। हमारी समझदारी का यह फर्क, दुर्भाग्यवश, अनेक अन्य विरोधो को सामने ला रहा है।

वास्तविकता और समझ

खादी और हाथ करघा कार्यक्रम को उठा देना कठिन नही है, किन्तु गावो की जनता को लाभकारी धधा प्रदान करने के लिए उनके स्थान पर दूसरे धधो की व्यवस्था कर सकना आसान न होगा। बडे पैमाने के उद्योगो की कार्यप्रणाली पर अगर मुझे कोई 'नोट' लिखना हो तो, पश्चिमी अर्थशास्त्रियो को यह दिखा सकने मे मै शायद ज्यादा सफल होता कि उस क्षेत्र मे कितनी अक्षमता है और देश को उसे बनाये रखने मे कितना भारी मूल्य चुकाना पड रहा है। यह अक्षमता निजी और सार्वजनिक, दोनो क्षेत्रो मे मौजूद है।

भारतीय जनता की वास्तविक स्थिति को नजरन्दाज करना मुश्किल है– हमे एक ऐसे समुदाय के बीच काम करना पड रहा है जो सामाजिक चेतना और अभिवृद्धि के विभिन्न स्तरो और अवस्थाओ से होकर गुजर रहा है। हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि ये विभिन्नताएँ खुद-ब-खुद एकता मे बदल जायेगी और हमारी योजनाओ तथा परियोजनाओ को कार्यान्वित करने मे सहूलियते देने लगेगी। इस बात का खयाल रखना बहुत जरूरी है कि इन अवस्थाओ को अनुकूल बनाने तथा अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए उनके उद्देश्यात्मक उपयोग के लिए घोर प्रयासो की आवश्यकता है। इस सर्वागीण महत्व-पूर्ण तथ्य को स्वीकार कर लेने के बाद अपने कार्यक्रम को क्षेत्रीय अवस्थाओ के अनुकूल वैज्ञानिक मोड देने मे कोई कठिनाई नही होगी। वास्तविकता और अपनी समझदारी के बीच के अन्तराल को पाटने की तात्कालिक समस्या की ओर से अगर हम ने मुह मोडा तो उसका क्रूरता पूर्ण परिणाम होगा तानाशाही का उदय। आम खयाल है कि दक्ष इकाइयॉ जब से काम शुरू करेगी, बचत होने लगेगी और उस बचत से हम अपनी अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने मे समर्थ होगे। इस प्रकार की विचारधारा मे बडी भ्राति है। हमारे सपने की इन दक्ष इकाइयो और क्षेत्रीय स्तर की वास्तविकताओ के बीच दिवास्वप्न है, जिसकी वजह से हम काफी भोग चुके है। अब यह बेहतर होगा कि कार्यक्रम मे हम जनता की आवश्यकताओ के अनुकूल मोड लाये और उससे कहे कि लक्ष्य तक पहुँचने मे उसे भी अपनी जिम्मेवारी का निश्चित अश पूरा करना है।

अपने विकास के स्तर के अनुकूल जनता जिस भाषा को समझती है, वह रोजी और रोटी की भाषा है तथा वह भी अपनी दक्षता व चेतना के अनुरूप। इन्ही कारणो से मै इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक आधारहीन जनता को उसमे शामिल करने का सर्वोत्तम तरीका है– कृषि, पशु-पालन तथा ग्रामोद्योगो के लिए केन्द्रित प्रयास करना। हम जनता की पहुँच और समझ के परे के सामान्य उत्पादन कार्यक्रम को भूल जाय और ऐसे कार्यक्रम की सोचे, जो उसकी समझ और पहुँच के अन्दर हो।

परिगणित जातियों व परिगणित जन-जातियों की अवस्था में सुधार

वैकुण्ठ ल. मेहता

परिगणित जातियो और परिगणित जन-जातियों की आबादी देश की कुल जन सख्या की २१ प्रति शत है। उनके लिए ग्रामीण औद्योगीकरण के एक प्राणवान कार्यक्रम का होना अपरिहार्य है।

अब यह अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि यदि हमे अपने देश से गरीबी को निर्मूल करना है तो साल के बडे भाग मे बेकार अथवा अर्ध-बेकार रहनेवाले लाखो-करोडो लोगो के लिए काम की व्यवस्था करने को सर्वाधिक प्राथमिकता देनी ही चाहिए। हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के लिए उत्तरदायी अन्य कारको के अलावा यह जडावस्था इस कारण भी है कि अर्ध-बेकारी से बुरी तरह पीडित व्यक्ति बहुत बडी तादाद मे गावों मे रहते है, यह कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो के कर्मियो की औसत आय मे असमानताए है तथा गावो मे रोजगारी प्रदान करनेवाले मुख्य साधन--भूमि--पर आबादी का अधिक दबाव है। अत न्यून आय वर्ग मे शहरी आबादी से अधिक अनुपात ग्रामीण आबादी का है। इन वर्गो मे भी अधिकाश वे लोग मिलेगे, जोकि जन-जातियो तथा परिगणित जातियो के है। इसी कारण ग्राम्य समाज के कमजोर वर्गो की अवस्था का अध्ययन करनेवाले दल ने यह विचार प्रकट किया कि जन-जातियो अथवा परिगणित जातियो के सभी लोग इस श्रेणी मे आते है।

अध्ययन दल तथा परिगणित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति आयोग, दोनो का ही यह मत था कि ग्राम्य समाज के इन कमजोर वर्गो की गरीबी कम करने के लिए प्रथम उपाय है उनका आर्थिक विकास। आयोग द्वारा प्रस्तावित इस तरह के विकास का उद्देश्य होना चाहिए साल मे ३०० दिन काम चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए रोजगारी सुनिश्चित करना। अध्ययन दल का भी करीब-करीब यही मत था। अत यह उचित ही था कि योजना आयोग ने इस वर्ष जनवरी माह के अत मे 'परिगणित जाति और परिगणित जन-जातियो को रोजगारी' विषयक गोष्ठी का आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता योजना आयोग के सदस्य डाक्टर विजयेन्द्र कस्तूरी रग वरदराज राव ने की।

ग्रामीण जड़ावस्था दूर करना

अपने अध्यक्षीय भाषण मे डा राव ने कहा कि चूकि परिगणित जाति के ६ करोड ४५ लाख लोग और परिगणित जन-जातियो के २ करोड ९१ लाख ८० हजार लोग मिल कर देश की आबादी के २१ प्रति शत से अधिक हो जाते है, अत आबादी के इतने बडे भाग की रोजगारी अवस्था मे सुधार होने से सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर काफी प्रभाव पडने ही वाला है। समस्या मुख्यत ग्रामीण जडता को दूर करने की है, वह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि परिगणित जातियो के सिर्फ १० ७ प्रति शत और परिगणित जन-जातियो के सिर्फ २ ६ प्रति शत लोग ही शहरी क्षेत्रो मे रहते है, जबकि आम आबादी का १७ ८ प्रति शत भाग शहरो मे रहता है।

इन वर्गो की गभीर अवस्था का पता इस तथ्य से भी लगता है कि कृषि पर निर्भर करनेवाले कर्मियो की सख्या परिगणित जन-जातियो मे ८७ ८८ प्रति शत है और परिगणित जातियो मे ७२ २ प्रति शत। परिगणित जातियो के प्रातिशत्य मे से करीब आधे अर्थात् ३४ ६६ प्रति शत तो कृषि मजदूर है, जबकि श्रमिक शक्ति मे

सभी वर्ग के कृषि मजदूरो का प्रातिशत्य १७ है। सन् १९५१ और १९६१ के बीच कृषि मजदूरो की सख्या २ करोड ७५ लाख से बढ कर ३ करोड १५ लाख हो गयी, और यह इस बात की परिचायक है कि भूमि पर आबादी का बोझ बढा है, क्योकि इस अवधि मे खेती के अन्तर्गत जो भूमि है उसमे इस अनुपात से वृद्धि नही हुई है।द बाव बढने से मुख्यत परिगणित जातियो, परिगणित जन-जातियो तथा अन्य पिछडे वर्गो पर बुरा असर पडता है, क्योकि जो सर्वेक्षण किये गये है उनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि देश के अधिकाश भागो मे कृषि-मजदूरी इन्ही पिछडे वर्गो के लोगो द्वारा की जाती है। फिर, परिस्थितियो के दबाव के कारण परिगणित जन-जातियो और परिगणित जातियो मे सम्पूर्ण आबादी की बनिस्बत कर्मियो का अनुपात अधिक है और इन तीनो का प्रातिशत्य क्रमश ५६ ६५, ४७ ०७, और ४२ ४८ है।

बाधाएँ

परिगणित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति आयोग के प्रतिवेदन तथा हाल की गोष्ठी मे प्रस्तुत सामग्री मे भी जन-सेवाओ तथा अन्य क्षेत्रो मे विभिन्न स्तरो पर काम दिलाऊ दफ्तरो के जरिये रोजगारी के अवसर उपलब्ध करने पर विशेष जोर दिया गया है। समस्या की भीषणता को देखते हुए इस तरह की रोजगारी का परिमाण शायद ही इतना हो कि वह काम की वृहत माँग की पूर्ति कर सके। फिर, इस तरह की रोजगारी की राह मे कुछ बाधाएँ भी है। सर्व प्रथम, आम आबादी की तुलना मे इनमे निरक्षरता प्रातिशत्य बहुत अधिक है—परिगणित जन-जातियो मे ९१ ५२ प्रति शत, परिगणित जातियो मे ९० ०५ प्रति शत और आम आबादी मे ७२ ९८ प्रति शत। द्वितीय, जैसी कि अपेक्षा की जा सकती है, काम दिलाऊ दफ्तरो की बहियो मे परिगणित जातियो और जन-जातियो के जितने लोगो का नाम दर्ज है उनमे से अधिकाश 'अकुशल कर्मचारी श्रेणी' मे आते है और उनका प्रातिशत्य परिगणित जातियो के लिए ६८ तथा परिगणित जन-जातियो के लिए ७२ है। उनका शैक्षणिक स्तर उन्नत हो सके तथा वे इजीनियरिग या अन्य तकनीकल धधो मे प्रशिक्षण ले सके अथवा वे अपने ही परम्परागत या अन्य धधो मे कुशलता प्राप्त कर सके, इसमे कुछ समय लगेगा। गोष्ठि मे प्रस्तुत निबन्धो से सामान्य अनुभव यही होता है कि जिन वर्गो को छात्रवृत्तियॉ प्राप्त है, उन्होने सामान्य शिक्षा का क्षेत्र चुना है और उद्योग तथा तकनीकल प्रशिक्षण के लिए बहुत कम उत्साह दिखाया है। जैसा कि डा राव ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे सुझाया है, हो सकता है कि विशेष उत्प्रेरणाए देना सहायक हो, परन्तु इस बीच इस तथ्य को तो स्वीकार करना ही होगा कि इन वर्गो मे उद्योगो मे कुशल दस्तकारो के रूप मे रोजगार पानेवालो की सख्या नगण्य ही है।

खेती मे रोजगारी

चूकि इन वर्गो के अधिकाश लोग अपनी जीविका मुख्यत खेती से ही प्राप्त करते है, अत प्रथम दृष्टि मे अवस्था सुधारने के लिए जो उपाय नजर आता है वह है हमारे राष्ट्रीय उद्योगो मे रोजगारी की सम्भावना बढाना। तथापि, इस क्षेत्र मे भूमि पर वर्तमान भार और भूमि-बन्दोबस्त के लिए बडे क्षेत्र की अनुपलब्धि के अतिरिक्त कुछ अन्य सीमाए भी है। तथापि, जहा कही भी भूमि उपलब्ध है प्रत्यक्षत वहा प्रथम कार्य तो इन वर्गो के लोगो को बसाना और फिर उन्हे आर्थिक तथा तकनीकल सहायता देना होना चाहिए। परिगणित जातियो के २ करोड ४० लाख लोगो को खेतिहर बताया गया है, जिनमे से अधिकाश के पास खेत इतने छोटे-छोटे है कि उनकी अवस्था खेतिहर मजदूरो से अच्छी नही है। जैसा कि ऊपर बाताया जा चुका है, कृषि मजदूरी मे लगे परिगणित जातियो के लोगो का अनुपात आम आबादी के अनुपात से अधिक है। अत खेती के लिए भूमि मिलने पर कृषि कार्य करनेवाले दोनो प्रकार के कर्मी लाभान्वित हो सकते है। यदि बन्दोबस्त के लिए भूमि मिले तो परिगणित जन-जातियो को भी लाभ होगा।जैसा कि डा राव ने अपने भाषण मे बताया,

अभी परिगणित जातियो के जिन दो करोड व्यक्तियो को खेतिहर दिखाया गया है, उनकी अवस्था परिगणित जन-जातियो के खेतिहरो से कोई अच्छी नही है।

जैसा कि परिगणित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति आयोग ने जोर दे कर कहा है कि रोजगारी सुनिश्चित करने के लिए आयोजन व्यापक होना चाहिए। उसमे कृषि, वन, पशु-पालन तथा कुटीर और लघु उद्योगो का समग्र विकास शामिल होना चाहिए। आर्थिक विकास के इन क्षेत्रो मे से प्रत्येक के लिए उक्त आयोग ने व्यापक सिफारिशे की है, जिनका राष्ट्रीय योजना के अग स्वरूप जोरदार ढग से पालन होना चाहिए। उदाहरणार्थ कृषि क्षेत्र मे भूमि बन्दोबस्त के अलावा भू-सरक्षण के उपायो का प्रसार, सिचाई सुविधाओ की व्यवस्था ओर उन्नत अथवा सघन खेती के तरीको का समावेश करने पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

वन्य कार्य

आयोग ने सिफारिश की है कि जगलो के जरिये काम के अवसर प्रदान करने के कार्यक्रम मे उनके सरक्षण से उपयोग तक के हर स्तर पर आदिवासियो के लिए रोजगारी की व्यवस्था होनी चाहिए। उसने आग्रह किया है कि वन विभाग को इन आदिवासी समुदायो को भागीदार समझना चाहिए और स्थानीय आदिवासियो के हित मे चलाये जानेवाले प्रशोधन तथा अन्य उद्योगो के लिए वनो की खोज और उपयोग करने देना चाहिए। आयोग के अनुसार पशु-पालन को सक्रिय प्रोत्साहन देना चाहिए– खास कर उन क्षेत्रो मे जहाँ आदिवासी मवेशियो को हल जोतने तथा अन्य प्रकार की खीचन-शक्ति प्राप्त करने अथवा दूध-दुहने के काम मे लाते है।

तथापि, आयोग इस सम्बन्ध मे आश्वत हो गया था कि "कृषि की न्यून क्षमता के कारण आदिवासी क्षेत्रो मे निराश्रिता और अव-सामान्य जीवन-स्तर" की जो समस्या है, वह मुख्यत ग्रामीण और कुटीर उद्योगो का विकास कर ही हल की जा सकती है। इन उद्योगो के विकास से आदिवासियो की सर्जनात्मक शक्ति का उपयोग और विकास करना, उन्हे लाभदायक रोजगारी उपलब्ध करना और कच्चे माल को प्रशोधित माल मे बदलने के अवसर प्रदान करना पूर्णत सम्भव है। ये तीनो ही बाते महत्वपूर्ण है, किन्तु परिगणित जातियो और परिगणित जन-जातियो मे रोजगारी सबधी गोष्ठी के सन्दर्भ मे प्रथम यानी रोजगारी सम्बन्धी बात प्रधान है।

परिगणित जन-जातियो के सम्बन्ध मे जो बात प्रयुक्त होती है, वही चन्द सशोधनो के साथ परिगणित जातियो के लिए भी लागू होती है। शहरी और ग्रामीण दोनो ही क्षेत्रो मे ये भी समाज के कमजोर वर्गो मे आते है। शैक्षिणक क्षेत्र मे वे पिछडी हुई है, अधिकाश स्थानो मे वे बाकी समाज से सामाजिक रूप मे अलग-थलग है, और वे तकनीकल प्रशिक्षण अथवा कुशलता प्राप्त करने की सुविधाओ का लाभ उठाने मे असमर्थ है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे हो रहे परिवर्तनो के अनुकूल वे अपने परम्परागत उद्योगो मे समजन नही कर पाते और न ही आर्थिक साधन-स्रोतो तथा तकनीकल मार्गदर्शन की कमी होने के कारण वे अपने सरजामो और तकनीको मे सुधार करने की अवस्था मे है, जैसे कि रेशा उद्योग, शवच्छेदन, चर्मशोधन और चमडा काम मे। इन परम्परागत उद्योगो को, स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्चे माल और अन्य स्रोतो के पूर्ण उपयोग के आधार पर, पुनरुज्जीविन करने के लिए एक जोरदार कार्यक्रम बनाने से न सिर्फ रोजगारी की सम्भावना बढेगी, बल्कि उनके सामाजिक और आर्थिक दर्जे मे स्वागत योग्य परिवर्तन भी होगा। अत जहाँ ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के पुनरुत्थान हेतु ग्रामीण औद्योगीकरण का प्राणवान कार्यक्रम अत्यावश्यक है, वहाँ परिगणित जातियो और परिगणित जन-जातियो के हित मे–जोकि हमारे समाज के सर्वाधिक दलित और अधिकारविहीन वर्गो मे है – तो तुरन्त वैसा कार्यक्रम चलाना परमावश्यक है।

बम्बई • २८ फरवरी १९६४

खादी आन्दोलन में क्रांतिकारी परिवर्तन

अनन्त वासुदेव सहस्रबुद्धे

यदि खादी की बुनाई उपदान नामक नयी योजना के कार्यान्वय के फलस्वरूप गांववाले खादी उद्योग के विकास की जिम्मेदारी लेने को उत्साहित हों तो यह एक उल्लेखनीय सफलता मानी जायगी। वर्तमान कार्य को ही नया रूप देने से सहज होगा नये क्षेत्रो मे नयी पद्धति से कार्य का सगठन करना, और इतना ही नही, इससे देश भर में ग्रामाभिमुख खादी कार्य के विकास का पथ भी प्रशस्त होगा।

खादी के इतिहास मे एक क्रातिकारी परिवर्तन होने जा रहा है। भविष्य मे खादी कार्य किस तरह से चले, इस दृष्टि से गाधीजी ने १९४५ मे देश के सामने कुछ विचार रखे थे, उन सब को सकलित करके 'चरखा सघ का नवसस्करण' नाम से प्रकाशित किया गया। गाधीजी का कहना था कि चरखा सघ देश के लिए बना था, और अब उसे गॉव-गॉव मे वितरित हो जाना चाहिए। गॉववाले अपने लिए सूत काते, खुद के लिए कपडा बनाये और गॉव की आवश्यकता की पूर्ति होने के बाद माल को बाजार मे बेच दे। खादी को ग्रामाभिमुख बनाने, ग्राम स्वराज्य की नीव खादी के द्वारा डालने और एक अहिसक समाज रचना की तरफ चरखे के द्वारा देश को ले जाने का विचार १९४५ मे ही गाधीजी ने रखा था।

आज उस बात को १८ साल हो गये है। इस अवधि मे हम लोगो ने पुराने ढग से ही खादी काम को चलाया। अखिल भारत चरखा सघ का काम देश मे हजार-दो हजार सस्थाओ मे विभाजित हुआ, लेकिन तरीका वही रहा। कत्तिन को रोजी की आवश्यकता है, अत वह कातती है और उसकी खादी बनाने की जिम्मेवारी सस्थाओ की रहती है। इससे न गॉव मे सगठन खडा हुआ है और न गॉव के आर्थिक विकास की नीव ही डाली जा सकती है। आचार्य विनोबा भावे के मार्गदर्शन मे फिर से इसके बारे मे गत वर्ष से सोचा जा रहा था और अत मे रायपुर मे खादी कार्यकर्त्ताओ का सम्मेलन हुआ तथा उसमे यह तय किया गया कि खादी को ग्रामाभिमुख बनाने का नया तरीका अपनाया जाय।

खादी की तरफ देखने के दो दृष्टिकोण आज हमारे सामने आते है। गाधीजी मानते थे कि खादी जीवन की एक पद्धति (Way of Life) है। हर घर मे जैसे भोजन बनता है वैसे ही कताई का काम चले और उस पर व्यापारिक अर्थशास्त्र के सारे सिद्धान्त लागू नही किये जाये। इस दृष्टि से यदि सोचा जाय तो हमारे आज के काम मे बहुत-सी खामिया देखने मे आती है। देश के हर एक गॉव मे खादी का कार्यक्रम गॉववालो को चाहिए या नही, यदि आज इस पर मत लिये जाय तो बहुमत हमारे खिलाफ ही जायेगा। इसका अर्थ है कि हम लोगो ने भी अभी तक खादी के अनकूल वायुमण्डल नही बनाया है। आज भी गॉववालो को खादी गॉव के आर्थिक विकास की बुनियाद नही लगती।

आर्थिक ढांचा बदलनेवाली नहीं

खादी-ग्रामोद्योगो के आधार पर ग्रामीण विभाग की आर्थिक रचना हो, यह विचार न आज जनता मानती है और न सरकार की तरफ से उसके लिए कोई खास आग्रह है। इसलिए आज की हमारी खादी गॉव का आर्थिक ढाचा बदलनेवाली नही रही। आज खादी के द्वारा एक तरह से राहत का काम होता है, कुछ बेकारी दूर करने का काम भी उससे हो जाता है।

देश के कुछ अर्थशास्त्री मानते है कि खादी के द्वारा अर्ध-बेकारो और गुप्त-बेकारो को काम दिया जा सकेगा तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन का यही उद्देश्य होना चाहिए। बेकारी निवारण का काम खादी के जरिये नही हो सकेगा। शायद खादी जमात इससे सहमत नही होगी, लेकिन आज देश की बागडोर जिन लोगो के हाथ मे है और जिन अर्थशास्त्रियो के मत से आज की योजनाएँ बनती है, उनकी ऐसी ही राय रही है। खादी याने खेती का एक सहकारी उद्योग, लेकिन बेकारो को पूरी रोजी देने का काम उससे नही होनेवाला है।

ग्रामाभिमुख

खादी की तरफ देखने का दूसरा दृष्टिबिन्दु है—खादी को धीरे-धीरे औजारो तथा तकनालाजी मे सुधार करके मिलो की प्रतिस्पर्धा मे भी कुछ हद तक खडी रहना चाहिए और कपडा उद्योग देश मे विकेन्द्रित ढग से चले, ऐसी रचना करनी चाहिए। कुछ लोग मानते है कि खादी मिलो से कभी भी स्पर्धा नही कर सकती। लेकिन इस तरह की तकनीक अपनायी जा सकती है, जिससे खादी व मिल के कपडे मे १०–१५ प्रति शत से ज्यादा अन्तर नही रहे। उतना फर्क सामाजिक मूल्य या नैतिक मूल्य के तौर पर देश को सहन करना चाहिए और खादी को विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रतीक बनाना चाहिए। इस परिस्थिति मे यह भी सभव है कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा हाथ करघा मडल को आज या कल साथ बैठ कर विचार करना पडे और जितना सूत आज खादी मे अम्बर से बनता है उतना ही सूत हाथ करघा वाले भी अम्बर से बना कर अपने-अपने करघो के लिए हाथ कता सूत ही मुहैय्या करे। वैसी परिस्थिति मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा हाथ करघा मण्डल एक ही बन सकते है और दोनो मिल कर मिलो की प्रतिस्पर्धा मे किस तरह से खडा हुआ जा सकता ह, इस पर विचार कर सकते है।

खादी के काम को भविष्य मे इन दो मे से किसी एक पद्धति से चलाना होगा। खादी को ग्रामाभिमुख होना पडेगा तथा जीवन निष्ठा के आधार पर घर-घर मे अपने लिए सूत कातना और गॉव मे ही उसका कपडा बना लेने की दिशा मे प्रयास करना होगा। जिसको हम जीवन-पद्धति कहते है, उसको अपना कर खादी का कार्यक्रम बनाना चाहिए। दूसरी ओर खादी को विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रतीक मानना चाहिए और उसकी प्रक्रियाओ मे विज्ञान और तकनालाजी का जितना उपयोग हो सके उतना करना चाहिए। भविष्य मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा हाथ करघा मडल को एक करने का भी विचार करना चाहिए। और सभव है कि २० अक तक का सूत हाथ से ही कते और मिलो मे उस अक तक का सूत कातना बन्द हो, इस दिशा मे सोचना होगा।

समन्वय

दोनो प्रवृत्तियो मे सामन्जस्य लाने का प्रयास आज हो रहा है। शहरो मे करोडो रूपये की खादी बेचना चालू रहे और गॉंव मे भी खादी का काम आगे बढाया जाय। खादी धीरे-धीरे ग्रामाभिमुख बने, गॉव की कपडे की आवश्यकता पूरी होने के बाद ज्यादा कपडा शहर मे आये। इस तरह का मेल बैठाने का प्रयास बुनाई उपदान के नये तरीके से करने का आज विनोबाजी तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा सोचा जा रहा है। इस तरह से यदि दोनो विचारो का समन्वय किया जा सकता है तो वह अच्छा ही होगा, ऐसा मानना चाहिए। सभव है कि यदि गाव की सहकारी सेवा समिति की तरफ से खादी कार्यक्रम अपनाया जाय और मुख्यत गॉव मे ही खादी का इस्तेमाल हो, इस तरह से योजना बनायी जाय तो उस परिस्थिति मे खादी के प्रमाण-पत्र आदि की भी आवश्यकता नही रहेगी। खादी के औजारो मे कितना सुधार हो और उनमे बिजली लगे या नही आदि के बारे मे गॉववाले अपनी दृष्टि से सोच कर कार्यक्रम बना लेगे। इस तरह से यदि खादी को प्रमाण-पत्र से मुक्त कर सकते है और वह खादी आम जनता का आर्थिक कार्यक्रम बन जाती है तथा गॉव के उद्योगो की नीव इससे पडती है तो एक क्रातिकारी

काम खादी से सिद्ध होगा, ऐसा कहा जायगा। उस परिस्थिति मे किसी तरह का आग्रह न खादी और ग्रामोद्योग कमीशन रखेगा और यदि वह रखना चाहेगा तो भी लोग उसका अमल अपने-अपने क्षेत्र मे अपने ढग से ही करेगे।

नयी दिशा

आज करीबन ७०–८० हजार गॉवो मे जो पुराना काम चल रहा है, उसको नयी दिशा मे मोडने का प्रयास व्यवस्थित ढग से खादी और ग्रामोद्योग कमीशन कर रहा है। उसके लिए तफसील मे योजना बनायी गयी है और आज के काम का परिवर्तन किस तरह से करना है, आदि सोचा जा रहा है। हिसाब आदि के पत्रक भी गहराई मे जाकर बनाये गये है। जिन्होने इतना सारा प्रयास किया है उनको जरूर धन्यवाद देना चाहिए, ऐसा सारा देखने के बाद लगेगा। लेकिन सही परिवर्तन इस तरह से नही हो सकेगा। मुख्य सवाल है मानस परिवर्तन का तथा लोगो को शिक्षा देने का, कत्तिनो और बुनकरो का सगठन खडा करने का, उनके द्वारा पूरे गॉव का सगठन करने का और उसी के माध्यम से गॉव की पूरी आर्थिक योजना बनाने का। इस दिशा मे विचार करने पर मुझे लगता है कि पुराने काम को नयी दिशा मे मोडना बहुत कठिन है। इसके साथ-साथ यदि कुछ शक्तिशाली कार्यकर्त्ता नया क्षेत्र लेकर शुरू से ही खादी बनाने की दृष्टि से काम का आरम्भ करते है तो, उससे सफलता अधिक मिलने की सभावना है। कातने की मजदूरी से कत्तिनो को सगठित करना एक चीज है और अपने-अपने कपडे के लिए घर-घर मे कातो, सिखाने का प्रबन्ध गॉव की तरफ से हो तथा बुनाई भी गॉव की तरफ से हो, इस तरह से काम शुरू करना दूसरी चीज है। यह पुराने ढग से काम करने की बजाय अधिक आसान रहेगा। इसलिए मै खादी कार्यकर्त्ताओ के सामने एक विचार रखना चाहता हूँ कि वे अपने मे से कुछ कार्यकर्त्ताओ को बिल्कुल नये क्षेत्र मे जहॉ आज चरखा नही चलता है, ग्रामाभिमुख खादी का प्रयोग करने के लिए मुक्त करे, और उनका यह प्रयोग सफल हो, इसके लिए हर तरह से मदद करे।

एकाध विकास खण्डो मे जहॉ पहले से बिल्कुल कताई नही होती है, नये ढग से ही ग्रामाभिमुख खादी का कार्यक्रम हाथ मे लेना हो, तो वह किस तरह से हो सकता है, उस पर रायपुर सम्मेलन से ही मै विचार कर रहा हूँ। मुझे लगता है कि जिला परिषद, पचायत समिति तथा ग्राम पचायत इन सबको इस कार्यक्रम के साथ सबधित करना चाहिए और उनकी सद्भावना व सहयोग इस काम मे प्राप्त करना चाहिए। प्राथमिक शालाओ की मार्फत इस नये कार्यक्रम का श्रीगणेश करना चाहिए। सभव है कि यदि प्राथमिक शाला मे अबर चलाना हो तो दो तकुएवाला ही चलाना होगा। नये सिरे से बुनकरो को भी इस कार्यक्रम मे शामिल करना होगा। विद्यार्थी अपने खुद के लिए शाला मे ही खादी बना ले, ऐसा कार्यक्रम तय करना होगा या टेबल लूम जैसे नये औजारो से २०–२२ इच अर्ज का कपडा शाला के विद्यार्थियो की मार्फत बुनने का कार्यक्रम भी साथ-साथ हाथ मे लेना होगा। कताई के साथ बुनाई की भी तालीम बच्चो को मिलेगी। शिक्षको को भी उस तरह की तालीम देनी होगी और सभव है कि उनको आज के वेतन से इस काम के लिए कुछ अधिक वेतन भी देना होगा। एक-एक शाला यदि वस्त्र स्वावलम्बी हो जाती है तो, उनके द्वारा उनके बालको तक पहुँचने की तैयारी हो गयी है, ऐसा मान कर एक-एक कदम गॉव को स्वावलम्बी बनाने की दिशा मे आगे बढाना होगा।

शुरू से ही खादी अपने लिए ही बनानी है, इस विचार से काम हाथ मे लिया जाय और बाल सेना की मार्फत उसका आरम्भ किया जाय। इस तरह का काम यदि किसी क्षेत्र मे हाथ मे ले सकेगे तो सम्भव है कि ग्रामाभिमुख खादी की अच्छी बुनियाद हम डाल सकेगे और गॉव को ग्राम-स्वराज्य की तरफ ले जाने की प्राथमिक तैयारी कर सकेगे। ग्रामदान भी उसी मे से निकल सकेगा। ग्राम अपने सरक्षण की दृष्टि से शान्ति सेना भी खडी कर सकेगा। ऐसा गॉव प्राथमिक आवश्यकताओ की दृष्टि से स्वावलम्बी होगा, शिक्षण भी नये ढग से चलेगा और रक्षण भी वह अपने आप शान्ति सेना द्वारा कर लेगा।

नयी दिल्ली २८ जनवरी १९६४

मधुमक्खी-पालन उद्योग की समस्याएँ*

राम सुभग सिंह

समय आ गया है कि मधुमक्खी-पालन को कृषि तथा उद्यान-विज्ञान का क्रियाशील सहयोगी माना जाय। परागाधान सेवा के रूप मे मधुमक्खियों से काम लेकर फलोद्यानी और बागवान अच्छी फसल प्राप्त कर सकते है। वैज्ञानिक तौर-तरीके अपनाकर और राष्ट्र के प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों की सेवा प्राप्त कर मधुमक्खियों की परिपूर्ण उपयोगिता तथा सभाव्यता प्रकाश मे लायी जा सकती है।

कुक्कुट-पालन व सुअर-पालन की भाति मधुमक्खी-पालन मे भी खाद्य के लिए बहुमल्य पदार्थ तथा पालको व अन्य लोगो के लिए अतिरिक्त आय प्रदान करने आदि की बहु-उपयोगी सभावनाएँ है। एक समय था जबकि मधुमक्खी-पालन समय काटने के लिए या शौक के लिए या अन्य मनोरजन का साधन माना जाता था। बाद मे इसने गृह-उद्योग का स्तर प्राप्त किया। अब समय आ गया है जबकि मधुमक्खी-पालन को कृषि तथा उद्यान-विज्ञान का क्रियाशील सहयोगी मानना चाहिए। मधुमक्खियो ने न केवल कुछ अच्छी कविताओ को जन्म दिया है वरन् समाजशास्त्रियो को समाज-सगठन के महत्व व रचना के सम्बन्ध मे कई अच्छे विचार भी प्रदान किये है। इन सब की वजह से तथा प्रेरणा व शक्ति के अन्य बहुतेरे स्रोतो के कारण व विशेष कर आर्थिक दृष्टि से मधुमक्खी-पालन को हमारे देश मे बराबर प्रश्रय मिलना चाहिए व उसका पूर्ण विकास किया जाना चाहिए।

देवताओं का आहार

कहा जाता है कि मधु देवताओ का आहार है। विज्ञान के द्वारा भी यह सिद्ध हो चुका है कि मानव से बहुत पहले भी पृथ्वी पर मधुमक्खियाँ रहती थी। इसलिए पहले पहल जब मनुष्य का आविर्भाव हुआ तो उसको मधु ही मिठास का एकमात्र निश्चित स्रोत और तुरन्त ही काम मे लाये जानेवाला आहार उपलब्ध हुआ। मिठास के दूसरे स्रोत जैसे चीनी, शक्कर, गुड आदि को बनाना मनुष्य ने बहुत बाद मे जाना। इसका कारण यह है कि ये पदार्थ मधु की तरह सघन, शुद्ध और तुरन्त काम मे लाये जानेवाले रूप मे नही पाये जाते और इन को इस रूप मे तैयार करने और भडारण योग्य बनाने के लिए मनुष्य को रस निकालने, उसको साफ करने और उसको उबाल कर गाढा बनाने आदि के अनेक जटिल तरीके सीखने और विकसित करने पडे। दूसरी ओर आदि मानव को आदिकालीन मधुमक्खी के छत्ते से उसी प्रकार का शुद्ध शहद प्राप्त होता था जैसा कि आज मनुष्य को आधुनिक मनुष्य कृत पेटी-छत्तो (बी-हाइव) से प्राप्त होता है।

कठिन समस्याएँ

आदिकाल से ही केवल दो प्राणी—गाय और मधुमक्खी—मनुष्य को ऐसे मिले जो क्रमश अपना दूध और शहद देकर मानवता का स्वागत करने और मनुष्य के साथ सहयोग करने के लिए राजी तथा तैयार थे। सम्भवत ससार के सबसे प्रथम खाद्य मत्री अथवा उसी के तुल्य पदाधिकारी ने इन दोनो प्राणियो को ही मनुष्य के सबसे सघन, पोषक, स्वादिष्ट और तैयार भोजन का स्रोत पाया होगा।

बागवानो को यदि मधुमक्खियो की विभिन्न जातियो से मिलनेवाली सहायता रोक दी जाये तो उनको अपने

---

* त्रिवेन्द्रम में २८ से ३० जनवरी १९६४ तक सम्पन्न पचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन में दिया गया उद्‌घाटन भाषण।

बाग-बगीचो से प्राप्त होनेवाली फलो आदि की फसले मिलनी असम्भव हो जाये। भारत की शहद देनेवाली मधुमक्खी न केवल मधुमक्खी-परिवार की सबसे महत्व-पूर्ण प्रजाति है, बल्कि वह गाय की ही भाति सहज मे ही पाली जा सकती है। मधुमक्खी बाग-बगीचो और खेतो मे खडे वृक्ष और पौधो को फैलाने मे उनका परागण करने के लिए अनन्त मजदूरो का काम करती है। इसलिए इसमे तनिक भी सदेह नही कि मधुमक्खी की उपयोगिता और सभावनाओ के बारे मे अब तक जो कुछ खोजबीन का काम किया गया है उससे कही अधिक खोज होनी चाहिए। यह काम तभी सभव हो सकता है, जबकि राष्ट्र के प्रतिभावान वैज्ञानिको को इसमे लगाया जाये।

हमे यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि वैज्ञानिक अनुसधान की दृष्टि से मधुमक्खी विकास की समस्याएँ अन्य पालतू प्राणियो के विकास, उदाहरण के लिए पशु-विकास, की समस्याओ से कही अधिक कठिन है। उदाहरणार्थ गाय को खूटे से बाँध कर पाला जा सकता है किन्तु मधुमक्खी को बाँध कर नही पाला जा सकता, क्योकि पेटी-छत्ते मे मधुमक्खी-पालन के लिए मधुमक्खियो को इच्छानुसार आने-जाने की पूरी स्वतत्रता मिलनी आवश्यक है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण आवश्यक

मौन-पालक को मधुमक्खी पालने के लिए उनको भोजन, आवास और वातावरण की कही अधिक अच्छी सुविधाएँ प्रदान करनी होगी, जो प्रकृति द्वारा उनको प्राप्त है। इनके अभाव मे मधुमक्खियाँ पेटी-छत्तो का त्याग करके अपनी मन-पसन्द का छत्ता कही और बनाने के लिए स्वतत्र है। साथ ही इस बारे मे भी बहुत ही गहन और मौलिक अध्ययन की जरूरत है कि ये मधुमक्खियाँ अपने जीवन से सबधित इन भिन्न-भिन्न पहलुओ के प्रति विभिन्न स्थितियो मे कैसा व्यवहार करती है। यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि मधुमक्खियाँ लाठी से हाके जाने वाले पशुओ जैसी नही होती। उन्होने अपना एक अत्यन्त सगठित सामाजिक ढाचा विकसित कर लिया है, जिसका कुछ अनुमान हाल मे की गयी उन खोजो से लगाया जा सकता है जिनसे पता चला है कि मधुमक्खियो की अपनी एक गध-भाषा होती है, जिसमे भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय बोलियाँ भी पायी जाती है। इसलिए यदि हम मधुमक्खियो के साथ कोई लाभकर साझेदारी करना चाहते है तो हमे उनके प्रति अत्यन्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

लाभदायक धंधा

यह सचमुच बडी अच्छी बात है कि भारत की अनेक सरकारी और गैर-सरकारी सस्थाओ ने, विशेष रूप से स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद, मधुमक्खी-पालन को विकसित करने और उसको ऊँचा उठाने के लिए अनेक कदम उठाये है। इसके लिए भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन जैसी सस्थाओ ने अनुसधान कार्य को गहराई से करने और विस्तार कार्यो को बढाने के लिए नये-नये कार्यक्रम हाथ मे लिये है। कमीशन ने देश के विभिन्न भागो मे गाव के लोगो को मधुमक्खी-पालन मे प्रशिक्षण देकर, आर्थिक सहायता द्वारा उपकरणो को रियाती दरो पर बनाने और मधुमक्खी क्लबो की स्थापना करके इस उद्योग को ग्रामीण भारत मे लोकप्रिय बनाने मे सराहनीय काम किया है। किसानो और देहात के अन्य लोगो के लिए मधुमक्खी-पालन न केवल मन बहलाने के लिए एक अच्छा शौक ही सिद्ध होगा, वरन् वे शहद और मोम बेच कर अपनी आमदनी मे कुछ वृद्धि भी कर सकेगे। किन्तु भारत मे शहद का उत्पादन बढाने के लिए बहुत कुछ करना बाकी है। अपने देश मे ७–८ पौड प्रति पेटी-छत्ता शहद का उत्पादन होता है। यह बहुत कम है। दक्षिण अफ्रीका के अकेले एक पेटी छत्ते से २,००० पौड से भी अधिक शहद प्राप्त होने की बात इसका प्रमाण है कि इस धधे के गर्भ मे भारी सम्भावनाएँ मौजूद है।

मधुमक्खी का पराग-वाहक के रूप मे उपयोग करने से यह धधा व्यापारिक दृष्टि से और भी अधिक लाभकारी

बन गया है। विदेशो मे किसान और बागवान मधु-मक्खियो के पेटी-छत्तो को किराये पर लेकर उपज बढाने के लिए अपने खेतो और बागो मे रखते है और ऐसा करने से आम तौर पर उपज २५ प्रति शत तक बढ जाती है। इसीलिए मधुमक्खियो के छत्तो का किराया भी (प्रति फसल ५० रुपये तक) अच्छा खासा मिलता है। हमे भारतीय दशाओ मे इन सभी सम्भावनाओ का अध्ययन करना है। यदि भारतीय मधुमक्खियो की क्रियाशीलता को बढा दिया जाये, तो मधुमक्खी-पालन के इन विभिन्न पक्षो को मूर्त रूप प्रदान कर इस धधे को काफी लाभकर बनाया जा सकता है। यह तभी सम्भव है जबकि हम अब तक के विकसित ज्ञात वैज्ञानिक तरीको को काम मे लाये और भारतीय दशाओ से सबधित विशेष समस्याओ का हल खोजने के लिए गम्भीर अध्ययन और खोजबीन करे।

मधुमक्खियों का आहार

इन मे से कुछ ऐसी समस्याओ के बारे मे मै यहॉ पर चर्चा करूँगा जिनका समाधान वैज्ञानिक अनुसधान की सहायता से किया जा सकता है मधुमक्खियो की उन नस्लो से जिनका शहद-उत्पादन कम होता है, चयन और प्रजनन की विभिन्न विधियो को अपना कर उन्नत नस्ले प्राप्त की जा सकती है। सभी जानते है कि सुनियोजित चयन और प्रजनन द्वारा वैज्ञानिक पशुओ, भेडो और मुर्गियो की उत्पादन क्षमता को बढाने मे सफल हुए है। पशुओ मे मूल नस्लो का सुधार करने से आज ऐसी उन्नत नस्ले प्राप्त कर ली गयी है जिनका उत्पादन दूध, मास, ऊन और अडो के रूप मे उन नस्लो से कही अधिक है जिनसे इनका विकास हुआ है। मधुमक्खियो के विकास के लिए भी ऐसी ही विधियॉ अपनायी जानी चाहिएँ और यह सभव भी है। कुछ देशो मे मधुमक्खी प्रजनन की तकनीक को सुधारने मे भारी सफलता मिली है—यहॉ तक कि मधुमक्खियो मे कृत्रिम गर्भाधान के लिए विशेष उपकरण तैयार किये गये है। इस जानकारी का अलग-अलग जलवायुवाले प्रदेशो के लिए मधुमक्खी की उपयुक्त नस्ले तैयार करने के लिए लाभ उठाया जा सकता है। लेकिन इस खोजबीन के साथ-साथ भारतीय मधुमक्खियो के वशीय गुणो से सबधित पक्षो पर भी गहन अध्ययन करना आवश्यक होगा।

अनेक प्रदेशो मे मधुमक्खियो के आहार की समस्या के कारण मौन-पालन का धधा सीमित पैमाने पर ही चलाना पडता है। कुछ विशेष मौसमो मे तो लगभग सपूर्ण देश मे ही आहार की समस्या के कारण मधुमक्खी-पालन का रूप बहुत सीमित हो जाता है। देश मे पशुओ के लिए भी तो कभी-कभी चारे की समस्या इतनी ही गम्भीर हो जाती है। किसी पशु या पौधे की बढवार अपने वातावरण से प्राप्त होनेवाले पोषण पर निर्भर करती है। अगर किसी पशु को अच्छी खुराक न मिले या किसी पौधे को अच्छी खाद न मिले तो उस का पूरा विकास नही हो पाता। यही बात मधुमक्खियो पर लागू होती है। इसलिए जिन दिनो मधुमक्खियो को प्राकृतिक स्रोतो से उपलब्ध आहार की कमी पड जाती है उस समय के लिए उनको पूरक भोजन देने की व्यवस्था की जानी चाहिए, अन्यथा उनकी सख्या और मधु-रस-सचय की प्रक्रिया घटती जायेगी और वे अच्छी खुराक की तलाश मे अपना छत्ता छोड कर चली जायेगी। पिछले कुछ वर्षो मे ही पोषण और पोषण-शरीर-रचना से सबधित विज्ञान बहुत आगे बढ गया है। उपयोगी पशुओ के लिए सश्लेषित और अर्ध-सश्लेषित खाद्य पदार्थ तैयार किये जा रहे है और विदेशो मे तो ऐसा खाद्य तैयार करने की खोज काफी आगे बढ चुकी है। मुझे विश्वास है कि भारतीय वैज्ञानिक भी इस दिशा मे इतनी ही नही, वरन् इससे भी अधिक सफलता प्राप्त कर सकेगे।

स्वास्थ्य समस्याएँ

अन्य प्राणियो की तरह मधुमक्खियो के भी प्रकृति मे शत्रु होते है। यह अच्छी बात है कि भारत मे मधुमक्खियो की वे बहुत-सी घातक बीमारयॉ नही होती जो यूरोपीय देशो की मक्खियो के लिए बहुत खतरानाक सिद्ध होती है। लेकिन इससे पहले कि हम भारतीय मधुमक्खियो

से शहद उत्पादन के बहुत ऊँचे नतीजे प्राप्त कर सके, हमे उनके स्वास्थ्य और सफाई से सबधित समस्याओ पर भली-भाति विचार करना होगा। भारत मे इस समस्या पर काफी ध्यान नही दिया गया है। कहा जाता है कि कुछ मौन-पालको के लिए पतगो के सूडे एक समस्या बन जाते है। इस तरह की समस्याएँ दूर-दूर पर स्थित प्राकृतिक छत्तो की तुलना मे मनुष्य-कृत पेटी-छत्तो मे वहाँ ज्यादा गभीर रूप धारण कर लेती है जहाँ एक ही जगह पर काफी पेटी-छत्तो मे मधुमक्खियाँ पाली जाती है। यह स्वाभाविक है कि एक ही जगह इतने अधिक छत्ते देख कर पतगे उनकी ओर आकर्षित हो जाते है और छत्तो मे पतगो के सूडे छा जाते है। इन हानिकारक सूडो के कारण मधुमक्खी की कालोनी मे सभी प्रकार की मुसीबते पैदा हो जाती है। क्योकि केद्रीकरण से सदैव ही स्वास्थ्य की समस्याएँ पैदा हो जाती है, इसलिए मधुमक्खी उद्योग के बढने के साथ-साथ स्वास्थ्य सबधी ये समस्याएँ भी और ज्यादा गभीर रूप धारण करती जायेगी। इस पृष्ठभूमि मे आवश्यक सावधानी और उपयुक्त वैज्ञानिक खोजबीन के महत्व पर विशेष जोर दिया जाना चाहिए और इसलिए मधुमक्खी रोग-निदान विज्ञान का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

पौध-रक्षण की समस्या

जटिलताओ से व्याप्त इस जगत मे मनुष्य का कोई भी काम ऐसा नही है जिसको अलग रख कर प्रगति की जा सके। हर काम का प्रभाव अनेक दूसरे कामो पर भी पडता है। मधुमक्खी-पालन के बारे मे भी यह बात लागू होती है। मधुमक्खियाँ सरसो आदि की फसलो और फल-वृक्षो के फूलो पर जाती है और उनसे पुष्प-रस या पराग या दोनो लेती है। उनकी इस प्रक्रिया से अनजाने मे ही फूलो मे सकर परागण हो जाता है। यह सभी जानते है कि इन सभी फसलो और वृक्षो पर अनेक हानिकर कीट आक्रमण करते है और यह पौध-सरक्षण अधिकारी का काम है कि वह इनको हानिकर कीटो से बचाये। मधुमक्खी और उस जैसे अनेक पराग-वाहक कीडो को नुकसान पहुँचाये बिना ही, हानिकर कीटो को नष्ट करने के लिए कीट-नाशको के उपयोग मे बडी चतुराई की आवश्यकता है। अच्छा यही है कि हम दूसरो के अनुभवो से लाभ उठाये और इस प्रकार की आशकाओ के विरुद्ध आवयश्यक सावधानी बरते। यदि पौध-सरक्षण अधिकारी और मधुमक्खी-पालन के धधे को विकसित करनेवाले कार्यकर्ता इस दिशा मे मिल-जुल कर काम करे तो इस देश मे उपर्युक्त आशकित विनाश से बचा जा सकता है।

शहद को उपचारित करने और सग्रह करने की विधियो का शुद्धता के मापदण्डो से सीधा सबध है। शहद मे मिलावट और उसकी पहचान की समस्या कुछ चिन्ता का विषय बन गयी है। ससार मे एक ओर तो रसायन-निर्माता, दिन-प्रति-दिन उपयोग मे आनेवाले प्रकृति प्रदत्त वस्तुओ के स्थानापन्न पदार्थो का सश्लेषण कर रहे है और दूसरी ओर वे इन सश्लेषित पदार्थो की प्राकृतिक वस्तुओ मे मिलावट की रोकथाम मे लगे हुए है। सभवत ये दुतरफे काम साथ-साथ चलते रहेगे और इन दोनो ही क्षेत्रो की आवश्यकताओ को पूरा करना वैज्ञानिको की जिम्मेवारी है।

शहद की मक्खियो के पेटी-छत्तो का निर्माण, आकार और विस्तार आदि की समस्याएँ भी कम महत्वपूर्ण नही है। शहद निकालने की पुरानी विधि से मधुमक्खी-पालन के बजाय मधुमक्खी विनाश ही होता था। शहद निकालने की इस विधि मे मधुमक्खियो के अडे-बच्चे इतनी बडी सख्या मे मर जाते थे कि इससे मनुष्य की आत्मा भी काप उठती थी। सभवत आरम्भ मे मधुमक्खी-पालन का विकास तेजी से न होने का कारण यह भी रहा हो। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे एक अमरीका निवासी ने मधुमक्खियो के लिए लकडी-पेटी के रूप मे कृत्रिम (पेटी) छत्ते का आविष्कार किया। इस आविष्कार ने दुनिया भर मे मधुमक्खी-पालन के सबध और तरीको मे एक क्रान्ति मचा दी। तभी से मधुमक्खी-पालन बाकायदा एक विज्ञान बन गया है। अब भी इन छत्तो के निर्माण और उनके वातावरण मे सुधार के लिए काफी गुजाइश है।

पंजाब की अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ

विक्टर सा. डी'सोजा

प्रस्तुत लेख में पजाब की अर्थ-व्यवस्था के निम्न पहलुओं पर विचार-विमर्श किया गया है आबादी का घनत्व और वृद्धि-दर, कर्मी आबादी में पुरुष और महिला कर्मियो का अनुपात, तथा बेर गी की समस्या का स्वरूप।

इस लेख का उद्देश्य बहुत सीमित है-पजाब मे रोजगारी और बेरोजगारी के रुख पर प्रकाश डालना तथा बेकारी के सभाव्य कारणो को दर्शाना। तालिका १ से यह देखा जा सकता है कि अखिल भारत की तुलना मे पजाब अधिक घना बसा है, पिछले जनगणना दशक मे वहाँ की आबादी मे अधिक तीव्रता से वृद्धि हुई है। आबादी मे पुरुषो की सख्या ज्यादा है और कुछ शहरी भी अधिक है। यद्यपि पजाब मे १९६१ मे साक्षर लोगो का प्रातिशत्य करीब-करीब भारत के बराबर ही था, तथापि पिछले दशक मे वहाँ साक्षरता की गति अधिक तीव्र रही। इसी अवधि मे शहरीकरण मे भी पजाब मे भारत की बनिस्बत अधिक तेजी से वृद्धि हुई।

पजाब और भारत के बीच कार्यकारी शक्तियो के चन्द गुणो मे अन्तर तो बहुत ही स्पष्ट है। जैसा कि तालिका २ मे दिखाया गया है, भारत मे आबादी का करीब ४३ प्रति शत कर्मी आबादी है, पजाब मे वह सिर्फ ३५ प्रति शत ही है। भारत और पजाब की कर्मी आबादी मे महिलाओ का प्रातिशत्य क्रमश ३१ ५ और १८ ८ है। पु ष आबादी मे पु ष कर्मियो और महिला आबादी मे महिला कर्मियो का प्रातिशत्य भी पजाब मे भारत की तुलना मे कम है- महिलाओ के मामले मे ो यह भारत का करीब-करीब आधा है। प्राथमिक कार्यो मे लगे व्यक्तियो की सख्या पजाब मे करीब ६५ प्रति शत है, जब कि भारत मे ७२ प्रति शत। प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक श्रेणी के धधो मे भारत और पजाब के मामलो मे पुरुष कर्मियो का वितरण भिन्न है, तथापि दोनो ही मामलो मे कर्मी महिलाओ का अनुपात समान है।

तालिका १

भारत और पजाब की चन्द जनाकिकीय विशेषताओ की तुलना

		भारत	पजाब
प्रति वर्ग मील घनत्व	१९६१	३७०	४३०
जन सख्या वृद्धि (प्रातिशत्य)	१९५७-१९६१	२१ ५०	२५ ८६
लिगानुपात	१९६१	९४६	८६२
प्रति १,००० मे साक्षरो का अनुपात	१९५१	१६६	१५२
	१९६१	२४०	२४२
शहरी आबादी (प्रातिशत्य)	१९५१	१७ ३५	१९ ०१
	१९६१	१७ ९७	२० १३

स्रोत भारत की जनगणना, १९६२ का पेपर सख्या १।

तालिका २

भारत और पजाब की कर्मी शक्ति की विशेशताओं की तुलना (१९६१)

	कर्मी शक्ति मे महिला कर्मी (प्रातिशत्य)	प्रत्येक श्रेणी मे कर्मी शक्ति मे व्यक्तियो का अनुपात			कर्मियो का औद्योगिक वितरण		
		पुरुष	महिलाएँ	योग	प्राथमिक	माध्यमिक	तृतीयक
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
भारत (१९६१)	३१ ५	५७ १२	२७ ९६	४२ ९८	६७ ९८	१२ ६८	१९ ३४
पजाब (१९६१)	१८ ८	५२ ९२	१४ २०	३४ ९७	६१ २९	१५ ५२	२३ १९
पजाब (१९५१)	२१ ३	५५ ५७	१७ ५४	३७ ९९	६५ १२	९ ३२	२५ ५६

म हि ला एँ			यो ग		
प्राथमिक	माध्यमिक	तृतीयक	प्राथमिक	माध्यमिक	तृतीयक
(९)	(१०)	(११)	(१२)	(१३)	(१४)
८१ ५८	९ ५९	८ ८३	७२ २८	११ ७०	१६ ०२
८० ३४	१० ५१	९ १५	६४ ८६	१४ ५८	२० ५६
७५ १८	८ ३४	१६ ५०	६७ २७	९ १०	२३ ६३

स्रोत भारत की जनगणना, १९६२ का पेपर संख्या १

आर्थिक प्रगति का प्रभाव

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि जैसे-जैसे समाज की सामाजार्थिक अवस्था सुधरती है, माध्यमिक और तृतीयक श्रेणी के धधो का अनुपात प्राथमिक धधो की कीमत पर बढता जाता है। तदनुसार यह स्पष्ट है कि पजाब की अर्थ-व्यवस्था भारत की अपेक्षा अधिक उन्नत है। मैंने अन्यत्र[१] यह दिखाया है कि भारत मे जैसे-जैसे सामाजिक अवस्था सुधरती जाती है, आबादी का कर्मी अनुपात घटता जाता है। यह मुख्यत दो कारणो से होता है प्रथम, नये लोग ,अधिक बडे होने पर धधो मे आते हैं और द्वितीय, बहुत-सी महिलाएँ काम छोड देती हैं। भारत से विपरीत पजाब की अवस्था उपर्युक्त सूत्र की पुष्टि करती है। पजाब मे १९५१ की तुलना मे १९६१ मे प्राथमिक धधो मे लगे लोगो का अनुपात कम हुआ है– १९५१ मे यह अनुपात ६७ ३१ प्रति शत था, जो कि अर्थ-व्यवस्था मे प्रगति दर्शाता है। तदनुसार १९६१ मे १९५१ की तुलना मे (अ) आबादी मे कर्मियो, (आ) पुरुष आबादी मे पुरुष कर्मियो, और (इ) महिला आबादी मे महिला कर्मियो का अनुपात घटा है। शहरी अर्थ-व्यवस्था ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था से स्पष्ट बहुत उन्नत है और जैसा कि तालिका ३ से प्रकट है शहरी क्षेत्रो मे भी उपर्युक्त श्रेणियो मे कर्मियो का अनुपात कम है।

जिले-जिले में भिन्नता

अकेला पजाब राज्य ही सम्पूर्ण देश से भिन्न हो, ऐसी बात नही है, पजाब के अन्दर भी हर जिला उपर्युक्त गुणो मे एक-दूसरे से भिन्न है। सच तो यह है कि कुछ मामलो मे तो इन जिलो की भिन्नताए भारत

१. विक्टर सा० डी'सोजा ' पूना की अर्थ विज्ञान नामक पत्रिका के वर्ष १ अक ३ सितम्बर १९९६, पृष्ठ २३३-२४७ पर प्रकाशित लेख 'इम्पलीकेशन्स आफ ओक्यूपेशनल प्रेस्टीज फार इम्प्लायमेण्ट पॉलिसी इन इडिया।'

तालिका ३

लिग और औद्योगिक श्रेणियो के अनुसार १९६१ में पजाब के शहरी और ग्रामीण क्षेत्रो मे कर्मी-शक्ति का प्रातिशत्य विभाजन

विवरण	ग्रामीण	शहरी
कर्मी शक्ति मे महिला कामगार (प्रातिशत्य)	२१ ३	७ ०
प्रत्येक श्रेणी की कर्मी शक्ति मे व्यक्ति (प्रातिशत्य)		
पुरुष	५३ ५	५० ९
महिलाए	१६ ५	४ ७
कुल	३६ २	३० २
कर्मियो का औद्योगिक वितरण		
पुरुष		
प्राथमिक	७४ २	९ ३
माध्यमिक	१२ ०	२९ ९
तृतीयक	१३ ९	६० ९
महिलाए		
प्राथमिक	८४ ५	१८ ३
माध्यमिक	९ १	३१ २
तृतीयक	६ ४	५० ५
योग		
प्राथमिक	७६ ४	९ ९
माध्यमिक	११ ३	३० ०
तृतीयक	१२ २	६० १

स्रोत भारत की जनगणना, १९६२ का पेपर सख्या १।

के विभिन्न राज्यो के बीच की भिन्नताओ से भी अधिक है। तालिका ४ के प्रसग मे चन्द विशेषताओ मे जिलो के बीच वर्तमान भिन्नताओ पर विचार करना उपयोगी होगा। माध्यमिक और तृतीयक धधो का सयुक्त अनुपात—जो की आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण सूचकाक है— कागडा के १६ प्रति शत से जालधर के ५७ प्रति शत तक है, शहरी आबादी का अनुपात लाहौल और स्पीति तथा कागडा के क्रमश शून्य और ४ प्रति शत से लेकर शिमला के ४८ प्रति शत है, साक्षर लोगो का अनुपात सगरूर के १६ प्रति शत से शिमला के ४४ प्रति शत तक है, महिला आबादी मे महिला कर्मियो का अनुपात कपूरथला के ३ प्रति शत से लाहौल-स्पीति के ७० प्रति शत है, और आबादी मे कर्मियो की सख्या कपूरथला और लुधियाना के २९ प्रति शत से लाहौल-स्पीति के ७० प्रति शत तक है।

शहरीकरण

तालिका ४ मे शहरी आबादी के अनुपात के आधार पर जिलो की सूची अवरोह क्रम से दी गयी है। तालिका पर एक सरसरी नजर डालने से भी इस बात का विश्वास हो जायगा कि अन्य 'चर' (वैरियेबल) शहरी 'चर' से बहुत अधिक सम्बन्धित है। स प्रकार माध्यमिक और तृतीयक श्रेणी का अनुपात उच्च होने, साक्षर व्यक्तियो का अनुपात अधिक होने, महिला आबादी मे महिला कर्मियो का अनुपात थोडा होने और आबादी मे कर्मियो का अनुपात कम होने से शहरीकरण की भी सीमा बढती है। हा, विशेष अवस्थाओ के कारण कुछ खास अपवाद भी है, जैसे अधिक शहरीकरण होने के बावजूद शिमला जिले मे महिला आबादी मे महिला कर्मियो का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक है तथा कुल आबादी मे भी कर्मियो का अनुपात अधिक है। ऐसा इसलिए है कि शिमला जिले के शहरी केन्द्र मुख्यत 'पर्वतीय स्थान' है, जो कि आर्थिक दृष्टि से जिले के बाहर से सैर करने के लिए आनेवालो पर निर्भर है और ग्रामीण आबादी आर्थिक रूप से राज्य का सबसे पिछडा वर्ग है। वस्तुत शहरी महिला आबादी मे महिला कर्मियो का अनुपात सिर्फ ५ ८ प्रति शत है जब कि ग्रामीण महिला आबादी मे उनका प्रातिशत्य ४९ है। इस प्रकार शिमला जिले की शहरी आबादी सम्पूर्ण जिले की सामाजार्थिक अवस्था का परिचायक नही है। फिर, भटिण्डा और फिरोजपुर जिलो मे उनके शहरीकरण की तुलना मे माध्यमिक और तृतीय श्रेणी के धधो का अनुपात कम है। इन जिलो की शहरी आबादी हाल के वर्षो मे व्यावसायिक कृषि मे वृद्धि होने से बडी तेजी के साथ बढी है।

तालिका ४ मे दिये गये सामाजार्थिक प्रगति के

सभी सूचकाको पर विचार करने पर ऐसा लगेगा कि पजाब का मध्यम भाग– जिसमे भौगोलिक दृष्टि से समीपस्थ गुरदासपुर, अमृतसर, कपूरथला, जालधर, लुधियाना, पटियाला और अम्बाला जिले आते है– अपेक्षाकृत अधिक उन्नत है। मध्यम भाग मे जो जिले जितनी ही दूर है, उनका विकास कमोबेश उतना ही कम है। इस प्रकार मध्यवर्ती भाग अपने दोनो ओर के क्षेत्रो पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाल रहा है। इसके मुख्य अपवाद दो ही जिले– रोहतक और गुडगाव है, जो कि दिल्ली से सटे हुए है तथा अधिकाधिक उसी के प्रभाव मे आ रहे है।

इस प्रकार सम्पूर्ण पजाब और विभिन्न जिलो की कर्मी शक्ति का विश्लेषण यह दर्शाता है कि सामाजार्थिक अवस्था मे सुधार होने के साथ आबादी मे कर्मी शक्ति का अनुपात घटा है। पहले की प्रवृत्ति यह दर्शाती है कि सामाजार्थिक अवस्थाओ मे अधिक सुधार होने पर आबादी मे कर्मियो की सख्या और गिरने की सम्भावना है। यह गिरावट मुख्यत महिला कर्मियो का अनुपात महिला आबादी और कर्मी आबादी, दोनो मे ही घटने की वजह से है। तथापि, परिवर्तित सामाजार्थिक

तालिका ४

जिलों में चन्द सामाजार्थिक चरों का प्रातिशत्य वितरण (१९६१)

जिला	शहरी आबादी (प्रातिशत्य)	माध्यमिक व तृतीयक श्रेणी के कामो मे कामगार (प्रातिशत्य)	साक्षर आबादी (प्रातिशत्य)	महिला आबादी मे महिला कर्मी (प्रातिशत्य)	आबादी मे कामगार (प्रातिशत्य)
शिमला	४८ १	५२ १	४३ ६	३० ६	५० ६
अम्बाला	३२ ०	५२ ५	३० ०	६ ५	३२ ७
लुधियाना	३० ८	५५ ४	३६ ३	३ ६	२८ ८
अमृतसर	३० २	५२ ८	२९ ७	३ २	२९ ९
जालधर	२८ ५	५६ ९	३३ ७	४ ०	२९ ५
पटियाला	२४ ७	४१ ४	२४ ८	३ ३	३० ९
कपूरथला	२३ ०	४४ ३	२९ ४	२ ९	२८ ९
भटिण्डा	२१ २	३० ०	१८ ९	८ ४	३४ २
गुरदासपुर	२० २	५० ५	२५ ३	३ ७	२९ ५
फिरोजपुर	२० १	३२ ७	३२ ६	९ ६	३४ ३
करनाल	१७ १	३३ २	१८ ३	१२ १	३४ २
सगरूर	१६ ९	२७ १	१६ ५	११ ७	३५ ९
गुडगाव	१६ ६	२९ ०	२० ५	२५ ५	३९ ३
हिसार	१५ ६	२० ०	१७ ४	२६ ७	४२ ०
रोहतक	१३ ७	२८ २	२१ ३	२८ ७	३९ ०
होशियारपुर	११ ९	३८ ७	२८ ८	११ २	३२ १
महेन्द्रगढ	९ ७	१८ ४	१८ ०	२७ १	३९ ०
कागडा	४ १	१५ ७	२३ ५	४४ ९	४९ ८
लाहौल और स्पीती		३१ ७	१७ ५	६८ ९	७० १
पजाब	२० १	३५ १	२४ २	१४ २	३५ ०

स्रोत भारत की जनगणना, १९६१ का पेपर सख्या १।

अवस्थाओ का विभिन्न सामाजार्थिक स्तरो पर महिला रोजगारी पर अलग ही प्रभाव पडा है। सामाजार्थिक अवस्थाओ मे सुधार होने से जहा निम्न स्तरो की अधिकाधिक महिलाए कर्मी शक्ति से हट सकती है वहॉ उच्च स्तरीय महिलाओ मे कर्मी शक्ति मे शामिल होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। अत जिन चन्द जिलो मे आबादी मे महिला कर्मियो का अनुपात बहुत ही कम हो गया है, कुछ समय बाद उच्च स्तरीय महिलाओ के लाभदायक रोजगारी के प्रति उन्मुख होने पर आबादी मे महिला कर्मियो तथा साथ ही कुल कर्मियो का अनुपात बढने की सभावना है।

रोजगार सर्वेक्षण

पजाब मे रोजगारी और बेरोजगारी की स्थिति की जाच अब ऊपर कर्मी शक्ति् के सम्बन्ध मे किये गये विश्लेषण के आधार पर की जा सकती है। सम्पूर्ण राज्य के लिए रोजगारी और बेकारी के विश्वस्त सूचकाक उपलब् नही है। इस सम्बन्ध मे भतपूर्व 'पेप्सू' सरकार के अर्थ और साख्यिकी विभाग तथा पजाब सरकार के अर्थ और साख्यिकी सगठन द्वारा रोजगारी और बेकारी का पता लगाने के लिए किये गये तीन सर्वेक्षणो के विवरणो मे जो विश्लेपण किया गया है, बस वही उपलब् है। एक सर्वेक्षण तो १९५५[२] मे जालधर और करनाल जिलो मे ग्रामीण बेकारी का तथा बाकी दो सर्वेक्षण पटियाला मे १९५३[३] और १९५८[४] मे रोजगारी व बेरोजगारी का अध्ययन प्रस्तुत करते है।

इन सर्वेक्षणो मे से किसी मे भी सम्पूर्ण राज्य का प्रतिनिधि नमूना नही है। जैसा कि तालिका ४ मे देखा जा सकता है, जालधर और करनाल जिले अपेक्षाकृत अधिक विकसित है तथा उनमे आबादी मे कर्मियो का अनुपात अपेक्षाकृत कम है। इसी तरह, पटियाला भी अपेक्षतया अधिक विकसित क्षेत्रो मे आता है। तथापि, ये अध्ययन पजाब मे ोजगारी और बेकारी की दिशा बताते है।

ग्रामीण कार्य

इन तीनो अध्ययनो के आधार पर कर्मी-शक्ति की विशेषताओ का सार तालिका ५ मे दिया गया है। ग्रामीण क्षेत्र मे कर्मी शक्ति कुल आबादी की ३४ प्रति शत है। इसमे से ९१ प्रति शत पु ष और ९ प्रति शत महिलाए है। पुरुष कर्मी पु ष आबादी का ५६ ७ प्रति शत है और महिला कर्मी महिला आबादी का सात प्रति शत। बेकार लोग कर्मी शक्ति के आठ प्रति शत है और करीब-करीब सभी पुरुष है। इनमे से अधिकाश तथ्य तालिका ४ मे जालधर और करनाल जिलो के लिए दिये गये आकडो के अनुरुप है, लेकिन असाधारण बात तो यह है कि आबादी मे कर्मियो का अनुपात ३४ प्रति शत होने पर भी—जो कि ग्रामीण क्षेत्र के लिए बहुत ही कम है—कर्मी शक्ति मे आठ प्रति शत लोग बेकार रहे। दूसरी विचित्र बात यह है कि महिला आबादी मे महिला कर्मियो का अपेक्षाकृत कम अनुपात महिलाओ को रोजगारी के अवसर न मिलने के कारण नही है, बल्कि इसलिए है कि अधिकाश योग्य महिलाए किसी न किसी कारणवश काम करना नही चाहती।

महिला कर्मियों का अनुपात

पटियाला के दोनो अध्ययन अधिक जानकारी-प्रधान है, क्योकि वे एक ही स्थान की रोजगारी के विषय मे दो अवधियो के तुलनात्मक आकडे है, यद्यपि दोनो अध्ययनो के बीच बहुत कम समय का अन्तर है। पाच वर्ष के अन्तर मे ही कर्मी शक्ति मे थोडा-सा परन्तु

२ रिपोर्ट ऑन दि सर्वे ऑफ रूरल अनइम्प्लायमेट इन दि पजाब, आर्थिक और साख्यिकी सगठन, पजाब सरकार, आर्थिक जाच मडल, पजाब, प्रकाशन सख्या ७६।

३ रिपोर्ट ऑन दि सर्वे ऑफ अन म्प्लायमेट इन पटियाला, १९५४, आर्थिक और साख्यिकी निर्देशालय, 'पेप्पू'।

४ रिपोर्ट ऑन इम्प्लायमेट एड अनइम्प्लायमेट सर्वे ऑफ पटियाला सिटी, आर्थिक और साख्यिकी सगठन, पजाब सरकार, प्रकाशन सख्या २६, चण्डीगढ, १९६०।

तालिका ५

जालधर और करनाल जिलो के (१९५५ में) तथा पटियाला जिले के (१९५३ और १९५८ मे) ग्रामीणक्षेत्रो की कर्मी शक्ति की कुछ विशेषताए

	ग्रामीण क्षेत्र (१९५५)	पटियाला (१९५३)	पटियाल (१९५८)
आबादी मे कर्मी (प्रातिशत्य)	३४ ४	२५ ४	२६ २
कर्मी शक्ति का लिग भेद (प्रातिशत्य)			
पुरुष	९१ ०	९५ ३	९२ ७
महिलाए	९ ०	४ ७	७ ३
पुरुष आबादी मे पुरुष कर्मी (प्रातिशत्य)	५५ ७	४६ ७	४२ ७
कर्मी आबादी मे महिला कर्मी (प्रातिशत्य)	७ १	२ ६	३ ८
कर्मी शक्ति मे बेरोजगार (प्रातिशत्य)	८ ०	७ ४	७ ४
पुरुष कर्मियो मे पुरुष बेरोजगार (प्रातिशत्य)	८ ७	७ ०	६ ७
महिला कर्मियो मे महिला बेरोजगार (प्रातिशत्य)	१ ३	१७ ३	१५ ६

स्रोत 'रिपोर्ट ऑन दि सर्वे ऑफ रूरल अनइम्प्लॉयमेण्ट इन दि पजाब,' १९५५, 'रिपोर्ट ऑन दि सर्वे ऑफ अनइम्प्लॉयमेण्ट इन पटियाला,' १९५३, और 'रिपोर्ट ऑन इम्प्लॉयमेण्ट एण्ड अनइम्प्लॉयमेण्ट सर्वे ऑफ पटियाला सिटी,' १९५८।

सुस्पष्ट परिवर्तन हुआ है। चूकि विभिन्न पहलुओ मे होनेवाले अन्तर स्थायी जैसे है, अतएव उन्हे सिर्फ सयोगवश होनेवाले परिवर्तन नही कहा जा सकता। सन् १९५८ मे आबादी मे कर्मियो का अनुपात थोडा सा बढा है। यह मुख्यत महिला आबादी मे महिला कर्मियो का अनुपात बढने के कारण ही हुआ। पुरुष आबादी मे पुरुष कर्मियो का अनुपात कम हुआ है, जैसा कि विकासशील समाजो मे हो रहा है। फलत कर्मी शक्ति मे महिला कर्मियो का अनुपात इतना बढा है, जो दिखाई देता है। महिला आबादी मे महिला कर्मियो की अनुपात-वृद्धि सामान्य रुख के विपरीत है। यह शिक्षित महिलाओ के उच्च स्तरीय रोजगार मे आने के कारण है।

जालधर और करनाल जिलो के ग्रामीण भाग तथा पटियाला के शहरी भाग की कर्मी शक्ति की अधिकाश विशेषताए एक-दूसरी से काफी भिन्न है एवम् १९५३ व १९५८ मे पटियाला की कर्मी शक्ति मे भी काफी भिन्नता है, लेकिन जहा तक बेकार लोगो के अनुपात का सम्बन्ध है, हर हालत मे कर्मी शक्ति का अनुपात बराबर-सा ही है। किन्तु ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो मे लिगानुसार बेकार लोगो का अनुपात भिन्न है। गावो मे जबकि करीब-करीब सभी बेकार लोग—यानी २०३ मे से २०० व्यक्ति—पुरुष थे, शहरी क्षेत्र मे महिलाओ का अनुपात भी काफी था। सन् १९५३ मे १५४ बेकारो मे १७ महिलाए थी और १९५८ मे उनकी सख्या १७८ मे ३० थी। कर्मी शक्ति मे महिलाओ की कुल सख्या की तुलना मे बेकार महिलाओ का प्रातिशत्य १९५३ मे १७ ३ तथा १९५८ मे १५ ६ था। ऐसा लगता है कि पटियाला का व्यावसायिक गठन पहले ऐसा था कि उस मे महिला कर्मियो के लिए बहुत कम काम था। चूकि अधिकाधिक महिलाए कर्मी शक्ति मे प्रवेश करती जा रही है, उन सबको शामिल करने के लिए उपर्युक्त कामो की सख्या पर्याप्त नही है और इसी कारण महिला कर्मी शक्ति मे बेकारो का अनुपात अपेक्षाकृत ऊचा है।

बेकारी के आंकड़े

ग्रामीण क्षेत्र मे हो अथवा शहरी क्षेत्र मे कर्मी शक्ति मे बेकार लोगो का अनुपात काफी लगता है। बेकार लोगो की चन्द पिछली प्रासगिक विशेषताओ का परीक्षण करने से हमे बेकारी के सभाव्य कारणो का सुराग मिल सकता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे बेकार लोगो मे करीब २९ प्रति शत तो काम-धधो मे प्रवेश करनेवाले नये लोग थे। करीब ६६ प्रति शत बेकार, युवक वर्ग—

१६ से ३० वर्ष की उम्र के– मे आते है, यद्यपि नमूने को सम्पूर्ण रूपेण देखने पर उक्त आयु वर्ग मे आनेवाली आबादी सिर्फ २७ प्रति शत थी।

भिन्न है, जैसे कृषि और मजदूरी का काम करनेवाले लोगो का प्रातिशत्य करीब ६३ तथा ऐसे ही धंधो मे काम चाहनेवाले बेकार लोगो का प्रातिशत्य ४८ था।

तालिका ६

जालंधर और करनाल जिलो में (१९५५ में) सामान्य शिक्षा की दृष्टि से ग्रामीण कर्मी शक्ति का प्रातिशत्य वितरण

सामान्य शिक्षा	अनपढ	प्राथमिक	माध्यमिक	मैट्रिक और ऊपर	योग
रोजी प्राप्त	८०२	८६	५६	५७	१००
नवागतुक बेरोजगार	४३१	१३८	२०७	२२४	१००
अन्य बेरोजगार	७१७	१३१	११०	४१	१००
कुल बेरोजगार	६३६	१३३	१३८	८४	१००
कुल कर्मी शक्ति	७८८	९०	६२	६०	१००

स्रोत पंजाब में ग्रामीण बेरोजगारी सर्वेक्षण का प्रतिवेदन, १९५९।

तालिका ६ कर्मी शक्ति की शैक्षणिक पृष्ठ भूमि दर्शाती है। यह स्पष्ट है कि रोजगारी मे लगे व्यक्तियो की तुलना मे बेकारो मे अधिक प्रातिशत्य शिक्षितो का है। रोजगारी मे प्रवेश करनेवाले नये लोगो की शैक्षणिक योग्यता और भी अधिक उच्च है। अत कर्मी शक्ति मे शिक्षितो मे अधिक बेकारी है।

नये लोगो मे यह अनुपात सिर्फ ३६ था। इस प्रकार बेकार लोगो के लिए काम की आवश्यकता—खास कर नये लोगो को—भी अभी जो व्यावसायिक स्वरूप है, उससे बिल्कुल अलग है और इससे पूरी नही हो सकती।

पटियाला मे बेकार लोगो की पिछली विशेषताए भी वैसी ही है जैसी कि ामीण बेकारो की, लेकिन ये

तालिका ७

पटियाला में १९५३ और १९५८ में लिंग भेद तथा प्रकार के अनुसार बेरोजगारो का प्रातिशत्य वितरण

बेरोजगार व्यक्ति	१९५८ सर्वेक्षण			१९५३ सर्वेक्षण		
	पुरुष	महिलाए	योग	पुरुष	महिलाए	योग
नवागतुक .	५६८	७००	५९०	५८४	६४६	५६५
अन्य .	४३२	३००	४१०	४१६	३५३	४३५
योग .	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
नमूने मे कुल सख्या	१४८०	३००	१७८०	१३७०	१७०	१५४०

स्रोत पटियाला शहर में रोजगारी और बेरोजगारी सर्वेक्षण का प्रतिवेदन, १९५८, तालिका ४४।

बेकार लोगो द्वारा वाछित विभिन्न किस्म के व्यवसायो के अनुपात (तालिका मे नही दिखाये गये है) भी वर्तमान व्यावसायिक गठन मे उनके अनुपात से

स्पष्ट दिखाई देती है। तालिका ७ मे पटियाला मे किये गये दोनो सर्वेक्षणो मे बेकारो का लिगानुसार प्रातिशत्य वितरण दिखाया गया है। बेकारो मे नये

लोगो का प्रातिशत्य बहुत अधिक है और पिछले वर्षो मे उसमे वृद्धि हुई है। फिर, पुरुष बेकारो की तुलना मे महिला बेकारो मे नवागन्तुको का अनुपात दोनो ही सर्वेक्षणो मे अधिक था। यह तथ्य उपर्युक्त मत का समर्थन करेगा कि महिलाओ मे कुछ बेकारी तो इसलिए है कि वर्तमान व्यावसायिक स्वरूप मे महिलाओ के लिए उपलब्ध उपयुक्त कामो की सख्या कर्मी शक्ति मे नवागन्तुक महिलाओ की बढती सख्या के लिए पर्याप्त नही है।

बेकारों की शैक्षणिक पृष्ठभूमि

तालिका ८ मे दोनो सर्वेक्षणो मे बेकारो की शैक्षणिक पृष्ठभूमि के सबध मे एकत्रित आकडो का तुलनात्मक विवरण दिया गया है। लिगानुसार अथवा नये पुराने के अनुसार १९५३ के सर्वेक्षण मे तत्सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध नही है, और इसी तरह दोनो १९५३ और १९५८ दोनो ही वर्षो मे अधिकाश बेकार साक्षर तथा शिक्षित थे। सन् १९५८ मे साक्षरो और शिक्षितो का अनुपात बढा है। सन् १९५८ मे बेकारो मे शामिल होनेवाले नये लोग दूसरो से अधिक शिक्षित थे। अन्य लोगो मे जबकि मैट्रिक तथा उससे अधिक शिक्षा प्राप्त लोगो का अनुपात सिर्फ १६ प्रति शत था, नये लोगो मे यह ६१ प्रति शत था। रोजगारी प्राप्त व्यक्तियो मे उनका अनुपात पुराने बेकारो की तुलना मे और कम हो सकता है, क्योकि नमूने मे समग्र प्रातिशत्य १२ था। आकडे यह स्पष्ट बताते है कि अशिक्षितो से अधिक बेकार शिक्षित है।

तालिका से इस महत्वपूर्ण तथ्य की भी जानकारी मिलती है कि बेकार महिलाओ की शैक्षिगिक पृष्ठभूमि बेकार पुरुषो की तुलना मे अधिक उन्नत है, दोनो श्रेणियो मे मैट्रिक तथा उससे अधिक शिक्षा प्राप्त

तालिका ८

सामान्य शिक्षा के अनुसार पटियाला शहर में बेरोजगार व्यक्तियों का प्रातिशत्य वितरण

सामान्य शिक्षा	१९५८ सर्वेक्षण					१९५३ सर्वेक्षण
	पुरुष	महिलाए	नवागतुक	अन्य	योग	योग
अनपढ	२२३	२००	६७	४३७	२१९	३३०
प्राथमिक से नीचे	८८		४८	११०	७३	३७१
प्राथमिक	१३५	३३	९५	१५१	११८	
माध्यमिक	१६१	१६७	१८१	१३७	१६३	
मैट्रिक	३११	४००	५०५	६८	३२६	१७५
इण्टर	४१	१३३	३७	८२	५६	१२३
स्नातक व ऊपर	४१	६७	६७	१४	४५	
योग	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
नमूने मे सख्या	१४८०	३००	१०५	७३०	१७८०	१४८०

स्रोत पटियाला शहर के रोजगारी और बेरोजगारी सर्वेक्षण का प्रतिवेदन, १९५८।

सर्वेक्षणो मे रोजगारी प्राप्त व्यक्तियो की शिक्षा के विषय मे भी आकडे प्राप्त नही है। जो भी हो, उपलब्ध जानकारी अवस्था को बहुत स्पष्ट कर देती है। सन् व्यक्तियो का अनुपात क्रमश ७७ और ५६ है। इससे यह पता चलता है कि जहा आम तौर पर समाज की सामाजार्थिक अवस्था सुधरती है, पजाब के शहरी

क्षेत्रो मे महिलाओ मे कर्मी शक्ति से हटने का ख पाया जाता है, जो कि महिला बेरोजगारी के अधोबिन्दु तक पहुच गया है, वहा शिक्षित महिलाओ मे कर्मी शक्ति मे शामिल होने का झुकाव पाया जाता है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि जाब मे बेकारी की समस्या मे दो मुख्य बाते पायी जाती है। एक यह है कि कर्मी शक्ति मे शिक्षित व्यक्तियो मे अशिक्षितो की अपेक्षा अधिक बेकारी है और दूसरे यह कि ग्रामीण क्षेत्रो मे कर्मी शक्ति मे बेकारी की समस्या जहा मुख्यत पुरुषो के लिए ही है, वहा शहरी क्षेत्रो मे महिला श्रमिक-शक्ति मे बेकार महिलाओ का अनुपात पुरुष कर्मी शक्ति मे बेकार पुरुषो की अपेक्षा अधिक है। इन दोनो बातो से हमे इसका सुराग मिलना चाहिए कि राज्य मे बेकारी का मुख्य कारण क्या है। प्रथम प्रक्रिया के लिए मैंने अन्यत्र[५] यह बताया है कि भारत मे शिक्षित बेकारो की समस्या मुख्यत इस कारण है कि शिक्षा और व्यावसायिक गठन के दो परस्पर सम्बन्धित 'चर' असम रूप से परिवर्तित हो रहे हैं, पहले मे दूसरे की अपेक्षा अधिक तीव्रता से परिवर्तन हो रहा है। पजाब मे भी लोगो की शैक्षणिक पृष्ठभूमि मे बहुत अधिक सुधार हुआ है। गत जन-गणना दशक मे साक्षारता १५ प्रति शत से बढ कर २४ प्रति शत हो गयी है। स्कूलो की सख्या तीन गुनी बढ गयी है।[६] व्यावसायिक स्वरूप भी बदल गया है, जैसा कि प्रारम्भ मे किये गये विश्लेषण से प्रयक्ष है, लेकिन व्यावसायिक स्वरूप मे परिवर्तन शिक्षा से अधिक नही है।

शहरी क्षेत्रो मे महिला कर्मियो मे बेकारी की सीमा शिक्षा और व्यावसायिक स्वरूप के 'चरो' मे असम परिवर्तन से भी सम्बन्धित है। महिलाओ की शिक्षा मे तीव्र वृद्धि—खास कर शहरी क्षेत्रो मे—होने से लाभदायक रोजगारी प्राप्त करने के प्रति उनके दृष्टिकोण मे परिवर्तन हो रहा है। साथ ही शिक्षित महिलाएँ कुछ किस्म के ही काम अपनाने को इच्छुक है। फलत उपलब्ध कार्य, काम चाहनेवाली शिक्षित महिलाओ की बढती सख्या के लिए, पर्याप्त नही है।

चण्डीगढ · ७ दिसम्बर १९६३

---

५. विक्टर सा डी सोजा 'सोशल डेवलपमेण्ट, एजुकेशन एण्ड इम्प्लायमेंट इन इंडिया, आगामी डी. पी. मुकर्जी स्मृतिग्रन्थ (मेमोरियल वोल्यूम) में प्रकाशित होनेवाला।

६ स्टेटिस्टीकल एब्सट्रैक्ट ऑफ पजाब. पंजाब सरकार, आर्थिक और सांख्यिकी सगठन, प्रकाशन सख्या १२, पृष्ठ २४२।

अनुकूल भूमि मनुष्य अनुपात तथा पूर्ण विकसित दुग्ध-उद्योग खेती की कम उत्पादकता के पूरक है। राज्य में प्रति एक हजार कृषक पीछे फसली क्षेत्र २,४९० एकड़ है, जबकि सम्पूर्ण देश के लिए यह सिर्फ १,४५० एकड़ ही है। सन् १९५५-५६ में दूध, मक्खन आदि का उत्पादन अन्दाजन ७४ करोड़ ८० लाख रुपये का अर्थात् शुद्ध कृषि उत्पादन का आधा हुआ था। सम्पूर्ण देश में दूध, मक्खन आदि का उत्पादन कुल फसल उत्पादन का मुश्किल से छठा हिस्सा ही हो पाता है। फलस्वरूप कृषि और पशु-पालन में लगे प्रति व्यक्ति शुद्ध उत्पादन (४८२ रुपये) राष्ट्रीय औसत (३९८ रुपये) से काफी अधिक है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात*: नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

भारत में मधुमक्खी-पालन

सुभाष चन्द्र सरकार

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के तत्वावधान मे हुए प्रयासों के फलस्वरूप मधुमक्खी पालन उद्योग ने काफी रास्ता तय कर लिया है तथा इसके प्रति लोक-अभिरूचि का विकास हुआ है। शहद के मानकीकरण, मूल्य निर्धारण और उसे लम्बे समय तक आरक्षित रखने के लिए तौर-तरीकों सम्बन्धी समस्याओं पर तत्काल ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

पंचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन ने, जिसकी त्रि-द्विवसीय कार्यवाही ३० जनवरी १९६४ को त्रिवेन्द्रम मे सम्पन्न हुई, मधुमक्खी-पालन के महत्व पर जनता का ध्यान आकर्षित किया है। इसके विकास की भारत मे कितनी सम्भाव्यताए है और अन्यत्र इसका कितना विकास हुआ है, इस दृष्टि से तुलना करने पर भारत मे मधुमक्खी-पालन, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष श्री उछरगराय न, ढेबर के शब्दो मे अभी अपनी 'गर्भावस्था' मे ही हैं। देश मे १९६२–६३ के अन्त मे १,६३,०१६ मधु-उपनिवेश थे, जिनसे १२,४८,९५९ पौण्ड शहद का उत्पादन हुआ। इस उत्पादन मे एक-तिहाई हिस्सा तो अकेले मैसूर राज्य का था। और फिर, मैसूर के ४ लाख ५० हजार पौण्ड मधु-उत्पादन मे भी तीन लाख पौण्ड शहद अकेले कुर्ग जिले मे तैयार हुआ। व्यावहारिक दृष्टि से मधुमक्खी-पालन उद्योग मैसूर, मद्रास, केरल तथा किसी हद तक महाराष्ट्र, जम्मू और कश्मीर एवम् बिहार राज्य तक ही सीमित है। वैज्ञानिक तौर-तरीको से मधुमक्खी-पालन का विस्तार करने के लिए १९१८ से प्रयास किये गये, तथापि अभी तक वह गतिशील नही हो पाया है। यह सच है कि वस्तुत मधुमक्खी-पालन की विशाल सम्भाव्यताए है। भारत के करीब एक-पचमाश हिस्से मे जगल है। मधुमक्खी-पालन के लिए वे 'अछूते' क्षेत्र प्रदान करते हैं।

मधुमक्खी-पालन मे न तो बहुत अधिक पूजी की जरूरत पडती है और न ही सघन श्रम तथा विशिष्टीकरण की। साधारण बुद्धि और योग्यता रखनेवाला प्राय कोई भी व्यक्ति इसे आशिक समय के काम अथवा शौक के रूप मे अपना सकता है। सफल मधुमक्खी-पालन प्राविधिक विशेषज्ञ के मार्गदर्शन मे अर्जित प्रत्यक्ष अनुभव पर निर्भर करता है। मधु-पालक को जिस चीज की जरूरत पडती है वह है शुरू-शुरू मे मधुमक्खी-घर खरीदने के लिए सहायता और प्राविधिक मार्गदर्शन तथा बिक्री के लिए सहायता। शहद प्राप्त करने का परम्परागत तरीका मधु-छत्ता निचोडने का है। यह प्रक्रिया ज्यादा खर्चीली है, क्योकि इसमे बहुत-सी मक्खीया मर जाती है। वैज्ञानिक ढग से मधुमक्खी-पालन करने पर मक्खियो को बिना कोई नुकसान पहुचाये मधु-निस्सारण सुनिश्चित होता है।

उपयुक्त नस्लों का विकास

ऐसा पाया गया है कि *एपिस इण्डिका* नामक भारतीय मधुमक्खी स्थान-विषयक अवस्था के अनुकूल अपने को ढालने मे सवेदनशील है। लेकिन फलोद्यान तथा जलवायु जैसे अनेक पहलुओ के कारण उससे शहद की प्राप्ति सीमित मात्रा मे ही होती है। अतएव अधिक शहद देनेवाली उपयुक्त नस्लो की मधुमक्खिया आयात करने के लिए प्रयास किये गये है। तथापि, बाहर से मधुमक्खिया मगवाने मे एक खतरा यह है कि उनके साथ कुछ सक्रामक बीमारिया भी आ सकती है, जिनसे देश की मधुमक्खियो का जीवन खतरे मे पड जायेगा। तथ्य यह है कि भारतीय मधुमक्खिया इन रोगो के

प्रति बहुत ही प्रतिरोधी रही है, जोकि अन्य देशो की मधुमक्खियो के लिए एक अनवरत भय बना हुआ है। अधिक उत्पादकता सुनिश्चित करने के लिए बेहतर तरीका यह होगा कि भारतीय मधुमक्खियो मे से ही चयन और प्रजनन की विधिया अपना कर उपयुक्त नस्लो का विकास किया जाय। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के तत्वावधान मे सचालित मधुमक्खी-पालन अनुसधानशाला इस कार्य मे सलग्न है।

वर्तमान अवस्था

भारत मे मधुमक्खी-पालन को यद्यपि राज्य सरकारो से—खास कर मैसूर (भूतपूर्व कुर्ग राज्य के क्षेत्र मे), मद्रास और आन्ध्र प्रदेश मे—किसी हद तक प्रोत्साहन मिला, तथापि इसका व्यवस्थित विकास करने के लिए १९५३ मे (तत्कालीन अखिल भारत) खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने उसे अपने हाथ मे लिया उससे पहले उसके सगठित विकास के लिए कभी कोई प्रयास नही किया गया। फिर भी, यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उद्योग के विकास मे गाधीजी ने भी अपनी दिलचस्पी प्रकट की थी। भारत मे वैज्ञानिक ढग से मधुमक्खी-पालन की दिशा मे उल्लेखनीय योगदान देनेवाले है फादर न्यूटन, छोटेलालजी (महात्मा-गाधी के निकट सहयोगी), डाक्टर स्पेसर हॅच, कुर्ग के स्वामी सम्भवानन्द और श्री सजीव राव क्रु कल्लापुर जिन्होने हाल ही मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन मे मधुमक्खी-पालन उद्योग निर्देशक के पद से अवकाश ग्रहण किया है और उक्त कार्य भार उद्योग के प्रवर्तक श्री सीताराम ग शेण्डे को सौपा है।

मधुमक्खी-पालको को प्राविधिक और आर्थिक सहायता देने तथा उन्हे अन्य देशो मे वैज्ञानिक तौर-तरीको से मधुमक्खियो का पालन करने सम्बन्धी प्राप्त ज्ञान की जानकारी करवाने के लिए भी किसी सगठन के अभाव मे खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के प्रयास सीमित ही रहे। यह सच है कि अखिल भारतीय मधु-पालक सघ क्षेत्र मे काम कर रहा था, लेकिन भारत मे मधु-पालको की सीमित सख्या के फलस्वरूप उसकी सदस्यता व विस्तार की क्षमता बहुत ही सीमित थी। और फिर, इस प्रकार के स्वेच्छित सगठन से वैसे क्षेत्रो मे उद्योग का विकास करने की अपेक्षा भी नही की जा सकती, जोकि उसकी ओर से अछूते रहे है। अतएव, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने सहायता देने की एक प्रणाली तैयार की जिसके अन्तर्गत मधु-पालको द्वारा मधुमक्खी-घरो की खरीद पर उपदान (सब्सिडी) देने और ग्रामीण क्षेत्रो मे कृषको को वैज्ञानिक ढग से मधुमक्खी-पालन हाथ मे लेने की जानकारी देने के लिए क्षेत्रीय कर्मचारी प्रदान करने की कल्पना की गयी। अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की पहल तथा बाद मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन (जिसने अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल से १९५७ मे कार्यभार सम्हाला) के प्रयासो के जरिये देश मे अनेक मधुमक्खी-पालन उप-केन्द्र, आदर्श मधु-वाटिकाए, पौध-शालाए, स्कूली मधु-वाटिकाए तथा व्यावसायिक रोपण मधु-उद्यान सामने आये है। आज सारे भारत मे वैज्ञानिक ढग से मधुमक्खी-पालन होता है—यहा तक कि उपुसी और नागा प्रदेश जैसे दूरस्थ क्षेत्रो मे भी। फिलहाल ७९० उप-केन्द्र और ९० सम्भाग है, जिनके अन्तर्गत ११,०६७ गाव तथा ५३,८८४ मधु-पालक आते है।

उत्पादन और लक्ष्यांक

सन् १९५३—६३ के बीच के दशक मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मधुमक्खी-पालन कार्यक्रम पर कुल ९० लाख रुपये खर्च हुए। इन मे २० लाख पये साधन-सरजाम पर दिया गया उपदान था, जोकि मधु-पालको द्वारा निर्मित पूजी परिसम्पत्ति का ५० प्रति शत हिस्सा है। इसी दशक मे मधु-उत्पादन ४८ लाख पौण्ड हुआ, जिसकी कीमत ९६ लाख रुपये होती है। इसमे ५० हजार पौण्ड मोम का अनुमानित उत्पादन भी जोडा जा सकता है, जिसका मूल्य एक लाख रुपये होता है। इसके अलावा १ लाख ५० हजार मधु-उपनिवेश स्थापित किये गये है। प्रति उपनिवेश १० रुपये का

सामान्य मूल्य मानने पर भी इनकी कीमत १५ लाख रुपये होती है।

चतुर्थ पच वर्षीय योजना अर्थात् १९७० के अन्त तक भारत मे कम से कम कुल १० लाख मधु-उपनिवेश बनाने की योजना है। इनसे प्रति वर्ष एक करोड पौण्ड से भी अधिक शहद का उत्पादन हो सकेगा।

परागाधान के लाभ

शहद का पोषण और औषधियो की दृष्टि से बहुत बडा महत्व है। शहद उत्पादन वृद्धि से खाद्यान्न उत्पादन बढ सकता है। मधुमक्खी-पालन तो अकेले इसी आधार पर वाछनीय है। लेकिन मधुमक्खियॉ वनस्पति के क्षेत्र मे एक दूसरी महत्वपूर्ण भूमिका और अदा करती है। वे फूलो के परागाधान के लिए एक महत्वपूर्ण माध्यम है। मधुमक्खी-पालन विकास कृषि और उद्यान विज्ञान के विकास के लिए वरदान सिद्ध होगा। केन्द्रीय कृषि मत्री डाक्टर राम सुभग सिह ने २८ जनवरी १९६४ को पचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन मे अपने उद्घाटन भाषण मे कहा था कि कुक्कुट-पालन व सुअर-पालन की भाति मधुमक्खी-पालन मे भी खाद्य के लिए बहुमूल्य पदार्थ तथा पालको एवम् अन्य लोगो के लिए अतिरिक्त आय प्रदान करने आदि की बहु-उपयोगी सम्भावनाए है। उन्होने बताया कि मधुमक्खियो का पराग-वाहक के रूप मे उपयोग करने से यह धधा व्यावसायिक दृष्टि से और भी अधिक लाभकारी बन गया है।

देश के विभिन्न भागो मे गाव के लोगो को मधुमक्खी-पालन मे प्रशिक्षण देकर, आर्थिक सहायता द्वारा उपकरणो को रियायती दरो पर बनाने तथा मधुमक्खी-क्लबो की स्थापना करके खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने इस उद्योग को ग्रामीण भारत मे लोकप्रिय बनाने के लिए प्रयास किए है। प्रयासो की डाक्टर राम सुभग सिह ने भी सराहना की थी। उन्होने कहा, "किसानो और देहात के अन्य लोगो के लिए मधुमक्खी-पालन न केवल मन बहलाने के लिए एक अच्छा शौक ही सिद्ध होगा, वरन् वे शहद और मोम बेच कर अपनी आमदनी मे कुछ वृद्धि भी कर सकेगे।"

उत्पादकता, मानकीकरण व बिक्री

भारत मे प्रति पेटी-छत्ता औसतन सात-आठ पौण्ड शहद उत्पादन अनेक अन्य देशो के लगभग ७० पौण्ड औसत उत्पादन की तुलना मे बहुत ही कम है। डाक्टर राम सुभग सिह ने अपने भाषण मे एक सन्दर्भ दिया था कि दक्षिण अफ्रीका मे एक पेटी छते से दो हजार पौण्ड वार्षिक तक शहद तैयार होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि इस उद्योग मे भारी सम्भाव्यताए निहित है।

यद्यपि उद्योग मे निहित विकास की सम्भाव्यताओ और देश की पोषण सम्बन्धी आवश्यकताओ की तुलना मे शहद का उत्पादन बहुत कम है, तथापि उद्योग का एकागी विकास इस बात मे प्रतिबिम्बित होता है कि बिक्री की समस्या खडी हो गयी है। माल इकट्ठा हो जाने के कारणो का पता लगाना और यह जानना एक तत्काल किया जानेवाला काम हो गया है कि ऐसा शहद की ऊची कीमतो के कारण हुआ है अथवा उसके गुण-स्तर मे कमी होने के कारण या दोनो की वजह से। शहद के मानकीकरण, उसकी कीमत और उसे लम्बे समय तक टिकनेवाला बनाने के लिए तौर-तरीके ढूढ निकालने पर तत्काल ध्यान देने की जरूरत है। शहद की बिक्री को इस कारण भी धक्का लगा है कि अभी तक कोई ऐसा सूत्र नही निकाला जा सका है, जिससे उसकी शुद्धता आकी जा सके। अलग-अलग फूलो से तैयार किये गये शहद की विशेषताए भी अलग-अलग होती है। मधु-विश्लेषण के विश्वस्त तरीके खोज निकालने के लिए अन्वेषण तथा प्रयोग किये जा रहे है।

उद्योग विकास के लिए यह जानना महत्वपूर्ण है कि कौन-से क्षेत्र उसके लिए अनुकूल है। पचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन मे उडीसा राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के अध्यक्ष श्री राज कृष्ण बोस ने इस सबध मे एक सुझाव दिया कि देश के विभिन्न

भागो मे मधुमक्खी-पालन के विकास की सम्भाव्यताओ का पता लगाने की दृष्टि से समूचे भारत मे राष्ट्रव्यापी सर्वेक्षण किया जाना चाहिए। इस प्रकार के सर्वेक्षण मे कुछ वर्ष लग सकते है, फिर भी वैसा करना मूल्यवान साबित होगा, क्योकि उसके पूरा होने पर राष्ट्र के पास ऐसे क्षेत्रो की एक सूची होगी, जहा उद्योग का विकास किया जा सकेगा।

छत्ते से शहद प्राप्त करने के लिए मधुमक्खियो को अब भी देश के अनेक भागो मे मार दिया जाता है। अनेक प्रतिनिधियो ने इस बुरी पद्धति का जिक्र किया और कहा कि इसे रोकने के लिए कदम उठाने चाहिए। श्री बोस ने एक सुझाव दिया था कि राज्य सरकारे कानून बना कर ऐसी पद्धतियो पर रोक लगावे। सभी ने इस सुझाव का समर्थन किया। भारत मे मधुमक्खी-पालन के विकास के लिए मधुमक्खियो को जीवित रखना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि अन्य कोई काम।

संगठन और वित्त

उद्योग की समस्याए तीन श्रेणीयो मे विभक्त की जा सकती है (अ) सगठनात्मक, (आ) वित्तीय, और (इ) शैक्षेणिक। सगठन की दृष्टि से चार अभिकरण—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, १९६० के समिति पजीयन अधिनियम के अन्तर्गत पजीकृत समितिया जिन्हे सामान्यत 'सस्थाए' कहा जाता है, तथा सहकारी समितिया—क्षेत्र मे काम कर रहे है। देश मे पचायत राज की स्थापना के साथ क्षेत्र मे पचायत राज सस्थाओ के एक पाचवे सगठन का प्रादुर्भाव और हुआ है। सम्मेलन मे इस बात की आवश्यकता पर विस्तार मे चर्चा हुई कि किसी स्तर पर इन सस्थाओ की अन्य कार्यशीलताओ मे समन्वय हो तथा उनमे सयोजन स्थापित किया जाय। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन उद्योग के विकास हेतु पहले से ही लगभग एक करोड रुपया खर्च कर चुका है। कमीशन देश के मधुमक्खी-पालन उप-केन्द्रो मे क्षेत्रीय कर्मचारी नियुक्त करने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करता रहा है। प्रथम तीन वर्ष के लिए वह इस प्रकार के कर्मचारियो का पूरा खर्च बर्दाश्त करता है और उसके बाद के दो वर्ष के लिए वह आशिक रूप से उक्त व्यय वहन करता है। तत्पश्चात् अर्थात् पाच वर्ष की अवधि के बाद उप-केन्द्रो से अपेक्षा की जाती है कि क्षेत्रीय कर्मचारियो का खर्च वे बर्दाश्त करे। पाच वर्ष के अन्त मे क्षेत्रीय कर्मचारियो का व्यय देना बन्द कर देने के निर्णय के सम्भाव्य प्रभाव के सम्बन्ध म सम्मेलन मे उपस्थित अधिकाश प्रतिनिधियो ने चिन्ता व्यक्त की।

उपसंहार

कमीशन के अध्यक्ष श्री उछरगराय न ढेबर ने यह स्पष्ट किया कि कमीशन का इरादा मधुमक्खी-पालन उद्योग के लिए वित्तीय वितरण रोकना नही है। क्षेत्रीय कर्मचारियो का व्यय एक निश्चित अवधि के लि सीमित रखने के पीछे इरादा यह है कि एक ओर जनता मे 'अपनी सहायता खुद करने' की भावना जागृत हो और दूसरी तरफ उद्योग को विस्तृत क्षेत्र मे फैलाना सम्भव बने। उन्होने आगाह करते हुए कहा था कि मधुमक्खी-पालन कार्यक्रम अकेले खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा ही सफलतापूर्वक नही चलाया जा सकता। केन्द्रीय कृषि मत्रालय और राज्य सरकारो के कृषि विभागो के सहयोग का होना अनिवार्य है। यह अपेक्षा करना भी गलत होगा कि उद्योग के विकास के लिए समूचा व्यय कमीशन ही वहन करे। अतएव उन्होने स्वेच्छित अभिकरणो से उपयुक्त योगदान देने का आवाहन किया। कमीशन अनिश्चित काल तक सहायता देते नही रह सकता, और मधुमक्खी-पालन उद्योग को भी अपने पैरो पर खडा हो कर प्रारम्भिक अवस्था मे दी जानेवाली सहायता का औचित्य सिद्ध करना चाहिए।

उद्योग के विकास के लिए सगठनात्मक, वित्तीय और शैक्षणिक आधार को शक्तिशाली बनाने हेतु सम्मेलन ने कई प्रस्ताव पारित किये। निस्सन्देह पचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन भारत मे मधुमक्खी-पालन के विकास मे एक उल्लेखनीय घटना है। [इस लेख का सक्षिप्त रूप ९ फरवरी १९६४ के 'दि इकनॉमिक टाइम्स' मे प्रकाशित हुआ था।]

त्रिवेन्द्रम　३० जनवरी १९६४

मधुमक्खी-पालन उद्योग : समीक्षा*

सीताराम गं. शेण्डे

मधुमक्खी-पालन उद्योग ने खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रदत्त सहायता के परिणाम-स्वरूप उल्लेखनीय प्रगति की है। सन् १९७० के अन्त तक भारत में कम से कम दस लाख मधु-उपनिवेश तो हो ही जाने चाहिए, जिनसे प्रति वर्ष एक करोड़ पौण्ड से ज्यादा मधु तैयार हो। कृषिक और वानस्पतिक फसलों में इन मधु-उपनिवेशों से फसल-परागाधान के लिए परिपूर्ण काम लेने से राष्ट्र को बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

पिछले वर्षो की प्रगति को देखते हुए मधुमक्खी-पालन उद्योग का विकास काफी उत्साहवर्द्धक है। कार्यक्रम के कार्यान्विय मे लगे खादी और ग्रामोद्योग मण्डलो, सस्थाओ तथा सहकारी समितियो ने उद्योग की विकास योजनाओ के कार्यान्वियन मे सर्वोत्तम सहयोग का परिचय दिया है।

मधुमक्खी-पालन उप-केन्द्रो, आदर्श मधु-वाटि ाओ, पौध-घरो, स्कूली मधुवाटिकाओ, व्यावसायिक रोपण मधु-वाटिकाओ आदि की स्थापना जैसी विभिन्न योजनाएँ १९५३ से हाथ मे ली गयी है तथा कार्यक्रम का विस्तार अब देश के सभी भागो मे हो गया है—उपूसी एवम् नागा प्रदेश जैसे दूरस्थ क्षेत्रो मे भी। आज कार्य का विस्तार ७४ क्षेत्रीय कार्यालयो तक हो गया है, जिनमे ७९० उप-केन्द्र है तथा ९० सभाग, जिनके अन्तर्गत ११,०६७ गाव आते है। इन गावो मे ५३,८८४ मधुमक्खी-पालक है, जिनके पास १,६३,०१६ मधु-उपनिवेश है। सन् १९६२–६३ मे १२,४८,९५९ पौण्ड शहद का उत्पादन हुआ।

सघन तरीकों की आवश्यकता

अगर उद्योग को अधिक लाभदायक एव मितव्ययी आधार प्रदान करना है, तो महज कार्यक्रम का विस्तार ही पर्याप्त नही है। अत क्रमबद्ध अनुसधान एवम् प्रशिक्षण कार्यक्रम के जरिये विकसित तकनीको को प्रयुक्त कर सघन तरीके अपनाने की दिशा मे प्रयास करना होगा। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने भी मौन-अनुसधान क्षेत्र मे प्रवेश किया है तथा पूरे देश के लिए एक विस्तृत योजना अभी-अभी हाथ मे ली गयी है। एक केन्द्रीय मौन-अनुसधान प्रतिष्ठान तथा दो क्षेत्रीय प्रयोगशालाओ की स्थापना हो चुकी है तथा अगले दो वर्षो मे पाच या छ क्षेत्रीय केन्द्रो की स्थापना की जायेगी।

भविष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम मे भी आवश्यक परिवर्तन किया जा रहा है। आम जनता को वैज्ञानिक मधुमक्खी-पालन की जानकारी देने तथा यह किस प्रकार अपने सीमित साधनो से राष्ट्र की सामान्य अर्थ-व्यवस्था एवम् कल्याण मे योगदान दे सकता है उसके हेतु साहित्य, प्रेस, प्रदर्शनियो, फिल्मो गोष्ठियो आदि के जरिये प्रभावशाली प्रचार करने के लिए जोरदार प्रयास करना होगा।

मुझे अगस्त १९६३ मे जेकोस्लोवाकिया के प्राग नामक स्थान पर आयोजित १५वे अतर्राष्ट्रीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की ओर से भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस सम्मेलन मे ४० देशो के १००० से अधिक प्रतिनिधियो ने भाग लिया, जिनमे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक, व्यावसायिक मधुमक्खी-पालक तथा मधुमक्खी-पालन क्षेत्र के विशेषज्ञ भी थे। बहुत-से लोग इस अल्पावधि मे ही कमीशन के अन्तर्गत इस क्षेत्र मे अब तक प्राप्त सफलता से बहुत प्रभावित

* त्रिवेन्द्रम मे सम्पन्न पचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन में २८ जनवरी १९६४ को दिया गया स्वागत भाषण।

हुए तथा भारतीय मधुमक्खी-पालन के प्रति उन्होने काफी दिलचस्पी दिखायी। शीघ्र विकास के लिए उन्नत तकनालाजी का फायदा उठाने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग क्षेत्र मे प्रवेश करने का हमारे लिए यह एक अवसर है।

सफलताएँ

गत दशक मे इस क्षेत्र मे प्राप्त सफलताओ मे ८० प्रति शत से अधिक हिस्सा दक्षिणी राज्यो का रहा, जिनमे प्रथम मैसूर और द्वितीय तथा तृतीय स्थान क्रमश मद्रास एव केरल ने प्राप्त किया। अब उत्तरी राज्यो—खास तौर से हिमालयी क्षेत्रो– मे मधुमक्खी-पालन उद्योग को विकसित करने का समय आ गया है। अत हिमालयी क्षेत्रो मे अधिक विस्तार केन्द्र खोलने पर जोर दिया जा रहा है। आशा की जाती है कि थोडे ही दिनो मे उत्तर और दक्षिण की प्रगति मे सतुलन स्थापित हो जायेगा।

आम तौर से यह विश्वास किया जाता है कि मधुमक्खी-पालन से केवल शहद एवम् मोम ही प्राप्त किया जा सकता है। आशिक रूप मे यह सही भी है, परन्तु आज सभी विकसित देशो ने मधुमक्खियो की परागाधान सम्बन्धी सेवा को स्वीकार कर लिया है। आज बहुत-से देशो मे कृषि के वैज्ञानिक व क्रमबद्ध विकास की किसी भी योजना मे मधुमक्खियो का अभिन्न स्थान है। मौन परागण विश्वसनीय है तथा उस पर नियत्रण किया जा सकता है। इसलिए भारत जैसा खेतिहर देश मधुमक्खियो की सेवाओ को नजरदाज नही कर सकता।

पिछले दस वर्षो यानी १९५३–६३ मे कमीशन के जरिये इस उद्योग पर कुल ९० लाख रुपये खर्च किये गये। इन मे से २० लाख रुपये सरजाम उपदान (सब्सिडी) के रूप मे वितरित किये गये, जोकि इस प्रकार से निर्मित पूजी-परिसम्पत्ति का ५० प्रति शत है। इस खर्च पर उक्त दशक (१९५३–६३) मे ९६ लाख पये मूल्य के ४८ लाख पौण्ड शहद का उत्पादन हुआ। मोम का अनुमानित उत्पादन ५० हजार पौण्ड था, जिसका मूल्य लगभग १ लाख रुपये होता है।

अत ९० लाख रुपये के कुल खर्च से ९७ लाख पये की प्राप्ति हुई। इस समय कुल १,५०,००० मधु-उपनिवेश है, और १० रुपये प्रति उपनिवेश की दर से भी उनका मूल्य १५ लाख रुपये होता है। अगर परगाधान के जरिये जगली अथवा कृष्ट आर्थिक वनस्पति क्षेत्रो मे हुए अप्रत्यक्ष लाभो को भी हम गिने तो यह शहद और मोम से हुए लाभ से अधिक हो जायेगा।

अत यह स्पष्ट है कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न उद्योगो मे मधुमक्खी-पालन बेहतर स्थिति मे है। गत दस वर्षो मे इस पर खर्च हुई निधि तथा इससे हुई आमदनी से यह बात सिद्ध हो जाती है कि मधुमक्खी-पालन उद्योग से काफी फायदा हो सकता है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इस उद्योग मे जितनी पूजी लगती है अनुपातत उससे कही अधिक लाभ होता है। इस उद्योग पर खर्च हुई रकम से केवल मधुमक्खी-पालको को ही फायदा नही हुआ है, बल्कि बढइयो, टीनकारो तथा अन्य कारीगरो को भी लाभ पहुँचा है। ध्यान देने योग्य सबसे महत्वपूर्ण वात यह है कि मधुमक्खी-पालन उद्योग के न होने से प्रकृति का यह शहद-धन बेकार चला जाता।

भविष्य के लक्ष्यांक

यद्यपि उद्योग की ऊपर वर्णित दस वर्षो की प्रगति काफी प्रशसनीय रही है, तथापि वह विकास के लिए हमारी प्राकृतिक शक्यता का एक अश भी नही है। अन तीसरी योजना के अवशेष भाग और चौथी योजना की समस्त अवधि मे पूरे किये जाने लायक उचित लक्ष्याक निर्धारित करना बहुत आवश्यक है। सन् १९७० के अन्त तक, हमे भारत मे कम से कम कुल १० लाख मधु-उपनिवेश तो बना ही लेने चाहिए, जिनसे प्रति वर्ष मधु-वाटिकाओ मे एक करोड पौण्ड से अधिक मधु प्राप्त हो सके। यदि हम इन मधु-उपनिवेशो का कृषि और फलो की फसलो के परागाधान के लिए इस्तेमाल करे तो देश को करोडो रुपये का लाभ हो सकता है।

उल्लेखनीय है कि यह लक्ष्याक फ्रास और जर्मनी जैसे चन्द देशो मे पाले जानेवाले मधु-उपनिवेशो की सख्या से कम ही है, जबकि उनका क्षेत्रफल हमारे चन्द राज्यो के ही बराबार है। अत १९७० के अन्त तक १० लाख मधु-उपनिवेश बनाने का उपर्युक्त लक्ष्याक सामान्य और उचित ही है।

मौन-पालन में अनुसंधान *

गोविन्द बालकृष्ण देवडीकर

प्राचीन ढग से मौन-शिकार करने के तरीके को छोड मौन-पालन का आधुनिक तरीका हमने इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में अपनाया, जबकि हस्तातरित होनेवाली मौन-पेटी बनी। भारतीय मधुमक्खियो के विषय में विस्तृत अनुसधान कार्यक्रम करीब दस वर्ष पूर्व महाबलेश्वर और पूना स्थित मौन-पालन प्रयोगशालाओं द्वारा आरम्भ किया गया, जिन्होंने उन्नत नस्ल, उन्नत चारा और उन्नत मौन प्रबन्ध से सबधित कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अग्रणी कार्य किया है।

मधुमक्खियो से हमारा सम्बन्ध उतना ही प्राचीन है, जितना कि मानव सभ्यता से। इसका आरम्भ तब हुआ जबकि हमारे पूर्वजो ने मधु-छत्ते से प्राप्त शहद का सर्व प्रथम रसास्वादन किया। तब से ही हम मधु-मक्खियो को जला उनके छत्तो को निचोड कर शहद निकालते आ रहे है। हजारो वर्षो तक हम नम्र मौन-पालक होने के बदले कठोर और कृतघ्न मौन-शिकारी रहे है। प्राचीन ढग से मौन-शिकार करने के तरीके को छोड मौन-पालन का आधुनिक तरीका हमने इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे अपनाया, जबकि हस्तातरित होनेवाली मौन-पेटी बनी। इस खोज के कारण मधुमक्खियो के साथ हमारा सबध सुधरा है। आधुनिक मौन-पालन 'जीओ और जीने दो' वाली प्रक्रिया है जिसमे परस्पर लाभ और कर्तव्य का ध्यान रखा जाता है।

प्रशंसनीय प्रगति

भारत मे मौन-पालन का आरम्भ अपेक्षाकृत कुछ देरी से, इस शताब्दी के प्रथम दशको मे हुआ। यह चन्द अग्रणियो के प्रयासो का फल था, किन्तु सगठित प्रयास न होने के कारण तब तक कोई विशेष प्रगति नही हुई जब तक कि इस उद्योग के विकास का भार चन्द राज्यो मे नवगठित ग्रामोद्योग मडलो को न सौप दिया गया। सन् १९५३ मे अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना के बाद मौन-पालन ने बडी तीव्र प्रगति की। अब हमारे देश मे ५ लाख से भी अधिक आधुनिक मधु-छत्ते है, जिनसे वार्षिक १५ लाख पौड से भी अधिक शहद प्राप्त होता है।

यद्यपि यह प्रगति प्रशसनीय है, तथापि चन्द देशो के उत्पादन और हमारे ही देश मे इस उद्योग के विकास की जो प्राकृतिक क्षमता है उसकी तुलना मे नगण्य है। इस प्राकृतिक क्षमता का उपयोग करने हेतु हमे मौन-पालको तथा मौन-पेटियो की सख्या तो बढानी ही है, प्रति पेटी शहद का उत्पादन बढा कर उद्योग की योग्यता भी बढानी है। पहले का सम्बन्ध है हमारे मौन-पालन सगठन के विस्तार विभाग से और दूसरे का अनुसधान विभाग से। अत मै यहाँ भारत मे मौन-पालन ,अनुसधान की वर्तमान अवस्था का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करूँगा।

विस्तृत अनुसंधान

भारत मे मौन और मौन-पालन पर वैज्ञानिक खोजे हाल के दशको मे की गयी है। अधिकाश प्रारभिक कार्य विभिन्न कृषि अनुसधान सस्थाओ के कीट विज्ञान विभागो द्वारा—विशेष कर पूसा, दिल्ली, कोयम्बतूर, लायलपुर, लुधियाना, कतरन, जेवलीकोट और अन्य केन्द्रो द्वारा—किया गया। प्राणि-विज्ञान विभागो ने भी इस दिशा मे कुछ महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन सभी प्रारभिक खोजो ने भारतीय मधुमक्खियो के तुलनात्मक आकृति, शरीर, पारिस्थिकी और कुछ हद तक वर्गीकरण विज्ञान पर अधिक जोर दिया। इससे इस विषय मे बडी मूल्यवान मूल जानकारियाँ मिली।

---

* प्रस्तुत लेख पचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन में पढ़ा गया था।

तथापि, मौन-पालन अनुसधान मे व्यापक दूरदर्शिता और अभिस्थापना की आवश्यकता है। यह विषय ही ऐसा है कि नेमी कीट-विज्ञानीय पहलुओ के अतिरिक्त विभिन्न जीव-विज्ञान और प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र मे होनेवाली बडी ही महत्वपूर्ण खोजो पर भी साथ ही साथ ध्यान देना अनिवार्य है। इसमे ये चीजे शामिल है मौन-पौध विज्ञान, मौन रसायन शास्त्र, कोशिकानूवशिकी, नस्ल सुधारने के लिए प्रजनन, मौन-व्यवहार अध्ययन, कृषि फसल परागण, स्थानीय पारिस्थिकी से सम्बन्धित सही प्रबन्धीक व्यवस्था करना, शहद, मोम तथा अन्य मधु-उत्पादनो का मानकीकरण, आदि।

मौन-पालन प्रयोगशालाओ का योगदान

भारतीय मधुमक्खियो पर इस तरह का विस्तृत अनुसधान कार्य सर्व प्रथम दस वर्ष पूर्व महाराष्ट्र मे महाबलेश्वर और पूना की मौन-पालन प्रयोगशालाओ द्वारा आरम्भ किया गया। तब से छो और बडे १,००० मधु-पौधो का, सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया और वार्षिक चक्र मे उनके पुष्पीय अनुक्रम निर्धारित किये गये। वार्षिक चक्रो की कमीवाली अवधियो मे मधु-रस और पराग उपलब्ध करने के लिए उन अवधियो मे फूलनेवाले मधु-पौधो को परीक्षण के लिए लगाया गया।

प्रयोगशाला ने भारत मे मेलिटोपैलिवोलाजी अर्थात् मौन-समस्याओ पर पराग प्रयुक्त करने के अध्ययन के क्षेत्र मे अग्रणी कार्य किया है। हजार से भी अधिक पौध-जातियो के पराग माइक्रोस्लाइड स्थायी तौर पर तैयार किये गये है और इनमे निरन्तर वृद्धि हो रही है। इससे एक पुष्पीय और बहु-पुष्पीय शहद के वनस्पति स्रोतो का उनके भौगोलिक मूल के साथ परिचय प्राप्त करने मे सुविधा मिलती है। यदि शहद मे किसी विषैले पौधे का पराग हुआ, तो उसका भी इससे पता लग जाता है। इस तरह का पराग विश्लेषण अब नेमी कार्य हो गया है, विशेष कर एक-पुष्पीय शहद को बेचते वक्त। प्रगतिशील मौन-पालन सहकारी समितियाँ वनस्पति स्रोतो की सही जानकारी के लिए कई नमूने प्रयोगशाला को भेजती है।

प्रयोगशाला ने मधुमक्खियो के जरिये चन्द फसलो मे सकर-परागण के फलस्वरूप हुई उत्पादन वृद्धि का अन्दाज लगाने के लिए कई प्रयोग किये। मौन-परागण से नीबू, अगूर, रसभरी और चन्द अन्य उद्यानी फसलो मे ३० से ९० प्रति शत तक वृद्धि हुई है और फल के आकार, वजन, रग और सुगधी मे भी महत्वपूर्ण सुधार हुए है। बैगन, मिर्च और चन्द किस्म के कुम्हडो मे भी इसी तरह के परिणाम निकले है। प्याज की फसल तिगुनी और नाइजर की पाँच गुनी बढ गयी। तरबूज या बादाम जैसे पौधो के फलो मे, जोकि बहुत अधिक स्वयम्-वन्ध्य है, आप कितनी ही मात्रा मे खाद क्यो न डाले, कितनी ही सिचाई या अन्य सिचन व्यवस्था क्यो न करे, बिना मौन या अन्य कीट परागण किये वृद्धि नही हो सकती। यदि हम परागण के लिए मधुमक्खियो की व्यवस्था करे तो हमारे अधिकाश तिलहनो, दालो, तरकारियो, फलो, कपास और अन्य फसलो मे महत्वपूर्ण वृद्धि हो सकती है।

बहु-विध जानकारी

प्रयोगशाला ने भारतीय शहद और मौन-मोम के भौतिक और रासायनिक तत्वो के विषय मे विस्तृत आकडे सग्रहीत किये। इन आकडो का उपयोग कृषिक हाट-व्यवस्था सग न और भारतीय मानक सस्था ने भारतीय शहद और मौन-मोम की शुद्धता के विशिष्टीकरण हेतु किया। प्रयोगशाला ने योग्य मौन-प्रबन्ध के लिए कई नेमी-क्रियाएँ बनायी। इनमे खेतो और जगली क्षेत्रो के बीच स्थानान्तरण पद्धति, कही झुड बनाने और कही छत्ता छोड देने को रोकने, मधुमक्खियो को भोजन कराने और उनके छत्ते बदलने की मिश्रित प्रक्रिया, बरसात, जाडा, कमी और आधिक्य की अवधियो मे सामान्य कार्य पद्धति शामिल है।

अण्डशावक और ऊपरी कोठो के अनुकूलतम विस्तार तथा मधुमक्खियो के लिए अनुकूलतम स्थान सम्बन्धी आकडो का भारतीय मानक सस्था के सहयोग से मधु-पेटियो और अन्य उपकरणो का मानकीकरण करने मे

उपयोग किया गया। एक उन्नत शहद चरागाह इकाई की इजाद की गयी है, जोकि देश के विभिन्न भागो मे अपनायी जा रही है।

उन्नत नस्लों का प्रजनन

भारतीय मधुमक्खियो के तुलनात्मक कोशिकानुवशिकी अध्ययन के आधार पर उन्नत नस्लो के प्रजनन हेतु एक अभिनव पद्धति बनायी गयी। सुधरी नस्लो से सामान्य अवस्थाओ मे आम मधुमक्खियो से ३० से ९० प्रति शत अधिक शहद प्राप्त हुआ है। भारत मे ऐसा पहली बार किया गया है।

अनुसधान के अलावा प्रयोगशाला ने प्रगामी मौन पालन मे प्रशिक्षण पाठ्यक्रम भी चलाया है। अब तक भारत, नेपाल और सिक्कम के ७६ प्रशिक्षार्थियो ने प्रशिक्षण प्राप्त किया है। सदर्भ पुस्तकालय मे ५,००० से अधिक अनुसधान निबन्ध है, जोकि विभिन्न देशो से हमारे प्रकाशनो के बदलौन से प्राप्त हुए हैं। सावधानीपूर्वक इनकी सूची तैयार की गयी है, उन्हे वर्गीकृत किया गया है और उनका सूचकाक बनाया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मधुमक्खी अनुसधान सघ ने इसे एशिया की अपनी चन्द शाखाओ मे से एक मान लिया है।

प्रयोगशाला के कार्यो को उचित मान्यता देते हुए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने हाल ही मे इस प्रयोगशाला को केन्द्रीय मौन अनुसधान और प्रशिक्षण सस्था के रूप मे पुर्नगठित किया है, जिसका प्रधान कार्यालय पूना मे है। यह देश के विभिन्न भागो मे स्थापित की जानेवाली करीब सात क्षेत्रीय प्रयोगशालाओ के कार्य को समन्वित करेगी। दो की स्थापना तो मरकारा और कोडाईकनाल मे हो भी चुकी है।

मौन-पालन उद्योग की उत्पादन-योग्यता अन्तत उन्नत प्रजनन, उन्नत चारा और उन्नत प्रबन्ध पर निर्भर करती है। हमे मधुमक्खी-उत्पादनो के स्तर नियत्रण की भी व्यवस्था करनी है, ताकि उपभोक्ताओ के हित की रक्षा हो सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय सस्था और क्षेत्रीय प्रयोगशालाएँ जोरदार प्रयास करेगी।

अनुसधान विभाग को मजबूत बनाने के साथ ही विस्तार विभाग को भी पुनर्गठित करना आवश्यक है ताकि हर मौन-पालक तक तकनीकल सुधार पहुँच जाय। यदि इस कार्य को पूरा करने के लिए विस्तार विभाग को पर्याप्त रूप मे सुसज्जित नही किया गया तो किसी भी हद तक किया गया प्रयुक्त अनुसधान महज शैक्षणिक महत्व का ही रह जायगा। अब तक हमारा मौन-पालन कार्य मुख्यत जगली क्षेत्रो मे, अधिकतर स्थिर अथवा अप्रगामी आधार पर ही सगठित किया गया है। हम स्थानातरित मौन-पालन—जगल से खेत और खेत से जगल मे स्थानातरण—अपना कर ही महत्वपूर्ण प्रगति कर सकते है। अत विस्तार विभाग मे काम करनेवालो को न सिर्फ जगली क्षेत्रो मे मौन-पालको का सगठन करना है, बल्कि कृषि क्षेत्रो मे भी। यदि हम कृषि फसलो के लिए विस्तृत मौन-परागण सेवा का सगठन कर सके तो अतिरिक्त राष्ट्रीय धन पैदा कर भौतिक योगदान दे सकते है।

उपसंहार

यदि हम मौन-परागण सेवा का विस्तृत रूप मे सगठन करे तो अतिरिक्त फसल से होनेवाली अन्य रेलवे से होनेवाली वार्षिक राष्ट्रीय आय के बराबर होगी। इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने मे मुख्य बाधा है कीटनाशको का अविवेकपूर्ण उपयोग। अत किसानो को कीटनाशको तथा पेस्टीसाइड का विवेकपूर्ण उपयोग—खास कर अलग-अलग फसलो की फूलोवाली अवधि मे—सिखाना होगा। इसके लिए कृषि विस्तार सेवा के साथ निकट सहयोग आवश्यक है। मौन-परागण सेवा मे सडक और रेल के जरिये दूर-दूर तक मधुमक्खियो का स्थानान्तरण भी शामिल है। ये परिवहन सुविधाएँ बहुत ही कम है तथा काफी महगी है। यह आवश्यक है कि सरकार इसके लिए रियायती प्रबन्ध करे तथा एक्सप्रेस रेलगाडियो से तुरन्त परिवहन की व्यवस्था करे। हवाई मार्ग से भी रियायती दर पर परिवहन व्यवस्था करना वाछनीय है।

मधुमक्खियां और परागाधान*

हरिहरन विश्वनाथन

परागाधान कार्य में मधुमक्खियों का बहुत बड़ा महत्व है; क्योंकि मानवीय नियत्रण में वे ही एकमात्र पराग-वाहक है। वस्तुत मधुमक्खी का मूल्य मधु-उत्पादक की अपेक्षा पराग-वाहक के रूप में कितना ही अधिक है।

खेती के अन्तर्गत ज्यो-ज्यो अधिक जमीन आती जाती है और जैसे-जैसे कृषि का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे पराग-वाहक जगली जीवो के आश्रय नष्ट होते जाते है। पशुओ को चराने के लिए जमीन का ज्यादा इस्तेमाल होने की वजह से उक्त हानि और भी अधिक होती है। दावानल, सडके, रेल की लाइने आदि का भी इस सम्बन्ध मे हाथ रहता है। काफी क्षेत्र मे एक फसल पैदा होने के कारण उनका विकास तथा अभिवृद्धि डावाडोल हो जाते है। और अन्त मे, कीटनाशक तथा तृणनाशक औषिधियो के विस्तृत प्रयोग से लाभदायक व हानिप्रद दोनो ही प्रकार के जीवो अर्थात् कीटो का नाश हो जाता है और साथ ही साथ उनके खाद्य का स्रोत भी समाप्त हो जाता है। व्यवहारत प्रत्येक कृषि विषयक गतिविधि से पराग-वाहक जगली जीवो का किसी न किसी अश मे ह्रास होता है। इनके अलावा देश मे जगली शहद इकट्ठा करनेवाले व्यक्ति जो विनाशकारी तरीके अख्तियार करते है उनसे भी हमारे पहाडो व जगलो मे जो प्राकृतिक छत्ते है वे धीरे-धीरे नष्ट होने लगते है। अतएव कृषि को लाभदायक धधा बनाने मे सहायक सबसे अधिक लाभदायक जीव मधुमक्खी की रक्षा के लिए कुछ न कुछ अवश्य किया जाना चाहिए।

अनुमान है कि फलो और बीजो के लिए आवश्यक परागाधान-कार्य का ८० प्रति शत से भी अधिक हिस्सा मधुमक्खियाँ पूरा करती है। इस प्रकार कृषि विकास के लिए जोकि हमारी राष्ट्रीय समृद्धि का आधार स्तम्भ है, परागाधान उसकी कुजी बन जाती है। हमारे भावी कृषि कार्यक्रम मे आयोजित परागाधान एक सर्वाधिक लाभदायक तथा लोकप्रिय कृषि कार्य बन सकता है।

सर्वोत्तम पराग-वाहक

आयोजित परागाधान किसे कहते है? इसका तात्पर्य है कि जब फसल प्रस्फुटित अवस्था मे हो तब अधिकतम बीज कण प्राप्त करने के लिए पर्याप्त सख्या मे मधुमक्खिया रखने की व्यवस्था करना। कहा जाता है कि मधुमक्खियॉ पेड-पौधो की शाखाओ को फलो से लाद देती है। विभिन्न फसलो के लिए परागाधान सेवा प्राप्त करने के लिए प्रस्फुटित फसलवाली प्रत्येक एकड भूमि के लिए हो सकता है कि एक से तीन मधु-उपनिवेश रखना आवश्यक हो। मधुमक्खियॉ जितनी अधिक होगी उतना ही अच्छा है और उन्हे रखना फायदेमन्द भी है। कभी-कभी उपज दुगुनी, तिगुनी और यहॉ तक कि पॉच गुनी तक हो जाती है। परागाधान के लिए मधुमक्खियो के स्थान पर कोई अन्य यात्रिक तरीका अभी तक खोजा और उपयोग मे नही लाया जा सका है। यह आगे-पीछे, ऊपर अथवा नीचे की तरफ उड सकती है, अपनी इच्छा के मुताबिक किसी भी फूल पर बैठ सकती है, पराग या मधु-रस अथवा दोनो इकट्ठा कर उन्हे भावी उपयोग के लिए अपने छत्ते मे ले जाकर जमा कर सकती है। वर्ष भर जीवन और गतिशीलता के साथ भिनभिनाती हुई स्वर-मग्न मधुमक्खियो के बडे-बडे उपनिवेश बडी-बडी नदियो के स्रोतो के पास मिलते है

* पंचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन में प्रस्तुत निबन्ध।

तथा बारह मास बहनेवाली इस प्रकार की नदियो के किनारो के साथ-साथ उनकी सभ्यता का अवलोकन किया जा उकता है। मधुमक्खी-पालन के आधुनिक तौर-तरीके अपना कर उनकी अवस्था मे सुधार किया जा सकता है और मधु के रूप मे खाद्य उत्पादन तथा अच्छे फल, बीज आदि के उत्पादन के लिए भी उनका उपयोग किया जा सकता है। इन सभी का बहुत बडा मूल्य है और उनका दीर्घ स्तर पर उत्पादन करने का राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था व समृद्धि के लिए व्यापक महत्व है।

मधु-उद्यान का स्थान

देश के खाद्यान्न उत्पादन मे अच्छी तरह सचालित मधु-उद्यान को महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। सावधानीपूर्वक परिरक्षित मधु-उद्यान मधु-पालको को खेतो की फसल, फलो के बगीचो और जगलो तथा खेतो मे पैदा होनेवाले फूलो से—जोकि अन्यथा बेकार जाते—अधिक शहद प्राप्त करने मे मदद दे सकते है। मधु उत्पादन मे मददगार होने के अलावा मधुमक्खियॉ परागाधान के काम मे भी काफी हिस्सा बटाती है। यह निश्चित लगता है कि भविष्य मे उन्हे और भी अधिक विस्तृत भूमिका अदा करनी पडेगी, मानवीय नियत्रण मे रहनेवाले ये ही एक मात्र पराग-वाहक है। अन्य कीट बचाये नही जा सकते, लेकिन उपयुक्त सावधानी बरत कर मधुमक्खियॉ नष्ट होने से बचायी जा सकती है और उन्हे परागाधानी कार्य के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। चन्द फूलो का परागण करने के सम्बन्ध मे उनकी योग्यता पर शक किया जाता है, किन्तु समग्र रूप से यह माना जाता है कि वे अधिकाश फसलो को उपजाऊ बना सकती है, यह कि पराग-वाहक के रूप मे उन पर सभी प्रमुख फसलो के लिए विश्वास किया जा सकता है और वे उत्कृष्ट फल प्राप्त कर सकती है।

प्रस्फुटन-काल मे अन्य सभी प्रकार के जीवो से पहले मधुमक्खियॉ परागण कार्य मे व्यस्त हो जाती है। यही नही, इस अवधि के अन्त मे वनस्पति परित्याग भी वे सब जीवो के बाद करती है। एक प्रकार के फूल से दूसरे प्रकार के फूल तक बार-बार मण्डरानेवाली अन्य मक्खियो व जीवो के विपरीत मधुमक्खियो मे प्रत्येक प्रकार के फूल पर कम से कम कुछ समय तक बैठने की आदत होती है। वैज्ञानिक पर्यवेक्षणो से यह सिद्ध हो चुका है कि फलो, सर्वाधिक प्रमुख खाद्यान्न फसलो और बीजो—खास कर द्विदलीय किस्मो—तथा अन्य नकद फसलो के लिए सफल पराग-वाहक के रूप मे मधुमक्खियो के बराबर अन्य वाहक नही है। इस सम्बन्ध मे उनका मूल्य बहुत ऊँचा है—मधु-उत्पादन के रूप मे उनका जो मूल्य है, उससे भी कितना ही अधिक। कहा जाता है कि यदि वे शहद एक रुपये का पैदा करती है तो वैसा करने मे वे फल पैदा करनेवाले को १०–१५ रुपये अधिक के फल पैदा करने मे सहायक होती है।

सफल परागाधान

बेहतरीन फसल-प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए परागाधान सेवा का सफल सगठन अवश्य ही किया जाना चाहिए। इसके लिए मधुमक्खी-पालन की दृष्टि से उन्नत विदेशो मे मधुमक्खियो के आवास की अच्छी व्यवस्था होती है और साथ ही उनकी अच्छी निगरानी रखी जाती है। वहॉ से जहाजो के जरिये उनका आयात किया जाता है। उन्नत कृषि और फल पैदा करने के लिए मवेशियो, भेडो तथा अन्य इसी प्रकार के पशुओ के समान मधुमक्खियाँ भी आवश्यक है। उन्नत खेती बेहतर जमीन की व्यवस्था और कुशल साधन-सरजाम के साथ ही समाप्त नही हो जाती। जब तक खेतो मे प्रस्फुटित फूलो पर मधुमक्खियो का आवागमन नही होता और वे परागाधान नही करती, तब तक इन्ही से अधिकतम उपज नही मिल सकती। इसके लिए उन्नत खेतो के सन्दर्भ मे मधु-उद्यान का होना एक आवश्यक कारक बन जाता है।

सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ की सरकार ने पुनरूस्थापन की जो योजनाएं हाथ मे ली उनमे एक थी कृषि विस्तार के लिए सस्ते बीजो का दीर्घ स्तर पर उत्पादन करना। इसके लिए उन्होने मधुमक्खियो

की सहायता ली। जिन क्षेत्रो मे बीज उत्पादन मुख्य उद्देश्य था वहाँ काफी तादाद मे मधुमक्खियो के छत्ते वितरित किये गये। प्राप्त परिणामो से उन्नत बीज उत्पादन की दृष्टि से मधुमक्खियो का महत्व प्रतिष्ठापित हुआ।

बहु-विध लाभ

भारत जैसे विशाल और खेती प्रधान देश के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे मधुमक्खी-पालन का विस्तार करने से होनेवाले लाभो को रुपये-पैसे की शब्दावली मे आकना मुश्किल है। मधुमक्खी-पालन से न केवल अनेक लोगो को रोजगारी मिल सकती है तथा करोडो रुपये मूल्य के पौष्टिक खाद्य पदार्थ मधु का, और मोम का उत्पादन हो सकता है–जिसकी भी काठ और चमडे के लिए अच्छी पालिस तैयार करने, मोम बत्तियॉ, साबुन, जलावरोधी सामग्री आदि बनाने मे उपयोग होने के कारण व्यावसायिक दृष्टि से बहुत मॉग है– बल्कि यदि देश मे उसका विस्तृत पैमाने पर विस्तार किया जाय तो ऐसा लगता है कि देश की कृषि तथा बागवानी पर भी उसका बहुत अच्छा एवम् गहरा प्रभाव पडेगा। अधिक उत्पादन के लिए मधुमक्खी-पालन का कितना बडा महत्व है, सामान्य किसान को उसकी जानकारी करवानी पडेगी। मधु-उद्यान खडे करने के लिए–फिर चाहे उनका स्तर छोटा हो अथवा बडा–किसान को प्रोत्साहन देना चाहिए।

मधुमक्खियो के जीवित रखने और अधिक उत्पादन का परस्पर चोली-दामन का सम्बन्ध है। ●

आधुनिक मधुमक्खी-पालन*

जे. राजय्या

मद्रास राज्य में मार्तण्डम का मधुमक्खी-पालन केन्द्र एक ऐसा केन्द्र है, जो विद्यालयों और गांवों म मधुमक्खी–पालन को लोकप्रिय बनाने की दिशा में एक उत्साहवर्द्धक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

अनादि काल से मनुष्य एक श्रेष्ठ भोज्य वस्तु तथा औषधि के रूप मे मधु के मूल्य से परिचित रहा है। भारतवर्ष मे तो यहाँ तक रिवाज है कि बच्चे के जन्म के बाद सबसे पहले उसे शहद ही चटाया जाता है। औषधि के रूप मे उसका उपयोग क्षेत्र इतना विस्तृत है कि प्राय सभी प्रमुख देशी औषधियो के साथ शहद का प्रयोग होता है। पुराने रोगो मे प्रयुक्त होनेवाली समस्त औषधियाँ मधु-मिश्रित होती है, जिससे शारीरिक प्रक्रिया मे शीघ्र मिल कर काम करने मे मदद मिलती है।

इस आश्चर्यजनक खाद्य पदार्थ को तैयार करनेवाले छोटे-छोटे जीवो को मधुमक्खी कहा जाता है, जो अपने लोकतात्रिक समाज मे वास करती है। ये इतनी समझदार होती है कि एक उपनिवेश की रहनेवाली मक्खियाँ, अपने कार्यो मे, मधुरस-सग्रह मे या खाने-पीने मे कभी एक-दूसरी से नही लडती। उनके काम बटे होते है और सब अपनी-अपनी भूमिका अदा करने मे जुटी रहती है। लेकिन दूसरे किसी उपनिवेश की मधुमक्खी अगर उनके बीच आ गयी तो वे कभी उसकी उपस्थिति बर्दाश्त नही कर सकती। उसे मार निकालने की कला भी वे अच्छी तरह जानती है।

मधु, फूलो के मधुरस का एक गाढा तरल स्वरूप है, जो मधुमक्खियो द्वारा मधुरस-सचय करने के बाद उनके स्राव से मिल कर ओर परिष्कृत हो कर तैयार होता है। गीष्म काल मे मधुमक्खियाँ विभिन्न फूलो का मधुरस लेकर अपनी मधु-थैलियो मे सग्रह करती जाती है और फिर अपने छत्तो मे ले जा कर उस छत्ते के खानो मे जमा करती है, उन दिनो के लिए जब सारे फूल झड जाते है और जब उन्हे भूखो रहना पडता है या ठड के दिनो के लिए। मधुमक्खियो की मधु-थैलियो मे स्राव से मिल कर उस मधुरस मे रासायनिक प्रक्रिया हो जाती है और काफी हद तक उसका जल-तत्व सूख जाता है। और, इस प्रकार मधु-तैयार हो कर एक ऐसा खाद्य पदार्थ बन जाता है, जिसकी बराबरी करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नही है।

जल का प्रातिशत्य

यो तो मधुमक्खियाँ प्राय समस्त भोज्य फूलो के मधुरस का पान करती है, पर वे सब फूलो का मधुरस जमा नही करती। वैज्ञानिक खोजो के अनुसार मधुमक्खियो द्वारा 'सेलो' मे जमा किये गये मधु मे लगभग १८ प्रति शत जलाश रहता है। छब्बीस प्रति शत से अधिक जलाश-वाला मधुरस आसानी से सग्रहीत नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, ताड का रस, जिसमे ८६ प्रति शत से अधिक जलाश होता है, मधुमक्खियाँ सग्रह नही कर सकती। किन्तु ताड की जटा (फूलो) से वे मधुरस ग्रहण कर लेती है। इसी कारण इस प्रकार सग्रहीत मधु मे ताड रस की खुशबू आती है। खाद्य पदार्थ के रूप मे इस मधु का मूल्य अधिक होता है। आम के बोर से प्राप्त मधुरस काफी गाढा होता है। विभिन्न प्रकार के मधुरस मे कितना जलाश होता है, इसका पता मधुमक्खियो को रहता है, और इस मामले मे वे बडी चालाक होती है कि किस प्रकार का मधुरस जमा करना है। जो भी मधुरस उनकी मधु-शैली मे जायेगा, मधु बन जायेगा।

---

* पचम अखिल भारतीय मधुमक्खी-पालन सम्मेलन में प्रस्तुत निबन्ध।

मधु का रग और स्वाद इस बात पर निर्भर करता है कि उसका मधुरस किस फूल से सग्रहीत है।

अनादि काल से ही मधु का मूल्य जान लेने के बाद मनुष्य उसे सग्रह करने की कोशिश करता रहा। किन्तु उसने जो तरीके अपनाये, वे अपरिपक्व और अवज्ञानिक रहे। प्राय मधु-छत्तो को आग दिखा कर मधुमक्खियो को जला दिया जाता या उन्हे उडा दिया जाता और छत्तो को अडो सहित निचोड कर मधु निकाला जाता। मधु रखने का तरीका भी बहुत अस्वास्थ्यकर था। यह अवस्था १७ वी शताब्दी तक जारी रही, जब डच वैज्ञानिक स्वामेरडैम (Swamerdam) ने मधु-उपनिवेश मे रानी मक्खी के महत्व का पता लगाया। तब तक लोगो का ऐसा खयाल था कि मधुमक्खी परिवार का प्रधान कोई नर मक्खी होता है। उसके बाद रोमर (Reammer) नामक वैज्ञानिक ने अनेक अनुसधान और प्रयोगो के जरिये एक झुण्ड बना कर उड जाने की मधुमक्खियो की मनोवृत्ति तथा अपनी सख्या बढने पर नयी रानी मक्खियो की स्थापना करने आदि का पता लगाया। उन्होने सर्व प्रथम मधुमक्खियो के कृत्रिम छत्ते बनाये और मधु तथा अडो के लिए अलग-अलग खाने बना कर प्रयोग किये। इस सम्बन्ध मे और भी खोजे होती रही और झिरझो (Dzierzon) नामक व्यक्ति ने पहले पहल कृत्रिम छत्ते में चल फ्रेम का प्रयोग किया। उसके बाद लैगस्ट्राथ (Langstrath) ने उपनिवेश मे मधुमक्खियो के बैठने की दूरी (बी स्पेश) का पता लगाया। ह्रस्का (Hruschka) ने मधु-निस्सारक का पता लगाया, जिससे छत्ते को बिना कोई नुकसान पहुँचाये शुद्ध-मधु निकाल लिया जाता है।

मधुमक्खियों का ज्ञान

इस विषय पर बहुत-सी पुस्तके प्रकाशित हुई है, लेकिन अपने ४० साल के अनुभवो और प्रयोगो के आधार पर ए आय रूट ने जो पुस्तक लिखी है, वह पश्चिम मे वैज्ञानिक मधु-पालन पर पूरी जानकारी देती है। भारतीय मधुमक्खियो (एपिस इडिका) के सम्बन्ध मे के चन्द्र दासगुप्त की पुस्तक 'रोमास ऑफ साइन्टिफिक बी-कीपिग' अच्छी जानकारी उपस्थित करती है। मद्रास ने मार्तण्डम स्थित वाय एम सी ए के मधुमक्खी-पालन के तत्कालीन कार्यभारी मत्री जे दासप्पा की पुस्तक 'ए हैंड बुक ऑफ माडर्न बी-कीपिग' भी इस विषय पर काफी व्यावहारिक जानकारी प्रदान करती है।

स्तरीय मधु-छते

भारत मे वैज्ञानिक मधुमक्खी-पालन का प्रारम्भ १९०३ मे इटलीवासी फादर न्यूटन ने किया था, जो एक रोमन कैथोलिक के रूप में त्रिची आये थे। वे अपने देश मे मधुमक्खियाँ पालते थे और यह उनके जीवन का एक ऐसा धधा बन गया था, जिसे भारत आने पर भी वे छोड नही सके। किन्तु भारतीय मधुमक्खियो के लिए एक स्तरीय पेटी छत्ता बनाने मे उन्हे मेहनत करनी पडी। कहा जाता है कि फादर न्यूटन की प्रेरणा से पूसा कृषि कालेज के आचार्य सी सी घोष ने १९०७ मे लकडी के बने पेटी छत्तो की ईजाद की, जिसमे उन्होने भारतीय मधुमक्खियाँ रखी तथा उन्हे बिना किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाये मधु निकालने की प्रथा शुरू की। इन पेटी छत्तो को अपनी प्रथम पुस्तक 'पूसा बुलेटिन ऑन बी-कीपिग' मे घोष ने 'न्यूटन किस्म के छत्ते' कहा है।

मार्तण्डम मे मधुमक्खी-पालन के विकास कार्यो का श्रेय डा हैच को है, क्योकि वे स्वयम् अमेरिका मे यह कार्य करते थे और यहाँ आने पर बडे पैमाने पर इस कार्य को शुरू किया। मार्तण्डम के चारो तरफ १५ मील के दायरे मे समस्त गाँवो मे उन्होने इसका प्रचार शुरू किया और प्राय प्रत्येक बाजार, स्कूल तथा कालेज मे वाय एम सी ए के प्रशिक्षित कर्मचारी आधुनिक पेटी छत्तो मे मधुमक्खियो को पकड कर रखने तथा वैज्ञानिक तरीको से मधु-निस्सारण के तरीको का प्रदर्शन करते थे। इसकी देखा-देखी स्कूल जानेवाले बच्चे, शिक्षक तथा होशियार ग्रामीणो ने भी मधुमक्खी-पालन शुरू किया। सार्वजनिक चन्दे से सागौन की लकडी के पेटी छत्ते बनाये गये और रियायती दर पर गरीबो मे वितरित किये गये। फिर धीरे-धीरे लोग स्थानीय लकडियो से छत्ते बनाने लगे

और क्रमश इस उद्योग का विस्तार दक्षिण भारत के गॉवो मे होने लगा। समीप के इलाको से और दूर-दूर से भी बहुत-से छात्र प्रशिक्षण के लिए आने लगे।

प्रारम्भ मे प्रत्येक मधुमक्खी पालक सिर्फ दो या तीन छत्ते रखा करता था और जो कुछ मधु वह प्राप्त कर पाता था सिर्फ उसके अपने उपयोग मे ही आता था। पर जैसे-जैसे उनके अनुभव बढते गये, उनकी दिलचस्पी भी बढती गयी और उन्होने अधिकाधिक छत्ते रखना शुरू किया। इसके परिणाम-स्वरूप अधिक मधु का उत्पादन होने लगा और उसकी बिक्री की कोशिश की जाने लगी। यही से मार्तण्डम मधुमक्खी-पालक सहकारी समिति के सगठन को प्रश्रय मिला। उन दिनो की प्रगति बडी तेज थी, किन्तु पर्याप्त निधि की कमी के कारण समिति इस अवस्था मे नही थी कि उत्पादको का सारा मधु खरीद सके और इस वजह से मधु-पालक भी अपने धधे के भविष्य के बारे मे बडे चितित थे । किन्तु अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल तथा उसके बाद खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की स्थापना से इस उद्योग मे नयी जान आ गयी है।

फिलहाल मार्तण्डम क्षेत्रीय कार्यालय के अन्तर्गत ३२ मधुमक्खी उप-केन्द्र, ३ मधुपौध-शालाएँ तथा एक आदर्श मधु-उद्यान है। इलाके के ४२८ गॉवो के ३,५२८ बाशिन्दो के बीच रियायती दरो पर सागवान की लकडी के बने १४,००० पेटी छत्ते वितरित किये गये। एक छत्ते से औसतन लगभग ११ पौड मधु पैदा होता है और उत्पादक को प्रति पौण्ड डेढ रुपया मिलता है।

इसके अतिरिक्त १६ विद्यालयो मे मधुमक्खी-पालन शुरू किया गया है, जिनमे से प्रत्येक स्कूल मे १२ वर्ष से अधिक उम्र के लगभग ३० बालको को प्रति वर्ष मधुमक्खी-पालन का सघन प्रशिक्षण दिया जाता है। बहुत-से प्रशिक्षित बालको ने अपने घरो मे मधुमक्खी-पालन शुरू कर दिया है और वे मधु का उत्पादन कर रहे है। इस मधु को वे खाते भी है और उससे कुछ कमाई भी कर लेते है। जिन विद्यालयो मे मधुमक्खी-पालन शुरू किया गया है, उनमे से प्रत्येक मे औसतन ७३० छात्र पढते है। इस प्रकार ७३०×१६=११,६८० छात्र मधुमक्खी-पालन की शिक्षा ले रहे है। पिछले ग्रीष्म काल मे १,५०० मधु-उपनिवेशो को पडोस के रबड के बगीचो मे स्थानातरित किया गया, जहाँ दो महीने के अन्दर प्रत्येक पेटी छत्ते से १३ पौड मधु प्राप्त हुआ।

उक्त केन्द्र मे कुछ ग्रामीण मधुमक्खी-पालक भी है, जिनमे प्रत्येक १०० से अधिक पेटी छत्ते रखता है। इस प्रकार वे पेशेवर मधुमक्खी-पालक बन गये है और पर्याप्त आय कर रहे है। अन्दाज है कि मार्तण्डम केन्द्र मे कोई १३,७०० मधु-उपनिवेश है, जिनमे रबड के बागीचेवालो के मधु-उपनिवेश भी शामिल है। ●

हमारे नये टेलीफोन नम्बर

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के विले पार्ले (बम्बई) स्थित केन्द्रीय कार्यालय के टेलीफोन नम्बर बदल गये है। नये टेलिफोन नम्बर इस प्रकार है. ५७१३२४, ५७१३२५, ५७१३२६, ५७१३२७, ५७१३२८ और ५७१३२९।

खादी आन्दोलन का बुनियादी विचार

कमलेश्वरानन्द पाण्डेय

खादी गांधीजी के रचनात्मक कार्य का मुख्य आधार थी। उन्होने इस बात पर जोर दिया था कि खादी को अपने बुनियादी विचार से च्युत कर मात्र व्यापार की वस्तु नही बना देना चाहिए।

खादी शब्द का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, इसका गाधीजी के प्रवचनो के सकलन को पढ कर ही पता चलता है। बापू दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर एक बार रेवाशकरभाई के साथ बम्बई मे स्वदेशी स्टोर देखने गये। सारी दुकान देखने के बाद बोले कि "इस स्टोर को सच्चे अर्थ मे मै स्वदेशी स्टोर नही कहूँगा। यह तो बिलायती स्टोर ही है।" रेवाशकरभाई आश्चर्यान्वित थे, क्योकि स्टोर मे कोई भी तो चीज ऐसी नही थी जिसे विदेशी कहा जाय। समस्त सग्रह स्वदेशी वस्तुओ का था। गाधीजी ने उनकी परेशानी को समझ कर अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा था—"यह कपडा करघे से निकाला हुआ तो है पर इसे स्वदेशी नही कहा जा सकता, जब तक कि प्रयोग होनेवाला सूत भी हाथ कता न हो। स्वराज्य की पहली सीढी चरखा ही तो है, करघे का नम्बर तो बाद मे आता है।" तब तक स्वदेशी का नाम खादी नही पडा था। स्वदेशी की व्याख्या करते हुए गाधीजी ने कहा था कि 'ऐसा उद्योग जिसमे शोषण और प्रतियोगिता की भावना समाविष्ट न हो, अपितु, जो देश के असख्य गॉवो मे स्वालम्बन के प्रति सच्ची निष्ठा उत्पन्न कर सके तथा आदान-प्रदान की भावना को प्रोत्साहित करे, वही उद्योग स्वदेशी की कल्पना को मूर्तिमान कर सकेगा।'

प्रारम्भ

सन् १९१५ मे गाधीजी ने कोचरब आश्रम की स्थापना की। उससे पूर्व स्वदेशी की मीमासा जन साधारण के समक्ष के बाहर थी। स्वदेशी को प्रारम्भ मे केवल राजनैतिक महत्व दिया गया। आश्रम मे तब कपडा बुनने के करघे लगाये गये थे, पर उन पर सूत विदेशी मिलो का ही बुना जाता था। गाधीजी सूत के लिए मिलो का आधार लेने मे मर्मातिक पीडा अनुभव करते थे। उनकी पीडा का समाधान निकाला गगा बहन जवेरी ने। अहमदाबाद से ३९ मील दूर बीजापुर मे उन्होने एक चरखे का पता लगाया और गाधीजी को बताया। बापू के कण्ठ से आल्हाद मिश्रित स्वर गूज उठा। वे बोले "स्वराज्य के दर्शन हो गये।" शीघ्र ही सारे देश मे चरखा स्वराज्य का मूर्तिमान स्वरूप बन कर प्रचारित होने लगा और उसके सूत से जो कपडा बुना जाने लगा, उसे बापू ने खादी का नाम दिया। सन् १९१९ मे जब बहिष्कार आन्दोलन चला तो बापू ने बहिष्कार के लिए राष्ट्र को सशक्त पाया। उन्होने विश्वासपूर्वक कहा, "बहिष्कार अब एक भावुक जिद्द नही रही, मैनचेस्टर की मिलो की मुनाफाखोरी को रोकने के लिए चरखे के स्वरूप मे मिलो का आधिपत्य मेरे हाथ मे आ गया है।" बापू ने देश से खादी व्रत लेने का आग्रह किया और तब से खादी के धागे मे स्वराज्य का नाम गूजने लग गया।

आज खादी घुटनो के बल रेगती हुई किशोरावस्था को प्राप्त हो गयी है और जब कभी खादी की प्रदर्शनियो का आयोजन किया जाता है तो उस पर यौवन भी आ जाता है। यह प्रगति का सूचक है। पर प्रश्न उठता है कि बापू व्यापारी थे अथवा एक दार्शनिक या सुधारक। उन्होने खादी उद्योग अग्रेजो के प्रति द्वेष अथवा स्पर्धा के कारण ही चलाने की प्रेरणा दी थी अथवा इस उद्योग के पीछे उनकी कुछ मान्यताएँ थी ?

इस प्रश्न का उत्तर शायद मै एक उदाहरण देकर

स्पष्ट कर सकूँ। मद्रास काग्रेस अधिवेशन के समय खादी प्रदर्शनी का अवलोकन करते हुए अकस्मात् उनकी दृष्टि एक सूत कातनेवाली अधी महिला पर पडी। अधी हो कर भी वह बडी खूबी से सूत कात रही थी। श्री विठ्ठलदास जेराजाणी, स्वर्गीय मदनमोहन मालवीय के साथ थे। विनोद मे उन्होने चाकू से चरखे की माला काट दी। अधी कत्तिन ने चरखे पर हाथ फेर कर टूटी हुई माला को पकड लिया और साडी के एक छोर मे बधी नयी माला चढा कर फिर से कातने लगी। मालवीयजी के मुह से सहज ही निकल पडा, "खादी कार्य के लिए पूजी एकत्रित करनी हो तो मै इस बहन को साथ ले कर घूमगा। मुझे विश्वास है कि देश ऐसे लोगो की मॉग पूरी करेगा।"

इसी प्रकार तिरुपुर (मद्रास राज्य) के पास तिरूचेगोडू नामक खादी केन्द्र का सचालन उन दिनो चक्रवर्ती राजगोपालाचारी करते थे। वे उन दिनो ***यंग इंडिया*** के सम्पादक भी थे। एक दिन एक कत्तिन अपनी मजदूरी के पैसे मॉगने आयी तो केन्द्र के अधिकारियो ने उसे दूसरे सप्ताह आने को कहा, क्योकि उनके पास तब मजदूरी देने को पैसे नही थे। कत्तिन ने राजाजी से शिकायत कर दी, तो राजाजी ने अधिकारियो की ओर सकेत करते हुए कहा, "खादी का आविष्कार तो हुआ ही इसलिए है कि उसके द्वारा हम सबकी सुविधा देखे, पर ये महाशय खादी केन्द्र मे भी व्यक्तिगत सुविधा देखते जा रहे है।" कितना कटु व्यग था राजाजी की बात मे! कितने सरल शब्दो मे उन्होने खादी के लक्ष्य को सामने रख दिया था!

आर्थिक बुराइयों का हल

स्पष्ट है कि खादी के कार्यक्रम के पीछे व्यापारिक लक्ष्य न कभी था न होना चाहिए। जिस राम-राज्य की गाधीजी ने कल्पना की थी, खादी उद्योग को उन्होने उस राज्य के आर्थिक स्तम्भ की मान्यता दी थी। सन् १९३३–३४ की बात होगी। उन्होने एक पत्र मे अपना सदेश देते हुए लिखा था, "जिनके दिल मे सात लाख देहातो मे बसनेवाले आधे भूखे-नगे करोडो लोगो के प्रति रत्तीभर भी दया हो तो वे चरखा और खादी से द्वेष कैसे कर सकते है! गाधीजी खादी और कुटीर उद्योगो को ही राष्ट्र का आर्थिक सूत्र समझते थे। विदेशी सत्ता का उन्मूलन यदि उनका राजनैतिक कार्यक्रम था, तो खादी उनके रचनात्मक कार्यो की पहली श्रृखला थी। राजनैतिक कार्यक्रमो मे ही लीन रह कर रचनात्मक कार्यो की उपेक्षा करना वे एक नैतिक अपराध समझते थे। खादी का विकास उनके लिए नैतिक कर्तव्य की पूर्ति थी। खादी की मीमासा को जनता के समक्ष रखते हुए उन्होने १९३५ मे अपने एक लेख मे विचार प्रगट किया कि "कितने की खादी बिकी, यह मेरी दृष्टि से बडी बात नही, लेकिन जो खादी बिकी वह खरीदारो ने ग्रामोन्नति की भावना से खरीदी तो उस भावना का मेरे मन मे अधिक मूल्य है। लेकिन यह तभी हो सकता है जब हम खादी के दीवाने बने, खादी का इष्ट समझे।"

गाधीजी ने कभी भी व्यापारिक दृष्टिकोण से बिक्री के लिए मान्यता नही दी। सन् १९३५ मे खादी की बिक्री ५० लाख तक पहुँच चुकी थी। अधिकाश कार्यकर्त्ताओ को इस बात का बडा अभिमान था। पर गाधीजी ने उन्हे तब भी खूब प्रताडना दी। ***हरिजन*** मे प्रकाशित अपने एक लेख के जरिये उन्होने इस सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन किया। दिनाक २६ अक्तूबर १९३४ को स्वर्गीय राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता मे एक स्मरणीय अधिवेशन हुआ। रचनात्मक कार्यक्रमो मे तब तक केवल खादी पर ही ध्यान दिया गया था। ऐसे उद्योग, जिनके विकास के लिए गॉव मे पर्याप्त क्षेत्र या तो लुप्त हो चुके थे अथवा उपेक्षित पडे थे उन्हे पुनर्जीवित करने की दिशा मे चर्खा सघ की भाति ग्रामोद्योग सघ की स्थापना का प्रस्ताव उस अधिवेशन मे स्वीकृत हुआ।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद

सन् १९४७ तक खादी एवम् अन्य ग्रामोद्योग किसी न किसी प्रकार चलते रहे। स्वराज्य-प्राप्ति पर स्वाभाविक रूप से अनेको के मन मे यह प्रश्न पैदा हुआ कि अब इन उद्योगो की क्या रूपरेखा होगी। स्पष्ट था कि कुटीर उद्योग उत्पादन की दृष्टि से मशीनो की प्रति-

योगिता नही कर सकते और कुटीर उद्योगो पर अवलम्बित होने का स्पष्ट अर्थ था कोरी भावुकता मे बह कर उत्पादन की क्षति करना। तभी बापू ने एक प्रकाश की किरण फेकी। उन्होने जनता को खादी को अहिसा और त्याग के प्रतीक के रूप मे देखने की प्रेरणा दी। 'खादी को व्यापार के तराजू' मे तौलनेवाले भ्रात कार्यकर्त्ताओ को फिर से नैतिक बल मिला और फलस्वरूप १३ मार्च १९४८ को सेवाग्राम मे देश भर के रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ का एक सम्मेलन हुआ। उक्त सम्मेलन मे गाधीजी की प्रेरणा से सचालित समस्त रचनात्मक सस्थाओ का एकीकरण कर सर्व सेवा सघ नामक सस्था की स्थापना की गयी। राज्य सरकारो ने भी खादी के विकास मे रुचि लेनी आरम्भ की, पर तब सब को यही लगा कि मिलो की प्रतियोगिता मे कही खादी उद्योग नष्ट न हो जाय। अतएव खादी के उत्पादन पर ही विशेष ध्यान रहा। बिक्री की ओर किसी ने ध्यान नही दिया। परिणाम-स्वरूप १९५२ मे ९० लाख रुपये की खादी जमा हो गयी। सरकार ने तभी १९५३ मे खादी के काम को सगठित करने के लिए अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना की। मण्डल स्थापित होने से पूर्व चरखा सघ की शाखाओ के जरिये लगभग डेढ करोड रुपये की खादी प्रति वर्ष बिकती थी।

आज खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के निर्देशन मे खादी व अन्य ग्रामोद्योगो के विकास की भी कई योजनाओ पर अमल हो रहा है। खादी आज पर्याप्त विकास पर है— न केवल उत्पादन की दृष्टि से अपितु इस दृष्टि से भी कि सर्व साधारण जनता उसे अपना रही है। माँग और पूर्ति दोनो मे पर्याप्त सतुलन है। अम्बर चरखे के आविष्कार ने एक ओर सूत के उत्पादन मे वृद्धि की तो दूसरी ओर उसके कारण खादी के वस्त्रो मे नयी कलात्मक डिजाइने भी देखने को मिली। प्रारम्भ मे खादी केवल पहनने के वस्त्रो के रूप मे ही प्रयोग मे लायी जाती थी, लेकिन आज प्राय सभी कामो मे—जैसे पर्दे आदि—इसका उपभोग होता है। खादी आज एक अच्छी खासी मात्रा मे विदेशो को भी भेजी जाने लगी है। खादी के उत्पादन को उपभोक्ता की रुचि के साथ जोड कर अर्थात् उपभोक्ता की रूचि के अनुसार उत्पादन करके खादी का आन्तरिक उपभोग बढाया जा सकता है। ऐसे उदाहरण है कि खादी की भावना और उसके विशेष आकर्षण के कारण वे व्यक्ति भी इसकी ओर आकर्षित हुए है, जो आदतन खद्दरधारी नही थे।

तथापि, खादी की अतिम सफलता इस बात पर निहित है कि उसके साथ करुणा की धारा प्रवाहित हो, परस्पर दिल जुडते चले जाय, भ्रातृत्व भावना बढे, ऊँच-नीच का भेद-भाव मिटे। वह ऐसे गुणोवाले समाज की, जीवन दर्शन की तथा आचार-विचार की प्रतीक हो। असल मे ये ही तो वे भावनाए व विचार है, जो राष्ट्रपिता महात्मा गाधी प्रत्यक्ष करना चाहते थे।

मालीगॉव (असम) : ९ सितम्बर १९६३

पूर्वी उत्तर प्रदेश की अविकसित अर्थ-व्यवस्था

इस्तफा हुसैन

उच्च आबादी घनत्व और कृषि पर अत्यधिक निर्भरता पूर्वी उत्तर प्रदेश की अर्थ-व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ है। राष्ट्रीय प्रयुक्त आर्थिक अनुसधान परिषद ने चार वर्ष पूर्व इस क्षेत्र के बस्ती जिले का यथा तथ्य अध्ययन करने के बाद इस बात की आवश्यकता पर जोर दिया था कि बाढ़ पर काबू पाया जाय, सिचाई-सुविधाओं और पीने के पानी की पूर्ति की जाय, सड़कें बनायी जाय, भूमि-उपयोग पद्धति में सुधार किया जाय, आदि। ये सिफारिशें पूर्वी क्षेत्र के अन्य जिलो पर भी वैसे ही लागू होती है, जैसे कि बस्ती जिले पर।

उत्तर प्रदेश को समग्र दृष्टि से देखने पर वह प्रगति के प्रमुख सूचको मे अखिल भारतीय औसत से पीछे है। राष्ट्र रूपी वस्त्र मे यह एक फटी हुई जेब है। आय और आर्थिक तथा सामाजिक व्यय के मामले मे उत्तर प्रदेश शेष भारत से काफी पीछे है। देश के सभी क्षेत्रो का समान विकास सुनिश्चित करने के लिए राज्य मे परिव्यय-स्तर बहुत बढाना पडेगा, लेकिन तालिका १ और २ से पता चलेगा कि उत्तर प्रदेश मे प्रति व्यक्ति परिव्यय अन्य राज्यो की अपेक्षा बहुत कम है।

तालिका १

राज्यों मे प्रति व्यक्ति परिव्यय तृतीय योजना

राज्य	तृतीय योजना मे राज्य का हिस्सा (करोड रुपये मे)	१९६१ मे राज्य की आबादी (करोड में)	प्रति व्यक्ति परिव्यय (रुपये मे)
जम्मू और कश्मीर	७५	० ३६	२०८ ३३
राजस्थान	२३६	२ ०१	११७ ४१
पजाब	२३१	२ ०३	११३ ९९
मैसूर	२५०	२ ३५	१०६ ३८
महाराष्ट्र गुजरात	३९० २३५	६ ०१	१०३ ९९
असम	१२०	१ १९	१०० ८४
केरल	१७०	१ ६९	१०० ५९
मध्य प्रदेश	३००	३ २४	९२ ५९
उडीसा	१६०	१ ७६	९० ९१
मद्रास	२९१	३ ३७	८६ ३५
आध्र प्रदेश	३०५	३ ६०	८४ ७२
बिहार	३३७	४ ६५	७२ ४७
पश्चिम बगाल	२५०	३ ५०	७१ ४३
उत्तर प्रदेश	४९७	७ ३८	६७ ३४

तालिका २

राज्यों की योजनाओं मे प्रति व्यक्ति व्यय १९५१–६१

राज्य	मार्च १९५६ मे आबादी (करोड मे)	प्रथम योजना मे प्रति व्यक्ति व्यय (रुपये मे)	द्वितीय योजना मे प्रति व्यक्ति व्यय (रु में)
पंजाब	१ ७७	९२ ०९	८३ ६२
जम्मू और कश्मीर	० ३४	३८ २३	७३ ५१
उडीसा	१ ५८	५३ ७९	६५ १७
बम्बई	५ ३६	४१ ७१	५७ ००
मैसूर	२० १४	४३ ९२	५५ ६१
पश्चिम बगाल	२ ९९	५१ ५०	५३ ७९
राजस्थान	१ ७८	३७ ६५	५२ ३९
आंध्र प्रदेश	३ ३४	३२ ३३	५२ ३५
मध्य प्रदेश	२ ८७	३२ ७५	५० ५२
केरल	१ ५१	२९ १३	५० ३३
मद्रास	३ १९	२६ ६४	५० ००
असम	१ ०२	२७ ४५	४८ ४९
बिहार	४ २१	२४ ४१	३९ ४२
उत्तर प्रदेश	६ ८०	२४ २२	३३ ५३

फिर, स्वयम् राज्य के भीतर भी कुछ अवनत इलाके है। आयोजन के उद्देश्य से मोटे तौर पर तीन क्षेत्र विशेष समस्याओवाले क्षेत्रो के रूप मे माने गये है। ये तीन अविकसित यानी पिछडे हुए इलाके है (१) पूर्वी जिले, (२) बुन्देलखण्ड, और (३) पहाडी जिले।

पूर्वी जिले

उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो में इलाहाबाद, आजमगढ, बहराइच, बलिया, बस्ती, देवरिया, फैजाबाद, गाजीपुर, गोण्डा, गोरखपुर, जौनपुर, मिर्जापुर, प्रतापगढ, सुल्तानपुर और वाराणसी के जिले आते है। इन जिलो मे आबादी घनत्व बहुत अधिक है, लोग दो जून रोटी भर खा सकने की स्थिति में है, प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है (देश मे एक निम्नतम स्तर), आये दिन की बाढ और सूखे से कमी की अवस्थाएं बनी रहती है, प्राकृतिक साधन-स्रोतो की अत्यधिक कमी है और सामान्यत समूचा क्षेत्र पिछडा हुआ है–खास कर यातायात तथा उद्योग की दृष्टि से।

केरल और पश्चिम बगाल के बाद आबादी घनत्व की दृष्टि से उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो का स्थान है। खेती पर निर्भरता तो इन जिलो में पश्चिम बगाल से भी अधिक है। तिस पर भी, पश्चिम बगाल के विपरीत इन जिलो की भूमि उपजाऊ नही है, वर्षा का होना अनिश्चित है और वर्ष की सामान्य स्थिति में भी प्रति एकड उपज कम है।

कृषि पर निर्भरता

पूर्वी जिलो की अर्थ-व्यवस्था अनिवार्य रूप मे ही कृषि-प्रधान है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलो की ६५ प्रति शत जन-सख्या के विपरीत पूर्वी जिलो की ८५ प्रति शत आबादी अपने जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर करती है। लखनऊ और मेरठ जिलो को छोड कर–जिनकी आबादी उनके आकार तथा लखनऊ, मेरठ और गाजियाबाद शहरों से प्रभावित है–सर्वाधिक घनी आबादी राज्य के पूर्वी छोर के जिले बलिया की है। आबादी के अत्यधिक घनत्व और कृषि पर निर्भरता ने इन पूर्वी जिलो मे बडी गभीर उलझनें खडी करदी है। इन कारको से खेतो का आकर कम होने लगता है। एक उदाहरण देकर इस कथन को स्पष्ट करना ठीक होगा। गोरखपुर प्रमण्डल मे सकल कृष्ट क्षेत्र ४७ लाख एकड है। गोरखपुर प्रमण्डल की आबादी १९५१ मे ८८ लाख ३० हजार थी। इसका मतलब है प्रति व्यक्ति ० ५३ एकड भूमि जोती जाती है। कम कृषि-उत्पादन, केवल १२ ७ प्रति शत क्षेत्र मे ही सिचाई सुविधाए होने और मानसून की अनिश्चितता के कारण पूर्वी जिलो के निवासी बडी मुश्किल से खेती से अपना गुजर-बसर कर पाते है।

इसलिए यह बहुत ही वाछनीय है कि इन जिलो के पूर्ण अथवा अर्ध-बेकार ओर कृषि पर ही अपने जीविकोपार्जन के लिए निर्भर करनेवाले व्यक्तियो को उद्योग, वाणिज्य अथवा व्यवसाय मे लगाया जाय।

'राप्रआअप' की सिफारिशे

लगभग चार वर्ष पूर्व राष्ट्रीय प्रयुक्त आर्थिक अनुसधान परिषद (नेशनल काउन्सिल आँफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च) ने राज्य के एक पूर्वी जिले–बस्ती–का यथा तथ्य अध्ययन किया था। उस वक्त उसने सिफारिश की थी कि

"बस्ती मे आर्थिक विकास की सम्भाव्यताए देश के अन्य अनेक भागो से कोई विशेष भिन्न नही है। वे या तो बस्ती मे अधिक स्पष्ट है अथवा फिर उन्होने जिले को अन्य क्षेत्रो से भिन्न रूप मे प्रभावित किया है।

"प्रधान समस्याए भौतिक है। अन्य किसी उल्लेखनीय दीर्घ-कालीन विकास का परिणाम देनेवाले कदम के उ ाने से पहले इन समस्याओ का समाधान होना ही चाहिए। ऐसे क्षेत्र मे बारबार बाढ का आना–जोकि उसे सहन करने की स्थिति मे नही है– न केवल महान क्षति पहुचाता है, बल्कि निवासियो को अपने स्वयम् के विकास के लिए कोई कदम उठाने की प्रेरणा के सम्बन्ध मे अनुत्साहित भी कर देता है। इसी प्रकार फसल सुधार और व्यक्तिगत स्वास्थ्य के लिए सिचाई ओर पीने के पानी की व्यवस्था करना परमावश्यक है। सडको सम्बन्धी तथा अन्य सामुदायिक सुविधाए प्रदान करनी ही चाहिए, ताकि विकास के लिए सचार, शिक्षा, बिक्री-व्यवस्था जैसी बुनियादी बाते सम्भव बन पडे।

"इन भौतिक उपायो के साथ ही साथ घरेलू स्थिति मे भी नवीनीकरण आना ही चाहिए। भूमि-उपयोग के तरीके मे सुधार होना ही चाहिए। क्षेत्र के कृषि उत्पादनो के तरीके मे सुधार लाना ही चाहिए। क्षेत्र के कृषि उत्पादनो का प्रशोधन करने के जरिये (चूकी अन्य कोई ऐसा स्रोत नही है जिस पर विकास आधारित किया जा सके) अधिकतम रोजगारी प्राप्त करनी ही चाहिए।

"ये बुनियादी परिवर्तन लाने मे सहूलियत हो, इसके लिए सामाजिक और आर्थिक सुविधाओ का समग्र विस्तार किया ही जाना चाहिए। चूकि इस प्रकार की सुविधाओ के लिए विनियोजन करने मे क्षेत्र बहुत ही गरीब है, इसलिए उनका बाहर से प्रदान किया जाना आवश्यक है– लेकिन ये सुविधाए इस ढग से प्रदान की जानी चाहिए कि स्थानीय निवासियो की मान-मर्यादा बनी रहे और उनके भविष्य पर उनका स्वयम् का नियत्रण सुनिश्चित बने।

"ये सब सुधार होने के बाद भी यह शकास्पद ही है कि वर्तमान विकास-दर के अनुसार बस्ती जिला १९७१ मे अनुमानित जनसख्या की कभी मदद कर भी सकता है। इसलिए जिले के क्षीण साधन-स्रोतो पर लोगो का निर्भर रहना कम करने के लिए कोई उपाय करना ही चाहिए।"

विशेष ध्यान देना आवश्यक

बस्ती जिले के लिए जो कुछ कहा गया है वह प्राय सभी पूर्वी जिलो के लिए सच है। जब तक विकास कार्यक्रम के पीछे पूजी आयात करने की स्पष्ट नीति न हो तब तक इन जिलो की गिरती हुई अवस्था को सुधारने के लिए कोई छाप डालना मुश्किल है। राज्य के सभी क्षेत्रो का एकरूप विकास सुनिश्चित करने के लिए परिव्यय-स्तर काफी बढाना पडेगा और विनियोजन के किसी भिन्न तरीके का अनुसरण करना पडेगा। 'समान' व्यवहार से ही पूर्वी जिले राज्य के शेष भाग के साथ कदम मिला कर नही चल सकेगे।

इस क्षेत्र के कृषि-सुधार के लिए कदम उठाने की बहुत बडी आवश्यक्ता है। सिचाई सुविधाए प्रदान करने और बाढ पर नियत्रण करने का बहुत वडा महत्व है। बाढ-नियत्रण के सम्बन्ध मे अब तक केवल अन्यमनस्क कदम ही उठाये गये है। इसके अलावा लघु सिचाई

योजनाओ के रूप मे प्राप्त सुविधाओ के नियम कुछ ऐसे है कि वे व्यक्ति ये सुविधाए प्राप्त नही कर सकते, जिन्हे इनकी वास्तव मे जरूरत है।

पूर्वी जिलो मे, जिनकी ८० प्रति शत आबादी कृषि पर निर्भर करती है, कृषि विकास की कितनी अधिक आवश्यकता है, इस पर विशेष जोर देने की आवश्यकता नही। इस क्षेत्र मे लोगो की आर्थिक कठिनाइयाँ कम करने की किसी भी योजना मे मुख्याधार कृषि ही होना चाहिए। चूँकि इन क्षेत्रो मे खेत बहुत छोटे-छोटे होते है और चूँकी राज्य के मध्यवर्ती तथा पश्चिमी क्षेत्रो की तुलना मे इस क्षेत्र में प्रति एकड उपज बहुत कम है, इसलिए कृषि पद्धति आवश्यक रुप से ही सघन बनानी पडेगी। चूँकी इन क्षेत्रो मे उपलब्ध जमीन के प्रत्येक कतरे पर खेती की जाने लगी है, इसलिए ऐसा करना और भी आवश्यक हो जाता है। सघन कृषि के लिए उर्वरको और खाद की पूर्ति तथा सिंचाई की व्यवस्था करने एवम् बाढ पर काबू पाने का सर्वाधिक महत्व है। चूकि गुप्त बेरोजगारी बहुत है, इसलिए लघु सिचाई व्यवस्था का विशेष महत्व है। लघु सिचाई कार्यो के अतिरिक्त इस क्षेत्र मे राज्य की सिचाई व्यवस्था को और अधिक शक्तिशाली बनाने व उस पर विशेष ध्यान दिये जाने की भी आवश्यकता है। बोरिग करते हुए पक्के कुए खोदने और उनमे उन्नत प्रकार के रैहट लगाने के काम को सघन रूप देना होगा।

पशुओं पर अन्वेषण

पूर्वी जिलो की अर्थ-व्यवस्था मे पशुओ का महत्वपूर्ण हिस्सा है, क्योकि राज्य के करीब २५ प्रति शत भैस-भैंसे और ४० प्रति शत अन्य मवेशी इन्ही जिलो मे है। पशुओ की अधिक सख्या और छोटे-छोटे खेतो तथा विपरीत जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओ के कारण चारे की कमी होने की वजह से रफ्ता-रफ्ता पशु-धन की अवस्था खराब हो गयी है। पूर्वी जिलो मे मवेशियो की नस्ले समाप्त न हो जाये, इसके लिए इन जिलो की अवस्थाओ के अन्तर्गत पशुओ को चराने, उनके प्रजनन आदि के सम्बन्ध मे कोई विशेष अनुसधान कार्य हाथ मे लेना आवश्यक है। किसी एक पूर्वी जिले में एक छोटा-सा मवेशी प्रजनन कृषि-सह-प्रयोग केन्द्र खोलना परमावश्यक है, जहाँ स्थानीय अवस्थाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार का अध्ययन और प्रयोग किया जा सके, ताकि प्राप्त परिणाम आस-पास के अन्य जिलो मे प्रयुक्त किये जा सके। मुर्गी-पालन, भेड-बकरी-पालन, शुअर-पालन, मत्स्य-पालन आदि कुछ अन्य मद है जिनका विकास कार्य हाथ मे लिया जा सकता है।

औद्योगीकरण

मात्र सघन कृषि ही पर्याप्त नही है। भूमि पर दबाव कम करने के लिए किसी हद तक लोगो को बाहर जाने के लिए भी प्रोत्साहन दिया जा सकता है। यह एक सर्व विदित तथ्य है कि पूर्वी जिलो की अत्यधिक गरीबी ने लोगो को अपने जीविकोपार्जन के लिए देश के कोने-कोने और यहा तक कि विदेशो तक जाने को बाध्य किया है। गोरखपुर, देवरिया और बस्ती जिलो के हजारो व्यक्ति बम्बई और कलकत्ता जैसे बडे-बडे शहरो मे छोटा-मोटा व्यापार व छिट-पुट काम करते है। आजमगढ, गोरखपुर, बलिया, गाजीपुर, वाराणसी तथा जौनपुर ऐसे स्थान है जहा के व्यक्ति व्यापार अथवा सेवा मे भाग्य की परीक्षा करने के लिए रगून, मलाया, सिगापुर, वियतनाम और हाग काग तक चले गये है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो के लिए देश के अन्दर और बाहर—जहा स्थानान्तरण की गुजाइश हो—लोगो को भेजने के लिए आयोजित स्थानान्तरण की नीति का अनुसरण उपयुक्त होगा। इससे इन क्षेत्रो मे स्थायी अथवा अस्थायी तौर पर बिना किसी क्रम के स्थानान्तरण की जो प्रवृत्ति है वह नियमित हो सकेगी। आयोजित स्थानान्तरण से आगे चल कर इन जिलो मे आबादी का जो दबाव है, उसमे भी राहत मिलेगी।

पूर्वी जिलो मे भीषण पूर्ण और अर्ध-बेरोजगारी की समस्या हल करने तथा सामान्यत प्रति व्यक्ति आय बढाने की दृष्टि से औद्योगिक विकास करना एक तात्कालिक

आवश्यकता है। इलाहाबाद और मिर्जापुर को छोड कर तेरह जिलो मे १९५७ मे ५४ पजीकृत कारखाने थे जिनमे से प्रत्येक मे औसतन १०० या उससे कुछ अधिक और सब मे औसतन ३०,००० से कम व्यक्ति रोजाना काम करते थे। (इस सम्बन्ध मे तुलनात्मक दृष्टि से यहा यह बताया जा सकता है कि उसी वर्ष मेरठ जिले मे ३४ कारखाने थे, जिनमे औसतन १६,७०० कामगार काम करते थे।) मौजूदा र्वृहत् स्तरीय उद्योगो का विस्तार कार्य और नये उद्योग शुरू करने का काम हाथ मे लेना पडेगा। कृषि करने का सघन तरीका अपना कर इन पूर्वी जिलो मे गन्ना-उत्पादन बढाया जा सकता है और फलस्वरूप सहकारी क्षेत्र मे चीनी के कुछ नये कारखाने खोले जा सकते है। फिलहाल देवरिया और गोरखपुर मे एक-एक आसवनशालाए (डिस्टीलरी) है। ये आसवनशालाए उपलब्ध छोए का इस्तेमाल कर लेती है। पूर्वी जिलो मे चीनी के नये कारखाने खुलने से और अधिक छोए की प्राप्ति हो सकेगी, जिससे एक या दो आसवनशालाए और शुरू की जा सकती है। शक्ति मद्यसार (पावर अलकोहल) की प्राप्ति होने की वजह से ऐसेटिक एसिड, ईथल ऐसेटेट, बटल अलकोहल आदि जैसे शक्ति मद्यसार के 'आधार' पर चलनेवाले उद्योगो का क्षेत्र मे विकास किया जा सकता है।

उद्योगपुरियां

इस क्षेत्र मे खोई–जिसका फिलहाल चीनी के कारखानो मे ईधन के रूप मे प्रयोग होता है– का इस्तेमाल करते हुए कागज मिले भी स्थापित की जा सकती है। चीनी मिलो मे कोयले से काम देनेवाले बोयलर की स्थापना करके खोई बचायी जा सकती है। कागज मिल को कास्टिक सोडे और क्लोराइड की जरूरत होती है। नमक के विद्युद्विछेदन (सोडियम क्लोराइड) से ये प्राप्त किये जा सकते है। कास्टिक सोड़ा और क्लोराइड बाहर से प्राप्त करने की अपेक्षा स्वयम् कागज मिल मे अथवा अलग से कोई इकाई खोल कर राज्य मे ही तैयार किये जा सकते है। चीनी मिलो मे काम आनेवाले छूटे पुर्जे तैयार करने के लिए इस क्षेत्र मे यत्र बनानेवाली इजीनियरिग इकाइया भी खोली जा सकती है। पम्प और बिजली की मोटरो का उत्पादन करनेवाली, क्षेत्र मे खोली जा सकनेवाली दूसरी इकाई है।

वस्त्र, प्रसाधन सामग्री 'स्टेशनरी', साइकल व उसके पुर्जे, जूते, दवाइया, एल्यूमिनियम के बर्तन, काच के बर्तन, कप-प्लेट, उपस्कर, कृषि-औजार, रासायनिक उर्वरक आदि की माग बढनेवाली है। जन-सख्या-वृद्धि, शिक्षा-विस्तार और क्रय-शक्ति की वृद्धि से निश्चय ही तैयार माल की माग काफी बढेगी। अतएव उक्त प्रकार की चीजे तैयार करने के लिए दीर्घ और मध्यम स्तर की इकाइया स्थापित की जा सकती है। मऊ (आजमगढ जिला), शाहगज (जौनपुर जिला) या खलीलाबाद (बस्ती जिला) मे, बुनकरो को उपयुक्त मात्रा मे सूत की पूर्ति करने के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए। भारतीय उर्वरक निगम (फर्टेलाइजर कारपोरेशन ऑफ इण्डिया) जापान के सहयोग से गोरखपुर मे एक उर्वरक कारखाना खोल रहा है। यह कारखाना 'यूरिया' पैदा करेगा, जोकि अच्छी खेती के लिए एक आवश्यक उर्वरक है। इस कारखाने मे लोगो को काम देने की महान क्षमता है। राज्य के इन भागो की जनता की अर्थ-व्यवस्था के लिए लघु तथा कुटीर उद्योग तो और भी महत्वपूर्ण है। ये उद्योग छोटे-छोटे किसानो की आय मे पूरक बन सकते है। यह एक अच्छी बात है कि पूर्वी जिलो मे उद्योगपुरियो की स्थापना हो रही है। लघु स्तरीय उद्योगो के विकास के लिए ये उद्योगपुरियाँ केन्द्र बिन्दुओ का काम करेगी।

रेलों का विस्तार

इन जिलो मे औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है कि चन्द कमियाँ है उन्हे पहले दूर किया जाय। ये है पर्याप्त परिवहन और सस्ती शक्ति का अभाव। पूर्वी जिलो मे रेलो और सडको की कमी है। समूचे क्षेत्र मे प्राय छोटी लाइने (मीटर गेज रेलवे) है, फलस्वरूप आयात-निर्यात का माल ऐसे वाहनान्तरण केन्द्रो के जरिये भेजना पडता है, जहाँ छोटी और बडी दोनो

लाइने मिलती हो। इसका परिणाम निकलता है देर होना, मालछाद व गोदामो आदि मे चोरियो का होना और परिवहन खर्च का बढना। इन अवस्थाओ मे सुधार करने के लिए शाहगज-दोहरीघाट की छोटी लाइन को बडी लाइन का रूप दिया जाना चाहिए। इससे काफी लोगो को काम भी मिलेगा। इस योजना मे तुरन्त तथा दीर्घ-कालीन दोनो प्रकार के लाभ प्राप्त होगे। देवरिया को खड्डा, ठूठीबाडी और निचलोल होते हुए कप्तानगज से जोडनेवाली रेलवे लाइन का निर्माण करना दूसरी महत्वपूर्ण परियोजना है। इस लाइन के बन जाने से देवरिया और महाराजगज के पूर्वोत्तर हिस्सो का एक तरह से द्वार मुक्त हो जायेगा। तथापि, यदि आवश्यक हो तो यह लाइन छोटी लाइन हो सकती है। दोहरीघाट, शाहजनवान, खलीलबाद, मेढवाल, नौतनवा तथा ठूठी-बाडी को परस्पर जोडनेवाली एक अन्य उपयोगी रेलवे लाइन है। इससे गोरखपुर जिले की बासगाव तहसील और बस्ती जिले के कुछ हिस्सो का मार्ग खुलेगा।

उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्से मे अनेक नदियाँ बहती है। इलाहाबाद, पटना और फैजाबाद तक कम से कम दो नदियो—गगा और घाघरा—मे नदी यातायात का विकास किया जा सकता है। जिन जिलो से हो कर ये नदियाँ बहती है उनके वाणिज्य-व्यवसाय को इससे बहुत बढावा मिलेगा। यह बहुत सम्भव है कि इन नदियो मे कुछ प्रशिक्षण देने की और उनकी खुदाई करने की आवश्यकता पडे। ऐसा करना बाढ रोकने की दिशा मे भी एक सहायक कदम होगा, जोकि अपने साथ दु ख-दर्द और बर्बादी लाते है।

उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्सो के विकास के लिए सडक विकास कार्यक्रम बहुत ही आवश्यक है। इसमे कच्ची और पक्की सडके बनाने के लिए स्थानीय लोगो को रोजगारी मिलने की बात भी आती है।

शक्ति की पूर्ति

आधुनिक युग मे बिजली सभी प्रकार के प्राविधिक विकास की जनक है। उत्तर प्रदेश के क्षेत्र मे यह बात विशेष रूप से लागू होती है, जिसमे कोयले और धात्विक तेल के साधन-स्रोत नही है। शक्ति परियोजनाएँ न केवल शक्ति जनन के लिए, बल्कि सिचाई और बाढ-नियत्रण के लिए भी अनिवार्य है। शक्ति-चालित उद्योगो के सफल सचालन के लिए सस्ती और प्रतिस्प-र्धात्मक दरो पर ऊर्जा की प्राप्ति होनी चाहिए। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो मे राज्य के अन्य भागो की अपेक्षा ऊर्जा की दरे ऊँची है। यह असमानता शीघ्र ही समाप्त की जानी चाहिए।

योजना आयोग ने उत्तर प्रदेश के चार पूर्वी जिलो—आजमगढ, देवरिया, गाजीपुर और जौनपुर—की वर्तमान अवस्थाओ का अध्ययन करने के लिए एक सयुक्त अध्ययन दल भेजा था। अध्ययन दल ने अपना प्रतिवेदन आयोग को दे दिया है। उसकी सिफारिशे उत्तर प्रदेश के सभी पन्द्रह पूर्वी जिलो मे लागू की जानी चाहिए। अब समय आ गया है कि सभी सिफा-रिशो पर तुरन्त अमल किया जाय।

गोरखपुर . २६ दिसम्बर १९६३

राज्य के कुल उत्पादन मे दो-तिहाई हिस्सा कृषि और उद्योगो का है; बाकी वाणिज्य, परिवहन, प्रशासन, शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य सेवाओ का। इन तृतीयक श्रेणी के कार्यो मे १९५५–५६ में अन्दाजन १६ लाख अर्थात् कर्मी-शक्ति के करीब २५ प्रति शत लोग रोजगारी पा रहे थ।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

ग्रामीण महाराष्ट्र में सहकार की प्रगति

प्रभाकर नाडकर्णी

महाराष्ट्र मे औद्योगिक सहकार आन्दोलन अपेक्षाकृत नया है और उसका विस्तार अपर्याप्त। राज्य मे औद्योगिक सहकारो की प्राप्त सफलताओ के मूल्याकन से पता चलता है कि १९६१-६२ मे उनकी प्रगति सतोषप्रद रूप से तीव्र नही रही। अतएव आन्दोलन को पुनर्गठित करने और उसे ठोस बनाने पर जोर देना पडेगा।

कृषिक सगठन के क्षेत्र मे काफी काम हुआ है। कृषिक वित्त को एक स्वरूप और व्यवस्था अर्थात् सगठन प्रदान करने के लिए करीब २० हजार कृषि सहकारी समितियाँ भरसक प्रयत्न कर रही है। इनकी वित्तीय व्यवस्था २५ जिला केन्द्रीय सहकारी बैंक और शीर्ष स्थल पर एक शीर्ष सहकारी बैंक करता है। वित्त का बिक्री-व्यवस्था के साथ सम्बन्ध जोडने के लिए लगभग ४०० बिक्री सहकारी समितियाँ इन्हे सहायता पहुचा रही है। समूचे राज्य मे ६२१ सहकारी समितियाँ, सहकारी कृषि के क्षेत्र मे जुटी हुई है। किसानो को अधिक अन्न उपजाने और ज्यादा जमीन पर खेती करने मे समर्थ बनाने के लिए दीर्घ-कालीन ऋण देने की दिशा मे २७ भूमि-विकास बैंक मूल्यवान कार्य कर रहे है। किसानो के साथ अच्छा सलूक हो, इसके लिए उत्पादन का उनके सर्वोत्तम लाभ की दृष्टि से प्रशोधन करने के काम मे २० चीनी मिले, ३८ कपास ओटाई और दबाई मिले तथा करीब ११७ प्रशोधन समितियाँ लगी हुई है। इनके अलावा महाराष्ट्र मे कृषको द्वारा बनायी गयी तथा उनके लिए काम करनेवाली सहकारी समितियो मे ११५ सिचाई समितियाँ व ७७० दुग्धोद्योग (डेरी) सहकारी समितियाँ और है। यद्यपि इस क्षेत्र मे भी अभी बहुत कुछ काम करना बाकी है, तथापि बडे औचित्य के साथ यह कहा जा सकता है कि किसानो ने बडे उत्साहपूर्वक सहकार अपनाया है। लेकिन कामगारो और कारीगरो के मामले मे ऐसी बात नही है। उनके लिए अब भी सहकार एक नयी वस्तु ही है।

औद्योगिक सहकार आन्दोलन अपेक्षाकृत नया है, और इसका विस्तार अभी अपर्याप्त ही है। ग्राम और लघु स्तरीय उद्योगो का समुचित सगठन व प्रबन्ध किया जाय तो वे ग्रामीण समाज को पर्याप्त सख्या मे रोजगारी प्रदान कर सकते है। इस तथ्य से कोई इन्कार नही करता कि कृषि विकास के क्षेत्र के समान ही इस क्षेत्र मे भी सगठन का सहकारी तरीका बहुत हितकर होगा। राज्य मे लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण का श्रीगणेश करने के बाद स्थानीय विकास कार्यो के सचालन के लिए जिला परिषदो और पचायत समितियो को उत्तरदायी बनाया गया है। कार्य विधि के क्षेत्र मे यह एक क्रातिकारी परिवर्तन है। चूकि कार्यक्रम के कार्यान्वयन से लोकमत का सक्रिय सम्बन्ध रहेगा, इसलिए सहकारी आन्दोलन मे ग्राम, तालुका तथा जिला स्तर पर यह नये प्राण फूक सकेगा।

ग्रामीण क्षेत्रो मे यदि ग्राम समाज के साधन-स्रोतो के अनुसार सुनियोजित कार्यक्रम बनाये जाये और ग्रामीणो को उनके कार्यान्वय मे उपयुक्त मार्गदर्शन दिया जाय तो वहाँ पर विकास की महान सम्भाव्यताएँ है। नीचे चन्द अनुच्छेदो से सक्षेप मे इस बात का पता चलेगा कि ग्रामीण औद्योगीकरण के क्षेत्र मे किये गये सहकारी प्रयासो की महाराष्ट्र मे कितनी प्रगति हुई है।

महाराष्ट्र के सहकार आन्दोलन मे ये सब आते है बुनकरो (ऊन, रेशम, खादी और शक्ति करघा कामगार) की उत्पादक सहकारी समितियाँ, सभी परम्परागत ग्राम, कुटीर और लघु-स्तरीय उद्योग—जोकि ग्रामीण क्षेत्रो के

लिए हितकर है– वन्य श्रमिक और श्रमिक ठेकेदारी समितियाँ। इस शब्द मे वैसा उद्योग या व्यापार भी आ जाता है जोकि कामगार सामूहिक स्वामित्व और प्रबन्ध के जरिये चलाते अथवा करते है। चूँकि सहकार आन्दोलन एक विकासशील वस्तु है, इसलिए उसकी परिभाषा आवश्यक रूप से ही लचीली होनी चाहिए।

स्वतंत्र विभाग

औद्योगिक सहकारो की १९४६–४७ मे जो स्थिति थी उस पर एक दृष्टि डालना रुचिकर होगा। यहाँ यह बताना अप्रासगिक न होगा कि उसी वर्ष औद्योगिक सहकारी आन्दोलन के विकास हेतु एक अलग विभाग खोला गया था। भूतपूर्व बम्बई राज्य मे ३० जून १९४७ को १७४ बुनकर समितियाँ, १२१ अन्य औद्योगिक सहकारी समितियाँ, तीन श्रमिक ठेकेदारी समितिया, १५ सघीय समितियाँ और एक राज्य शीर्ष सस्था थी। यहाँ १९४७ और १९६२ के बीच के तुलनात्मक आकडे प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा

प्रभावक प्रतीत होगे। किसी हद तक इसके लिए यह कहा जा सकता है कि सहकारी दृष्टि से विकसित क्षेत्र द्वि-भाषी बम्बई राज्य के विभाजन के फलस्वरूप वर्तमान गुजरात राज्य को मिला। चूकि राज्य के सुगठित क्षेत्रो मे, खास कर औरगाबाद प्रमण्डल और नागपुर प्रमण्डल के पूर्वी जिलो मे, औद्योगिक सहकारी आन्दोलन के विस्तार की बहुत बडी गुजाइश है, इसलिए आगामी वर्षो मे, यह कमी दूर की जा सकती है। यद्यपि ३० जून १९६२ को पूरे होनेवाले १५ वर्षो मे औद्योगिक सहकारी समितियों की कुल सख्या मे प्राय दस गुनी वृद्धि हुई है, तथापि उनकी कुल सदस्य-सख्या पाच गुनी से कुछ अधिक और लेन-देन तीन-गुने से कुछ ज्यादा बढा है। तुलनात्मक अध्ययन मे औद्योगिक सहकार आन्दोलन की कमजोरियों पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। सदस्य-सख्या मे निश्चय ही समितियो की सख्या के अनुसार वृद्धि नही हुई है, और लेन-देन (जैसा कि लेन-देन सम्बन्धी आकडो से प्रकट होता है) न तो समितियो की सख्या और न ही सदस्यों की सख्या के साथ बढ

विवरण	३० ६ ४७	३० ६ ५८	३० ६ ६२
बुनकर समितियाँ	१७४	८४७	७११
अन्य औद्योगिक सहकार	१२४	२,०१३	२,५६२
सघीय समितियाँ (मय शीर्ष समिति के)	१५	२४	३२
सदस्य-सख्या	४०,०४५	२,५७,२८५	२,०७,७५२
कुल बिक्री	२,८२,६८,८२२	१०,६३,७७,०००	८,९४,७६,०००
सचालन पूजी	४८,४८,३५४	७,४३,७४,५५०	७,२६,०९,०००

भूतपूर्व द्विभाषी बम्बई राज्य मे ३०–६–१९४७ और ३०–६–१९६२ को समाप्त होनेवाले वर्षो के मध्य ३०–६–१९५८ को औद्योगिक सहकारो की स्थिति विषयक आकडे प्रस्तुत करने का एक उद्देश्य यह है कि उससे सामान्य पाठक को भी यह उपयोगी जानकारी मिल जाय कि राज्य पुनर्गठन के तुरन्त बाद बम्बई राज्य मे औद्योगिक सहकारो की क्या स्थिति थी। इसके विपरीत महाराष्ट्र के १९६१–६२ के आकडे कुछ कम सका है।

तीन सोपान

यह आन्दोलन अपने जीवन के लगभग पन्द्रह वर्षो की अवधि मे तीन सोपानो से होकर गुजरा है। प्रथम सोपान के दौरान इसने नियत्रण के युद्धोत्तर-कालीन लाभो का फायदा उठाया। इसके बाद नियत्रण हटा, जिससे समितियो को एक धक्का लगा और काफी समय तक उनकी प्रगति अवरुद्ध हो गयी। तीसरा सोपान

पुनरुद्धार या पुनर्जागरण का द्योतक है, जब समितियो ने जिन्हे पहले धक्का लगा था, अपने को दृढतापूर्वक जमाया ओर द्वितीय सोपान के दरमियान जो गतिहीनता आ गयी थी उसे दूर करने की कोशिश की। यही तृतीय सोपान–जिसके दौरान समितियॉ अपने खोये हुए आधार को पुन प्राप्त करती प्रतीत हो रही है– प्रस्तुत लेख का विषय है।

दिनाक ३०–६–१९६२ को औद्योगिक सहकारो की सख्या ३,५९० थी। उनके सदस्य २,०७,७५२ थे ओर कुल चुकता-पूजी १,७४,८१,००० रुपये। यदि अध्ययन की विषय-वस्तु सकुचित कर दी जाय ओर हम केवल परम्परागत पेशो अथवा काम-धधो (बुनकर, श्रमिक, ठेकेदारी, वन्य श्रमिक तथा अन्य सभी सघीय समितियो को छोड कर) की औद्योगिक सहकारिताओ का ही अध्ययन करे तो देखते हे कि उनकी सख्या २,०४८ ओर सदस्य-सख्या ७२,११९ कारीगर अथवा कामगार हैं, जिन्होने अपनी समितियों की हिस्सा-पूजी मे ८३,१९,००० रुपये दिये। इस आधार पर इन समितियो ने केन्द्रीय वित्तदात्री अभिकरणो से १,१०,३४,००० रुपये प्राप्त किये। सरकार अथवा अन्य अभिकरणो द्वारा अथवा उनके तत्वावधान मे उत्पादित माल की बिक्री से २,०५,४४,००० रुपये प्राप्त हुए। इन सबके फलस्वरूप ५४५ समितियो ने लाभ कमाया, ७८० घाटे मे रही और ७३१ न नफे न नुकसान अर्थात गतिहीनता की अवस्था मे रही। उक्त स्थिति का और अधिक विश्लेषण करने पर हमे वह आधार प्राप्त होगा जोकि उपचारात्मक कदम उठाने तथा स्थिति मे सुधार लाने के लिए उपयोगी होगा।

निष्क्रिय समितियो का सवाल

सर्व प्रथम निष्क्रिय समितियो का समस्या-मूलक प्रश्न है, जिनकी सख्या समस्त चालू समितियो की एक-तिहाई से भी अधिक है। निष्क्रिय समितियॉ आन्दोलन मे भार बनी हुई है और इस भार को कम करने के लिए उन्हे (१) पुन प्राणवान यानी क्रियाशील बनाते हुए अथवा (२) यदि उन्हे फिर से क्रियाशील बनाने की कोई आशा या गुजाइश न हो तो समाप्त अर्थात् बिल्कुल बन्द करते हुए प्रबल कदम उठाने पडेगे। यद्यपि कोई भी प्रथम प्रकार के कदमो का समर्थन करेगा, तथापि द्वितीय कदम की उपयोगिता भी कम नही की जा सकती। अलाभदायक इकाइयो को समाप्त करने से ही आन्दोलन शक्तिशाली बनेगा, क्योकि निष्क्रिय समितियॉ सहकारिताओ के कोष मे एक प्रकार के रिसाव है। निष्क्रिय समितियो पर सामयिक रूप से कुछ निश्चित खच करने की आवश्यकता पडती है और पूजी अनावश्यक रूप से गैर-फायदेमन्द कामो मे बन्द पड जाती है। इसके साथ ही साथ नये सगठन खडे करते हुए और चन्द मामलो मे तो उन्हे तरजीह देते हुए निष्क्रिय समितियो को पुन सक्रिय बनाने का एक व्यापक कार्यक्रम हाथ मे लेना पड सकता है। बहुत बडी सख्या मे ऐसी समितियो की बजाय जो आनुपातिक रूप से कम लाभप्रद हो (और जिनमे से अनेक तो निष्क्रिय ही हो), कम सख्या मे ही सही पर ऐसी समितियो को तरजीह दी जानी चाहिए जो लाभ कमा रही हो, सदस्यो की उपयोगी सेवा कर रही हो तथा जिनमे अपना और विकास करने की क्षमता हो।

अन्ततोगत्वा घाटे मे चलनेवाली समितियो म भी सुधार हो सकता है। प्रत्येक मामले का परीक्षण कर उसका उपचार खोजा जाना चाहिए। प्रशिक्षित कर्मचारी प्रदान करके (जोकि सहकार आन्दोलन की सबसे बडी सगठनात्मक कमी है), बाहर से प्रतिभाशाली व्यक्तियो को बुला कर, उपयुक्त कीमत पर कच्ची सामग्री की पूर्ति का प्रबन्ध करके, उपयुक्त बिक्री सगठन खडा करके, प्रचार-साधन का प्रयोग करके, नये साधन-सरजाम, यत्रादि का समावेश कर घाटे मे चलनेवाली समितियो को भी कमाई करनेवाली समितियो मे बदला जा सकता है। इसलिए निष्क्रिय समितियो के बाद लगातार घाटा उठानेवाले सहकारो की अवस्था मे सुधार करने का सवाल हाथ मे लेना पड सकता है। लाभ कमानेवाली समितियो की स्थिति मे और अधिक सुधार करना तीसरा कदम हो सकता है। हो सकता है कि उनमे भी

सभी बातें ठीक न हों। उदाहरण के लिए उनमें मितव्ययीता लायी जा सकती है, माल का गुण सुधारा जा सकता है, सदस्यों को प्राप्त सेवा में बिना कोई कमी किये उनके सदस्य बढाये जा सकते हैं, व्यवहृत प्रक्रियाओं में सुधार करके उत्पादन बढाया जा सकता है, ऊपरी खर्च कम किये जा सकते हैं, बिक्री-सगठन का विस्तार किया जा सकता है, अधिक धन-राशि का विनियोजन किया जा सकता है, आदि। ये सभी कदम साथ-साथ उठाने की आवश्यकता है।

राज्यों की औद्योगिक समितियों के वित्तीय कारोबार के सम्बन्ध में १९६०–६१ और १९६१–६२ के लिए तुलनात्मक जानकारी आगे दो पृष्ठों पे दिये गये विवरण से प्राप्त की जा सकती है। पूर्व अनुच्छेद में वर्णित परम्परागत प्रकार की औद्योगिक सहकारी समितियों के तुलनात्मक आकडे इस प्रकार हैं

मद	१९६०–६१	१९६१–६२
समिति सख्या	१,९३३	२,०४८
सदस्यता	६६,०९८	७२,११९
हिस्सा पूजी (रु मे)	६४,०१,०००	७७,९१,०००
उत्पादित माल (रु मे)	१,५७,४६,०००	२,२९,६०,०००
बिक्री (रु मे)	१,९०,४९,०००	२,०५,६६,०००
कुल उधार (रु मे)	९०,९४,०००	१,१०,३८,०००
सचालन पूजी (रु मे)	१,७०,२२,०००	२,२७,२०,०००

उक्त आकडों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आन्दोलन को समग्र दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि वह प्रगति कर रहा है। तथापि, इस स्थिति पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, निष्क्रिय और घाटे में चलनेवाली समितियों की पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखते हुए समालोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। वर्ष १९६०-६१ में उत्पादित माल के मूल्य से बिके सामान की कीमत अधिक रही। उसके बादवाले वर्ष में स्थिति उल्टी रही। इससे कई सम्भावनाओं का इंगित मिलता है, जैसे या तो उत्पादन बढा और बिक्री पहले जितनी ही रही या फिर बिक्री कम हुई और उत्पादन पहले के समान रहा। इसका कारण यह हो सकता है कि उत्पादित माल बिक्री योग्य न हो। वैसी अवस्था में समितियों को ऐसे सामान का उत्पादन प्रारम्भ करना पड सकता है जो बिक्री की दृष्टि से अनुकूल हो।

केन्द्रीय वित्तदात्री अभिकरण

औद्योगिक सहकारों को वित्त प्रदान करने के सम्बन्ध में यहाँ केन्द्रीय वित्तदात्री अभिकरणों का उल्लेख करना समीचीन होगा। केन्द्रीय वित्तदात्री अभिकरण प्राय एक मात्र माध्यम है जिनके जरिये औद्योगिक सहकारों को सरकार, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, विविधिहित मण्डलों और आयोगों से वित्त प्रदान किया जाता है। नब्बे प्रति शत सरकारी गारण्टी और रियायती व्याज दर की योजनाओं के प्रारम्भ तथा १ जनवरी १९६३ से राज्य के सभी जिले रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की योजना के अन्तर्गत आ जाने से किसी हद तक औचित्य के साथ यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक सहकारों को पर्याप्त वित्त प्रदान करने का सवाल हल होने की स्थिति में है। इस सम्बन्ध में सरसरी तौर पर इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि बडी औद्योगिक सहकारिताओं को मध्य-कालीन वित्त प्रदान करने के लिए राज्य सहकारी बैंक ने एक योजना बनायी है और औद्योगिक सहकारी प्रतिष्ठानों को दीर्घ-कालीन किस्त देने के लिए जीवन बीमा निगम ने इच्छा प्रकट की है। इसके साथ सहकारी वित्त के सस्थानीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हुई कही जा सकती है।

अपने विश्लेपण का विषय अब तक परम्परागत प्रकार की औद्योगिक सहकारिताओ तक सीमित रखते हुए भी कुछ अन्य प्रकार की समितियो (जोकि इस प्रकार के औद्योगिक सहकारो का एक मोटा वर्ग ह) के सम्बन्ध मे भी कुछ कहना अप्रासगिक न होगा। तेलघानी समितियो ने १९६१–६२ मे पूर्ववर्ती वर्ष की तुलना मे उत्पादन मे कुछ गिरावट प्रदर्शित की है। उक्त काल मे बिक्री के क्षेत्र मे भी आनुपातिक गिरावट आयी है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि भाण्डारीकरण वित्त योजना तब नयी ही थी और वह परिमाण तथा क्षेत्र दोनो की दृष्टियो से सीमित थी। तथापि, इस योजना से तेलघानी उद्योग को काफी बढावा मिलने की अपेक्षा की जाती है, क्योकि यह तेलकार की तिलहनो के भावो मे आनेवाली घट-बढ से रक्षा करने की कोशिश करती है, जोकि इस महत्वपूर्ण ग्राम उद्योग के पुन फलने-फूलने मे एक महान बाधा है। भाण्डारीकरण के निमित वित्त प्रदान करने सम्बन्धी योजना ने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। इस सम्बन्ध मे शोलापुर जिले मे–जहाँ सर्व प्रथम यह योजना प्रारम्भ की गयी– उद्योग का जो विकास हुआ है उसका उदाहरण दिया जा सकता है। इस योजना के साथ ही गोदाम बनाने का कार्यक्रम चलाने से उद्योग को पुनस्स्थापित करने मे बहुत बडी मदद मिलेगी।

सेवा सहकारी समितयाँ और बिक्री सहकारी समितियाँ तेल उत्पादन सस्थाओ के साथ सम्बन्ध जोड सकती है तथा तेलकारो की उत्पादक समितियो के सयोजन से ग्रामीण तेल उद्योग के विकास मे प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकती है। वितरण व्यवस्था खडी करने मे उपभोक्ता सहकारी समितियाँ भी सहायक हो सकती है, जिससे रफ्ता-रफ्ता करके तैयार माल की आगत बढेगी। अन्तत सहकारी सम्बन्ध को– जिस पर अप्रैल १९६१ मे नयी दिल्ली मे सम्पन्न औद्योगिक सहकार विचार-गोष्ठी मे जोर दिया गया था–यदि उक्त आधार पर ग्रामीण तेल उद्योग के विकास मे प्रयुक्त किया जाय तो उसे ठोस रूप दिया जा सकता है। चूकि तेल एक प्रमुख पदार्थ है और गावो तथा शहरो दोनो मे ही प्रत्येक व्यक्ति की ओर से उसकी बहुत बडी माग है, इसलिए इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि इस उद्योग के विकास की बहुत बडी क्षमता है। यदि उत्पादन इतना बढाया जाय कि उससे ऊपरी खर्च निकल सके तो घानी तेल मिल तेल की स्पर्धा मे सीना तान कर खडा हो सकता है।

चर्मोद्योग

चर्म शोधन और चर्म सामग्री का उत्पादन करने-वाली समितियो की स्थिति आलोच्य दो वर्षों मे प्राय समान ही रही, यद्यपि सन्दर्भ के तौर पर यह कहना पड सकता है कि चर्म शोधक समितियो के उत्पादन और बिक्री मे सुस्पष्ट गिरावट आयी है। इसके कारणो की जाच करनी पड सकती है। चर्म शोधन और चर्म सामग्री उत्पादन उद्योग व्यक्तिगत कौशल तथा कारीगरी के बूते पर ही जीवित रह कर पनप सकते है, क्योकि सगठित क्षेत्र की ओर से स्पर्धा बहुत जबर्दस्त है। इन उद्योगो के कर्मियो को देहातो मे पर्याप्त ग्राहक तभी मिल सकेगे, जबकि वे अपने माल का गुण-स्तर बनाये रखे। वैसे तो यह सभी ग्रामीण कारीगरो के बारे मे, पर चर्मकारो और चर्म शोधको के सम्बन्ध मे तो विशेष रूप से सच है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रचलित बुरी सामाजिक अवस्थाए, शिक्षा का अभाव और ऊँच-नीच के भाव इस ग्राम उद्योग के सुव्यवस्थित व सुनियोजित विकास मे बाधक रहे है।

सघन सामाजिक शिक्षा और सामाजिक कार्यकर्त्ताओ द्वारा शाति तथा धैर्यपूर्वक काम किये जाने पर ही चर्म-कारो व चर्मशोधको को इन सामाजिक बुराइयो से मुक्त किया जा सकता है एवम् उनमे ईमानदारी, निष्ठा आदि की भावनाएँ भरी जा सकती है, जोकि किसी भी सहकारी प्रयास की पूर्वावश्यकताएँ है। यह एक ऐसा उद्योग है जिसमे सहकारी व्यक्ति को सामाजिक कार्य-कर्त्ता की भूमिका भी निभानी पडती है। यदि उद्योग का विकास सन्तोषप्रद रूप से हो तो रिजर्व बैंक ऑफ इडिया ने वित्त प्रदान करने के लिए इच्छा प्रदर्शित की है। अत इनके विकास पर विशेष ध्यान देना पड सकता है। मौजूदा औजारो का इस्तेमाल करने पर भी यदि सदैव ही

महाराष्ट्र मे औद्योगिक सहकारी समितियो की प्रगति १९६०-६१ और १९६१-६२

(रुपये हजार की सख्या मे)

समितियो का प्रकार	समिति सख्या		सदस्य सख्या		हिस्सा-पूजी (रु मे)		उत्पादन (रु मे)		बिक्री (रु मे)	
	६०–६१	६१–६२	६०–६१	६१–६२	६०–६१	६१–६२	६०–६१	६१–६२	६०–६१	६१–६२
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
रगाई-छपाई	१३	१८	२८१	४६२	२०	३८	४४	३४	४२	४२
मधुमक्खी-पालन	५	७	७८५	१,०१७	१८	२६	९७	१२	११५	१०४
तेलघानी	२४६	२६५	६,३४७	६,६७७	६५४	६६३	६,४८०	५,०६४	७,९१७	५,३४९
हाथ धान कुटाई	६	६	३२३	३२३	७	७	१६३	२०	२०७	३८
बेत और बास	७७	८४	१,८१५	१,८५२	३८	३८	४८	६५	६८	९३
चर्म-शोधन	१४६	१४८	३,११५	३,२४९	१९६	२०७	६५४	५५५	६८०	५११
चर्मकारी	२७२	२७५	६,४६०	६,६६१	३१७	३४६	९०१	१,२२९	१,०७४	१,३८७
बढईगीरी और लोहारगीरी	१७७	१९४	३,९७०	४,७२८	२५८	२९७	८६६	१००३	१,०१४	१,०९६
धातु कार्य	६८	७७	२,४६०	२,४६६	२२३	२६१	९७१	१,२७०	१,०२०	१,६१६
कुम्हारी व ईंट-पथाई	२५०	२८०	८,४१६	९,३१२	३०३	३६७	६८८	१,०११	६७१	१,०६२
रेशा और रस्सी	१३०	१३९	३,८३७	४,२४५	७३	८०	११८	११३	१३०	११३
नीरा व ताड-गुड	६२	६८	१,७१२	१,८६८	९८	१०४	२८८	४१८	५९४	६६१
महिला समितियाँ	८१	८७	७,००७	७,२०३	१३८	१४७	७४८	५०३	९४७	६३९
विविध समितियाँ	४००	४००	१९,५७०	२२,०३८	४,०५८	५,२३०	३,६८०	६,३५८	४,५३४	७,८४१
योग	१,९३३	२,०४८	६६,०९८	७२,११९	६,४०१	७,७०१	१५,७४६	२२,९४०	१९,०४९	२०,५४४
वुनकर समितियाँ	७११	७२७	८५,२५५	८४,४९५	३,०८६	४,४४१	३४,६९८	३५,१०४	४०,५५२	४०,६९८
मचीय मस्थाएँ	३२	३४	६,२७०	७,३२९	१,९३८	३,०९६	१८,३५५	२३,८८२	२१,५०४	२८,२३४
वन्य श्रमिक समितियाँ	२५८	३१६	२५,८३४	३०,८६९	३४७	८८१				
श्रमिक ठेकेदारी समितियाँ	३७१	४६५	१३,३८४	२१,१३७	५४४	५५४				
योग	३,३०५	३,५९०	२,००,८४१	२,१४,९४९	१३,६१६	१६,९५४	६९,४९९	८१,९२६	८१,१०५	८९,४३६

समितियो का प्रकार	उधार (रुपये मे)		सचालन पूजी (रुपये मे)		समितियो की सख्या					
					लाभ मे		घाटे मे		न लाभ न घाटा	
	६०–६१	६१–६२	६०–६१	६१–६२	६०–६१	६१–६२	६०–६१	६१–६२	६०–६१	६१–६२
	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१
रगाई-छपाई	१०	२३	३१	६२	५	३	३	६	५	९
मधुमक्खी-पालन	५७	९२	८६	८०४	१	३	३	२	२	२
तेलघानी	१,३०७	१,४७८	२,०५०	२,२४८	८२	७०	१२२	११०	४२	८५
हाथ धान कुटाई	५९	२६७	६८	२९८	२	१	१	४	३	१
बेत और बास	६१	५२	१००	९१	१५	१७	३२	२५	३०	४२
चर्म शोधन	४५६	५१२	६८०	५१२	३१	२०	६५	५४	५०	६८
चर्मकारी	७५८	८७९	१,२०९	१,५२०	८५	७८	१०७	११४	८०	९१
बढईगीरी और लोहारगीरी	३२७	४४९	७०१	८२७	५१	४३	५६	७६	७०	७२
धातु कार्य	१६१	२७२	४८०	६५५	२३	३२	२९	२६	१६	१६
कुम्हारी व ईंट- पथाई	५०४	६१३	८५३	१,०२३	७०	९५	८८	९२	९२	९७
रेशा ओर रस्सी	९०	८१	१८६	१८४	३३	२५	५०	५३	४७	७१
नीरा व ताड-गुड	३४	९९	२०२	२८८	११	१९	३०	२७	२१	२०
महिला समितियॉ	४४६	५१४	८५६	९१०	२१	२६	३४	३८	२६	२३
विविध समितियॉ	४,८२३	५,७०३	९,५२०	१३,२९८	९४	११३	१४१	१५३	१६५	१३४
योग	९,०९४	११,०३४	१७,०२२	२२,७२०	५२४	५४५	७६०	७८०	६४९	७३१
बुनकर समितियॉ	११,५०४	२२,३३०	२०,८१७	३१,९३१	२९५	२९७	२४४	२४२	१७२	३३५
सघीय सस्थाएँ	७,९२९	६,९५१	११,०२८	११,९६१	४	१५	२३	१७	५	२
वन्य श्रमिक समितियॉ	९७७	१,११३	३,७१६	३,२७१	१४३	१४९	७१	८९	४४	४६
श्रमिक ठेकेदारी समितियॉ	१,०५५	१,५०८	१,८७४	२,७२६	१२१	१५३	१४०	१८०	११०	१२३
योग	३०,५५९	४३,९३६	५४,४५७	७२,६०९	१,०८७	१,१४९	१,२३८	१,३०८	१,०८०	१,२३५

अच्छे-भले रगे चमडे का उपयोग किया जाये। समितियॉ सस्ते जूते व अन्य चर्मोद्योगी सामग्री बना सकती है। अच्छे रगे चमडे की पूर्ति के लिए चर्मकार समितियो को हो सकता है क्षेत्र की एक या अधिक चर्म शोधक समितियो के साथ समझौता करना पडे।

प्रदत्त सहायता अपर्याप्त

जिला औद्योगिक सहकारी सघ अपने बिक्री केन्द्रो के जरिये चर्मोद्योगी सामग्री की बिक्री को बढावा दे सकते है। इन समितियो की सालाना उधार ५,१२,००० रुपये (चर्मशोधक समितियो की) और ८,७९,००० रुपये (चर्मकार समितियो की) है। इस प्रकार चर्मशोधक समितियो के मामले मे प्रत्येक चर्म शोधक सदस्य को एक वर्ष मे करीब १५० रुपये ही मिलते है। इस मे परिवर्तन हो सकता है, क्योकि कुल चर्मशोधक सहकारिताओ मे लगभग ४६ प्रति शत निष्क्रिय है। वास्तविक आवश्यकताओ की दृष्टि से प्रदत्त वित्त अपर्याप्त है, चर्म शोधक समितियो के मामले मे प्रति सदस्य के हिसाब से उधार मे कम से कम तीन गुनी वृद्धि करने का औचित्य है।

बढइयो, कुम्भकारो तथा ईट पाथनेवालो की समितियो की प्रगति यदि कुछ हुई है तो बहुत ही मामूली। भवन निर्माण उद्योग बहुत ही समृद्ध है। वह अपना सानी नही रखता। यह अपेक्षा करना समीचीन ही होगा कि बढइयो, कुम्हारो और ईट पाथनेवालो की समितियो को भी इस समृद्धि का कुछ हिस्सा तो मिलना ही चाहिए। भवन निर्माताओ को चौखटो तथा ईटो की पूर्ति करने और बढइयो व ईट पाथनेवालो की प्राथमिक समितियो को 'आर्डर' देते रहने का काम अपने हाथ मे लेकर जिला औद्योगिक सहकारी सघ महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है। यवतमाल जिला औद्योगिक सहकारी सघ ने इस दिशा मे अच्छा काम किया है। अन्य सघो को भी यदि वे वास्तव मे अपनी इकाइयो के लिए उपयोगी बनना चाहते है तो उक्त सघ का अनुकरण करना होगा।

नीरा और ताड-गुड समितियो का अपना एक वर्ग है। उनकी समस्याएँ अपने ढग की है और मद्यनिषेध कानून से प्रभावित वर्गानियो की सामाजिक अवस्थाओ से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि रचनात्मक प्रयास किये जाये तो समितियो के पास ग्राहको की कमी नही रहेगी। जरूरत इस बात की है कि निष्ठावान व ईमानदार कार्यकर्त्ता हो तथा भाण्डारीकरण और वितरण के लिए सुनियोजित एवम् अनुशासन पूर्ण तत्र हो। महिलाओ की समितियो का एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे व्यवहार कुशलता और कौशल के पूर्ण उपयोग की आवश्यकता है। यदि शहरी क्षेत्रो मे शिक्षित और उत्साही महिलाएँ इन समितियो की समस्याए सम्हालने के लिए आगे आकर अपनी प्रतिभा दिखाये तो न केवल वे महिलाओ को सामाजिक दृष्टि से ऊपर उठाने का ही काम करेगी, बल्कि मध्यम वर्गीय महिलाओ को अपनी पारिवारिक आय बढाने का एक मददगार स्रोत भी प्रदान करेगी।

पहले कहा जा चुका है कि साख्यिकीय आकडे उन्नति अथवा अवनति के निश्चित निदर्शक नही है। ऊपर की सक्षिप्त समालोचना मे परिमाण की अपेक्षा गुण पर जोर दिया गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि १९६०–६१ की तुलना मे १९६१–६२ मे प्रगति हुई है, पर वह धीमी रहने के साथ ही स्तरीय भी नही रही है। विस्तार की योजना बनाने से पूर्व आन्दोलन को पुनर्गठित और ठोस बनाने पर जोर देना पडेगा। यदि सहकार का फल सुस्पष्ट हो तो कामगार स्वयम् उसकी ओर चले आयेगे। इस प्रकार आन्दोलन के ठोस बन जाने पर उसका विस्तार स्वत होता जायेगा। चर्मकारो, चर्मशोधको, बढइयो, ईट पाथनेवालो, नीरा कार्यकर्त्ताओ तथा महिलाओ की समितियो के मामले मे काफी पूर्व तैयारी करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे जिला औद्योगिक सहकारी सघ प्रमुख भूमिका निभा सकते है। सघ जिले के स्तर पर सहकारी विचार-प्रसार व प्रचार तथा अपनी समितियो द्वारा निर्मित माल को लोकप्रिय बनाने और उसका वितरण करने के प्रमुख केन्द्र होने चाहिए। ये अपनी इकाइयो को व्यवस्था यानी तौर-तरीके और योजनाएँ प्रदान कर सकते है तथा जिला स्तर पर औद्योगिक सहकारी आन्दोलन को मार्गदर्शन एवम् निर्देश दे सकते है।

पूना . १४ जून १९६३

तेल पेराई में सुधार

त्यमगुण्डलू कृष्णमूर्ति

घानी के द्वारा तेल पेरने से जितना तेल प्राप्त होता है उसकी मात्रा मे पेराई की प्रक्रिया को पूर्ण बना कर तथा स्वयम् घानी में सुधार करके वृद्धि की जा सकती है। ग्रामीण तेल उद्योग की प्रचलित प्रक्रियाओं मे सुधार करने के किसी भी प्रकार के प्रयास मे जिन बातो पर ध्यान देना वाछनीय है, उन पर प्रस्तुत लेख मे विचार किया गया है।

पेराई मे कम तेल की प्राप्ति ग्रामीण तेल उद्योग के सामने एक गम्भीर समस्या है। कमतेल-प्राप्ति मे तेलकार को काफी कम आमदनी होती है। यही नही, इस कारण बाजार मे अपना तेल प्रतिस्पर्धात्मक भाव पर बेचना भी उसके लिए मुश्किल हो गया है। उसकी तेल पेराई क्षमता का अधिकाश अश अनुपयोजित रहता है। इसमे उक्त कारक का भी हाथ है। तिलहनो से पूरा तेल निकाल लेने से तेल की बढती हुई माग पूरी करने मे भी बहुत सहायता मिलेगी।

दो अवस्थाएँ

घानी से तेल-प्राप्ति बढाने के लिए क्या किया जा सकता है? दो अवस्थाओ मे यह काम हो सकता है। प्रथम अवस्था है घानी मे बिना कोई परिवर्तन किये तेल पेराई की प्रक्रिया मे सुधार करना, उसे निर्दोष बनाना। इससे तुरन्त फल-प्राप्ति होगी। दूसरी अवस्था है स्वयम् घानी मे कोई सुधार करना। इसके लिए अन्वेषण और क्षेत्रीय परीक्षण करना आवश्यक है। प्रस्तुत लेख मे हम प्रथम अवस्था पर विचार करेगे।

तेल पेराई का धधा पुश्त-दर-पुश्त चलनेवाला एक परम्परागत पेशा बन गया है। कारीगर तेल पेराई की प्रक्रिया का ज्ञान हासिल करने अथवा अपनी घानियो मे सुधार करने पर शायद ही कभी ध्यान देते है। यदि वे इस पर वाछित ध्यान देकर अपने पेशे के साथ न्याय करे तो न केवल वे निश्चित रूप से अपनी आमदनी ही बढा सकते है, बल्कि इस उद्योग का वैज्ञानिक आधार पर विकास करने मे सहायता भी दे सकते है।

तिलहन की रचना

पेड-पौधे अपने बीजाकुरो के लिए आवश्यक खुराक तेल के रूप मे अपने बीजो मे सग्रहित करते है। अकुरा-वस्था मे इस तेल का, बीजाकुर उपयोग कर लेते है। पेड-पौधे इस बात मे पूरी सावधानी बरतते है कि उनके बीजो मे जो तेल है उसकी बाह्य कारणो के प्रभाव से रक्षा हो। यह तेल बीज के सभी कोषाणुओ मे बहुत अच्छी तरह माइक्रोस्कोप द्वारा ही देखे जा सकने जैसे लघु कणो के रूप मे फैला रहता है। प्रत्येक कण के चारो ओर श्वित्याभ कोष (एल्बुमिनीय सेल) पदार्थ होता है। उसके चारो ओर भी कोष-भित्ति (सेल वाल) होती है। इन सभी कोषो की सुसम्बद्ध यानी ठोस व्यवस्था से, तथा बीज के छिलके से, तेल-कणो को और भी अधिक सुरक्षा प्राप्त होती है। पेड-पौधो ने तिलहन के लिए जो कुछ किया हो, उसे उलटा कर देना तेल पेराई की प्रथम अवस्था है। पेराई मे सुसम्बद्ध कोषो को खोलना होता है, उनकी भीतिया तोडनी पडती है और तेल अन्दर से बाहर लाया जाना है। सक्षेप मे यही तेल पेराई की प्रक्रिया है।

इस सबंध में तीन तरीके प्रचलित है। वे तरीके हैं (अ) पायस (इमल्सन) तरीका, (आ) दबाव निस्सारण तरीका, और (इ) द्रावक निस्सारण तरीका। घानी, घूर्णक, (रोटेरी), एक्सपेलर तथा द्रव चालित दाब से पेराई को दबाव निस्सारण तरीके के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। यद्यपि इसे दबाव निस्सारण तरीका कहा जाता है, तथापि अकेले दबाव से ही तेल नही निकल सकता। वस्तुत दबाव का काम तो पूर्व के तीन कारकों के काम के बाद आता है। वे तीन कारक है घर्षण, गरमी और आर्द्रता। ये तीन कारक भी उतने ही महत्वपूर्ण है, जितना कि चौथा यानी दबाव, क्योंकि इन तीनो कारको मे से किसी मे भी कोई दोष रहा तो उसका असर समूची प्रक्रिया पर पडता है और यहा तक कि वह दबाव को भी प्रभावहीन कर देता है। यद्यपि प्रत्येक कारक का अपना काम है, तथापि कोई भी अकेला कारक पूरी प्रक्रिया नही कर सकता। प्रत्येक एक-दूसरे के काम मे मात्र सहायक ही होता है, तेल पेराई की प्रक्रिया सबके एक साथ मिलने पर ही पूर्ण होती है। यदि तिलहन प्रशोधन के काम मे लगा कारीगर इन कारको के महत्व के प्रति सजग हो तो वह सम्पूर्ण तेल निकालने मे समर्थ होगा। इन सभी कारको पर हम नीचे विस्तृत चर्चा करेगे।

घर्षण

ऊखल यानी घानी के गड्ढे मे मूसल और तिलहनो के एक-दूसरे के साथ रगडे जाने से घर्षण पैदा होता है। मूसल और भार-पाट पर रखे वजन से पैदा हुए दबाव के साथ यह घर्षण तिलहनो को पीस देता है। चूकि तिलहन का छिलका मुलायम और फिसलनेवाला होता, इसलिए बधन-कारी पदार्थ के रूप मे काम करने तथा मूसल को पकड प्रदान करने के लिए भी कुछ पानी छिडका जाता है। घर्षण एकसम और साधारण होना चाहिए। इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए कि तिलहन लगातार डाले जाते है अन्यथा पिसाई समान नही होगी और तेल-प्राप्ति कम होगी। पेषण के वक्त भी तिलहनो का लगातार डाला जाना आवश्यक है ताकि मूसल और ऊखल के पेदे प्रत्यक्षत आपस मे भिडे नही, क्योकि परस्पर भिडने से उनमें खरोंच पड जाती है। तिलहन डालते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि तिलहन घूमते हुए मूसल से सटे रूप मे पीछे न डाल कर उससे कुछ दूरी पर आगे डाले जाते है। पीछे गिरनेवाले तिलहन मूसल के आगे चलने से पीछे जो खाली स्थान बन जाता है, उसमें होकर ऊखल के पेन्दे मे जा सकते है, और फलस्वरूप मूसल ऊपर खिसक सकता है। जल डालने मे देर करने अथवा अपर्याप्त मात्रा मे डालने से भी उक्त बात घट सकती है।

जल

साधारण तौर से भारपाट पर २५० से ३५० पौण्ड तक वजन रखना पेषण के लिए पर्याप्त होगा। अलसी और खोपरे जैसे बहुत ही तन्तुमय तिलहनो के मामले मे पेषण के वक्त अधिक वजन रखने की आवश्यकता पड सकती है। साधारण स्थिति मे पेषण के लिए, समची प्रक्रिया मे आवश्यक समय के एक-तिहाई से अधिक वक्त की आवश्यकता नही पडती। तिलहन मे नमी अधिक होने, ज्यादा जल देने, भारपाट पर अपर्याप्त वजन और बैलो की गति का धीमा होना कुछ ऐसे कारक है जिनकी वजह से पेषण मे कुछ ज्यादा समय लग सकता है।

घान मे सही मात्रा मे जल का डाला जाना सबसे महत्वपूर्ण कारक है और इस सम्बन्ध मे कुशलता की प्राप्ति दीर्घ-कालीन अनुभव के बाद ही हो सकती है। पानी की मात्रा तिलहन की किस्म और उनके सुखाये जाने की सीमा पर निर्भर करती है। आम तौर पर समची प्रक्रिया मे तिलहनो की मात्रा के करीब छ प्रति शत पानी की जरूरत पडती है। पानी चार बार भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे दिया जाता है। विभिन्न अवस्थाओ मे उससे अलग-अलग प्रयोजन सिद्ध होते है। पेषण के वक्त यह बन्धन-सामग्री का काम देता है और तिलहनो को तथा तिलहनो व मूसल के बीच अच्छी

पकड प्रदान करता है। इस वक्त दिया गया पानी कुछ देर बाद बननेवाली खली को आधार भी प्रदान करता है। द्वितीय अवस्था मे, गर्मी के साथ मिल कर यह कोष-परिकोटा को पकाता है और उसे कमजोर बनाता है। खली के बनने मे इस वक्त का यह पानी सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

इस अवस्था के बाद कारीगर इस बात की जॉच करता है कि जल की मात्रा उपयुक्त परिमाण मे दी गयी है अथवा नही। यह काम वह पिसान (यानी तिलहनो के घानी मे पिसने के बाद बनी हुई चूर्ण जैसी सामग्री—मील) को हाथ मे लेकर उसका गोला बना कर करता है। यदि पानी की मात्रा ठीक रही तो गोला अच्छी तरह बन्ध जायेगा। और, कुछ दबाव डालने पर ही वह फूट सकता है। यदि पानी कम या अधिक रहा तो अँगुलियो से थोडा-सा दबाव डालने पर गोला चूर-चूर हो जायेगा। तीसरी बार पानी घानी के खड्डे से तेल निकालने के कुछ पहले दिया जाता है। इसका प्रयोजन तेल को साफ करना होता है, क्योकि उसमे कुछ तलछट मिला होता है। पानी देने पर तलछट खली से चिपक जाता है और स्वच्छ तेल अलग हो जाता है। खली पर फेन जम जाने के बाद ही तेल अलग निकालना चाहिए। चौथी मर्तबा पानी खली को हटाने से एक-दो मिनट पहले दिया जाता है। इस बार केवल गीला हाथ फेर कर ही पानी दिया जाता है। यह पानी खली के ऊपर लगा हुआ अवशेष तेल अलग करने और खली को नरम तथा स्वच्छ बनाने के लिए दिया जाता है।

ताव देना

श्वित्याभ के गाढेपन और स्वच्छ तेल प्रवाह के लिए पिसान को उपयुक्त ताव देना आवश्यक है। सही रूप मे पानी न देने की वजह से ताव देने मे बाधा पडती है। पानी और गरमी की क्रिया से स्वयम् घानी के अन्दर ही ताव दिया जाता है। यदि ताव का दिया जाना अपूर्ण रहा तो अनेक कोष वैसे के वैसे रह जायेगे तथा उनमे तेल बच रहेगा। इससे न केवल तेल-प्राप्ति पर ही असर पडेगा, बल्कि श्वित्याभ गाढा न होने से तेल गदला भी हो जायेगा। ये श्वित्याभ यदि गाढेपन के जरिये तेल पेराई के दौरान दूर नही किये जाते तो निस्यन्दन के द्वारा भी आसानी से नही हटाये जा सकते। इन श्वित्याभो मे रही आर्द्रता मुक्त स्नेहाम्लो को स्वतन्त्र कर देती है। सही-सही जल देना सही ताव की कुँजी है। तिलहनो मे आर्द्रता, कभी-कभी पानी देने मे गलती करवा देती है। इसलिए तिलहनो को घानी मे डालने से पहले अच्छी तरह सुखा लेना सदैव ही अच्छा रहता है। अच्छी तरह सुखाये हुए तिलहनो का पेषण जल्दी और सरलतापूर्वक होता है।

पानी की मात्रा अधिक होने की वजह से खली चिकनी और सख्त नही बन पाती। खली चिपचिपी और टुकडेदार होगी। इससे खली की दबाव सहने की शक्ति कम पड जाती है तथा फलस्वरूप उसका तेल-प्राप्ति पर बुरा असर पडता है। अपर्याप्त जल देने का भी तेल-प्राप्ति पर असर होता है, क्योकि जल ही तेल कणो को उनके कोषो मे अलग करता है। गरम अथवा उबलते हुए पानी को तरजीह देनी चाहिए, क्योकि यह नितल के पिसान तक चला जाता है और अपनी स्वयम् की गरमी प्रदान करने के अलावा पिसान को घानी मे प्रयुक्त गरमी हासिल करने मे भी मदद देता है।

गरमी

घानी मे पिसान को रगडते हुए, मूसल के घूमने से उत्पन्न घर्षण द्वारा गरमी पैदा होती है। कुछ कारीगर मसाल से पिसान को गरमी पहुँचाते है। कुछ अन्य कारीगर पेराई की प्रक्रिया के बीच ही तेल निकाल लेते है और उसे गरम करके पुन घानी मे डाल देते है। बैल की चाल धीमी होने के कारण पर्याप्त गरमी देते रहना सदैव ही एक समस्या रही है। जो कुछ थोडी-बहुत गरमी पैदा होती है वह भी किसी हद तक बिखर

जाती है। काठ अथवा पत्थर—जो कि ताप-कुचालक है—की घानियाँ बनाने के पीछे गरमी को सुरक्षित रखने की समस्या सम्भवत बाध्य कर देनेवाला कारण रहा है।

कोष की परतें पकाने और स्निग्धाभों को गाढापन प्रदान करने में भी गरमी उन के काम में मदद करती है। एक तरफ यह कोष की परत को पका कर कमजोर बनाती है तथा दूसरी ओर तेल कणों के विस्तार का कारण बनती है, जिसका परिणाम निकलता है कोष का फटना और तेल का उससे बाहर आना। अधिकतम गरमी पैदा करने और जो कुछ गरमी पैदा हो उसे बनाये रखने के लिए बैलों को जोर से हाँकना आवश्यक है। यह देखा जा सकता है कि एक घान की पेराई करने के लिए तेज चलनेवाले बैलों को अन्य बैलों की अपेक्षा कम चक्कर लगाने पड़ते है।

दबाव

तेल को खली से अलग करने मे दबाव बडी सीधीसादी किन्तु निर्णायक भूमिका अदा करता है। दबाव के कारण विभिन्न तेल कणों मे समरसता स्थापित होती है। इन बून्दों यानी तेल कणों को एक साथ मिलने, एक बडा स्वरूप प्राप्त करने और खली से बाहर निकलने के लिए दबाया जाता है। यद्यपि पेषण और खली बनने जैसी प्रारंभिक अवस्था मे भी कुछ दबाव की आवश्यकता पडती है, लेकिन अन्तिम अवस्था मे उसकी भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्रारंभिक अवस्थाओं मे तिलहन को कई परिवर्तनों से हो कर गुजरना और अपने तेल तत्व के निस्सारण के लिए तैयार होना पडता है। तेल को तिलहन से वास्तव में अलग तो अन्तिम अवस्था मे ही किया जाता है। यह अवस्था उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि कृषि-कार्य मे फसल कटाई की स्थिति होती है।

बैलों पर अधिक जोर न डालते हुए इस वक्त यथा संभव सर्वाधिक वजन रखा जाना चाहिए, और जो कुछ भी वजन प्रदान किया जाय उसे घान की पेराई पूरी होने तक रखना चाहिए। यदि इस अवस्था के दौरान वजन में कमी हुई तो खली में तेल रह जाता है। यदि पेराई की प्रक्रिया के अन्त के समय हम धीरे-धीरे दबाव बढा सकें तो, इसमें परिपूर्ण निस्सारण मे सहायता मिलेगी। बीच में दबाव का कम पड जाना सर्वाधिक हानिप्रद है और इसलिए इससे बचना चाहिए।

खली की मोटाई

खली जितनी ही मोटी होगी, उस पर दबाव का असर उतना ही कम होगा। यद्यपि किसी हद तक खली की मोटाई स्वयम् दबाव पर निर्भर करती है, तथापि यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था में कारीगर उसे यानी खली को कितना सम्हालता है। खली को तोडने और घानी मे डालने का काम एक रूप होना चाहिए। घानी मे खली डालते वक्त स्थान के अन्तर की उपयुक्तता का भी खयाल रखना चाहिए। ज्यादा खली होने की वजह से उसकी मोटाई बढ जाती है, जिसका बैल और तेल-प्राप्ति दोनों पर बुरा असर पडता है। एक अनुभवी तेलकार खली की मोटाई घानी के ऊपरी हिस्से पर करीब आध इंच और पेन्दे में पौन इंच रखेगा। मोटी खली मे तेल तत्व अधिक रहता है और उसकी आर्द्रता सुखाने मे ज्यादा वक्त लगता है, इसलिए उसमे शीघ्र ही बदबू आने लगती है।

सामान्य दोष

खली बनने मे देर होना अथवा उसका बिल्कुल न बनना एक सामान्य दोष है। यह दोष महुआ और मूंगफली जैसे अतन्तुमय तिलहनों मे खास तौर से अधिक होता है तथा खोपरा व कुसुम्भ जैसे बहुत ही तन्तुमय तिलहनों के मामले मे प्राय बिल्कुल नहीं पाया जाता। खराब तिलहन पेरने के कारण भी साधारणतया यह समस्या खडी होती है। पेषण की उपान्त्य अवस्था मे सावधानी बरत कर इस कठिनाई से बचा जा सकता है। खली का बनना तिलहन के पूर्ण रूप से पिस जाने से पूर्व

ही प्रारम्भ होना चाहिए। यदि दूसरी बार पानी देने मे देर हो जाती है अथवा कम मात्रा मे दिया जाता है तो तिलहन बहुत ही महीन पिस जाते है और फिर वे खली का रूप नहीं लेते। आवश्यक मात्रा मे पानी देकर, भारपाट पर वजन कम करके ओर छड से पिसान को धीरे-धीरे हल्के हाथ से खोद कर यह दोष दूर किया जा सकता है। यदि पिसान गरम न हो तो उसमे मसाल से थोडा ताव दिया जा सकता है। फिर भी, यदि दोष दूर न हो तो तृण अथवा मूगफली के छिलके जैसी कुछ तन्तुमय सामग्री पिसान मे मिलायी जा सकती है।

कारीगरो को कभी-कभी जिस दूसरे दोष का सामना करना पडता है वह है पेराई की प्रक्रिया के दौरान मूसल का ऊपर उठ जाना। ऐसा तब होता है जबकि घानी के पेन्दे मे बहुत अधिक पिसान इकट्ठा हो जाय। मूसल कितना ऊपर उठता है, यह इस बात पर निर्भर है कि पेन्दे मे कितना पिसान है। मूसल इतना ऊपर भी उठ सकता है कि वह अपनी पकड छोड दे ओर घानी से बाहर गिर जाय। यदि यह दोष प्रारम्भिक अवस्था मे हो तो पिसान को कम करके ओर बैलो की चाल धीमी करके उस पर काबू पाया जा सकता है। मूसल टेढा और घूमती हुई अवस्था मे रहने के कारण पेन्दे का पिसान फिर ऊपर आ जाता है। दोष कुछ अधिक बढ जाने पर यानी उस वक्त जबकि मूसल एकाध इच ऊपर उठ जाय तब उसे उठा कर पेन्दे मे से पिसान को हटाना पडेगा। मूसल को पुन ऊखल मे रख कर ओर शुरु मे कुछ अच्छी तरह बनी हुई खली उसमे डाल कर फिर से घान चालू किया जा सकता है।

मद्रास • ८ अक्तूबर १९६३

गांधी सेवक समाज

वैकुण्ठ ल. मेहता

गाधी विचारधारा को माननेवाले कार्यकर्त्ता शहरी क्षेत्रो में समाज-कल्याण की दिशा में शहरीकरण की समस्याओ का अध्ययन करने पर ही प्रभावोत्पादक योगदान दे सकते है। गांधी स्मारक निधि की बम्बई शाखा ने नगरों तथा शहरो में आजीवन कार्यकर्त्ताओ को इस प्रकार का प्रशिक्षण देने के लिए एक योजना बनायी है।

हर वर्ष ३० जनवरी को हम शहीद दिवस विशेष कर महात्मा गाधी को अपनी श्रद्धान्जलि अर्पित करने के लिए मनाते है, जोकि एक आततायी के शिकार हुए, क्योंकि उन्होने अपना जीवन न्याय का सर ऊंचा रखने मे उत्सर्ग किया तथा वे सबसे एक समान स्नेह करते थे। गत गाधी निर्वाण दिवस पर बम्बई मे गाधीजी के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए जैसा कि डा ई स्टेनली जोन्स ने कहा था कि हम लोगो मे से बहुतो की कल्पना **चन्द लोगो** तक ही सीमित है, उसमे ***सभी लोग*** नही आ पाते जबकि गाधीजी की कल्पना मे सब आ जाते थे। फिर, इन बहुतो मे वसे व्यक्ति ओर वर्ग है जिन्हे अपने समाज के बाहर के व्यक्तियों के लिए कोई स्नेह अथवा मोह है ही नही और यदि उनके प्रति अन्याय किया जाय तो वे उसकी परवाह नही करेगे। जिस गुमराह व्यक्ति ने गाधीजी की हत्या की वह दूसरो को प्यार करने की बात तो दूर रही, उनसे घृणा करता था।

परन्तु ३० जनवरी शहीद दिवस होने के अतिरिक्त सर्वोदय पक्ष का प्रथम दिवस भी है। इस पक्ष मे न हमसे सिर्फ इस बात का आग्रह किया जाता है कि हम गाधीजी के प्रिय कार्यों को आगे बढाने मे कितने सफल रहे है इसका मूल्याकन करे, बल्कि इन कार्यो के विकासार्थ योजना बनाने के लिए भी कहा जाता है। उपर्युक्त दृष्टि से ही यह दिन गाधी स्मारक निधि के तत्वावधान मे गाधी सेवक समाज नामक आजीवन कायकर्ताओं के एक नये सगठन के उद्घाटन के लिए चुना गया।

हम गाधीजी को पितामह अथवा राष्ट्रपिता मानते है। वे अपने को प्रथम भारत-सेवक अथवा भारत सेवकों मे प्रथम कहलाना पसन्द करते। गोपाल कृष्ण गोखले, जिन्हे गाधीजी अपना गुरु मानते थे, १९०५ म उन्ही के द्वारा स्थापित हिन्द सेवक समाज के प्रथम सदस्य थे। अफ्रीका से गाधीजी के भारत वापस लौटने पर उन्हे समाज का सदस्य बनने को आमन्त्रित किया गया, परन्तु दोनो के निर्णय करने के पूर्व ही गोखले १९ फरवरी १९१५ को चल वसे।

हिन्द सेवक समाज

बाद मे गाधीजी समाज के सदस्य तो नही बने, परन्तु उन्होने उससे अपना सम्बन्ध बनाये रखा और उसके सदस्यो को अपना सहयोगी माना। साबरमती आश्रम मे बस जाने के बाद उन्होने वैसे व्यक्तियो—युवको और वृद्धो— को अपने पास आकर्षित करना शुरू किया, जोकि अपने को देश सेवा मे लगाने के लिए इच्छुक थे। जिस तरह हिन्द सेवक समाज ने कई ऐसे व्यक्तियो को पैदा किया, जिन्होने कि राजनीति के अलावा अन्य क्षेत्रो मे बहुत ही ख्याति प्राप्त की, उसी तरह आश्रम मे गाधीजी के निकट सम्पर्क मे जो लोग आये उन्हे मुख्यत राजनीति के अलावा अन्य क्षेत्रो मे ही प्रेरणा मिली। उनमे ऐसे ही व्यक्ति अधिक रहे जिन्होने कि राजनीति से अधिक आदिवासियो, हरिजनो अथवा मजदूरो की सेवा मे या फिर शैक्षणिक ओर समाज-कल्याण कार्यो मे ही ख्याति प्राप्त की।

हिन्द सेवक समाज की नीव थी राजनीति, अर्थशास्त्र ओर समाज-शास्त्र का गहन और क्रमबद्ध अध्ययन, अत जो आजीवन कार्यकर्त्ता के रूप मे उसके सदस्य बनना चाहते थे, उन्हे दो-तीन वर्ष तक प्रशिक्षणान्तर्गत सदस्य के रूप मे रहना होता था। यह अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि आज हमारे समाज को निष्ठावान कार्यकर्त्ताओ की जरूरत है, जोकि समाज सेवा का कार्य पर्यवीक्षण काल मे अध्ययन के तौर पर शुरू कर सके। गाधी स्मारक निधि के पास कार्यकर्त्ताओ को प्रशिक्षित करने की योजना है, लेकिन चूकि इसके अधिकाश कार्य गावो की सेवा की ओर निर्दिष्ट है, अत अब तक जिस किस्म का प्रशिक्षण दिया गया है, वह मुख्यत ग्राम समाज के कल्याण कार्य के लिए ही उपयुक्त है।

शहरो मे काम के लिए प्रशिक्षण

जैसा कि गाधीजी बार-बार कहा करते थे, 'भारत वाकई गावो का देश है।' इसके साथ ही यह तथ्य भी स्वीकार करना होगा कि शहरो का आकार बढता जा रहा है और सचार का विकास होने के साथ-साथ गाववालो का शहरो से सम्पर्क भी बिल्कुल आदतन बन गया है। फिर, यद्यपि ग्राम समाज की समस्याएँ बहु-विध और जटिल है हाल के वर्षो मे हमने जो अनियत्रित तीव्र शहरीकरण होते देखा है, हमारे शहरो की समस्याएँ बढ गयी है और औद्योगीकरण ने कुछ ऐसी शक्तियॉ खडी कर दी है जिन पर निष्ठापूर्ण अध्ययन करने तथा ध्यान देने की जरूरत है। इन समस्याओ के सिलसिलेवार अध्ययन और हल के लिए ऐसे कई प्रशिक्षित और निष्ठावान कार्यकर्त्ताओ की आवश्यकता है, जैसे कि गोखलेजी के हिन्द सेवक समाज से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले कार्यकर्त्ता थे— अथवा गुजरात विद्यापीठ के महादेव देसाई स्नातको की तरह जो ग्रामाभिमुखी है— जोकि मुख्यत शहरी क्षेत्रो मे सेवा के लिए उपलब्ध होगे।

गाधी स्मारक निधि का बम्बई मण्डल एक ऐसा अभिकरण है, जिसका कार्यक्षेत्र बृहत्तर बम्बई के शहरी क्षेत्र तक ही सीमित है, अत यह इस मडल पर ही निर्भर है कि वह वैसे आजीवन कार्यकर्त्ताओ की सस्था निर्मित करने की दिशा मे अग्रणी हो जोकि पर्यवीक्षा-काल और क्रमबद्ध अध्ययन समाप्त कर पूर्ण सुसज्जित हो जन सेवा कार्य आरम्भ करेगे। पूर्ण प्रशिक्ष-णकाल मे सदस्यगण एक ही स्थान पर रहेगे और उनके साथ ही शिक्षक रूप मे समाज द्वारा चुना गया एक ऐसा योग्य व्यक्ति भी रहेगा जोकि उन्हे आवश्यक मार्गदर्शन और उनके अध्ययन मे सहयोग देगा।

कल्याणकारी अभिकरणो का अध्ययन

यद्यपि 'अध्ययन' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है, प्रशिक्षण पाठयक्रम महज बडे-बडे ग्रन्थ और 'नील पुस्तको' के पढने तक ही सीमित नही है, बल्कि काफी विस्तृत है। प्रशिक्षणान्तर्गत सदस्यो को बम्बई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र ओर राजनीति विभागो के अध्यक्षो के सम्पर्क मे लाया गया है और उनके सम्पर्क मे भी जोकि सर्वोदय विचारधारा के ज्ञाता है। यथा सम्भव शीघ्र ही बम्बई के विभिन्न समाज-सेवी अथवा समाज कल्याण अभिकरणो से सम्पर्क स्थापित करने का प्रस्ताव है, ताकि आजीवन कार्यकर्त्ता उनके कार्य-सचालन और सामाजिक जीवन मे उनके स्थान का अध्ययन कर सके। विभिन्न स्थानो अथवा विभिन्न वर्गो की सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओ के सर्वेक्षण की तैयारी करने मे भी मार्गदर्शन दिया जायगा। इन अध्ययनो, विवरणो, सर्वेक्षणो पर—विभिन्न समस्याओ के सैद्धान्तिक पहलुओ के साथ—समाज के सदस्यो के साथ-साथ मुख्यत शैक्षणिक क्षेत्रोवाले उनके सलाहकारो के साथ चर्चा की जायगी। उसके बाद आजीवन कार्यकर्त्ताओ का सम्बन्ध विशिष्ट समाज सेवा कार्य करनेवाली सस्थाओ से जोडा जायगा। बहरहाल उम्मीद की जाती है कि समाज की यह योजना वर्तमान सस्थाओ को अपनी कार्यशीलताएँ बढाने मे मदद देगी।

गाधी स्मारक निधि को अपनी इस अपरिमेय जिम्मे-दारी का पूरा-पूरा भान है। कोई ऐसा भ्रम भी नही है कि कोई आधे दर्जन अथवा दर्जन भर आजीवन कार्यकर्त्ताओ

के बम्बई में इकट्ठा होने और प्रशिक्षण लेने से शहरीकरण की समस्याओ पर, जोकि दिनोदिन बढती और उलझती ही जा रही है, तुरत कोई प्रभाव पडेगा। परन्तु सर्वोदय विचारधारा वाले कई व्यक्तियो का यह मत है कि इन समस्याओ पर सावधानीपूर्वक ध्यान देने और इन्हे सिलसिलेवार ढग से हल करने की जरूरत है। उनका हल करने के प्रयास करने के पूर्व तथ्यो का वैज्ञानिक ढग से अध्ययन कर ज्ञानाधार प्राप्त करना तथा उन अवस्थाओ का विस्तृत सर्वेक्षण करना जिनमे सर्वोदय के मूल सिद्धान्तो की समस्याओ का हल प्रयुक्त किया जा सके, अत्यावश्यक है।

सर्वोदय की व्याख्या है ऐसा समाज, जिसमे शोषण और वर्ग-भेद न हो, श्रम की प्रतिष्ठा हो और जो मनुष्य के प्रति सम्मान बढायें। इस सामाजिक परिवर्तन को लाने में परिणाम की शुद्धता पर भी उतना ही जोर है जितना कि माध्यम की शुद्धता पर और जोकि गाधीजी की शिक्षा के अनुसार सत्य और अहिंसक हो। हम लोकतात्रिक समाजवाद के लिए प्रयत्न करें अथवा सर्वोदय के लिए— अगर हम दोनो मे विभेद करते है तो— नीचे से ही निर्माण करना होगा और भावी शहरी समाज के ठोस आधार हेतु सावधानीपूर्वक आयोजन और कठोर परिश्रम करने की आवश्यकता होगी। गाधी स्मारक निधि का विश्वास है कि इस विशाल कार्य मे गाधी सेवक समाज नामक इस नयी सम्बद्ध सस्था का निर्माण कर वह अपना विनम्र योगदान दे सकेगी। ['भारत ज्योति', बम्बई से साभार।]

बम्बई, ३१ जनवरी १९६४

विद्यार्थियो की वर्तमान पीढी सन् २००० में भी काम-धधो में लगी रहेगी, लेकिन उससे बहुत पहले ही उनकी डिग्रियाँ व डिप्लोमे अप्रचलित हो हो जायेगे—विज्ञान, प्रविधि और सामाजिक विज्ञान सम्बन्धी डिग्रियाँ तो निश्चय ही समय अथवा परिवर्तन की दौड़ मे पीछे रह जायेगी। इस अप्रचलितता से केवल चन्द वे ही छात्र निश्चित रूप से बच सकेगे, जो स्वयम् आविष्कारक बन जायेंगे। शेष छात्रो—जोकि हमारे मानवीय साधन-स्रोतो का महान बहुमत है—मे हमारा जो विनियोजन है, प्राविधिक तथा सामाजिक परिवर्तनो के कारण उसका निश्चय ही अवमूल्यन हो जायेगा। इसलिए इस अप्रचलितता से लोहा लेने अर्थात् उनके प्रमाण-पत्रो आदि को समय अथवा विविध परिवर्तनो के समक्ष पीछे न पडने देने सम्बन्धी उपायो का बहुत बडा महत्व हो जाता है।

—सर एरिक ॲशबी 'इनवेस्टमेण्ट इन मैन,' न्यू साइन्टिस्ट, लन्दन।

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल एसोसियेटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई–३४। वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष • अप्रैल १९६४ • सप्तम अंक

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थ शास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नही है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखो पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तको की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ के पते पर भेजे। टेलीफोन न. ५७१२३९।

इस पत्र में प्रकाशित लेखो मे व्यक्त विचार आवश्यक नही कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क ३.५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिये: असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६।

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	—खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
त्रिभुवन नारायण सिंह	—योजना आयोग के सदस्य (उद्योग)।
दया कृष्ण मल्होत्रा	—योजना आयोग के संयुक्त सचिव।
पुतुपरम्बिल मथाई मथाई	—भारत सरकार के सामुदायिक विकास, पंचायती राज और सहकार मंत्रालय में उद्योग निर्देशक।
लालभाई रतनजी देसाई	—अहमदाबाद स्थित गुजरात विश्वविद्यालय के उप-कुलपति।
शंकरलाल घेलाभाई बैंकर	—प्रख्यात अनुभवी रचनात्मक कार्यकर्त्ता।
प्रमोद कुमार पटनायक	—उड़ीसा सरकार के भुवनेश्वर स्थित उप-पंजीयक।
दत्तात्रेय नाथोबा वान्द्रेकर	—बम्बई राज्य के भूतपूर्व उप-मंत्री और प्रसिद्ध अनुभवी समाज सेवी।
मसूद अली मिर्जा	—अलीगढ़ स्थित मुस्लिम विश्वविद्यालय के वाणिज्य विभाग में लेक्चरर।
कोदण्डरामन वैद्यनाथन	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में समग्र विकास कार्यक्रम के निर्देशक।
श्रीपति रंगनाथ	—मद्रास स्थित जनसंख्या का अध्ययन करनेवाली संस्था 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पापुलेशन स्टडीज' के हैदराबाद स्थित वरिष्ठ गवेषणा अधिकारी।

सम्पादकीय
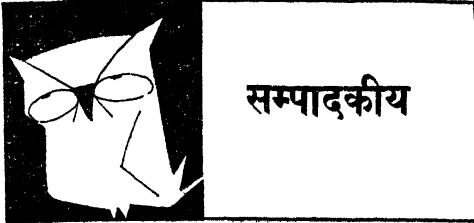
खादी आन्दोलन का नया अध्याय

इस महीने की ६ तारीख से बुनाई उपदान (सब्सिडी) की नयी योजना लागू होने के साथ खादी आन्दोलन, विकास की एक नयी अवस्था मे कदम रखेगा। खादी कार्यक्रम की शुरुआत, ग्रामीणो को अपने रहन-सहन की हालते सुधारने मे मदद देने के लिए की गयी थी। जितने लोगो ने इस कार्यक्रम को अपनाया है, उनकी सख्या से यह आका जा सकता है कि निश्चय ही यह मददगार रहा है। सन् १९५३ मे अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के गठन के बाद एक दशक की अवधि मे खादी के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। वह १९५३–५४ मे ९७ लाख १३ हजार वर्ग मीटर था जो वर्ष १९६२–६३ मे बढ कर ७ करोड ४६ लाख ५१ हजार वर्ग मीटर तक पहुँच गया। इसी प्रकार बिक्री भी बढी है। वर्ष १९५३–५४ मे वह १ करोड २९ लाख ९८ हजार रुपये की हुई थी और १९६२–६३ मे २० करोड ३७ लाख रुपये की। खादी कार्य मे रोजगारी प्राप्त व्यक्तियो की सख्या १९५३–५४ मे ३ लाख ७९ हजार थी, वह १९६२–६३ मे बढ कर १७ लाख ९९ हजार तक जा पहुँची। सामान्य दृष्टि से देखने पर कार्यक्रम को सफल कहा जायेगा। तथापि, आम तौर पर खादी बिक्री के लिए बनायी जानेवाली वस्तु ही रही है। बाजार अर्थ-व्यवस्था की अवस्थाओ के अन्तर्गत यह कोई असाधारण बात भी नही है, जहाँ वस्तुओ का उत्पादन सामान्यत विनिमय के लिए होता है।

बहरहाल खादी चन्द नैतिक मूल्यो पर आधारित है। इसलिए खादी कार्यक्रम की सफलता अथवा असफलता का उपयुक्त मूल्याकन उत्पादन, बिक्री और रोजगारी के 'आर्थिक सूचकाको' के सन्दर्भ मे नही किया जा सकता। गाधीजी के अनुसार "खादी का चिरस्थायी महत्व तभी हो सकता है जबकि उसे अहिसक ग्रामोत्थान अथवा ग्राम पुनर्निर्माण के व्यापक कार्यक्रम के अग रूप चलाया जाय।" इस दृष्टि से कार्यक्रम उसी हद तक सार्थक होगा, जिस हद तक वह ग्रामीण जीवन पर कोई प्रभाव पैदा करने मे सफल होता है। देश के ग्रामवासियो की गरीबी को जानते हुए गाधीजी ने महसूस किया कि ग्रामीणो को उत्पादन करने के लिए तैयार करना ही पर्याप्त नही हो सकता जोकि अपेक्षाकृत आसान है, बल्कि उन्हे अपने उत्पादन का इस्तेमाल करने मे समर्थ बनाने के लिए साधन और तौर-तरीके ढूढ निकालना आवश्यक है, जोकि इतना आसान नही है। यही सूतकारो से आदतन खद्दरधारी बनने का आग्रह करने का महत्व निहित है। तथापि, बाजार अर्थ-व्यवस्था के अमर्यादित प्रभाव के कारण खादी और ग्रामोद्योगो का काम करनेवाले कारीगरो को कोई बहुत बडी सख्या मे अपने खुद के उत्पादनो का उपयोग करने के लिए तैयार करना सम्भव नही बन पडा है।

गाँवों मे अधिकाश लोगो को घोर गरीबी मे रहना पडता है। इस कारण वे अपने खुद के परिश्रम से प्राप्त

फलो का आनन्द उठाने से ही वंचित हो जाते है। यह सभी जानते है कि गॉवो मे शहरो की अपेक्षा प्रति व्यक्ति आय कम है। फिर, स्वयं गॉवो मे भी आमदनी और सम्पत्ति के सम्बन्ध मे महान असमानताएँ पायी जाती है, जिसके फलस्वरूप ग्रामीणो की एक बहुत बडी सख्या को भुखमरी की हालत मे रहना पडता है। बताया जाता है कि महालनोबीस समिति ने कहा है कि "यह निष्कर्ष न्यायोचित लगता है कि दस वर्ष के आयोजन के बाद भी और उच्च आय पर भारी कराधान की योजना के बावजूद शहरी आय मे काफी सकेन्द्रण है। ग्रामीण आमदनी के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। उसके मामले मे उच्च आयवालो पर भी कराधान का अधिक भार नही है।"

केन्द्रीय योजना मत्री ने २६ अगस्त १९६३ को एक वक्तव्य दिया था, उसके अनुसार सबसे गरीब नितल श्रेणी के दस प्रति शत व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रों मे आठ और शहरी क्षेत्रो मे दस रुपये मासिक खर्च करते है अर्थात् ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति दैनिक खर्च २७ नये पैसे से कुछ अधिक तथा शहरी क्षेत्रो मे ३३ नये पैसे है। उसी वक्तव्य के अनुसार देहाती इलाको मे ७० फी सदी लोग रोजाना पचास नये पैसे से कम ही खर्च कर सकते है। (और, देश की अस्सी प्रति शत से अधिक जनता गॉवो मे रहती है!) दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि २५ करोड १९ लाख व्यक्ति प्रति दिन प्रति व्यक्ति पचास नये पैसे भी खर्च नही कर सकते। इतनी कम आय निश्चय ही लोगो की खाद्यान्न सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए अपर्याप्त है। वर्तमान परिस्थितियो के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो मे बहुत-से लोग कपडा और अन्य ग्रामोद्योगी माल खरीदने की हालत मे नही है।

इस तरह की परिस्थिति मे किसी ऐसी योजना के लिए विचार करना पडा, जिससे ग्रामोद्योगी उत्पादक अपने उत्पादन के लाभ मे हिस्सा बटाने मे समर्थ हो सके। इसलिए एक निर्णय किया गया है कि गॉवो मे हाथ कते सूत की बुनाई पर उपदान दिया जाय। इस योजना के अनेक लाभ है, उदाहरणार्थ

प्रथम, यह उन ग्रामीण सूतकारो को, जोकि कपास भी उगाते है, वस्तुत बिना किसी मूल्य के कपडे की पूर्ति सुनिश्चित करेगी। गाव के बहुत-से लोगो के लिए, जोकि पैसे की कमी के कारण कपडा खरीदना बहुत ही कठिन पाते है किन्तु जिनके पास काम करने के लिए समय है तथा जो काम करने के उत्सुक है, यह योजना निश्चय ही एक वरदान सिद्ध होगी।

द्वितीय, गॉवों के उन सूतकारो को जोकि कपास नही उगाते है, यह बहुत ही मामूली कीमत पर—कोई तैंतीस नये पैसे प्रति वर्ग गज—कपडे की पूर्ति सुनिश्चित करेगी। इसका महत्व तभी समझा जा सकता है, जबकि इस पर ग्रामीणो की जीवन स्थिति को ध्यान मे रखते हुए विचार किया जाय निस्सन्देह अधिकाधिक ग्रामीण कताई की ओर आकर्षित होगे, क्योकि इससे वे सिर्फ अपने परिश्रम की कीमत पर अपना वस्त्र प्राप्त कर लेगे।

तृतीय, जो ग्रामीण सूत नही कातते, उन्हे बहुत कम कीमत पर वस्त्र प्राप्त होगा, जोकि अभी के मुकाबले मिल वस्त्र की तुलना मे काफी सस्ता होगा। चूँकि काता गया अधिकाश सूत गॉव मे ही बुन लिया जायेगा, और जिसके कि गॉव मे ही उपयोग कर लिये जाने की उम्मीद है, इसलिए परिवहन खर्च की बचत हो जायेगी। इस प्रकार इस नयी योजना के अन्तर्गत गॉवो मे खादी बाजार के विस्तार की वास्तविक सम्भावना है और धीरे-धीरे खादी की खपत के लिए शहरी बाजारो पर निर्भरता भी बहुत कम की जा सकती है।

चतुर्थ, शहरी ग्राहको को उसी कीमत पर खादी मिलेगी, जिस पर अभी मिलती है, इसलिए अभी जो लोग खादी खरीदते है, वे खादी नही खरीदेगे, इसके लिए कोई आधार नही है।

बुनाई उपदान योजना लागू करने का निर्णय खादी कार्यक्रम का ग्रामीणो के जीवन से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जानबूझ कर लिया गया है। ग्राम इकाई की दिशा मे भी यह एक तर्क सगत कदम है, क्योकि उसकी कल्पना भी देहाती क्षेत्रो मे विभिन्न प्रकार की

खेतिहर और गैर-खेतिहर कार्यशीलताओ के सयोजन पर की गयी है। इस प्रकार इसके पीछे यह बात सामने लाने का विचार है कि कृषि तथा खादी-ग्रामोद्योग एक दूसरे के पूरक है। जहाँ तक खादी और अनेक ग्रामोद्योगो के कार्यक्रम से लोगो को पूरक आमदनी का जरिया प्रदान करने की अपेक्षा की जाती है, अकेले इन उद्योगो के जरिये ही गाँवो की अर्थ-व्यवस्था मे—जोकि सदा की भाँति कृषि-प्रधान है—कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की अपेक्षा नही की जा सकती। वर्ष १९६३–६४ के लिए किये गये आर्थिक सर्वेक्षण मे बताया गया है कि साधारणतया इस बात को मान्यता दी जाती है कि अन्य क्षेत्रो मे प्रगति करने के लिए एक विस्तारशील कृषिक अर्थ-व्यवस्था का होना परमावश्यक है। कृषि क्षेत्र द्वारा उपयुक्त योगदान दिये बिना राष्ट्रीय आय, बचत अथवा निर्यात के क्षेत्र मे वाछित वृद्धि करना मुश्किल होगा। और, न ही लागत तथा कीमतो को इस कदर कम रखा जा सकता है कि विकास की प्रक्रिया निर्बाध गति से आगे बढ रहती रहे।* तथापि, कृषि क्षेत्र की प्रगति बहुत ही असन्तोष प्रद रही है।

कृषि उत्पादन जोकि १९६१–६२ मे १९६०–६१ के रेकार्ड स्तर से १ २ प्रति शत बढा था, प्रतिकूल मौसम के कारण १९६२–६३ मे ३ ३ प्रति शत गिरा। चावल और गेहूँ के उत्पादन मे काफी गिरावट आयी, यद्यपि अन्य खाद्यान्नो का उत्पादन बढा। कपास के अलावा अन्य सभी व्यावसायिक फसलो के उत्पादन मे गिरावट आयी। इसमे कोई आश्चर्य नही कि गावो मे हो रहे परिवर्तन कोई खास नही है।

देहात मे निष्क्रिय जन-शक्ति का बाहुल्य है। उसके उपयोग से न केवल देहात के इलाकों मे रोजगारी के मामले मे बल्कि पूँजी-निर्माण के सम्बन्ध मे भी योग मिल सकता है। यह सच है कि ग्रामोद्योगो से केवल मामूली बचत ही हो सकती है, तथापि वह यथार्थ है। पूँजीवादी ढग के उत्पादन से जो बचत अथवा अतिरिक्त बढती होती है, उसमे व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी करने का ध्यान नही रखा जाता। सामाजिक मूल्यो से यह बिल्कुल परे है अर्थात् सामाजिक आचार-विचार के लिए इस व्यवस्था मे कोई स्थान नही। जैसे कृषिक क्रान्ति को एक ऐसी प्रक्रिया बताया गया है जिससे मानव जैविक परिवर्तको (पेड-पौधे और पशु) का नियत्रक तथा वृद्धि कर्त्ता बना, वैसे ही औद्योगिक क्रान्ति को वह प्रक्रिया बताया गया है जिससे जड परिवर्तको के माध्यम से ऊर्जा के नव स्रोतो का दीर्घ स्तरीय उपयोग होने लगा। भारत औद्योगिक क्रान्ति की देहरी पर खडा है। जैसा कि प्रोफेसर रोस्टोव (Rostow) कहते है, आर्थिक विकास अपने आप नही हो जाता। यदि किसी समाज को "उच्च औसत विकास दर कायम रखनी है तो उसे परिमन्दन से अवश्य ही निरन्तर लोहा लेते रहना चाहिये, क्योकि जहाँ आधुनिक विज्ञान और प्रविधि रिकार्डो के सिद्धान्त 'ह्रासमान प्रतिफल' को अनिश्चित काल के लिए दूर करने की क्षमता प्रदान कर सकते है, वहाँ जो समाज इस क्षमता का फायदा उठाना चाहता है, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह पुराने अग्रणी विभागो के परिमन्द पडने पर उनमे वास्तव मे नव उत्पादन-कार्यो का समावेश करने का फिर से कष्ट उठाये, और उसे इसके प्रत्याशित विस्तारशील प्रभावो का साहसपूर्वक फायदा उठाने की क्षमता का अवश्य ही प्रदर्शन करना चाहिए।" अनवरत आगे बढने की स्थिति के लिए नयी और शक्तिशाली प्रवन्धवाली नयी तकनॉलाजी के सगठन की, नये ढग के कर्मियो की, नये ढग की वित्तीय तथा बिक्री व्यवस्था की आवश्यकता होती है।§ दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन लाने के लिए न केवल नयी प्रविधि का समावेश करना आवश्यक है,

* भारत सरकार इकनॉमिक सर्वे, १९६३-६४, फरवरी १९६४, नयी दिल्ली, पृष्ठ ७।

§ डब्ल्यू डब्ल्यू रोस्टोव का लेख 'लीडिग सेक्टर्स एड दि टेक-ऑफ' उनके ही द्वारा सम्पादित, इकनॉमिक्स ऑफ टेक-ऑफ इण्टू सस्टेड ग्रोथ मे, लन्दन, १९६३, पृष्ठ ९।

बल्कि एक शक्तिशाली प्रबन्ध, नये प्रकार के कार्यकर्त्ता, नये ढग की वित्तीय तथा बिक्री व्यवस्था का खडा करना भी उतना ही आवश्यक है। यह एक राष्ट्रव्यापी काम है तथा खादी और ग्रामोद्योग जैसे किसी भी एक सगठन के, जिसका कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित है, बूते के बाहर की चीज है।

कमीशन अन्य क्षेत्रो मे–खास कर कृषि और शिक्षा के क्षेत्र मे–हुई प्रगति का सफलतापूर्वक लाभ उठाने के बाद ही प्रभावशाली योगदान दे सकता है। उदाहरण के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे शक्तिशाली प्रबन्ध की स्थापना शिक्षा के विस्तार पर निर्भर करती है। ग्रामोद्योगो के काम मे लगे कारीगरो की घोर गरीबी के कारण वित्तीय तथा बिक्री सम्बन्धी व्यवस्था भी उस प्रकार की व्यवस्था से भिन्न करनी होगी, जो कि उपयुक्त पूंजी-आधारवाले उद्योगो को काम दे सकती है। इस क्षेत्र मे लगी अधिकाश सस्थाएँ और सहकारी समितियाँ अपने व्यवसाय के लिए पर्याप्त पूँजी जुटाने मे समर्थ नही है। स्वाभाविक है कि उन्हे कमीशन द्वारा प्रदत्त वित्त पर निर्भर रहना पडता है। जिस हद तक वित्त की उपलब्धि ने खादी तथा ग्रामोद्योगो मे लगी सस्थाओ की सख्या को– और कुल उत्पादन, बिक्री व रोजगारी के परिमाण को भी–बढाने मे प्रेरणा दी है उस हद तक वह, कार्यक्रम और कमीशन द्वारा किये गये अब तक के प्रयासो की उपयोगिता का प्रमाण है। यह सच है कि सस्थाएँ तुरन्त अपना बकाया ऋण चुकाने अथवा उसके बिना काम चलाने मे समर्थ नही है। लेकिन ऋण-पूँजी का प्रयोग करना किसी भी हालत मे खादी व ग्रामोद्योगो का काम करनेवाली सस्थाओ की ही विशेषता नही है। यहाँ तक कि बहुत ही बडी-बडी ज्वॉइन्ट स्टॉक कम्पनियाँ भी अपनी पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए ऋण-पत्र जारी करके ऋण-पूंजी जुटाती है। कुछ तो इस कारण कि देहातो मे पूँजी की अपेक्षाकृत कमी है और कुछ इस वजह से कि ग्रामोद्योगी इकाइयों का पूंजी आधार कमजोर है, वे खुले बाजार मे पर्याप्त निधि जुटाने मे असमर्थ है। वे केवल सरकार से ही आशा कर सकती है।

बिना काम रहनेवाले ग्रामीण जन समूह को रोजगारी प्रदान करने और ग्राम्य क्षेत्रों मे गैर-खेतिहर उत्पादन बढाने की दृष्टि से ग्रामोद्योगो के विकास को सहायता देने की सरकारी नीति का सभी वर्गों के लोगो ने समर्थन किया है। और, यही वह नीति है, जिसके अनुसार खादी तथा ग्रामोद्योगो का कार्यक्रम बनाया गया। इन सस्थाओ को वित्तीय सहायता तथा प्राविधिक मार्गदर्शन देने के लिए कमीशन की स्थापना हुई। इस क्षेत्र मे इसने काफी सफलता भी प्राप्त की है। तथापि, यदि सस्थाओ से ऋण–जोकि उन्होने सचालन पूंजी अथवा स्टॉक, कच्चा माल आदि प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त कर रखा है–वापिस करने के लिए कहा जाता है तो जो सफलताएँ मिली है, उनके निष्फल हो जाने का डर है, क्योंकि इससे अधिकाश सस्थाओ को अपना कारोबार बन्द करना पडेगा

इन सस्थाओ को अधिक बचत करने मे समर्थ बनाने की दृष्टि से उत्पादन के लिए बेहतरीन तकनीको और उपकरणो की खोज करने के दृष्टिकोण से अनुसधान व प्रविधि के विकास पर निरन्तर ध्यान दिया जा रहा है। नयी प्रविधि के लिए अधिक निवेश और उच्च स्तरीय शिक्षा की आवश्यकता होती है, और ये दोनो ही ग्रामीण क्षेत्रो मे सहज ही प्राप्य नही है। वस्त्रोद्योग विशेषज्ञो की एक समिति ने यह पाया है कि छ तकुएवाले सयुक्त अम्बर चरखे के नवीनतम नमूने पर छ घण्टे काम करके एक सूतकार एक रुपये की प्राप्ति कर सकता है। क्षेत्र मे इस नये चरखे के प्रचलित हो जाने पर सूतकारो की उत्पादकता और आमदनी बढाने की दिशा मे निश्चय ही बहुत बडी सहायता मिलेगी। ●

परिगणित जातियों तथा जन-जातियों के लिए रोजगारी*

• उछरंगराय न. ढेबर

परिगणित जातिया तथा परिगणित जन जातिया अपनी हालत में सुधार कर सके, इसके लिए विशेष प्रकार के कदम उठाने पडेगे और रोजगारी, प्रशिक्षण व उधार प्राप्ति के सम्बन्ध मे उन्हे सुविधाएँ प्रदान करनी होंगी।

परिगणित जातियो व परिणित जन-जातियो के लिए रोजगारी के विषय पर विचार गोष्ठी का आयोजन करने के लिए योजना आयोग बधाई का पात्र है। यह पहली मर्तबा है कि सरकार तथा योजना आयोग बेरोजगारी की समस्या पर एक समस्या के रूप मे गौर कर रहे है। अब तक रोजगारी के सवाल पर सामान्य आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से ही विचार किया जाता रहा है।

परिगणित जातियाँ तथा परिगणित जन-जातियाँ, ये दो ऐसे वर्ग है जिनकी एक विशेष स्थिति है। परिगणित जातियो को धर्म के नाम पर तथा परिगणित जन-जातियो को प्रादेशिक तथा अन्य प्रकार के अवरोधों—स्वतत्रता प्राप्ति से पूर्व अग्रेज सरकार द्वारा पृथक्कत्व थोपने की जानबूझ कर अख्तियार की गयी योजना के फलस्वरूप उत्पन्न अवरोध—के जरिये जानबूझ कर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के प्रधान प्रवाह से अलग रखा गया है। इसलिए इन लोगो से सम्बन्धित बेरोजगारी की समस्या, बेरोजगारी की कोई साधारण समस्या नही है। इसका अपना विशेष स्वरूप है, जिसके लिए अलग ढग से बडे सोचे-समझे कदम उठाने की आवश्यकता है।

नया उपागम

रोजगारी असल मे उत्पादन से पैदा होती है। लेकिन जब एक सामाजिक वर्ग जान-बूझ कर देश की अर्थ-व्यवस्था से अलग कर दिया जाता है, तब वैसी अवस्था मे उत्पादन के लाभ उस वर्ग तक कभी नही पहुँच सकते। इस सम्बन्ध मे 'दि अदर अमेरिका'† नामक पुस्तक का उदाहरण दिया जा सकता है। इस पुस्तक मे इस सम्बन्ध मे तथ्य और आकडे दिये गये है कि अमेरिका मे काले लोगो की सामान्य आर्थिक प्रगति को दबाने के लिए किस प्रकार उन्हे जान-बूझ कर वचित रखा गया है, अन्यथा प्रत्येक अमेरिकी समृद्ध बन सकता था। इसलिए योजना बनाने अथवा उसके कार्यान्वय से सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति को सदैव ही यह विभेद ध्यान मे रखना होगा। योजना आयोग ने इस ओर ध्यान दिया है, यह मेरी दृष्टि से इन व्यक्तियो के जीवन मे एक नये युग का प्रारम्भ दर्शाता है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद

परिगणित जातियो तथा जन-जातियो के लिए रोजगारी के जो जरिये सामने आये है उन पर काफी चर्चा हुई है। योजना आयोग तथा भारत सरकार का ध्यान एक दूसरी ओर खीचा जा सकता है। वास्तव मे इनके लिए नये अवसरो का सृजन करना चाहिये, लेकिन अगर हम आजादी हासिल करने के बाद सरकार ने जो काम—खास करके परिगणित जन-जातियो के सम्बन्ध मे—किया है, उसका अध्ययन करे तो देखेगे कि जो अधिकार तथा अवसर पहले से मौजूद थे, उन्हे सुरक्षित रखने तक मे भी सरकार बुरी तरह असफल रही है।

---

* नयी दिल्ली में योजना आयोग द्वारा आयोजित दिनाक ३० जनवरी से १ फरवरी १९६४ तक सम्पन्न 'परिगणित जातियों व परिगणित जन-जातियों को रोजगारी' विषयक विचार गोष्ठी में दिये गये भाषण पर आधारित।

† माइकेल हैरिंगटन दि अदर अमेरिका (स रा अमेरिका में गरीबी), पेग्विन, पृष्ठ १८६।

मै इस तथ्य मे शायद कभी भी जानकारी नही कर पाता, लेकिन स्वर्गीय श्री गोविन्द वल्लभ पन्त के सौजन्य से मुझे अनुसूचित क्षेत्रो और परिगणित जन-जाति आयोग के सम्बन्ध मे काम करते वक्त यह सब जानने का मौका मिला। परिगणित जन-जातियाँ जिस जमीन पर तथा जिस जगल मे वे रहती थी उनकी व्यवहारत पूर्ण रूपेण मालिक थी। अपनी जमीन और जगलो के प्रति उनका कितना लगाव है, इसमे बहुत कम लोगो की जानकारी है। सन् १७८९ और १९४१ के बीच १४ विद्रोह हुए है- सबके सब भूमि तथा जगलो के सम्बन्ध मे उनके अधिकारो को लेकर। उनका प्रथम अधिकारापहरण १७८९ मे हुआ। उसको लेकर १७८९, १८०० १८०७ और १८०८ मे छोटा नागपुर क्षेत्र मे विद्रोह हुए। तब के बाद कुछ समय शाति रही। सन् १८३० मे फिर गडबड हुई और प्रसिद्ध कोल विद्रोह हुआ। विद्रोहो का तीसरा चरण १८५५ मे सन्थाल विद्रोह के साथ शुरू हुआ। उसके बाद १८६२ और १८७९ मे कोया विद्रोह तथा १८८७ मे सरदारी सघर्ष हुआ। अन्त मे १८९५ के बिरसा आन्दोलन से बाध्य हो कर अग्रेज सरकार को १९०८ मे अपनी भूमि नीति मे सशोधन कर कानून बनाना पडा, जिसके अन्तर्गत व्यवस्था की गयी कि सरकार की पूर्वानुमति लिये बिना किसी भी आदिवासी भूमि का हस्तातरण न किया जाय। इस पर भी १९११ मे बस्तर विद्रोह, १९२५ मे कोया विद्रोह और १९४१ मे गोण्ड विद्रोह हुए। भूमि पर अपने अधिकारो की रक्षा करने के लिए इन आदिवासियो को अपना खून बहा कर जो कीमत चुकानी पडी, वह एक ऐसी बात है जिसमे अन्य भारतीय बिल्कुल अनभिज्ञ हैं।

सवैधानिक निर्देशो की अवहेलना

इस अनुभव और प्राय श्री ठक्कर बाप्पा के एकमेव प्रयासो के फलस्वरूप परिगणित जन-जातियो को उनकी जमीन पर उनके अधिकारो का आश्वासन देने को भारत के सविधान मे जान-बूझ कर प्रावधान रखा गया। इस प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने के लिए अनुसूची ५ मे विशेष व्यवस्था की गयी है और सरकार को विस्तृत अधिकार दिये गये है। फिर भी, यह एक दुखद घटना है—और उसमे भी बडी बात तो यह है कि वह गाधीजी के देश मे घट सकती है—कि विशेष प्रावधान के होते हुए भी उसे कार्यरूप मे परिणत करने के लिए कोई महत्वपूर्ण कदम शायद ही उठाया गया हो। बहुत कुछ भूमि आदिवासियो के हाथ से निकल गयी है। ठेकेदारो, साहूकारो आदि की शोषणकारी प्रवृत्तियो के कारण हुए हस्तातरण के अलावा सरकार द्वारा उठाये गये कदमो के फलस्वरूप भी आदिवासियो को अपने काफी क्षेत्र से वचित होना पडता है। भूमि सुधारो मे अधिकाश स्थानो मे उनका हित होने की अपेक्षा अहित ही अधिक हुआ है। धर्मार्थ, धार्मिक, शैक्षणिक, औद्योगिक, भवन निर्माण तथा अन्य विभागीय कामो के लिए—सिचाई सम्बन्धी कार्यों की तो बात ही छोडिये—सरकार ने सवैधानिक कर्तव्यो का बिना कोई खयाल किये भूमि प्राप्त की है। आये दिन तथा कथित स्वेच्छित समर्पण स्वीकार किये गये है। यहाँ तक कि सरकारी नौकरो ने भी—जन-जातियो के हितों की रक्षा करना जिनका कर्तव्य है—उनकी जमीन खरीदी है।

नयी व पुरानी नीतियाँ

जगलो के सम्बन्ध मे भी यही घटित हुआ है। स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद १९५२ मे भारत सरकार ने १८९४ मे बनायी गयी पुरानी अग्रेज नीति मे सशोधन किया। उक्त दोनों कानूनो के अन्तर से स्पष्ट पता चलता है कि नये कानून मे एक रोजमर्रा के काम की तरह किस प्रकार आदिवासियो के हितो को ताक पर उठा कर रख दिया गया—केन्द्रीय स्वराष्ट्र मत्रालय इसकी ओर से आँख मूद कर बैठा रहा! पुरानी नीति मे कुछ शर्तों के साथ वन्य भूमि कृषि के लिए देने की व्यवस्था थी। नयी नीति मे ये रियायते वापिस ले ली गयी। पुरानी नीति मे आरक्षित जगलो के बाहरी क्षेत्रो का कुछ हिस्सा पास-पडोस के गाँवो की आवश्यकता पूर्ति के लिए छोडा गया था। नयी नीति अर्थात कानून मे तय किया गया

कि इस काम के लिए गॉव के अलग मे जगल होने चाहिये। पुरानी नीति मे आदिवासियो के निजी जगलो मे दखल न देने की बात थी। नयी नीति मे उन पर भी समान नियत्रण लागू होता है पुरानी नीति जगलो मे पशुओ को मुफ्त मे चरान पर लागू नही होती थी। नयी नीति मे पशुओ को चराने की बात को नियत्रण मे लाने की कोशिश की गयी है। और, यह सब नियत्रण पशु-चराई न्यूनतम करने के लिए सोचे-समझे उद्देश्य से लाग किया गया।

अनुसूचित क्षेत्रो और परिगणित जन-जाति आयोग ने जमीन तथा जगलों पर आदिवासियो के हितो की रक्षा करने के लिए क्रान्तिकारी सिफारिशे की है। सिफारिशे भारत सरकार के विचाराधीन हैं। आशा की जा सकती है कि पिछले सोलह वर्ष मे जो कुछ हुआ है, उसके विपरीत इन सिफारिशो के अनुसार ठोस कदम उठाये जायेगे। जब तक आदिवासियो को हमने जो आश्वासन दिये है, उन पर अमल न किया जाय और जो कुछ उनका है वह उन्हे न प्रदान किया जाय, तब तक कोई भी आदिवासी भविष्य के सम्बन्ध मे हमारे आश्वासनो पर विश्वास करनेवाला नही है। सविधान मे विशेष व्यवस्था की गयी है और उसका लाभ न उठाने के लिए कोई कारण अथवा औचित्य नही है।

सेवाओ मे प्रवेश

इन दो वर्गो के सेवाओ मे प्रवेश करने के सम्बन्ध मे सरकार द्वारा प्रदत्त आँकडो से पता चलता है कि १९५७ मे १४,००० आवेदन-पत्र आये जिनमे से २,००० उम्मीदवारो के नामो की नियुक्ति के लिए सिफारिश की गयी, जबकि १९५९ मे प्रार्थना पत्रो की सख्या बढ कर २४,००० हुई और परीक्षा के लिए करीब १६,००० व्यक्ति उपस्थित हुए तो भी केवल १,१०० व्यक्तियो के नामो की ही नियुक्ति के लिए सिफारिश की गयी। यदि कोई परिगणित जातियो तथा जन-जातियो से सम्बन्धित सस्थाओं मे स्थिति का अध्ययन करे जहॉ अधिकाश व्यय सरकार द्वारा वहन किया जाता है, तो पता चलेगा कि कहानी कोई भिन्न नही है। यही बात खेती, वाणिज्य तथा व्यवसाय ओर औद्योगिक क्षेत्रो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। कारीगरो के क्षेत्र मे भी उनका स्थान नगण्य है। अभी तक हम 'लोकतत्रात्मक समाजवाद' की भावना समझ ही रहे है। हम उन व्यक्तियो के प्रति हमारे कर्तव्य के प्रति सजग नही है, जिन्हे सार्वजनिक जीवन के इन क्षेत्रो से सामाजिक अथवा राजनैतिक कारणो से दूर रखा गया है।

तरजीह देने की जरूरत

इन सब मामलो मे मेरा खुद का विचार यह है कि परिगणित जातियॉ तथा जन-जातियॉ जब तक सगठित न हो जायँ और आवाज न उठाये तथा उन व्यक्तियो पर किसी हद तक लोकतात्रिक दबाव न डाला जाय जोकि सेवाओ, काम-धधो के सम्बन्ध मे निर्णायक अधिकारी है तथा जिनके हाथ मे अवसर है, तब तक वे सेवाओ मे वाछित अनुपात मे बिना किसी दिक्कत के तथा अधिकार के बतौर अवसर प्राप्त करने की आशा नही कर सकती। इस दृष्टि से मेरा विचार यह है कि एक बिल्कुल स्पष्ट निर्देश के साथ इस सम्बन्ध मे व्यापक व विस्तृत प्रावधान होना चाहिये कि कम से कम किसी वर्ष मे सरकार द्वारा प्रत्याभूत प्रातिशत्य तक तो न्यूनतम योग्यता की शर्त के साथ परिगणित जातियो तथा जन-जातियो के व्यक्तियो को तरजीह दी ही जानी चाहिये और इनके सिवाय दूसरी जातियो के लोगो को उस प्रातिशत्य की पूर्ति होने पर भर्ती किया जाय अर्थात् उस प्रातिशत्य मे तो उक्त जातियो तथा जन जातियो के लोगो को ही लिया जाना चाहिए। मै यह इसलिए कह रहा हूँ क्योकि सामाजिक दृष्टिकोण जैसा है उसमे इन लोगो के कभी भी सार्वजनिक सेवाओ तथा वाणिज्य, व्यवसाय अथवा उद्योग मे उस पैमाने पर अपना हक प्राप्त करने की सम्भावना नही है कि उससे पूर्ण अथवा अर्ध बेरोजगारी की स्थिति पर कोई प्रभाव पड सके। उन व्यक्तियो ने जिन्हे ऐसे मामलो मे निर्णय लेने का अधिकार है सामाजिक दृष्टिकोण की जो

अपरिवर्तनशीलता दिखायी है, तथा इस समस्या के सम्बन्ध में उन्होंने जिस ढग से काम किया है, सरकार को उस पर ध्यान देना ही पडेगा ।

सामाजिक कार्यकर्त्ताओ का महत्व

वाणिज्य, व्यापार तथा उद्योग स्थापित करने की समस्या से वित्त का सवाल भी सामने आयेगा । इस सम्बन्ध मे विशेष कदम उठाने पडेगे कि उधार सम्बन्धी कानूनो तथा नियमो आदि को इन लोगो की आवश्यकता के अनुसार ढाला जाय।

यह सब उन गैर-सरकारी अभिकरणो की सहायता के बिना नही किया जा सकता जोकि इन लोगो मे काम कर रहे है। सामाजिक कार्यकर्त्ताओ का गाधीजी की तरह उचित मान्यता देकर सरकार एक बहुत अच्छा काम करेगी। यही एक मार्ग है कि हम सामाजिक कार्यकर्त्ताओ की प्रतिष्ठा जमा सकेगे और जिस प्रकार का काम वे करते है, उसे मान दे सकेगे।

आवश्यक कदम

अतएव यदि हमे इन वर्गो के प्रति न्याय करना है और अपने शब्दों को कार्य रूप मे परिणत करना है तो निम्न कदमो का उठाया जाना अपरिहार्य है

१ भूमि और जगलो के सम्बन्ध मे इन जन-जातियो के अधिकारो की रक्षा करना।

२ जहॉ-कही खेती के लायक जमीन उपलब्ध हो कृषि के लिए परिगणित जातियो तथा जन-जातियो के लोगो को जमीन देना।

३ घर बनाने के लिए इन दोनो ही वर्गों के लोगो को भूमि देना।

४ सरकारी सेवाओ अथवा सरकार द्वारा अनुदान और/या ऋण देने के रूप मे सहायित सस्थाओ की सेवाओ के मामले मे ऊपर बताये अनुसार व्यापक व विस्तृत प्रावधान रखना । इस प्रकार की व्यवस्था बिना किसी अपवाद के होनी चाहिये और सार्वजनिक सस्थाओ, सार्वजनिक अथवा निजी विभाग की सस्थाओ आदि को सरकार द्वारा अनुदान अथवा ऋण देने की यह एक शर्त होनी चाहिये, फिर चाहे उनका कार्यक्षेत्र चाहे कुछ भी क्यो न हो—चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो या उद्योग, वाणिज्य, व्यापार, सस्कृति अथवा अन्य कोई।

५ उन्हे तकनीशो, कारीगरो के रूप मे और औद्योगिक, वाणिज्य, व्यवसाय तथा कृषि क्षेत्रो मे प्रशिक्षण देने के लिए दीर्घ स्तरीय सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिये । नियक्तियों के लिए आवश्यक योग्यताओ के अलावा विशेष योग्यता हासिल करने के प्रशिक्षण की सुविधा प्रदान करना समाज का कर्तव्य होना चाहिये। यदि न्यूनतम योग्यताओं की शर्त पूरी होती है तो सम्बद्ध व्यक्ति को प्रवेश मिलना ही चाहिये । आगे का प्रशिक्षण भर्ती करने के बाद अथवा पहले सरकारी खर्च पर दिया जाय।

६ उन नियमो को रद्द किया जाना चाहिये जिनके लागू होने से परिगणित जातियो और जन-जातियों के लिए सुरक्षित स्थानो की पूर्ति कुछ समय के लिए नही हो पाती तथा वे खाली पडे रहते है।

७ उन व्यक्तियो को उधार सुविधाएं प्रदान करने के लिए सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिये, जो व्यापार अथवा उद्योग के क्षेत्र मे उतरना चाहते है।

८ उन सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ तथा सामाजिक सगठनो को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये, जो परिगणित जातियो तथा परिगणित जन-जातियों मे काम करना चाहते हो।

खादी कार्यक्रम और उसकी आलोचना

वैकुण्ठ ल. मेहता

प्रस्तुत लेख मे सार्वजनिक लेखा समिति के प्रतिवेदन के फलस्वरूप समाचार-पत्रो मे खादी कार्यक्रम की जो टीकाएँ हुईं, उनको लेकर विचार किया गया है।

फरवरी के अन्त मे सार्वजनिक लेखा समिति ने खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के हिसाब-किताब के बारे मे ससद के सामने अपना प्रतिवेदन पेश किया। इससे खादी-ग्रामोद्योगो के विकास कार्यक्रम पर, जिसके कार्यान्वय हेतु कमीशन का गठन किया गया है, टीका करने का अवसर मिला है। जिस हद तक ये टीकाएँ सार्वजनिक लेखा समिति के पर्यवेक्षण और मालूमात से पैदा होती है, स्वयम् कमीशन ने उन पर अलग से विचार किया है। प्रस्तुत लेख उन सवालातो तक ही सीमित है, जोकि हाल ही मे चन्द दैनिक और साप्ताहिक पत्रो मे प्रकाशित लेखो के दौरान उठाये गये है। इस अवसर का लाभ उठाते हुए यह समीचीन ही होगा कि इन सवालो पर एक-एक कर अलग से विचार किया जाय।

सामाजार्थिक महत्व

एक प्रश्न यह उठाया गया है कि 'एक राजनैतिक दल के सदस्यो के लिए खादी पहनना अनिवार्य हो तो उसका प्रभार सार्वजनिक कोष पर क्यो पडना चाहिये?' स्पष्टत यह धारणा है कि खादी के अधिकाश ग्राहक वे है जोकि या तो भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस के सदस्य है अथवा बनना चाहते है। यह सच है कि आजादी मिलने से पहले राष्ट्र ने गाधीजी को आजादी की लडाई मे अपना नेता माना उसके बाद से खादी का विकास कॉग्रेस कार्यक्रम का अग रहा। तथापि, खादी आज कॉग्रेस कार्यक्रम का कोई सजीव अग नही है। न तो समाजवादी ढग के समाजवाले अवाडी प्रस्ताव मे ही और न भुवनेश्वर मे पारित लोकतात्रिक समाजवाद के प्रस्ताव मे ही 'खादी' शब्द का कोई जिक्र है। पिछले दस वर्ष मे, खादी के कभी भी जितने ग्राहक रहे है उनसे दस गुने उपभोक्ताओ को उसने अपनी ओर आकर्षित किया है। इन उपभोक्ताओ मे कांग्रेस के सदस्यो अथवा सदस्य बनने के लिए खादी खरीदने वाले व्यक्तियो की सख्या बहुत मामूली होगी। खादी की बिक्री कोई उनकी मदद पर निर्भर नही है।

क्या कमीशन बन्द कर देना चाहिये ?

इसी प्रकार का एक अन्य प्रश्न उठाया जाता है कि 'किसी दूसरे की खब्त के लिए कर-दाता क्यो भुगते?' स्वतत्रता-प्राप्ति से पूर्व के दिनो मे खादी विकास कार्यक्रम राष्ट्र ने महात्मा गाधी की जिद्द या खब्त समझ कर नही अपनाया था। राजनैतिक क्षेत्र के महान कर्णधार राजाजी, लोह पुरुष सरदार पटेल, जवाहरलालजी, कृपलानीजी तथा अन्य ऐसे ही व्यक्तियो को किसी राजनैतिक निहितार्थ ने नही बल्कि इसके आर्थिक व सामाजिक महत्व ने आकर्षित किया था। योजना आयोग ने खादी और ग्रामोद्योगो के विकास कार्यक्रम को हमारी पच वर्षीय योजनाओ के अभिन्न अग के रूप मे शामिल किया, तो उसके पीछे भी आयोग के गठन से लेकर अब तक ये ही विचार रहे है। योजना आयोग के सदस्यो मे स्वर्गीय वी टी कृष्णमाचारी, श्री चिन्तामणि देशमुख, प्रोफेसर पी सी महालनोबीस जैसे कुछ व्यक्तियो का नाम यहाँ लिया जा सकता है, जो कभी कॉग्रेसी अथवा अन्य किसी प्रकार के राजनीतिज्ञ नही रहे और उक्त निर्णय लेने मे जिनका हाथ रहा है, जोकि यदि खादी 'किसी की खब्त' होती तो समर्थन नही करते।

यह विचार व्यक्त किया जाता है कि चूँकि पिछले दस वर्षों के प्रयासों के बाद भी खादी लोकप्रिय नहीं बन पायी है, जोकि इसके समर्थकों का दृढ उद्देश्य है, इसलिए एक निश्चित अवधि—उदाहरणार्थ तीन वर्ष—निर्धारित की जानी चाहिये कि उस अवधि में 'या तो वह कुछ प्रगति कर ले या फिर उसका काम बन्द कर दिया जाय। उसी लेख के प्रारम्भिक भाग में (अखिल भारत) खादी और ग्रामोद्योग मण्डल से 'बड़ी गम्भीरता-पूर्वक' कहा गया है कि 'वह अपना काम बन्द कर दे।' कानून में निश्चय ही केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से खादी और ग्रामोद्योग कमीशन का विघटन करने का प्रावधान है। अगर सरकार अथवा योजना आयोग यह समझे कि कमीशन की अब कोई उपयोगिता नहीं रही तो निस्सन्देह वह कदम उठाया जा सकता है। लेकिन ऐसा करने से पूर्व अधिकारीगण कमीशन व उसके सलाहकारी मण्डल की सफलताओं का मूल्यांकन करेंगे। ये सफलताएँ प्रधान रूप से इस बात में निहित हैं कि उनकी प्राप्ति एक लाख से भी अधिक गावों के रहनेवाले २० लाख से ज्यादा लोगों को इस प्रकार के उत्पादक कामों में लगा कर रोजगारी का विस्तार करते हुए की गयी है कि उससे परमावश्यक उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन में वृद्धि हुई है। आलोचक अपने आप से ही पूछ सकते हैं हमारी अर्थ-व्यवस्था में क्या कोई अन्य ऐसा क्षेत्र है जहाँ उक्त समय की समानान्तर अवधि में इतनी सख्या में लोगों को उत्पादक कार्यों में रोजगारी मिली हो।

कार्यक्रम का नव सस्करण

तथापि, आलोचक खादी कार्यक्रम के उस पक्ष पर जोर देते हैं जिसका केन्द्रीय सरकार अथवा योजना आयोग की दृष्टि में इस कार्यक्रम पर अपनी अनुमति देने में कभी कोई महत्व नहीं रहा। जैसा कि आलोचक सुझाते हैं उसके विपरीत, न तो यह कसौटी रखी गयी कि खादी को "ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की दिशा को प्रभावित करने के लिए एक आधार होना चाहिए" और न यह ही कि 'इसे लोक आन्दोलन बनाया जाय।" यह तो मण्डल और कमीशन से सम्बद्ध तथा अखिल भारत चरखा सघ के पुराने कर्णधारों एवम् सर्व सेवा सघ की उत्साहपूर्ण भावना का ही फल है कि खादी-ग्रामोद्योग आन्दोलन के लिए उसे ग्रामीण समाज का कायाकल्प करनेवाला साधन बनाने का उच्च उद्देश्य रखा गया। उनके विचार से ग्राम्य समुदाय को आन्दोलन का भार सम्हालना चाहिये और एक बार उसे यानी ग्रामीण समुदाय को यह दिलजमी हो जाय कि यद्यपि कार्यक्रम का मुख्य प्रयोजन पूर्ण तथा अर्ध बेरोजगारों को रोजगारी प्रदान करना है तथापि कृषि-औद्योगिक विकास कार्यक्रम के अभिन्न अग के रूप में चलाने पर उसमें खास तौर से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एवम् सामान्य तौर पर ग्रामीण जीवन को प्रभावित करनेवाला महान प्रभाव छिपा है, तो वह उक्त जिम्मेदारी सम्हाल लेगा। यही वह दृष्टिकोण है जिसकी वजह से कमीशन ने कार्यक्रम का नव सस्करण करना आवश्यक समझा ताकि ग्रामीणों में अभिक्रम, रुचि और उत्साह पैदा हो।

आत्मनिर्भरता का गुणार्थ

एक अन्य भारी अभियोग यह है कि खादी आगामी कुछ वर्षों तक आत्मनिर्भर बननेवाली नहीं है। इस सन्दर्भ में 'आत्मनिर्भरता' शब्द का सही गुणार्थ स्पष्ट नहीं है। और फिर, कोई यह भी पूछ सकता है कि क्या ससार के विभिन्न भागों में ऐसे देश नहीं हैं जहाँ राष्ट्रीय हित की दृष्टि से प्राथमिक कृषि उद्योग तक को उपदान अथवा वित्तीय सहायताएँ देकर जीवित रखा जाता है। फिर, कुछ ऐसे बहुत ही उद्योग-प्रधान देश भी हैं जहाँ राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कुछ प्रकार के दीर्घ स्तरीय उद्योगों को उपदान देना पड़ता है अथवा विदेशी स्पर्धा से उनकी रक्षा करनी पड़ती है। उन दस्तकारियों को भी विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायता दी जाती है, जो व्यक्ति की सृजन-शक्ति जिन्दा रखती है और लाभदायक काम प्रदान करती है। यदि खादी राष्ट्रीय योजनाओं का अग है तो इसलिए नहीं कि २० करोड़ रुपये का सूती कपड़ा तैयार होता है, बल्कि इसलिए कि

इस प्रकार का उत्पादन एक मूल्यवान सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करता है। इस सन्दर्भ मे 'आत्म निर्भर' शब्द का कोई महत्व नही है।

स्वदेशी की अपील

इस प्रकार इस आरोप का परीक्षण कि कार्यक्रम 'सहज रूप से ही दोषपूर्ण है', जिस सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति वह करता है उसकी पृष्ठभूमि मे करना पडेगा तथा इसलिए नही कि उद्योग "कभी भी अपने पैरो पर खडा होने की आशा नही कर सकता।" इस शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे स्वदेशी का पाठ पढानेवाले राष्ट्र के अग्रणी नेताओ ने स्वदेशी उद्योगो की सहायता करने और उनके उत्पादन अपनाने के लिए जनता का आवाहन केवल उस वक्त तक के लिए ही नही किया था जब तक कि वे उद्योग अपने पैरो पर खडे न हो जायँ। उन्होने लोगो से आग्रह किया था कि अपनी खरीद स्वदेशी उद्योगो के उत्पादनो तक ही सीमित रखी जाये, फिर चाहे कुछ त्याग ही क्यो न करना पडे यानी उन उद्योगो की वस्तुएँ खरीदने मे ज्यादा कीमत ही क्यो न चुकानी पडे अथवा उन उत्पादनो का गुण-स्तर निम्न कोटि का ही क्यो न हो। जन-मानस से यह अपील इसलिए नही की गयी थी कि उसमे विनियोजकों और उद्यमियो का हित है, बल्कि इसलिए कि अर्थ-व्यवस्था के विस्फुरण अर्थात् विकेन्द्रीकरण, रोजगारी के निर्माण और भूमि पर दबाव कम होने से राष्ट्रीय प्रगति की उद्देश्य-प्राप्ति की दिशा मे आगे बढा जा सकेगा। औद्योगीकरण के लिए आयोजन करने के बावजूद, मुख्यत ग्रामीण क्षेत्रो की अर्थ-व्यवस्था मे अवस्थित गतिहीनता की अवस्थाओ के रूप मे गरीबी रूपी व्याधि अब भी मौजूद है।

यद्यपि देश मे उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनो प्रकार के सामान का वृद्धिशील परिमाण मे उत्पादन हो रहा है, तथापि यदि कोई सार्वजनिक मामलो का अध्येता यह दावा करे कि अधिकाश ग्रामीण आबादी की अपने जीविकोपार्जन के लिए एक मात्र साधन के रूप मे कृषि पर निर्भरता मे कमी हुई है अथवा ग्रामीण क्षेत्रो मे पूर्ण या अर्ध बेकारी की मात्रा घटी है अथवा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे विस्फुरण यानी विविधता आयी है, तो वैसा करना यदि उजड्डता नही तो एक प्रकार की धृष्टता ही होगी। सरकार ने खादी कार्यक्रम इसलिए स्वीकार किया है, क्योकि अर्थ-व्यवस्था की इन बुराइयो को समाप्त करना उसकी जिम्मेदारी है और वह यह समझती है कि ऐसा करने के लिए उपभोक्ता सामग्री का ग्राम तथा कुटीर उद्योगो के जरिये उत्पादन करना एक सर्वाधिक उपयुक्त मार्ग है।

श्रम विस्थापन

खादी आन्दोलन के कट्टर हिमायतियो ने भी कभी यह दावा नही किया है, कि यह एक ऐसा उद्योग है, जिसके उत्पादन मिल वस्त्र से स्पर्धा कर सकते है। इसलिए आन्दोलन पर इस बात का लाच्छन लगाना कि वह खादी की कीमत मिल कपडे की कीमत के बराबर लाने मे सफल नही हुआ है, शायद ही न्याय सगत हो। हाथ करघे के स्थान पर शक्ति करघा लगाने से पाँच-छ व्यक्ति विस्थापित होते है। चरखे की जगह 'कताई फ्रेम' लगाने से २५–३० कामगार विस्थापित होते है। कपडा मिलो मे जो व्यक्ति 'कताई फ्रेम' अथवा शक्ति करघे लगाते है वे इस बात के प्रति उदासीन रहते है कि जिन व्यक्तियो की रोजी का जरिया छिन जाता है उन पर क्या गुजरती है। वे पारिश्रमिक पर श्रमिक रखते है। यह पारिश्रमिक हाथ से कताई या बुनाई करनेवालो के पारिश्रमिक से अधिक हो सकता है, तथापि, जिन व्यक्तियो को काम पर से निकाल दिया जाता है उनकी कुल आमदनी के बराबर किसी भी हालत मे नही होता।

शारीरिक श्रम से चलाये जानेवाले तकुओ और करघो के स्थान पर शक्ति-चालित 'कताई फ्रेम' और करघे लगाने के रूपान्तरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप विस्थापित होनेवाले इन व्यक्तियो को दिया जानेवाला यह पारिश्रमिक ही प्रधान रूप मे मिल वस्त्र तथा खादी के उत्पादन खर्च मे पाये जानेवाले भारी अन्तर का

कारण है। चूंकि मिल सूत का इस्तेमाल करनेवाले करघे के स्थान पर शक्ति-करघा लगाने से विस्थापन कम होता है, इसलिए हाथ करघा और मिल वस्त्र के मूल्य मे अन्तर भी अपेक्षाकृत कम होता है। तथापि, चन्द प्रकार की हाथ करघा की भॉतो और मोटी (कोर्स) खादी की कीमत मे अन्तर कम है। इसके अतिरिक्त खादी अथवा हाथ करघा वस्त्रो के पोत की कुछ विशिष्ट विशेषताएँ है, जिनमे ग्राहको के लिए विशेष आकर्षण होता है। यदि ऐसा नही होता तो पिछले दस वर्ष मे खादी के ग्राहको की सख्या मे जो दस गुनी वृद्धि हुई है, वह शायद ही हो पाती। मात्र प्रति रुपये २० नये पैसे की छूट के कारण ही शहरो और नगरो के निपुण ग्राहक खादी के एक-दो बार के नही बल्कि आदतन खरीदार नही बन गये है।

लागत संघटक

चूंकि उत्पादक लागत मे पारिश्रमिक, खादी का उत्पादन खर्च निर्धारित करनेवाला एक प्रधान सघटक है, इसलिए आलाचको का तर्क है कि "यदि वर्तमान अत्यन्त निम्न पारिश्रमिक" बढाने के लिए कोई प्रयास किया गया तो उसका प्रभाव यह पडेगा कि खादी और भी महँगी हो जायेगी तथा वह अब की अपेक्षा मिल वस्त्र की स्पर्धा मे बिकने के लिए और भी अयोग्य बन जायेगी। जिन व्यक्तियो के हाथ मे कार्यक्रम का भार है उन्होने अन्य सभी प्रकार के खर्चे कम करने का उद्देश्य रखा है, उदाहरणार्थ कच्ची सामग्री की पूर्ति मे, तैयार माल की बिक्री-व्यवस्था के सगठन के संबध मे अथवा बिना ब्याज के या बहुत कम ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराने के बारे मे। परिणाम स्वरूप पिछले दस वर्ष की अवधि मे रूई की कीमत मे बहुत अधिक वृद्धि होने के बावजूद खादी की अधिकाश भॉतो की कीमत प्राय एक-सी रही है। और, वस्त्रोद्योगी उत्पादन के सम्बन्ध मे जानकारी रखनेवाले किसी भी व्यक्ति को यह बताने की आवश्यकता नही कि उत्पादन की सफलता बहुत-कुछ रूई के गुण-स्तर पर ही निर्भर करती है। इस सम्बन्ध मे खादी उत्पादक को पिछले वर्षो के दौरान बहुत घाटे मे रहना पडा है। छोटे रेशे की रूई से मध्यम तथा लम्बे रेशे की रूई अपनाने के सम्बन्ध मे बडी तीव्र गति मे परिवर्तन हुआ है, और हाथ कताई के लिए उपयुक्त किस्म की रूई की या तो कमी है अथवा फिर वह अनुपलब्ध है। जिस हद तक रूई महँगे भाव पर–यहाँ तक कि खादी की मोटी भॉतो के लिए भी–खरीदनी पडी है, उस हद तक उत्पादन खर्च और भी बढा है।

महात्मा गाधी ने जब उन्नत किस्म के चरखे के लिए एक लाख रुपये का पुरस्कार घोषित किया तो उनका दोहरा उद्देश्य था (१) सूतकार की आमदनी बढे, और (२) उत्पादकता बढने के साथ कताई खर्च कम हो। उन्होने परम्परागत चरखे तक की कुशलता बढानी चाही थी, ताकि सूतकार अधिक कमाई कर सके। अम्बर चरखा यद्यपि परम्परागत चरखे से ज्यादा कीमत-वाला और अधिक जटिल है, लेकिन उसमे गाधीजी के दोहरे उद्देश्य की पूर्ति करने की शक्यता है। सूतकारो की आय बढी है, बुनाई-खर्च किसी हद तक कम किया जा सका है, खादी की कुछ भॉते ऐसी तैयार की जा चुकी है कि उनके और मिल के कपडे की कीमतो मे अन्तर किसी हद तक कम हुआ है। लेकिन रूई के भावो मे जो वृद्धि हुई है उस कारण खादी के दामो मे कोई खास कमी करना सम्भव नही बन पडा है।

शक्ति-प्रयोग के निहितार्थ

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने कुछ वर्ष पहले उन्नत चरखे के लिए पुरस्कार की घोषणा की थी। हाल ही मे उसने वह अम्बर चरखा क्षेत्र मे अपनाने का निर्णय किया है, जिसमे कम से कम एक रुपया दैनिक आमदनी प्रदान करने की क्षमता है। इससे पता चलता है कि खादी आन्दोलन मे लगे कार्यकर्त्ता प्राविधिक प्रगति करने के प्रति सचेत है। यदि वे विकेन्द्रित आधार पर शक्ति का उपयोग करते हुए कताई करने की नही सोचते तो उनका यह दृष्टिकोण समझ मे आने लायक है। अधिकाश खादी उत्पादन छोटे-छोटे गांवो मे होता है।

इनमे से अधिकाश गॉवो तक निकट भविष्य मे बिजली पहुॅचने की सम्भावना नही है। एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम की कल्पना उपलब्ध साधन-स्रोतो के सन्दर्भ मे ही की जा सकती है। आज जो चीज उपलब्ध है, वह है असीमित जन-शक्ति। जव सबसे बडी आवश्यकता इस जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग करने की हो तो खादी कार्यकर्त्ताओ से शायद ही यह अपेक्षा की जा सके कि वे बिजली का इस्तेमाल करना अपनाये—खास कर तब जबकि बहुत कम गॉवो तक ही बिजली पहुॅचनेवाली है। इसके अलावा उनके साथ सबसे बडी बात यह सुनिश्चित करना है कि बिजली का इस्तेमाल करने से जो जन-शक्ति हाथ कताई मे लगी है, वह निष्क्रिय न बन जाय। यदि काम के और कोई जरिये उपलब्ध होते तो उनका दृष्टिकोण भिन्न हो सकता था।

वस्त्रोत्पादन

अम्बर चरखे के प्रारम्भ से एक नयी सम्भावना सामने आयी है। ग्रामीण समुदाय के लिए अब यह बहुत सम्भव बन गया है कि वह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा हाथ कताई किये बिना अपनी आवश्यकता का कपडा तैयार कर सकता है। एक गॉव अथवा ग्राम समूह या क्षेत्र के लिए कपडे के मामले मे आत्म-निर्भर बनने का उद्देश्य रखना—खास कर वैसे स्थानो मे जहॉ कपास की खेती होती है अथवा की जा सकती है—एक हो सकनेवाला काम बन जाता है। यही आदर्श गाधीजी प्रत्यक्ष देखना चाहते थे और इसी की पूजा आचार्य विनोबा भावे करते है। पुराने जमाने मे हाथ कताई ग्रामीण समुदाय का एक सहायक उद्योग था। आज हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे उसके तुच्छ साधन-स्रोतो मे दोहरा रिसाव है। ग्राम समाज इस सहायक धधे के जरिये जो कुछ आमदनी कर पाता था, उससे वह हाथ धो बैठा। इससे भी अधिक यह कि उसे अन्यत्र उत्पादित वस्त्र की खरीद के लिए, जिसके उत्पादन मे उसका कोई हिस्सा नही रहा, नकद की आवश्यकता पडी। अतएव विनोबाजी का विचार है कि ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था को पुनस्स्थापित करने के लिए गॉव की भूमि के साम्य-मूलक वितरण कार्यक्रम के साथ बुनियादी उद्योग के रूप मे हाथ कताई और हाथ बुनाई का पुनरुद्धार करना एक परमावश्यक अग होना चाहिये।

जन-शक्ति का लाभदायक उपयोग

आचार्य विनोबा भावे के अनुसार जिस प्रकार स्वेच्छा-पूर्वक साम्य-मूलक भूमि-वितरण के लिए एक आन्दोलन—भूदान आन्दोलन—है ठीक वैसे ही अर्थ-व्यवस्था को एक औद्योगिक अभिनति अथवा झुकाव प्रदान करने के लिए उन सभी व्यक्तियो के लिए मुफ्त बुनाई करवाने की व्यवस्था होनी चाहिये जो कातते है। ग्राम समाज को कुछ मामूली वास्तविक बधे खर्च देने पर अपनी आवश्यकता का कपडा सूत की कीमत पर मिल जायेगा। खुद कातने-वाले को तो यह खर्च भी नही देना पडेगा। इस प्रकार के कदम का तिहरा प्रभाव पडेगा। प्रथम, यह अधिकाधिक लोगो को अपने इस्तेमाल के लिए कातने को प्रेरित कर सकेगा, इससे कपडे का स्थानीय बाजार विस्तृत होगा, और अन्तिम, इससे ग्राम समुदाय उन व्यक्तियो के लिए जो वर्ष मे कई महीने अथवा दिन मे अधिकाश समय बिना काम के रहते है,उत्पादक काम का सगठन करने मे समर्थ बनेगा। तब ग्राम समाज, जन-शक्ति का परिपूर्णत लाभदायक रूप मे उपयोग करने का काम हाथ मे ले सकता है। इस प्रकार जबर्दस्ती की निष्क्रियता को जड से काटा जा सकेगा, जोकि समाज-व्यवस्था मे एक क्षयकारी शक्ति है। इस प्रकार उपदानित बुनाई का सूतकार और बुनकर को प्रत्यक्ष तथा शेष समाज को परोक्ष लाभ प्राप्त होगा।

उत्पादन-स्तर पर उपदान, बिक्री-स्तर पर की छूट का स्थान लेता है। लेकिन उपदान का लागत पर प्रभाव इस प्रकार का होगा कि अन्य सब खर्च जैसे-के-तैसे रहते हुए भी उत्पादन का बिक्री-मूल्य कम हो। इस प्रकार शहरी ग्राहको को उसी कीमत पर खादी मिलती रहेगी जिस पर अब तक मिलती रही है, और इस आधार पर बिक्री मे कोई कमी नही आनी चाहिये, क्योंकि खादी

के मूल्य मे कोई वृद्धि नही होगी। और फिर, अधिक अनुदान के लिए जन-कोष मे कोई अतिरिक्त माँग नही की जायेगी, क्योकि आवश्यक सहायता के परिमाण का अनुमान उतना ही है जितना कि फिलहाल। हॉ, उत्पादन विस्तार से अवश्य परिव्यय बढ सकता है।

इस भय मे कोई विशेष दम नही है कि उत्पादन स्तर पर उपदान देने से भ्रष्टाचार की गुजाइश बढ जायेगी। यह सच है कि जिन केन्द्रो पर उपदान दिया जायेगा, उनकी सख्या बिक्री-केन्द्रो की सख्या से ज्यादा होगी। फिर भी, उपदान के भुगतान पर नियत्रण रखना अथवा हिसाब-किताब की जॉच करना अब की अपेक्षा कोई ज्यादा कठिन नही होगा।

सामाजिक सुरक्षा

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका उद्देश्य है खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रस्तावित नव सस्कृत खादी कार्यक्रम का एक युक्तियुक्त विवरण प्रस्तुत करना। जैसा कि एक पत्र मे कहा गया है उसके विपरीत, खादी आज मात्र 'निष्ठा' की चीज नही है, और न ही वह जैसा कि एक अन्य पत्र ने कहा है, "एक अपव्ययपूर्ण तथा अनुत्पादक कार्यक्रम है, जिसमे करदाता का पैसा बर्बाद किया जा रहा हो।" पिछले दस वर्ष मे—भूतकाल मे अखिल भारत चरखा सघ द्वारा की गयी अमूल्य सेवाओ के अतिरिक्त—जो सफलताएँ प्राप्त की गयी है वे खादी ने, हमारे विदेशी शासको की आर्थिक नीतियो तथा अनियत्रित औद्योगीकरण की चोट से बुरी तरह घायल देहाती क्षेत्रो के एक बुनियादी उद्योग को जिन्दा रखते और पुन अनुप्राणित करते हुए, राष्ट्र की प्रगति मे जो योगदान दिया है उसका प्रमाण है।

पूर्ण तथा अर्ध बेकारी की समस्याएँ आज उस वक्त से भी भयानक है जब महात्मा गाधी ने ४५ वर्ष पूर्व खादी उद्योग के पुनरुद्धार निमित्त कार्यक्रम बनाया था। इस प्रकार की बेरोजगारी मे राहत पाने के लिए अन्य देशो ने अधिक खर्चीली योजनाएँ चलायी है। उद्योगो मे सगठित श्रमिको के सीमित अश को छोड कर हमारे यहाँ ऐसी कोई सामाजिक सुरक्षा योजना नही है कि उसके अन्तर्गत बेरोजगारी मे राहत देने की कोई व्यवस्था हो। सामाजिक सुरक्षा की एक परिपूर्ण योजना के अभाव मे, इस आन्दोलन को आगे बढाने के लिए नियत धन राशि को एक अन्य प्रकार की सामाजिक सुरक्षा योजना पर खर्च रकम के रूप मे देखना चाहिये, जिसके अन्तर्गत आबादी का एक बहुत बडा नाजुक हिस्सा आता है तथा उसका तब तो और भी अधिक स्वागत होना चाहिये जबकि वह योजना उनको दान देने के स्थान पर काम देकर सहायता करती हो।

बम्बई, १२ मार्च १९६४

किसी पिछड़े देश के जडता रूपी अवरोधो पर काबू पाने, जन-मानस को प्रज्ज्वलित करने और लोक-शक्ति को आर्थिक विकास में प्रयुक्त करने के लिए साधन-स्रोतो के बेहतरीन वितरण तथा कम दाम मे रोटियाँ प्रदान करने के वादो से भी बढ कर तेज दवा की जरूरत है। ऐसी अवस्थाओ में व्यापारी वर्ग तथा दुस्साहसी उद्यमियो को भी उच्च लाभ की बनिस्पत कोई अधिक शक्तिशाली प्रेरणा देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। रोजमर्रा के 'रूटीन' और अन्य-मनष्कता के पहाड को पार करने के लिए विश्वास की आवश्यकता है—सन्त साइमन के शब्दो में उस विश्वास की कि 'सोने के अण्डे आदमी के पीछे नहीं, आगे है।'

—अलेक्जेण्डर गरशेक्रोन *इकनॉमिक बैकवर्डनेस इन हिस्टोरीकल पर्सपेक्टिव*, दि बेल्कनाप प्रेस, कैम्ब्रिज, मॅसॅच्युसेट्स।

ग्रामोद्योगों के लिए मध्यम प्रौद्योगिकी*

त्रिभुवन नारायण सिंह

मध्यम प्रौद्योगिकी कोई स्थिर प्रतिमान नहीं है। वह एक चर औसत से अधिक मिलती है, जो एक आगे बढ़ रहे समाज में प्राविधिक परिवर्तन-दर को प्रतिबिम्बित करती है। बढ़ती हुई अपेक्षाओं और नयी पीढ़ी के लोगों में अपने पुश्तैनी धन्धों के प्रति कोई विशेष रुचि न होने की वजह से मध्यम प्रौद्योगिकी को एक बड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ेगा। इसे सस्ती और उत्पादक दोनों प्रकार की होना पड़ेगा कि विनियोजन के लिए अधिक बचत की मॉग न करे तथा साथ ही स्वीकार्य अर्थात् समुचित आय भी प्रदान कर सके।

लघु उद्योगों और खास कर ग्रामोद्योगों के लिए प्रौद्योगिकी (टेक्नोलोजी) के उपयुक्त स्तर की समस्या पर सोचने तथा चर्चा करने की दिशा में इस बैठक का एक विशेष महत्व है। योजना आयोग द्वारा नियुक्त ग्रामीण उद्योग समिति और उसकी स्थायी समिति एक वर्ष से अधिक हो गया कि इस विषय पर ध्यान दे रही है। इसके विभिन्न पक्ष परीक्षण और सामान्य विचार-विमर्श के लिए सामने आये हैं। अनिवार्यतः चर्चा को सामान्य विचार और मोटा-मोटी उपागम से आगे बढ़ा कर ठोस विस्तृत बातें तैयार करने तथा व्यावहारिक प्रयोग के सवालातों तक लाना आवश्यक था। विचार की परिशुद्धता प्राप्त करने और तद्विषयक विभिन्न बातों को गहराई से समझने, परखने के लिए यह महसूस किया गया कि एक छोटे, लेकिन विशिष्ट समूह में गहन विचार-विमर्श करना आवश्यक है।

ग्रामीण रोजगारी के लिए कार्यक्रम

देश में बेरोजगारी की दुर्दम समस्या के समाधान के प्रति अपने उपागम में योजना आयोग ने दो बहुत ही महत्वपूर्ण कार्यक्रमों की कल्पना की है। प्रथम कार्यक्रम गॉवों में उपलब्ध निष्क्रिय जन-शक्ति का उपयोग करते हुए सामूहिक सम्पत्ति का निर्माण करने से सम्बन्धित है। दूसरे कार्यक्रम में इस बात का सुझाव है कि 'मध्यम प्रौद्योगिकी' (इण्टरमीडियट टेकनोलॉजी) अपनाते हुए देहाती क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना की जाय। प्रथम कार्यक्रम इस विचार पर आधारित है कि लोगों की बहुत बड़ी तादाद का बेरोजगारी की हालत में होना मौसमी स्वरूप का है और वह उत्पादक कामों में लगने की प्रतीक्षा में है। इसलिए जिन इलाकों को पिछड़े क्षेत्र समझा जाता है, उनमें विस्तृत निर्माण कार्यक्रम चलाने का परिणाम यह निकलेगा कि गॉवों में कम से कम वर्ष में एक सौ दिन बेरोजगार व्यक्तियों को काम मिल सकेगा। ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम का उद्देश्य है ग्राम्य क्षेत्रों में लोगों को काफी तादाद में पूर्ण रोजगारी प्रदान करना और, इस प्रकार हमारे लाखों-करोड़ों ग्रामवासियों का जीवन सार्थक बनाना तथा फलस्वरूप उन्नत उत्पादन तकनीकें अपना कर मानव एवम् सामग्री के रूप में उपलब्ध साधन-स्रोतों का अधिक लाभदायक रूप में उपयोग करना।

यहॉ यह समझ लेना चाहिये कि यद्यपि दोनों ही कार्यक्रमों से ज्यादा रोजगारी प्रदान करने की अपेक्षा की जाती है तथापि, पूर्ण रोजगारी स्वयम् में कोई साध्य नहीं, बल्कि साध्य तक पहुँचने का साधन है, और वह साध्य है अधिक राष्ट्रीय उत्पादन तथा आर्थिक विकास

* दिनांक २ जनवरी १९६४ को हैदराबाद में सम्पन्न मध्यम प्रौद्योगिकी सम्बन्धी कार्यकारी दल की बैठक में दिये गये उद्घाटन भाषण से। विचार-गोष्ठी का आयोजन हैदराबाद स्थित लघु उद्योग विस्तार प्राशिक्षण संस्था ने किया था। गोष्ठी २ से ४ जनवरी तक चली।

की तीव्र गति हासिल करना। ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम के सम्बन्ध मे यह बात विशेष रूपेण सच है। जिस प्रकार के काम मे भारत के गरीबों की रुचि है, वह ऐसा काम है जिससे अधिक काम और ज्यादा रोजगारी को प्रश्रय मिले, इस तरह के काम मे नही जो कुछ समय बाद बन्द हो जाय। इसलिए योजना आयोग देश भर के चुनिन्दा क्षेत्रों में चल रही मार्गदर्शी परियोजनाओ को सर्वाधिक महत्व देता है, क्योंकि यदि ये परियोजनाएँ सफल रही तो उनसे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का कायाकल्प होना चाहिये।

श्रेष्ठ प्रौद्योगिकी

आज गाँव का कोई बेरोजगार व्यक्ति आंशिक काम अथवा कम पारिश्रमिक मे भी सन्तुष्ट नही होगा। उसे एक उपयुक्त आय का आश्वासन मिलना ही चाहिये। और इसके लिए उच्च उत्पादन स्तरवाली बेहतरीन प्रौद्योगिकी का होना आवश्यक प्रतीत होता है। इस कार्यक्रम का प्रत्यय वचन होना चाहिये 'श्रेष्ठ प्रौद्योगिकी के जरिये अधिक उत्पादन और पूर्ण रोजगारी।' हमे निवेश अवरोधक गरीबी और गरीबी को स्थायी बनानेवाले निम्न विनियोजन के दुष्चक्र को मिटाना होगा। मेरे विचार से ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम यदि सफल हुआ तो उससे इसका समाधान मिलना और यह दुष्चक्र मिटना चाहिये।

लघु उद्योगो के क्षेत्र मे 'मध्यम प्रौद्योगिकी' का सम्बोध एक माने मे नया है और उसके निहितार्थो को समझना अभी बाकी है। अभी तक वह व्यावहारिक उपयोग मे नही आया है और आयोजक तथा नीति निर्धारक वर्ग की प्रामाणिकता के बिना अगर उसे प्रचलित किया गया तो उसकी ओर नजरे उठ सकती है। मुझे इसमें सन्देह नही कि आप लोग इस कार्यकारी दल मे अपने विचार-विमर्श के प्रारम्भिक स्तर पर इस 'पद' को यथार्थ गुणार्थ प्रदान करेगें और हमारे सामने जो समस्याएँ है उनके विश्लेषण मे इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालेगे। 'मध्यम' शब्द समोत्कर्ष रूप मे एक सापेक्षिक 'पद' है तथा एक ओर वह किसी उच्च अथवा उन्नत और दूसरी तरफ किसी निम्न अथवा पिछडी हुई चीज से जुडा हुआ है। अत आप के लिए इन तीनो 'पदो' पर एक साथ विचार करना और भारत मे पाई जानेवाली अवस्थाओ के सदर्भ मे 'मध्यम' शब्द की सीमा परिभाषित करना आवश्यक हो सकता है।

मै परिभाषाओ का पुजारी नही हूँ, क्योकि मै उन्हे विचारोपकरण समझता हूँ। बाल की खाल निकाल कर उन्हे इतना परिष्कृत नही कर देना चाहिये कि व अपना व्यावहारिक प्रभाव ही खो बैठे। अगर कोई परिभाषा न हो तो एक काम चलाऊ परिभाषा निश्चय ही अच्छी है, लेकिन इसके साथ ही वह काम चलाऊ परिभाषा एक बहुत ही परिष्कृत और शास्त्रीय परिभाषा के प्राय समान ही होता है।

ग्रामीण उद्योग परियोजनाएँ

तथापि, मै इस विषय के एक भिन्न पक्ष का जिक्र करना चाहूँगा, जोकि मेरी दृष्टि में बहुत ही महत्वपूर्ण है। लगभग एक वर्ष पूर्व योजना आयोग ने ग्रामीण उद्योग परियोजना कार्यक्रम प्रवर्तित किया था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु उद्योगो के सघन विकासार्थ देश के सभी १५ राज्यो और चार केन्द्र प्रशासित क्षेत्रो मे ४५ क्षेत्रो का चुनाव किया गया। इनमे से प्रत्येक परियोजना क्षेत्र के अन्तर्गत तीन से पाँच तक विकास खण्ड आते है। इन परियोजनाओ का मुख्य उद्देश्य था क्षेत्रीय-प्रत्यक्ष-अनुभव के जरिये ग्रामीण औद्योगीकरण के देशव्यापी कार्यक्रम के लिए आधार ढूढ निकालना। इस प्रयास के पीछे निहित विचार यह है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का कृषि-औद्योगिक सन्दर्भ मे विकास किया जाय, उसका आधार विस्तृत किया जाय कि उसमे लघु उद्योग शामिल किये जा सकें और यह कि कृषि क्षेत्र से बाहर काम के अवसरों का निर्माण करने के लिए भूतकाल मे जैसे प्रयास सम्भव थे, उनसे अधिक सोद्देश्य प्रयास किये जाये। औद्योगिक विकास की सम्भाव्यताओ का पता लगाने और विकास कार्यक्रम तैयार करने के लिए

पिछले वर्ष के पूर्वार्द्ध मे बडी तीव्र गति से सर्वेक्षण किये गये। सर्वेक्षणो के मालूमातो और निष्कर्षो पर जुलाई १९६३ मे योजना आयोग द्वारा आयोजित दो सम्मेलनो मे विचार किया गया तथा तत्पश्चात् राज्य सरकारो से कार्यक्रम बनाने एवम् कार्यान्वित करने के लिए कहा गया। कुछ राज्यो मे यह काम शुरू हो चुका है।

प्रौद्योगिकी के स्तर का चयन

ग्रामीण उद्योग परियोजनाओ के लिए प्रस्ताव तैयार करने से पूर्व खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, सामुदायिक विकास औद्योगिक मार्गदर्शी परियोजनाओ तथा ग्राम व लघु उद्योगो सम्बन्धी अन्यान्य कार्यक्रमो के जरिये अर्जित ज्ञान एवम् अनुभव का पूर्ण लाभ उठाया गया। फिर भी, यह स्वीकार किया गया कि ग्रामीण औद्योगीकरण मे कठिनाइयॉ तथा समस्याएँ है और प्रारम्भिक तौर पर उसे प्रायोगिक पैमाने पर चलाया जायेगा। एक प्रमुख सवाल यह था कि हमारा जो वर्तमान विकास स्तर है, उसमे ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु उद्योगो के लिए किस प्रकार की और किस स्तर की प्रौद्योगिकी अपनायी जाय।

मै इस बात पर जोर देना चाहूँगा कि प्रौद्योगिकी विषयक सवालातो को आर्थिक तथा सामाजिक सन्दर्भ से अलग करके, उन्हे अलगाव की स्थिति मे रख कर विचार नही किया जा सकता। जिस ढग की प्रौद्योगिकी हमे अपनानी हो उस पर जिस ढग का समाज हम निर्मित करना चाहते है, उससे अलग करके नही सोचा जा सकता। सामाजिक पुर्ननिर्माण का मोटा-मोटी उपागम हमे अपने सविधान, राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त, औद्योगिक नीति विषयक प्रस्ताव, समाजवादी ढग के समाज के सिद्धातो और पच वर्षीय योजनाओ के उद्देश्यो मे मिलता है। उनमे निहित बाते सर्व विदित है और उन पर पुन. कुछ कहने की शायद ही जरूरत हो। फिर भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या चित्र पर्याप्त रूपेण स्पष्ट है और क्या यह कार्यकारी दल अन्य कोई सवाल उठाये बिना ठोस मान्यताओ के साथ आगे बढ सकता है?

उदाहरण के लिए उद्योग के विकेन्द्रित विकास का सवाल अभी तक पूर्ण रूप से हल नही किया जा सका है कि किस पैमाने पर और किन उद्योगो मे इस प्रकार का विकास किया जाना चाहिये तथा क्या समूची अर्थ-व्यवस्था देश भर के सहस्रो गॉवो एवम् शहरो मे विस्तृत रूप से फैली हुई उद्योगो की छोटी-छोटी कार्य-क्षम इकाइयो पर आधारित होनी चाहिये? इस प्रश्न के प्रति वर्तमान उपागम 'सामान्य उत्पादन कार्यक्रम' के अर्थात् दीर्घ अथवा केन्द्रित विभाग और लघु अथवा विकेन्द्रित विभाग के सह-अस्तित्व की स्थिति के अनुरूप है। इस सम्बन्ध मे १९५६ के औद्योगिक नीति विषयक प्रस्ताव का यह अश यहॉ प्रस्तुत करना प्रासगिक होगा "राज्य दीर्घ स्तरीय विभाग का उत्पादन सीमित रखते अथवा विभेदात्मक कराधान लगाते या प्रत्यक्ष उपदान देते हुए कुटीर तथा ग्राम और लघु उद्योगो को मदद देने की नीति का अनुसरण कर रहा है। जबकि इस प्रकार के उपाय–जहॉ-कही आवश्यक हुआ–काम मे लाये जाते रहेगे, वहॉ राज्य नीति का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना होगा कि विकेन्द्रित विभाग अपने पैरो पर खडा होने के लिए पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर ले तथा उसका विकास दीर्घ स्तरीय उद्योगो के विकास के साथ सुसयोजित हो। इसलिए राज्य लघु स्तरीय उत्पादक की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति मे सुधार के लिए बने उपायो पर अपना ध्यान केन्द्रित करेगा। इसके लिए उत्पादन तकनीको मे सुधार करना और उन्हे आधुनिक स्वरूप देना, यथा सभव प्रौद्योगिक बेरोजगारी से बचने के लिए रूपान्तरण की गति नियत्रित रखना परमावश्यक है।"

मध्यम प्रौद्योगिकी

लघु उद्योगो को प्रोत्साहन देने की सोद्देश्य नीति के इन तत्वो पर पच वर्षीय योजनाओ मे भी जोर दिया गया है। यह सवाल पूछना और उसका उत्तर देना सगत होगा कि उस समाज मे किस प्रकार की प्रौद्योगिकी का अपनाया जाना उपयुक्त होगा, जो वैसे पारिश्रमिक पर अपने गॉवो तथा कस्बो मे अधिकाधिक गैर-खेतिहर रोजगारी

का निर्माण करना चाहता है, जो एक उपयुक्त जीवन स्तर बनाये रखने तथा कुछ बचत भी करने के लिए योग्य हो। प्रौद्योगिकी स्तर और जन-शक्ति के परिपूर्ण उपयोग के सम्बन्ध का अध्ययन करना एक सम्बद्ध पहलू होगा।

यहाँ मै उपागम के एक अन्य प्रकार का जिक्र कर सकता हूँ, जिस पर सम्भवत अपनी चर्चा के दौरान आप विचार करना पसद करे। यह स्वयम् सिद्ध है कि एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था और परिवर्तनशील समाज मे प्रौद्योगिकी के स्तरो मे भी अनवरत परिवर्तन होते है। इसका मतलव ह कि 'मध्यम प्रौद्योगिकी' कोई स्थिर प्रतिमान नही है, यह एक चर औसत से अधिक मिलती है, जो एक आगे बढ रहे समाज मे प्राविधिक परिवर्तन दर को प्रतिबिम्बित करती है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'मध्यम प्रौद्योगिकी' एक तरल विचार जैसी वस्तु लग सकती है, उसे कोई निश्चित स्वरूप नही दिया जा सकता कि यही 'मध्यम प्रौद्योगिकी' है तथा उसे निरन्तर नया स्वरूप देते रहने की आवश्यकता है। इस सम्बोध की दीर्घ कालीन दृष्टि से उपयोगिता रहेगी अथवा नही, यह इस बात पर निर्भर है कि इसे किन तत्वो अथवा विशिष्टताओ मे कसा एवम् परिभाषित किया जाता है।

प्रौद्योगिकी, निवेश व पारिश्रमिक

एक साधारण विशिष्टता यह सुझायी गयी है कि प्रति कार्य स्थल पर उपकरणो पर कितना पैसा लगता है। ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति को भेजे गये अपने 'पेपर' मे डाक्टर ई एफ शमेखर (Schumacher) ने एक काम चलाउ ओसत १,००० रुपया सुझाया है। उन्होने यह अक विस्तृत ग्रामीण औद्योगीकरण की विशालता और अध्ययन के लिए प्रारभिक बिन्दु के तौर पर सुझाया है।

जहाँ कुछ उद्योगो मे अचल पूजी निवेश प्रौद्योगिकी स्तर का एक अच्छा निर्देशक है, वहाँ मुझे ऐसा लगता कि कुछ अन्य उद्योगो मे सचालन पूजी कितनी ही अधिक महत्वपूर्ण है तथा उसकी अवहेलना नही की जा सकती। यहाँ तक कि प्रति कार्य-स्थल अथवा प्रति कर्मी विनियोजित पूजी की कुल रकम भी हो सकता है सन्तोषप्रद कसौटी प्रदान न कर सके, यदि उससे प्राप्त पारिश्रमिक दर न्यूनतम के अनुरूप न हो, जोकि व्यक्ति को अपनी बचत का अथवा विकल्प स्वरूप सरकार, किसी बैकिंग सस्था, साहूकार या मित्र से उधार लेकर विनियोजन करने को प्रेरित करेगा। अनेक बेरोजगार आदमियो का उस उद्योग मे काम करने के लिए तैयार न होने की सम्भावना को टाला नही जा सकता, जिसमे उन्हे अपनी अपेक्षा के अनुरूप पारिश्रमिक न मिले, फिर चाहे उस उद्योग मे उन्हे अपना खुद का कुछ भी विनियोजन न करना पडे। बढती हुई अपेक्षाओ और नयी पीढी के लोगो मे अपने पुश्तैनी धधो के प्रति वे कम आय देनेवाले होने की वजह से कोई विशेष रुचि न दिखायी देने के कारण 'मध्यम प्रौद्योगिकी' को एक कठिन परीक्षा मे उत्तीर्ण होना पडेगा। इसे सस्ती और उत्पादक दोनो प्रकार की होना पडेगा कि विनियोजन के लिए अधिक बचत की माँग न करे तथा साथ ही स्वीकार्य अर्थात समुचित आय भी प्रदान कर सके।

प्रत्येक उद्योग व क्षेत्र के लिए

इस प्रकार की प्रौद्योगिकी की क्षमता के सामने एक ओर स्तरीय रोजगारी प्रदान करने तथा दूसरी ओर पर्याप्त रूपेण उत्पादक होने की उतनी ही कडी परीक्षा और है। सम्भवत हो सकता है कि कौशल उपलब्धि को 'मध्यम प्रौद्योगिकी' का निर्धारण करने मे एक अनिवार्य तत्व के रूप मे स्वीकार करना आवश्यक न हो, क्योकि विस्तृत कार्यक्रम के जरिये कौशल-प्रशिक्षण दिया जा सकता है, लेकिन लघु काल मे ग्रामीण क्षेत्रो मे कौशल-स्तर ऐसा है, जिस पर ध्यान दिये बिना नही रहा जा सकता। दूसरा प्रासगिक पक्ष है देश के भीतर ही 'मध्यम प्रौद्योगिकी' के अनुरूप उपकरणो का निर्माण करने की सभावना, क्योकि स्पष्टत एक व्यापक व विशाल ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम यत्रो तथा उपकरणो के दीर्घ स्तरीय आयात पर निर्धारित नही किया जा सकता।

ये विशिष्टताएँ अथवा तत्व 'मध्यम प्रौद्योगिकी' के लिए मात्र रूप-रेखा ही प्रस्तुत करते है। मुख्य बात तो अगर

यह प्रौद्योगिकी कही है तो उसे पहचानने और ढूंढ निकाले तथा अगर नही है तो उसकी डिजाइन बना कर एवम् निर्माण करके प्रतिष्ठापित करने की है। दोनो ही मामलो मे विस्तृत क्षेत्र मे प्रयास करने पडेगे और वह भी प्राविधिक सम्भाव्यताओ की घबरा देने वाली विथिका के साथ। प्रत्येक उद्योग और क्षेत्र के लिए 'प्रौद्योगिकी' का स्तर पहचानना, ढूंढना अथवा निर्मित करना होगा। असख्य सचय तथा क्रमचय करने पडेगे। इस तथ्य से और भी जटिलता पैदा हो सकती है कि कुछ उद्योगो मे 'मध्यम प्रौद्योगिकी' का सवाल हो सकता है उपकरणो के इस्तेमाल का उतना न हो जितना कि नयी प्रक्रिया के अथवा उत्पादक सघटको के भिन्न सचय के उपयोग का। तथापि, मै यह कदापि नही सुझाना चाहता कि इस काम की कोई कीमत नही है और इससे योग्य तकनी ो को अपने प्रयासो का प्रतिफल नही मिलेगा।

सघन अन्वेषण आवश्यक

बडे-बडे कामो की शुरूआत कभी-कभी मामूली हुआ करती है और हो सकता है कि कार्यकारी दल शायद चयनकारी उपागम अपनाना पसन्द करे तथा इस सम्बन्ध मे प्रारम्भ के तौर पर सघन अध्ययन के लिए कुछ उद्योगो व क्षेत्रो का चुनाव करे। ये उद्योग ऐसे हो सकते है, जिनका ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम की प्रारम्भिक अवस्था मे प्रमुख स्थान होनेवाला हो। चुनिन्दा उद्योगो मे व्यवहृत उपकरणो तथा प्रक्रियाओ, प्रति नियुक्त व्यक्ति पजी विनियोजन, प्रयुक्त कौशल के स्तर, पारिश्रमिक आदि के सम्बन्ध मे आकडे इकट्ठे करने के लिए गहन अध्ययन व अन्वेषण करना आवश्यक हो सकता है। उद्देश्य होगा 'मध्यम प्रौद्योगिकी' के सर्वाधिक निकट प्रौद्योगिकी की खोज, फिर उसकी परिभाषा चाहे जो भी हो। यदि इस प्रकार की प्रौद्योगिकी उपलब्ध हो तो उस अवस्था मे अगला कदम होगा उपकरणो को लोकप्रिय बनाना तथा उनके परिमाण मे वृद्धि करना। यदि प्रौद्योगिकी नही हुई तो वैसी अवस्था मे उपकरणोत्पादन अथवा प्रक्रिया निर्माण की समस्या पर अभियताओ, वैज्ञानिको और औद्योगिक नमूनाकारो (डिजाइनर) का मत जानना होगा। द्वितीय अवस्था मे दो वैकल्पिक उपागम हो सकते है या तो लघु उद्योगो के लिए नये उपकरणो के नमूने तैयार करके उनका निर्माण किया जा सकता है अथवा फिर बडे उद्योगो मे प्रयुक्त उपकरणो का छोटा रूप तैयार किया जा सकता है अथवा लघु स्तरीय उत्पादन के लिए उपयोगार्थ उन्हे अनुकूल बनाया जा सकता है। मात्र उदाहरण के तौर पर मै यह कह सकता हूँ कि रद्दी सामग्री के उपयोग, रेशा प्रशोधन तथा तकुआ इकाई बनाने की सभाव्यताएँ है। वस्तुत यह कार्य मनोहरी तथा चुनौतीपूर्ण दोनो प्रकार का है।

इस काम मे वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसधान परिषद, राष्ट्रीय प्रयोगशालाओ, आविष्कार प्रोत्साहन मण्डल, प्रौद्योगिकी सस्था तथा इजीनियरिग कालेज और विश्वविद्यालयो सहित अनेक सगठनो का ध्यान और कर्मचारियो को लगाना पडेगा। अर्थशास्त्रियो, समाजशास्त्रियो, इजीनियरो तथा वैज्ञानिको का सहकार प्राप्त करना होगा। ●

हमारे नये टेलीफोन नम्बर

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के विले पार्ले (बम्बई) स्थित केन्द्रीय कार्यालय के टेलीफोन नम्बर बदल गये है। नये टेलिफोन नम्बर इस प्रकार है ५७१३२४, ५७१३२५, ५७१३२६, ५७१३२७, ५७१३२८ और ५७१३२९।

लघु उद्योगों के लिए प्रौद्योगिकी*

दया कृष्ण मल्होत्रा

समुचित प्रौद्योगिकी क्षेत्र, उद्योग तथा विशेष परिस्थितियो के अनुसार उन्नत, मध्य या निम्न स्तरीय हो सकती है। बहुत से लघु उद्योगो पर ग्रामीण क्षेत्रो में जिनकी वृद्धि की सम्भावनाएं है, विशेष खोज के लिए एक छोटा विश्लेषण तथा अनुसधान केन्द्र स्थापित किया जा सकता है और वहा के परिणामों को सिर्फ आयोजक और नीति निर्धारक सस्थाओ के बीच ही नहीं, बल्कि एक प्रौद्योगिक सूचना और विस्तार सेवा केन्द्र के जरिये औद्योगिक सस्थाओं तथा निजी क्षेत्र के छोटे उद्योगपतियो के बीच भी प्रसारित किया जा सकता है।

उद्योग, छोटा हो या बडा, बुनियादी तौर पर कच्चे मालो का रूप-परिवर्तन है और उसमे जो प्रक्रिया होती है, उससे कच्चे माल की उपयोगिता बढ जाती है। कच्चे माल को किसी अन्य रूप मे बदल देने का कोई दूसरा दैवी या गैबी तरीका नही है। यह परिवर्तन इसलिए आवश्यक है कि उपभोक्ता तैयार वस्तुओ को अधिक उपयोगी पाता है और उसके लिए अधिक मूल्य देने को राजी होता है। ग्रामीण (या शहरी) क्षेत्रो मे उद्योगो की स्थापना के औचित्य का आधार उपभोक्ताओ की यही माँग होनी चाहिये, न कि ग्रामीण (या शहरी) औद्योगीकरण की कोई तुनुकमिजाजी, शौक या नारे-बाजी। रूप-परिवर्तन की प्रक्रिया, कितनी दक्षता और मितव्ययिता के साथ चलायी जाती है, यह निर्भर करता है इस बात पर कि किस तरह की प्रौद्योगिकी (टेकनोलॉजी) अपनायी गयी है। यह प्रौद्योगिकी उच्च, मध्यम और प्रारम्भिक कोई भी हो सकती है। यह स्पष्ट है कि अगर कोई दूसरी समस्याएँ नही है, तो सर्वाधिक दक्ष और आर्थिक तौर पर दुरुस्त प्रौद्योगिकी अपनायी जा सकती है। किन्तु रोना भी तो यही है कि अन्य समस्याएँ भी है और वैसी अवस्था मे सर्वाधिक आसान और पूर्णत तर्क सगत समाधान कोई आवश्यक नही कि सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक व्यावहारिक ही हो।

पहली बात, हो सकता है कि सर्वाधिक उन्नत प्रौद्योगिकी को अपनाने के लिए पर्याप्त पूँजीगत साधनो की उपलब्धि न हो। प्रत्येक प्रकार की प्रौद्योगिकी के लिए कुछ न कुछ विनियोजन की आवश्यकता पडती है और अधिक उन्नत तथा जटिल के लिए तो आम तौर मे बडे विनियोजन की आवश्यकता होती है। अगर उपलब्ध पूजीगत साधन इतने पर्याप्त नही है कि उन्नत प्रौद्योगिकी का उपयोग वहन कर सके तो यह स्वाभाविक है कि देश को कुछ नीचे स्तर की प्रौद्योगिकी अपनानी पडगी, जो बहुत ही निम्न स्तर की या बद्तर किस्म की न हो। ग्रामीण क्षेत्रो मे छोटे उद्योगो के लिए प्रौद्योगिकी पर विचार करने मे सबसे बडा सवाल उठता है कि किसी खास किस्म की प्रौद्योगिकी को वहन करने के लिए क्या पूँजीगत साधन उपलब्ध है?

कृषि से सम्बन्ध

पर्याप्त पूँजीगत साधनो की उपलब्धि अगर हो भी गयी तो इस सिलसिले मे दूसरा सवाल उठेगा कच्चे माल की उपलब्धि का। यत्रो को साल भर चालू रखने के लिए अगर पर्याप्त कच्चा माल उपलब्ध है तो उन्नत प्रौद्योगिकी का चयन सबसे अच्छा होगा। किन्तु इसके विपरीत, किसी क्षेत्र मे उपलब्ध कच्चा माल अगर महज चन्द दिनो के उपयोग भर का हो तो उन्नत प्रौद्योगिकी अपनाने से ऐसी समस्याएँ उठेगी कि यत्र बन्द हो जायेगे और उसके परिणाम-स्वरूप कर्मचारियो एवम् व्यवस्था के समक्ष भी कोई काम करने को नही रहेगा। चूँकि ग्रामीण क्षेत्रो मे कच्चे माल की प्राप्ति अधिकाशत कृषि और पशु-पालन से होगी, इसलिए कच्चे माल की प्राप्ति का विस्तार निर्भर करेगा कृषि-पशु-पालन सघटन की प्रौद्योगिक दक्षता पर। इससे एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे छोटे उद्योगो की प्रौद्योगिकी पर कृषि-औद्योगिकी से अलग रह कर विचार नही किया जा सकता। लेकिन इस

---

* मध्यम प्रौद्योगिकी विषयक कार्यकारी दल की हैदराबाद मे २ जनवरी १९६४ को सम्पन्न बैठक मे प्रस्तुत 'पेपर'।

बात को कभी-कभी नजरदाज कर दिया जाता है या उसके महत्व को कम समझा जाता है। दोनो के बीच किसी प्रकार की समानता स्थापित करनी ही होगी, नही तो उन्नत या मध्यम प्रौद्योगिकी को उपयोग मे लानेवाले लघु उद्योगो के ढॉचे के निर्माण मे कृषि के साथ उनके सम्बन्धो मे वे ही दिक्कते और परेशानियॉ पैदा होगी जो गाडी खीचनेवाले बैलो की जोडी के स्थान पर स्वचलित इजन के आ जाने से बैल गाडियो के सम्बन्ध मे पैदा हो गयी है। इसीलिए मै इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि ग्रामोद्योगो के लिए प्रौद्योगिकी पर विचार करते समय कृषि व लघु उद्योगो की प्रौद्योगिकी के पारस्परिक सम्बन्धो पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

कच्चे माल का वितरण

यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि कई कृषिक कच्चे मालो के सम्बन्ध मे उनकी उपलब्धि का प्रश्न साधारण महत्व का है। कपास की जीनिग करनेवाली मिलो, सूती मिलो, चीनी मिलो, तेल मिलो तथा चटकलो की मौजूदगी से यही देखने मे आता है कि उन्नत प्रौद्योगिकी के उपयोग मे पूर्ति के लिए पर्याप्त कच्चा माल उपलब्ध है। लेकिन सवाल यह नही है कि कुछ क्षेत्रो मे माल की पूर्ति भरपूर है, बल्कि यह है कि जिस किसी खास क्षेत्र मे हम लघु उद्योगो को विकसित करना चाहते है, वहॉ पर्याप्त है या नही। अगर पर्याप्त है भी तो प्रश्न यह उठेगा कि वे उन्नत प्रौद्योगिकीवाले बडे यत्रो की पूर्ति के लिए जायेगे या कम उन्नत प्रौद्योगिकीवाले छोटे यत्रों की। दूसरे शब्दो मे, कच्चे मालो के वितरण की व्यवस्था होनी चाहिये, ताकि कम उन्नत प्रौद्योगिकीवाले लघु उद्योग अपनी भूमिका अदा करने मे समर्थ हो सके। तब प्रश्न यह उठेगा कि जब उन्नत प्रौद्योगिकी से माल तैयार कर सकते है तो कम उन्नत या मध्यम प्रौद्योगिकी का क्यो पक्षपात पूर्ण बढावा दिया जाय।

तब हमे सामाजिक आयोजन और नीति के मूल म जाना पडेगा। ऐसे समाज मे, जिसका नियमन औपचारिक योजनानुसार नही है, यह प्रौद्योगिकी अपनायी जाय या वह, स्वभावतया आर्थिक लागत के आधार पर सोची जा सकती है। जो प्रौद्योगिकी अधिक दक्ष और स्वीकार्य हो वह रहेगी और दूसरी किनारे हो जायेगी। उससे बेकारी, स्थानान्तरण, तकलीफे आदि जैसी सामाजिक समस्याएँ आ सकती है और स्वयम् आर्थिक प्रगति या राज्य के समाज कल्याण कार्यो के जरिये उनकी सुधि ली जा सकती है। किन्तु कुछ दूर तक यह भी हो सकता है कि उनकी कोई खबर न ली जाय और समस्याएँ बढती जाय। सुनियोजित समाज मे इन सारी स्थितियो का अन्दाज लगा लेना होता है और यथा सम्भव उनकी व्यवस्था करनी होती है। और, इस प्रकार व्याख्या मे हम ऐसे स्थल पर पहुँचते है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु उद्योगो के लिए प्रौद्योगिकी का चयन प्रौद्योगिकी के कुल सामाजिक मूल्यो पर निर्भर करेगा। इसके लिए एक मापदण्ड तैयार करना पडेगा— एक ऐसा मिश्रित सूचकाक, जिसके तैयार करने मे आर्थिक और सामाजिक तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष, समस्त मूल्यो पर विचार करना होगा।

इस संदर्भ मे मै अपनी उस प्रारम्भिक जॉच का उल्लेख करना चाहूँगा, जो कुछ साल पहले वस्त्रोद्योग मे विभिन्न किस्म की प्रौद्योगिकियो के सम्बन्ध मे मैने की थी। उत्पादन की ये पॉच श्रेणिया उस जॉच मे शामिल थी (१) कताई तथा बुनाई या मिश्रित मिलो मे बननेवाला कपडा, (२) मिल सूत से शक्ति चालित करघो पर बना कपडा, (३) मिल कते सूत से हाथ करघे पर उत्पादित कपडा, (४) अम्बर के सूत से उत्पादित खादी, तथा (५) पारम्परिक चरखे के सूत मे उत्पादित खादी। साधारण लागत जैसे कच्चा माल, मजदूरी तथा अन्य उत्पादन व्यय और उपशीर्षो के अतिरिक्त सामाजिक लागत के तत्व भी शामिल करके तुलनात्मक दृष्टि से उसे पूर्ण और सर्व सम्पन्न बनाने की कोशिश की गयी। सामाजिक लागत के जो महत्वपूर्ण तथ्य शामिल किये गये वे है विस्थापित और बेकार कर्मचारियो को बेकारी की सहायता की लागत और शहरी जमाव की लागत। यह मापने योग्य थे या कम से कम किसी प्रकार की माप ईजाद की जा सकी। अन्य तत्व, जैसे कि धधे मे या भौगोलिक स्थानान्तरण, बडे नगरो मे रहने तथा काम करनेवालो पर शैक्षणिक प्रभाव, अपने घर मे तथा गॉव मे काम करनेवालो का मनोवैज्ञानिक सतोष आदि, जिनके माप नही किये जा सकते, छोड दिये गये। ये सारे आकडे एक वक्तव्य के साथ प्रकाशित किये गये, जिसका एक स्वरूप नीचे उद्धृत है

लागत मद	सयुक्त मिल	मिल सूत मे शक्ति करघा बुनाई	मिल सूत से हाथ करघा बुनाई	अम्बर खादी	परम्परागत खादी
कच्चा माल					
मजदूरी					
क कताई					
ख बुनाई					
वितरण व्यय सहित उपशीर्ष					
बेरोजगारी राहत खर्च					
शहरी जमाव व्यय					
प्रति गज कपडे पर कुल व्यय					

इस सम्बन्ध के आकडो (या उसके उपसहार) को यहाँ देना आवश्यक नही है, क्योकि वे काफी पुराने हो गये है। किन्तु उक्त तरीके को उद्धृत करने मे खास बात यह है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु उद्योगो के लिए सही और समुचित प्रौद्योगिकी का निर्धारण करने के लिए जॉच का वह तरीका विचारणीय है।

समुचित प्रौद्योगिकी

मध्यम प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि जब तक उसकी सुरक्षा के रास्ते नही निकाल लिये जाते, इस बात का खतरा है कि मध्यम प्रौद्योगिकी को सत्य की तरह कल्पना मात्र समझा जायेगा और तब कोई व्यग से यह भी पूछेगा कि 'मध्यम प्रौद्योगिकी कौन सी बला है।' और, उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये चलता जायेगा। कुछ रूपो मे 'उपयुक्त प्रौद्योगिकी' और 'अनुकूलतम प्रौद्योगिकी' बेहतर प्रतीत होगी, क्योकि शब्दार्थो के अनुकूल उनका प्रयोजन है विकास के किसी खास क्रम या अवस्था से और उनकी उस स्थिति मे किसी तरह की घटती-बढती नही हो सकती। यह भी बात है कि उनका आधार किसी ऐसी अव्यक्त धारणा पर नही है कि समस्त ग्रामीण क्षेत्रो तथा उद्योगों के लिए मध्यम प्रौद्योगिकी ही, सही प्रौद्योगिकी होगी। क्षेत्र या उद्योग तथा स्थितियो मे यथानुकूल कोई भी प्रौद्योगिकी—उन्नत, मध्यम या निम्न—समुचित हो सकती है।

अन्तत इस सम्बोध के व्यावहारिक उपयोग पर ध्यान देना भी महत्वपूर्ण है— इसे मध्यम प्रौद्योगिकी कहिये या कोई भी दूसरा उपयुक्त नाम दीजिये। व्यावहारिक उपयोग के लिए अगर सम्बोध को ठोस रूप नही दिया गया तो यह प्रौद्योगिकी, आयोजको तथा नीति-निर्धारको के दराजो मे ही पडी रह जायेगी और प्रशासक इसको गौण कर देगे। इसके लिए एक छोटा विश्लेपण और अनुसधान केन्द्र स्थापित किया जा सकता है, जो कुछ ऐसे लघु उद्योगो के लिए विस्तृत विवरण तैयार करे, जिनकी ग्रामीण क्षेत्रो मे वृद्धि की सम्भावना हो। इस विश्लेषण और अनुसधान कार्य के परिणाम सिर्फ योजना बनानेवाले या नीति निर्धारित करनेवाले सस्थानो को ही नही, बल्कि छोटे-छोटे औद्योगिक प्रतिष्ठानो एवम् छोटे निजी उद्योगपतियो को भी एक प्रौद्योगिकी सूचना एव विस्तार सेवा केन्द्र के जरिये दिये जाये। उक्त दोनो केन्द्रो को ग्रामीण क्षेत्रो मे लघु उद्योग कार्यक्रम के आयोजन तथा कार्यान्विय मे लगे प्रतिष्ठानों के निकट सम्पर्क मे काम करना होगा।

विचारणीय तथ्य

१ ग्रामीण क्षेत्रो मे छोटे उद्योगो के लिए प्रौद्योगिकी के निर्धारण मे जिन विशेष महत्वपूर्ण तथ्यो पर विचार करना है, उनमे एक है पूँजी स्रोत व कच्चे मालकी प्राप्ति।

२ ग्रामोद्योग तथा कृषि व पशुपालन की प्रौद्योगिकी मे कुछ किस्म की समानता व परस्पर सम्बन्ध होना चाहिये।

३ अगर अधिक तथा कम उन्नत प्रौद्योगिकियो को किन्ही सामाजिक कारणो से देहातो मे साथ-साथ चलाना है तो कच्चे मालो के वितरण की योजना आवश्यक है।

४ प्रौद्योगिकी तथा प्राविधिक परिवर्तन की गति के प्रश्नो पर सम्पूर्ण सामाजिक लागत के रूप मे विचार करना तथा उनका निर्णय करना चाहिये।

५ प्रौद्योगिकी की सम्बद्धता के माप हेतु एक मिश्रित सामाजिक लागत सूचकाक तैयार करना चाहिये।

६ मध्यम प्रौद्योगिकी कोई अच्छा या उपयुक्त पर्याय नही है। उसकी जगह 'सही' 'समुचित' या 'अनुकूल' प्रौद्योगिकी सोचा जा सकता है।

७. 'समुचित प्रौद्योगिकी' को एक ठोस रूप दिया जाय, उसे माप के योग्य बनाया जाय तथा ऐसा सविन्यास किया जाय कि व्यावहारिक उपयोग मे लाया जा सके। इसके लिए विश्लेषण और अन्वेपण केन्द्र तथा प्रौद्योगिक सूचना और विस्तार सेवा केन्द्र की अवश्यकता पडेगी। ●

ग्रामीण औद्योगीकरण

पुतुपरम्बिल म. मथाई

ग्रामीण तथा अर्ध-शहरी क्षेत्रो मे उद्योगों का विकास करने से राज्य का उतना ही ताल्लुक होना चाहिए जितना कि कृषि-उत्पादन बढाने से है। ग्रामीण औद्योगीकरण के सुसयोजित विकास को बढावा देने के लिए कच्ची सामग्री सुरक्षित रखने, ग्रामीण क्षेत्रो मे बिजली पहुँचाने, सामाजाथिक बन्धे खर्चों की व्यवस्था, उत्पादन क्षेत्रो का निर्धारण आदि के सम्बन्ध में नीति-विषयक निर्णय लेने की आवश्यकता है। औद्योगिक लाइसेन्स नीति तथा अनुषगी औद्योगिक विकास को भी उद्योगो के फैलाव एवम् विकेन्द्रीकरण की ओर मोडना होगा।

प्रथम पच वर्षीय योजना मे मौजूदा ग्रामोद्योगो को बेहतरीन सगठन, वित्त की पूर्ति, अनुसधान और प्रशिक्षण के जरिये ठोस बनाने की कल्पना की गयी थी। द्वितीय ग्राम और लघु स्तरीय उद्योग (द्वितीय पच वर्षीय योजना) समिति ने औद्योगिक विकास के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तो पर जोर दिया था। समिति ने महसूस किया कि ग्रामीण उद्योगो का प्रगतिशील विस्तार और आधुनिकीकरण का सबसे कम खर्चीला लेकिन लाभदायक मार्ग है आवश्यक सेवाओ के साथ छोटी-छोटी औद्योगिक इकाइयो का विस्तार करना। उसने सिफारिश की थी कि रफ्ता-रफ्ता करके जो औद्योगिक स्वरूप सामने आये, वह ऐसा होना चाहिये कि उसमे ऐसे ग्राम समूह हो जिनके अपने सहज औद्योगिक तथा शहरी केन्द्र हो। ये छोटे-छोटे शहरी केन्द्र बडे शहरो से सम्बद्ध होगे। इस प्रकार प्रगतिशील ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर आधारित विस्तृत नीववाला उद्योग स्तूप (पिरामिड) सामने आयेगा। उसने आगे जोर देकर कहा कि कृषि से उद्योग की ओर जाने मे कौशल विकास, उत्पादन क्षेत्रो के आरक्षण, ग्रामीणो द्वारा तथा उनके जरिये सगठन खडा करना और बडे पैमाने पर प्राविधिक बेकारी से बचना आवश्यक होगा।

उद्योग विस्तार

इस विचार को २६ सामुदायिक विकास औद्योगिक मार्गदर्शी परियोजनाओ का अध्ययन करनेवाले अध्ययन दल (मिश्र दल) ने और भी निश्चित स्वरूप प्रदान किया। दल ने प्रस्ताव किया कि एक-एक विकास खण्ड मे एक-एक ऐसे चुनिन्दा केन्द्र का विकास किया जाय जो अपने इर्द-गिर्द के गॉवो की आवश्यकताएँ पूरी कर सके। चुनिन्दा केन्द्र वे हो सकते है जो पिछले चन्द वर्षो के दौरान ऐसे प्राकृतिक अथवा महत्वपूर्ण केन्द्र बन गये है, जहॉ व्यावसायिक व औद्योगिक गतिविधियॉ विकसित होने लगी है तथा उन्होने अपनी जडे जमा ली है या फिर जमा रही है। ये केन्द्र, जिन्हे दल ने ग्रामीण उद्योग केन्द्र कहा है, स्थानातरगमन की चौकी का काम करेगे और स्थानीय औद्योगिक समूहो के लिए अवसर प्रदान करेगे। इसके पीछे उद्देश्य था यथा सम्भव बडे-बडे नगरो व शहरो के और अधिक विस्तार को कम करना तथा ग्रामीणो को यथा सभव उनके घरो के आस-पास ही रोजगारी के अवसर मुहैया करना। दल ने यह भी सिफारिश की कि इन चुनिन्दा ग्रामीण औद्योगिक केन्द्रो मे ग्रामीण उद्योगपुरियॉ, सामान्य सुविधा केन्द्र और कारीगर प्रशिक्षण केन्द्र खोले जा सकते है।

तृतीय पच वर्षीय योजना मे देश भर मे, विकेन्द्रित आधार पर रोजगारी और आमदनी के साधन प्रस्तुत करने के सम्बन्ध मे लघु उद्योगो की भूमिका पर जोर देते हुए कहा गया था कि कार्यक्रम के कार्यान्विय मे इस बात पर जोर दिया जायेगा कि गॉवो तथा छोटे-छोटे कस्बो व ऐसे अविकसित क्षेत्रो मे उद्योगो के और अधिक

वकास को प्रोत्साहन मिले, जिनमे निश्चित औद्योगिक क्षमता है । इस सम्बन्ध मे सबसे पहला कदम होगा उन क्षेत्रो की जानकारी करना जहाँ बिजली, कच्ची कृषिक सामग्री की भरपूर पूर्ति, यातायात के उन्नत साधन आदि जैसी विभिन्न बुनियादी सुविधाएँ प्राप्त है अथवा होनेवाली है ।

बड़े गाँव : केन्द्र बिन्दु

इस विचार का अन्तर्राष्ट्रीय दूरदर्शी आयोजन दल ने भी समर्थन किया है कि ग्रामीण औद्योगीकरण और उद्योगो के विस्फुरण के लिए बडे गाँव तथा छोटे कस्बे केन्द्र बिन्दु होने चाहिये । दल ने इस बात पर जोर दिया कि गाँवो मे औद्योगिक उत्पादन तथा सेवाओ को अर्थ-शास्त्र की शब्दावली मे बाह्य किफायतो—लागत कम करनेवाले प्राप्त लाभ अर्थात् सुविधाएँ, जो तैयार माल की बिक्री तथा पूर्ति आदि के लिए सुविकसित बाजारोवाले स्थानो मे आर्थिक गतिविधिया चलाने के फलस्वरूप मिल जाती है—के अभाव के कारण बुरी तरह घाटे मे रहना पडेगा । इसके दूसरी ओर दल ने यह भी महसूस किया कि देश के भिन्न-भिन्न भागो का सतुलित विकास, आर्थिक प्रगति के लाभ अल्प-विकसित क्षेत्रो तक पहुँचाना और उद्योगो का विस्तृत विस्फुरण अथवा फैलाव आयोजित विकास के प्रमुख उद्देश्य है । पहले से ही अत्यधिक भीडभाडवाले घने बसे बडे-बडे शहरो मे—जहाँ बहुत ही जटिल आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याए खडी हो गयी है—उद्योगो के जमा हो जाने से बचने के लिए दल ने महसूस किया कि कोई न कोई ऐसा मध्यम मार्ग होना ही चाहिए, जोकि शक्ति और परिवहन जैसी औद्योगिक सुविधाओ की लागत नीची रख सके, शहरी व्यवसायो से सम्बद्ध अर्थात् जुडी हुई बाह्य किफायते प्रदान कर सके और यह सब करते हुए भी बहुत कुछ उद्योग तथा उनसे सम्बद्ध अन्य सेवाएँ फिलहाल गाँवो मे जो लोग रहते है उनमे से अधिकाश के समीप ला सके। दल ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि मध्यम आकार-प्रकार के उद्योगो को जानबूझ कर शहरो मे प्रोत्साहित करने तथा गाँव और कस्बे के बीच उत्पादक महानुबन्ध को बढाने मे यह काम किया जा सकता है। हाल ही मे एक सम्मेलन के लिए प्रसारित अपने एक निबन्ध मे डाक्टर धनजय राव गाडगिल ने भी चुनिन्दा 'विकास केन्द्रो' का विकास करने का सुझाव दिया है।

ग्रामीण क्षेत्रो मे उद्योगो की प्रगति का मूल्याकन करने, नीति और आयोजन सम्बन्धी समस्याओ मे सलाह देने तथा ग्राम्य क्षेत्रो मे ग्राम और लघु स्तरीय उद्योगो का सघन विकास करने के लिए कार्यक्रमो की सिफारिश करने के लिए योजना आयोग ने एक उच्च स्तरीय ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति नियुक्त की है। देहाती क्षेत्रो मे छोटे उद्योगो का सघन और सुसयोजित विकास करने के लिए उक्त समिति ने एक योजना तैयार की है, जिसके अन्तर्गत ४५ परियोजनाएँ शुरू करने की व्यवस्था है।

सर्वांगीण विकास का अंग

सन् १९५६ मे प्रारम्भ की गयी २६ सामुदायिक विकास औद्योगिक मार्गदर्शी परियोजनाओ के अनुभव से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि मात्र निधि-सग्रहण या विभिन्न माध्यमो के समन्वित प्रयासो अथवा पहले से ही चल रही समान प्रकार की योजनाओ का सम्भवत अधिक सघन विस्तार करने से ही ग्रामीण औद्योगीकरण पूर्ण नही हो जायेगा । पैंतालीस ग्रामीण उद्योग परि-योजनाओ के सर्वेक्षण प्रतिवेदनो से भी उक्त कथन की भलीभाँति सम्पुष्टि हो चुकी है । उक्त प्रकार के कदम उठाने से निश्चय ही धन-राशि के कुशल उपयोग और कार्यक्रम के सक्षम कार्यान्वियन को प्रश्रय मिलेगा, लेकिन इससे ग्रामीण औद्योगीकरण के प्रधान उद्देश्य की प्राप्ति नही होगी अर्थात् ग्राम्य क्षेत्रो मे उद्योगो का फैलाव तथा विकेन्द्रीकरण नही हो सकेगा । सच्चाई यह है कि देश के औद्योगीकरण के समग्र स्वरूप के अभिन्न अग-स्वरूप एक निश्चित सम्बोध के रूप मे ग्रामीण औद्योगीकरण का विकास होना अभी बाकी है। ग्रामीण औद्योगीकरण

पर उसे अलग-थलग रख कर विचार नही किया जा सकता । वह क्षेत्र के सर्वांगीण विकास का अग होना चाहिये—मौजूदा साधन-स्रोतो के आधार पर ही नही, वल्कि सभी क्षेत्रो के सघन विकास के आधार पर। इसमे प्राविधिक विकास विभाग, औद्योगिक लाइसेस समिति, कच्चे माल का बँटवारा करनेवाला अभिकरण और आयात लायसेस विभाग, परिवहन का आयोजन करनेवाले अभिकरण तथा आर्थिक और सामाजिक बन्धे खर्चो व अनुसधान-सुविधाओ सम्बन्धी अभिकरणो जैसे अनेक नीति-निर्णायक अभिकरणो के काम का शामिल होना आवश्यक है। एक सुसयोजित ढग से ग्रामीण औद्योगीकरण का काम हाथ मे लेना एक इतना बडा भारी काम है, जोकि किसी एक ही विभाग अथवा मत्रालय के कार्यक्षेत्र और कर्तव्य के बहुत परे है।

कृषि-औद्योगिक बस्तियो का विकास

मै सोचता हूँ कि ग्रामीण औद्योगीकरण के एक सुसयोजित कार्यक्रम मे निम्न बाते आ सकती है

१ परम्परागत कारीगरो को अपने कौशल मे सुधार करने, उधार, कच्चे माल व उन्नत साधन-सरजामो की पूर्ति, औद्योगिक सहकारो के सगठन और तैयार माल की बिक्री-व्यवस्था करने मे मदद देने के लिए एक साधारण कार्यक्रम, जिसके कार्यक्षेत्र मे समूचे देहात आ जायॅ।

२ जुगत और दीर्घ-कालीन कार्यक्रम के रूप मे औद्योगिक विकास के लिए आर्थिक तथा व्यावसायिक गतिविधियो के सम्वर्द्धन स्थलो को पहचानना आवश्यक है। इन्हे 'ग्रामीण औद्योगिक विकास केन्द्र' कहा जा सकता है। इन केन्द्रो मे विकास के लिए ऐसे उद्योगो का चुनाव किया जाना चाहिए, जो मुख्यत स्थानीय कच्ची सामग्री तथा स्थानीय मॉग पर आधारित हो। उदाहरणार्थ ऐसे केन्द्रो मे विकास के लिए इन उद्योगो का चुनाव करना बहुत उपयुक्त होगा प्रशोधन उद्योग, पशु-पालन और वन्य उत्पादनो पर आधारित उद्योग। कृषि उपकरणो का निर्माण, सुतार घर, भवन निर्माण सामग्री उत्पादन, वस्त्र, जूता और खाद्य उद्योग। उपयुक्त सामाजार्थिक बधे खर्चो और सचार सुविधाओ को व्यवस्था के मामले मे भी इन ग्राम्य विकास केन्द्रो को सर्वाधिक प्राथमिकता मिलनी चाहिये। यह अपेक्षा की जा सकती है कि रफ्ता-रफ्ता करके इस प्रकार के केन्द्र कृषि-औद्योगिक बस्तियो के रूप मे विकसित हो सकते है।

आधुनिक प्रविधि-मूलक उद्योग

३ स्थानीय अवस्थाओ के अनुसार ग्रामीण औद्योगिक विकास केन्द्रो मे मध्यम तथा दीर्घ स्तरीय उद्योगो की आवश्यकताऍ पूरी करनेवाले अनुषगी (एन्सीलरी) और पोषाक (फीडर) उद्योगो व अन्य नये प्रकार के विकास को भी प्रोत्साहन दिया जा सकता है। इन उद्योगो मे आधुनिक प्रविधि का प्रयोग होगा।

४ शहरो व कस्बो मे विस्तारशील बाजारो तथा अपने आस-पास के गॉवो को सेवा-सुविधाऍ प्रदान कर सकने की दृष्टि से उनके पास-पडोस के देहाती क्षेत्रो ओर सामुदायिक विकास खण्डो मे उद्योगो के विकास की विशेष सम्भावनाऍ है। कस्बे को औद्योगिक विकास के केन्द्र का रूप देने की योजना बनायी जा सकती है और वहॉ से उसके आस-पास के गॉवो मे सामान्य सुविधाऍ प्रदान करते हुए उनका विस्तार किया जा सकता है। दीर्घ स्तरीय उद्योगो के लिए अनुषगी उत्पादन पर जोर दिया जा सकता है। आस-पास के देहातो मे छोटे उद्योगो की इकाइयॉ खोल कर इन बडे उद्योगो की तत्सम्बन्धी आवश्यकताऍ पूरी की जा सकती है। शहर मे प्रशोधन और फिर वहॉ के निवासियो की आवश्यकता-पूर्ति के लिए वितरण करने हेतु पास के गॉवो मे दूध का उत्पादन किया जा सकता है। इसी प्रकार स्थानीय बाजार तथा निर्यात के लिए कृषि उत्पादन व अन्य कच्ची सामग्री का प्रशोधन किया जा सकता है। ऐसा करने का उद्देश्य है एक तरफ कृषि विभाग और लघु उद्योग विभाग के बीच तथा दूसरी ओर ग्रामीण और शहरी अर्थ-व्यवस्था

के मध्य सुसम्बन्ध स्थापित करना, जिसमे भविष्य के लिए कृषि-औद्योगिक आधार की प्राप्ति होगी।

५ ग्रामीण कर्मी-शक्ति को किसी अंश मे कृषि से हटा कर इन ग्राम्य विकास केन्द्रो मे शुरू किये गये उद्योगो मे प्रवृत्त करने के लिए चौकस और आयोजित प्रयास भी अवश्य किये जाने चाहिये। इस सम्बन्ध मे आवश्यक प्रशिक्षण सुविधाएँ प्रदान करनी पडेगी।

राज्य कार्यवाही के लिए

ग्राम्य और अर्ध-शहरी क्षेत्रो मे उद्योगो का विकास करना राज्य के लिए उतना ही महत्वपूर्ण कार्य होना चाहिये जितना कि कृषि उत्पादन मे वृद्धि करने का काम है। एक सुसयोजित ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम को प्रोत्साहन देने के लिए ग्रामीण आवश्यकताएँ पूरी करने हेतु कच्ची सामग्री सुरक्षित रखने, ग्रामीण क्षेत्रो मे बिजली की पूर्ति करने, ग्राम्य औद्योगिक विकास केन्द्रो मे उपयुक्त रूप से सामाजार्थिक बधे खर्च प्रदान करने, चुनिन्दा उद्योगो के मामले मे बडे और छोटे उद्योगो के लिए उत्पादन-क्षेत्रों का निर्धारण करने तथा उधार-बिक्री व्यवस्था सम्बन्धी उपयुक्त सुविधाएं प्रदान करने के सम्बन्ध मे भी अनेक महत्वपूर्ण नीति-विषयक निर्णय लेने पडेगे। औद्योगिक लाइसेंस नीति और अनुपगी औद्योगिक विकास को भी उद्योगो के विकेन्द्रीकरण तथा विस्फुरण के उद्देश्य की ओर उन्मुख करना होगा।

अन्त मे यह जान कर खुशी होगी कि ग्रामीण औद्योगीकरण के विषय पर फिलहाल उच्चतम शिखर पर गहरा ध्यान दिया जा रहा है, जिसके लिए श्री जयप्रकाश नारायण तथा प्रोफेसर धनजय राव गाडगिल खासतौर से बधाई के पात्र है, जिन्होने हमारे राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर सरकार एवम् जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रयत्न किये हैं।

नयी दिल्ली १८ फरवरी १९६४

सगठित उद्योगो मे सूती वस्त्रोद्योग, वनस्पति तेल, रसायन, दियासलाई, सीमेण्ट और धातु निर्माण महत्वपूर्ण है। सूती वस्त्रोद्योग अधिकतर अहमदाबाद नगर मे ही केन्द्रित है। सन् १९५५-५६ मे इसमें २,१६,००० लोग काम पर लगे थे और उन्होने कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग आधा उत्पादित किया। रसायन उद्योग के प्रमुख केन्द्र है द्वारका, भावनगर, बडौदा, बलसार तथा कच्छ। इजीनियरिंग उद्योग का अधिकाश काम अहमदाबाद, भावनगर, बड़ौदा, सूरत और राजकोट मे ही होता है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात* : नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

दस्तकारी के माध्यम से शिक्षा*

लालभाई र. देसाई

बुनियादी शिक्षा बाल-केन्द्रित, समाज-केन्द्रित, वातावरण-केन्द्रित और दस्तकारी-केन्द्रित है। अब तक बुनियादी शिक्षा केन्द्रो मे जिन दस्तकारियों का समावेश किया गया है वे कताई और बुनाई, बढ़ईगीरी अथवा कृषि तक ही सीमित है। इनमे भी प्राय कताई और बुनाई पर ही जोर दिया जाता रहा है। अब वह समय है कि हम अन्य दस्तकारियो के सम्बन्ध म भी सोचे। इस धारणा को दूर करने के लिए भी कदम उठाये जाने चाहिये कि बुनियादी शिक्षा ग्रामीण क्षेत्रो के लिए ही है।

प्रारम्भ मे जो योजना वर्धा योजना के नाम से प्रसिद्ध थी १९३९ मे उसका नाम बुनियादी शिक्षा पडा और अब वह हिन्दुस्तानी तालिमी सघ के अनुसार नयी तालीम के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना को आधिकारिक तौर पर प्राथमिक शिक्षा प्रणाली के रूप मे स्वीकार किया गया है। तिस पर भी, देश के किसी भी राज्य मे उसका पूर्ण कार्यान्विय नही हो सका है। यह एक तथ्य है कि जहॉ कही यह योजना शुरू की गयी है, उसकी कोई विशेष प्रगति नही हो पायी है। क्या इसमे कोई अन्दरूनी कमी है ? क्या यह योजना असफल हुई है ? क्या इसका कार्यान्वय, जैसा कि डाक्टर जाकिर हुसैन ने कहा है—जोकि गाधीजी के बुनियादी शिक्षा सम्बन्धी विचार को स्वरूप प्रदान करनेवाले एक अग्रगण्य शिक्षाशास्त्री थे—एक धोखा है ? मै इनमे से कुछ प्रश्नो का उत्तर देने की कोशिश करूँगा।

मै यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि योजना मे कोई अन्तर्निहित कमी नही है। जैसा कि मैने अन्यत्र एक अन्य सन्दर्भ मे—शिक्षा मत्रणालय द्वारा *इन्स्पेक्शन ऑफ बेसिक स्कूल्स* (बुनियादी विद्यालयो का निरीक्षण) विषय पर प्रकाशित 'मोनोग्राम' मे—बताया है, यह चार ठोस स्तम्भो पर आधारित है (१) बुनियादी शिक्षा बाल-केन्द्रित है और इसलिए विकासशील, (२) बुनियादी शिक्षा समाज-केन्द्रित है, (३) बुनियादी शिक्षा वातावरण-केन्द्रित है, और (४) बुनियादी शिक्षा दस्तकारी-केन्द्रित है।

बालक : प्रथम स्तम्भ

बालक मे प्रतिक्षण विकास होता है। उसका स्वभाव बदलता है और योग्यताएँ बढती है। एक कक्षा मे सभी बालक समान प्रगति नही करते, उनके विकास की गति और तरीका समान नही होता। अतएव शिक्षक को ऐसे तरीके अख्तियार करने पडते है जो अलग-अलग बच्चो के अनुकूल हो। उसे अलग-अलग बच्चे की आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की सामग्री का इस्तेमाल करना होता है। अतएव तौर-तरीको और सामग्री मे परिवर्तन होता रहता है। आज जिस बच्चे के लिए जो चीज अच्छी ओर पर्याप्त है कल अथवा दूसरी प्रकार के बच्चे के साथ हो सकता है वह वैसी ही न हो, और नही होगी। यदि शिक्षक पहले इस्तेमाल किये गये तरीके ही अपनाये तो इससे निश्चय ही शैक्षणिक रूढ़िवादिता और लकीर के फकीरवाले सिद्धान्त को प्रश्रय मिलेगा। बाल-केन्द्रित शिक्षा के लिए लचीलेपन, परिवर्तन, अनुकूलन और समजन की आवश्यकता है।

समाज : द्वितीय स्तम्भ

बुनियादी शिक्षा समाज-केन्द्रित है। इसमे न केवल बच्चे को समाज मे रहने योग्य, बल्कि समाज के साथ

---

* दिनाक ७ और ८ मार्च १९६४ को बम्बई मे सम्पन्न बुनियादी शिक्षा कार्यकर्त्ता सम्मेलन में दिये गये अध्यक्षीय भाषण से।

रहने लायक भी बनाने की बात आती है। प्रति पल समाज में परिवर्तन होता रहता है। इसमें उन्नति और अवनति दोनो होती हैं। शिक्षक को यह देखना पडता है कि उसके तौर-तरीको अथवा सगठन और शिक्षण मे अवनति रोकने तथा उन्नति करने में योगदान मिले। समाज कभी गतिहीन नही हो सकता। शिक्षा के उद्देश्य समाज द्वारा निर्धारित होते है और समाज मे होनेवाले परिवर्तनो के साथ-साथ वे भी बदलते रहते है। इसलिए परिवर्तनो का तकाजा है कि समजन और अनुकूलन हो तथा साथ ही साथ शिक्षा के वैसे साधन भी हो।

वातावरण तृतीय स्तम्भ

बुनियादी शिक्षा वातावरण-केन्द्रित है। इसे सामाजिक तथा भौतिक दोनो प्रकार के वातावरण के अनुरूप होना पडता है। सामाजिक तथा भौतिक दोनो प्रकार का वातावरण ही बदलता रहता है। एक ही प्रकार का भौतिक वातावरण यद्यपि स्थिर दिखायी पडता है, पर भिन्न बालको के लिए भिन्न पृष्ठभूमि बन सकता है और इसलिए शिक्षक को अपने तौर-तरीको मे समजन अथवा परिवर्तन करना पडता है तथा हर मर्तबा उसे नये साधन व सामग्री तैयार करनी पडती है।

दस्तकारी: चतुर्थ स्तम्भ

बुनियादी शिक्षा दस्तकारी-केन्द्रित है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि यह गतिविधि-केन्द्रित है और, गतिविधि-केन्द्रित शिक्षा सदैव बदलती रहती है, कार्यशीलता सदैव ही एक समान नही रहती। एक गतिविधि किसी एक सन्दर्भ मे एक बालक के लिए कुछ अर्थ रखती है, तो दूसरे के लिए उससे बिल्कुल भिन्न। एक प्रकार की गतिविधियाँ एक तरह के बालको के लिए थका देनेवाली हो सकती है तो दूसरी किस्म के बच्चो के लिए वे ही गतिविधियाँ आसान बन जाती है।

इसलिए हम यह देखेगे कि बुनियादी शिक्षा स्थिर और अचल नही है—उसमे स्पन्दन है, वह चल है। वह हर कदम पर बदलती, बढती और विकसित होती है। इसके लिए शिक्षक मे पर्याप्त अभिक्रम, मौलिकता, साधन-सम्पन्नता, अनुकूलन और चातुर्य का होना आवश्यक है।

योजना की सफलता

इस प्रश्न का उत्तर कि "क्या यह योजना असफल हुई है?" अशत सकारात्मक है। यह सही है कि यह विशेष प्रगति नही कर पायी है, लेकिन असफल भी नही हुई है। गैर बुनियादी विद्यालयो और उनकी शिक्षा पद्धति पर इसके कुछ पक्षो का प्रभाव पडा है। उदाहरण के तौर पर गैर बुनियादी विद्यालयो मे भी इसके सामाजिक पक्ष तथा वातावरण के पक्ष का किसी हद तक समावेश हुआ है। उत्सवो के आयोजन, सफाई कार्यक्रमो के जरिये स्कूल का समाज के साथ सम्पर्क बढा है तथा वह सामुदायिक जीवन का केन्द्र बनता जा रहा है। इन पक्षों को गैर बुनियादी विद्यालयो मे भी अपनाया जा रहा है। और फिर, अन्य देशो में भी सामान्य शिक्षा का झुकाव उसका सामाजीकरण करने की ओर है तथा आज हम देखते है कि शिक्षा के सभी स्तरो पर—यहाँ तक कि उच्च शिक्षा स्तर पर भी— अच्छे-खासे परिमाण मे बाह्य गतिविधियाँ चलती है। बालक को शिक्षा का केन्द्र समझने का सिद्धान्त भी अपना लिया गया है और शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध मे सुझाये गये अनेक तरीके इसी पर आधारित है। हमारी प्रशिक्षण सस्थाएं अब शिक्षण के इस पक्ष पर जोर दे रही है और अनेक प्रगतिशील स्कूल अपनी शिक्षण-पद्धति को इस सिद्धान्त के अनुसार बनाने की कोशिश कर रहे है। इस प्रकार बाह्य दृष्टि से गैर बुनियादी विद्यालय बुनियादी बन रहे है। स्वभावत आज लोग बुनियादी तथा साधारण विद्यालयो मे विशेष अन्तर नही देखते।

बुनियादी शिक्षा का दस्तकारी और शिक्षा देने के तरीकेवाला पक्ष सन्तोषप्रद रूप से कार्यान्वित नही किया जा सका है। इस सम्बन्ध मे यह स्वीकार करना चाहिये कि योजना असफल रही है। बुनियादी विद्यालयों तक मे जहाँ बुनियादी शिक्षा मे प्रशिक्षित शिक्षक है, अन्य

प्रकार की शिक्षा के साथ-साथ दस्तकारी की शिक्षा देना सफल नही रहा है और इसके कारण ढूढने के लिए कही दूर नही जाना पडेगा। हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि जिन शिक्षको ने कभी दस्तकारी की शिक्षा नही ली, केवल दो वर्ष के प्रशिक्षण से वे उसमे निपुणता हासिल नही कर सकते और इसलिए दस्तकारी मे छात्रो की प्रगति सन्तोषप्रद नही है। यही मुख्य बाधा रही है और, मेरे विचार से तो सर्वाधिक गम्भीर।

सहकारी आधार पर दस्तकारी

तथापि, दस्तकारी के सामाजिक दृष्टि से उपयोगी पहलू ने मुझे सर्वाधिक आकर्षित किया है। हमारे बालको की शिक्षा मे यह एक मौलिक तत्व है। मैं इस सम्बन्ध मे कुछ विस्तृत प्रकाश डालना चाहूँगा।

अ सर्व प्रथम हम बच्चो के प्रारम्भिक जीवन काल मे उनके प्रति हमारा जो दृष्टिकोण होता है, उसका परीक्षण करे। उनके साथ हमारा जो व्यवहार होता है वह बहुत ही कमीना है और इस प्रकार उनमे एक बहुत ही हीन भावना निर्मित कर देगा। सामाजिक दृष्टि से उपयोगी दस्तकारियोवाला पक्ष, बच्चो मे दैनिक जीवन मे काम आनेवाली वस्तुओ का उत्पादन करने की योग्यता के सम्बन्ध मे आत्म-विश्वास भरेगा और जीवन के प्रति अपना रुख निर्मित करने मे सहायक होगा। मै बच्चो की शिक्षा मे इसे एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व समझता हूँ और यदि शिक्षा से बच्चो का चरित्र तथा सामान्य दृष्टिकोण निर्मित न हो तो उससे फायदा ही क्या?

आ इस योजना के जिस एक दूसरे पक्ष ने मुझे आकर्षित किया है वह है बच्चो मे सहकारी ढग से काम करने की दृष्टि के निर्माण की सम्भाव्यता। उपयुक्त रूप से दस्तकारी शिक्षा देने के लिए सहकारी आधार पर आयोजन करने की आवश्यकता होती है। दस्तकारी के सम्बन्ध मे मात्र लक्ष्याक निर्धारित कर देना पर्याप्त नही है। इस काम की योजना बनाना भी महत्वपूर्ण है और यह काम उपयुक्त रूप मे नही होता है। आयोजन की आदत के जरिये ही बच्चो मे चन्द सामाजिक आदतो व दृष्टिकोण का निर्माण तथा विकास होता है। इस पक्ष पर सन्तोषप्रद ध्यान नही दिया जा रहा है। आज जैसा दस्तकारी कार्य होता है, वह व्यक्तिगत आधार पर होता है, अतएव व्यक्तिगत लाभ और सकीर्ण विचारवाला तत्व अब भी जारी है। सहकारी सेवा, त्याग ओर दूसरो के लिए काम करने की भावना पर आधारित गाधीजी की आदर्श समाज-रचना की प्राप्ति नही हो रही है तथा हमे आयोजन के इस पक्ष पर जोर देना पडेगा। इसके लिए विशेष प्रयास करने की आवश्यकता है।

इ दस्तकारी की शैक्षणिक सम्भाव्यता दूसरा तत्व है। वास्तव मे शिक्षा को दस्तकारी, समाज और वातवरण पर आधारित करना बहुत ही मुश्किल है। परस्पर सम्बद्ध शिक्षण के लिए यदि शिक्षको को उन्ही के साधन-स्रोतो के भरोसे छोडना हो तो बहुत ही योग्य शिक्षको की आवश्यकता है। इस प्रकार के शिक्षक उपलब्ध नही होगे। इस सम्बन्ध मे हमे बडी गम्भीरतापूर्वक सोचना पडेगा कि इस समस्या को कैसे हल किया जाय। विस्तृत सुझाव प्राप्त करके परस्पर सम्बद्ध शिक्षा को हम आसन बना सकते है। हममे से कुछ को एक साथ बैठ कर, जितनी दस्तकारियो का समावेश हम करना चाहते है उन पर सोचना पडेगा और उन्हे लेकर परस्पर सम्वन्द्ध विषयो की शिक्षा की योजना बनानी पडेगी। शिक्षा प्राप्त करने मे अभिप्रेरण एक शक्तिशाली तत्व होता है और सम्भवत विस्तृत तथा व्यापक सुझावो एवम् अन्य बातो से विद्यालयो मे काम करनेवाले शिक्षको को इससे सहायता मिल सकती है।

योजना का कार्यान्वय

तीसरा प्रश्न है क्या बुनियादी शिक्षा योजना एक धोखा है? शायद कुछ क्षेत्रो मे ऐसा है। इस सम्बन्ध मे प्रशासको की ओर से निष्ठा का अभाव होना एक मुख्य कारण है। पुराने वातावरण मे पले हुए तो वे है ही, और आज भी वे किताबी तालीम की चकाचौध मे गहरे डूबे हुए है, इसलिए दस्तकारी के माध्यम से शिक्षा देने

मे उनकी निष्ठा नही है। यद्यपि सभी लोग अभिप्रेरण को शिक्षा का आधार स्वीकार करते है, तथापि, वे यह महसूस नही करते कि प्रक्रिया धीमी है तथा इस बारे मे बहुत धैर्य रखने की आवश्यकता है। चितन से ज्ञानोपार्जन की गति धीमी होती है, पर साथ ही निश्चित थी। लेकिन हम जल्दी फल-प्राप्ति के आदि है, इसलिए हम स्मृति–अर्थात् दूसरे शब्दो म रटन्त–पर आधारित तरीके से छुटकारा नही पा सकते। ओर फिर, इन दिनो जीवन की प्राय प्रत्येक दिशा मे सामान्य उदासीनता का पाया जाना भी इस क्षेत्र मे इस अवस्था के लिए बहुत-कुछ जिम्मेदार है। स्कूलो, सामग्री, आदि का सगठन आधे मन से किया जाता है और इसलिए डाक्टर जाकिर हुसैन जैसे व्यक्ति यत्र-तत्र जो कुछ देखने मे आता है उस पर बिगड उठे तथा जिस प्रकार उन्होने अपनी खीज एवम् असन्तोप प्रकट किया उस रूप मे अपने को व्यक्त करे तो इसमे कोई आश्चर्य नही है। जब तक शिक्षा के क्षेत्र मे जो लोग आते है अर्थात् जिनका शिक्षा के क्षेत्र से ताल्लुक है, वे सभी इस योजना को नीति अथवा सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार न कर ले तब तक इस प्रकार का असन्तोप पाया ही जानेवाला है। सम्भवत उच्चाधिकारी अधिक निगरानी रखे और आग्रह करे, तो मामला ठीक रास्ते पर आ सकता है।

दस्तकारी का चयन

अब मै कुछ समस्याएँ सामने रखना चाहूँगा। पिछले २५ वर्ष के दौरान कताई और बुनाई अथवा कृषि या बढईगीरी के अलावा अन्य किसी दस्तकारी के बारे मे नही सोचा गया है। इन मे से भी अधिकाश विद्यालयो मे केवल कताई और बुनाई का ही समावेश हुआ है। इस प्रकार एक ऐसी धारणा पैदा हो गयी है कि बुनियादी शिक्षा कताई-बुनाई तक ही सीमित है। मेरी समझ मे अब समय है कि हम दूसरी दस्तकारियो की भी सोचे ताकि यह जो धारणा पैदा हो गयी है और जिसका कुछ शैक्षणिक विचारक प्रतिरोध कर रहे है, वह दूर की जा सके कि बुनियादी शिक्षा का सम्बन्ध किसी एक खास राजनैतिक दल से है। यहा तक कि विभिन्न कारणो से कृषि और बढईगीरी के काम का भी पर्याप्त समावेश नही हुआ है। यही समय है कि अब हम अन्य दस्तकारियो के सम्बन्ध मे भी कोशिश करे ताकि दस्तकारी-केन्द्रित शिक्षा को अधिक स्वीकार्य बनाया जा सके। इस सम्बन्ध मे यह खास ध्यान रखना चाहिये कि दस्तकारी सामाजिक दृष्टिकोण से लाभदायक हो और शैक्षणिक दृष्टि से जिसकी सम्भाव्यताएँ हो।

उपयुक्त साधन आवश्यक

एक धारणा यह भी है कि बुनियादी शिक्षा ग्रामीण क्षेत्रो के लिए है, जबकि गैर बुनियादी शिक्षा–जिसने अपनी पद्धति बदली नही है–शहरी क्षेत्रों के लिए है और उससे अच्छा काम–नौकरी–मिल सकेगा। शिक्षा का जो स्वरूप है और जिस प्रकार की अन्य गतिविधियो के कार्यक्रम चलाये जाते है, मुख्यत वे ही उक्त धारणा के लिए जिम्मेदार है। हमे एक ऐसे कार्यक्रम की बात सोचनी चाहिये, जिससे उक्त धारणा मिटायी जा सके। जब तक यह धारणा है तब तक बुनियादी शिक्षा कोई विशेप प्रगति नही कर सकती और वाछित लोकप्रियता प्राप्त नही कर सकती।

इन तीन दस्तकारियो पर भी हमने पूरा ध्यान नही दिया है। हम बच्चो के लिए उपयुक्त उपकरण तथा सामग्री नही बना पाये है, जिसका परिणाम यह निकला है कि दस्तकारी उत्पादन को बिक्री योग्य तथा वास्तव मे उपयोगी बनाने के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त नही की जा सकी है। जिन अन्य दस्तकारियो की बात हम सोच सकते है उनके साथ-साथ इन दस्तकारियो पर भी प्रयोग करने का काम किसी अभिकरण को अपने हाथ मे लेना चाहिये।

उपकरणो की पूर्ति, भूमि-प्राप्ति आदि के सगठन हेतु कार्यक्षम अभिकरण स्थापित नही हुआ है। परिणाम यह निकलता है कि अधिकाश शक्ति और पैसा बर्बाद

जाता है। कोई ऐसा सगठन खडा करना आवश्यक है, जो इन सब बातो को ठीक कर सके।

बुनियादी शिक्षा योजना के जरिये जिस प्रकार के समाज का विकास करना है उसके तथा स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद समाज की जिस प्रकार की अर्थ-रचना का विकास किया जा रहा है तया हुआ है उसके बीच काफी अन्तर है। जब तक इन दोनो के बीच कोई समझौता नही हो जाता तब तक बुनियादी शिक्षा लोकप्रिय बननेवाली नही है। उदाहरणार्थ देश का औद्योगीकरण किया जा रहा है और उस हद तक गॉवो मे भी लघु उद्योगो की स्थापना की जा रही है। तब क्या फिर हमे बुनियादी विद्यालयो मे छोटे-छोटे कुटीरोद्योगो की शिक्षा देने के बारे मे सोचना चाहिए, जिससे औद्योगीकरण मे सहायता मिले तथा सुविधा हो ? यदि हॉ, तो उस अवस्था मे हमे अपने बुनियादी विद्यालयो मे समावेशनार्थ ऐसे लघु उद्योगो अयवा दस्तकारियो के बारे मे सोचना चाहिये।

वैज्ञानिक जॉच की आवश्यकता

बुनियादी शिक्षा के समर्थक शिक्षाशास्त्रियो का दावा है कि बुनियादी विद्यालयो मे शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक योग्य होते है। बाल-व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षो का मूल्याकन करने के लिए जॉच की जानी चाहिए, ताकि उक्त दावे को वैज्ञानिक आधार पर सिद्ध किया जा सके। बच्चो मे किस हद तक विकास अथवा ह्रास होता है, उसकी जॉंच की जानी चाहिये। स सम्बन्ध मे कुछ प्रयास किये गये है, लेकिन वे परिपूर्णत निष्कर्षात्मक नही है। सहकारी कार्य का आयोजन करने, समाज, सामान्य जीवन अथवा राष्ट्र के जीवन मे दिन-प्रति-दिन घटनेवाली घटनाओं आदि के प्रति दृष्टिकोण जैसे मामलो मे बाल-योग्यता के सम्बन्ध मे जॉंच-पडताल करने के लिए कोई न कोई तत्र खडा करना होगा।

बुनियादी शिक्षा के प्रति कुछ वर्गो मे किस हद तक ईर्ष्या पायी जाती है तथा उसका कहॉ तक औचित्य है, इस सम्बन्ध मे भी जाच करना आवश्यक है। इन व्यक्तियो का विश्वास है कि बुनियादी शिक्षा बेकार है। इस प्रकार की मान्यता की जॉच की जानी चाहिये। इस प्रकार की ईर्ष्याओ को दर किनार रख देने या उन पर कोई ध्यान न देने अर्थात् उनकी कोई परवाह न करने से बुनियादी शिक्षा की प्रगति मे सहायता नही मिलती।

योग्य शिक्षकों की प्राप्ति की समस्या

शिक्षको के दृष्टिकोण का नव सस्करण करना और उपयुक्त शिक्षको की प्राप्ति एक महान समस्या है। नव सस्करण के सम्बन्ध मे हमारे प्रयास असफल रहे है और सामान्य शिक्षा के व्यापक विस्तार के कारण उपयुक्त शिक्षक उपलब्ध नही है। तब फिर, क्या हमे बुनियादी शिक्षा का विचार त्याग देना चाहिये अथवा उसकी आवश्यकताओ मे कोई सशोधन करना चाहिये ? यदि आवश्यकताओ मे सशोधन करना हो तो कौन सी आवयश्कताओ मे करना चाहिये ? या हमे पाठ्यक्रम को कम कर देना चाहिये अर्थात् पुस्तकीय पढाई मे कमी करके ही दृष्टिकोण के विकास पर शक्ति केन्द्रित करनी चाहिये ?

हमने उत्तर-बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध मे पूरी तरह नही सोचा है—उच्च शिक्षा के सम्बन्ध मे तो और भी कम कि बुनियादी शिक्षा के मौलिक सिद्धान्तो के साथ आवश्यक अविच्छिन्नता कायम रह सके। इस वक्त हमे यह प्रश्न हाथ मे लेना चाहिये। कुछ साहसिक प्रयोग भी करने पडेगे। राष्ट्रव्यापी आधार पर कुछ जॉच-पडताल करनी पडेगी। इस सम्बन्ध मे बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र मे काम करनेवाले सभी अभिकरणो को अपने काम मे सहकार तथा सयोजन और समन्वय लाना होगा।

खादी उद्योग में वैज्ञानिक दृष्टि

शंकरलाल बैंकर

योजना आयोग ने हाल ही मे श्री बी रामकृष्ण राव की अध्यक्षता में खादी तथा ग्रामोद्योगो के लिए एक कार्यकारी दल नियुक्त किया है। यह दल देश भर में घूम-घूम कर तत्सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर रहा है। इसी सिलसिले में उक्त दल अहमदाबाद भी गया था। प्रख्यात अनुभवी खादी कार्यकर्त्ता श्री शकरलाल बैंकर ने दल के समक्ष वक्तव्य दिया था, जिसके महत्वपूर्ण अश नीचे दिये जा रहे है।

खादी प्रवृत्ति हमारे देश के लिए और खास करके देहातो के गरीबो के लिए अत्यन्त महत्व की है। इसलिए खादी कार्य के सचालन मे जैसे गाधीजी की दी हुई भावना जरूरी है वैसे ही बडे उद्योगो के सचालन मे दिखायी देनेवाली व्यावसायिक तथा प्राविधिक (टेक-निकल) कुशलता भी उतनी ही जरूरी है।

एक दृष्टि से देखा जाय तो खादी प्रवृत्ति, वस्त्रोद्योग का छोटा किन्तु महत्व का अग है। बडे मिल उद्योग की प्रगतिशील इकाइयो तथा अनुभवो का अध्ययन किया जाय तो इस प्रवृत्ति के लिए भी उपयोगी विचार व सुझाव मिल सकते है।

मिल उद्योग का संचालन

मेरा सम्पर्क मजदूर प्रवृत्ति के कारण पिछले चालीस वर्षो से मिल उद्योग के साथ रहा है। इन चालीस वर्षो मे इस उद्योग मे कई छोटे-बडे परिवर्तन हुए और आज भी हो रहे है। चालीस वर्ष पहले मिल उद्योग का सचालन एक प्रकार से कहा जाय तो, मुख्यत व्यापारी दृष्टिकोण का था। उसमे विज्ञान एवम् प्रौद्योगिकी (टेक्नोलोजी) के विचार का स्थान गौण था। मिल के यत्र एवम् सूत तथा कपडा बनाने की प्रक्रियाओ के लिए कुछ निष्णात थे। लेकिन वे उच्च दर्जे के नही थे। बिलायत की मिलो के काम का अनुभव रखनेवाले कुछ अग्रेज सूत एवम् कपडा विभाग मे दिखायी देते थे और जहाँ जरूरत होती, वहाँ उनका परामर्श लिया जाता था।

लेकिन मिल का सचालन मिल मालिक करते थे। मिल मालिक अक्सर अपने रिश्तेदारो को मिल सचालन मे जिम्मेवारी का काम देते थे, क्योकि उन पर उनका विश्वास था। उनका हित करने की दृष्टि से भी वह काम उन्हे दिया जाता था। लेकिन उद्योग के सचालन की योग्यता का विचार– कर्मचारियो का चुनाव करने मे–वे बहुत कम करते थे। उद्योग के सचालन मे व्यापारी बुद्धि विशेष काम करती थी। रूई तथा अन्य माल-सामान सस्ते से सस्ता प्राप्त करके इस्तेमाल करने का प्रयत्न किया जाता था। माल उच्च दर्जे का बने, यह देखने के बजाय उस माल मे अधिक से अधिक मुनाफा रहे, यह दृष्टि मुख्य रहती थी। कारीगरो की कुशलता की ओर भी खास ध्यान नही दिया जाता था। कारीगरो को वेतन कम दिया जा सके तो लागत खर्च कम होगा और मुनाफा अधिक, यह दृष्टि रहती थी। फिर भी, मिलो के सचालको मे एक प्रकार की सूझ थी और उस कारण जैसे-जैसे परिस्थिति बदलती गयी, वैसे-वैसे कुछ परिवर्तन होते गये। उस परिवर्तन के पीछे कोई खास दृष्टि नही थी, लेकिन परिस्थिति के साथ चलने के लिए अनिवार्य कदम उठाये जाते थे।

योग्य कर्मचारी

धीरे-धीरे सचालन मे रिश्तेदारो के बदले सुयोग्य कुशलता प्राप्त व्यक्तियो की भर्ती होने लगी। प्राविधिक (टेक्नीकल) विषयों के बारे मे प्राविधिक स्कूलो मे जिन्होने शिक्षा प्राप्त की हो और उस काम की योग्यता

जिनमे हो, वैसे व्यक्तियो की नियुक्तिया होने लगी। इसमे भी आगे चल कर प्रमात्र-पत्र, अनुभव तथा कुशलता के बारे मे विचार किया जाने लगा। फलत व्यापारिक व प्राविधिक काम-काज के सचालन के लिए अधिक योग्य एवम् कुशल कार्यपालक आने लगे, लेकिन उनका स्थान गौण ही रहा।

एक अग्रगण्य मिल मालिक के साथ इस विषयक बातचीत के सदर्भ मे मैने उनके समक्ष ऐसा विचार रखा कि जैसे उद्योग मे मालिक हृदय के स्थान मे होते हुए पूँजी आदि की आवश्यकता पूरी करते है और व्यापारी क्षेत्र सभालते है वैसे निष्णात लोग दिमाग के स्थान पर होने से बुद्धिपूर्वक वैज्ञानिक पद्धति से उद्योग का सचालन करे तो अच्छा होगा। लेकिन उन्होने (मिल मालिक ने) कुछ अलग ही विचार रखा। उन्होने कहा कि दिमाग भी हम ही है। निष्णात हमारे हाथ और पैर के स्थान पर है। दस-बारह साल पहले की यह बात है, लेकिन यह बात उद्योग सचालको के उस समय के मानस का कुछ भान कराती है।

उस स्थिति मे भी अब ठीक-ठीक परिवर्तन हो रहा है और आज एक प्रगतिशील मिल की सचालन समिति मे प्राविधिज्ञ को प्रमुख स्थान मिलता है, जो उद्योग के मानस मे हुए परिवर्तन का प्रतीक है।

निष्क्रिय जन-शक्ति का उपयोग

ऐसा लगता है कि मिल उद्योग का यह अनुभव खादी प्रवृत्ति के लिए भी ध्यान मे लेने योग्य है। खादी प्रवृत्ति के आरम्भ काल मे कताई-बुनाई की जो शक्ति आम जनता मे पडी थी, उसका उपयोग करने का प्रयत्न हुआ। मिल उद्योग के विकास के साथ-साथ कताई उद्योग की स्थिति अत्यन्त कमजोर हो जाने के बावजूद, उस जमाने मे कुछ बडे उद्योगोवाले विभागो को छोड कर अन्यत्र छोटे-बडे देहातो मे कताई प्रवृत्ति ठीक-ठीक परिमाण मे चलती रही। परम्परागत रूप से चली आनेवाली कला के अनुसार पूनी व सूत उत्पन्न हुआ करता था। लेकिन उस काम के विकास के लिए खास उत्साह हो, ऐसा कुछ लगता नही था।

बुनाई उद्योग की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से ज्यादा अच्छी थी और बुनकर अपना कार्य लगन तथा कुशलता से करते थे। सभी कामो मे जो कला एवम् शक्ति कारीगरो मे थी उसका ही उपयोग होता था। प्राय खादी केन्द्र के कार्यकर्त्ता सूतकारो से सूत कतवा कर, बुनकरो से जैसा वे बुन सकते थे वैसा बुनवा कर उस माल का निकास किया करते थे। निकास के लिए उस माल मे ग्राहको की दृष्टि से कुछ सुधार किये जाते थे। लेकिन उन सुधारो की ओर तुलनात्मक दृष्टि से अधिक ध्यान दिया जाता था, ऐसा नही कह सकते।

खादी उद्योग मे विकास

जिस प्रकार मिल उद्योग मे क्रमिक सुधार हुए उसी तरह समय परिवर्तन के अनुसार लोगो की जरूरत को ध्यान मे रख कर कार्यकर्त्ताओ द्वारा खादी की किस्मो मे भी अपनाने लायक परिवर्तन होते रहे। किन्तु उसमे भी वैज्ञानिक ज्ञान या विचार का हिस्सा तुलना मे कम रहा। गाधीजी की दृष्टि तो आरम्भ से ही वैज्ञानिक और प्रगतिशील थी। इसलिए धुनाई और कताई के साधनो तथा प्रक्रियाओ मे सुधार का आग्रह वे रखते थे। कार्यकर्त्ता भी नये एवम् अधिक कार्यक्षम साधनो का उपयोग करने के लिए उत्सुक थे।

इसीलिए तो गाधीजी ने उत्तम चरखे के लिए एक लाख रुपये का इनाम जाहिर किया था और उससे पहले खुद उन्होने प्रयोग करके यरवडा चक्र ईजाद किया तथा उसे केन्द्रो मे दाखिल करने का सुझाव भी दिया। यरवडा चक्र के बारे मे गाधीजी के मन मे शका पैदा होने पर वे पूछते कि देहातो की बहने इस चक्र को अपना सकेगी या नही। लेकिन गॉवो के लोग साइकल इस्तेमाल करते है, उसी तरह इस चक्र का उपयोग करने मे उन्हे दिक्कत नही होगी इस खयाल को स्वीकार करके उन्होने यरवडा चक्र का प्रचार करने का सुझाव दिया। वह चरखा आज देहातो मे प्रचलित हो गया है। ठीक वैसा

ही धुनाई के बारे मे भी हुआ। यह विकास आदरणीय तथा अभिनन्दनीय है।

यह सारा होते हुए भी ऐसा नही कहा जा सकता कि इस प्रवृत्ति के विकास के लिए वैज्ञानिक दृष्टि, विचार और सशोधन आदि की दिशा मे पर्याप्त प्रयास हुए हो। खादी कार्य का विकास और उन्नति इस उद्योग मे प्रयुक्त साधन, प्रक्रियाएँ एवम् इस कार्य मे लगे हुए सूतकार तथा बुनकरो की कार्यक्षमता और केन्द्र सचालको की बुद्धि, कला शक्ति पर आधारित है। वैज्ञानिक एवम् व्यावहारिक दृष्टि से यथा शक्य चितन और प्रयास करने पर ही इष्ट प्रगति हो सकती है।

मिल उद्योग मे आज जो वैज्ञानिक कुशलता (टेकनिकल एफीसिएसी) की दृष्टि रखी जाती है वैसी ही दृष्टि खादी उत्पत्ति केन्द्र मे रखी जा सके तो खादी का भविष्य उज्ज्वल और आशास्पद बन सकता है। इस बारे मे सोचते हुए ऐसा लगता है कि खादी केन्द्रो मे जाकर गहरा निरीक्षण किया जाय तो उससे कई उपयोगी पहलू सामने आ सकते है। निरीक्षक, धुनाई, कताई व बुनाई करनेवालो से एवम् देहातो की आम जनता तथा कार्यकर्त्ताओ से मिले, उनकी बाते सुने, उनकी दिक्कते समझे और वैज्ञानिक एवम् व्यावहारिक दृष्टि से विकास की शक्यताओ के बारे मे उनके साथ विचार-विनिमय करे तो उससे उपयोगी मार्गदर्शन मिल सकता है।

कार्यकर्त्ताओं की अवस्था

आज के उत्पत्ति केन्द्रो के सचालको की स्थिति भी जानने लायक है। खादी उत्पत्ति केन्द्रों के सचालको ने देश एवम् गरीब लोगो की काफी सेवा की है। वर्षों से वे अन्य मनोरथो को ताक पर रख कर ग्रामीणो की सेवा मे डूबे हुए है। एक प्रकार से उनकी सेवा ऋषियो की तपश्चर्या जैसी है। उनका काम असाधारण और काफी जिम्मेदारी का है। खादी उत्पादन के लिए छोटी-बडी सारी प्रक्रियाएँ उन्हे खुद देखनी पडती है। मिलो मे अलग-अलग कामो के लिए अलग-अलग निष्णात तथा प्राविधिज्ञ होते है। मिल के यत्रों पर निगरानी रखने के लिए इन्जीनियर और उनके सहायक, 'ब्लोरूम', कार्डरूम, फ्रेम, थ्रोसल, कताई व बुनाई विभाग आदि के लिए भिन्न-भिन्न निष्णात और उनके सहायक, सुपरवाइजर और फुटकर काम करनेवाले अलग-अलग दर्जे के अधिकारी रहते है। मिलो मे व्यापारी काम मे रूई का स्टाक खरीदनेवाले, बाजार का अध्ययन करनेवाले, माल कैसा बनाया जाय उस बारे मे सलाह देनेवाले, आदि होते है। लेकिन खादी काम के लिए उत्पत्ति केन्द्र मे दो-चार कार्यकर्त्ता ही होते है। उन्हे रूई से कपडे तक का सारा काम खुद ही करना तथा देखना पडता है। ये सब जिम्मेदारी-पूर्ण काम करनेवालो के वेतन भी ऐसे है कि यदि भावना का बल न हो तो खादी काम करनेवाले आदमी प्राप्त करना भी मुश्किल हो जाय।

उपकरणो में सुधार

खादी उत्पत्ति केन्द्रो की स्थिति सुधारने के काम मे गहरे निरीक्षण, विचार व प्रयोगो की जरूरत है। उस ओर खास ध्यान देना जरूरी है। कार्यकर्त्ताओ के विकास के साथ-साथ धुनाई, कताई और बुनाई का काम करनेवाले कारीगरो का भी विकास होना चाहिए, क्योकि उत्पादन का आधार उनकी कलापूर्ण शक्ति पर निर्भर है। पुराने साधन एवम् प्रक्रियाओ के अतिरिक्त प्रयोग समिति की ओर से जो नये साधन बन रहे है और जिनका क्षेत्रो मे उपयोग हो रहा है, उन साधनो के विकास की शक्यता के बारे मे भी गहरा अध्ययन व मनन करना जरूरी है। धुनाई का जो नया यत्र ईजाद हुआ है, उससे धुनाई बहुत अच्छी होती है। कताई के लिए अम्बर का जो नया नमूना बना है उससे उत्पादन के साथ-साथ सूत के गुण-स्तर मे भी सुधार हुआ है। बुनाई मे लम्बे ताने की पद्धति से बुनकरो की आय मे सतोषजनक वृद्धि हो सकी है।

इन सभी साधनो तथा प्रक्रियाओ का उपयोग करने के लिए ध्यानपूर्वक निरीक्षण एवम् विचार की जरूरत है। अम्बर काम के बारे मे असतोष व्यक्त किया जा

रहा है, लेकिन उसके कारण भी अच्छी तरह जाँच कर समझने योग्य है। अम्बर का पुराना नमूना आज के नये नमूने के समान कार्यक्षम नही है, फिर भी वह अच्छा काम दे सकता है। लेकिन कई स्थानो मे वे चरखे अच्छे नही बने, जमावट अच्छी नही हुई, कतवारो को योग्य तालीम नही दी गयी, मरम्मत का समुचित प्रबध नही हो सका, इन सारी त्रुटियो के बारे मे सर्वेक्षण करने से उपयोगी जानकारी मिल सकती है और भविष्य मे जो-जो विषय खास ध्यान देने योग्य हो उन पर जरूरी ध्यान दिया जा सकता है।

उत्पादन व बिक्री: दोनों का महत्व

मिल उद्योग मे कारीगर, छोटे-मोटे काम करनेवाले एवम् सुपरवाइजर आदि सचालको की शक्ति के विकास के लिए 'ट्रेनिंग विदिन इण्डस्ट्री' (उद्योग मे तालीम) जैसा कार्यक्रम रहता है। इसका हेतु यह है कि नियमानुसार काम चल रहा हो उसका सभी को समुचित ज्ञान, समझ और तालीम आदि देकर उनकी शक्ति मे अच्छी वृद्धि की जा सके। खादी उत्पादन कार्य मे इस दिशा मे क्या हो सकता है, वह सोचने योग्य है।

जैसे खादी उत्पत्ति का प्रश्न महत्व का है वैसे ही उसकी खपत का प्रश्न भी। खादी उत्पत्ति के साथ-साथ उसकी बिक्री मे भी काफी वृद्धि हुई है। फिर भी, उसमे विकास के लिए काफी गुजाइश है। देहातो और शहरो मे खादी इस्तेमाल करनेवाले किस प्रकार का कपडा पसद करते है, इस बात का अध्ययन करके माँग के अनुसार उत्पादन की व्यवस्था हो तो आज जो बिक्री होती है उससे भी अधिक हो सकने की सभावना है।

खादी काम का प्रभाव

यह बहुत खुशी की बात है कि खादी प्रवृत्ति का अध्ययन हो रहा है। यह जरूरी लगता है कि यह निरीक्षण यथा सभव गहराई से किया जाय और खास करके उत्पादन केन्द्रो मे किया जाय। कतवार, बुनकर, कारीगर वर्ग, उत्पादन एवम् बिक्री कार्यकर्त्ता, इन सबकी शक्ति तथा योग्यता की जॉच तो जरूरी है ही, लेकिन इस कार्य के कारण गाँव के लोगो की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति पर पडनेवाले असर की भी जाँच करना उपयोगी साबित होगा, ऐसा लगता है। गुजरात मे इस प्रकार के सर्वेक्षण के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने व्यवस्था की है। उस पर से जो जानकारी मिलेगी, वह बहुत ही उपयोगी हो सकेगी। इस सर्वेक्षण योजना के द्वारा अम्बर चरखा आधारित कुटुम्बो मे से २४६ कुटुम्बो की स्थिति की जॉच हुई है। उसकी हकीकत का साराश देखने योग्य है। विभिन्न क्षेत्रो मे इस प्रकार के सर्वेक्षण हो तो वे बहुत ही उपयोगी साबित होगे।

अहमदाबाद ९ फरवरी १९६१

प्रति प्रौढ़ प्रति दिन १५ औंस अनाज और तीन औंस दाल का अनुमान करते हुए, वर्तमान खाद्य उपभोग-आदत के आधार पर राज्य की आवश्यकताएँ इस प्रकार होने का अनुमान लगाया जाता है: ५ लाख १० हजार टन चावल, ४ लाख टन गेहूँ; १७ लाख टन ज्वार, बाजरा आदि, और ५ लाख ३० हजार टन दाल। इन अनाजो के वार्षिक उत्पादन से पता चलता है कि प्राय सभी मामलो मे कमी है। दाल और ज्वार, बाजरा आदि तथा चावल के सम्बन्ध मे यह कमी अधिक है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात* · नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन और ग्राम इकाई

प्रमोद कुमार पटनायक

ग्राम इकाई क्षेत्र मे विभिन्न गतिविधियों का सगठन सहकारी आधार पर होना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए फिलहाल जो सस्थाएँ है उनके कामो का उपयुक्त विभाजन होना चाहिये। ग्राम इकाई क्षेत्रों मे ग्रामीणो की जरूरत की चीजों की पूर्ति के लिए उपभोक्ता भण्डारो का गठन किया जा सकता है।

भारत मे उपभोक्ता सहकार के विषय पर नियुक्त अध्ययन दल की मुख्य सिफारिशे भारत सरकार तथा अन्य राज्य सरकारो ने स्वीकार कर ली है। दल द्वारा की गयी अनेक सिफारिशो मे से एक यह है कि तेल निस्सारण, चावल कुटाई, आटा पिसाई आदि जैसे सरल प्रशोधन कार्य उपभोक्ता सहकारी भण्डार करेगे। दल ने यह भी कहा है कि उपभोक्ता भण्डारो का गठन शहरी क्षेत्रो मे ही किया जाना चाहिये, क्योकि ग्रामीण क्षेत्रो मे वे प्राणवान इकाइयो के रूप में नही पनप सकेगे। ऐसा लगता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे इस प्रकार के भण्डारो का गठन करने के लिए एक ही कसौटी रखी गयी है– उनकी जिव्यता। अगर किसी विशिष्ट ग्रामीण क्षेत्र मे सिफारिश के अनुसार अनुकूलतम आकार प्राप्त कर लिया जाता है तो उस क्षेत्र मे भी उक्त कार्यक्रम का विस्तार करने मे सम्भवत कोई आपत्ति नही होगी।

भिन्न अवस्थाएँ

प्रतिवेदन मे ग्रामीण क्षेत्रो की पूर्णत अवहेलना नही कर दी गयी है। ऐसा कहा गया है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे उपभोक्ता गतिविधि को स्टोर विभाग खोल कर सेवा सहकार का काम भी करना है। यह सिफारश कि "यदि रुपये पैसे की दृष्टि से शक्य हो, तो प्राथमिक भण्डारो को साधारण प्रशोधन कार्य करना चाहिये " सहकारो पर भी–उनके साधारण कामो के साथ उपभोक्ता सम्बन्धी कार्यशीलता को शामिल करके–लागू हो सकती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सिफारिशे भण्डारो की स्थापना और उनके प्रशोधन कार्य को सीमित नही करती।

उस प्रकार की गतिविधि को शामिल करने का विचार सम्भवत इग्लैण्ड के उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन से लिया गया है। यहाँ तक कि इग्लैण्ड मे भी प्रारम्भिक अवस्थाओ मे उत्पादक सहकारो की ओर से उपभोक्ता सहकारो द्वारा उत्पादन कार्य हाथ मे लेने का कडा विरोध किया गया था। उक्त दो प्रकार के उत्पादन मे अन्तर यह था कि उत्पादक समितियो के कारखानो मे काम करनेवाले कामगार उनके सदस्य थे, जबकि उपभोक्ता सहकारो के कारखानो मे काम करनेवाले मात्र कामगार थे और उन्हे वे लाभ प्राप्त नही थे जो सदस्यो को मिलते है। सैद्धातिक कारणो के अलावा, इग्लैण्ड मे दो कारखानो के बीच स्पर्धा थी, जहाँ अधिक कार्यक्षम को जीवित रहना था। लेकिन भारत मे अवस्थाएँ भिन्न है। भारत मे ये साधारण प्रशोधन कार्य अब भी स्वतत्र कारीगर अपने घरो मे करते है, और देश की कुल आवश्यकता के अच्छे-खासे हिस्से की पूर्ति करते है।

उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन

उपभोक्ता भण्डारो द्वारा प्रशोधन कार्य का सगठन करने पर स्वतत्र कारीगरो के काफी तादाद मे बेरोजगार हो जाने की सम्भावना है, क्योकि उपभोक्ताओ के लिए अधिकतम लाभ कमाने की दृष्टि से वे यत्रो की सहायता

से उत्पादन कार्य करने की ओर प्रवृत्त होनेवाले है। यहाँ तक कि शहरी क्षेत्रो मे प्रशोधन कार्य करने का भी आस-पास के देहातो पर बुरा असर पडेगा, क्योकि गाँवो के बहुत से कारीगर अपने उत्पादनो की बिक्री के लिए शहरी बाजारो पर निर्भर करते है। अतएव उपभोक्ता भण्डारो द्वारा प्रशोधन कार्य अपवाद स्वरूप ही अपनाया जा सकता है, निरपवाद नही। नगरो तक मे प्रशोधन कार्य अपनानेवाले उपभोक्ता भण्डार को वहाँ के सुस्थापित मौजूदा उत्पादन सस्थानो से टक्कर लेनी पडेगी। इस टक्कर मे डटे रहने के लिए उपभोक्ता भण्डारो को दीर्घ स्तरीय उत्पादन का तरीका अपनाना पडेगा, जोकि प्राथमिको के लिए सम्भव नही है।

थोक काम करनेवाले ही प्राथमिक भण्डारो अथवा अपनी शाखाओ के जरिये सक्षम वितरण व्यवस्था करने के बाद इस सम्बन्ध मे सोच सकते है। चावल, चीनी और तेल जैसी उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन के लिए सहकारी बिक्री समितियाँ भी प्रशोधन कार्य कर रही है। व्यक्तियो और सस्थानिक अभिकरणो से स्पर्धा होने की दृष्टि से किसी नगर मे थोक काम करनेवाली समिति अपनी आवश्यकताओ की बिक्री समितियो से ये चीजे लेकर लाभदायक रूप मे पूर्ति कर सकती है। इसी प्रकार चूँकि भारत मे सहकारी उत्पादक समितियो के काम का अच्छा रिकार्ड है, इसलिए प्राथमिक उपभोक्ता भण्डारो का उत्पादक सहकारी समितियो से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

उत्पादन और उपभोग

फिलहाल जिस उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन परम्परागत तरीको से हो रहा है उसका आधुनिक यात्रिक प्रक्रियाओ के माध्यम से उत्पादन करने के लिए अवस्थाएँ अनुकूल नही है। ग्रामोद्योगो के क्षेत्र मे उक्त कथन का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इसीलिए तीसरी पॅचसाला योजना मे चन्द प्रकार की सामग्री की आशिक पूर्ति के लिए मौजूदा उपकरणो की सहायता से ही सघन उत्पादन करने की योजना बनायी गयी है। यदि यही सामग्री राज्य सरक्षण के अन्तर्गत सगठित अभिकरणो की सहायता से आधुनिक प्रक्रियाओ के जरिये भी तैयार की जाती है तो परम्परागत उद्योगो के सामने निश्चय ही भयकर स्पर्धा खडी होनेवाली है। ऐसी अवस्था मे इन दोनो का सम्बन्ध नियमित करने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना ही पडेगा। इसलिए सुफल-प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम उपाय यह है कि वर्तमान उत्पादक सहकारिताओ और उपभोक्ता सगठनो की गतिविधियो मे समन्वय स्थापित किया जाय।

परम्परागत प्रक्रियाओ के जरिये सफल उत्पादन का सगठन उपभोक्ता की ओर से किया जा सकता है। यदि जो कुछ पैदा किया जाता है वह बिना किसी दिक्कत के खपाया नही जा सकता तो उत्पादन का सगठन करने से कोई लाभ नही है। भूतकाल मे ग्राम उत्पादन को इसलिए कष्ट उठाना पडा कि उसका उपभोक्ताओ के साथ समन्वय नही था। उपभोक्ताओ को अच्छे गुण-स्तर का माल उपयुक्त भावो पर मिले, इसके लिए सभी प्रकार की सामग्री का उत्पादन उपभोग पद्धति के हिसाब से आयोजित होना चाहिये।

लोक अभिक्रम के साथ आयोजन

अब से आगे खादी-ग्रामोद्योगो के विकास सम्बन्धी काम को क्षेत्रो के विकास-कार्य के साथ जोडना है और उसे लोक जीवन का अभिन्न अग बनाना है। क्षेत्रीय स्वावलम्बन के लिए काम करने का निश्चय किया गया है। प्रत्येक प्राथमिक इकाई को ग्राम इकाई कहा जाता है। उसकी आबादी ५,००० होती है और कार्य क्षेत्र एक ग्राम पचायत के समान। क्षेत्रीय स्वावलम्बन के लिए आयोजन करनेवाला माध्यम पचायत समिति हो सकती है। इसके अन्तर्गत १०-१२ ग्राम पचायते हो सकती है। कार्यक्रम मे इस बात की कल्पना की गयी है कि ग्राम समाज स्वयम् अपनी विकास योजना बनायेगा और चलायेगा। समाज को उपभोग के लिए

जिन परमावश्यक चीजो की आवश्यकता हो उनका उत्पादन स्थानीय साधन-स्रोतो का उपयोग करते हुए सगठित किया जाना चाहिये। आवश्यकता से अधिक माल पास-पडोस के क्षेत्रो मे बेचा जा सकता है। इस तरह की व्यवस्था मे बिक्री की समस्या सहल होगी और स्थानीय साधन-स्रोतो की अनुपलब्धि से बचा जा सकेगा।

कार्यक्रम के लिए अभिकरण

दूसरी पाचसाला योजना मे भी इस प्रकार के प्रयास किये गये, जब इस तरह के समन्वित रूप मे काम का सगठन करने के लिए २६ मार्गदर्शी परियोजनाएँ प्रारम्भ की गयी। लेकिन, अनेक कारणो वश इन मार्गदर्शी परियोजनाओ मे, दुर्भाग्य से, वाछित फल प्राप्ति नही हुई। देश मे फिलहाल जैसी अवस्थाएँ है, वे इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए अधिक उपयुक्त है। प्रशासन का विकेन्द्रीकरण होने से इस कार्यक्रम की योजना बनाने और उसे कार्यान्वित करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे आवश्यक अगुआई प्राप्त की जा सकती है। ग्राम पचायते, पचायत समितियाँ और जिला परिषदे देश भर मे स्थापित हो चुकी है अथवा यदि कही नही हुई है तो की जायेगी। ये स्थानीय सगठन अपने स्वयम् के क्षेत्रो के आर्थिक विकास की योजनाएँ बनायेगे। ये सगठन शीघ्र ही महसूस करेगे कि यदि लोग स्थानीय रूप से उत्पादित माल का उपभोग नही करते है तो उस माल के लिए अन्यत्र बाजार नही होगा। और, अगर उपभोग की दृष्टि से उत्पादन की योजना नही बनायी जाती है तो कोई भी उत्पादन गतिविधि अधिक समय तक चल नही सकती। इसी बुनियादी दृष्टिकोण को लेकर ग्राम इकाई कार्यक्रम शुरू किया गया है।

ग्राम इकाई कार्यक्रम की कार्य पद्धति अभी तक अस्पष्टावस्था मे ही है। कहा जाता है कि ग्राम इकाई का काम सहकारी ढग से चलेगा। सेवा सहकार, सहकारी उधार समिति, बहुद्देशीय सहकारी समिति, सहकारी भण्डार, सहकारी कृषि समिति आदि जैसी अनेक सहकारी समितियाँ सुसयोजित कार्यक्रम मे शामिल होगी। विकास आयुक्तो के सम्मेलन की सिफारिशो मे कहा गया है कि ग्राम इकाई सगठन मे ग्राम पचायतो, पचायत समितियो और सहकारी समितियो को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। अभी तक यह स्पष्ट नही किया गया है कि यह 'इकाई सगठन' क्या है। ग्राम इकाइयो के लिए उपनियम बनाये जा रहे है। ये उपनियम ऋण, उत्पादन, विक्रय-व्यवस्था, आयोजन, प्रचार-प्रसार आदि के सम्बन्ध मे होगे। इससे इगित मिलता है कि इकाई सगठन एक सहकारी समिति होगी जिसके अन्तर्गत ये सब कार्यशीलताएँ आयेगी। कभी-कभी कहा जाता है कि ग्राम सेवा सहकारी समिति यह काम करेगी। क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता सफलतापूर्वक कार्यक्रम कार्यान्वित कर सके, इसलिए यह आवश्यक है कि कार्यक्रम की रूप-रखा बिल्कुल स्पष्ट हो।

सेवा सहकार

क्या ग्राम सेवा सहकार ग्राम इकाई कार्यक्रम कार्यान्वित कर सकता है ? सेवा सहकारी समिति के अन्तर्गत अब तक ये विषय आते है ऋण देना, ऋण की उपयोगिता के सम्बन्ध मे निगरानी, उत्पादन की बिक्री करके ऋणो की पुनर्वाप्ति, उर्वरक, बीज आदि की पूर्ति, सदस्यो को उपभोक्ता सामग्री की पूर्ति, सहकारी कृषि को प्रोत्साहन। सहकारिताओं के कामो मे ग्राम इकाई कार्यक्रम भी शामिल कर देने का अर्थ है उनका भार और भी ज्यादा कर देना। एक सेवा सहकार के प्रबन्धक के लिए यह सम्भव नही हो सकेगा कि वह सभी विभागो को एक साथ सम्हाल सके, क्योकि ये सभी काम व्यापारिक ढँग से चलाने पडेगे।

ग्राम इकाइयों के लिए अलग से सहकारी समितियो का गठन करना भी उपयुक्त नही है। मौजूदा सस्थाओ के काम मे उपयुक्त विभाजन करने और उच्च आयोजक माध्यमो की ओर से मार्गदर्शन मिलने पर कार्यक्रम, एक

नया सगठन खडा करने की अपेक्षा, अधिक अच्छी तरह कार्यान्वित किया जा सकेगा, क्योकि ग्राम स्तर पर विकास कार्य मे लगे अभिकरणो के साथ मिलने मे उसे कुछ समय तो लग ही जायेगा।

अब हम ग्रामीण जीवन के सर्वागीण विकास की दृष्टि से ग्राम इकाई क्षेत्र मे मौजूदा अभिकरणो की भूमिका पर प्रकाश डालने की कोशिश करेगे। इकाई क्षेत्र के निवासियो द्वारा ग्राम इकाई कार्यक्रम चलाने का निर्णय करने के बाद उपलब्ध कच्ची सामग्री और इकाई क्षेत्र मे उपभोक्ता सामान की आवश्यकता के सम्बन्ध मे विस्तृत सर्वेक्षण करना पडेगा। यह सर्वेक्षण ग्राम सहायक करेगा। सर्वेक्षण करने के बाद वह सर्वेक्षण का प्रतिवेदन ग्राम पचायत के विचारार्थ प्रस्तुत करेगा।

क्षेत्रीय स्वावलंबन

यह ध्यान रखना चाहिये कि जहॉ तक हो सके उपलब्ध कच्ची सामग्री का ग्राम इकाई मे ही प्रशोधन हो तथा जिन उपभोक्ता सामानो की मॉग हो उनके उत्पादन हेतु कच्ची सामग्री पैदा की जाय। उत्पादन की योजना बनाने और उपभोग-आवश्यकताओ का अनुमान लगाने के बाद ग्राम पचायत को चाहिये कि वह इकाई मे आवश्यकता से ज्यादा तथा कमीवाली सामग्री के सम्बन्ध मे पचायत समिति को जानकारी करवाये। पचायत समिति को चाहिये कि वह इस जानकारी के आधार पर उन इकाइयो मे उक्त अतिरिक्त माल के वितरण की योजना बनाये, जिनमे कमी हो। क्षेत्रीय स्वावलम्बन का सम्बोध फिलहाल पचायत समिति के क्षेत्र तक रखा जा सकता है।

उत्पादन का सगठन मद के आधार पर किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्ची सामग्री और कौशल के अनुसार एक इकाई मे तेल पेराई की इकाई हो सकती है तो दूसरी मे गुड-खाण्डसारी उत्पादन इकाई। इसी प्रकार किसी तीसरी मे चर्मोद्योग उत्पादन कार्य चलाया जा सकता है। प्रत्येक इकाई मे एक खादी उत्पादन केन्द्र और एक अन्न प्रशोधन केन्द्र हो सकता है। ये सभी उत्पादन इकाइयॉ आम तौर पर वित्तीय तथा प्राविधिक सहायताएँ प्राप्त कराते हुए सहकारी समितियो के रूप मे सगठित की जा सकती है। यद्यपि ग्राम पचायतो का आयोजन और प्रचार-प्रसार से ताल्लुक रहेगा, तथापि इकाई की आबादी मे उपभोक्ता सामग्री का वस्तुत वितरण करना उनके लिए सम्भव नही होगा। वास्तविक वितरण के लिए अन्य कोई सगठन खडा करना होगा। अलग-अलग उत्पादन इकाइयॉ इस काम के लिए उपयुक्त नही होगी, क्योकि एक ग्राहक अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए प्रत्येक उत्पादन इकाई से चीज लेने के लिए नही जानेवाला है। उपभोक्ता यह पसन्द करेगा कि उसकी आवश्यकता की अधिकाश सामग्री एक स्थान पर मिल जाय।

उपभोक्ता सहकारी समिति

इस काम के लिए प्रत्येक इकाई मे उपभोक्ता सहकारी भण्डारो का गठन किया जा सकता है, जोकि न केवल उत्पादन सामान की बल्कि इकाई की आवश्यकतावाली पास-पडोस की इकाइयो मे उत्पादित चीजो की बिक्री भी करेगा। इस प्रकार के उपभोक्ता भण्डारों को सहकारी समिति के रूप मे गठित करना सर्वोत्तम होगा। उपभोक्ता सहकारी समिति का काम विभिन्न उत्पादन इकाइयो द्वारा तैयार माल की बिक्री करना ही हो सकता है, उत्पादन समितियॉ अपना काम उत्पादन करने तक ही सीमित रख सकती है। सहकारी भण्डार किस प्रकार की और किस परिमाण मे चीजे रखेगा, इसका निर्धारण ग्राम पचायत कर सकती है। यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठ सकता है—इन भण्डारो को आर्थिक दृष्टि से जीवित रखने के सम्बन्ध मे। सहकारी भण्डार से १,००० परिवारो अथवा ५,००० व्यक्तियो की आवश्यकता पूरी करने की अपेक्षा की जाती है। अधिकाश ग्रामीण क्षेत्रो के उपभोग-स्तर की दृष्टि से देखन पर यह कहा जा सकता है कि १,००० परिवारो का वार्षिक उपभोग

खर्च दो लाख रुपए के करीब होगा। यह मानते हुए कि आम जरूरतो का ५० प्रति शत हिस्सा सहकारी भण्डार पूरा करेगा, इसलिए उसका जितना लेन-देन होगा, उससे भण्डार आर्थिक दृष्टि से प्राणवान होगा।

स्थानीय उत्पादनो का वाणिज्य

सहकारी भण्डार इकाई के सभी परिवारो को अपने सदस्य बनायेगे। सदस्यो की आवश्यकताओ का अनुमान लगाना ओर अधिकतम सम्भव सीमा तक उन्हे पूरी करने की कोशिश करना भण्डार का कर्तव्य होगा। भण्डार केवल ग्राम उत्पाद केन्द्रों के उत्पादनो की ही बिक्री करेगा। इस प्रकार वह उपभोक्ताओ को सामग्री की शुद्धता के सम्बन्ध में आश्वस्त करेगा।

भण्डार को चाहिये कि वह आवश्यक चीजे केवल पचायत समिति के अन्दर की उत्पादन इकाइयो से ही खरीदे। यदि कोई परमावश्यक उत्पादन पचायत समिति के क्षेत्र मे तैयार न होता हो तो वैसी अवस्था मे वह बाहर से खरीद कर सकता है। किसी भी उत्पादक से खरीद करने मे भण्डार को स्वतत्रता होनी चाहिये। उत्पादक समिति को जोकि उपभोक्ता समिति मे सदस्य है, यह कोई अतिरिक्त लाभ नही देगा। उपभोक्ता सहकारी भण्डार के निदेशक-मण्डल मे उत्पादको का प्रतिनिधित्व होने से उपभोक्ता समिति मे किसी भी उत्पादक समिति के हितो की रक्षा की जा सकती है। सहकारी भण्डार या तो उत्पादक समितियो से प्रचलित बाजार भाव पर माल की खरीद अपनी खरीद के रूप मे कर सकता है अथवा फिर उनके अभिकर्त्ता के रूप मे परेषण हिसाब पर माल की बिक्री कर सकता है। इस प्रकार के उपभोक्ता भण्डार को एक दूकान-सह-गोदाम, कुछ व्यवस्थापकीय कर्मचारियो और सचालन पूँजी की आवश्कता पड़ेगी।

सरकार की भूमिका

भारत मे उपभोक्ता सहकार का अध्ययन करनेवाले दल ने सिफारिश की है कि राज्य को हिस्सा पूँजी मे भाग लेना चाहिये, गोदाम, व्यवस्थापकीय कर्मचारियो और सचालन पूँजी के लिए ऋण देना चाहिये तथा उपदान प्रदान करना चाहिये। तृतीय पच वर्षीय योजना के दौरान इसने २,५०० सहकारी भण्डारो की स्थापना करने की सिफारिश की है। इसी अवधि मे ३,००० ग्राम इकाइयाँ स्थापित करने की भी योजना है। कुछ सुस्थापित इकाइयो में वितरक सगठन काम कर रहे होगे, जहाँ उक्त प्रकार के भण्डारो की मदद की आवश्यकता नही होगी। इस प्रकार प्रस्तावित प्राथमिक उपभोक्ता सहकारी भण्डारो की सख्या मोटे तौर पर योजना की अवधि मे प्रस्तावित इकाइयो की सख्या के समान ही होगी।

खाद्यान्न-फसलो की प्रति एकड कम उपज और नकद फसलो की प्रधानता होने के कारण राज्य मे अनाज की कमी है। अनुमान है कि राज्य में खाद्यान्नो का वार्षिक उत्पादन २० लाख टन है, जबकि उसकी वार्षिक आवश्यकता ३१ लाख टन है।

—टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात : नेशनल कॉउसिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

ग्रामीण क्षेत्रों में गैस संयंत्र

दत्तात्रेय ना. वान्द्रेकर

मानवीय मल-मूत्र तथा गोबर और अन्य कार्बनिक सामग्री का उपयोग-जो बेकार जाती हो उसका-करनेवाले सामुदायिक गैस सयत्रो पर अनुसधान करना आवश्यक है। इसके साथ ही गैस सयत्रों के स्थल पर ही गैस का सदाबित कर सिलिण्डरो मे भरने तथा गैस निर्माण की प्रक्रिया को सरल और सस्ती बनाने की भी आवश्यकता है।

जुलाई १९६३ के *खादी ग्रामोद्योग* मे प्रकाशित श्री हर्षवदन जयकिशनदास दलाल का 'गोबर गैस सयत्र से बचत' एक विचारोत्तेजक लेख है। उक्त लेख मे वर्धा के निकट दत्तापुर कोढी बस्ती मे स्थापित गोबर गैस सयत्र के निर्माण और सचालन सम्बन्धी आकडो पर चर्चा की गयी है। श्री दलाल ने हिसाब लगाया है कि भोजन बनाने के लिए सयत्र से प्राप्त गैस का इस्तेमाल करने पर ईधन की कीमत के रूप मे ८०९ रुपये की बचत हुई है अथवा सयत्र पर विनियोजित ४,३०० रुपये पर १८ ८ प्रति शत विशुद्ध प्रतिफल मिला है। यह तो रहा उनका रुपये-पैसे की शब्दावली मे लगाया गया हिसाब। इसके अलावा उन्होने कुछ अन्य लाभ भी बताये है, जो आसानी से रुपय-पैसे म रूपातरित नही किये जा सकते। उनके अनुसार ये लाभ है, धूआँ से मुक्ति, दुगनी नाइट्रोजन के साथ पाचित खाद की प्राप्ति, इस प्रकार की ५० प्रति शत ज्यादा खाद का लाभ और ईधन के लिए जगलो का नष्ट हो जाने से आरक्षण।

योजना आयोग की भूमिका

हर गॉव मे मानव मल-मूत्र और गोबर का साथ-साथ इस्तेमाल करने मे समर्थ गैस सयत्रो के साथ शौचालय निर्मित करने तथा गॉव की प्रत्येक झोपडी मे भोजन पकाने के लिए गैस पहुँचाने की व्यवस्था के लिए एक क्रमबद्ध कार्यक्रम को विस्तृत व व्यापक रूप से अपनाने के लिए सरकार ने अभी तक किसी खास पैमाने पर कोई आयोजन नही किया है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सामुदायिक विकास खण्डो ने यहाँ-वहॉ इस प्रकार के शौचालय तथा गैस सयत्र स्थापित करने एवम् प्राप्त गैस का भोजन पकाने के लिए जो थोडे-बहुत प्रयास किये, वे प्रयोग के तौर पर थे, और ये प्रयोग सफल सिद्ध हुए हैं। इन प्रयोगो के फलस्वरूप आस-पास के ग्रामीणो ने ऐसी सुविधाओ की मॉग की है।

लेकिन अपने सीमित साधन-स्रोतो के कारण न तो खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ही और न सामुदायिक विकास खण्ड ही इस स्थिति मे है कि वे किसी विस्तृत पैमाने पर यह कार्यक्रम चला सके। यह काम योजना आयोग के लिए है कि वह इस कार्यक्रम के लिए योजना बनाये और फिर उसके लिए आवश्यक प्रावधान रखे। प्राथमिक रूप से केन्द्र तथा राज्य दोनो ही स्तरो पर स्वास्थ्य विभागो का यह कर्तव्य है कि वे देश के लगभग छ लाख गॉवो मे सफाई और स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था करे। यदि प्रत्येक ग्राम मे इतनी बडी क्षमतावाले इस स्तर पर गैस सयत्र स्थापित कर दिये जाये जिनमे गॉव के लोगो का मल-मूत्र, गोबर तथा अन्य बेकार जानेवाली कार्बनिक सामग्री समा जाय तो उक्त कर्तव्य दक्षता पूर्वक पूरा किया जा सकेगा। यद्यपि यह एक भारी काम है, तथापि, स्थानीय सस्थाओ को जिम्मेदारी सौप कर इसका अच्छी तरह विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है।

ऊपर बताये गये फायदो के अलावा एक और भी लाभ है, जो उनसे कही अधिक महत्वपूर्ण है। गैस सयत्र से प्रत्येक गॉव मे शौचालयो का निर्माण हो सकेगा, जोकि हमारी बहिनो की लाज की समस्या हल करने के लिए अत्यधिक आवश्यक है। गॉवो के ये शौचालय

वम्बई जैसे नगरो के शौचालयों के समान सगमरमर के पत्थरो मे बने और खपरैलो से छाये हुए होने चाहिये। इन शौचालयो के चारो ओर बगीचा भी होना चाहिये। इससे ग्रामीणो को उनका उपयोग करने की प्रेरणा मिलेगी। *खादी ग्रामोद्योग* मे प्रकाशित अपने एक लेख मे मैने जो हिसाब लगाया है उसके अनुसार इस स्रोत से हमारे गाँवो मे करीब ३५ करोड घनफुट गैस का उत्पादन प्रति दिन हो सकेगा। श्री दलाल के हसाब के अनुसार इसका मतलब है प्रति दिन १४ लाख मन लकडी की बचत। अत गाँवो मे महिलाओ की समस्या हल करने और मानव मल-मूत्र से बने गैस का भोजन पकाने के लिए उपयोग करने पर क्यो न उपयुक्त जोर दिया जाय।

प्राविधिक कर्मचारी

प्राथमिक रूप से जिस बात की आवश्यकता है वह यह है कि ग्रामीणो को चन्द प्रकार के विचारों और स्वभावो का प्रशिक्षण दिया जाय तथा उनमे नागरिक भावना भरी जाय। यह काम राज्य के स्वास्थ्य विभाग के मार्गदर्शन मे स्थानीय सस्थाएँ कर सकती हैं। इसी के समान आवश्यक और महत्वपूर्ण सवाल है लोगो को काफी तादाद मे गैस सयत्र की तकनीको मे प्रशिक्षण देने का। इस काम के लिए यह आवश्यक है कि राज्य सरकारे अपने-अपने राज्यो मे प्रशिक्षण सस्थाएँ खोले। जब तक उपयुक्त तादाद मे प्राविधिक कर्मचारी न हो– जोकि न केवल सयत्रो की स्थापना मे बल्कि आगे चल कर उनकी मरम्मत आदि मे भी सहायता करेगे– तब तक कार्यक्रम सफल नही होगा। फिलहाल इन तकनीज्ञो की बहुत ही कमी है। मै ऐसी कई ग्राम पचायतो को जानता हूँ जो गैस सयत्र स्थापित करने की इच्छुक है, लेकिन वे यह नही जानती कि प्राविधिक तथा अन्य सहायता कहाँ से प्राप्त करे। वस्तुत कही भी ऐसी कोई सस्था नही है कि उससे वे ऐसी सहायता प्राप्त कर सके।

अनुसंधान

इसके अलावा केन्द्रीय तथा राज्य दोनो ही सरकारो को चाहिये कि वे इस सम्बन्ध मे अनुसधान कार्य के लिए सस्थाओ की स्थापना करे। अन्वेषण के विना कोई प्रगति नही हो सकती। नागपुर स्थित 'सेण्ट्रल पब्लिक हेल्थ इजीनियरिग रिसर्च इन्स्टीट्यूट' ने बृहत्तर बम्बई के बोरिवली नामक स्थान पर [illegible] दिशा मे मामूली कार्यारम्भ किया है। यह सस्था एक इस प्रकार के गोबर गैस सयत्र की डिजाइन बनाने मे सफल हुई है जिसकी लागत मे कमी और उत्पादन मे वृद्धि प्राप्त की गयी है। इस सयत्र से इतना गैस तैयार हो जाता है, जो एक सात सदस्यीय परिवार की ईधन सम्बन्धी सभी आवश्यताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त है। इस सयत्र की लागत ६५० रुपये है जो आगे अनुसधान करके और भी कम की जा सकेगी। जो है सो ठीक है, तथापि, जरूरत इस बात की है कि मानव मल-मूत्र, गोबर तथा बेकार जानेवाली अन्य कार्बनिक सामग्री का इस्तेमाल कर सके ऐसे सामुदायिक गैस सयत्र के सम्बन्ध मे अन्वेषण किया जाय। मै निश्चयपूर्वक नही कह सकता कि इस विस्तृत क्षेत्र के सम्बन्ध मे देश भर मे कही भी अन्वेषण हो रहा है।

दूसरा प्रश्न है कि गैस को किस प्रकार गैस सयत्र के स्थान पर ही सदाबित कर सिलिण्डर मे भरा जाय और किस प्रकार इस प्रक्रिया को बहुत ही सरल तथा सस्ती बनाया जाय। अनुसधान सस्थाओ के लिए भी यह एक समस्या है। गैस की नालियाँ लगाकर गाँव के प्रत्येक घर मे गैस पहुँचाना बहुत खर्चीला पडेगा। यह अत्यधिक खर्चवाला वितरण गैस सयत्रो को लोकप्रिय बनाने मे एक बाधा है। जब तक इस कमी को दूर करने के लिए कोई तरीका न खोज निकाला जाय, तब तक वास्तविक प्रगति की आशा नही की जा सकती। घरेलू इकाई मे हो सकता है कि यह समस्या खडी न हो, लेकिन सामुदायिक सयत्रो की योजना बनाते वक्त यह खडी हो जाती है। चन्द महीनो पूर्व मैने 'सेन्ट्रल पब्लिक हेल्थ इजीनियरिग इन्स्टीट्यूट' और 'भारतीय कृषिक अनुसधान सस्था', नयी दिल्ली दोनो के समक्ष ही यह समस्या रखी है।

अगर और आगे का कोई अनुसधान कार्य हो तो वह आवश्यक रूप से ही समन्वित होना चाहिये। प्राप्त

परिणामो की जानकारी फैलाने के लिए प्रबन्ध किये जाने चाहिये। मै यह सुझाव देना चाहूँगा कि एक केन्द्रीय सस्था तथा प्रत्येक राज्य मे एक-एक सस्था इसी काम के लिए हो। ऐसी सस्थाओ को चाहिये कि वे अन्य सम्बद्ध क्षेत्रो मे कार्यरत सस्थाओ के साथ सहयोग करे।

सामुदायिक इकाइयाँ

पारीवारिक इकाई के लिए प्रारम्भिक ६५० रुपये की लागत मे परिवार के लिए एक या दो शौचालय बनाने का खर्च शामिल नही है। इन शौचालयो की स्थापना बहुत ही आवश्यक है। शौचालयो की लागत करीब ६०० रुपये आ सकती है। इस प्रकार कुल विनियोजन १,२५० रुपये होगा। एक औसत ग्रामीण परिवार के लिए इतनी बडी रकम जुटाना मुश्किल होगा। गॉव म मुश्किल से एक प्रति शत परिवार इतना विनियोजन करने मे और करने के लिए, समर्थ तथा तैयार होगे। आदिवासी क्षेत्रो मे तो कोई समर्थ होगा ही नही। इस प्रकार इन पारिवारिक इकाइयो से ग्राम सफाई, महिलाओं की लाज, मूल्यवान पेडो और जगलो को गैर-कानूनी तौर से काटने की समस्या हल नही हो सकती। इस बात पर जोर देना चाहिये कि स्थानीय ग्राम पचायते सामूहिक इकाइयाँ स्थापित करे और उनके रख-रखाव का काम देखे। इन इकाइयो की लागत काफी अधिक होगी। लेकिन इन सस्थाओ को इन कामो के लिए ऋण दिया जा सकता है और इन सयत्रो से उक्त सस्थाओं को जो सोन खाद प्राप्त होगी, उससे प्राप्त आमदनी से ऋणो की वापसी की जा सकेगी। भोजन बनाने के लिए गॉव के हरेक घर को गैस मुफ्त मे दी जाय अन्यथा ईधन के लिए मूल्यवान पेडो की कटाई कानूनी या गैर कानूनी रूप से होती ही रहेगी।

ईधन की समस्या का समाधान

गॉव की ईधन सम्बन्धी आवश्यकता पूरी करने और उसकी जरूरत के उपकरण बनाने के लिए ग्राम-जगल उगाने का विचार व्यावहारिक नही है। प्रति वर्ष प्रत्येक गॉव को कितने ईधन और इमारती काठ की आवश्यकता पडेगी तथा इस काम के लिए कितने जगली इलाके की जरूरत होगी, इसका कही भी हिसाब नही लगाया गया है। एक दूसरा सवाल यह है कि क्या हरेक गॉव मे इस काम के लिए पर्याप्त भूमि उपलब्ध है? और फिर, क्या इस प्रकार के जगलो से गॉव के गरीब से गरीब व्यक्ति को मुफ्त ईधन मिल सकेगा और जितने काल मे—उदाहरणार्थ २० वर्ष—यह जगल बढ कर ईधन देने लायक होगा, उतनी अवधि के लिए ईधन की व्यवस्था का क्या इन्तजाम किया जायगा? मै ग्राम-जगल के विपक्ष मे नही हूँ। मै तो चाहता हूँ कि प्रत्येक गॉव मे उसका सौन्दर्य बढाने के लिए अधिकाधिक पेड हो अर्थात् गॉवो मे पेड ईधन के लिए न हो कर फल-फूल और छाया तथा ठड प्रदान करन के लिए हो। ईधन की समस्या का समाधान गैस सयत्रों से ही हो सकता है।

हमारी ३५ करोड ग्रामीण आबादी को प्रति दिन भोजन बनाने के लिए ४ अरब १० करोड घनफुट गैस की आवश्यकता होगी, जबकि ग्रामीण क्षेत्रो मे गैस सयत्रो से उसका उत्पादन ४ अरब ३५ करोड घनफुट होगा। गैस सयत्रो के बीच मे बन्द पड जाने जैसे मामलो का सामना करने के लिए २५ करोड घनफुट का सीमान्त (मार्जिन) रखना पडेगा। इस प्रकार प्राप्य गैस भोजन पकाने सम्बन्धी आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त भर है। इसलिए इन सयत्रो मे प्राप्त गैस को सिचाई या घर-गली मे रोशनी करने जैसे कामो मे प्रयुक्त न किया जाय।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को चाहिये कि वह प्रत्येक ग्राम इकाई के क्षेत्र मे आनेवाले गॉवो मे, इकाई की स्वीकृति देते वक्त, सामुदायिक गैस सयत्र स्थापित करने की बात पर जोर दे। ग्राम इकाइयो को अगर कोई परिवार अपनी पारिवारिक इकाई स्थापित करने का इच्छुक हो तो उसे सहायता देनी चाहिये। इकाइयो के लिए जो वित्तीय व्यवस्था है उसमे सार्वजनिक और निजी शौचालय तथा आवश्यक गैस सयत्र स्थापित करने के लिए उपयुक्त सहायता भी शामिल करनी चाहिये।

बम्बई २४ जुलाई १९६३

औद्योगिक सहकारी समितियाँ

मसूद अली मिर्जा

हमारे देश मे औद्योगिक सहकारी समितियो के विकास की गति उन्हे सरकारी सहायता देकर बढ़ाने की कोशिश की जा रही है। लघु उद्योगो का विस्तार कर अब तक के अछूते क्षेत्रो में उनका प्रसार किया जा रहा है। इन सहकारी समितियों को ऋण उपलब्ध करने की दिशा मे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। इन समितियो को अधिकाधिक मात्रा में ऋण प्राप्त हो सके, इसके लिए केन्द्रीय वित्तीय अभिकरणों को प्रोत्साहित करने का प्रयास करने के अलावा अलग औद्योगिक सहकारी बैंकों का भी गठन किया जा रहा है।

औद्योगिक सहकारी समितियो के सगठन का तात्पर्य केवल शक्ति के लिए ही नही बल्कि लाभ मे साझेदारी के लिए गठन भी है। तथापि साझेदारो को लाभ के साथ हानि मे भी भागीदार होना पडता है। औद्योगिक साझेदारी का श्रेय फ्रास के फोरियर (Fourier) महोदय को है, जिन्होने मजदूरी को घृणात्मक बनाने की अपेक्षा आकर्षक बनाने के सिद्धान्त प्रतिपादित किये। उन्होने श्रमिक को पूँजी का साझेदार, न कि केवल उसका चाकर, बनाने के विचार को हकीकत मे परिवर्तित किया। सहकारी समिति मे सदस्य या तो अपने घरो मे अथवा सहकारी समिति के आहाते मे उत्पादन कर सकते है। इस तरह सर्वाधिक प्रचलित समिति उस तरह की है जो अपने सदस्यो को कच्चे माल, बिक्री सुविधाएँ और सरजाम प्रदान करती है। औद्योगिक सहकारी समितियो का प्रमुख उद्देश्य है अनेकानेक उत्पादको को सगठित करना ताकि उत्पादन लागत कम की जा सके, काम की तकनीक सुधारी जा सके, मानक उत्पादन हो, आदि।

औद्योगिक सहकारिता

हमारे देश मे कृषि सहकारिता की अपेक्षा औद्योगिक सहकारिता की शुरूआत बहुत हाल ही मे हुई है। सरकारी समर्थन के परिणाम स्वरूप सहकार के क्षेत्र मे विकास की गति तेज हुई है और बडी सख्या मे औद्योगिक सहकारी समितियाँ गठित हुई है जो मुख्यत तीन प्रकार की है (अ) वे समितियाँ जो स्वय उत्पादन कार्य करती है, (आ) वे समितियाँ जो अपने सदस्यो को अनेक सेवाएँ प्रदान करती है जैसे ऋण की व्यवस्था, कच्चे माल और मशीनो की पूर्ति, आदि, और (इ) वे समितियाँ जो अपने सदस्यो को अन्य सेवाओ के अतिरिक्त कार्य-गृह जैसी सामान्य सुविधाएँ भी प्रदान करती है।

वित्त

लघु स्तरीय उद्योगों के योजनाबद्ध विकास और उन्नत सरजाम तथा तकनीको का समावेश करने से सहकारी समितियाँ नये क्षेत्रो मे भी गठित की जा रही है जैसे (१) रग के उत्पादन के लिए औजार गृह, पुर्जे बनाने के लिए औजार और कार्यगृह, (२) कच्चे माल की प्रारम्भिक प्रशोधन प्रक्रियाएँ, जैसे कताई, बेलनी पर लपेटना और ऊन मिश्रण आदि, (३) विशेष प्रक्रिया जैसे उष्मा-उपचार, और विद्युत-लेपन, (४) परीक्षण और समापन, तथा (५) सहायक सामग्री आदि के उत्पादन की मॉग को पूरा करने के लिए सयुक्त कार्य।

सरकार ने सचालन और स्थायी पूँजी के निमित्त ऋण प्रदान करने के लिए वित्तीय सहायता की अनेक पद्धतियॉ बनायी है। जून १९६२ तक इस प्रकार का ऋण इन समितियो के कुल ऋण के २० प्रति शत से अधिक रहा और अधिकतर ऋण वैसे रहे जो सरल

किस्तो मे १० वर्षों मे लौटाने पडते है। कारीगरो को हिस्सा खरीदने और उनके द्वारा समितियो के अश-पूँजी आधार को मजबूत करने के लिए सरकार दो से चार सालों के लिए अश-पूँजी ऋण दे रही है, जिस कि सदस्यो की आय से प्राप्त मासिक योगदान मे से चुकाना पडता है। कुछ मामलो मे अश-पूँजी ऋण उन सहकारी समितियो को दे दिया जाता है जो सदस्यो को प्रमाण-पत्र प्रदान करती है और सदस्य-गण उस रकम का पुन अशो के रूप मे विनियोजन करते है। अन्य मामलो मे सदस्यो के नाम पर व्यक्तिगत रूप से ऋण मजूर किया जाता है, जिन्हे नकद के बजाय अश प्रमाण-पत्र मिलता है किन्तु सरकार के द्वारा अदा करने के लिए वे प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होते है। राज्य सरकारे, दीर्घ काल से ही जहाँ प्राथमिक समितियाँ इतनी कमजोर है कि अत्यधिक योगदान नही कर सकती है, वहाँ शिखर एव सघीय समितियो की अश-पूँजी मे भागीदार होती है। प्राथमिक सहकारी समितियो की अश-पूँजी मे राज्य साझेदारी विशेष कर असम, आन्ध्र प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, केरल, मैसूर, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान और पश्चिम बगाल मे चालू है।

स्टेट बैंक की भूमिका

स्टेट बैंक ने अपनी नीति के परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप लघु स्तरीय उद्योगो की आवश्यकताएँ पूरी करने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करना शुरू कर दिया है। औद्योगिक सहकारी बैंक सहकारी समितियो के पजीयक की पूर्व अनुमति के बिना ऐसा करने मे असमर्थ थे। स्टेट बैंक और उसकी सहायक शाखाओ द्वारा औद्योगिक सहकारी समितियो को दिये गये ऋण के लिए व्यापारिक सूद दर योजना और ९० प्रति शत गारटी योजना भी लागू की गयी है। ऐसा सोचा जाता है कि इससे औद्योगिक समितियो को बडी रकम ऋण के रूप मे प्राप्त होने लगेगी।

सामान्य स्थिति मे औद्योगिक सहकारी समितियो को अपनी ऋण आवश्यकता के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा राज्य सहकारी बैंको से आग्रह करना चाहिये। तथापि, ये बैंक कृषि समितियो मे पहले से ही रत होने और अपने सीमित स्रोतो के कारण ऐसी समितियो की ओर सामान्यत पर्याप्त सहानुभूति अथवा समझ नही प्रदर्शित कर रहे है। इस स्रोत से औद्योगिक सहकारी समितियो को सन् १९६२ मे ९ करोड १५ लाख रुपये ऋण प्राप्त हुआ। इसलिए सरकार द्वारा केन्द्रीय वित्तीय अभिकरणो को प्रोत्साहित करने के लिए कदम उठाये गये है ताकि वे औद्योगिक सहकारी समितियो को वित्तीय मदद के लिए अपनी निधि का एक भाग सुरक्षित रख सके, औद्योगिक ऋण की व्यवस्था के लिए एक औद्योगिक उप-समिति का, जिसमे औद्योगिक सहकारी समितियो के एक या दो सदस्य होगे, गठन कर सके, अपने प्रबन्ध मण्डल मे औद्योगिक सहकारी समितियो के एक या दो प्रतिनिधियो को रखने की अनुमति दे सके और औद्योगिक सहकारिता से सम्बन्धित मामलो की देख-रेख के लिए एक उप-प्रबन्धक की, जिसकी एक या दो निरीक्षक मदद करेगे, नियुक्ति कर सके।

केन्द्रीय वित्तीय अभिकरणो को औद्योगिक सहकारी समितियो को रियायती सूद दर पर—जैसा कि राज्य सरकारे ऐसी समितियो को ऋण देने पर वसूल करती है—अतिरिक्त ऋण सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रोत्साहन देने हेतु भारत सरकार राज्य सरकारो के जरिये सहकारी बैंकों को रियायती दर अर्थात् २½ प्रति शत और सामान्य दर के अन्तर को उपदान देकर पूरा करती है। यह योजना केन्द्रीय अभिकरणो द्वारा औद्योगिक सहकारी समितियो को दिये गये २ लाख रुपये तक के सभी लघु-कालीन ओर मध्य-कालीन ऋणो पर लागू होती है।

औद्योगिक सहकारी बैंक

वर्तमान सहकारी बैंक—जिसमे राज्य स्तर पर शिखर बैंक ओर जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक सम्मिलित है—मुख्यत कृषि क्षेत्र को वित्त प्रदान करने मे लगे हुए है। औद्योगिक सहकारी समितियो की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अलग बैंक अर्थात् औद्योगिक सहकारी

बैंक स्थापित किये जा रहे हैं। राज्य स्तर पर मैसूर, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मद्रास मे इस तरह के चार बैंक स्थापित किये जा चुके हैं। गुजरात, महाराष्ट्र और मैसूर मे जिला स्तर पर सहकारी बैंक स्थापित किये गये हैं। जिला स्तर पर हर औद्योगिक इकाई को सदस्य बनने का अवसर प्रदान किया गया है ताकि जमा के रूप मे अधिक रकम प्राप्त की जा सके।

आन्ध्र प्रदेश

आन्ध्र प्रदेश मे औद्योगिक सहकारी समितियाँ दो अधिनियमो द्वारा प्रशासित हैं। आन्ध्र और तेलगाना क्षेत्र की सहकारी समितियाँ क्रमश १९३२ के मद्रास सहकारी समिति अधिनियम और १९५२ के हैदराबाद सहकारी समिति अधिनियम से प्रशासित हैं। दोनो क्षेत्रो मे सहकारी समितियो के उपनियम उपर्युक्त दो अधिनियमो की धाराओ के अनुसार उचित रूप मे तैयार किये गये हैं। पजीयक के समस्त अधिकार, लेखेक्षण से सम्बन्धित अधिकारो को छोड कर, औद्योगिक विभाग के अधिकारियो को प्रदान किये गये हैं।

आन्ध्र प्रदेश मे सन् १९६२ मे १,०९९ औद्योगिक सहकारी समितियाँ थी जिनके २६,७५६ सदस्य थे और चुकता अश पूँजी ११,०३,१४२ रुपये थी। सन् १९६०-६१ के सहकारिता वर्ष मे इन समितियो ने १६ लाख रुपये मूल्य का उत्पादन किया। इन समितियो को आन्ध्र प्रदेश खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, उद्योगो को राजकीय सहायता अधिनियम के अन्तर्गत राज्य सरकार और अखिल भारत दस्तकारी मण्डल द्वारा वित्त प्रदान किया जा रहा है।

तेलगाना मे हैदराबाद स्थित औद्योगिक सहकारी सघ लिमिटेड अपनी सबद्ध सहकारी समितियो के कार्यो के समन्वय तथा बेहतर बिक्री सुविधाएँ प्रदान करने के लिए शिखर सगठन के रूप मे कार्य करता आ रहा है। इसके परिणाम स्वरूप चर्म शोधन, तेल, बढईगीरी तथा लोहारी, हाथ धान कुटाई, ग्रामीण कुम्हारी और ईंट पथाई, हाथ कताई और बुनाई, हाथ कागज तथा अन्य महत्वपूर्ण उद्योगो के कारीगरो ने अपनी औद्योगिक सहकारी समितियाँ गठित की हैं। इन सहकारी समितियो के कार्य सचालन मे निम्नाकित कठिनाइयो का सामना करना पडा है (१) औद्योगिक सहकारिता के सिद्धान्तो और लाभो की समझ का अभाव, (२) विगत काल मे औद्योगिक सहकारी समितियो की असफलता, जिसके फलस्वरूप कारीगरो मे ऐसी समितियाँ गठित करने का उत्साह कम हो गया है, (३) कानूनो और नियमो का, जिन्हे कारीगरो को समितियो के सदस्य की हैसियत से पालन करना पडता है, जटिल कार्यान्वय, (४) अधिक योग्यता प्राप्त तथा कार्यक्षम कार्यकर्त्ताओ का अभाव, क्योकि वे औद्योगिक सहकारिता को अपने लिए लाभदायक नही पाते है, (५) वित्त प्रदान करने वाले अनेक अभिकरणो—जैसे सरकार, अखिल भारतीय मण्डलो तथा राज्य मण्डलो—द्वारा वित्त मजूर करने मे देर, जिसके कारण समितियो के सदस्यो मे कुण्ठा व्याप्त हो जाती है, (६) सहकारी समितियो के सदस्यो और पदाधिकारियो को सहकारिता के सिद्धान्तो की शिक्षा देने की सुविधाओ का अभाव, और (७) उत्पादनो की बिक्री सुविधाओ की अपर्याप्तता।

इन विषयो पर गभीरता से विचार करके उचित कदम उठाने चाहिये।

औद्योगिक सहकारिता के विकासार्थ सरकार की सशोधित नीति के परिणाम-स्वरूप लघु स्तरीय उद्योगो और ग्रामीण औद्योगीकरण के विकास मे इस क्षेत्र के अधिकाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने की आशा है। अधिकारियो का अनुमान है कि तृतीय पच वर्षीय योजना के अन्त मे औद्योगिक सहकारी समितियो की सख्या ४०,०००, उनकी सदस्य-सख्या ३० लाख और अश-पूँजी २० करोड रुपये हो जायेगी।

अलीगढ (उत्तर प्रदेश) १२ सितम्बर १९६३

समग्र विकास कार्यक्रम

कोदण्डरामन वैद्यनाथन

ग्राम इकाई के निवासियों पर ग्राम इकाई कार्यक्रम के संचालन का क्या प्रभाव पड़ा है, इसे आंकना आसान नही है, फिर भी, तीसरी पॉचसाला योजना के अन्त में इस बात का एक मोटा-मोटी चित्र प्राप्त करना सम्भव हो सकता है कि किसी ग्राम इकाई मे क्या परिवर्तन हुए है।

खादी और ग्रामोद्योगो के विकास सम्बन्धी अनुभव ने यह दिखा दिया है कि जब तक स्थानीय व्यक्ति (देश मे ग्रामीण आबादी का विशाल बहुमत) इसे नही अपनाते, काम का विस्तार नहीं हो सकता। अनुभव से यह भी प्रतीत हुआ है कि कार्य का विस्तार होने, उत्पादन बढने तथा सरकारी सहायता प्राप्त होने के बावजूद वह एक बन्द गली मे ही फस गया अर्थात् प्रगति नही कर सका। इसलिए खादी और ग्रामोद्योग मूल्याकन समितियो ने सुझाया कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को ऐसे चुनिन्दा क्षेत्रो मे सघन प्रयास करने चाहिये, जहॉ वातावरण अनुकूल हो। इस प्रकार के क्षेत्रो मे खादी और ग्रामोद्योगो का लोक-आवश्यकताओ के साथ तादात्म्य स्थापित कर आयोजित विकास करना चाहिये।

बहुविध लाभ

एक सुसयोजित आधार पर कार्यक्रम को इस प्रकार कार्यान्वित करने के फलस्वरूप ग्रामीणो के लिए रोजगारी के अवसर बढेंगे, उत्पादन मे वृद्धि होगी (उत्पादन अधिकाशत स्थानीय उपयोग के लिए होगा), गॉवो से बाहर जानेवाला पैसा रोका जा सकेगा और क्षेत्र मे पैदा हुए कृषि उत्पादनो को स्थानीय आवश्यकताओ के लिए सुरक्षित रखा जा सकेगा। इस प्रकार ग्रामीण अच्छा जीवन-स्तर बनाये रखने मे समर्थ होगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिकाश अभिक्रम और वित्तीय साधन-स्रोत ग्रामीणो के होगे। पचायत राज्य सस्थाओ को जिन्हे आज विस्तृत अधिकार प्राप्त है, इस प्रकार की योजनाओ मे दिलचस्पी लेनी चाहिये। कार्यक्रम तभी सफल हो सकेगा।

कार्यक्रम का कार्यान्वय

क्षेत्र के लोगो की वास्तविक आवश्यकताएँ जानने तथा विस्तारशील अर्थ-व्यवस्था– जोकि विभिन्न विकास योजनाएँ प्रारम्भ करने व चलाने से बन सकती है–के अनुसार कार्यक्रम बनाने के लिए विभिन्न स्तरो पर लोगो द्वारा उपयुक्त आयोजन करना आवश्यक है। यह तभी सभव हो सकता है जबकि क्षेत्र मे काम करनेवाले सरकारी, अर्ध-सरकारी तथा गैर सरकारी यानी सभी रचनात्मक सगठनो का सहयोग प्राप्त हो। सामुदायिक विकास विभाग, सहकार विभाग, उद्योग और वाणिज्य विभाग, कृषि विभाग, सरकारी अभिकरण है, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, अखिल भारत हाथ करघा मण्डल, अखिल भारत दस्तकारी मण्डल, केन्द्रीय समाज कल्याण मण्डल, केन्द्रीय गोसवर्धन परिषद, अर्ध-सरकारी अभिकरण है, और सर्व सेवा सघ, गाधी स्मारक निधि, कस्तूरबा स्मारक निधि, अखिल भारत हरिजन सेवक सघ, अखिल भारतीय आदिम जाति सेवक सघ, भारत सेवक समाज आदि गैर-सरकारी अभिकरण है।

उक्त विभिन्न अभिकरणो का सहयोग प्राप्त करने के लिए कोई अभियान चलाने से पूर्व कमीशन के अन्तर्गत विभिन्न विभागो मे परस्पर परिपूर्ण समझ और समन्वय होना चाहिये। इसलिए यह वाछनीय है कि जब ग्राम इकाइयो का चयन किया जाय तथा उन पर स्वीकृति दी जाय तो कमीशन के विभिन्न निर्देशालयो के क्षेत्रीय कर्मचारी उन क्षेत्रो के विकास पर इस प्रकार अपना ध्यान केन्द्रित करे कि उनकी सभी गतिविधियो से स्थानीय

लोगो मे काम के लिए अभिक्रम और उत्साह का विकास हो। इसके लिए क्षेत्र के विकास के एक व्यापक चित्र का सामने रखना आवश्यक हो सकता है। यह काम उक्त विभिन्न अभिकरणो के सलाह-मशविरे मे स्थानीय सगठनो को करना चाहिये।

तृतीय पच वर्षीय योजना के अभी दो ही वर्ष और है। इस योजना काल के अन्त मे कमीशन के कार्यक्रम—ग्राम इकाई तथा अन्य कार्यक्रम— चलनेवाले क्षेत्रो के लोगो पर पडे प्रभाव का कम से कम एक स्थूल चित्र तो सामने आना ही चाहिए।

यदि हमें अपने प्रयासो को सघन रूप देकर कुछ विशेष सफलता प्राप्त करने मे सफल हो सकते है तो निश्चय ही इसका देश मे सामाजिक व आर्थिक दोनो ही दृष्टियो से अच्छा प्रभाव पडेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि अब तक जिन इकाइयो का प्रवर्तन हुआ है तथा शेष दो वर्ष की अवधि मे जिनका चयन-प्रवर्तन हो सकता है उन पर सावधानी पूर्वक ध्यान दिया जाय, उनमे सुकार्य किया जाय। जिन अन्य क्षेत्रो मे पहले से ही विकास कार्य शुरू हो चुका है, उन पर विशेष ध्यान दिया जाय, ताकि उन क्षेत्रो मे भी, उन्हे समग्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से, अन्य ग्रामोद्योगो का काम प्रारम्भ करना सम्भव बन पडे।

बम्बई १९ फरवरी १९६४

विश्व-जनसंख्या मे प्रौढ़-साक्षरता का अनुमानित प्रातिशत्य १९५०

	पन्द्रह वर्ष और उससे ज्यादा उम्र की अनुमानित आबादी (दस लाख मे)	प्रौढ साक्षरता का अनुमानित प्रातिशत्य
विश्व	१,५८७	५५–५७
अफ्रीका		
उत्तरी अफ्रीका	४०	१०–५७
उष्ण कटिबन्धीय और दक्षिणी	८०	१५–२०
अमेरिका		
उत्तरी अमेरिका	१२६	९६–९७
मध्य अमेरिका	३०	५८–६०
दक्षिण अमेरिका	६७	५६–५८
एशिया		
दक्षिण पश्चिम	३७	२०–२५
दक्षिण मध्य	२८७	१५–२०
दक्षिण पूर्व	१०२	३०–३५
पूर्व	४०४	५०–५५
यूरोप		
उत्तर और पश्चिम	१०२	९८–९९
मध्य	९६	९७–८७
दक्षिण	९५	७९–८०
सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ	११६	८९–९०
ओसेनिया	९	९०–९५

स्रोत 'यूनेस्को', १९५७, पृष्ठ १५।

आंध्र प्रदेश की दस्तकारियाँ

श्रीपति रंगनाथ

प्रस्तुत लेख मे आध्र प्रदेश मे दस्तकारी उत्पादनों की बिक्री को बढावा देने के लिए जो कदम उठाये गये है, उन पर चर्चा की गयी है।

भारतीय दस्तकारी उत्पदानो को अपनी सुन्दरता और उपयोगिता के कारण एक लम्बे समय से उच्च स्थान प्राप्त था। भूत काल मे दस्तकारो ने, एक वर्ग के रूप मे, व्यापारिक काम-धधे के लिए अपने कौशल और हस्त-लाघव के प्रयोग की अपेक्षा अपनी सृजनात्मक प्रतिभा और स्वान्त सुखाय श्रम का प्रदर्शन किया। वे अपने उत्पादनो के विशिष्ट तथा अनुपम आन्तरिक मूल्य से ही सन्तुष्ट रहे और अपने-आपको दूसरो की प्रशसा का भागी बनाया। इस प्रकार के प्रशसनीय कार्य और उसके पीछे उत्सर्ग की भावना से निस्सन्देह कला के पारखियो की ओर से उन्होने मान्यता प्राप्त की, लेकिन इससे दस्तकार वर्ग को कोई विशेष समृद्धि प्राप्त नही हुई।

चन्द चोटि के दस्तकार जिन्हे वशानुगत रूप से कला-कौशल और उसका रहस्य प्राप्त हुआ, व्यक्तिगत दस्तकारियो का काम करते थे। तत्कालीन शासको और श्रेष्ठी वर्ग से, सामान्यत उन्हे सहायता एवम् सरक्षण प्राप्त था। एकमुश्त भारी तादाद मे उत्पादन होने लगने और धीरे-धीरे करके प्राचीन श्रेष्ठी वर्ग का लोप हो जाने के कारण आज उनके बुरे दिन आ गये है। इस प्रकार का विशिष्ट कौशल आज भी सुरक्षित रखा जा सकता है, बशर्ते कि दस्तकार अच्छी हालत मे हो और जीविकोपार्जन के लिए केवल उसी पर निर्भर न रहे।

बेरोजगारी रोकने के लिए

हम भूतकालीन आत्मतुष्टि वाला रुख रखना बर्दास्त नही कर सकते। दस्तकारियो को सामान्यत लाखो-करोडो व्यक्तियो की आवश्यकता-पूर्ति के लिए एक नया दृष्टिकोण अपनाना चाहिये। हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था—जिसका देश की ८२ प्रति शत आबादी से ताल्लुक है—का स्तर गुजर-बसर भर कर लेनेवाला है, जहॉ उपभोक्ता सामानो की आवश्यकता सीमान्त से भी नीची है। हमारी आबादी बढ रही है और उसके साथ ही बेकारो की सख्या। यह महसूस किया जाता है कि ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के आस-पास के इलाको मे पूर्ण तथा अल्प बेरोजगारी फैलने देने को रोकने के लिए एक प्रभावशाली उपाय यह है कि मौजूदा दस्तकारियो का पुनरुद्धार कर उनमे प्राण फूँके जाये। वस्तुत वे हमारी विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए बहुत ही उपयुक्त है, क्योकि एक तो उनमे ऊपरी खर्चो के लिए विशेष व्यय की जरूरत नही पडती और दूसरे बाप से बेटे को वशानुगत कौशल की प्राप्ति होती रहती है। चूकि उत्पादन के विभिन्न क्रमो का काम किसी परिवार के भिन्न-भिन्न व्यक्ति करते है, इसलिए उत्पादन खर्च अपेक्षाकृत कम पडता है। इस लाभ की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि इन दस्तकारियो मे थोडी-सी आधुनिक उत्पादकता का समावेश हो तो, ये मूल्य तथा गुण दोनो ही दृष्टियो से यत्रो की सहायता से तैयार माल का मुकाबला कर सकती है।

दुर्भाग्य से बिक्री व्यवस्था का अभाव होने की वजह से दस्तकारियो के काम की गति धीमी पड जाती है तथा कच्ची सामग्री व उपलब्ध कौशल का प्राय अल्पोपयोग होता है। किसी उद्योग की उत्पादकता बढायी जा सकती है, लेकिन अगर उसी हिसाब से उसकी बिक्री नही बढती है तो उत्पादन-वृद्धि की कोई तुक नही रह जाती। बाजार अनुसधान से केवल विक्रय क्षमता की मौजूदा

तथा माग के भॅावी रुख का सुझाव ही मिल सकता है। इसके लिए बिक्री-व्यवस्था सम्बन्धी प्रयासो का करना आवश्यक है।

अब हम आन्ध्र प्रदेश की दस्तकारी वस्तुओ की बिक्री-व्यवस्था पर प्रकाश डालने का प्रयास करेगे। आन्ध्र प्रदेश मे अनेक दस्तकारियॉ प्रचलित है, जिनमे बिदरी काम, रजत जरदोजी काम, निर्मल काम, हिमरू, ऊनी कालीन तथा नमदे, काठ के खिलौने, चर्मोद्योगी सामान, मिट्टी की बनी वस्तुएँ, बेत और बास की चीजे, धातु के बर्तन, वाद्य-साज आदि शामिल है। अलग-अलग दस्तकारियो के बिक्री-सम्बन्धी पक्ष पर विचार करना अप्रासगिक होगा। अत उनमे से कुछ पर गुण-स्तर, अनुसधान और डिजाइन, बिक्री-व्यवस्था तथा निर्यात प्रोत्साहन की दृष्टि से सामान्य विचार करना ही पर्याप्त होगा।

आन्ध्र प्रदेश की दस्तकारियॉ

वारगल तथा एलूरू की कालीन और नमदा बुनाई आन्ध्र प्रदेश की एक प्राचीनतम दस्तकारी है। ये दो उद्योग करीब ५०० कारीगरो को पूर्ण और आशिक रोजगारी प्रदान करते है। फिलहाल करीब १२,००,००० रुपये का सामान प्रति वर्ष पैदा होता है। इसमे एलूरू के कालीन उद्योग का हिस्सा दस लाख रुपये का है। इन उत्पादनो का उपभोग अधिकाशत राज्य के बाहर होता है। अधिकाश माल निजी तौर पर बाहर भेजा जाता है तथा लगभग एक लाख रुपये का माल सरकारी बिक्री भवनो के जरिये बेचा जाता है। इस उद्योग मे विदेशी विनिमय अर्जित करने की क्षमता की दृष्टि से सरकार इस दस्तकारी को काफी महत्व देती है और कारीगरो की पूँजीगत ऋण, उपकरण तथा प्राविधिक ज्ञान प्रदान करने के रूप मे सहायता करती है। कारीगर अपना काम सुचारू रूप से कर सके इसके लिए अनुकूल अवस्थाएँ निर्मित करने की दृष्टि से सरकार ने एक सामूहिक सुविधा केन्द्र खोला है। एक ऊन प्रशोधन तथा रगाई सयत्र स्थापित करने की भी योजना है।

निर्यात बढाने की दृष्टि से न केवल हिमरू, बिदरी, हाथी दात आदि के सम्बन्ध मे बल्कि एलूरू और वारगल के कालीनो के लिए भी मानक निर्धारण योजना लागू की गयी है। फिलहाल ६ लाख ३९ हजार रुपये का मानक वाला माल है। मानक निर्धारण केन्द्रो को शक्तिशाली बनाने के लिए उपकरणो, तकनीको, परीक्षणो, आदि के सम्बन्ध मे सुधार किये जाते है।

कुछ दस्तकारियो के प्रतिरूप तैयार करने के लिए एक अनुसधान और नमूना केन्द्र भी स्थापित किया गया है। इन नमूनो (डिजाइनो) से दस्तकारियो के परम्परागत प्रतिरूपो के पुनरुद्धार की, यदि आवश्यक हुआ तो सुधार की भी, और लोकप्रिय होने की अपेक्षा है तथा फलस्वरूप तिरुचनूर के खिलौने, बिदरी, हिमरू तथा निर्मल काम-वाले उत्पादनो की बिक्री बढने की भी आशा है।

बिक्री व्यवस्था

विभिन्न और बहुविध किस्मो के होते हुए भी कठोर स्पर्धा के कारण आन्ध्र प्रदेश की दस्तकारियो के लिए एक नियमित व व्यापक मॅाग निर्मित करना मुश्किल हो रहा है। और फिर, सुनिश्चित तथा तैयार बाजार की कमी के कारण दस्तकारो को काफी लम्बे समय तक अपने उत्पादनो का स्टॉक रखना पडता है। बाजार प्राप्त करने के लिए उनके पास पर्याप्त साधन-स्रोत भी नही है। बताया जाता है कि कुछ एक मालो की कमी है तो दूसरी ओर जो है वे निम्न कोटि के है। विदेशी विनिमय की कमी होते हुए भी प्राय दस्तकारो को निर्यात पर निर्भर रहना पडता है। अतएव उन्हे अपने अस्तित्व के लिए दस्तकारी सहकारो जसी चन्द अन्य सगठित सस्थाओ पर निर्भर करना पडता है।

द्वितीय पच वर्षीय योजना के अन्त मे १५० से ज्यादा दस्कारी सहकारी समितियॉ थी, जिनकी सदस्य-सख्या २०,००० थी। इन सहकारो के अन्तर्गत प्राय राज्य की सभी दस्तकारियॉ आ जाती है। वर्ष १९६२–६३ के दौरान माधवमाला के लाल लकडी के खिलौने बनाने का उद्योग, हैदराबाद के निकट अलवाल का मच सम्बन्धी उपकरण बनाने का उद्योग, चिराला का ठप्पा छपाई

और रगाई उद्योग आदि जैसे काम भी इनके अन्तर्गत ला पटके गये है।

सरकार समितियो की अत्यावश्यकताओ को पूरा करने के लिए ऋण-सह-अनुदान प्रदान करने और जब तक समितियाँ अपने पैरो पर खडी होने मे समर्थ न हो जाये तब तक के लिए प्रबन्ध व प्रशासन सम्बन्धी सहायता देने के लिए इच्छुक है।

द्वितीय पच वर्षीय योजना के दौरान ६ लाख ५० हजार रुपये और तीसरी पॉचसाला योजना मे ५ लाख रुपये दस्तकारी सहकारिताओ को ऋण तथा अनुदान स्वरूप वितरित किये गये। गत वर्ष बीस समितियो ने ७४,००० रुपये सहायता स्वरूप प्राप्त किये। इनके अन्तर्गत १६ दस्तकारियाँ थी। इसी प्रकार ४० अन्य सहकारी समितियो ने ५६,९०० रुपये के बराबर व्यवस्थापकीय सहायता प्राप्त की। समितियो को रुपये-पैसे और तकनीक सम्बन्धी यह सहायता मिलने से उत्पादन बढा है। उत्पादन १९६१–६२ मे छ लाख रुपये का हुआ था और १९६२–६३ मे ७ लाख ८१ हजार रुपये का।

बिक्री को बढ़ावा

बिक्री-व्यवस्था को युक्तियुक्त बनाने की दृष्टि से राज्य के खास-खास स्थानो मे सात दस्तकारी भवन खोले गये है। इन भवनो मे १९६२–६३ मे कुल ११ लाख ५६ हजार रुपये की बिक्री हुई। राज्य के बाहर प्रमुख स्थानो मे बिक्री भवन खोलने की योजनाएँ तैयार की जा रही है। अपेक्षा की जाती है कि समय पाकर इनसे अन्तर्राज्यीय दस्तकारी व्यवसाय मजबत बनेगा। राज्य दस्तकारी सलाहकार मण्डल की प्रमुख तीर्थ स्थानो, रेलवे स्टेशनो तथा भ्रमण सूचना केन्द्रो मे नवीनतम दस्तकारी उत्पादनो का प्रचार करने और प्रदर्शन कक्ष स्थापित करने की योजना है। गत वर्ष बताया जाता है कि हैदराबाद भवन के दस्तकारी निर्यात विभाग ने १२,००० रुपये का माल 'ट्रायल आर्डर' के मुताबिक सीधे रूप मे भेजा।

निर्यात प्रोत्साहन की दृष्टि से बाजार सर्वेक्षण, अन्वेपणात्मक अध्ययन, बाजार परीक्षण, बिक्री के उपाय, परिकल्पनात्मक तरीके, दृष्टिकोण निर्धारण तथा अन्य इसी प्रकार की वैज्ञानिक बिक्री योजनाओ का महत्व आसानी से समझ लिया जाता है, लेकिन कभी-कभी इनके निहितार्थ उतनी ही अच्छी तरह नही समझे जाते। ऐसा इसलिए नही है कि निर्यात प्रोत्साहन को गति प्रदान करने के लिए हमारे उद्यमियो अथवा सरकार मे अभिक्रम की कमी है, लेकिन इसलिए कि सभी प्रकार के ब्यौरे का ध्यान रखते हुए आवश्यक प्रारम्भिक कार्य के लिए इतने परिव्यय और प्राविधिक ज्ञान की जरूरत होती है कि वह सहकारो के बूते के बाहर की बात है।

ऐसा कहा जाता है कि अगर हमारी दस्तकारियो की कीमत उचित हो, वे अच्छे गुण-स्तर की हो, उनकी डिजाइने कल्पनात्मक हो, आकर्षित ढग से पैक की गयी हो, उनका प्रभावक वितरण तथा सुप्रचार हो तो निश्चय ही उन्हे बाजार की प्राप्ति होगी। तथापि, एक प्रतिस्पर्धात्मक अर्थ-व्यवस्था मे इतना ही पर्याप्त नही है। जरूरत है उपभोक्ता प्राप्त करने के लिए अनवरत उस काम मे जुटे रहने की। व्यापार मेलो, औद्योगिक प्रदर्शनियो, प्रात्यक्षिक कक्ष, फैशन प्रदर्शन, प्रकाशन, विज्ञापन आदि के जरिये प्रचार तथा अन्य इसी प्रकार की बातो से निस्सन्देह विदेशी ग्राहको को हमारे उत्पादनो की जानकारी होती है, तथापि, वे हमे एक तुरन्त उपलब्ध बाजार की सुनिश्चितता नही प्रदान करते।

अन्तर्राष्ट्रीय शुल्क-पद्धति (टैरिफ), प्रशासनात्मक खामियाँ, व्यापारिक अवस्थाएँ, कार्य प्रणाली विषयक विलम्ब आदि जैसे अन्य महत्वपूर्ण पहलू है जो निर्यात व्यापार मे बाधक है। सरकार और निर्यात जोखिम बीमा निगम, चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स, औद्योगिक तथा व्यापारिक सघ, अन्वेषण सूचना केन्द्र व व्यापार सलाह केन्द्र आदि जैसी सम्बद्ध सस्थाओ से प्रभावशाली रूप मे सहायता मिलने पर इन खामियो पर काबू पाया जा सकता है।

हैदराबाद, ७ नवम्बर १९६३

त्रिपुरा की अर्थ-व्यवस्था और खादी-ग्रामोद्योगों की सम्भावना

त्रिपुरा मे कृषि-उद्योगों के विकास के लिए अनुकूल क्षेत्र है। स्थानीय जन-जातिया हाथ कताई और हाथ बुनाई की कला से अच्छी तरह जानकार है। प्रशोधन तथा अन्य उद्योगों के लिए कच्चा माल भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है।

त्रिपुरा एक भूतपूर्व रजवाडा है, जो १५ अक्तूबर १९४९ को भारतीय सघ मे शामिल हुआ। त्रिपुरा की सीमा पश्चिम, उत्तर-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व और दक्षिण में अनेक स्थानो पर पाकिस्तान से मिलती है। इसके उत्तर-पूर्व मे असम राज्य है। पाकिस्तान के माथ इसकी सीमा लगभग ५२० मील और असम के माथ १८० मील की है।

इसका क्षेत्रफल ४,११६ वर्ग मील है। इसकी अधिकतम लम्बाई ११४ मील और अधिकतम चौडाई ७० मील है। कुल जगल क्षेत्र ६,३५२ कीलोमीटर है। यह चेरापूजी वृत मे होने के कारण यहाँ पर वर्षा बहुत अधिक होती है। यह क्षेत्र चक्रवात (तूफानी हवा) से प्रभावित माना गया है। बाढ तथा अन्य दैवी आपदाएँ विनाश के पहाड अपने साथ लाती है और एक भाग को दूसरे भाग मे अलग कर देती है।

जन-सख्या और साक्षरता

त्रिपुरा की कुल जन-सख्या ११,४२,००५ है, जिसमे शहरी जन-सख्या १,०२,९९७ और ग्रामीण जन-सख्या १०,३९,००८ है। परिगणित जन-जातियो की आबादी ३,६०,०७० और परिगणित जातियो की १,१९,७२५ है।

राज्य मे साक्षरता २० २ प्रति शत और जन-सख्या का घनत्व प्रति वर्ग किलोमीटर १०७ है।

प्रशासनिक दृष्टि से त्रिपुरा १० उपखण्डो मे विभाजित है, जिनमे ६ शहर और ५,२८६ गॉव है। इस सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण इस प्रकार है

उप-खण्ड	क्षेत्रफल (वर्ग मील मे)	जन-सख्या
अमरपुर	५२७	५६,३६५
बेलोनिया	३९४	८४,८२७
धर्मनगर	६६२	१,२७,५४८
कैलाशहर	४६४	१,०४,१२६
कमलपुर	२४०	६१,६७५
खोवई	५३८	१,२९,९४८
सुब्रूम	२३८	४३,३९७
सरदार	६०२	३,६६,०७६
सोनमुरा	२०५	७७,९६९
उदयपुर	२४६	९०,०७४
	४,११६	११,४२,००५

त्रिपुरा को अनवरत शरणार्थी समस्या का सामना करना पडता है, जिससे राज्य सरकार के स्रोतो पर बहुत दबाव पडता है। राज्य तक पहुँचने के लिए स्थल-मार्ग का प्राय अभाव होने के कारण वहाँ आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति, कलकत्ता से वहाँ की राजधानी आगरतल्ला मे वायुयान द्वारा सामान पहुँचा कर की जाती है।

कृषि की प्रधानता

यह क्षेत्र मुख्यत कृषि-प्रधान होने के कारण कृषि-उद्योगो के विकास के लिए वहाँ अछूता क्षेत्र पडा है अर्थात् वहाँ इनके विकास की बहुत गुजाइश है। राज्य मे

रेल की व्यवस्था या तो है ही नही या फिर बहुत ही कम। विद्युत पूर्ति भी बहुत दुर्लभ है। परिवहन की समस्या भी अत्यत जटिल है। एक मात्र स्थल-मार्ग है असम-अगरतल्ला रोड। शक्ति और परिवहन सुविधाओ के अभाव के कारण वहाँ बडे उद्योगो की स्थापना नही हो सकती। जनसख्या का बडा हिस्सा शरणार्थियो तथा जन-जातियो का होने के कारण आवश्यकताएँ कम है और लोगो की क्रय-शक्ति भी कम है। राज्य को परमावश्यक कृषि वस्तुओ, वन्य उत्पादन, मवेशी और मुर्गी-पालन के सन्दर्भ मे सोचना पडेगा। इस प्रकार राज्य की परिस्थितियाँ खादी और ग्रामोद्योगो के विकास के लिए अनुकूल है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने त्रिपुरा को पर्वतीय एवम् सीमात क्षेत्र योजना के अन्तर्गत सम्मिलित किया है और वहाँ पर क्षेत्रीय कार्यालय खोल रखा है। खादी तथा अन्य ग्रामोद्योगो के विकास की गुजाइश कुछ इस प्रकार है

खादी

राज्य मे खादी कार्यक्रम के लिए अच्छी गुजाइश है। राज्य मे खादी सूतकार और बुनकर है। आदिवासी स्वावलम्बन के आधार पर हाथ-कताई और हाथ-बुनाई करने मे पटु है। राज्य मे प्राप्त अनुकूल परिस्थितियो और राज्य के लोगो को रोजगार प्रदान करने की सर्वोपरि आवश्यकता के विचार से खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने वहाँ छ तकुए के अम्बर चरखे की शुरूआत करने की योजना स्वीकृत की है।

बेलोनिया शहर और निहारनगर मे छ तकुएवाले अम्बर चरखे के केन्द्र है। निहारनगर क्षेत्र का सर्वेक्षण किया गया। यह समझा गया कि वहाँ खादी और ग्रामोद्योग बहुत सफलता पूर्वक विकसित किये जा सकते है। उक्त क्षेत्र शरणार्थी बस्ती है। वहाँ पर पुनस्स्थापित शरणार्थियो के अलावा जन-जातियो के लोग भी है। उक्त क्षेत्र के लोग ऐसी अवस्था मे है कि खादी और ग्रामोद्योगो के कार्य से उन्हे बहुत राहत मिलेगी। क्षेत्र मे बुनाई की सुविधाएँ भी उपलब्ध है। केन्द्र जन जाति-प्रधान क्षेत्र के समीप है और इससे उन्हे छ तकुए के अम्बर चरखे पर हाथ कताई करने का प्रोत्साहन मिलेगा। यह क्षेत्र हाथ धान कुटाई उद्योग के विकास के लिए भी अनुकूल है। ग्रामीण तेल उद्योग के विकास के लिए अन्य क्षेत्रो का सर्वेक्षण किया जा रहा है।

आगरतल्ला जेल में

आगरतल्ला स्थित केन्द्रीय जेल मे एक और केन्द्र है। जेल अधिकारी अपने बुनाई विभाग मे हाथ कते सूत का प्रशोधन करने के लिए तैयार है और आगे चल कर मिल सूत के बदले हाथ कते सूत का व्यवहार करना सभव हो सकेगा। हाथ धान कुटाई, ग्रामीण तेल, बढईगीरी, मधुमक्खी-पालन, मुर्गी-पालन, मत्स्य-पालन, टोकरी बनाना, कृषिक तथा उद्यान सबधी कार्य और खादी जैसे अनेक उद्योगो का काम उक्त जेल मे चलता है।

चौथा केन्द्र आगरतल्ला से १३ मील दूर पर बरजोलाई जीरानिया खण्ड मे स्थित 'सर्वोदय कर्म मन्दिर' मे चलता है। गाधी ग्राम विकास समिति अपने 'सर्वोदय कर्म मन्दिर' मे अनेक सर्वोदय प्रवृत्तियाँ चलती है। यह मुख्यत जन-जाति क्षेत्र है, जहाँ पर बुनाई आदि जन-जातियो के अपने तरीके से प्रचलित है। समिति बाल मन्दिर, निशुल्क औषधालय और ग्रामीण तेल तथा खादी जैसे ग्रामोद्योग कार्यक्रमो का सचालन भी करती है। हाल ही मे प्रशिक्षण के लिए उम्मेदवारो का चुनाव किया गया है, जिनमे स्त्रियाँ भी सम्मिलित की गयी है।

पहली किस्त के रूप मे चरखे और तकनीकल कर्मचारी राज्य के बाहर के व्यक्ति थे। यह जरूरी है कि स्थानीय कार्यकर्त्ता प्रशिक्षित तथा तैयार किये जाय और चरखो तथा अन्य उप-साधनो का भी स्थानीय तौर पर उत्पादन किया जाय। भावी कार्यक्रम की दृष्टि से ये दोनो अत्यधिक आवश्यक है।

त्रिपुरा मे अन्य अनेक ग्रामोद्योगो के विकास की असीमित शक्यताएँ है, जिनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है।

त्रिपुरा मुख्यत चावल उत्पादक क्षेत्र है, जिसमे ४,४५,५०० एकड भूमि पर धान की खेती होती है और धान की कुल उत्पत्ति १,७०,७५० टन वार्षिक है। हाथ धान कुटाई उद्योग वहाँ का एक परम्परागत कुटीर और ग्रामोद्योग है। गॉवो मे हर घर मे परम्परागत ढेकी मिलती है। गॉवो मे प्रत्येक घर मे धान उसना करने और उसकी कुटाई करने का काम भी होता है। इस क्षेत्र मे लोगो का प्रधान भोजन चावल है तथा इसके फलस्वरूप इस उद्योग की असीमित शक्यकताएं है। इस उद्योग के अन्तर्गत काम शुरू करने के लिए कुछ क्षेत्रो का विशिष्ट रूप से सर्वेक्षण किया गया है।

ग्रामीण तेल

राज्य मे तिलहनो मे मुख्यत सरसो, अलसी और तिल पैदा होता है। स्थानीय तौर पर उपभोग मे लाया जानेवाला तेल सरसो के बीजो से निकाला जाता है। तिलहन पैदा करनेवाला क्षेत्र १९,१०० एकड और कुल उत्पादन २,८४० टन वार्षिक है।

रेशा

त्रिपुरा मे १,७५,००० गाठ पटसन का उत्पादन होता है और पटसन की खेती के अन्तर्गत (मेस्ता सहित) ६४,००० एकड भूमि है। त्रिपुरा मे अनन्नास बहुतायत मे होता है और अभी अनन्नास के रेशे का कोई उपयोग नही होता। फल निकल आने के बाद रेशा बेकार हो जाता है। पता चला है कि दक्षिण कनारा के नुदक्रिद्री स्थान पर इस रेशे के सम्बन्ध मे शोध की गयी और उसके परिणाम बहुत उत्साहजनक रहे। त्रिपुरा मे केले के रेशे बहुतायत मे है। वहा पर वन्य केले भी पैदा होते है और इस केले का डण्ठल रेशा निकालने के लिए बहुत उपयोगी होता है।

चर्मोद्योग

त्रिपुरा मे सात लाख मवेशी है और इसमे चर्मोद्योग के विकास का सभाव्य क्षेत्र है। छोटी-बडी खालो के बाजार का नियत्रण कुछ दलालो के हाथो मे है, जोकि उनका राज्य के बाहर निर्यात करते है। निर्मित वस्तुओ का आयात होता है। खाल के मामले मे स्थानीय एकाधिकार को नियत्रित करने के लिए तौर-तरीके खोजने पडेगे, ताकि वैयक्तिक चर्म कार्य करनेवाले को खाल और चमडे की बेहतर कीमत मिले तथा खालो का राज्य मे ही शोधन तथा उपभोग हो सके, क्योकि इसका राज्य से बाहर निर्यात करना न तो मितव्ययी है और न उसमे लाभदायक मूल्य ही प्राप्त होता है। सरकार को स्थानीय उत्पादन और इसके उपभोग के लिए आवश्यक सरक्षण प्रदान करके, इस उद्योग की सहायता करनी पड सकती है।

गन्ने की खेती के अन्तर्गत ७,२०० एकड भूमि है और उसका उत्पादन ९,००० टन वार्षिक है। गुड-उत्पादन के विकास के लिए राज्य मे अच्छी सभावना है।

राज्य मे जिस दूसरे उद्योग के विकास की अपार सभावना है वह है मधुमक्खी-पालन। मधु-पेटी के सुव्यवस्थित निर्माण और पूर्ति तथा मधुमक्खी-पालको द्वारा मधु सग्रह और उसकी बिक्री के सुनियोजित प्रयास करने के परिणाम-स्वरूप वैयक्तिक मधुमक्खी-पालको एवम् साथ ही साथ राज्य की आय बढायी जा सकेगी।

आगरतल्ला २४ जनवरी १९६४

व्यापारसम्बन्धी व्याख्याने : न्यायाधीश माधव गोविद रानडे के अभिभाषण (१८७२–७३), प्रकाशक गोखले अर्थशास्त्र सस्था, पूना, १९६३, पृष्ठ सख्या बाईस+ ६८, मूल्य . २ ५० रुपये।

प्रस्तुत पुस्तिका मे विगत शताब्दी के सुप्रसिद्ध समाज-सेवी न्यायाधीश माधव गोविद रानडे के दो अभिभाषणो को, जो पूना मे ८ दिसम्बर १८७२ और २२ फरवरी १८७३ को दिये गये थे, पुनर्मुद्रित किया गया है। उन दिनो उनकी उम्र महज ३० वर्ष की थी। फिर भी देश की आर्थिक समृद्धि से ताल्लुक रखनेवाली बातो की उन्होने जिस सूक्ष्मता से व्याख्या की थी, वह विशेष महत्व रखती है। भारतीय जनता की दरिद्रता के लिए उन्होने (१) विदेशी सत्ता के आधीन होने की वजह से भारतीय साधनो का भारी रिसाव तथा (२) दस्तकारी और कारखानो के विकास के लिए साधन-स्रोतो की कमी को जिम्मेवार बताया था। आज से लगभग ९० वर्ष पहले अपने देशवासियो को सोने और चॉदी के गहनो के रूप मे कीमती पॅजीगत साधनो को अनुत्पादक बना कर जिस ताला-कुन्जी मे बन्द रखने के लिए उन्होने फटकार बतायी थी, वही स्थिति आज तक बनी हुई है।

विदेशी सत्ता १५ करोड की आबादी से ५० करोड रुपये वसूल करती थी। और यद्यपि उन दिनो देशी राज्यो मे कर अदायगी की दर अग्रेजी भारत से अधिक थी, लेकिन अग्रेजी भारत से इग्लैण्ड की ओर जानेवाली सम्पत्ति की मात्रा इतनी अधिक थी कि यहॉ की जनता का नुकसान अन्य क्षेत्रो के बजाय सबसे अधिक था। सात हजार यूरोपीयनो, ६० हजार यूरोपीयन फौजी सिपाहियो तथा पॉच हजार छोटे-बडे नागरिक अफसरो पर ५½ करोड रुपयो के व्यय के अतिरिक्त १०½ करोड रुपये भारत सरकार ब्रिटिश सरकार को भेजती थी।

वाणिज्य और व्यवसाय की मात्रा मे अभिवृद्धि के बावजूद इस व्याधि के मूल कारणो की ओर खास इशारा करते हुए न्यायधीश रानडे ने कहा था– "कच्चे मालो' का इग्लैण्ड की ओर निर्यात और तैयार मालो का आयात स्थानीय आबादी को, उसके जीविकोपार्जन के दायरे से वचित करता जा रहा है।"

युद्ध जैसी असामान्य स्थितियो मे मालो की कमी की पूर्ति के लिए जब कभी इस देश से मॉग की गयी तो उन अवसरो पर साबित हो गया कि भारत के बने माल अपनी श्रेष्ठता मे अन्य देशो से कम नही है। उदाहरणार्थ क्रीमिया के युद्ध (१८५४) मे भारत ने इग्लैण्ड को सतोषजनक मालो की पूर्ति की, जबकि वही माल इग्लैण्ड तब तक अन्य देशो से खरीद रहा था। दर असल, भारत का माल इतना पसन्द किया गया कि युद्ध के समाप्त हो जाने के बाद भी रूस से आयात होनेवाले मालो की टक्कर मे भारतीय माल मॅगाये जाते रहे।

उदाहरणार्थ, १८५१ से १८५५ के बीच ४३ लाख रुपये की चाय भारत से बाहर भेजी गयी। अगले ५ वर्षो मे यह मात्रा ८३ लाख रुपये तक तथा उसके बाद के ५ वर्षो मे २२३ लाख रुपये तक पहुँच गयी। कॉफी के मामले मे भी सालाना निर्यात १८५०–५५ मे ९३ लाख रुपये से बढ कर १८५५–६० मे १३३ लाख रुपये तक पहुँचा। अगले ५ वर्षो की अवधि मे यह निर्यात ५५३ लाख रुपये का हुआ।

इसी तरह अमरीकी गृह युद्ध का प्रभाव रूई के निर्यात पर पडा। १८६०–६८ मे वह ४,२२,००० गॉठों से बढ कर १३,७०,००० गॉठ प्रति वर्ष तक पहुँच गया, जबकि अमरीका से इग्लैण्ड आनेवाली २८,३८,००० गॉठो की औसत घट कर १३,५०,००० गॉठे तक हो गयी। उसके बाद के दिनो मे भी भारतीय रूई का निर्यात कम नही हुआ। दर असल, १८७१–७२ मे भारत ने अमरीकी गृह-युद्ध से पहले से अधिक रूई का निर्यात किया। इसके अतिरिक्त कई तरह के व्यवसायो का विस्तार होता गया–ऊन का कारोबार दूना हो गया। कपास की खेती मे वृद्धि का अन्य नकदी फसलो पर गलत प्रभाव पडा।

अपने अभिभाषणो मे रानडे ने बताया कि आयात-निर्यात प्राय तिगुना हो गया है, चाय, चावल अफीम, कॉफी, रूई, ऊन आदि उत्पादनो का निर्यात बढ गया है। किन्तु रेशमी और सूती वस्त्र, शाल, चीनी आदि के निर्यात को नुकसान पहुँचा है।

श्री रानडे ने कहा कि महज व्यापार की अभिवृद्धि राष्ट्रीय आर्थिक समृद्धि को परिलक्षित नही करती। उसमे इस बात को देखना है कि आयात किये जा रहे माल देश मे पैदा होते है या नही और उस आयात से देशी उद्योगो पर क्या प्रभाव पडता है। विलायत से आयात किये जा रहे माल ऐसे है, जो देशी कारीगरो द्वारा तैयार किये जाते रहे है, जिसका भयानक प्रभाव देशी उद्योगो पर पडा है।

गैर कृषि धधो की बन्दी के सम्बन्ध मे चिता व्यक्त करते हुए श्री रानडे ने कहा कि भारत मे उत्पादित कच्चे मालो को विलायत भेजा जाता है और उनसे तैयार माल बना कर पुन भारत भेजा जाता है। भारत को पूर्णत कृषि पर निर्भर रहने के लिए छोड दिया गया, जिससे होनेवाली प्राप्ति, अन्तत लुप्त-सी होती जा रही है।

औद्योगीकरण से जीवन-यापन का स्तर, जनता की शिक्षा तथा सस्कृति का स्तर ऊपर उठेगा। राजनीतिक दृष्टि से भी औद्योगिक कार्यो मे सलग्न लोगो मे अधिक जागृति होती है। वे अन्याय का विरोध करने मे समर्थ होते है या कम से कम अपनी आवाज बुलन्द करते है। विदेशी सत्ता के आधीन पडे इस देश मे इस स्थिति से मदद मिलती।

अपनी बुनियादी आवश्यकताओं के लिए शासक देश पर भारत की निर्भरता का जिक्र करते हुए रानडे ने कहा कि आर्थिक तौर पर भी यह देश उतना ही कमजोर हो गया है जितना राजनीतीक तौर पर। ऐसी गुलामी की जिन्दगी, जिसमे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए काम नही मिले, पहले दर्ज की बेवकूफी है।

रानडे की सारी बाते, हो सकता है, आज हमे मान्य न हो, लेकिन वे बाते उस पीढी की चिन्तनधारा पर प्रकाश डालती है और यह बताती है कि उस जमाने के नेतागण उच्च वित्तीय मामलो मे अपने देशवासियो को किस रूप से शिक्षित करना चाहते थे।

उन दिनो भी रानडे ने अभिभाषण मराठी मे दिये थे, जब कि एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट जैसे शब्दो के भी पर्यायवाची शब्द उपलब्ध नही थे। इस तथ्य से उन लोगो की ऑखे खुल जानी चाहिये जो आज भी यह कहते है कि क्षेत्रीय भाषाओ मे तकनीकी शब्दो की अभिव्यक्ति नही की जा सकती।

इस तरह अप्राप्य अभिभाषणो को उपलब्ध कराने के लिए गोखले इन्स्टीट्यूट आफ पॉलिटिक्स एण्ड इकॉनॉमिक्स धन्यवाद की पात्र है।

प्रोफेसर एन वी. सोवनी ने पुस्तिका मे अपनी २२ पृष्ठो की भूमिका जोड कर उसकी उपयोगिता और भी बढा दी है। उन्होने उसमे यह बताने की कोशिश की है कि समय के साथ किस तरह इस तरह की विचार-धाराओ मे परिमार्जन होता गया।

—प्रभाकर

रूरल इण्डस्ट्रीयलाइजेशन : लेखक वी ए वासुदेवराजू, स्वयम् लेखक द्वारा प्रकाशित, विस्तार अधिकारी (उद्योग) खादी-ग्रामोद्योग विद्यालय, गाधी निकेतन आश्रम, टी कल्लूपट्टी, मदुराई, १९६३ पृष्ठ सख्या नौ+३६, मूल्य १ रुपया।

प्रस्तुत पुस्तिका मे लेखक ने दो सवाल उठाये है—ग्रामीण औद्योगीकरण का सम्बोध और उसकी समस्याएँ। प्रथम की व्याख्या मे लेखक ने ग्राम्यवादिता के गाधीवादी सम्बोध पर डाक्टर जे सी कुमारप्पा तथा जयप्रकाश नारायण जैसे सज्जनो की अभिव्यक्तियो से बहुत कुछ लेने की कोशिश की है। अर्थशास्त्रीय शब्दावली मे इसका अर्थ है 'सक्षम उत्पादन,' 'सही वितरण' और 'आराम की ओर उन्मुख उत्पादन से पहले आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उत्पादन।' और, 'स्थानीय साधन-स्रोतो तथा आवश्यकताओ के आधार पर देश के समूचे देहाती क्षेत्रो मे लघु उद्योगो का विस्तार करने' के जरिये उक्त काम मे सफलता प्राप्त करने के लिए शक्ति तथा प्रविधि के उपयोग के सम्बन्ध मे किसी को सिद्धान्त-वादी अथवा भावुक नही होना चाहिये। तब लेखक प्राणवान ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के सम्बोध के सन्दर्भ मे नौ प्रमुख ग्राम और लघु उद्योगो की सूची पेश करते है। लेकिन ठीक इसी वक्त कोई पूछ सकता है कि जिस प्रकार के ग्रामीण औद्योगीकरण की लेखक कल्पना करता है क्या उससे हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे उस सप्राण तत्व का समावेश हो सकेगा कि वह 'स्व-सृजन' और 'आत्म-निर्भर' बन जाय। 'स्व-सृजन और 'आत्म-निर्भर' ऐसे सम्बोध है जो अन्तर्विभागीय सम्बन्ध दर्शाते है। अतएव वे समग्र अर्थ-व्यवस्था मे प्रयुक्त किये जा सकते है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की गतिशील शक्तियाँ कृषि की तकनीको मे क्रान्ति लाने पर निर्भर करती है।

समूची समस्या पर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के दृष्टि-कोण से विचार करने पर कोई भी ग्राम और शहरी क्षेत्रो के बीच आर्थिक एकता का महत्व महसूस करेगा। किन्तु समुचित समग्रता के लिए हमे अपने कृषि क्षेत्र के सामाजिक विवरण की आवश्यकता है, जो दर असल, एक ऐसे अर्थशास्त्री का काम है जो हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के सही सचालन के सम्पर्क मे हो। ग्रामीण औद्योगीकरण की समस्याओ का लेखक ने जो सुन्दर वर्गीकरण किया है उसके बावजूद मेरी दृष्टि से यह अच्छा रहता कि वे अपने प्रशिक्षार्थियो को ग्राम के सामाजिक विवरण का प्रत्यक्ष ज्ञान करवाने की कोशिश करते। इस प्रकार के अनुभव-सिद्ध अध्ययन के अभाव मे कोई भी यह महसूस करेगा कि ग्रामीण औद्योगीकरण का सम्बोध निर्बल पड जाता है।

—गो. श रायचौधरी

हैंडबुक ऑफ कॉमर्सियल इन्फारमेशन : अक—१, प्रकाशक वाणिज्य अनुसधान तथा साख्यिकी विभाग, भारत सरकार, कलकत्ता, १९६४, पृष्ठ सख्या छ+४६६ + ३, मूल्य ११ रुपये।

लगभग २६ वर्षो तक बन्द रहने के बाद *हैंडबुक ऑफ कॉमर्सियल इन्फारमेशन* के पुन प्रकाशन का स्वागत है। निर्यात प्रयासो मे इसकी उपयोगिता के साथ-साथ इसकी आवश्यकता उन समस्त लोगो को पडेगी, जो देश के आर्थिक विकास मे दिलचस्पी रखते है।

प्रकाशन का अंतिम अंक २६ वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक की अवधि के परिवर्तनों के प्रतीक स्वरूप समूचे अंक मे इंजीनियरिंग उद्योगो के विवरण प्रस्तुत किये गये हे तथा १०३ विभिन्न उत्पादनो का जिक्र किया गया है। उत्पादन, कच्चा माल, मूल्य, आयात, निर्यात, योजना के लक्ष्य आदि शीर्षको से प्रत्येक उत्पादन के बारे मे आम सूचनाएँ दी गयी है। प्रकाशन के अगले अंको मे वस्त्र तथा अन्य उत्पादित वस्तुएँ, खाद्य तथा अन्य कृषिक उत्पादन एवम् खनिज के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

इस प्रकाशन की एक विशेषता यह है कि डायरेक्टर जनरल श्री एस सुब्रह्मण्यन् ने इसकी भूमिका लिखी है और उसके सम्पादन कार्य मे लगे समस्त अफसरो के नामो के साथ-साथ समस्त सहयोगियो, स्टेनो ग्राफरो, प्रूफ रीडरो तथा कार्य से सम्बन्धित अन्य लोगो के नाम भी उसमे प्रकाशित किये गये हे।

आदिवासी सख्या ३, १९६३-६४, प्रकाशक आदिवासी अनुसधान केन्द्र, उडीसा, सम्पादक जी एन दास, पृष्ठ सख्या १८२।

उडीसा के आदिवासी अनुसधान केन्द्र द्वारा प्रकाशित **आदिवासी,** देश मे आदिवासियो के सम्बन्ध मे प्राप्त साहित्य मे समद्धि करता है। श्री उ न ढेबर की अध्यक्षता मे गठित अनुसूचित क्षेत्र तथा अनुसूचित जन-जाति आयोग के प्रतिवेदन ने आधुनिक भारतीय समाज मे आदिवासियो की भूमिका के सम्बन्ध मे नयी चेतना तथा आदिवासियों के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए देश के बौद्धिक वर्ग मे नयी दिलचस्पी पैदा की है। **आदिवासी** का प्रस्तुत अंक एक विशेषांक है, जिसके विशिष्ठ लेखों मे उडीसा मे आदिवासियो के सम्बन्ध मे बुनियादी आकडे पेश किये गये है, कमजोर वर्गो के बीच खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यक्रम को मद्देनजर रखते हुए इस अंक के आकडे खादी और ग्रामोद्योग क्षेत्र मे काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओ के लिए विशेष उपयोग के होगे। आदिवासी जीवन से सम्बन्धित अनेक चित्रो ने अंक का मूल्य और बढा दिया है। ये चित्र हमे यह भी बताते है कि आदिवासी समाज आधुनिक औद्योगिक समाज से कितनी दूर है और उन्हे आधुनिक समाज मे लाने के लिए हमे कितना काम करना है।

किसी खास विषय पर उस तरह की विशेष पत्रिका का प्रकाशन करना आसान कार्य नही है। इसके लिए सम्पादक महोदय अपने श्रम के लिए बधाई के पात्र है। अंक की सजावट, छपाई-सफाई काफी सुन्दर है। ऐसी पत्रिकाओ को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। किन्तु इस सबके बावजूद प्रकाशन की कुछ त्रुटियो की ओर इशारा किये बिना हम नही रह सकते। समूचे अंक मे कही इस बात का जिक्र नही है कि पत्रिका मासिक है, त्रैमासिक है या सामयिक है, कही मूल्य नही दिया गया है, यहाँ तक कि अंक पर १९६३–६४ का दूसरा अंक छपा है, किन्तु प्रकाशन की तारीख १८ नवम्बर १९६३ दी गयी है। यदि यह पत्रिका है तब फिर उसका प्रकाशन किसी एक विशेष दिन को होना चाहिये। और फिर, इस प्रकार के प्रकाशन को अपने गुण-स्तर यानी प्रकाशन सामग्री के बल पर आगे बढने देना चाहिये।

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई–३४। वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष • मई १९६४ • अष्टम अंक

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नही है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखो पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तको की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस) के पते पर भेजें। टेलीफोन न ५७१३२९।

इस पत्र मे प्रकाशित लेखो में व्यक्त विचार आवश्यक नही कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क ७ ५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिये असिस्टेण्ट

इस अंक के लेखक

वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
राम कृष्ण श्रीवास्तव	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसन्धानशाला के कार्यभारी निर्देशक।
माधव राजाराम देशपाण्डे	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसन्धानशाला मे सहायक।
केशव गणेश देवघर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन मे सूत उत्पादन निर्देशक।
सौमित्र देवीदास नाडकर्णी	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसन्धानशाला मे कनिष्ठ यात्रिक अभियता।
भारत भूषण कमाल	–गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) के एम एम एच कालेज मे वाणिज्य विभाग के अध्यक्ष।
सरगुर मदभूषणम वीरराघवाचार	–मैसूर स्थित मैसूर विश्वविद्यालय के 'पोस्ट ग्रेज्युएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन इकनॉमिक्स' विभाग मे अर्थशास्त्र के लेक्चरर।
सुधांशु कुमार जैन	–बोटॅनीकल सर्वे ऑफ इण्डिया की कलकत्ता स्थित सेण्ट्रल बोटॅनीकल प्रयोगशाला मे इकनॉमिक बोटॅनीस्ट।
भारतानन्द (मॉरिस फ्रिडमन)	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अवैतनिक सलाहकार (इजीनियरिंग)।
प्रकाश चन्द्र वासनीय	–इन्दौर स्थित सहकारी समितियो के पजीयक के कार्यालय मे राज्य ताड-गुड सगठक।
पुरुषोत्तम प्रभाकर	–नयी दिल्ली स्थित 'इण्डियन स्कूल ऑफ इण्टरनेशनल स्टडीज' मे गवेषणा छात्र।
पोन्नूसामी कुप्पु राव	–मद्रास मे हरिजन कल्याण कार्य मे सलग्न सामाजिक कार्यकर्त्ता।
कमल बनर्जी	–खगरा (पश्चिम बगाल) से प्रकाशित **मुर्शिदाबाद समाचार** के सम्पादक।
तरलोचन सिंह	–योजना आयोग (नयी दिल्ली) की ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति मे आर्थिक अनुसन्धानकर्त्ता।
नेडूमरम सुन्दरराजय्यगार तिरुवेंकटाचारी	–मद्रास विश्वविद्यालय के 'एग्रीकल्चरल इकनॉमिक रिसर्च सेण्टर' मे जूनियर रिसर्च इन्वेस्टीगेटर।
सत्या कुमारी	–महिला तथा बाल कल्याण सम्बन्धी समस्याओ पर लिखती है।
तोवलै मीनाक्षी सुन्दरम	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के त्रिवेन्द्रम स्थित हाथ धान कुटाई उद्योग के सहायक विकास अधिकारी।

ग्रामीण औद्योगीकरण में समस्याएँ

वैकुण्ठ ल. मेहता

ऐसे चुनिन्दा क्षेत्रो मे जहां मार्गदर्शी परियोजनाएँ चालू की गयी है सर्वेक्षको के विशेष दलो द्वारा किये गये प्राविधि-कार्थिक सर्वेक्षणो से सम्बद्ध क्षेत्र में कच्ची सामग्री के साधन-स्रोतो की उपलब्धि, उनके उपयोग की गुजाइश, कृषि की अवस्था, विकास कार्यक्रम कार्यान्वित करने के लिए सस्थात्मक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। बिहार के गया जिले में नवादा ग्रामीण उद्योग परियोजना क्षेत्र मे ऐसा एक सर्वेक्षण किया गया। प्रस्तुत लेख मे सर्वेक्षण के दौरान एकत्रित तथ्यों का विश्लेषण किया गया है।

दो वर्ष पूर्व ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति का गठन हुआ। देश के भिन्न-भिन्न भागो मे ४०-५० ऐसे केन्द्रो का चयन करना इसका प्राथमिक कार्य था कि वहाँ ग्राम्य औद्योगिक विकास के राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम के प्रथम चरण का शुभारम्भ किया जा सके। यह तय किया गया कि एक चुनिन्दा केन्द्र के अन्तर्गत तीन या चार सामुदायिक विकास खण्ड होगे और वहाँ पर विकास योजना बनाने से पूर्व सर्वेक्षको के विशेष दलो द्वारा प्राविधिकार्थिक सर्वेक्षण किया जायेगा। सर्वेक्षण की रूपरेखा क्या होगी, इसका निर्णय किया गया और सर्वेक्षको के प्रशिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था की गयी।

सर्वेक्षण प्रतिवेदनो से एक व्यापक व सघन ग्राम्य औद्योगिक विकास कार्यक्रम मे अभिरुचि रखनेवाले सभी व्यक्तियों को परिपूर्ण जानकारी मिलनी चाहिये। यदि सभी प्रतिवेदन आलोच्य प्रतिवेदन* की तरह सुस्पष्ट और विस्तृत तथा व्यापक है तो वे उद्योगो की विकास योजनाओं के लिए प्रशसनीय आधार प्रदान करते है, जिनका प्रधान उद्देश्य है यथा सम्भव स्थानीय कच्ची सामग्री व अन्य साधन-स्रोतो का उपयोग करते हुए, प्रधानत स्थानीय उपभोग की आवश्यकताओ के अनुसार उत्पादन करते हुए और ऐसा करने के दौरान ग्राम समाज के सभी वर्गो के लिए, पूर्ण अथवा अश-कालीन, अनुरूप काम-धधे ढूँढ निकालते हुए ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को पहचानना। यह परियोजना क्षेत्र सम्भवत अन्य चुनिन्दा क्षेत्रो के समान ही है। सामाजिक अवस्थाएँ क्षेत्र-क्षेत्र की भिन्न-भिन्न हो सकती है। लेकिन समानता इस तथ्य मे निहित है कि प्रत्येक क्षेत्र मे मानव तथा सामग्री सम्बन्धी अछूते स्रोत है अर्थात् अभी तक उनका उपयोग नही हुआ है, यत्र-तत्र कृषि क्षेत्र मे हुई कुछ प्रगति के बावजूद अर्थ-व्यवस्था निष्क्रिय है तथा यह कि इन कारणों से गरीबी की अवस्थाएँ बनी हुई है।

परियोजना क्षेत्र

परियोजना क्षेत्र मे ३४१ गॉव है। आबादी ३ लाख २९ हजार है। औसत आबादी घनत्व प्राय उच्च (प्रति वर्ग मील ८३०) है। प्रधान पेशा खती है। कुल आबादी के ८१.४ प्रति शत लोगो के जीविको-पार्जन का प्रधान साधन यही है। यह एक ऐसा प्रातिशत्य है जो प्राय समूचे देश के प्रातिशत्य के समान ही है। कृपि के अलावा अन्य प्रकार के उत्पादन कार्य से ७ प्रति शत को, व्यापार, वाणिज्य तथा परिवहन से ६ २ प्रति शत को और अन्यान्य सेवाओ से ५ ४ प्रति शत को रोजगारी मिलती है। बेरोजगारी का अनुमान पुरुषो मे चार प्रति शत और महिलाओ मे सात प्रति शत होन

---

* ग्रामीण उद्योग परियोजना, नवादा (गया) गया जिले (बिहार) के नवादा, वारसली गज, कौआकोल और पकरी-बरवा सामुदायिक विकास खण्डो के प्राविधिकार्थिक सर्वेक्षण पर प्रतिवेदन।

का है। ऐसा बताया गया है कि मजदूरो को साल मे १६७ दिन का काम खेती मे मिल जाता है और ३३ दिन का काम गैर-खेतिहर (निर्माण कार्यो मे लगे कामगारों सहित) धधो मे। अल्प-बेरोजगारी पुरुषो मे ३० प्रति शत और महिलाओ मे ४८ प्रति शत होने का अनुमान है। जहॉ खेतिहर कर्मियो मे यह अल्प बेरोजगारी अपेक्षाकृत खाली मौसम मे रहती है, वहॉ कुम्हार, बॉस काम करनेवालो तथा ईंट-पथारो मे यह उस वक्त रहती है, जबकि खेती-बाडी के काम मे दम भर का भी अवकाश नही रहता। ऐसे वक्त वे प्राय निष्क्रिय रहते है।

भूमि उपयोग पद्धति से भी सामान्य बाते सामने आती हैं। प्रति व्यक्ति उपलब्ध भूमि बहुत ही कम (० ४८ एकड) है। स्थूल अनुमान से ऐसा लगता है कि १८ प्रति शत परिवार भूमिहीन है। अधिकाश लोगो के खेत बहुत छोटे-छोटे हैं। केवल ४५ प्रति शत परिवार ही ऐसे है जिनके सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि उनके खेतो का आकार आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद है। नकद फसलो के अन्तर्गत खेतो का क्षेत्रफल बहुत मामूली है। तथापि, सिचाई के अन्तर्गत अच्छी खासी भूमि आती है। कुल १,५८,४८८ एकड कृष्य भूमि मे से १,२०,४४६ एकड जमीन की सिचाई होती है।

कृषि विकास में बाधाएँ

'अधिक अन्न उपजाओ' सम्बन्धी अभियानो के बावजूद उन्नत कृषि पद्धतियो को अपनाने की दिशा मे प्रगति नगण्य है। कृषि विस्तार कर्मचारियो ने, ऐसा लगता है कि अर्थ-व्यवस्था पर कोई विशेष छाप नही छोडी है। इसका कुछ कारण तो यह है कि कर्मचारियो को व्यावहारिक जानकारी तथा अनुभव नही था और कुछ कारण यह है कि विभिन्न विभागो मे पारस्परिक सयोजन का अभाव था। एक बात यह भी है कि चूंकि क्षेत्र मे खेती का काम खेतिहर मजदूरो के जरिये होता है अत विकास सम्बन्धी कदम इसलिए प्रभावहीन हो जाते है कि प्रस्तावित उपायो को कार्यरूप मे परिणित करने के लिए खेतिहर मजदूरो के लिए कोई उत्प्रेरणा नही होती। एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह प्रकाश मे आया है कि विकास खण्ड मे प्रात्यक्षिको के लिए वितरित उपकरण इस कदर निम्न कोटि के बताये गये कि प्रात्यक्षिक के दौरान ही या तो वे टूट गये या फिर मुड गये तथा अधिकाश को मरम्मत न होने लायक होने की वजह से त्याग दिया गया। सुतार घरो सम्बन्धी सुविधाओ की भी कमी है और ग्रामीण लुहारो तथा बढइयो को इस काम के लिए प्रशिक्षित करने की व्यवस्था कर उनकी सेवाएँ प्राप्त करने का कोई प्रयास नही किया गया।

पशु-पालन के सम्बन्ध मे भी स्थिति प्राय ऐसी ही असन्तोषप्रद है। परियोजना क्षेत्र मे १,९१,२८८ पशु है। इनमे से ७१ प्रति शत गोजातीय हैं। इनसे दूध की प्राप्ति कम होती है और इनकी खीचने की क्षमता भी न्यून है। खीचाई के काम आनेवाले पशु की कार्य-क्षमता करीब ५ ६ एकड है, जिसका मतलब है खेती सम्बन्धी काम महँगे पडते हैं। पशुओ मे मृत्योनुपात नौ प्रति शत है। इस प्रकार छोटी-बडी खालों और हड्डियो पर आधारित उद्योगो के लिए सम्भाव्यता है। खालो और हड्डियों की औसत सम्प्राप्ति क्रमश २१,००० नग तथा २५,००० मन है। अधिकाश खालो का निर्यात होता है तथा हड्डियॉं अच्छी-खासी मात्रा मे अनुपयोजित पडी रहती हैं।

उक्त विकास खण्डो मे से एक की ८५,९३५ एकड जमीन मे से ४१,४०० एकड पर पहाड व जगल है। एक अन्य विकास खण्ड की ४,६०० एकड जमीन पर जगल हैं। निर्माण सम्बन्धी सुविधाओ की कमी के कारण इमारती लकडी, नरम तथा सख्त काठ का अधिकाशत निर्यात होता है। इसी प्रकार ऐसे ही कारणो से बास, तेन्दू के पत्ते, महुआ के उत्पादन, गोद तथा अनेक प्रकार की जडी-बूटियो और फलो जैसे वन्य उत्पादनो का भी निर्यात होता है। केवल पॉच प्रति शत महुआ बीजो की ही परम्परागत घानियो मे पेराई होती है। लाख उद्योग और टसर कोया-पालन उद्योग तथा चर्म-शोधन सामग्री के उपयोग की सम्भाव्यता के सम्बन्ध

मे उपयुक्त खोज-बीन नही की गयी है।

बिजली की खपत

प्रौद्योगिक (टेकनोलॉजीकल) प्रगति को जो लोग बिजली-व्यवस्था का पर्याय मानते है, शक्ति-विषय अध्याय से उनकी ऑखे खुल जानी चाहिये। दामोदर घाटी निगम के लिए शक्ति पूर्ति की स्थिति सन्तोषजनक बतायी गयी है। चूँकि बिजली का उपयोग करनेवाले पर्याप्त सख्या मे आगे नही आये, इसलिए विस्तार नही किया जा सका। इससे यह निदर्शन मिल जाना चाहिये कि यद्यपि औद्योगिक उपयोग के लिए बिजली की दर घरेलू उपयोग के लिए ३७ नये पैसे प्रति इकाई की तुलना मे १५ नये पैसे प्रति इकाई है, तथापि औद्योगिक कामो मे उपयोग करनेवालो की सख्या एक सौ से अधिक नही हुई।

सहकारी समितियाँ

यद्यपि क्षेत्र मे २२५ बहूद्देश्यीय सहकारी समितियाँ है तथापि, बताया गया है कि उनमे ४० प्रति शत सख्या ऐसी समितियो की है जो या तो बन्द पड गयी है अथवा फिर निष्क्रिय है। औद्योगिक समितियो की सख्या ८० है। यह बडे खेद की बात है कि इनमे से अनेक समितियॉ अपने सगठन के समय से ही निष्क्रिय है। इससे भी बुरी बात तो यह है कि अनेको को सगठनात्मक खामियो और ऋण अथवा उपदान की प्राप्ति मे विलम्ब होने के कारण ऐसा करना पडा है। लक्ष्याक निर्धारित करने का एक घातक प्रभाव इस पर्यवेक्षण मे सामने आता है कि प्राय समितियो का गठन कारीगरो को सहकारी आधार पर सगठित करने के लिए किसी उद्योग अथवा दस्तकारी की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए न करके लक्ष्याक पूर्ण करने के लिए किया गया। कुछ भी हो, एक बार जब लक्ष्याको के अनुसार सगठन खडा हो जाय, तो उसके बाद यह सुनिश्चित करना सम्बद्ध अधिकारियो का कर्तव्य होना चाहिये कि सहकारी कानून के अनुसार समितियों के हिसाब-किताब का निरीक्षण-परीक्षण होता है। यहॉ तक कि इस आवश्यकता की भी अवहेलना की गयी है, जिसका परिणाम यह निकला है कि काफी लम्बे अरसे तक लेखा परीक्षण नही हुआ।

मौजूदा उद्योगो का सर्वेक्षण इस पर्यवेक्षण के साथ प्रारम्भ होता है कि अधिकाश लोग अपने परम्परागत उद्योगो मे लगे है। आगे कहा गया है कि "लोगो की अभिरुचि, स्वभाव तथा फैशन मे हुए परिवर्तन का बिना मूल्याकन किये" वे उन्ही से चिपके रहते है। उनके लिए यह अस्तित्व का सघर्ष है। उन्हे रोजगारी के बहुत कम अवसर उपलब्ध है और अगर आज की तरह आशिक रूप से काम मे लगे रहने की अपेक्षा वे अपने वर्तमान धधो को छोड देते है, तो बेकारो की सख्या ही बढायेगे। कुछ पारम्परिक उद्योगो के समक्ष जो प्रश्न उपस्थित है वह जन-स्वभाव के किसी परिवर्तन का नही, बल्कि अनेक प्रशोधन उद्योगो के क्षेत्र मे उल्टे-सीधे और अनियमित रूप से यात्रीकरण के घुस बैठने का है।

दोष पूर्ण आर्थिक आयोजन

इस सम्बन्ध मे उदाहरण के तौर पर यह बताया जा सकता है कि क्षेत्र मे ६२ चावल कूटनेवाले हलर है। इनमे से सम्भवत अधिकाश नये है। इनकी स्थापित वार्षिक क्षमता ५ लाख ८० हजार मन चावल है। तथापि, वास्तविक उत्पादन केवल १ लाख ८७ हजार मन है। इस प्रकार ६९ प्रति शत क्षमता निष्क्रिय है। इनमे से ५५ इकाइयाँ बिजली का इस्तेमाल करती है। दामोदर घाटी निगम सगठन की दृष्टि मे यह एक लाभ हो सकता है, लेकिन साथ ही यह एक अच्छा आर्थिक आयोजन नही है, क्योकि क्षमता का आशिक उपयोग ही हुआ और सात लाख के विनियोजन से एक सौ लोगो को ही मौसमी काम की प्राप्ति हुई। इसी के समक्ष एक दूसरा चित्र यह है कि पारम्परिक हाथ धान कुटाई उद्योग मे ३०,००० रुपये के विनियोजन से ९० परिवारो को काम मिला और इस विनियोजन से जिन्हे लाभ पहुँचा उनमे मुख्य रूप मे वास्तव मे प्रशोधन कार्य मे लगे श्रमिक थे। जैसा कि सर्वेक्षण मे कहा गया है, चावल कुटाई (हलिग) उद्योग के विस्तार की और ज्यादा गुजाइश नही है।

वस्तुत ग्रामीण औद्योगीकरण के सुआयोजन मे निष्क्रिय क्षमता को हटा देना चाहिये।

औद्योगीकरण की अपनिर्देशित प्रक्रिया का यह कोर्ट छिटपुट यानी एकाध उदाहरण नही है, जिसका कुछ लोग समर्थन करते है। तेल पेराई उद्योग की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। क्षेत्र मे कोई परिपूर्ण सुसज्जित तेल मिल नही है। लेकिन हलरो के साथ कुछ शक्ति-चालित घानियाँ अथवा शेलर है। ये बिजली की सहायता से चलते है। इकाइयो की सख्या ४६ है और उनकी पेराई क्षमता २२ हजार मन, जबकि पेराई केवल चार हजार मन की हुई। उद्योग से ५० आदमियो को रोजगारी मिली और अतिरिक्त पूँजी विनियोजन हुआ १ लाख २० हजार रुपये का। क्षेत्र की १८० घानियो से २७० व्यक्तियो को काम मिला। यदि यान्त्रिक पेराई उद्योग का और अधिक विस्तार किया तो ये बेरोजगार हो जायेगे। वास्तव मे आयोजित विकास के अन्तर्गत शक्ति-चालित यान्त्रीकरण के प्रवेश को इस क्षेत्र मे कोई मान्यता नही मिलनी चाहिये थी।

गेहूँ पिसाई के क्षेत्र की भी कुछ ऐसी ही कहानी है। क्षेत्र मे ८५ हजार रुपये के विनियोजन से ६६ आटा चक्कियाँ चल रही थी, जिनकी क्षमता ३ लाख १२ हजार मन पिसाई करने की थी। इस क्षमता के समक्ष उत्पादन हुआ केवल ५४ हजार मन का। इस प्रशोधन उद्योग मे हाथ से आटा पीसने के काम से ७,००० महिलाओ को रोजगारी मिलती थी। इसमे भी यान्त्रीकरण के समावेश से गेहूँ आटा पिसाई उद्योग को "एक बडा भारी धक्का" लगा है। उक्त दो क्षेत्रो की तरह इसमे भी यान्त्रीकरण के विस्तार की बात नही सोची जा सकती। इन तीनो ही क्षेत्रो मे उपकरणो और तकनीको मे सुधार करने की बहुत बडी गुजाइश है। इस सम्बन्ध मे, सर्वेक्षण मे सुझाया गया है कि राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल को एक सोचा-समझा कार्यक्रम बनाना चाहिये।

कुटीर चर्मोद्योग

प्रारम्भ मे छोटी-बडी खालो तथा हड्डियों पर आधारित उद्योगो के विकास का जिक्र किया गया है। सर्वेक्षण के उत्तरार्ध मे इस विषय पर शवच्छेदन से प्रारम्भ कर विस्तार मे चर्चा की गयी है। बताया गया है कि यद्यपि ५४५ परिवार शव-छेदन कार्य मे लगे है, फिर भी खालों के अलावा गोश्त, चर्बी, सरेश आदि जैसी अन्य चीजे बेकार जाने दी जाती है। यह सुझाव दिया जाता है कि शव-छेदको की सहकारी समितियाँ बनायी जाये, उन्हे गोश्त का चूरा बनाने, चर्बी प्रशोधन, सरेश उत्पादन आदि के लिए प्राविधिक रूप से सहायता दी जानी चाहिये। चूँकि अधिकाश हड्डियाँ अनुपयोजित रहती है, इसलिए हड्डी-चूर्ण तैयार करने के लिए हड्डी पेरक इकाइयाँ स्थापित करते हुए उनके सदुपयोग पर आधारित उद्योग लाभदायक हो सकते है।

चर्मशोधको के लिए भी इसी प्रकार का सुझाव दिया गया है। फिलहाल ७० केन्द्रों मे यह काम होता है। कुल २१,००० खालों के पाँच प्रति शत का ही प्रशोधन होता है। शेष का निर्यात किया जाता है। मौजूदा इकाइयाँ फिलहाल से दस गुनी खालो का शोधन कर सकती है, और चर्मशोधन के लिए कच्ची सामग्री भी स्थानीय रूप से उपलब्ध है। जरूरत है कुछ पूँजी की, प्राविधिक मार्गदर्शन की और कच्ची सामग्री तथा बिक्री व्यवस्था के सम्बन्ध मे आवश्यक सेवा सुविधाएँ प्रदान करनेवाले एक सगठन के खडा करने की। जूते तथा अन्य चर्मोद्योगी सामान तैयार करने के लिए शोधित चर्म के लिए स्पष्टत स्थानीय बाजार उपलब्ध है। फिलहाल इस प्रकार के सामान की माँग बाहर से मगवा कर पूरी की जाती है अतएव, सर्वेक्षण मे इस बात का निर्देशन है कि चर्मोद्योग का विकास करना क्षेत्र के कार्यक्रम का एक अग होना चाहिये।

खादी उद्योग

जिन अन्य पारम्परिक ग्रामोद्योगो के विकास की गुजाइश है वे है ताड-गुड और बास कार्य। बास उक्त क्षेत्र मे काफी तादाद मे उपलब्ध है। इस उद्योग मे लगे

५०० व्यक्ति कोई एक लाख रुपये के करीब का सामान तैयार कर रहे है। यदि सुनियोजित प्रशिक्षण दिया जाय, उन्नत साधन-सरजाम और तकनीको का समावेश किया जाय तथा चन्द सामूहिक सेवाओ का सगठन किया जाय तो ये और भी अच्छी फल-प्राप्ति कर सकते है। परियोजना क्षेत्र मे ६३९ व्यक्तियो को छेदक वताया गया है। ताड के पेड ढाई लाख है। केवल कुछ ही छेदक छेदन-कार्य मे लगे है। राज्य मे ताड-गुड कार्यकर्त्ता सहकारी समितियो का एक सघ है। सभी पेडो का छेदन करने और इस सम्पत्ति-स्रोत को बेकार न जाने देने के लिए सघ से एक नियमित आयोजित कार्यक्रम बनाने का आवाहन किया जा सकता है।

वस्त्रोद्योग का जिक्र किये बिना ग्रामोद्योगो का कोई भी सर्वेक्षण पूर्ण नही हो सकता। हाथ करघो पर सूती वस्त्र और कम्बले बुनने की तथा रेशम लपेटाई और बुनाई की भी क्षेत्र मे काफी गुजाइश है। तथापि, इन धधो मे लगे व्यक्तियो की सख्या कोई अधिक नही है। क्षेत्र मे केवल २३५ सूती हाथ करघा बुनकर, ५५ कम्बल बुनकर और ४७ रेशम बुनकर है। खादी काम मे लगे बुनकरो की सख्या ८४ है। रेशम कताई मे लगे १३८ व्यक्तियो के अलावा कताई से ६,६०० व्यक्तियो को काम मिलता है। क्षेत्र मे छ तकुए के अम्बर चरखे का समावेश किया गया है। इस सम्बन्ध मे लोगो की ओर से अच्छा प्रत्युत्तर मिला प्रतीत होता है। सर्वेक्षण मे इस पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि सुसयोजित ग्रामीण विकास योजना के अगस्वरूप रूई तथा रेशम कोये, दोनो ही आस-पास से अथवा दूर-दूर से मगवाने पडते है। ग्रामीण विकास की एक सुसयोजित योजना मे कोया-पालन और उपयुक्त किस्म की कपास की खेती करने की व्यवस्था होनी चाहिये।

आधुनिक उद्योगों के लिए गुजाइश

उक्त सर्वेक्षण विभिन्न पारम्परिक उद्योगो की सम्भाव्यताओ का एक स्थूल सर्वेक्षण है। यह नही है कि परम्परागत उद्योगों के सिवाय अन्य उद्योगो की अवहेलना कर देनी चाहिये। सर्वेक्षण मे इन सबकी सम्भाव्यता बडी अच्छी तरह सामने लायी गयी है। इनमे चन्द इजीनियरिंग, धातु कार्य, पशुओ के लिए सश्लिष्ट चारा तैयार करने, आलू आरक्षण तथा बिजलीकरण, चीनी मिट्टी के बर्तन, ईंट-पथाई और खपरैल बनाने, कलीदार बाल्टी बनाने, आयुर्वेदिक दवाइयॉ तैयार करने आदि जैसे उद्योग शामिल है। इन सभी उद्योगो का एक सुनियोजित कार्यक्रम बनाने से, मुख्य आयोजन समिति की स्थायी समिति के मार्गदर्शन मे स्थानीय कार्यान्वय समिति का प्रथम सरोकार होना चाहिये।

उपसंहार

औद्योगीकरण की प्रक्रिया मे यह तो एक ही सोपान है। भूतकालीन अनुभव से पता चलता है कि प्रत्येक स्थान पर कार्यक्रम के कार्यान्वय का भार जिस अभिकरण पर रहता है, उस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। नवादा परियोजना क्षेत्र मे, यह सौभाग्य की बात है कि कई रचनात्मक सस्थाएँ है। कार्यक्रम के कार्यान्वय मे उनका सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। इन मे सब से महत्वपूर्ण है ग्राम निर्माण समिति। उसे परियोजना के लिए प्रवर्त्तक और कार्य-निष्पादक सस्था के रूप मे मान्यता दी गयी है। इसी प्रकार की सस्थाएँ लोक सहयोग प्राप्त कर सर्वांगीण ग्रामीण विकास की कोई भी दूरगामी योजना का निष्पादन कर सकती है। आशा है अब बिना किसी प्रकार का विलम्ब किये इस तरह का आयोजन किया जायेगा ताकि देश भर मे वैसा करने की होड लग जाने का वह आदर्श बने, उससे यह बात सामने आ जाय कि 'नीचे से निर्माण' किस प्रकार प्रभावोत्पादक हो सकता है और 'लोक-आयोजन' का ग्रामीण भारत पर कैसा प्रभाव पड सकता है।

बम्बई २ अप्रैल १९६४

वर्धा घानी से तेल सम्प्राप्ति

राम. कृ. श्रीवास्तव और माधव. रा. देशपाण्डे

घानी की कार्यक्षमता मे मामूली सुधार करने से तेलकार को कोई आर्थिक लाभ नही होगा, क्योंकि तब भी उसे एक्सपेलरों की स्पर्धा का सामना करना पड़ेगा। अमल में जरुरत इस बात की है कि घानी की पेराई क्षमता में पर्याप्त सुधार किया जाय।

भूतपूर्व खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना तथा उसके बाद खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के गठन से लेकर तेल घानी की कार्य कुशलता मे सुधार करने के लिए वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला मे अन्वेषण कार्य चलता आ रहा है। घानी की कार्य कुशलता अनुकूलतम घान और समय के अनुसार उत्पादन अवस्थाएँ बदल कर, मौजूदा घानी की डिजाइन मे परिवर्तन करके अथवा नये प्रकार की बैल-चालित घानी का आविष्कार करके सुधारी जा सकती है। कमीशन तेलकारो को आर्थिक सहायता प्राप्त करने में समर्थ बनाने के लिए उन्हे अपनी सहकारी समितियाँ बनाने का प्रोत्साहन देता है। घानी तेल केन्द्रो की कुल आमदनी इस बात पर निर्भर करती है कि कितने तेल की बिक्री हुई अर्थात् प्रति घानी प्रति घण्टा कितने तेल का उत्पादन हुआ। चूँकि साधारण घानी की उत्पादन-क्षमता बहुत कम है, इसलिए ऐसी घानी खोज निकालने के प्रयास किये जा रहे है कि उसकी उत्पादकता अधिक हो तथा वह अच्छा काम दे। फिर भी, यदि इस प्रकार की घानी बना ली गयी तो उसका प्रचार-प्रसार करने मे समय लगेगा। अतएव वर्धा घानी को एक स्तरीय साधन मानते हुए अधिकतम लाभदायक रूप मे तेल सम्प्राप्ति के लिए घान की अनुकूलतम सीमा और समय निर्धारित करने की दृष्टि से उसके तेल निस्सारण का अध्ययन करने का निर्णय किया गया।

प्रयोग

आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद तेल सम्प्राप्ति के लिए साधारणतया १८ पौण्ड तिलहनो (तिल अथवा मूंगफली) को वर्धा घानी मे सवा से डेढ घण्टे तक पेरा जाता है। इसलिए पहले उक्त समय मे १४ पौण्ड तिलहन पेर कर और फिर दुबारा १८ पौण्ड तिलहन ले कर तथा समय बढा कर दो घण्टे करके प्रयोग किये गये।

वर्धा घानी मे तिलहन पेराई करने के लिए स्तरीय तरीका इस प्रकार है घानी मे १८ पौण्ड साफ किये हुए तिल एक घान मे डाले जाते है। प्रथम बीस मिनट मे आवश्यक गरम जल की मात्रा तीन बार मे पानी डाल कर दी जाती है। पानी देने का समयान्तर कार्य-कर्त्ता के अनुभव पर निर्भर करता है। साधारणतया आधा घण्टे मे तेल दीखने लगता है और घान के पूरा होने मे सवा से डेढ घण्टे का समय लगता है। इन प्रयोगो के लिए तिलहन स्थानीय बाजार से खरीदे गये थे। तिल मिश्रित जात के थे यानी लाल और सफेद तिल मिले हुए थे। पेराई की योजना इस प्रकार बनायी गयी कि चर कारको की सख्या कम की जा सके।

१. प्रति घान में १४ और १८ पौण्ड तिल पेरने पर प्राप्त तेल-प्रातिशत्य की तुलना

इन प्रयोगो मे १८ पौण्ड के साधारण घान से प्राप्त तेल के प्रातिशत्य का १४ पौण्ड के घान से उपलब्ध तेल के प्रातिशत्य से तुलना की गयी। पेराई का कुल समय डेढ घण्टा था। चर कारको को न्यूनतम रखने के लिए एकान्तर दिनो मे घानो का क्रम बदला गया, जैसे, प्रथम दिन १८ पौण्ड का घान पहले पेरा गया तो दूसरे दिन

१४ पौण्ड के घान की पेराई पहले की गयी। प्रयोग २८ मई से १३ जून तक किये गये। इस अवधि मे दिन का तापमान काफी ऊँचा रहा, इसलिए ३२ औस पानी देने की आवश्यकता पडी। पानी देने और पेराई करने का तरीका 'घानी मे तिलहन पेराई के मानक तरीके' के अनुसार रखा गया। प्रयोगात्मक आकडे तालिका के सेट १ मे दिये गये है।

२ वर्धा घानी मे प्रति घान १८ पौण्ड तिल के घान की डेढ और दो घण्टे पेराई करने पर प्राप्त तेल के प्रातिशत्य की तुलना

इन प्रयोगो मे १८ पौण्ड तिल वर्धा घानी मे तिलहन पेराई के स्तरीय तरीके के अनुसार डेढ घण्टे तक पेरे गये। अधिकतम तेल प्राप्ति के लिए तिलहनो मे पानी देने का बहुत बडा महत्व है। लेकिन आवश्यक पानी की मात्रा मौसम के अनुसार बदलती रहती प्रतीत होती है। मौजूदा प्रयोगो के दौरान जून-जुलाई के मौसम मे २४ औस पानी की आवश्यकता पडी। सितम्बर-अक्तूबर मे १८ औस पानी की जरूरत पडी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गर्मी के मौसम मे किये गये प्रयोगो के वक्त ३२ औस पानी देना आवश्यक हुआ।

डेढ घण्टे पेराई करने पर प्राप्त तेल का वजन करके लिखा गया। उसके बाद आध घण्टे तक पेराई और जारी रखी गयी—इस प्रकार पेराई दो घण्टे हुई। इसके बाद कुल तेल का वजन कर लिया गया। प्रयोग सम्बन्धी आकडे तालिका के सेट २ और ३ मे दिये गये है।

३. अलसी

वर्धा घानी मे अलसी की पेराई सम्बन्धी प्रयोग भी किये गये। साधारण तरीके के अनुसार प्रति घान मे १२ पौण्ड अलसी ली जाती है। दो या तीन बार मे करके २० औस पानी देना चाहिये। दो-तीन मर्तबा पानी देने मे समय का फर्क कार्यकर्ता के अनुभव पर निर्भर करता है। पेराई दो घण्टे करनी चाहिये। प्रयोग के लिए पहले दो घण्टे पेराई करने पर प्राप्त तेल का वजन कर लिया गया, उसके बाद पेराई जारी रखी गयी और ढाई घण्टे की कुल पेराई के बाद उपलब्ध तेल का पुन वजन लिया गया। प्रयोग सम्बन्धी आकडे तालिका के सेट ४ मे दिये गये है।

वर्धा घानी मे तिल और अलसी की पेराई करने सम्बन्धी प्रयोगात्मक आंकडे

तिलहन	सेट नम्बर	प्रयोग सख्या	तिलहन प्रति घान (पौण्ड मे)	समय (घण्टे मे)	तेल प्राप्ति प्रातिशत्य	मानक विचलन प्रातिशत्य	प्रति सेट 'टी'*
तिल	१	२०	१४	१½	४७ २	० ५४	१ २५
		२१	१८	१½	४६ ९	० ६१	
"	२	१२	१८	१½	४४ २९	० ६२	२२ ४
		१२	१८	२	४६ १३	० २९	
"	३	२२	१८	१½	४३ १७	० ७३	३५ २
		२२	१८	२	४५ ४२	० ४४	
अलसी	४	७	१२	२	३७ ९१	१ २७	७ ६
		७	१२	२½	४० ५१	१ १६	

* 'टी' सेट के दो औसतो के अन्तर को मानक विचलन से विभाजित करने पर प्राप्त होती है।

परिणामो का मूल्यांकन

दोनो प्रकार के प्रयोगो के प्रत्येक सेट के मानक विचलन और गणितीय औसतो का पर्यवेक्षण किया जाता है।

चूँकि या तो उतने ही समय मे कम परिमाण का घान पेरा जाता है या एक समान घान भिन्न-भिन्न समय तक पेरे जाते है, इसलिए प्रत्येक सेट का दो क्रमो (सीरीज) मे विचरण अर्थात् परिवर्तन अपेक्षित है।

प्रथम सेट के क्रमो की तुलना के लिए 'छात्र की 'टी' का मूल्याकन करने पर हमे पता लगा कि दोनो मे कोई विशेष अन्तर नही है अर्थात् मानक समय मे १४ पौण्ड का घान पेरने से कोई लाभ नही है। और फिर, प्रति घान १४ पौण्ड की पेराई से एक हानि यह है कि १८ पौण्ड का घान पेरने से प्रति दिन जितना तेल उत्पादन और उसके फलस्वरूप लाभ प्राप्त होता है उसकी तुलना मे १४ पौड के घान से दैनिक उत्पादन कम होगा तथा परिणाम-स्वरूप लाभ-प्राप्ति भी न्यून होगी।

द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ सेट के लिए स्वतत्र रूप से 'टी' का मूल्याकन करने से प्रत्येक सेट के दोनो क्रमो के मध्य उल्लेखनीय अन्तर का निदर्शन मिला है अर्थात् आध घण्टे ज्यादा पेराई करने पर प्रत्येक बार ज्यादा तेल प्राप्त किया जा सकता है।

तथापि, नीचे जो हिसाब लगाया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि आध घण्टे ज्यादा पेराई करने पर प्राप्त दो-तीन प्रति शत अधिक तेल से पेरक को कोई वित्तीय लाभ नही होता।

१ यदि डेढ-डेढ घण्टे पाच घान पेरे जाये और औसत निस्सारण ४३ १७ प्रति शत (देखिए सेट तीन, तिल) हो, तो प्रति घानी प्रति दिन तेल उत्पादन ३८ ८५ पौण्ड होगा।

२ यदि दो-दो घण्टों के चार घान पेरे जाये और औसत निस्सारण ४५ ४२ प्रति शत (देखिए सेट तीन, तिल) हो, तो प्रति घानी प्रति दिन तेल-प्राप्ति ३२ ७१ पौण्ड होगी।

यदि तेल का भाव एक रुपया प्रति पौण्ड हो और तेलकार को तेल के मूल्य पर ६ २५ प्रति शत लाभाश (मार्जिन) मिले तो उसका कुल लाभाश क्रमश २ ४३ रुपये तथा २ ०४ रुपये होगा।

उक्त हिसाब से यह स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि तिल की दो घण्टे पेराई करने पर सम्भव है तेल-प्राप्ति का प्रानिशत्य अधिक हो, लेकिन उसकी डेढ घण्टे पेराई करना आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभप्रद है। अलसी के मामले मे भी हिसाब लगाने पर पता चलेगा कि दो घण्टों की पेराई ढाई घण्टे की पेराई की अपेक्षा अधिक लाभप्रद है।

पेराई क्षमता मे वृद्धि

अतएव यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जब तक एक समान शक्ति (बैल-शक्ति) के लिए घानी की क्षमता मे पर्याप्त वृद्धि न की जाय तब तक उसकी पेराई क्षमता मे मामूली सुधार करने से तेलकार को कोई विशेष वित्तीय लाभ नही मिल सकता, क्योकि वह अपने आपको एक्सपेलरो की स्पर्धा का मुकाबला करने मे समर्थ नही पायेगा, जिनकी क्षमता— छोटे से छोटे 'एक्सपेलर' की भी—घानी से कितनी ही ज्यादा है। यहाँ स्पर्धा एक बीच-बीच मे रूक कर चलनेवाली और अनवरत रूप से चलनेवाली प्रक्रिया के बीच है। अनवरत रूप से चलनेवाली प्रक्रिया सामान्यत सदैव ही बीच-बीच मे रुक कर चलनेवाली प्रक्रिया से श्रेष्ठ सिद्ध हुई है। इस दृष्टि से एक ग्रामोद्योग केन्द्र मे बैल-चालित एक्सपेलरों के सम्बन्ध मे प्रयोग किये जा रहे है। चूँकि एक्सपेलर को चलाने के लिए काफी अधिक शक्ति की आवश्यकता पडती है, इसलिए अभी यह देखना बाकी है कि इस प्रकार का एक्सपेलर आर्थिक दृष्टि से शक्य है या नही।

ये प्रयोग करने मे श्री कालू खॉ और अनुसधान-शाला के तेल घानी विभाग के अन्य कर्मचारियों ने जो सक्रिय सहयोग दिया है, उसके लिए लेखक द्वय उनके आभारी है।

वर्धा २८ जनवरी १९६४

विकेन्द्रित कताई और ग्रामीण रोजगारी

केशव ग. देवधर और सौमित्र दे. नाडकर्णी

अम्बर चरखे की कार्य-कुशलता, उत्पादकता और गुण-स्तर मे वृद्धि तथा भारपाट मे कमी करने की दृष्टि से अहमदाबाद स्थित प्रयोग समिति एवम् खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला मे किये गये अन्वेषण के फलस्वरूप उसके प्रारम्भिक नमूने मे सुधार किया गया है।

हमारे गॉवो तथा गैर-शहरी क्षेत्रो अर्थात् छोटे-छोटे कस्बो मे कपास की खेती से लेकर सूत कताई तक की प्रक्रिया का विकेन्द्रित आधार पर सगठन करने, उसके विकास की गुजाइश तथा पूर्ण व अर्ध बेरोजगारो को लाभदायक रोजगारी प्रदान करने का सवाल पिछले सात-आठ वर्षो से खादी और ग्रामोद्योग कमीशन व रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ के सामने रहा है। यद्यपि पिछले वर्षो मे इस दिशा मे काफी प्रगति हुई है, फिर भी कुछ लोगो ने योजना की सफलता एवम् भावी विकास के सम्बन्ध मे बे-सिर-पैर की शकाएँ उठायी है।

अन्वेषण

खादी कार्यक्रम के एक महत्वपूर्ण अग के रूप मे, अम्बर चरखे के आविष्कार और १९५५–५६ मे उसे क्षेत्र मे प्रचलित करने के बाद, हाथ कताई के विकास मे पर्याप्त प्रगति हुई है। क्षेत्र मे विभिन्न सस्थाओ के तत्वावधान मे जो कार्य चल रहा है उसके अलावा, कोई पॉच वर्ष से, मुख्यत अहमदाबाद स्थित प्रयोग समिति मे, और वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला मे भी, अन्वेषण कार्य भी चल रहा है। प्रारम्भ मे धुनाई मोढिया और बेलनी के साथ अम्बर सेट क्षेत्र मे प्रचलित किये गये। क्षेत्र मे वितरित और अधिकाश सख्या मे सक्रिय अम्बर चरखो पर चलनेवाले काम के साथ ही साथ विकेन्द्रित कताई और पूर्व-प्रक्रियाओ सम्बन्धी अन्वेषण कार्य ने भी सुस्थिर प्रगति की है। फलस्वरूप विभिन्न एकको मे उनकी कार्यक्षमता बढाने, गुण-स्तर मे सुधार करने और प्रति मनुष्य-घटे सूत-उत्पादन बढाने तथा विभिन्न एकको के सचालन मे भारपाट या आवश्यक हस्त-शक्ति की मात्रा कम करने की दृष्टि से कई सुधार किये गये। कई इकाइयो के मामले मे पैर-शक्ति या पैडल-सचालन पर भी विचार और प्रयोग किये गये, लेकिन धुनाई मोढिये तथा माला बनानेवाले यत्र के अतिरिक्त अन्वेषण कार्य मे विशेष प्रगति की गुजाइश दिखायी नही पडी। परन्तु हाल ही मे जिन हस्त-चालित एकको का उनकी डिजाइन तैयार करके निर्माण किया गया है, उनमे पर्याप्त सम्भाव्यता परिलक्षित होती है। ऐसे कुछ एकको का क्षेत्र मे प्रचलन किया जा चुका है और कुछ पर क्षेत्रीय परीक्षण चल रहा है। कुछ अन्य इकाइयो की डिजाइने बनायी जा रही है तथा उन पर प्रयोग चल रहे है।

लाभ

हस्त-चालित साधनो को आसान बनाने के सम्बन्ध मे बिल्कुल ठोस परिणाम सामने आये है। हाथ को जितनी ताकत लगानी पडती थी उसमे काफी कमी की जा चुकी है। पहले जो भारपाट तीन से पॉच पौण्ड तक का था उसमे ५० प्रति शत कमी करके नयी कताई इकाई मे वह डेढ पौण्ड कर दिया गया है। इसका नतीजा यह निकला है कि सूतकार एक मिनट मे हत्थे को ६० से ज्यादा बार घूमा सकता है, जोकि एक औसतन दर्जे के कुशल और

ताकतवर सूतकार के लिए अनुकूलतम समझा जाता है। विकल्प स्वरूप इस मामले में और इस लाभ के साथ, चालक मन्द गति से अधिक समय तक बिना थकान महसूस किये काम कर सकता है। अन्तिम कताई से पहले, पूर्व-प्रक्रियाओ मे काम आनेवाले एककों मे सुधार करने से सूत के गुण, मजबूती और समानता मे पर्याप्त सुधार हुआ है।

अम्बर चरखा कार्यक्रम की कुछ लोग जो आलोचना करते हैं उसमे सामान्यत कार्यवाहक इकाइयो मे समाविष्ट नयी डिजाइनो के क्षेत्र मे हुई प्रगति अथवा सुधारो और उत्पादकता तथा अन्तिम उत्पादन के गुण मे हुए सुधार एवम् फलस्वरूप लाभदायक रोजगारी प्रदान करने के लिए कताई इकाइयो–चरखो–की बढी हुई क्षमता के सम्बन्ध मे कोई ध्यान नही दिया जाता। तीन बेलनो के साथ चार तकुएवाला अम्बर चरखा बडा आसान चलने लगा है। अम्बर चरखे के नवीनतम नमूने मे छ तकुए है। इसमे चार तकुए पक्की कताई और दो तकुए कच्ची कताई के लिए है। ये सभी तकुए एक साथ चलते है। यह चरखा अहमदाबाद स्थित प्रयोग समिति ने बनाया है। इसे सयुक्त चरखा कहा जाता है। इसका क्षेत्र मे प्रचलन किया जा चुका है और उत्साहवर्द्धक परिणाम सामने आ रहे है। छ तकुए के चरखे वर्धा स्थित केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला ने भी बनाये है। अनुसधानशाला द्वारा तैयार की गयी डिजाइन मे तकुओ के नीचे तेल की कूपियाँ लगायी गयी है। ये चरखे चलाने मे हल्के और सुदृढ है। उत्पादन-क्षमता मे भी सुधार हुआ है।

विशेषज्ञो का मत

हाल ही मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा नियुक्त वस्त्रोद्योग तकनीज्ञो की एक समिति–प्राविधिक समिति, जिसे भूता समिति भी कहा जाता है–ने कताई इकाइयो के निर्माण के प्रश्न पर विचार किया। समिति ने अहमदाबाद स्थित प्रयोग समिति द्वारा तैयार की गयी विभिन्न डिजाइनो के काम का तुलनात्मक मूल्याकन किया।

फ्रेम और अन्य पुर्जो की मजबूती, टिकाऊपन मे वृद्धि, मरम्मत की कम आवश्यकता, मानकीकरण की प्राप्ति तथा सूत और बट की एकरूपता व गुण मे सुधार की दृष्टि मे उक्त समिति ने विभिन्न प्रकार के कताई साधनो मे चन्द सशोधनो का सुझाव दिया है। चूकि मूल्याकन चन्द प्रयोगशाला सबधी परीक्षणो पर ही आधारित था, इसलिए समिति ने वैज्ञानिक आधार पर क्षेत्रीय परीक्षण करने की आवश्यकता प्रकट की है। लेकिन अब तक जो परिणाम प्राप्त हुए है, वे रोज आठ घटे के कार्य-दिवस मे अथवा छ घटे कठोर परिश्रम करके एक औसत सूतकार एक रूपये की कमाई करले, इस दृष्टि से आशाजनक सिद्ध हुए है।

कताई साधनो पर हुए क्षेत्रीय परीक्षणो, विशेषज्ञ समिति के हाल के निष्कर्षो और देश के विभिन्न क्षेत्रो मे प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभव से विकेन्द्रित कताई के क्षेत्र मे हुई प्रगति तथा उपयुक्त लाभदायक रोजगारी प्रदान करने की उसकी क्षमता के सम्बन्ध मे हम विश्वस्त निष्कर्ष निकाल सकते है।

कताई साधन

डिजाइन, बनावट और कार्य-क्षमता मे सुधार करने की दिशा मे अन्वेषण जारी है। साथ ही जिन नमूनो का क्षेत्र मे प्रचलन किया गया है, उनकी क्षमता के सम्बन्ध मे सन्तोषप्रद परिणाम निकले है, तथापि छुट्टे पुर्जो के मानकीकरण की दिशा मे प्रगति अब भी मन्द है। यह स्पष्ट है कि सूत की मजबूती, एकरूपता और गुण के लिए दबाव, तनाव, गति, केन्द्र और निर्धारित सीध के अनुरूप बिना किसी अन्तर के विभिन्न हिस्से उपयुक्त सन्तुलन एवम् नियमितता के साथ काम दे। इसका मतलब है कि कताई साधनो के सभी हिस्सो की विशिष्टताएँ तथा परिमाप मानकीय हो और उन्हे अनुमत सीमा के भीतर रखा जाय। यत्र मजबूत हो, काम करते वक्त हिले-डुले नही और दोषरहित हो।

इन विभिन्न उपकरणो से इन उद्देश्यो की पूर्ति की अपेक्षा की जाती है (१) उत्पादक श्रम करने पर एक

सूतकार एक दिन मे कम से कम एक रुपया कमा सके, और (२) किसी दूसरे के लाभ के लिए किसी के श्रम का शोषण अथवा मुनाफाखोरी रोकना । उद्देश्य के रूप मे यह भी निरपवाद है कि इन साधनो के निर्माण से ग्रामीण कारीगरो को लाभदायक रोजगारी मिलनी चाहिये तथा स्थानीय रूप से उपलब्ध काठ जैसी कच्ची सामग्री से इनका निर्माण भी ग्राम्य कारीगरो को करना चाहिये ।

लेकिन यदि इस शर्त से साधन की परिशुद्धता, मानकीकरण और कार्यक्षमता मे किसी तरह की क्षति पहुँचे तो उस हालत मे इसमे ढिलाई की गुंजाइश होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, हाल ही मे चरखे के लिए धातु के फ्रेम की सिफारिश की गयी है। इसे अथवा अच्छे पके हुए काठ के साथ धातु का उपयुक्त इस्तेमाल करते हुए ऐसे फ्रेम को निश्चय ही तरजीह देनी चाहिये कि यातायात के दौरान उसकी शक्ल न बिगडे, कही टूट-फूट न हो आदि । बार-बार मरम्मत आदि करने की आवश्यकता न पडने के सम्बन्ध मे इसका जो महत्व है, उसकी अतिशयोक्ति नही हो सकती।

मानकीकरण की समस्या

जहाँ-कही छुट्टे पुर्जे या कताई साधन का अन्य कोई हिस्सा—उदाहरण के लिए तकुवा, घिर्री आदि—स्थानीय कारीगर, दस्तकार अथवा छोटे-छोटे सुतार घर बनाते है वहाँ उनमे बहुत अधिक विभिन्नता रह सकती है—उस अवस्था मे तो और भी अधिक जबकि छुट्टे हिस्से अलग-अलग स्थानो पर अलग-अलग कारीगर बनाये। जब तक कम से कम हिस्सो को मापने के लिए सुधरी हुई 'सीमा गेज' न प्रदान की जाये तब तक कोई भी मानकीकरण सम्भव नही है । नकारात्मक और सकारात्मक दोनो ही दिशाओ मे अथवा अनुमत अधिकतम और न्यूनतम परिमाणो के लिए सीमाएँ निर्धारित करनी ही होगी । जो हिस्से निर्धारित परिसीमाओ के मुताबिक न हो उन्हे खारिज किया जाना चाहिये । जहाँ उपयुक्त केन्द्रीकृत भण्डार (स्टार) रखे जाते है—और इससे बचा नही जा सकेगा—वहाँ यह काम उक्त भण्डारो का होगा । इस तरह के कामो के लिए विस्तृत विकेन्द्रित उत्पादन की कल्पना केवल तभी की जा सकती है, जबकि इस काम के लिए औद्योगिक सहकार अथवा सहकारी सुतार घर हो जोकि इनका काम अपने हाथ मे ले अथवा फिर कोई प्रमुख सस्था स्वयम् उस काम को चलाये । इसके लिए कुछ स्थानो पर लघु वस्त्रोद्योग प्रयोगशालाओ की भी आवश्यकता पडेगी अथवा फिर फिलहाल पास-पडोस मे जो प्रयोगशालाएँ है उनकी सेवाएँ प्राप्त की जा सकती है।

सूतकार

गाँवो मे कताई अपनानेवालो मे अधिकाश महिलाएँ है—यद्यपि कुछ क्षेत्रो मे पुरुषो की सख्या भी काफी है। वे या तो आशिक धधे के रूप मे या पूर्ण-कालीन काम के तौर पर कताई-कार्य अपनाते है। प्रति कार्य-दिवस मे वे ७५ नये पैसे से १ ५० रुपया तथा उससे भी ज्यादा कमा लेते है । कताई मे प्रति दिन वे कितना समय देते है अर्थात् कितने वक्त कताई करते है, यह उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओ और सुविधा पर निर्भर है। जो लोग लाभदायक धधा अपनाना चाहते है और जिनका स्वास्थ्य तथा ताकत औसत दर्जे की है वे निश्चय ही इसे पूरे समय के काम के रूप मे अपना सकते है। छ घण्टे काम करके वे एक रुपया अथवा उससे भी अधिक कमाई कर सकते है। प्रशासन के स्तर पर कभी-कभी कुछ कठिनाइयाँ आ जाती है, जैसे, सूतकारो को समय पर रूई का न मिलना अथवा समय पर अपनी कमाई का न मिलना। ये ऐसे कारक है जो अनेक मामलो मे लोगो द्वारा कताई को एक नियमित अथवा सुव्यवस्थित धधे के रूप मे अपनाने के मार्ग मे बाधा बन जाते है। वस्तुत सुतारी काम, मरम्मत, प्रतिस्थापन अथवा बदलाई आदि जैसी कारीगरो की कुछ ऐसी आवश्यकताएँ है जो वास्तव मे उपयुक्त रूप मे और वह भी समय पर पूरी करनी होगी।

इस प्रकार, जहाँ चरखे की डिजाइन मे आगे का सुधार किया जाता रहेगा, वहाँ यह कहा जा सकता है कि एक औसत दर्जे के स्वस्थ और पुष्ट शरीरवाले कर्मी के लिए यदि उसे एक ठोस कताई साधन एवम् समय पर अच्छी रूई की पूर्ति का आवश्वासन मिले तो विकेन्द्रित कताई को नियमित रूप से अपनाना तथा एक दिन मे कम से कम एक रुपया कमाने मे समर्थ बनना सम्भव है। एक बहुत ही उत्साही और ताकतवर सूतकार आठ घण्टे के साधारण काम से अथवा छ या साढे-छ घण्टे के कठोर परिश्रम से डेढ रुपये तक भी कमा सकता है। फिर भी, यह समझ लेना है कि विभिन्न क्षेत्रो के तापमान और सापेक्षिक आर्द्रता का उत्पादकता पर अपरिहार्य प्रभाव पडता है। इस बात का क्षेत्र मे सही-सही पता लगाना अभी बाकी है। सब से ज्यादा महत्व है अनुशासन, समय और कार्य-क्षमता का। कुटीर उद्योग को अगर लाभदायक रोजगारी के रूप मे अपनाना है तो उसका मतलब होना चाहिये कारखाने से कुटीर मे काम करने के वातावरण का परिवर्तन, लेकिन उसका अर्थ काम के प्रति सजगता का अभाव और काम के घटो मे शैथिल्य नही होना चाहिये। लाभदायक रोजगारी अनिवार्यत अनुशासन पूर्ण काम पर निर्भर है।

बबई १ अप्रैल १९६४

मै कृतज्ञ हूँ कि मेरी प्राचीन पद्धतिवाली सुसस्कृत शिक्षा ने मुझे १९वी शताब्दी की जर्मन पद्धति के अनुसार मानव-शास्त्र की पढाई से बचा लिया। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि १५वीं शताब्दी की इटालवी पद्धति बेहतर थी; क्योकि मेरे खयाल से मानव-जीवन के प्रति वह ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करती है, जो अधिक सच्चाई पूर्ण है। प्राचीन मानवोय शास्त्र के विद्यार्थी को बताया जाता है कि यूनानी-रोमन जीवन में एकता है। उसकी दृष्टि में भाषा, साहित्य, कल्पनाशील कलाएं, धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा उसके परिनिष्ठित संसार का इतिहास अलग-अलग विषय नही है, वे सब जीवन की एकरूपता के विभिन्न पक्ष है; और इन सब को तथा किसी एक को तब तक अच्छी तरह नही देख सकते, जब तक समस्त अंगो को 'पूर्ण' के ही सारभूत अवयव-स्वरूप न देखें।

— अर्नाल्ड जे. टायनबी : *जेनस* ऐट *सेवण्टी* फाइव।

उत्तर प्रदेश में गुड़ की सहकारी विक्रय-व्यवस्था

भारत भूषण कंसाल

प्रस्तुत लेख में उत्तर प्रदेश में गुड़ की सहकारी विक्रय-व्यवस्था के सगठन पर विचार किया गया है, सहकारी समितियों के मार्ग मे आनेवाली कठिनाइयों पर प्रकाश डाला गया है और कुछ ऐसे सुझाव दिये गये है जिनसे उनके कार्य सचालन की नीव मजबूत बनने में सहायता मिलनी चाहिये ।

सहकारी विक्रय-व्यवस्था (मार्केटिंग) का बुनियादी सिद्धात है यह सुनिश्चित करना कि कृषक को अपने उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो तथा एक ओर उपभोक्ता द्वारा अदा की जानेवाली और दूसरी तरफ कृषक को प्राप्त होनेवाली कीमत के बीच का अन्तर कम हो। ससार के अनेक भागो मे, यह दलितो को आर्थिक राहत प्रदान करने का साधन रही है।

गाँवों मे उत्पादन की स्थानीय निकासी के प्रमुख कारण है (१) बिक्री के लिए अतिरिक्त माल की कम तादाद का होना, (२) खेत से उत्पादन को कारखानो, मिलो, निर्यातक और उपभोक्ता तक पहुँचाने हेतु परिवहन के लिए आवश्यक सेवाएँ प्राप्त करने मे किसानो की असमर्थता, और (३) पूर्ति का माग के साथ समजन करने के लिए अपने पास शक्ति रखने की कमी। किसान शोषण का शिकार है, क्योंकि वह अपना उत्पादन दलाल के मार्फत बेचता है। चूकि वह अपना उत्पादन व्यक्तिगत रूप से बेचता है, इसलिए उसे अपने माल की उचित कीमत नही मिल पाती । उसे उपभोक्ता द्वारा अदा की जानेवाली कीमत का उचत हिस्सा प्राप्त करने मे समर्थ बनाने के लिए उत्पादन की बिक्री एक सगठित और नियमित बाजार मे ही होनी चाहिये, जहाँ माग तथा पूर्ति मे समुचित सम्बन्ध हो। द्वितीय, वितरण खर्च कम से कम किया जाना चाहिये तथा वाणिज्य मे जो बुराइयाँ है उन्हे समाप्त किया जाना चाहिये। तृतीय, बाजार मे जब माल की भरमार हो, मन्दी आ गयी हो तो, जब तक भाव सुधर न जाये तब तक के लिए अपना माल बाजार मे न भेज कर अपने पास रखने की शक्ति उसे यानी कृषक को प्रदान की जानी चाहिये ।

सहकारी विक्रय-व्यवस्था समिति अन्य सहकारी सस्थाओ के समान ही उत्पादको का एक सगठन है। उत्पादको के सामूहिक हित को बढावा देने के लिए लोकतात्रिक ढग से उसका प्रबन्ध होता है । सर्वे सही शब्दो मे इसे यो कहा जा सकता है कि कृषि उत्पादनो के सम्बन्ध मे सहकारी विक्रय-व्यवस्था व्यापारी तौर-तरीको का एक प्रयोग है। खाद्य और कृषि सगठन[१] (फूड एण्ड एग्रीकल्चर आर्गेनाइजेशन) ने सहकारी विक्रय-व्यवस्था के उद्देश्य और लाभ बडी अच्छी तरह इन शब्दो मे व्यक्त किये है . "प्रत्येक विक्रय-व्यवस्था सहकारी समिति का उद्देश्य है अपने सदस्य के उत्पादनो की सर्वोत्तम बाजार और उस राज्य मे बिक्री करना जहाँ सर्वोत्तम मूल्य-प्राप्ति हो सके। छोटे-बडे सभी उत्पादको को वह समान सेवा प्रदान करती है। सर्वोत्तम माल और सर्वाधिक मागवाले उत्पादन तैयार करने मे वह सदस्य की सहायता करती है । वह सही माप-तौल करती है । उत्पादन को वह इस प्रकार श्रेणीबद्ध करती है कि सभी किस्म के उत्पादनो का उत्पादक के हक मे सर्वोत्तम मूल्य प्राप्त किया जा सके। फसल को बिना किसी नुकसान अथवा बर्बादी के साफ तौर पर इस ढग से सम्हालना उसका उद्देश्य है कि बैमा करने से उत्पादन की कीमत घटे नही, वल्कि बढे । वह

१ एग्रीकल्चरल डेवलपमेण्ट पेपर नम्बर ५३ 'कोआपरेटिव मार्केटिंग फॉर एग्रीकल्चरल प्रोड्यूसर्स', खाद्य और कृषि सगठन।

सद्व्यवहार के लिए है। गुटबाजी और कीमतो मे हेरा-फेरी के विरुद्ध वह अपने प्रभाव का इस्तेमाल करती है। उचित शर्तो के अनुसार अग्रिम रकम देकर वह सदस्य की वित्तीय सहायता करती है, जबकि वह अपनी फसल के पकने का इन्तजार करता है। अच्छे और बुरे वर्ष का अन्तर मिटाने के लिए वह यथा शक्ति जो कुछ कर सकती है, करती है। जो कुछ अतिरिक्त प्राप्ति होती है, वह सदस्यो मे उनके योगदान के अनुपातानुसार बराबर-बराबर बाँट देती है। वह किसान को विक्रय-व्यवस्था सबधी प्रक्रिया की सभी अवस्थाओ की अच्छी समझ प्रदान करती है।"

भारत मे सहकारी विक्रय-व्यवस्था

भारत मे सहकारी आन्दोलन का प्रवर्तन आधिकारिक तौर पर १९०४ के सहकारी ऋणदात्री समिति अधिनियम के साथ हुआ। तत्सम्बन्धी दूसरा महत्वपूर्ण कदम था १९१२ मे एक अन्य केन्द्रीय कानून का बनना, जिसमे गैर ऋणदात्री और केन्द्रीय समितियों का सगठन सामने आया। आजादी हासिल करने से पूर्व सहकारी समितियो का विकास कार्यक्षेत्र और सीमा दोनो ही दृष्टियो से सीमित था। स्वतत्रता-प्राप्ति के साथ सहकारी आन्दोलन ने द्रुत और बहुविध विकास के युग मे पदार्पण किया। एक 'सहकारी समाज' की स्थापना हमारी सामाजिक और आर्थिक नीति का लक्ष्य घोषित किया गया है। तीनो ही पच वर्षीय योजनाओ मे सहकार को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। प्रथम योजना[२] मे कहा गया है कि सहकारी सगठन "लोकतत्र मे आयोजित आर्थिक कार्य का एक अपरिहार्य अग है।" दूसरी पॉचसाल योजना मे आयोजित विकास योजना के अग स्वरूप सहकारी विभाग का निर्माण करना राष्ट्रीय नीति के एक प्रधान उद्देश्य के रूप मे निर्धारित किया गया है।[३] इसी प्रकार तृतीय योजना मे आर्थिक जीवन की अनेक दिशाओ मे—खास कर कृषि और लघु सिचाई, लघु उद्योग और प्रशोधन, विक्रय-व्यवस्था, वितरण, पूर्ति आदि के क्षेत्र मे—सहकार सगठन का प्रधान आधार बताया गया है।[४]

भारत मे सहकारी विक्रय समितियो का ढाँचा ऋण-दात्री सहकारिताओ के अनुसार त्रि-सूत्री है—बुनियादी तौर पर प्राथमिक सहकारिताएं, जिले अथवा उसके किसी हिस्से के लिए केन्द्रीय सघ अथवा परिषद और राज्य स्तर पर शीर्ष सस्थाएं। अधिकाश राज्यो मे राज्य स्तरीय सस्थाएँ स्थापित हो चुकी है। केवल १९१२ के बाद से ही गैर ऋणदात्री समितियो का सगठन हुआ है और १९३०–३१ तक उनकी कुल सख्या नगण्य अर्थात् ८४९ ही थी।[५] इसलिए गैर ऋणदात्री सहकारी समितियो का ढाँचा विकास की अवस्था मे है, उसे अभी एक सुविकसित सगठन प्राप्त नही हुआ है। प्रथम, व्याव-हारिक आवश्यकताओ तथा अन्य परिस्थितियो के अनुसार अलग-अलग उत्पादनो की समितियो के सगठनात्मक स्वरूप मे विभेद पाया जाता है। अनेक मामलो मे द्वि-सूत्री सगठन है—या तो उक्त त्रि-सूत्री सगठन मे से बीचवाला सगठन नही है या फिर शीर्ष सगठन और सामान्यत शीर्ष सगठन ही नही होता। उत्तर प्रदेश मे घी और दूध सम्बन्धी समितियो का मामला कुछ ऐसा ही है तथा हाल ही तक गन्ना सहकारी सघों का भी ऐसा ही था। द्वितीय, शीर्ष सगठन साधारणतया सामग्री के अनुसार नही होता। किसी एक ही पद्धति पर जोर देने की आवश्यकता नही है।

उत्तर प्रदेश मे सहकारी विक्रय-व्यवस्था

उत्तर प्रदेश मे पहले सहकारी विक्रय-व्यवस्था की ओर कोई विशेष झुकाव नही था। घी की बिक्री के लिए चन्द समितियों ने सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त किये, लेकिन वे सदैव ही अलग-अलग स्वतत्र इकाइयॉ रही, और उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत नही हुआ। फिर भी, आधुनिक चीनी उद्योग के विकास के साथ गन्ना पूर्ति समितियॉ बनी। उनकी सख्या मे काफी वृद्धि हुई है और

२ प्रथम पच वर्षीय योजना, भारत सरकार, पृष्ठ. १६३।
३ द्वितीय पच वर्षीय योजना, भारत सरकार, पृष्ठ २२१।
४ तृतीय पच वर्षीय योजना, भारत सरकार, पृष्ठ २००।
५ आर एस श्रीवास्तव एग्रीकल्चरल मार्केटिंग इन इण्डिया एण्ड एब्रोड।

कुल मिला कर देखने पर वे अच्छा काम कर रही है।

उत्तर प्रदेश मे सहकारी विक्रय-व्यवस्था समितियो की तीन विशिष्ट श्रेणियाँ है। एक श्रेणी है विक्रय सघो की। हाल ही मे इन्होने प्राथमिक स्तर पर खड सघों का रूप ले लिया ह। (ग्रामीण क्षेत्रो मे खड सघ सब से छोटी इकाई है और वह विक्रय-व्यवस्था तथा पूर्ति सम्बन्धी काम करता है। खड सघ का उद्देश्य है ग्रामीण को उस प्रकार की कृषि-विषयक आवश्यकताएँ मुहैया करना जो अन्य किसी भी प्रकार का सहकारी अभिकरण (एजेसी) नही कर सकता। खड सघो का विकास १९४७ मे नव विकास योजना के कार्यान्विय के फलस्वरूप हुआ। पूर्ति सम्बन्धी काम के अलावा खडीय सघ विक्रय-व्यवस्था का काम भी करता है।)

जिला स्तर पर जिला सघ है, जिनके राज्य स्तर पर प्रादेशिक सहकारी सघ है। (सभी खड सघो से मिल कर जिला सहकारी सघ बनता है, जो बैकिग के अलावा अन्य सभी प्रकार के काम करने के लिए जिले का प्रधान सगठन होता है। प्रादेशिक सहकारी सघो के सामान्य नियत्रण और देखरेख के अन्तर्गत रहते हुए जिला सहकारी सघ से अपेक्षा की जाती है कि वह जिले मे सहकारी गतिविधियो मे मार्गदर्शन देगा, पर्यवेक्षण करेगा, नियत्रण रखेगा और समन्वय लायेगा। प्रत्येक जिले मे एक जिला सहकारी सघ है और साधारणतया वह कच्चे माल, उपभोक्ता सामग्री और कार्यकुशल कृषिक उत्पादन के लिए आवश्यक उन्नत साधन-सरजामों का एकमुश्त वितरण करता है। प्रादेशिक सहकारी सघ राज्य स्तर पर विक्रय-व्यवस्था, वितरण और वाणिज्य सम्बन्धी कामो के लिए एक शीर्ष सस्था है। इसका गठन जुलाई १९५३ मे हुआ था। द्वितीय विश्व युद्ध से उत्पन्न अवस्थाओं के फलस्वरूप इसका जन्म हुआ। यद्यपि १९४१-४२ मे जीवन की अनेक आवश्यकताओ सम्बन्धी चीजो के दामो पर सरकार का नियत्रण था, तथापि, नियत्रण प्रभावहीन बन गया था और कीमते काफी बढ गयी थी। चारो ओर असहायावस्था की भावना फैली हुई थी और मुनाफाखोरी का बोलबाला था। ऐसी परिस्थितियो मे कुछ जिलो के जिला न्यायाधीशो ने उपलब्ध गेहूँ और आटे के स्टॉक अपने कब्जे मे ले लिये और सहकारी समितियो के सहायक पजीयको को अपने कार्यक्षेत्रो मे इन चीजो के वितरण की जिम्मेदारी दी। प्रत्येक जिले मे सहायक पजीकार को जिस नियत्रित सामग्री के वितरण का उत्तरदायित्व सौपा गया था, उस काम मे सहायता देने के लिए एक-एक सहायक सुपरिण्टेण्डेण्ट होता था। चूकि यह काम करने के लिए कोई उपयुक्त सहकारी सगठन नही था, इसलिए सहकारी विकास और विक्रय-व्यवस्था सघ स्थापित होने तक सहायक पजीयक यह काम करता रहा। अब उक्त सघ का नाम बदल कर प्रादेशिक सहकारी सघ कर दिया गया है। यहाँ तक कि इससे पूर्व विक्रय-व्यवस्था सघो—जिन्हे आगे चल कर विकास खड सघो मे रूपातरित कर दिया गया——की कार्यशीलताओ मे समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से प्रातीय सहकारी सगठन खडा करने के सवाल पर राज्य का सहकारी विभाग सक्रिय रूप से विचार कर रहा था। अतएव सघ के उद्देश्य, जैसा कि उसके उपनियमो मे बताया गया है, यथा सम्भव व्यापक है, ताकि उसके कार्यक्षेत्र मे विक्रय-व्यवस्था और वितरण दोनो सम्बन्धी कार्य शामिल हो सके।)

दूसरी श्रेणी है गन्ना उत्पादक सघो की। गन्ना उत्पादक यानी कृषक और गन्ना आयुक्त--जोकि गन्ना उत्पादक सहकारी सघो का पजीयक भी है—के अन्तर्गत गन्ना विकास विभाग नामक अलग विभाग द्वारा प्रबन्धित समितियाँ भी उक्त सघो से सम्बद्ध है। एक अलग नियत्रक अधिकारी का होना आवश्यक समझा गया, क्योकि उत्तर प्रदेश मे गन्ना विक्रय-व्यवस्था का काम सहकारी विक्रय-व्यवस्था का एक बहुत ही बडा और महत्वपूर्ण पक्ष है।

तीसरी श्रेणी मे घी सघ आते है। राज्य मे सहकारी विक्रय-व्यवस्था समितियाँ इनसे सम्बद्ध है।

अब हम गुड उद्योग की मौजूदा सहकारिताओ के

वास्तविक कार्य का परीक्षण कर, उनके दोषो पर दृष्टि डाले और सुधार का सुझाव दे ताकि राज्य की अर्थ-व्यवस्था मे समितियाँ अपनी उपयुक्त भूमिका निभा सके। गुड उद्योग मे –खास कर राज्य के पश्चिमी हिस्से मे– सहकारी समितियाँ हाल ही मे आगे आयी है। प्राय प्रत्येक छोटी या बडी मण्डी कम से कम एक सहकारिता बनाने की कोशिश कर रही है। ये गुड सहकारी समितियाँ अन्य सहकारो के समान ही या तो लखनऊ स्थित उत्तर प्रदेश के सहकार पजीयक अथवा फिर हाल ही मे विभिन्न क्षेत्रो मे नियुक्त उप पजीयको के पास पजीकृत है। एक सहकारी विक्रय-व्यवस्था समिति की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार है

१ **सदस्यता** किसी समिति की सदस्यता के अन्तर्गत सदस्यो की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ होती है, उदाहरणार्थ (क) सहकारी समितियाँ –'अ' श्रेणी, (ख) स्वतत्र उत्पादक–'आ' श्रेणी, (ग) मण्डियो के व्यापारी–'इ' श्रेणी, और (घ) राज्य सरकार, जोकि यदि किसी श्रेणी (सामान्यत 'अ' श्रेणी को तरजीह दी जाती है) के हिस्से खरीदे तो उसे 'विशिष्ट सदस्य' माना जाता है। 'अ' श्रेणी के सदस्य को १०० रुपये के एक हिस्से मे अशदान देना पडता है, 'आ' श्रेणीवाले को २० रुपये के एक हिस्से मे और 'इ' श्रेणीवाले को एक रुपये के एक हिस्से मे।

२ **पूँजी** समिति की पूँजी मे यह पूँजी आती है (१) हिस्सा पूजी, (२) ऋण, (३) दान, (४) आरक्षित कोष, (५) विशेष योगदान, और (६) राज्य उपदान। **हिस्सा पूँजी** प्रत्येक सदस्य को पूरी कीमत चुका कर हिस्सा खरीदना पडता है। यही वह मुख्याधार है, जिस पर समिति का वित्तीय भवन खडा होता है। हिस्सा पूजी जितनी ही अधिक होगी काम का क्षेत्र उतना ही व्यापक होगा और अन्य वित्तीय स्रोतो पर निर्भरता उतनी ही कम। **ऋण** वित्त की कमी ऋण प्राप्त करके पूरी की जाती है। ये ऋण या तो केन्द्रीय सहकारी बैक से प्राप्त किये जाते है या स्टेट बैक से अथवा फिर सरकार या अन्य किसी बैक से। उत्तर प्रदेश मे सहकारी समितियाँ केन्द्रीय सहकारी बैक से १,००,००० रुपये तक ऋण ले सकती है। बडी मण्डियो मे ऋण की रकम बढा कर १,००,००० रुपये से ३,००,००० रुपये कर दी गयी है। अखिल भारत ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति ने जिस सुसयोजित सहकारी योजना की सिफारिश की थी उसके अन्तर्गत सहकारी समितियाँ स्टेट बैक ऑफ इण्डिया से नीची ब्याज दर पर ऋण प्राप्त कर सकती है। ब्याज दर भिन्न-भिन्न है। केन्द्रीय सहकारी बैक ७५ प्रति शत ब्याज लेता है और स्टेट बैक ऑफ इण्डिया ५ प्रति शत। **दान** अनेक धर्मार्थ और जनकल्याणकारी समितियो के लिए दान और उपहार प्रत्याशित वित्तीय स्रोत समझे जाते थे। राजा-महाराजाओ, जमीदारो आदि के पतन के साथ ये स्रोत भी सूख गये। **आरक्षित कोष** सहकारिताओ के 'आदर्श उपनियमो' मे इस बात की व्यवस्था है कि विशुद्ध लाभ का २५ प्रति शत हिस्सा अधिलाभ घोषित करने से पूर्व 'आरक्षित कोष' मे स्थानानरित किया जाना चाहिये, ताकि उसका बुरे वर्ष मे इस्तेमाल किया जा सके। **विशेष योगदान** मण्डी मे प्राय कुछ अत्युदार उत्पादक इस आशा से आगे आकर सहाकारी समिति की विशेष योगदान दे कर सहायता करते है कि एक दिन वे इस विकासशील पेड के फल चख सकेगे। इस प्रकार के योगदान का बहुत महत्व है, क्योकि वह उस वक्त प्राप्त होता है, जबकि उसकी सर्वाधिक आवश्यकता होती है। दुर्भाग्यवश सहकारिताएँ इस अत्युदारता का फायदा नही उठा सकी, क्योकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि 'सहकार' लोगो के अन्दर से विकसित नही हुआ, बल्कि ऊपर से थोपा जा रहा है। **राज्य उपदान** सहकारिताओ को अपना कार्यारम्भ करने मे समर्थ बनाने के लिए प्रारभिक वर्षो मे राज्य अर्थात् सरकार प्रबन्ध खर्च के लिए उपदान देती है।

संगठन और नियत्रण

समितियो के सगठन और नियत्रण के लिए इन कर्मचारियो की नियुक्ति की जाती है (१) मत्री-

सह-प्रबन्धक, (२) लेखापाल-सह-गोदाम कार्यभारी, (३) मुनीम, (४) चपरासी, और (५) चौकीदार। इनमे से प्रथम दो की नियुक्ति सरकार करती है और उनका वेतन भी वही देती है। ये प्रशिक्षित कर्मचारी होते है। उनका वेतन क्रमश १२० रुपये और ७५ रुपये मासिक होता है। मुनीम अथवा मुनिमो (उनकी सख्या समिति के व्यवसाय पर निर्भर करती है) की नियुक्ति स्वयम् समिति करती है। ये मुनीम लेखापाल को उसके काम मे मदद देते है तथा समिति के लिए 'विक्रेता' का काम भी करते है। कभी-कभी व्यस्त मौसम-काल मे कुछ समय के लिए सहायक मुनीम रखे जाते है। सामान्यत एक मुनीम का वेतन उसकी योग्यता और अनुभव के अनुसार ७०–८० रुपये प्रति माह होता है। चपरासी-सह-चौकीदार की नियुक्ति भी समिति ही करती है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति चपरासी और चौकीदार, दोनो का काम करता है। इन चपरासियो तथा चौकी-दारो का वेतन साधारणतया ४५ रुपये मासिक होता है।

कार्य-प्रणाली

समितियो की कार्य-प्रणाली बडी सरल है। मण्डी मे समिति कच्चे आडतिये के रूप मे काम करती है अर्थात् अपने सदस्यो से—कभी-कभी गैर-सदस्यो से भी—उत्पादन खरीदती है और पक्के आडतियो के मार्फत उपभोक्ताओ को उसकी बिक्री करती है। उनके सौदे की एक विशेषता यह है कि उन्होने बिक्री-खर्च कम कर दिया है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि समितियाँ पक्के आडतिये का भी काम क्यो नही करती? इसके कई कारण हो सकते है। सर्व प्रथम, सहकारी समितियाँ अभी तक बाजार मे जम नही पायी है और उन्हे कडी स्पर्धा का सामना करना पडता है। द्वितीय, अभी तक वे अन्य राज्यो मे उपभोक्ताओ के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नही कर पायी है। तृतीय, जोकि बहुत महत्वपूर्ण है, उच्च स्तर के सघो ने अभी तक पक्के आडतियो से नमस्कार कर लेने मे समितियों की सहायता करने मे दिलचस्पी नही ली है। परिणाम यह निकला है कि अधिकाश समितियो को अपने सदस्यो के माल की बिक्री के लिए पक्के आडतियो पर निर्भर रहना पडता है। कुछ मामलो मे, जब पक्के आडतिये सहकारी का बहिष्कार करते है तो, सघ आगे आ कर सहकारिताओ की मदद करते है।

इस प्रकार समितियो को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यदि सहकारी विक्रय-व्यवस्था मे सहकारिताओ को अपनी उपयुक्त भूमिका निभानी है तो यह आवश्यक है कि इन समस्याओ को हल किया जाय। समितियो के सामने मुख्य बाधाएँ आन्तरिक तथा बाह्य दोनो प्रकार की है। बाह्य समस्याएँ इस प्रकार है (१) बाजार मे काम करनेवाले अन्य माध्यमों की ओर से विरोध। इन माध्यमो ने एक तरह से अपने पैर बडे पक्के जमा रखे है। समितियो को आडतियो से कडी स्पर्धा करनी पडती है। ये आडतिये अपने हित-साधन के लिए हर प्रकार के तरीके अख्तियार करते है, (२) समितियाँ प्राय अपनी दूकाने मण्डियो से दूर खोलती है, क्योकि मण्डी के भीतर उन्हे उपयुक्त स्थान और भोजन नही मिल पाता। भाण्डारीकरण सम्बन्धी सुविधाओ के मामले मे वे बडे घाटे मे रहती है। इन कारणो से अनेक उत्पादक खरीदार उन तक नही पहुँच पाते, और (३) उत्पादक को अपनी ओर खीचने अथवा खरीदार को सहकारी समिति की ओर जाने से रोकने के लिए आडतिये हर तरह के उपाय काम मे लाते है, क्योकि वे जानते है कि सहकारी समितियाँ इस प्रकार के तरीके अख्तियार नही कर सकती। बाजार भाव से नीची अथवा ऊँची दर पर बीजक बनाना कुछ मण्डियो मे प्रचलित एक आम बात है।

आन्तरिक बाधाएँ, जो और भी भीषण है, इस प्रकार है (१) पक्षपात, नौकरशाही, लालफीताशाही अथवा सौदे मे देर आदि आम रुकावटे है। उदाहरण के लिए, उत्पादक को ऋण देने मे विलम्ब करने का फल प्राय यह निकलता है कि उसे बाध्य हो कर मण्डी मे आडतियो से आवश्यक अर्थ प्राप्त करना पडता है। ये वित्तीय

सम्बन्ध कृषक को आगामी मौसम मे कच्चे आडतिये के साथ व्यवहार करने के लिए बाध देते है, (२) अपर्याप्त वित्त दूसरी बाधा है। जब व्यस्त मौसम के दौरान मण्डी माल से भर जाती है, तो समितियो के पास प्राय वित्त की कमी पड जाती है और वे अपने सदस्यो की सहायता करने अथवा उत्पादको मे अपने को लोकप्रिय बनाने का अवसर खो बैठती है। इससे उनके बजट तथा कुल काम पर भी बुरा प्रभाव पडता है, और (३) सदस्यो की निष्ठा भी शकास्पद है। ऐसा पाया गया है कि कार्यकारिणी के सदस्य तक अपना माल इनके जरिये नही बेचते। इसका कारण एक तो यह है कि उन्हे समिति की पूरी स्थिति–उसकी कमजोरी सहित–की परिपूर्ण जानकारी होती है तथा द्वितीय यह कि प्राय समिति को बहिष्कार का सामना करना पडता है, जिससे समिति के जरिये बिक्री करने पर अधिकारियों को हानि उठाने की सम्भावना रहती है।

सुधार के लिए सुझाव

कुछ अन्य बाधाएँ भी है। इन सब पर सावधानीपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। सहकारिताओ की स्थिति मे सुधार लाने के लिए कुछ सुझाव निम्नलिखित है

(१) वाह्य उपभोक्ताओ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने चाहिये, ताकि पक्के आडतियो द्वारा समितियो का बहिष्कार करने पर भी कोई सकट न रहे। (२) उच्च स्तरीय सहकारी सघों को न केवल वित्त से ही बल्कि समितियो को अपने माल की बिक्री करने मे अपने अनुभव से भी आगे आ कर सहायता देनी चाहिये। य सघ समितियो अथवा उनके सदस्यो को ऋण स्वीकार करने सम्बन्धी कार्य-प्रणाली सरल कर सकते है और विलम्ब होने से बचा सकते है। (३) यदि वित्त हो तो समितियॉ अपनी दूकानो के साथ अर्थात् उनके पास ही गोदाम भी रख सकती है। ये गोदाम हवादार हो तथा आर्द्रता से उनकी रक्षा होनी चाहिये। (४) समितियो को परिपूर्ण खरीद और बिक्री करने के अधिकार देने का प्राय सुझाव दिया जाता है, ताकि वे समय पर बाजार का फायदा उठा सके। अपनी खरीद अथवा बिक्री की वान भारी जोखिमवाली है और अनुभवहीन कर्मचारियो, निष्ठा न रखनेवाले सदस्यो, अपर्याप्त वित्त तथा अन्य खामियो के कारण गुजाइश यह रहती है कि 'कमाई' के बदले 'खोई' अधिक होगी एवम् इस प्रकार समिति का दिवाला निकल सकता है, जिससे सभी को हानि होगी। यह सुझाव तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि समितियो के सदस्य निष्ठावान, कर्मचारी अनुभवी और प्रशिक्षित हो तथा सघो का उन पर हाथ हो एवम् सभी तरफ से उन्हे मदद मिले। (५) गुड की खास-खास मण्डियो मे नियमित बाजार पद्धतियॉ लागू करने के लिए राज्य को विशेष उपाय काम मे लाने चाहिये। दुर्भाग्य से राज्य मे अभी तक कोई नियमित बाजार नही है। अब वह समय है कि उत्तर प्रदेश सरकार नियमित बाजार पद्धतियॉ लागू करने के लिए कदम उठाये, जिनसे अनियमित बाजार पद्धतियाँ समाप्त करने मे सहायता मिलेगी और परोक्ष रूप से सहकारी समितियों को अपने काम मे मदद मिलेगी। (६) जहाँ तक स्वयम् समितियो का सवाल है उनके लिए यह सलाह है कि वे 'मुहर दहाये, कोयले पर छाप' वाली नीति के प्रति सजग रहे। अपने प्रारम्भिक काल मे खर्च कम से कम करने के लिए समितियाँ कम वेतन पर अनुभवहीन कर्मचारी रख लेती है। अच्छा वेतन पानेवाले कर्मचारी एक प्रकार की सम्पत्ति है। अनुभवी कर्मचारी रखने चाहिये, क्योकि उन्हे वाणिज्य का पूरा ज्ञान होता है, आडतियो की चालाकियो से वे परिचित होते है और मण्डी मे आनेवाले अधिकाश उत्पादको से उनकी जानकारी होती है।

अन्त मे यह सुझाया जाता है कि उक्त प्रस्तावो का एक 'विशेषज्ञ समिति' वर्तमान अवस्था के अन्तर्गत गहराई से परीक्षण और विश्लेषण करे। ऐसी समिति मे राज्य अर्थात् सरकार, वाणिज्य सघों, सहकारी सघो आदि के प्रतिनिधि होने चाहिये।

गाजियाबाद • ७ अप्रैल १९६४

मैसूर में ग्राम्य जन-शक्ति परियोजनाएँ

स. म. वीरराघवाचार

मैसूर राज्य के तुमकुर जिले मे पवागदा और गुलबर्गा जिले के यादगिरी नामक स्थानों में १९६०-६१ मे दो मार्गदर्शी परियोजनाएँ चलायी गयी। उक्त दोनों ही क्षेत्र कमीवाले है। प्रस्तुत लेख मे तीसरी पॉचसाला योजना की अवधि मे शुरू किये गये ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों की मुख्य विशेषताओं पर उक्त दो परियोजना क्षेत्रों के विशेष सदर्भ मे चर्चा की गयी है।

बेरोजगारी क्या है? असल मे वह एक ऐसे व्यक्ति की अनिच्छित निष्क्रियता है, जो काम करने के लिए इच्छुक है और वैसा करने मे समर्थ है। प्रत्येक देश मे यह पायी जाती है—भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार मे—और प्रत्येक देश इसका समाधान प्राप्त कर पूर्ण रोजगारी का स्तर प्राप्त करने की कोशिश करता है। बेरोजगारी के लिए अनेक पहलू उत्तरदायी है। मजदूरी की दर की सख्ती, श्रम बाजार की अपूर्णताएँ, एक पूँजीवादी समाज मे अपरबचत और अपरविनियोजन की भयकर प्रवृत्ति, प्रभावक मॉग की कमी, पूजी की कमी और अत्यधिक आबादी इसके कारण बताये गये हैं।

बेरोजगारी के प्रकार

बेरोजगारी की मुख्यत चार श्रेणियॉ है—मौसमी, प्रौद्योगिक (टेक्नोलॉजीकल), सामयिक और अल्प बेरोजगारी अथवा गुप्त बेरोजगारी। मौसमी परिवर्तन, प्रौद्योगिक सुधार और व्यावसायिक घटना चक्र का प्रत्यावर्तन बेरोजगारी के कारण है। अल्प बेरोजगारी अधिकाश अल्प-विकसित देशो की एक विशिष्टता है। जी डी एन वारविक के शब्दो मे अल्प बेरोजगारी वह "श्रम है जिसका फिलहाल हानिकर उपयोग होता है।" अल्प बेरोजगारी एक ऐसी स्थिति है जिसमे श्रम-शक्ति "न तो पूरी तौर पर काम मे ही लगी होती है और न पूर्णरूपेण बेकार ही।" अल्प बेरोजगारी के शिकार वे व्यक्ति है जो अपना काम करते है और अर्थ-व्यवस्था के जिस क्षेत्र मे वे काम करते है उसमे उनकी सख्या इतनी अधिक है कि यदि कुछ लोग उस क्षेत्र से हट भी जाये तो भी कुल उत्पादन मे कमी नही आयेगी। विकसित देशों मे उपलब्ध स्थिति के विपरीत अल्प विकसित देशो मे श्रम का सीमान्त उत्पादन बहुत ही नगण्य अथवा यहॉ तक कि नकारात्मक है। इस प्रकार कृषि मे लगी आबादी के एक बहुत बडे हिस्से को कुल उत्पादन मे बिना कोई कमी किये अन्यान्य धधो मे लगाया जा सकता है। जहाँ यह सच है कि भारत मे मौसमी, घटना चक्रीय और प्रौद्योगिक कारक निस्सन्देह बेरोजगारी के कारण है, वहाँ यह भी सच है कि हमारे यहॉ बेरोजगारी का सबसे बडा प्रकार है दीर्घ कालीन ग्रामीण अल्प बेरोजगारी।

अल्प बेरोजगारी की सीमा

इसका परिमाणात्मक परिमाप प्राप्त करना बडा कठिन है और इसकी सीमा अर्थात् तादाद के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्री एवम् प्रशासक दोनो का मत ही एक-दूसरे से भिन्न है। सयुक्त राष्ट्र सघ के एक प्रतिवेदन मे कहा गया है कि भारत और पाकिस्तान के अनेक हिस्सो मे, फिलीपाइन्स और इण्डोनेशिया के भागों मे अतिरिक्त कृषिक आबादी २० से २५ प्रति शत के बीच है। बुचमन (Buchaman) और एलिस (Ellis) के अनुसार भारत मे बेरोजगारी और अल्प बेरोजगारी के कारण श्रम के उतने सकल मनुष्य-वर्ष बेकार जा सकते है जितने सयुक्त राज्य अमेरिका की समग्र श्रम-शक्ति प्रदत्त करती है। एक सामान्य अनुमान यह है कि घने बसे क्षेत्रो मे कुल कृषि उत्पादन मे विना कोई कमी किये सम्भवत २५ प्रति शत आबादी को कृषि से

हटाया जा सकता है। तृतीय पंच वर्षीय योजना के अनुसार यह सही-सही नही बताया जा सकता कि अल्प बेरोजगारी कितनी है। लेकिन अल्प बेरोजगारी का अर्थ यह हो कि वे व्यक्ति जो थोडा-बहुत काम तो करते है लेकिन और भी काम करने के इच्छुक एवम् करने मे समर्थ है, तो अनुमान है कि ऐसे व्यक्तियो की सख्या १ करोड ५० लाख से १ करोड ८० लाख तक है।

अल्प बेरोजगारी के कारण

ग्राम्य क्षेत्रो मे अल्प तथा पूर्ण बेरोजगारी साथ-साथ पायी जाती है—दोनो के बीच का अन्तर किसी भी दृष्टि से कोई विशेष नही है। गॉवो मे बेरोजगारी सामान्यत अल्प बेरोजगारी का रूप ले लेती है। देश के अनेक भागो मे कृषिक मौसम के व्यस्त दिनो मे, प्राय श्रमिकों की कमी पायी जाती है, लेकिन अधिकाश खेतिहर श्रमिको तथा अन्य सम्बद्ध कार्यों मे लगे श्रमिको के पास लगातार काम नही रहता। अल्प बेरोजगारी के विभिन्न कारण बताये जाते है। इसका एक प्रमुख कारण है कृषि पर बढती जा रही निर्भरता। सन् १९५१-६१ के बीच के दशक मे ७ करोड ७० लाख आबादी बढी है। तीसरी पॉचसाला योजना के अनुसार अगले १५ वर्ष की अवधि मे श्रम-शक्ति मे सात करोड नये लोग आ जायेगे। मोटे तौर पर इनकी बढती कुछ इस प्रकार होगी . तीसरी योजना मे डेढ करोड, चौथी योजना मे करीब २ करोड ३० लाख और पॉचवी योजना मे लगभग तीन करोड। इस जनसख्या वृद्धि से निश्चय ही अल्प बेरोजगारी की समस्या और भी गम्भीर हो जायेगी। यह भी याद रखना चाहिये कि प्रथम दो योजनाओ मे रोजगारी का जो निर्माण हुआ वह गैर-खेतिहर विभाग मे हुआ। आगामी योजनाओ मे भी यह प्रवृत्ति जारी रहनेवाली है।

श्रमिक-शक्ति को लगातार काम पर लगाये रखने के लिए पूजी की आम कमी, अल्प बेरोजगारी का एक दूसरा कारण है। जे रॉबिन्सन के अनुसार पूजी स्रोतों की शिथिलता के फलस्वरूप पूरब के पिछडे हुए घने बसे देशो मे—और वस्तुत औद्योगिक दृष्टि से अत्यधिक विकसित देशो को छोड कर सभी जगह—पूर्ण और अल्प बेरोजगारी न एक स्थायी घटना के रूप मे प्रकट होती है, बल्कि दीर्घ-कालीन रूप मे पायी जाती है। पारीवारिक इकाई के लिए भूमि की पूर्ति सीमित होने की वजह से अल्प बेरोजगारी कृषि की एक दीर्घ-कालीन सगिनी बन जाती है। अल्प बेरोजगारी खेतिहर श्रम मे अनवरत निरपेक्ष वृद्धि अथवा उसके आधिक्य और गैर-खेतिहर विभागो का वाछित स्तर तक विकास न होने का फल है। चन्द परम्परागत कुटीरोद्योगो की अवनति से भी वह बढी है।

आयोजन और रोजगारी

भारत मे रोजगारी का सृजन आयोजन का एक प्रमुख उद्देश्य रहा है। अन्य समस्याओ के समान ही रोजगारी की समस्या हल करने मे जिस बुनियादी कारक से लोहा लेना है वह है विस्तृत आबादी आधार, जिसमे मामूली वृद्धि भी व्यापक रूप धारण कर लेती है। कृषि उत्पादन वृद्धि को तीव्र बनाने और रोजगारी क्षमता मे वृद्धि करने के लिए जन-शक्ति स्रोतो का यथा सम्भव परिपूर्ण उपयोग करना, तृतीय योजना का एक प्रधान लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

योजना मे शामिल कार्यक्रमों मे, ग्रामीण जन-शक्ति का उपयोग करने के लिए निर्माण कार्य परियोजनाओ का समावेश एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। ग्रामीण क्षेत्रो मे—जहॉ पूर्ण और अल्प बेरोजगारी की खास तौर से अधिकता होती है—पूरक उत्पादक कार्यो मे तृतीय पच वर्षीय योजना के अन्त तक करीब २५ लाख लोगों को रोजगारी प्रदान करना इस योजना का एक मुख्य उद्देश्य है। समूचे देश भर मे ३६ मार्गदर्शी परियोजनाओ के साथ कार्यक्रम का श्रीगणेश १९६०–६१ मे हुआ था।

किसी क्षेत्र मे सभी हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले और काम करने के इच्छुक व्यक्तियो के लिए रोजगारी के अवसरों का सृजन तथा यथा सम्भव परिपूर्ण सीमा तक अनुपयोजित जन-शक्ति का उपयोग करना ग्राम्य निर्माण कार्यक्रम का एक प्रधान उद्देश्य है। यह कार्यक्रम योजना मे शामिल किये गये विकास कार्यक्रमो तथा सामुदायिक

विकास कार्यक्रमो के अन्तर्गत किये जानेवाले प्रयासो मे मदद देता है और इसलिए यह आवश्यक है कि वह खण्ड विकास योजना का एक महत्वपूर्ण अग बने। यह कार्यक्रम आवश्यक रूप से ही रोजगारी-प्रधान है। इसलिए इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जो काम शुरू किये गये है, उनमे निश्चय ही सम्बद्ध क्षेत्र की उत्पादक क्षमता और रोजगारी देने की क्षमता मे स्थायी योगदान मिलना चाहिये। इस कार्यक्रम के लिए क्षेत्रो का चयन करते वक्त इस बात का, स्पष्ट प्रमाण होना चाहिये कि उस क्षेत्र मे पर्याप्त पूर्ण और अल्प बेरोजगारी है तथा लघु-कालीन कृषिक एवम् अन्य सम्बद्ध कार्यक्रम प्रारम्भ करने हेतु निश्चित गुजाइश है। इस कार्यक्रम मे भी लोक भागीदारी उसी रूप मे आगे आनी चाहिये जिस रूप मे वह सामुदायिक विकास तथा अन्य विकास योजनाओ के अन्तर्गत चलनेवाले कार्यक्रमो मे प्राप्त होती है।

कार्यक्रम की मुख्य विशेषताएँ

किसी निर्माण कार्य का चुनाव करने मे इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि किसी भी एक मद मे खर्च ५०,००० रुपये से ज्यादा नही होगा और उससे कृषि उत्पादन बढेगा। ऐसे काम मे विस्तृत श्रमिकाई सघटक हो तथा किसी विशेष प्राविधिक कौशल की आवश्यकता न हो और उससे प्रत्यक्ष रोजगारी अधिकतम मिले। ऐसे कामो मे सामग्री पर भारी खर्च नही होना चाहिये और वे समुचित लघु काल मे पूरे होने लायक हो। भू-आरक्षण, मेडबन्दी, नालियाँ बनाने, पानी जमाव को रोकना, लघु सिचाई, वृक्षारोपण और भूमि पुनर्वाप्ति जैसे कामो को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिये। कार्यक्रम मे ऐसी सम्पत्ति का निर्माण करने की कल्पना है जिस पर स्वामित्व स्थानीय समुदाय का होगा, जैसे, ग्राम तालाब, मत्स्यालय, वृक्षारोपण, चरागाह आदि।

ग्राम्य निर्माण कार्यक्रम के अन्तर्गत १९६०–६१ मे मैसूर राज्य के हिस्से मे दो मार्गदर्शी परियोजनाएँ आयी। एक परियोजना तुमकुर जिले के पवागदा मे चलायी गयी और दूसरी गुलबर्गा जिले के यादगिरी मे।

पवागदा विकास खण्ड शुष्क पहाडी क्षेत्र मे है। वहाँ पर वार्षिक वर्षा २० से २२ इच होती है। चूकि वर्षा कम और कही-कही होती है, इसलिए इस क्षेत्र मे आये वर्ष सूखे और अकाल पडते रहते है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार खण्ड के कुल ९५,५६५ व्यक्तियो मे से करीब ७६,००० अपने जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर करते है। वर्षा न होने अथवा बहुत कम होने की वजह से कृषको को शायद ही वर्ष के ३६० दिन काम मिलता हो।

यह अनुमान लगाया जाता है कि कृषको को अपने खेतो मे सामान्यत वर्ष मे चार-पाँच महीने का ही काम रहता है। किसी विस्तृत सर्वेक्षण के अभाव मे पूर्ण और अल्प बेरोजगारी कितनी है, इसका अनुमान लगाना मुश्किल है, लेकिन १९६०–६१ मे वृष्टि न होने की वजह से समूचा वर्ष ही खाली मौसम का रहा तथा ग्राम्य निर्माण कार्यो से स्थानीय आबादी को राहत मिली, जिसकी बहुत जरूरत थी। पवागदा मे परियोजना चालू करने के पीछे मुख्य विचार वहाँ की अभाव-ग्रस्त स्थिति और स्थानीय आबादी को राहत प्रदान करने की आवश्यकता प्रतीत होता है। निर्माण कार्य मे शामिल थे दो हजार एकड भूमि की मेडबन्दी करना, जिस पर १ लाख ५० हजार रुपये के परिव्यय की बात थी, कोई ४५ हजार रुपये के खर्च से वृक्षारोपण और चरागाहो का विकास करना, वृक्षारोपण के लिए पौधे प्राप्त करने हेतु ५,४०० रुपये के खर्च से पौधशालाओ का विकास, और सामुदायिक कुएँ 'गालने' के लिए २४ हजार रुपये की लागत से लघु सिचाई कार्य। मई-जून १९६२ के अन्त तक क्षेत्र मे परियोजना कार्यो से श्रमिको को १,२५,६५३ मनुष्य-दिनो के बराबर काम मिला। इनमे काम पर लगे अधिकाश श्रमिक अपनी जीविका के लिए मुख्यत कृषि पर निर्भर रहते थे।

यादगिरी में

मैसूर राज्य मे गुलबर्गा जिले के यादगिरी तालुके में दूसरी परियोजना चलायी गयी। चूँकि तालुके मे वर्षा केवल २९ इच ही होती है, इसलिए वहाँ प्राय सूखे

तथा दुर्भिक्ष की स्थिति रहती है और अकाल की स्थिति मे राहत कार्य प्रदान करना वहाँ का एक नियमित कार्य है। लगभग ८० प्रति शत आबादी किसानो की है। चूँकि इस क्षेत्र मे पूर्ण और अल्प बेरोजगारी की स्थिति बडी भयकर थी, अतएव मुख्यत जन-शक्ति स्रोतो का उपयोग करने के उद्देश्य से वहाँ पर मार्गदर्शी परियोजना चालू की गयी। मार्गदर्शी परियोजना के अन्तर्गत वृक्षारोपण और लघु सिचाई तालाबो का पुनरुद्धार तथा मरम्मत कार्य हाथ मे लिया गया। वृक्षारोपण से ३९,००० मनुष्य-दिनो का काम मिलने का अनुमान है। लघु सिचाई कार्यो से ३,०८१ व्यक्तियों को काम मिला।

अनुवर्ती वर्षो मे उक्त परियोजनाओ का कार्य जारी रहा। इनके अतिरिक्त मैसूर सरकार ने १९६१–६२ तथा १९६२–६३ के लिए और तेरह परियोजनाएँ द्वितीय क्रम के अन्तर्गत चलाने का निर्णय किया। तृतीय क्रम के अन्तर्गत योजना आयोग ने राज्य को २५ परियोजनाओ का बँटन किया है। वर्ष १९६०–६१ मे प्रारम्भ किये गये कार्यक्रम के अन्तर्गत–तृतीय क्रम की २५ परियोजनाओं सहित–अब ४० परियोजनाएँ है।

कार्यक्रम के प्रभाव का मूल्यांकन

ग्राम्य निर्माण कार्यक्रम मुख्यत ग्रामीण क्षेत्रो मे खेती की दृष्टि से खाली मौसम मे पूर्ण और अर्द्ध बेरोजगारो को काम प्रदान करते है तथा लाभदायक सामुदायिक सम्पत्ति निर्मित करते है। देहातो मे पूर्ण और अल्प बेरोजगारी की समस्या एक प्रमुख समस्या है। इसका कोई सरल समाधान नही है। किसी क्षेत्र मे कार्यक्रम प्रारम्भ करने से पहले के पूर्ण और अर्द्ध बेरोजगारो की सख्या मालूम न होने की वजह से वहाँ पर ग्राम्य निर्माण कार्यक्रम के प्रभाव का मूल्याकन नही किया जा सकता। विकास योजनाओ और ग्राम्य निर्माण कार्यक्रमो से प्राप्त सफलताओं को अलग करके देखना भी बडा मुश्किल है।

तीसरी योजना का, उसने रोजगारी के जो अवसर निर्मित किये है उनसे सम्बन्धित, मध्य-कालीन मूल्याकन कोई उत्साह-वर्द्धक नही है। समूची योजनावधि मे १ करोड ४० लाख नये लोगो के लिए रोजगारी निर्मित करने का लक्ष्याक रखा गया है। उसका ४०-४५ प्रति शत हिस्सा ही पूर्ण हो सका है। मौजूदा सकेतो के अनुसार तीसरी योजना के अन्त तक करीब ८९ लाख लोगो के लिए गैर-खेतिहर क्षेत्र मे और १६ लाख के लिए कृषि क्षेत्र मे रोजगारी का निर्माण होगा, जबकि पाँचसाला अवधि के लिए लक्ष्याक क्रमश १ करोड ५ लाख तथा ३५ लाख का था। मूल्याकन मे यह निष्कर्ष भी स्पष्ट हो गया है कि ग्राम्य निर्माण कार्यक्रम के क्षेत्र मे योजनावधि के अन्त मे प्राप्त सफलता व्यय की शब्दावली मे लक्ष्याक की एक चतुर्थांश और अतिरिक्त रोजगारी के निर्माण के सन्दर्भ मे एक-तिहाई होगी। ग्राम्य निर्माण कार्यक्रम के अन्तर्गत मार्च १९६३ के अन्त तक १७६ परियोजनाएँ थी और उन पर परिव्यय हुआ १५ करोड रुपये का, जिससे ७६ लाख मनुष्य-दिनो के बराबर अतिरिक्त रोजगारी का निर्माण हुआ।

उक्त तथ्यो से इस बात का पता चलता है कि देहातो की पूर्ण और अर्द्ध बेरोजगारी की समस्या हल करने मे कितनी अन्तर्निहित कठिनाइयाँ है। और फिर, जन-सख्या-वृद्धि तथा वैज्ञानिक आधार पर कृषि का वैज्ञानिक ढग से विस्तार करने पर अतिरिक्त जनसख्या बढेगी जिसे खाली मौसम के काम की बनिस्बत पूरे समय का काम प्रदान करना होगा। ग्राम्य क्षेत्रो मे पूर्ण और अल्प बेरोजगारी की समस्या का स्थायी हल जन-सख्या-वृद्धि पर नियत्रण करने के सम्बध मे हमारी सामर्थ्य पर ही नही, बल्कि सर्वव्यापी आधार पर वैज्ञानिक कृषि अपनाने, ग्रामीण अर्थ-रचना को बहुमुखी और शक्तिशाली बनाने, ग्राम और लघु उद्योगो के विकास के लिए कार्यक्रम चलाने, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को वृद्धिशील कस्बाई केन्द्रो के साथ जोडने तथा सहकारी आधार पर नये-नये उद्योग चलाने पर भी निर्भर करता है।

मैसूर १४ नवम्बर १९६३

बस्तर के आदिवासी क्षेत्रों में वानस्पतिक सम्पत्ति

सुधांशु कुमार जैन

मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र मे अनेक प्रकार के पेड-पौधे पाये जाते है। उनके बीज तथा फलो के सग्रह कार्य का सगठन करके और औद्योगिक कामों के लिए उनके उपयोग पर आधारित कुटीरोद्योगो की स्थापना करके लाभदायक रोजगारी प्रदान की जा सकती है।

मध्य प्रदेश के बस्तर जिले मे रहनेवाले गोण्ड सब से पिछडे हुए आदिवासियो में से है। पिछले चार वर्ष मे उनके मध्य जो क्षेत्रीय कार्य किया गया, उससे यह बात सामने आयी है कि अनेक गोण्ड अब भी अपने आस-पास जो वन्य उत्पादन उपलब्ध है प्राय पूर्णत उन्ही पर निर्भर है।

प्रस्तुत लेख मे हम जिले की वानस्पतिक सम्पत्ति अथवा वन्य उत्पादनो पर चर्चा करेगे। यद्यपि मैने ऐसे सैकडो पेड-पौधो के सम्बन्ध मे मौलिक जानकारी का सग्रह किया है, जिनका आदिवासी भोजन, दवाई रेशे आदि के लिए इस्तेमाल करते है, तथापि, इस लेख मे प्रस्तुत सामग्री मे वे वन्य उत्पादन आते है जिनका सग्रह प्राथमिक तौर पर आदिवासी करते है और फिर बाजार मे व्यापारियो, ठेकेदारो अथवा किसी सहकारी समिति को उनका विक्रय कर देते है। इन उत्पादनो के आधार पर कुटीरोद्योग स्थापित करने की सम्भाव्यता का अध्ययन करना समुचित होगा।

विभिन्न खाद्य उत्पादन, टोकरी, आलात व मोटी बुनाई उत्पादन, तेल, गोद, चर्म शोधन सामग्री तथा अपमार्जक, और अन्य विविध उत्पादनो जैसे विभिन्न उत्पादनो के अनुसार जिले मे उपलब्ध पेड-पौधे भिन्न-भिन्न श्रेणियो में विभक्त किये जा सकते है। नीचे भिन्न-भिन्न पेड-पौधो के पहले सामान्य हिन्दी नाम दिये गये है और उसके बाद स्थानीय आदिवासियो द्वारा व्यवहार मे लाये जानेवाले नाम। अग्रेजी वानस्पतिक नाम कोष्ठक मे दिये गये है। तत्पश्चात् पादप का प्रधान उपयोग बताया गया है, उसके अन्य आर्थिक उपयोग भी सक्षेप मे बताये गये है।

खाद्य उत्पादन

आमला, इसुरकाया, निल्ली (*emblica officinalis gaertn f*) बस्तर मे ये पेड आम तौर पर पाये जाते है, लेकिन ऐसा लगता है कि इनके फलो का उपयोग नही किया गया है। काफी बडी तादाद मे फल नीचे गिरते और बेकार जाते है। राय तथा अन्य व्यक्तियो ने हाल ही (१९५७) मे खुराक के सम्बन्ध मे सर्वेक्षण[१] किया है। उससे पता चलता है कि मध्य भारत मे आदिवासियो की खुराक मे विटामिन 'सी' की कमी होती है। आमले मे विटामिन 'सी' की मात्रा बहुत अधिक होती है। कहा जाता है कि आमले के ताजा रस मे विटामिन 'सी' नारगी के रस से २० गुना ज्यादा होता है। इसलिए आदिवासियो मे आमले के उपयोग को लोकप्रिय बनाना चाहिये।

सूखा आमला दवाइयो, केश रजक और केश तेल के लिए उपयोगी होता है, इसलिए उसकी बिक्री की सम्भावना अच्छी है। आमले के बीज तक आर्थिक दृष्टि से उपयोगी होते है। आदिवासियो के लिए—खास कर महिलाओ तथा बच्चो के लिए— आमला-सग्रह और प्रशोधन (सुखावन) एक लाभदायक धधा होना चाहिये।

---

१ राय, जे के, आर के राव और एस के विश्वास बुलेटिन ऑफ डिपार्टमेण्ट ऑफ एन्थ्रोपोलॉजी, ६(१) २१-३१; १९५७।

बैंकण्डी, सेनेगड्डा, केकामन, कुलिया पापड (*diosco-rea hispida* dennst) इस लता के फल खाद्य हैं। फलो के पतले-पतले कतरे बना कर उन्हे अच्छी तरह धोया जाता है। आदिवासी इन कतरो के 'कुलिया पापड' बनाते है और करीब एक रुपया प्रति किलोग्राम के हिसाब से व्यापारियो को बेच देते हैं। यदि इन फलो को सगठित रूप से इकट्ठे कर उनके 'कुलिया पापड' बनाये जाये तो अधिक लाभ होगा। पूरक आय के स्रोत के रूप मे इस पादप की कृषि तक को प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

चिरोजी, आकर, कार, एदका, मोरली सेट्टू, रेका (*buchnania lanzan* spr) इस पेड के फल और बीज खाये जाते हैं। बीजो का व्यापार होता है। उनसे खाद्य तेल प्राप्त होता है। आदिवासी बीजो का सग्रह कर साप्ताहिक बाजारो मे व्यापारियो को बेच देते है। इससे इमारती लकडी भी मिलती है और चर्मशोधन सामग्री तथा गोंद भी।

इमली, सिरीटा, सेट्टू, हिटा, हिटग (*tamarindus indica* linn) जिले मे यह पेड आम तौर पर पाया जाता है। आदिवासी इसके फल तथा लुग्दी का सग्रह कर 'अठवाडियो' मे व्यापारियो को बेच देते हैं। इसके फलो मे अवलेह होता है, जिसका 'जैम' और 'जेली' तैयार करने मे इस्तेमाल किया जाता है। इसकी पत्तियो से रजक प्राप्त होता है। ऐसा लगता है कि इसके बीजो का यहाँ उपयोग नही होता।

तीखुर, बेसेड्डा (*curcuma angustifolia* roxb) इस जडी के फलो मे खाद्य सत्त होता है, जिसका मिठाई आदि बनाने मे इस्तेमाल किया जाता है। इससे वन विभाग को कुछ राजस्व की प्राप्ति होती है। अगर आदिवासी इसे लगाये तो वैसा करना लाभदायक हो सकता है। इसका सत्त अरारोट जैसा होता है और उसका अच्छा व्यापार होना चाहिये।

टोकरी बनाना, आलात व स्थूल बुनाई

बांस, बेदुर (*dendrocalamus strictus* nees *bambusa arundinacea* retz) बास से टोकरियाँ तथा अन्य ऐसी ही अनेक चीजे बनायी जाती है। मियादी की पत्तियो का भी इसमे इस्तेमाल होता है। इस काम का एक लाभदायक धधे के रूप मे सगठन किया जा सकता है।

बोया, टोगा (*cyperus species*) नालों के किनारे पथरीली जमीन मे उगनेवाले मुस्ता का चटाई बनाने मे इस्तेमाल होता है।

कुलू, गूदल, हिटम, ईटम, केहला, कोगिरसेटू (*sterculia urens* roxb) इस पादप के रेशे का पानी के 'जग' के विसवाहीकारक के रूप मे प्रयोग होता है। (ये पानी भरने के जग अथवा पात्र लौकी व तुम्बी के होते है।) कुलू के रेशे मियादी रेशो की सहायता से खोखली तुम्बी या लौकी के चारो ओर जाली बना कर बाध दिये जाते है। खेतों मे काम करते अथवा गरमियो के दिनो मे यात्रा करते वक्त इन पात्रो मे पानी ले जाना बहुत सुगम होता है, क्योंकि उन्हे कन्धे पर लटका कर अथवा पीठ पर डाल कर ले जाया जा सकता है और इन पात्रो मे स्वयम् मे तो सात-आठ औस वजन होता है, लेकिन उनमे पानी तीन-चार पिण्ट समा सकता है।

यात्रियो और खेतो मे काम करनेवालो मे, खास कर गरीब लोगो मे, पानी लाने-ले जाने के ये पात्र ज्यादा लोकप्रिय हो सकते हैं, क्योकि ज्यादा कीमतवाले जिक के बर्तनों के स्थान पर ये सस्ते पात्र रखना ज्यादा पसन्द करेगे।

सियादी, कोया, मोहलैन, पवूर, स्याली, सिम्हरवेला (*bauhinia vahlii* wt and arn) इसकी छाल मजबूत आलात और अन्य बहुतेरे कामो के लिए इस्तेमाल मे लायी जाती है। आदिवासी इसकी छाल इकट्ठी करके ठेकेदारो को बेच देते है। इन ठेको के जरिये वन विभागो को कुछ राजस्व की प्राप्ति होती है। तने मे चर्मशोधन सामग्री होती है और पत्तियाँ बीडी बनाने तथा अन्य अनेको कामो मे काम आती है।

बस्तर मे इसकी बाहुल्यता है और आदिवासी पशुओ के फदे, मछली पकडने के जाल आदि बनाने मे इसका उपयोग करते है। इस कच्ची सामग्री पर आधारित कुटीर उद्योग का विकास करने के सम्बन्ध मे खोज की जानी चाहिये।

उलटकम्बल, आलटी, मरोदफली, नूनीकाया, पिती-लिका, पोटकडी, पोटम, टेइला (*helicteres isora* linn) इसके तने के रेशे से गाय-भैस बॉधने के रस्से बनाये जाते है व अन्य ऐसे ही कामो मे इसका उपयोग होता है। इसके फलो का देशी दवाइयॉ बनाने मे इस्तेमाल किया जाता है। ऐसा लगता है कि अभी तक इस फल का उपयोग नही हुआ है।

तेल

मालकॅगनी, मनोटिगा, पापडी, पेग, वादगुल (*celastrus paniculatus* widlld) इस लता के बीजो से प्राप्त तेल का दवाइयॉ बनाने और रोगनी करने मे इस्तेमाल होता है। आदिवासी ये बीज इकट्ठे कर बाजार मे व्यापारियो को बेच देते है। बस्तर मे इस प्रजाति का बाहुल्य है और इसके उपयोग की सम्भावाव्यताएँ होनी चाहिये।

महुआ, गादेग, इपूकमादा, इयुम, इपा, मोडा, तोरा (*madhuca indica* gmel) इस पेड से अनेक उपयोगी उत्पादन प्राप्त होते है। इसका तेल खाद्य है और रोगनी करने के काम मे भी लाया जाता है। आदिवासी काफी तादाद मे बीज इकट्ठे करते है, उन्हे सुखाते है और फिर व्यापारियो को बेच देते है।

अरण्डी, जरोण्डा, निरोण्डा (*ricinus communis* linn) यह छोटा-सा पेड आदिवासी प्राय अपने गॉवो मे लगाते है। इसके बीज वे बाजार मे बेच देते है। बस्तर के उत्तरी हिस्से मे आदिवासी पुराने तरीके से इसका तेल निकालते है। ओगन, साबुन, केश तेल, स्याही आदि तैयार करने के लिए इस तेल का उपयोग होता है।

कमेला, झापडा, किन्नार, सेंदूर, सेन्दूरी (*mallotus-philippensis* muel-arg) इस पेड के बीजो से प्राप्त तेल पण्ट तथा वार्निश तैयार करने के लिए उपयोगी है। फलो से प्राप्त रजक का वस्त्रोद्योग मे उपयोग होता है।

कुसुम, कोसिरब (*chleichera oleosa* oken) इस पेड के बीजो के तेल का दीपक जलाने के लिए उपयोग होता है। इसके अलावा चर्म रोगो के इलाज मे भी इसका इस्तेमाल किया जाता है। केश तेल और साबुन बनाने मे भी यह काम आता है। आदिवासियो द्वारा इसका सग्रह करने अथवा बेचने के सम्बन्ध मे जानकारी उपलब्ध नही है।

भेलवा, इद्दूमरम, जिरमेह्, कोहका (*semecarpus anacardium* linn f) फल के बीजकोष से प्राप्त तेल का आयुर्वेदिक मूल्य है। वार्निश आदि बनाने के लिए भी वह उपयोगी है। आदिवासी साप्ताहिक बाजारो मे ला कर ये बीज बेचते है। जिले मे ये पेड आम तौर पर पाये जाते है और यदि आदिवासियो को कुछ उत्प्रेरणा दी जाय तो बाजार मे इनकी उपलब्धि की मात्रा बढ सकती है।

गोद

साल, हरगी, सारगी, (*shorea robusta* gaertn f) इस पेड से प्राप्त गोद पालिश, कार्बन पेपर और वार्निश के लिए उपयोगी होता है। बस्तर मे साल के पेड काफी मात्रा मे पाय जाते है। इसके बीजो से प्राप्त तेल रोगनी करने और खाने के लिए उपयोगी होता है।

बीजसाल, बीजा (*pterocarpus marsupium roxb*) इसकी छाल से प्राप्त गोद दवाई के काम आता है। बीजसाल बस्तर के घाट क्षेत्रो मे पर्याप्त रूप मे पाया जाता है।

कुल्लू (*sterculia urens* roxb) इस पेड से प्राप्त करवा नामक गोद का प्रसाधन सामग्री तैयार करने तथा दवाइयॉ बनाने मे इस्तेमाल होता है। दॉतेवाडा की एक सहकारी समिति आदिवासियो से

यह गोद इकट्ठा करती है।

चर्म-शोधन सामग्री तथा परिमार्जक

कर्रा, गर्रादी, ओरमभारा, ओरेचट (*cleistanthus collinus* benth) इस पेड से प्राप्त चर्मशोधन सामग्री बाहर से आयात की जानेवाली चर्मशोधन सामग्री (वाटल) के समान उपयुक्त समझी जाती है। बस्तर जिले मे इन पेडो का बाहुल्य है। लेकिन ऐसा लगता है कि अभी तक उनके उपयोग की दिशा मे कोई प्रयास नही किया गया है।

हरड, हर्रा, काका (*terminalia chebula* retz) बस्तर का यह एक सामान्य पेड है। आदिवासी काफी परिमाण में हरड का सग्रह कर व्यापारियो को बेच देते है। जिले मे छ[२] हरड के कारखाने है। इन कारखानो मे ४०-५० आदिवासी (प्रधानत महिलाएँ) काम पाते है।

विविध वस्तुएँ

झाडू बस्तर के आदिवासी झाडू बना कर व्यापारियो अथवा ठेकेदारो को बेचते है।

फूल बुहारी (*thysanolaena maxima* o'kuntze) झाडू बनाने मे यह घास बहुत काम आती है। इसकी बनी झाडुओ के ट्रक के ट्रक बाहर अन्य स्थानो को भेजे जाते है। निम्न उपादानो से बनी झाडुएँ भी आदिवासी महिलाएँ जगदलपुर, धोदई आदि स्थानो के साप्ताहिक बाजारो मे बेचती है।

चिन्द, घिण्डी, इण्डी, इटेसेट्टू, इटेगड्डा (*phoenix acaulis* roxb) बस्तर जिले मे यह छोटा ताड पर्याप्त रूप मे मिलता है। झाडू बनाने और घरो की छत छाने मे इसका काफी प्रयोग होता है।

ढेकना, नाडक (*desmodium pulchellum* benth) इसकी टहनियो की झाडू बनायी जाती है।

लटकनी, टेटुण्डे, गुड्डनटालू (*desmodium latifolium* dc) इसकी टहनियाँ भी झाडू के डण्टे बनाने के काम आती है।

कघे स्थानीय रूप से बनाया गया कघा पास मे रखना महिलाओ तथा पुरुषो दोनो के लिए ही एक गर्व की वस्तु है। युवक व युवतियाँ कघे पर छोटी-छोटी हड्डियाँ चिपका कर अथवा ताड रेशे से सुन्दर बुनी हुई डिजाइनोवाले कघे रखना पसन्द करती है। ये कघे (जिन्हे स्थानीय रूप से पनिया, पडिया, कहा जाता है) सामान्यत इन पादपो से बनाये जाते है महुआ (*madhuca indica gmel*), पालो, कुदै (*holarrhena antidysenterica* wall) और पाखना कुर्रू, कालमोंदिया, मोंदिया, करज, कालूइद्गम, राजनिसे (*gardenia latifolia* ail)।

एल्विन[३] ने कई तरह के कघो का वर्णन किया है और उदाहरण दिये है। वृद्धा महिलाएँ तो अब तक काठ की कघियो का इस्तेमाल करती है। हाथ बने सुन्दर-सुन्दर कघों को बडी अच्छी चीज के रूप मे बेचा जा सकता है।

तम्बाकूदानी जिस प्रकार सभी महिलाएँ और लडकियाँ तथा युवक अपने पास कघे रखते है वैसे ही तम्बाकूदानी (स्थानीय बोलचाल की भाषा मे जिसे चिनौती, पोगागेटा कहते है) सभी पुरुषो के पास मिलेगी—विशेष कर उन प्रौढो के पास जो धूम्रपान करने के स्थान पर 'खैनी' के इस्तेमाल को तरजीह देते है। विविध आकार-प्रकार की तम्बाकूदानियाँ उपलब्ध है। सामान्य गरीब आदिवासी एक बास की थोथी पोरी से काम चला सकता है तो कोई बहुत ही सुन्दर तम्बाकूदानी भी रखेगा, जो नक्कासी आदि के द्वारा खूबसूरत व डिजाइनदार बनायी हुई होती है।

ये तम्बाकूदानियाँ सामान्यत उन पादपो के काठ से

२. 'पोकेट कम्पेडियम ऑफ डिस्ट्रिक्ट स्टेटिस्टिक्स,' बस्तर, १९५८-५९।

३ एल्विन, वी 'ट्रायबल आर्ट ऑफ मिडल इण्डिया,' १९५१।

बनायी जाती है जिनका कघे बनाने के लिए उपयोग होता है, लेकिन सिवना, गोटा, कुर्सी, कुर्समरम (*cmelina arborea* roxb) से भी ये बनायी जाती हैं।

मोडे, डुम्पीडो, गरियुम, केकड (*lannea coromandelica* meir) कघे और तम्बाकूदानी यहॉ की खरीद कर लायी जानेवाली, खास कर निम्न तथा मध्यम आय वर्गवाले खरीदारो के लिए, अच्छी चीजे है।

बीडी के पत्ते

तेन्दू (*diospyros melanoxylon* roxb) तेन्दू के पत्तो का सग्रह प्रधानत बीडी बनाने के लिए होता है।

उक्त अधिकाश चीजो का फिलहाल किसी हद तक असगठित सग्रहकर्त्ताओ के जरिये उपयोग होता है। सन् १९५९ से सम्बन्धित आकडो से पता चलता है कि जिले की लगभग दस लाख आबादी मे से केवल १५० व्यक्ति ही औद्योगिक कामो मे लगे हुए हैं। बीडी, बर्रा, चावल, तेल और आटा पिसाई ही मुख्य उद्योग है। निम्न तालिका उद्योगो सम्बन्धी आकडे प्रस्तुत करती है। सभी औद्योगिक इकाइयॉ चार शहरो–जगदलपुर, कॉकर, चरमा और कोण्डागॉव–मे अवस्थित हैं।

उद्योग	इकाई	दैनिक औसत रोजगारी		
	सख्या	पुरूष	महिलाए	योग
बीडी	८	३२	१७	४९
हर्रा	६	३	४०	४३
चावल	२	१२	१५	२७
तेल	३	७	७	१४
आटा पिसाई	५	११	५	१६

निम्न की सम्भाव्यता का पता लगाना अच्छा होगा (१) उक्त स्रोतो पर आधारित कुटीर उद्योग, और (२) बिचवानियो को कम करते हुए वन्य उत्पादनो के सग्रह कार्य का सगठन।

आदिवासी साप्ताहिक बाजारो से साबुन, केश तेल, रोशनी के लिए तेल, बीडी तथा चर्मोद्योगी सामान खरीद कर लाते हैं। इन चीजो के उत्पादन के लिए अधिकाश कच्ची सामग्री आदिवासी क्षेत्रो मे उपलब्ध है।

कलकत्ता २७ फरवरी १९६४

इसलिए मै एक विश्व के सान्निध्य मे आस्था रखता हूँ और मेरा विश्वास है कि मानव जीवन फिर से अपने समस्त पहलुओ एवम् कार्यों मे एक रूप बनने जा रहा है। मेरा यह भी मत है कि धर्म के क्षेत्र मे सगोपन प्रवृत्ति विश्व व्यापकता की प्रवृत्ति के आधीन, राजनीति के क्षेत्र मे राष्ट्रवाद विश्व सत्ता के आधीन; और शिक्षा के क्षेत्र मे विशेषज्ञता मानव जीवन के विस्तृत दृष्टिकोण के आधीन होने जा रही है।

—अर्नाल्ड जे. टायनबी *जेनश ऐट सेवण्टी फाइव*।

सूक्ष्म प्रौद्योगिकी तथा सूक्ष्म ऊर्जा विज्ञान

भारतानन्द

देश म बेरोजगारी की विकट समस्या का समाधान ऐसे ही उद्योगों से सम्भव है, जिनमें काम करनेवाले प्रति व्यक्ति के हिसाब से औसत पूँजी विनियोजन कम तथा रोजगारी की शक्यता अधिक हो और जिन्हें उपयुक्त प्रौद्योगिकी के साथ चलाया जा सके।

राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के सेवा-प्रधान सार्वजनिक क्षेत्र तथा मुनाफे-प्रधान निजी क्षेत्र मे विभाजन की शुरुआत, अपवाद स्वरूप कुछ मिश्रित सहयोगो को छोड कर, पश्चिमी आर्थिक विचारधारा से हुई है। भारत के आर्थिक यथार्थ से उसका कोई मेल नही है। भारत मे एक 'जीवन-प्रधान' सामाजिक क्षेत्र भी मौजूद है, जो अपने काम (सेल्फ- इम्पलायमेण्ट) के ढॉचे मे सन्निहित है। वर्तमान मे उसे न तो मान्यता मिली है और न उसकी व्याख्या ही हो पायी है ओर एक वडी भूल की वजह से वह निजी क्षेत्र के साथ मिलाजुला ह, फिर भी इतना जरूर है कि अपनी समस्त विशेषताओ तथा उच्चरित लक्षणो एवम् आवश्यकताओ सहित वह महज मौजूद ही नही है, बल्कि उसके दायरे मे आनेवाले लोगो की सख्या तथा राष्ट्रीय आय मे उसके हिस्से को देखते हुए देश की अर्थ-व्यवस्था का वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

तीसरा क्षेत्र

सामाजिक क्षेत्र के दायरे मे वे सब लोग आते है, जो अपने औजार तथा वक्त के मालिक है, कच्चे माल तथा बाजारो तक जिनकी सीधी पहुँच है और स्वयम् मालिक तथा कामगार, सरमायेदार तथा काम करनेवाले, प्रबधक तथा मजदूर बनन के लिए जिनके पास पर्याप्त पूजी व तकनीकी जानकारी है। इनमे स्वतत्र किसान, छोटे कारीगर तथा व्यापारी, छोटे ठेकेदार तथा कारबारी लोगो का विशाल वर्ग शामिल है, जो अकेले या अपने परिवार के साथ या छोटी हिस्सेदारी, मजदूरो की छोटी जमात या उत्पादक-सहकार के बतौर काम करते है।

सार्वजनिक क्षेत्र राज्य अधिकृत पूजीवाद का प्रतिनिधित्व करता है और निजी क्षेत्र का मतलब है राज्य नियत्रित पूजीवाद। सच्चा जनतात्रिक समाजवाद सिर्फ तीसरे क्षेत्र, 'अपना काम' से ही सम्भव है। सार्वजनिक क्षेत्र 'जनतात्रिक' नही हो सकता और न निजी क्षेत्र 'समाजवादी' ही बन सकता है। न्यासिता, जो समस्त तीनो क्षेत्रो को एक मे समग्रित करेगी और जिसमे प्रत्येक व्यक्ति समष्टि की भलाई के लिए सचेत होकर और जी भर काम करेगा, आशा से अधिक आदर्शवादी है।

महज सर्वागीण आर्थिक विकास समृद्धिशाली औसत का साख्यिकीय भ्रम पैदा कर सकता है। उसमे उच्च आय का विस्तार होता है और निम्न आय का अनस्रवन, किन्तु वह धीमी और बेकार की प्रक्रिया है। सही सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति का उत्पादन मे प्रत्यक्ष भाग लेना तथा उत्पादित वस्तुओ के आवश्यकतानुसार तत्काल प्राप्ति सुनिश्चित होनी चाहिये।

सार्वजनिक और निजी क्षेत्र, अपने सफल सचालन के परिणाम-स्वरूप समाज के अदर विभिन्न स्तर बनाते है तथा वर्गो का निर्माण करते है। इन स्तरो का निर्माण उनकी कार्य-प्रणाली के कारण होता है या आय अथवा दोनो की वजह से, कोई महत्व नही रखता, लेकिन तथ्य

यह है कि एक नियत्रण करनेवाले तथा व्यवस्थापकीय वर्ग का निर्माण होता है, जिसकी हरकतें और जीवन-यापन के स्तर अपने होते है और किसानो तथा मजदूरो के विशाल समूह से उसका कोई ताल्लुक नही होता। एक समाजवादी समाज—जिसमे स्तर, आय और अवसर की वास्तविक समानता उपलब्ध हो—सिर्फ अपने काम से ही सम्भव है।

भारत के विशाल तथा हरदम वृद्धिशील और नश्वर जनबल की समस्याओ को हल चाहिये, जो सार्वजनिक या निजी क्षेत्र नही दे सकते। बडे-बडे कल-कारखाने बना कर बेकारी के कठिन अवरोधो प, अत नही कर सकते। आधुनिक उद्योग उच्च पूजी विनियोजन और न्यून श्रम-शक्यता पर जोर देते है, जबकि भारत मे ठीक इसकी विपरीत अवस्था की जरूरत है उच्च श्रम-शक्यता तथा औसतन प्रति कर्मी कम पूजी का विनियोजन। यहाँ आवश्यकता है इस बात की कि अधिकाधिक लोगो के लिए उत्पादक और लाभकारी रोजगारी की व्यवस्था की जाय, किन्तु उससे शेष बेरोजगार लोगो की रोजगारी की शक्यता पर कोई असर नही पडना चाहिये। इसके लिए सिर्फ एक ही रास्ता है, जो तत्काल, प्रत्यक्ष और उपयुक्त पैमाने पर किया जा सकता है। यह हो सकता है, उत्पादक और उपभोक्ता के बीच की खाई को पाटने से और शक्यतापूर्ण, किन्तु साधनहीन उपभोक्ता को उत्पादन करने तथा पूर्ण शक्य, किन्तु बेरोजगार उत्पादक को उपभोग करने मे समर्थ बना कर उस खाई को विलुप्तप्राय स्थिति मे लाने से।

'अपना काम'

अपने काम का प्रथम उद्देश्य होगा परिवार के अदर स्वावलबन, तब गॉव का समाज, फिर पडोसी गॉव की सेवा। उसके बाद तालुका, फिर जिला, तब किसी खास इलाके मे प्राप्त प्राकृतिक साधन और स्थानीय कौशल के विशेष सामर्थ्य से अखिल भारतीय स्तर पर मॉगो की पूर्ति।

इसमे जोर दिया जाता है उपभोक्ताओ की प्राथमिक आवश्यकताओ तथा सुविधाओ पर, दूर के साधनो से उसकी यथा सम्भव आजादी पर, उत्पादक और उपभोक्ता के नजदीकी सम्पर्क पर नही, उसके व्यक्तिगत सम्पर्क पर, स्थानीय कच्चे माल, कौशल तथा बाजार की निश्चितता पर तथा सृजनात्मक प्रयासो को उत्पादन तथा वितरण के विकेन्द्रित, स्वय गतिशील, स्वय निर्देशित तथा स्वय सुधारक केन्द्रो की शक्ल देने पर।

रोजगारी का स्वरूप

पूर्ण तथा आशिक बेरोजगारी की वजह से रोजाना बर्बाद जानेवाले श्रम-दिनो की तादाद करोडो मे गिनी जा सकती है और किसी-किसी मौसम मे तो वह आसानी से १० करोड तक पहुॅच जाती है। ऐसे लोग जीवित है, पर बेकार बैठे है, वे खाते है, पर कुछ उत्पादन नही करते। भोजन-वस्त्र के लिए वे दूसरो पर आश्रित रहते है और इस प्रकार वे दूसरो के जीवन-स्तर को नीचा करते है। बेकारी पर दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। उसका ताल्लुक सिर्फ इसी बात से नही होता कि रोजाना आठ घटे और साल मे २०० रोज काम किया जाय, बल्कि उसका अर्थ होता है मनुष्य की समस्त आवश्यकताएँ—भौतिक, सामाजिक और सास्कृतिक—पूरी करने के लिए पर्याप्त कमाई भी।

इसका एक तीसरा दृष्टिकोण भी है। अगर कोई कर्मचारी किसी खास मजदूरी के बदले किसी काम पर लगा है, तो यह नही कहा जा सकता कि उसकी सारी कुशलताएँ, योग्यताएँ और रुचि भी उसमे लगी है। ऐसी अवस्था मे उसे समग्र रूप से काम पर लगा हुआ नही कहा जा सकता, क्योकि समग्र रोजगारी का अर्थ सिर्फ प्राप्य काम के समय और शक्ति का पूर्ण उपयोग ही नही होता, बल्कि भारत की विशाल और सुयोग्य आबादी के अनेक और विभिन्न कौशल, प्रतिभा तथा गुण को व्यवहार मे लाना भी होना है, जिनकी अब तक न तो खोज की गयी है और न जिनको उपयोग मे ही लाया गया है। दूसरे शब्दो मे, रोजगारी का मतलब है, व्यक्ति विशेष के जन्मजात तथा सीखे हुए गुणो को

अनिवार्य रूप मे उपयोग मे लाना। उसमे व्यक्ति की प्रेरणा, उत्साह, कल्पना, खोज करने की प्रवृत्ति, साधन-सम्पन्नता, धैर्य तथा उसकी समस्त प्रतिभा, कौशल तथा ज्ञान को भी अवश्य अवसर मिलना चाहिये। सयोगवश, समग्र रोजगारी पूँजी की आवश्यकता या उत्पादन-व्यय को कम करती है, लोगो के पुनर्वास के साथ ही वह उत्पादन को अधिक से अधिक बढाती है।

'अपने काम' का क्षेत्र

'अपने काम' को लाभकारी ढग से चलाने के लिए परिवार ही सब से छोटी इकाई है। वह स्वाभाविक तौर पर एक बहूद्देशीय सहकार है। जिस किसी धधे को वह करता होता है, जब कभी उसमे अधिक लोगो के सहभागी होने की आवश्यकता होती है, तो छोटी साझेदारी और उत्पादक सहकार का निर्माण होता है। पर मजदूरी के बदले अपना समय और श्रम बेचनेवाले समस्त व्यक्ति मजदूरी-रोजगारी करनेवाले होते है, अपना काम करनेवाले नही, भले ही उन्हे काम देनेवाली सस्था सहकारी ही क्यो न हो। (ऐसी सहकारी सस्था, जिसमे सदस्य काम करनेवाले नही होते या काम करनेवाले सदस्य नही होते, सामाजिक क्षेत्र की नही होती।) यह स्पष्ट है कि अपने काम के ढॉचे का उत्पादन—जिसका आधार प्राथमिक तौर पर स्थानीय कच्चा माल तथा परिवार एव पडोस मे रहनेवालो की आवश्यकताओ की पूर्ति हो—श्रम, साधन, सामग्री, व्यवस्था और परिवहन के मामले मे सर्वाधिक किफायती हो सकता है।

अपने काम का सबसे महत्वपूर्ण लाभ है, उसकी लचक और लोच मे। अपना काम तथा स्वय मे पूर्ण छोटी सामाजिक इकाइयॉ, अन्य किसी तरह के आर्थिक सगठनो की तुलना मे ज्यादा आसानी से परिवर्तनो को ग्रहण कर सकती है। अपने काम के क्षेत्र मे आम प्रौद्योगिकी का स्तर विशिष्ठ तथा स्व-चलित कारखानों की तुलना मे निम्न हो सकता है, लेकिन प्रत्येक कार्यकर्त्ता की निम्न उत्पादकता की तुलना मे पूजी की लागत भी कम होती है, खर्च कम होता है और सामाजिक लागत भी न्यून होती है। आर्थिक समस्या साधारण और आसान हो जाती है और सामाजिक सम्पर्क परस्पर आर्थिक निर्भरता से दूर हट कर उच्च भावात्मक तथा बौद्धिक स्तर पर केन्द्रित हो जाता है।

अपना काम व्यक्ति विशेष के रोज-रोज के विवेचन, मूल्याकन तथा रुचि को प्रशिक्षित करता है और उसे बडी जिम्मेवारियॉ लेने तथा दक्षतापूर्वक और विश्वास के साथ उन्हे सम्भालने की योग्यता प्रदान करता है। वह हमे स्वय नियमित समाज की स्थापना की ओर ले जाता है, जिसमे राजनीतिक, प्रशासनिक, न्यायिक तथा आर्थिक सत्ताएँ उसी मे समाहृत होती है और जिसमे व्यक्ति आवकाशत स्वय निर्मित, स्वय निदेशित तथा स्वय नियत्रित होता है।

राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण जरिया

भारत की ८० प्रति शत से अधिक आबादी गॉवो मे रहती है और ७० प्रति शत से अधिक लोग कृषि पर निर्भर है। यहॉं की कुल श्रम शक्ति का ७२ प्रति शत अपना काम करता है। (अपना काम करनेवालो मे कृषिक रोजगारी के ८० प्रति शत तथा गैर कृपिक के ५५ प्रति शत लोग है)। अपने काम का क्षेत्र भारत मे सिर्फ सब से बडा रोजगार देनेवाला ही नही है, वल्कि राष्ट्रीय आय का वह सब से बडा अकेला स्रोत भी है। सामाजिक क्षेत्र को मान्यता न मिलने की वजह से सही आकडे प्राप्त नही हो सके है, पर अदाज है कि अपना काम करनेवाले लोगों की आय, उसी श्रेणी (किसान, पशु-पालक, कारीगर और शिल्पकार, छोटे ठेकेदार तथा व्यापारी एव डाक्टर, वकील, कलाकार तथा सीने कलाकार आदि समान श्रेणी मे आते है।) के प्रति कामगार से कम नही है, और वह भारत की राष्ट्रीय आय के ५० प्रति शत से अधिक है।

अपना काम, भारत मे प्रभावशाली रोजगारी का तरीका है। उसको परिचय की आवश्यकता नही है, किन्तु उसके सही सगठन तथा अधिक विकास के लिए सिर्फ मान्यता की जरूरत है। मौजूदा समय मे भारत मे

अपना काम न तो पूर्ण है और न समग्र ही। साथ-साथ प्रति मनुष्य-दिन उसकी उत्पादकता भी इतनी पर्याप्त नही है कि उसकी आवश्यकताएँ पूरी कर सके और विकास-पूजी का निर्माण कर सके। एक बार सर्वाधिक जनसख्यावाला और उत्पादक क्षेत्र होने की मान्यता मिल जाने के बाद तीनो क्षेत्रो—सार्वजनिक, निजी तथा सामाजिक—के अलग-अलग दायरे सुनिश्चित हो कर उसे भी पर्याप्त सरक्षण, वित्तीय, तकनीकी तथा व्यापारिक सहायता मिलने लगेगी।

विनष्ट होने का खतरा

मौजूदा समय मे अपने अस्तित्व और मूल्य की मान्यता के अभाव मे 'अपना काम क्षेत्र' के समक्ष धीरे-धीरे विनष्ट होने का खतरा उपस्थित हो गया है। उच्च स्तरीय उत्पादकता तथा तीव्र रूप से विकासशील सामूहिक औद्योगिकी की तत्काल आवश्यकता की वजह से एक ऐसी स्थिति आती है, जिसमे देश का उत्पादन बढता जाता है, पर रोजगारी मे उसके अनुकूल वृद्धि नही हो पाती, देश अधिक से अधिक वस्तुएँ बनाने लगाता है, पर कम से कम लोगो को काम दे पाता है, जिसका अनिवार्य परिणाम होता है विपुलता के बीच दरिद्रता। एक तरफ ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ और दूसरी तरफ फटेहाल झोपडियाँ, प्राय समस्त विकासशील देशो का स्वरूप बन गया है।

अपना काम या सामाजिक क्षेत्र को मान्यता तथा पुनर्वास का कोई भी कार्यक्रम उसकी जिव्यता तथा सहज शक्ति की स्वीकृति पर निर्भर करता है। रोजगारी प्रदान कर सकने की विशाल शक्यता के विशिष्ट गुण की वजह से प्रतिक्रियाओ का एक वास्तविक सिलसिला शुरू हो जाता है। अपने काम मे रोजगारी के साथ ही बाजार का भी निर्माण होता जाता है, उत्पादक स्वय ही अपनी उत्पादित वस्तुओ का उपभोक्ता होता जाता है, और इस प्रकार बाजारो मे बहुलता नही होती, क्योकि व्यक्ति विशेष की उत्पादक-क्षमताएँ कम होती है और वे सिर्फ स्थानीय बाजारो के लिए ही उत्पादन करते है।

आबादी की वृद्धि के साथ-साथ बकारी भी बढती जा रही है और राष्ट्रीय आयोजन से सम्बन्धित लोगो ने इस बात को स्वीकार किया है कि औद्योगिक विकास, चाहे वह कल्पना की कितनी भी उडाने क्यो न भरे, सामान्य आबादी वृद्धि को ही नही सम्भाल सकता, बेकारो के विशाल समूह को काम मे लगाने की बात तो दूर रही। इसका तात्कालिक समाधान तो सिर्फ समुचित निर्देशित और सहायता प्राप्त 'अपना काम' ही कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की प्रेरणा, उत्साह, क्षमता और धैर्य को सगठित करना चाहिये, ताकि बेकारी की जड पर प्रहार करने योग्य शक्ति उत्पन्न की जा सके।

विभिन्न क्षेत्रो के उद्योग

तीनो क्षेत्रो के बीच उत्पादन की जिम्मेवारी के वितरण की समस्या का समाधान, कुछ हद तक उनके स्वभाव से ही हो जाता है। सार्वजनिक या राज्य क्षेत्र मे आते है, राष्ट्र की सुरक्षा तथा अखडता एव देश की आर्थिक व्यवस्था को सुगम बनाये रखने के लिए अनिवार्य सारे उद्योग—जैसे प्रतिरक्षात्मक उद्योग, यातायात और सचार, सिचाई और बिजली, बुनियादी कच्चे माल और अनिवार्य सेवाएँ तथा आम तौर पर ऐसे उद्योग जिन्हे एकाधिकार या प्रतिस्पर्धा से मुक्त रखने की आवश्यकता हो।

निजी क्षेत्र, सामाजिक या आर्थिक तौर पर चाहे कितना भी उपयुक्त क्यो न हो, मुख्यत मुनाफा-प्रधान होता है। उसका असली क्षेत्र है उद्योग, जहाँ प्रतिस्पर्धा या अन्य कारणो से अनिश्चितता की स्थिति तथा जोखिम मौजूद रहती है। ऐसे निजी उद्योगो का, जिनमे कोई जोखिम न हो, स्थायित्व की स्थिति आ जाने के बाद उनके सस्थापको और हिस्सेदारो को अच्छा पुरस्कार दे कर राष्ट्रीयकरण या सामाजीकरण हो जाना चाहिये।

सामाजिक क्षेत्र का दायरा, उसके स्वभाव से ही सुनिश्चित होता है। वह प्रत्यक्ष खरीदारो के विशाल

समाज का पोषण करता है। सगठन के सिर्फ दो ही तरीके है जिनमे 'अपना काम' चल सकता है. परिवार तथा छोटी मिलीजुली हिस्सेदारी या उत्पादक सहकारी समिति। इनमे से प्रत्येक, क्षेत्रीय आर्थिक सत्ता के सरक्षण और निर्देशन मे काम करता है। यह क्षेत्रीय आर्थिक सत्ता सामान्यत बहुद्देश्यीय सेवा सहकारी समिति के रूप मे होती है। पूजीगत लागत तथा उत्पादन इकाई का आकार छोटा एव उत्पादन का तरीका सरल और सीधा होना है। अपने काम के लिए कोई उद्योग तभी उपयुक्त समझा जा सकता है, जब (१) प्रति मालिक से उसके कर्मचारियो की औसत सख्या कम हो, और (२) उसमे लगे हुए लोगो मे अधिकाशत स्वतत्र काम करनेवाले कार्यकर्त्ता हो।

अपने काम का अनुपात

'नीचे से निर्माण' ('बिल्डिग फ्रॉम बिलो'—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, १९५५) मे उद्योगो के ७९ समूहो की जाच की गयी और यह देखा गया कि ५५ प्रति शत उद्योगो के कुल रोजगार पानेवालो मे अपना काम करनेवालो की तादाद ३५ से ८५ प्रति शत तक थी, १५ प्रति शत उद्योगो मे अपना काम करनेवाले ७० से ८५ प्रति शत, २७ प्रति शत उद्योगो मे ५० से ७० प्रति शत तथा १३ प्रति शत उद्योगो मे ३५ से ५० प्रति शत थे। दूसरे शब्दो मे, भारत के मौजूदा उद्योगो मे आधे उद्योग 'अपने काम' के उपयुक्त है, पर ४२ प्रति शत ज्यादा उपयुक्त है, क्योकि उनमे काम करनेवाले स्वतत्र कर्मचारी, विभिन्न कठिनाइयो और रुकावटो के बावजूद, उनमे लगे कुल लोगो की तादाद के ५० से ८५ प्रति शत तक है। अधिकाश उद्योगो मे मालिको की तुलना मे कर्मचारियो का अनुपात लगभग ११ है। इस प्रकार हम देखते है कि भारत मे अधिकाश उद्योग औसतन कम श्रम-शक्ति से चलते है और ऐसी अवस्था मे उन्हे आसानी के साथ परिवार और छोटी हिस्सेदारी या सहकारिता के लिए सुरक्षित किया जा सकता है।

मजदूरी-रोजगारी की स्थिति से अपने कामवाली रोजगारी पर जाना सामाजिक क्षेत्र को मिलनेवाली वित्तीय, सगठनात्मक तथा तकनीकी सहायता की पूर्णता पर निर्भर करेगा। नि सदेह रूप से कृषि तथा कृषि पर आधारित समस्त उद्योग अपने काम के लिए आदर्श रूप से उपयुक्त है। अन्य उद्योगो मे, प्राथमिक आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ, जैसे खाद्य, वस्त्र तथा आवास आदि, जो एकाधिकार के बराबर होगी सामाजिक क्षेत्र को मिलनी चाहिये। (यहाँ इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि सामाजिक क्षेत्र की दक्षता को उसके मौजूदा कार्य से नही आकना चाहिये, क्योकि वह इस समय निश्चित रूप से बहुत ही निम्न स्तर की है। उसे उसकी उत्पादन और रोजगारी की विशाल शक्यता के आधार पर आकने की कोशिश की जानी चाहिये।)

सब से निम्न स्तरवालो की मदद

दारिद्र्य से ऊपर के स्तर की जिन्दगी बसर करने के लिए विवेचन के बाद स्थिर किया गया है कि पॉच सदस्यो के एक परिवार के लिए कम से कम तीन हजार रुपये की सालाना जरूरत पडेगी। यह ऑकडा कम नही हुआ है, बल्कि काफी बढ गया है। किन्तु चूकि आबादी की प्रति व्यक्ति औसत आय ज्यादा नही बदली है और न्यूनतम आवश्यकता की आधी से भी कम है, सालाना ३,००० रुपये का ऑंकडा अत्यधिक कल्पनात्मक है और उसे यो ही रहने दिया जा सकता है। इससे भी बदतर हालत तो यह है कि ५० प्रति शत से अधिक भारतीय परिवार इस औसत का महज एक अश ही कमा पाते है। सामाजिक क्षेत्र के सुनियोजित विकास क्रम मे सब से कम वार्षिक आयवाले परिवारो पर सब से पहले ध्यान देना चाहिये फिर ऊँची आयवालो पर और यह क्रम तब तक जारी रहे, जब तक सब लोग ३,००० रुपये सालाना आय के स्तर तक न पहुँच जायें। प्रत्येक स्तर पर पुनर्वास की लागत विभिन्न होगी, निम्नतर स्तर पर सब से कम और उच्चतर स्तर पर सब से अधिक। भारत के प्रत्येक परिवार को ३,००० रुपये

वार्षिक आय के स्तर पर लाने के सम्बन्ध मे अनुमान लगाना आसान न होगा, किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि अपना काम उसका एक हल उपस्थित करता है और वह सब से सस्ता और सब से जल्दी होनेवाला भी है।

सामाजिक क्षेत्र के स्थिरीकरण तथा विस्तार के मार्ग मे सब से बडी एकमात्र रुकावट है उसकी प्रौद्योगिक हीनता। आधुनिक प्रौद्योगिकी ने एकमात्र बडे आकार तथा बडे पैमाने की औद्योगिक जटिलताओ पर ही अपने को केन्द्रित रखा है और आधुनिक यत्र-औजार तथा उत्पादन मशीने और भी बडी पेचीदी तथा कीमती बनती जा रही है। स्वभावत अपना काम करनेवाले परिवारो या छोटे सहकारो की क्रय-शक्ति इतनी नही है कि वे उन्हे प्राप्त कर सके। इसके अलावा स्थानीय बाजारो की सीमित आवश्यकताओ को देखते हुए उनकी उत्पादन क्षमता भी काफी अधिक है।

ऐसी अवस्था मे आवश्यकता है सामाजिक क्षेत्र की आवश्यकताओ तथा कार्यो के लिए उपयुक्त नयी प्रौद्योगिकी की, जिसे सूक्ष्म प्रौद्योगिकी (छोटी प्रौद्योगिकी) कहा जा सकता है। सूक्ष्म प्रौद्योगिकी, सम्बोध तथा रूपाकन, दोनो दृष्टियो से पूर्णत आधुनिक है और सर्वाधिक आधुनिक अनुसधानो तथा विकास के तत्वो का उसमे समावेश है। छुटाई, सरलता तथा सस्तेपन को दृष्टिगत रखते हुए उसका रूपाकन किया गया है। किसी भी तरह उसमे गुणो का त्याग नही किया गया है।

अपना कामवाली एक सामाजिक इकाई—चाहे वह परिवार हो, सहकारी समिति हो या गॉव—की तुलना एक अतरीक्ष यान के साथ की जा सकती है। जिस प्रकार एक अतरीक्ष यान अपने छोटे से दायरे मे, सीमित वजन और मात्रा मे असाधारण तौर पर सम्वेदनशील और जटिल यत्रो के समूह को लेकर ऊपर उडता है, उसी प्रकार अपने कामवाली एक इकाई मे सीमित पूजी, श्रम-शक्ति तथा उत्पादन-शक्ति के अदर उत्पादन के लिए आवश्यक समस्त वस्तुएँ मौजूद होनी चाहिये।

सूक्ष्म प्रौद्योगिकी मौजूद है। सिलाई मशीने, टाइप राइटर, स्कूटर, धुलाई मशीने, रिफ्रिजरेटर, एयर-कडिशनर, ट्राजिस्टर रेडियो, पोर्टेबल टेलीविजन सेट तथा टेप-रेकार्डर आदि उच्च स्तरीय सूक्ष्म प्रौद्योगिकी के उदाहरण है। ये सब छोटे, मजबूत तथा औसतन सस्ते यत्र है। आवश्यकता इस बात की है कि उत्पादक यत्रो के सम्बन्ध मे भी यही विधि अपनायी जाय और समस्त प्रकार की आवश्यक अच्छी, मजबूत, टिकाऊ और सस्ती छोटी मशीने बनायी जाय।

फिर यह भी स्थिति है कि इस तरह की छोटी-छोटी औद्योगिक मशीने तथा सयत्र भी मौजूद है। घरेलू कारखाने, प्रयोगशालाएं, औषध बनानेवाले कारखाने, सूक्ष्मास्त्र बनानेवाले कारखाने तथा आम तौर पर जहॉ उत्पादन का उच्च मूल्य लघु स्तरीय उत्पादन से जुडा हुआ है, आदि के लिए उन मशीनो या सयत्रो का प्रयोग होता है। आवश्यकता इस बात की है कि उन छोटी मशीनो का विस्तार उन क्षेत्रो मे किया जाय, जो मौजूदा समय मे ऊँचे स्तर के उद्योग लिये बैठे है। बडे कारखाने दूर के स्थानो से कच्चे मालो की सम्प्राप्ति करे और तैयार माल को दूर-दूर के बाजारो मे भेजे, उसके बदले सामाजिक क्षेत्र को काफी तादाद मे 'सूक्ष्म-सयत्र' देने की आवश्यकता है, ताकि वे स्थानीय बाजारो के लिए, मुख्यत स्थानीय कच्चे माल का प्रशोधन करे।

ऐसे 'सूक्ष्मकृत सयत्र' बडे कारखानो मे सामूहिक रूप से तैयार किये जा सकते है। सामूहिक पैमाने पर वस्तुओ के उत्पादन के बदले सूक्ष्म सयत्र का सामूहिक उत्पादन हमे करना चाहिये, ताकि घर पर वस्तुएं तैयार कर सके। कौन-सी प्रौद्योगिकी ज्यादा लाभकारी होगी, बडी या छोटी, इस प्रश्न के सामने आते ही जवाबी सवाल उठता है, लाभकारी किस के लिए। सामूहिक उत्पादन की सुविधाएँ, एक बार स्थापित हो जाने के बाद किसी खास क्षेत्र मे अस्थायी या स्थायी तौर पर आशिक या सम्पूर्ण एकाधिकार कायम कर लेती है और उनका लाभ निश्चित रूप से उद्योग के मालिको को पहुँचता है, चाहे वे हिस्सेदार हो या राज्य। किन्तु उनके

उत्पादन की लागत मे जब उधार और मुनाफा प्रधान उत्पादन पद्धति से उत्पन्न आबादी के अधिकाश लोगो की बेकारी तथा निम्नतम स्तर के जीवन-यापन की विशाल सामाजिक और आर्थिक लागत भी जोड दी जाती है, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अपना काम प्राथमिक आवश्यकता की वस्तुएँ सब से कम मूल्य पर दे सकता है।

यह बात अच्छी तरह साबित की जा सकती है कि पर्याप्त सरक्षण और उन्नत प्रौद्योगिकी के लाभ प्राप्त करने के बाद सामाजिक क्षेत्र सब तरह से बडे कारखानो का मुकाबला कर सकता है। किन्तु मुख्य बात यह नही है। सबमे बडा तथ्य तो यह है कि 'अपना काम' भारत के समस्त बेकार नर-नारियो को सहज रूप मे, आसानी से और अविलम्ब काम दे सकता है और जैसे-जैसे उसके सगठन की गति बढती जायगी, अपना बाजार और पूजी वह स्वय निर्मित कर लेगा।

गॉवो के लिए शक्ति

सूक्ष्म प्रौद्योगिकी की उत्पादक-क्षमता सीमित हो सकती है, किन्तु बहुत कम नही हो सकती, क्योकि वैसा होने से 'अपना काम' करनेवाले परिवारो की आय और जीवन-स्तर बहुत निम्न स्तरीय रह जायेगा। यही शक्ति के उपयोग का प्रश्न उठता है। अनेक सूक्ष्म सयत्रो को, उनकी पूरी क्षमता के साथ चलाने का काम हाथ या पशु-शक्ति से नही हो सकता। वहाँ यान्त्रिक शक्ति की जरूरत पडेगी। इससे सवाल उठता है गॉवो मे बिजली की पूर्ति का, जिसके लिए अगर हम केन्द्रित शक्ति स्रोत और राष्ट्रीय विद्युत ग्रिड पर निर्भर करते है, तो वह आसान नही है। भारत की कुल विद्युत शक्यता बहुत ऊँची नही है और इसे बढाने का सहज एक ही उपाय है कि बडे पैमाने पर कीमती अणु-शक्ति का उपयोग किया जाय। राज्य की नीति है कि गॉवो का यथा शीघ्र विद्युतीकरण किया जाय, किन्तु जिस गति से गॉवो मे बिजली लगायी जा रही है, वह उत्साह-वर्धक नही है।

इसका हल है 'सूक्ष्म ऊर्जा विज्ञान' जो प्रत्येक गॉव या गॉवो के समूह मे शक्ति के अपने स्रोतो का निर्माण करेगा, जो डीजल, खाद गैस, वाष्प, जल, वायु तथा सौर ऊर्जा जैसा कुछ होगा। स्रोत चाहे जो भी हो, जब तक प्रत्येक गॉव तक राष्ट्रीय विद्युत ग्रिड न पहुँच जाय, शक्ति की पूर्ति या सूक्ष्म ऊर्जा सूक्ष्म प्रौद्योगिकी के साथ-साथ चलनी चाहिये।

सुझाया जाता है कि योजना आयोग को सामाजिक क्षेत्र की मौजूदगी कबूल करनी चाहिये और अपनी ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति को उसकी वर्तमान अवस्था तथा उसके स्थिरीकरण एव विकास के लिए उसकी आवश्यकताओ के अध्ययन के लिए अभिप्रेरित करना चाहिये। उसके लिए अनेक दिशाओ मे अनुसधान कार्य करना होगा—और उनमे एक दिशा होगी अपने काम के लिए उपयुक्त सयत्र तथा औजारो का अनुसधान।

जापान तथा यूरोप के जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रिया आदि देशो मे लघु तथा कुटीर उद्योगो के आधार पर उत्पादन होता रहा है और अब भी होता है। जो देश औद्योगिक दृष्टि से जितना ही पुराना होगा, उसमे ऐसे प्राणवान छोटे और ग्रामीण उद्योगो को ढूढना उतना ही आसान होगा, जिन्हे भारत के सामाजिक क्षेत्र के लाभार्थ अपनाया जा सकता है।

जहॉ-कही तैयार मशीनें या औजार उपलब्ध नही है, उनके रूपाकन तथा उत्पादन के लिए विदेशी सहयोग को निमत्रित किया जा सकता है। विकासशील देशो को तकनीकी सहायता देने के लिए सगठन तथा सस्थाएँ मौजूद है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि एक ऐसे केन्द्र की स्थापना की जाय जो हमारी आवश्यकताओ का तरतीब से प्रचार और विश्लेषण कर सके और मौजूद समाधानो को सग्रह कर उन्हे उपयोग मे ला सके एवम् सहयोग तथा सहायता दे सके।

बम्बई १८ फरवरी १९६४

चीनी का स्रोत : ताड़

प्रकाश चन्द्र वासनीय

'ब्रिटिश होम ग्रोन सुगर इण्डस्ट्री' के इतिहास से पता चलता है कि बर्तानिया की सरकार ने चुकन्दर चीनी उद्योग को उसका उत्पादन खर्च ज्यादा होते हुए भी उस देश में कृषि के हित मे मदद दी। क्या हमारी सरकार उद्योग और कृषि दोनों के हित में ताड़-चीनी उद्योग के प्रोत्साहनार्थ सहायता नहीं दे सकती ?

नीरा की राव बनाने मे—यहाँ तक कि पेड पर लटकी हँडिया मे नीरा टपक रहा हो उस अवस्था मे भी—विजली का इस्तेमाल करने के तर्क के पीछे एक उद्देश्य है, ताड चीनी का उत्पादन खर्च कम करना। लेकिन कोई भी यह पूछ सकता है कि "देश मे जब गन्ना-चीनी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है तब यह सब झँझट क्यो मोल लिया जाय ? गन्ना-चीनी उद्योग भारत का दूसरा सब से बडा उद्योग है। भारत चीनी के मामले मे न केवल आत्मनिर्भर है, वल्कि वह उसका निर्यात करने की स्थिति मे भी है। तब हम क्यो इस उद्योग मे बाधा खडी करे और क्यो हम अपना चीनी-स्रोत बदले ?"

इग्लैण्ड मे जब 'बीट सुगर सोसायटी' ने घरेलू चीनी उद्योग की सहायता के लिए अपना आन्दोलन चलाया तब वहाँ भी कुछ लोगोंने ऐसे ही प्रश्न उठाये थे। वहाँ के लोगो को सस्ती चीनी मिल रही थी और यह बात उपनिवेशवादी उद्योगपतियो के हित मे थी कि घरेलू बाजार केवल उनकी परिष्कृत गन्ना चीनी के लिए ही रहे। इसलिए जब सहायता की माँग की गयी तो बर्तानिया सरकार ने प्रथम दस वर्ष के लिए ही सहायता स्वीकृत की और तब मामले का अध्ययन करने के लिए एक समिति नियुक्त की।

इंग्लैण्ड का घरेलू चीनी उद्योग

उक्त समिति का प्रतिवेदन और वहाँ की सरकार के निर्णय से हमे शिक्षा मिलनी चाहिये। इसलिए इग्लैण्ड के घरेलू चीनी उद्योग (ब्रिटिश होम ग्रोन सुगर इण्डस्ट्री) का सक्षिप्त ऐतिहासिक चित्र, यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासगिक नही होगा।

चुकन्दर मे निस्सारित चीनी के रवे (क्रिस्टल) का पहली बार उत्पादन प्रसा मे १७४७ मे हुआ, लेकिन उक्त खोज का लाभ उठाने के लिए कारखानो की स्थापना उसके ५० वर्ष बाद हुई। इस विचार ने विस्तृत क्षेत्र मे लोगो का ध्यान आकर्षित किया। नेपोलियन-कालीन युद्धो मे फ्रान्स ने इसका अच्छा फायदा उठाया। नेपोलियन ने चुकन्दर की खेती और उसके निस्सारण तरीके की खोज-बीन की तथा उसके बाद फ्रान्स मे चुकन्दर से चीनी का उत्पादन करने को प्रोत्साहन देने के लिए 'आर्थिक सहायता' की पद्धति का सृजन किया। राज्य सहायता न केवल चुकन्दर उत्पादक किसानो को, बल्कि कुशल उत्पादन तरीके के विकास को प्रोत्साहन देने हेतु वैज्ञानिको व अन्य व्यक्तियो को भी दी गयी। परिणाम-स्वरूप फ्रान्स मे सैकडो चीनी उत्पादन कारखानो की स्थापना हो गयी और शीघ्र ही वह यूरोप का एक अग्रणी चीनी उत्पादक देश बन गया। यूरोप के प्राय सभी देशो ने उसका अनुसरण किया और उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक यह उद्योग सयुक्त राज्य अमेरिका तक फैल गया जहाँ गन्ने की खेती, दक्षिण मे, पहले से ही सुस्थापित हो चुकी थी।

यूरोप मे हुए अनुभवो से दो महत्वपूर्ण बाते स्थापित हुईं (१) कि चुकन्दर से चीनी बनाना प्राविधिक दृष्टि से एक शक्य बात है, और (२) चुकन्दर की खेती

का सामान्यत खेती पर और खास कर पशुधन की तादाद बनाये रखने हेतु बहुत ही लाभदायक प्रभाव पडता है।

नेपोलियन के जमाने मे ही उक्त बात भलिभाँति स्थापित हो चुकी थी, फिर भी बर्तानिया की सरकार की तत्सबधी प्रतिक्रिया जानना रुचिकर होगा।

चीनी उद्योग सम्बन्धी जाँच

ग्रेट ब्रिटेन मे चीनी उद्योग स्थापित करने के लिए १८३२ से ही व्यक्तिगत प्रयास होते रहे है, लेकिन उच्च उत्पादन लागत के कारण ये सब प्रयास निरर्थक रहे। फ्रान्स तथा अन्य देशो की सफलता ने ब्रिटेन के किसानो और उद्योगपतियो का ध्यान आकर्षित किया। इसलिए आर्थिक सहायता के लिए १९२५ मे सरकार के समक्ष एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया और वहाँ की पार्लमेण्ट ने दस वर्ष के लिए आर्थिक सहायता—यद्यपि कम पैमाने पर—स्वीकार की। उक्त दस वर्षीय उपदानावधि मे विश्व बाजार मे चीनी के भाव काफी गिर गये। इसलिए बर्तानिया की सरकार ने १९३४ मे एक समिति नियुक्त की कि वह चीनी के 'यूनाइटेड किंगडम' मे उत्पादन, परिष्करण और वितरण को शामिल करते हुए तथा घरेलू चुकन्दर-चीनी उद्योग और आयातित चीनी सहित चीनी उद्योग की अवस्थाओ की जाँच करे तथा ऐसा करते वक्त वह 'एग्रीकल्चरल मार्केटिंग एक्ट' के अन्तर्गत इस उद्योग के ढाँचे मे होनेवाले परिवर्तनो को ध्यान मे रखे, उसके आचरण के सम्बन्ध मे और खास कर आवश्यक समझी जानेवाली राज्य सहायता के बारे मे सिफारिश करे।"

उक्त समिति ने सिफारिश की "चूकि हमारे सामने प्रस्तुत सभी तथ्यों का मूल्याकन करने पर एक ऐसे उद्योग पर जिसकी कभी भी आत्मनिर्भर बनने की उपयुक्त सम्भावना दिखायी नही पडती, तथा एक ऐसी फसल पर जोकि सहायता के बिना वर्तमान चीनी मूल्यो के अनुसार प्राय मूल्यविहीन होगी, हमे हर वर्ष लाखो की रकम के खर्च के लिए कोई सोद्देश्य औचित्य दिखायी नही पडता, इसलिए हम सहायता जारी रखने की सिफारिश नही कर सकते।"

इसके बावजूद सरकार ने प्रतिवेदन के इन शब्दो को अधिक महत्व दिया "अन्त मे हम इस उद्योग को राज्य सहायता देना जारी रखने के लिए जो सब से अधिक महत्वपूर्ण दलील—कृषि के लिए एक राहत प्रदान करने वाले उपाय के रूप मे इसका मूल्य—लगती है, उस पर आते है। अनेक गवाहों ने हमे बताया कि चुकन्दर चीनी को राज्य सहायता से कृषि को बहुत बडा सहारा मिला—चुकन्दर उपजानेवाले क्षेत्र मे प्रत्यक्ष रूप मे तथा सारे देश मे परोक्ष रूप मे—और वह भी खास कर ऐसे समय मे जबकि मास तथा डेरी उत्पादनो के भाव बुरी तरह गिर जाने की वजह से उत्पन्न मदी की स्थिति हो, अनेक क्षेत्रो मे पशुओं की चराई के लिए परम्परागत कदमूलो की पैदावार लाभदायक न रही हो और उनकी महज क्रमानुसार खेती मे नुकसान ही होता हो, तथा खाद्यान्नो के भाव गिर जाने की स्थिति मे जिसे शायद ही बर्दाश्त किया जा सके। चुकन्दर की खेती ने अन्य अलाभदायक फसलो का एक लाभदायक फसल के रूप मे स्थान ले लिया है और खाद्यान्न फसलो का सहारा बन गयी है। *हमे बताया गया कि* इसके बिना पूर्वी जिलों (काउण्टीज) मे काफी जमीन कृष्य भूमि नही रह पाती। ऐसी कुछ भूमि मे—और अन्य क्षेत्रो की भूमि मे भी—चरागाह हो जाते, पर इसमे अधिकाश भूमि इस उपयोग के योग्य नही है और उसे पूर्णत त्याग दिया जाता।

"हमे सन्तोष है कि चुकन्दर उद्योग मे कृषि को काफी सहायता मिली है और जहाँ चुकन्दर की खेती होती है, वहाँ उसने प्रत्यक्ष राहत पहुँचायी है।... तथापि, पिछले वर्षो मे कृष्य भूमि को चरागाहो मे परिवर्तित करने की तथा कृषि और चरागाहो के अन्तर्गत कुल क्षेत्र को कम करने की सामान्य प्रवृत्ति को मद्देनजर रखते हुए यह मानना उचित होगा कि चुकन्दर को विशेष महत्व प्रदान करने के फलस्वरूप कुछ सीमान्त कृष्य भूमि खेती के अन्तर्गत रखी गयी है अथवा बर्बाद होने से बचायी गयी है।"

बर्तानिया की सरकार ने अपनी भावी नीति निर्धारित करने मे विशेष समय नही लिया। केवल चार महीने बाद जुलाई १९३५ मे एक 'श्वेत पत्र' के रूप मे उसकी घोषणा की गयी। श्वेत पत्र मे कहा गया "सरकार इस निर्णय पर पहुँची है कि कृषि-विषयक आधारो पर यह वाछनीय है कि सहायता दे सकने की बिना किसी विशिष्ट सीमा के निर्धारण के चुकन्दर-चीनी उद्योग को सहायता देना जारी रखा जाय।"

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने एक ऐसे उद्योग को सहायता देने का निर्णय किया जो आर्थिक दृष्टि से बिल्कुल लाभप्रद नही था और न ही उसके कभी वैसा होने की कोई आशा थी। इसका परिणाम क्या हुआ? ब्रिटिश सुगर कॉर्पोरेशन ने १९६१ मे इसकी जुबली मनायी। उस वक्त उसने 'होम ग्रोन सुगर' नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसका प्रारम्भ इन शब्दो के साथ होता है 'ब्रिटेन मे जितनी चीनी का उपभोग होता है उसका करीब एक-चौथाई हिस्सा परिपूर्ण रूप से इन द्विपो मे तैयार किया जाता है।" जिस उद्योग को केवल कृषि के हित की दृष्टि से सहायता दी गयी थी वह अब ग्रेट ब्रिटेन की आवश्यकता की एक-चौथाई चीनी तैयार कर रहा है। प्रारम्भिक अवस्था मे चुकन्दर की जड की क्या स्थिति थी? उन्ही के शब्दों मे "इस पादप—जिसे जगली चुकन्दर कहा जाता है—की जड केवल कुछ औस की थी और उसमे शर्करा-तत्व मात्र पाँच प्रति शत के करीब था, लेकिन उस स्थिति मे आज उसका इस हद तक विकास कर लिया गया है कि चुकन्दर का वजन अब औसतन डेढ पौण्ड है तथा उसमे शर्करातत्व २० प्रतिशत और किन्ही मामलो मे तो उससे भी अधिक है।'

इस प्रकार विकास का चित्र कुछ ऐसा है एक ऐसा उद्योग जो उद्योग के रूप मे लाभदायक नही था लेकिन उसे कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए सहायता दी गयी और ऐसे ठोस आधार पर विकसित किया गया कि आज वह एक आर्थिक दृष्टि से लाभदायक उद्योग बन गया है। क्या कोई ऐसे ही आधार है कि उनके अनुसार ताड-चीनी उद्योग के विकास का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है?

भारत में ताड़ वृक्ष

ताड की नौ किस्मे ऐसी है, जिनसे मीठा रस प्राप्त होता है। इनमे से चार किस्मे भारत मे पायी जाती है। उनके नाम है ताड खजूर, माढी अथवा पनई ताड, नारियल और सागू। उनकी प्रति एकड रस-प्राप्ति, नीरा मे सुक्रोज प्रातिशत्य और चीनी प्रदान करने की क्षमता सम्बन्धी विवरण तालिका १ मे दिया गया है।

इन चार किस्मो मे से हम प्रस्तुत लेख मे नारियल के पेड पर विचार नही करेगे, क्योकि उसके रस की अपेक्षा कृषको के लिए उसका फल अधिक लाभप्रद है। तथापि, यह एक विस्तृत अन्वेषण का विषय है। शेष तीन किस्मो मे भी किसी एक का किसी विशेष क्षेत्र को लेकर अन्वेषण के लिए विषय के रूप मे चुनाव किया जा सकता है।

तालिका १

ताड वृक्ष	प्रति पेड प्रति मौसम औसत नीरा प्राप्ति (पौण्ड मे)	प्रति एकड वृक्षो की सख्या	प्रति मौसम प्रति एकड नीरा प्राप्ति (पौण्ड मे)	नीरा मे औसतन सुक्रोज प्रातिशत्य	प्रति एकड चीनी की सम्प्राप्ति: ग्रामोद्योगी तरीके से ७% लॉग टन	प्रति एकड चीनी की सम्प्राप्ति: वैक्युमेटिक ९% लॉग टन
खजूर	३२०	६४०	२,०४,८००	१२	६ २४	८
माढी	७८०	६८०	२,९९,२००	११ ७	१३ २१	१९ ५६
सागू	२,५००	१००	२,५०,०००	९ ७	७ ६२	—
नारियल	६००	८०	३२,०००	१५ ८	—	—

तालिका १ मे सर्वाधिक आकर्षक बात है ताड वृक्षो की अपनी प्राकृतिक अवस्था मे चीनी प्रदान करने की क्षमता । ये आकडे अपनी प्राकृतिक अवस्था मे उगे ताड वृक्षो से प्राप्त वास्तविक 'प्राप्ति' के अध्ययन मे इकट्ठे किये गये है । अब तक न तो इन पेडो की नस्ल सुधार की दिशा मे ही कोई प्रयास किया गया है और न ही उन्हे पानी तथा खाद देने की तरफ कोई विशेष प्रयत्न किया गया है। फिर भी, अपनी प्राकृतिक दशा मे ताड वृक्ष चीनी प्रदान करने के स्रोत के रूप मे आज की उन्नत गन्ने की किस्म अथवा चुकन्दर से श्रेष्ठ है। ऊपर तालिका २ मे चुनिन्दा देशो के गन्ने की किस्मो, ग्रेट ब्रिटेन के चुकन्दर और ताड वृक्षो से प्राप्त चीनी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

इस तुलना से प्रकट होता है कि चीनी प्रदायक योगिता करने मे समर्थ हो सकती है।

अन्वेषणार्थ क्षेत्र

अन्वेषण करने और नस्ल सुधारने के लिए ये एक विस्तृत व व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करते है । कोयम्बतूर स्थित गन्ना प्रजनन संस्था (केन ब्रिडीग इन्स्टिट्यूट) का अनुभव हमारे सामने है, जो १९१२ मे शुरू की गयी थी और दस वर्ष की अवधि मे ही उसने गन्ने की किस्मे सुधारने की दिशा मे बडा उल्लेखनीय कार्य किया है। ताड प्रजनन संस्था राष्ट्र के लिए और भी अधिक लाभदायक साबित हो सकती है तथा वह ऐसे ताड की किस्मो का विकास कर सकती है जो ज्यादा नीरा प्रदान करे एवम् जिनमे ज्यादा शर्करा-तत्व हों। पेड की ऊँचाई, प्रौढावस्था प्राप्त करने की अवधि, मौसम-काल आदि

तालिका २

देश	स्रोत	वर्ष	प्रति एकड चीनी सम्प्राप्ति (लॉग टन मे)
ब्रिटेन	चुकन्दर	१९५९--६०	१३४०
पेरू	गन्ना	,, ,,	५.०७६
आस्ट्रेलिया	,,	,, ,,	४०९०
मोरीसियस	,,	,, ,,	३०८८
फिलीफाइन्स	,,	,, ,,	२७९३
क्यूबा	,,	,, ,,	२०९५
भारत	,,	,, ,,	१८४८
	माढी	—	१५२१ से १९५६
	खजूर	—	६२८ से ८००
	सागू	—	७६२

कारक के रूप मे ताड वृक्ष गन्ने से कितने ही श्रेष्ठ है। माढी अर्थात् पनई ताड अपनी वर्तमानावस्था मे भी सभी किस्मों मे श्रेष्ठ है। मुझे इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि खजूर की चीनी प्रदायक क्षमता इस हद तक सुधारी जा सकती है कि वह चुकन्दर चीनी की प्रति-

जैसी अन्य समस्याओ का भी उक्त संस्था कर सकती है।

तालिका २ मे प्रस्तुत ऑकडो पर सामान्य दृष्टि डालने पर भी कोई यह प्रश्न पूछने के लिए उद्यत हो सकता है कि अब तक ताड वृक्षो का उनमे सम्भाव्यताएँ होते हुए भी परिपूर्ण उपयोग क्यो नही किया गया ? इसका

कारण ढूँढने के लिए कही दूर नही जाना है। प्रथम, इसकी सम्भाव्यता सदैव ही प्रति एकड के स्थान पर प्रति पेड के हिसाब से ऑकी गयी है और इसलिए इसकी गन्ने से तुलना नही की गयी। द्वितीय, इसके रस अर्थात् प्रयासो के फलस्वरूप प्राप्त अनुभव से नीरा मे १० प्रति शत गुड प्रदान करने की क्षमता सिद्ध हो चुकी है। चीनी के लिए यह तत्व न्यूनतम सात प्रति शत और अधिकतम नौ प्रति शत है तथा हम अपने देश के ताड वृक्षो के लिए यह प्रातिशत्य औसतन आठ ले सकते है। प्रति एकड औसत नीरा प्राप्ति और उससे चीनी सम्प्राप्ति के प्रातिशत्य हेतु मै केवल खजूर तथा माढी ताड पर ही विचार कर रहा हूँ। ये पेड प्राय सभी राज्यो मे पाये जाते है और उनका छेदन होता है। दक्षिण भारत मे माढी ताड को और उत्तर भारत मे खजूर ताड को तरजीह दी जाती है। नीरा मे खमीर को रोकने के लिए केवल रासायनिक तरीके से ही कोशिश की गयी है। अभी तक किसी यान्त्रिक तरीके का विचार नही किया गया है। तृतीय, इस शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश मे कुछ कारखानो ने पुराने तरीके से गुड से चीनी बनाने का प्रयत्न किया। उनके अवैज्ञानिक तौर-तरीके के कारण बहुत-कुछ सुक्रोज तत्व बेकार चला जाता और फलस्वरूप इस बर्बादी के लिए कहा यह गया कि शर्करा-तत्व की कमी है। उस असफलता का भूत आज भी अनेको के दिमाग मे छाया हुआ है।

ताड़-गुड़

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पहले केन्द्रीय खाद्य और कृषि मन्त्रालय के अन्तर्गत तथा अब खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत ताड-गुड विभाग ताड-गुड उद्योग का विकास करने का प्रयत्न कर रहा है। इसलिए तत्सम्बन्धी आकडे विश्वस्त समझे जा सकते है। इन

इन अको के आधार पर हम कह सकते है कि ६० लाख टन गुड और ३० लाख टन चीनी तैयार करने के लिए आवश्यक ताड वृक्षो के लिए क्रमश चार लाख एकड तथा ढाई लाख एकड जमीन की जरूरत पडेगी। इस प्रकार कुल भूमि की आवश्यकता ६ लाख ५० हजार एकड होगी।

तालिका ३

पेड	प्रति एकड नीरा (पौंड मे)	१० प्रति शत के हिसाब से प्रति एकड गुड प्राप्ति (लॉग टन मे)	आठ प्रति शत के हिसाब से प्रति एकड चीनी की प्राप्ति (लॉग टन मे)	पेड के छेदन की अवधि (वर्षो मे)
खजूर	२,०४,८००	८ ९३	७ १३	२५ से ३०
माढी	२,९९,२००	२१ ७८	१७ ३९	७० से ९५

गन्ना बनाम ताड़

जब यह उद्योग भारत के लिए आवश्यक गुड और चीनी की मात्रा ६ लाख ५० हजार एकड भूमि से पूरी कर सकता है तब हमे गन्ने मे ही चीनी क्यो बनानी चाहिये, जिसके लिए ५० लाख एकड जमीन की जरूरत होती है। हम यह अच्छी तरह सोच सकते है कि लगभग ५० लाख एकड अच्छी भूमि की बचत मे देश को परोक्ष रूप से कितना लाभ होगा। यह सही है कि गन्ने की फसल वार्षिक रूप से होती है और वार्षिक फल-प्राप्ति के कारण ऐसा करना विनियोजक के लिए लाभकारी है। इसके विपरीत ताड वृक्षो से फल प्राप्त होने मे कुछ समय लगता है। तथापि, सरकार यह कठिनाई दूर कर सकती है। कुछ अन्य वृक्षारोपण उद्योग है, जिन्हे प्रारम्भिक अवस्था मे सरकार सहायता देती है। इसलिए यह तय करना सरकार का काम है कि ताड वृक्ष उगानेवाले कृषक को वह कितने समय तक कितनी सहायता देगी।

खजूर का पेड छ मे आठ वर्ष का होने पर और माढी १२ से १५ वर्ष का होने पर नीरा देना शुरू करता है। लेकिन एक बार शुरू होने पर खजूर का पेड २५ से ९० वर्ष तक और माढी का पेड ७० से ९५ वर्ष तक नीरा देता रहेगा। और फिर, गन्ने की खेती मे बोआई के लिए प्रति एकट ६०-७० मन गेण्डी की आवश्यकता भी तो पडती है।

इसका अर्थ है गन्ना बोने के लिए प्रति वर्ष कम से कम प्रति एकड १०० रुपये की गेण्डी की आवश्यकता पडेगी। इस प्रकार ५० लाख एकड मे गन्ने की बोआई करने के लिए ५० करोड रुपये की जरूरत पडेगी। यदि हम ताड वृक्ष की उम्र ७० वर्ष माने तो ताड वृक्षो की जगह गन्ने की बोआई करने के लिए उक्त अवधि मे ४१ अरब ३० करोड रुपये की आवश्यकता पडेगी।

एक बार ताड वृक्षारोपण के लिए स्थल का चुनाव करने पर उस स्थान का सदैव के लिए ताड वृक्ष उगाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। ये पेड २० से ४० फुट तक और किन्ही मामलो मे तो और भी अधिक ऊँचाई तक बिना किसी शाखा के बढते है। इसलिए वे पुराने पड जाये उससे पहले ही ताड प्रजनन सस्था मे विकसित अच्छी किस्म के ताड इन पेडो के बीच-बीच मे लगाये जा सकते है। नये पेड तैयार होने पर पुराने वृक्षो को काट कर हटाया जा सकता है। इस प्रकार एक बार ताड बाग खडा हो जाने पर वह सदैव ही ताड बाग बना रह सकता है तथा मौसम-काल मे नित्य नीरा प्रदान करता रहेगा। इसलिए जब हम चीनी का स्रोत गन्ने से बदल कर ताड को बनाने की सोचे तब प्रारम्भिक काल मे ताड वृक्ष लगानेवाले को सहायता का दिया जाना आवश्यक है।

यह सुस्थापित हो चुका है कि इस परिवर्तन से भारत कोई ५० लाख एकड से भी अधिक भूमि बचा सकेगा। इस प्रकार की भूमि सर्वोत्तम किस्म की होगी, जिसे पानी और खाद दी जा सकती है। बडी आसानी से यह माना जा सकता है कि इस भूमि मे किसान दो खाद्यान्न फसले पैदा करेगा अथवा साक-भाजी की खेती करेगा या फिर उसमे फलोद्यान लगायेगा। इन कामो से गाँवो के भूमिहीन श्रमिको को गन्ने की खेती से अधिक रोजगारी मिलेगी। इस प्रकार गन्ने के स्थान पर ताड़-चीनी के प्रतिस्थापन से किसी प्रकार की बेरोजगारी पैदा नही होगी। इसके विपरीत ३०० ताड वृक्षो के पीछे एक छेदक के हिसाब से समग्र ताड वृक्षो से १३,८०,००० छेदको को रोजगारी मिलेगी। इसके अलावा छेदको की सहायता करनेवालो, उनके उपकरण बनानेवालो आदि के रूप मे अन्यान्य लोगो को भी रोजगारी मिलेगी। कुछ अन्य वृक्षारोपण सम्बन्धी उद्योग भी है, जो गाँवो मे बेरोजगारी की समस्याएँ हल करने की कोशिश कर रहे है। ताड के बागानो से कितने लोगो को काम मिल सकता है, इसका अनुमान निम्न तुलनात्मक आँकडो से लगाया जा सकता है चाय (१९५४) ९,९३,५९४, काफी (१९५५-५६) २,२७,७३३, रबड (१९५६) ६३,०३४, गन्ना चीनी (१९५६) १,०४,००० तथा कर्मचारी गण १९,३००। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि रोजगारी देने की दृष्टि से ताड बागान सब मे बडा उद्योग होगा।

बहुत अच्छी ५० लाख एकड से ज्यादा जमीन की उपलब्धि से फिलहाल हम खाद्यान्नो के आयात पर हमारी जो विदेशी मुद्रा खर्च कर रहे है, और जिसकी कमी है, उसमे बचत की जा सकेगी।

अपने जयन्ती प्रकाशन मे 'ब्रिटिश सुगर कारपोरेशन' ने बताया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध मे अंग्रेजो ने महसूस किया कि घरेलू चीनी उद्योग ने न केवल उनकी विदेशी मुद्रा ही बचायी, बल्कि अन्य अनेक समस्याएँ हल करने मे मदद भी दी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसी प्रकार के लाभ ताड-चीनी उद्योग से भी प्राप्त हो सकते है।

यदि हम इसकी रोजगारी देने सम्बन्धी क्षमता, भूमि बचत की शक्ति और विदेशी मुद्रा मे बचत करने की क्षमता महसूस करे तो ताड चीनी उद्योग के विकासार्थ क्या किसी अन्य औचित्य की आवश्यकता है? यदि ब्रिटेन की सरकार मात्र कृषि के हित मे चुकन्दर चीनी उद्योग को सहायता दे सकती है तो कोई कारण नही कि भारत सरकार कृषि तथा रोजगारी, दोनो के हितो की दृष्टि से ताड-चीनी उद्योग को सहायता क्यो नही दे सकती।

इन्दौर २१ मार्च १९६४।

पंचायत राज

पुरुषोत्तम प्रभाकर

गाँवो मे सामाजार्थिक विकास के उद्देश्य से चलनेवाली कार्यशीलताओ मुख्याधार होंगी तीन सस्थाए–पचायत, सहकारी समिति और विद्यालय। गावों मे विभिन्न दस्तकारियो और ग्रामोद्योगो से सम्बद्ध उत्पादन-सह-प्रशिक्षण केन्द्रो का एक जाल-सा बिछा दिया जाना चाहिये। इस प्रकार के केन्द्रों मे प्रशिक्षित व्यक्तियों को सहकारी समितिया बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

संसदीय जनतत्र का मूल तत्व है जनता का विश्वास प्राप्त नेतृत्व पैदा करना और उसकी आकाक्षाओ को व्यावहारिक रूप देकर उसे बरकरार बनाये रखना। कही ऐसा न हो कि अधिकाश नये आजाद देशो की तरह भारतीय जनता की आकाक्षाएँ भी राष्ट्रीय स्रोतो और परिस्थितियो के अनुरूप न हो, इसलिए आवश्यक है कि तात्कालिक महत्व के कार्यों मे प्रत्यक्ष भाग लेने के लिए जनता को प्रोत्साहित किया जाय, ताकि उसमे सापेक्ष और जिम्मेवारी की भावनाएँ भरी जा सके। आखिरी व्याख्या मे, कहा जाता है, राष्ट्र के सामाजार्थिक पुनर्निर्माण मे लोगो के समुदाय के रूप में स्वयस्फूर्त ऐच्छिक सहयोग को सुनिश्चित करके ये बाते उसके विकास की गति के धीमेपन को तीव्रता प्रदान करती है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी नये आजाद कल्याणकारी राज्यो मे हो रहे सामाजार्थिक पुनर्निर्माण कार्य की व्यापकता और विशालता सरकारी यत्र के लिए बहुत जरूरी बना देती है कि वह इस कार्य के साथ जनता को लेकर चले और उसी के अनुरूप कार्यो का विकेन्द्रीकरण भी करे। इससे बढ कर, छोटे समुदायो के सौर्य और सहकारिता की शक्ति के जरिये जनतात्रिक सस्थाओ की आदर्श नीव डाली जा सकती है। दरअसल, तभी मानव समाज छोटे समुदायो के बीच गहरे सबध स्थापित करने की अपनी महानतम प्राप्तियाँ हासिल कर सकता है और महज उसी की बदौलत सामूहिक प्रयासो को बढावा मिल सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि 'भागीदारी' के सम्बोध का तात्पर्य क्या है और उसका आशय क्या है ? जनता की सामुदायिक भागीदारी के सम्बोध के दो पहलू है राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर इसका तात्पर्य है स्वस्थ और सृजनात्मक जनमत तैयार करना जबकि स्थानीय तौर पर इसका मतलब है समुदाय के स्रोतो की वास्तविक भागीदारी और उनका सरक्षण। ऐसे ताने-बाने मे सरकारी यत्र से यह उम्मीद की जाती है कि वह योजनाबद्ध विकास के लिए तकनीकी सहायता, ऋण की सुविधाएँ तथा विशेषज्ञो की सलाह की व्यवस्था के जरिये उच्च स्तर पर लोकप्रिय सस्थाओ के क्षेत्र और प्रभाव के विस्तार मे योगदान करेगी।

ऐसी भागीदारी के लिए दार्शनिक ढाँचा, हमारे सविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और राज्य नीति के निर्देशित सिद्धातो–जो व्यष्टि को समष्टि के अन्तर्गत मानते है न कि उसके बाहर–मे निहित दर्शन प्रदान करता है। समाज के ढाँचे मे ही व्यक्ति के अधिकारो और कर्तव्यो का महत्व है और उसमे ही उनका उपयोग किया जा सकता है। स्थानीय स्तर पर, यह दर्शन हमारे सविधान मे राज्य नीति के निर्देशित सिद्धातो में से एक मे स्पष्टत इस प्रकार से व्यक्त है "राज्य ग्राम पचायतो के सगठन और उनको ऐसे अधिकार तथा शक्ति से सम्पन्न करने के लिए कदम उठायेगा जो उनको स्वशासन की इकाइयो के रूप मे काम करने के योग्य बनाने के लिए जरूरी होगा।"

अनादिकाल से भारत मे स्वशासित ग्रामीण सस्थाओ की जडे जमी हुई है। 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' (भारत की खोज) नामक पुस्तक में एक स्थान पर शकराचार्य के नीतिसार मे वर्णित आज से १० शताब्दी पहले मे भारतीय गाँवो तथा ग्राम परिषदो और उन प्रारभिक दिनो मे बहुत हद तक प्रचलित ग्रामीण स्वराज्य का जिक्र आता है। आज के युग से कुछ पहले सन् १८३० मे सर चार्ल्स मेटकाफ (Sir Charles Metcalfe) ने लिखा था–"छोटे गणतत्र, जिनके पास अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ मौजूद थी और जो बाह्य सम्बन्धो से मुक्त थे ... प्रत्येक समूह मे एक छोटा राज्य था।" यहाँ तक कि स्वशासन के धुधले स्वरूप की कल्पना के समय भी मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड (Mantagu Chelmsford) प्रतिवेदन के लेखक ने कहा था–"जिस दिन स्वशासन प्राप्त हो जायगा, रय्यत की बुद्धि जागृत करनेवाली, उसको स्वतत्र एव स्वय निर्णय करनेवाला मानव बनाने मे मदद करनेवाली हर चीज तेज गति से उसके पास आ जायेगी।" हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के लम्बे वैचित्र्यपूर्ण इतिहास मे हम लोग कभी भी अपनी ग्रामीण इकाइयों के उद्देश्य को नही भूले और इन इकाइयो ने वर्तमान सन्दर्भ मे स्वदेशी आन्दोलन मे सक्रिय भूमिका अदा करके इस कार्य के लिए अपनी योग्यता (क्षमता) को अनुकूल सिद्ध किया है।

पंचायत, सहकारिता और पाठशाला

किन्तु गुजरे जमाने मे इन सस्थाओ के सुनहले चित्र जसी कोई बात नही थी। ये बहुत हद तक गुटबाजी और जात-पात के विभेद, अत्याचार और गतिहीनता से भरी थी। फिर भी ये सस्थाएँ सामाजिक सामजस्य का मूल केन्द्रबिन्दु रही और उन्होने प्राचीन मूल्यो की शाश्वतता को बरकरार रखा। वर्तमान अवस्थाओ के अनुकूल ग्रामों का पुनर्निर्माण करने के बाद ही ग्रामीण जनतत्र मे आधुनिक जनतान्त्रिक सरकारो की सुदृढ नीव डाली जा सकती है। हमें ग्रामीण जीवन का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये जिससे कि वह अपनी सास्कृतिक जडो को सुरक्षित रखते हुए आधुनिक तकनीकी तथा वैज्ञानिक सभ्यता की अपेक्षाए अच्छी तरह पूरी कर सके। वैज्ञानिक तकनीक इस्तेमाल करने से अधिक महत्वपूर्ण है "बेहतर जीवन के लिए चाह" पैदा करना और निम्न गुटबाजी की भावना से ऊपर उठने तथा जन-समुदाय तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के रूप मे सोचने के लिए लोगो का मनोवैज्ञानिक अभिस्थापन करना। स्वावलबन और सहकार के आधार पर सावधानीपूर्वक बनाये गये अनेक सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रमो द्वारा दृष्टिकोण मे यह परिवर्तन लाने की आशा की जाती है। इस आदोलन का सार यह है कि हर परिवार इसके प्रभाव मे आये। अपने सारथानिक दृष्टिकोण मे निम्नतम स्तर पर यह (दृष्टिकोण) ग्राम पचायत, ग्राम सहकारी समिति और ग्रामीण पाठशाला को शृखलाबद्ध करने मे व्यक्त होना चाहिये। पचायत तथा सहकारी समिति, सामाजिक और आर्थिक विकास को अपने लक्ष्य के रूप मे मान कर प्रशासनिक और नियमन कार्य करेगी और पाठशाला समस्त समुदाय को सगठित करेगी तथा विशेष कर आनेवाली पीढी मे सहकार की भावनाएँ भरेगी।

सरकारी सहायता

ये सस्थाएँ वाछित दिशा मे विकसित हो, इसके लिए जरूरी है कि प्रारभिक चरणो मे उच्च स्तर पर सामुदायिक विकास अभिकरण उनके लिए सलाह, सेवा और पूर्ति की व्यवस्था करके मदद करे। इस प्रकार इस आन्दोलन ने सरकार द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय विस्तार योजना का रूप धारण किया है। यद्यपि बिल्कुल शुरू मे सरकारी सहायता से ही उसके लालन-पालन की स्थिति को पूरी तरह नहीं टाला जा सका, तथापि अधिकाधिक सभव मात्रा मे आम लोगो का समर्थन प्राप्त करने पर जोर दिया गया। यदि शुरू मे ही इन सस्थाओ को पूरी-पूरी जिम्मेवारी सौप दी गयी होती तो वैसा करना बहुत ही नुकसानदेह होता, क्योकि इस समय उनकी नीव, दुर्भाग्यवश, चली आ रही अत्यधिक व्याप्त जातीय अत्याचार, गतिहीनता और गुटबाजी की गलत जमीन

पर पड गयी होती। ऐसी स्थिति मे यह जरूरी था कि सरकारी अभिकरण के मार्गदर्शन मे प्रत्येक परिवार भाग ले और सामुदायिक कार्य सकीर्ण निष्ठाओ की सीमाओ को लॉघ जाय।

फिर स्थिति आयी ग्राम, खण्ड और जिला स्तर पर एक त्रि-सूत्री प्रणाली के आधार पर स्वशासित विधि-विहित सगठन बनाने की। इस महत्वपूर्ण और अत्यावश्यक कदम पर विचार करने के पूर्व इस बात का उल्लेख करना उपयुक्त है कि इन स्वशासित सस्थाओ का निर्माण करने के लिए वाछित ब्यौरेवार प्रारभिक कार्य पूरा नही किया जा सका। राष्ट्रीय विस्तार सेवा तथा सामुदायिक विकास परियोजनाओ के अन्तर्गत आनेवाले क्षेत्रो मे ग्राम पचायते और सहकारी समितियॉ स्थापित करने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया। वास्तव मे पचायत राज की स्वशासित सस्थाओ की शुरुआत करने के पहले सारे ग्रामीण क्षेत्र मे पचायतो तथा सहकारी समितियो ओर प्राथमिकता के तोर पर पाठशालाओ का भी जाल बिछ जाना चाहिये था। अगर पचायत राज की पूरी-पूरी शुरुआत के पहले ये सभी प्रारभिक श्रम-साध्य कार्य पूरे कर लिये गये होते तो नीव कितनी सुदृढ होती!

गॉवो मे पचायत, खड स्तर पर पचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद, सास्थानिक परिवर्तन का अपरिहार्य आधार है। ये सस्थाएँ ग्रामीण जीवन के प्रत्येक पहलू से सबधित रहेगी और उनके अन्तर्गत कार्यो के व्यापक क्षेत्र का समावेश होगा। सभी खड विकास कार्य उत्तरोत्तर रूप से पचायत समितियो को सौप दिये जायेगे और पचायत समितियॉ अपने अधिकार-क्षेत्र मे सभी विकास-कार्यो के लिए पूरी-पूरी जिम्मेवार होगी। इन सस्थाओ को जिम्मेवारी तथा पर्याप्त स्रोतो सहित, प्रभावशाली कार्य करने के लिए, विधिविहित स्वरूप प्रदान किया गया है।

नि सन्देह त्रि-सूत्री स्थानीय प्रशासनात्मक ढॉचे ने स्थानीय पहल को प्रोत्साहित करने तथा राष्ट्रीय योजनाओ के लिए लोगो की रुचि कायम रखने मे सहायता की है। पचायत, सहकारी समिति तथा स्कूल— ये तीन सस्थाएँ ग्राम की गतिविधियो की केन्द्रविन्दु हो गयी है।

पंचायत राज का स्वरूप

पचायत राज के मौलिक स्वरूप के अनुसार, विशेष कर राजस्थान के सन्दर्भ मे, पचायतो को केवल कार्य-पालिका के ही अधिकार नही थे, बल्कि उन्हे दीवानी और फौजदारी के छोटे-छोटे मामलो को निपटाने के भी अधिकार थे। बाद मे न्यायकार्य को कार्यपालिका कार्य से अलग करने तथा प्रत्येक ५ से ७ पचायतो के लिए एक न्याय पचायत की स्थापना करने का उचित निर्णय किया गया, जिसके लिए प्रत्येक पचायत एक सदस्य का चुनाव करती है। ये पॉच से सात सदस्य तीन-तीन सदस्यो की बेच (न्याय-पीठ) बनायेगे। इन न्याय पचायतो को सरकार वरिष्ठ स्थानीय सस्थाओ से विचार-विमर्श करके ही अधिकारच्युत और विघटित कर सकती है। ऐसी सस्थाओ के हिसाब का लेखा-परीक्षण किया जायेगा तथा उसका पूरा निरीक्षण एव उसमे सशोधन का अधिकार जिला या सेशन जज को होगा। एक अध्ययन दल के नेता ससद सदस्य श्री रघुवीर सिह ने अपने अध्ययन-दौरे के अनुभव बताते हुए कहा कि "राजस्थान मे पचायत राज एक प्रयोग नही, बल्कि जनतत्र के साथ मजबूती से जुडा हुआ एक जीवन-पथ है। वहॉ की जनता इसे राज्य तथा स्वय की सेवा के लिए एक अवसर समझती है।"

यथा सभव अधिक से अधिक लोगो को इसमे शामिल होने हेतु प्रोत्साहित करने के लिए तथा गुटबाजी को निरुत्साहित करने के लिए लगभग प्रत्येक परिवार को पचायत तथा प्रत्येक पचायत को पचायत समिति स्तर पर सबद्ध करने का प्रयास किया जाना चाहिये। प्रत्यक्ष सचालन मे यह कार्य परिवारो द्वारा होना चाहिये, न कि परिवारो के लिए। इस बात की सावधानी रखनी पडेगी कि अधिकृत पद-सोपान का स्थान कही छोटे दल या गुट न ले ले।

फसल, फल तथा अन्य उत्पादन प्रतियोगिताओं में पुरस्कार तथा शील्ड की व्यवस्था संस्थाओं में प्रतियोगिता की भावना पैदा करने का स्वस्थ उपाय है। ऐसे पुरस्कारों का विस्तार कुटीरोद्योग क्षेत्र तक भी होना चाहिये।

स्रोत

इन स्वायत्त शासन प्राप्त संस्थाओं की सफलता का मापदण्ड यह होगा कि किस हद तक वे अपने स्रोतों को बढ़ाने में समर्थ हुई हैं, इससे उनकी अपनी गतिविधियों में जिम्मेदारी का भाव पैदा होगा। स्रोतों में वृद्धि तथा सामुदायिक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए कोई भी प्रयास उसी दशा में सफल होगा, जब जनता में सही तौर पर यह विश्वास पैदा किया जाय कि उसके द्वारा दिया गया पैसा स्थानीय विकास योजनाओं पर खर्च होगा। नकद रूप में उन्हें राज्य अनुदान देने के बजाय धीरे-धीरे स्थानीय कर तथा भू-राजस्व की वसूली का अधिकार सौंप देना चाहिये। इससे उनके हितों (कार्य) और उत्तरदायित्व के क्षेत्र बढ़ेंगे।

इनमें से कुछ संस्थाएँ जो दूसरी संस्थाओं की तुलना में अधिक प्रगतिशील हैं, जो स्थानीय राजनीतिक झंझटों से मुक्त हैं, जिनका नेतृत्व गैर सरकारी है, जिन्हें स्थानीय समुदाय के सम्मान और विश्वास के आधार पर लगभग निर्विरोध तथा स्वयस्फूर्त समर्थन प्राप्त है, वे सफलतापूर्वक ऐसे स्रोतों की वृद्धि तथा रक्षा कर सकती हैं जिन्हें करने में राज्य के समक्ष अटकाव तथा खतरे उपस्थित होते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पचायत, सहकारी समिति तथा पाठशाला जैसी तीन संस्थाएँ गाँव की सामाजार्थिक गतविधियों की केन्द्रबिन्दु हैं। पचायत के वांछित क्षेत्र में सहकारी समितियों को अपनी स्वायत्त सत्ता कायम रखनी चाहिये तथा गंभीर व्यापार के सिद्धांतों को अपनाना चाहिये। सहकारी समितियों के प्रबन्ध के लिए आवश्यक कर्मचारियों तथा तकनीकी ज्ञान, उन्नत औजार और सरजामों का प्रवाह राज्य द्वारा स्थापित अनेक प्रशिक्षण-सह-उत्पादन केन्द्रों पर आधारित होना चाहिये।

पचायत समिति स्तर पर या प्रारंभिक अवस्था में जिला स्तर पर उन्नत कृषि औजार तथा सरजाम बनाने के लिए और लोहारी, बढ़ईगीरी, कुटीरोद्योग, व्यावसायिक शिल्पों आदि का कार्य करने के लिए एक-एक प्रशिक्षण-सह-उत्पादन केन्द्र होना चाहिये। इन समितियों के उद्देश्य दोहरे होंगे—उत्पादन तथा प्रशिक्षण। गाँव की जनता को, प्रेरणादायक पर्याप्त मासिक छात्रवृत्ति की व्यवस्था करके, विशिष्ट पाठ्यक्रम के लिए (प्रशिक्षण-सह-उत्पादन केन्द्रों पर) काम करने और सीखने हेतु भर्ती करना तथा प्रशिक्षण देना चाहिये। जब ऐसे प्रशिक्षार्थी अपना पाठ्यक्रम पूरा कर ले तो उन्हें सम्बद्ध व्यवसाय में सहकारी समिति बनाने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिये तथा उन्हें इसके लिए ऋण एवम् पेशगी रकम दी जानी चाहिये, जिसका बड़ा भाग सरजाम एवं औजारों के रूप में हो।

उपसंहार

हम ने वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति पर आधारित सामाजार्थिक विकास की कल्पना की है। अतः यह जरूरी है कि जिला परिषद के स्तर पर विज्ञान मन्दिरों की स्थापना की जाय और धीरे-धीरे उनका विस्तार पचायत समिति के स्तर तक किया जाय। इन वैज्ञानिक संस्थाओं को अपने आप को ग्रामीण इंजीनियरिंग, कृषि के उन्नत तरीकों, भूमि आरक्षण, बागबानी, मत्स्य-पालन (फिशरी), मुर्गी-पालन, लघु स्तरीय उद्योगों की उत्पादकता तथा गाँव की जरूरतों के मुताबिक औजार और सरजाम बनाने सम्बन्धी समस्याएँ हल करने के काम में लगाना चाहिये।

बैलों की आँतों का निर्यात व्यापार

पोन्नूसामी कुप्पु राव

मैकडो हरिजन परिवार कसाईखानो से पशुओ की आँते इकट्ठी करके उनका प्रशोधन करने के कुटीर उद्योग मे लगे है। भारतीय बैलो की आँतो का काफी निर्यात व्यापार होता है।

कसाईखानो के अनेक उप-उत्पादनो मे से बैलो, गायो और भैस-भैसो की आँतडियाँ, पशु आँत उद्योग मे लगे हरिजन खरीद लेते है। आँत के पार्श्वो को बिना किसी प्रकार की आँच पहुँचाये उनकी चर्बी, पैने चाकुओ की महायता से बडी कुशलतापूर्वक हटा ली जाती है। उन्हे स्वच्छ पानी मे लगातार धोया जाता है। एक वार जिस पानी से आँते साफ की जाती है, उसे बदल दिया जाता है। आँतो मे हवा भर कर उन्हे छाया मे सुखाया जाता है। सूखने के बाद उन्हे चिपटी करके उनके गोले बना लिये जाते है। अन्दाजन एक गोले मे नौ पशुओ की आँते होती है। इन गोलो की लम्बाई २०० गज होती है। इन गोलो की आँतो मे शोथ, ग्रथि, क्षतचिन्ह, काली गिरटी, बलगम, मैला, फफूँद, आकीर्णन, रोगाणु, खमीर, दाग आदि जैसे दोष नही होने चाहिये।

प्रशोधन स्थल और सफाई

आँतो का प्रशोधन कार्य कस्बो और गाँवों के बाहरी हिस्सो मे होता है, जिसके लिए नगरपालिकाएँ तथा ग्राम पचायते लाइसेस देती है। जिन स्थानो पर आँतो का प्रशोधन होता है, उन्हे साफ-सुथरा और स्वच्छ रखा जाता है तथा उनमे प्रशोधन करते समय सफाई सम्बन्धी सभी नियमो का बडी कडाई के साथ पालन किया जाता है। यह शब्दश कुटीर उद्योग है। इस उद्योग मे मद्रास, केरल, आध्र प्रदेश, मैसूर तथा देश के अन्य कई राज्यो मे सैकडो परिवार लगे है और इस प्रकार वे अपना जीविकोपार्जन करते है। यदि दक्षिण के चारो राज्यो मे —मद्रास, मैसूर, केरल और आध्र प्रदेश मे–प्रशोधित आतो का सग्रह सम्बन्धी काम चलाया जाय, तो प्रति माह दो–दो सौ गज की लम्बाईवाले ५,००० पैकट उपलब्ध हो सकते है।

निर्यात व्यापार

बैल की आँतो को उनकी लम्बाई के हिसाब से अलग-अलग छाँटा जाता है, जैसे ३५-४०, ४०-४५, ४५-५०, ५०-५५, ५५ तथा उससे अधिक मिलीमीटर की लम्बाई वाली आते। ऐसी लम्बाई की बैल-आँतो को मुख्यत तीन श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जाता है–प्रथम, द्वितीय और तृतीय। दस हजार गज लम्बी पशु-आँतो के ५० पैकेट बनाये जाते है, फिर उनकी एक गाठ बना दी जाती है, ताकि विभिन्न स्थानो पर उतारने-चढाने मे सुविधा हो। कीटाणुनाशक दवाइयाँ छिटक कर पशु-आँतो की दीमक व चीटियो से रक्षा की जाती है।

भारत मे इस उद्योग की स्थापना यूरोपवालो ने की। उद्योग की सर्व प्रथम स्थापना कलकत्ता मे हुई थी और तत्पश्चात् उसका विस्तार उत्तर प्रदेश व अन्य राज्यो के कुछ स्थानो मे हुआ। भारतीय बैलो की आँते स्पेन, स्विट्जरलैण्ड और जर्मनी को निर्यात की जाती है। इसके अलावा १८ दिसम्बर १९६३ को दिल्ली मे भारत सरकार और पोलैण्ड सरकार के प्रतिनिधियो के बीच हुए भारत-पोलैण्ड व्यापार और भुगतान सम्बन्धी समझौते के अनुसार पोलैण्ड को भी इनका निर्यात किया जा रहा है। विदेशो मे भारतीय पशुओ की आँतो की बहुत माँग है।

वहा इनमे सभी प्रकार की कबाब, चटनियाँ आदि डाल कर तैयार की जाती है। पशुओ की आँते पशुओं के ऐसे उप-उत्पादन है जिनका भारत मे निर्यात होता है और विदेशी मुद्रा का अर्जन। जहाज के लदान हेतु उनका परिमाण कम से कम ३५–४० गाँठे होना चाहिये, हा, आयातक के सौदे के मुताबिक उनका परिमाण कम-ज्यादा भी हो सकता है। गाँठो पर वही विवरण होना चाहिये जो बीजक तथा जहाजरानी सम्बन्धी अन्य कागजातो मे हो। इसके अलावा गन्तव्य स्थान पर माल की पहचान के लिए माल पानेवाले के निर्देशानुसार अन्य आवश्यक चिन्ह भी लगाने चाहिये।

पशुओ की आँतो के निर्यात के लिए १९४७ के आयात और निर्यात (नियत्रण) अधिनियम के अन्तर्गत स्विट्जरलैण्ड सहित सभी अनुमत गन्तव्यो के लिए निर्यात लायसेस की आवश्यकता नही है। तथापि, भारत सरकार के प्रमुख आयात-निर्यात नियत्रक (वाणिज्य और उद्योग मत्रालय) से लिखित अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।

प्रमाण-पत्र

जहाज पर लदान से पहले पशु-आँतो के सम्बन्ध मे स्वास्थ्य प्रमाण-पत्र लेना आवश्यक है। प्रत्येक परेषण के लिए स्वास्थ्य प्रमाण पत्र नगरपालिकाओ और नगर निगमो के सक्षम अधिकारी तथा पशु-चिकित्सक देते है।

पशु-आँतों को जहाज पर लादने से पहले १९२३ के, कस्टम सम्बन्धी औपचारिकताओ को सरल बनाने से सम्बद्ध, 'इण्टरनेशनल कन्वेशन' के अनुच्छेद ११ के अन्तर्गत इस बारे मे प्रमाण-पत्र लेना पडता है कि माल किस देश से लादा गया तथा उसमे निर्यातको व माल प्राप्त करनेवाले का नाम और माल का विवरण भी होना चाहिये। उद्गम सम्बन्धी प्रमाण-पत्र दने के लिए चेम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, एक्सपोर्ट प्रोमोशन कॉउन्सिल्स और अन्य अधिकार प्राप्त वाणिज्य सघ सक्षम सगठन है।

जहाज पर लादने से पूर्व 'सुपरिण्टेण्डेसी कपनी ऑफ इण्डिया (प्रायवेट) लिमिटेड', नम्बर डी ३०६, डिफेन्स कालोनी, नयी दिल्ली अथवा राज्यो मे उसकी शाखाओ मे निरीक्षण प्रमाण-पत्र की आवश्यकता पडती है, जिसमे यह प्रमाणित किया जाय कि पशु-आँते अच्छी अवस्था मे है। यह पमाण-पत्र १९६३ के निर्यात (मानक नियत्रण और निरीक्षण) अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त करना आवश्यक है।

पशु-आँतो की गाठे जब निर्यात के लिए तैयार हो तब माल प्राप्त करनेवाले की सूचना के अनुसार निर्यातक को माल का बीमा करवाना पडता है। निर्यात जोखिम बीमा करवाना भी वाछनीय है। पशु-आँतो की गाँठा का बीजक मद्रास, कोचीन, बम्बई अथवा कलकत्ता मे जहाज तक निशुल्क (एफ ओ बी) बनाया जाता है। आँते प्राय अन्तिम, सम्पुष्ट और अटल उधार-पत्र के अनुसार भेजी जाती है। यह उधार-पत्र दर्शनी हुण्डी के समान होता है, जिसकी अदायगी दिखाने पर करनी होती है।

भारतीय पशु-आँतो के लिए स्पेन प्रमुख विदेशी बाजार है। यदि परेषण यानी माल 'अमेरिकन एक्सपोर्ट एण्ड इस्ब्रैण्ड्सेन लाइन्स' से कोचीन से भेजा जाता है तो वह बर्सेलोना अथवा वेलेन्सिया या स्पेन के अन्य किसी भी बन्दरगाह पर ८ से १२ दिन तक मे पहुँच जायेगा। अगर वह मद्रास से भेजा जाय तो स्पेन के बन्दरगाहो तक पहुँचने मे उसे ३० से ४५ दिन तक का समय लग जायेगा, क्योकि कभी-कभी माल को विभिन्न बन्दरगाहो पर उतारा-चढाया जाता है।

भारतीय पशु-आँतो को 'आगमार्क' के अनुसार श्रेणीबद्ध कर प्रमाण-पत्र देने का सवाल भारत सरकार के विक्रय-व्यवस्था और निरीक्षण निर्देशालय (कृषि विभाग) मे विचाराधीन है।

लम्बाई के अनुसार आतो को अलग-अलग छाँट लेने के बाद जो बेकार आँत बच रहती है उन्हे रासानियक ढग से पीस कर कार्बनिक खाद बनायी जा सकती है। नयी दिल्ली स्थित भारतीय कृषिक अनुसधान सस्था ने परीक्षण करने के बाद यह प्रमाणित कर दिया है कि रासायनिक ढग से पेषित बेकार आँतो मे दस प्रति शत नाइट्रेट होता है।

मद्रास ४ फरवरी १९६४

मुर्शिदाबाद का हाथी दांत शिल्प

कमल बनर्जी

पश्चिम बगाल में मुर्शिदाबाद जिले के हाथी दात उद्योग का दो शताब्दी पुराना इतिहास काफी दिलचस्प है। किन्तु वर्तमान में इस उद्योग के समक्ष समुचित मूल्य पर हाथी दात की पर्याप्त पूर्ति तथा तैयार वस्तुओ के विक्रय की समस्या है।

मुर्शिदावाद जिले का हाथी दात शिल्प समूचे भारत मे और विदेशो मे भी उतना ही मशहूर है, जितना जिले का रेशम उद्योग। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य (१८५१ मे) लदन की प्रदर्शिनी मे रखी गयी मुर्शिदाबाद की बनी हाथी दात की वस्तुओ की सराहना करते हुए प्रोफेसर रायले (Royle) ने १८५२ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक मे लिखा था

"भारत के विभिन्न हिस्सो से हाथी-दात-शिल्प के नमूने भेजे गये है, जो आकार की सूक्ष्मता, विवरण की सुसम्पन्नता या रूप-चित्रण की यथार्थता की दृष्टि से बडे ही मुग्धकारी है। इन सब मे बरहमपुर का शिल्प विशेष उत्कृष्ट है वहॉ चित्रित हाथी एवम् अन्य पशुओ के स्वरूप इतने स्वाभाविक है कि उन्हे वास्तविक कलाकारो की ही कृति समझनी चाहिये और उन्हे महज हस्त-कौशल की श्रेणी मे रखने की बजाय उत्कृष्ट कला की श्रेणी मे रखना चाहिये।"

दो शताब्दी पुराना शिल्प

सन् १८८८ मे लदन की प्रदर्शिनी मे फिर से मुर्शिदाबादी हाथी-दात-शिल्प को भारत मे सर्व श्रेष्ठ होने की सनद मिली। 'समस्त सच्ची भारतीय कला की परिपूर्णता, सूक्ष्मता तथा विदग्धता' के लिए उनकी प्रशसा की गयी।

आज दिल्ली, अमृतसर, जयपुर, मुर्शिदाबाद तथा त्रिवेन्द्रम मे हाथी-दात का शिल्प चल रहा है। मुर्शिदाबादी शिल्प मे विशेषता यह है कि एक खास वर्ग के लोग पीढी दर पीढी से इसी काम को करते आ रहे है और वे मुख्यत मुर्शिदावाद जिले के बरहमपुर और जिआगज नामक स्थानो मे ही रहते है। लगभग दो शताब्दी पहले बगाल के नवाबो के जमाने मे १८ वी सदी मे मुर्शिदाबाद तीन पूर्वी सूबो की राजधानी थी। हाथी-दॉत का शिल्प वहॉ उसी जमाने से शुरू हुआ। उससे पहले का कोई ऐसा प्रत्यक्ष सबूत नही मिलता कि बगाल मे यह शिल्प पहले से मौजद था।

शिल्प की शुरुआत

बगाल मे नवाबो के जमाने मे इस उद्योग की शुरुआत किस प्रकार हुई, इसके सम्बन्ध मे अनेक दिलचस्प कहानियॉ है। एक दतकथा के अनुसार एक दिन बगाल के नवाब ने कान कुरेदने के लिए कोई चीज मागी। किसी ने घास की एक तिली लाकर उन्हे दी। किन्तु नवाब को वह चीज पसद नही आयी, क्योकि बगाल, बिहार और उडीसा का नवाब-ए-नाजिम अपनी शान-शौकत को देखते हुए उस छोटी-सी चीज को कसे पसद करता! उन्होने हाथी दात की कान-कुरेदनी बनवाने की माग की, जिसके लिए दिल्ली से एक हाथी दात का शिल्पकार बुलाया गया और मुर्शिदाबाद मे उसने अपना काम शुरू किया। उस शिल्पकार का नाम अब तक अज्ञात है, पर उस नवाब-ए-नाजिम का नाम सुजाउद्दीन था, जो मुर्शिदाबाद के बसानेवाले नवाब मुर्शिद कुली जाफर खॉ का दामाद था। नवाब सुजाउद्दीन शान-

शौकत का प्रेमी था और बहुत-से लोगो का विश्वास है कि उसी ने हाथी दाँत के शिल्पकारो को मुर्शिदाबाद मे लाकर बसाया था।

शिल्प का विस्तार

दिल्लीवाला शिल्पकार बडा ही चतुर व्यक्ति था। वह सूबे की राजधानी मे किसी अन्य व्यक्ति को अपना शिल्प सिखाना नही चाहता था। वह अपना दरवाजा भीतर से बन्द करके काम करता था, किन्तु एक हिन्दू भाष्कर छिप कर एक छिद्र से रोज उसके काम करने के तरीको को देखता रहा और उसके शिल्प को समझ लिया। उस भाष्कर का नाम तुलसी खटुम्ब था, जो आगे चल कर हाथी दात शिल्प मे पूर्ण निपुण प्रसिद्ध हुआ। उसने अपने पुत्र को शिल्प की शिक्षा दी, जो बाद मे अपने पिता से भी आगे बढ गया और नवाब के दरबार मे हाथी-दाँत का शिल्पकार नियुक्त हुआ। इस प्रकार मुर्शिदाबाद के हाथी दात के शिल्पकार तुलसी खटुम्बा का नाम बडी श्रद्धा से लेते है, और जब भी उसका नाम जीभ पर आता है, वे बडी विनम्रता से अपने माथे छूकर उसके प्रति सम्मान अभिव्यक्त करते है।

तुलसी खटुम्बा का बेटा बडा ही मशहूर शिल्पकार हुआ। नवाब ने उसे अनेक प्रकार से सरक्षण दिया था। एक बार तीर्थयात्रा के सिलसिले मे वह उत्तरी भारत गया तो नवाब ने उसके साथ अगरक्षक भेजे, ताकि तीर्थ-यात्रा पूरी कर वह मुर्शिदाबाद आ जाये। नवाब यह नही चाहते थे कि वह मुर्शिदाबाद छोड कर कही बाहर जाय, किन्तु उसने किसी तरह तीर्थ यात्रा पर जाने की व्यवस्था कर ली और १७ वर्षो के बाद मुर्शिदाबाद लौट कर आया। घर पर वापस आते ही नवाब ने उसे दरबार मे बुलवाया और स्वर्गीय नवाब की प्रतिमूर्ति तैयार करने की आज्ञा दी। तुलसी के बेटे ने तन्मय होकर इतनी सजीव प्रतिमा तैयार की कि उसके शिल्प पर मुग्ध होकर नवाब न उसे महाजन टोली मे एक निवासगृह प्रदान किया और तीर्थयात्रा मे जो १७ वर्ष लगे थे उसका पूरा वेतन भी उसे देने का हुक्म दिया। उसके बाद मुर्शिदाबाद जिले मे इसी परिवार के वशधरो तथा सम्बन्धियो ने हाथी दात शिल्प को जारी रखा। उन्ही भाष्कर वर्ग के लोगो का इस कारोबार पर एकाधिपत्य है।

दरबारी संरक्षण

उस जमाने मे हाथी दात शिल्प समृद्धि के लिए वैभवशाली नवाबो तथा धनी दरबारी रईसो के सरक्षण पर निर्भर था, और इसी वजह से निजामत खत्म हो जाने के बाद धीरे-धीरे उसका भी ह्रास होने लगा। कर्नल क्लाइव ने सन् १७५९ मे नवाब मीर जाफर अली खाँ को जब मोम की बनी वस्तुएं भेंट की तो नवाब ने भी हाथी दात की वस्तुएँ उन्हे प्रदान की। इतिहास प्रसिद्ध महाराजा नदकुमार को भेंट की गयी हाथी दात की मजूषा अब भी उनके वशधरो के पास मौजूद है। मुर्शिदाबाद के किला निजामत मे हाथी दात के बने हौदे और पालकी जैसे बडे-बडे नमूने अब भी सुरक्षित रखे है। वहाँ के इन शिल्पकारो के कौशल की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गयी थी। नवाब नाजिम हुमायू जा न (१८२४–१८३८) इग्लैण्ड के बादशाह विलियम चतुर्थ को नवाबी महल का हाथी दात का बना एक नमूना पेश किया था। वह नमूना स्थानीय शिल्पकार सागर मिस्त्रीने तैयार किया था।

कासिमबाजार के वैभव सम्पन्न दिनो की बात तो दूर रही, सन् १८११ मे भी, जब वह नगर बडी तेजी से गहन अधकार मे डूबता जा रहा था कासिमबाजार अपने रेशम, कोरा तथा हाथी-दात शिल्प के लिए मशहूर था। उन दिनो कासिमबाजार मे तथा उसके आसपास हाथी-दात के बहुत-से शिल्पकार रहा करते थे, किन्तु बगाल मे कासिमबाजार की मडी का महत्व कम हो जाने के बाद भाष्करों के परिवार बरहमपुर तथा अन्य स्थानो को चले गये। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे मुर्शिदाबाद के हाथी-दात शिल्पकारो को इग्लैण्ड तथा यूरोप के अन्य शहरों मे प्रदर्शनियो के लिए उनके शिल्प के बहुत-से नमूने देने के लिए सरकारी आर्डर मिला करते थे, किन्तु बाद के वर्षो मे यह सरकारी खरीद बन्द हो गयी और ऐसी व्यवस्था की गयी कि विदेशो मे प्रदर्शन के लिए राजाओ, महाराजाओ, नवाबो तथा रईसो से हाथी-दात की वस्तुएँ उधार लेकर बाहर भेजी जाने लगी। कासिमबाजार के महाराजा के पास ऐसी वस्तुओ का बहुत बडा सग्रह था, जिनमे ताजमहल, कुतुबमीनार तथा अन्य ऐतिहासिक भवनो के प्रतिरूप भी थे। छडी के बेट, नेकलेस, शतरज के मोहरे, चूडियाँ, लॉकेट, कुरिश, कघियाँ तथा पौराणिक हिन्दू कथाओ के अनुसार विभिन्न देवी-देवताओ की मूर्तियो के प्रतिरूप आदि उन घरो मे प्राय मौजूद रहते थे, जो भारत तथा विदेशो की प्रदर्शनियो मे दिखाये जाते थे।

उद्योग का ह्रास

श्री जी सी दत्त ने **बगाल मे हाथी दात शिल्प** पर अपने निबध मे १९०१ मे लिखा था

"पिछले ३० वर्षो के अदर मुर्शिदाबाद शहर के समीप मथरा, दौलतबाजार तथा रनसागर गॉवो मे यह उद्योग प्राय मर गया है। तीस साल पहले मथरा गॉव मे हाथी दात की वस्तुएँ तैयार करनेवाले ३० परिवार थे और अभी १२ साल पहले तक करीब एक दर्जन परिवार थे। उनमे से बहुत-से तो मलेरिया से मर गये और जो बचे, वे बालूचर (जियागज), बरहमपुर तथा अन्य स्थानो को चले गये। इन दिनो मथरा मे एक भी भाष्कर नही रह गया है और जिले भर मे कुल मिला कर २५ हाथी दात-शिल्पकार है।"

इन दिनो हाथी दात शिल्प उद्योग मुख्यत खगरा (बरहमपुर) तथा एनाटोली बाग (जियागज) मे ही केन्द्रित है। इनमे भाष्कर नामधारी परिवारो की कुल सख्या २० के करीब है और हाल की गणना के अनुसार बूढे और जवान कुल ५० शिल्पकार ही यह कार्य करते है।

शिल्प की तकनीक

इस शिल्प की सब से बडी विशिष्टता है खुदाई की सूक्ष्मता तथा जोडो का न होना। शिल्पकार अपने काम के लिए प्राय ८० प्रकार के औजारो का उपयोग करता है। मुर्शिदाबादी शिल्प की सब से बडी विशेषता यह है कि कोई एक स्वरूप बनाने मे कही जोड नही होता, बल्कि देवी का रूप बनावे या हाथी का, हाथी-दाँत के सिर्फ एक ही टुकडे को तराश कर बनाते है। वे टुकडे जोड कर मूर्ति बनाना पसद नही करते। भारतीय और अफ्रीकी, दोनो हाथियो के दात वे उपयोग मे लाते है, पर श्वेत रग और नम्र होने की वजह से भारतीय दातो को अधिक प्रश्रय देते है। उनका खयाल है कि अफ्रीकी हाथियों के दात कडे होते है और इस कारण छेनी की चोट पर कडक जाते है, किन्तु विशेषज्ञो का कहना है कि अफ्रीकी

हाथियो के दात अनेक बातो मे भारतीय दातो मे श्रेष्ठ है।

दांतो की पूर्ति

उपयुक्त मल्य पर हाथी-दॉतो की पूर्ति तथा तैयार वस्तुओ के विक्रय की समस्या इन शिल्पकारो के समक्ष है। हाल ही मे पश्चिम बगाल सरकार के उद्योग निर्देशालय तथा अखिल भारत दस्तकारी मण्डल ने इन बातो के लिए उनकी सहायता करना शुरु किया है। प्रत्येक हाथी-दात शिल्पकार को अफ्रीकी तथा भारतीय हाथियो के दातो की पूर्ति करने की व्यवस्था की गयी और पिछले वर्षो मे दस्तकारी मण्डल ने प्रत्येक शिल्पकार को एक-एक हजार रुपये के दात दिये। किन्तु दातो की कमी की वजह से पूर्ति की मात्रा कम

है ...।
ऐ ...
ऐ ...
ज ...
अ ...
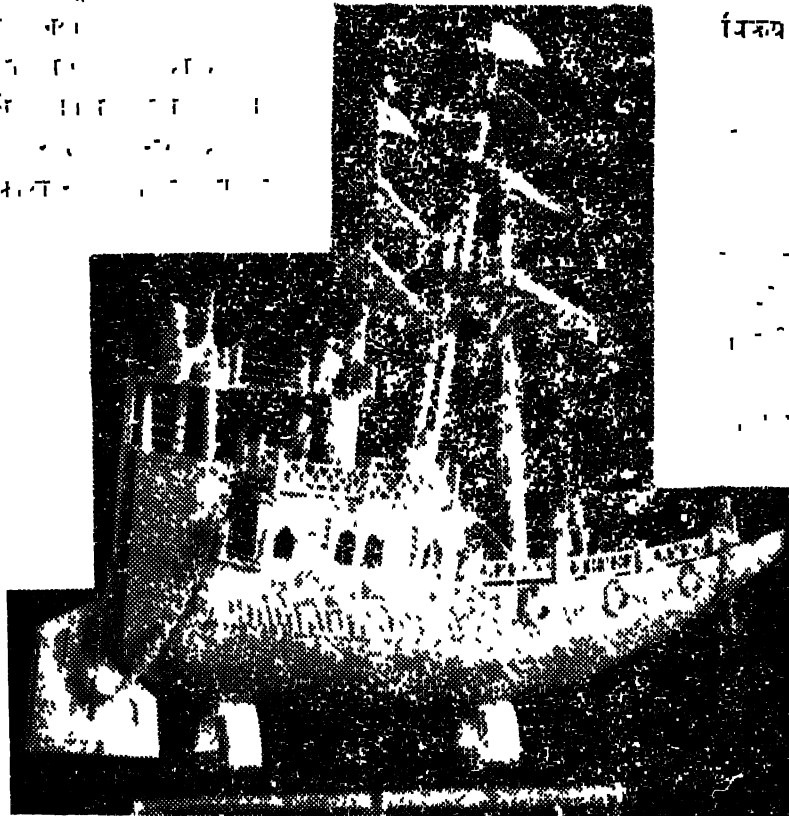
करने के लिए लायसेस दे। ऐसा भी प्रस्ताव है कि पूर्वी अफ्रीका मे दातो का आयात करके पश्चिम बगाल लघु उद्योग निगम लिमिटेड के जरिये उसका वितरण किया जाय। अफ्रीकी हाथी-दातो के आयात करनेवाले ऐसे लोग, जो जमे हुए है, बम्बई मे है। कलकत्ते मे उसे मॅगा कर शिल्पकारो की पूर्ति करने की व्यवस्था अब तक नही है। फिर ऐसा भी है कि बम्बई के व्यापारी खुले बाजार से खरीद करने के बाद ऊॅचे दामो पर बेचते है। सरकारी दर के मुताबिक प्रति किलोग्राम हाथी-दात का मूल्य ६० रुपये है, जबकि खुले बाजार मे उसकी कीमत ८० रुपये से १०० रुपये के बीच घटती-बढती रहती है।

...की समस्या

...ल भारतीय दस्तकारी ... राज्य उद्योग निर्देशालय ... सालाना २५ हजार ... हाथी दात की वस्तुएँ ... है और कभी-कभी ... को भेजने के लिए ... खरीद भी करता है। यह सब मिला कर ... खरीद ४० हजार रुपये से अधिक नही होती। ऐसी अवस्था मे शिल्पकारो की अपनी वस्तुएँ कम कीमत पर शिल्प वस्तु विक्रेताओ के हाथ बेचनी पडती है। इन दिनो बरहमपुर मे हाथी-दात शिल्पकारो के

कम से कम ५ परिवार है, जो सालाना लगभग ६० हजार रुपये की वस्तुएँ तैयार करते है। पन्द्रह के करीब और भी परिवार है। वे भी करीब ६० हजार रुपये की चीजे बनाते है। अपनी तैयार वस्तुओ के विक्रय की समस्या मुर्शिदाबाद के शिल्पकारो की, जिन्होने अनेक कठिनाइयो के बावजूद अपने पैत्रिक धन्धे को सहेज कर रखा है, सबसे बडी समस्या है।

मुर्शिदाबाद, १३ सितम्बर १९६३ ●

भारत में तिलहन पेराई उद्योग

तरलोचन सिंह

तेल उद्योग के घानी और मिल क्षेत्र मे स्पर्धा होने के कारण देश मे घानियो की कुल सख्या, पशु गणना के अनुसार १९५१ की ४,४५,३४६ से घट कर १९६१ मे २,५०,४५३ हो गयी है। ग्रामीण तेल उद्योग के सामने एक प्रमुख समस्या है घानी तेल की अधिक लागत। तिलहन व तेल की पूर्ति और वितरण के लिए सहकारी समितियो के सगठन के जरिये बिचवानियो से नमस्कार करने मे यह लागत किसी हद तक कम की जा सकती है।

तिलहन पेराई भारत का एक महत्वपूर्ण उद्योग है, क्योकि विभिन्न वानस्पतिक तेल उद्योगो के लिए कच्ची सामग्री और खाद्य दोनो ही कामो के लिए यह महत्वपूर्ण है। वानस्पतिक तेलो के लिए न केवल भारत मे विस्तृत घरेलू बाजार ही है, बल्कि इस सम्बन्ध मे विस्तृत विश्व बाजार भी उपलब्ध है। इसलिए घरेलू खाद्य तथा उद्योगो सम्बन्धी आवश्यकता पूरी करने और विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता की दृष्टि से इस उद्योग के विकास का महत्व है।

स्थानीय कच्ची सामग्री

भारत ससार मे एक प्रमुख तिलहन उत्पादक देश है और उसकी कृषिक अर्थ-व्यवस्था मे तिलहन की फसलो का एक महत्वपूर्ण स्थान है। देश मे कई किस्म के तिलहनो की खेती होती है, किन्तु उनमे पाच प्रकार के तिलहन प्रमुख है। उनके नाम है मूँगफली, तिल, राई और सरसो, अलसी तथा अरण्डी। पिछले वर्षो मे तिलहनो के समग्र उत्पादन का झुकाव ऊपर की ओर रहा है। उक्त पाँचो किस्मो के तिलहनो का उत्पादन १९५९-६० मे ५८ लाख ८५ हजार टन हुआ था। उसमे सुधार हुआ और १९६२-६३ मे उत्पादन ६७ लाख ६६ हजार टन हुआ। तालिका १ उक्त पाँच प्रमुख तिलहनों का पिछले चार वर्ष का उत्पादन दिखाती है।

वर्ष १९६२-६३ के दौरान ४०,९४३ टन तिलहन का निर्यात हुआ। इस प्रकार हमारे अपने उपभोग के लिए

तालिका १

तिलहन उत्पादन

(हजार टन मे)

तिलहन	१९५९-६०	१९६०-६१	१९६१-६२	१९६२-६३
मूँगफली	३,९४२	४,३९१	४,६११	४,५२०
तिल	३५९	३१६	३७३	४४६
अलसी	४३१	३८९	४४९	४२०
राई व सरसो	१,०४७	१,३३५	१,३१६	१,२७९
अरण्डी	१०६	८९	९९	१०१
योग	५,८८५	६,५२०	६,८४८	६,७६६

६७,२५,०५७ टन तिलहन ही बचे, क्योकि उस वर्ष कुल उत्पादन ६७ लाख ६६ हजार टन ही हुआ था। खोपरे के अतिरिक्त—जो प्रस्तुत विश्लेषण मे शामिल नही है—इस अवधि मे अन्य किसी तिलहन का आयात नही किया गया।

तिलहनो का उपयोग

अधिकाश तिलहन का उपयोग तेल निकालने के लिए होता है, जैसा कि तालिका २ से प्रकट है। तालिका २ मे प्रमुख तिलहनो का अनुमानित उपयोग प्रस्तुत किया गया है।

तालिका २

भारत में प्रमुख तिलहनो के उपयोग का अनुमानित प्रातिशत्य*

तिलहन	निर्यात	बोआई	खाद्य व घरेलू उपयोग	तेल निस्सारण	योग
मूँगफली	० ८	१२ ०	७ ६	७९ ६	१०० ०
तिल्हन	० १	२ ३	१८ ९	७८ ७	१०० ०
राई व सरसो	नगण्य	१ ५	८ ४	९० १	१०० ०
अलसी	नगण्य	५ ०	७ १	८७ ९	१०० ०
अरण्डी	—	५ ९	—	९४ १	१०० ०

*१९६०–६१ को समाप्त होनेवाली त्रिवर्षावधि के दौरान उत्पादन के प्रातिशत्य के रूप मे व्यक्त।

स्रोत इण्डियन ऑयलसीडस जरनल के जुलाई १९६३ के अक मे भारत सरकार के एग्रीकल्चरल मार्केटिंग एडवाइजर एन पी चटर्जी का लेख 'सम एस्पेक्टस ऑफ मार्केटिंग ऑफ आयलसीडस एण्ड देअर प्रोडक्ट्स ।

उक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष उपभोग के रूप मे कुल तिलहन उत्पादन के एक तुच्छ प्रातिशत्य की ही खपत होती है और १९६०–६१ मे प्रमुख तिलहनो का उक्त रूप मे उपभोग करीब १८ प्रति शत था।

तेल पेराई

मोटे तौर पर १९६० मे कुल ६५ लाख २० हजार टन तिलहन उत्पादन मे से करीब ५३ लाख ७२ हजार टन तिलहन पेराई के लिए उपलब्ध थे। उद्योग का फैलाव समूचे देश भर मे है और घानियो मे पेरे जानेवाले तिलहन के परिमाण के सम्बन्ध मे कोई विस्तृत सर्वेक्षण नही किया गया है। इसलिए घानियो मे पेरे जानेवाले तिलहन के प्रातिशत्य की सही-सही जानकारी प्राप्त करना आसान नही है। तिलहन पेराई उद्योग जाँच समिति ने घानियो तथा शक्ति-चालित मिलो मे पेरे जानेवाले तिलहन का जो प्रातिशत्य बताया है, वह तालिका ३ मे दिया गया है।

तालिका ३

घानी तथा मिलो मे पेरे गये प्रमुख तिलहनो का प्रातिशत्य

तिलहन	घानी पेरित	मिल पेरित
मूगफली	२०	८०
तिल्हन	८३	१७
अलसी	३०	२०
राई व सरसो	३७	६३
अरण्डी	—	१००*

* कुछ मात्रा मे इसकी पेराई घानियो मे भी होती है।

स्रोत भारत सरकार के खाद्य और कृषि मन्त्रालय के अर्थशास्त्र और साख्यिकीय निर्देशालय के आयलसीड्स इन इण्डिया १९५६–५७ टू १९६०–६१ में उद्धृत 'दि ऑयलसीड्स क्रशिग इन्क्वायरी कमेटी।'

तालिका ३ मे दिये गये प्रातिशत्य के आधार पर अथवा दूसरे शब्दो मे यह मानते हुए कि उपलब्ध तिलहनो के अमूमन २७ प्रति शत की पेराई घानियो मे और ७३ प्रति शत की मिलो मे हुई, तो हम यह कह सकते हैं कि १९६०–६१ मे १४ लाख ५३ हजार टन तिलहन घानियो मे पेरे गये तथा ३९ लाख १९ हजार टन मिलो मे। जैसा कि ऊपर इंगित किया जा चुका है, यह हिसाब इस मान्यता पर लगाया गया है कि घानियो और मिलो द्वारा तेल पेराई की पद्धति वही रही है, जो तिलहन पेराई उद्योग जाच समिति ने दर्ज की है।

घानी व मिलो मे तेल उत्पादन

घानियो और मिलो मे १९६०–६१ के दौरान २०,१४,४८० टन तेल का उत्पादन होने का अनुमान लगाया जाता है। इसमे से १५,१८,२२० टन मिलो मे पेरा गया और शेष अर्थात् ४,९६,३६० टन घानियो मे। इस परिमाण का हिसाब तेल के उस प्रातिशत्य तत्व के आधार पर लगाया गया है, जो कानपुर स्थित 'हरकोर्ट बटलर टेक्नोलॉजीकल इन्स्टीट्यूट' ने तिलहन पेराई उद्योग जाच समिति के समक्ष पेश किया। भिन्न-भिन्न तिलहनो से मिलो और घानियो द्वारा निस्सारित तेल का परिमाण तालिका ४ मे प्रस्तुत है।

तालिका ४

मिलो व घानियो मे पेरे गये तेल का कुल परिमाण · १९६०–६१

(हजार टन मे)

तिलहन	पेराई के लिए उपलब्ध कुल तिलहन	पेराई		तेल-सम्प्राप्ति का प्रातिशत्य		कुल तेल उत्पादन	
		मिलो मे	घानियो मे	मिलो मे	घानियो मे	मिलो से	घानियो से
१	२	३	४	५	६	७	८
मूगफली	३,४९५ २३ (७९ ६)	२,७९६ १८ (८०)	६९९ ०५ (२०)	४०	३५ ५	१,११८ ४७	२४८ १६
तिल	२४८ ६९ (७८ ७)	४२ २८ (१७)	२०६ ४१ (८३)	४२	३८ ०	१७ ७६	७८ ४४
राई व सरसो	१,२०२ ८४ (९० १)	७५७ ७९ (६३)	४४५ ०५ (३७)	३५	३१ ०	२६४ ७३	१३७ ९६
अलसी	३४१ ९३ (८७ ९)	२३९ ३५ (७०)	१०२ ५८ (३०)	३५	३१ ०	८३ ७७	३१ ८०
अरण्डी	८३ ७४ (९४ १)	८३ ७४ (१००)	—	४०	३६ ०	३३ ४९	—
योग	५,३७२ ४३ (८२ ४)	३,९१९ ३४ (७२ ९५)	१,४५३ ०९ (२७ ०५)			१,५१८ २२	४९६ ३६

टिप्पणी (१) चूंकि परम्परागत और उन्नत घानियो (वर्धा घानियो) मे पेरे गये तेल के परिमाण सम्बन्धी अलग-अलग आँकड़े उपलब्ध नही थे, इसलिए कालम छ मे इन दोनो प्रकार की घानियों से प्राप्त तेल तत्व का औसत प्रातिशत्य दिया गया है। (२) बोआई के लिए बीज, मानवीय उपभोग और निर्यात के लिए जितने तिलहनो के उपयोग होने का अनुमान है वह कुल तिलहन उत्पादन मे से घटा दिया गया है तथा शेष पेराई के लिए उपलब्ध बनाया गया है। (३) कालम २ में कोष्ठक में दिये गये आँकड़े १९६०-६१ के कुल उत्पादन के प्रातिशत्य स्वरूप है। (४) कालम ३ और ४ मे दिये गये कोष्ठक के आँकड़े मिलो तथा घानियो में पेरे गये तिलहनो का प्रातिशत्य दर्शाते है।

आज घानी और मिल विभाग के बीच कडी स्पर्धा पायी जाती है। यहाँ यह बताना उल्लेखनीय है कि देश मे घानियो की सख्या बडी तीव्र गति से गिरी है। सन् १९५१ की पशु-गणना के अनुसार घानियो की कुल सख्या ४,४५,४३६ थी। सन् १९६१ की पशुगणना के अनुसार उनकी सख्या गिर कर २,५०,४५३ हो गयी।

तेल सम्प्राप्ति

तेल मिलो के समर्थन मे एक महत्वपूर्ण दलील यह दी जाती है कि ये अधिक कार्यक्षम है, क्योकि पेराई मे तेल सम्प्राप्ति घानियो की अपेक्षा मिलो मे कितनी ही अधिक होती है। तिलहन पेराई उद्योग जाच समिति ने इस पक्ष की गहराई से जाच की। समिति को तेल सम्प्राप्ति के सम्बन्ध मे कानपुर स्थित 'हरकोर्ट बटलर टेक्नोलॉजीकल इन्स्टीटयूट' ने जो प्रातिशत्य बताया वह तालिका ४ मे दिया गया है।

समिति को दिये गये आकडो को ध्यान मे रखते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि घानियो और मिलो मे पेरे जानेवाले तेल की सम्प्राप्ति के सम्वन्व मे अन्तर पर्याप्त अधिक है, फिर भी अभिनव घानी मे तेल सम्प्राप्ति पुरानी घानियो से ज्यादा होती है। भारतीय केन्द्रीय तिलहन समिति द्वारा किये गये प्रयोगो के अनुसार मूगफली के मामले मे तेल-सम्प्राप्ति का प्रातिशत्य ४१ ६४ रहा है।

घानी विभाग के विरुद्ध एक दूसरी दलील यह दी जाती है कि उसमे उत्पादन खर्च अधिक पडता है। तिलहन पेराई उद्योग जाच समिति ने बताया कि घानी और मिल तेल उद्योग मे तुलनात्मक दृष्टि से औसतन उत्पादन खर्च घानी मे नौ से ग्यारह रुपये तथा मिल मे पॉच से सात रुपये प्रति मन आता है। इस प्रकार मिल और घानी मे उत्पादन खर्चा का अन्तर चार रुपये प्रति मन है।

तेलकार को कच्ची सामग्री मिलने से पहले उसे कई स्थानो मे हो कर गुजरना पडता है। इसमे कुछ अतिरिक्त खर्च भी पडता है और घानियो से तेल पेराई करने मे जो ज्यादा उत्पादन खर्च आता है, किसी हद तक वह इसके लिए जिम्मेदार है। उदाहरणार्थ, साख्यिकीय दृष्टि से यह सिद्ध हो चुका है कि वारगल मे किसान द्वारा उत्पादित तिल जब मद्रास मे तेलकार के पास पहुँचता है तो उसे वह २६ २५ रुपये प्रति मन पडता है। इसमे करीव ८ २५ रुपये इधर-उधर लाने-ले जाने और वितरण खर्च के पडते है। इसके दूसरी ओर मध्य प्रदेश की मिल को जो तिलहन २६ २५ रुपये प्रति मन पडते है उसमे उक्त खर्च लगभग २ २५ रुपये होता है। इसलिए तिलहन तथा तेल को इधर-उधर लाने-ले जाने के लिए सहकारी समितियॉ सगठित कर बिचवानियो को समाप्त करने का सुझाव दिया गया है। इससे किसान और उपभोक्ता का तेलकार के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित होगा तथा मूल्यातर कम किया जा सकेगा।

लागत खर्च

मिल विभाग का कभी-कभी इस विना पर भी समर्थन किया जाता है कि वह मूल्य को स्थायित्व प्रदान करता है तथा फसल कटाई के वक्त थोक रूप मे खरीद कर किसान को भी सहायता करता है। यह कहा जाता है कि चूँकि तेलकारो के पास भाण्डारीकरण सम्बन्धी सुविधाएँ नही है, इसलिए वे यह काम नही कर सकते। इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि सहकारों तथा गोदामो का एक जाल-सा बिछा कर यह समस्या हल की जा सकती है।

घानी विभाग के पक्ष मे सम्भवत जो सबसे बडी दलील दी जा सकती है वह यह है कि वह हजारो ग्रामीणो को विस्तृत रोजगारी प्रदान करता है। रोजगारी देने की घानी मे निश्चय ही अधिक सम्भाव्यताएँ है। तिलहन पेराई उद्योग जॉच समिति के मतानुसार "भारत की वर्तमान विकासावस्था मे यह सबसे महत्वपूर्ण कारण या विचार होना चाहिये तथा घानी उद्योग मे अधिक रोजगारी देने की सम्भाव्यता होने की वजह से उसे यदि देश के कुल वानस्पतिक तेलोत्पादन मे कुछ कमी हो तो भी, प्रत्येक प्रकार का सम्भव प्रोत्साहन दिये जाने की आवश्यकता है।" चूँकि हमारे यहाँ पूजी की कमी और श्रम का बाहुल्य है, इसलिए अधिकाधिक सख्या मे ग्रामीण घानियो का विस्तार किया जाना चाहिये। लेकिन साथ ही मौजूदा घानियो मे, उनके सस्ते और अधिक उत्पादकतावाले नमूनो का निर्माण करके, सुधार करने की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिये।

नयी दिल्ली १३ मार्च १९६४

गरीब देश, आर्थिक विकास और समाज कल्याण

हाल के वर्षो मे 'कल्याणकारी' आर्थिक विचार का विकास हुआ है। उसके साथ ही समाज कल्याण कार्यक्रम सामने आया है। अब तक अर्थशास्त्रियो का ध्यान 'व्यक्ति' के अध्ययन तक ही सीमित रहा है, तथापि, अब 'समाज' के अध्ययन पर जोर है । चूंकि विभिन्न सामाजिक सस्थाओ ने या तो आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया है अथवा मन्द, इस तरह समाज के अध्ययन का अर्थ है विभिन्न सामाजिक सस्थाओ का अध्ययन। यद्यपि सस्थापक अर्थशास्त्रियो (क्लासीकल इकनॉमिस्ट) ने रीति-रिवाज, शासन-प्रणाली, व्यवसाय की स्वतत्रता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण और श्रम विभाजन आदि जैसे सामाजिक तथा सास्कृतिक हेतुओ के अध्ययन पर ध्यान दिया, लेकिन उन्होने यह सोचा कि आर्थिक प्रगति मे कल्याण वाली बात गौण है, क्योकि उन्होने 'व्यष्टि' की आकाक्षाओ का अध्ययन किया 'समष्टि' की आकाक्षाओ का नही—उनका सूक्ष्म उपागम मात्र था।

सस्थापित अर्थशास्त्रीय युग के बाद अर्थशास्त्र के सिद्धात मे अनेक परिवर्तन हुए । मार्शल और पिगू के नेतृत्व मे जब नवसस्थापको (निओ-क्लासिस्ट) ने मानवीय समस्याओ को 'कल्याण' की दृष्टि से देखने की आवश्यकता पर विचार किया तब इसका नवसस्करण हुआ । रोबिन्स, लरनर, सॅम्युअलसन तथा अन्यो ने इनका अनुसरण किया। परेटो ने आर्थिक समस्याओ का समाज कल्याण के सन्दर्भ मे अध्ययन करने मे अन्य व्यक्तियो से कही अधिक, विशिष्ट, दिलचस्पी ली । काल्डोर और हिक्स ने कल्याण प्राप्त करने हेतु सम्पत्ति का पुनर्वितरण करके समाज को पुनर्गठित करने की आवश्यकता पर जोर दिया । सूक्ष्म उपागम से अर्थशास्त्रियो को गरीबी और अल्प विकसित गरीब क्षेत्रो के कारणो की छानबीन करने का प्रश्रय मिला।

विकास अध्ययन, गरीब देश व उनकी दुरवस्था

तालिका १ मे विश्व की आय के वितरण पर एक दृष्टि डालने से गरीब देशो की दुरवस्था का पता चलता है।

तालिका १

विश्व आय वितरण १९४९

(१९४९ मे अमेरिकी डालर की क्रय-शक्ति के अनुसार)

	विश्व आय का प्रातिशत्य	विश्व आबादी का प्रातिशत्य	प्रति व्यक्ति आय
उच्च आयवाले देश	६७	१८	९१५
मध्यम आयवाले देश	१८	१५	३१०
निम्न आयवाले देश	१५	६७	५४

स्रोत आर नर्स प्राब्लेम्स ऑफ कैपीटल फोरमेशन इन अण्डर डेवलप्ड कण्ट्रीज, बासी ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, १९५२। (उक्त तालिका मे विश्व की वह ४० करोड़ आबादी शामिल नही है जिसके लिए राष्ट्रीय आय का तखमीना प्राप्त नहीं है, लेकिन वह आबादी निश्चय ही गरीब देशो मे है।)

इस प्रकार विश्व की दो-तिहाई आबादी की आमदनी ५५ डालर से कम हैं । वे अनवरत गरीबी मे लोहा ले रहे है। तालिका २ मे दिये गये आँकडो से इन तथ्यो की पुष्टि होती है।

तालिका २

विश्व आबादी और आमदनी का वितरण १९४९

	विश्व आबादी का प्रातिशत्य	विश्व आय का प्रातिशत्य	प्रति व्यक्ति सापेक्षिक आय (विश्व १००)
सयुक्त राज्य अमेरिका	६ ५	४० ०९	६२६
पश्चिम यूरोप*	१० ०	२१ ५	२१४
सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ	८ ४	११ २	१३३
शेष यूरोप	६ ४	६ ०	९४
लेटिन अमेरिका	६ ६	४ ४	६६
अफ्रीका	८ ६	२ ०	२४
एशिया	५२ ४	१० ५	२०

* पश्चिमी, मध्य और उत्तरी यूरोप सहित।

स्रोत इकनामिक डेवलपमेण्ट एण्ड कल्चरल चान्स (वर्ष १, १७-अक्तूबर १९५६) मे एस कुजनेत्स का लेख 'क्वाण्टीटेटिव एस्पेक्टस ऑफ दि इकनॉमिक ग्रोथ ऑफ नेशन्स।'

इसके अलावा समाज कल्याण की नीतियो के अनुसरण मे आबादी का दबाव एक अवरोध का काम करता है, क्योकि इस दबाव के सामान्यत तीन रूप होते है (अ) अनेक देशो का मुख्य पेशा खेती है, (आ) अधिकाश देशो मे ग्रामीण बरोजगारी है, और (इ) उच्च जन्मानुपात के कारण प्रति प्रौढ व्यक्ति पीछे आश्रितो की सख्या बढ जाती है । इसके साथ ही मृत्योनुपात के घटने से आबादी और भी बढती है। इस प्रकार गरीब देशो मे श्रम-शक्ति की भरमार है। चूँकि सीमित भौतिक साधन-स्रोतो के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादन कम होने लगता है, इसलिए परिणाम निकलता है विस्तृत पूर्ण और अल्प बेरोजगारी । चूँकि हमारे जैसे देश मे अधिकाश श्रमिक अकुशल है, इसलिए अतिरिक्त श्रम को अन्यान्य धधो की ओर मोडने के लिए अवसरो का निर्माण करने मे अनेक कठिनाइयाँ है।

जैसा कि प्रोफेसर सी वुल्फ और प्रोफेसर एस सी सरफिन* ने कहा है भारत मे पूर्ण और अल्प-बेरोजगारी के कारण वार्षिक रूप से कुल इतने मनुष्य-दिन बेकार जा सकते है जितने कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे समग्र श्रम-शक्ति प्रदान करती है। ऐसा अनुमान है कि कृषिक श्रम-शक्ति का २५ प्रति शत कृषि उत्पादन को बिना कोई आघात पहुँचाये अन्यान्य धधो मे लगाया जा सकता है । गरीब और सम्पन्न देशो की आबादी के स्वरूप से एक दूसरी बात सामने आती है कि गरीब देशो की कुल आबादी मे ज्यादा सख्या छोटी उम्रवालो की है और सम्पन्न देशो की अपेक्षा वहाँ आयुमान काफी कम है। अनुमान लगाया जाता है कि १५ वर्ष से कम लोगो की सख्या एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका मे ४० प्रति शत है, जबकि सयुक्त राज्य अमेरिका मे २५ तथा ग्रेट ब्रिटेन मे २३ प्रति शत । नव जात शिशु की औसत आयु भारत मे ३२ वर्ष है, जबकि नार्वे मे यह औसत ६९ वर्ष, सयुक्त राज्य अमेरिका मे ६६ वर्ष तथा ग्रेट ब्रिटन मे ६७ वर्ष है। निस्सन्देह गरीब और सम्पन्न देशो मे उपभोग का जो स्वरूप है उसका व्यक्तियो की आयु पर निश्चित प्रभाव पडता है, और समाज व्यक्तियो से ही बनता है ! तालिका ३ मे यह सहसम्बन्ध प्रस्तुत किया गया है।

* सी वुल्फ और एस सी सरफिन कैपीटल फोरमेशन एण्ड फोरेन इन्वेस्टमेण्ट इन अण्डर डेवलप्ड एरियाज, सिरैक्यूस यूनिवर्सिटी प्रेस, सिरैक्यूस, १९५५, पृष्ठ १३-१४।

तालिका ३

चुनिन्दा देशो मे प्रति व्यक्ति कैलोरी : १९५४–१९५५

देश	प्रति दिन कैलोरी	प्रति दिन प्रोटीन (ग्राम मे)
सम्पन्न देश		
आस्ट्रेलिया	३,०४०	९१
कनाडा	३,१२०	९८
डेन्मार्क	३ ३३०	८९
फ्रॉम	२,७८५	९६
पश्चिम जर्मनी	२,९४५	७७
न्यूजीलैण्ड*	३,२९०	९९
नार्वे	३,१४०	९१
स्वीडन	२,९७५	८७
ग्रेट ब्रिटेन	३,२३०	८६
सयुक्त राज्य अमेरिका	३,०९०	९२
गरीब देश		
ब्राजील@	२,३४०	५७
चिली@	२,४९०	७७
मिश्र*	२,३९०	६९
यूनान	२,५४०	८०
भारत*	१,८४०	५०
पाकिस्तान*	२,०२५	५०
पेरू@	२,०८०	५४
रोडेशियन न्यासालैण्ड†	२,६३०	८१
टर्की	२,६७०	८६
वेनेजूएला†	२,२८०	५९

*१९५३–१९५४, @१९५२, †१९५१

स्रोत इयरबुक ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स, १९५५, फूड एण्ड एग्रीकल्चरल आर्गेनाइजेशन, १९५६, तालिका ८०।

इस प्रकार अपौष्टिक और अपर्याप्त आहार की समस्या हल करना जनकल्याण सम्बन्धी प्रयासो का अग है। चूँकि विभिन्न देशो के आहार की पृष्ठभूमि मे रीति-रिवाज, परम्परा, स्वभाव आदि का हाथ रहता है इसलिए इसमे भी सामाजार्थिक हेतुओ की बात आ जाती है। अतएव सस्थात्मक बाधाएँ दूर करनी होगी, ताकि सास्कृतिक परिवर्तन समाज मे समा सके। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज कल्याण की नीति को आर्थिक विकास की नीति के साथ प्रभावशाली रूप मे जोडना होगा तथा यह कि सामाजिक कल्याण और आर्थिक कल्याण एक-दूसरे से जुडे हुए है।

मदुराई : १६ नवम्बर १९६३ —ने. सु. तिरुवेकटाचारी

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था और महिलाएँ

भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की स्थायी अर्थ-व्यवस्था को कृषिक ग्रामीण पद्धति पर आधारित करना होगा। जैसा कि हाल ही मे प्रोफसर पी जे फॉक्स ने कहा है, "विश्व की एक महानतम विभूति मोहनदास गाधी ने महसूस किया कि कृषिक ग्रामीण पद्धति मे एक स्थायित्व है जो औद्योगिक शहरी व्यवस्था मे नही है। जिस ब्रिटेन मे केवल पॉच प्रति शत कर्मी-शक्ति ही खेती मे लगी है, उसका क्या भविष्य होगा, इस सम्बन्ध मे मुझे कुछ सोचना ही नही है। मोटे तौर पर फ्रास की ५० प्रति शत कर्मी शक्ति कृषि मे लगी है। वह इस सुसन्तुलन को अल्जीरिया मे औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करके बदलने के लिए बुरी तरह पागल है। किस प्रातिशत्य मे कर्मी शक्ति कृषि मे रहे, यह एक ऐसी महान समस्या है जिस पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। ब्रिटेन मे इस पर ध्यान दिये जाने की बहुत कम गुजाइश है—उसकी अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह असन्तुलित है—लेकिन इस सम्बन्ध मे सर्वाधिक गुजाइश है भारत मे।"

दीर्घ स्तरीय औद्योगीकरण के अन्तर्गत सभी देशो की आर्थिक प्रगति समान गति से नही होती और चन्द देश दूसरे देशो से बहुत जल्दी आगे बढ जाते है। तब जिन देशो मे औद्योगीकरण हो चुका होता है वे अपने उद्योगो के लिए जिन क्षेत्रो से कच्चा माल प्राप्त होता है उन पर नियत्रण करना या रखना चाहते है। अधिकाधिक भूमि पर नियत्रण करने के इस बनावटी रूप से निर्मित आवश्यकता और आकाक्षा से युद्धो को प्रश्रय मिला है।

प्रकृति ने इस धरा पर चीजो की बनावट सम्भवत कुछ इस ढग से की है कि समग्र मानवता एक है। पृथ्वी के एक हिस्से मे कही अगर सोना है तो दूसरे भाग मे तेल है। किसी एक क्षेत्र की जलवायु खाद्यान्नो की फसल के लिए उपयुक्त है तो दूसरे की मसालो के लिए और किसी तीसरे की रेशे की फसल के लिए। कहा जाता है कि धरती की कुल सम्भाव्य क्षमता स्रोत (खाद्यान्नो, फसलो, खनिजो आदि के स्रोत) इतने है कि वे वर्तमान विश्व जन-सख्या से दुगुनी आबादी के लिए भी कम नही पडनेवाले है। लेकिन व्यावहारिक स्थिति यह है कि सभी प्रकार की भूमि पर खेती नही की जा सकती। कुछ दूरस्थ प्रदेशो से उत्पादनो का लाना–ले जाना भी असम्भव अथवा अलाभदायक है। और, न ही आबादी का दीर्घ स्तरीय स्थानान्तरण शक्य है।

आदिवासी अर्थ-व्यवस्था

यह एक तथ्य है कि राजनैतिक दृष्टि से आजाद होने और वैसा बने रहने के लिए किसी देश के लिए यह आवश्यक है कि वह आर्थिक दृष्टि से भी आजाद हो। और, आर्थिक आजादी के लिए यह आवश्यक है कि छोटी-छोटी आत्मनिर्भरक सामाजिक इकाइयॉ हो। आज भी भारत के कई स्थानो में ऐसी आदिवासी अर्थ-व्यवस्था* पायी जाती है (जैसे मध्य प्रदेश मे) कि वह इस ढॉचे के काफी समीप है। आज आदिवासी अपनी आवश्यकता के खाद्यान्न पैदा करते है अथवा इकट्ठा करते है और अपने घर बनाने के लिए उन्हे वाह्य सामग्री की आवश्यकता नही पडती। बाहर से उन्हे कुछ नमक, कपडा, तेल, साबुन, आदि जैसी चीजे ही खरीदनी पडती है। अनेक हिस्सो मे बदलौन पद्धति जारी है, और कपडे आदि के बदले मे कोई वन्य उत्पादन अथवा अन्न दिया जाता है। आदिवासी महिलाएँ बाजार मे कुछ वन्य उत्पादन, छाल अथवा रेशा आदि लाती है और मसाले, तेल, साबुन आदि उनके बदले मे खरीद लेती है।

स्थानीय जनता का आर्थिक विकास आवश्यक रूप से ही उस क्षेत्र के प्राकृतिक साधन-स्रोतो के उपयोग पर आधारित होना चाहिये। इसी प्रकार उत्पादन का सगठन भी–उदाहरणार्थ सहकारी समितियो के जरिये– वन्य उत्पादनो पर आधारित होना चाहिये। उपयुक्त कुटीरोद्योगो का विकास ही समस्या का एक मात्र समाधान है। सरकार तथा सामाजिक सगठनो ने इस आधार पर कुछ काम शुरू किया है, लेकिन और भी विकास करने की काफी गुजाइश है। हमारे देहातो और आदिवासी क्षेत्रो मे जीवन का जो समरस स्वरूप है वह सुरक्षित रखा ही जाना चाहिये। यद्यपि जीवन की चन्द परमावश्यक सुविधाओ–खास कर व्यक्तिगत स्वास्थ्य और सफाई सम्बन्धी–के क्रमिक समावेश से इन्कार नही किया जा सकता, तथापि उनका आर्थिक ढॉचा आवश्यक रूप से ही आत्मनिर्भर इकाइयो पर आधारित होना चाहिये।

महिलाओं की भूमिका

गॉवो मे स्त्री आदमी की सभी व्यावसायिक गतिविधियो मे–प्रधान रूप से कृषि तथा कताई, बुनाई, कुम्भकारी आदि जैसी दस्तकारियो के क्षेत्र मे–उसकी सगिनी और सहकर्मिणी रही है तथा है। देश की आदिवासी महिलाओ ने जो भूमिका निभाई है वह सर्वविदित नही रही है। इसका कारण यह है कि आदिवासी दूरस्थ स्थानो मे रहते है जो आवागमन के समुचित साधनो से शेष भाग के

* टी एस नाग - ट्रायबल इकनॉमी।

साथ जुडे हुए नही है—सचार के अन्य साधनो की भी कमी है। इनमे कई कल्याणकारी परियोजनाएँ तथा विकास कार्यक्रम शुरू करने से इनमे और देश के अन्य लोगो मे शनै-शनै नये सम्बन्ध स्थापित हो रहे है। यह सम्बन्ध यद्यपि आदिवासियो की भलाई के लिए हैं, तथापि ऐसी बात नही कि उसके बुरे प्रभाव नही पडे है। निहित स्वार्थियो ने इन आदिवासियो तथा अन्य पिछडे वर्गो का शोषण के नये स्रोतो के रूप मे उपयोग किया है।

हैदराबाद मे हाल ही मे सम्पन्न एक सम्मेलन मे इस विषय पर विस्तृत चर्चा हुईहै। सम्मेलन मे इस बात पर जोर दिया गया कि आज एक आदिवासी और बाहर के आदमी के बीच जो सम्बध है वह मात्र शोषक और शोषित का है। यद्यपि यह बात पूर्णत सही नही है तथापि इसमे बहुत कुछ सत्य है। साहूकार आदिवासियो से बहुत सस्ते मे वन्य उत्पादन खरीदते है। इन क्षेत्रो मे प्रचलित माप-तौल के साधन पुराने है। महाजन साधारण साबुन अथवा अन्य कोई बहुत सस्ती चीज अत्यधिक ऊँचे दामो मे बेचता है। पैसा-उधारी अथवा दूर बैठे जमीदार की जमीदारी पहले कभी भी आदिवासी क्षेत्रो मे नही रही है। वह आज इन सामाजिक इकाइयो के स्थायित्व मे और भी कुठाराघात कर रही है। यद्यपि आदिवासियो को शिक्षा देना आवश्यक है, पर निष्ठावान अथवा सुप्रशिक्षित अध्यापक उपलब्ध नही है।

श्रम विभाजन

ये आदिवासी जिन जगलो मे रहते है वहाँ उपयोगी पेड-पौधो और पशु उत्पादनो की भरमार है। वे इन उत्पादनो का अनेक कामो मे इस्तेमाल करते है। आदिवासी महिलाएँ कठोर परिश्रमी और हृष्ट-पुष्ट होती है। जिन स्थानो पर हल का प्रयोग नही होता वहाँ ये महिलाएँ फावडे से जमीन की खुदाई तक करती है। साधारणतया वहाँ श्रम विभाजन है। महिलाए फल सग्रह, मछली पकडने आदि जैसे अपेक्षाकृत आसान काम करती है। आदमी कन्द-मूल खोदते है। (कभी-कभी इसके लिए दो-तीन फुट गहराई तक खुदाई करनी पडती है।) इसके अलावा मरद जहाँ पेड गिराने, उन्हे जलाने और शिकार जैसे काम करेगा वहाँ औरत बोआई तथा कटाई जैसे हलके खेती सम्बन्धी काम और विभिन्न प्रकार के घरेलू कामो मे मदद देगी। सीधी-सादी बुनाई करना, रस्सी बँटना और टोकरियाँ बनाना कुछ ऐसे खास-खास काम है। ये ही तो मुख्यत वे काम है जिनमे अन्तर्निहित प्रतिभा का प्रयोग किया जा सकता है। इसके अलावा फुरसत के समय महिलाएँ और भी अनेक काम कर सकती है।

दुर्भाग्य से कुछ लोग आदिवासियो को जगली और अनुशासनविहीन, असभ्य तथा अभद्र समझते है। यह बात सही नही है। साधारणतया वे बहुत-ही अनुशासित व्यक्ति है। शिष्टता, गलत और सही के सम्बन्ध मे उनके अपने माप-दण्ड है। आदिवासी महिलाएँ कर्तव्यनिष्ठ है और वे अपने समाज के अनुशासन का कडाई से पालन करती है। अपनी परम्पराओ मे उनका अटल विश्वास है।

इस प्रकार की अनुशासित महिलाओ को किसी प्रकार के प्रशिक्षण-सह-प्रत्यक्ष कार्य मे सगठित करना कोई असम्भव नही होना चाहिये। हो सकता है कि प्रारम्भ मे कुछ कठिनाइयाँ आये। जरूरत है उनमे विश्वास भरने और उनकी शक्ति को किसी खास दिशा मे लगाने की।

महिलाओ के सक्रिय सहयोग से कुटीर उद्योगों का सगठन एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है। हमारे देश मे जहाँ अनादि काल से जीवन की सभी दिशाओ मे धार्मिक अथवा सास्कृतिक मूल्यो का बोलबाला रहा है, यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि बुनियादी सामाजिक इकाई, घर की समग्रता बनायी रखी जाय। भारतीय महिलाएँ—यद्यपि भूतकाल मे अशिक्षित—कभी भी अपनी भूमिका निभाने मे पीछे नही रही है, फिर चाहे वह भूमिका घरेलू क्षेत्र मे हो अथवा राष्ट्र की आन की रक्षा करने के क्षेत्र मे। आज शिक्षा और विभिन्न प्रकार के कामो के विस्तार के साथ महिलाएँ, यहाँ तक कि घर से बाहर के क्षेत्र मे भी पदार्पण कर चुकी है और अनेक नागरिक तथा प्रति-

रक्षात्मक कामो मे हाथ बटा रही है । तथापि, भारत के गॉवो मे महिलाओ की सख्या को देखते हुए यह मानना पडेगा कि आदमी के साथ कधे से कधा मिला कर काम करनेवालियो की सख्या तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम है। इस सम्बन्ध मे भिन्न मत भी है कि दफ्तरो मे काम करनेवाली महिलाओ का हमारे सामाजिक स्वरूप तथा परिवार के स्थायित्व पर क्या प्रभाव पडेगा।

पुरुष पहले से ही गॉवो से शहरो मे औद्योगिक श्रम, सडक निर्माण तथा अन्य काम-धधो की ओर खिचे जा रहे है । यदि महिलाओ को भी इसी ओर घसीट लिया गया तो इस प्रकार की घटनाएँ सामने आयेगी—गॉवो का शून्य हो जाना, घरो की वदली शहरीकरण, शहरो मे आबादी का जमाव, गन्दी बस्तियो का बस जाना, ऊँची कीमते और वस्तुओ की कमी, यहॉ तक कि घर-वार का टूट जाना अथवा बेघरबार हो जाना और अनेक ऐसी सामाजिक बुराइयो का खडा हो जाना जिनका कोई अन्त नही।

अतएव यह प्रयास किया जाना चाहिये कि ग्रामीण महिलाओ को उनके गॉवो मे ही कर्मी वर्गो मे सगठित किया जाय। इससे इस जन-शक्ति के परिपूर्ण उपयोग, जगलो के प्राकृतिक साधन-स्रोतो के उपयोग और एक अधिक स्थायी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना को प्रश्रय मिल सकता है।

कलकत्ता १२ फरवरी १९६४ —सत्या कुमारी

धान की हाथ कुटाई व सेलीकरण

चावल खानेवाले पूर्व के सभी देशो मे बेरीबेरी नामक एक रोग होता है । तथापि, भारत मे मलाया, हिन्द चीन, थाईलैण्ड, जापान और फिलीपाइन्स की अपेक्षा यह बीमारी सदैव ही कम रही है । भारत मे स्थानिक रोग के रूप मे यह उत्तर-पूर्वी समुद्र तट के एक छोटे क्षेत्र—गजम, विशाखापट्टम, गोदावरी, कृष्णा, गुन्तूर और नेल्लूर जिलो सहित उत्तरी सरकार के इलाके—तक सीमित है । देश के दूसरे हिस्सो मे यह बीमारी आकस्मिक रूप से ही होती है। यद्यपि जिन क्षेत्रो मे यह बीमारी फैलती है, उनकी जनसख्या भूतपूर्व के मद्रास की कुल जनसख्या की ३० प्रति शत है, तथापि बेरीबेरी की बीमारी ९५ प्रति शत इन्ही क्षेत्रो मे ही होती है। मद्रास मे बेरीबेरी की बीमारी होनेवाले क्षेत्रो और चावल खानेवाले अन्य क्षेत्रो के लोगो के भोजन की प्रकृति मे यह आवश्यक फर्क है कि जहॉ मद्रास के पहले के क्षेत्रो मे कच्चा चावल पका कर खाया जाता है वहॉ उसके (मद्रास) बाकी क्षेत्रो मे और बगाल, असम, बिहार तथा उडीसा मे आम तौर पर उसना चावल पका कर खाया जाता है । चावल से बेरीबेरी रोग फैलने के कारण इस बात से स्पष्ट होते है कि उसना चावल मे विटामिन बी१ होने से वह कच्चे चावल से श्रेष्ठ होता है।

खोज

मलय राज्यो मे फ्लेक्थर (Flecther) ने १९०७ मे, फ्रेजर (Fraser) और स्टेण्टन (Stanton) ने १९०९ मे तथा चेम्बरलेन (Chamberlain) ने १९११ मे फिलीपाइन्स द्वीप समूह मे आहार से बेरी-बेरी रोग होने के बारे मे प्रयोग किये। तब १९३२ मे अक्रायड (Aykroyd) की खोजे सामने आई। ब्रेडन (Braddon) ने मलय सघ के राज्यो मे खोज कार्य करते हुए यह पता लगाया कि मलाया मे चीनी और तमिल प्रवासियो की बेरीबेरी रोगो की ग्रहणशीलता बहुत भिन्न थी। चीनी लोग इस रोग से बहुत अधिक ग्रस्त थे जबकि तमिल भाषियो पर इसका प्रभाव इसलिए नही पडा कि वे धान की भूसी उतारने से पहले उसे उसना कर लिया करते थे।

इन खोजो से धान को उसना करने के रिवाज की प्राचीनता की जानकारी होती है । सैकडो वर्ष पहले

मलाया जाते हुए तमिल जन दक्षिण भारत मे धान को उसना करने के तरीके का ज्ञान भी अपने साथ ले गये होगे। तमिल भाषा मे भोजन पकाने के दो शब्द है। वे है पोंगल (पर्याप्त भर पानी से भोजन पकाना), और वडितल (अतिरिक्त पानी नितारना)। पोंगल हमेशा कच्चे चावल से सबधित है और वडितल उसना चावल से। प्राचीन तमिल साहित्य मे उसना चावल के उपयोग के बारे मे एक अप्रत्यक्ष जिक्र इस प्रकार है

चोरू आक्कीय कोलुकजि यारूपोल परतोलुकि
–पहिनप्पालै (४४–४५)

इस उद्धरण मे यह कहा गया है कि यात्रियो और साहित्यकारो को मन्दिर के समीप सदाव्रत (*मडम्स*) बॉटा जा रहा था। वहाँ से भोजन पकाने के बाद जो पानी फेक दिया गया था उसकी नदी बह रही थी। वहाँ गाय और बैल पानी पीने के लिए आये और बैलो आदि मे लडाई हो गयी। इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सदाव्रत बॉटने के इन स्थलो पर उसना चावल का उपयोग किया गया था।

उसना करने के बारे मे एक दूसरा जिक्र है

देले पुलुकल नेल्लिन् पोरी वीलोत्तेन्न नुण्कुलिप्पुहिन मगका।लईल –ऐकुरू नुरू (१४३)

इस कविता मे यह बताया गया है सफेद उसना धान से चावल की भूसी (पोरी) अलग की गयी।

एक दूसरी कविता मे कहा गया है

अकन्कर वियन्मुद्दतु चुडर नुतन मडनोक्कि नेरिलै मकलिर उमाकुणा कवरू कोलियेरित
–पहिप्पालै (२०–२५)

इसमे स्त्रियो द्वारा अपने घरो के सामने उसना धान को सुखाने का वर्णन है। वे उन मुर्गो को भगा रही है जोकि उनका धान खाने के लिए आ टपके थे। सेली-करण यानी उसना धान के बारे मे एक दूसरा प्रसग इस प्रकार है

अरि चेत्तुणकिय पेरूचेनेल्लिन तेरिकोल आरिशि तिरल नेड पुल्नक्कल –पेरूपाणाहुप्पडै (४७३–४७४)

इस कविता मे लाल रग के उसना धान का वर्णन है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आदि काल से ही धान को उसना करने का रिवाज प्रचलित है।

त्रिवेन्द्रम्, २ जनवरी १९६४ –तो. मी. सुन्दरम

इस तरह के प्रखर बुद्धिवाले लोगोके सम्बन्ध मे दूसरी कठिनाई यह है कि उच्च स्तर के प्रज्ञावान अधिक नही है। १९० के प्रज्ञा स्तर पर आर्किमेडीज, न्यूटन और गॉस को गिना जा सकता है, जिनका प्रादुर्भाव प्राय. ५०० वर्षो के बाद ही हुआ करता है। आबादी में हाल की वृद्धि तथा खोज के क्षेत्र में जानेवाले लोगो के प्रातिशत्य में वृद्धि से ऐसे लोगो की ज्यादा गिनती हो सकती है। (किसी भी जमाने मे मौजूद वैज्ञानिको का ९० प्रति शत आज भी जीवित है।) १८० का स्तर डारविन, फ्रायड, शॉ, बर्ट्रेण्ड रसेल, पर्सी ब्रिजमैन, लिनस पालिग का। जब हम १७० पर पहुँचते ह, तब सिर्फ अमरीका मे ही करीब ३०० ऐसे लोगो को पाते है, और १६० पर करीब ५०००, १५० पर १ लाख तथा १४० पर १० लाख।

—लाइफ (२४ फरवरी १९६४) मे जान रेडर प्लाट का लेख
दि कमिग एक्सप्लोजन इन ह्यूमन इण्टेलीजेन्स।

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ मे प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई–३४। वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २९ नये पैसे।

जवाहरलाल नेहरू

इस आकस्मिक घटना से हम सब स्तम्भित होकर रह गये, इसने एक महान व्यक्ति का ही नही, बल्कि एक युग का अत कर दिया। जवाहरलालजी के कदमो की वह चुस्त गति और उनका वह प्रसन्न मुखार-विन्द अब देखने को न मिलेगा और न अब सुनने को मिलेगी उनकी वह ओजस्वी वाणी, जिसमे माधुर्य के साथ पूर्ण दृढता का भी समावेश रहता था। मानव जीवन की यही गति है, 'जो आया है, सो जायेगा।' फिर भी, हमे इस विपत्ति के मुकाबले के लिए अपने को तैयार करना ही पडेगा।

जवाहरलालजी की गणना अमरात्माओ मे होगी। विश्व इतिहास के लम्बे दौर में अनेक राष्ट्र विदेशी आधिपत्य से मुक्त हुए, और विभिन्न देशो मे राज्याधिपति के पद पर राजा, राष्ट्रपति या प्रधान मत्री के रूप मे ऐसे व्यक्ति विशेषो का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होने इतिहास मे अपनी छाप छोडी है। स्वातंत्र्य-सग्राम के दौरान प्रदर्शित निर्भीक नेतृत्व और स्वतत्रता प्राप्ति के बाद भारत को विश्व राष्ट्र मण्डल की अगली पक्ति मे ला खड़ा कर देनेवाले उनके प्रेरणादायक राज-कौशल के कारण, जवाहरलालजी का स्थान ऐसे सर्वोच्च महापुरुषो की श्रेणी मे रहेगा। आज सारा संसार जवाहरलालजी को एक ऐसी हस्ती मानता है, जिसने अतर्राष्ट्रीय मेल-जोल और शाति के लिए स्थायी योग-दान दिया है।

हम लोगो के लिए भारतीय मानवता के साथ अपने पूर्ण एकात्म्य की वजह से जवाहर-लालजी इतने प्रेम और श्रद्धा के भाजन हो गये थे कि ससार के इतिहास मे इने-गिने नेताओ को ही ऐसा सौभाग्य मिला होगा। प्रधान मत्री के पद पर आसीन होने के वर्षो पहले ही जवाहरलालजी ने देश के समस्त नर-नारियो को सुखद जीवन व्यतीत करने तथा प्रगति और समृद्धि की ओर अग्रसर होने का अवसर प्रदान करने मे सहायता करने का अपने दिल मे दृढ निश्चय कर लिया था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे चाहते थे कि हम नयी समाजवादी तथा जन-तान्त्रिक समाज-व्यवस्था के लिए अग्रसर हों।

जवाहरलालजी जनतात्रिक प्रवृत्तियो के प्रतीक थे। सहिष्णुता की भावना उनमे कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे सभी के प्रति चितनशील रहते थे और दूसरों के विचारों

का सम्मान करते थे। यही कारण है कि वे करोडो भारतीयो के इतने प्रिय पात्र बन गये। इसके साथ ही उनमे वह महान व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति थी कि असख्य लोग बरबस उनकी ओर खिचे चले आते थे, जिनके साथ उन्होने बिना किसी प्रयास के दिली सम्पर्क स्थापित किया। युग-युगान्तर मे ऐसे इने-गिने व्यक्ति ही हुए है, जिनमे ये गुण एक साथ पाये जाये। जवाहरलालजी मे ये सारी विशेषताएँ भरपूर मात्रा मे थी, और यही कारण है कि उनमे साधुता व महानता का अनुपम समिश्रण जीवन-पर्यन्त रहा।

—वैकुण्ठ ल. मेहता

['आकाशवाणी', बम्बई से २८ मई १९६४ को प्रसारित श्रद्धाजलि का मूल।]

जवाहरलाल आज हमारे बीच नही है। जब से उन्होने सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश किया, तब से लेकर अपने अन्तिम क्षण तक वे प्रकाश मे रहे और सार्वजनिक आकर्षण के विषय बने रहे। जीवन के समान ही, काल की गोद मे जा कर भी उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि वे भारत के आराध्य थे। हम उनके इतने सन्निकट रहे है कि भारत के इतिहास मे उनके स्थान और राष्ट्र विकास मे उनके योगदान का ठीक से मूल्याकन हम नही कर सकते।

नेहरू एक माने हुए राजनीतिक नेता, एल महान लेखक और मानवता के एक महान उपासक थे। अन्तर्राष्ट्रीय शाति और राष्ट्रो मे पारस्परिक सहयोग का विकास करने की दिशा मे उन्होने जो प्रयत्न किये, विश्व के प्रमुख राजवेत्ताओं ने इस सम्बन्ध मे उनकी प्रशसा की है। दो भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचारधाराओ के प्रतिनिधि श्री ख्रुश्चेव और राष्ट्रपति जान्सन, दोनो ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे नेहरू की भूमिका के सम्बन्ध मे एकमत है तथा दोनो का ही आवाहन है कि युद्धविहीन विश्व के विचार को साकार रूप देना ही नेहरू का असली स्मारक होगा।

भारतीय जनता को उन्होने आवाज दी। उन्होने स्वतत्रता—राजनैतिक व आर्थिक दोनो ही प्रकार की—सग्राम मे एक हो कर

अपनी सारी शक्ति लगा देने के लिए उसे प्रेरित किया । भारत के आर्थिक विकास के स्वरूप पर भी नेहरू का प्रभाव उतना ही गहन है, जितना कि राजनीतिक विकास पर। कुछ तो यहाँ तक महसूस करते है कि अन्तिम विश्लेषण से यह सिद्ध हो सकता है कि उनकी आर्थिक नीतियाँ राजनीतिक नीतियो से अधिक महत्वपूर्ण थी। तथापि, इन दोनो पहलुओ को अलग-अलग करके देखना सही नही होगा; क्योकि दोनो एक-दूसरे से निकटतम रूप से जुडे हुए है। लोकतत्र के कट्टर समर्थक होने के कारण वे आर्थिक असमानता को सह नही पाते थे, जोकि निश्चय ही मानवीय दु.खो को जन्म देती है। इतिहास और राजनिति शास्त्र के विद्यार्थी तथा एक सक्रीय राजनीतिज्ञ होने के नाते वे यह अच्छी तरह जानते थे कि वैसी व्यवस्था से आर्थिक समानता सुनिश्चित नही की जा सकती, जोकि व्यष्टि और साथ ही समष्टि के अग के नाते व्यक्ति की प्रभुता को मान्यता न दे ।

नेहरू ने बिल्कुल ठीक विश्लेषण किया था कि आधुनिक युग में भारत के दु ख-दारिद्रय का कारण है तकनालॉजी और आर्थिक क्षेत्र मे सापेक्षिक दृष्टि से उसका पिछड़ा हुआ होना। अत वे देश मे प्राविधिक और आर्थिक विकास के युग की प्राप्ति का दृढतापूर्वक समर्थन करते थे। यही वह मुख्य कार्य था जिस पर उन्होने सरकार के प्रधान और देश के नेता के रूप मे अपना ध्यान केन्द्रित किया। वे देश मे आर्थिक आयोजन के सम्बोध के प्रणेताओ मे से थे। सन् १९३८ मे ही कॉग्रेसाध्यक्ष (तब राष्ट्रपति) श्री सुभाष चन्द्र बोस ने राष्ट्रीय आयोजन समिति का गठन किया, जिसके अध्यक्ष श्री नेहरू थे। इस समिति के प्रयासो के फलस्वरूप ही आयोजन के विचार का प्रसार हुआ और एक तरह से इसने आदर भी प्राप्त किया। स्वतत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही जब राष्ट्रीय सरकार ने योजना आयोग का गठन किया तो उसके अध्यक्ष के लिए स्वभावत. नेहरू को ही चुना गया। तथापि, नेहरू अन्धविश्वासी बिल्कुल नही थे। वे देश के उद्योगीकरण के लिए बहुत उत्सुक थे, परन्तु देश के उद्योगीकरण की राह मे जो जबर्दस्त सीमाएँ थी, उनसे भी वे अनभिज्ञ नही थे और जानते थे कि इसमे (उद्योगीकरण में) काफी समय लगनेवाला है। इस बीच लाखो बेकारो को जीविका देने के लिए कुछ तो करना ही था। अत. वे ग्रामीण विकास और ग्रामीण उद्योगीकरण के भी उतने ही पक्ष मे थे, जितने कि उद्योगीकरण और सगठन के ।

नयी दिल्ली मे २ फरवरी १९५३ को अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल का उद्घाटन करते हुए उन्होने कहा था, "भारत

जैसे देश मे बड़े उद्योगो का हम कितना भी विकास क्यो न करे, ग्राम उद्योगो के विस्तार की फिर भी गुजाइश है ही। सवाल है देश की व्यापक आर्थिक रचना मे छोटे उद्योगो का अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने का। हम सभी खादी और दूसरे छोटे उद्योगो का विकास करना चाहते है, किसी 'दिखावे' के लिए नही, बल्कि इसलिए कि हम ठोस परिणाम प्राप्त करना चाहते है। फिर भी, अगर कोई देश अपनी आजादी कायम रखना चाहता है तो उसे बडे पैमाने के उद्योग-धधों का विकास करना ही होगा, बडे उद्योगों की जरूरत है और वे राज्य-मिल्कियत के अन्तर्गत तथा राज्य द्वारा नियत्रित होने चाहिये।"

श्री नेहरू ने आगे कहा था, "निष्ठापूर्वक हमारा यह मानना है कि देश के आर्थिक विकास मे छोटे उद्योग काफी मदद दे सकते है। जैसा कि आप जानते है, आज हमारी सबसे कठिन समस्या है बेकारी का सवाल हल करने की और इसे हल करने मे छोटे पैमाने के तथा गाँवो के उद्योग मिल कर बहुत सहायक होगे। हम कल्याणकारी राज्य स्थापित करने की बाते करते है, पर कल्याणकारी राज्य तो वह होता है, जहाँ हर नागरिक एक हिस्सेदार होता है,. लोगो को काम न मिला तो कल्याणकारी राज्य कैसा? बेकार के लिए कल्याणकारी राज्य का कोई मतलब नही है। मै बडे धधो (उद्योगो) और ग्राम उद्योगो मे सघर्ष का कोई कारण नही देखता ... बशर्ते दोनों के बीच उपयुक्त समन्वय हो।"

छोटे उद्योगो और अदने आदमी के पक्ष मे अब हम उनकी शक्तिशाली तथा प्रेरणादायक आवाज नही सुन सकेगे। फिर भी, यह तथ्य कि जवाहरलाल नेहरू जीवन-पर्यन्त उत्पीड़ितो के उत्थान के लिए जूझते रहे और आयोजित सामाजार्थिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम के अंगस्वरूप राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रित विभाग के विकास को उन्होंने जबर्दस्त व्यक्तिगत समर्थन प्रदान किया, निश्चय ही क्षेत्र मे काम करनेवाले सभी व्यक्तियो को प्रेरणा देता रहेगा और उनके प्रयासो को शक्तिशाली बनाता रहेगा।

अपने दिवगत नेता की पावन स्मृति मे हम सर नवाते है।

—सुभाष चन्द्र सरकार

बम्बई : १ जून १९६४

खादी ग्रामोद्योग
ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष • जून १९६४ • नवम अंक

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नही है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखो पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस) के पते पर भेजें। टेलीफोन न ५७१३२९।

इस पत्र मे प्रकाशित लेखो में व्यक्त विचार आवश्यक नही कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क २.५० रुपये, एक प्रति : २५ पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिये असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस)।

इस अंक के लेखक

वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
कृष्णन श्रीकण्ठन नायर	–क्वीलन स्थित क्वीलन जिला सहकारी बैंक लि० के आयोजन, अनुसधान और सांख्यिकी विभाग के मुख्य अधिकारी।
चित्तूरी वेंकट रावयुलू	–वाल्टेयर स्थित आंध्र विश्वविद्यालय के राजनीति-शास्त्र विभाग मे लेक्चरर।
यशवन्तसिंह डी. जाडेजा	–जूनागढ स्थित भारत सरकार के 'रूरल सोशलॉजी, ओरियंटेशन एण्ड स्टडी सेण्टर' मे शिक्षक।
जागेश्वर गोपाल श्रीखण्डे	–वर्धा स्थित खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला के भूतपूर्व निर्देशक।
यशवन्त विट्ठल खेर	–वर्धा स्थित खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला के भूतपूर्व जूनियर साइंटिफिक ऑफिसर।
तण्डलम सोमसुन्दर यशवत	–मद्रास स्थित मद्रास विश्वविद्यालय के कृषिक अर्थशास्त्र अनुसधान केन्द्र मे प्रवर अनुसधान कर्त्ता।
रामकृष्णन राजगोपालन	–मद्रास स्थित मद्रास विश्वविद्यालय के कृषिक अर्थशास्त्र अनुसधान केन्द्र मे सांख्यिकीय सहायक।
त्यमगुण्डलू कृष्णमूर्ति	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मद्रास स्थित ग्रामीण तेल उद्योग विकास अधिकारी।
खेमराज पिछोलिया	–वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित कृषिक अर्थशास्त्र अनुसधान केन्द्र मे प्रवर अनुसधान सहायक।
गुल्जार सिंह	–हिमाचल प्रदेश के बनजार (कुलू) मे विस्तार अधिकारी (पशु-पालन)।
इन्दर मोहन लाल भटनागर	–लेखक और पत्रकार।

सामाजिक और आर्थिक न्याय की ओर

गत जनवरी माह मे भुवनेश्वर मे काग्रेस का ६८वा अधिवेशन हुआ था और उस अवसर पर भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने 'लोकतन्त्र और समाजवाद' नामक प्रस्ताव स्वीकृत किया। उक्त प्रस्ताव के अनुसार काग्रेस ने श्री उ न ढेबर की अध्यक्षता मे एक उप-समिति का गठन किया, जिसे ढेबर कमेटी के नाम से जाना जाता है। इस उप-समिति ने अपने प्रतिवेदन में आम जनता की हालत सुधारने के लिए तत्काल कदम उठाने की आवश्यकता प्रकट की है। प्रतिवेदन मे कमेटी ने कृषि और पशु-पालन के विकास, औद्योगिक विकास की पद्धति के नियमन और राष्ट्रीय प्राथमिकता तथा सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप ऋण और विनियोजन योग्य साधन जुटाने के लिए प्रभावी और सत्वर उपाय काम मे लाने की आवश्यकता प्रकट करते हुए लोगो की न्यूनतम आवश्यकताओ की शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति और उन्हे सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए कदम उठाने की जरूरत पर विशेष प्रकाश डाला है। उप-समिति का प्रतिवेदन कुछ अशो को छोड़ कर यहां पुन प्रकाशित किया जा रहा है। श्री उ न. ढेबर, श्री सी सुब्रह्मण्यन, श्री सादिक अली, श्री श्याम नन्दन मिश्र और श्री बलिराम भगत उप-समिति के सदस्य थे।

राष्ट्र ने जिस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को यथा सम्भव शीघ्रतापूर्वक स्थापित करने का सकल्प किया है उसकी सारभूत विशेषताओ की रूपरेखा भुवनेश्वर मे स्वीकृत 'लोकतन्त्र और समाजवाद' नामक प्रस्ताव मे दी गयी है। प्रस्ताव मे विशेषत निम्नलिखित बातो पर जोर दिया गया है

क देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बालक की आहार, वस्त्र, आवास, शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति,

ख उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति के साधन रूप मे, और साथ ही क्योकि सामाजिक न्याय की भावना एक विकासशील लोकतन्त्र मे निहित होनी चाहिये इसलिए, सामाजिक स्तरो मे मौजूद बडी विषमताओ को कम किया जाय,

ग लोगो के सोचने-समझने और रहने-सहने के ढग मे लोकतन्त्रवादी तरीको से आवश्यक मूल परिवर्तन किए जायँ ताकि मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सुगमतापूर्वक हो सके, जिसके आधार पर ही केवल उस विशाल मानव-साधन का पूर्ण उपयोग सम्भव हो सकेगा जिससे देश सम्पन्न है, और

घ पचम पच वर्षीय योजना के अन्त तक इन उद्देश्यो की पर्याप्त परिमाण मे पूर्ति का सकल्प राष्ट्र को अपने सम्मुख रखना चाहिये।

व्यूह-रचना

इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए जो मूल व्यूह-रचना अथवा नीति अपनायी गयी है उसकी रूपरेखा पच वर्षीय योजनाओ मे दी गयी है। यद्यपि यह मानना होगा कि यह एक कठिन व्यूह-रचना है और भविष्य निर्माण के लिए वर्तमान मे जनता से कडी साधना तथा बलिदान की माग करती है, फिर भी यह महसूस किया जाना जरूरी है कि स्वाधीनता कायम रखने तथा मानवीय न्याय के नियमों के अनुकूल समृद्धि का आश्वासन पाने के लिए और कोई आसान रास्ता नही है। जबकि हम इस दृष्टिकोण को उचित मानते है, इस बात पर जोर देना भी हम जरूरी समझते है कि ऐसी हालत मे पैदा होनेवाले तनावो और खिचावो का सगठन और साथ ही प्रशासन को ध्यान रखना चाहिये। इनकी (सगठन और प्रशासन की) नैतिक जिम्मेदारी है कि प्राप्त फलों और जनता के प्रयास के बीच एक उचित सम्बन्ध हो और न केवल आभारो और बलिदानों, बल्कि उनसे प्राप्त फलो का भी समुचित वितरण हो।

यथार्थ रूप मे इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्रीय प्रयासो की दिशा नीचे लिखे अनुसार हो

अ आर्थिक गतिविधि के सभी क्षेत्रो मे अधिक तेजी से प्रगति, ताकि तीसरी योजना के लक्ष्यो की प्राप्ति हो सके और चौथी व बाद की योजनाओ मे और भी अधिक बढी हुई गति के लिए राष्ट्र तैयार रह सके, और

आ. आयोजन तथा उसकी पूर्ति का भार उठाने वाले लोगो द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था की नीव सुदृढ बनाने और साथ ही उसे व्यापक बनाने की दिशा मे प्रयास किया जाय, ताकि हमारे समाज के निम्न और उच्च स्तर के बीच का फर्क कम हो सके। अगर पक्के इरादे के साथ और जम कर काम किया जाय तो अगले कुछ वर्षों मे कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे लगभग सात प्रति शत की प्रति वर्ष वृद्धि हो सकेगी। हमारी राय है कि केवल इसी प्रकार उपर लिखित उद्देश्यों की पूर्ति कर सकना हमारे लिए सम्भव हो सकेगा।

पहली कमियों का कारण

यदि गत कुछ वर्षो के परिणाम देश की आशानुसार नही हुए तो यह असफलता व्यूह-रचना की नही बल्कि अधिकतर कार्यान्वियन की है। यह एक बहुत जरूरी काम है जिस पर देश, सरकार तथा कॉंग्रेस सगठन को देश के विकास के प्रयास के इस क्रम मे, विशेष ध्यान देना है।

जन साधारण की भौतिक समृद्धि पर आश्वासन और उसकी पूर्ति के बीच के अन्तर के कारण जितना ज्यादा असर ग्रामीण क्षेत्र मे, विशेषत कृषि मे, हुआ है उतना और कही नही हुआ और न कही सगठन की कमजोरियो और अभावो के कारण असफलता इतनी स्पष्ट हैं जितनी कि इस क्षेत्र मे है। आर्थिक कार्यकलाप के अन्य क्षेत्रो मे यथा सम्भव प्रगति करते हुए भी यह इन्कार नही किया जा सकता कि निकट भविष्य मे कृषि क्षेत्र ही जनता को सबसे अधिक रोजगार दिलानेवाला और उपभोग्य वस्तुएँ उपलब्ध करनेवाला क्षेत्र बना रहेगा, और केवल कृषि-उत्पादन का एक पर्याप्त उच्च स्तर प्राप्त करके ही अर्थ-व्यवस्था का विकास अधिक गति से हो सकेगा।

अत यह कमेटी नितात आवश्यक समझती है कि तत्काल वर्तमान मे और साथ ही आगे भी एक अवधि मे इस क्षेत्र मे प्रगति की जाय और योजना आयोग द्वारा देश तथा सरकार के सम्मुख तीसरी योजना के शेष दो वर्षों मे तथा उसके बाद अगले दस वर्षों मे प्राप्त किये जा सकने वाले, किन्तु सुनिश्चित, लक्ष्य रखे जाये। कमेटी महसूस करती है कि तीसरी योजना की अवधि मे प्रति वर्ष की वृद्धि का जो लक्ष्य रखा गया है, वह आवश्यकता से अधिक आशावादी नही है। चौथी और पॉचवी योजनाओ की अवधि मे हमारा ध्येय लगातार प्रति वर्ष पाँच प्रति शत वृद्धि का होना चाहिये। जो भी हो, कृषि उत्पादन को १९६५-६६ के अन्त तक ९ करोड २० लाख से ९ करोड ४० लाख टन तक बढाना होगा। इसका अर्थ है कि अगले दो वर्षों मे प्रति वर्ष सात से आठ प्रति शत वृद्धि की जाय। अत इस क्षेत्र मे तेजी के साथ और लगातार वृद्धि के लिए आनेवाली मानवीय असफलताओ को दूर करना तत्काल आवश्यक है।

कृषि मे प्रगति करने के उपाय तीसरी पच वर्षीय योजना में बतलाये गये है। किन्तु केवल इन उपायों से तब तक फल नही मिलेगा जब तक एक उचित वातावरण और साथ ही एक समुचित सगठन और व्यवस्था कायम नही की जाती कि जिनसे उत्पादन बढाने के इन उपायो का सूक्ष्म प्रयोग हो सके। मुख्यत इस क्षेत्र के लिए अगले दो वर्षों मे किये जानेवाले काम के बारे मे हम कुछ विशेष सुझाव देना चाहेगे। हम एक बार फिर इस बात पर जोर देना चाहते है कि आगामी दो वर्षो मे जो कुछ हम प्राप्त करते हैं उसका बहुत अधिक महत्व है।

भूमि-सुधार

केवल किसान का प्रयास और उत्साह ही ग्रामीण जीवन मे क्राति ला सकता है। यदि आर्थिक और सामाजिक अवस्था ऐसी बनी रही कि जिसमे किसान सुरक्षा तथा अपने श्रम के फल के पूर्ण उपभोग से वचित रहे तो उससे इस क्षेत्र मे भरसक प्रयत्न करने की आशा

करना युक्तिसगत नही होगा। किसान को इस आश्वासन का दिलाना सरकार और कॉंग्रेस सगठन का प्रथम कर्तव्य होना चाहिये।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्व प्रथम आवश्यक है कि भूमि-सुधार कार्यक्रम शीघ्र कार्यान्वित किया जाय। अगले दो वर्षो मे भू-अधिकारों के पुर्नवितरण के उपायो, साथ ही मध्यस्थो के उन्मूलन, भू-स्वामित्व की अधिकतम सीमा लागू किये जाने, भू-धारण अधिकार की सुरक्षा के आश्वासन, लगाने की दरो का निर्धारण तथा उचित मालगुजारी ठहराने और अधिकारों के रिकार्ड की तैयारी आदि उपायो की कार्यक्षम पूर्ति के लिए सुदृढ प्रयास किये जाने चाहिये। पट्टेदारो द्वारा मुआवजे की अदायगी पर उन्हे भू-धारण अधिकार दिलाने के लिए आवश्यक कदम उठाने होंगे।

देश मे यह एक आम भावना है कि कानूनी उपायों से जो आश्वासन मिले है उन्हे देखते हुए छोटे काश्तकारो, पट्टेदारो और कृषि कर्म करनेवाले श्रमिकों को मिलनेवाला वास्तविक लाभ अपर्याप्त है। भूमि सुधार कार्यक्रम को पूरा करने की तारीखे हम कई बार तय कर चुके है, किन्तु व्यावहारिक रूप मे उनका पालन नही हुआ। अब निश्चित रूप से वचनबद्ध होना जरूरी है ताकि और अधिक निराशा की गुंजाइश न रहे।

भूमि सुधारो की पूर्ति से ग्राम अर्थ-व्यवस्था के पुनर्गठन का एक अध्याय समाप्त हो जायगा। इस प्रकार हम ग्राम अर्थ-व्यवस्था को एक सुदृढ और सुस्थिर आधार प्रदान कर सकेंगे, क्योकि तब किसानो को अपने श्रम और अपनी पूजी का फल मिलने क विश्वास होगा।

कृषि विकास की जिम्मेदारी

साथ ही साथ अगले दो वर्षों मे हमे ९ करोड २० लाख टन से ९ करोड ४० लाख टन तक खाद्योत्पादन के लक्ष्य की पूर्ति का पूरा आश्वासन होना चाहिये। इस ध्येय को दृष्टि मे रखते हुए कमेटी की राय है कि देश मे पैकेज प्रोग्राम क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिये। इस समय देश मे लगभग २५० सघन कृषि विकास क्षेत्र है, जिनमे साधन-सामग्री सम्बन्धी उचित सुविधाएँ उपलब्ध की जा चुकी है। इनके लिए सविस्तार कार्यक्रम बनाये गये है। ये क्षेत्र सम्बन्धित राज्यों की सलाह से चुने गये है और इनके उत्पादन लक्ष्य भी उन्ही की सलाह से तय किये गये है। अत कोई कारण नही कि इन लक्ष्यो की प्राप्ति मे किसी प्रकार की असफलता रहे, जब तक वर्षा ही बिल्कुल न हो।

इसी प्रकार सघन कृषि विकास क्षेत्रो के अलावा अन्य क्षेत्रो मे प्रशासन को योजना आयोग और भारत सरकार की सलाह से तीसरी पच वर्षीय योजना के शेष वर्षों के लिए निर्धारित किये जानेवाले कार्यों को पूरा करना चाहिये।

अभी तक कृषि सुधारो और कृषि विकास के कार्यक्रमो की पूर्ति असतोषजनक रही है, जिसका ांशिक कारण सुनिश्चित कार्यों की पूर्ति के लिए [illegible] सौंपने मे अस्पष्टता रही है। प्रशासनीय पक्ष की इस कमजोरी को दूर करने के लिए मजबूत कदम उठाये जाने बहुत जरूरी है। अत हमारा सुझाव है कि अगले वर्षों मे लक्ष्यों की प्राप्ति मे असफलता रहने पर मुख्य मन्त्री तथा कार्य-भार सम्भालनेवाले मन्त्री को कॉंग्रेस पार्लियामेंटरी बोर्ड के प्रति उत्तरदायी बनाया जाना चाहिये, और यदि कॉंग्रेस पार्लियामेंटरी बोर्ड किये गये काम से सतुष्ट नही है तो जिम्मेदारी निभाने की असमर्थता का परिणाम जो होता है, होना चाहिये।

मुख्य मन्त्री और योजना के लक्ष्य की पूर्ति का भार वहन करनेवाले मन्त्री के उत्तरदायित्व की यह धारणा अब से हमारे सगठन मे मन्त्री-पद की जिम्मेदारी का एक सामान्य अग समझी जानी चाहिये। पदाधिकार के साथ-साथ आवश्यक योग्यता प्रदर्शित करने का आधार भी होगा, जिसका प्रतबिम्ब फलप्राप्ति से दिखायी देगा। इससे सतर्कता और सजगता पैदा होगी और साथ ही सब स्तरो पर जिम्मेदारी सौंपी जा सकेगी।

तीसरी योजना के अन्त तक पूरे किये जाने के लिए

कृषि से सम्बन्धित नीचे लिखे कुछ अन्य सुझाव दिये जा रहे हैं

१ सारे देश में १९६२-६३ के अन्त तक साधन सहकारी समितियाँ स्थापित करने का हमारा इरादा था। अब इस लक्ष्य को कम से कम तीसरी योजना के अन्त तक पूरा किया जाना चाहिये। जिन इलाको के पिछडेपन के कारण आवश्यक जन-उत्साह पैदा करना कठिन है, वहाँ इस अवधि मे सहकारी समितियाँ स्थापित करने के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी राज्य सरकारो की होनी चाहिये। सरकार द्वारा इस दायित्व के समुचित पालन के लिए किसी एक अधिकारी को खास तौर पर जिम्मेदारी सौपी जानी चाहिये। जब तक सहकारी सगठन का यह ताना-बाना पूरा नही हो जाता, समय पर बीजो व ऋण की उपलब्धि तथा साथ ही समय पर कृषि पदार्थों की बिक्री कठिन होगी।

२ अलाभकर आराजियोवाले किसानो की मदद के लिए भी सारे देश मे सम्मिलित सेवा कार्यक्रम सगठित करना होगा, ताकि वे अपनी भूमि पर लाभकर खेती कर सके और सामान्य खर्च पर उन्हे विज्ञान और तकनालाजी का लाभ उपलब्ध हो सके। शुरू मे अलाभकर आराजियो वाले किसानों को सम्मिलित सेवा कार्यक्रम मे भाग लेने के लिए प्रेरित करना होगा, जिसके परिणाम स्वरूप अन्त मे समुचित आकार की लाभकर इकाइयो के आधार पर सम्मिलित आयोजन सम्भव होना चाहिये।

३ तीसरी योजना के अन्त तक हर विकास खण्ड मे कम से कम एक केन्द्रीय स्थान मे भू-परीक्षण सम्बन्धी साज-सामान उपलब्ध किया जाना चाहिये जिससे वैज्ञानिक कृषि आरम्भ हो सकेगी।

४ अगले दो वर्षो मे कृषि औजारो को बनाने और उन्हे उपलब्ध करने का काम भी सगठित किया जाना चाहिये, ताकि चौथी योजना के अन्त तक ऐसा कोई किसान न रहे जिसे बेहतर औजार चाहने पर न मिल सके।

व्यापार और मूल्यों का नियमन

कृषि विकास क्षेत्र मे तीसरा प्रमुख कार्य कृषि पदार्थो के उत्पादको अर्थात् किसानो को एक लाभप्रद मूल्य का आश्वासन दिलाना है। यह काम जितना पेचीदा है उतना ही जरूरी भी है, क्योकि कृषि पदार्थ जन-उपयोग की वस्तुएँ होती है और इनके मूल्य मे किसी प्रकार की अनुचित वृद्धि से समाज के निर्बल अगो पर बडा गम्भीर प्रभाव पडता है। सरकार ने गत कुछ वर्षों मे उपभोक्ताओं पर अनुचित भार डाले बिना किसान को लाभ पहुँचाने के लिए कई प्रकार की कार्यवाहियाँ की है, किन्तु इनको पूरी तरह अमल मे नही लाया गया है, जिसका नतीजा है कि किसानो को मिलनेवाले मूल्यो के स्तर से कही अधिक मूल्य उपभोक्ताओ को देना पड रहा है।

आम तौर पर यह माना जाता है कि यदि आवश्यक खाद्यपदार्थो और वस्त्रो का मूल्य समय-समय पर बढता रहा, जैसा कि अभी तक होता रहा है, तो विकास के बोझ का समुचित वितरण नही हो सकता। जिस समाज-वादी ढग की हमने कल्पना की है उसे यदि यथार्थ रूप मे परिणित होना है तो, खाद्य-पदार्थों, विशेषत खाद्यान्नो और वस्त्र जैसी सामान्य उपभोग की अन्य वस्तुओ के मूल्यो के कार्यक्षम नियमन के लिए अगले दो वर्षो मे मजबूत कदम उठाने होगे। इस ध्येय की पूर्ति के लिए सरकार को तीसरी योजना की समाप्ति से पूर्व खाद्यान्नो के व्यापार मे अपनी आज्ञा पालन करवाने की स्थिति मे होना पडेगा। इसके बिना एक ओर किसानो को और दूसरी ओर उपभोक्ताओ के खास तौर पर ज्यादा जरूरत-मन्द भाग को उचित मूल्यो का आवाश्सन दिलाना असम्भव होगा। हमारी राय से नीचे लिखे कदम उठाये जाने चाहिये

क सरकार द्वारा न्यूनतम सहायता प्राप्त मूल्यो का निर्धारण और उनकी घोषणा की जानी चाहिये, ताकि किसानो को मुख्य खाद्यान्न के लिए उचित लाभ प्राप्त हो सके। केन्द्र और राज्यो की सरकारो द्वारा इन कीमतो पर असीमित खरीदारी करनेवाली इकाइयाँ सभी प्रारम्भिक मण्डियो मे स्थापित करनी चाहिये। इससे मजबूर होकर सकट वश पैदावार बेचना खत्म करने मे मदद मिलेगी।

ख केन्द्रीय सरकार द्वारा उचित जाँच करने के बाद हर पदार्थ के लिए उत्पादक से लेकर उपभोक्ता तक लाभाश निर्धारित किया जाना चाहिये। यह लाभाश प्रोसेसिग अथवा अन्य व्ययों के लिए होगा।

ग खाद्यान्न के थोक व्यापारियो को लाइसेस प्राप्त करने के बाद ही काम करने की इजाजत मिलनी चाहिये। यह नीति स्वीकार की जा चुकी है और राज्य सरकारो द्वारा इस नीति को कारगर तौर पर अमल मे लाया जाना चाहिये।

घ अन्तरिम काल मे लाइसेसशुदा व्यापारियो द्वारा बेचे जानेवाले खाद्यान्नो का अधिकतम मल्य निर्धारित किया जाना चाहिये। इन मूल्यो पर व्यापारियो का सारा गल्ला बेचा जा सकना चाहिये, बशर्ते कि इसके लिए सरकारी अनुमति हो।

ङ जब तक कि सरकार उनका सचालन भार स्वयम् नही ले लेती, चावल की मिलो को प्राप्त प्रोसेसिंग सुविधाओं पर सरकार की सख्त निगरानी होनी चाहिये ताकि प्रोसेसिग की कीमतो का नियमन किया जा सके और साथ ही व्यापारिक गतिविधियो पर अधिक नियत्रण रखा जा सके। खास तौर पर धान की खेती करनेवाले प्रमुख राज्यो मे चावल की मिलों को सरकार के नियन्त्रण मे रखना चाहिये और उन्हे सौदेबाजी करने की मनाही होनी चाहिये।

उपभोक्ता सहकारी भण्डार

च राज्य सरकारो और अन्य सरकारी इकाइयो को प्रोसेसिग और थोक व्यापार की गतिविधियो मे अपनी आज्ञा पालन करने की स्थिति मे होने के साथ-साथ शीघ्र ही उचित मूल्यों की दूकानो तथा उपभोक्ता सहकारी भण्डारो की सख्या बढानी चाहिये, जहाँ से उपभोक्ताओ को एक निर्धारित और उचित मूल्य पर खाद्यान्न प्राप्त होगे। सहकारी उपभोक्ता भण्डारो की स्थापना और अधिकृत उचित मूल्यो की दूकानो द्वारा समुचित व्यवहार के लिए कॉंग्रेस सगठन को पहले की अपेक्षा अधिक ठोस जिम्मेदारियॉं अपनानी चाहिये।

छ अनाज की जखीरेबाजी और मुनाफाखोरी रोकने के लिए, जोकि निजी व्यापारियो द्वारा की जाती है, तथा साथ ही राज्य निदेशालयो अथवा राज्यो के तत्वावधान मे सचालित इकाइयो से वितरण के सभी स्तरो पर भ्रष्टाचार तथा कार्यक्षमता के अभाव को दूर करने के लिए कॉंग्रेस सगठन को अपनी एक व्यवस्था कायम करनी होगी।

ज अगले दो वर्षो मे सरकार द्वारा खाद्यान्नों के हर व्यापारी को हिदायत दी जानी चाहिये कि उसे जिस मूल्य पर खाद्यान्न प्राप्त हुए है और जिस मूल्य पर वह उन्हे उपभोक्ता को बेचता है, इन दोनों का प्रदर्शन करे। इस प्रकार के ब्यौरे मे खरीदे गये खाद्यान्न की मात्रा और बिक्री के लिए उपलब्ध मात्रा का हवाला भी होना चाहिये।

हमे विश्वास है कि यदि दृढ सकल्प के साथ और समाज के निर्बल वर्गो की भलाई को ध्यान मे रखते हुए इन कदमों को ठीक तरीके से उठाया गया तो जनता मे उनका स्वागत होगा और उन्हे जन-सहयोग प्राप्त होगा जिसके परिणामस्वरूप कृषि विकास के लिए सुझायी गयी अन्य नीतियों का क्रियान्वयन सक्षम और सुगम रूप से हो सकेगा।

पशु-पालन

हर राज्य सरकार द्वारा कृषि की भाँति पशु-पालन, मुर्गी-पालन, मछली-पालन इत्यादि के विकास के लिए भारत सरकार और योजना आयोग की सहायता से अगले दो वर्षों मे किये जानेवाले काम तय किये जाने चाहिये। इस देश मे पशु-धन के विशाल साधनो के सदुपयोग के लिए अभी तक सुव्यवस्थित प्रयास नही किये गये है। इस क्षेत्र मे उत्पादन वृद्धि तथा तेजी के साथ उत्पादन की सम्भावना के बारे मे भी अभी तक बहुत कम महसूस किया गया है। यदि इस क्षेत्र के विकास पर पूरा ध्यान दिया जाये तो अन्य क्षेत्रों मे विनियोग और उत्पादन का जो अनुपात है उससे कही ज्यादा इस क्षेत्र मे फल प्राप्त होंगे। इसके अलावा जैसे-जैसे देश का विकास होता है, इस महत्वपूर्ण क्षेत्र द्वारा

उपलब्ध किये जानेवाले पूरक खाद्य और अन्य कच्चे माल की मॉग तेजी से बढती जायेगी। इससे क्षेत्र मे उपलब्ध स्वाभाविक साधनो के वैज्ञानिक विकास पर यदि पूरा ध्यान दिया जाय तो एक अल्पतम विनियोग से वैकल्पिक और पौष्टिक आहारो की उपलब्धि शीघ्र ही बढायी जा सकती है। सबसे बडी बात यह है कि सबसे मवेशी पालनेवाली एक बडी आबादी को मदद मिलेगी जिसकी सरया लाखो मे है और जिनमे से अधिकतर खानाबदोश है और जो आज आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से मृतप्राय हो चले है।

इस क्षेत्र मे विकास के दो पहलू है, जिन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। पहली बात मवेशियो की किस्म मे सुधार है, जोकि चुने हुए जानवरो के पालन-पोषण तथा चारे और अन्य प्रकार के आहार के उत्पादन मे वैज्ञानिक तरीको द्वारा किया जाना चाहिये। दूसरी बात पशु-पालन उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओ के लिए बिक्री की उचित सुविधाएँ उपलब्ध करना है। ये दोनो पहलू परस्पर निर्भर है और इनमे सामजस्य लाना होगा। जब तक सुविधा प्राप्त नही होगी, गॉव के लोगो को राष्ट्र के इस धन की वृद्धि करने के लिए उत्साह प्राप्त नही होगा। अत हम इस मामले मे एक उचित नीति बनाने और उसे काम मे लाने को सबसे अधिक जरूरी समझते है।

देश के पशु-पालन मे सुधार लाने के लिए, जिसमे दूध देनेवाले पशु सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, हमारा सुझाव है कि अगले दो वर्षो मे नीचे लिखे कार्य पूरे किये जाये -

क प्रत्येक सामुदायिक विकास खण्ड । पशु-पालन के विकास की सम्भावना का आका जाना,

ख घटिया किस्म के पशुओ के बध्यकरण कार्यक्रम को अमल मे लाया जाना,

ग स्वस्थ किस्म के साण्डो की उपलब्धि, और यदि प्रत्येक विकास खण्ड मे सम्भव न हो तो कुछ विकास खण्डो के एक समूह मे इनके पालन-पोषण की आवश्यक सुविधाओ की उपलब्धि,

घ ऊसर और कृषि-योग्य बजर जमीन को शीघ्र ही चरागाहो मे बदलना तथा चारे और पशुओ के अन्य प्रकार के आहार को वैज्ञानिक ढग से प्राप्त करने की सुविधा,

ङ बिक्री की मौजूदा सुविधाओ और विकास कार्य को परस्पर सम्बन्धित किया जाना,

च पशु-पालन की नीति स्थिर करना, जिससे वैज्ञानिक विकास सम्भव हो और कम मेहनत तथा साथ ही चारे और अन्य प्रकार के आहार के साधनो का कम व्यय हो,

छ पशु-पालन उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओ के लिए मूल्य-नीति का निर्धारण और इन धधो मे काम करनेवालो को शोषण से बचाना,

ज ऋण सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन, ताकि पशुपालन करनेवालो को ऋण की सुविधाएँ प्राप्त हो सके, और

झ मृत पशुओ के अवशेषो का वैज्ञानिक आधार पर उपयोग।

जहाँ तक बिक्री का सम्बन्ध है, पशु-पालन उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओ के सग्रह और विक्रय तथा साथ ही कोल्ड स्टोरेज, वस्तुओ को डिब्बो मे बन्द करने तथा सुविधाओ के विकास के लिए सरकार की ओर से सहकारी सस्थाएँ स्थापित की जानी चाहिये। परिवहन सम्बन्धी सुविधाओ मे भी वृद्धि करनी होगी। इन पदार्थो के कोल्ड स्टोरेज, प्रोसेसिग और परिवहन सम्बन्धी सुविधाओ के लिए सामान्य नीति इस प्रकार की होनी चाहिये कि किसान निजी पूजीवादी सगठनो के शोषण का शिकार न बन सके। खास तौर पर कोल्ड स्टोरेज और परिवहन सुविधाओ के मामले मे राज्य सरकार द्वारा स्थापित इकाइयो के विस्तार का एक कार्यक्रम बनाया जाना चाहिये और उसे जल्द अमल मे लाया जाना चाहिये।

कृषि औद्योगिक विस्तार

ग्रामीण उद्योगीकरण को देश के आर्थिक विकास के आयोजन के एक प्रमुख आर्थिक और सामाजिक उद्देश्य के रूप मे स्वीकार किया जा चुका है। जैसा कि डा० धनजय राव गाडगिल ने कहा है कि ग्रामीण उद्योगीकरण

के ध्येय मे देश का एक ऐसा उद्योगीकरण निहित है जोकि व्यापक रूप से फैला हुआ और छोटे पैमाने पर होना चाहिये और उसकी आर्थिक सामर्थ्य विकास की प्रक्रियाओ की आवश्यकताओ तथा सूक्ष्म तकनीको के अनुरूप होनी चाहिये। इसके अर्थ है, गॉव मे उपलब्ध जन-शक्ति तथा कृषि सम्बन्धी और अन्य प्रकार के कच्चे माल के साधनो का समुचित उपयोग और साथ ही गॉवो मे प्रोसेसिग तथा उपभोक्ता वस्तुओ के उद्योगों का अधिकतम सोद्देश्य विकास।

जबकि ग्रामीण उद्योगीकरण के कार्यक्रम के विकास मे व्यापक विस्तार की कल्पना करना सिद्धातत आसान है, इस कार्यक्रम के विकास को वास्तविक रूप मे परिणित करने मे कई प्रकार की मूलभूत कठिनाइयॉ सामने आती है। ग्रामोद्योग के सिवाय, जो खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अधीन है, इस समस्या का हल करने के लिए और कोई सगठन नही है। इस प्रकार के काम मे रुचि रखनेवाले उद्यमी लोगो की सख्या भी अपेक्षाकृत कम है। शायद कपास की उपलब्धि के सिवाय, जहॉ कि एक प्रकार का सगठन मौजूद है, कच्चे माल की उपलब्धि के क्षेत्र मे सम्पूर्ण अव्यवस्था है। ऋण सम्बन्धी कायदे-कानूनो से विस्तार की राह सुगम नही हुई है। विक्रय सस्थाओं का अस्तित्व ही नही है। जब तक इन बाधाओ को साथ-साथ दूर नही किया जाता, बडे पैमाने पर विस्तार के प्रयत्नो का सवाल पैदा नही होता।

अत्यावश्यक कदम

इन कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए, कृषि और पशु-पालन के क्षेत्र की भॉति देश के औद्योगिक विकास के कार्यक्रम मे एक अभिन्न अग के रूप मे ग्रामीण उद्योगीकरण को एक मजबूत आधार पर कायम करने के लिए हम चाहेगे कि नीचे लिखे कदम पूरी सजीदगी के साथ उठाए जाये

१ हमे यह समझना चाहिये कि उपभोक्ता वस्तु-उद्योगो के क्षेत्र मे कम से कम कुछ उद्योगो की पूरी सामर्थ्य का लाभ नही उठाया जा रहा है। फिर भी विस्तार हो रहा है। इस विस्तार का अर्थ है कि सरकार इन नयी इकाइयों को कच्चा माल और अन्य साधन दिलाने के लिए स्वत वचनबद्ध हो जाती है। इससे सदा के लिए ग्रामीण औद्योगीकरण का क्षेत्र सीमित हो जाता है। चौथी पच वर्षीय योजना के अन्तर्गत जो भारी विनियोग किया जाना है, उसे देखते हुए आज की स्थिति और अधिक सकटमय बन जाती है। आज देश की अवस्था को देखते हुए हमे यह समझना चाहिये कि लघु अथवा कुटीर स्तर के विकेन्द्रित उद्योगों का देश की अर्थ-व्यवस्था मे एक महत्वपूर्ण स्थान बना रहेगा। निस्सदेह सामाजिक परिवर्तनो की प्रक्रियाओ मे कृषि और पशु-पालन के बाद ग्रामीण उद्योगीकरण का महत्व सबसे अधिक है। हमे अपनी अर्थ-व्यवस्था के आधार को व्यापक बनाना है तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना रहा नही जा सकता। इस मामले मे उच्चस्तरीय नीति विषयक निर्णय आवश्यक है।

२ दूसरे, जबकि ग्रामीण उद्योगीकरण की कल्पना वर्तमान तरीको को जारी रखने के एक सकीर्ण और सीमित अर्थ मे नही की गयी है, फिर भी हमको यह समझना चाहिये कि यदि ग्रामीण उद्योगीकरण को बडे पैमाने के सगठित उद्योगो और श्रेष्ठतर तकनीको का लाभ प्राप्त है, और ये अन्य सुविधाएँ प्राप्त है, जोकि सुस्थापित इकाइयो को आम तौर पर प्राप्त होती है और जो प्रतिस्पर्धात्मक अर्थ-व्यवस्था मे सामान्यत उपलब्ध होती है, तो ग्रामीण उद्योगीकरण को अपने आरम्भिक क्रम मे सरकार और समाज का यथा सम्भव अधिकतम समर्थन प्राप्त होना चाहिये।

३ यदि पचम योजना के अन्त तक बेरोजगारी और अर्द्ध बेरोजगारी की समस्या और रहन-सहन के न्यूनतम स्तर की गारण्टी देने की समस्या को कारगर तौर पर हल करना है तो अगले दो वर्षो मे सरकार को एक उचित ढग का सगठन सुस्थापित करना होगा। हमारी राय है कि इस काम को शुरू करने के लिए एक निकाय तत्काल स्थापित किया जाय। यह भारत सरकार

के उद्योग मत्रालय के अधीन स्वायत्त निकाय होना चाहिये, जोकि ग्रामीण उद्योगीकरण के कार्यक्रम की पूर्ति पर ध्यान देगा। जैसे-जैसे काम बढे, स्थिति के आवश्यकतानुसार राज्यो मे और यहाँ तक कि क्षेत्रो मे इस प्रकार के निकाय स्थापित किये जा सकते है।

४ गाँवो के उद्योगीकरण के कार्यक्रम को दस्तकारो की सहकारी समितियाँ अथवा उनकी पजीकृत सस्थाओ द्वारा सचालित किया जाना चाहिये। दस्तकार ज्यादातर खुद अपना रोजगार पैदा करनेवाले लोग होते है और इसलिए इस बात का पूरा ध्यान रखना होगा कि राज्य की सहायता के परिणाम स्वरूप राज्य और दस्तकार के बीच एक शोषक वर्ग पैदा न हो जाय।

५ यदि ग्रामीण उद्योगीकरण के कार्यक्रम की जडे अविलम्ब जमानी है तो वित्त, बिजली और कच्चे माल के वितरण तथा परिवहन के मामले मे उन्हे अपेक्षाकृत उच्च प्राथमिकता देनी होगी। यदि ग्रामीण उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओ को लाभकर बनाना है तो खास तौर पर बिजली सप्लाई की दर पर पुनर्विचार करना होगा। इन सुविधाओ की उपलब्धि के बाद सरकार द्वारा स्थापित सगठन की जिम्मेदारी होगी कि वह कच्चे माल, ऋण, बेहतर औजारो और तकनीकी जानकारी की उपलब्धि के बारे मे योजनाएँ बनाये। साथ ही अनुसधान और प्रशिक्षण कार्य का सगठन तथा औजारो का निर्माण व बेहतर किस्म के औजारो का वितरण भी सरकार द्वारा स्थापित इस सगठन की जिम्मेदारी होनी चाहिये।

नीति मूल्यांकन

उपर्युक्त न ४ और ५ का अर्थ है कि सामाजिक और आर्थिक ऊपरी लागत के मामले मे सरकार द्वारा अभी तक अपनायी गयी नीतियो की समीक्षा की जाय।

हम समझते है कि इस काम के लिए अगले दो वर्षो मे एक निर्भीक और कल्पनाशील प्रयत्न करना आवश्यक है। वैज्ञानिक तरीको और नयी तकनीको के प्रादुर्भाव से कृषि और पशु-पालन के क्षेत्र मे उत्पादन की प्रविधियो पर सीधा असर पडेगा। गाँवो मे प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध बनानेवाली परम्परा के गहन आवरण को भेदना अत्यन्त आवश्यक है। ग्रामीण उद्योगो के क्षेत्र मे विस्तार से भी भारत की प्रगति को अवरुद्ध बनानेवाली परम्परा के इस आवरण को भेदने की प्रक्रिया मे सहायता मिलेगी और ग्रामवासियो की विशाल सख्या द्वारा उत्पादन की अपनी समस्याओ को एक नये दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता भी उपजेगी। इस प्रकार गॉव मे कृषि और उद्योगो की वर्तमान गतिहीन अवस्था भी समाप्त हो जायगी।

औद्योगिक विकास

कृषि, पशु-पालन और देहात के उद्योगो को प्रधानता देने से जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने, सतत विकास और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के राष्ट्रीय उद्देश्यो की पूर्ति के लिए द्रुत गति से औद्योकीकरण की आवश्यकता कम नही होती। ऐसी स्थिति मे, जबकि देश को विदेशी आक्रमण के खतरे का सामना करना पड रहा है, विकास नीति का यह पहलू और भी ज्यादा महत्व रखता है। कुछ लोगो की यह गलत धारणा बन गयी है कि मूल उद्योगो के विकास पर अधिक बल देने से कृषि-विकास, रोजगार के अवसरो मे वृद्धि और उपभोग स्तर मे सुधार लाने के उद्देश्यो को पूरा करना ज्यादा मुश्किल हो सकता है। असलियत यह है कि अर्थ-व्यवस्था के इन दोनो प्रमुख क्षेत्रो मे इस प्रकार का कोई विरोध अथवा प्रतिस्पर्धा नही है। दरअसल कृषि क्षेत्र को उर्वरक, उन्नत ढग के औजार, सिमेण्ट, लोहा और इस्पात, विद्युत शक्ति, पम्प, मोटर इत्यादि वस्तुएँ औद्योगिक क्षेत्र से ही प्राप्त होती है। इन चीजो के बिना कृषि क्षेत्र मे उत्पादकता जितनी देश को जरूरत है उतनी नही बढायी जा सकती। इसी प्रकार, कृषि क्षेत्र के बाहर रोजगार के अवसरो मे वृद्धि लाने और साथ ही पदार्थो और कच्चे माल दोनो का बजार प्रशस्त करने के लिए औद्योगिक क्षेत्र का विस्तार बहुत जरूरी है। राष्ट्र की विकास-नीति मे कृषि और उद्योग

के परस्पर सम्बन्धो को स्पष्ट रूप मे स्वीकार नही किया जाता है तो आर्थिक कल्याण तथा सामाजिक न्याय के राष्ट्रीय उद्देश्यो को पूरा करना आवश्यकता से अधिक कठिन हो जायगा।

इसलिए औद्योगिक विकास का कार्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिये कि अगले दस वर्षो के भीतर देश ऐसी अवस्था मे हो जिसमे विदेशी सहायता पर कम से कम निर्भर रह कर विकास और पूजी-विनियोग की दर ऊँची बनी रहे। इसके लिए आगामी वर्षो मे औद्योगिक उत्पादन के ढाँचे को द्रुत गति से बदलना होगा। विशेषतया, कृषि-विकास के लिए आवश्यक औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन को तेजी से बढाना जरूरी होगा तथा आयात पर कम निर्भर रहने के लिए तेल, धातुओ और मशीनो का उत्पादन बढाना होगा। इन उद्योगो की एक बार सुदढ स्थिति हो जाने पर कृषि और औद्योगिक कच्चे माल को प्रोसेस करने के अनेक उद्योगो के सतत विकास के लिए बुनियाद मजबूत हो जायगी। इनमे से अनेक उद्योग आर्थिक शक्ति और कार्यकलापो के विकेन्द्रीकरण के जबरदस्त साधन होगे। इन बातो को ध्यान मे रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अगले कई वर्षो तक अर्थ-व्यवस्था मे हर वर्ष लगायी जानेवाली पूजी का बहुत बडा हिस्सा अर्द्ध-तैयार माल और पूजीगत वस्तुओ के उद्योगो की स्थापना मे लगाया जाना चाहिये, और समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा मे तेजी से आगे बढने के लिए इस प्रकार के पूजी-विनियोग सम्बन्धी प्रमुख निर्णय सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा किये जाने चाहिये।

सार्वजनिक और निजी विभाग

औद्योगिक विकास की जिम्मेदारी सार्वजनिक और निजी क्षेत्रो मे इस प्रकार बाँटी जानी चाहिये कि समाजवाद के उद्देश्य के अनुरूप उत्पादन के साधनो पर सामाजिक नियत्रण का अनुपात बढता रहे। सरकार के औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे इन दोनो क्षेत्रो के अन्तर्गत उद्योगो को जिस प्रकार बाँटा गया है, वह इस सन्दर्भ मे भी पूर्णतया ठीक है। भविष्य मे सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत मशीन-निर्माण उद्योगो के विस्तार पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। इन उद्योगो के लिए जो लक्ष्य रखे जाये उनकी पूर्ति आर्थिक विकास के लिए सबसे ज्यादा महत्व रखती है। इसके अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत मशीन निर्माण उद्योगो के कार्यक्षम स्वरूप से इनकी बनायी मशीनो को लगानेवाले अन्य उद्योगो के नियमन मे भी सुविधा होगी।

आर्थिक विकास और उत्पादन-साधनो पर सामाजिक नियत्रण रखने के लिए सरकारी औद्योगिक क्षेत्र का विस्तार अनिवार्य है, इसलिए प्रमुख अर्द्ध-तैयार माल और पूजीगत वस्तुओ के उद्योगो की स्थापना और उन्हे कार्यक्षमता के साथ चलाने की बहुत बडी जिम्मेदारी पूरी करना भी सरकार के लिए जरूरी हो जाता है। औद्योगिक नीति-प्रस्ताव पर अमल करते समय लक्ष्यो की क्रमागत पूर्ति, सरकारी और निजी क्षेत्रो के कार्यो मे थोडी-बहुत हेर-फेर करना जिससे उत्पादन-लक्ष्यो को पूरा करने मे देरी न हो, इत्यादि पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। पिछले वर्षो मे सरकार ने इस आधार पर तीसरी योजना के लक्ष्यो की पूर्ति को दृष्टि मे रख कर सरकारी क्षेत्र के लिए निर्दिष्ट उद्योगो के क्षेत्र मे निजी क्षेत्र को प्रवेश करने की अनुमति दी है। साथ ही साथ यह भी जरूरी है कि निजी क्षेत्र के लिए निर्दिष्ट उद्योगो मे परियोजनाओ को क्रियान्वित करने मे निजी क्षेत्र के विफल रहने पर सरकार को निजी क्षेत्र मे प्रवेश करने के लिए तैयार रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त जन-साधारण के उपयोग की कुछ वस्तुओ, जैसे कपडे का उद्योग, मे अतिरिक्त उत्पादन-क्षमता का उपयोग सहकारी अथवा राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत विकेन्द्रीकरण के आधार पर होना चाहिये। इन इकाइयों मे उत्पादन जन-साधारण के उपभोग की कुछ वस्तुओ तक सीमित रहना चाहिये। वर्तमान इकाइयो को निर्यात के लिए आर्थिक मदद दी जानी चाहिये।

जन साधारण के लिए उत्पादन

उपभोक्ता-वस्तु उद्योगों के क्षेत्र में हमको अपने

विन्त्रागो ने न ान्ना ल ाना बहुत जरूरी है । इन उद्योगो मे उत्पादन सामान्यजन की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर होना चाहिये । लेकिन हमे डर है कि इन उद्योगों की उत्पादन योजना मे उच्च आय वर्ग की आवश्यकताओं का अधिक ध्यान रखा जा रहा है । इसलिए झूठी चमक-दमक थी वस्तुओ की किस्मो और अत्यधिक उत्पादन पर कठोर नियत्रण रखना और जन-साधारण के उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन पर बल देना जरूरी है । इससे उत्पादन-लागत कम होगी और राष्ट्र के सीमित साधन अनिवार्य वस्तुओ के उत्पादन मे लगाये जा सकेगे । हम समझते हैं कि इस चीज को औद्योगिक नीति का एक अग स्वीकार कर लेना चाहिये ।

सरकारी क्षेत्र द्वारा अनेक उद्योगो मे उत्तरोत्तर अधिक जिम्मेदारी ले लेने से सरकारी क्षेत्र मे समुचित सगठनात्मक परिवर्तन लाये बिना योजना के क्रियान्वयन मे देरी होना तथा तकनीकी और प्रबन्ध-सम्बन्धी, परामर्श-खर्च या लागत बढ जाना सम्भव है । ऐसे उद्योगों मे, जिनमे भारी पूजी-विनियोग हुआ हो और प्रतिफल प्राप्त होने की लम्बी अवधि हो, यह खर्च विशेषतया ज्यादा होता है । इन खर्चों को कम करने के लिए इस्पात, उर्वरक और रासायनिक पदार्थों के प्रमुख उद्योगो के लिए सरकार को विशिष्ट आयोजन और डिजाइन-सगठन तुरन्त स्थापित करने चाहिये । इस प्रकार के सगठन केवल उनको सौपे गये मामलो मे विशेषज्ञ-मत और सलाह देने के ही योग्य नही होने चाहिये, बल्कि वे उनको सौपे गये उद्योगो के पूर्ण आयोजन के लिए भी जिम्मेदार होने चाहिये । इन सगठनो का उपयोग निजी सगठन के अन्तर्गत विकास के लिए सम्बद्ध परियोजनाओं के औचित्य पर विचार करने के लिए भी किया जाना चाहिये ।

निजी क्षेत्र पर नियंत्रण

सामाजिक न्याय के उद्देश्यो की पूर्ति सरकारी औद्योगिक क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ निजी क्षेत्र के विस्तार के ढग और गति पर प्रभावकारी नियत्रण रहे बिना नही हो सकती । निजी क्षेत्र के सुपुर्द की गयी प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो की परियोजनाओ का वास्तव मे क्रियान्वयन हो, इस दिशा मे कदम उठाने होगे । इसमे कोई सदेह नही कि इस उद्देश्य के लिए लायसेस पद्धति जारी रहेगी, लेकिन यदि लायसेस विधि को आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के लिए और समुचित सफलता प्राप्त करने के लिए वास्तव मे कारगर बनाना है तो लायसेस देने की विधि मे सशोधन किए जाने चाहिये । वर्तमान बडे औद्योगिक सस्थानो को अपनी परियोजनाओ के लिए लायसेस, तकनीकी और आर्थिक पहलुओ के बारे मे पूरी जानकारी प्राप्त होने पर ही दिये जाये । लायसेस देते समय लायसेस लेनेवाले द्वारा उठाये जानेवाले कदमो और समय आदि का स्पष्ट चित्र सामने होना चाहिये । सरकार द्वारा आवश्यक सहायता दिये जाने के बावजूद परियोजना के क्रियान्वयन मे अनावश्यक देर हुई हो तो सरकार को लायसेस रद्द कर देना चाहिये और उस परियोजना के क्रियान्वयन का कार्य सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत ले लेना चाहिये । आरम्भ मे हमने जिन तकनीकी और प्रबन्ध सम्बन्धी सगठनो का उल्लेख किया है उनकी स्थापना होने पर ही लायसेस रद्द करने की नीति काम करेगी। लायसेस रद्द कर देने के माने प्रमुख परियोजनाओ का उन्मूलन नही, बल्कि सरकारी क्षेत्र द्वारा उनका प्रभाव-कारी ढग से क्रियान्वयन किया जाना है ।

लायसेंस विधि को कड़ा बनाना

लायसेस विधि को कडा बनाने के साथ-साथ इकाइयो के स्थान के चयन और इकाई के आकार पर अधिक बल दिया जाना चाहिये, जिससे इकाइयॉ आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हो और उत्पादन लागत उत्तरोत्तर कम हो सके । इस सिलसिले मे लाभप्रद आकार की इकाइयो को लायसेस देने की नीति अपनाने मे इस बात का ध्यान रखना होगा कि उद्योग चलाने की योग्यता अथवा रुपये-पैसे के साधनो की कमी को आधार बना कर कही बडे-बडे उद्योग-सस्थानो को ही ये लायसेस न मिलने लगे । बडे-बडे औद्योगिक समूहो की नयी परियोजनाओ के लिए इस प्रकार के लायसेस

जारी न करने का निर्णय सरकार द्वारा लिया जाना आवश्यक होगा। अपेक्षाकृत छोटे व्यापार सस्थानो को इस क्षेत्र मे आवश्यक अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये और सरकार के तत्वावधान मे स्थापित की गयी तकनीकी विशेषज्ञो की सस्थाओ और विशिष्ट वित्तीय सस्थाओ को इस प्रकार की व्यापारिक इकाइयो को तरजीह देने की हिदायत दी जानी चाहिये। विशेषतया निजी क्षेत्र के तकनीकी और प्रबन्ध कर्मचारियो को आगे आने के लिए और स्वत उद्योग स्थापित करने के लिए सरकार को वित्तीय सहायता तथा अन्य प्रकार की सहायता के रूप मे प्रोत्साहन देना चाहिये। इससे आर्थिक शक्ति के जमाव की समस्या हल नही होगी, लेकिन बहुत बडे उद्योग सस्थानो को और भी ज्यादा बडा होने से रोकने के लिए यह एक जरूरी कदम है। निजी क्षेत्र के कुछ लोगो के हाथो मे आर्थिक शक्ति के सकेन्द्रण को वास्तव मे रोकने के लिए सरकार को वित्तीय और वितरण सम्बन्धी कार्यकलापो मे अधिक हस्तक्षेप करना आवश्यक होगा।

लायसेस विधि को उपर्युक्त प्रकार से सख्त बनाने के कारण इस विधि के अनुसार काम करनेवाले प्रशासनिक यत्र पर भी निश्चय ही ज्यादा दबाव पडेगा। इसलिए जब तक औद्योगिक विकास नीतियो पर अमल करनेवाली एजेसियो पर पड रहे दबाव को कम करने की दिशा मे कदम नही उठाये जाते तब तक भ्रष्टाचार का खतरा और भी ज्यादा बढ जायगा। सामान्यतया इस प्रकार के कट्रोल के लिए उच्च प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र अथवा उपयोग निर्दिष्ट करने चाहिये और तदनुसार काम करने अथवा लायसेस या कोटा देने की नीति अपनायी जानी चाहिये। इस प्रकार के प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो की आवश्यकता पूरी होने पर निजी क्षेत्र के अन्य उद्योगो को अपनी आवश्यकताएँ बची हुई सप्लाई से बोली लगा कर पूरी करने की छूट होनी चाहिये। इससे एक ओर तो काला बाजार की सम्भावना कम होगी और दूसरी ओर समुचित वित्तीय उपायो द्वारा सरकार को अधिक राजस्व प्राप्त होगा। इस प्रकार की व्यवस्था का मतलब यह नही है कि उपभोक्ताओ को बाध्य होकर अब जो कीमत मुनाफाखोरो को देनी पडती है, उससे अधिक कीमत देनी होगी।

आर्थिक विकास की वर्तमान अवस्था मे देश के औद्योगीकरण के लिए हमे आवश्यक रूप मे विदेशो से सहायता लेनी होगी। विदेशी सहायता सरकार द्वारा ऋण के रूप मे, निजी उद्योगो को ऋण दिलाने और उद्योगो की समाधिकारी पूजी मे हिस्सा लेने के रूप मे प्राप्त की जाती है। भारत सरकार ने कुछ छटे हुए उद्योगो मे, जिनमे तकनीकी जानकारी का अभाव है और बडे परिमाण मे पूँजी की आवश्यकता है, विदेशी पूँजी का समाधिकारी हिस्सा-पूँजी मे हिस्सा लेने का स्वागत किया है। समाधिकारी हिस्सा-पूँजी मे जो विदेशी मुद्रा उपलब्ध हो, उसका उपयोग सावधानी के साथ ऐसे उद्योगो मे किया जाना चाहिये जिनमे हम अपने प्रयत्नो से आगे नही बढ सकते। हमको विदेशी पूँजी कुछ चुने हुए उद्योगो मे उपलब्ध करने और विभेदात्मक ढग से विदेशी पूजी को प्रोत्साहन देने की नीति पर कायम रहना चाहिये।

ऋण की दिशा

सामाजिक उद्देश्यो और राष्ट्रीय प्राथमिकताओ के अनुरूप ऋण और विनियोजन-योग्य साधन जुटाने के लिए रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंको को आदेश देना चाहिये कि वे जो रुपया उधार देते है उसका उपयोग उद्देश्य के अनुरूप होता है या नही और उधार लेनेवाले उस धन का उपयोग उधार लेने के उद्देश्य के अनुसार करते है या नही, इस प्रश्न पर विचार करे। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक के पास बुराइयो का पता लगाने और उनके खिलाफ कार्यवाही करने के लिए समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को अपने अधिकारो को काम मे लाकर तथा समुचित नियम बना कर यह देखना होगा कि व्यापारिक बैंक रुपया उधार देने मे जो प्राथमिकताएँ देते है वे योजना में स्वीकृत सामाजिक अथवा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप हों। दूसरे शब्दो मे मूल उद्योगो और छोटे उद्योगों, नये

उद्योगपतियो और कृषि-कार्यो को दूसरो को प्राथमिकता देने से पूर्व वित्तीय सहायता मिलनी चाहिये।

रिजर्व बैंक को मौजूदा अधिकारो के अतिरिक्त यह अधिकार भी होना चाहिये कि वह निरीक्षण के पश्चात् (अ) विशेष आडिट की आज्ञा दे सके, (आ) निरीक्षण के समय अनियमितताएँ प्रकाश मे आने पर आडिटर नियुक्त कर सके, और (इ) शेयर-होल्डरो द्वारा नियुक्त किये गये आडिटरो के स्थान पर जहाँ जरूरत समझे नये आडिटर नियुक्त कर सके। अनुसूचित बैंक जिनकी शेयर-पूजी और सुरक्षित धनराशि ५० लाख रुपये या उससे ऊपर है, उनका वार्षिक निरीक्षण करने की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक को कानून के जरिये सौपी जानी चाहिये।

निम्नलिखित दशाओ मे व्यापारिक बैंको के, जिनकी अनुचित और अवाछित कार्रवाइयाँ प्रकाश मे आये, डायरेक्टरों को बदलने या नया बोर्ड ऑफ डायरेक्टर बनाने या सरकारी क्षेत्र के बैंको या अन्य स्वीकृत अनु-सूचित बैंकों मे उन्हे मिला देने या बैंक का कार्य सचालन अपनी देख-रेख मे कराने का पूरा अधिकार रिजर्व बैंक को होना चाहिये और उसको काम मे लाने के लिए उसे सदा तत्पर रखना चाहिये

१ रिजर्व बैंक द्वारा कराये गये निरीक्षण मे या रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त आडिटरो के आडिट मे यदि किसी बैंक की भारी अनियमितताएँ प्रकट हो,

२ यदि बैंक का लायसेस रद्द कर दिया गया हो या वापस ले लिया गया हो,

३ यदि जमा बीमा योजना के अधीन बैंक का पजी-करण निरस्त कर दिया गया हो,

४ सीमित ऋण नियत्रण नीति के अनुरूप विभिन्न प्रकार के ऋणो के बारे मे दिये गये आदेशो का यदि उल्लघन हुआ हो,

५ किसी एक प्रकार के व्यापार अथवा उद्योग के लिए किसी एक प्रकार की सिक्युरिटी या प्रतिभू पर दिया गया ऋण कुल ऋण के आधे से यदि अधिक हो,

६ ऐसे सस्थान को दिया गया ऋण, जिसमे बैंक के डायरेक्टर दिलचस्पी रखते हो, यदि कुल दिये गये ऋण के एक-चौथाई से अधिक हो,

७ यदि बैंक के डायरेक्टर-मडल मे ऐसा व्यक्ति हो जिस पर आय कर, मृत सम्पत्ति-शुल्क, बिक्री कर या सीमा शुल्क या विदेशी विनिमय नियमो का उल्लघन करने के कारण जुर्माना हुआ हो या जो आय-कर, मृत सम्पत्ति-शुल्क, बिक्री कर या सीमा शुल्क न देता हो,

८ यदि बैंक के डायरेक्टर मडल मे एक ही सयुक्त परिवार या मैनेजिग एजेण्ट समूह के दो या अधिक व्यक्ति हो,

९ यदि बैंक रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये गये आदेशो का उल्लघन करके विदेशो मे व्यापार करता हो,

१० रुपया उधार लेनेवाले से रकम का किस प्रकार उपयोग होगा, यह जाने बिना अथवा यह तस्दीक किये बिना कि उधार लेनेवाला उस रकम का बताये गये उद्देश्य के अनुसार उपयोग कर रहा है, यदि कोई बैंक रुपया उधार देता रहे, और

११ यदि बैंक राष्ट्रीय हित के विरुद्ध किसी भी कार्यकलाप मे भाग लेता रहे।

छिपा हुआ धन

वह धन जिसका कोई हिसाब नही रखा गया, गैर-जिम्मेदार लोगो के हाथो मे कई तरीको से आता है और असामाजिक तथा समाज-विरोधी कार्यो के लिए उसका कई रूपो मे प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए, आयात लायसेस की बिक्री या हस्तान्तरण आदि, आम बीमा व्यापार मे कटौती, अचल सम्पत्ति की बिक्री-खरीद और उसे किराये पर चढाना—खास तौर पर बडे शहरो मे—तस्करी और आयात-निर्यात की वस्तुओ का मूल्य बढा कर या घटा कर दिखाना, आदि मामले है।

इस धन के बारे मे जिसका हिसाब नही रखा गया है, हमे दो पहलुओ पर विचार करना होगा–(१) समाज मे मौजूद इस प्रकार के धन से किस तरह पेश आया जाये, और (२) भविष्य मे इस प्रकार के धन के जमा होने को किस प्रकार रोका जाये।

जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, आज समाज मे इस प्रकार के छिपाये हुए धन की मौजूदगी के खतरे पर जोर देने के लिए किसी तरह की दलीलो की जरूरत नही। इस मामले मे जितनी सख्त कार्यवाही की जाये, कम है। अत इस समस्या के बारे मे पूरी गम्भीरता के साथ विचार करना होगा। इस प्रकार के धन के एकत्र होने को भविष्य मे रोकने के लिए हमे देखना होगा कि किन परिस्थितियो मे वह धन पैदा होता है जिसका हिसाब नही रखा जाता। इस प्रकार के धन के सग्रह और समाज-विरोधी प्रयोग को मुद्रास्फीति से प्रभावित अर्थ-व्यवस्था मे प्रोत्साहन मिलता है। मूल्यो मे जितनी स्थिरता होगी, उतनी ही इस प्रकार के धन को जमा करने की गुजाइश कम होगी। सरकारी नियत्रण व्यवस्था, आम बीमा क्षेत्र और शहरो मे सम्पत्ति के हस्तातरण सम्बन्धी मामलो से भ्रष्टाचार को दूर करने की कोशिश सहायक सिद्ध होगी। गैर-बैकिग-जरियो से बहुत अधिक धन के लेन-देन और प्रयोग पर रिजर्व बैंक द्वारा ज्यादा निगरानी और नियत्रण रखा जाना चाहिये। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करो को लगाने और उनकी वसूली की व्यवस्था की लगातार छानबीन की जानी चाहिये ताकि देखा जा सके कि किस प्रकार इनमे सुधार किया जा सकता है और इन्हे कैसे और ज्यादा कारगर बनाया जा सकता है।

यदि इस मौजूदा बेहिसाब धन को समूल नष्ट करने के लिए कदम उठाने के साथ-साथ भविष्य मे इस प्रकार के धन सग्रह को रोकने के लिए कदम नही उठाये गये तो हर बार हमे सख्त कार्यवाही करनी होगी जिससे समूची अर्थ-व्यवस्था मे विघ्न पैदा होगा। अत इस समस्या के सभी पहलुओ पर समग्र रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

आय की विषमताएँ

अभी तक हम इस समस्या को सब स्तरो पर, खास तौर पर निम्न स्तरो पर आय की वृद्धि के दृष्टिकोण से देखते आये है, किन्तु गत दस वर्षो का अनुभव है कि विकास की गति मे वृद्धि के साथ-साथ कई नये प्रकार की विषमताएँ पैदा हुई है। इस प्रकार की प्रक्रिया को रोकना होगा। तीसरी पच वर्षीय योजना के अन्तर्गत आय के उच्चतम और निम्नतम स्तरो के बीच के अन्तर को १ ३० के अनुपात मे क्रमश घटाने का ध्येय स्वीकार किया गया है जिसे कि आगामी दो या तीन योजना-वधियो मे पूरा किया जाना है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए अधिक सोद्देश्य वित्तीय उपाय काम मे लाये जाने चाहिये। जो भी हो, विशेष योग्यता, जिम्मेदारी रखनेवाले तथा जोखिम उठा कर काम करनेवाले लोगो को प्रोत्साहन देने के लिए कदम उठाये जाने चाहिये। अनर्जित आय और ग्रामीण तथा गैर-ग्रामीण आय के बीच की विषमता की समस्या पर भी विचार करना होगा।

श्रम-नीति

उत्पादन के मामले मे मजदूर का पूंजी से कम महत्व नही है। आर्थिक विकास का एक उच्च स्तर प्राप्त करने के लिए सोच-विचार कर श्रम-नीति अपनाना और उत्साही ढग से उसे अमल मे लाना जरूरी है। उन्नत उत्पादन तथा उत्पादनशीलता तभी सम्भव है जबकि श्रमिक आर्थिक विकास की समस्या मे दिलचस्पी लेने लगे। समाजवादी समाज मे यह काम उद्योगो के सचालन से श्रमिको को अधिकाधिक सम्बन्धित करके पूरा हो सकता है। वर्तमान अशान्तिपूर्ण श्रम सम्बन्धो को, खास तौर पर सरकारी क्षेत्र की मुख्य औद्योगिक इकाइयो मे ऐसे सम्बन्धो को, ध्यान मे रखते हुए इन ध्येयो को सामने रखना होगा। भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचारधाराओ के मजदूर सघों ने राजनीतिक सघर्षो और आपसी झगडो तथा अन्य मजदूर सघीय वैमनस्यो को कारखानो में, ला खडा किया है। परिणाम स्वरूप सबसे पहले अनुशासन की हत्या हुई है जिससे अति महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे उत्पादन की क्षति हुई है। लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए मजदूर सघो के हर राजनीतिक गुट ने एक दूसरे को परास्त करना चाहा है और गुट द्वारा अधिकाधिक अनुचित मागे पेश की जा रही हैं। मजदूर सघो के बीच ऐसे प्रति-स्पर्धात्मक सघर्षो से कई जगह झगडे पैदा हुए हैं। यदि औद्योगिक प्रगति को सुरक्षित और सुनिश्चित बनाना है तो मजदूर सघो की समस्या के प्रति राजनीतिक दलो के रवैये मे एक आमूल परिवर्तन आवश्यक है।

देश के सभी राजनीतिक दल अपने साथ मजदूर सघो को सलग्न रखने के विचार के लिए जिम्मेदार है। अब जरूरी है कि मजदूर सघो और राजनीतिक दलो के बीच ऐसे सम्बन्ध के भविष्य पर हम निर्णय करे जिसका कि आर्थिक विकास के लिए बुरा परिणाम होता है। देश को श्रमिको के लिए एक नयी नीति अपनानी होगी, ताकि श्रमिक अनुशासन पालन करते हुए और साथ ही मजदूर सघ कायम करने की स्वतत्रता से वचित हुए बिना काम कर सके। इस सम्बन्ध मे हर औद्योगिक इकाई मे गुप्त मतदान द्वारा श्रमिको के उन प्रतिनिधियों के चुनाव के विचार पर गौर किया जा सकता है, जिन्हे कि कारखानो के मजदूरो की ओर से बातचीत करने और उनका प्रतिनिधित्व करने का एकमात्र अधिकार होगा। इससे हमारे कारखानो मे अनुशासन कायम करने और साथ ही उचित और उत्तरदायी प्रतिनिधित्व प्रदान करने मे काफी मदद मिलेगी। इस तरीके को अपनाने से कारखानो के कार्य-सचालन मे श्रमिको को अधिकाधिक सम्बन्धित करने में भी सहायता मिलेगी।

इस समस्या पर तुरन्त ध्यान दिया जाना जरूरी है और औद्योगिक सम्बन्धो मे सुधार लाने के लिये तौर-तरीके ढूंढे जाने चाहिये, जिसके परिणाम स्वरूप उद्योगो के सचालन से श्रमिक वर्ग अधिकाधिक सम्बन्धित हो सके।

न्यूनतम आवश्यकताएँ और सामाजिक सुरक्षा

कमेटी ने अभी तक पिछले पैराग्राफो मे भुवनेश्वर मे स्वीकृत प्रस्ताव मे दिये गये वचन को शीघ्र पूरा करने के लिए बुनियादी विकास कार्यक्रमो की चर्चा की है। अब कमेटी न्यूनतम आवश्यकताओ और सामाजिक सुरक्षा के कुछ पहलुओ के बारे मे भी अधिक निश्चित रूप से कुछ कहना चाहती है। इन न्यूनतम आवश्यकताओ का अपना विशेष महत्व है और इनका उल्लेख विशेषत आवश्यक है।

हमारा सुझाव है कि देश के लोगो को शहरो, कस्बों व गाँवो मे वर्ष भर सभी मौसमो मे पेय जल उपलब्ध करने के लिए एक क्रमिक योजना बनायी जानी चाहिये। पेय जल की आवश्यक उपलब्धि और साथ ही वर्ष भर सभी मौसमो मे उसकी पूर्ति की आवश्यकता पर बल दिया जाना जरूरी है, क्योकि अक्सर यह महसूस नही किया जाता कि गर्मियों मे तथा बारिश न होने पर जल उपलब्धि के प्रबन्ध बहुधा बेकार हो जाते है। अत जल उपलब्धि का पूरा आश्वासन होना चाहिये।

जल-पूर्ति के साधन केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो और स्थानीय निकायो द्वारा उपलब्ध किये जाने चाहिये। इस पुण्य कार्य के लिए जनता से चन्दा इकट्ठा करना भी सम्भव हो सकता है। जिन्स के रूप मे और मजदूरी के रूप मे जन सहयोग पाना भी सम्भव है। जल की समस्या हल करनेवाली कई सस्थाएँ है। उदाहरण के लिए सिचाई विभाग की कृषि कार्यो के लिए जल पूर्ति की अपनी योजनाएँ है। बिजली बोर्डो की भी जल विद्युत योजनाएँ है। यहाँ तक कि खनिज विभागो और खनिज उद्योगो को भी अतिरिक्त जल की समस्या का सामना करना पडता है। तेल तथा गैस परियोजनाओ के आरम्भिक क्रम मे अतिरिक्त जल के निपटाने का प्रश्न कई बार एक समस्या का रूप ले लेता है। एक बार भारत सरकार के सम्मुख जल बोर्ड कायम करने का सुझाव आया था। हमारा खयाल है कि यह सुझाव अच्छा था और इस पर फिर विचार किया जाना चाहिये। केन्द्र और राज्यो मे समन्वय तथा कार्य-पूर्ति के लिए आवश्यक अधिकार प्राप्त एक व्यवस्था कायम की जानी चाहिये। हमारा यह भी विचार है कि कृषि विकास के लक्ष्यो की पूर्ति की भाँति इस क्रमिक योजना की पूर्ति को भी उच्चतम महत्व दिया जाना चाहिये और मुख्य मन्त्री तथा कार्य-भार सम्भालनेवाले मन्त्री को असफलता होने पर जिम्मेदार ठहराया जाना चहिये।

यह समझना बहुत जरूरी है कि जल-प्राप्ति की समस्या इतनी आसान नही जितनी नजर आती है। अभी तक कई बडे शहरो—जोकि हर माने मे आधुनिक है, जैसे कि बम्बई, मद्रास, कलकत्ता आदि—के बाहर के इलाको मे जल-प्राप्ति की उचित सुविधाएँ नही है। इस कार्यक्रम के लिए भारी विनियोग आवश्यक होगा। पाइप लाइनो के जरिये पानी पहुँचाने के लिए एक बडी मात्रा मे लोहा, इस्पात, और सीमेण्ट की जरूरत होगी। कई स्थानो मे बिजली

की मदद से पानी को उच्चतर स्तरो पर पहुँचाना पडेगा। अत क्रमिक योजना मे इन सब बातो पर उचित ध्यान रखा जाना चाहिये । निस्सन्देह इस कार्यक्रम की पूर्ति मे कुछ समय लगेगा, किन्तु इसे सुव्यवस्थित ढग से पूरा करने के लिए हमारी सच्ची कोशिशो से जनता को भरोसा होगा कि यह एक थोथा वादा नही है।

आवास तथा आवास भूमि

यह एक कठिन समस्या है। गॉव और शहर दोनो मे बहुत घनी आबादी है। गॉवों मे भी यह कठिनाई मौजूद है। गैर-कृषि भूमि की कमी नही है, लेकिन गॉव की बढती हुई आबादी के लिए गॉव के निकट ही मकानो की जगह होनी चाहिये और गैर-कृषि भूमि गॉव से दूर होती है। गॉव के निकट कृषि भूमि बहुत मॅहगी होती हैं। ऐसे मामलो मे नये गॉव स्थापित करने का सवाल भी पैदा होता है। शहरो मे नयी आबादी आने के कारण मकानो के किराये और जमीन की कीमते बहुत बढ गयी है। मकान मालिको और साथ ही किरायेदारो के दुर्व्यवहारो से सब प्रकार के झगडे पैदा होते हैं। इसके अलावा मकान बनाने की सामग्री प्राप्त करना कठिन है। इमारती लकडी का भाव अधिकाधिक बढता जा रहा है। यहॉ तक कि घरेलू आधार पर बनायी जानेवाली ईटो और चूने के दाम भी बढते जा रहे हैं।

हमारा खयाल है कि निम्न आय वर्गो तथा समाज के निर्बल वर्गो की आवास सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उचित सुविधाएँ उपलब्ध करने मे सरकार और स्थानीय निकायो के दृष्टिकोण मे समाजवाद की भावना प्रकट होनी चाहिये । इस काम के लिए नीचे लिखे कदम तत्काल उठाये जाने चाहिये

१ बेघरबार परिवारो की सख्या जानने के लिए सर्वेक्षण किया जाय। चौथी पच वर्षीय योजना के अत से पूर्व इन परिवारो को मकान के लिए जमीन दिलाने की एक क्रमिक योजना एक वर्ष के भीतर तैयार की जाय। इस काम के लिए सामुदायिक विकास खण्डो का उपयोग किया जाना चाहिये।

२ जीवन बीमा की योजनाओ को स्वास्थ्य-सेवाओ और आवास कार्यक्रम के साथ सबन्धित किया जाय। अगर यह मान लिया जाय कि जीवन बीमा निगम को प्राप्त धन का अधिकाश भाग स्वास्थ्य और आवास के लिए काम मे लाया जायेगा तो जनता अनिवार्य जीवन बीमा का विरोध नही करेगी।

३ जरूरतमद लोगो को जमीन और इमारती सामान दिलाने की एक क्रमिक योजना बनायी जानी चाहिये। दो कमरे से कम जगह मे रहनेवाले परिवारों को इस योजना से लाभ पहुँचना चाहिये बशर्ते कि वे परिवार निम्न आय वर्ग मे आते हो अथवा अनुसूचित जनजातियो के हों। इन लोगो को मकान बनाने के लिए कर्ज दिया जाना चाहिये, जिसकी वसूली किस्तो और ब्याज की रियायती दरो पर की जानी चाहिये।

४ सरकार द्वारा स्थानीय निकायो, औद्योगिक इकाइयो—सरकारी और निजी दोनो—और पचायत समितियो को अपने कर्मचारियो और कार्यकर्त्ताओ के लिए आवास कार्यक्रम आरम्भ करने मे सहायता दी जानी चाहिये।

५ सरकार को ऊसर भूमि पर ईट के भट्टे बनाने और मकानो के लिए जमीन निकालने तथा मकानों के निर्माण के लिए आसान कायदे-कानून बनाने चाहिये।

६ कस्बो, शहरो और गॉवो मे खाली पडी जमीन के मालिको से कहा जाना चाहिये कि एक उचित अवधि मे वे अपनी जमीन पर मकान बना ले। अगर वे ऐसा नही करते है तो राज्य, नगरपालिका अथवा पचायत, जो भी हो, द्वारा ऐसी जमीन जब्त की जानी चाहिये। इस तरह जमीन की किल्लत दूर करने, किरायो को घटाने और यहाँ तक कि जमीन की कीमतो को एक हद तक कम करने मे बडी मदद मिलेगी। घनी बस्तीवाले कस्बों और शहरो मे न केवल आवास निर्माण की अधिकतम सीमा, बल्कि अल्पतम सीमा भी निर्धारित करना आवश्यक है, ताकि भूमि का यथा सम्भव लाभकर उपयोग हो सके और इन इलाको मे आवास निर्माण का काम तेजी के साथ बढ सके।

७ निम्न आय वर्गो, श्रमिको, कृषको, हरिजनो और जनजातियो के लोगो के लिए सचमुच काम करनेवाली आवास सहकारी समितियो को वित्तीय सहायता तथा आवास सामग्री और साथ ही आवास स्थलों की उपलब्धि के मामले मे उचित प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

स्वास्थ्य और शिक्षा

स्वास्थ्य और शिक्षा के मामले मे राष्ट्र को अपने बालको पर सर्व प्रथम ध्यान देना चाहिये। अवसर की समानता जन्म से आरम्भ होनी चाहिये। बालक को पौष्टिक आहार, उसके स्वास्थ्य की उन्नति, उसकी शिक्षा, एक माने मे राष्ट्र की अवनति न होने देने के लिए एक प्रकार का सामाजिक बीमा है। इस सदर्भ मे विशेषाधिकारो से वचित लोगो के बच्चो को विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के बच्चो के लगभग बराबर लाने के लिए विशेष सहायता की जानी चाहिये।

पॉचवी योजना के अन्त तक सभी बच्चो के लिए प्राथमिक शिक्षा नि शुल्क और अनिवार्य हो जानी चाहिये। राष्ट्र की औसत पारिवारिक आय से कम आयवाले लोगो के सभी बच्चो को माध्यमिक स्तर की शिक्षा नि शुल्क मिलनी चाहिये और उच्चतर शिक्षा सभी होनहार बच्चो को नि शुल्क प्राप्त होनी चाहिये। नि शुल्क शिक्षा मे नि शुल्क पुस्तके, मध्य-दिवस आहार और साथ ही अनुसूचित जनजातियों तथा अनुसूचित जातियो के बच्चो, खास तौर पर उनकी लडकियो, के लिए वस्त्रो की प्राप्ति भी शामिल होनी चाहिये। उच्चतर श्रेणी मे नि शुल्क शिक्षा के अधीन पुस्तको की उपलब्धि और छात्रावास का व्यय शामिल होना चाहिये। तकनीकल शिक्षा के क्षेत्र मे सर्टिफिकेट या डिप्लोमा पाठ्यक्रम मे भर्ती होनेवाले उन बालको को नि शुल्क शिक्षा का लाभ प्राप्त होना चाहिये, जिनके माता-पिता की आय राष्ट्र की औसत पारिवारिक आय से कम है।

कृषि उत्पादन की वृद्धि की हमारी योजना मे हमने श्रमिको के अपने निजी गुणो पर कभी ध्यान नही दिया। बहुधा लोग यह भूल जाते है कि कृषि उत्पादन बहुत कुछ श्रमिको के अपने गुणो पर निर्भर करता है। अत कृषि विकास और नये वैज्ञानिक तरीको को काम मे लाने की दृष्टि से कृषि कर्म करनेवाले श्रमिको के प्रशिक्षण और साज-सामान का बहुत महत्व है। साथ ही खेती पर बहुत अधिक लोगों की निर्भरता को भी कम करना जरूरी है। इस दृष्टि से कृषि कर्म करनेवाले श्रमिको को ग्रामोद्योग के क्षेत्र मे, प्रोसेसिग और उपभोक्ता उद्योगो तथा साथ ही अन्य सहायक उद्योगो के क्षेत्र मे नयी तकनीको का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये।

कृषि कर्म करनेवाले श्रमिक

अत इस समस्या को हल करने के लिए एक दोहरा सुझाव दिया जा रहा है

१ कृषि कर्म करनेवाले मजदूरो को कृषि-योग्य पडती भूमि पर बसाना और उन्हे कृषि-उत्पादन की उन्नत तकनीको का प्रशिक्षण देना, तथा

२ ग्रामीण उद्योगीकरण के लिए कृषि श्रमिको का प्रशिक्षण और उनकी भर्ती।

यदि इस समस्या को सतोषजनक रूप से हल करना है तो इन दोनो तरीको को एक साथ अपनाना होगा। हमारा सुझाव है कि आगामी दो वर्षों मे इस काम के लिए उचित आधार बनाया जाय। ऊपर लिखे अनुसार श्रमिको को बसाने और उनके प्रशिक्षण से कृषि सम्बन्धी लक्ष्यो की पूर्ति मे सहायता मिलेगी और ग्रामीण उद्योगीकरण के लिए श्रमिको के प्रशिक्षण तथा साज-सामान की पूर्ति से खेती पर बसर करनेवालो की सख्या मे कमी होगी। इस कोशिश के साथ-साथ न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम भी लागू किया जाना चाहिये, ताकि इस अतराल मे भी कृषि कर्म करनेवाले श्रमिको की अवस्था मे सुधार हो सके।

भारतीय राजनीति की असली कसौटी जन साधारण को अपनी नयी जिम्मेदारियो और साथ ही प्राप्त अवसरो के प्रति सजग कराने तथा राष्ट्रीय प्रयासो मे उन्हे जुटाने की सामर्थ्य है। एक नयी सामाजिक व्यवस्था कायम करना तब तक सभव नही, जब तक कि जन साधारण उसे समझ-बूझ कर स्वीकार न करे और उसे अपनी निजी जिम्मेदारी न समझे।

गाँव और शहर

वैकुण्ठ ल. मेहता

गाँवो में बेरोजगारी का स्वरूप, साधारणतया इस शब्द के जो माने होते है, उससे बिल्कुल भिन्न है। निश्चय ही गाँवों में कुछ ऐसे व्यक्ति है–खास कर गैर खेतिहर उत्पादकों में–जिनके पास साल भर काम नहीं रहता। ऐसे भी बहुत-से आदमी है जिनके पास वर्ष में महीनो काम नही होता। और फिर, ऐसे लोग है जिनके पास काम है, लेकिन पूरे दिन भर का नहीं। इन अन्तिम श्रेणी के व्यक्तियो में कुछ के पास तो इस प्रकार का आशिक काम पूरे वर्ष भर रहता है, जबकि कुछ के पास किन्ही मौसमों में ही। रोजगारी की किसी भी ठोस नीति में इन सभी प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता-पूर्ति करनी होगी। इस दृष्टि से देखने पर यह शकास्पद ही लगता है कि देश के समग्र गैर खेतिहर उत्पादन का स्वरूप भिलाई जैसा ही हो।

राज्य सभा मे वित्त विधेयक पर हुई बहस के उत्तर मे वित्त मत्री श्री टी टी कृष्णमाचारी ने यह विचार प्रकट किया बताया कि देहाती क्षेत्रो मे उद्योगो का विकास होने से ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो के बीच फिलहाल जो भेद है वह समाप्त हो सकेगा। अपने इस विचार के पक्ष मे उन्होने भिलाई के आस-पास हुए विकास का अपना अनुभव पेश किया। पॉच वर्ष पहले आज जहाँ भिलाई है, और जिसकी आबादी १४, ००० है, वह एक उबड-खाबड उजाड खण्ड था। वित्त मत्री के विचारानुसार अगर समूचे देश मे 'भिलाइयो' की स्थापना हो सके तो स्पष्टत समस्या का समाधान हमारी पहुँच के समीप होगा। उन्होने कहा बताया कि केवल एक ही बाधा है। वह बाधा वे सीमाएँ है जिनके अन्तर्गत वित्त मत्रियो को काम करना पडता है। सम्भवत इन सीमाओ का मतलब भिलाई जैसे प्रतिष्ठानो का तीव्र गति से विकास करने के लिए वित्त मत्रियो के पास वित्तीय स्रोतों की कमी से है।

भिलाई का उदाहरण

वित्त मत्री के दिमाग मे असल मे किस प्रकार के औद्योगिक विकास की तस्वीर है, वह ग्राम्य औद्योगीकरण के बारे मे बोलते हुए उन्होने भिलाई का जो विशिष्ट सन्दर्भ पेश किया उससे स्पष्ट है। जिस प्रकार के उद्योग का वे समर्थन करते है वह सार्वजनिक विभाग मे होगा अथवा निजी विभाग मे, वह भारी सामान तैयार करने वाला होगा या उपभोक्ता सामग्री बनायेगा, यह सब वित्त मत्री के भाषण के प्रतिवेदन से स्पष्ट नही होता। लेकिन इसका यह अर्थ निकाला जा सकता है कि, उनके विचार से, ग्रामीण निश्चलता को दूर करने के लिए इस बात की जरूरत है कि गाँवों अथवा जगलो के बीच दीर्घ स्तरीय उत्पादन इकाइयाँ स्थापित की जाये और इन उद्योगो मे काम करनेवालो से शहरी समुदाय विकसित किये जाये। यह दावा किया जाता है कि ये उद्योग गाँवो मे लोगों को काम देगे और वातावरण मे इस प्रकार का परिवर्तन लायेगे कि 'गाँव' और 'शहर' के बीच का भेद मिट जायेगा। इन नये बसे कस्बो मे ग्रामीणो को बिजली, पानी, सडक, स्कूल, अस्पताल, जैसी सभी शहरी सुविधाएँ मिलेगी। तथापि, जैसा कि वित्त मत्री ने कहा है, भिलाई तक मे भी भीड-भाड और कच्ची

झोपडियाँ देखने मे आती है।

सचमुच यह एक आदर्श चित्र है। इस प्रकार का चित्र सामने लाकर रख देनेवाली योजना स्वीकार करने मे, वित्त मत्री को भय है, जो चीज बाधक हो सकती है वह साधन-स्रोतो की कमी इतनी नही है, जितनी कि आवश्यक साधन-स्रोतो के वितरण मे योजना अधिकारियो और केन्द्रीय सरकार की अनिच्छा। भिलाई तथा अन्य इस्पात सयत्रो पर देश को पूंजी व्यय के रूप मे पाँच अरब रुपये लगाने पडे है, तथा भिलाई की क्षमता का विस्तार करने मे डेढ अरब रूपये और खर्च होगे। केन्द्रीय सरकार की औद्योगिक परियोजनाओ के लिए तृतीय पच वर्षीय योजना मे योजना के कुल १ खरब १६ अरब (११,६०० करोड) रुपये के परिव्यय मे से १२ अरब ६० करोड ६९ लाख रुपये का प्रावधान है। आम अपेक्षा यह है कि चौथी पॅचसाला योजना मे इस योजना परिव्यय मे कोई एक खरब (१०,००० करोड) रूपये की वृद्धि हो सकती है। अगर इस अतिरिक्त धनराशि के साथ वित्त मत्री के उक्त विचार को स्वीकार कर लिया जाता है, तो देश भर मे 'भिलाइयो' की स्थापना करते हुए इस विचार को कार्यान्वित चरने मे साधन-स्रोतो की कमी से कोई मार्गावरोध नही आने चाहिये।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का वैविध्यकरण

तथापि, यदि उपयुक्त विदेशी विनिमय सहित वित्तीय साधन-स्रोत उपलब्ध हो तब भी जो उपचार सुझाया गया है वह निश्चय ही उस रोग का निदान करने मे असफल होगा जिससे वर्षों के सघन आयोजन के बावजूद हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था—और फलस्वरूप राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था—ग्रस्त है। योजना अधिकारियो ने—और उनके आर्थिक, साख्यिकीय तथा प्रशासनात्मक सलाहकारो ने—अब तक यह दृष्टिकोण अख्तियार किया है कि कृषि उत्पादन बढाने पर ध्यान केन्द्रित करने के अलावा जरूरत इस बात की है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को बहुमुखी बनाया जाय। देश की चार-पचमाश आबादी देहातों मे रहती है। अपने जीविकोपार्जन के लिए वह कृषि पर निर्भर है। उसकी यह कृषि पर निर्भरता कम करने के लिए इस वैविध्यपन की आवश्यकता है। जिन लोगो की आय का मुख्य स्रोत कृषि है, उन्हे अन्यान्य काम-धधो मे लगा कर उनकी सख्या और अनुपात मे कमी करना आयोजित कार्यक्रम का एक प्रधान उद्देश्य है। पिछले तेरह वर्ष मे निजी और सार्वजनिक विभागो मे उद्योगो का विकास होते हुए और योजना के अन्तर्गत इस प्रयोजन के निमित्त अच्छी-खासी रकम के वितरण के बावजूद यह अनुपात प्राय एक समान ही रहा है। इसलिए योजना अधिकारी इस बात के पक्ष मे है कि देहाती इलाको मे अनेक ऐसे कुटीर और लघु स्तरीय उद्योगो का विस्तृत व सघन विकास किया जाय कि गैर खेतिहर उत्पादन कार्य मे काम करने के जरिये ग्रामीणो की आमदनी मे बढती हो।

दीर्घ स्तरीय उद्योगो मे रोजगारी

तृतीय पच वर्षीय योजना बनाते वक्त जिस ग्रामीण औद्योगीकरण के कार्यक्रम की कल्पना की गयी थी, उसका आधार यही था। ग्रामीण क्षेत्रो मे फिलहाल जो बेरोजगारी है उसके समाधान मे न तो वर्तमान बडे उद्योगो को विभक्त करने या देहाती क्षेत्रो मे स्थानातरित करने से ही और न ही वहाँ दीर्घ स्तरीय बडे उद्योग खोलने से कोई विशेष मदद मिल सकती है। इसके साथ ही यह भी कोई आवश्यक नही कि ऐसा करने से उपलब्ध कच्चे माल का बेहतरीन उपयोग हो सकेगा। गाँव और शहर के बीच व्यावसायिक सम्बन्धो मे सुधार तो और भी कम हो सकता है।

रोजगारी सम्बन्धी नीचे जो आकडे दिये गये है उनसे पता चलेगा कि समस्या जितनी बडी है उसकी तुलना मे नये दीर्घ स्तरीय उद्योगो के खोलने अथवा / वर्तमान बडे उद्योगो का विस्तार करने से बहुत कम लोगों को काम मिल सकता है। इस प्रकार की रोजगारी प्रदान करने मे भिलाई जैसे उत्पादक सामान तैयार

करनेवाले उद्योगों का योगदान, उनमे जो परिव्यय होता है उसकी तुलना मे कम है। निम्न आकडे इस कथन की पुष्टि करते है

	१९५१	१९५६	१९६१
		(हजार मे)	
कारखानो मे रोजगारी	२,९१४	३,४०२	३,९१२
सार्वजनिक विभाग के निर्माण उद्योगो मे रोजगारी अप्राप्य		३६१×	अप्राप्य×
		४१६××	६०३××

× स्टेटिस्टीकल आउट लाइन ऑफ इण्डिया (टाटा इण्डस्ट्रीज)।

×× भारत पाकेट बुक ऑफ इकनॉमिक इनफारमेशन (वित्त मत्रालय)।

तीसरी पाँचसाला योजना के अनुसार कुल १ करोड ४० लाख लोगो को रोजगारी प्रदान करनी है। उद्योग और खान कार्यो के जरिये रोजगारी प्रदान की जा सकेगी ७ लाख ५० हजार व्यक्तियो को।

गाँवों में बेरोजगारी

इसके अलावा गाँवों मे बेरोजगारी का स्वरूप, इस शब्द का साधारणतया जो अर्थ होता है उससे बहुत भिन्न है। गाँवों मे निश्चय ही ऐसे कुछ आदमी है जिन्हे साल भर काम नही रहता। ऐसे व्यक्ति खास कर गैर खेतिहर उत्पादको मे मिलते है। अनेक ऐसे लोग है जिन्हे वर्ष मे महीनों काम नही रहता, और फिर उन व्यक्तियो की सख्या है जिनके पास काम है लेकिन वह पूरे दिन भर का नही होता तथा वैसा भी कुछ के पास तो साल भर का होता है एवम् कुछ अन्यों के पास किन्ही मौसम-काल मे। निम्न तालिका मे साख्यिकीय शब्दावली मे तत्सम्बन्धी चित्र प्रस्तुत है

प्रति सप्ताह कार्य-घण्टे

श्रम शक्ति (अंक दस लाख में)

७ घण्टे या काम	१८ ९
१४ ,, ,,	२४ ३
२८ ,, ,,	४० २
४२ ,, ,,	६४ ३
५६ ,, ,,	१०९ ७
७० ,, ,,	१३३ ४
पूरे सप्ताह का	१३८ ८

स्रोत • प्रोफेसर पी सी महालनोबीस का 'सख्या' में प्रकाशित अध्यक्षीय भाषण, खण्ड २०, भाग १ और २, सितम्बर १९५८।

किसी भी रोजगारी सम्बन्धी ठोस नीति को इन सभी प्रकार के लोगो की आवश्यकताएँ पूरी करनी होती है। इन व्यक्तियो के कौशल व अभिरुचि को भी ध्यान मे रखना होगा। किसी ऐसे कार्यक्रम की अपेक्षा जो उच्च कौशल अथवा दूर-दूर के स्थानो से मगवायी गयी कच्ची सामग्री पर निर्भर हो, लोगों द्वारा उस कार्यक्रम के तुरन्त अपनाने की अधिक सम्भावना है जिसमे साधारण साधन-सरजाम की आवश्यकता हो तथा आसानी से मिलनेवाली कच्ची सामग्री का उपयोग।

ग्राम्य क्षेत्रों के अनुकूल नही

अन्त मे, एक 'अच्छे जीवन' के दृष्टिकोण से—जिसे प्राप्त करना हमारे आयोजन का उद्देश्य है—यह शका-स्पद ही है कि हमारा समूचा का समूचा गैर-औद्योगिक उत्पादन स्वरूप भिलाई जैसा ही हो। पूंजी परिव्यय के अलावा इस प्रकार के उत्पादन मे अधिकार सकेन्द्रण भी है जो हमारे लोकतात्रिक समाजवाद अथवा लोक-तात्रिक विकेन्द्रीकरण के सम्बोध मे ठीक नही बैठता। और फिर, बहुत ही छितरे बसे देहाती क्षेत्रों अथवा जगली

इलाको मे जो बस्तियाँ बसती है उनमे वसे व्यक्तियो को लाना पडेगा जो अपेक्षाकृत अधिक पारिश्रमिक से आकर्षित होते है। कभी-कभी—खास कर आदिवासियो के मामले मे—इसका परिणाम निकलता है एक ऐसी सभ्यता की जड काट देना, जो यद्यपि उनकी आर्थिक शोषण से रक्षा करने मे उपयुक्त नही है, लेकिन शहरीकरण से पैदा होनेवाली बुराइयो के समान सामाजिक बुराइयो से उनकी रक्षा करती है।

ग्राम्य औद्योगीकरण कार्यक्रम जिस प्रकार का औद्योगिक विकास करना चाहता है, उसकी कल्पना केवल तीव्र आर्थिक विकास को उद्दीप्त करने के दृष्टिकोण से ही नही की गयी है। इस प्रकार का विकास धीरे-धीरे करके एक ऐसे आधार पर करने का इरादा है जो सम्बद्ध क्षेत्रो के आर्थिक और सामाजिक वातावरण मे समरसता के साथ अर्थ-व्यवस्था का वैविध्यकरण सुनिश्चित करे। इसके अलावा काफी तादाद मे लोगो को सघन औद्योगिक अभियान के फल चखने के लिए एक लम्बे समय तक बिना इन्तजार करवाये, इसमे उन्हे काम देने की आवश्यकता पूरी करने का महान लाभ निहित है। गन्दी बस्तियाँ बसती जाने की समस्या का एक ही समाधान है—रोजगारी स्थल का शहरो से स्थानान्तरण, क्योकि वैसा करने से ही गाँवो से शहरो की ओर जानेवाले जन-प्रवाह को रोका जा सकता है। इस प्रकार ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम—जिसका पिछले महीने श्री जी रामचन्द्रन ने राज्य सभा मे बडे तर्क सगत रूप मे समर्थन किया था—ही एक ऐसा कार्यक्रम है जोकि शहरियो तथा ग्रामीणो दोनो का हित-साधन करता है।

बम्बई ३ मई १९६४

प्राय ऐसा कहा जाता है कि शहरी लोग और उनका बौद्धिक वर्ग देहातो में गतिशीलता लाने का प्रयास करें, जिसका वहाँ अभाव है। लेकिन कठिनाई तो यह है कि भारत के साधारण गाँव और शहर के बीच, चाहे वह शहर किसी भी आकार का क्यो न हो, पाँच सौ या एक हजार वर्ष का अन्तर है। एक तरफ गाँवो में जहाँ आकाक्षाओं की भीति की कोई सरजमीं नहीं है, शहरो में असीमित लोलुपता का बोलबाला है। बनिया वर्ग और शहरो का नया धनी वर्ग लोभ के पीछे प्राय उतना ही अंधा बन गया है, जितना ग्रामीण समुदाय परम्पराओ के पीछे बना हुआ है। सामाजिक चेतना के अकुर के लिए भारत की भूमि उर्वर नही है।

—वेलेस हैगेन . आफ्टर नेहरू, हू?
रूपेर्ट हार्ट-डेविस, लन्दन।

केरल में सहकार और कृषि उत्पादन

कृ. श्रीकण्ठन नायर

यद्यपि प्रथम पच वर्षीय योजनावधि में केरल में सहकार के क्षेत्र मे कोई द्रुत प्रगति नही हुई, तथापि अनुवर्ती पच वर्षीय काल मे इस आदोलन को वेग मिला। इस अवधि मे विक्रय-व्यवस्था में लगी प्राथमिक समितियो को भी शक्तिशाली बनाया गया। साथ ही साथ कृषि समितियों की स्थापना भी हुई।

प्रस्तुत लेख मे केरल मे कृषि उत्पादन पर पडे सहकारी आन्दोलन के प्रभाव के सम्बन्ध मे, खास कर प्रथम पच वर्षीय योजना के प्रारम्भ से, सक्षेप मे चर्चा की गयी है। कृषि उत्पादन मे गिरावट की समस्या बडी गम्भीर है। इस सम्बन्ध मे प्रधान मत्री ने कहा था, "इस देश मे अगर कृषि क्षेत्र मे नाकामयाबी मिलती है तो हम नाकामयाब होते है, सरकार नाकामयाब होती है, समूचा देश नाकामयाब होता है। खेती के मामले मे कामयाबी हासिल करने के अलावा हमारे सामने अन्य कोई सहारा नही है।" राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे कृषि का महत्व सर्व विदित है और इस प्राथमिक उद्योग का विकास—जिसमे देश की करीब ७५ प्रति शत आबादी लगी हुई है—करना आर्थिक विकास का केन्द्र बिन्दु है। स्वतत्रता-प्राप्ति के साथ राष्ट्र ने पच वर्षीय योजनाओं के रूप मे एक भली भाति सोचा-समझा आयोजित विकास का कार्यक्रम अपनाया है। फिलहाल तीसरी पाँचसाला योजना चल रही है, जिसका आधे से ज्यादा काल पूरा हो चुका है। प्रथम पच वर्षीय योजना का उद्देश्य आवश्यक रूप से ही कृषि-विकास था। उद्योग, शक्ति, यातायात आदि जैसे अर्थ-व्यवस्था के अन्य विभागों के लिए धनराशि का वितरण काफी कम था। द्वितीय योजना मे कृषि पर बराबर का जोर नही दिया गया। परिणाम यह निकला कि कृषि उत्पादन मे कुछ गिरावट आ गयी। तृतीय पच वर्षीय योजना बनाते वक्त यह कमी महसूस की गयी और उसमे कृषि विकास सम्बन्धी कार्यक्रम को उपयुक्त महत्व दिया गया।

ग्रामीण आबादी का मुख्य पेशा कृषि के विकास के अलावा लघु उद्योग, प्रशोधन, विक्रय-व्यवस्था, वितरण आदि जैसे अन्य कामो को भी सहकारी आधार पर सगठित तथा विकसित करना होगा। ग्रामीण अवस्थाओ मे पुनर्गठन और सुधार करने के लिए सहकारी आन्दोलन सर्वाधिक उपयुक्त है। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने सहकार को सामाजिक सगठन की नीति और सिद्धान्तो के आधार के बतौर स्वीकार किया है। काग्रेस द्वारा नागपुर अधिवेशन (१९५९) मे पारित प्रस्ताव के अनुसार समाजवादी ढग के समाज की स्थापना, ग्राम सहकारिताओ और ग्राम पचायतो को प्रोत्साहन देते हुए करनी है। ग्राम स्तर पर सभी विकासात्मक गतिविधियो के क्षेत्र मे इन दो सस्थाओ का प्रमुख स्थान होना चाहिये। ग्राम सहकारी समिति कृषि उत्पादन मे सुधार करने के लिए उधार और अन्य सेवाएँ प्रदान करने के अलावा कृषि उत्पादन के सग्रहण, भाण्डारीकरण तथा विक्रय-व्यवस्था का प्रबन्ध भी करेगी।

अन्य क्षेत्रो तक विस्तार

भारत मे साठ वर्ष पूर्व प्रारम्भ सहकार आन्दोलन हाल ही तक कृषि विभाग तक ही सीमित रहा है और वह भी मुख्यत कृषि कार्यो के लिए उधार देने तक ही। कृषि क्षेत्र के अन्य कामो तक उसका विस्तार बाद मे हुआ। इस प्रकार विक्रय-व्यवस्था, कृषि (फार्मिंग) तथा अन्य ऐसे ही कार्मो सम्बन्धी सहकारी समितियों के सगठन ने हाल के वर्षों मे ही महत्व प्राप्त किया है—खास कर पच

वर्षीय योजनाओ के श्रीगणेश के समय से। एक अदने किसान के पास खेती करने की लागत बर्दाश्त करने के लिए आवश्यक धनराशि नही होती। फिलहाल उत्पादन चालू रखने के लिए किसान को आवश्यक उधार प्रदान करने के लिए सहकारिता सर्वाधिक अनुकूल अभिकरण है। कृषि उत्पादन बढाने और कृषक की हालत मे सुधार करने के लिए उधार के अलावा, उन्नत बीजो, अच्छे उर्वरको तथा किसानो द्वारा अपनाये जानेवाले उन्नत तौर-तरीको की जानकारी प्रदान करने की व्यवस्था करना भी परमावश्यक है। किसान एक बार सहकारी जामा पहन लेता है तो ये सब बाते उसकी पहुँच के अन्दर आ जाती है। इसी प्रकार सहकारिताओ को किसान के अतिरिक्त माल की बिक्री करने का काम भी सौपा जा सकता है। इस प्रकार गॉव मे काम करनेवाली प्राथमिक सहकारिता, किसान को अपनी रोजमर्रा की समस्याएँ हल करने मे अनक प्रकार से सहायता देती है।

केरल की स्थिति पर नजर डालने से पता चलेगा कि राज्य की कृषिक अर्थ-व्यवस्था कुछ मामलो मे अपनी विशिष्टता रखती है। केरल मे खेती पर निर्भर करनेवाली आबादी अपेक्षाकृत कम है, लेकिन उससे होनेवाली आमदनी राज्य की कुल आय का तीन-पचमाश है। केरल म प्रति व्यक्ति कृषिक आय २४३ रुपये है, जोकि राष्ट्रीय औसत (१८८ रुपये) से काफी अधिक है। दूसरी विशेषता यह है कि रबड, कागज, आदि जैसी नकद फसलो के मामले मे केरल का प्राय एकाधिकार है। इन नकद फसलो के उत्पादनो का विदेशो को निर्यात होता है, जिससे काफी विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है। भूमि पर अत्यधिक दबाव का परिणाम निकला है, खेतो का छोटे-छोटे टुकडो मे विभक्त हो जाना। केरल मे प्रति व्यक्ति कृष्ट भूमि बहुत ही कम है—केवल २५ सेण्ट। आबादी बढने और खेती के लिए नयी भूमि प्राप्त करने की गुजाइश न होने की वजह से यह समस्या और भी गम्भीर होगी। तालिका १ मे उपलब्ध भूमि के उपयोग से सम्बन्धित विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

तालिका १

केरल में भूमि उपयोग

(क्षेत्र हजार एकड में)

उपयोग का प्रकार	५०–५१	५५–५६	६०–६१	५०–५१ से ६०–६१ मे वृद्धि (+) या कमी (–)
जगल	२,१२१	२,४३३	२,६१०	+ ४८९
गैर खेतिहर उपयोग के अन्तर्गत भूमि	४६६	४७१	५०६	+ ४०
बजर और अकृष्ट भूमि	५९६	४९७	३७४	– २२२
स्थायी चरागाह तथा अन्य ऐसे ही स्थल	१०१	११६	११२	+ ११
विविध प्रकार के वृक्षारोपण के अन्तर्गत भूमि	४३०	५०८	५०५	+ ७५
कृषि योग्य बेकार पडी जमीन	७२०	४०६	३५४	– ३६६
मौजूदा पडती के अलावा अन्य पडती भूमि	२२७	३६४	१५४	– ७३
वर्तमान पडती भूमि	११५	१४०	१६६	+ ५१
विशुद्ध जोत भूमि	४,२८९	४,४७७	४,७५४	+ ४६५
कुल फसली क्षेत्र	४,९७५	५,४६६	५,८०४	+ ८२९
दोहरी फसल का क्षेत्र	६८६	९८९	१०५०	+ ३६४

टिप्पणी सन् १९६०-६१ के आकडों के अनुसार राज्य का कुल भौगोलिक क्षेत्र ६९,३५,००० एकड है।

तालिका १ से प्रकट होता है कि दूसरी पाँचसाला योजना के दौरान बोआई की गयी जमीन के क्षेत्र मे ४,६५,००० एकड की वृद्धि हुई है। आलोच्य दस वर्ष की अवधि मे फसलो के अन्तर्गत की भूमि मे भी बढती हुई है। तालिका से यह तथ्य भी सामने आता है कि नयी जमीन पर जुताई की गयी है जोकि इससे स्पष्ट होता है कि बजर, अकृष्य और कृष्य पडती भूमि के क्षेत्र मे कमी हुई है। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय दोनो ही योजनाओ की अवधि मे कृषि के अन्तर्गत क्षेत्र बढा है।

क्षेत्र, उत्पादन और उत्पादकता

राज्य की कृषिक अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण करते वक्त यहाँ पर केरल मे मुख्य फसलो के क्षेत्र, उत्पादन और प्रति एकड उपज का एक सही चित्र सामने रखना गार्थक होगा।

नारियल, गन्ने और काजू जैसी फसलो की कृषि के क्षेत्र तथा उत्पादन दोनो मे एक साथ वृद्धि हुई है। टेपिओका, नारियल, काजू, काली मिर्च, अदरक, हल्दी और गन्ने जैसी फसलो की उत्पादकता मे गिरावट आयी है। असल मे तालिका २ द्वितीय पच वर्षीय योजनावधि मे प्राप्त सफलताओ का सही चित्रण प्रस्तुत करती है। यह देखा जा सकता है कि चावल, टेपिओका, गन्ना, केला, काजू आदि का उत्पादन बढा है। चावल के मामले मे, जोकि यहाँ का प्रधान भोजन है, १ लाख ८२ हजार टन की वृद्धि हुई है, जोकि द्वितीय योजना के दौरान प्राप्त किये जानेवाले लक्ष्याक के ५० प्रति शत से कुछ अधिक है। चावल उत्पादन १९५०–५१ मे ६ लाख १ हजार टन था। उसका उत्पादन बढ कर १९५५–५६ मे ८ लाख ७० हजार टन हुआ और १९६०–६१ के आकडो के अनुसार कुल उत्पादन १० लाख ५१ हजार टन हुआ। खाद्यान्नो-

तालिका २

केरल में प्रमुख फसलो के अन्तर्गत भूमि, उत्पादन और प्रति एकड उपज १९५५–५६ और १९६०–६१

फसल	क्षेत्र (हजार एकड मे)		उत्पादन (हजार टन मे)		प्रति एकड उपज (पौण्ड मे)	
	५५–५६	६०–६१	५५–५६	६०–६१	५५–५६	६०–६१
चावल	१,८७६ ४०	१,९२४ ७३	८७० ००	१,०५० ७२	१,०३९	१,२२३
दाल	११० ५८	१०९ ०२	१७ २८	१७ २७	३५०	३५५
टेपिओका	५४८ ९०	५९८ ४९	१,५६९ ००	१,६५६ ५०	६,४०३	६,२००
नारियल*	१,१०६ ८९	१,२३७ ४०	३,०९९ ००	३,२२० ००	२,८००	२,६०२
सुपारी*	१४३ ५६	१३७ ०७	६,४६० ००	७,७३७ ००	४४,९९९	५७,७०९
काजू	९२ ५८	१३४ २२	५७ ८६	८३ ३०	१,४००	१,३८९
केला	११६ ३०	१०९ ७७	३११ ७९	३२२ ६९	६,००५	६,५८५
इलायची	६९ ३६	७० ६९	१ २४	१ २६	४०	४०
काली मिर्च	२१३ ७१	२४६ ५०	२७ २४	२६ ६०	२८६	२४२
अदरक	२५ ८३	२९ ६६	१० ९४	११ ०९	९४९	८३७
हल्दी	११ २५	११ ५३	५ ०२	४ १२	१,०००	८००
गन्ना	१८ ०२	२२ ६०	३३४ ४७	३३४ ९०	४१,५७७	३७,१५८

* उत्पादन दस लाख की सख्या में और प्रति एकड औसत उत्पादन सामान्य सख्या मे दिया गया है।

जैसा कि तालिका २ मे दिये गये आकडो से स्पष्ट है, १९५५–५६ से १९६०–६१ की अवधि के दरमियान त्पादन के मामले मे केरल अभाव-ग्रस्त क्षेत्र है। प्रति प्रौढ व्यक्ति प्रति दिन १४ औस के हिसाब से वार्षिक

आवश्यकता १९ लाख ८० हजार टन चावल है। अगर इस सम्बन्ध में राज्य को आत्मनिर्भर बनना हो तो उत्पादकता काफी बढानी पडेगी व सघन कृषि करनी होगी।

राज्य की अर्थ-व्यवस्था मे विकास की प्राप्ति के लिए कृषि उत्पादन बढाना आवश्यक है। इसके लिए कृषि विभाग को सुव्यवस्थित आधार पर पुनर्गठित करना पडेगा। तत्सम्बन्धी प्रयास स्वेच्छिक होने चाहिये, क्योकि केवल तभी सर्वोत्तम फल-प्राप्ति हो सकती है। यह महसूस किया जाता है कि सगठन सहकारी होना चाहिये। ऐसा करना राष्ट्र के लोकतात्रिक आयोजन के सिद्धान्त मे विशेष रूप से सागोपाग है। इसके अलावा आयोजित विकास का उद्देश्य है समाजवादी ढग के समाज की स्थापना। पच वर्षीय योजनाओ मे सहकारी आन्दोलन को सौपी गयी भूमिका उल्लेखनीय है। तीसरी पॅचसाला योजना मे सहकारी उधार, प्रशोधन, विक्रय-व्यवस्था, आदि की व्यवस्था के लिए धनराशि काफी बढायी गयी है।

केरल मे १९५१-५६ की अवधि मे सहकार के क्षेत्र मे कोई तीव्र प्रगति नही हुई। प्रथम योजना मे प्राथमिक समितियो को पुनर्गठित तथा पुन अनुप्राणित करने के सम्बन्ध मे कोई लक्ष्याक निर्धारित नही किया गया। प्रथम योजना मे सहकार सम्बन्धी योजनाओ के लिए मात्र आठ लाख रुपये परिव्यय स्वरूप रखे गये। योजना के दौरान करीब एक-चतुर्थांश ही खर्च हुआ। जिन नयी सस्थाओ का सगठन किया गया और जिन्होने काम करना शुरू किया उनमे १५ ग्राम बैक, ३५ विक्रय व्यवस्था समितियाँ, २० कृषि समितियॉ, और ३६ बहुद्देशीय सहकारी समितियॉ थी। प्रथम योजना के अन्त मे कुल ३,१०४ समितियॉ थी। इनकी सदस्य-सख्या ४,८३,११३ थी। एक अनुमान के अनुसार राज्य मे बसे हुए प्रति २ ७५ वर्ग मील क्षेत्र पीछे एक सहकारी समिति थी और प्रति १५ वयस्को के पीछे एक सदस्य था।

सहकारी आन्दोलन के विकास का जहाँ तक सम्बन्ध है, द्वितीय योजना-काल अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल था। उधार और विक्रय-व्यवस्था समितियो के विकास पर जोर दिया गया। वास्तव मे इनके विकास पर इस प्रकार के जोर का दिया जाना रिजर्व बैक ऑफ इण्डिया द्वारा नियुक्त ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशो का फल था। केरल केन्द्रीय सहकारी भूमि बधक बैक तथा दस प्राथमिक भूमि बधक बैको के गठन के अलावा द्वितीय योजनावधि मे ही त्रावणकोर कोचीन राज्य सहकारी बैक को केरल राज्य सहकारी बैक का रूप दिया गया और जिला स्तर पर केन्द्रीय बैको की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त किसानो की हालत मे सुधार और कृषि उत्पादन मे वृद्धि करने की दृष्टि से १२६ नयी सहकारी समितियॉ बनायी गयी।

तालिका ३ राज्य मे ६०-६१ के दौरान कृषि उधार समितियो का काम सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करती है।

तालिका ३

केरल में कृषि उधार समितियो का कार्य-चालन १९६०-६१

कृषि उधार समितियो की कुल सख्या	२,२३९
सदस्य सख्या	७,९८,१०८
चुकता हिस्सा पूंजी (रुपये)	१,७४,५१,७५०
विधिविहित आरक्षण (रुपये)	६३,१३,७०८
अन्य आरक्षण (रुपये)	३५,७९,२९३
सदस्यो व अन्य व्यक्तियो की जमा पूंजी (रुपये)	१,२१,८०,१६२
अन्य उधार (रुपये)	२,७८,७५,४५६
सचालन पूजी (रुपये)	६,७४,००,३६९
वर्ष के दौरान दिया गया ऋण (रुपये)	५,०८,८५,५७०
वर्ष के अन्त मे बकाया ऋण (रुपये)	५ १३,५५,१३३
लाभ कमानेवाली समितियो की सख्या	१,६०६
वर्ष का विशुद्ध लाभ (रुपय)	१४,८७,१७४
घाटे मे रही समितियो की सख्या	५६७
घाटा रहा (रुपये)	४,३५,७३८

स्रोत सहकार विभाग की १९६०-६१ के लिए 'एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट,' पृष्ठ ३४।

उक्त प्रगति के अलावा इसी अवधि मे विक्रय-व्यवस्था के क्षेत्र मे काम करने वाली प्राथमिक सहकारी समितियो को शक्तिशाली बनाया गया। सैंतीस प्राथमिक विक्रय-व्यवस्था समितियो, एक प्रशोधन समिति और एक शीर्ष विक्रय-व्यवस्था समिति का गठन किया गया। केरल मे कृषि विक्रय-व्यवस्था के क्षेत्र मे कुछ विशेष प्रकार की समस्याएँ हैं। चूँकि कृषि उत्पादन मे अधिक हिस्सा नकद फसलो का है, इसलिए इस सम्बन्ध मे एक प्रभावक तंत्र का होना अत्यावश्यक है कि उत्पादक को अपने उत्पादन का उचित मूल्य मिले। जिन वस्तुओ का विदेशो को निर्यात होता है उनके सम्बन्ध मे ये कदम उठाये जाने चाहियें उन्हे श्रेणीबद्ध किया जाय, उनका गुण-स्तर कायम रखा जाय, उनमे मिलावट रोकी जाय, आदि।

कृषि उत्पादन की विक्रय-व्यवस्था

इसमे कोई सन्देह नही कि सहकारी समितियाँ ये सब जिम्मेदारियाँ बडी अच्छी तरह निभा सकती है। लेकिन यह एक निरुत्साहित करनेवाली बात है कि केरल मे कृषि उत्पादनो की विक्रय-व्यवस्था के सम्बन्ध मे सहकारी समितियाँ कोई विशेष उल्लेखनीय भूमिका नही निभा रही है। जितने नारियल बिकते है, उनका १ ४ प्रति शत ही सहकारी समितियो के जरिये बिकता है। बिक्री समितियो के जरिये बेची जानेवाली अन्य दो प्रकार की सामग्री के सम्बन्ध मे यह कि सुपारी की कुल मात्रा मे से १ ७ प्रति शत और काली मिर्च के कुल परिमाण का ५ २ प्रति शत ही इनके मार्फत बिकता है। वर्ष १९६०–६१ मे ७२ प्राथमिक कृषि सहकारी विक्रय समितियाँ थी। उनकी सदस्य सख्या २१,६४१ थी। उनकी चुकता हिस्सा पूँजी ११ लाख ३४ हजार रुपये थी। इसमे राज्य सरकार का योगदान ३ लाख ६० हजार रुपये के बराबर था। उन्होने कुल ४३ लाख ८७ हजार रुपये मूल्य के कृषि उत्पादन की बिक्री की तथापि, प्रत्येक कृषक के बिक्री योग्य अतिरिक्त माल की निकासी के लिए और अधिक विक्रय-व्यवस्था समितियाँ सगठित करने के लिए कदम उठाये गये है।

सहकारी कृषि

द्वितीय योजनावधि मे कुछ सहकारी कृषि समितियाँ बनायी गयी। कृषि मे उत्पादन की निजी इकाई बहुत ही छोटी है, जिसका परिणाम निकला है अलाभदायक कृषि। केरल मे जितनी जमीन पर वास्तव मे खेती होती है उसमे प्रति खेत का औसत क्षेत्रफल मुश्किल से २५ सेण्ट ही है। इसलिए बुनियादी समस्या ऐसे किसानो की है, जिनके पास भूमि बहुत कम है अथवा है ही नही। अतएव सवाल यह है कि उन अधिकाश किसानो की हालत कैसे सुधारी जाय, जो या तो भूमिहीन है अथवा जो अलाभदायक छोटे-छोटे अलग-अलग स्थानो मे अवस्थित खेतो पर निर्भर करते है ? ऐसी अवस्था मे कृषि उत्पादन कैसे बढाया जाय ? इसका एक ही जवाब है—सहकारी कृषि अपनाना।

राज्य मे १९६०–६१ मे २१ सयुक्त कृषि समितियाँ और तीन सामूहिक कृषि समितियाँ थी। इनके अलावा १०६ उन्नत कृषि समितियाँ और दो सिकमी काश्तकार समितियाँ थी। इन सब समितियो की सदस्य सख्या १४,००६ थी और हिस्सा पूँजी ४ लाख ४६ हजार रुपये। उनके पास की कुल ११,१५४ एकड भूमि मे से १०,९०५ एकड जमीन पर खेती होती थी। वर्ष १९६०–६१ के दौरान कुल उत्पादन १० लाख ८९ हजार रुपये का हुआ। तृतीय पच वर्षीय योजना मे प्रत्येक जिले मे ९० समितियाँ शुरू करने के कार्यक्रम के साथ एक-एक मार्गदर्शी परियोजना प्रारम्भ करने की व्यवस्था है। इस प्रकार नौ जिलो मे नौ मार्गदर्शी परियोजनाओ की स्थापना की जा सकेगी।

नवीलन ३० अप्रैल १९६४

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण

चित्तूरी वेंकट राघवुलू*

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के कार्यक्रम से एक ओर महान आशाओ का सचार हुआ है तो दूसरी तरफ नयी-नयी कठिनाइयाँ खडी हुई है। गाँवो मे निम्न आर्थिक स्तर, नागरिक जागरूकता का अभाव, राजनैतिक अपरिपक्वता और अगुआई की अत्यधिक कमी जैसी बुनियादी समस्याओं के समाधान पर ही पचायत राज से की जानेवाली अपेक्षाओं की पूर्ति निर्भर है।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भारत जैसे देश मे किसी भी राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम का मुख्य केन्द्र बिन्दु ग्राम समाज होना चाहिये। इस अकाट्य तथ्य को महसूस करते हुए प्रथम पच वर्षीय योजना के अग स्वरूप सामुदायिक विकास कार्यक्रम चलाया गया। सामुदायिक विकास कार्यक्रम ने स्थानीय स्वायत्त सस्थाओ मे सुधार करने के उद्देश्य से किये जानेवाले प्रयासो को गति प्रदान की और जिला प्रशासन मे नव प्राण फूके। सरकार से वित्तीय और प्राविधिक सहायता प्राप्त करते हुए 'अपनी सहायता आप करो' के कार्यक्रम के जरिये ग्राम समाज के सामाजार्थिक जीवन मे चतुर्दिक सुधार लाना इस कार्यक्रम का उद्देश्य है। फिर भी, कार्यक्रम के सामयिक मूल्याकन से इस बात का सकेत मिलता है कि यह वाछित लोक-भागीदारी जागृत करने मे असफल रहा है और अभिक्रम सरकारी अधिकारियो तक ही सीमित रहा है।

मेहता दल की सिफारिशे

बलवतराय मेहता अध्ययन दल[1] ने वर्तमान स्थिति का मूल्याकन किया। दल ने विकास कार्यक्रमो के बनाने और चलाने मे जन-प्रतिनिधियो को शामिल न करना इस आन्दोलन की असफलता का कारण ठहराया। इसलिए दल ने ग्राम, खण्ड और जिला स्तरो पर ऐसी प्रतिनिधि सस्थाओ के निर्माण की सिफारिश की, जो विकास कार्यो मे लोक अभिरुचि तथा लोक-अभिक्रम जागृत करने मे समर्थ होगी। इसके अतिरिक्त यह सिफारिश भी की गयी कि इन सस्थाओ को पर्याप्त धन-राशि और राजस्व के साधन-स्रोत प्रदान करने चाहिये ताकि ये अपना उत्तरदायित्व निभाने मे समर्थ हो सके। इस सास्थानिक व्यवस्था को पचायत राज अथवा लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण कहा गया है।

यहाँ मौजूदा पचायत राज और गाधीवादी तथा सर्वोदयी पचायत राज के सम्बोधो का विभेद स्पष्ट करना समीचीन होगा। महात्मा गाधी ने स्वायत्त और आत्म-निर्भर ग्राम समाज का निर्माण करने पर जोर दिया। गाधीजी के इस विचार को लेकर श्री जयप्रकाश नारायण[2] परिपूर्ण विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते है। प्रत्येक स्तर पर लोगो को, जो काम

---

* प्रस्तुत लेख के लिखने मे आध्र विश्वविद्यालय के राजनीति शास्त्र विभाग मे 'रीडर' डाक्टर आर वी चद्रशेखर राव ने जो प्रोत्साहन और उपयोगी सुझाव दिये उसके लिए लेखक उनका आभारी है।

१ योजना आयोग (भारत सरकार) की योजना परियोजना समिति 'सामुदायिक परियोजनाओं और राष्ट्रीय विस्तार सेवा पर अध्ययन दल का प्रतिवेदन,' खण्ड २, नयी दिल्ली, १९५७।

२ नयी दिल्ली से प्रकाशित दि इण्डियन जनरल ऑफ पब्लिक एडमिनीस्ट्रेशन (जुलाई-सितम्बर १९६१, वर्ष ७, अक ३, पृष्ठ २७१-२८९) में श्री जयप्रकाश नारायण. 'डीसेण्ट्रलाइज्ड डेमोक्रेसी थियरी एण्ड प्रेक्टिस,' मो क गाधी पचायती राज, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५९, अध्याय ३ और ४।

करने मे वे समर्थ हो उनके लिए आवश्यक सभी अधिकार दिये जाने चाहिये और केवल वे ही काम उच्चतर स्तर पर करने के लिए दिये जाये जो निचले स्तर पर नही किये जा सके। प्रत्येक स्तर पर की सस्था स्वयम् मे एक सरकार है। कोई भी सस्था एक-दूसरी से ऊपर नही होगी।

अलगाव की स्थिति मिटाना

इस प्रश्न पर विचार करते वक्त यह याद रखना चाहिये कि हमारे गाँवो मे गुटबन्दी, जातिवाद आदि जैसी विरोधात्मक बाते कोई अपवाद न हो कर सामान्य रूप से पायी जानेवाली बात है। और फिर, गाँव अब आत्म-निर्भर तथा अलगाव की स्थिति मे रहनेवाली इकाइयाँ नही रहे, वे राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रवाहो के अभिन्न अग है। पिछले एक सौ वर्ष मे हुए ऐतिहासिक परिवर्तनो ने अलगाव की स्थिति मे रहनेवाले गाँवो का जीवित रहना असम्भव बना दिया है। उनका अलगाव कई तरह से मिटा दिया गया है — राजनीतिक क्षेत्र मे राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन और अन्य इसी प्रकार के सघ बना कर, सामाजिक क्षेत्र मे लोगो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने-आने मे सक्रिय बना कर, तथा आर्थिक क्षेत्र मे विज्ञान एवम् प्रौद्योगिकी मे सुधार ला कर।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद ४० मे राज्य को इस बात का निर्देश दिया गया है कि वह "ग्राम पचायते सगठित करने और उन्हे स्वायत्त शासन की इकाइयो के रूप मे काम करने के लिए आवश्यक अधिकार और शक्ति प्रदान करने के लिए कदम उठाये।"

पचायत राज लोकतत्र और विकास दोनो से सम्बद्ध है। लोगो को अधिकाधिक सख्या मे विकासात्मक कामो मे लगाना तथा लोकतत्र की प्रक्रिया मे उनकी अधिकतम भागीदारी सुनिश्चित करना, इसका उद्देश्य है। यह ज्यादा महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रीय आयोजन की प्रक्रिया मे स्थानीय आबादी को शामिल किया जाय। जैसा कि स्वर्गीय श्री वी टी कृष्णमाचारी ने कहा था, "सबसे आवश्यक बात यह है कि प्रत्येक स्थान पर ग्रामीणो को स्वयम् अपना निर्णय लेने मे और ऐसे कामो मे अपना यथा शक्य स्वेच्छिक श्रम प्रदान करने मे समर्थ बनाया जाय, जिनसे समूचा समुदाय लाभान्वित हो। . कोई भी योजना तब तक सफल नही हो सकती, जब तक कि देश के लाखो-करोडो छोटे-छोटे किसान उसके उद्देश्य स्वीकार न कर ले, उसके बनने मे उनका हाथ न हो, उसे अपनी ही योजना न समझे, और उसके कार्यान्वय हेतु आवश्यक त्याग व बलिदान करने के लिए तैयार न हो।"[३] इस प्रकार नीति निर्धारक ग्राम समाज मे सोच समझ कर अपने प्रगतिशील विचार भरने की कोशिश करते वक्त ग्राम समाज के गठन पर उन परम्परागत मूल्यो के काबू अथवा नियत्रण का भी ध्यान रख सकते है, जिनका प्रशासन की प्रक्रिया मे उन्हे सामना करना पडेगा।

पंचायत राज कानून

बलवन्तराय मेहता दल के प्रतिवेदन के बाद विभिन्न राज्यो मे पचायत राज के सम्बन्ध मे कानून बने। किसी एक ही पद्धति का अनुसरण करने के लिए राज्यों पर कोई दबाव नही डाला गया है। यह स्वीकार किया गया कि प्रत्येक राज्य को स्थानीय अवस्थाओ के लिए सर्वोत्तम उपयुक्त प्रणाली के विकास का निर्णय करने का अधिकार होना चाहिये। तथापि, भारत सरकार ने कुछ बुनियादी सिद्धान्तो का अनुकरण करने पर जोर दिया। इन मूलभूत सिद्धान्तो मे ये बाते शामिल थी. त्रि-सूत्री स्थानीय स्वायत-शासन सस्थाओ की स्थापना, जिनमे परस्पर जीता-जागता सम्बन्ध हो, इन सस्थाओ को सही रूप मे शक्ति तथा उत्तरदायित्व सौपना, उन्हे अपना कर्तव्य पूरा करने मे समर्थ बनाने के लिए पर्याप्त साधन-स्रोतो का स्थानान्तरण और सभी विकास कार्यक्रमो का इन

३ भारत सरकार के सामुदायिक विकास, पचायती राज और सहकार मत्रालय द्वारा नयी दिल्ली में १९५७ में आयोजित षष्ठम विकासायुक्त सम्मेलन मे श्री वी टी कृष्णमाचारी द्वारा दिया गया भाषण, पृष्ठ २१।

पचायत राज सस्थाओ के जरिये कार्यान्वियन। इस प्रकार निरूपित व्यवस्था ऐसी होगी कि उससे धीरे-धीरे करके भविष्य मे शक्ति और जिम्मेदारियो के हस्तातरण तथा विस्फुरण मे सुभीता होगा।

ग्यारह राज्यो मे—असम, आध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उडीसा, गुजरात, पजाब, बिहार, मद्रास, महाराष्ट्र, मैसूर और राजस्थान मे – पचायत राज लागू हो गया है। पश्चिम बगाल और मध्य प्रदेश मे तत्सम्बन्धी कानून बन चुके है। केरल तथा जम्मू और कश्मीर मे कानून बनाये जा रहे है।

पंचायत राज का गठन

यहाँ विभिन्न राज्यो मे पचायत राज का जो स्वरूप है उसका एक स्थूल स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। ग्राम स्तर पर ग्राम सभा और ग्राम पचायत नामक दो सस्थाएँ है। ग्राम सभा मे कुछ राज्यो मे वे व्यक्ति शामिल है, जिन्हे मताधिकार प्राप्त है और कुछ राज्यो मे सभी प्रौढ व्यक्ति शामिल है। पचायत के अनुमान-पत्रक, वार्षिक प्रशासन प्रतिवेदन और क्षेत्र मे चलाये जानेवाले विकास कार्यक्रमो पर विचार-विमर्श करना ग्राम सभा के कार्य है। व्यवहार मे ग्राम सभा एक प्रभावहीन सस्था पायी गयी है। ग्राम समाज इस सम्बन्ध मे बडा उदासीन रहा है और फलस्वरूप ग्राम सभा की नियमित बैठके नही हो सकी। ग्राम सभा के सचालन पर हाल ही मे एक अध्ययन दल[४] ने सुझाया है कि 'लोक भागीदारी लोकतत्र' का विकास करने के लिए ग्राम सभाओ को पचायत राज मे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिये तथा उन्हे पचायतो के काम का मूल्याकन करने का अधिकार भी देना चाहिये।

ग्राम पचायत, पचायत राज की बुनियादी इकाई है। इसका चुनाव ग्राम सभा करती है और ग्राम पचायत ग्राम सभा की कार्यपालिका है। इसका आकार आबादी पर निर्भर करता है। असम तथा जम्मू और कश्मीर को छोड कर शेष सभी राज्यो मे पचायतो के सदस्यों–पचो – का चुनाव गुप्त मतदान से होता है। असम, उत्तर प्रदेश, पजाब, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान मे सरपचो व उप सरपचो का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से मतदाताओ द्वारा होता है, जबकि अन्य राज्यो मे उनका चुनाव पचायत के सदस्य अपने मे से करते है। पचायतो को अनेक प्रकार के काम सौपे गये है। पारम्परिक नगरपालिका सम्बन्धी कामो के अलावा उन्हे सामाजिक, विकासात्मक और सास्कृतिक कार्य भी सौपे गये है।

पंचायत समित के कार्य

पचायत राज के सघटन मे बीच के स्तर[५] पर पचायत समिति (किन्ही राज्यो मे इसके नाम अलग-अलग है) है। इसका अधिकार क्षेत्र सामुदायिक विकास खण्ड के बराबर होता है। गुजरात, महाराष्ट्र और मैसूर मे पचायत समिति का कार्यक्षेत्र तालुके के बराबर होता है। असम और मैसूर मे समिति (उक्त दोनो राज्यो मे जिसे क्रमश आचलिक परिषद और तालुका विकास मण्डल कहा जाता है) के सदस्यो का प्रत्यक्ष चुनाव होता है। अन्य राज्यो मे उनका चुनाव परोक्ष रूप से होता है। सदस्यो मे क्षेत्र की सभी पचायतो से सरपच, राज्य विधान सभाओ के सदस्य (जिन्हे मत देने का अधिकार नही होता) और महिलाओ, अनुसूचित जातियो तथा जन-जातियो एवम् सहकारी बैको का प्रतिनिधित्व करने वाले चन्द सहयोजित (कोऑप्टेड) सदस्य शामिल है। महाराष्ट्र मे समिति की रचना इस प्रकार होती है. जिला परिषद के स्थानीय सदस्य, पचों द्वारा चुने गये दो

---

४ 'पचायत राज आन्दोलन में ग्राम सभा की स्थिति का अध्ययन करनेवाले दल का प्रतिवेदन,' सामुदायिक विकास, पचायती रा ा और सहकार मन्त्रालय (भारत सरकार), नयी दिल्ली; अप्रैल १९६३।

५ यहाँ यह बताया जा सकता है कि पश्चिम बगाल पंचायत अधिनियम के अन्तर्गत कुछ पचायतों के समूह के लिए एक अचल पच।यत (खण्ड स्तर पर की आचलिक परिषद से भिन्न) चुनी जाती है। इसे कुछ न्यायिक और पुलिस सम्बन्धी अधिकार प्राप्त है। कुछ प्रकार के कर लगाने का भी इसे अधिकार है।

सरपच और कुछ सहयोजित सदस्य। पचायत के अनेक काम है। इनमे शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्राम सफाई, सडक, लघु सिचाई, कृषि उत्पादन, पशु-पालन, मत्स्य-पालन आदि भी शामिल है।

जिला परिषद की भूमिका

त्रि-सूत्री सघटन के शीर्ष पर अवस्थित है जिला परिषद। (कुछ राज्यो मे इसका नामकरण भी भिन्न है।) असम के सिवाय अन्य राज्यो मे इसका क्षेत्र जिले के बराबर होता है। असम मे इसका गठन उप-प्रमण्डल (सब-डिवीजन) के स्तर पर होता है। अधिकाश राज्यो मे जिला परिषद का चुनाव परोक्ष रूप से होता है। पचायत समितिओ के प्रतिनिधि—प्रधान—ससद और विधान सभाओ के सदस्य (बिना मताधिकार के अथवा मताधिकार सहित) तथा कुछ सहयोजित व्यक्ति जिला परिषदो के सदस्य होते है। महाराष्ट्र मे जिला परिषदो के सदस्यो का चुनाव प्रत्यक्ष होता है। मद्रास और मैसूर मे जिलाधीश (अथवा उप-आयुक्त) जिला विकास परिषद (यानी जिला परिषद) का अध्यक्ष होता है, जबकि आन्ध्र प्रदेश मे वह जिला परिषद की स्थायी समिति का अध्यक्ष होता है।

जिला परिषद की भूमिका अलग-अलग राज्यो मे अलग-अलग होती है। महाराष्ट्र मे यह पचायत राज का आधा बिन्दु है और आयोजना व विकास विषयक सभी काम इसे सौपे गये है। पर्याप्त वित्तीय स्रोत इसे दिये गये है और विकास विभागो के जिला स्तरीय अधिकारी इसके अधीन है। उत्तर प्रदेश, गुजरात और पश्चिम बगाल मे जिला परिषद को विभिन्न क्षेत्रो मे कार्यपालक काम सौपे गये है। आन्ध्र प्रदेश मे यह एक देख-रेख करनेवाली समन्वय-स्थापक सस्था है—हॉ, कुछ छिट-पुट कार्यपालक कार्य भी इसे सौपे गये है। शेष राज्यो मे इसके कोई विशिष्ट कार्यपालक काम नही है। वहॉ यह मात्र एक देख-रेख करनेवाली तथा समन्वय-स्थापक सस्था ही है।

वास्तव मे पचायत राज की विभिन्न सस्थाओं की उपयुक्तता का मूल्याकन करना जल्दबाजी होगी। तथापि, इस सम्बन्ध मे अग्रणी राज्यो—राजस्थान और आन्ध्र प्रदेश—के अनुभवो से कुछ प्रवृत्तियॉ[१] दृष्टव्य है। पचायत राज सस्थाओ के कार्य के रूप मे सडके बनायी गयी, कुऍ और नालियो की खुदाई की गयी, स्कूल और पुस्तकालय खोले गये तथा उर्वरक व बीजो का वितरण किया गया। सचिवालय के कागजातो से पता चलता है कि सहस्रो युवक दल, महिला मण्डल, किसान सघ, प्रतिरक्षा बैंक तथा ग्राम स्वयम् सेवक सेना का काम चल रहा था। तथापि, पचायत राज की सभी बाते ठीक से नही चल रही है। प्राय यह शिकायत की जाती है कि इनमे से कई सस्थाऍ कोई विशेष काम नही कर रही है। ऋण, उर्वरक, बीज, साधन-सरजाम आदि के वितरण को ले कर तू-तू मैं-मैं हुई है। महसूस किया जाता है कि कृषि उत्पादन के क्षेत्र मे पचायत राज शायद ही कुछ हासिल कर पाया हो।

वित्तीय स्थिति

पचायत राज सस्थाओ की कुछ असफलताओ का कारण यह ठहराया जा सकता है कि उनकी माली हालत कमजोर है। इसके लिए भी स्थानीय अधिकारियो को ही दोष का भागी बनना पडेगा। अधिकाश सस्थाऍ कर लगाने सम्बन्धी अपने अधिकारो का उपयोग करके पर्याप्त साधन-स्रोत जुटाने मे असफल रही है। उदाहरण के

---

१ देखिये (१) ग्रामीण विकास के लिए स्वेच्छिक संस्थाओं का सहयोग, रिपोर्ट्स ऑफ दि स्टडी टीम्स ऑन डेमोक्रेटिक डीसेण्ट्रलाइजेशन इन राजस्थान १९६० और आध्र प्रदेश (१९६१), नयी दिल्ली, (२) राजस्थान सरकार इवैलूएशन रिपोर्ट ऑन दि वर्किग ऑफ पचायती राज इन राजस्थान, जयपुर, १९६२। प्राप्त सफलताओं के विशुद्ध सांख्यिकीय विवरण के लिए देखिए—सामुदायिक विकास, पचायती राज और सहकार मंत्रालय हाय लाइट्स ऑफ दि प्रोग्रैम (मोनोग्राम), नयी दिल्ली, १९६३।

लिए राजस्थान[७] मे ९० प्रति शत पचायत समितियॉ उन सभी विषयो मे कर नही लगा सकी, जिनमे अधिनियम के अन्तर्गत उन्हे कर लगाने का अधिकार है। यही बात अन्य कई राज्यो के सम्बन्ध मे भी कमोबेश सही है। इसका कुछ कारण तो ग्रामीणो की सामान्य गरीबी है और कुछ कारण निर्वाचित सदस्यो को अपनी लोकप्रियता खो बैठने का डर है। पचायत राज सस्थाओ के करीब ७० प्रति शत राजस्व की प्राप्ति राज्य सरकार द्वारा प्रदत्त विशिष्ट अनुदान से होती है। एक उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानीय शासन के विकास मे यह एक भयकर बाधा है, क्योकि स्थानीय शासन की रीढ वस्तुत वित्तीय स्वायत्तता ही तो है। जिस हद तक ये सस्थाएँ आर्थिक रूप से दूसरो पर आश्रित रहती है, वह यह निर्धारित करती है कि व्यवहार मे विकेन्द्रीकरण किस सीमा तक हो सकता है। इन सस्थाओ का वित्तीय आधार मजबूत बनाने के लिए हाल ही मे पचायत राज सस्थाओ के वित्त का अध्ययन करनेवाले, श्री सन्तानम के नेतृत्व मे नियुक्त, अध्ययन दल[८] ने विस्तृत सिफारिशे की है। इनमे एक महत्वपूर्ण सिफारिश यह है कि लाभदायक धधे चलाने के लिए पचायत राज सस्थाओ को ऋण देने हेतु प्रत्येक राज मे एक-एक पचायत राज वित्त निगम स्थापित किया जाय।

प्रशासनात्मक कठिनाइयाँ

सरकारी व्यक्तियो से गैर सरकारी व्यक्तियो को विकास कार्य की जिम्मेवारी के हस्तातरण से इन दोनो के बीच प्रशासनात्मक समन्वय सम्बन्धी समस्या खडी हो गयी है। अभी तक उनके सम्बन्धो का निश्चित स्वरूप निर्धारित नही हो पाया है। रोजमर्रा के प्रशासनात्मक कामो तथा अधीनस्थ अधिकारियो पर अनुशासनात्मक कार्यवाही करने एवम् उनके स्थानातरण जैसे महत्वपूर्ण मामलो मे गैर सरकारी अधिकारियो द्वारा हस्तक्षेप करने पर उनके तथा सरकारी अधिकारियो के बीच गलतफहमी पैदा हो सकती है। ऐसा देखने मे आया है कि विवेकाधीन अधिकारो के सीमा निर्धारण और खण्ड की जीप के उपयोग जैसे छोटे-छोटे मामलो को लेकर खण्ड विकास अधिकारी तथा प्रधान के बीच तनाव पैदा हो जाता है। इन दोनो के बीच समरस सम्बन्ध बने रहे, इसके लिए आवश्यक है कि एक ऐसा वातावरण विकसित किया जाय जिसमे दोनों ही कार्यक्रम मे एक-दूसरे के योगदान को समझे और उसकी कद्र करे। तथापि, इस बात को भी ध्यान मे रखना ही चाहिये कि अधिकारियो और गैर-अधिकारियो के शिक्षा स्तर मे सामान्यत व्यापक अन्तर होता है। दूसरी बात यह है कि उनके काम स्पष्ट रूप से विभक्त होने चाहिये, यद्यपि हो सकता है कि सदैव ही ऐसा करना सम्भव न हो। फिर भी, इस सम्बन्ध मे स्वस्थ परम्परा विकसित करने का प्रयास अवश्य किया जाना चाहिये। तृतीय, सामान्य प्रशिक्षण कार्यक्रम के जरिये उनकी सम्बद्ध भूमिकाओ के सम्बन्ध मे समुचित समझबूझ का विकास किया जा सकता है।

निचले स्तरो पर जिम्मेवारी हस्तातरित करने से राजनैतिक शक्ति और प्रभाव के नये केन्द्रो की स्थापना हुई है। परिणाम स्वरूप गॉवों मे भी राजनैतिक गुटबन्दी घुस बैठी है। कुछ क्षेत्रो मे सत्ता का विकेन्द्रीकरण फूट पैदा करनेवाला साबित हुआ है। निर्णय करने की प्रक्रिया का विश्लेषण करने से पता चलेगा कि 'सामाजिक महतशाही की सत्तावादी पद्धति'[९] नये-नये मार्गो से अपना दबदबा जमा रही है। जहाँ अधिकाश जनता अशिक्षित है अथवा अपने अधिकारो, प्रशासन णाली

---

७ रिपोर्ट ऑन दि वर्किंग ऑफ पचायती राज इन राजस्थान, उक्त उद्धृत, पृष्ठ ८२–८३।

८ सामुदायिक विकास, पचायती राज और सहकार मन्त्रालय (भारत सरकार) रिपोर्ट ऑफ दि स्टडी टीम ऑन पचायती राज फायनेन्स, खण्ड १ और २, नयी दिल्ली, जुलाई १९६३।

९ एच मड्डिक डेमोक्रेसी, डीसेण्ट्रलाइजेशन एण्ड डेवलपमेण्ट, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६३, पृष्ठ ७०।

और जनता के प्रति प्रशासक के कर्तव्यो से अनभिज्ञ है, वहाँ स्थानीय नियत्रण या उत्तरदायित्व जैसे सम्बन्धो के शायद ही कुछ माने हो। अगुआई का भार वहन करने के लिए गाँवो मे सगठित वर्गों अथवा नेतृत्व के अभाव मे गाँव की प्रधान जाति और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न वर्ग (उदाहरणार्थ सेठ-साहूकार आदि) या अन्य कोई परम्परागत वर्ग अत्यधिक प्रभाव जमाने लगते है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि राजस्थान मे सामन्तो ने अपने काश्तकारो को डरा धमका कर सत्ता अपने हाथ मे ले ली है। इसी प्रकार आन्ध्र प्रदेश मे इस प्रकार के उदाहरण देखने मे आये है कि जमीदारो ने व्यापक पैमाने पर रुपये-पैसे देकर लोक-मत खरीदा है। इसी प्रकार की एक खेदजनक बात यह है कि बिहार मे पचायत राज के चुनाओ मे जातिवाद का हाथ रहा है।

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्रो में पचायत राज ने महान आशा का सचार करने के साथ ही उससे भी अधिक विभ्रम पैदा कर दिया है। फिर भी, इन कमियों से किसी को भी अनावश्यक रूप से निराशावादी नही बन जाना चाहिये। तथापि, यह मानना बड़ा घातक सिद्ध होगा कि ग्राम समाज मे जो भी दोष अथवा बुराइयाँ है, पचायत राज उनकी रामबाण औषधि है। सत्ता का विकेन्द्रीकरण एक प्रक्रिया है और मात्र बाह्य अर्थात् सगठनात्मक परिवर्तनो से ही ग्रामीण जनता मे जिन सामाजिक विशेषताओ तथा राजनैतिक लोकाचारो ने दीर्घ काल से घर कर रखा है, उनमे कोई परिवर्तन नही आ जायेगा। वास्तव मे बुनियादी तौर पर पचायत राज की समस्याएँ भी वे ही है जो लोकतत्र की होती है —निम्न आर्थिक स्तर, नागरिक जागरूकता की कमी, राजनैतिक अपरिपक्वता और नेतृत्व की अत्यधिक कमी। इन कमियो को दूर करने मे ही लोकतत्र तथा विकास की प्रेरक-शक्ति के प्रादुर्भाव की आशा निहित है।

वाल्टेयर (आन्ध्र प्रदेश) २१ अप्रैल १९६४

स्नेह से लोक का उद्भव होता है। स्नेह से ही उसकी वृद्धि भी होती है। स्नेह ही शक्ति है। आनद का मूल भी स्नेह ही है। स्नेह ही जीवन है और स्नेह-द्रोह मृत्यु है। स्नेह नरक मे स्वर्ग की सृष्टि करता है। माता के हृदय मे रह कर वहाँ के रक्त को दुग्ध रूपी अमृत बनानेवाला स्नेह हमे शैशव से यही संदेश देता है। इसीलिए समस्त लोक को सुना कर मै कहना चाहता हूँ—मनुष्य मात्र एक है। उसमें कोई भी भेद नहीं है।

—भगवान बुद्ध. *मझिझम निकाय*।

गुजरात के तीन गाँवों में ग्राम-नेतृत्व

यशवन्तसिंह जाडेजा

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के कार्यक्रम की सफलता बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करेगी कि गाँवो मे किस किस्म का नेतृत्व प्राप्य है। इस लेख में गुजरात के मगरोल खण्ड के लोहेज, दिवराणा और हुसेनाबाद गावो के ग्राम नेतृत्व के स्वरूप का अध्ययन करने की चेष्टा की गयी है।

चन्द ऐतिहासिक कारणो से भारतवासियो मे परावलम्बन की भावना पनप गयी है। भारत को स्वतत्रता प्राप्त होने के पूर्व तक यह बात बहुत कुछ अश मे सही थी। उसके बाद सामुदायिक विकास कार्यक्रम कार्यान्वित किये जाने के पश्चात् भी ग्रामीण क्षेत्रो मे इस अवस्था मे कोई विशेष सुधार नही हुआ है। ग्रामीण हमेशा ही सरकार अथवा सुसम्पन्न व्यक्तियो की सहायता तथा मार्गदर्शन के लिए मुँह जोहते रहे हैं। सामुदायिक विकास कार्यक्रम को ग्रामीणो मे अपने प्रति विश्वास पैदा करने के लिए अभी बहुत कुछ करना है। जब तक स्वय सेवा के प्रति यह विश्वास नही पैदा किया जाता, तब तक दीर्घ काल से जीवन का जो ढग उन्होने अपना रखा है, उसमे परिवर्तन के बीज नही बोये जा सकते।

ग्रामीण नेतृत्व की समस्या

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत भविष्य मे लोगो को अपने मामलों के प्रबन्ध मे सक्रिय भाग लेना भी शामिल होगा। यह महसूस किया गया कि महज ग्राम पचायतों की स्थापना से ही वाछित सफलता नही मिल सकती। शक्ति तथा जिम्मेदारियो के लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया गया और उससे 'पचायत राज' का विचार सामने आया। ग्राम पचायतों के अतिरिक्त जन-प्रतिनिधियो को शामिल कर पचायत समितियो और जिला परिषदो का गठन किया जा रहा है। अत पचायत राज की सफलता बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करेगी कि ग्राम पचायतों के जरिये किस प्रकार के नेतृत्व का विकास किया जा रहा है।

इस विकास के सन्दर्भ मे ग्राम नेतृत्व की समस्या बहुत महत्वपूर्ण बन जाती है। अत यह आवश्यक हो जाता है कि ग्राम नेतृत्व की वर्तमान पद्धति, उसके आधार और परिवर्तन के रुख का सविस्तार गम्भीर अध्ययन किया जाय। इस तरह के अध्ययन से हम गाँवो मे नेतृत्व की जो समस्याएँ है, उन्हे अच्छी तरह समझ सकेगे और नीचे से ऊपर तक सही नेतृत्व का विकास हो सकेगा।

जानकारी का संग्रह

इसी पृष्ठभूमि मे इस लेख मे गुजरात के मगरोल खण्ड के तीन गाँवो का पिछले दस वर्षो मे ग्राम नेतृत्व के स्वरूप का अध्ययन करने तथा उसमे हुए परिवर्तनो पर प्रकाश डालने की कोशिश की गयी है। अध्ययन के लिए इन गाँवो को चुनने मे कोई विशेष कसौटी नही थी। लेकिन गाँव के व्यावहारिक कार्यक्रमों के दौरान इस सम्बन्ध मे चन्द प्राथमिक आकडे प्राप्त किये गये। न तो ये आकडे हर तरह से पूर्ण है और न ही यह अध्ययन किसी निश्चित सिद्धान्त पर आधारित है। यह तो चन्द तथ्यो और साख्यिकीय आकडो का महज साधारणीकरण भर है और इसके पूर्ण होने का दावा नही किया जा सकता। तथापि, आशा की जाती है कि यह सरल आकडों पर आधारित मोटी रूपरेखा है, जोकि ग्राम नेतृत्व के रुख पर प्रकाश डालने मे कुछ सहायक होगी।

जिन गॉवों का अध्ययन किया गया, वे है लोहेज, दिवराणा और हुसेनाबाद। जहॉ तक विकास गतिशीलताओ का सम्बन्ध है, उन्हे क्रमश अच्छा, सामान्य और निम्न-स्तरीय कहा जा सकता है। उनके विषय मे सामान्य जानकारी तालिका १ मे दी गयी है।

हो चुका है और सभी गॉवो मे चुनाव एक ही साल मे सम्पन्न हुआ। इससे निर्धारित अवधि मे पचायतो मे हुए परिवर्तनो की तुलना करने का अवसर मिलेगा।

सर्व प्रथम मतदाता सूची पर जातिगत वर्गानुसार ध्यान देना आवश्यक होगा। सिर्फ बडे वर्गो को ही

तालिका १

गॉवो का सामान्य परिचय

	लोहेज	दिवराणा	हुसेनाबाद
आबादी	२,५००	१,२५०	५५०
पचायत की स्थापना का वर्ष	१९५२	१,९५५	१९५२
अब तक कितनी बार पचायतो के चुनाव हुए	४	३	४
प्रत्येक बार गठित पचायत के सदस्यो की सख्या			
१९५२ मे	११	–	१३
१९५५ मे	११	९	१३
१९५८ मे	१३	९	१३
१९६२ मे	९	७	७

तालिका २

तीनो गॉवो में मतदाताओ की सघटना

लोहेज		दिवराणा		हुसेनाबाद	
अहीर	४७५				
हरिजन	८७	कुणबी	३१६	घाची	१११
राजपूत	७०				
शेख	५७	कोली	८०	अहीर	४८
रैबारी	५०	हरिजन	२०		
ब्राह्मण	२८	कुम्हार	१४	कोली	३१
बनिया	२४	ब्राह्मण	१२		
बावा	२२	लोहाणा	१०	कुम्हार	२०
कुम्हार	१७	भावा	१०		
बैरठ	१७	मुसलमान	१०	हरिजन	१८
दर्जी	१६				
अन्य	४१	अन्य	२४	अन्य	१४
कुल	९०४		४९६		२४२

आबादी के हिसाब से ये गॉव विभिन्न श्रेणियो मे आते है और वहाँ ग्राम पचायते भी काफी समय से काम कर रही है। सभी गॉवो मे पचायतो का चुनाव ३ से ४ बार

विशिष्ट उप-जातियो मे विभाजित किया गया है, जबकि छोटे वर्गों को 'अन्य' कह कर सम्बोधित किया गया है। यद्यपि इन छोटे वर्गो को कम आबादी होने के नाते 'अन्य'

की उपाधि दी गयी है, तथापि उन्हे बिल्कुल बेकार नही समझा जा सकता, क्योकि ग्राम नेतृत्व के विकास मे उनका भी हाथ है। इन तीनों गाँवो मे जातिवार मत-दाताओ की सूची उपर तालिका २ मे दी गयी है।

तालिका २ से यह स्पष्ट है कि लोहेज, दिवराणा और हुसेनाबाद मे क्रमश अहीर, कुणबी और घाची उप-जातियो की प्रमुखता है। यदि जात्यनुसार सख्या के हिसाब से देखे तो ग्राम-नेतृत्व उक्त गाँवो मे इन जातियो के हाथ मे चला गया होता। तथापि, तथ्यो कि प्रारम्भिक अवस्था मे चुने गये नेता ऊँची जातियो के थे। (देखिये तालिका ३।) परन्तु बाद मे नेतृत्व धीरे-धीरे तीनो ही गाँवो मे उपर्युक्त दलो के हाथ मे आ गया।

नये नेतृत्व का प्रादुर्भाव

इस झुकाव का कारण लोगो का जातिवादी दृष्टि-कोण है। प्रारम्भ मे नेतागण ऊँची जातियो से आये, भले ही उनकी आबादी कितनी ही कम क्यो न हो।

तालिका ३
ग्राम नेतृत्व सम्बन्धी जानकारी

		नाम	जाति	उम्र	शैक्षणिक योग्यता
लोहेज					
१९५२	सरपच	नानालाल हसराज	बनिया	४८	वर्नाकुलर ५
	उप सरपच	मणिलाल नागजी	ब्राह्मण	३८	वर्नाकुलर ६
१९५५, १९५८, १९६२	सरपच	अर्जन वेजा	अहीर	२१	वर्नाकुलर ६
	उप सरपच	रामभाई जीना	अहीर	२१	वर्नाकुलर ६
दिवराणा					
१९५५, १९५८, १९६२	सरपच	लक्ष्मण कचरा	कुणबी	४८	वर्नाकुलर ४
१९५५	उप सरपच	जारजी नारण	कुणबी	४५	वर्नाकुलर ४
१९५८	,, ,,	मेजी देवा	कुणबी	४०	अशिक्षित
१९६२	,, ,,	मोहन लक्ष्मण	कुणबी	३०	वर्नाकुलर ४
हुसेनाबाद					
१९५२	सरपच	वजूभाई शाह	बनिया	४६	
	उप सरपच	अमुभाई शाह	बनिया	४३	
१९५५	सरपच	काला जेसा	अहीर	४७	वर्नाकुलर १
	उप सरपच	ईसा कासम	घाची	३५	वर्नाकुलर ७
१९५८	सरपच	ईसा सुलेमान	घाची	३०	वर्नाकुलर २
१९६२	उप सरपच	अलसी घाना	अहीर	४०	अशिक्षित

और इकट्ठी की गयी जानकारी पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ मे तीन मे से दो गाँवो मे जो सरपच और उप सरपच चुने गये, वे उन जातियो के थे, जिनकी सख्या कम थी। एक यह भी तथ्य सामने आया वे जन-मानस तैयार करनेवाले पारम्परिक नेता थे। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया और निम्न जातियो वाले दल पचायत के सगठन तथा गाँव के प्रशासन मे अपने अधिकार एवम् कर्तव्य के प्रति सजग होते गये,

ऊँची जातियो का स्वार्थमय प्रारम्परिक नेतृत्व समाप्त होता गया।

आयु-वर्ग की ओर देखने से यह पता चलता है कि लोहेज गाँव मे सरपच और उप सरपच की उम्र क्रमशः ४८ और ३८ वर्ष थी। परन्तु बाद मे नेतृत्व २१ वर्षीय युवको को सौपा गया और वे आज तक उस पद पर आसीन है। दिवराणा मे श्री लक्ष्मण कचरा १९५५ मे ४८ वर्ष की उम्र मे सरपच चुने गये और तब से आज तक कोई नया सरपच नही हुआ। लेकिन उप सरपच के मामले मे प्रत्येक चुनाव मे नया व्यक्ति चुना गया है। १९५८,मे यह उम्र ३० और ४० वर्ष के बीच रही और वे ही व्यक्ति फिर १९६२ मे भी चुने गये।

शैक्षणिक योग्यता

शैक्षणिक योग्यता के विषय मे हम यह पाते है कि नेतृत्व में परिवर्तन के लिए यह पहलू जिम्मेदार नही रहा है। वस्तुत कई सरपच तो पिछले सरपच से कम पढे-लिखे भी पाये गये है। अत नेतृत्व मे परिवर्तन तथा शैक्षणिक योग्यता के बीच कोई प्रत्यक्ष व विशिष्ट सम्बन्ध नही है। इस बात की व्याख्या तो सभवत ग्रामीण मनोविज्ञान का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके

तालिका ४

नेताओ के व्यवसाय

वर्ष	नाम	जाति	पद	व्यवसाय
लोहेज				
१९५२	नानालाल हसराज	(बनिया)	सरपच	व्यापारी
	मणिलाल नागजी	(ब्राह्मण)	उप सरपच	व्यापारी
१९५५, १९५८, १९६२	अर्जन वेजा	(अहीर)	सरपच	किसान
	रामभाई जीना	(अहीर)	उप सरपच	किसान
दिवराणा				
१९५५, १९५८, १९६२	लक्ष्मण कचरा	(कुणबी)	सरपच	किसान और व्यापारी
	सभी उप सरपच			किसान
हुसेनाबाद				
१९५२	वजुभाई शाह	(बनिया)	सरपच	ठेकेदार
	अमुभाई शाह	(अहीर)	उप सरपच	ठेकेदार के सहायक
१९५५	काला जेसा	(अहीर)	सरपच	किसान
	ईसा कासम	(घाची)	उप सरपच	किसान
१९५८	ईसा सुलेमान	(घाची)	सरपच	किसान
	अलसी घाना	(अहीर)	उप सरपच	किसान

तीनो चुनावो मे चुने गये उप सरपचो की आयु क्रमश ४५, ४० और ३० वर्ष थी। अत नेतृत्व अधिक उम्र वाले के हाथ से निकल कर धीरे-धीरे कम उम्र के लोगो के हाथो मे आता गया। हुसेनाबाद के मामले मे भी सरपचो और उप सरपचो की उम्र १९५२ मे ४३ और ४६ तथा १९५५ मे ३५ से ४७ वर्ष के बीच रही। सब ही की जा सकती है। सामान्यत. ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम प्रशासन मे उच्च शैक्षणिक योग्यता की बनिस्बत जरूरत है अनुभवजन्य प्रखर सामान्य ज्ञान और प्रगाढ अनुभूति की।

नेतृत्व का धधे के साथ सम्बन्ध के मामले मे हम यह पाते है कि सभी गाँवों मे प्रथम चुनाव मे सरपच के लिए

व्यापारियो को चुना गया। सम्भवत उन्होंने महाजनो का कार्य किया और परम्परागत जमीदारों अथवा जागीरदारों के अभाव मे सभी गॉवो मे वे स्वार्थी तत्वो का प्रतिनिधित्व करनेवाले एक मात्र व्यापारिक वर्ग बन भूमि सुधार के फलस्वरूप जमीन के मालिक बन गये और जिन्हे अपनी बहु-सख्यक जाति का अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। इससे इस बात का सकेत मिलता है कि नेतृत्व धीरे-धीरे व्यापारियो के हाथ से निकल कर

तालिका ५

विभिन्न जाति समूहो का प्रतिनिधित्व

श्रेणी	पचायतो मे जाति समूहो का प्रतिनिधित्व	१९५२ मे पचायतो के सदस्यो की सख्या (सभी गॉव)	१९५२ मे कुल सदस्यों का प्रतिशत्य (सभी गॉव)	१९५५ मे पचायतो के सदस्यो की सख्या (सभी गॉव)	१९५५ मे कुल सदस्यो का प्रतिशत्य (सभी गॉव)	१९५८ मे पचायतो के सदस्यो की सख्या (सभी गॉव)	१९५८ मे कुल सदस्यो का प्रतिशत्य (सभी गॉव)	१९६२ मे पचायतो के सदस्यो की कुल सख्या (सभी गॉव)	१९६२ मे कुल सदस्यो का प्रतिशत्य (सभी गॉव)
सर्वोच्च वर्ग	ब्राह्मण	२	२९ २	२	१२ १	१	८ ६	१	१३
	राजपूत	१		—		१		१	
	बनिया	४		२		१		१	
	योग	७		४		३		३	
उच्च वर्ग	बावा	१	१२ ५	१	६ २	—	५ ७	—	४ ३
	सुतार	१		१		१		१	
	कुम्हार	१		—		१		१	
	योग	३		२		२		२	
निम्न वर्ग	अ हिन्दू								
	अहीर	५	५० ०	८	६९ ७	६	७१ ५	६	७४ ००
	कुणबी	—		४		६		४	
	कोली	२		४		१		२	
	रैबारी	१		२		२		१	
	आ मुसलमान	४		५		१०		४	
	योग	१२		२३		२५		१७	
निम्नतम वर्ग	हरिजन	२	८ ३	४	१२ १	५	१४ २	२	८ ७
	कुल योग	२४	१००	३३	१००	३५	१००	२४	१००

गये। (देखिये तालिका ४) परन्तु बाद मे यह देखा गया कि जिन व्यापारियो को कृषि कार्य का अतिरिक्त सहारा नही था उन्हे उन व्यक्तियों ने उखाड फेका, जोकि किसानो के हाथो मे चला गया है।

यदि हम सम्पूर्ण पचायत की दृष्टि से नेतृत्व के प्रश्न पर विचार करे तो हमे इसके गठन तथा पिछले दस वर्षो

मे इसमे हुए परिवर्तनों का अध्ययन करना होगा। इन गाँवों मे भी अधिक सख्या किसानो की ही है। अत पचायत मे उन्हे अधिक स्थान मिला। लेकिन यदि हम दस वर्ष की अवधि मे प्रतिनिधित्व के प्रातिशत्य को प्रत्येक व्यक्ति की हैसियत के आधार पर देखे तो पाते है कि प्रारम्भ मे किसानो का प्रतिनिधित्व कम था और ऊँची जातियो का अधिक। (देखए तालिका ५।)

जातियों की तुलनात्मक अवस्था

ब्राह्मण, राजपूत और बनियो को, जोकि ऊँची जात मे गिने जाते हैं, सन् १९५२ मे २९ २ प्रति शत स्थान मिले (तीनों पचायतों के कुल स्थानो मे से)। फिर १९५५ और १९५८ मे उनका प्रातिशत्य कम होता गया और अन्तत १९६२ मे सिर्फ १३ प्रति शत रह गया।

बावा, सुतार और कुम्हारो का स्थान दूसरे दर्जे मे है। सन् १९५२ मे पचायतो मे उनका प्रातिशत्य १२ ५ था, जोकि बाद मे बहुत ही कम हो गया। सन् १९५५, १९५८ और १९६२ मे उनका प्रातिशत्य क्रमश ६ २, ५ ७ और ४ ३ हो गया।

निम्न श्रेणी मे आते है कुणबी, अहीर, कोली और रैबारी। (उनमे से अधिकाश किसान है—रैबारी भी, जोकि चरवाहे भी है।) इस श्रेणी मे मुसलमान भी शामिल है, जोकि खेती करते है। सन् १९५२ मे उनका प्रतिनिधित्व ५० प्रति शत था, जो धीरे-धीरे बढ कर १९५५ मे ६९ ७, १९५८ मे ७१ ५ और १९६२ मे ७४ प्रति हो गया।

और, अन्त मे आते है हरिजन, जोकि अछूत समझे जाते थे और आज भी निम्नतम श्रेणी मे गिने जाते है। तीनो ही पचायतो मे उनका प्रतिनिधित्व ह और उनका प्रातिशत्य बहुत-कुछ बराबर ही रहा है, क्योकि उनके लिए निश्चित स्थान सुरक्षित है। उनका प्रतिनिधित्व १९५२ मे ८ ३ प्रति शत था, १९५५ और १९५८ मे इसमे थोडी घट-बढ हुई और पुन १९६२ मे यह ८ ७ प्रति शत हो गया।

इन गाँवों के राजस्व खाते से जो आकडे प्राप्त किये गये है, उनसे एक महत्वपूर्ण जानकारी यह मिली है कि बडे भूस्वामियो का प्रतिनिधित्व प्रारम्भ मे बहुत कम था। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, सभी पचायतो मे बडे भूस्वामियो की सख्या बढती गयी। सभी पचायतो मे भूस्वामी वर्ग का, जिनमे २५ बडे भूस्वामी आते है, प्रतिनिधित्व १९५२ के २० ८ प्रति शत से धीरे-धीरे बढ कर १९६२ मे ६५ २ हो गया। अलग-अलग गाँवो मे भी यह प्रवृत्ति है। लोहेज मे यह प्रातिशत्य १९५२ के ९ १ से बढ कर १९६२ मे ६६ ६ हो गया। द्विवराणा मे भी यह १९५५ के ४४ ४ प्रति शत से बढ कर १९६२ मे ५७ १ हो गया, जबकि हुसेनाबाद मे १९५२ के ३० ७ प्रति शत से बढ कर १९६२ मे ७१ ४ तक पहुँच गया। इसमे धीरे-धीरे वृद्धि हुई है। इस प्रकार पचायतो मे अपनी बडी सख्या के बल पर न सिर्फ किसान प्रवेश पाते जा रहे है, लेकिन उनमे से भी अधिकाश स्थानों पर बडे भूस्वामियों का अधिकार है।

युवक और अनुभव

यदि हम सभी गाँवो की पचायतो के सदस्यो का आयु वर्ग के नुसार वर्गीकरण करे तो पाते है कि प्रारम्भ मे अधिकाश सदस्य मध्यम आयु वर्ग—३१ से ४० वर्ष और ४१ से ५० वर्ष—के थे (देखिए तालिका ६)। सन् १९५२ मे ७९ प्रति शत सदस्य इन्ही आयु-वर्गों से थे, जबकि १९५५ मे इन वर्गो के सदस्यो का प्रातिशत्य ७३ था। सन् १९५८ और १९६२ मे सभी वर्गों को करीब-करीब समान प्रतिनिधित्व मिला। इसका बडा महत्व है, क्योकि २१ से ३० वर्ष और ५१ से ६० वर्ष दोनो ही वर्गो के सदस्यो को ग्राम्य प्रशासन कार्य मे लाया गया। जिन लोगो को पहले पचायतों मे मध्यम वर्ग के लोगों के साथ जिम्मेदारिया वहन करने मे कच्ची उम्र का (युवक) अथवा अधिक बूढा समझा जाता था, वे अब अपना उचित स्थान प्राप्त कर रहे है। ये वर्ग

पचायतो को सक्रिय बनायेगे तथा अनुभव भी प्रदान करेगे।

तालिका ६

विभिन्न आयु वर्गो में आनेवाले पचायत सदस्यो की सख्या

	१९५२	१९५५	१९५८	१९६२
२१ से ३०	२	५	१०	५
३१ से ४०	१०	११	९	५
४१ से ५०	९	१३	८	५
५१ से ६०	३	३	८	६
६१ से ७०	०	१	०	२
योग	२४	३३	३५	२३

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्राम स्तर पर नेतृत्व पद्धति मे चन्द महत्वपूर्ण परिवर्तन नजर आते है। यद्यपि इन परिवर्तनो के निश्चित रुख को बताना कठिन होगा, तथापि ग्राम नेतृत्व के परिवर्तन की प्रक्रिया की मुख्य-मुख्य बातो को बताना असम्भव नही होगा। इन्हे सक्षेप मे इस प्रकार रखा जा सकता है (१) ऊँची जात के आधार पर नेतृत्व की प्राप्तिवाली अवस्था मे परिवर्तन होता जा रहा है, (२) नेतृत्व के लिए मुख्य आधार अधिक आबादी बन गयी है, (३) नेतृत्व युवको के हाथ मे आता जा रहा है, (४) शैक्षणिक योग्यता के बदले ग्राम सम्बन्धी अनुभव और समझ का अधिक महत्व है, (५) जो लोग खेती नही करते वे किसानो को नेतृत्व का भार सौपते जा रहे है, (६) सभी आयु वर्ग वाले नेतृत्व के लिए अपनी ताकत लगा रहे है, (७) बडे भूस्वामी ग्राम नेतृत्व पर एकाधिकार करने के लिए धीरे-धीरे आगे बढ रहे है, (८) विशेष प्रतिनिधित्व भी समाज के निम्नतम वर्ग (हरिजन) को नेतृत्व के निकट नही पहुँचा सका है।

सक्षेप मे ग्राम स्तर पर नेतृत्व के मामले मे हो रहे परिवर्तनों की यह मुख्य रुझान है। बहुत सम्भव है कि चन्द गाँवो मे ये सभी प्रवृत्तियाँ पायी जाये तथा कुछ सभी गाँवो मे। तथापि, पचायत राज की एक स्थायी और महत्वपूर्ण सस्था के सन्दर्भ मे ग्राम नेतृत्व के भावी विकास की दृष्टि से हर रुख का बडा महत्व है।

जूनागढ १४ मार्च १९६४

खादी ग्रामोद्योग का एकादश वर्षारम्भ अक सितम्बर के अन्त मे प्रकाशित होगा। लेखको से अनुरोध है कि वे अपने लेख सम्पादक के पास अगस्त १९६४ के प्रथम सप्ताह तक भेज दे।

मिट्टी की अभिघट्यता और अपारदर्शी काचन : चन्द प्रयोग

जागेश्वर गो. श्रीखण्डे और यशवन्त वि. खेर

इस लेख मे मिट्टी की अभिघट्यता का परीक्षण करने तथा टिन आक्साइड के बदले जिरकोनियम आक्साइड का उपयोग कर वर्तमान अपारदर्शी काचन को सस्ता बनाने हेतु किये गये प्रयोगो के परिणामों का विवरण दिया गया है।

अभिघट्यता (प्लास्टीसिटी) परीक्षण इस सिद्धान्त पर आधारित है अभिघट्य (प्लास्टिक) मिट्टी में विभिन्न अनुपात मे प्रागारिक और अप्रागारिक दोनो ही प्रकार के लसदार पदार्थ रहते है। मिट्टी जितनी ही अभिघट्य होगी, पलस्तर साचे मे प्रचूषण उतना ही कम होगा और विपरीतावस्था मे प्रचूषण उतना ही अधिक होगा।

मिट्टी के अभिघट्यता परीक्षण मे समान घनत्व और मोटाई के पलस्तर साचे उपयोग मे लाये जाते है। पलस्तर और पानी का अनुपात होता है–५० तोला पानी मे १०० तोला पलस्तर, यह प्याले के सिर्फ एक ही साचे के लिए पर्याप्त होता है और ऐसे ६ साचो का उपयोग किया जाता है।

प्रक्रिया

परीक्षण की जानेवाली मिट्टी को प्रथम जल की आवश्यक मात्रा मे मिलाते है तथा ककडो और अन्य पदार्थो से उसे मुक्त करने के लिए १५० तार की चलनी मे छानते है। फिर छानी गयी मिट्टी को बैठने देते है और प्लावी जल को निथार कर निकाल देते है। तब शेष मिट्टी को पूर्णत सूख जाने देते है। अब इस मिट्टी का परीक्षण किया जाता है। प्रत्येक प्रकार की मिट्टी को अलग-अलग बर्तन मे पानी मे मिलाते है और फिर तैयार चिकनी मिट्टी को १५० तार की चलनी मे छानते है तथा प्रत्येक प्रकार की चिकनी मिट्टी के घनत्व को ४५ डिग्री सान्द्र-द्रवमापी पर रखते है। चिकनी मिट्टी को साचे मे डालते है, स्तरे को बराबर रखते है और साचे मे दस मिनट रखते है। फिर चिकनी मिट्टी को साचे से बाहर उडेल देते है। साँचे मे रह गयी मिट्टी की परत को सूखने देते है और फिर उसे निकाल कर बिल्कुल सूखने देते है। हर साचे से निकले सूखे हिस्से का वजन लेते है। अभिघट्यता को सूखी वस्तु का वजन लेकर तथा उस वस्तु को काट उसकी मोटाई नाप कर माप सकते है। विभिन्न स्रोतो से प्राप्त कई किस्म की मिट्टी के हमारे परीक्षणो के परिणाम निम्न तालिका मे दिये गये है

मिट्टी परीक्षण के परिणाम

मिट्टी का नाम	प्रचूषित सूखी मिट्टी का वजन (तोला)	विशेष
भाण्डक लाल मिट्टी	४ ३/८	बहुत ही अभिघट्य
सलोद कपासी मिट्टी	५ ३/८	"
बडगाँव लाल मिट्टी	५ ३/८	"
माहेगाँव लाल मिट्टी	५ ३/८	"
कोठारी सफेद मिट्टी	५ १/२	"
पावनार मिट्टी	९ ३/८	अनभिघट्य
धान मिट्टी	७ १/८	अर्ध-अभिघट्य
जबलपुर मिट्टी	७ ७/८	अर्ध-अभिघट्य
बल्लारपुर मिट्टी	८ १/४	बहुत ही कम अभिघट्य
भाण्डक चीनी मिट्टी	८ ३/८	"
बम्बई चीनी मिट्टी	६ १/८	अर्ध-अभिघट्य

उपर्युक्त परिणाम तीन परीक्षणो के मध्यमाक है, जोकि सदृश्य परिणाम दर्शाते है।

साचे के आकार और माप से सम्बन्धित चित्र नीचे दिया गया है।
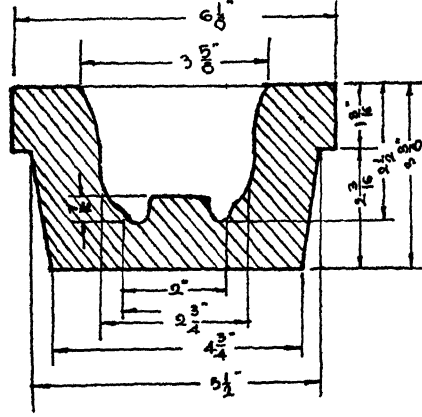
कप का पलस्तरी साँचा

टीन आक्साइड के बदले जिरकोनियम आक्साइड का उपयोग कर वर्तमान अपारदर्शी काचन को सस्ता बनाने के लिए किये गये प्रयोग : परीक्षण १०५० डिग्री सेंटीग्रेड पर किये गये और निम्न तीन कार्यकारी सघटन उपयोगी पाये गये

काचन सघटन 'इ' मे उतनी सफेदी नही मिली, जितनी कि काचन 'अ' और 'आ' मे प्राप्त हुई। सघटन 'अ' और 'आ' लाल मिट्टी के बर्तनों पर अधिक अच्छे लगे। टीन आक्साइड की मौजूदा कीमत को ध्यान मे रख कर तथा इसे सिर्फ अपारदर्शी बनाने के लिए इस्तेमाल करते हुए वर्तमान काचन की कीमत करीब १ रुपया ३७ नये पैसे पौण्ड पडेगी।

अपारदर्शक बनाने के लिए जिरकोनियम आक्साइड के साथ एक से डेढ प्रति शत टीन आक्साइड का उपयोग करने से काचन खर्च प्रति पौण्ड करीब ८० नये पैसे कम हो जायेगा। यदि कच्चा माल अधिक मात्रा मे खरीदा जाय तो खर्च और भी कम पडेगा। इस बात के लिए परीक्षण अभी जारी है कि टीन आक्साइड का इस्तेमाल बिल्कुल ही न करना पडे और साथ ही अच्छा अपारदर्शी काचन भी हो।

कार्यकारी सघटन

नाम	सीसाविहीन काचन		सीसा काचन
	अ	आ	इ
काच चूर्ण	२९ ८०	२९ ८०	३० ७३
सुहागी फ्रिट	२९ ८०	२९ ८०	० ००
चीनी मिट्टी	७ ७५	७ ७५	८ ००
फेल्सपार	५ १०	६ १२	५ २६
चकमक	६ १२	६ १२	६ ३३
'बाल' मिट्टी	४ ०८	५ १०	४ ७५
जिन्कोक्साइड	६ १२	५ ७१	४ ७५
जिरकोनियम आक्साइड	१० २०	८ १७	९ ४५
टीन आक्साइड	१ ०३	१ ४३	० ००
सफेद सीसा	० ००	० ००	३० ७३
	१००.००	१०० ००	१०० ००

अन्नोपभोग और बढ़िया से बढ़िया अनाज की ओर : एक अध्ययन

तण्डलम सो. यशवंत और रा. राजगोपालन

साधारण अन्नोपभोग और विशेष रूप से उत्तम अन्नोपभोग के साथ ही जाति, आय और व्यावसायिक स्तरों पर अन्नोपभोग के अध्ययनार्थ आकडे एकत्रित करने हेतु मद्रास राज्य के उप्पातुर गाव में बेच-मार्क सर्वेक्षण किया गया। इस लेख में उसी का विश्लेषण प्रस्तुत है।

इस लेख के दो उद्देश्य है (१) उपभोग स्तर का परीक्षण करना, और (२) बढिया अनाज के उपभोग-अनुपात की भिन्नता का अध्ययन करना। इनका अध्ययन (अ) जाति, (आ) धधा, और (इ) आय के सन्दर्भ मे किया गया है।

इस कार्य के लिए मद्रास राज्य मे रामनाथपुरम जिले का उप्पातुर गाँव चुना गया, जोकि शुष्क क्षेत्र है। मद्रास विश्वविद्यालय के कृषि-अर्थशास्त्र अनुसधान केन्द्र द्वारा १९५८ मे सम्पन्न बेच-मार्क सर्वेक्षण के जरिये आकडे सग्रहीत किये गये। बेच-मार्क सर्वेक्षण के एक अग रूप सभी घरो से सर्वेक्षण काल के एक माह पूर्व के उपभोग आकडे इकट्ठे किये गये।

अर्थ-व्यवस्था की मुख्य बातें

उप्पातुर गाँव मे २,१२० लोग ४९३ परिवारो मे बसते है। गाँव मे बसनेवाली मुख्य जातियाँ है नैकर, यादव और हरिजन, जिनमे ईसाई भी शामिल है। शुष्क गाँव होने के कारण यहाँ श्रमिको की सख्या अधिक है। खेतिहरो मे जमीन की मालिकी के मामले मे बडी भिन्नता है। मुख्य फसलो के रूप मे कपास, धनिया, लाल मिर्च, कुम्बु, कडीरैवली और प्याज है। कुल ४,६६४ एकड जमीन मे से सिर्फ २० एकड मे ही धान की खेती होती है। गाँव मे चावल बाहर से मगाया जाता है। कुम्बु के मामले मे भी, जोकि गाँव का प्रमुख अनाज है, कुल का सिर्फ ५ ६ प्रति शत ही बेचा जाता है। व्यापारियो द्वारा प्रदत्त आकडे यह दर्शाते है कि गाँव मे बाजरा भी बाहर से मगाया जाता है। इसकी पुष्टि इससे की जा सकती है कि अनाज की खपत कुल उत्पादन से अधिक है।

सिर्फ चावल खानेवाले २९ परिवारो तथा बाजरा खानेवाले चार परिवारो को छोड कर बाकी परिवार चावल और बाजरा दोनो ही अनाज खाते है।

जाति और अनाज का उपभोग

गाँव मे १७ जातियाँ है। इस विश्लेषण के लिए पारम्परिक रूप से निर्धारित समान सामाजिक और व्यावसायिक हैसियत रखनेवाली जातियो को एक मे शामिल कर दिया गया है। नैकर, नाडार और यादव जैसी मुख्य जातियो को अलग ही रखा गया है। होटल मे भोजन करनेवाले १२ एक-सदस्यीय परिवारों को इस विश्लेषण मे शामिल नही किया गया है। विभिन्न जातियो मे प्रति वयस्क प्रति दिन अनाज की खपत यानी अन्नोपभोग का विवरण तालिका १ मे दिया गया है।

तालिका १

विभिन्न जातियो में प्रति वयस्क प्रति दिन अनाज की खपत

जाति	प्रति वयस्क प्रति दिन अनाज खपत (औंस मे)*
नैंकर	३४ ४६
नाडार	२४.३७
यादव	२९ १५
मजदूर§	२७ ३७
दस्तकारियाँ और सेवा†	२२ ०३
अन्य‡ (उन्नत जातियाँ)	२९ ५९
गाँव के लिए औसत	२८ ५३

* वयस्क इकाई 'लस्क कोएफिसिएण्ट' के आधार पर निकाली गयी है।

§ मजदूरों में परायण, चक्कीलियाँ, ईसाई और तेवर शामिल है।

† इसमें असारी, बन्नत, अम्बत्तन, दर्जी, पडरम् और वेतुवन शामिल है।

‡ इसमें ब्राह्मण, चेट्टियार, पिल्लै और मुदालियर शामिल है।

गाँव मे प्रति वयस्क प्रति दिन अनाज की खपत प्रचलित स्तर से काफी ऊँची है। यह इस कारण हो सकता है कि (अ) परिवारो की, खास कर किसानो की, जो खपत बतायी गयी है, उसमें आकस्मिक श्रमिको को दी जानेवाली दस्तूरी भी शामिल हो, और (आ) कुम्बु तथा कुडीरैवली जैसे घटिया अनाजो के मामले मे जो खपत बतायी गयी है, उसमे भूसी का वजन भी शामिल हो।

मजदूरी भुगतान और मजदूरी प्राप्ति से सम्बन्धित आकडे दर्शाते है कि जो दस्तूरी दी जाती है, वह आकस्मिक श्रमिको को दी जानेवाली मजदूरी के अनुपात से बहुत कम है। पर्यवेक्षण से यह ज्ञात हुआ कि कुडीरैवली और कुम्बु जैसे अनाजो के मामले मे बर्बादी अधिक हुई है। इस बर्बादी को बाद देने पर भी यह खपत बहुत अधिक लगती है।

विभिन्न जाति दलो के बीच सबसे अधिक भिन्नता नैंकर जाति और सेवक जाति के बीच है। गाँव की अधिकाश भूमि नैंकरो की है। कुल १३५ मे से १०६ नैंकर परिवार तो मुख्यत कृषक है। कृषक बन्नतो, अम्बत्तनो और चक्कीलियानो को भोजन देते है। इस कारण खपत बहुत अधिक है। सेवक जाति दल को दस्तूरी मिलती है। अत उनके सम्बन्ध मे बतायी गयी खपत बहुत कम है। यदि इन बातो को ध्यान मे रखा जाय तो विभिन्न जाति दलो के बीच खपत के स्तर मे बहुत थोडी भिन्नता होती है।

आय स्तर और खपत

यह जानने का भी प्रयास किया गया है कि एक ही जाति के अन्दर क्या आय-स्तर की भिन्नता के कारण अनाज की खपत के स्तर मे भी भिन्नता आती है? इस कार्य के लिए प्रत्येक जाति मे विभिन्न आय-स्तरो पर प्रति वयस्क जो खपत बतायी गयी है, उसका विचरण गुणाक जोडा गया। परिणाम तालिका २ मे दिखाये गये है। यादव जाति मे भिन्नता सबसे अधिक है, जबकि श्रमिक और सेवक जाति मे सबसे कम। श्रमिक और सेवक जाति दलो के परिवारों के आय-स्तर का निकट-परीक्षण करने से यह ज्ञात हुआ कि आय मे वृद्धि होने के साथ-साथ परिवार का औसत आकार भी बढा। इससे विभिन्न परिवारो के बीच प्रति वयस्क उपभोग मे प्राप्त अन्तर कम हो गया।

तालिका २

प्रत्येक जाति मे विभिन्न आय स्तरो के लोगो में प्रति वयस्क प्रति दिन अन्नोपभोग का विचरण गुणाक

जाति	विचरण गुणाक
नैंकर	१३ ८७ प्रति शत
नाडार	१९ २३ ,, ,,
यादव	२६ ०० ,, ,,
श्रमिक	७ ६६ ,, ,,
सेवाएँ	६ ८४ ,, ,,
अन्य	१५ ५० ,, ,,

यादवो मे यदि तीन घरो मे इतनी अधिक खपत न हुई होती तो विचरण गुणाक इतना अधिक नही होता।

धंधा और अन्नोपभोग

धधे के सन्दर्भ मे अनाज की खपत के अध्ययन के लिए सभी पेशेवर जातियो को दो किस्म के श्रमिक वर्गो मे विभक्त करना उपयोगी होगा– अधिक खपत दर्शानेवाले और कम खपत दर्शानेवाले। इसलिए व्यावसायिक दलो को इन दो श्रेणियो मे रखा गया है। प्रति वयस्क खपत से सम्बन्धित आकडे तालिका ३ मे दिये गये है।

तालिका ३

विभिन्न धधों में प्रति वयस्क प्रति दिन अन्नोपभोग

व्यावसायिक दल	अन्नोपभोग (औस मे)
अ मजदूर	
१ श्रमिक	२७ ८८
२ परमावश्यक सेवाएँ	१७ २०
३ कला और दस्तकारियाँ	२१ ३४
४ छोटे भूस्वामी §	२६ ४६
५ मध्यम भूस्वामी †	३६ ५३
६ * बडे भूस्वामी ‡	३६ १८
आ अन्य	
१ व्यापार	२३ २२
२ पेशेवर	२१ ७०

* पर्यवेक्षण करनेवाले तथा शारीरिक श्रम करनेवाले श्रमिकों को वर्गीकृत करने की कोशिश नही की गयी है। पर्यवेक्षण से यह पता लगा है कि कई बडे भूस्वामी भी शारीरिक श्रम करते है।

§ १० एकड से कम भूमि के स्वामी।

† १० से २९ एकड तक के बीच के भूस्वामी।

‡ २९ एकड तथा उससे अधिक के भूस्वामी

परिवारो की खपत मे परमावश्यक सेवाओ और दस्तकारियो के लिए, खास कर चमारो को, दी गयी दस्तूरी शामिल है। दी गयी दस्तूरी का विस्तृत विवरण आकडो मे नही है। फिर, कुल खपत मे दस्तूरी का क्या अनुपात है, यह भी बताना सम्भव नही है। बडे और मध्यम भूस्वामियो के लिए यह अनुपात काफी बडा है। बडे भूस्वामी परिवारो मे अधिक खपत के लिए एक कारण यह भी है कि वे खेतो के लिए स्थायी नौकर रखते है। आम तौर पर यह पाया जाता है कि खेत मे काम करनेवाले नौकर दूसरो से अधिक खाते है। इसका अध्ययन करने के लिए जिन परिवारो मे स्थायी कृषि नौकर है, उन्हे दूसरे परिवारो मे अलग रखा गया है।

इन श्रेणियो मे से प्रत्येक के लिए प्रति वयस्क औसत उपभोग नीचे दिखाया गया है

श्रेणी	दैनिक अन्नोपभोग (औस मे)
स्थायी कृषि सेवक रखनेवाले	३६ ५०
स्थायी कृषि सेवक न रखनेवाले	३५ ८०

यह देखा गया है कि स्थायी कृषि सेवक रखनेवालो की खपत कुछ अधिक है। श्रमजीवि दल मे कम खपत परमावश्यक सेवाओ, कला और दस्तकारियों मे है। उनकी प्रति व्यक्ति आय भी गाँव मे सबसे कम है। श्रमजीवि परिवारो तथा दूसरो के बीच प्रति वयस्क खपत मे बडी भिन्नता है। व्यापारी और पेशेवर श्रेणियाँ अनाज कम खाती है। उपर्युक्त विश्लेषण यह दर्शाता है कि पेशे का स्वरूप कुल अनाज की खपत पर प्रभाव डालता है।

प्रत्येक धधे के अन्तर्गत अनाज की खपत पर आय के प्रभाव का भी परीक्षण किया गया है। प्रत्येक पेशेवर श्रेणी के लिए जोडा गया विचरण गुणाक तालिका ४ मे दिया गया है।

तालिका ४

विभिन्न धधो में आय स्तर के आधार पर प्रति वयस्क प्रति दिन अनाज खपत का विचरण गुणाक

धधा	विचरण गुणाक (प्रातिशत्य)
बडे भूस्वामी	९ ४०
मध्यम भूस्वामी	१६ ४७
छोटे भूस्वामी	१५ ३२
कला और दस्तकारी	६ ८६
श्रम	९ ०३
परमावश्यक सेवाएँ	२५ ९३
व्यापार	२१ ३७
पेशेवर	१६ ८७

सबसे कम विचरण कला और दस्तकारी मे है। श्रमिको और बडे भूस्वामियो के साथ भी यही बात है। सबसे अधिक विचरण परमावश्यक सेवको मे पाया जाता है। इन घरो से उपहार के तौर पर प्राप्त तैयार भोजन का विवरण नही मिला है। इसके कारण विचरण बहुत बढ जाता है। यदि इस श्रेणी को नजरअन्दाज कर दिया जाय तो इसके व्यापारी वर्ग मे विचरण अधिक पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जाति के अन्दर आय का जितना प्रभाव पडता है, धधे के अन्दर उससे कम पडता है।

प्रत्येक धधे के लिए आय के अनुसार श्रेणीवार आकडे तैयार किये गये और यह पाया गया कि (१) व्यापार, अन्य धधो, कला और दस्तकारियो तथा परमावश्यक सेवाओ मे अनाज की खपत खेती-मजदूरी से कम पायी गयी, और (२) मजदूरी तथा अन्य धधो के मामले मे आय का प्रभाव स्पष्ट है।

तालिका ५

विभिन्न आय-स्तर पर प्रति वयस्क अनाज की खपत

आय-स्तर (रुपये मे)	प्रति परिवार औसत इकाई (औस मे)	प्रति वयस्क आय (रुपये मे)	प्रति वयस्क इकाई उपभोग (औस मे)
२५० मे कम	० ९९	१७० ०२	२६ ४६
२५० से ५००	२ ०२	१९० ८५	२७ ६५
५०० से ७५०	३ २६	१८३ १६	२५ ०८
७५० से १,०००	४ १७	२०७ १२	२४ ३९
१,००० मे १,५००	४ २६	२७६ १४	२८ ४०
१,५०० से २,०००	५ ०१	३४६ ६८	२८ ६७
२,००० से ३,०००	५ ३४	४५० ७८	३६ ७५
३,००० से ५,०००	६ ०२	६४६ ०८	३६ ५५
५,००० से अधिक	७ ४९	१,१०६ ८१	३५ ६९
औसत	३ ६१	३५२ ६९	२८ ९३

आय स्तर और अनाज की खपत

तालिका ५ विभिन्न आय-स्तरो के लिए प्रति वयस्क प्रति दिन अनाज की खपत दर्शाती है।

आय-स्तर २५० रूपये और १,००० रूपये के बीच अन्न की खपत मे अधिक विचरण नही है। इसका कारण प्रति वयस्क आय मे मिल सकता है। प्रति वयस्क आय मे बहुत ही थोडा विचरण है। फिर, अनाज खपत के स्तर का सामान्यत आय से कोई मेल नही होता। एक हजार रूपये से दो हजार रूपये के बीच की आयवाला वर्ग पिछले वर्ग से कुछ भिन्न है। हाँ, जिन परिवारो की

रेखा का समीकरण इस प्रकार है ख=२५ २६+० ७४ क, जबकि 'ख' प्रति दिन प्रति वयस्क कुल अनाज खपत दर्शाता है और 'क' वार्षिक आय। 'ची वर्ग' (ची स्क्वायर) से परीक्षण करने के बाद उपर्युक्त रेखा बिल्कुल ठीक बैठती पायी गयी। रेखा के समीकरण से यह पाया जाता है कि आय मे २५० रुपये की वृद्धि होने से अनाज खपत मे ० ७४ औस की वृद्धि होती है।

आय स्तर में अन्नोपभोग
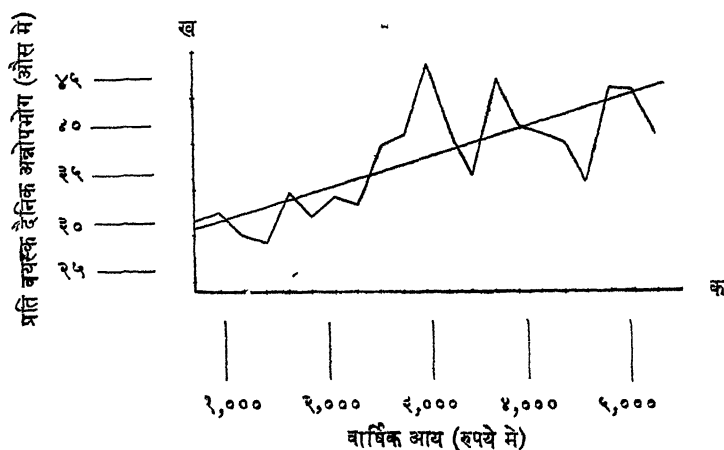
आय २,००० रूपये से अधिक है, वे निश्चय ही अन्य वर्गो से भिन्न है। इस वर्ग की एक विशेषता यह है कि इसके परिवारो मे से ६५ बडे और मध्यम भूस्वामी परिवार है। इस वर्ग के ३७ परिवारो के पास खलिहान की देख-भाल करने के लिए स्थायी सेवक है।

विभिन्न आय स्तरो मे अन्नोपभोग अर्थात् अनाज की खपत-सम्बन्धी ग्राफ तैयार किया गया। इस कार्य के लिए परिवारो को २१ आय-वर्गो मे बाटा गया—२५० रुपये से कम से ले कर ५,००० रुपये से अधिक तक और एक से दूसरे वर्ग के बीच २५० रुपये के अन्तर के साथ। ग्राफ ने आय और अनाज खपत के बीच रेखीय झुकाव का सकेत दिया। अत. एक सीधी रेखा बैठ गयी।

भिन्न जाति, आय और धधा वर्गो के लिए विचरण की तुलना करने हेतु विचरण गुणाक निकाला गया है।

वर्ग	प्रति वयस्क प्रति दिन खपत का विचरण गुणाक (प्रातिशत्य)
जाति	१४
आय	१६
धधा	२३

इससे यह प्रकट है कि धधा और आय जाति से अधिक विचरण दर्शाते है। धधा और आय के प्रभाव को

अलग करने के लिए विचरण का विश्लेषण किया गया है और परिणाम नीचे दिये गये है। एक प्रति शत स्तर पर भी आय तथा धधे के मामले मे विचरण अनुपात बडे ही महत्वपूर्ण पाये गये। अत यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि धधा और आय दोनो ही अनाज की कुल खपत पर प्रभाव डालते है।

उत्तम प्रकार के अनाज का उपभोग

इस गॉव मे चावल एक मात्र उत्तम अनाज है और मुख्य घटिया अनाज है कुम्बु। कुल खपत मे उत्तम अनाज के अनुपातीय उपभोग सम्बन्धी जातिवार आकडे तालिका ६ मे दिये गये है। जहॉ यादव लोग सबसे कम उत्तम अनाज खाते है, वहॉं 'अन्य' श्रेणी मे आनेवाले लोगो मे इसकी खपत सबसे अधिक है। यद्यपि यादवो मे उत्तम अनाज की खपत कम है, उनका कुल अन्नोपभोग (२९ १५ औस) गॉव के औसत (२८ ९३ औस) से अधिक है। अधिकाश यादव खेतिहर मजदूर और गडेरिये है तथा वे इतने गरीब है कि चावल नही खरीद सकते। अत वे घटिया अनाज अधिक खाते है और इसी कारण उत्तम अनाज की खपत कम है।

तालिका ६

विभिन्न जातियों में उत्तम अनुपातीय अन्नोपभोग

जाति वर्ग	कुल अन्नोपभोग मे उत्तम अन्नोपभोग का प्रातिशत्य
नैकर	२५ ६२
नाडार	३८ ४९
यादव	८ ९९
श्रमिक	२६ ४९
सेवाऍं	३० ५०
'अन्य'	६३ ४०
शेष सभी	२७ ४०

'अन्य' वर्ग मे उत्तम अन्नोपभोग का प्रातिशत्य इसलिए अधिक है कि इस वर्ग मे ब्राह्मण, पिल्लै और मुदालियर लोग है और वे मुख्यत चावल खाते है। इस वर्ग मे के १५ परिवारो मे से सात तो सिर्फ चावल ही खाते है। 'अन्य' के बाद नाडार वर्ग मे उत्तम अन्नोपभोग का अधिक प्रातिशत्य है। यह इस कारण हो सकता है कि इसमे २० व्यापारी परिवार है और १४ परिवार ऐसे है जो किरानागिरी मे लगे है। यदि इन जाति वर्गो को छोड दिया जाय तो बाकी सभी वर्गो मे उत्तम अन्नोपभोग का स्तर कमोवेश एक ही है। प्रत्येक जाति मे उत्तम अन्नोपभोग पर आय-स्तर के प्रभाव का परीक्षण करने हेतु प्रत्येक जाति के लिए विचरण गुणाक निकाला गया। यह देखा जाता है कि सभी जाति वर्गो मे आय-स्तर का अन्नोपभोग निश्चित करने मे प्रभाव पडता है। नैकर

तालिका ७

विभिन्न जातियों में आय-स्तर के अनुसार आनुपातिक उत्तम अन्नोपभोग का विचरण गुणांक

जाति वर्ग	विचरण गुणाक (प्रातिशत्य)
नैकर	२९ ६३
नाडार	४३ ९२
यादव	४९ ८८
मजदूर	३६ ०३
सेवाऍं	४८ ३३
अन्य	४७ ५६

और मजदूर जातियो मे अन्य चार जातियो के बनिस्बत विचरण गुणाक कम है। नैकर मे यह इस कारण हो सकता है कि १३५ परिवारो मे से १०६ का मुख्य पेशा खेती है और उनका जो भी आय-स्तर हो वे अपने खेत मे पैदा किये गये कुम्बु के उपभोग को प्राथमिकता देते है। मजदूरो को जिस—घटिया अनाज—के रूप मे पारिश्रमिक

मिलता है और इसलिए आय-स्तर का उनके उपभोग स्वरूप पर कोई खास असर नही पडता।

धंधा और उत्तम अनाज

विभिन्न धधो मे लगे वर्गों मे उत्तम अन्नोपभोग का अध्ययन तालिका ८ मे किया गया है। तालिका ८ मे प्रथम छ व्यावसायिक वर्ग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि से सम्बन्धित है। इन छ मे 'कला-कारीगरी' को छोड कर, उत्तम अन्नोपभोग के प्रातिशत्य मे कोई विशेष विचरण नही है। 'कला-कारीगरी' मे उत्तम अन्नोपभोग के आधिक्य का कारण यह है कि इस वर्ग के ३३ परिवारो मे से १२ परिवार बढईगीरी, लोहारी और मोचीगीरी मे लगे है तथा उन्हे परिश्रमिक कुम्बु के रूप मे मिलता है। बाकी के २१ परिवार सुनारी सूघनी तैयार करने का काम, झाड़ू बनाने आदि मे लगे है और उन्हे जिस के रूप मे परिश्रमिक नहीं मिलता। ये लोग चावल अधिक खाते है, यह दिखाने के लिए 'कला-कारीगरी' वर्ग के परिवारो को दो श्रेणी मे बाटा गया है—जो जिस के रूप मे पारिश्रमिक पाते है तथा जो जिस के रूप मे पारिश्रमिक नही प्राप्त करते।

तालिका ८

विभिन्न धधा-वर्गों में आनुपातिक उत्तम अन्नोपभोग

धधा	उत्तम अनाज का आनुपातिक उपभोग (प्रातिशत्य)
बडे भूस्वामी	२८ ३३
मध्यम	१९ ५९
छोटे	२५ २८
मजदूर	२० ०५
कला-कारीगरी	४१ ४७
परमावश्यक सेवाएँ	२१ ५७
व्यापारी-	५३ ४०
पेशेवर	५९ ८१

इन दोनो दलो मे उत्तम अन्नोपभोग के प्रातिशत्य की तुलना इस प्रकार है जिन परिवारो को जिस के रूप मे पारिश्रमिक मिलता है—३५ १६, जिन परिवारो को जिस के रूप मे पारिश्रमिक नही मिलता—४४ ८४। यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि जिन परिवारो को जिस के रूप मे पारिश्रमिक नही मिलता उनके यहाँ उत्तम अनाज का उपभोग अधिक है और चूकि उनकी सख्या भी ज्यादा है, अत 'कला-कारीगरी' वर्ग मे सम्पूर्ण वर्ग के लिए उत्तम अन्नोपभोग का प्रातिशत्य अधिक है।

यदि हम 'कला-कारीगरी' वर्ग को बाद दे दे तो तालिका के प्रथम छ मे से अन्य पॉच धधा-वर्गों मे उत्तम अन्नोपभोग प्रातिशत्य १९ ५९ और २८ ३३ के बीच रहता है। व्यापारियो और पेशेवरो मे उत्तम अन्नोपभोग का उच्च प्रातिशत्य इसलिए है कि एक-तिहाई व्यापारी और एक-चौथाई पेशेवर सिर्फ चावल ही खाते है।

तालिका ९

विभिन्न धधो में आय-स्तर पर उत्तम अन्नोपभोग

धधा—वर्ग	विचरण गुणाक (प्रातिशत्य)
बडे भूस्वामी	२४ २२
मध्यम	३८ ५२
छोटे	५६ ३४
श्रमिक	५५ ९९
कला—कारीगरी	२९ ४१
परमावश्यक सेवाएँ	५८ ५०
व्यापार	५६ ७७
पेशे	२१ ५४

प्रत्येक धधा वर्ग मे उत्तम अन्नोपभोग पर आय के प्रभाव का अध्ययन विचरण गुणाक निकाल कर किया गया है।

सर्वाधिक विचरण परमावश्यक सेवाओ और व्यापार मे लगे लोगों तथा छोटे भूस्वामियो मे है। बडे भू-स्वामियो और पेशे मे लगे लोगो मे बहुत ही कम विचरण है, क्योकि प्रथम मे उनका आय-स्तर जो भी हो, घटिया अनाजों की खपत अधिक, है और द्वितीय मे उत्तम अन्नोपभोग अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तम अन्नोपभोग मे आय का धधा वर्ग या जाति वर्ग से अधिक प्रभाव है।

आय से सम्बन्ध

तालिका १० विभिन्न आय-स्तर के लोगो मे उत्तम अन्नोपभोग का अनुपात दर्शाती है।

तालिका १०

उत्तम अन्नोपभोग और बिभिन्न आय-स्तर

आय स्तर (रुपये मे)	उत्तम अनाज का उपभोग (प्रातिशत्य)
२५० से कम	८.५८
२५० से ५००	२० ००
५०० से ७५०	२४ ९२
७५० से १,०००	३४ ९७
१,००० से १,५००	२६ ३७
१,५०० से २,०००	२७ ३१
२,००० से ३,०००	२२ १८
३,००० से ५,०००	२९ ६६
५,००० से अधिक	४१ ०५

यदि ७५० रुपये से १,००० रुपये तथा २,००० रुपये से ३,००० रुपये के दो आय-स्तरो को बाद दे दे तो उत्तम अन्नोपभोग का प्रातिशत्य आय-स्तर मे वृद्धि के साथ बढता है। आय-स्तर ७५० रुपये से १,००० रुपये मे उच्च प्रातिशत्य इसलिए पाया जाता है कि उस वर्ग के ५९ परिवारो मे से २० धधा, 'कला-कारीगरी,' व्यापार और पेशेवर वर्ग के है, जोकि—जैसा कि पहले देखा जा चुका है— उत्तम अन्नोपभोग का उच्च प्रातिशत्य दर्शाते है। आय-वर्ग २,००० रुपये से ३,००० रुपये के अन्तर्गत २८ परिवारो मे से छ यादवो के है जिन्होने उत्तम अन्नोपभोग का न्यूनतम प्रातिशत्य दर्शाया है। इस आय-स्तर के प्रातिशत्य मे गिरावट का यही कारण है।

सर्वोच्च आय वर्ग सर्वाधिक प्रातिशत्य दर्शाता है। इस वर्ग मे अधिकतर बडे खेतिहर और व्यापारी ही है।

जाति, आय और धधा वर्गो मे उत्तम अन्नोपभोग के विचरण की तुलना करने हेतु विचरण गुणाक सगठित किये गये है। वे इस प्रकार है . जाति ५१ १८ प्रति शत, धधा ४४ ०५ प्रति शत, और आय ३३ १५ प्रति शत। आय के बनिस्बत जाति और धधा कारक अधिक विचरण लाते है।

इस गाँव मे कुल अन्नोपभोग मे आय और धधे का बडा प्रभाव है, जबकि उत्तम अन्नोपभोग जाति और धधा द्वारा प्रभावित है। यह भी पाया गया है कि धधा और जाति वर्ग के अन्तर्गत उत्तम अन्नोपभोग निर्धारित करने मे आय महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ●

हरसूद सामुदायिक विकास खण्ड का सर्वेक्षण और आयोजन

पूर्वी निमाड़ जिले में हरसूद सामुदायिक विकास खण्ड मध्य प्रदेश का सर्वाधिक पिछड़ा इलाका है, जिसकी ९५ प्रतिशत आबादी अपने जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर करती है। तथापि, इसमे कारीगर व आवश्यक कच्ची सामग्री उपलब्ध है और तैयार माल की बिक्री की सुविधाएँ मौजूद है, फलस्वरूप कुटीर तथा ग्रामीण उद्योगो के विकास की सुन्दर सम्भाव्यताएँ उक्त क्षेत्र मे है। नीलोखेडी स्थित खादी ग्रामोद्योग विद्यालय मे मध्य प्रदेश से प्रशिक्षण के लिए आये हुए बारह विस्तार अधिकारियों (उद्योग) ने एक सर्वेक्षण किया था, जिससे उक्त तथ्य सामने आये है।

मध्य प्रदेश के पूर्वी निमाड (खण्डवा) जिले मे सात सामुदायिक विकास खण्ड है। हरसूद सामुदायिक विकास खण्ड उनमे से एक है। उक्त विकास खण्ड का उद्घाटन २ अक्तूबर १९५३ के दिन हुआ था। फिलहाल यह अपने विकास के द्वितीय चरण से हो कर गुजर रहा है। इसका क्षेत्रफल २२८३ वर्ग मील और आबादी ४४,५६८ है। इसमे १११ गॉव है। इन गॉवो को दस ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता वृत्तो मे विभक्त किया गया है। इन वृत्तों के सदर मुकाम हरसूद, छनेरा, वह्मग्राम, पिपलानी, रेवापुर, बोरखेडा, माण्डला, बोरीसराय, भवानिया और बोथिया मे है। खण्ड के सदर मुकाम से सर्वाधिक दूरी–१८ मील– पर अवस्थित वृत्त है माण्डला का। बरसात के मौसम मे तीन ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता वृत्तो– माण्डला, बोरीसराय और भवानिया– का छोटे-छोटे नदी-नालो मे वाढ आ जाने के कारण सदर मुकाम से व्यवहारत सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

भौगोलिक जानकारी

हरसूद विकास खण्ड का सदरमुकाम बडी लाइन (सेण्ट्रल रेल्वे) पर पडता है। रेल्वे स्टेशन तीन–हरसूद, सिवाजी और पिपलानी–है। खण्ड मे १८ मील तक राज्य का राजमार्ग भी है। विकास खण्ड मे अर्ध-पक्की सडके भी है, जो हरसूद को खण्ड के खास-खास गॉवो से मिलाती है। इन सडको की कुल लम्बाई तकरीबन २० मील है। हरसूद विकास खण्ड मे वार्षिक औसत वर्षा ३० इच से ३५ इच तक होती है। सर्दियो मे न्यूनतम तापमान ४०° फर्नहाइट और गर्मियो मे अधिकतम तापमान ११६° फर्नहाइट है। खण्ड मे पॉच छोटी नदियॉ वहती है। उनके नाम इस प्रकार है– तवा, गोडापचर, काली मचक, रूपारेल और फेफराल। कुल ९७,२२५ एकड भूमि पर खेती होती है और २,४९३ एकड अकृष्य बजर है। पशु चराने के लिए २८,७१३ एकड भूमि स्थायी तौर पर चरागाह के रूप मे रखी जाती है। हरसूद विकास खण्ड मे एक महत्वपूर्ण मिघाजी जगली इलाका है। इसका क्षेत्रफल ४,६२२ एकड है। इससे अच्छे गुण-स्तर का सागोन, नरम काठ तथा अन्य प्रकार का इमारती काठ मिलता है। अकृष्य बजर भूमि के अलावा १२,०९५ एकड मे पहाड आदि है। उक्त कृष्ट भूमि मे से केवल २,८०१ एकड की ही सिचाई होती है। मुख्य सिचाई स्रोत कुएँ है। इसके अतिरिक्त कुछ कच्चे बाध भी है, जिनसे सिचाई होती है।

पूर्वी निमाड जिले मे हरसूद तहसील का सदर मुकाम है। हरसूद मे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक की शाखाएँ है। इस खण्ड के विभिन्न गॉवो मे नौ उप-डाक घर (सब-पोस्ट आफिस) है। विकास खण्ड का १९५३ मे उद्घाटन हुआ, उससे

पहले कुछ ही प्राथमिक विद्यालय थे। उनमे छात्र-सख्या २,५३७ थी। अब वहाँ पाँच माध्यमिक विद्यालय और दो हायर सेकण्डरी स्कूल है, जिनमे क्रमश ८१४ और ४१९ विद्यार्थी है। इसके अतिरिक्त प्रौढ शिक्षा केन्द्र, १५ वाचनालय और १४ मनोरजन केन्द्र भी चल रहे है।

विभिन्न फसले

हरसूद विकास खण्ड की काली मिट्टी कपास की खेती के लिए अत्यधिक रूप से उपयुक्त है और इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि कपास हरसूद विकास खण्ड की एक महत्त्वपूर्ण नकद फसल है। मूगफली तथा अन्य किस्म के तिलहन और कुछ अन्य नकद फसले भी क्षेत्र मे बोयी जाती है। कुल २७,४२५ एकड-भूमि पर कपास की खेती होती है और २३,३५७ एकड पर मूगफली तथा अन्य तिलहनो की। खाद्यान्नो की फसलो मे औसतन रूप से सबसे अधिक क्षेत्र (१४,४१४ एकड) पर ज्वार की खेती होती है। इसके बाद धान का स्थान आता है और फिर गेहूँ का। इन दोनो की कृषि के अन्तर्गत क्रमश ७,१३५ और ६,३८३ एकड भूमि है। चने की खेती ३,००८ एकड पर और मूग, मोठ, मसूर आदि की १,३७५ एकड पर होती है। फलो मे सर्वोच्च स्थान आम का है। उसका वार्षिक उत्पादन ४,२०० क्विण्टल है। अमरूद, नारगी, नीबू तथा जामुन अन्य फल है, जो हरसूद मे पैदा होते है। तरकारियो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलू है, जिसका कुल उत्पादन ४,२०० क्विण्टल है। आलू की खेती बीस एकड जमीन पर होती है। उत्पादन के परिणाम की दृष्टि से मिर्च का दूसरा स्थान है, जिसकी खेती ५०० एकड पर होती है और उत्पादन ३,१५० क्विण्टल है। फूलगोभी, टमाटर, धनिया आदि भी क्षेत्र मे बोये जाते है।

पशु धन

हरसूद विकास खण्ड मे १९६१ की पशु गणना के अनुसार ५४,६५६ मवेशी है, जिनमे २२,६६३ दुधारू और शेष कर्षक पशु है। कर्षक पशुओ मे २६,८९० बैल, ५,१७२ बकरे, ३०४ घोडे और २३,२०३ भैसे तथा १४ भेडे है। दुधारू पशुओ मे १५,०४५ गाये है और ७,०१८ भैसे। औसतन एक गाय रोजाना एक पौण्ड और एक भैस तीन से चार पौण्ड तक दूध देती है। दुधारू पशुओ की हालत बहुत खराब है और उनकी चराई अच्छी नही होती। सामान्यत उन्हे अपने आप जगल मे चरने छोड दिया जाता है। करीब ९५ प्रति शत आबादी खेती मे लगी है। शेष पाँच प्रति शत ही द्वितीय श्रेणी के काम-धधो मे लगी है। यह क्षेत्र मध्य प्रदेश मे सर्वाधिक पिछडा हुआ समझा जाता है। ऐसा समझना है भी ठीक। विकास खण्ड मे कल ८३० कारीगर परिवार है। उनकी सघटना इस प्रकार है चर्मकार २१६, दर्जी ११६, बढई ११६, बेत और बास कारीगर ७५, कुम्भकार और ईट पथार ७५, लुहार ५६, सुनार ५५, कपास से बिनौला अलग करनेवाले और आटा पीसनेवाले ५५, तेलकार ३७, बुनकर ३०, पत्थर शिल्पकार ६, बन्दूक मरम्मत करनेवाले ४, तथा रोशा तेल निस्सारक २। खण्ड मे कपास से बिनौले अलग करने के दो कारखाने है। इसके सिवाय एक तेल मिल और ११३ शक्ति चालित आटा चक्कियाँ है। ये सब उन विभिन्न स्थानो पर है, जहाँ बिजली उपलब्ध है। इन मिलो और कारखानो से कुल ८४ व्यक्तियो को मौसमी रोजगारी मिलती है। मध्यम स्तरीय उद्योगो की गुजाइश केवल तभी बढ सकती है, जबकि शक्ति की पर्याप्त नियमित पूर्ति हो। हरसूद मे केवल एक शक्ति प्रजनक है, जो खण्ड के चार गाँवों को शक्ति और बिजली की पूर्ति करता है।

ग्रामोद्योगों की गुंजाइश

बस्तुत विकास खण्ड मे कुटीर और ग्राम उद्योगो की बहुत बडी गुजाइश है। प्राय सभी परम्परागत उद्योग खण्ड मे चलते है, लेकिन यह एक खेद की बात है कि उन सभी की अवस्था बडी शिथिल है। स्थानीय रूप से कच्चे माल की उपलब्धि और बिक्री-व्यवस्था सम्बन्धी सुवि-

धाएँ प्राप्त होने के बावजूद बेचारे असहायावस्था में पड़े कारीगरों का उद्धार करने के लिए अभी तक कुछ भी नही किया गया है। देशी जूतियो, चप्पलो और कृषको द्वारा उपयोजित अन्य चर्मोद्योगी उत्पादनो की माग है। खण्ड मे पशु बहुत बडी सख्या मे है और चर्म शोधक तथा चर्मकार आसानी से मृत पशु प्राप्त कर सकते है, लेकिन इन कारीगरों को बेहतरीन साधन-सरजाम प्राप्त करने मे समर्थ बनाने के लिए सहकारी जामा पहनाने की दिशा मे अभी तक कुछ भी नही किया गया है। हॉ, इन्हे सहकारी समितियो मे शामिल करने के लिए मामूली स्तर पर प्रयास किये गये है। हरसूद विकास खण्ड मे दो चर्मकार सहकारी समितियाँ है। कुछ और चर्मकार तथा चर्मशोधक सहकारी समितियो की गुजाइश है।

मुख्यतः कृषि मे

यद्यपि विकास खण्ड मे ३० बुनकर परिवार है, लेकिन वे मुख्यत कृषि मे लगे है, यही बात तेलकारो तथा अन्य कारीगरो के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। कुटीर तथा ग्राम उद्योगो सम्बन्धी जो भी काम अब तक विस्तार अधिकारियो (उद्योग) ने हाथ मे लिया है, वह हरसूद खास मे ही। हरसूद मे १९५८–५९ मे एक बढईगिरी प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया और उसमे २९ प्रशिक्षार्थियो ने प्रशिक्षण प्राप्त किया। उसी वर्ष एक सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र का भी आयोजन हुआ, जहॉ चार वर्गो मे ४६ व्यक्तियो ने उक्त कला का प्रशिक्षण प्राप्त किया। यह दुर्भाग्य की बात है कि उक्त प्रशिक्षार्थियो के बाद तत्सबन्धी अनुवर्ती काम नही हुआ। विश्वास किया जाता है कि उक्त व्यक्तियो ने, खण्ड की प्रशिक्षण योजनाओ के अन्तर्गत उन्हे जिस काम का प्रशिक्षण दिया गया, उसके अलावा अन्य प्रकार के काम-धधे अपनाये है।

विकास खण्ड मे कुल ३८ सहकारी समितियॉ है, जिनकी सदस्य-सख्या १३,९८३ है। विस्तृत विवरण इस प्रकार है

समिति का नाम	सख्या	सदस्य
सेवा सहकारी समिति	३२	१२,८९५
विक्रय-व्यवस्था सहकारी समिति	१	४८५
बहूद्देश्यीय सहकारी समिति	१	४६३
उन्नत कृषि सहकारी समिति	१	८३
चर्म सहकारी समिति	२	४२
कुम्भकारो व ईंट पथारो की सहकारी समिति	१	१५
योग	३८	१३,९८३

विकास खण्ड मे १४ युवक दल, ३ महिला मण्डल और २ ग्राम सेवक इकाइयाँ है। औद्योगिक सहकारी समितियो मे केवल चर्मकार सहकारी समिति ने ही सरका के उद्योग विभाग से 'उद्योगो को राज्य सहायता अधिनियम' के अन्तर्गत ५,००० रुपये ऋण स्वरूप प्राप्त किये। बढईगिरी और लोहारगिरी के काम मे लगे कारीगरो मे १,७५० रुपये अनुदान स्वरूप वितरित हुए।

हरसूद विकास खण्ड मे १९६०–६१ के दौरान जो चीजे बाहर से मगवायी गयी तथा जो बाहर भेजी गयी, उनका विवरण इस प्रकार है

मद	आयात		निर्यात	
	परिमाण (क्विण्टल मे)	मूल्य (रुपये म)	परिमाण (क्विण्टल मे)	मूल्य (रुपये में)
रूई	–	–	२,३४३ ५	५,००,०००
तिलहन	–	–	–	२२,०००
गेहूँ	–	–	२,२५० ०	१,०८,०००
चना	–	–	४१२ ५	१४ ३००
रोशा तेल	–	–	५ ५	–
साबुन	११२	१२,०००	–	–
मिल-वस्त्र	–	७८,०००	–	–
चीनी	४५०	६०,०००	–	–
गुड	१६८	९,०००	–	–
जूता व चप्पल	–	१५,०००	–	–

हरसूद, छनेरा, बोरखेड़ा और बोरीसराय में एक-एक साप्ताहिक मण्डी है। ये चारो ही प्रधान मण्डियाँ है। ये मण्डियाँ सप्ताह के अलग-अलग दिनो मे लगती है। इनके अलावा हरसूद, छनेरा और सिघाजी मे एक-एक वार्षिक मेला लगता है। एक लाख से भी ज्यादा लोग इन मेलो मे इकट्ठे होते है।

उपलब्ध कच्ची सामग्री और जन-शक्ति के आधार पर यह महसूस किया जाता है कि खादी, हाथ धान कुटाई और दाल तथा अन्न प्रशोधन, घानी तेल, अखाद्य तेल और साबुन, चर्म शोधन, कुम्भकारी, रेशा आदि जैसे कुटीर उद्योग विकास खण्ड मे बिना किसी खास कठिनाई के शुरू किये जा सकते है।

खादी उद्योग

वस्त्र मानव की तीन बुनियादी आवश्यकताओ मे एक है। हरसूद विकास खण्ड मे रूई का कुल उत्पादन ६,१२१ ५ क्विण्टल है। किसी सूती मिल के अभाव मे समूची रूई बाहर भेजी जाती है। यदि विकास खण्ड के लोग सूतकारो और बुनकरो की सहायता से खण्ड के अन्दर ही वस्त्र तैयार करने का ठोस इरादा करे, तो बहुत बडी तादाद मे कारीगरो को काम मिल सकता है।

इस उद्योग मे न केवल लोगो को बहुत बडी संख्या मे रोजगारी प्रदान करने की ही क्षमता है, बल्कि इससे अच्छे गुण-स्तर के ज्यादा पौष्टिक चावल की अधिक प्रातिशत्य मे सम्प्राप्ति भी होती है। हरसूद विकास खण्ड मे प्रति वर्ष ३७,९७८ क्विण्टल धान पैदा होता है। खण्ड म ५,४८१ क्विण्टल चना और मूग, उडद आदि भी प्रति वर्ष पैदा होते है। फिलहाल हरसूद विकास खण्ड मे १३ शक्ति-चालित आटा चक्कियाँ है। हलरो की सख्या आठ ही है। इन हलरों की मौसम कालीन क्षमता करीब १२,००० क्विण्टल है। शेष २५,९७८ क्विण्टल की कुटाई उन्नत उपकरणो का इस्तेमाल करते हुए हाथ से की जा सकती है। यह काम ५८ इकाइयाँ कर सकती हैं। एक इकाई मे दो ढेकियाँ और एक चक्की होती है, जिनसे छ व्यक्तियो को काम मिलता है। इस प्रकार वर्ष मे १५० दिन कुल ३४८ आदमियो को काम मिल सकता है। मध्य प्रदेश खादी और ग्रामोद्योग पर्षद से वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिए यह सुझाया जाता है कि कारीगरो की सख्या और धान की उपलब्धि के अनुकूल सहकारी समितियाँ गठित की जा सकती है।

इसी प्रकार अनाज और दाल प्रशोधन कार्य भी चलाया जा सकता है, जिससे अन्य ५८ व्यक्तियो को काम मिलेगा। विकास खण्ड के कर्मचारियो और उप-निर्देशक (उद्योग) के साथ हुए विचार-विमर्श के दौरान सुझाया गया कि यदि इस उद्योग के लिए नयी सहकारी समिति गठित करना सम्भव न हो, तो सम्बद्ध कारीगरो को अपने सदस्य बना कर पहले से चल रही सेवा सहकारी समितियाँ तथा बहुद्देश्यीय सहकारी समितियाँ इस उद्योग का काम अपने हाथ मे ले सकती है। इस प्रकार की समितियाँ भी राज्य की खादी और ग्रामोद्योग पर्षद से वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकती है। यदि कोई सहकारी समिति अथवा पचायत किसी व्यक्ति का नाम प्रवर्त्तित करे, तो इस तरह के स्वतत्र व्यक्तियो को भी रियायती दर पर उन्नत उपकरण दिये जा सकते है।

ग्रामीण तेल उद्योग

विकास खण्ड मे सभी प्रकार के तिलहनो का कुल वार्षिक उत्पादन ३७,०१२ क्विण्टल के लगभग है। पर्याप्त दूध और दुग्धोत्पादनो की कमी के कारण लोगो के लिए चिकनाई का मुख्य स्रोत तेल ही है। फिलहाल खण्ड मे केवल एक ही एक्सपेलर है, जिसकी पेराई क्षमता मौसम काल मे १४० क्विण्टल है।

प्रति व्यक्ति दो औस दैनिक चिकनाई उपभोग के मानक स्तर के आधार पर हरसूद विकास खण्ड के ४४,५६८ व्यक्तियो की तेल सम्बन्धी वार्षिक आवश्यकता ८,४५५ क्विण्टल है। तिलहनो की इस मात्रा की पेराई मे ग्रामीण तेल उद्योग ३०० से भी ज्यादा व्यक्तियो को पूर्णकालीन काम दे सकता है। तिलहनो की पेराई यदि घानियो मे की जाय तो वैसा करने से मवेशियों के

लिए पौष्टिक खली की प्राप्ति भी होगी। अतिरिक्त तिलहन बाहर भेजे जा सकते है।

तेलकारो के ३० परिवार विकास खण्ड मे है। उन्होने अपना परम्परागत पेशा छोड दिया है और खेती करने लगे है। उपयुक्त उत्प्रेरणा व प्रोत्साहन देने पर ये परिवार फिर से अपना मूल धधा अपना सकते है। साथ ही गॉव मे उपलब्ध पशु-शक्ति का भी ग्रामीण तेल उद्योग मे लाभदायक उपयोग किया जा सकता है।

ग्रामीण चर्मोद्योग

पशुओ के शवो से विभिन्न उत्पादनों की व्यवस्थित सम्प्राप्ति और उपयोग का बहुत बडा महत्व है। विदेशी मुद्रा अर्जित करने के प्रत्याशित स्रोत, इस उद्योग, के सुनियोजित और वैज्ञानिक विस्तार का बहुत बडा महत्व है।

हरसूद विकास खण्ड मे मवेशियो की कुल सख्या ७७,७०० है। उपलब्ध आकडो के अनुसार केवल १,७०० मृत पशुओ का ही उपयोग होता है तथा उनका भी केवल चर्मशोधन की दृष्टि से ही। पशुओ के सहज सात प्रति शत मृत्योनुपात के अनुसार विकास खण्ड मे ५,४३९ पशु प्रति वर्ष मरने चाहिये। फिलहाल शव छेदन पुराने तौर-तरीको और औजारो से किया जाता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि शोधित चर्म निम्न स्तरीय होता है।

स्वाभाविक मौत से मरे मवेशियो के शवो का उपयोग करने के लिए विकास खण्ड मे कम से कम तीन आदर्श चर्म शोधन केन्द्र स्थापित किये जा सकते है। तथापि, इन केन्द्रो के लिए स्थल का चयन करने मे सावधानी बरतनी पडेगी। चर्म शोधन केन्द्र उन स्थानो पर खोले जाने चाहिये, जहॉ पशुओ की अच्छी-खासी सख्या और चर्मशोधको का जमाव हो। इसलिए यह आवश्यक है कि ये केन्द्र ऐसे स्थानो पर हो, जहॉ बैलगाडी तथा गॉवो मे उपलब्ध आवागमन के अन्य ऐसे ही साधनो से पहुॅचा जा सके। इन केन्द्रों के इर्द-गिर्द पॉच-सात मील के घेरे मे कम से कम पाच शवच्छेदन केन्द्र होने चाहिये। इन शवच्छेदन केन्द्रो से चर्म शोधन केन्द्रो को बराबर खाले मिलती रहनी चाहिये। इन सब केन्द्रो पर वर्ष भर ३०–४० आदमियो को पूरे समय की रोजगारी मिल सकती है।

आदर्श चर्म शोधन केन्द्र मे खालो के शोधन के अलावा हड्डी चूर्ण, मास खाद, सरेश आदि जैसे उप उत्पादनो के उत्पादन का काम भी हाथ मे लिया जा सकता है। इससे चर्म शोधको को अतिरिक्त रोजगारी और अतिरिक्त आय की प्राप्ति होगी।

अखाद्य तेल और साबुन

कपडा धोने के साबुन की सभी जगह माग है और हरसूद विकास खण्ड कोई अपवाद नही है। चूँकि क्षेत्र मे कोई साबुन उत्पादन कारखाना नही है, इसलिए आवश्यक मात्रा मे साबुन बाहर से मॅगवाया जाता है। वर्ष मे कुल १२,००० रुपये मूल्य का ११० क्विण्टल साबुन बाहर से आयात किया जाता है। 'सी' श्रेणी का साबुन उत्पादन केन्द्र खोलने की गुजाइश है। इस क्षेत्र मे महुआ बीज अच्छी-खासी मात्रा मे मिलते है। विकास खण्ड मे नीम के पेडो की भी अच्छी सख्या है। अच्छे गुण-स्तर के साबुन का उत्पादन करने के लिए अखाद्य तिलहनो के इन स्रोतो का आसानी से उपयोग किया जा सकता है। कास्टिक सोडा, नारियल अथवा खाखन तेल, सोडियम सिलीकेट आदि जैसी अन्य आवश्यक कच्ची सामग्री बाहर से लायी जा सकती है।

कुम्भकार परिवारो की सख्या ४० है। वे मुख्यत खपरैल बनाते है, लेकिन घरेलू उपयोग के बर्तन भी वे तैयार करते है। वे पुराने जीर्ण-शीर्ण चाक तथा अन्य उपकरणो का व्यवहार करते है। इस उद्योग को सुव्य-[illegible] पुनर्जी[illegible] करने के लिए यह परमावश्यक है कि कुम्भकारो मे बेहतरीन तकनीको और उपकरणो के इस्तेमाल को लोकप्रिय बनाया जाय।

भावी विकास कार्यक्रम

विकास खण्ड का चतुर्दिक विकास करने के लिए खण्ड अधिकारियो ने वित्तीय तथा भौतिक साधन-स्रोतो

की उपलब्धि के आधार पर आगामी पाँच वर्ष अथवा ऐसी ही कुछ अवधि के लिए एक योजना बनायी और लक्ष्यांक निर्धारित किये हैं। कृषि, पशु-पालन, मत्स्य-पालन, सिंचाई, सहकार शिक्षा, स्वास्थ्य और सफाई, उद्योग आदि की योजनाएँ बनायी जा चुकी हैं। इनमें से प्रत्येक की योजना का सारांश नीचे दिया जाता है

कृषि बेहतरीन तथा उन्नत कृषि-पद्धतियाँ प्रारम्भ करने के लिए साधन-सरजामों के प्रात्यक्षिक संगठित किये जायेंगे। ये उपकरण उनका विस्तृत प्रचार और उनकी उपयोगिता का प्रदर्शन करने के लिए गाँवों में रखे जायेंगे। प्रति वर्ष ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता वृत्तों में दो आदर्श 'फार्म' स्थापित करने की योजना है। खरीफ और रबी की फसल में उत्पादन-प्रतियोगिता में पाँच-पाँच हजार रुपये के दो पुरस्कार दिये जायेंगे। पौधा संरक्षण कार्यक्रम के लिए पौधा संरक्षण उपकरण, कीट-नाशक दवा आदि खरीद कर ग्राम सहायक के पास रखी जायेगी।

पशु-पालन मवेशियों की नस्ल सुधारने के लिए विभिन्न गाँवों में अच्छी नस्ल के २४ साण्ड रखे जाने का प्रस्ताव है। बीमार पशुओं को तुरन्त राहत प्रदान करने के लिए प्रत्येक ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता के पास एक-एक औषध-पेटी रखी जायेगी। पाँचसाला अवधि में २० हरितालयों का निर्माण किया जायेगा। विकास खण्ड में प्रति वर्ष दस मुर्गी-पालन इकाइयाँ शुरू की जायेंगी।

सिंचाई छोटे-छोटे बांध बांध कर और कुएं खोद कर विकास खण्ड में सिंचाई सुविधाओं का विकास किया जायेगा। आगामी पाँच वर्ष में ३० सिंचाई कुएं खोदने की योजना है, जिनसे ९० एकड जमीन की सिंचाई हो सकेगी। प्रति वर्ष एक-एक यानी पाँच वर्ष में पाँच छोटे-छोटे बांध बांधने का प्रस्ताव है। सिंचाई के लिए कुएं 'गालने' के लिए ३२ किसानों को उपदान दिया जायेगा। आगामी पाँच वर्ष की अवधि में करीब छः सौ एकड कृष्य बंजर भूमि की पुनर्वाप्ति होगी।

शक्ति हरसूद बिजली घर को चम्बल बिजली घर से सम्बद्ध कर दिया जायेगा।

सहकार सभी कृषक और कारीगर परिवारों को सहकारी जामा पहना देने की योजना है। संयुक्त सहकारी कृषि का भी प्रारम्भ किया जायेगा।

उद्योग दीर्घ, लघु तथा ग्राम उद्योगों के लिए कोई व्यापक व विस्तृत कार्यक्रम नहीं बनाया गया है। तथापि, दस औद्योगिक सहकारी समितियाँ बनायी जायेंगी। एक ग्रामीण कार्यगृह का निर्माण कार्य भी हाथ में लिया जायेगा।

स्वास्थ्य पीने के पानी की सुविधा प्रदान करना, गन्दे पानी के बहाव के लिए नालियाँ और स्नानघर, स्वच्छ शौचालय व धूम-विहीन चूल्हे बनाना तथा रास्तों में 'खुर्रे' बनाना कार्यक्रम का उद्देश्य है। पीने के पानी के लिए नये २५ कुएं तैयार किये जायेंगे। ये कुएं फिल-हाल जो कुएं हैं उनके अतिरिक्त होंगे। स्नानघर, शौचालय और धूम-विहीन चूल्हों के सम्बन्ध में लक्ष्यांक क्रमशः ७००, ३०० और ७०० हैं।

शिक्षा विद्यालय भवन और शिक्षक निवास बनाना, शिक्षक-प्रशिक्षण की व्यवस्था, छात्रावास तथा बाल-वाडियों का निर्माण शिक्षा कार्यक्रम में शामिल है। समाज शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत पंचायत घर और सामुदायिक चबूतरों का निर्माण कार्य हाथ में लिया जायेगा। प्रदर्शनियों, ग्राम नेता शिविरों, विकसित क्षेत्रों के भ्रमण का भी आयोजन किया जायेगा।

अलग-अलग पन्द्रह गाँवों में पन्द्रह पंचायत घर बनाने की योजना है। इसी प्रकार ३० खुले सामुदायिक चबूतरे बनाये जायेंगे। सिंघाजी और छनेरा में प्रति वर्ष वार्षिक मेलों के अवसर पर प्रदर्शनी का आयोजन किया जायेगा। आगामी पाँच वर्ष में छः ग्राम नेता शिविर आयोजित किये जायेंगे।

नीलोखेड़ी (पंजाब) ३ दिसम्बर १९६३

तेल उत्पादक सहकारों को सुझाव

त्यमगुण्डलू कृष्णमूर्ति

तिलहन खरीद, उनके भाण्डारीकरण मे सावधानी बरतने, तेल व खली को निकासी, धानियों की क्षमता के परिपूर्ण उपयोग और उत्पादन खर्च, धानी से तेल सम्प्राप्ति, तिलहनो के दैनिक बाजार भाव आदि से सम्बन्धित रिकार्ड रखने के बारे मे प्रस्तुत लेख मे अनेक सुझाव दिये गये है। तेलकार सहकारी समितियों को अपना काम-धाम ठोस व्यावसायिक आधार पर सगठित करने की दिशा में इन सुझावों से पर्याप्त सहायता मिलनी चाहिये।

कुछ तेल उत्पादक सहकारी समितियाँ अपने वाणिज्य मे घाटा उठाती है। इस प्रकार के घाटे के कारणो का विश्लेषण और उन्हे दूर करने के साधनो पर विचार किया जा रहा है। करीब डेढ-सौ तेल उत्पादक सहकारी समितियों का निकट से अध्ययन करने और अलग-अलग कारीगरों के साथ तथा समिति, जिला और राज्य स्तर पर उनकी बैठको मे इस समस्या पर चर्चा करने के बाद लेखक इस नतीजे पर पहुँचा है कि कुछ समितियो की कार्यशीलताएँ अलाभदायक होने के कारक ये हो सकते है (१) तेल तथा तिलहनों के भावो मे उतार-चढाव, (२) पेराई से तेल की कम सम्प्राप्ति, (३) पारिमाणिक दृष्टि से न्यून उत्पादन, (४) ऊपरी खर्चो का आधिक्य, और (५) विवेकहीनता व अव्यवस्था।

खरीद

समितियो का कार्य सचालन ठोस आधार पर हो, इसके लिए यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि उसमे जो खामिया हैं उनका सही-सही पता लगाया जाय और फिर उन्हे दूर करने के लिए प्रभावक कदम उठाये जाये। यह भी आवश्यक है कि हम इस बात का ध्यान रखे कि ये दोष उन समितियों मे न घुस पाये जो अन्यथा ठोस है तथा नवगठित है।

अन्य अनेक ग्रामोद्योगो के विपरीत ग्रामीण तेल उद्योग मे काफी पूँजी परिव्यय की आवश्यकता पडती है। तैयार माल यानी तेल व खली के मूल्य मे लगभग ८५ प्रति शत हिस्सा कच्ची सामग्री का होना है। तिलहन खरीद का भाव और उनके मूल्य तथा गुण का सम्बन्ध लाभ अथवा हानि की सीमा निर्धारित करता है। जब खरीद की जाय तो प्रत्येक बार समय, स्थान, गुण और भाव पर सावधानीपूर्वक विचार किया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध मे इस बात को तरजीह दी जाय कि अनुभवी व्यक्ति तत्सम्बन्धी पक्षो पर विचार करे। इस काम के लिए प्रत्येक समिति मे एक छोटी-सी त्रि-सदस्दीय समिति नियुक्त की जा सकती है। कुछ लोग कम कीमत के लिए सौदा करते है लेकिन गुण पर विशेष ध्यान नही देते। अवश्य ही यह याद रखना चाहिए कि अगर तिलहन अच्छे खरीदे जाते है तो उनसे प्राप्त तेल अच्छे गुण-स्तर का और सुवासित होगा, जिसका उपभोक्ता पर बहुत प्रभाव पडता है।

कभी-कभी दूर-दूर से तिलहन खरीद कर लाये जाते है, जबकि स्थानीय रूप से वैसे तिलहन उपलब्ध है। इससे बचना चाहिये, क्योकि वैसी अवस्था मे परिवहन और आवागमन पर बहुत खर्च हो जाता है। खरीद का काम कुछ समितियाँ मिल कर कर सकती है। एक समिति अपने लिए खरीद करते वक्त अपनी पडोसिन समिति के लिए भी वैसा कर सकती है।

तिलहन भाण्डारीकरण

अपने वित्तीय साधन-स्रोतो के अनुसार समितियाँ फसल कटाई के वक्त तिलहन खरीद कर उनका भाण्डारीकरण कर सकती है। उपलब्ध सीमित

धनराशि का उपयोग करने मे विवेक और दूरदर्शिता से काम लेना आवश्यक है। फसल कटाई शुरू होने से पहले समिति को चाहिये कि वह कोशिश करके तेल व खली के पूरे स्टॉक की निकासी कर दे। मौसम काल मे तिलहन भाण्डारीकरण के लिए अधिकतम धनराशि जुटाने हेतु सदस्यो तथा गैर सदस्य उपभोक्ताओ मे जो भी बकाया हो, वह वसूल कर लिया जाय। इस प्रकार के विवेक और दूरदर्शिता से निश्चय ही भारी लाभ होगा। लेकिन मूगफली के मामले मे बिक्री दर निर्धारित करने मे केवल इस एक ही बात का हाथ नही रहता कि यह फसल कटाई का मौसम है अथवा नही। अगर औद्योगिक क्षेत्र मे तेल का अन्तर्गहण कभी भी उच्च हो तो मूँगफली के भाव भी बढ जायेंगे, फिर चाहे फसल-कटाई का मौसम ही क्यो न हो। इसी प्रकार अगर मूगफली की खली की विदेशी बाजारो मे माग नही हो और तत्सम्बन्धी सौदे नही होते, तो तेल के भाव बढ जायेंगे, क्योंकि व्यापारी खली की बिक्री मे जो नुकसान होता है, तेल की बिक्री मे उसकी पूर्ति करने की कोशिश करेंगे। इन कारको के कारण ही कभी-कभी हम देखते है कि मूगफली और तेल के भावों मे कोई सम्बन्ध नही होता। मूगफली के तेज होने पर भी तेल सस्ता और तेल के भावो मे तेजी होने पर भी मूगफली सस्ती होने के उदाहरण देखने मे आते है। इसलिए मूगफली की पेराई का काम करनेवाली समितियो को चाहिये कि वे बाजार की सही-सही विवेकपूर्ण जानकारी प्राप्त करे अन्यथा वे आसानी से गुमराह हो सकती है।

भाण्डारीकरण और गुण-स्तर

जहाँ कहीं गोदाम प्राप्ति की समस्या नही हो वहाँ छिलके सहित मूगफली का भाण्डारीकरण करना चाहिये, क्योकि मूगफली के दाने की अपेक्षा पूरी-की-पूरी मूगफली ज्यादा दिनो तक टिकती है। स्थानाभाव के कारण यदि मूगफली के दानो का भाण्डारीकरण किया जाता है तो यह ध्यान रखना चाहिये कि गोदाम हवादार और आर्द्रता रहित है। भाण्डारीकरण से पूर्व दानों को अच्छी तरह सुखा लेना चाहिये, क्योकि विपरीतावस्था मे इकट्ठे रहने और गर्मी के कारण उनमे फफूल्द पैदा हो जाती है। कीटो और चूहो से रक्षा करने हेतु गोदाम पर निरन्तर ध्यान देते रहना होगा। मूगफली के दाने का चार-पॉच महीने से अधिक समय तक भाण्डारीकरण नही किया जा सकता। इस अवधि मे भी उन्हे समय-समय पर बाहर फैला कर सुखाते रहना चाहिये।

इसी प्रकार बोरियो मे डाल कर रखने पर तिल (जिजली) भी भाण्डारीकरण के मामले मे बडा निम्न कोटीय है। जिजली को छ महीने से ज्यादा भाण्डारीकरण की स्थिति मे नही रखना चाहिये। भाण्डारीकरण की दीर्घ अवधि के कारण उस स्थिति मे जो हानि होती है, वह काफी अधिक होती है। बोरियो मे भरने से पहले जिजली तिलहन को अच्छी तरह धो कर उसकी सभी मिट्टी और कीचड आदि दूर कर देने चाहिये। कीचड लगा रह जाने पर वह जल्दी बिगड जाता है।

उत्पादन का परिमाण

तिलहनो के मामले मे जहाँ उनके भाण्डारीकरण पर जोर दिया जाता है, तेल और खली के सम्बन्ध मे जोर इस बात पर रहता है कि उनकी निकासी जल्दी से जल्दी हो। कुछ ऐसी समितियो के उदाहरण है कि उन्होने तेल के भाव तेज होने की आशा मे तेल जमा करके रखा और फिर उन्हे घाटा हुआ। हमारे पास जब पैसा सीमित हो तो तैयार माल के रूप मे उसे दीर्घ काल तक बन्द करके रखना बुद्धिमानी नही है। विशेष कर खली तो तैयार होते ही बेच देनी चाहिये, क्योकि उसे ज्यादा दिनो तक रखने से उसके वजन मे, सूखने के कारण, कमी होती है और फलस्वरूप हानि उठानी होती है। यदि फफूल्द न लगने देने के लिए खास ध्यान नही दिया जाय तो उसमे खमीर उठ आती है।

किसी समिति की सभी घानियो को उनकी पूरी क्षमता भर काम मे लगाये रखना न केवल इसलिए आवश्यक है कि सदस्यो को पूरे समय का काम देना पडता है बल्कि इसलिए भी कि जो सकल लाभ हो

वह समिति के बन्धे खर्च पूरे करने के लिए पर्याप्त होना चाहिये। लेकिन अधिकांश समितियो के मामले मे ऐसा देखने मे आता है कि तेल की विक्रय व्यवस्था मे कठिनाई, उपलब्ध पूँजी की अपर्याप्तता आदि जैसी विभिन्न समस्याओ के कारण, उनकी पूरी क्षमता का उपयोग कभी भी नही हो पाता। इसके फलस्वरूप उत्पादन और बिक्री के जरिये प्राप्त सकल लाभ व्यवस्था-खर्च तथा अन्य छिट-पुट खर्च से कम होता है और फलस्वरूप समितियो को विशुद्ध घाटा उठाना पडता है। समितियो की प्रशासनात्मक आवश्यकताएँ, उनके उत्पादन का परिमाण और प्रति बोरी (८० किलोग्राम) अपेक्षित औसत सकल लाभ जैसे पहलुओ का सावधानी पूर्वक अध्ययन करने के बाद यह हिसाब लगाया जाता है कि एक समिति व्यवस्था-खर्च तथा अन्य छिटपुट खर्चो पर अपनी बिक्री के दो प्रति शत से अधिक व्यय नही कर सकती। व्यवस्था और छिटपुट खर्चो मे ये बाते शामिल है वेतन खर्च, यात्रा व्यय, किराया, बिजली खर्च, साफ-सफाई आदि (पारिश्रमिक और बैलो की चराई का खर्च अलग)।

बाजार अध्ययन

मूगफली के बीजो की एक बोरी (८० किलोग्राम) की पेराई करने पर एक समिति को औसत कितना सकल लाभ प्राप्त हो सकता है, इसका हिसाब लगाने के लिए मद्रास के बाजार मे लगातार लगभग चार महीने तक बीजो, तेल और खली का बिक्री मूल्य क्या रहा, इस सम्बन्ध मे अध्ययन किया गया। सग्रहीत आकडे नीचे दिये जाते है

मूगफली के ८० किलोग्राम दानो और ४२ प्रति शत के हिसाब से उनसे प्राप्त तेल तथा खली की दरे

तारीख	८० किलोग्राम मूगफली के दानो का मूल्य (रु मे)	३३ ६ किलोग्राम (४२ प्रति शत) तेल का मूल्य (रु मे)	४६ ६ किलोग्राम (५८ प्रति शत) खली का मूल्य (रु मे)	कालम ३ व ४ का योग (रु मे)	कालम ५ व २ मे अन्तर (रु मे)
१	२	३	४	५	६
४–१०–६२	७०	५६ ००	१९ ४२	७५ ४२	+५ ४२
२२–१०–६२	६९	५९ ४७	१९ ९०	७९.३७	+१० ३७
३०–१०–६२	६९	५९ ४७	२० ०१	७९ ४८	+१० ४८
१२–११–६२	७०	६० १४	२० ०१	८० १५	+१० १५
२७–११–६२	६९	५६ ४४	२० ०१	७६ ४५	+७ ४५
७–१२–६२	६८	५३ ७६	१९ ४२	७३ १८	+५ १८
१८–१२–६२	६८	५४००	१९ ४२	७३ ५१	+५ ५१
३१–१२–६२	६८	५४ ७६	१९ ४२	७४ १८	+६ १८
९– १–६३	६८	५३ ७६	१८ ८५	७२ ६१	+४ ६१
२९– १–६३	६८	५४ ९३	१८ ८५	७३ ७८	+५ ७८
३१– १–६३	६८	५४ ४३	१८ ८५	७३ २८	+५ २८
८– २–६३	६८	५४ २६	१८ ८५	७३ ११	+५ ११
१५– २–६३	६७	५३ ५९	१८ ८५	७२ ४४	+५ ४४
१९– २–६३	६८	५४ ६०	१८ ६८	७३ २८	+५ २८

टिप्पणी मूगफली के दानों की वह कीमत ली गयी है जो सर्दी की फसल के लिए उद्धृत की गयी। सम्बद्ध दिन में तेल व खली का जो कम से कम भाव रहा वह लिया गया हे। + सकल लाभ।

उक्त आकडो से हम यह समझ सकते है कि पेरित मूगफली की प्रति बोरी पीछे औसत सकल लाभ करीब ६ ५० रुपये (कालम ६ का औसत) है। इसमे से समिति पॉच रुपये पारिश्रमिक और बैलो के चारे पर खर्च करती है। शेष १ ५० रुपये मे से समिति को व्यवस्था खर्च और छिटपुट खर्चो की पूर्ति करनी पडती है तथा विशुद्ध लाभ भी कमाना पडता है। ऐसा पाया गया है कि एक समिति को अगर वह सहकारी आधार पर काम करती है तो प्रति माह कम से कम ९० रुपये खर्च करने पडेगे। यह खर्च पूरा करने के बाद यदि समिति को लगभग ३० रुपये मासिक विशुद्ध लाभ (जोकि साधारण-सा ही है) भी कमाना है, तो उसका सकल लाभ १२० रुपये मासिक होना चाहिये, जिसके माने है कि प्रति माह कम से कम ८० बोरी मूगफली के दानो की पेराई की जाय। चूकि और भी कुछ अप्रत्याशित खर्च करने पड सकते है, इसलिए कम से कम १०० बोरियो की प्रति माह पेराई करना बेहतर है। मूगफली की पेराई मे लगी यदि कोई समिति इससे कम पेराई करती है तो घाटे का अन्देशा है। जिजली व सरसो जैसे तिलहनो की पेराई का काम करनेवाली समितियाँ व्यवस्था खर्च तथा छिट पुट खर्च मे कुल बिक्री के तीन प्रति शत तक खर्च कर सकती है, क्योकि इनने सकल लाभ का अनुपात तुलनात्मक दृष्टि से अधिक होता है।

लेखा परीक्षण सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए समितियाँ हिसाब-किताब रखती है। इस हिसाब-किताब के अलावा कुछ अन्य ऐसे रेकार्ड है जो लेखा-परीक्षण के लिए रखने आवश्यक नही है, लेकिन समितियो के लिए बडे सहायक सिद्ध होते है। ये रेकार्ड है उत्पादन खर्च रजिस्टर, सम्प्राप्ति निर्धारण रजिस्टर, दैनिक बाजार भाव रजिस्टर, उत्पादन तथा बिक्री मे कमी-वृद्धि दर्शानेवाले ग्राफ आदि। प्रत्येक बार खरीदे गये तिलहनो का, तेल और खली का बिक्री मूल्य निर्धारित करने से पहले, उत्पादन खर्च निकाल लेना चाहिये। यथा सम्भव प्रति माह स्टॉक का मिलान करना चाहिये और उस आधार पर समिति की माली हालत समझने के लिए तलपट बनायी जा सकती है।

यदि समिति के कार्य सचालन मे ये सब सुझाव कार्यान्वित किये जाये तो सदस्यो को नियमित और पूर्ण रोजगारी देते हुए तथा उपभोक्ताओ को अच्छा तेल उपलब्ध करवाते हुए उसकी कार्यशीलताओ को ठोस आधार पर विकसित किया जा सकता है। ऐसा करते हुए एक समिति चार-पाँच वर्ष मे अपने लाभ मे से पर्याप्त वित्तीय आरक्षण जमा कर आत्मनिर्भरता की स्थिति प्राप्त कर सकती है।

मद्रास २९ अगस्त १९६३

हमारे मस्तिष्क में जब तक प्रखरता मौजूद रहती है, वह पार्थिव सीमाओ के बन्धन मे नहीं रहता; काल और दिगन्त के उस पार अनन्त तक उसकी पहुँच होती है। मानव होने का अर्थ है अपने को ऊपर उठाने में समर्थ होना। पूर्ण आयु मिलने पर भी एक जीवन में इन्सान कितना क्या कर सकता है! व्यक्ति विशेष के कार्य का अर्थ और मूल्य सिर्फ उस समाज और इतिहास के विस्तृत सदर्भ मे ही हो सकता है, जिसमें वह अपनी लघु भूमिका अदा कर रहा हो।

—अर्नाल्ड जे टायनबी *जेनस एट सेवण्टी फाइव*।

एक राजस्थानी गाँव में कुम्भकारी उद्योग

राजस्थान के प्राय सभी गॉवो मे मिट्टी के बरतन आदि बनाने का काम एक खास जाति, जिसे कुम्हार कहा जाता है, करती है। फालना गाँव (तहसील बाली, जिला पाली) मे भी कुम्हार जाति ही मिट्टी के बरतन आदि बनाती है। गॉव मे किये गये सर्वेक्षण (१९६१–६२) के अनुसार वहॅा आठ कुम्हार परिवार निवास करते है। उक्त आठ परिवारो मे से एक परिवार गॉव मे १९४२ मे आकर बसा तथा जो आज गॉव मे कुम्हारी का काम न करके बुनाई का काम करता है, क्योकि गॉव मे बुनाई करनेवाला कोई भी परिवार नही था तथा बाहर से आनेवाला कुम्हार परिवार बुनाई का काम ही जानता था। इस प्रकार् कुम्हारी उद्योग मे सात परिवार ही लगे हैं। इन सात परिवारो की कुल जनसख्या ३५ है, जिसमे २१ पुरुष व १४ स्त्रियॉ है। सातो कुम्हार परिवार गॉववालो के लिए भोजन बनाने के बरतन, पानी के मटके, ईंटे, खपरैल तथा गेडे (earthen bucket) आदि बनाते है। इन सब मे गेड का प्रमुख स्थान है, क्योकि गॉव मे रहट द्वारा सिचाई की जाती है, जिसमे मिट्टी की गेडो का ही प्रयोग किया जाता है। सभी कुम्हार बरतन आदि बनाने के लिए स्थानीय तालाब की मिट्टी का ही उपयोग करने है। जहाँ तक काम मे लाये जानेवाले औजारो का सवाल है, प्राय सभी कुम्हार आज भी परम्परागत औजरो व चाको का ही प्रयोग करते है।

मिट्टी से बननेवाली चीजो मे राजस्थानी ग्राम समुदाय मे चिलम का जो स्थान है वही स्थान यहाँ की चिलम का है। चिलम बनाने का काम गाँव के कुम्हारो को नही आता। गॉववाले चिलम पास के कस्बो या लगनेवा॰ मेलो से खरीद कर लाते है, जो साचे से बनी होती है। कहने का आशय यह है कि गॉव के कुम्हार साचे मे बननेवाली वस्तुओ का निर्माण नही कर सकते। यह भी देखने मे आया है कि गाँव के सभी कुम्हार परिवार पुराने विचारो के है और परम्परा से चले आ रहे विश्वासो का यथा शक्ति पालन करते है। शिक्षा का प्रसार इस जाति मे सतोषप्रद नही है। साधारण तौर पर इनकी आर्थिक अवस्था सोचनीय ही है।

आर्थिक अवस्था

गॉव का कुम्हारी उद्योग वर्ष मे आठ माह कुम्हार परिवारो को काम प्रदान करता है। बरसात मे कुम्हारी उद्योग नही चल पाता। अत सात परिवारो मे कुम्हारी के साथ-साथ खेती का (ज्यादातर खरीफ की फसल का) काम भी किया जाता है। सात परिवारो मे से तीन परिवार अपनी वार्षिक आय का बडा भाग खेती से प्राप्त

करते है, जबकि केवल चार कुम्हार परिवार ही कुम्भकारी उद्योग से अपनी वार्षिक आय का बडा भाग प्राप्त करते है। निम्न तालिका मे हर परिवार की वार्षिक आय का विवरण दिया गया है।

क्रम सख्या	कृषि व पशु-पालन	श्रमि-काई	कुम्भ-कारी	अन्य	कुल वार्षिक आय
१	२०६	—	८११	९००	१,९१७
२	१७४	—	६३०	—	८०४
३	५७०	—	४३७	—	१,०१७
४	२१५	—	९१८	—	१,१३३
५	४६९	३००	१९९	—	९६८
६	१,८९४	—	४८३	—	२,३७७
७	७२१	४२०	४२०	—	१,५६१
योग	४,२४९	७२०	३,८९८	९००	९,७६७

उपर्युक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि कृषि से आय कुम्हारी उद्योग के मुकाबले मे ३५१ रुपये अधिक है तथा इन सातो परिवारो की वार्षिक आय मे काफी असमानता है। सहायक धधे के रूप मे कृषि, जो एक अनियमित आय प्रदान करनेवाला धधा है, इन सातो परिवारो को आय प्रदान करती है। इनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय २७९ रुपये आती है, जो राजस्थान के प्रति व्यक्ति अनुमानित औसत आय ३३२ रुपये (सन् १९६०–६१ मे) से कम है। इतनी कम औसत वार्षिक आय पर गुजारा करना बडा कठिन रहता है। फलस्वरूप वे ऊँची ब्याज दर पर कर्ज लेते है और किसी तरह अपना निर्वाह करते है। सात परिवारो मे से चार परिवारो को अपना रोजमर्रा का खर्च चलाने हेतु २८ प्रति शत ब्याज दर पर ३,६०० रुपये ऋण-स्वरूप लेने पडे। इतनी ऊँची ब्याज दर पर ये कुम्हारी उद्योग मे लगे रह कर कठिनाई से ही गुजर-बसर कर पाते है।

चन्द सुझाव

१ कुम्हारी उद्योग का स्तर ऊँचा उठाने हेतु राज्य सरकार व ग्रामीण क्षेत्र मे काम कर रही अन्य सामाजिक सस्थाओ को विशेष तौर पर ध्यान देना चाहिये। विकास योजनाओ मे इस कुटीर उद्योग को विकसित करने हेतु ठोस कदम उठाये जाने चाहिये।

२ कुम्हारी उद्योग को आज की बदलती हुई परिस्थितियो मे दृढ आधार पर विकसित करने हेतु शिक्षा का प्रसार करना चाहिये, ताकि इस उद्योग मे लगे व्यक्ति सरलता से नये औजार व तौर-तरीके अपना सके। विकास विभाग को चाहिये कि वह इस उद्योग से सम्बन्धित फिल्मे समय-समय पर गाँवो मे दिखाये।

३ कुम्भकारो की छोटी-छोटी सहकारी समितियाँ बनाई जानी चाहिये, ताकि इस उद्योग मे लगे व्यक्तियो को उचित ब्याज दर पर ऋण आदि प्राप्त हो सके तथा साथ ही साथ तैयार माल व्यवस्थित बाजारो व मेलो मे लाभदायक कीमत पर बेचा जा सके।

वल्लभ विद्यानगर ९ अगस्त १९६३ **—खेमराज पिछोलिया**

अभिनव भेड़-पालन

भारत मे ४० लाख भेड है, परन्तु उनसे जो ऊन तैयार होता है वह ४४ करोड लोगो की आवश्यकता की तुलना मे बहुत ही कम है। निस्सन्देह भेडो की सख्या बढा कर ऊन का उत्पादन बढाया जा सकता है। तथापि, चन्द विदेशों मे भेड-पालको ने वैज्ञानिक तरीके अपना रखे है, जोकि ऊन उत्पादन मे वृद्धि तो करते ही है, साथ ही ऊन के स्तर मे भी सुधार करते है। यह आवश्यक है कि हमारे भेड-पालक भी भेड-पालन के वे तरीके अपनाये, जिनसे वे ऊनी मिलो को ऊन की सप्लाई तथा प्रतिरक्षा आवश्यकताओ की पूर्ति भी कर सके। राष्ट्रीय सकटकाल का यह आवाहन है कि सभी स्रोतो का प्रतिरक्षा उत्पादनो के लिए उपयोग किया जाय। बर्फीले हिमालय मे देश की रक्षा के लिए जूझ रहे जवानो के ऊनी कपडो के लिए भारत अब आयातीत ऊन पर निर्भर नही कर सकता।

प्रश्न उठता है कि ऊन उत्पादन कैसे बढाया जा सकता है? एक हल यह है कि अच्छी भेडो का चयन किया जाय,

जिनका सभी बदन ऊन से भरा हो यानी सम्पूर्ण शरीर पर ऊन हो और वह भी लम्बा, कोमल तथा सतोषजनक वजन का हो। इस प्रकार की भेडो से प्रजनन कराने से ऊन का उत्पादन बढ़ेगा। वारिग, सूखा और जहाँ-तहाँ चरने देने के कारण भेड का स्वास्थ्य गिरता है और फलत उसका ऊन उत्पादन पर भी असर पडता है। यदि विवेकपूर्ण ढग से भेड को स्वादिष्ट और पौष्टिक चारा चरने के लिए नित्य बारह घण्टे छोड दिया जाय तो इस समस्या का हल हो सकता है।

अन्दर के परजीवी अप्रत्यक्ष रूप से और बाहर के परजीवी प्रत्यक्ष रूप से ऊन को बढने देने से रोकते है। टिक, जुएँ, पिस्सू, खुजली के कीडे आदि चर्म-कोठो पर पलते है, जोकि ऊन के पैदा होने की जडे है। परन्तु ये परजीवि उन पौष्टिक तत्वो को खा जाते है, जोकि ऊन की बाढ के लिए है। वे चमडे मे खुजलाहट पैदा करते है और उससे किरैटिनीकरण हो जाता है, जिसका फल यह होता है कि ऊनी रेशे मोटे और खुरदरे हो जाते है। इसके अतिरिक्त भेड को १५–२० दिन तक 'डिपिग सोल्यूशन' मे रखना चाहिये, ताकि उन्हे कोई महामारी न हो।

फिर, भेड से ऊन एक ही बार मे चमडे से बिल्कुल सटा कर उतारना चाहिये, परन्तु चमडा कटना नही चाहिये। ऐसा मौसम परिवर्तन के समय साल मे दो बार करना चाहिये। ऊन मे बाहरी चीजे नही मिलने देनी चाहिये। भेड को बहते सोते मे नहाने से ऊन चमकीला और आनम्य होता है।

बनजार (कुलू) १४ मई १९६३ —गुलजार सिंह

कश्मीरी 'गब्बे' की कहानी

कश्मीर की भौगोलिक स्थिति और शीतल जलवायु ऐसी है कि प्राचीन युग से ही वह ऊन और उनी उत्पादनो का गढ रहा है। ससार प्रसिद्व कश्मीरी शाल कलात्मक और आकर्षक होने के साथ ही ठड से भी काफी बचाव करता है। रग-बिरगी डिजाइनोवाली कश्मीरी कालीने देश-विदेश के अमीरो के घर सजाती रही है। तथापि, कश्मीरियो ने गरीबो और मध्यम वर्ग के लोगो की जरूरतो को भी नजरअदाज नही किया है। वहाँ के उनी ट्वीड, घर मे काते गये सूत से तैयार पट्टू और भारी परन्तु गर्म कम्बलो ने न सिर्फ घाटी के लोगो के लिए, बल्कि आस-पास के आम लोगो के लिए भी सस्ता वस्त्र प्रदान किया है। इसी प्रकार मध्यम वर्ग के लोगो की कुटियाँ भी सस्ती परन्तु कलात्मक 'गब्बा' नामक कालीन से सुसज्जित है। प्राय ये गब्बे गद्दे के तौर पर इस्तेमाल किये जाते है, जिनमे धागे डाल कर रेखाए बनी रहती है तथा अन्दर रूई भरी होती है।

गब्बा तैयार करने का तरीका भी बडा दिलचस्प है। शहरो और गॉवो के घर-घर से प्राप्त पुराने कम्बलों और इस्तेमाल किये गये पट्टू वस्त्र को सावधानीपूर्वक धोकर चमकीले और तेज रग मे रग देते है। फिर उन्हे एक निश्चित डिजाइन के अनुसार छोटे-छोटे टुकडो मे काट देते है और ज्यामितिक आकार मे सिल देते है। किनारो के जोडो मे हुकनुमा कशीदाकारी कर देते है और तब वह बिक्री के लिए तैयार हो जाता है। सस्ते किस्म के गब्बे भी होते है। पुराने टुकडो को मिला कर आवश्यकतानुसार एक बडा टुकडा सिल देते है और फिर उसे एक रग मे रग देते है। इस पर सब जगह हुक कशीदाकारी कर देते है अथवा छीट छाप देते है। कशीदाकारी मे तरह-तरह की डिजाइने बनायी जाती है, जिनमे प्रचलित है चेनार के पत्ते, आइरिस और तिब्बती ड्रैगन।

उद्गम

गब्बे का उद्गम अभी तक रहस्यमय ही बना हुआ है। बुजुर्गों से यह जानकारी मिलती है कि काबुल से आया एक शरणार्थी अब्दुल रहमान लाल कमल भट (कश्मीर मे) के साथ रहता था और उसने अपने मेजबान के लिए कशीदा निकाल कर घोडे की जीन का आवरण तैयार किया जिसे कि उसने बहुत पसन्द किया और धीरे-धीरे वह उद्योग के

बाद के विकास का स्वरूप हो गयी। एक मास्टर कारीगर की यह कहानी प्रसिद्ध है कि उसे 'खातमबन्द' नामक लकडी की छतो से प्रेरणा मिली, जिसमे कि लकडी के छोटे टुकडो को मिला कर ज्यामितिक आकार दिया जाता था। जडा वस्त्रो के लिए, जिसे कि मुसलमान फकीर पहनते है तथा जिनमे कुछ चिप्पी काम (पैच वर्क) भी करना पडता है, कुछ अधविश्वास भी व्याप्त है। गब्बा ऊन के वस्त्र का चिप्पी काम है और इसी कारण इसे लोकप्रियता भी मिली है। तथापि, एक मत यह भी है कि यह उद्योग डेढ-सौ वर्ष से अधिक पुराना नही है।

प्रारम्भ मे गब्बे की सिलाई मुख्यत जमीदारो और जेलदारों के लिए की जाती थी, जोकि यद्यपि खर्चीले कालीन नही रख सकते थे, परन्तु अपनी मर्यादा बनाये रखने के लिए फर्श पर गब्बा बिछाया करते थे। महाराजा रणवीर सिंह के शासन-काल मे इस उद्योग ने काफी प्रगति की। कुशल कारीगरो की सेवा प्राप्त छोटे कारखाने शाल और कालीन उत्पादन गृहो की तरह ही खोले गये। महाराजा स्वयम् अपने तथा अपने दरबारियों आदि के लिए बडे-बडे तम्बू बनवाया करते थे, जिनमे जडाऊ काम किया जाता था और रेशमी धागे से कशीदा निकाला जाता था। इससे उद्योग को प्रोत्साहन मिला।

कश्मीर घूमनेवाले भ्रमणार्थियो की सख्या बढने जाने से बिक्री बढने लगी और निर्यात भी। परन्तु इससे गुण-स्तर मे थोडी गिरावट आयी। सस्ते 'एनिलिन' रगों, फटे-पुराने ऊनी पट्टू और कम्बलो तथा कशीदाकारी के लिए सूती धागे का इस्तेमाल किया जाने लगा। इससे स्वभावत उद्योग मे अवनति हुई और वह समाप्त प्राय हो गया।

द्वितीय महायुद्ध के समय गब्बा उद्योग को नव जीवन प्राप्त हुआ। उस वक्त सस्ती कालीनों की बडी माग थी और उनकी कीमते भी बहुत बढ गयी थी। सन् १९४६ मे दो लाख रुपये का माल बेचा गया। गब्बा के निर्माण मे उत्तम कच्ची सामग्री का इस्तेमाल करने से भारत के बहुत-से घरो मे इसका उपयोग उपस्कर (फर्नीचर) के अग स्वरूप दिनो-दिन बढता गया। अनुमान है कि अभी इस उद्योग मे एक हजार से अधिक व्यक्ति रोजगारी पा रहे है और वे सालाना तीन लाख रुपये के गब्बे तैयार करते है। श्रीनगर से ३४ मील दक्षिण मे बसा अनन्तनाग इस उद्योग का मुख्य केन्द्र है। कुशल दस्तकार अधिकतर यही बसे हुए है और उनमे यह कला वशानुगत रूप मे फलती-फूलती चली आ रही है। आस पास के गॉवो मे घटिया किस्म के गब्बे तैयार किये जाते है।

घर-घर मे लोकप्रिय

गब्बा निर्माण एक कुटीरोद्योग है। मास्टर कारीगर इस काम को अपने परिवार के सदस्यो तथा पारिश्रमिक पर काम करनेवाले चन्द अन्य कारीगरो की सहायता से अपने धधे के रूप चलाता है। यह न सिर्फ एक निर्माण इकाई है, बल्कि यहॉ नवागतुक को प्रशिक्षण भी मिलता है। ये छोटी-छोटी इकाइयॉं ही गब्बा उत्पादन के एक बडे भाग के लिए जिम्मेदार है। तथापि, हाल ही मे आधुनिक पद्धति के बडे कार्यगृह श्रीनगर मे खोले गये है, जहॉ कि मशीन द्वारा रगाई और सिलाई की सुविधाएँ उपलब्ध है। राज्य सरकार के सहकार विभाग ने अनन्तनाग मे सहकारी आधार पर उत्पादन कार्य सगठित किया है।

गब्बा दिनो-दिन अधिकाधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। हाल ही मे, उन्नत टाट के कपडे तथा घनी कशीदाकारी के गब्बे लोगो मे बहुत प्रचलित हो रहे है। राज्य बिक्री भवन, केन्द्रीय बाजार सगठनो और व्यापार माध्यमो की मदद से गब्बो की मॉग मे काफी वृद्धि हुई है। कश्मीर का यह प्राचीन उद्योग भविष्य मे पनपनेगा ही।

चण्डीगढ १६ दिसम्बर १९६३ —इन्दर मो भटनागर

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४। वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति १५ पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

दशम वर्ष • जुलाई १९६४ • दशम अंक

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नही है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखो पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस) के पते पर भेजें। टेलीफोन न ५७१३२९।

इस पत्र मे प्रकाशित लेखो में व्यक्त विचार आवश्यक नहीं कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिये असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस)।

इस अंक के लेखक

वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
मिलम आयवनोविक	–फेडरल वाइस-सेक्रेटरी फार एग्रीकल्चर, बेलग्रेड, युगोस्लाविया।
गजानन हरि गोखलेकर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के हाथ कागज उद्योग निर्देशक।
हबीबुर रहमान	–अलीगढ स्थित अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कॉमर्स विभाग मे लेक्चरर।
वन्दार वेंकप्प शेट्टी	–परियोजना मूल्याकन अधिकारी, शिमोगा (मैसूर)।
माखन लाल भट्ट	–वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित कृषि आर्थिक अनुसधान केन्द्र में प्रवर (सीनियर) अनुसधान सहायक।
पेकल श्रीरामुलू पैंट्रो	–बिडलापुर (पश्चिम बगाल) स्थित बिडला जूट मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड के डाईंग मास्टर और सीनियर वीविंग ओवरसीयर।
मेरी जार्ज	–रानीपेट (मद्रास) स्थित राजकीय जूनियर एप्रूव्ड स्कूल में अनुसधान सहायक।
सोमसुन्दरम् शनमुगम्	–राजेन्द्रनगर (हैदराबाद) स्थित विस्तार अधिकारियों (उद्योग) के खादी ग्रामोद्योग विद्यालय मे लेक्चरर।
एस. डी. तेजनारायण	–राजेन्द्रनगर (हैदराबाद) स्थित भारत सरकार के ओरियण्टेशन एण्ड स्टडी सेटर के भूतपूर्व प्राचार्य।
राम मूर्ति	–नासिक स्थित खादी ग्रामोद्योग विद्यालय मे लेक्चरर।
सुभाष चन्द्र सरकार	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित **खादी ग्रामोद्योग** और **जागृति** के सम्पादक।
रतिलाल मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रचार निर्देशालय मे सहायक सम्पादक।

नीरा बनाम ताड़ी

वैकुण्ठ ल. मेहता

एकसम नियमों और लाइसेंस-पद्धति के आधार पर तथा राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलो द्वारा सहायित व मार्गदर्शित कारीगरो की सहकारी समितियों एवम् उनके सघो के जरिये नीरा और उससे सम्बन्धित उद्योगो का विकास करने से मद्यनिषेध नीति के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता मिलेगी।

मद्यनिषेध अध्ययन दल का प्रतिवेदन एक बहुत ही मूल्यवान प्रलेख है, जिसमे उस विवादास्पद विषय पर प्रशसनीय ढग से विचार किया गया है जोकि पिछले कई वर्षो से प्रशासको और सामाजिक विचारको के लिए एक पेचीदा सवाल बना हुआ है। मद्यपान का शायद ही कोई ऐसा पक्ष होगा, जिस पर अध्ययन दल ने विचार न किया हो। निष्कर्ष निकालने के पूर्व काफी अनुसधान और तथ्यो का सग्रह किया गया है।

जिन विषयो पर विचार किया गया है, स्वभावत उनमे एक विषय विभिन्न किस्म के ताड-वृक्षों से प्राप्त नशीले पेय पर नियत्रण भी है। इस प्रतिवेदन मे एक अध्याय है "ताडी और नीरा की समस्या", जिसमे इन बातों से अवगत कराया गया है मद्यनिषेध और गैर-शराबबन्दीवाले क्षेत्रों की वर्तमान अवस्था, किस हालत मे पेडों का छेदन किया जाता है, नीरा को ताडी का रूप लेने अर्थात् उसके खाद्य-तत्व मे खमीर पैदा होने के पूर्व ही किस प्रकार खपाया जा सकता है, नीरा और ताड-गुड उद्योग की गुजाइश। उसके बाद प्रतिवेदन के मद्यनिषेध नीति के कार्यान्वय सम्बन्धी प्रस्तावों-वाले अनुभाग के 'ताडी-नियमो मे ढिलाई का प्रश्न' विषयक अध्याय मे अध्ययन दल ने गुजरात और मद्रास को छोड कर देश के बाकी सभी हिस्सो मे ताडी के उत्पादन और बिक्री पर लगे प्रतिबन्धो को हटाने अथवा शर्तें निर्धारित करने के सुझाव दिये है।

ताड़ी की खपत

अध्ययन दल को आशा है कि यदि उसकी सिफारिश के अनुसार नीति अपनायी गयी तो दस-पन्द्रह वर्ष के अन्दर ताडी-सेवन का परिपूर्णत निषेध करना सम्भव हो सकेगा। ताडी के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि इस पेय में मादक तत्व कम है और प्रतिवेदन मे बताये अनुसार उपयुक्त कार्यवाही करने पर इसके सेवन से होनेवाले नुकसान को बहुत ही सीमित किया जा सकता है। आज के बच्चे इस वातावरण मे पलेगे कि शराब पीने की आदत को नागवार समझा जायगा। निर्धारित की जानेवाली सीमाओ पर बिना विस्तार मे चर्चा किये, यह सन्देह प्रकट किया जा सकता है कि मद्यनिषेध को सफल बनाने मे ये प्रस्तावित उपाय कितने प्रभावी सिद्ध होगे, विशेषकर उन क्षेत्रो में—प्राय जो दुर्गम है— जहाँ ताड वृक्षो का बाहुल्य है और जहाँ उन्हे सहज ही छेदा जा सकता है।

इन्ही आशकाओं के कारण स्वराज आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों मे महात्मा गाधी ने लोगों को सस्ते मे और सहज ही प्राप्य मद्य से बचाने के एक उपाय स्वरूप ताडी देनेवाले सभी वृक्षों को पूर्णत नष्ट कर देने की बात कही थी। परन्तु जब गाधीजी ने बगाल, मद्रास और केरल मे ताड-गुड उद्योग के कार्य और स्वरूप को देखा, तो उन्होने अपना विचार बदल दिया। उन्ही के कहने से अखिल भारत ग्रामोद्योग सघ के कार्यक्रम मे ताड-गुड उद्योग के विकास को भी शामिल किया गया। स्वास्थ्यवर्धक पेय नीरा को कार्यक्रम के एक अग स्वरूप अपनाया गया। श्री जे सी. कुमारप्पा ने वृक्षों को काट डालने के बदले और वृक्ष लगाने का आग्रह किया, ताकि गन्ने की खेती मे जितनी जमीन लगी है उसे कम किया जा सके।

अध्ययन दल ने ताड-गुड उद्योग के विस्तार की सम्भावना को स्वीकार कर लिया है, अत यहाँ इसका जिक्र करने का उद्देश्य वह मार्ग निर्दिष्ट करना है जिसका मद्यपान की बुराइयो को दूर करने के लिए सोच-समझ कर बनाये गये क्रमिक कार्यक्रम के कार्यान्वय हेतु अनुसरण किया जा सके। देश भर मे विभिन्न किस्मो के ताड-वृक्षो का छेदन स्वादिष्ट और पौष्टिक नीरा की पूर्ति करने और उपयुक्त सरक्षण के साथ पेय रूप मे उसकी बिक्री एवम् खपत के लिए एक राष्ट्रव्यापी अभियान की योजना बनानी है। चूँकि नीरा खपत को प्रोत्साहन देने के बाद भी जो शर्ते रखी गयी है – और ठीक ही है – उनका पालन करते हुए हो सकता है कि उपलब्ध सारी नीरा की बिक्री की व्यवस्था न की जा सके, अत बिक्री से बची नीरा से, उसमे खमीर पैदा होने के पूर्व ही, गुड और चीनी अथवा वातित पेय, शर्बत, जेली आदि बनाने की दिशा मे जोरदार प्रयास करने चाहिये।

संरक्षण आवश्यक

ताडी के सम्बन्ध मे अध्ययन दल की एक सिफारिश यह है कि जहाँ कही सम्भव हो वहाँ सरकार को चाहिये कि ताडी का उत्पादन और बिक्री वह अपने हाथ मे ले ले। उसके ऐसा करने पर भी, यदि ताड छेदन के लिए जो छूट दी गयी है उसका नाजायज इस्तेमाल नही होने देना है तो और भी कई सरक्षणात्मक उपायो पर बारीकी से ध्यान देना होगा। अगर सरकार इस काम को स्वयम् नही चलाने का निर्णय करती है तो दूर-दूर के केन्द्रो के पर्यवेक्षण का कार्य इतना बडा होगा कि उसके लिए बडे सरकारी खर्च पर विशेष निरीक्षण कर्मचारियो की बहाली की जरूरत पडेगी। इसकी तुलना मे नीरा और ताड-गुड उद्योग के विस्तार मे कम कठिनाइयाँ आयेगी।

सुविधाओं का दुरुपयोग ?

यद्यपि अध्ययन दल नीरा की पौष्टिकता को स्वीकार करता है तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यक्रम के अग स्वरूप काम कर रहे दहाणू स्थित भारतीय ताड-गुड शिल्प भवन के कार्यों की प्रशसा करता है, दुर्भाग्यवश उसने स्पष्टत अखिल भारत योजना के अग स्वरूप ताडी के विकल्प रूप मे नीरा पर पर्याप्त ध्यान नही दिया है। कुछ हद तक उसका दृष्टिकोण देश के कुछ भागो से, विशेषकर आन्ध्र प्रदेश व मैसूर से, प्राप्त नीरा और ताड-गुड योजना के कार्यान्वय सम्बन्धी चन्द प्रतिवेदनो से प्रभावित है। गुजरात और मद्रास मे, जिन्हे कि अध्ययन दल ने अपनी "ताडी नियमो मे ढिलाई" योजना मे शामिल न करने की सिफारिश की है, सहकारी समितियो अथवा समाज कल्याण अभिकरणो को नीरा प्राप्त करने हेतु ताड-वृक्षो के छेदन की जो सुविधाएँ दी गयी है उनके दुरुपयोग की कोई शिकायत नही मिली है। मद्रास मे सहकारी समितियो की सख्या बहुत है तथा उनके जिला सघ होने के साथ ही एक राज्य स्तरीय शीर्ष उच्चस्थ सघ भी है। महाराष्ट्र मे भी, जहाँ मद्यनिषेध नीति मे हाल ही मे कुछ परिवर्तन हुआ है, इस उद्योग मे लगी सहकारी समितियो को प्राप्त सुविधाओ के दुरुपयोग का कोई मामला सामने नही आया है, जिनके मार्गदर्शन और पर्यवेक्षण की जिम्मेदारी राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की है। और न ही इस बात का कोई प्रमाण है कि पश्चिम बगाल जैसे राज्य मे, जहाँ कि ताड-गुड एक विकसित उद्योग है, नीरा का गैर-कानूनी उपयोग किया जाता है।

नीरा का परिरक्षण

ऐसा प्रतीत होता है कि अध्ययन दल को इस बात ने अधिक प्रभावित किया है कि नीरा ताडी से अधिक लोकप्रिय नही है। यह सम्भवत उस क्षेत्र की बात है जहाँ मद्यनिषेध नही है। पर मद्यनिषेध लागू करने के लिए इस प्रवृत्ति को बढावा देने के बदले निरुत्साहित करना वाछनीय है। एक तीसरी बात, जिसे अध्ययन दल महत्व देता है, यह है कि नीरा इकट्ठी करने के लिए बर्तनो पर जो चूने की परत चढायी जाती है, उसका बुरा असर पडता बताया जाता है। लेकिन यह पद्धति प्रमुख चिकित्सको की स्वीकृति के बाद अपनायी गयी

है, जोकि चूने का इस्तेमाल स्वास्थ्य के लिए हानिकर नही समझते। इससे परिशोधन मे अधिक खर्च नही पडता और काफी समय तक खमीर भी नही पैदा हो पाता, बशर्ते कि स्वास्थ्यकर वातावरण सुनिश्चित रहे, उपयुक्त ढग से उसका सग्रह हो और दूर-दूर तक ले जाने के लिए बर्फ डाली जा सकनेवाले बर्तनो का इस्तेमाल किया जाय। बम्बई, पूना और सूरत जैसे स्थानो मे नीरा कार्य के अनुभव यह दर्शाते है कि सग्रह और परिवहन पर उपयुक्त नियत्रण रहे तो नीरा आधे दिन तक तो परिरक्षित रखी ही जा सकती है।

उत्तम विकल्प

यदि अध्ययन दल के लिए ताडी के विकल्प रूप नीरा के प्रत्येक व्यावहारिक पक्ष का हर दृष्टि से मूल्याकन करना सम्भव हो पाता तो यह निश्चित है कि उसमे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा नियुक्त प्रशासको और समाजसेवियो की समिति द्वारा हाल ही मे नीरा और सम्बन्धित उद्योगो के लिए एक-सम नीति बनाने के लिए किये गये आग्रह का समर्थन किया होता। इस समिति ने सारे देश के लिए एक समान नियम और लाइसेस पद्धति बनाने का आग्रह किया है, ताकि जन-स्वास्थ्य सुधार, अधिक लोगो को रोजगारी देने और मिट्टी से सोने का निर्माण करते हुए राष्ट्रीय उत्पादन सवृद्धि करने के हित मे उद्योग का विकास करने मे सुविधा हो अर्थात् मदद मिले। मद्यिक-तत्ववाली ताडी का पेय के रूप मे इस्तेमाल किये जाने के प्रस्ताव से, जिसका कि टेकचन्द दल ने समर्थन किया है, जो भार बढनेवाला है, समिति द्वारा सुझाये गये उपाय को अमल मे लाने से उससे अधिक बोझ नही पडेगा। तथापि, कार्यक्रम के कार्यान्वय की जिम्मेवारी राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलो द्वारा मार्गदर्शित और सहायित कारीगरो की सहकारी समितियो व उसके सघो को सौपी जानी चाहिये। जैसाकि महात्मा गाधी ने वर्षो पूर्व ही यह भास कर लिया था कि इसी तरह के कार्यक्रम के जरिये हम असख्य ताड-वृक्षो का सही उपयोग कर सकते है, गाँवो मे लोगो को रोजगारी दे सकते है और एक पौष्टिक, स्वादिष्ट तथा सस्ते पेय की पूर्ति कर सकते है।

पूना, १७ जून १९६४

आम आय-कर दाताओ के धंधों पर आधारित आय-कर आंकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि १९५१-५६ की अवधि में ठेकेदारो की औसत आय मे सबसे अधिक वृद्धि हुई, इस वर्ग की आय मे हुई वृद्धि देश के रोजगार प्राप्त लोगो की प्रति व्यक्ति आय-वृद्धि से बहुत अधिक है। आय-कर दाताओ मे अपने धधे (निर्माण, व्यापार, परिवहन और वित्तीय व्यापार) मे रोजगारी पा रहे लोगो तथा वेतनभोगियो की आय मे भी वृद्धि हुई है, परन्तु उनके मामले मे आय-वृद्धि की दर रोजगार-प्राप्त लोगो की प्रति व्यक्ति औसत आय दर के समान ही रही है।

—रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी ऑन डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड लेवल्स ऑफ लिविग, पार्ट १ (डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड वेल्थ एण्ड कसेण्ट्रेशन ऑफ इकनॉमिक पावर)

युगोस्लाविया में कृषि

मिलम आयवनोविक

यद्यपि युगोस्लाविया की अर्थ-व्यवस्था में अब भी कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि पिछले पन्द्रह वर्ष में, अपने जीविकोपार्जन के लिए मात्र कृषि पर ही निर्भर करनेवाली जन-सख्या के प्रातिशत्य में कमी हुई है और राष्ट्रीय आय में उद्योग विभाग से होनेवाली आय का हिस्सा बढा है। कृषि उत्पादन की वृद्धि में कृषि सहकारी समितियों ने महान् भूमिका अदा की है। कृषि का यान्त्रीकरण बड़ा तीव्र रहा है।

युगोस्लाविया की कृषि मे १९५६ से उल्लेखनीय परिवर्तन हुए है। ये परिवर्तन उच्च उत्पादन वृद्धि उत्पादन-स्वरूप मे अन्तर और बाजार सप्लाई के बुनियादी उत्पादको के मध्य सम्बन्धो मे विवर्तन मे द्रष्टव्य है।

युगोस्लाविया की कृषि इस रूप मे जानी जाती है कि उसमे पिछडे कृषि-प्रधान देशो के कुछ गुण पाये जाते है, उदाहरणार्थ, खेतो का बहुत अधिक विभाजित होना, अपर्याप्त कृषिक यत्र, प्रति इकाई न्यून उत्पादन स्तर और न्यून उत्पादकता। तथापि, कृषि विकास के लिए अनुकूल मौके है, और, पिछले सात वर्ष मे उल्लेखनीय परिवर्तन हुए है, जिन्होने द्रुत गति से उत्पादन बढाना सम्भव बना दिया है। उदाहरण के लिए १९५२ से १९६० तक औसत वार्षिक उत्पादन वृद्धि ६ १ प्रति शत रही है, जबकि १९५७ से १९६१ तक यही वृद्धि दर ७ ७ प्रति शत रही है। ये आकडे प्रदर्शित करते है कि प्रगति की प्रवृत्ति को मात्र एक लघु-कालीन और आकस्मिक घटना के रूप मे नही देखा जा सकता, जोकि प्राकृतिक अवस्थाओ, खास कर अनुकूल मौसम के कारण हो सकती है।

गैर खेतिहर धंधों का विकास

कृषि उत्पादन मे द्रुत गति से वृद्धि करना जिन कारको से सम्भव बन पडा है, उन पर विचार करना निश्चय ही रुचिकर होगा। सर्व प्रथम कारक है समग्र अर्थ-व्यवस्था का परिवर्तित सघटन। कृषि जब तक अर्थ-व्यवस्था की मुख्य शाखा रही, वह पिछडी हुई और अल्पविकसित रही। प्राय सभी विकासशील देशो में यह अवस्था पायी जाती है। लेकिन अन्य गैर खेतिहर कार्यशीलताओ के साथ उद्योग विकास के अर्थ-व्यवस्था का आधार बन जाने से कृषि के द्रुत विकास और उत्पादन के आधुनिक तौर-तरीको का प्रयोग करने के लिए आर्थिक तथा तकनीकल अवस्थाएँ निर्मित हुईं।

उद्योग तथा अन्य गैर खेतिहर कार्यशीलताओ के विकास का सर्वोत्तम चित्र हमे आबादी की सघटना में हुए परिवर्तनों मे मिलता है। सन् १९४८ मे कुल आबादी मे गैर खेतिहर आबादी २९ ६ प्रति शत थी। उसके तेरह वर्ष बाद अर्थात् १९६३ मे उक्त प्रातिशत्य बढ कर ५० ६ हो गया। अनुमान लगाया जाता है कि गैर खेतिहर और खेतिहर आबादी का प्रातिशत्य अब क्रमश ५२ ५ तथा ४७ ५ है।

अन्य सूचक भी रुचिकर है। उनसे पता चलता है कि उद्योग का राष्ट्रीय आय मे १९४७ मे २४ ९ प्रति शत योगदान था और १९६३ मे ४१ २ प्रति शत, जबकि उसी वर्ष कृषि उत्पादन सामाजिक उत्पादन का मात्र २४ प्रति शत ही था। उद्योग और अन्य गैर खेतिहर गतिविधियो के विस्तार का कृषि विकास के अनुकूल अवस्थाओ पर बहुत अच्छा तथा कई तरह से प्रभाव पडा है। सर्व प्रथम, कृषि अतिरिक्त जन-सख्या से मुक्त हुई, द्वितीय, कृषि उत्पादनों के लिए सीधे उपभोग और प्रशोधन दोनों कामों के लिए ही सुस्थिर गति से माँग बढी, और तृतीय, रफ्ता-रफ्ता कर के ऐसे उद्योगों का

वि...स हुआ जोकि वे चीजें बनाते है, जिनके बिना आधुनिक कृषि की कल्पना तक नही की जा सकती।

राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का आज भी महत्वपूर्ण स्थान है। यह सच है कि अर्थ-व्यवस्था के अन्य अगो के विकास की तुलना में यह पिछडी हुई है, और यह कि इसका उत्पादन विचरणशील है, जिसका सामान्यत सतुलित आर्थिक विस्तार पर असर पडता है। इसके दूसरी ओर वृद्धिशील प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय तथा जन-सख्या की सघटना मे परिवर्तनो के साथ श्रेष्ठ खाद्यान्नों की माँग बढी है। तदनुसार, यद्यपि कृषि उत्पादन सात प्रति शत वार्षिक से भी ऊँची दर पर बढ रहा है, पर वह उपभोग की आवश्यकताएँ पूरी नही कर पाता। इस प्रकार युगोस्लाविया माँस तथा माँस उत्पादनो का निर्यात करता है, लेकिन खाद्यान्नों का काफी परिमाण मे आयात करता है। लेकिन अपनी प्राकृतिक अवस्थाओ, कृषि मे लगे व्यक्तियो की सख्या और आर्थिक क्षेत्र की अन्य दिशाओ की प्रगति की दृष्टि से यह निश्चित है कि वह अन्ततोगत्वा कृषि उत्पादनों का भी महत्वपूर्ण निर्यातक बन जायेगा।

कृषि उत्पादन में प्रगति

सन् १९६३ के अन्त में केवल १२ ४ प्रति शत कृष्य भूमि ही समाजवादी तथा सहकारी सगठनो के पास थी, जबकि शेष ८७ ६ प्रति शत जमीन २६ लाख स्वतत्र किसानो के पास थी, जिसका मतलब है कि निजी खेतो का औसत आकार ३ ५ हेक्टर अथवा ८ ५ एकड है। यदि हम यह कहे कि निजी किसान परिवार के पास ज्यादा से ज्यादा करीब २४ एकड के बराबर खेत हो सकता है, तो भी यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के किसानो की कृषिक उत्पादन बढाने की क्षमता बहुत न्यून है। यह सर्व विदित है कि छोटे-छोटे निजी खेतों मे उत्पादकता किसी एक सीमा तक ही बढायी जा सकती है, और यह कि उस सीमा का स्तर बहुत नीचा होता है। इस प्रकार के छोटे खेतों के कारण किसानो को, यदि उनके पास अपने खेतो के सिवाय अतिरिक्त आय का अन्य कोई जरिया नही है तो, गरीबी की हालत मे रहना पडता है। यदि उन्हे कही आशिक काम मिल भी जाता है तो भी उनकी उत्पादकता, खेतो मे व अन्यत्र, दोनो ही स्थानो मे, बहुत कम होती है। विकसित तथा अविकसित दोनो ही प्रकार के देशो को आज इस समस्या का सामना करना पड रहा है। निस्सन्देह युगोस्लाविया की अर्थ-व्यवस्था मे महान सफलता प्राप्त की गयी है, वह यह कि १९४५ से अर्थात् गत महायुद्ध के बाद से लेकर खेतिहर आबादी का अनुपात बहुत अधिक घटा है—वह कुल आबादी के ७६ प्रति शत से घट कर ४७ ५ प्रति शत हो गया है। चूँकि कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रो मे रोजगार प्राप्त करने के अवसर अब भी सीमित है, इसलिए समाजिक-राजनीतिक उद्देश्यो, राष्ट्रीय आय मे और वृद्धि होने तथा आर्थिक एवम् सामाजिक विकास और भी तीव्र गति से करने की आवश्यकता की दृष्टि से उस आबादी की आमदनी बढाने के लिए जो आगे भी [illegible] व उपाय खोज निकालने पडेंगे। इन योग्य शरीरधारी खेतिहरो की—जिनकी सख्या काफी अधिक है—उत्पादकता बढाने के लिए तौर-तरीको की खोज करना भी परमावश्यक है।

सघन कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए बडे-बडे समाजवादी कृषिक सगठन बनाये गये है। कृषिक-औद्योगिक सस्थानों के रूप मे इन सभी सगठनो के पास २० हजार हेक्टर जमीन है। ये सगठन उपयोग के लिए तैयार माल के रूप मे खाद्यान्नो का उत्पादन करते है अथवा बाजार मे आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति करते है। इसी आधार पर कृषिक सहकार बडी-बडी उत्पादन इकाइयो का रूप ले रहे है। इन दो प्रकार के सगठनो ने १९६३ मे करीब १३ लाख हेक्टर भूमि पर काम किया। देश की कुल कृष्य भूमि का यह केवल १२ ४ प्रति शत ही है लेकिन उनका उत्पादन कुल कृषि उत्पादन का १७ प्रति शत या बाजार मे आये समग्र उत्पादन का ४० प्रति शत रहा। उन सगठनों ने बडी तेज गति से अपना उत्पादन बढ़ाया है। उन्होंने १९५६ से १९६३ तक अपनी जमीन मे करीब ५० प्रति शत वृद्धि की और

कुल उत्पादन में लगभग ४५० प्रति शत। इन ऑकडों से पता चलता है कि इन सगठनो ने पिछले सात वर्ष की अवधि मे कृषि उत्पादन के विस्तार मे कितनी उल्लेखनीय भूमिका अदा की है।

यांत्रिक कृषि

कृषिक सहकार विशिष्ट प्रकार के कृषिक सगठन है। विशिष्ट अवस्थाओ मे उनका जन्म हुआ और वे विकसित हुए। युगोस्लाविया मे उनकी एक लम्बी परम्परा है। इन सहकारो के प्रबन्ध को लोकतात्रिक रूप दिया जा चुका है। निजी किसानों के साथ सहयोग करते हुए उत्पादन बढाना उनका मुख्य कार्य है। वे यत्रो मे विनियोजक बन गये है, जिनका निजी खेतो मे उपयोग किया जा सकता है। उन्होने लोगो को प्रशिक्षित किया है, जिससे वे निजी किसानो के खेतो (कुल के १५ प्रति शत क्षेत्र पर निजी किसानो की मालिकी है) मे—जिनके साथ वे सहयोग करते हैं— कृषि के आधुनिक तौर-तरीको का समावेश कर सके है। अभी तक यह बडे-बडे समाजवादी और सहकारी खेतो के समान सघन उत्पादन नही है, लेकिन यह एक तथ्य है कि उन किसानो की तुलना मे जो अपने खेतो मे अकेले काम करते है, उन किसानो के खेतों का उत्पादन ५० प्रति शत अधिक है, जो कृषिक सहकारो की सहायता से काम करते है। तदनुसार, निजी किसानो मे यह सहकारिताएँ सहकार के प्रमुख सगठन बन गयी है, और यह कि ये ऐसे सगठन है जो अपने पास आवश्यक तत्र होने की वजह से कृषि उत्पादन के विकास और उसके सामाजीकरण को प्रभावित करते है।

कृषिक उत्पादन मे वृद्धि कृषिक सगठनो द्वारा उपयोग मे लाये जानेवाले प्राविधिक उपकरणो मे अधिक विनि-योजन करने का फल है। सन १९५७ से १९६३ तक कृषिक सगठनो मे प्राविधिक उपकरणो पर परिव्यय अलग-अलग वर्षो मे समग्र आर्थिक विनियोजन के १२·६ से लेकर २०·७ प्रति शत तक रहा है।

कृषि मे विभिन्न प्रकार के यत्रो का समावेश करने की दिशा में खास कर बडी तेज प्रगति हुई है। अनेक वर्षो तक यत्रो पर कृषि के समग्र व्यय का ५० प्रति शत तक खर्च होता रहा है। यत्र विस्तार का चित्र इन आकडो से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कृषि सगठनो के पास १५,७०० ट्रैक्टर, ४,८०० उर्वरक यत्र, ३,१०० हल, ६०० गेहूँ सयुक्त फसल कटाई यत्र, १,६०० लौरी आदि थे। सन् १९६३ तक उन्होने अपने यत्रो के भण्डार मे वृद्धि कर ली थी और उनके पास ३५,००० ट्रैक्टर, ६,००० उर्वरक छिडकक (स्प्रेयर), ७,८०० हल, ८,४०० सयुक्त फसल कटाई यत्र, २,९०० लौरी आदि थे। यद्यपि इतने यत्र भी पर्याप्त नही है, तथापि वृद्धि उल्लेखनीय है।

कृत्रिम उर्वरको के उपभोग मे वृद्धि तो और भी उल्लेखनीय है। सन् १९५५ मे २ लाख ७२ हजार टन का उपभोग हुआ था और बढते-बढते १९५७ मे वह ८ लाख ६ हजार टन, १९५९ मे ११ लाख ४७ हजार टन, १९६१ मे १० लाख ९० हजार टन तथा १९६३ मे २१ लाख टन तक जा पहुँचा। अनुमान है कि इस वर्ष तकरीबन ३० लाख टन उर्वरको का उपयोग होगा। कृत्रिम उर्वरको का सर्वाधिक उपयोग समाजवादी सगठन और सहकारी समितियाँ, स्वतत्र किसानो के साथ सहकार करते हुए करती है। इस वृद्धि के बावजूद अन्य देशो मे उर्वरकों के प्रयोग की तुलना मे यह उपभोग कम ही है। औसतन प्रति हेक्टर भूमि मे ३०० किलो-ग्राम तक खाद अथवा करीब ६० किलोग्राम भूमि-सुधारक सामग्री का उपयोग होता है।

इसी प्रकार चुनिन्दा किस्म के बीजो के उपयोग और उच्च फल-प्राप्ति देनेवाली फसले बोने की दिशा मे भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। गेहूँ की खेती के अन्तर्गत २१ लाख हेक्टर भूमि है, जिसके ६० प्रति शत पर उच्च उत्पादन देनेवाली किस्म की फसल पैदा की जाती है। कुल भूमि के करीब २५ प्रति शत अर्थात् २५ लाख हेक्टर पर मक्का की खेती होती है। बोआई के लिए प्रसकर बीजो का इस्तेमाल किया जाता है। सूर्यमुखी की कृषि के अन्तर्गत प्राय समग्र भूमि पर उच्च उत्पादक किस्मे बोयी जाती है।

सामाजिक मिल्कियतवाले बडे-बडे क्षेत्र बागवानी, फलोद्यान व अगूरोपवन के अन्तर्गत है। आधुनिकतम यत्रो और उपकरणो का यहाँ उपयोग होता है। आगामी कुछ वर्षो मे प्राय ये सभी बगीचे और फलोद्यान फलने लगेगे।

पशु-प्रजनन

पशु-प्रजनन की दिशा मे भी अच्छे फल प्राप्त हुए है। होल्स्टेइन-फ्रिसीग्न और रेड डेनिश नस्ल की दुधारू गायो के आयात से पुनर्प्रजनन केन्द्र खोलने मे मदद मिली है। सामाजिक मिल्कियत के बडे दुग्धालयो के लिए बडे-बडे शहरी केन्द्रो के आस-पास इन केन्द्रो मे पशु-प्रजनन का काम होता है। घरेलू सिमेण्टल (Simental) प्रजाति के गुण-धर्म मे सुधार करने की दिशा मे पर्याप्त प्रगति की जा चुकी है। यह प्रजाति दूध और माँस दोनो के उत्पादन के लिए उपयोगी है।

देश की सिचाई व्यवस्था मे सुधार करने के लिए भी इसी प्रकार के प्रयास किये जा रहे है। अब तक केवल १ लाख ४० हजार हेक्टर भूमि को ही सिचाई के अन्तर्गत लाया जा सका है। डेन्यूब-टीसा-डेन्यूब जल-व्यवस्या (हायड्रो-सिस्टम) आधी से ज्यादा पूरी हो चुकी है। इसके पूरी होने पर इससे आठ लाख हेक्टर पर जलोत्सरण और ३ लाख ६० हजार हेक्टर नये क्षेत्र की सिचाई होगी। फिलहाल मकदूनिया मे छ जल-व्यवस्था योजनाओ का काम चल रहा है, जो करीब एक लाख हेक्टर पर जलोत्सरण करेगी और मकदूनियायी मैदानों मे ७२ हजार हेक्टर भूमि की सिचाई।

कृषिक उत्पादन के प्राविधिक आधार के विकास को बहुत महत्व दिया जा रहा है। तथापि, इसका वर्तमान स्तर बहुत नीचा है और आगामी सात वर्षीय अवधि के दौरान इसमे पर्याप्त सुधार लाया जाना चाहिये। सन् १९७० के अन्त मे युगोस्लाविया की कृषि का कुछ अलग ही सघटन होगा, और उसमे तब सघनता भी अधिक होगी। उस वक्त विस्तृत भूमि मे सामाजिक मिल्कियत के अन्तर्गत भूमि की आधुनिक तकनीकल साधनो से जोनाई होगी, और निजी किसानो से सहकार करते हुए खेती की जानेवाले क्षेत्रों के उत्पादन मे भी सुधार होगा। और, अन्त मे कृषि पर आधुनिक तकनीकल साधनो के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए पिछली दो पच वर्षीय अवधियो के न्यूनतम और अधिकतम उत्पादन की तुलना करना लाभप्रद होगा।

तालिका १

न्यूनतम और अधिकतम उपज: १९५४–६३

(हजार टन मे)

	१९५४–१९५८		१९५९–१९६३	
	न्यूनतम	अधिकतम	न्यूनतम	अधिकतम
गेहूँ	१,३८०	५,१००	३,१७०	४,१३०
मक्का	३,०००	५,६६०	४,५५०	६,६७०
चुकन्दर	१,१३०	२,०३०	१,७३०	२,७३०
सूर्यमुखी	५९	१२५	९८	२३७
तिपतिया घास	७५०	९६०	१,३३०	१,६८०

ऐसा कहा जाता है कि युगोस्लाविया मे कृषि उत्पादको की तीन श्रेणियाँ है। राष्ट्रीय अनुपातो मे उनकी औसत उपज १९६२ के अत्यधिक बुरे वर्ष मे इस प्रकार रही

तालिका २

प्रति हेक्टर उपज मेट्रिक क्विण्टलो में

	कुल	परिपूर्ण सामाजिक मिल्कियत के खेत	निजी खेत	
			समाजवादी विभाग के सहकार मे	स्वतत्र
गेहूँ	१६५	२८९	१८४	१२५
मक्का	२१५	४४९	३०३	१५९
चुकन्दर	२५१०	२९८०	२१००	१८४४
सूर्यमुखी	१०८	२२८	१६४	९९
दूध उत्पादन की क्षमता	१,०७८	२,२६०		९८०

निष्कर्ष स्वरूप हम यह कह सकते है कि कृषि के अपेक्षाकृत गतिशील विकास और उत्पादन स्तर को ऊपर उठाने से युगोस्लाविया की कृषि की समस्याएँ हल नही हो गयी है। कृषि उत्पादनो का अब भी काफी मात्रा मे आयात होता है, यद्यपि वे देश में ही पैदा किये जा सकते है। यह उल्लेखनीय है कि पिछले दो वर्ष मे कृषि उत्पादनो का निर्यात बढा है। लेकिन इसमे कोई सन्देह नही कि युगोस्लाविया अपनी प्राकृतिक अवस्थाओ और विवेकशील उत्पादन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जिस स्तर पर निर्यात कर सकता है, उक्त उत्पादनों के निर्यात को अभी तक वह स्तर प्राप्त नही हो सका है।

बेलग्रेड १२ मई १९६४

कागज की परिमापिक स्थिरता*

ग. ह. गोंधलेकर

प्रस्तुत लेख में कागज की परिमापिक स्थिरता को प्रभावित करनेवाले कारकों का विश्लेषण किया गया है। लेखक ने उन दिशाओं का भी सुझाव दिया है, जिनमें हाथ कागज की परिमापिक अस्थिरता पर काबू पाने हेतु प्रयास किये जा सकते हैं।

कागज की पारिमापिक स्थिरता (डायमेन्शनल स्टेबिलिटी) किसे कहते हैं? जहाँ तक इस लेख का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि कागज की पारिमापिक स्थिरता वह सीमा है जिस तक नमी की विभिन्न अवस्थाओ के अन्तर्गत कागज के परिमाप मे अन्तर आता है। कागज के छपाई सम्बन्धी गुणो पर मुख्यत इस प्रकार असर पडता है

१ पारिमापिक दृष्टि से अस्थिर कागज मे सिलवटे पड जाती है और वह पिचक जाता है। वे बिल्कुल सपाट नही रहते तथा छापेखाने मे मशीन पर अपने आप एक के बाद एक कागज जाते रहने की क्रिया में कठिनाई पैदा करते है।

२ बहु-रगी काम मे पारिमापिक दृष्टि से अस्थिर कागज ठीक से छपाई न होने का कारण बनता है। यह बात मुख्यत बहु-रगी छपाई के लिए सही है, लेकिन कुछ ऐसे अन्य कामो को भी यह प्रभावित कर सकती है, जहाँ कालम भर कर 'कारबन' प्रतियाँ निकाली जाती हैं। ये कालम एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे यानी सभी कागजो मे एक दूसरे के ऊपर बिल्कुल सिधाई मे होने ही चाहिए।

कागज की पारिमापिक स्थिरता को प्रभावित करने-वाले कारक है (अ) तन्तु का गुण, (आ) लुग्दी तैयार करने का तरीका, (इ) बीटिंग, (ई) धुलाई का तरीका, (उ) आर्द्र-मजबूती प्रदान करना (वेट स्ट्रेंग्थनिग), (ऊ) भरत, (ए) तन्तुओ का सघटन और अभिविन्यास, (ऐ) सुखावन के दौरान सिलवट का पड जाना, (ओ) सुखावन का तापमान, (औ) सुखावन के दरमियान तनाव, और (अ) कागज का अनुकूलन।

तालिका १ के अध्ययन से उक्त कारकों का प्रभाव स्पष्ट हो जायेगा।

तालिका १

तन्तु के गुण और लुग्दी बनाने का तरीका

कच्ची सामग्री व तरीका	आर्द्र विस्तार / आडी दिशा मे
सूचिपर्ण काष्ठ सल्फाइट	३ ८
रुदिपर्ण काष्ठ सल्फाइट	२ २
तृण सोडा	४ २
बास सोडा	२ ०
खोई सोडा	१ ९
एस्परटो सोडा	१ ३
तृण उष्ण दबाव सोडा	४ २
तृण मोनो सल्फाइट	३ ८
तृण क्लोराइन सोडा प्रक्रिया	३ ७
एस्परटो उष्ण सोडा	१ ३
एस्परटो अखण्ड क्राफ्ट	१ ३
एस्परटो पाण्डिया (उच्च प्राप्ति)	१ ५

* यह लेख पूना स्थित हाथ कागज सस्था में स्थापित "टेक्नीकल डिस्कशन ग्रुप" की १९ अप्रैल १९६४ को सपन्न बैठक में 'पेपर' के रूप में पढा गया था।

यह देखा जा सकता है कि तन्तु के गुण-धर्म का बहुत प्रभाव पडता है। विशेष दिलचस्पी की बात यह है कि ग्रास, खोई और एस्परटो के मामले मे विस्तार बहुत कम है। इसके विपरीत तृण-लुग्दी पर्याप्त अधिक विस्तारशील है।

पेषण (बीटिग) का क्या असर पडता है, तालिका २ मे प्रस्तुत आकडो से समझा जा सकता है।

तालिका २

पेषण (बीटिंग) का प्रभाव

कागज	आर्द्र विस्तार अपेषित	आर्द्र विस्तार ५० अंश एस आर तक पेषित
तृण उष्ण सोडा	४ २	५ ३
तृण मोनो सल्फाइट	३ ८	५ ०
तृण सोडा क्लोराइन	३ ७	४ ९
सूचिपर्ण काष्ट सल्फाइट	३ ८	४ ८
रुन्दिपर्ण काष्ट सल्फाइट	२ २	३ १
काष्ठ का बुरादा	१ ८	२ १
एस्परटो उष्ण सोडा	१ ३	२ १
एस्परटो अखण्ड क्राफ्ट	१ ४	२ ३
एस्परटो पाण्डिया	१ ४	२ २

यहाँ भी पेषण (बीटिग) प्रभाव काठ के बुरादे और एस्परटो के मामले मे उतना ज्यादा नही है, जितना कि अन्य प्रकार की लुग्दी मे।

धुलाई का तरीका

आधुनिक धुलाई छलनियो पर लुग्दी का लेप बन जाता है। इससे लुग्दी मे की महीन-महीन सामग्री बह कर निकल नही पाती। इस कारण वह लुग्दी मे ही रह जाती है।

एक मत के अनुसार पारिमापिक अस्थिरता का कारण यह है कि मूल तन्तु के हेमी-सेल्यूलाजिक पदार्थ के फूलने से और अच्छी तरह पेषित लुग्दी के तन्तुकरण-कणो से आस-पास के तन्तुओ मे गति पैदा होती है। एक दूसरा मत यह है कि स्वयम् तन्तुओ का फूलना ही विस्तार के लिए उत्तरदायी है।

आर्द्र मजबूती

कागज को आर्द्र मजबूती (यानी गीलेपन की अवस्था मे भी कुछ रासायनिक द्रव्यो से उपचार करके कागज को मजबूती प्रदान करना, जिसे अंग्रेजी में 'वेट स्ट्रेंग्थनिग' कहते है) प्रदान करने का उसकी पारिमापिक स्थिरता पर भी अनुकूल प्रभाव पडता है। फिर भी, इसका प्रभाव बहुत कम होता है। यह भी हो सकता है कि यह प्रभाव परोक्ष रूप से कम पेषण करने से होता है, जोकि कभी-कभी आर्द्र-मजबूती प्रदायक कारक सम्भव बना देते है।

भरत

चीनी मिट्टी तथा अन्य खनिज भरतो से निश्चय ही कागज के सपाटपन और पारिमापिक स्थिरता में वृद्धि होती है। उक्त बात से सभी परिचित है। यह भी विदित है कि इससे कागज कमजोर भी पडता है। आर्द्रता ग्राही होने की वजह से ग्वार के गोंद जैसे पदार्थ भी किसी हद तक नमी में कमी होने से अत्यधिक सिकुडन को रोकने मे सहायक हो सकते है। इसी प्रकार सॉर्बिटाल से भी कागज मे पर्याप्त नमी बनाये रखने में मदद मिल सकती है। लेकिन जब 'लिथो-ऑफसेट प्रिटिग' (एक प्रकार की छपाई) मे वस्तुत कागज को आर्द्र बनाया जाता है तब, खनिज भरतो के अलावा अन्य भरत हो सकता है विशेष उपयोगी न हो।

तंतु संघटन और अभिविन्यास

फोण्ड्रिनियर अथवा सिलीण्डर मोल्ड पर बने कागज मे सीधी दिशा (मशीन डायरेक्शन) मे तन्तुओ का अभिविन्यास काफी अधिक है। तनाव के साथ सुखाने—जिसका जिक्र हम आगे करेगे— से उक्त कारक कागज का विभिन्न दिशाओं मे अनिश्चित विस्तार कर देता

है। परिपूर्णत पानी मे डूबे हुए कागज के विस्तार के सम्बन्ध मे आकडे इस प्रकार है

वृद्धि	प्रातिशत्य
लम्बाई मे सीधी दिशा मे	० ३
लम्बई मे आडी दिशा मे	३ ०
मोटाई मे	३० ०

यह ध्यान देने की बात है कि मोटाई मे विस्तार सीधी दिशा (मशीन डायरेक्शन) विस्तार से १०० गुना ज्यादा है। इसका मतलब है अधिकाश वृद्धि मोटाई मे होती है। आडी दिशा और मशीन दिशा मे विस्तार मामूली होता है। इसलिए अगर किसी तरह यह व्यवस्था की जा सके कि सभी परिवर्तन मोटाई मे हो तो सीधी और आडी दिशा मे बिल्कुल पारिमापिक अस्थिरता नही रहेगी। वास्तव मे मशीन से बने कागज के सामने सबसे महत्वपूर्ण समस्या है, उसमे दोनो दिशाओ मे असमान विस्तार का होना। यह एक सामान्य अनुभव है कि जो कागज सघटन मे एक समान नही है (यहॉ तक कि हाथ कागज भी) उसे सपाट रखना मुश्किल होता है। आर्द्र मौसम मे उसमे सिलवटे पडने लगती है।

सिकुड़न, तापमान और तनाव

मशीन बने कागज मे सीधी दिशा मे ततुओ के अभिविन्यास का प्रभाव सीधी दिशा मे सिकुडन पर लगायी जानेवाली रोक से और भी अधिक हो जाता है। कागज केवल आडी दिशा मे ही सिकुड सकता है। और फिर, सुखाने के उच्च तापमान के कारण कागज मे यह 'तनाव' सीधी दिशा मे 'समाविष्ट' होता है एवम् वह तथाकथित 'सूखा हुआ तनाव' होता है।

यह बहुत अजीब बात है कि सुखाने के वक्त जिन तनावो का समावेश किया जाता है उनका स्थायी प्रभाव पडे। अक्सर कागज को आडी दिशा की अपेक्षा सीधी दिशा मे ही कम प्रसरण होने का स्मरण कैसे होता है ? ऐसी किसी भी प्रक्रिया से जो इस स्मृति का लोप कर दे अथवा मिटा दे, कागज के ताव मे इस प्रकार का परिवर्तन सम्भव होना चाहिये कि दोनो ही दिशाओ मे उसका समान विस्तार हो।

सुखाने के वक्त सिकुडन का यह सवाल, स्वभावत, तन्तु से नमी दूर करने से पडनेवाले पृष्ठ-तनाव (सरफेस टेन्शन) के कारण, तन्तु बन्धन से सम्बद्ध है।

यदि मशीन कागज को आर्द्र किया जाय, आडी दिशा मे ताना जाय और मामूली तनाव के साथ गर्मी दे कर सुखाया जाय तो कागज मे से 'सूखे हुए खिचावो' मे परिवर्तन करना सम्भव हो सकता है और नमी मे परिवर्तनो के फलस्वरूप उसमे भविष्य मे आडी दिशा मे कम विस्तार होगा।

कागज अनुकूलन

एक अन्य महत्वपूर्ण पर्यवेक्षण यह है कि कागज अनेक आर्द्रता चक्रो से गुजरने अथवा दीर्घ काल तक ६५ प्रतिशत सापेक्ष आर्द्रता के अन्तर्गत रहने पर थोडा-सा सिकुड जाता है। एक बार सिकुडन आ जाने पर वह समुचित रूप से स्थायी बन जाती है। यह बात मशीन से बने कागज के सम्बन्ध मे खास तौर पर सही है, जिसे ऊष्मा प्रदान करके सुखाया जाता है और इसलिए वह आडी दिशा मे अधिक सिकुड जाना है।

हाथ कागज उद्योग में

१ हाथ कागज मे आडी और सीधी दिशाएँ नही होती। इसलिए दोनो ही दिशाओ मे विस्तार समान होता है।

२ हाथ कागज हवा मे सुखाये जाते है इसलिए उनमे बुरी तरह सिकुडन पैदा हो जाती है। अतएव हाथ कागज मे समस्या विस्तार की है। यह समस्या मशीन बने कागज के आडी दिशा मे विस्तार की समस्या के समान है। लेकिन इस पर्यवेक्षण को कि खीचे हुए और ऊष्मा प्रदान कर सुखाये हुए कागज मे कोई विशेष अस्थिरता नही होनी, कागज के तावो मे से पानी निकालते वक्त भारी दबाव डाल कर अपनाया जा सकता है।

३ इसी प्रकार पुनरावृत्त आर्द्रता और सुखावन से भी कागज को स्थिरता प्राप्त होती लगती है। सुखाने, माढी देने तथा पुन सुखाने व माढी देन की क्रिया करके हाथ कागज के सम्बन्ध मे उक्त बात प्रयुक्त की जा सकती है। ऐसी कोशिश करके देखना अच्छा होगा।

४ पेषण (बीटिग) की सीमा और तन्तु के गुण-धर्म पारिमापिक स्थिरता के लिए आशिक रूप मे उत्तरदायी है। यह परीक्षण करना लाभदायक रहेगा कि पेषण सीमा को कम करते हुए वाछित मजबूती किस तरह रखी जा सकती है। इस सम्बन्ध मे 'सरेश माढी' के महत्व का निकट से अध्ययन करना वाछनीय है। वस्तुत इस सम्बन्ध मे इग्लिश हाथ कागज उद्योग एक रास्ता प्रशस्त करता है। वहाँ का ततु (लिण्टर) निम्न कोटि का है, लेकिन वहाँ 'सरेश माढी' की सीमा हमारी सरेश माढी की सीमा (लगभग पाच प्रति शत), की तुलना मे बहुक अधिक (करीब १४ प्रति शत), है।

५ बास एक ऐसा ततु प्रदान करता है, जिसमे बेहतरीन पारिमापिक स्थिरता है। इसके उपयोग पर विचार करने की आवश्यकता है।

६ सुखावन के तापमान का स्थायी असर पडता है और वह 'सूखा हुआ खिचाव' पैदा करता है। चन्द मामलो मे कागज ऊष्मा देकर, खास कर 'तावसुकी' की मदद लेकर, सुखाये जा सकते है।

७ जहाँ तक कागज के अनुकूलन का सवाल है, यह ध्यान देनें की बात है कि उसका अनुकूलन छपाई के लिए काम मे लायी जानेवाली आर्द्रता की अपेक्षा कम आर्द्रता की स्थिति मे किया जाना वाछनीय है। इसका परिणाम यह निकलता है कि प्रथम रगीन छपाई के दौरान जो अतिरिक्त नमी कागज मे समा जाती है, दुबारा छपाई शुरू होने से पहले निकल जाती है।

यदि हाथ कागज को बाजार मे अपना उपयुक्त प्राप्त स्थान करना है तो पारिमापिक स्थिरता का विषय बहुत महत्वपूर्ण है और उसका विस्तृत अध्ययन करने की आवश्यकता है।

बम्बई १८ मई १९६४

सन्दर्भ

एफ. एल हडसन और एन जे हेन्सियस ब्रिटिश पेपर और बोर्ड मेकर्स एसोसिएशन के प्राविधिक विभाग की कार्यवाही, खण्ड ४०, भाग १, १९५९, डी आर कोल और एफ एल हडसन पेपर टेक्नोलॉजी, वर्ष २, अक ५, १९६१, सयुक्त राष्ट्र सघ सयुक्त राष्ट्र सघ के १९६२ में सपन्न एशिया और सुदूर पूर्व में लुग्दी तथा कागज विकास सम्बन्धी सम्मेलन की कार्यवाही में जे ग्रैण्ट की रचना यूज ऑफ शोर्ट फायबर्ड पल्प इन प्रिंटिग पेपर्स—छपाई के कागजों में छोटे तन्तुओं की लुग्दी का उपयोग।

*

भारत में मधुमक्खी-पालन

आपके लेख* मे आपके कार्य का बडा ही रोचक विवरण है जोकि मधुमक्खी-पालन मे रुचि लेनेवाले लोगो के लिए दिलचस्प है। हमारे सामने भी बहुत कुछ वैसी ही समस्याएँ है।

आपने भारतीय मधुमक्खी ***एपिस इंडिका*** का जो जिक्र किया है, मुझे अच्छा लगा। मै मेथडिस्ट चर्च के अन्तर्गत एक शैक्षणिक मिशनरी के तौर पर २५ वर्षों तक चीन मे रह चुका हूँ। वहाँ मै जन्तुविज्ञान पढाता था और साथ ही कृषि मे विस्तार कार्य भी करता था। काफी समय तक मैने ***एपिस इंडिका*** का प्रहस्तन और अध्ययन किया और चन्द प्रयोग भी। मै हमेशा स्कूल मे कई मधुमक्खी-घर रखता था और प्राय गाँवो मे यह देखने जाया करता था कि ग्रामीण किस तरह मधु-मक्खी पालते है। मुझे यह बडा ही चित्ताकर्षक लगता था और मैने इसका बहुत आनन्द उठाया।

आपने ***इंडिका*** का स्थान लेनेवाली मधुमक्खियो के आयात की सम्भावना का जिक्र किया है। जिन डाक्टर स्पेसर हँच का जिक्र आपने किया है, वे मेरे मित्र थे। जब वे भारत मे थे तो हमारे बीच भारत मे इता-लियन मधुमक्खी लाने के सम्बन्ध मे पत्र-व्यवहार हुआ और उन्होंने मुझे अपने आयातो के विषय मे लिखा। बाद मे मै डा हँच से प्रथम बार मेक्सिको मे मिला। वे वाय एम सी ए के लिए एक कृषि अनुसधान केन्द्र तथा बालकों के लिए स्कूल खोलने के प्रयत्न मे थे। मैने मधुमक्खी-पालन मे उनकी सहायता की और उनके चले जाने के बाद कुछ समय तक मै ही उनकी देख-भाल करता रहा। जब डा हँच कास्टा रीका मे थे और छुट्टी पर जाना चाहते थे तो उन्होने मुझे ९ महीने के लिए अपना काम सम्भालने हेतु निमत्रित किया और मै वहाँ पहुँच गया। कोई एक साल पहले, उससे भी कुछ कम समय हुआ, वे गुजर गये।

जैसा कि आपने अपने लेख मे बताया है मधुमक्खियो का आयात खतरनाक सिद्ध हो सकता है क्योंकि उनके साथ ही नयी बीमारियाँ और परजीवि कीटाणु भी आ सकते है। अमेरिकी और यूरोपीय फाउल-ब्रूड (मधु-मक्खियो की एक बीमारी) बीमारी ससार मे हर जगह फैली हुई है, अत अगर मधुमक्खियो के आयात करने से सिर्फ उसी बीमारी का खतरा है तो कोई बात नही है। यदि पहले से ही वहाँ वह बीमारी हो तो इससे कोई नुकसान नही होगा, लेकिन पहले हमे यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि कोई बीमारी नही है।

चीन मे कोई फाउल-ब्रूड बीमारी नही थी। वहाँ के अपने २५ वर्ष के जीवन मे जितने भी मधुमक्खी-घर मुझे मिले, मैने सबको देखा, परन्तु मुझे कोई भी बीमारी-वाला मधु-घर नही मिला। क्या भारतीय मधुमक्खियों मे उक्त फाउल-ब्रूड बीमारी मिलती है? इसका अध्ययन बडा ही दिलचस्प होगा कि कोई ऐसी भी जगह है जहाँ कि यह बीमारी न हो।

चीन मे १९२२ अथवा १९२३ के आस-पास मधुमक्खी-पालन के लिए लोगो मे होड लगी हुई थी। जापान से (हो सकता है कि अन्य जगहो से भी) अनगिनत मधु-मक्खियाँ जहाज के जरिये मगायी जा रही थी और अधिकाश मधुमक्खियाँ चीन के उत्तरी भाग मे जा रही थी। परन्तु भेजनेवाले लापरवाह थे, इस कारण कुछ वैसे छत्ते भी आ गये जो फाउल-ब्रूड से पीडित थे। शीघ्र ही उत्तरीचीन के कई भागो मे यह बीमारी फैल गयी। मुझे प्रथम बार यह बीमारी १९२५ मे दक्षिण-पूर्व चीन के फ्यूकीन प्रात मे देखने को मिली— इतालियन मधुमक्खियो के सिर्फ एक छत्ते मे यह बीमारी थी और वह छत्ता चीन के उत्तरी भाग से हीआया था।

मैने अमेरिका से कुछ काकेशियन और इतालियन (बीमारी रहित) मधुमक्खियों का आयात किया और उन दोनो का तुलनात्मक अध्ययन बडा दिलचस्प रहा। चीनी मधुमक्खियाँ ***एपिस इंडिका*** इतालियन मधु-मक्खियो के मुकाबले ठडे मौसम मे काम करती, हल्की बारिश में ज्यादा काम करती और सुबह में इतालियन मधुमक्खियो से भी पहले काम करने निकल जाती। उत्तर चीन मे अनुभव यह रहा कि चीनी-मधुमक्खियो-

---

* "भारत में मधुमक्खी-पालन," सुभाष चन्द्र सरकार, खादी ग्रामोद्योग, मार्च १९६४।

वाले क्षेत्र में इतालियन मधुमक्खियों के रख देने पर चीनी मधुमक्खियाँ धीरे-धीरे लुप्त होने लगी।

चीनी मधुमक्खियाँ सामान्यतया साल मे ५ या ६ पौंड, सभवत ८ पौंड भी, शहद देती थी, परन्तु जब मैंने एक छोटे आकार का मधुमक्खी-घर बनाया, जोकि लैंग्सट्राथ आकार का तीन-चौथाई था, तो इंडिका छत्ते से ४० पौंड शहद प्राप्त हुआ।

एपिस इंडिका को अभी से और भी अच्छा काम करने के लिए चुना जा सकता है, परन्तु चुनाव मे समय अधिक लगता है। इस बात के प्रमाण है कि आस्ट्रिया के मधु-पालक १८७९ मे कई प्रदेशो को रानी-मक्खियाँ और अडे (नुकलिआई) बेचा करते थे। उन्हे शहद मे दिल-चस्पी न थी। वे सिर्फ मधुमक्खियो की बिक्री मे ही रुचि रखते थे, इसलिए छोटे-छोटे मधु-घरों मे मधुमक्खियाँ भर दिया करते थे और अब कार्नियोलन मधुमक्खियाँ इसके लिए मशहूर हो गयी है कि एक छत्ते मे वे बहुत अधिक सख्या मे रहती है। कुछ मधुमक्खी-पालक उस कारण उन्हे नही चाहते, परन्तु मैने उन्हे पाल कर देखा है और मुझे वे बहुत पसन्द है। जहाजों मे मधुमक्खियाँ भर-भर कर लाने का समय सन् १८७९ अकित है, परन्तु चुनाव तो बहुत पहले से हो रहा था। हमारे लिए भारतीय अथवा चीनी मधुमक्खियो मे सुधार करने से सस्ता पडेगा चुनिन्दा इतालियन अथवा काकेशियन या कार्नियोलन मधुमक्खियो का उपयोग करना। मै अर्जेंटाइना के एक मधु-पालक से पत्र-व्यवहार कर रहा हूँ। मै नही जानता कि उन्होने किस तरह की मधुमक्खियो से काम आरम्भ किया, परन्तु कोई ५० वर्ष पहले उन्होंने इटालियन मधुमक्खियो का आयात किया और उन्हे अपनी मधुमक्खियो से अधिक उत्पादक पाया। तब मै उन्हे काकेशियन मधुमक्खियो के बारे मे लिखा करता था जिनका उन्होने आयात किया और उन्हे इटालियन मधुमक्खियो से भी अच्छा पाया।

मधुमक्खी-पालन मे मेरी रुचि शौकिया और वैज्ञानिक दृष्टि से है। व्यावसायिक मधुमक्खी-पालन मे मेरा कोई अनुभव नही है। मेरे पास सिर्फ तीन छत्ते है और मधुमक्खियाँ है काकेशियन। कनाडा मे एक व्यक्ति दस वर्षों से उत्तम काकेशियन मधुमक्खियो का उत्पादन कर रहा है और मेरा विश्वास है कि उसके पास देश में उपलब्ध सर्वोत्तम नस्लो मे से एक की मधुमक्खियाँ है। उसकी प्रजनक रानी मक्खियो की माँग आस्ट्रेलिया, पौलैंड, इग्लैंड, अमेरिका आदि मे है और प्रति रानी-मक्खी उसे २० डालर (करीब १०० रुपये) मिलते है। पिछले वर्ष तो उसके पास इतनी माँग थी, जितनी मक्खियाँ उसके पास नही थी।

मेरे पास उसकी रानी-मक्खियों की नतिनियाँ है और मेरे पास अब तक की मधुमक्खियो मे वे सर्वोत्तम है। श्री हेस्टिंग्स कैलिफोर्निया के एक मधु-पालक (जिसके पास विशुद्ध काकेशियन मधुमक्खियो का बागान है) को अपनी मधुमक्खियाँ बेचते है (तथा अन्य देशो के मधुमक्खी-पालको को भी बेचते है) और उसके पास प्रजनक रानी मक्खियाँ है। उसने अपने पास के ३ से ५ मील के अन्दर के सभी मधु-बागानो को रानी-मक्खियाँ दी है और इसलिए उसके बागान के आस-पास की सभी नर-मक्खियाँ विशुद्ध काकेशियन है। युवा रानी-मक्खियाँ समागम के बाद, १ ६० डालर मे एक की दर से, बेच दी जाती है, और मै वैसी ही रानी-मक्खियाँ खरीदता हूँ। वे बहुत अच्छी है।

मै भारत मे प्राप्त **एपिस इंडिका** के विषय मे और ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ। क्या इन मधुमक्खियो के विषय मे सरकार कोई प्रकाशन प्रसारित करती है? क्या **एपिस इंडिका** पर किये गये अनुसधान की जानकारी आपके पास उपलब्ध है? क्या किसी ने परजीवी कीटाणुओ का अध्ययन किया है? मैने कही पढा है कि भारत मे **एकारपिस वूडाई** मिला है। क्या भारत मे ***नोसेमा एपिस*** प्राप्य है? मुझे पता नही कि चीन मे यह उपलब्ध है अथवा नही, परन्तु अमेरिका मे तो है।

—क्लॉड आर. केलॉग

६५० वेस्ट हैरिसन एवेन्यू,
क्लेअरमोंट, कैलिफोर्निया (स रा अ)
१९ जून १९६४

पंचायत राज के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन

हबीबुर रहमान

भारत के विकास मे एक बाधा इस तथ्य के कारण है कि औद्योगिक क्रांति होने के पूर्व ही यहाँ राजनीतिक, सामाजिक और प्राविधिक क्षेत्रो मे बडे परिवर्तन नही हुए। लोगो की जीवन पद्धति और उनके विचार पर अब भी परम्परा हावी है। लोगों को जागरूक बनाने मे लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण से बहुत मदद मिल सकती है।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया को देश की परम्परागत सामाजिक और आर्थिक रचना से अलग नही किया जा सकता। उससे अलग हो इसका अध्ययन भी नही किया जा सकता। सिद्धान्त और व्यवहार मे अन्तर इसलिए है कि परम्परागत सिद्धान्त तथा वर्तमान आदर्श बेमेल आर्थिक अथवा अर्द्ध यात्रिक सम्बन्धो पर आधारित है, जोकि परम्परागत स्वरूप को एक देन तथा अनुकूल बीज मानते है। विश्लेषण करने से यह ज्ञात होगा कि सस्थात्मक सुधार के मामले मे अबन्ध-नीति दर्शन न सिफ अव्यावहारिक, बल्कि गलत भी है। उत्पादन के तरीके मे परिवर्तन से राजनीतिक, सामाजिक और यहाँ तक कि धार्मिक पद्धतियो तक मे परिवर्तन होता है, परन्तु अनुवर्ती मे कोई परिवर्तन हो तो उनका प्रभाव पूर्ववर्ती पर भी पडता है।

संस्थात्मक स्वरूप और आर्थिक परिवर्तन

सस्थात्मक परिवर्तन आर्थिक परिवर्तनो के 'अनुषगिक प्रभाव' हो सकते है, परन्तु सस्थात्मक परिवर्तन भी इतने शक्तिशाली होते है कि वे आर्थिक प्रभावो को समाप्त अथवा नियत्रित कर सकते है। पूर्व-औद्योगिक और पूर्व-प्रौद्योगिक समाज की सस्थात्मक व्यवस्थाओ ने प्राय आर्थिक विकास की गति मे बाधा डाली है। प्राचीन और आधुनिक क्रिया के झगडे के कारण, कम विकसित देशो मे सामान्यतया और भारत मे विशेषतया, परम्परा से लोग कुछ हट गये है। वेबलेन (Veblen) की यह धारणा कि सस्थात्मक परम्पराएँ सामाजार्थिक सुधारो को विकास की गति रोक और समाप्त कर मिलावटी बना देती है, हमारे देश के लिए तो सही है ही।

पश्चिम तथा सोवियत सघ मे भी आर्थिक विकास की प्रक्रिया के पहले अथवा बाद मे दूरव्यापी सामाजिक-सास्कृतिक परिवर्तन हुए। यूरोप मे पुनरुद्भव और प्रोटेस्टेण्ट सुधारो ने लोगो की भावनाओ और धार्मिक शक्तियो को धर्मनिरपेक्ष कार्यो की ओर मोडा। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने एक नया जीवन प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप कट्टरपन, अधविश्वास और रीति-रिवाजो मे बहुत अधिक विश्वास का स्थान प्रायोगिक और उपयोगितावादी किस्म के व्यवहारवादी परीक्षणो ने ले लिया।

स्वतंत्र व्यक्ति का प्रादुर्भाव

अत यूरोप मे बौद्धिक और आर्थिक विकास ने स्वतत्र व्यक्ति को पैदा किया, जिसमे निष्ठापूर्वक और सोत्साह काम करने, नियमितता बरतने तथा समय पर कार्य करने की भावना है, और जोकि धन उत्पादन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त जनता का राजनीतिक रूप मे एक होकर मजबूत केन्द्रीय और राष्ट्रीय राज्य के निर्माण, सर्फडम और गुलामी के अन्त तथा अवसरो की समानता ने गहरा प्रभाव डाला। जहाँ कही भी प्रतियोगात्मक प्रक्रिया असफल रही, वहाँ सरक्षणात्मक और सहकारी विधियो को अपनाया गया। सामाजिक विचार मे कट्टरता को दूर करने

के लिए मनोवैज्ञानिक और आदर्शात्मक आन्दोलनो एव व्यक्तिवादी दार्शनिक सिद्धान्तो ने एक नये यूरोप का निर्माण किया जोकि आधुनिक ज्ञान और तकनॉलाजी के उपयुक्त हो। इसका श्रेय लूथर, कॅलविन (Calvin), गेलिलियो, न्यूटन आदि को है जिन्होने कि परम्परा से बधे समाज को एक प्राणवान और नव-सस्कृतियों को अपनानेवाले समाज मे बदल डाला। भाषान्तरण और परिवर्तन की प्रक्रिया यूरोप, सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ मे भी जारी है।

परम्परागत समाज

परन्तु भारत मे सामाजिक विकास की पद्धति ने सामाजिक-सास्कृतिक परिवर्तन के उस पथ का अनुगमन नही किया जिससे होकर यूरोप औद्योगिक क्रान्ति के वक्त तथा उसके बाद गुजरा। पश्चिम मे पहले जागरूकता आयी और तब हुआ विकास, परन्तु भारत मे हम विकास के जरिये लोगो को जागरूक बनाने की कोशिश कर रहे है। हमारी राह मे एक बाधा यह थी कि भारत मे पश्चिम की तरह राजनीतिक, सामाजिक और प्राविधिक क्षेत्रो मे कोई बडा परिवर्तन नही हुआ, जोकि फलस्वरूप उसे बौद्धिक, कृषिक और औद्योगिक क्रातियो के लिए तैयार कर सकता था। भारतीय समाज राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनिक सुधारो के बावजूद परम्पराबद्ध तथा वर्ग-मुखी रहा। सयुक्त परिवार, जातिवाद, 'समय-चक्र और नैसर्गिक-परिवर्तन' एव ' विश्वास' सिद्धान्त ने विरक्ति, त्याग और अध-विश्वास को जन्म दिया। ये शक्तियॉ वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष समाज की विरोधी थी और इसलिए इन्होने विकास की गति को रोका तथा सरकार एव जनता द्वारा उठाये गये क्रातिकारी कदमो को धीमा कर दिया।

बाधक कारक

हम भारतीयो मे से अधिकाश ने 'परम्परागत गुणो और पूर्वजो के सूक्ष्म दर्शन' को अधिक महत्व दिया। व्यापक मताधिकार ने जितनी समस्याओ का हल नही किया, उससे अधिक समस्याएँ खडी कर दी, क्योकि इसने जातिवाद और वर्गवाद को मजबूत बनाया जिससे कि विखडित होने की ओर झुकाव बढा। नेताओ के समर्थन, कानूनी उपायो और नये विचारो के बावजूद जनता आमूल सुधार अपनाने मे हिचकती रही। सस्थाओ के श्रेणी-विभाजन, भाग्य पर बहुत अधिक विश्वास, भ्रष्टाचार, प्रशासनिक कमियो और कार्यान्विय मे भाग न लेने के कारण भूमि सुधार के लिए किये गये उपाय बेकार हो गये। ये चीजे सही अनुशासन, अनुभव सिद्ध खोज तथा सामाजिक और भौतिक विकास के लिए ऐच्छिक एव व्यक्तिगत पहल पैदा नही कर सकी। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जातिगत भावना, गतिहीन और भाग्यवादी रुख, अदक्ष जनशक्ति तथा पूँजी-स्रोत की कमीवाली हमारी अधर्मनिरपेक्ष और अप्राविधिक पद्धतिवाली सस्थाओ ने आर्थिक विकास को अवरूद्ध किया है।

पंचायत राज की भूमिका

भारतीय समाज के पुनर्नवीनीकरण हेतु आन्तरिक परिवर्तन की आवश्यकता है, क्योकि जिन परिवर्तनो को आम लोग चाहते है उन्हे समाज पर थोपे जानेवाले परिवर्तनो के बनिस्बत अधिक सहज समर्थन मिल जात है तथा कार्यान्वियन भी हो जाता है। कृषि उत्पाद वृद्धि तथा ग्राम निर्माण मे प्रत्येक व्यक्ति की सेवा क आवश्यकता है, जिसे कि जनता को जागरूक बनाने बिना किसी सस्था की सहायता लिए प्राप्त नह किया जा सकता। पचायत राज सबसे महत्वपूर्ण सस्थ है जोकि इस दिशा मे सर्वाधिक योगदान दे सकती है ग्रामीण भारत मे सामाजिक और आर्थिक परिवर्त लाने के लिए योजना आयोग भी ग्राम पचायतो को ह उपयुक्त अभिकरण मानता है। राजस्थान मे २ अक्तूब १९५९ को पचायत राज का उद्घाटन करते हुए श्र जवाहरलाल नेहरू ने इसे एक क्रातिकारी घटना क था, जिसका उद्देश्य जनता तक स्वराज पहुँचाना, उ स्वय शासन चलाने मे सहायता देना और पुनर्निर्मा

तथा विकास कार्यों के कार्यान्वय मे दर्शक के बदले सजग कर्त्ता बनकर भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना है।

मूल्यों मे परिवर्तन

पचायत राज आन्दोलन के उद्देश्यो को प्राप्त करना आसान नही है, क्योकि इसे पिछडे, खडित और जाति-बद्ध समाज का–जोकि पुरानी परम्पराएँ निभा रहा है और पुराने तरीके अपनाये हुए है–सामना करना है। इस तरह के समाज को न सिर्फ बुनियादी सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की जरूरत है बल्कि एकीकृत और समन्वित समाज मे परिवर्तित होने की भी आवश्यकता है, जिसमे जनता का उच्च जीवन-स्तर हो। और, इसके लिए अर्ध-सामन्तवादी और परम्परागत समाज को प्राविधिक रूप से चेतन समाज मे न सिर्फ अच्छे, पुराने, ललित और नैतिक सिद्धान्तो को बनाये रखते हुए, बल्कि नये सामाजिक मूल्यो और सब समाज का सदस्य होने की भावना रखते हुए बदल देने की जरूरत है।

आज भारतीय गॉवो मे ग्रामीणो की जीवन-पद्धति बदलने, नयी तकनीको और विचारों के समावेश और ग्रामोन्नयन के उपयुक्त नयी सस्थाओ के निर्माण की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार और ऐच्छिक सस्थाओ द्वारा आरम्भ किये गये कार्य चल रहे है।

यद्यपि पचायत चुनावो पर गॉव की शान्ति भग करने का दोष लगाया जाता है, तथापि वे उसे जागरूक और एक बनाने के लिए बडे शक्तिशाली स्रोत सिद्ध हुए है। कई जगहो मे तो सत्ता प्राप्त करने के लिए ही नही, ऊँची जात के लोगो ने निम्न जाति के लोगो के साथ समझौता किया है। इसके लिए ऊँची जातिवालो ने निम्न जातिवालो को कुछ रियायते दी है। राजनीतिक दलो ने ग्राम राजनीति मे हस्तक्षेप न करने का आश्वासन देते हुए भी परोक्ष रूप से उसमे भाग लिया है। अब तो शिक्षित युवक भी पचायती मामलो मे भाग ले रहे है और कृषि के विकास तथा लघु उद्योगो की स्थापना मे अपना योगदान दे रहे है। इन परिवर्तनो के जरिये जाति और सम्बन्धियो के प्रति वफादारी की जगह गॉव के प्रति वफादारी ले रही है, और भारतीय गॉवो की सामाजार्थिक गतिहीनता का स्थान स्वावलम्बी और स्वशासित ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था ले रही है।

अलीगढ, १९ मई १९६४

भारत में १९५३–५४ और १९५९–६० वर्ष के जोत-वितरण की जानकारी के अनुसार आम तौर पर हमने यह पाया है कि मालिकी और कास्तकारी, दोनो ही किस्मो की जोत बहुत अधिक संकेंद्रित है। वर्ष १९५३–५४ तथा १९५९–६० के बीच भूमि सुधार के कई तरीके अपनाये जाने के बाद भी असमानता में कोई खास कमी नहीं आयी। वर्ष १९५३–५४ मे सर्वोच्च एक प्रति शत परिवारो के पास १७ प्रति शत, उच्च ५ प्रति शत के पास ४१ प्रति शत और उच्च १० प्रति शत परिवारो के पास ५८ प्रति शत मालिकी भूमि थी। वर्ष १९५९–६० में ये अनुपात क्रमश: १६ प्रति शत, ४० प्रति शत और ५६ प्रति शत थे। निम्न २० प्रति शत परिवारो के पास इन दोनों ही वर्षों में अपनी जमीन थी ही नही।

—*रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी ऑन डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड लेवल्स ऑफ लिविंग*, पार्ट १ (डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड वेल्थ एण्ड कसेण्ट्रेशन ऑफ इकनॉमिक पावर)

मैसूर के दो गाँवों में कर्जदारी

वन्दार वेंकप्प शेट्टी

प्रस्तुत लेख मे मैसूर राज्य के दो गाँवो, हगरी बोम्मन हल्ली (ह बो हल्ली) और चित्रपल्ली का इस दृष्टि से अध्ययन किया गया है कि उनमे कर्जदारी कितनी और किस प्रकार की है तथा उधार लेनेवाले और देनेवाले अभिकरणो के विभिन्न वर्ग कौन कौन से है।

भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि किसानो पर कर्ज का भार बहुत अधिक है। यह सर्व विदित है कि किस हद तक किसान साहूकार की दया पर निर्भर है। लगभग ६० वर्ष पूर्व भारत मे सहकारी आन्दोलन के प्रारम्भ के साथ किसान को उसकी वित्तीय आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे सेठ-साहूकार और जमीदारो के पंजो से मुक्त करवाने का एक प्रयास किया गया, लेकिन यह प्रयास किस हद तक सफल हुआ वह इस बात से स्पष्ट हो गया जब कि ग्रामीण उधार सर्वेक्षण के प्रतिवेदन मे यह बताया गया कि सहकारी आन्दोलन किसानो की कुल वित्तीय आवश्यताओ के तीन प्रति शत हिस्से से अधिक की पूर्ति नही कर सका है। कुछ समय से सहकारी अभिकरण तथा सरकार दोनो ही ग्रामीणो की वित्तीय आवश्यकताएँ अधिकाधिक रूप से पूरी करने की कोशिश कर रहे है। आर्थिक परिवर्तन की दृष्टि से इन बातो का बहुत म व है (१) किसी एक निश्चित अवधि के दौरान ग्रामीणो पर कर्जदारो, (२) विभिन्न वर्गों मे कर्जदारी, और (३) परम्परागत, सरकारी और सहकारी अभिकरणो द्वारा प्रदत्त रकम का अनुपात।

प्रस्तुत लेख मे मैसूर राज्य मे बेल्लारी जिले के दो गाँवो के निवासियो की कर्जदारी का परीक्षण किया गया है। गाँवो के नाम है, चित्रपल्ली और हगरी बोम्मन हल्ली (ह बो हल्ली)। पूना स्थित 'गोखले इन्स्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स' के तत्वावधान मे इन गाँवो का १९५७-५८ मे सर्वेक्षण किया गया था। सर्वेक्षण के वक्त ह बो हल्ली मे १,०१८ और चित्रपल्ली मे २८८ घर थे। उक्त दोनो गाँव पास-पास है, लेकिन ह बो हल्ली चित्रपल्ली की तुलना मे अधिक शहरीकृत है। प्रथम मे लगभग ४० प्रति शत घर ही खेती पर निर्भर करते थे, जबकि द्वितीय मे करीब ९० प्रति शत परिवार कृषि मे लगे थे।

कर्जदारो की आम हालत

सर्वेक्षण के समय ह बो हल्ली पर कुल ४,४२,८३० रुपये और चित्रपल्ली पर ८५,०६० रुपये कर्ज था। ह बो हल्ली मे प्रति व्यक्ति कर्ज चित्रपल्ली के प्रति व्यक्ति ६८ रुपये कर्ज की तुलना मे ९० रुपये था। इसके विपरीत ऐसी भी जानकारी मिली है कि गाँव के कई लोगो ने स्वयम् गाँव अथवा बाहर रुपये ऋण स्वरूप दिये है। इस प्रकार ऋणस्वरूप दिया गया धन ह बो हल्ली मे २,१०,०३० रु और चित्रपल्ली मे १२,३७० रुपये था। गाँव की कर्जदारी की तुलना मे ह बो हल्ली मे यह ४३ प्रति शत और चित्रपल्ली मे करीब १० प्रति शत था। यह मानते हुए कि उक्त समूची रकम गाँव के अन्दर ही दी गयी तो भी ह बो हल्ली मे २,३२,८०० रुपये और चित्रपल्ली मे ६२,६९० रुपये की कमी रहती है। ये कमियाँ अन्य गाँवो के स्वतंत्र व्यक्तियो अथवा उधार देनेवाले अभिकरणो द्वारा अवश्य ही पूरी की गयी होगी।

बताया गया कि ह बो हल्ली मे ७४,३९० रुपये

* लेख मे व्यक्त विचार स्वयम् लेखक के है और योजना आयोग का प्रोग्रैम इवैल्यूएशन आर्गेनाइजेशन—कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन—उनके लिए उत्तरदायी नही है।

सर्वेक्षण वर्ष से पूर्ववर्ती वर्ष मे उधार लिये गये। चित्रपल्ली मे उक्त वर्ष मे ६,८०० रुपये लिये गये। इसी काल मे हु बो हल्ली ने ८८,७४० रुपये और चित्रपल्ली ने २२,६५० रुपये वापस लौटाये। उक्त वर्ष मे कुल कर्ज की तुलना मे हु बो हल्ली और चित्रपल्ली मे क्रमश २० और २७ प्रति शत कर्ज लिया गया तथा १७ और ८ प्रति शत वापिस लौटाया गया।

हु बो हल्ली मे ६३४ परिवार और चित्रपल्ली मे १४९ घर कर्जदार थे। यद्यपि अधिकाश परिवारो ने एक-एक बार ही उधार लिया, लेकिन कुछ परिवार ऐसे भी है जिन्होने तीन-तीन बार उधार लिया। हु बो हल्ली मे एक-एक उधार लेनेवालो का प्रातिशत्य ७३ और चित्रपल्ली मे २१ था। दो-दो बार उधार लेनेवाले परिवार १५ प्रति शत थे। चित्रपल्ली मे तीन-तीन बार उधार लेनेवाले परिवार कुल कर्जदार परिवारो के तीन प्रति शत थे, लेकिन हु बो हल्ली मे वे इसके तीन गुने प्रातिशत्य मे थे। हु बो हल्ली के कर्जदार ६३४ परिवारो ने ८६४ ऋण अथवा उधार लिये। चित्रपल्ली के १४९ कर्जदार परिवारो ने कुल १८४ ऋण लिये। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वेक्षण वर्ष मे ६२ २ प्रति शत परिवार हु बो हल्ली मे और ५१ ७ प्रति शत घर चित्रपल्ली मे कर्जदार थे।

उधार देनेवाले अभिकरण

इन गाँवो मे उधार देनेवाले अभिकरणो (एजेसियो) को आठ वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है। विभिन्न अभिकरणो ने जो ऋण दिया उसका विवरण तालिका १ मे दिया गया है। यदि हम समग्र चित्र पर विचार करे तो देखेगे कि हु बो हल्ली मे सरकार ने तकावी के जरिये कुल उधार का ४ ४ प्रति शत और सहकारी समितियो ने ३ ४ प्रति शत प्रदान किया है। इससे पता चलता है कि ग्रामीण उधार सर्वेक्षण के बाद तत्सम्बन्धी स्थिति मे कोई विशेष प्रगति नही हुई है, क्योकि चित्रपल्ली मे उक्त दोनो अभिकरणो का योगदान प्राय नगण्य है, जैसा कि तालिका १ से समझा जा सकता है। चित्रपल्ली की तुलना मे हु बो हल्ली मे

तालिका १

अभिकरणो के अनुसार बकाया ऋण का विवरण

(प्रातिशत्य)

अभिकरण	हु बो हल्ली		चित्रपल्ली	
	कुल उधार	कुल ऋण	कुल उधार	कुल ऋण
सरकार	४ ४	२ ७	० ५	० ६
सहकारी समिति	३ ४	३ ८	—	—
साहूकार	१७ ६	२९ ४	३ ३	७ ०
व्यापारी	२८ ०	२५ १	३९ ७	३१ २
भू-स्वामी	१६ ८	१७ ३	४० २	५२ ०
सम्बन्धी	९ ६	१० ८	२ ७	१ ९
अन्य अभिकरण	१४ २	७ २	२ २	१ ०
बिना ब्याज का उधार	६ ०	३ ७	११ ४	६ ३
योग	१०० ०	१०० ०	१०० ०	१०० ०
वास्तविक	८६४	४,४२,८३०रु	१८४	८५,०६०रु

महाजनो का महत्व बहुत अधिक है, जैसा कि तालिका १ से प्रकट होता है, कि उन्होने प्रथम गॉव मे कुल का ३ प्रति शत और द्वितीय मे कुल का १८ प्रति शत उधार उपलब्ध करवाया। ऐसा लगता है कि व्यापारियो ने विस्तृत पैमाने पर उधार देने का धधा अपना लिया है। दोनो ही गॉवो मे उन्होने सर्वाधिक उधार रुपया दिया। इनका प्रातिशत्य हु बो हल्ली और चित्रपल्ली मे क्रमश २८ तथा ४० था। भू-स्वामियो का भी महत्वपूर्ण स्थान है—खास कर चित्रपल्ली मे, जहॉ उन्होने ४० प्रति शत उधार दिया। साथी-सगियो और रिश्तेदारो से बिना ब्याज के लिया गया उधार हु बो हल्ली मे ६ प्रति शत और चित्रपल्ली मे ११ प्रति शत था।

सरकार, सहकारी समिति और महाजनो के मामले मे द्वितीय उधार का अनुपात प्रथम से कम था तथा तृतीय उधार, उन्होने, बिल्कुल दिया ही नही। व्यापारियो

के मामले मे, जहाँ तक ह् बो हल्ली का सवाल है, द्वितीय उधार का अनुपात प्रथम से ज्यादा था, यद्यपि तृतीय का अनुपात प्रथम दो से कम था। भू-स्वामियो, सम्बन्धियो तथा अन्य व्यक्तियो की पद्धति सरकार, महकारी समिति और महाजनो की पद्धति से ठीक विपरीत थी। इनके मामले मे तृतीय उधार का अनुपात प्रथम दो उधारो से अधिक था। सम्भवत जब सरकारी तथा अर्ध-सरकारी अभिकरण एक या दो से अधिक उधार देने मे असफल रहे तब स्वतत्र व्यक्तियो जैसे स्रोतो से सम्पर्क किया गया। ह् बो हल्ली मे तृतीय उधार का करीब ८६ प्रति शत भूस्वामियो, सम्बन्धियो और अन्य साथी-सगियो से प्राप्त किया गया। चित्रपल्ली मे तृतीय उधार का ४० प्रति शत कृषको ने दिया और शेष निर्व्याज रूप मे दोस्तो, साथियो अथवा सम्बन्धियो ने दिया।

तालिका १ मे विभिन्न अभिकरणो द्वारा दिये गये उधार की सख्या तथा ब्याज सहित बकाया रकम भी दिखायी गयी है। उधार देनेवाले अनेक अभिकरणो की बकाया रकम के अनुपात और दिये गये उधार की सख्या के अनुसार प्राप्त अनुपात मे थोडा अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिए, सरकार ने कुल का ४ ४ प्रति शत उधार दिया, लेकिन यदि हम कुल रकम को ले तो पता चलेगा कि ह् बो हल्ली मे यह प्रातिशत्य २ ७ है, हाँ! चित्रपल्ली मे इसका अन्तर अवश्य नगण्य है। इसी प्रकार महाजनो द्वारा दी गयी रकम की दृष्टि से हम विचार करे तो पता चलेगा कि दोनो ही गाँवो मे उनका स्थान काफी महत्वपूर्ण है—उधार की सख्या की दृष्टि से उनका प्रातिशत्य ह् बो हल्ली और चित्रपल्ली मे क्रमश १८ और ३ है, लेकिन अगर कुल रकम की दृष्टि से हम देखे तो यह प्रातिशत्य क्रमश २९ और ७ प्रति शत है।

आय के अनुसार कर्जदारी

उक्त गाँवो के कर्जदार परिवारो को नौ आय वर्गों मे विभक्त किया गया है, जैसाकि तालिका २ मे दिखाया गया है। यद्यपि कोई भी यह अपेक्षा कर

तालिका २

आय के अनुसार कर्जदारी

आर्य वर्ग	हगरी बोम्मन हल्ली			चित्रपल्ली		
	कुल परिवार	कर्जदार परिवार	कुल मे कर्जदारो का प्रातिशत्य	कुल परिवार	कर्जदार परिवार	कुल मे कर्जदारो का प्रातिशत्य
१०० रु तक	३	—	—	१	—	—
२५० रु तक	५१	२९	५६ ९	१३	१	० ८
५०० रु तक	१८६	१०२	५४ ८	४७	२१	४४ ७
७५० रु तक	२२९	१४७	६४ २	५८	४१	७० ७
१,००० रु तक	२३८	१५९	६६ ८	५०	२६	५२ ०
१,५०० रु तक	१५८	१०९	६९ ०	८०	३६	४५ ०
२,५०० रु तक	८४	५४	६४ ३	३२	१८	५६ ३
३,५०० रु तक	२१	११	५२ ४	६	५	८३ ३
३,५०० से ऊपर	४८	२३	४७ ९	१	१	१०० ०
योग	१,०१८	६३४	६२ ३	२८८	१४९	५१ ७

सकता है कि गरीबो मे कर्जदारी का अनुपात अधिक होगा लेकिन तालिका २ मे प्रस्तुत आकडो से इस निष्कर्ष पर पहुँचने मे मदद नही मिलती। ह बो हल्ली के मामले मे हम देख सकते है कि प्रारम्भ से लेकर परिवार की आय बढने के साथ ही कर्जदारी का अनुपात भी बढता है, और केवल १,५०० रुपये के आय-स्तर पर पहुचने के बाद ही कर्जदारी का अनुपात कम होने लगता है। तथापि, चित्रपल्ली के मामले मे यह एक अजीब बात है कि आय बढने के साथ ही मात्र कर्जदारी का अनुपात भी बढता जाता है।

कर्जदार परिवारो मे ह बो हल्ली मे न्यूनतम अनुपात (४८ प्रति शत) उन परिवारो का है, जिनकी वार्षिक आय ३,५०० रुपये से ज्यादा है। लेकिन चित्रपल्ली मे १०१–२५० रुपये तक के आय वर्ग के १३ परिवारो मे से केवल एक ही कर्जदार है। इस कर्ज को छोड कर बाकी के वर्गों मे केवल दो मामले—वे परिवार जो २५१–५०० और १,५०१–२,५०० रुपये वाले आय वर्गो मे आते है—ही ऐसे है, जिनमे कर्जदारी का न्यूनतम प्राति शत्य (करीब ४५) है। ह बो हल्ली मे कर्जदारी का अधिकतम अनुपात (६९ प्रति शत) उन परिवारो मे है, जो १,००१–१,५०० रुपये के औसत वार्षिक आय-वर्ग मे आते है। चित्रपल्ली मे ऐसा लगता है कि सबसे धनवान सबसे खराब हालत मे है। औसतन ३,५०० रुपय वार्षिक आयवाले सात परिवारो मे से छ पर कर्जा बताया गया है।

उधार का कारण

उधार लेने के मौसम के बारे मे दोनो गाँवो मे यद्यपि कोई समानता नही है तथापि मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जनवरी से लेकर जून के अन्त तक का समय उधार लेने की दृष्टि से व्यस्त मौसम है, क्योकि ८१ ९ प्रति शत उधार ह बो हल्ली मे और ८७ ६ प्रति शत चित्रपल्ली मे इसी अवधि के दौरान लिया गया। यदि हम इस तथ्य पर विचार करे कि जून तक खेती का काम शुरू हो जाता है तो यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि खेती के लिए जो कुछ रकम आवश्यक हो वह जून से पहले ले ली जानी चाहिये। यही समय विवाह-शादी का भी रहता है। तालिका ३ से इसकी पर्याप्त पुष्टि हो जाती है। उक्त तालिका मे कर्ज लेने के कारणों का विवरण दिया गया है। इस तालिका मे हम देखते है, उधार के बहुत बडे हिस्से की मवेशो और बीज

तालिका ३

उधार लेने के कारण

कारण	ह बो हल्ली				चित्रपल्ली			
	उधार सख्या	प्रातिशत्य	रकम रु	प्रातिशत्य	उधार सरया	प्रातिशत्य	रकम रु	प्रातिशत्य
अज्ञात	३	१ ३	१,५००	२ ०	—	—	—	—
भूमि खरीद	४	१ ७	२,६००	३ ५	१	३ १	३००	४ ४
पशु खरीद	२५	१० ८	९,५५०	१२ ८	९	२८ १	१,६१०	२३ ७
भूमि सुधार	२०	८ ७	५,११०	६ ९	१	३ १	१५०	२ २
मकान खरीद, मरम्मत आदि	१२	५ २	५,१२०	६ ९	१	३ १	४००	५ ९
गैर खेतिहर धधे	२१	९ १	९,२००	१२ ४	२	६ ३	२८०	४ १
मौजूदा कृषिक आवश्यकताएँ	६३	२७ २	१०,५००	१४ १	९	२८ १	१,०३०	१५ २
शिक्षा	२	० ९	१,१००	१ ५	—	—	—	—
विवाह व अन्य उत्सव	२३	१० ०	७,८८०	१० ६	८	२५ १	२,९३०	४३ १
दवा-दारू	१०	४ ३	१,५६०	२ १	—	—	—	—
अन्य घरेलू जरूरते	४६	१९ ९	१९,५००	२६ २	१	३ १	१००	१ ५
पहले के कर्ज की वापसी	२	० ९	७५०	१ ०	—	—	—	—
योग	२३१	१०० ०	७४,३९०	१०० ०	३२	१०० ०	६,८००	१०० ०

तथा खाद जैसी खेती सम्बन्धी अन्य चीजे खरीदने के लिए जरूर पडती है। इन कारणों के लिए सर्वाधिक अनुपात (२७ प्रति शत) मे उधार लिया गया। घरेलू आवश्यकताओं का स्थान दूसरा है। हृ बो हल्ली मे तत्सम्बन्धी प्रातिशत्य २० है। अन्य कारणों में हृ बो हल्ली मे २५ प्रति शत और चित्रपल्ली में १० प्रति शत उधार विवाह तथा अन्य धार्मिक उत्सवो सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए लिया गया।

उधार के लिए जमानत

दोनो गाँवों मे उधार के लिए जमानत के रूप मे अनेक प्रकार की सम्पत्ति पेश की गयी। इस प्रकार के मदों की सूची तालिका ४ मे दी गयी है। तालिका

तालिका ४
उधार के लिए जमानत

(उधार का प्रातिशत्य)

जमानत का प्रकार	हृ बो हल्ली	चित्रपल्ली
भूमि	२२ ८	२२ २
मकान	१३ ६	११ १
पशु	४ ५	कुछ नही
आभूषण	२७ ३	३३ ४
उपकरण	४ ५	कुछ नही
फसलादि	९ १	११ १
रुक्के	९ १	११ १
विवरण अप्राप्य	९ १	११ १
	१००=२३१	१००=३२

से देखा जा सकता है कि जमानत के रूप मे सर्वाधिक प्रचलित सम्पत्ति आभूषण है। उदाहरणार्थ २७ ३ प्रति शत उधार हृ बो हल्ली मे और ३३ ३ प्रति शत उधार चित्रपल्ली मे आभूषण गिरवी रख कर प्राप्त किया गया। तालिका ४ से ही यह भी प्रकट होता है कि भूमि और मकान को बन्धक रखना उधार प्राप्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण मार्ग था। दोनों गाँवों मे करीब २२ प्रति शत उधार भूमि बन्धक रख कर, और हृ बो हल्ली मे १४ तथा चित्रपल्ली मे ११ प्रति शत उधार मकान बधक रख कर प्राप्त किये गये। रुक्के, खडी फसल आदि पर भी उधार पैसा लिया गया और केवल हृ बो हल्ली मे ही कुछ उधार (नौ प्रति शत) पशु धन तथा उपकरणों पर प्राप्त किया गया।

गाँवो मे उधार साधारणतया लघु कालीन अवधि पर दिया जाता है। ऐसा इसलिए है कि महाजन अपनी उधारी यथा सम्भव जल्दी उगाहने को तरजीह देते हैं, यद्यपि फिर से उधार देने मे उन्हे कोई एतराज नही होता, क्योंकि उधार यदि दीर्घ-कालीन आधार पर दिया जाता है तो वापसी आगे खीची जाती रहती है और कुछ उधार डूब जाता है। इसलिए जब तक पुरानी उधारी वापिस नही की जाती, महाजन नया उधार देने के प्रति अन्यमनस्क होते है। लेकिन देनदार भी इस सम्बन्ध मे बडी अच्छी व्यवस्था कर लेते है, फसल काट कर वे पुरानी उधारी चुका देते है और फसल बोआई के समय अथवा अन्य किसी सकट के वक्त नये सिरे से उधार ले लेते है। हृ बो हल्ली मे करीब ५३ प्रति शत और पडोसी गाँव मे ७५ प्रति शत उधार एक वर्ष से कम समय के लिए लिया गया। हृ बो हल्ली और चित्रपल्ली दोनो ही गॉवो मे करीब ८४ प्रति शत उधार तीन वर्ष से कम अवधि के लिए लिया गया। करीब तीन प्रति शत उधार हृ बो हल्ली मे अधिकतम दस वर्ष की अवधि के लिए लिया गया, लेकिन चित्रपल्ली मे इतने लम्बे काल के लिए कोई उधार नही लिया गया।

अधिक उधार के लिए माँग

यह एक अजीब बात है कि अत्यधिक कर्जदारी (६२ २ प्रति शत परिवार कर्जदार थे) के बावजूद हृ बो हल्ली मे सर्वेक्षण से पहलेवाले वर्ष मे ३३ परिवार, बताया गया कि, उधार नही प्राप्त कर सके। लेकिन चित्रपल्ली के मामले मे ऐसा कोई मामला देखने मे नही आया। जिन कारणों के लिए उधार लिया गया उनके विश्लेषण

से पता चलता है कि १८ २ प्रति शत को भूमि खरीद अथवा भमि सुधार के लिए ऋण की आवश्यकता थी, जबकि २४ २ प्रति शत को पशु खरीदने और ३६ ४ प्रति शत को गैर-खेतिहर कामो के लिए उधार की जरूरत थी। तथापि, इन परिवारो को जितनी रकम की आवश्यकता थी, वह छोटी-छोटी रकम थी, क्योकि इन असफल मामलो मे ८८ प्रति शत व्यक्ति एक-एक हजार से कम रुपये उधार स्वरूप लेना चाहते थे।

उधार लेनेवालो ने जिन स्रोतो का उपयोग किया उससे पता चलता है कि महाजनो के बाद–जिनके पास ३३ ३ प्रति शत परिवारो ने कोशिश की– सरकार तथा सहकारी समितियो ने ऋण चाहनेवालों मे सबसे ज्यादा परिवारो के प्रार्थनापत्र खारिज किये। लेकिन यह जानना कठिन है कि किन कारणो को लेकर उन्होने ऐसा किया। तथापि, इन ३३ परिवारो को जिन कारणो से उधार की प्राप्ति नही हो सकी, इसका वर्गीकरण करने की कोशिश की गयी। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया कि ऋण या उधार प्राप्त करने की सामर्थ्य की कमी इन लोगो के रास्ते की मुख्य बाधा थी और इस कारण २९ ४ प्रति शत को असफल होना पड़ा। उधार प्राप्ति के इच्छुक २४ १ प्रति शत व्यक्तियो ने देखा कि उधार देनेवालों के पास पर्याप्त रकम नही थी।

शिमोगा (मैसूर) १६ अप्रैल १९६४

आबादी के विभिन्न वर्गों की असल आय में हुई सम्पूर्ण वृद्धि आय-वितरण पद्धति से सम्बन्धित आकड़ो और अनुमानो मे प्रतिबिम्बित नही होती। असल आय, विशेषकर निम्न आय वर्ग वालो की, सरकार द्वारा प्रदत्त कई सेवा-सुविधाओ के कारण अधिकाधिक प्रभावित होती जाती है, जिसकी झलक आय सम्बन्धी आकडो मे नहीं मिलती। कम-खर्च आवास, स्वास्थ्य, मुफ्त प्राथमिक शिक्षा और समाज कल्याण सेवा जैसी चन्द सेवाएँ निम्न आय वर्गों की अपेक्षतया असल आय अवस्था मे सुधार लाती है और इस तरह असल आय के वितरण-सकेन्द्रण को कम करने की कोशिश करती हैं।

—*रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी ऑन डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड लेवल्स ऑफ लिविंग, पॉर्ट १* (डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड वेल्थ एण्ड कसेण्ट्रेशन ऑफ इकनॉमिक पावर)

जम्मू और कश्मीर में रेशम उत्पादन का विकास

माखन लाल भट

जम्मू और कश्मीर में रेशम उद्योग की अवस्था रेशम-कीट-पालन में वैज्ञानिक तरीके अपना कर—ताकि विदेशी रेशम-कीटो के आयात पर निर्भरता कम हो—सुधारी जा सकती है। यह लेख राज्य में रेशम उद्योग के विकास की ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत करने के साथ ही उन समस्याओं पर भी प्रकाश डालता है, जिनका समाधान होने पर ही वह समृद्धि और अबाध विकास के दिन देख सकता है।

जम्मू और कश्मीर मे आज किसानो का सबसे बडा सहायक धधा है रेशम-कीट-पालन। इसमे करीब ३,००० लोगो को पूर्ण-कालीन और ७०,००० परिवारो को अश-कालीन काम मिलता है। लद्दाख तथा जम्मू प्रात की दो तहसीलो को छोड कर राज्य के सभी भागो मे रेशम-कीट पाले जाते है। इस उद्योग का आर्थिक महत्व, सम्पूर्ण देश के लिए भी, इस तथ्य से आका जा सकता है कि यह करीब ५० लाख लोगो को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से रोजगार प्रदान करता है और कुटीरोद्योगी कर्मियो को आठ करोड रुपयो से भी अधिक की शुद्ध आय कराता है।

कश्मीर की घाटी और जम्मू प्रान्त मे प्रकृति का विपुल भण्डार है और शहतूत के वृक्षो की भी बहुतायत है, जोकि रेशम-कीटो का मुख्य भोजन है और उन्होंने रेशम उद्योग को इस राज्य की अर्थ-व्यवस्था मे मुख्य स्थान दिलाया है। कभी शहतूत के वृक्ष घाटी मे इतने घने उगते थे कि चन्द भागो को आज भी 'तुला-तार' कहा जाता है। कहा जाता है कि "शहतूत के वृक्ष इतने पास-पास उगते थे कि लोग वृक्ष-वृक्ष ही एक गॉव से दूसरे गॉव जा सकते थे, जमीन पर पैर रखने तक की जरूरत नही थी।"[1]

कश्मीर मे रेशम उद्योग का कोई अधिकृत इतिहास नही है और न ही इसके आरम्भ की कोई निश्चित उपलब्ध तिथि बतायी जा सकती है, यद्यपि चन्द ऐतिहासिक स्रोतो से यह ज्ञात होता है कि राज्य मे रेशम-कीट-पालन वैदिक काल मे ही आरम्भ हो गया था। कुछ लोगों का कहना है कि रेशम उद्योग मध्य एशिया से यहाँ आया, जबकि वहाँ वह चीन से आया था। इतिहासकार मिर्जा हैदर (१५३६ ईसवी) ने रेशम उद्योग को बहुत ही उन्नत और आमदनी करानेवाला उद्योग बताया है।[2] कुछ अन्य रेकार्ड बताते है कि १८५७ तक कश्मीर बडी तादाद मे रेशम-कीट-बीज पैदा करता था, जिसका अच्छा-खासा हिस्सा निर्यात किया जाता था। सबसे अधिक निर्यात १८५७ मे हुआ, जबकि यूरोप को २५,००० औस बीज निर्यात किये गये, क्योकि 'पेब्राइन' नामक घातक रेशम-कीट-बीमारी ने यूरोप के सारे रेशम कीटो को प्राय समाप्त कर दिया था। भूत जो भी हो, एक बात स्पष्ट है कि "सन् १८६९ के पूर्व कश्मीर का रेशम उद्योग असगठित और अपरिस्कृत अवस्था मे था तथा सदियो से —उस समय से जबकि जीवाणु रेशम दमिश्क तथा अन्य निर्माण केन्द्रो को भेंजा जाता था—वह वैसी ही अवस्था मे रहता आ रहा था। इसमे सन्देह नही कि ईसा के पूर्व काल मे कश्मीर जीवाणु राज्य का एक अग था और पश्चिम को निर्यात किये जानेवाले कच्चे रेशम मे से कुछ कश्मीर से भी आता था। कश्मीर मे रेशम उद्योग का आरम्भ कैसे हुआ, इसकी कोई जानकारी नही है। हॉ, लोग इतना ही

---

१ सिल्क इडस्ट्री सूचना विभाग, जम्मू और कश्मीर राज्य।

२ एस एन कौल कश्मीर इकनॉमिक्स, १९५६।

जानते है कि बुखारा से इसका बडा गहरा सम्बन्ध है, जिससे कि यह हमेशा बीज और रेशम का लेन-देन करता रहा है।" [3]

महत्वाकांक्षी

तत्कालीन शासक राजकुमार द्वारा विशेष दिलचस्पी लिये जाने के कारण १८६९ मे वैज्ञानिक आधार पर पूरे रेशम उद्योग को सगठित और पुनर्जीवित करने का सयोजित प्रयास किया गया, जिसके लिए बहुत अधिक खर्च कर आवश्यक यत्रो और उपकरणो का आयात भी किया गया। इसके साथ ही राज्य के विभिन्न भागों मे १०७ उत्तम रेशम-कीट-पालन गृह बनवाये गये और रेशम व्यापार का विकास करने हेतु एक बडा विभाग खोला गया। उसी वर्ष दो रेशम कारखाने (फिलेचर) भी खोले गये। इन दोनो ने ४७० रील तैयार किये, जिनमे से ४२ पानी से और बाकी हाथ से तैयार किये गये। कुल ९६४ कारीगर काम मे लगे थे। सन् १८७३ मे तैयार किया जानेवाला रेशमी धागा उत्तम किस्म का था, जोकि २४ शिलिंग प्रति पौण्ड के भाव पर बिकता था। उस वर्ष रेशमी सूत का २ लाख रुपये का व्यापार हुआ, जिसमें से करीब आधा मुनाफा था। यह प्रगति क्षणिक ही रही, क्योकि पुनर्जीवन प्रदान करने की पद्धति सही नही थी। 'किरम-कश' (अर्थात् कीट मारनेवाले) नामक रेशम-कीट-पालकों का एक सघ बनाया गया और उन्हे बेगार जैसी प्रथा से छूट दी गयी।[4] उन्हे रेशम-कीट-पालन के लिए ग्रामीणो के घरो को अपना उपगृह बनाने की भी अनुमति दी गयी तथा उन्हे शहतूत के वृक्षो को पहुँचे नुकसान का समाचार देनेवाला भी नियुक्त किया गया। सक्षेप में "किरम-कश नाम से ही गाँववालो को घृणा हो गयी और इसमे कोई सन्देह नही कि रेशम-कीट-पालको ने भी अपने दर्जे का नाजायज फायदा उठाया तथा लोगों को सताया। सारा काम बिल्कुल सरकारी हो गया और आम जनता इस उद्योग को हेय दृष्टि से देखने लगी।"[5] फिर, पुनर्जीवन प्रदान करनेवाला कार्यक्रम बहुत ही महत्वाकाक्षी था। भवन और सयत्र की लागत बहुत ही अधिक थी और रेशम-कीट-पालन गृह इस तरह बिखरे हुए थे कि उनके काम का उचित ढग से पर्यवेक्षण नही हो पाता था। दुर्भाग्य से किसी को पर्यवेक्षण के लिए तकनीकल ज्ञान भी नही था और न ही कोई ऐसा व्यक्ति था "जोकि १८७८ मे इस उद्योग पर हुए प्रहार से—जबकि सारे कीट बीमारियो के शिकार हो गये—उसे बचा सकता।"[6] वे बीमारियाँ यूरोप, चीन और जापान से आयातीत बीजों के साथ आयी। यद्यपि ये बीज उत्तम किस्म के थे, परन्तु सिर्फ अपनी ही आबोहवा मे रहने के आदी थे।

सन् १८८२ से १८८९ तक यह उद्योग पूर्णत रेशम-कीट-पालको के हाथो मे रहा। बीज की नस्ल तेजी से गिरती गयी और रेशम उद्योग प्राय ठप-सा पड गया। कुल १२७ रेशम-कीट-पालन गृहो मे से सिर्फ दो बच गये। सन् १८९० मे भारत सरकार के तत्कालीन सचिव सर एडवर्ड बक के सुझाव पर इटली और फ्रास से बीजो का आयात किया गया और फल-स्वरूप बहुत ही उत्तम कोये प्राप्त हुए। पर १८९१ मे वही प्रगति नही बनी रही। फिर भी १९०३ मे एक प्रसिद्ध अँग्रेज रेशम-विज्ञान शास्त्री के सुझाव के आधार पर 'फिलेचर' (रेशम उत्पादन कारखाना) खडे करने शुरू किये गये और १९०६ तक छ 'फिलेचर' खडे हो गये। सन् १९०७ मे १० फिलेचर चल रहे थे, जिनमे ५,००० व्यक्ति काम करते थे इनमे भी मुख्यत रेशम-कीट-पालक थे।

---

३. एम जी. मुकर्जी, जिन्हें डब्ल्यू एच लॉरेंस द्वारा वैली ऑफ कश्मीर में उद्धृत किया।

४ आलोच्यावधि में, विशेषकर ग्रामीणों को स्थानीय राजा अथवा उसके एजेंट के लिए निर्माण कार्यों, माल परिवहन तथा अन्य कार्यों में से किसी मे भी बेगारी का काम करने के लिए कहा जाता था। काम के बदले में पारिश्रमिक भी नहीं दिया जाता था। यह सरकार के विरोधियों को कुचलने के अनेक तरीकों में से एक था।

५ डब्ल्यू एच लॉरेन्स वैली ऑफ कश्मीर।

६ उक्त उद्धृत।

अपने घरों मे काम करनेवाले रेशम-कीट-पालकों को लगाकर इस उद्योग मे ६०,००० लोग लगे थे। रद्दी से १,००,००० पौण्ड (करीब १४,००,००० रुपये) कीमत का कच्चा रेशम तैयार किया गया। तथापि, यह प्रगति १९१३ मे श्रीनगर के कारखाने मे भयकर आग लग जाने के कारण कुछ समय के लिए रुक गयी, क्योकि समूचा सयत्र बेकार हो गया।

प्रथम विश्वयुद्ध

राज्य के मुख्य दो शहरो मे बिजली लगी और उसी समय १९१४ मे यूरोप मे विश्वयुद्ध छिड गया, जिससे इस उद्योगो का सारा रूप ही बदल गया-- कार्य सचालन के मामले मे भी और सम्भावनाओ के विषय मे भी। माँग अधिक होने से न सिर्फ अधिक मुनाफा कमाने और तब तक हुआ घाटा पूरा करने का मौका मिला, बल्कि अधिकारियो को राज्य के अन्य हिस्सों मे इसका कार्य-विस्तार करने की प्रेरणा भी मिली। फलस्वरूप १९१९ मे १९०२ के मुकाबले ३४५ प्रति शत अधिक लाभ हुआ, जिसकी जानकारी नीचे दिये गये वार्षिक लाभ के आँकडों से मिलती है

वर्ष	औसत वार्षिक लाभ (लाख रुपयों में)
१९०२--१९०७	३ ६२
१९०७--१९१३	५ ९९
१९१३--१९१९	१२ ४९

चीनी प्रतियोगिता

युद्धोत्तर काल की अधिक माँग और फलत उच्च कीमत मे शीघ्र ही इन कारणो से बाधा आ पहुँची रुपये का अस्थिर विनिमय मूल्य, चीनी प्रतियोगिता, विदेशी माँग मे तथा उसमे भी विशेष कर अमेरिकी माँग मे कमी जोकि ससार में सबसे अधिक रेशम खपत करनेवाला देश था, और फिर ससार भर मे अवमूल्यन। इन आर्थिक परिवर्तनों ने उद्योग मे मन्दी ला दी। राज्य मे तथा राज्य के बाहर माँग इतनी कम हो गयी कि रेशम की कीमत प्रति पौड ६४ प्रति शत तक कम करनी पडी। यही रुख काफी मजबूती के साथ अपनाये रखना पडा, क्योकि तब चीन और जापान अपने रेशम उत्पादनों को विश्व बाजार मे प्रवेश कराने के लिए न सिर्फ अपने माल को घाटा उठा कर सस्ते मे बेच रहे थे तथा यूरोपीय बाजार मे एक-दूसरे से आगे बढ जाने की कोशिश कर रहे थे, बल्कि पूरब मे जो ब्रिटिश उपनिवेश थे--जोकि हमारे रेशमी माल के मुख्य खरीदार थे-- उनमे भी उन्होने अपना माल भर दिया। विश्व मे हुए इन परिवर्तनों का स्थानीय उद्योग पर इतना तीव्र प्रभाव पडा कि कच्चे रेशम का उत्पादन ५० प्रति शत से भी अधिक कम करना पडा। सरकारी रेशम उद्योगो मे काम करनेवाले कारीगरो की सख्या और मजदूरी मे बहुत कटौती करनी पडी। स्वभावत ६० प्रति शत रेशम-कीट-पालक अपने कोये नही बेच सके।

दिनोदिन बढती विदेशी प्रतियोगिता से इस उद्योग के हित की रक्षा के लिए सरकार से सरक्षण की माँग की गयी, जिसने उस आग्रह को ठुकरा दिया। विदेशी रेशमी माल पर आयात-शुल्क थोडा-सा बढा दिया गया, परन्तु यह कदम प्रभावी नही हुआ। चीनी-जापानी प्रतियोगिता घटने के बजाय बढती गयी और इस प्रक्रिया मे उन्होने तरह-तरह के माल सस्ती कीमत पर दिये, जिससे स्थानीय रेशम उद्योग मिटने-मिटने जैसे हो गये। स्थिति और बिगडे, इसके पहले ही द्वितीय विश्व युद्ध छिड गया।

बड़ी राहत

चीन और जापान के बिगडते सम्बन्ध एवम् बाद मे जापान द्वारा शत्रु राष्ट्रो (एक्सिस पावर्स) के साथ मिल कर युद्ध की घोषणा करने तथा पैराशूट के लिए रेशमी कपडो की खरीद के लिए भारी तादाद में आर्डर प्राप्त होने से रेशम की माँग और कीमत दोनो ही काफी बढी। चूंकि राज्य पूरी माँग की पूर्ति नही कर सका, इसने नागरिक कार्यों के लिए सिर्फ १५ प्रति शत उत्पादन के वितरण की अनुमति दी और शेष को युद्ध-माँग की

पूर्ति के लिए रख दिया। राज्य के अन्दर खपत के लिए कम उपलब्धि से काला बाजार करनेवालो को बहुत मुनाफा हुआ। जैसे १९२७ मे एक पौण्ड रेशम की कीमत १२ १० रुपये थी, १९३४ मे वह घट कर ३ ९ रुपये हो गयी, परन्तु १९४४–४५ मे वह फिर से बढ कर १० ९५ रुपये हो गयी, जबकि काले बाजार मे उसकी कीमत १५० रूपये तक पहुँच गयी।[७] रेशम उद्योग विभाग ने भी बडा मुनाफा कमाया तथा एक और रेशमी कारखाने की स्थापना की, जोकि काफी सफल रहा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् होनेवाली निरन्तर प्रगति १९४७ मे राज्य पर होनेवाले पाकिस्तानी हमले के कारण रूक गयी। अधिकाश रेशम-कीट-पालक विस्थापित हो गये, बिजली पूर्ति नष्ट कर दी गयी सरकारी विभाग के अभाव मे शहतूत के बहुत-से वृक्ष काट डाले गये और सारी व्यवस्था ही बिगड गयी। राजनीतिक अस्थिरता, बिजली की कमी आदि के कारण १९५३–५४ तक स्थिति मे कोई सुधार नही हो सका। तथापि, वस्तुत १९५३ के बाद, जबकि राज्य मे नियोजित विकास कार्य का आरम्भ हुआ, राज्य के औद्योगिक स्वरूप मे कुछ परिवर्तन करने को प्रोत्साहन मिला, जिसके फलस्वरूप अभी ७५३ रीलिग बेसिन है, जिनमे इन फिलेचरो मे एक पाली काम करते हुए एक साल मे २ लाख ५० हजार पौण्ड रेशमी सूत कातने की क्षमता है।[८] सन् १९६२–६३ मे कृषिक रेशम का उत्पादन १ लाख ५० हजार पौण्ड था। इस प्रकार सिर्फ ६० प्रति शत रीलिग क्षमता का ही इस्तेमाल होता है। स्थापित क्षमता का पूर्ण इस्तेमाल न होने के कारण ये बताये जाते है कोयो की अपर्याप्त पूर्ति, प्राचीन किस्म के यत्र, अदक्ष कारीगर आदि। उपर्युक्त कथन कहाँ तक ठीक है, इसकी जॉच करने के लिए हम उद्योग के कुछ पहलुओ पर विचार करे। महत्वपूर्ण पहलू है (अ) शहतूत के वृक्षो की खेती, (आ) बीज पुनरुत्पादन, (इ) रेशम-कीट-पालन तथा कोया उत्पादन, और (ई) फिलेचरो पर रेशमी धागो की रीलिग अर्थात् लपेटाई।

२

शहतूत के वृक्षों की खेती

यहाँ का रेशम उद्योग शहतूती किस्म का है। शहतूत के वृक्षो की खेती पर सरकार का एकाधिकार है, जोकि पौधघरो की देखभाल करती है। इन पौधघरो में उगायी गयी शहतूती कलमे रेशम-कीट-पालको तथा जमीदारो के खेतो एवम् सरकारी भूमि और गाँव की सामूहिक भूमि मे रोपी जाती है। ये कलम रेशमी-कीट-पालको को दी जाती है, जिनका अधिकार पत्तो पर होता है, वृक्ष और उसकी शाखाओं पर नही। यह बात सम्बत् २००६ (सन् १९४७) के शहतूत अधिनियम मे बिल्कुल स्पष्ट है, जिसके अनुसार शहतूत का वृक्ष "आरक्षित वृक्ष" है और कोई भी व्यक्ति बिना सरकारी अनुमति के उसे काट नही सकता—वह व्यक्ति भी नही जिसकी भूमि पर वह वृक्ष हो। इसके अतिरिक्त शहतूत के पत्रो को सिर्फ रेशम-कीट-पालन के लिए ही इस्तेमाल करना है तथा रेशम-कीट-पालक का अपने तथा आस-पास के गाँवो अथवा सरकारी और निजी भूमि पर उगे हर शहतूती वृक्ष पर अधिकार है, जिसका उपयोग वह नि शुल्क कर सकता है।

रेशम-कीटो को खिलाने के लिए सफेद पत्ते सबसे उपयुक्त होते है। इस तरह की चन्द चीनी शहतूती कलमे १८७३ मे मगायी गयी थी, और उनका यहाँ अच्छा विकास हुआ। इस तरह के उगाये और रोपे गये वृक्षो की सख्या १९२१ मे २०,००० से कुछ ही अधिक थी, १९२४ मे ४१,००० से ऊपर, १९३५ मे ७०,००० से ऊपर, और १९४० मे ८४,००० से ऊपर। वर्ष १९४३–४४ मे युद्ध मे बढी मॉग के कारण

---

७ एस एन कौल, कश्मीर इकनॉमिक्स, १९५६।

८ वर्तमान फिलेचरो की क्षमता, वर्ष मे प्रति दिन आठ घण्टे काम कर ३०० दिनो में प्राप्त रेशम के १८ प्रति शत दर के आधार पर तैयार की गयी है।

डेढ लाख रुपये के खर्च से साढे चार लाख शहतूत की कलमे लगायी गयी। अभी राज्य मे इस तरह के कम से कम २० लाख शहतूत के वृक्ष है, जिनमे से अधिकाश लम्बे है और यह कहा जाता है कि अभी जितनी मात्रा मे बीज वितरित किये गये है उसके लिए ये पर्याप्त नही है।[९] पत्तियो की सख्या मे वृद्धि करने के लिए रेशम उद्योग विभाग ने ४६९ एकड क्षेत्र मे फैले अपने ३२ पौधघरो से देशी और विदेशी दोनो ही किस्मो की कलमो को रेशम-कीट-पालको मे वृक्षारोपण के लिए नि शुल्क वितरित किया है। बूढे हो गये तथा जनता द्वारा काट डाले गये वृक्षो की जगह नये वृक्ष लगाने मे भी वह मदद करता है।

सन् १९५५ और १९५९ के बीच वितरित पौधो की सख्या तालिका १ मे दी गयी है।

तालिका १

शहतूती पौध के रोपण में सफलता*

वर्ष	वितरित कलमो की सख्या (लाख मे)	रोपी गयी कलमो की सख्या (लाख मे)	बढे वृक्षो की सख्या (लाख मे)	बचे वृक्षो का प्राति-शत्य
१९५५–५६	१ ७८	१ ४२	० ९८	६९
१९५६–५७	१ ९७	१ २९	१ ०२	७९
१९५७–५८	१ ८९	१ ४९	० ८०	५४
१९५८–५९	अप्राप्य	० ५८	अप्राप्य	अप्राप्य

* अ. उद्योग और व्यापार विभाग, जम्मू और कश्मीर राज्य।
आ द्वितीय पच वर्षीय योजना की सफलताएँ, जम्मू और कश्मीर राज्य।
इ वर्ष १९५८–५९ के बाद वितरित कलमो के आंकड़े राज्य द्वारा प्रकाशित नही किये गये है।

९. उद्योग और व्यापार मत्रालय (भारत सरकार) जम्मू और कश्मीर राज्य के औद्योगिक सर्वेक्षण का प्रतिवेदन।

उद्योग के योग्य और सफल सचालन के लिए शुद्ध, रोग रहित बीजो की उपलब्धि बहुत ही महत्वपूर्ण है। तेरह वर्षों के लगातार विकास के बाद भी आज राज्य को आयात किये गये बीजो पर निर्भर करना पडता है, क्योकि रोग-रहित तथा वायुजलानुकूलित नस्ल प्राप्ति मे असफलता मिली है तथा रेशम-कीटो मे भारी मृत्योनुपात है। स्थानीय उत्पादन अन्दाजन सिर्फ ३७,००० औस है, जबकि छ सरकारी अन्न भण्डार है जोकि ६०,००० औस बीजो का पालन कर सकते है। इसके पूरक रूप मे जापान और फ्रास से सामान्यतया ८,००० औस बीज सालाना आयात किये जाते है। लगातार विदेशी पूर्ति पर निर्भर रहने से उद्योग को कई किस्म की जोखम उठानी पडती है, जैसे बीमारी, असामयिक पूर्ति, विदेशी मुद्रा-विनिमय की कठिनाइयॉ, आदि।

तालिका २

आयातीत और राज्य मे पुनरुत्पादित बीजो की मात्रा

(लाख औस मे)

वर्ष	आयातीत	स्थानीय उत्पादित
१९५३–५४	० ०८	० ३३
१९५४–५५	० ०७	० ३६
१९५५–५६	० ०८	० ३८
१९५६–५७	० ०९	० ३४
१९५७–५८	० ०९	० ३७
१९५८–५९	० ०८	० ३६

स्रोत • जम्मू और कश्मीर राज्य रेशम उद्योग निर्देशालय।

अपने घरो मे रेशम-कीट पालनेवालो को रेशमी-कीट-मुफ्त दिये जाते है। कश्मीर मे रेशम-कीट पालन अप्रैल और मई माह मे होता है तथा जम्मू मे मार्च व अप्रैल मे। सरकार बीजों को कीटाणुरहित करने के

लिए दवाएँ तथा उसके इस्तेमाल का तरीका बतानेवाली स्थानीय भाषा मे प्रकाशित पुस्तिकाएँ मुफ्त उपलब्ध करती है। ये पुस्तिकाएँ ऐसी होती है जिन्हे जबानी याद किया जा सकता है। अभी कश्मीर मे कोया-पालन से ५०,००० परिवारो को लाभ होता है और जम्मू मे २०,००० परिवारो को। इस सहायक धधे से रेशम-कीट-पालको को सालाना १५ से २० लाख रुपये की अतिरिक्त आय हो जाती है, जो प्रति परिवार २२ से ३० रुपये पडती है। कभी-कभी रेशम उद्योग से होनेवाली आय रेशम उद्योग क्षेत्र के मूल्याकित राजस्व से अधिक हो जाती है। इससे और अधिक आय हो सकती है, परन्तु रेशम-कीट-पालक उत्पादन, प्रशोधन, प्रहस्तन और बीज परिवहन मे जो तरीके इस्तेमाल करते है, वे बहुत पुराने है, जिससे अन्तत उत्पादित रेशमी सूत की किस्म और मात्रा पर बुरा असर पडता है।

रेशम-कीट चटाइयो और कपडो पर पाले जाते है। स्टैण्ड और ट्रे सिस्टम तथा उत्पादन की वैज्ञानिक पद्धतियो का अभी इस्तेमाल नही होता। वर्तमान प्रणाली हानिकर है, क्योकि इससे बीमारियाँ पैदा होती है, कीडे मरते है जिससे पत्रो की भी बर्बादी होती है। धूप मे सुखाये गये कोये हर तरह से असमान होते है। इसके अतिरिक्त पालको के पास तापमान, आर्द्रता, वायु आदि अनुकूलित करने की कोई उपयुक्त व्यवस्था नही है और न ही वे कीडों को खिलाने मे पूरा ध्यान दे पाते है। शहतूत के पत्ते और कीट के बीज मुफ्त मिलने से पालक इस धधे मे जितना ध्यान देना चाहिये, उतना नही देते। वे इसलिए भी अधिक रूचि नही लेते कि सरकार उनके सारे हरे कोये ६५ रुपये प्रति मन की निश्चित दर से खरीद लेती है।

व्यक्तिगत कोया-पालको को प्रति व्यक्ति मुश्किल से एक औस बीज सप्लाई किया जाता है, जिसका परिणाम यह निकलता है कि वह एक निश्चित सीमा से ज्यादा उत्पादन नही कर सकता, भले ही वह कितना ही उत्साही क्यों न हो। एक औस अण्डो से करीब ४०,००० कीट पैदा होते है और ये १२० औस रेशम पैदा करते है। राज्य मे प्रति एक औस अण्डो के पीछे औसत रेशम उत्पादन कम (सिर्फ ८० औस) है, जबकि फ्रास और इटली मे वह १०८ औस है। राज्य का औसत वार्षिक कच्चा रेशम उत्पादन २ लाख ३० हजार पौड है। पिछले कुछ वर्षों का कोया-उत्पादन तालिका ३ मे दिया गया है :

तालिका ३

कोया उत्पादन (लाख मन मे)

वर्ष	कोया उत्पादन की मात्रा
१९५४	२५ १९
१९५५	२५ ५८
१९५६	२६ ८७
१९५७	२१ ९२
१९५८	१९ ७३

स्रोत : जम्मू और कश्मीर राज्य उद्योग और व्यापार मत्रालय।

रेशम लपेटाई

राज्य मे दोनो तरह की लपेटाई होती है—फिलेचर की तथा दूसरी तरह की भी—और कोयो की कीमत मैसूर तथा बगाल की तरह घटती-बढती नही रहती। इससे उद्योग को बहुत बडा सहारा मिलता है, जिसे जल्दी अव्यवस्थित नही किया जा सकता। वर्तमान फिलेचर यत्र पुराने हो गये है और लागत कम करने तथा स्तर ऊँचा करने के लिए उनकी जगह आधुनिक यत्र लगाने की आवश्यकता है। स्थानीय कीट-पालको से खरीदे गये कोये छाटने के बाद उबले पानी मे रखे जाते है, ताकि उनका लसलसापन कम हो जाय। इन कोयो से लपेटे गये धागो का परीक्षण विशिष्टीकरण के अनुसार करते है और फिर दक्ष लोग उनकी सफाई करने के बाद तह लगा कर पैक कर देते है। किसी भी

प्रकार का रेशम बिना लचीलापन, तनाव क्षमता और सुन्दरता परीक्षण से गुजरे कारखाने के बाहर नही जा सकता। रेशम डेनीयर १३।१५ से ३२।३६ तक के होते हैं। तैयार रेशम को उपयुक्त श्रेणियो मे विभाजित करते है जैसे लोटस, टुलिप, आयरिस, सैफ्रॉन, नील ए, नील बी आदि। एक दिन मे सभी फिलेचरो से अधिकतम १,५०० पौण्ड लपेटा रेशम प्राप्त होता है। सन् १९४१ मे राज्य मे रेशम का वार्षिक उत्पादन—रद्दी रेशम को छोड कर—२ लाख ३२ हजार पौण्ड था। सन् १९३८ मे भारत का कुल रेशम उत्पादन १५ लाख पौड था अर्थात् उसमे कश्मीर का योगदान १५ प्रति शत था। सन् १९४७ के बाद उत्पादन काफी घट गया और पिछले कई वर्षों से उत्पादन मे कोई खास घट-बढ नही हुई है, जैसाकि तालिका ४ से स्पष्ट है।

रेशम उत्पादन का वह ५५ प्रति शत थी, जबकि १९५८ मे वह ९३ प्रति शत हो गयी। जापान मे इसकी मात्रा ३५ प्रति शत ही है। यह बडा नुकसान है, जिसे आधुनिक और उपयुक्त यत्र स्थापित कर दूर किया जा सकता है या फिर छीजन इस्तेमाल का यत्र स्थापित कर। छीजन इस्तेमाल यत्र अभी स्थापित नही किया जा सकता, क्योकि केन्द्रीय रेशम मण्डल (सेण्ट्रल सिल्क बोर्ड) के विशेषज्ञो के अनुसार अभी जितनी छीजन होती है, उसके लिए यत्र स्थापित करना आर्थिकरूप से लाभदायक न हो कर खर्चीला ही होगा।

समस्याएँ

उपर जो विचार व्यक्त किये गये है, उनसे कई समस्याएँ सामने आती है, उदाहरणार्थ

१ बीज उत्पादन मे राज्य स्वावलम्बी नही है, जिसके फलस्वरूप बीज आयात करने पडते है। तैयार किये जानेवाले कोये विभिन्न नस्लो के होते है, जिससे

तालिका ४

कच्चे रेशम का उत्पादन, खपत और निर्यात (लाख पौड मे)

वर्ष	उत्पादन			स्थानीय उपभोग		अन्य राज्यों को निर्यात	
	कच्चा रेशम	रेशम छीजन	३ का २ से प्रातिशत्य	कच्चा रेशम	रेशम छीजन	कच्चा रेशम	रेशम छीजन
१	२	३	४	५	६	७	८
१९५१	१ १९	—	—	—	—	—	—
१९५४	१ ६८	० ९३	५५	० ७९	—	० ६६	० ८०
१९५५	१ ६०	१ ०५	६६	१ ०६	—	० ४७	१ ०४
१९५६	१ ७७	१ २७	७२	० ९४	—	० ८५	१ १८
१९५७	१ ४४	१ १५	८०	१ २९	—	० ८७	० ९५
१९५८	१ ००	१ ९३	९३	० ६२	—	० ०५	० ०७
१९५९	१ ३८	—	—	—	—	—	—
१९६०	१ ८६	—	—	—	—	—	—
१९६१	१ २९	—	—	० ७१	—	०.१४	—

स्रोत डाइजेस्ट ऑफ स्टेटिस्टिक्स, योजना विभाग, जम्मू और कश्मीर राज्य।

तालिका ४ से यह प्रत्यक्ष है कि कुल उत्पादन मे कमी होने के अलावा रेशम छीजन की मात्रा भी बढती ही जा रही है। सन् १९५४ मे कुल कच्चे लपेटाई मे कठिनाई होती है।

२ आयातीत रेशम-कीट रोग-रहित नही रहे है। वस्तुत यूरोप हमे बीज देता रहा है, जिस कारण कोयो

के उत्पादन मे कमी आयी है और कीट-पालन गृह कई बीमारियो के स्थायी घर हो गये है।

३ पत्ते (कीटो की खुराक) कम मात्रा मे उपलब्ध है और फलत कोयो का उत्पादन अपर्याप्त है, जिससे श्रीनगर और जम्मू मे स्थापित यत्र निरन्तर काम नही कर सकते।

४ रेशम-कीट-पालन पद्धति बहुत पुरानी है।

५ फिलेचरो की स्थापना ६० वर्ष पूर्व की गयी थी और इन पुराने यत्रो के कारण छीजन ज्यादा होती है और उत्पादन कम।

६ विभिन्न शाखाओ मे प्रशिक्षित कर्मचारियो की कमी और अनुसधान की तुच्छ व्यवस्था।

सरकारी पहल

उपर्युक्त सभी बाते परस्पर सम्बन्धित है और एक मे सुधार होने से दूसरी मे भी होगा ही, जिससे अन्तत उत्पादित रेशम के स्तर और परिमाण पर भी प्रभाव पडेगा। तथापि, इन समस्याओ का हल करने के लिए द्वितीय पच वर्षीय योजना के आरम्भिक वर्ष १९५६ से राज्य सरकार ने कुछ कदम उठाये है। द्वितीय योजना मे ५६ लाख रुपये की बटित निधि मे २३ लाख रुपये रेशम उद्योग के विकास पर खर्च हुए, जबकि तृतीय योजना मे इसके लिए ७५ लाख रुपये की राशि रखी गयी है। इन ७५ लाख रुपयो मे से ४७ लाख रुपये पूँजीगत कार्यो मे खर्च होगे। यह निवेश उद्योग की भौतिक बाधाओ को दूर करने मे किस हद तक सफल अथवा असफल रहा है, वह निम्न तथ्यो से स्पष्ट है

मद (१) के लिए अधिकारियो ने कुछ कार्यवाही की है और उन्हे स्थानीय अवस्थाओ के उपयुक्त पैतृक नस्ले उत्पन्न करने मे भी कुछ सफलता मिली है। इस कार्य के लिए १५० एकड भूमि पर बुनियादी बीज केन्द्र शहतूत बाग बनाया गया है। आशा है कि १९६४ से यह विभाग इस अवस्था मे आ जायेगा कि धीरे-धीरे बीजो का आयात कम होता जायेगा। तृतीय योजना के अन्त और चतुर्थ योजना के आरम्भ तक कश्मीर न सिर्फ अपनी खपत के लिए अच्छे किस्म के बीज पैदा करने लगेगा, बल्कि इस अवस्था मे भी आ जायेगा कि देश के अन्य राज्यो को बीज निर्यात कर सके। यह योजना केन्द्रीय रेशम मण्डल (सेण्ट्रल सिल्क बोर्ड) द्वारा प्रवर्तित है और भारत के रेशम उत्पादक राज्यो मे बुनियादी बीज उत्पादन कार्यक्रम का एक अग है।

व्यक्तियों के हाथो मे

उपर्युक्त योजना ने जो प्रगति की है, उसे देखते हुए यह लगता है कि लक्ष्य और अन्दाज पूरे नही हो पायेगे। स्थायी हल और बीजपूर्ति मे वृद्धि सुनिश्चित करने के लिए "यह अच्छा होगा कि रेशम-कीट-बीज का उत्पादन विकेन्द्रित कर दिया जाय, सरकारी हाथो से निकाल कर व्यक्तियो के हाथो मे दे दिया जाय, जिन्हे कि लाइसेसशुदा होना ही चाहिये और आवश्यक योग्यता एवम् काम का अनुभव भी होना चाहिये। इसका लाभ यह होगा कि इस काम को अधिकाधिक लोग अपनायेगे।"[१०] श्री लॉरेस ने भी इस तरह का सुझाव दिया जबकि उन्होने यह कहा कि "सरकार को सिर्फ स्वस्थ बीजो के उत्पादन का ही काम अपने हाथ मे रखना चाहिये और रेशम-कीट-पालन तथा रेशम लपेटने का काम छोड देना चाहिये।"[११] इस तरह की व्यवस्था जापान जैसे देशो मे सफल रही है, जहाँ कि कई व्यापारिक सस्थाओ के अपने प्रयोग और अनुसधान केन्द्र, अन्न भण्डार, रेशम-कीट-पालक ग्राहक है और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि उनमे से कई की अपनी रेशम-कीट-जातियाँ है।[१२]

कोया उत्पादन के लिए चुनिन्दा क्षेत्र निर्धारित है, जहाँ कि अच्छे बीज, प्रति औस उत्तम उत्पादन और

१०. 'रिपोर्ट ऑफ दि लेबर सब-कमेटी ऑफ सेण्ट्रल सिल्क बोर्ड,' १९५८।

११ डब्ल्यू एच लॉरेस' वैली ऑफ कश्मीर।

१२ हकीम अली दि सिल्क इण्डस्ट्री ऑफ जापान, १९५४।

पालन के लिए अनुकूल अवस्थाएँ है। अच्छा उत्पादन करनेवाले क्षेत्रो को इन क्षेत्रो मे जोड दिया जाता है और कम उत्पादन करनेवालो को निकाल दिया जाता है। रेशम-कीट-पालन गृहो मे वर्ष मे एक बार विभाग द्वारा कीटाणु-नाशक दवाइयॉ मुफ्त छिडकी जाती है। विभागीय देख-रेख मे अभिजनन केन्द्रो मे सामूहिक कीट-पालन किया जाता है। बुनियादी बीज-कोया केन्द्रो मे मनोनीत जातियो के बीजो के उत्पादन और उनसे 'पी १' बीज के तथा फिर उससे औद्योगिक बीज-कोयो के उत्पादन की योजना से न सिर्फ सफल फसल सुनिश्चित किये जाने की, बल्कि उसी स्तर के शहतूत के पत्तो से अधिक उत्पादन सुनिश्चित करने की भी आशा की जाती है।

रोगो को मिटाने के लिए कीट-पालन कमरो मे ४० प्रति शत फारमेलिन वाष्पीकरण का तरीका अपनाया गया है। यह तरीका कम खर्चीला तो है ही, साथ ही इसके और भी कई लाभ है। इसने बीमारियो से पैदा होनेवाले नुकसान को कम कर दिया है। वर्ष १९६०–६१ मे कश्मीर मे फारमेलिन छिडका गया तो दो वर्ष पूर्व हुए १७ हजार मन कोया-उत्पादन के मुकाबले २७ हजार मन कोयो का उत्पादन हुआ। इस रोग के दूर हो जान से उद्योग इस योग्य हो गया कि वह बडी मात्रा मे कोये प्राप्त कर सका, जिससे चीनार नामक उत्तम किस्म के रेशम का उत्पादन हो सका, और जिसने भारत के जरी बाजार मे अपना स्थान बना लिया है तथा धीरे-धीरे जापानी रेशम के स्थान पर उसका इस्तेमाल प्रचलित होता जा रहा है।

कीट-पालकों को प्रोत्साहन

कोया-पालकों को सरकार जो कीमत देती थी वह घटती-बढती नही थी। उत्पादन उत्तम हो अथवा निम्न, एक ही कीमत दी जाती थी। सारा माल ६५ रुपये मन के भाव से खरीदा जाता था जिसका परिणाम यह होता था कि पालक स्तर का ध्यान रखते ही नही थे। हाल ही मे मूल्य मे परिवर्तन कर सरकार ने पालकों को प्रोत्साहन दिया है। प्रथम पालन के लिए ५ रुपये मन और द्वितीय पालन के लिए १५ रुपये मन भाव बढा दिया गया है। इसके अतिरिक्त पालकों मे प्रतियोगिता लाने के लिए पुरस्कार देना भी जारी किया गया है। यह मामूली परिवर्तन है और इससे कुल उत्पादन मे— मात्रा और स्तर दोनो ही मामलो मे—कोई खास फर्क नही आयेगा।

राज्य सरकार ने बीमारियो को खत्म तथा बीजो की पूर्ति करने की ओर भी ध्यान दिया है। परन्तु अब तक इसने जिस बात को नजरअन्दाज किया है, वह यह है कि व्यक्तिगत पालको को शहतूत-बीज की पूर्ति कुल शहतूती पतो की पूर्ति से जुडी हुई है। अभी शहतूत के वृक्ष सडको के किनारे, कब्रिस्तानो, नालो, टीलो, निजी खेतो और नहरो के किनारे उगाये जाते है। परन्तु ये वृक्ष अधिक उम्र और विकास योजनाओ, सडक विस्तार पुल-निर्माण तथा नयी नहरो की खुदाई के कारण तेजी से खत्म होते जा रहे है। इसके अतिरिक्त, शहतूत के वृक्ष 'आरक्षित वृक्ष' है और निजी खेतिहरो को उम्दा कलमे रोपने के लिए प्रेरित करना कठिन है। जब-तक वे उप-धधे के रूप मे स्वयम् ही रेशम-कीट-पालन का काम नही करते तब तक उनके खेतो मे उगे शहतूत के वृक्षो से उन्हे कोई लाभ नही मिलता, क्योकि उनके पत्तो को कीट-पालक मुफ्त ले जा सकते है।[13] अभी सारी जिम्मेदारी सरकार की है। सरकारी विभाग को इन पेडो की देख-रेख तथा पालको की पूर्ति सुनिश्चित करने के लिए बडी सख्या मे क्षेत्रीय कर्मचारी रखने होते है। कीट-पालक सामान्यतया वृक्षो के मालिक नही होते। अत तेजी से नष्ट होते जा रहे शहतूत के वृक्षो और पालको मे पहल की कमी की यह दोहरी समस्या बहुत हद तक हल की जा सकती है यदि जगलो के किनारे शहतूत के बीजो से शहतूत की झाडियॉ उगाने

१३ रिपोर्ट ऑफ इण्डस्ट्रीयल सर्वे ऑफ जम्मू एण्ड कश्मीर स्टेट, विकास आयुक्त (एस एस. आय), भारत सरकार।

की योजना बनायी जाय। फिर, शहतूत की झाडी उगाने से टोकरियाँ बनानेवालो को सहायक-धधा भी मिल जायेगा और प्राप्त छाल से कागज तैयार किया जा सकेगा।

चूकि जम्मू और कश्मीर राज्य चतुर्थ पच वर्षीय योजना के अत तक अभी के मुकाबले इसी किस्म का पाच गुना अधिक रेशम उत्पादन करने की आशा रखता है, अत प्रादेशिक रेशम अनुसधान केन्द्र की स्थापना आवश्यक है। भारत मे यही एकमात्र एक फसली (यूनिवोल्टाइन) क्षेत्र है, जोकि औद्योगिक पैमाने पर कोयो का उत्पादन करता है। यह केन्द्र चन्नापटना केन्द्र के पैमाने पर ही सम्भवत सगठित किया जा सकता है और कश्मीर घाटी मे खोला जा सकता है।

यदि इस उद्योग को अपना प्राचीन गौरव प्राप्त करना है तथा वर्तमान माग बनाये रखनी है, तो मूल्य को ध्यान मे रखना होगा, ताकि तैयार माल खरीदार की क्रय-शक्ति के अन्दर हो। अभी देशी रेशम की कीमत चीन और जापान मे उत्पादित रेशम से बहुत ज्यादा है।[१४] इसका मुख्य कारण उत्पादन की अधिक लागत है।

इस राज्य मे इस उद्योग की बहुत अधिक सम्भाव्यताएँ है, क्योकि उपयुक्त वातावरण, कच्चे माल की प्रचुर प्राप्ति और सस्ता श्रम आदि अनेक लाभ यहाँ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त पिछले कई वर्षो से इस उद्योग को टैरिफ सरक्षण का लाभ मिलता रहा है। अत यदि सयोजित प्रयास किया जाय तो यह उद्योग राज्य का सबसे बडा कार्य बन जायगा, जिसमे राज्य की तीन-चौथाई कृषि आबादी को सहायक धधा देने की क्षमता है।

वल्लभ विद्यानगर (गुजरात): २१ मई १९६४

१४ टैरिफ कमीशन ने अपनी हाल की रिपोर्ट म यह व्यक्त किया है कि जब तक कच्चे रेशम की कीमत मौजूदा स्तर (घाटी में हाथ करघा बुनकरों को कच्चा रेशम औसतन ३४ रुपये ९० पैसे की दर से दिया जाती है) जितनी ऊँची रहती है, आगामी पांच वर्षों मे शुद्ध रेशमी सूत की घरेलू वार्षिक माग ४० लाख पौण्ड से बढ़नेवाली नहीं है। उन्होंने यह भी सिफारिश की है कि जब तक मौजूदा दो इकाइयों की वर्तमान क्षमता का पूरा उपयोग नहीं होता, जम्मू और कश्मीर राज्य में अतिरिक्त क्षमता के लिए लाइसेंस नहीं दिया जाना चाहिये। भारत सरकार से इसे स्वीकार कर लिया है।

ऊनी और पशम वस्त्रों में सुधार के लिए भेड़-पालन

पेकल श्रीरामुलू पैंट्रो

अच्छे स्तर का ऊन उत्पादन भेड़ की नस्ल पर निर्भर करता है जो कि वातावरण पालन, जलवायु-परिस्थितियो, मिट्टी, भोजन आदि से प्रभावित होती है।

मनुष्य मैमेलिया वर्ग की कई जातियो के पशुओं की खाले प्रागैतिहासिक काल से इस्तेमाल करता चला आ रहा है। कई पशुओ से थोडा-थोडा ऊन प्राप्त होता है, परन्तु विश्व मे ऊन का सर्वाधिक भाग पालतू भेडो से प्राप्त होता है। करीब करीब प्रत्येक सभ्य देश मे भेड और बकरी पालन का काम होता है। एक नस्ल की भेड से दूसरी नस्ल मे जो अन्तर होता है, वह भिन्न वातावरण और आबहवा के कारण। वस्त्रोद्योग मे बहुत तरह और गुण के कच्चे माल इस्तेमाल किये जाते है और उनसे किस्म-किस्म के विभिन्न गुणो और उपयोग वाले वस्त्र तैयार किये जाते है। भेड के अलावा अन्य पशुओ से प्राप्त ऊन और बाल का भी वस्त्रोद्योग मे काफी इस्तेमाल होता है। ससार के वस्त्रोद्योग उत्पादन मे ऊनी वस्त्र का तीसरा स्थान है और कुल वस्त्र-उत्पादन का करीब १७ प्रति शत।

स्पैनिश मेरिनो भेड-पालन और उसके विकास ने भेड की नस्लो को उन्नत वनाया है तथा स्पेन के मेरिनो भेड के आगमन के बाद ऊनी-उद्योग मे काफी सुधार हुआ है।

प्रारम्भिक विकास

यूरोपीय राजाओ तथा स्पेन के राजवश के बीच का सम्बन्ध और उनके द्वारा प्रस्तुत इन पशुओ ने सारे ससार में धीरे-धीरे ऊन उद्योग का विकास किया है। एशिया की पहाडी और बाद मे यूरोप की जगली भेडो की नस्ल है ये पालतू भेड। ये भेड अर्गेलिस मौफलन्स है और इनके पहले की नस्लो का शरीर वडे बड़े बालो से ढका होता था जिनमे चमडे से सटे ही छोटे-छोटे मुलायम बाल भी हुआ करते थे।

मनुष्य ने भेड-पालन दूध, खाले और मास प्राप्त करने के लिए आरम्भ किया। ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व फिनिशियनो ने ऊन काटने हेतु बढिया ऊनवाली भेड का पालन आरम्भ किया। इग्लैंड मे रोम का राज्य होने के पूर्व ही भेड-पालन आरम्भ किया गया और रोमन लोगो ने वहाँ स्थित अपने सैनिको की वर्दी-पूर्ति के लिए एक ऊनी कारखाना स्थापित किया।

दो प्रकार की भेड़ें

तेरहवी सदी मे ग्रेट ब्रिटेन ससार का सबसे बडा ऊन उत्पादक देश था। स्पेन मे १४ वी और १७ वी शताब्दी के बीच भेड का विकास किया गया और १५ वी से १७ वी शताब्दी के बीच झुड के झुड भेडे हो गयी जि हे दो श्रेणियो मे बाटा गया (अ) एक स्थान मे रहनेवाली भेडे और (आ) जगह-जगह घूमनेवाली भेडे। जगह-जगह घूमनेवाली भेडे पिछले नवम्बर मे पैदा हुए मेमनों के साथ अप्रैल के मध्य मे उत्तर की ओर बढना शुरू कर देती और एक चरागाह से दूसरे चरागाह को पार करती हुई ६ सप्ताह मे २०० मील आगे बढ जाती और फिर वहाँ सितम्बर तक रह कर दक्षिण की ओर वापस लौटना शुरू कर देती। स्पेन मे भेड पालन के कार्य पर कडी निगरानी रखी जाती थी तथा भेडों का निर्यात कानूनन मना था। इसलिए ये नस्ले अन्य देशो मे (अ) राजकीय उपहार द्वारा और (आ) पुर्तगाल के जरिये चोरी-छिपे भेजी जाती थी। स्पेन की उत्तम मेरिनो भेडो ने

दूसरो देशो की स्थानीय भेडो से मिलकर वहाँ की भेडो मे बहुत सुधार किया। स्पेन के राजा ने सेक्सोनी के इलेक्टर को उपहार स्वरूप जो मेरिनो भेड दिये उनसे मेरिनो की सेक्सोनी इलेक्ट्रियल भेडे पैदा हुई। इस प्रकार मूर लोगो द्वारा सर्व प्रथम पालित मेरिनो भेडो ने दो मुख्य जातियो को जन्म दिया (अ) छोटे छोटे पैरोवाली नेगरेटी जिसे कि बाद मे इनपैण्टडोज कहा गया। इन भेडो से, जिनके गले बहुत ही झालरदार थे, फ्रेंच रैंमबूइलेट आस्ट्रेलियन इम्पीरियल नस्ल प्राप्त हुई। (आ) लम्बे पैरोवाली इसक्यूरियल भेडे जोकि सेक्सोनी इलेक्टोरियल मे विकसित की गयी। १८ वी सदी के बाद वाले हिस्से मे मेरिनो भेड के निर्यात के जरिये ससार भर मे ऊन उद्योग की स्थापना हुई।

वातावरण का प्रभाव

ऊनी रेशो पर वातावरण का बहुत प्रभाव पडता है तथा अनुभव और पर्यवेक्षणो ने यह सिद्ध किया है कि अनुकूल अवस्थाओ मे ऊन की मुलायमियत, गुण और स्तर मे बहुत सुधार किया जा सकता है। ऊन के मूल्य और उपयुक्तता का मूल्याकन करने मे कई महत्व-पूर्ण गुणो पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है, जैसे रेशे के व्यास अथवा लम्बाई, कटे बालो मे कितनी अशुद्धता है अथवा बाल कितने सिकुडते है, मजबूती, रग, चमकीला-पन तथा वानस्पतिक तत्व। ऊनी रेशों के ये सभी गुण बहुत ही महत्वपूर्ण है। परन्तु इनमे जिस झुण्ड से ऊन की प्राप्ति हुई है तथा नस्ल और भौगोलिक स्थान के अनुसार बहुत भिन्नता पायी जाती है। रेशों को सूत और फिर वस्त्र मे बदलने से अतिरिक्त भौतिकण गुण, जैसे आकार, सिकुडन, सुनम्यता, लचीलापन, ठोसत्व, आर्द्रता, विद्युत तत्व, गर्मी, बुनाई योग्यता, अपेक्षिक गुरुत्व आदि, भी स्पष्ट हो जाते है।

वातावरण मे ये चीजे शामिल है १ भौगोलिक विभाग २ तापमान, ३ बारिश, ४ भौगोलिक रचना (अ) रासायनिक स्वरूप क्रियात्मक प्रभाव, (आ) भौतिक स्वभाव, हस्तन प्रभाव (इ) धारण क्षमता, बहाव और वनस्पति ५ चरागाह और ६ आक्षाश।

प्रवरणशील प्रजनन को दक्षता

ऊन और पशु के प्रकार नस्ल तथा वातावरण एव पशुपालन की अवस्था पर निर्भर है। इन उद्देश्यो से व्यवस्थित ढग से प्रवरणशील प्रजनन का मार्ग अपनाया जा सकता है खास इलाके या आबहवा अथवा विशेष अवस्थाओ के लायक नस्ल पैदा करना, विशेष बाते लागू करना जैसे पैरो को सडने से बचाना, अच्छे पालन की भावना का विकास, जनन-क्षमता, बहु-प्रजनन, जुडवा भेड की पैदाइश, झुन्ड मे बध कर रहना आदि, ऊन के तन्वो मे सुधार अथवा सशोधन करना, मास, जोडो के आकार, महक, युवा होने के समय को प्रभावित करना तथा मास और ऊन व्यापार के लिए पशु पैदा करना। परिणाम प्रवरणशील प्रजनन की दक्षता और पालन की योग्यता तथा सावधानी पर निर्भर है और इन बातो के ज्ञान की कमी-बेसी के साथ ही परिणाम भी भिन्न होते है।

यद्यपि ऊन के विकास को आबहवा, मिट्टी और भोजन प्रभावित करते है, तथापि ऊन के सफल विकास मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है नस्ल, क्योकि हर किस्म की भेड खासियत लिये होती है। भेड अपनी रक्षा और आराम के लिए ऊन पैदा करती है, जोकि जिस आबहवा मे उसका पालन-पोषण होता है उसके अनुसार भिन्न होता है। जब भेडो को एक देश से दूसरे देश मे ले जाते है, तब आबहवा के कारण होनेवाले परिवर्तन नजर आते है। यह पशु शीतोष्ण कटिबध मे २०° आक्षाश से ६०° आक्षाश तक जीवित रहते है। सर्वोत्तम भेड-पालन करनेवाले देश ३०° आक्षाश पर है। सबसे उत्तरी देश आइसलैड और सबसे दक्षिणी देश है फाकलैड द्वीप-समूह और पैटागोनिया। भेड (प्रत्यक्षत शेवियट) उत्तर ध्रुव वृत्त मे भी रहती है, परन्तु जाडे के दिनों मे उन्हे घरो मे बन्द रखते है जिस तरह की ग्रेट ब्रिटेन मे गायो को

रखा जाता है।

(१) उत्तरी गोलार्ध मे वितरण (अ) पश्चिम मे ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप, (आ) पूर्व मे रूस, तुर्की, पर्शिया, मिस्र, अफगानिस्तान तिब्बत और चीन।

(२) दक्षिणी गोलार्ध मे वितरण (अ) आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैड, (आ) दक्षिण अफ्रीका, (इ) दक्षिण अमेरिका, अर्जेण्टाइना और दक्षिण अमेरिका मे उरूगुवे।

आबहवा का प्रभाव

भेड और उसके ऊन के विकासार्थ सामान्य और समतापमान सर्वाधिक उपयुक्त है। तापमान का प्रभाव ऊन के उत्पादन पर दिखाई देता है। मेरिनो किस्म की भेडो से सर्वोत्तम ऊन प्राप्त करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त तापमान है ६०° से ६४° फैरेनहाइट। उससे अधिक तापमान होने से ऊन बाल की तरह के होने के अलावा कडे और सूखे होते है। उदाहरणार्थ पेरु, अरब, पर्शिया, उत्तर भारत और दक्षिण भारत मे औसत तापमान ८०° फै० रहता है और इन इलाको मे उत्पादित ऊन बालनुमा, रुखडे, कडे और सामान्यतया छोटे रेशेवाले हुआ करते है। आइसलैड के उत्तरी प्रदेशो और उत्तरी स्काटलैड मे, जहाकि आबहवा ठडी है, भेड की खाल की निचली सतह पर बहुत ही सुन्दर और गर्म ऊन की परत रहती है। जिन क्षेत्रों मे दिन मे भीषण गर्मी और रात मे कडाके की ठड पडती है, वहाँ की भेडो मे छोटे रेशे के ऊन की निचली सतह के ऊपर अवरऊनमय केशी परत रहती है। जिन क्षेत्रो मे तापमान ६०°फै० (ग्रेट ब्रिटेन मे ४०°–६०° फै०) से कम रहता है, वहाँ की भेडो का ऊन मजबूत होता है पर उतना सुन्दर नही, उसके रेशे लम्बे होते है, उसका विकास नियमित और सही होता है। जिन क्षेत्रो मे जाडे और गर्मी के मौसमो मे तापमान ३०° फै० से अधिक अन्तर रखता है, वे भेड-पालन के उपयुक्त स्थान नही है। गर्म और आर्द्र जलवायुवाले स्थान मे भेडो पर मास-मक्खियाँ (ब्लो-फ्लाई) पैदा हो जाती है। अधिक बारिशवाली जगहे भेडों के उपयुक्त नही होती, वहाँ बहुत सी भेडे आन्तरिक परजीवि काटाणुओ द्वारा उत्पन्न बीमारियो से मर जाती है। फिर, गर्म प्रदेश मे भी उन पर मास-मक्खियाँ पैदा हो जाती है। जिन क्षेत्रो मे बारिश का पानी निकल नही जाता, बल्कि भूमि को गीली और कीचडमय रखता है वहाँ इन पशुओ के पैर सड जाते है जिससे कि वे लगडे हो जाते है और चल नही पाते। मेरिनो भेड के लिए बारिशवाली सबसे उपयुक्त जगह वह है जहाँ सालाना १५ से २४ इच बारिश होती हो। अधिक बारिश बहुत अधिक वनस्पति पैदा करती है और फलस्वरूप लिकन और सकरवर्ण अधिक पैदा होते है। इसका एक उदाहरण न्यू साउथ वेल्स के तटीय प्रदेश सिडनी के निकट की एक जगह है जहाँकि औसत बारिश ५० इच है और वहाँ लिकन तथा सकरवर्ण भेडो के लिए अच्छी चरागाह है। इन क्षेत्रो मे मेरिनो भेडे जिदा नही रह पाती, वे ५०० मील अन्दर के प्रदेशो मे रहती है जहाँकि उनके अस्तित्व के लिए अनुकूल अवस्थाएँ है। मेरिनो भेड कर्तक है और वे अधिक भोजन पसन्द नही करती। सूखी जगहों मे अर्थात् जहाँ १० इच से कम बारिश होती है, मेरिनो भेडे मौत का शिकार हो जाती है।

भोजन का प्रभाव

चट्टानो और मिट्टी की रासायनिक रचना भेडो को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करती है। कुछ भेड मीलो लवणीय चट्टानो की खोज मे चली जाती है, जिन्हे कि वे अपनी तृप्ति के लिए चाटती है और किसान उन्हे चाटने के लिए लवणीय चट्टान उपलब्ध करते है। हाल के अनुसधान से पता चला है कि स्वाभाविक भूभाग मे कोबाल्ट और ताबे की कमी होने पर ऊन की मात्रा और स्तर पर प्रभाव पडता है। इन कमियो को उनके भोजन मे इन लवणो को मिलाकर ही दूर किया जा सकता है। भोजन मे कोबाल्ट लवण मिलाने से पशुओ की पाचन शक्ति बढती है और उसे परोक्ष रूप मे लाभ पहुँचता है। जब पशुओ के भोजन मे प्रति दिन ० ८ मिलिग्राम

तक ताबीय लवण मिलाते है तो ऊन का वजन बढ जाता है। इन लवणो की मात्रा अधिक हो जाने से ऊन पीले पड जाते है। फिर सवर्ण-लवणीय चट्टानो को उन्हे चटाकर पीलापन दूर किया जाता है। शुल्बारि की कमी अथवा आधिक्य से रेशे के विकास पर असर पडता है। मिट्टी की रचना ऊन के हस्तन रूप और उत्पादन को प्रभावित करती है। मरुभूमीय अवस्थाओ मे गर्म और सूखी हवाओ से उडकर बालू भेडो के बालो मे जा चिपकते है और कडे व रूखडे हस्तन ऊन पैदा करते है जोकि सूखे व गर्द भरे होते है। बलुआही मिट्टी चिकनी भेडो से सट जाती है और यह पता लगना मुश्किल हो जाता है कि वस्तुत कितना ऊन उत्पादन हुआ है। बालू का रग ऊन के रग को बिगाड सकता है और बहुरगी अशुद्धियाँ चिकने बालो को अनाकर्षक बना देती है। ऊन का मूल उसके उस जगह की लगी मिट्टी से पता लग जाता है जहाँकि भेडे पलती है। पश्चिमी और दक्षिणी आस्ट्रेलिया के लाल-बालू वहाँ उत्पादित ऊन का रग ललौछ-भूरा बना देते है। क्वीन्सलैड का ऊन उस क्षेत्र की विशेषता के अनुरूप ललौछ-भूरा हो जाता है। साउथडाउन ऊन का सुपरिचित और तेज हस्तक उस इलाके की चॉक-पहाडियो के कारण है।

मौसम का प्रभाव

वातावरण के प्रभाव पर तीन समय-क्रम मे विचार किया जा सकता है (१) सदियो के वातावरण का प्रभाव, जिससे कि खास किस्म का ऊन पैदा हुआ है। (२) दशको के वातावरण का प्रभाव जिससे खास नस्ले पैदा हुई है। (३) मौसम मे पडा प्रभाव—खास मौसम मे उत्पादित ऊन के स्तर पर पडा प्रभाव।

यथापि वातावरण से सम्बन्धित उक्त कारको से ये परिणाम निकल सकते है, उन पर जहाँ वे पाले जाते है उसका प्रभाव होता ही है। मौसम मे पडनेवाले प्रभाव पर नस्ल विकास और पालन का बहुत प्रभाव पडता है और उस मौसम मे पैदा हुए ऊन के स्तर पर तुरन्त प्रभाव डालता है।

कई वशो के दीर्घकालीन प्रभाव ने एक ऐसे किस्म के पशु का विकास किया है जिसकी चन्द खासियते है। इन विशेषताओं के विकास पर वातावरण का ही मुख्य प्रभाव पडा है। ये जानवर अपने ही तरह के बच्चो को जन्म देते है। इन निश्चित गुणों से, जोकि उन्होने पारिस्थितिक अवस्थाओ के प्रभाव के फलस्वरूप प्राप्त किया है तथा वह वश दर वश चला आ रहा है, एक नस्ल की स्थापना हो गयी है। यह नस्ल तब तक बनी रहेगी, जब तक कि उसे उन्ही अवस्थाओ मे पाला जाता है। इस प्रकार विभिन्न देशो और जलवायु स्थितियो में पाले जाने के कारण मेरिनो, पहाडी आदि किस्म की भेडो की नस्ल बन गयी है। इस तरह के पालन ने पहले की भेडो मे बारिशऔर मौसम से रक्षा करने हेतु बालों की जो दो तहे हुआ करती थी उन्हे समाप्त कर दिया है और अब सिर्फ मुलायम बाल पैदा करती है। इस प्रकार प्रकृति ने भौगोलिक स्थितियो और जलवायु के अनुरूप विभिन्न किस्म की भेडो को पैदा किया।

बीस से सौ वर्षो की अवधि में जो प्रभाव पडता है, उससे एक ही नस्ल की भेडो को एक ही स्थान पर, जैसे ब्रिटेन मे, पालने मे एक जैसे ही गुण भौगोलिक और जलवायु परिस्थितियो के कारण पैदा हो जाते है। उनके एक वश से दूसरे वश मे जो भिन्नता होती है वह बडी सूक्ष्म होती है। वह वातावरण के अनुसार आदते और गुण विकसित कर लेती है। इससे नस्ल बनी रहती है। मनुष्य द्वारा प्रवरणशील प्रजनन प्रयुक्त करने से भेडे प्राकृतिक और खास-खास जगहो मे पाली जाने लगी है।

इग्लैड की सबसे पुरानी नस्ल की भेड पन्द्रहवी सदी की काट्सवाल्ड है, जिसकी अब सिर्फ दो जातियाँ ही मौजूद है। अभी ब्रिटेन मे ३० विशिष्ट नस्ले है, जिन्हे चरागाही अथवा कृषक सस्थाओ द्वारा मान्यता प्राप्त है। प्रत्येक मान्य नस्ल के लिए अलग अलग भेड प्रजनन समिति है, जोकि स्टाक-बुक मे उस जाति की भेड का पूरा विवरण रखती है ताकि नस्ल का खून शुद्ध बना रहे और मौजूद भेडो मे कोई खराबी न आये। दर्ज पशुओ

मे कोई ऐसा चिह्न लगा रहता है, जोकि उनके नस्ल की शुद्धता दर्शाता है।

जलवायु परिवर्तन के प्रभाव

भेडो तथा उनके ऊन पर, उनके जीवन काल मे, वातावरण का तुरन्त प्रभाव मौसमी होता है। मौसम के परिवर्तन से एक मौसम मे छोटे रेशे पैदा हो सकते है तो दूसरे मौसम मे लम्बे। इसी तरह अगर उन्हे वैसे स्थानो मे ले जाया जाय, जोकि उनके लिए अधिक उपयुक्त हो, तो उनके ऊन मे सुधार भी हो सकता है और प्रतिकूल जगह मे ले जाये तो खराबी भी आ सकती है। कहा जाता है कि इसी कारण मेरिनो भेडे इग्लैड में टिक नही सकी। तथापि अब इस बात का प्रमाण मिलता है कि यह बिल्कुल सही नही है और इसका मुख्य कारण आर्थिक था। एक स्काटिश किसान ने कहा है कि मेरिनो भेडे अपने खाने का चुनाव करती है, अत प्रति एकड में कुछ ही भेडे चर सकती थी और इसीलिए उन्हे पालना अनुकूल नही समझा गया। तथापि इग्लैड के उत्तर, पूर्व और दक्षिण मे, यार्कशायर मे भी, कई नर मेरिनो भेड थे। भेडो को मेरिनो से परिपूरित करने के लिए टस्मानिया भेजा गया।

ससार के व्यावसायिक क्षेत्र मे ऊन व्यवसाय का महत्वपूर्ण स्थान है और ऊन सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामग्रियो मे गिना जाता है। कृषिक रूप मे अर्धविकसित क्षेत्रो मे इसका सबसे सस्ता उत्पादन होता है। दूरस्थ स्थानों मे भेज कर भी किसान इसे काफी लाभदायक पाते है। ससार मे उत्पादित कुल ऊन का अधिकाश उत्तरी गोलार्द्ध मे खपता है।

बिड़लापुर (पश्चिम बगाल), २ जून १९६४

स्कूली बच्चों के विकास पर ताड़-गुड़ का प्रभाव

मेरी जार्ज

मद्रास राज्य के उत्तरी आर्कोट जिले मे २०० लडको को पूरक भोजन के रूप मे ताड़-गुड खिलाने के प्रयोग किये गये। प्रयोगों से पता चलता है कि इससे उनकी शारीरिक बाढ को तीव्र बनाने मे सहायता मिलती है। तथापि, यह सवाल अभी शेष ही है कि आहार की कमिया अकेला ताड़-गुड़ किस हद तक दूर कर सकता है।

दक्षिण भारत मे रहनेवाले व्यक्तियो की खुराक मे पूरक भोजन के रूप मे ताड-गुड के आहार-मूल्य का अध्ययन करने के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने छ महीने के लिए अन्वेषण परियोजना स्वीकृत की। नियन्त्रित भोजन करनेवाले बच्चो को पूरक आहार के रूप मे ताड-गुड खिलाया गया और उनके शारीरिक विकास पर ऐसा करने का जो प्रभाव पडा, उसका अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के लिए मद्रास राज्य के उत्तरी आर्कोट जिले मे रानीपेट स्थित राजकीय 'जूनियर एप्रूवड स्कूल' का चयन किया गया, क्योकि वहाँ के सभी बच्चे देहात के थे और वे कुछ समय के लिए एक निश्चित खुराक पर रहे है तथा कडे नियत्रण के अन्तर्गत भी। अध्ययन अप्रैल १९६३ मे प्रारम्भ किया गया और सितम्बर १९६३ के अन्त तक जारी रहा।

प्रयोग की योजना

१ **बच्चो का चुनाव** · स्कूल मे ६०० विद्यार्थी थे। उनमे से प्रथम यो ही २०० लडको का प्रतिनिधि नमूने के तौर पर चुनाव किया गया। चुने हुए लडको को उनकी लम्बाई के अनुसार एक कतार मे खडा किया गया और मबोध चयन की विकृति को दूर करने के लिए एकान्तर लडको को छाँट कर दो वर्ग—प्रयोग वर्ग और नियत्रण वर्ग—बनाये गये।

२ **ताड-गुड खिलाना** प्रारम्भ मे यह तय किया गया कि जिन लडको को चुना गया, उनमे से प्रत्येक को लगातार छ महीने तक आम तौर पर भोजन करने के बाद २८ ग्राम ताड-गुड सुबह और २८ ग्राम शाम को खिलाया जाय।

३ **विकास-प्रभाव जानने हेतु शारीरिक माप** वजन, लम्बाई और सीने की माप साधारणतया शारीरिक विकास की कसौटी मानी जाती है। इस अध्ययन के लिए विकास-निदर्शक जानने हेतु समय-समय पर इनकी माप ली गयी। तदनुसार हर पन्द्रहवे दिन वजन और प्रत्येक तीसरे महीने लम्बाई तथा सीने की माप लेकर सबको दर्ज किया जाता था।

४ लडकों मे अध्ययन की अवधि मे यदि किसी प्रकार की पौष्टिकता सम्बन्धी कमी हुई तो स्कूल के चिकित्सा अधिकारी समय-समय पर उसका विश्लेषण करते थे।

प्रस्तुत अध्ययन मे शामिल लडको पर पौष्टिकता सम्बन्धी प्रभाव का मूल्याकन करने के लिए घर तथा स्कूल मे उनकी आहार सम्बन्धी पृष्ठभूमि का—और उनके पारिवारिक सम्बन्धो का भी, जिनका उनकी वृद्धि तथा विकास पर बडा निर्णायक प्रभाव पडता है—विश्लेषण करना वाछनीय है। मान्य स्कूलो मे साधारणतया ऐसे पचमेल लडको का समाज होता है, जिन्हे बुरी आदते होती है और जिन्हे उनसे बचाया जाता है तथा इसके लिए उन्हे एक निश्चित अवधि के लिए शिक्षा, सहकारी जीवन और सामूहिक भोजन के जरिये पुनर्वास की कठोर योजना के अन्तर्गत रहना पडता है।

इस अध्ययन के लिए जिन लडकों का नाम शामिल किया गया, इस स्कूल के अनुशासन मे उनके रहने की अवधि अलग-अलग है, जैसा कि तालिका १ मे दिखाया गया है।

तालिका १

स्कूल मे विद्यार्थियों के रहने की अवधि

मान्य स्कूल मे व्यतीत अवधि	प्रयोग वर्ग	नियत्रण वर्ग
१ वर्ष या कम	१४	२०
१ से १½ वर्ष	२४	२८
१½ से २ वर्ष	१३	१०
२ से २½ वर्ष	१३	१८
२½ से ३ वर्ष	१२	११
३ से ४ वर्ष	१५	१०
४ वर्ष और अधिक	०	२
शकास्पद	९	१
	१००	१००

पारिवारिक पृष्ठभूमि

उक्त लडको मे से ७० प्रति शत से अधिक, उन पर उक्त प्रयोग शुरू करने के पहले, एक से लेकर चार वर्ष तक की अवधि से एक-मात्र स्कूल की देख-रेख मे रहते थे। इस स्कूल रूपी घर मे आने से पहले उनका पालन-पोषण अधिकाशत उनके परिवारो की घोर गरीबी की अवस्थाओ और अव्यवस्था की स्थिति मे हुआ था। सही जानकारी १७४ लडको के सम्बन्ध मे मिली। उनमे से २८ को बाप का, १५ को मॉ का और १८ को मॉ-बाप दोनों का, मर जाने के कारण, प्यार नही मिला तथा १२ का तो स्कूल मे दाखिला, वास्तव मे, अनाथो के रूप मे हुआ। बडे-बडे परिवारो मे अधिकाश का पालन-पोषण आशिक रूप से उपेक्षित बच्चो की तरह हुआ। इस प्रकार १९ के पॉच-पॉच, ३२ के छ-छ, २४ के सात-सात, १५ के आठ-आठ, ५ के नौ-नौ, ५ के दस-दस, १ के ग्यारह और १ के १२ भाई-बहिन थे, तथा अपने परिवारो मे वे सघर्षमय जीवन बिता रहे थे। इन कारको पर एक साथ विचार करने पर पता चलता है कि इन लडको के किसी भी विकास अध्ययन अथवा पुनर्वास कार्यक्रम मे उनकी अपनी एक प्रणाली है।

पौष्टिकता कमी के लक्षण

प्रायोगिक भोजन खिलाते रहने के पहले और वैसा करते रहने के दौरान चिकित्सक अधिकारी के मार्ग-दर्शन मे पौष्टिकता के सम्बन्ध मे किये गये मूल्याकन से लडको मे जो कमियाँ ध्यान मे आयी, उनका विवरण तालिका २ मे दिया गया है।

तालिका २

पौष्टिकता सम्बन्धी कमी के लक्षण

	प्रयोग से पूर्व		प्रयोग के दौरान	
	प्रयोग वर्ग	नियत्रण वर्ग	प्रयोग वर्ग	नियत्रण वर्ग
सृक्क-शोथ	३०	१६	१	–
जीव्हा–शोथ	–	५	१	–
नेत्रश्लेषमला-शोथ	–	–	१७	४
रतौधी	२	–	–	–

आहार सिंहावलोकन

कुछ को छोड कर ये सभी लडके गरीब अथवा घोर गरीब परिवारो के थे। दक्षिण भारत मे लोगो के असतुलित आहार–निम्न कोटि का चावल–से उनकी भोजन सम्बन्धी पृष्ठभूमि का पता चलता है। इस आहार मे कुल कैलोरी का ८५ प्रति शत अथवा उससे भी अधिक, भाग चावल और एक या ज्यादा किस्म के मोटे अनाज का रहता है। प्रोटीन युक्त भोजन–फिर चाहे उसका स्रोत निरामिष हो अथवा सामिष–का अनुपात बहुत ही कम है। दूध का सेवन प्राय नगण्य है। हरी सब्जी,

दाल, फल आदि जैसे सरक्षणकारी पदार्थों का सेवन भी बहुत कम होता है। जब अनाज की कमी होती है तो टेपिओका जैसे कन्द मूल का, जहाँ-कही उपलब्ध हो वहाँ पूरक भोजन के रूप मे उपयोग किया जाता है। 'जूनियर एप्रूवड स्कूल' मे भर्ती होने से पहले इन बच्चो को इसी प्रकार के आधार पर अपना गुजर करना पडता था, जिसमे गुण और मात्रा दोनो की कमी थी।

एक से चार वर्ष तक की अवधि में स्कूल मे इन बच्चो को जो खुराक दी जाती थी, उसके औसत मूल पदार्थों का वर्णन तालिका ३ मे दिया गया है।

तालिका ३

स्कूल के भोजन की अनुसूची

मद	सुबह	दोपहर	शाम
गेहूँ	१४२ ग्राम	—	—
चावल	—	११३ ग्राम	८५ ग्राम
सब्जी	—	११३ ५ ग्राम	११३ ५ ग्राम
दूध	(मासाहारी)	० ८१	केवल शुक्रवार को प्रत्येक को ८१ ग्राम दूध
	(शाकाहारी)	० १६२	—
मास	—	० ९८ ग्राम*	—
प्याज	—	७ ग्राम	७ ग्राम
भूनी हुई मूँगफली	—	—	२८ ग्राम
दाल	—	३८ ग्राम	३८ ग्राम
घी	—	१४ ग्राम†	—
केले	—	—	२ केवल शुक्रवार को
गुड	—	—	१४ ग्राम
इमली	—	७ ग्राम	७ ग्राम
जिजली तेल	—	१५.७५ ग्राम	१५.७५ ग्राम
पिसा हुआ मसाला	—	३ ५ ग्राम	३ ५ ग्राम
नमक	७ ग्राम	९ ग्राम	९ ग्राम

* केवल मगलवार, गुरुवार और रविवार को।

† केवल बुधवार और रविवार को।

इस रोजमर्रा की औसत खुराक का प्रोटीन, वसा, कारबोहायड्रेट और खनिज तत्वों सम्बन्धी तथा इसके दैनिक कैलोरी-तत्वों के बारे मे विस्तृत विश्लेषण तालिका ४ (पृष्ठ ६८७) मे किया गया है।

उक्त सघटको के विटामिन मूल्य का हिसाब नही लगाया गया है, क्योंकि सप्लाई किये जानेवाले पकाये हुए भोजन का विश्लेषण नही किया गया है और यह भी पता नही है कि विभिन्न सघटको को पकाने मे तथा उनके भाण्डारीकरण मे कितना नुकसान होता है।

प्रायोगिक भोजन

दक्षिण भारतवासी भूतकाल से ही अपने भोजन मे ताड-गुड का उपयोग करते आये है, यद्यपि अब धीरे-धीरे इसके स्थान पर चीनी का प्रयोग किया जाने लगा है—खास कर शौकिया कारणो को लेकर। आहार-मूल्य सम्बन्धी तालिकाओ (हेल्थ बुलेटिन २३) मे गुड के मुख्य तत्वो का विश्लेषित मूल्य इस प्रकार दिया गया है

खनिज द्रव्य ० ६ प्रति शत (कैल्सियम ० ०८ प्रतिशत, फासफोरस ० ०४ प्रति शत, लोहा ११ ४ माइक्रो ग्राम प्रति शत)

कारबोहायड्रेट ९५ प्रति शत

विटामिन 'ए' ० (प्रति १०० ग्राम अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयाँ)

कैरोटीन २८० (अन्तर्राष्ट्रीय विटामिन 'ए' इकाइयाँ)

विटामिन 'बी' २० (प्रति १०० गाम पीछे माइक्रो ग्राम)

निकोटिनिक अम्ल १ (प्रति १०० ग्राम पीछे माइक्रो ग्राम)

राइबोफ्लैविन ० (प्रति १०० पीछे माइक्रो ग्राम)

विटामिन 'सी' ० (प्रति १०० ग्राम पीछे माइक्रो ग्राम)

परिष्कृत चीनी मे जहाँ सभी कारबोहायड्रेट होते है, गुड में किसी हद तक निर्माणात्मक और सरक्षणकारी भोजन के तत्व भी होते है। चन्द चिकित्सा सम्बन्धी उपयोगों के लिए भी गुड का प्रयोग करना बताया गया है, उदाहरणार्थ अनिसार, जिसके फलस्वरूप आत्र ज्वर हो जाता है, और शैशवकालीन अतिसार आदि।

ताड-गुड का उपयोग

अध्ययन की लघु कालीन अवधि मे सुबह और शाम के भोजन के बाद २८-२८ ग्राम ताड-गुड खाने के लिए दिया गया। बिना किसी व्यवधान के १८१ दिन तक लगातार नियमित रूप से ताड-गुड खिलाया जाता रहा।

मामूली बीमारी के कारण अनुपस्थिति अथवा अन्य अपरिहार्य कारणों से स्कूल छोड देने के अपवादो को छोड कर लडके भी प्राय इस सम्बन्ध मे नियमित रहते थे। ताड-गुड उपभोग मे नियमितता इस प्रकार रही

ताड-गुड खाने के वक्त उपस्थिति (प्रतिशतथ)	लडकों की सख्या
१००	८४
९५ से १००	३
९० से ९५	२
८५ से ९०	१*
८० से ८५	८*
७५ से नीचे	२
१८१ दिन	१०० लडके

* प्रयोग समाप्ति से पूर्व स्कूल छोड गये।

अध्ययन के उत्तरार्द्ध मे जिन लडकों ने स्कूल छोडा उनमे से नौ प्रायोगिक लडको मे से थे, चार नौ वर्ष के आयु वर्ग मे से थे और एक-एक अन्य पाँच वर्गों मे से। सितम्बर के अन्त से पूर्व जिन्होंने स्कूल छोडा उनमे से १२ नियत्रण वर्ग मे से थे, एक दस-वर्षीय आयु-वर्ग मे से, तीन बारह-वर्षीय आयु वर्ग मे से, तीन तेरह-वर्षीय आयु-वर्ग मे से और एक चौदह-वर्षीय आयु-वर्ग मे से था।

शारीरिक माप

कुल २०० लडकों—एक सौ प्रयोग वर्ग मे और एक सौ नियत्रण वर्ग मे—से प्रत्येक का हर पन्द्रहवे दिन वजन लिया जाता था तथा लम्बाई और सीने की माप हरेक तीसरे महीने। बाद मे आकडो को सारणीबद्ध करने के लिए इन लडकों को स्कूल मे दर्ज उनकी उम्र के अनुसार आयु-वर्गों मे विभक्त किया गया। कुल २०० विद्यार्थियो मे से १९३ छात्र ९–१५ के आयु वर्ग मे थे शेष सात लडके १६ और १७ वर्ष से कम उम्र के थे तथा उनकी सख्या नगण्य थी, इसलिए औसत निकालते वक्त उन्हे छोड दिया गया।

तालिका ४

स्कूल के भोजन में मुख्य तत्वो का परिकलित मूल्य
(दैनिक आधार पर सगणित)

मद		प्रोटीन	वसा	कारबोहायड्रेड	खनिज तत्व	कैलोरी
उसना चावल	१९८ ग्राम	१२ ६७	० ७९	१५६ ६२	१ ५८	६८५ ०८
गेहूँ	१४२ ,,	१६ ७६	२ १३	१०१ १०	२ १३	४९४ १६
दाल	७६ ,,	१९ ०८	० ५३	४५ ३७	१ ६०	२६२ ९६
भूनी हुई मूँगफली	२८ ,,	८ ६२	११ १०	५ ४०	० ६४	१५७ ०८
माँस (सप्ताह मे तीन बार, प्रत्येक बार १४ ग्राम)	४२ ,,	० ७८	० ५६	—	० ०६	० ८१
दूध (सप्ताह मे सबको केवल एक दिन)	१२ ४ ,,	० ४१	० ४५	० ५९	० ०९	८ ०६
सब्जी	२२७ ,	७ ०४	९ ९१	१३ ७३	४ ०९	९१ ९४
प्याज	१४ ,,	० १७	० ०१	१ ६२	० ०८	७ १४
गुड	१४ ,,	० ०६	० ०२	१३ ३०	० ८४	५३ ६२
केले (सप्ताह मे एक दिन, प्रत्येक को दो-दो)	—	० १५	० ०१	३ ४५	० १०	१४ ५६
जिंजली तेल, घी	३५ ५ ,,	—	३५ ५०	—	—	३३० १५
योग		६५ ९४	५२ ०१	३४१ १८	११ २१	२,१०५ ५६

प्रत्येक पक्ष के लिए दर्ज किये गये वजन का रिकार्ड उपलब्ध है, लेकिन अनुक्रमिक वाचनो का अन्तर बहुत ही कम है, इसलिए आकडो के अन्तिम विश्लेषण हेतु केवल त्रैमासिक औसत का ही उपयोग किया गया है। विकास अध्ययन के लिए आधार का काम देने हेतु अप्रैल के महीने मे प्रत्येक आयु वर्ग के औसत वजन, लम्बाई और सीने मे सम्बन्धित जो शुरू-शुरू के वाचन थे उनका उपयोग किया गया। प्रयोग और नियत्रण वर्ग के विद्यार्थियो के वजन, लम्बाई और सीने से सम्बन्धित प्रारम्भिक, त्रैमासिक तथा छमाही औसतो को सारणीबद्ध एवम् सलग्न किया जा चुका है। सभी वर्गो के लिए नमूने काफा बडे अथवा एक समान तक नही हैं, आकडो का किसी महत्वपूर्ण रूप मे साख्यिकीय विश्लेषण नही किया गया है, क्योकि किसी क्षेत्रीय आधार पर वजन, लम्बाई व सीने के सम्बन्ध मे कोई अधिकारिक स्तर उपलब्ध नही है, जोकि इस प्रकार के विश्लेषण के लिए आवश्यक होते है।

अध्ययन से प्राप्त परिणामो पर गौर करने मे पूरक भोजन के रूप में दिये गये ताड-गुड के लाभ सामने आते है। प्रयोग-वर्ग के प्राय सभी आयु-वर्गो मे—९ और १४ वर्षवाले वर्ग को छोड कर—लडको के वजन मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि और एकरूपता है। सम्भवत कुछ शरीर-विज्ञान सम्बन्धी कारणो से १५ वर्ष की आयुवाले प्रयोग तथा नियत्रण दोनो ही वर्गो के लडको के सितम्बर माह के औसत वजन मे कमी हुई है। यथापि, सात में से पॉच आयु-वर्गो के ताड-गुड खानेवाले लडको का औसत वजन उन्ही के समानान्तर नियत्रण वर्गवाले लडको से निश्चित रूप से ज्यादा रहा।

निष्कर्ष

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्य शरीर विज्ञान सम्बन्धी कारणो के अलावा अन्यथा अवस्थाओ मे विकास, वजन, लम्बाई और सीने सम्बन्धी शारीरिक सूचको के बारे मे ताड-गुड खानेवालों की वृद्धि दर नियत्रण वर्गवाले लडको से ऊँची रही है। ताड-

तालिका ५

ताड़-गुड सेवन सम्बन्धी प्रयोगों के परिणाम

आयु वर्ग	लडको की सख्या		औसत वजन	औसत वजन वृद्धि		औसत सीना	सीने में औसत वृद्धि		औसत लम्बाई	औसत लम्बाई वृद्धि	
	तीन माह	छ माह	(किलोग्राम)	तीन माह	छः माह	(इच मे)	तीन माह	छ. माह	(इच में)	तीन मा	छ माह
९	१०	६	१८ ७	१९ १५	२०·५५	२१ ६४	२२ ३९	२२ ५६	४४ १४	४४ ६९	४५ १३
				१८ ९०	२० ६२		२१·९५	२१ ८२		४४ ४५	४४ ९५
१०	९	७	२० ८३	२१ २८	२३ ७७	२२ ६८	२३ ४३	२४ २५	४५ ७०	४६ ३३	४६ ७६
				२१ १३	२२ ६९		२२·८१	२३ ११		४५ ८९	४६ ३४
११	१८	१७	२२ ६०	२३ ००	२४ १८	२२ ७८	२३ ३५	२३ ८८	४९ ०६	४९ ६७	५० १३
				२२·८१	२२ ९४		२३ ०४	२३ ३३		४९ ३१	४९ ६९
१२	२४	२३	२४ १५	२४ ५८	२५ ४०	२३ ०९	२३ ६८	२४ ३३	५० १८	५० ६९	५१ १४
				२४ ४३	२४ ३०		२३ ३०	२३ ७१		५० २९	५० ७५
१३	२०	१९	२४ २५	२४·६६	२५ ७८	२३ ३४	२४ ०९	२४ ३८	५० २५	५० ८०	५१ ३८
				२४ ४८	२४ ७४		२३ ६३	२३ ९५		५० ५१	५० ८९
१४	१२	११	२५ ०१	२५·४१	२५ ७७	२३ २८	२३ ९१	२४ ६८	५१ ०८	५१ ७९	५२ ०२
				२५ २१	२६ ११		२३·६६	२३ ९१		५१ ३०	५१ ६२
१५	६	६	२६ ४५	२६·८०	२५ ९०	२३ ४२	२४·०९	२४ ५९	५१ ५०	५२ २५	५२ ९६
				२६ ६८	२५ २१	२	२३ ७४	२३ ८३		५१ ७८	५२ ०६

गुड सस्ता है और प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध भी है। यह पर्याप्त, प्रचलित और बच्चों को सर्वाधिक स्वीकार्य भोजन भी है।

अध्ययन अभी अपूर्ण है, क्योकि हम यह स्पष्ट दोष ही जानते है कि मौजूदा भोजन-स्वरूप मे प्रोटीन, खनिज—खास कर कैल्सियम—और विटामिन 'ए' तथा विटामिन ई२ की कमी है। इसलिए प्रश्न यह उठता है कि बचपन से लेकर स्कूली उम्र व प्रौढावस्था तक ताड-गुड किस हद तक ये कमियॉ दूर करता है। भूनी हुई मूंगफली के साथ ताड-गुड खाने पर कुछ अन्य दोष भी दूर होने चाहियें। वृद्धिशील बच्चो को दूध अथवा सपरेटा देने मे अधिकाधिक रुचि लेने पर दक्षिण भारत मे बिना किसी विशेष खर्च के आहार को स्तरीय आवश्यकता का बनाया जा सकता है।

रानीपेट (मद्रास) २१ अप्रैल १९६४

सन्दर्भ

वस्तुत मै राजकीय जूनियर एप्रूवड स्कूल, रानीपेट के सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री वी वी मन्त्रमूर्ति, बी ए, स्कूल के कार्यभारी चिकित्सा अधिकारी डाक्टर पी सी सोलोमन, बी जी आय. एम, एप्रूवड स्कूल के क्रिया-विज्ञान शास्त्री (फीजिओलॉजीस्ट) श्री मोहम्मद नौरोरुद्दीन, एम ए; तथा मद्रास ताड़-गुड सहकारी सघ के कार्यकर्ताओ की आभारी हूँ, क्योंकि उनकी सहायता और सहयोग के बिना प्रस्तुत प्रतिवेदन शायद ही तैयार हो पाता।

प्रस्तुत अध्ययन जूनियर एप्रूवड स्कूल के अधिकारियों के अनवरत सहयोग के कारण ही सम्भव बन पड़ा।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और सहकारिता प्रशासन

राज्य सहकार मन्त्रियों का फरवरी १९६३ मे लखनऊ में एक सम्मेलन हुआ था। सम्मेलन ने एक सिफारिश की थी। उसके अनुसार दो महीने बाद भारत सरकार ने "विभिन्न राज्यों में सहकारी विभागों के प्रशासन को मजबूत बनाने के लिए आवश्यक उपायों" का सुझाव देने हेतु श्री वैकुण्ठ ल मेहता की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया। 'लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और सहकारिता प्रशासन' उक्त समिति के प्रतिवेदन का, जिसकी तारीख ३० अक्तूबर १९६३ है, ग्यारहवा अध्याय है।

आजादी हासिल करने के बाद देश मे एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह हुआ है कि प्राय सभी राज्यो मे 'पचायत राज' का श्रीगणेश हो चुका है। दिनाक २ अक्तूबर १९५९ को जिला परिषदो और पचायत समितियो की स्थापना के जरिये 'पचायत राज' की स्थापना करनेवाला देश मे सबसे पहला राज्य है राजस्थान। इस नीति के अनुसरण स्वरूप सामुदायिक विकास खण्डो के कर्मचारीगण पचायत समितियो को हस्तातरित किये गये। उसके साथ ही खड के लिए राज्य सरकार के बजट-बटन समितियो को सौप दिये गये। विकास अधिकारी को समिति के प्रधान के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। खण्ड स्तर पर खण्ड विकास समितियो का स्थान पचायत समितियो ने ले लिया और वे पचायतो के कामो का पर्यवेक्षण करने लगी।

राजस्थान के करीब एक माह बाद आध्र प्रदेश ने २३५ पचायत समितियो और २० जिला परिषदो की स्थापना की। तत्पश्चात् अन्य आठ राज्यो—असम, उत्तर प्रदेश, उडीसा, गुजरात, पजाब, मद्रास, महाराष्ट्र और मैसूर—मे पचायत राज की स्थापना हो चुकी है। पश्चिम वगाल, बिहार और मध्य प्रदेश मे तत्सम्बन्धी कानून बन चुके है, लेकिन अभी उन्हे कार्यान्वित किया जाना शेष है। केरल मे कानून का प्रारूप समीक्षा के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी अधिकारियो के पास भेजा गया है। जम्मू और कश्मीर मे अभी इस बारे मे कानून बनाना बाकी है।

पचायत राज की स्थापना राष्ट्रीय विकास परिषद के निर्णय के मुताबिक हुई, जिसने जनवरी १९५८ में हुई अपनी बैठक मे बलवन्तराय मेहता समिति की लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी सिफारिशो को स्वीकृत किया। उसने पचायत राज के निम्न बुनियादी सिद्धान्तो पर जोर दिया

क गॉव से लेकर जिले के स्तर तक यह एक त्रि-सूत्री सगठन होना चाहिए। इन तीनो सगठनो मे परस्पर सजीव सम्बन्ध होना चाहिए।

ख उन्हे शक्ति और उत्तरदायित्वो का यथार्थ हस्तातरण किया जाना चाहिए।

ग अपनी जिम्मेवारियॉ पूरी करने मे समर्थ बनाने के लिए इन सस्थाओ को उपयुक्त साधन-स्रोत हस्तातरित किये जाये।

घ तीनो ही स्तरो पर सभी विकास कार्यक्रम इन सस्थाओ के जरिये चलाये जाने चाहिए।

ड विकास किया जाय वह ऐसा हो कि उससे भविष्य मे शक्ति तथा उत्तरदायित्वो का और अधिक विस्फुरण एवम् प्रतिनिधिकरण करने मे सुविधा हो।

पंचायत राज संगठनों के कार्य

प्रत्येक राज्य को यह आजादी दी गयी कि वह अपनी स्थानीय आवश्यकताओ के अनुसार पचायत राज के जिस किसी स्वरूप को उपयुक्त समझे, अपनाये।

विभिन्न राज्यो मे बने कानूनो मे पचायत राज सस्थाओं

के अधिकार और कर्तव्य बताये गये है। ग्राम स्तर पर सभी विकास कार्यों की जिम्मेवारी पचायतो को दी गयी है। सभी सरकारी विभागो के जो विकास कार्यक्रम अब तक सामुदायिक विकास खण्ड चलाते थे, अब उन्हे चलाने की जिम्मेवारी पचायत समितियो की बना दी गयी है। 'जला परिषद सामान्यत समन्वयकारी योजना बनाने वाली और पर्यवेक्षक सगठन है। तथापि, विभिन्न राज्यो की विभिन्न सस्थाओ के कार्यों व उनके क्षेत्र मे भिन्नताएँ रही है। पचायत समिति वह अभिकरण है जिसे मुख्यत विकास योजना बनाने और विभिन्न विकास कार्यक्रम चलाने का दायित्व सौपा गया है। इन विकास कार्यक्रमों मे कृषि, पशु-पालन, सहकार, कुटीर उद्योग, शिक्षा, सिचाई, आदि को प्रोत्साहन देना भी शामिल है। जहाँ तक सहकार सम्बन्धी कार्यक्रम के कार्यान्विय का ताल्लुक है इन सस्थाओ को, सहकारिता विभाग के कर्मचारी उपलब्ध करवाये गये है। पचायत राज सगठन के पास, जोकि सहकारिता से भी ताल्लुक रखता है, जो कर्मचारी गण है उनके स्वरूप मे कोई एक रूपता नही है। जहाँ अधिकाश राज्यो मे प्रत्येक पचायत समिति मे सहकारिता निरीक्षक के दर्जे का एक-एक विस्तार अधिकारी प्रतिनियुक्त है, वहाँ आध्र प्रदेश मे एक सहकारिता उप-पजीयक प्रतिनियुक्त है, जो सहकारिता विकास अधिकारी के तौर पर काम करता है और जिसकी सहायता के लिए, खण्ड मे सहकारी समितियो की सख्या व काम के अनुसार एक प्रवर अथवा अवर निरीक्षक होता है। महाराष्ट्र मे पचायत समिति के कर्मचारियो का गठन अथवा स्वरूप इस प्रकार होता है

पचायत समितियों मे विस्तार अधिकारियों के स्थानों की पूर्ति सहकारी विभाग से स्थानातरण करने और ग्राम सेवको को तरक्की देने के जरिये की गयी है। सहकारिता विभाग ने पचायत समितियो मे कर्मचारियो को प्रतिनियुक्ति करने के अलावा प्रत्येक जिला परिषद मे एक-एक सहायक पजीयक, सहायक सहकारिता अधिकारी और कुछ प्रशासनात्मक कर्मचारी (एक प्रधान क्लर्क, एक प्रवर क्लर्क और तीन अवर क्लर्क) भी प्रतिनियुक्त किये है। जहाँ अधिकाश राज्यो मे सहकारिता विभाग के कर्मचारियों की प्रतिनियुक्ति की अवधि अन्तिम रूप से निर्धारित नही की गयी है वहाँ महाराष्ट्र मे जिला परिषदों मे प्रतिनियुक्त किये गये सहायक पजीयको की सेवाएँ ही पुन सहकारिता विभाग मे स्थानातरित करने का ईरादा दीख पडता है।

विस्तार अधिकारियों पर नियंत्रण

हमे बताया गया कि अधिकाश राज्यों मे पचायत राज सगठनो मे प्रतिनियुक्त किये गये कर्मचारियो पर प्रशासनात्मक नियत्रण तो खण्ड विकास अधिकारी का और प्राविधिक नियत्रण सहकारिता विभाग के जिला अधिकारी का रखा गया। यह भी बताया गया कि सामुदायिक विकास खण्डो मे पहले से जो व्यवस्था चली आ रही थी वह जारी रखी गयी। जिस प्रश्न पर हमारा ध्यान गया वह यह है कि सामुदायिक विकास खण्डो मे पचायत राज सगठनो को अधिकार का हस्तातरण करने के साथ

अ ६० हजार तक की आबादीवाली पचायत समिति
- १ सहायक सहकारी अधिकारी के दर्जे का एक अवर (जूनियर) विस्तार अधिकारी, और
- २ एक सहायक विस्तार अधिकारी।

आ ६१ हजार से १ लाख २० हजार तक की आबादी वाली पचायत समिति
- १ सहकारिता अधिकारी के दर्जे का एक विस्तार अधिकारी,
- २ एक अवर विस्तार अधिकारी, और
- ३ एक सहायक विस्तार अधिकारी।

इ १ लाख २० हजार से ज्यादा आबादीवाली पचायत समिति
- १ एक विस्तार अधिकारी, और
- २ दो अवर विस्तार अधिकारी।

सहकारिता कर्मचारियो पर नियत्रण के मामले मे परिवर्तन हुए है या नही और हुए है तो किस हद तक।

सांविधानिक शक्ति सौपना

प्रश्न उठता है कि क्या पजीयक के सांविधानिक कर्तव्यों का भी पचायत राज सगठनो को हस्तातरण किया गया है। गुजरात, मद्रास और महाराष्ट्र के अलावा अन्यत्र ऐसा नही किया गया है। गुजरात मे, गुजरात पचायत अधिनियम १९६१ की धारा १५६ के अन्तर्गत इस प्रकार व्यवस्था है

१ बम्बई सहकारी समिति अधिनियम, १९२५ अथवा फिलहाल गुजरात मे लागू अन्य किसी कानून मे जो कुछ भी निहित है उसके बावजूद राज्य सरकार पचायत कार्य सूची का ध्यान रखते हुए, उन शर्तों के अन्तर्गत जिन्हे लागू करना वह योग्य समझे, आधिकारिक राजपत्र मे प्रकाशित आदेश द्वारा जिला पचायत और उसके अन्तर्गत तालुका पचायतो को पजीयक अथवा उक्त अधिनियम अथवा अन्य किसी कानून के अन्तर्गत, जोकि आज्ञा मे बताया जा सकता है, किसी भी दूसरे अधिकारी की शक्तियाँ, कार्य और कर्त्तव्य सौप सकती है।

२ खास कर, इस प्रकार के आदेश मे निम्न विषयो के सम्बन्ध मे शक्तियाँ देने की व्यवस्था हो सकती है

अ सहकारी समितियो का पजीकरण,

आ सहकारी समितियों के उप-नियमो के संशोधनो को मान्यता,

इ किसी सहकारी समिति मे सदस्यो को प्रवेश न देने पर सामने आनेवाली अपीले,

ई सहकारी समितियो का रजिस्टर रखना,

उ किसी सहकारी समिति के नाम अथवा वर्गीकरण मे परिवर्तन,

ऊ सहकारी समितियो को भागीदारी मे शामिल होने के लिए अनुमति,

ए सहकारी समितियो की वार्षिक आम सभा बुलाने अथवा बुलाने की अवधि बढाना,

ऐ किसी सहकारी समिति की विशेष आम सभा बुलाना,

ओ सहकारी समितियो के बन्द पड जाने पर उनकी अतिरिक्त सम्पत्ति की निकासी,

औ सहकारी समितियो के हिसाब-किताब तथा कागजात उत्तराधिकारी अध्यक्ष को देने के लिए मार्ग दर्शन।

प्रावधान के अनुसार उल्लिखित शक्तियाँ, जहाँ तक उन सहकारी समितियो का ताल्लुक है जिनका कार्य-क्षेत्र एक जिले से कम का है और जिनकी अधिकृत हिस्सा-पूजी पाच लाख रुपये से कम है, जिला पचायतो को हस्तातरित कर दी गयी है। ऐसी व्यवस्था रखी गयी है कि जिला पचायत जिन सहकारी समितियो को पजीकृत करे वे सहकारिता विभाग द्वारा निर्धारित आदर्श उप-नियमो के अनुरूप होनी चाहिये। जिला पजीयक *सहकारिता विभाग मे अपने अन्य कर्तव्य पूरी करने के अलावा, उक्त शक्तियो का इस्तेमाल करने के लिए जिला पचायत के प्रशासनात्मक नियत्रण मे काम करता है। हमारे पर्यवेक्षण से जिला अधिकारियो पर किसी हद तक दोहरा नियत्रण है, लेकिन चूकि उक्त व्यवस्था हाल ही मे लागू हुई है, इसलिए उसके प्रभाव का मूल्याकन करना जल्दबाजी होगी।

महाराष्ट्र मे जिला परिषद को प्रतिनियुक्त और इसलिए उसके प्रशासनात्मक नियत्रन मे काम करनेवाला सहायक पजीयक पजीकरण उप-नियमो के सशोधन और समितियो मे सदस्यो को दाखिल न करने के फलस्वरूप पैदा होनेवाली अपीलों के सम्बन्ध मे शक्तियो का प्रयोग करता है। कानून के अन्तर्गत जिलापरिषद के कर्त्तव्यों का प्रावधान इस प्रकार है -

§ सहकारी सनितियो (वे समितियाँ जिनका कार्य क्षेत्र

---

* जिला स्तर पर कार्य करनेवाला सहकारिता विभाग का अधिकारी।

§ महाराष्ट्र जिला परिपद और पचायत समिति अधिनियम, १९६१—१९६२(में संशोधित) की प्रथम अनुसूची।

एक जिले से कम क्षेत्र मे हो और जिनकी अधिकृत हिस्सा-पूजी एक लाख रुपये से ज्यादा नही, जिन्हे आगे इस इन्दराज मे "उक्त समितियाँ" कहा जायेगा) पर व्यवसाय स्तरो मे और वित्तीय स्थिति मे सुधार करने तथा इस प्रकार की समितियो के सम्बन्ध मे सहकारी आन्दोलन की कार्यशीलताओ का विस्तार करने की दृष्टि से केवल उक्त समितियो का सामान्य कार्य-सचालन, उनके प्रबन्ध और माली हालत का मुआयना करने की सीमा तक ही और खास कर

क उक्त समितियो के पजीकरण,

ख उक्त समितियो के उपनियमो की स्वीकृति, और

ग उक्त समितियों मे सदस्यों को शामिल न करने के फलस्वरूप सामने आनेवाली अपीलो पर कार्यवाही करने के काम मे शीघ्रता लाने के लिए प्रशासनात्मक नियत्रण।

अधिनियम के उक्त प्रावधान की व्यवस्था के सन्दर्भ मे, जिला परिषद मे नियुक्त अथवा उसके अन्तर्गत काम करनेवाले सहायक पजीयक को अधिनियम के अन्तर्गत अपने कार्य आदर्श उप-नियमो और पजीयक द्वारा प्रेषित निर्देशो के अनुसार करने पडते है तथा उसे पजीयक के सामान्य मार्ग-दर्शन, अधीक्षण और नियत्रण के अन्तर्गत काम करना पडता है। केवल प्रशासनात्मक मामलो मे ही वह जिला परिषद के सामान्य पर्यवेक्षणान्तर्गत होता है। हमे बताया गया कि अभी हाल ही मे मद्रास मे विस्तार कर्मचारियो को उप-नियमो मे सशोधन दर्ज करने का अधिकार दिया गया है, यद्यपि मात्र यही अधिकार देने की आवश्यकता स्पष्ट नही है। हमने एक पजीयक के साथ इस मसले पर चर्चा की। उसका विचार था कि चूकि जिला परिषद को जो शक्तियॉ दी गयी है उनका इस्तेमाल आदर्श उप-नियमो के अनुसार और जिला अधिकारी के सामान्य मार्गदर्शन, नियत्रण के अन्तर्गत करना होता है, इसलिए हो सकता है कि उक्त व्यवस्था असन्तोषप्रद न हो।

पचायत राज सस्थाओ को साविधानिक शक्तियाँ देने के सवाल का 'पचायतो और सहकारिताओ पर कार्यकारी दल' ने परीक्षण किया था। इस विषय पर दल ने निम्न विचार व्यक्त किये

शक्तियाँ देने के सवाल के स्पष्टत दो भिन्न पक्ष है जिनके सम्बन्ध मे कभी-कभी भ्राति हो जाती है। सहकारिताओ के सम्बन्ध मे फिलहाल पजीयक को कुछ साविधानिक और असाविधानिक शक्तियाँ प्राप्त है। यह नीति के रूप में स्वीकार कर लिया गया है कि भविष्य मे पजीयक की शक्तियाँ कानून मे प्रदत्त शक्तियो तक ही सीमित रहनी चाहिये। इसके अतिरिक्त समय-समय पर यह भी सुझाया गया है कि इनमे से कुछ शक्तियाँ धीरे-धीरे करके सहकारी समितियो और उनके सघीय सगठनो को दे देनी चाहिये। सहकारी आन्दोलन मे स्व-नियमन और वाह्यानुशासन के स्थान पर स्वानुशासन की स्थापना ही सहकारिताओं का उद्देश्य है। चूंकि पचायत राज सस्थाओ को सहकारिताओ के सम्बन्ध मे शक्तियो का प्रयोग करना चाहिये, उक्त दल का इसी से ताल्लुक है, इसका वस्तुत उन सोपानो से सम्बन्ध नही है कि उनके अनुसार पजीयक की शक्तियॉ सहकारो व उनके सघो को दी जा सकती है। चूकि पचायत राज सस्थाओ से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने सम्बद्ध स्तरो पर सरकार के रूप मे काम करेगी, इसलिए यह बिल्कुल स्पष्ट कर देना चाहिए कि इन सस्थाओ को शक्ति देने का असर सहकारी आन्दोलन को स्व-नियमित करना नही होगा। सहकारी आन्दोलन पर जिला परषिद अथवा पचायत समिति की शक्ति उसी अर्थ मे वाह्य शक्ति होगी जिस अर्थ मे आज उस पर पजीयक की शक्ति है। जिला परिषद और पचायत समिति को सहकारिताओ पर किस हद तक शक्ति प्रदान की जा सकती है, इसका निर्णय इसी सन्दर्भ मे करना चाहिए।

प्रश्न का दूसरा पक्ष कुछ वे शक्तियॉ पचायत राज सस्थाओ को हस्तातरित करने से सम्बद्ध है जिनका फिलहाल पजीयक प्रयोग करता है। सम्भवत यह

दलील दी जा सकती है कि चूंकि फिलहाल सहकारी आन्दोलन पजीयक का वाह्य अनुशासन स्वीकार करता है, इसलिए यदि यह अनुशासन उपयुक्त स्तरो पर पजीयक के स्थान पर पचायत राज सस्थाओ को दे दिया जाता है तो सहकारी आन्दोलन को किसी प्रकार की शिकायत नही होनी चाहिये। तथापि, इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे दो गम्भीर एतराज है। प्रथम, कुछ राज्यो मे सहकारी आन्दोलन आत्म-निर्भर बन रहा है और शनै शनै राजकीय अभिरक्षण से नमस्कार कर रहा है। यदि यह प्रक्रिया विकास की वर्तमान अवस्था मे निश्चलीकृत' कर दी जाती है और स्थानीय सस्थाएँ सरकार के 'हिताधिकारियो' के रूप मे पजीयकी शक्तियॉ अपने हाथ मे लेती है तो इस बात की कोई आशा नही है कि सहकारिताएँ निकट भविष्य मे ही स्व-नियमित बन जायेगी। द्वितीय, सरकारी अधिकारी के रूप मे पजीयक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह राजनीतिक प्रभाव से ऊपर उठा हुआ होगा और किसी बात के सम्बन्ध मे निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनायगा। स्थानीय सस्थाओ से उपयुक्त रूप मे यह अपेक्षा नही की जा सकती कि ये भी उसी प्रकार निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनायेगी, क्योकि उनमे स्पष्टत राजनीतिक प्रभाव होगा। और फिर, पजीयक को प्राप्त कुछ शक्तियाँ निर्वाचित सस्थाओ को हस्तारित नही की जा सकती।

इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए हम नही समझते कि पजीयक की कोई भी शक्ति जिला परिषद और/अथवा पचायत समिति को हस्तातरित करना वाछनीय होगा। पजीयन, प्रबन्ध समिति को बर्खास्त करना, उप-नियमो की स्वीकृति और उनमे सशोधन, सदस्यो पर 'सरचार्ज लगाना, मध्यस्थता और परिसमापन स्पष्टत अर्द्ध-न्यायिक शक्तियाँ है एवम् पजीयक के पास ही रहनी चाहिये। लेखा-परीक्षण भी पजीयक का साविधानिक कर्तव्य है, जो वह विशिष्ट योग्य कर्मचारियो के जरिये पूरा करता है तथा वह निर्वाचित सस्थाओ को हस्तातरित नही किया जा सकता।

(अध्याय ६, पैराग्राफ ९ से ११ तक)

* * *

कानून अथवा नियमो मे इस बात की व्यवस्था होनी चाहिये कि सदस्यता के लिये आवेदन-पत्र पर उसकी प्राप्ति से १५ दिन के अन्दर-अन्दर विचार किया और स्पष्ट उत्तर दिया जाना चाहिये। यदि किसी व्यक्ति को सदस्य न बनाने का निर्णय किया जाता है तो उसके कारण दर्ज किये चाहिये तथा १५ दिन के भीतर प्रार्थी को बताये जाने चाहिये। यदि इस अवधि मे कोई निर्णय प्रार्थी तक नही पहुँचाया जाता है तो यह मान ही लेना चाहिये कि इन्कार कर दिया गया है तथा एक निश्चित अवधि मे अपील करने का अधिकार प्रार्थी को होना चाहिये। अपील कर देने पर सम्बद्ध उत्तरदायी सहकारी अधिकारी को चाहिये कि वह एक माह की अवधि मे अपील पर फैसला कर दे। हम नही सोचते कि अपीलो पर सुनवाई करने के सम्बन्ध मे शक्तियाँ पचायत राज सस्थाओ को दे देने से तत्सम्बन्धी प्रक्रिया सरल अथवा ज्यादा प्रभावशाली हो जायेगी।

(अध्याय ६, पैराग्राफ १४ और १५)

* * *

जिला परिषद जैसी निर्वाचित सस्था को साविधानिक शक्तियाँ देने के प्रभाव का मूल्याकन करना, अभी जल्दबाजी होगी। तथापि, यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की वाह्य शक्तियो को आवश्यक रूप से ही व्यावसायिक सगठनो—सहकारी समितियों—के कार्य-सचालन को प्रभावित न करने दिया जाय। इस सम्बन्ध मे सावधानी बरतनी चाहिये कि उनकी कार्यकुशलता और ठोसपन पर किसी प्रकार की आच न आये तथा उनकी स्वायत्तता सुरक्षित बनी रहे। और फिर, पचायत राज सस्थाओं को शक्ति के हस्तातरण से सहकारिता विभाग की जिम्मेदारी हल्की हो जायेगी तथा उन सस्थाओं को शक्ति का हस्तातरण करने की दिशा मे प्रगति में रोडा आ जायेगा, जोकि आन्दोलन को स्वानुशासित और स्वनियमित बनायेगी। इन विचारो की पृष्ठिभूमि मे हम 'पचायतो और सहकारिताओ पर कार्यकारी दल'

के विचार से सहमत है कि पजीयक की कोई भी सा-विधानिक शक्ति पचायत राज संस्थाओ को हस्तातरित करना वाछनीय नही है। इस विषय पर तृतीय पच वर्षीय योजना मे व्यक्त विचारों से भी, जिन्हे हम नीचे उद्धृत कर रहे है, हमारे कथन की पुष्टि होती है

ग्रामीण क्षेत्रो मे आयोजन और सघन विकास करने के सम्बन्ध मे पचायत राज सस्थाओं तथा सहका-रिताओ की भूमिका प्रत्येक कदम पर निकट रूप से परस्पर एक-दूसरी की पूरक है। जिला परिषदो, पचायत समितियो और ग्राम पचायतो को चाहिये कि वे सहकारी समितियो के विकास को प्रोत्साहन दे तथा सामुदायिक प्रयास और सामाजिक उत्तरदायित्व का वातावरण निर्मित करने की कोशिश करे, जोकि सभी स्तरो पर सहकारिताओ के सफल मचालन के लिए अत्यावश्यक है। सहकारी सगठनो के सम्बन्ध मे नियामक शक्तियॉ सरकार के पास रह सकती है, लेकिन उनमे से कुछ शक्तियॉ उत्तरोत्तर रूप से सघीय सहकारी सगठनो को दी जा सकती है। इससे आन्दोलन की स्व-नियामक विशिष्टता का निर्माण करने और स्थानीय अगुआई को प्रोत्साहन देने मे मदद मिलेगी।

(अध्याय १३ पैराग्राफ ३६)

* * *

प्रोत्साहक गतिविधियॉं

पूर्वोल्लिखित तीन राज्यो को छोड कर सभी राज्यो मे, हमे बताया गया कि पचायत राज सस्थाओ को केवल प्रोत्साहक कार्यशीलताएँ ही सौपी गयी है (उदाहरणार्थ सगठन और समितियो पर सामान्य पर्यवेक्षण) तथा उन्हे कोई साविधानिक शक्तियॉ प्राप्त नही है। तथापि सहकारिता विभाग पचायत समितियो के क्षेत्र मे जाच, निरीक्षण, मध्यस्थता, डिग्री परिसमापन कार्य के लिए विस्तार कर्मचारियो की सेवा प्राप्त करते है और इससे यह दावा किया जाता है, क्षेत्र मे विकास कार्यों के निष्पादन मे विकास अधिकारी का स्थान बढ गया है।

पचायत समितियॉ जिन विकास कार्यों को हाथ मे लेगी, उनके क्षेत्र से कुछ स्थानो पर भ्राति पैदा हो गयी है। हमे बताया कि कुछ पचायत समितियों का यह विचार है कि विकास कार्यो मे सहकारी समितियो से बकाया की वसूली करने का काम शामिल नही होना चाहिये तथा यह कि यदि विस्तार कर्मचारियो को वसूली करने के काम मे मदद देने का काम सौपा गया तो ऐसा करने का विकास पर बुरा असर पडेगा। इससे उन क्षेत्रों मे एक गम्भीर और कठिन स्थिति पैदा हो गयी है जहॉ पर्यवेक्षण का काम सहकारिता विभाग के पास है और पर्यवेक्षण के लिए विभाग के पास अलग कर्मचारी नही है। कुछ क्षेत्रो मे अतिदेय को प्रश्रय मिला है, क्योकि ऐसा लगता है कि उन स्थानो मे वसूली करने के काम की अवहेलना की गयी है। ऐसे भी उदाहरण सामने आये कि सहकारिता विभाग के जिला अधिकारी और खण्ड विकास अधिकारी के मध्य, जिनका सहकारी विस्तार अधिकारी पर प्रशासनात्मक नियत्रण है, सयोजन का अभाव है। जबकि सैद्धान्तिक रूप मे सहकारिता विभाग सहकारिता विस्तार कर्मचारियो पर तकनीकल नियत्रण रखता है, व्यवहार मे वह कोई नियत्रण नही रख सका। यह भी मालूम हुआ है कि चन्द क्षेत्रो मे सहकारिता विस्तार अधिकारी की सेवाएँ कई अन्य कार्यो मे उपयोग की गयी। ऐसे भी कई उदाहरण मिले है कि समितियों के सहकारिता विभाग के जिला अधिकारी द्वारा खण्ड क्षेत्रो मे जाच करते वक्त विस्तार कर्मचारी अनुपलब्ध रहे है।

चन्द राज्यो मे यह धारणा बन गयी कि सहकारिता विभाग इस नयी व्यवस्था के अन्तर्गत ग्राम और खण्ड स्तर पर अपने कर्मचारियो पर नियत्रण खो बैठा है। चूकि विभाग ने निम्न स्तरो पर काम करनेवाली सहकारी समितियो के पर्यवेक्षण के लिए अलग से कर्मचारी नही रखे, उनके काम से उसका सम्पर्क टूटता नजर आया। अत जहॉ तक सहकारिता का सम्बन्ध है, पचायत राज

सगठनो की तत्सम्बन्धी भूमिका की उपयुक्त व्याख्या करना आश्वयक होगा। हमारे विचार से इन सगठनो को प्रसार, विकास और आयोजन जैसे कार्यों को अपने हाथमे लेना चाहिए। हमारे मतानुसार उन्हे नयी समितियो के पजीकरण के प्रस्ताव बनाने चाहिये, वर्तमान समितियों के सदस्यों की सख्या बढानी चाहिये, कमजोर सस्थाओ को प्राणवान बनाना चाहिये, उत्पादन योजनाएँ तैयार करनी चाहिये तथा ऋण, बीज, उर्वरक और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामान्य कार्यक्रम का आयोजन करना चाहिये। इन कामो मे सहकारिता विस्तार कर्मचारियो की सेवा भी ली जानी चाहिए। जहाँ प्राथमिक सस्थाओ के पर्यवेक्षण की जिम्मेदारी सहकारिता विभाग की है, वहाँ उस कार्य के लिए सहकारिता विस्तार अधिकारी उपलब्ध होना चाहिये। ऋण वसूल करने के काम मे सहायता देने से विकास कार्यों मे बाधा पहुँचेगी, इसके लिए कोई कारण नजर नही आता। यदि सहकारी समितियो को ठोस व्यावसायिक सस्थाओ मे विकसित होना है तो सदस्यो मे अपने काम को जिम्मेदारी के साथ तथा समय पर पूरा करने की आदत डालने का प्रयास किया जाना चाहिये। जिला परिषदों और/अथवा पचायत समितियो के कार्य के लिए नियुक्त कर्मचारियो पर नियत्रण के लिए सहकारिता विभाग के जिला अधिकारी और पचायत समिति के मुख्य कार्यकारी अधिकारी के बीच पूर्ण समझदारी होनी चाहिये। जबकि समिति का मुख्य कार्यकारी अधिकारी विकेन्द्रित रचना के अन्तर्गत सामान्य प्रशासन पद्धति के अनुसार विस्तार कर्मचारियों पर प्रशासनिक नियत्रण जारी रख सकता है, उसके लिए जिला स्तरीय सहकारी विभाग के अधिकारी के आदेशो का पालन विस्तार कर्मचारियो की मदद से करना अनिवार्य कर देना चाहिए।

कर्मचारियों का स्थानान्तरण

सहकारिता विभाग के सामान्य और लेखा परीक्षण अनुभागो के बीच अराजपत्रित कर्मचारियो का स्थानान्तरण होते रहने को हमने बडा महत्व दिया है। हमने यह सिफारिश की है कि किसी भी ऐसे कर्मचारी को लेखा-परीक्षण का काम नही सौपा जाना चाहिए, जिसे सामान्य अनुभाग के काम का कम से कम दो साल का अनुभव न हो। चूकि विकेन्द्रित सगठन के अन्तर्गत सहकारिता विभाग के अराजपत्रित क्षेत्रीय कर्मचारियों का बडा हिस्सा पचायत समितियो के साथ रहेगा, अत पचायत राज सगठनो के सुपुर्द किये गये कर्मचारियो के स्थानान्तरण का सहकारिता विभाग को पूर्ण अधिकार होना चाहिए ताकि हमारे सुझाव कार्यान्वित किये जा सके। इस तरह के स्थानान्तरण से पचायत समितियो के अन्तर्गत सहकारिता विस्तार अधिकारियो के जो स्थान है उन पर ऐसे व्यक्तियो को आसीन करना सम्भव हो सकेगा जो कि लेखा-परीक्षण का अनुभव रखते है और इससे वे अपने विधिविहित उत्तरदायित्वो के साथ साथ विकास सम्बन्धी जिम्मेदारियो को भी अच्छी तरह निभा सकेगे।

*

विस्तार पद्धतियों का प्रयोग

सोमसुन्दरम् शनमुगम्

ग्रामीणों में बुनाई उपदान योजना को प्रचलित करने हेतु विस्तार तकनीकों और पद्धतियों का उपयोगी प्रयोग किया जा सकता है।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने ६ अप्रैल १९६४ से खादी उत्पादन की अवस्था मे ही उपदान देने की नयी योजना लागू की है। इस नयी योजना के फलस्वरूप उन सूतकारो को सिर्फ परिश्रम के बल पर ही खादी मिल जायेगी जोकि कताई मे अपनी ही रुई का इस्तेमाल करते है। गाँवो मे रहनेवाले अन्य व्यक्तियो को भी खादी अपेक्षतया सस्ती ही मिलेगी। आशा है कि इस नयी पद्धति के लागू होने से गाँवो में खादी का बाजार बढ़ेगा और सूतकार, बुनकर तथा ग्रामीण खादी पहन सकेगे।

गाँधीजी ने इस बात पर जोर दिया था कि खादी तभी स्थायी महत्व प्राप्त कर सकेगी जबकि ग्रामीण इसे अपना वस्त्र समझ कर इस्तेमाल करेगे। निस्सन्देह यह नयी योजना इस उद्देश्य की पूर्ति मे मदद देगी।

कार्यक्रम का समझना आवश्यक

बुनकर और सूतकार खादी कार्यक्रम के आध्यात्मिक, नैतिक आर्थिक और राजनीतिक मूल्यो को समझने मे बहुत कम दिलचस्पी लेते है। उनके लिए यह काम दूसरो द्वारा मजदूरी पर दिया गया काम है। जब उन्हे दूसरे काम में अधिक मजदूरी मिलने लगती है तो वे चरखा चलाने मे रुचि नही लेते। दिसम्बर १९६३ के **खादी ग्रामोद्योग** मे श्रीवैकुण्ठ ल मेहता अपने लेख 'बुनाई उपदान योजना के निहितार्थ' मे लिखते है,—"कि इस कार्यक्रम का उद्देश्य काम देने के अलावा लोगों के कला-कौशल का उपयोग और विकास करना है, अर्ध और पूर्ण बेकारो को काम दे उत्पादक कार्यों का सगठन कर अत्यावश्यक उपभोक्ता सामग्री प्रदान करना है तथा वस्त्र खरीदने मे गॉव का पैसा जो बाहर जाता है उसे कम करना है एव इस प्रकार खादी आन्दोलन का एक पहलू ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तन लाना है, जिसे अब तक लोगो ने अच्छी तरह नही समझा है।" ग्रामीण जनता के कल्याणार्थ प्रयत्नशील कार्यकर्ताओ के समक्ष यही असल समस्या है। इसके समाधान मे विस्तार पद्धति सहायता देगी। सूतकार और बुनकर इस नये कार्यक्रम मे सक्रिय रुचि ले सकेगे बशर्ते कि वे इसे अपनी जिम्मेदारी महसूस करे। ग्राम समाज को खादी कार्यक्रम के लाभ समझा कर उत्साहित किया जा सकता है।

विस्तार पद्धतियाँ

गाँवो मे आम तौर पर यह देखा जाता है कि जब किसान को फसल कटाई के बाद पहला उत्पादन मिलता है तो वह बहुत खुश होता है। परिश्रम का फल प्राप्त होने पर प्रत्येक किसान परिवार मे खुशी की यह लहर देखी जाती है। अत यदि हम सूतकारो, बुनकरो और ग्रामीणो को अपना उत्पादन इस्तेमाल करने के लिए प्रोत्साहित कर सके तो खादी की बिक्री मे जो कठिनाइयाँ है उन्हे भी कम करना मुश्किल नहीं होगा। इसकी प्राप्ति का एक रास्ता यह है कि कुछ प्रमुख व्यक्तियों का दल अपने उत्पादनो का इस्तेमाल कर दूसरो के लिए उदाहरण प्रस्तुत करे।

विस्तार प्रक्रिया किसानो और अन्य ग्रामीणो को शिक्षित करने की प्रक्रिया है। इसका उद्देश्य है लोगों

की आदतो और व्यवहारो मे परिवर्तन लाना। ग्रामीणो को शिक्षित बनाने मे यह बात शामिल है कि उन्हे नये ज्ञान की क्षमताओ के प्रति आश्वस्त कर दिया जाय ताकि वे उसे अपनी क्रियाशीलताओ मे प्रयुक्त कर सके। ग्रामीण वयस्को को सुधरे तरीके के लाभो के प्रति तभी आश्वस्त किया जा सकता है जबकि उनका प्रसार विश्वासोत्पादक ढग से किया जाय। विस्तार कार्यक्रम का भौतिक उद्देश्य है उत्पादन मे वृद्धि लाना। इस विस्तार कार्यक्रम के शैक्षणिक उद्देश्य है लोगो का ज्ञानवर्द्धन करना, उनके द्वारा इस्तेमाल की जानेवाली तकनीको अथवा उनके कौशल मे सुधार लाना तथा परम्परागत एव गतिहीन पद्धतियो को छोड वैज्ञानिक और गतिशील प्रक्रियाएँ अपनाने मे उन्हे मदद देना। इसका अर्थ यह नही है कि ग्राम समाज के लिए कोई बाहरी दल अथवा अभिकरण काम करे।

विस्तार प्रक्रिया का सार है– व्यक्तियो को इस योग्य बनाना कि वे स्वय निर्णय ले सके। विस्तार पद्धतियाँ वे अवस्थाएँ निर्मित करने के उपाय है जिनमे कि सीखनेवाले अर्थात् किसानो या ग्रामीणो और विस्तार कर्मचारियो के बीच सम्पर्क स्थापित हो सके। ग्रामीण देख, सुन और करके ही सीखते है। यहाँ एक कहावत उद्धृत करना उपयुक्त होगा–"सुनी हुई बात याद नही रहती, देखी हुई रहती है और की हुई समझ मे आ जाती है।" अत वैसी अवस्थाएँ बनाना आवश्यक है, जिन्हे लोग देखे, सुन और अपना सके। सभी विस्तार कार्यों मे हमे ये बाते अपनानी ही चाहिये (१) सतर्कता, (२) रुचि, (३) विश्वास, (४) काम, और (५) सतोष।

हमारी समस्या है ग्रामीणों को अपने गाँव के उत्पादनो के इस्तेमाल के लिए प्रेरित करना। यदि व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट किया जाता है, यदि उसे समस्या पर ध्यान देने के लिये समझाया जाता है, यदि उसका विश्वास प्राप्त कर लिया जाता है, तो वह कार्य करने के लिए उत्साहित हो जायगा। सामान्यतया विस्तार कर्मचारियों द्वारा अपनायी जानेवाली विस्तार पद्धतियाँ ये है (१) लोगो से व्यक्तिगत, दलीय और सामाजिक सम्पर्क, (२) प्रक्रियाओ और परिणामो का प्रदर्शन, (३) सिनेमा, चार्ट, पोस्टर, प्रदर्शनी आदि के जरिये लोगो मे प्रचार, (४) गीत तथा नाटक और (५) पर्चे, परिपत्र आदि।

खादी और ग्रामोद्योगो की योजनाओ को समझाने के लिए ग्रामीणो से व्यक्तिगत अथवा दलीय प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करना सर्वाधिक उत्तम विस्तार पद्धति है। उत्पादन केन्द्रो और बिक्री भण्डारो मे काम करनेवाले कर्मचारियो को इस नयी योजना के लाभ सूतकारो, बुनकरो और शहरी ग्राहको को समझाने होगे।

कारीगरो के लिए अध्ययन शिविर

प्रक्रिया और परिणाम प्रदर्शन के अन्तर्गत खादी उत्पादन केन्द्रो के अधीक्षक कर्मचारियो को गाँवों के बुनकरो और सूतकारों को कताई-बुनाई के योग्य तरीको से परिचित कराने के लिए एक-दिवसीय अध्ययन शिविरो का आयोजन करना होगा। इनमे दक्ष सूतकारो और बुनकरो को प्रदर्शन करने के लिए कहा जाना चाहिये। इनमे सूतकारो और बुनकरो को यह भी बताया जाना चाहिये कि कपास उगाने तथा सूत कातने, सिर्फ कताई करने अथवा न कपास उगाने और न कताई करने वाले ग्रामीणो को खादी किस कीमत मे मिलेगी। एक शिविर मे २५ व्यक्तियो से अधिक को शामिल नही करना चाहिये।

दलीय विचार-विमर्श पद्धति के अन्तर्गत गाँव के सभी प्रभावी नेताओ, ग्राम पचायतों, सहकारी समितियो और अन्य सस्थाओ के प्रतिनिधियो को इस नयी योजना को कार्यान्वित करने हेतु एक होने के लिए समझाया जा सकता है। इन नेताओं की मदद से कर्मचारियों को वैसा वातावरण बनाना होगा जिसमे ग्रामीण गाँव मे ही तैयार किये गये वस्त्र को धारण करने के लिए प्रेरित हो सके। अशिक्षितो को शिक्षित करने के सर्वोत्तम साधन है– सिनेमा, तसवीरे, पोस्टर्स, गीत, नाटक, आदि।

राजेन्द्रनगर (हैदराबाद) • २७ दिसम्बर १९६३

गोबर गैस संयंत्र : एक अध्ययन

एस. डी. तेज नारायण और राव मूर्ति

आंध्र प्रदेश स्थित राजेन्द्रनगर के ग्राम सेविका प्रशिक्षण केन्द्र में गोबर गैस सयत्र पर जो प्रयोग किये गये, इस लेख में उनका विश्लेषण किया गया है।

राजेन्द्रनगर के ग्राम सेविका प्रशिक्षण केन्द्र मे एक गोबर गैस सयत्र १९५७ मे स्थापित किया गया। गैस घर (गैस-होल्डर) का व्यास ५ फुट था और ऊँचाई ४ फुट, गैस घर के तल के नीचे पाचित्र की गहराई ८ फुट थी और व्यास था ६ फुट (शीर्ष पर ६ फुट और उसके ५ फुट नीचे ४ फुट)।

ग्राम सेविका प्रशिक्षार्थियो के एक कुटीर से १०० फुट और प्रशिक्षण केन्द्र के पुराने सामूहिक भोजनालय से करीब ४० फुट की दूरी पर यह गैस सयत्र स्थापित है। इस रसोई घर से लगा हुआ एक वस्तु भण्डार भी है, जोकि गैस सयत्र से करीब ३० फुट दूर है। यह सयत्र पहले पुराने रसोई घर से सम्बन्धित था और कुछ दिनो तक इससे उत्पन्न मिथेन गैस से भोजन भी बनाया गया था। परन्तु अधिक दिनो तक वैसा नही हो सका। बाद मे स्वतत्र कुटीरो के निर्माण किये जाने पर यह रसोई घर बन्द कर दिया गया और तत्पश्चात् सयत्र सिर्फ प्रदर्शन के काम आने लगा।

गैस उत्पादन

केन्द्रीय सामुदायिक विकास और सहकार मत्री श्री सुरेन्द्र कुमार दे ने ग्राम सेविका प्रशिक्षण केन्द्र का अवलोकन करते वक्त यह सुझाव दिया कि गाँवो मे गैस सयत्र लगाया जाना सम्भव है अथवा नही, इसका पता लगाया जाय। फलस्वरूप सबसे निकट के कुटीर से गैस सयत्र की नली जोड कर इसका सचालन आरम्भ किया गया। अक्तूबर १९६२ मे सिर्फ ६ दिन तक कुल ५½ घण्टे यह सयत्र चला, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है

दिनाक	सयत्र चालन (घण्टे)	कुल गैस उत्पादन (घन फुट)	गैस उपभोग (घन फुट)	प्रति घण्टा उपभोग (घन फुट)
१६-१०-६२	१	१८	१६	१६
१७-१०-६२	१½	२०	१९	१२
१८-१०-६२	१½	१८	२५	१७
१९-१०-६२	½	१३	४ ५	१३
२०-१०-६२	½	६ ५	६ ५	१३
२१-१०-६२	½	१०	५	१०

बाद मे सयत्र मे कई दोष होने से उसे चलाया नही जा सका। चन्द प्रयोग करने के लिए पुन उस सयत्र को ४ जुलाई १९६३ से चलाया गया

सयत्र की टकी की क्षमता १०० घन फुट मल-मूत्र घोल समाने की है और उसे १२० पौण्ड गोबर मे उतना ही पानी मिला कर भरा जा सकता है। ग्राम सेविकाओ को दूधारू मवेशियो (कुल २०) से गोबर मिल जाता है। प्रत्येक मवेशी से दैनिक करीब ३० पौण्ड गोबर प्राप्त होता है। इस प्रकार रोजाना ६०० पौण्ड गोबर उपलब्ध

है। गैस उपयोग की मात्रा का पता ड्रम पर लगे पैमाने से लगाते है, जिसमे १ इच माप १ ६० घन फुट गैस का उपभोग दर्शाती है।

संयंत्र में संशोधन

जुलाई माह मे यह पाया गया कि गैस लगातार तथा पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नही होती और प्रथम दिन प्राचार्य को यह सुझाव दिया गया कि सयत्र मे ये सुधार किये जाये (१) चूल्हे (बर्नर) और गैस सयत्र की दूरी पुराने रसोई घर के वस्तु भण्डार से, जोकि ३० फुट दूर है, इसकी नली जोड कर कम की जाय। यह सुझाव भार को कम करने के लिए है। (२) वर्तमान गैस प्रदायक नलिका की जगह ऊपर मे पोलीथीन नलिका लगायी जाय। यह इसलिए कि धातु नलिका होने तथा इसके जमीन के अन्दर होने से ताप और दबाव में जो अन्तर आ जाता है, वह न आये और अधिक समय के लिए स्थानीय जलवायु ग्रहण करने योग्य यह बन सके एवम् नलिका के अन्दर पानी की बूदे जमने से रोक सके। (३) टोटी गैस-सयत्र के निकट ही लगी थी, जिसका काम था नलिका में से जल-कणों को बाहर करना।

लेकिन वह काम हो नही पाता था, क्योकि वह नलिका के अन्त मे नही थी और न ही चूल्हे (बर्नर) से निकटतम दूरी पर थी। अत यह सलाह दी गयी कि नलिका के अन्त मे टोटी लगायी जाय ताकि नलिका मे जमा हुए जल-कणों को बाहर निकाला जा सके और गैस सहज ही प्रवाहित हो सके। गैस-घर जस्ते की नलिका से जुडा था, जिसका जलाधार रबड का था। सुझाव दिया गया कि इसके बदले भी पोली-थीन नलिका लगायी जाय।

एक प्रयोग

दिनाक ८ जुलाई १९६३ को निरीक्षण करने पर यह पाया गया कि टोटी लगाना छोड कर बाकी सब सुधार कर दिये गये है और फलस्वरूप गैस-घर से प्राप्त गैस चूल्हे को काफी समय तक मिलती रही।

एक कुटीर मे रहनेवाली सभी ग्राम सेविकाओं के लिए भोजन बनाने का प्रयोग किया गया। यह प्रयोग चार दिनो तक चला, जिसका विवरण निम्न है

७ जुलाई १९ मिनट	६ व्यक्तियो के लिए कॉफी बनायी गयी।
८ जुलाई सवा घण्टा	६ व्यक्तियो के लिए भोजन तैयार किया गया (२ सेर चावल और तरकारी)।
९ जुलाई २ घण्टे	४० व्यक्तियो के लिए चाय बनायी गयी और ६ व्यक्तियो के लिए एक कूकर मे खाना बनाया गया।
१० जुलाई ५३/४ घण्टे	६ व्यक्तियो के लिए कॉफी तथा कूकर मे दोनो वक्त भोजन तैयार किया गया।

इन प्रयोगों से निम्न परिणाम निकले, जोकि गैस उपभोग के मामले मे पूर्णत विश्वस्त नही है, क्योकि प्रति घण्टे गैस-उपभोग मे बडी भिन्नता पायी गयी।

दिनाक (जुलाई)	गैस उपभोग (घन फुट)	समय	प्रति घण्टा उपभोग (घन फुट)
७	६ ४	१८ मिनट	२० ००
८	० ८०	सवा घण्टा	१० ६४
९	४ ४	२ घण्टा	२ २०
१०	३२ ००	३३/४ घण्टा	१० ००

प्रति घण्टा गैस उपभोग में उपर्युक्त भिन्नता स्पष्टत इस कारण है कि विभिन्न कारणो से गैस-घर मे हुए गैस-घटाव के माप-अकन मे किसी न किसी प्रकार की कोई गलती हुई। यह देखा गया कि गैस-घर और पैमाने की गति मे चन्द घर्षण होने से गैस-उपभोग के साथ-साथ

पैमाने की सूई खिसक नही पायी। अक्तूबर माह में उपभोग का माप काफी ठीक रहा और छ व्यक्तियो के लिए एक दिन में भोजन तैयार करने मे प्रति घटा १५ घन फुट गैस-उपभोग हुआ।

गैस उत्पादन

गैस-घर की गति के दोषो मे और सुधार करने तथा पैमाने के सही अकन के पश्चात् सम्भवत इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि छ व्यक्तियों के लिए भोजन बनाने हेतु प्रति घण्टा १३ घन फुट गैस की जरूरत है। सामान्यतया छ व्यक्तियो के लिए दोनो समय का भोजन बनाने मे करीब ३ घण्टा समय लगता है। अत ३९ घन फुट गैस की जरूरत होगी, जिसकी पूर्ति इस गैस-घर की क्षमता के अन्दर है, क्योंकि यदि सयत्र के छोटे-छोटे दोषो को दूर कर दिया जाय तो वह १०० घन फुट गैस उत्पादन कर सकता है। इस तरह एक साथ दो चूल्हे जल सकते है। मुख्य बाधा थी दूरी की, जिसे अब प्रयोग कर दूर किया जा चुका है। अन्य लघु दोषों पर भी ध्यान दिया जा रहा है और उनके बाद अन्य प्रयोग किये जायेगे।

अत यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि पाँच फुट व्यास और चार फुट ऊँचाईवाला गैस घर ३३ फुट दूर अवस्थित आठ फुट गहरे और चार फुट व्यासवाले हौज की मदद से छ व्यक्तियो के परिवार का सारे दिन के लिए भोजन तैयार करने हेतु गैस प्रदान कर सकता है और इस कार्य के लिए चार घण्टे सयत्र का चालन करना होगा।

राजेन्द्रनगर (हैदराबाद) २ सितम्बर १९६३

पाठकों से

पाठको से निवेदन है कि *खादी ग्रामोद्योग* के न मिलने अथवा देर से मिलने के सम्बन्ध में शिकायत भेजते समय वे पते के साथ दी गयी अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूले। जैसा कि हम चाहते है, ग्राहक-सख्या लिखने पर यथा शीघ्र कार्यवाही करने में सहायता मिलती है।

—सम्पादक

प्रचार की निरर्थकता*

सुभाष चन्द्र सरकार

"संसार मे सर्वाधिक कठिन कार्य है अन्तर्आत्मा के विरुद्ध मनुष्य के मन को मोडना।" ब्राउन ने अपनी सूचनाप्रद और विचारोत्तेजक पुस्तक मे (पृ० २२२) उक्त बात कही है। वे लिखते है, "कुटिल इरादे से मनुष्य के दिमाग मे वैसे विचार या भाव अधिष्ठित कर देने का विचार जोकि उसकी सामान्य विचार-प्रणाली के विपरीत हो, वस्तुत हास्यास्पद है" (पृष्ठ २२१)। इस पुस्तक मे मुख्यत इसी बुनियादी आधार की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इस बुनियादी कथन की पुष्टि के लिए मनोवैज्ञानिक युद्ध, राजनीतिक प्रचार, व्यावसायिक विज्ञापन तथा दिग्भ्रान्त (ब्रेनवाशिग) करने के प्रयास जैसे प्रचार के विभिन्न क्षेत्रो से बहुत-सारे प्रमाण इसमे इकटठे किये गये है। उक्त कथन, जोकि फ्रायड के मनोविज्ञान मे निहित है, मूलत ब्राउन का नही है, परन्तु उनकी व्याख्या उद्देश्यपूर्ण, सूचनात्मक और दिलचस्प है। आज के "प्रचार युग" मे रहनेवाले बहुत-से लोगो के लिए, जिन्हे कि प्रचार और विज्ञापन के अमित शक्तित्व के प्रति प्रभावित किया गया है, इस पुस्तक का निष्कर्ष आश्चर्यचकित करने तथा सदमा पहुँचानेवाला होगा। तथापि, इसे हृदयगम करना होगा।

यद्यपि ब्राउन प्रधानत प्रचार के यात्रिक पहलू के बदले उसके मनोवैज्ञानिक पहलू और प्रभाव से सम्बन्धित है तथापि उन्होने प्रचार के विभिन्न क्षेत्रो मे उपयोग किये जानेवाले आम तरीको मे से कुछ का विस्तृत विवरण दिया है। जहाँ तक तकनीक का सम्बन्ध है, दैनिक समाचार-पत्र के सजग पाठको के ताज्जुब करने लायक उसमे कोई खास बात नही है।

दिग्भ्रान्त करना

कोरिया मे अमेरिकी बन्दियों के साथ चीनियो ने जो व्यवहार किया, उससे इस अशुभ शब्द 'दिगभ्रान्त करना' (ब्रेनवाशिग) का जन्म हुआ, जिसका सर्वप्रथम अमेरिकी पत्रकार एडवर्ड हण्टर ने इस्तेमाल किया। मनोवैज्ञानिक और क्रियात्मक रूप मे 'दिग्भ्रान्त करना' शब्द अर्थरहित और बिल्कुल अवैज्ञानिक कल्पना है, क्योकि मस्तिष्क के ततुओ को क्षति पहुँचाये बिना याददाश्त को खत्म नही किया जा सकता। मनुष्य है तो स्मृतियाँ रहेगी ही और प्रत्येक सामान्य मनुष्य मे चन्द स्मृतियाँ तो उसके दिमाग का अश ही बन जाती है अन्यथा उसे मानसिक बीमारी हो जायेगी। चीनी साम्यवादियो ने युद्धबदियो को वैचारिक और राजनैतिक रूप से परिवर्तित करने के लिए जो बेमिसाल कदम उठाया, उसी के कारण यह शब्द दूषित हो गया। चन्द अमेरिकी लोगो पर इससे जो सफलता मिली, उसने इसकी बडी प्रभावकारी शक्ति के सिद्धान्त को प्रामाणिकता प्रदान की। तथापि, यदि इसके प्रभाव को इससे गुजरनेवाले लोगो के दृष्टिकोण और रुख मे होनेवाले किसी स्थायी परिवर्तन की दृष्टि से मापा जाय तो व्यवहार मे 'दिगभ्रान्त करना' बहुत ही असफल सिद्ध हुआ है।

चीनियों के आग्रह से जो साम्यवादी हो गये तथा जिन्होने उनसे सहयोग करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया, उन युद्धबदियो की पृष्ठभूमि बडी रुचिकर है,

* टेकनीक्स ऑफ परसुएशन (फ्राम प्रोपगडा टु ब्रेनवाशिग), लेखक . जे ए. सी ब्राउन, पेंग्विन बुक्स, मिडलेक्स (इंग्लैंड), १९६३, पृष्ठ ३२९, मूल्य · ४ शिलिग ६ पेन्स।

क्योंकि वह व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है। साम्यवाद अपनानेवालो मे से अधिकाश का अपने भूतपूर्व जीवन मे किसी से कोई मजबूत सम्बन्ध नही बना था अथवा वफादारी कायम नही हुई थी। जिन्होने सहयोग करने से दो-टूक इन्कार कर दिया, वे दो श्रेणियो मे आते है (अ) परिपक्व और सतुलित मस्तिष्कवाले व्यक्ति, जिनमे आत्मसम्मान की बेजोड भावना है, और (आ) यहाँ तक कि अपने देश मे भी किसी भी प्रकार के अधिकृत व्यवहार से काफी समय से मोर्चा लेनेवाले व्यक्ति। दुश्मन प्रवेशन से प्रभावशाली प्रतिरक्षा हेतु पूर्ण सतोष-प्रद नागरिकता कितनी महत्वपूर्ण है, उसका यह बहुत बडा उदाहरण है। यह बात मार्के की है कि इस से अनुपातत ब्रिटिश और तुर्की लोगो से अधिक अमेरिकी लोग प्रभावित हुए। कोई भी तुर्की ऐसा नही पाया गया, जिसे जरा-सा भी सहयोग देने का दोषी पाया गया हो। इसका कारण अमेरिकी लोगो मे अनुशासन की कमी बताया जाता है, जिनमे नैतिकता की भी कमी है।

विभिन्न तरीके

लेखक ने इसे चीनियों द्वारा युद्धबदियो को शिक्षा देने के लिए प्रयुक्त की गयी तकनीक बताया है। मूलत इसमे मनुष्य के व्यक्तित्व को हिंसा, परेशानी, बेइज्जती, बिना नीद लेने का मौका दिये प्रश्न पर प्रश्न पूछ कर, आग्रह, लालच, सजा और इनाम अथवा इन सबके या इनमे से कुछ के उपयोग के जरिये, नष्ट करना शामिल है। मस्तिष्क की वातावरण के साथ अन्योन्यक्रिया व्यक्तित्व है। जब सामान्य वातावरण की जगह असामान्य अवस्थाएँ पैदा कर दी जाती है तो व्यक्तित्व मे भी परिवर्तन हो जाता है। डा० लिफटन कहते है– "व्यक्ति के मनोभावो मे वातावरण की मनोवैज्ञानिक शक्तियो का प्रवेशन सम्भवत विचार-सशोधन का प्रमुख मनश्चिकित्सीय तथ्य है।" अनमनीय वातावरण बना कर व्यक्तित्व को भग किया जाता है तथा स्वीकारोक्ति निकलवा ली जाती है। इस नये तरीके मे कुछ भी नया नही है, हाँ, दबाव कुटिल जरूर है। ब्राउन कहते है, "इतिहास के आरम्भ से आज तक कोई भी समय ऐसा नही था जबकि पूर्ण अधिकार शक्ति मिलने तथा नैतिकता की कमी होने पर अधिकाश लोगो से अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी तथा धर्म के समर्थन या विपक्ष मे स्वीकारोक्ति करवा लेना सम्भव नही था और वह भी सबसे सरल और पुराने तरीके से, न ही कोई ऐसा समय था और न आने वाला है जबकि दृढ अल्पसख्यक अत तक विरोध नही करते रहेगे।" (पृष्ठ २८५) फिर भी स्थायी परिवर्तन तो वातावरण मे स्थायी परिवर्तन लाकर ही किया जा सकता है, जिसके लिए 'दिग्भ्रान्त करने' की तकनीक पर्याप्त नही है। बहुत-से अमेरिकी सैनिको के मामले मे यह पाया गया कि जब वे अपने स्वदेश अमेरिका लौटे तो युद्ध-बदी शिविर मे उन्हे जो शिक्षा दी गयी थी, वह बेकार हो गयी अर्थात् उसे उन्होंने भुला दिया, उसके प्रभाव से मुक्त हो गये। साम्यवादी देश मे 'दिग्भ्रान्त' अमेरिकी अपने नये विचारो के साथ सुखपूर्वक रह सकता है। परन्तु एक साम्यवादी समाज मे वहाँ का वातावरण ही इस तरह के परिवर्तन के लिए उत्प्रेरित करेगा और 'दिग्भ्रान्त करने' की सम्पूर्ण प्रक्रिया बेकार लगने लगेगी। जो लोग साम्यवादी वातावरण के लायक अपने को नही बना सकेगे, नये विचार का उनके लिए कोई विशेष मूल्य नही होगा और न ही उन पर 'दिग्भ्रान्त करने' की प्रक्रिया कोई प्रभाव डालेगी।

व्यावसायिक प्रचार

आम धारणा यह है कि बिक्री विकास के लिए विज्ञापन का माध्यम एक बहुत बडा वरदान है। यह इस हद तक सही है कि विज्ञापन के जरिये लोगो तक उनकी जरूरत के माल अथवा सेवाओ की सूचना पहुँच जाती है। विज्ञापन रुख नही बदल सकता, यद्यपि यह रुख की गति को तेज अथवा कम कर सकता है। ब्राउन कहते है– "स्थापित रुखो को अच्छे या बुरे के लिए परिवर्तित करने मे विज्ञापनकर्त्ताओ अथवा प्रचारको की तुलनात्मक असहायावस्था का प्रमाण इस तथ्य से मिल जाता है कि इस बात का भय पैदा होने पर भी कि सिगरेट पीने से कैंसर

हो जाता है, अमेरिका मे १९५० से अब तक सिगरेट की खपत २६ प्रति शत बढ गयी है। इसके विपरीत पाइप के तम्बाकू की खपत, बीयर की तरह, धीरे धीरे कम होती हुई १९२० के २१ करोड पौण्ड से १९६१ मे ७ करोड ५० लाख पौण्ड हो गयी है। पहले मामले मे स्वास्थ्य प्रचार का तथा दूसरे में विज्ञापनकर्त्ताओं के प्रयास का थोडा-सा भी प्रभाव नही पडा।" (पृष्ठ १८९)

अमेरिका मे विज्ञापन-कार्य करनेवाली सस्थाएँ जनता की रुचि तथा माग की जानकारी के लिए वैज्ञानिको और मनश्चिकित्सको को नियुक्त करती है। परन्तु विज्ञापन का तरीका वैज्ञानिक नही है और सत्य से बहुत दूर है। ब्राउन लिखते है– "अधिकाश विज्ञापन, यदि पूर्ण असत्य नही है तो, गलत धारणा निर्मित करने के लिए बनाये गये है। वैज्ञानिक अथवा दूषित होने के इनके दावे की भी पोल खोल दी गयी है और अधिकाश विज्ञापन तो उचित शिक्षा प्राप्त लोगों के लिए अपकर्षक है।" (पृष्ठ १९१)

प्रचार और जन-संस्कृति

प्रबन्धकीय योग्यता जाचने के लिए मनोवैज्ञानिक परीक्षणों की प्रयुक्ति वैज्ञानिक तरीकों को बिल्कुल अवैज्ञानिक अभिप्रायो मे प्रयुक्त करना है और सम्बन्धित लोग इस बात को अधिकाधिक महसूस करते जा रहे है कि सर्वोत्तम प्रबन्धक उनके द्वारा उपलब्ध नही किये जाते जोकि अनुयायी है, बल्कि उनके द्वारा उपलब्ध किये जाते है जोकि समझ-बूझ के साथ अपने काम को अजाम देते है।

चन्द लोगो का कहना है कि जन-सम्पर्क साधन के विकास ने जन-सस्कृति को निराधार कर दिया है। इससे अधिक भ्रामक कुछ नही हो सकता। सच तो यह है कि समाचार-पत्र, रेडियो, टेलिविजन और सस्ती पुस्तको जैसे आधुनिक जन-सम्पर्क माध्यमो के विकास के बाद ही आम जनता सस्कृति का फल चखने की अवस्था मे आयी है। चूकि अधिकाश लोग अभी कला और सस्कृति के सर्वोत्तम नमूनो का रसास्वादन करने योग्य विकसित नही हुए है, उनके समझने योग्य जो मानक है वह उन लोगो को घटिया लगता है जिन्हे कई पुश्तो से कला और सस्कृति के फल का रसास्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त है। फिर, ये माध्यम सिर्फ सस्ता मनोरजन ही नही देते, वे स्तरीय मनोरजन भी प्रदान करते है। हो सकता है कि जनता सस्ते किस्म का मनोरजन ही पसन्द करे। जैसा कि लेखक कहता है– "जन-माध्यम के प्रभाव से जो लोग असवेदनशील हो जाते है, वे उत्पादक के नही बल्कि निष्क्रिय कार्य के शिकार है और जो बच्चे भयप्रद फिल्मों, नाटको अथवा पुस्तको की ओर उद्भ्रात रूप मे आकर्षित होते है वे सामान्य नही बल्कि निराश और मनस्तापी है।" (पृष्ठ ३१३)

फिर भी, जो मनोरजन प्रदान किया जाता है वह प्राय उससे अधिक अच्छा है जोकि सामान्यतया जनता चाहती है। फिर, आम दर्शकों की रुचि भी बदलती जा रही है और वे अच्छी चीजो की माग करने लग गये है। निस्सन्देह माध्यम को बदलती रुचि का ध्यान रखना ही होगा। प्रेस, रेडियो और टेलिविजन के लिए अच्छे नियत्रक सुनिश्चित करने हेतु इसके सिवा और कोई रास्ता नही है कि जनता ही अच्छे की माग करे। जनता को जीवन के सही मूल्यो को समझाने मे शिक्षा से बहुत मदद मिल सकती है। ब्राउन लिखते है "यह बिल्कुल सही है कि बडे पैमाने के उत्पादन तरीको पर आधारित समाज ने चुनाव स्वतत्रता को कुछ लोगो के चुनाव तक ही सीमित कर दिया है, परन्तु इनके साथ ही होनेवाली आर्थिक और शैक्षणिक क्रातियों ने अधिक लोगो के लिए चुनाव की इतनी स्वतत्रता दे दी है जितनी कि पहले मानव-इतिहास मे कभी नही थी।" (पृष्ठ ३१७–३१८)

जन-शिक्षा और समाज-सुधार

ब्राउन कहते है कि समकालीन प्रचार के अध्ययन से मुख्य पाठ यही मिलता है कि "लोग अपने मन की तसवीर और अपनी वस्तुपरक परिस्थितियो के प्रतिकूल सदेशों

को न मानने के कितने भी विरोधी क्यो न हों, किसी प्रकार वे जान-बूझ कर (भले ही अचेतन रूप मे) उन्ही विचारो को चुन लेते है जोकि उनके विचारो से मेल खाते है।" (पृष्ठ ३०९, शब्दो का रेखाकन हमारी ओर से) इस प्रकार बच्चो के दो भिन्न दलो पर एक ही भयप्रद हास्य पढने का दो तरह का असर पड सकता है- एक उन्हे एक बार पढ कर दुबारा कभी छुएगा भी नही, जबकि दूसरा उससे बहुत आनन्द उठा सकता है। वरणक्षमता बहुत ही महत्वपूर्ण है। यदि लोग इतने प्रचार के बाद भी उन्ही चीजो को स्वीकार करते है जोकि उन्हे पसन्द है तो प्रचार पर किया जानेवाला खर्च एकदम निरर्थक हो जाता है। परन्तु यह इतनी जल्दबाजी का निष्कर्ष है कि इसकी सत्यता पर विश्वास नही किया जा सकता। आखिर अगर प्रचार का कोई लाभ होता ही नही तो ससार भर के बुद्धिमान लोग इस पर इतना अधिक जो खर्च करते है, वे नही करते। यह सही है कि प्रचार बुनियादी विशेषताओ को परिवर्तित करने के लिए पर्याप्त नही है, परन्तु अवाछित प्रचार मनुष्य की उपचेतन (गैर-समाजी) इच्छाओ को जागृत और तेज कर उसके अवाछित पहलुओ को सामने ला सकता है। जिस हद तक सामाजिक प्रगति और विकास मनुष्य के स्वस्थ लक्षणों के सामने आने पर निर्भर है, उस हद तक उसकी राह मे आनेवाली बाधा को रोकना ही होगा। यह कहना सहज है, पर करना कठिन है। एक बात स्पष्ट है। यदि स्वस्थ नागरिकता बनानी है तो जन-शिक्षा पर और अधिक ध्यान देने की जरूरत है, और, बचपन की शिक्षा पर तो विशेष रूप से, जबकि करीब-करीब जीवन-भर के लिए आदत और प्रवृत्ति बन जाती है। परन्तु जब तक अधिकाश लोगो के रहन-सहन की अवस्था तथा जिस वातावरण मे उन्हे रहना है उसे, सुधारने के उपाय नही किये जाते, सिर्फ शिक्षा से ही कोई खास लाभ नही होगा।

बम्बई १६ जून १९६१

खादी ग्रामोद्योग का एकादश वर्षारम्भ अक सितम्बर के अन्त मे प्रकाशित होगा। लेखको से अनुरोध है कि वे अपने लेख सम्पादक के पास अगस्त १९६४ के प्रथम सप्ताह तक भेज दे।

सहकार पर वैकुण्ठभाई के विचार

रतिलाल महेता

युग के आरम्भ से ही मनुष्य की गतिविधियो का आधार रहा है सहकार, क्योकि बिना सहकार के मनुष्य का अस्तित्व नही रह सकता। मानवीय इतिहास और सभ्यता में अनेको बडी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उलट-पुलट हो जाने पर भी सभी देशो मे और सब समय, छोटे या बडे रूप मे, उसके प्रमाण मिले ही है।

तथापि, पहले के जमाने मे सहकारी-जीवन बिताने का प्रयास बहुत-कुछ ढीला-ढाला और असगठित तथा लोगो के छोटे-छोटे दलो तक ही सीमित था। परन्तु सुस्पष्ट नियमो-विनियमो के साथ सगठित रूप मे सहकार का आरम्भ चन्द यूरोपीय देशो में १९वी शताब्दी के मध्य मे आरम्भ हुआ लगता है। उन देशो मे मानवीय प्रयास के इस रूप की प्रगति तथा ससार के अन्य भागो मे इसके विस्तार का अध्ययन बडा ही रोचक और लाभदायक अनुभव होगा।

उद्गम

आज जिसे हम सहकार आन्दोलन कहते है उसका जन्म सन् १८४४ मे ब्रिटेन के रोचडेल नामक गाँव मे तब हुआ जबकि वहाँ के बुनकरो के एक दल ने यह निर्णय किया कि अपने जीवन की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति वे स्वय द्वारा सचालित उपभोक्ता भण्डार की स्थापना कर करेगे। उसी समय जर्मनी मे शुल्क ने कारीगरो और छोटे-मोटे व्यापारियो और रायफेसन ने कृषको की पूजीगत आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कई ऋणदात्री सहकारी समितियो की स्थापना की। इन समितियो के सचालन के मुख्य उद्देश्य थे सभी सदस्यो को समान मताधिकार, प्रबन्ध समितियो के सदस्यो द्वारा मानद सेवा, लघु क्षेत्रो तक काम सीमित रखना ताकि सदस्य एक-दूसरे से सम्पर्क बनाये रख सके, व्यक्ति के सम्मान को सम्पत्ति से अधिक महत्व प्रदान करना, उचित मूल्य पर बिक्री, खरीदी के अनुपात मे लाभ वितरण आदि। लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो पर आधारित इन सस्थाओ मे व्यक्ति के हित को सामूहिक कल्याण के अधीन कर दिया गया और उसके जरिये समाज के कमजोर वर्गो को स्वाभाविक सरक्षण प्रदान किया गया। उपभोक्ता और ऋणदात्री समितियो के रूप मे आरम्भ हुआ सहकार आन्दोलन तब से अनेक देशो मे और मानवीय क्रियशीलताओ के विभिन्न क्षेत्रो मे फैल गया है, परन्तु ऊपर जो मूलभूत सिद्धान्त बताये गये है,वे ही आज भी आधार बने हुए है।

भारत मे

इन विचारों की पुष्टि और भारत मे इनका इस तरह प्रयोग किये इसकी प्रतिभा और इसके सामाजार्थिक पुनर्संगठन की अनिवार्यताओ के उपयुक्त हो— यही खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य श्री वैकुण्ठ ल मेहता के अध्ययन का मुख्य विषय रहा है, जिसमे उन्होने अपने जीवन का अधिकाश भाग लगा दिया है और इस विषय के वे अधिकृत ज्ञाता माने जाते है। यद्यपि इस देश मे सहकारी आन्दोलन के विकास मे उन्होने मुख्य भाग लिया है और आजादी के पहले भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस ने तथा स्वतत्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने आर्थिक नीतियो और कार्यक्रमो की रचना मे उनसे काफी सहायता प्राप्त की है, तथापि भारत मे सहकार के विकास

पर उनके अध्ययन और विचार अब तक विभिन्न पत्रिकाओं, प्रतिवेदनो और पर्चो के पृष्ठो मे बिखरे हुए है। अत अहमदाबाद की गुजरात विद्यापीठ द्वारा इस विषय पर श्री मेहता के चन्द लेखो, जिनमे से कुछ मूलत **खादी ग्रामोद्योग** मे प्रकाशित हो चुके थे, का सग्रह (गुजराती अनुवाद)* पुस्तक के रूप मे प्रकाशित करने मे पहल करना बहुत ही प्रशसनीय है। श्रीमती सरलाबेन वी शाह ने लेखो का बडा ही सुन्दर अनुवाद किया है । पुस्तक की भूमिका मे श्री विमल शाह ने सहकार आन्दोलन के विकास का सक्षिप्त विवरण तथा सहकार के विभिन्न पहलुओ पर श्री मेहता के विचारो और पर्यवेक्षणो का सार प्रस्तुत किया है।

पुस्तक मे १६ अध्याय है आधुनिक भारत मे सहकारी आन्दोलन, सहकारी समाजवादी कामनवेल्थ की ओर, समाजवादी नमूने की समाज रचना का मार्ग, मानवीय सुख के लिए अर्थशास्त्र, नया ग्राम समाज, ग्रामीण साख इकाई, कृषि के विकास मे ऋण पद्धति की भूमिका, कृषिक ऋण और बिक्री मे समन्वय, सहकारी सगठन का स्वरूप, सहकारी कृषि का आधार, सहकारी खेती की आवश्यकता, सहकारी कृषि की उपयोगिता, औद्योगिक विकास और सहकार, औद्योगिक लोकतत्र की समस्याएँ, सरकारी और गैर-सरकारी सहकारी समितियाँ तथा आदिवासियो मे सहकार।

विस्तृत चित्र

यद्यपि ये लेख भिन्न-भिन्न समय मे और विभिन्न अवसरो पर लिख गये है और इस प्रकार समय-समय पर उठी समस्याओ पर विचार प्रकट करते है, तथापि ये पिछले कुछ दशको मे पश्चिम मे सहकार के विकास और भारतीय अवस्थाओ मे उनके प्रयोग पर समाग और विस्तृत चित्र प्रस्तुत करते है। श्री मेहता अपनी सरल परन्तु मेधावी शैली मे भारतीय जीवन और अवस्थाओं मे सहकार के कार्यान्विय से उत्पन्न होनेवाली विभिन्न समस्याओं पर विचार प्रकट करते है और उन निष्कर्षों पर पहुँचते है जोकि उनके गहन विश्लेषणात्मक अध्ययन, स्पष्ट विचार और यथार्थतम भाव दर्शाते है। इन सभी लेखो मे मानवीयता की झलक मिलती है। श्री मेहता ने बाम्बे सेट्रल (प्रोविन्सियल) कोऑपरेटिव बैंक लि० (जोकि अब महाराष्ट्र स्टेट कोऑपरेटिव बैक लि० है) के मैनेजर और मैनेजिग डायररेक्टर, भूतपूर्व बम्बई राज्य के वित्त, सहकार और ग्रामोद्योग मत्री, अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल तथा उसके उत्तराधिकारी खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष तथा सहकार, वित्त, बैकिग, कराधान, प्रशासन आदि विषयक कई जाच समितियो मे अध्यक्ष तथा सदस्य के रूप मे काम किया है, जिससे उन्हे पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव है तथा देश-विदेश की सहकारी गतिविधियो का अध्ययन तो करते ही रहते है, अत जिन विषयो पर वे विचार प्रकट करते है, उनमे उनके ज्ञान और अनुभव का भण्डार फूट-फूट पडता है। उनके विश्लेषण और तर्क तथ्यपूर्ण आकडो और साख्यिकी पर आधारित होने के कारण स्पष्ट और यथार्थ निष्कर्ष प्रस्तुत करते है। सहकार पर उनके लेख, इस सग्रह के, देश के विकेन्द्रित आर्थिक विकास के व्यापक दृष्टिकोण से, जिसके कि इन वर्षों मे वे उत्कट और बुद्धिवादी व्याख्याता रहे है, समस्या को प्रस्तुत करते है।

समाजवाद का मार्ग

पुस्तक के प्रथम पाँच अध्यायो मे मुख्यत सहकार, गणतत्र, अर्थशास्त्र, आयोजन, समाजवाद आदि के सिद्धान्तो पर चर्चा की गयी है, जिन्हे कि हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था, विशेष कर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, के पुनर्निर्माण को निर्देशित करना चाहिये। शेष अध्याय कृषि और उद्योग के क्षेत्रो मे सहकार को प्रयुक्त करने के

* सहकारी समाज वैकुण्ठ ल मेहता, अंग्रेजी से गुजराती अनुवाद सरलाबेन वी शाह, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद--१४, अप्रैल १९६४, पृष्ठ ११४; मूल्य १.७५ रु, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद-१४ में प्राप्य।

सम्बन्ध मे उनके विचार प्रस्तुत करते है।

हमारे राष्ट्रीय उद्देश्य, जैसा कि वे बताते है (पृष्ठ १०), १९४८ मे ही श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा (काग्रेसाध्यक्ष को प्रस्तुत अखिल भारत काग्रेस कमेटी की आर्थिक कार्यक्रम समिति के प्रतिवेदन मे) निश्चित कर दिये गये थे। वे थे "हमारा यह उद्देश्य होना चाहिये कि हम एक ऐसी राजनीतिक प्रणाली विकसित करे, जो शासन-व्यवस्था मे निपुणता प्राप्त करते हुए भी व्यक्तिगत स्वतत्रता को उसके साथ सयुक्त करे और साथ ही एक ऐसा आर्थिक ढाचा तैयार करे, जिसमे व्यक्तिगत एकाधिकार और सम्पत्ति जमा करने की गुजाइश न हो कर अधिक से अधिक उत्पादन हो सके, तथा जिसके द्वारा ग्रामीण और नागरिक अर्थ-व्यवस्थाओं के बीच समुचित सतुलन तैयार किया जा सके। इस तरह का सामाजिक ढाँचा व्यक्तिगत पूजीवाद के धन जमा करने मात्र की अर्थ-व्यवस्था के बदले बनाया जा सकेगा और एकसत्तावादी राज्यो की गुटबन्दी को भी बन्द किया जा सकेगा।" बाद मे इन बुनियादी सिद्धान्तो को हमारे सविधान मे राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तो के रूप मे पावन स्थान दिया गया और इन्होने तब से पच वर्षीय योजनाओ की रचना मे निर्देश दिया है और उसकी परिणति हुई है सहकारी, लोकतात्रिक और समाजवादी समाज का निर्माण करने के लिए कार्य करने के निर्णय मे। सहकार की समस्या को सुलझाने मे श्री मेहता का रास्ता न तो सिद्धान्तवादी है और न ही भावनात्मक, यह तर्कसगत मार्ग है। भारत के लोकतात्रिक आर्थिक विकास के लिए सहकार को आधार बनाने का उनका जोरदार आग्रह और दरिद्रनारायण के प्रति उनकी चिता न सिर्फ गहन अध्ययन का परिणाम है बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों के विशाल जनसमुदाय की नजरों देखी अवस्था का भी।

अत यह पुस्तक गुजराती साहित्य के भण्डार मे तो वृद्धि करेगी ही, अन्य भाषाओ के उद्यमी प्रकाशको को भी प्रेरणा प्रदान करेगी।

अत सहकार पर श्री मेहता के लेखो का सग्रह प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक को बधाई। परन्तु एक बात का सकेत न करना अपने कर्तव्य से पीछे हटना है और वह यह है कि यदि लेखो के साथ उनके लिखे जाने की तारीख तथा जिन स्रोतों से उन्हे उद्धृत किया गया है उनके नाम लेख के अन्त मे प्रकाशित किये जाते तो, प्रकाशन का महत्व और बढ़ जाता।

बम्बई २१ जून १९६४।

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५ तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४। वार्षिक शुल्क ३ ५० रुपये, एक प्रति २५ पैसे।

खादी ग्रामोद्योग
ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष · अगस्त १९६४ · एकादश अक

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नही है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखो पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस) के पते पर भेजें। टेलीफोन न ५७१२२९।

इस पत्र मे प्रकाशित लेखो मे व्यक्त विचार आवश्यक नही कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिये असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (केश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस)

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	—खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
जशभाई झवेरभाई पटेल	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन मे गोबर गैस योजना के निर्देशक।
मगुदेसन बालसुब्रह्मण्यन	—अन्नमलै विश्वविद्यालय (मद्रास) मे अर्थशास्त्र के रीडर।
राम कृष्ण श्रीवास्तव	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला मे प्रवर (सीनियर) वैज्ञानिक अधिकारी।
एस वाय. नन्दवार	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला के भूतपूर्व प्राविधिक सहायक।
भास्कर यशवत राव	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला मे रासायनिक प्रौद्योगिकी सहायक।
मधुसूदन दत्तात्रेय साठे	—अहमदनगर (महाराष्ट्र) स्थित अहमदनगर जिला सर्वोदय योजना मे साख्यिकीय सहायक।
मरियप्पन पत्यपट्टी गुरुसामी	—विस्तार अधिकारियो (उद्योग) के लिए गाधीनिकेतन (टी कल्लूपट्टी—मद्रास) स्थित खादी ग्रामोद्योग विद्यालय मे रेक्टर।
कमल बनर्जी	—बगरा (पश्चिम बगाल) से प्रकाशित **मुर्शिदाबाद समाचार** के सम्पादक।
दत्तकुमार पै	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के उत्पादन अनुभाग मे चित्रकार।
त्रिलोक नाथ भास्कर	—दिल्ली स्थित 'कैपीटल इण्डस्ट्रीज कोऑपरेटिव सोसायटी लिमिटेड' के अध्यक्ष।
वेट्टैकरनपुदूर आरुमुगम् वासुदेवराजू	—गाधीनिकेतन (टी कल्लूपट्टी—मद्रास) स्थित विस्तार अधिकारियो (उद्योग) के लिए खादी ग्रामोद्योग विद्यालय मे लेक्चरर।
पेकनाला बाल कृष्ण मूर्ति	—बिडलापुर (चौबीस परगना—पश्चिम बगाल) स्थित 'बिडला जूट मैन्यू-फक्चरिग कम्पनी लिमिटेड' मे सहायक श्रमिक कल्याण अधिकारी।
छीतरमल गोयल	—चौमू (राजस्थान) स्थित राजस्थान खादी सघ के मत्री।
अपर्णा सजीव सिरूर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अखाद्य तेल और साबुन उद्योग अनुभाग मे प्रचार सहायक।
सुरेश चन्द्र शर्मा	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन मे उप प्रशिक्षण निर्देशक।

ग्राम्य विकास

उछरंगराय न. ढेबर

ग्राम्य विकास न केवल ग्रामीणो की भलाई के लिए वरन् राष्ट्रीय समृद्धि के लिए भी आवश्यक है। पिछले वर्षों में कृषिक विकास और आर्थिक वृद्धि के बीच निकट सम्बन्ध देखने में आया है। इस निकट सम्बन्ध का एक निहितार्थ यह है कि विदेशी विनिमय पर बिना अनावश्यक रूप से निर्भर करते हुए ग्राम्य विकास कार्यक्रम के जरिये देश के आर्थिक विकास को तीव्रता प्रदान की जा सकती है। ग्राम्य विकास को आर्थिक विकास के लिए एक व्यापक कार्यक्रम समझा जाना चाहिये। राष्ट्र के दूरदर्शी नेताओं को चाहिये कि वे उसका कार्यान्वय अपने हाथ मे ले।

भारत की राजनीति मे जब से महात्मा गाधी ने कदम रखा तब से प्राय हम एक ही स्वर मे ग्राम्य विकास का राग अलापते रहे है। यहाँ तक कि गाधीजी के प्रादुर्भाव से पहले भी दादाभाई नवरोजी जैसे व्यक्तियो ने पीडित ग्रामीणो के दु ख-दर्दो पर प्रकाश डाला। लेकिन समग्र रूप से देखने पर शहरी नेताओ का रुख सहानुभूति दिखाने का ही था। गाधीजी ने इस समस्या को अपने ही ढग से सबके सामने रखा और केवल उसके बाद ही इस पर कुछ गभीर रूप से ध्यान दिया गया। जिस किसी ने भी इस प्रश्न के प्रति गाधीजी के दृष्टिकोण का किसी हद तक निरपेक्ष दृष्टि से अध्ययन किया है, वह पहले के राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियो के दृष्टिकोण की यथेष्टता व सगति पर आपत्ति उठायेगा। प्रारम्भिक दृष्टिकोण मे भारत के दु ख-दर्दो के मूल और लोकतत्र के सिद्धान्तो के अनुरूप एक मात्र प्राणवान समाधान के सम्बन्ध मे, यदि अति सामान्यता नही तो, महान अनभिज्ञता प्रदर्शित की है। तथापि, अब भी यह नही कहा जा सकता कि समस्या को यथेष्ट रूप मे समझा गया है। तथाकथित 'धनिक-शिक्षित–शहरी–बडा-भाई' ग्रामीणो पर यदा-कदा जो इस रूप मे दया-दृष्टि फेकता है, मानो कि वह गॉवो मे रहनेवाले 'गरीब सम्बन्धियो' की दुर्दशा दूर करने की स्थिति मे है और वैसा करने का इरादा रखता है, वह इस बात का प्रतिनिधित्व करनेवाली शायद ही समझी जा सके कि शहरी श्रेष्ठी वर्ग ग्रामीण समस्या को उपयुक्त रूप से समझता है। राजनीतिक व समाज-शास्त्र सम्बन्धी बडी-बडी बाते करने के बावजूद वे सामाजिक गत्यात्मक नियम सचालन की अनभिज्ञता के ही अधिक द्योतक है।

सामाजार्थिक आधार

गाधीजी राजनीतिक शब्दावली की विशेष चिन्ता नही करते थे, लेकिन भारत के विशिष्ट तथ्यो के सम्बन्ध मे उनकी जो समझ थी, उसमे किसी प्रकार की भूल नही थी– वे सही रूप मे भारतीय विशिष्टताओ को समझते थे। उन्होने यह महसूस किया कि ग्रामीणो का भाग्य शहरी लोगो की दया-दृष्टि पर उतना निर्भर नही करता, जितना कि स्वयम् ग्रामीणो की 'अपनी मदद आप करने' की इच्छा और सामर्थ्य पर। भारतीय राजनीति मे प्रवेश करते ही गाधीजी ने यह समझ लिया था कि देश की ग्रामीण जनता को बिना फिर से जगाये राजनीतिक क्षेत्र मे शहरी बौद्धिक वर्ग चाहे कितनी ही बाते क्यो न करे कितने ही भाषण व धमकियॉ क्यो न दे, सब बेकार जानेवाला है। उन्होने आधुनिक राजनीति के इस सीधे-सादे सत्य को महसूस कर लिया था कि अन्ततोगत्वा जिस बात का महत्व है, वह है जनता का सामाजार्थिक आधार। भारत का सामाजार्थिक आधार इस बात से निर्धारित होता रहा है और काफी लम्बे समय तक होता रहेगा कि ग्रामीण जनता व ग्रामीण साधन-स्रोतो का क्या होता है। वे कहते थे कि 'भारत गावो मे रहता है' और फिर आगे कहा करते थे कि 'यदि ग्राम नष्ट होता है, तो भारत का अस्तित्व भी नही रह सकता।'

शहरो मे रहनेवाले हम भारतीयो के लिए यह परमावश्यक है कि हम इस बुनियादी सत्य को समझे, महसूस करे। भारत मे प्रगति का मार्ग शहर मे नही है। वह गॉव मे है और वही रहनेवाला है। तब फिर, ग्राम्य विकास शहरी धनिको द्वारा दिया जानेवाला कोई दान नही है। और, न ही वह गरीब ग्रामीण सम्बन्धियो के प्रति किया गया कोई उपकार है। ग्राम्य विकास भारत के विकास का अग्रेसर है-पहले की भॉति आज भी वह इष्ट है।

२

आयोजन और कृषि विभाग

पिछले चौदह वर्ष के दौरान हुए देश के आयोजित विकास के इतिहास से हमारे सोचने-समझने मे यह महान खामी बडे स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। जहॉ यह स्वीकार किया जाता है कि आयोजित विकास की सफलता बहुत कुछ कृषि क्षेत्र मे हमारे उद्दश्यो को महसूस कर लेने पर निर्भर करती है, वहॉ आर्थिक शब्दावली मे इस प्रकार की निर्भरता की सीमा शायद ही महसूस की जाती हैं। अब हम उस स्थिति पर पहुँच चुके है कि इस अस्पष्टता के स्थान पर अधिकाधिक स्पष्ट समझ-बूझ होनी चाहिये। हमे उस क्षेत्र मे न्यूनतम वार्षिक वृद्धि जान लेनी चाहिये जिससे देश की साल दर साल की स्थायी प्रगति सुनिश्चित होगी। नीचे मै तीन तालिकाएँ दे रहा हूँ जो १९४९-५० से १९६१-६२ तक के बारह वर्ष के दौरान कृषि उत्पादन मे हुई वार्षिक कमी-बढती पर आधारित राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति विशुद्ध उत्पादन

तालिका १

कृषि उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धिवाले वर्ष और वार्षिक वृद्धि पर प्रभाव

वर्ष	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यो के आधार पर पूर्ववर्ती वर्ष की तुलना मे कृषि उत्पादन मे मूल्य की दृष्टि से वृद्धि	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यो के आधार पर १९४८-४९ को आधार मान कर राष्ट्रीय विशुद्ध उत्पादन के पूर्ववर्ती वर्ष के सूचकाक मे वृद्धि	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यों के आधार पर १९४८-४९ को आधार मान कर प्रति व्यक्ति विशुद्ध उत्पादन के पूर्ववर्ती वर्ष के सूचकाक में वृद्धि
१९५८-५९	५५० करोड रुपये	८ ८	५ १
१९६१-६२	४४० करोड रुपये	१० ३	५ ६

तालिका २

कृषि उत्पादन में सन्तोषप्रद अथवा ठीक-ठीक प्रगति और वार्षिक वृद्धि पर उसका प्रभाव

वर्ष	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यों के आधार पर पूर्ववर्ती वर्ष की तुलना में कृषि उत्पादन में मूल्य की दृष्टि से वृद्धि	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यो के आधार पर १९४८-४९ को आधार मान कर राष्ट्रीय विशुद्ध उत्पादन के पूर्ववर्ती वर्ष के सूचकाक मे वृद्धि	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यो के आधार पर १९४८ ४९ को आधार मान कर प्रति व्यक्ति विशुद्ध उत्पादन के पूर्ववर्ती वर्ष के सूचकाक में वृद्धि
१९५२-५३	१६० करोड रुपये	४ २	२ १
१९५३-५४	२८० करोड़ रुपये	६ ६	४ ३
१९५६-५७	२३० करोड रुपये	६ ०	३ २

तालिका ३

कृषि उत्पादन मे न्यून प्रगतिवाले वर्ष और वार्षिक वृद्धि पर प्रभाव

वर्ष	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यों के आधार पर पूर्ववर्ती वर्ष की तुलना मे कृषि उत्पादन में मूल्य की दृष्टि से वृद्धि	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यो के आधार पर १९४८-४९ को आधार मान कर राष्ट्रीय विशुद्ध उत्पादन के पूर्ववर्ती वर्ष के सूचकाक मे वृद्धि	स्थिर (१९४८-४९) मूल्यों के आधार पर १९४८-४९ को आधार मान कर प्रति व्यक्ति विशुद्ध उत्पादन के पूर्ववर्ती वर्ष के सूचकाक में वृद्धि
१९४९–५०	११० करोड रुपये	२ ०	० ४
१९५०–५१	२० करोड रुपये (कम)	० ३	–१ २
१९५१–५२	१०० करोड रुपये	२ ९	१ १
१९५४–५५	५० करोड रुपये	२ ८	० ६
१९५५–५६	१० करोड रुपये (कम)	२ ४	
१९५७–५८	२४० करोड रुपये (कम)	–१ ३	–३ ३
१९५९–६०	५० करोड रुपये (कम)	२ ४	० ३
१९६०–६१	५० करोड रुपये (कम)	३ १	०.२

(यहचिन्ह '—' अथवा 'कम' शब्द पूर्ववर्ती वर्ष की तुलना मे न्यून उत्पादन दर्शाता है। यही बात राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति विशुद्ध उत्पादन के सम्बन्ध में लागू होती है।)

के सूचकाको मे सापेक्षिक वार्षिक घटती-बढती प्रदर्शित करती है। (आधार १९४८–४९ के मूल्यो पर अचल है।) ये तालिकाएँ देश के आर्थिक विकास और कृषि विभाग की सम्पन्नता का निकट सम्बन्ध बडे स्पष्ट रूप मे सामने लाकर रख देती है।

उक्त आकडो के अध्ययन से निम्न निष्कर्ष निकलते है

अ कृपि उत्पादन मे खूब वृद्धि होने से राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय के सूचकाक पर्याप्त रूपेण ऊँचे जा सकते है– तालिका १। (तथापि, आयोजन एक अच्छी फसलवाले वर्ष को अपने कार्यक्रम वनाने के स्तर के रूप मे स्वीकार नही कर सकना)

आ जैसा कि तालिका ३ मे १९४९–५०, १९५१-५२, १९५४–५५, १९५५–५६, १९५९–६० और १९६०–६१ से सबधित दिये गये आकडो से पता चलता है कि १ अरब १० करोड रुपये तक की वार्पिक वृद्धि से विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन और प्रति व्यक्ति उत्पादन के सूचकाको मे तुच्छ वृद्धि ही हो सकती है।

इ तालिका २ से पता चलता है कि सन्तोषप्रद प्रगति सुनिश्चित करने के लिए कृषि मे स्थिर मूल्यो (१९४८–४९) के आधार पर १ अरब ६० करोड से लेकर २ अरब ८० करोड रुपये तक की वार्पिक वृद्धि होनी चाहिये। कृपिक उत्पादन मे इस क्रम मे वृद्धि होने पर ही विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन और विशुद्ध प्रति व्यक्ति उत्पादन मे क्रमश चार से छ और दो से चार प्रति शत तक की वृद्धि सुनिश्चित हो सकती है। यह स्वत स्पष्ट है कि चौदह वर्ष मे केवल पाच बार ही हम इन अको तक पहुँच सके है। मौसम की दृष्टि से **दो वर्ष** बहुत ही अच्छे रहे। शेष तीन वर्ष मे कृपि उत्पादन मे औसतन २ अरब २३ करोड रुपये वार्पिक के बराबर वृद्धि हुई। अगर हम राष्ट्रीय उत्पादन में पाच अथवा

प्रति व्यक्ति उत्पादन में दो से चार प्रति शत तक की वृद्धि का भी लक्ष्य सामने रखे तो भी हमे इस आधार पर आयोजन करना होगा कि कृषि उत्पादन मे २ अरब ३० करोड रुपये के बराबर वृद्धि सुनिश्चित हो। मेरा विचार है कि यह पाच प्रति शत वृद्धि दर, विकास की बात तो अलग छोडिये, निचले स्तरो पर आर्थिक पुनस्स्थापना की गम्भीर समस्या को सुलझाने तक के लिए परिपूर्ण अपर्याप्त है। असल मे राष्ट्रीय आय मे सात प्रति शत वार्षिक के लगभग वृद्धि का होना आवश्यक है। इस हिसाब से कृषि उत्पादन मे वृद्धि और भी अधिक होनी चाहिये– वर्ष १९४८–४९ मे प्रचलित मूल्यो की शब्दावली मे कृषि विभाग मे यह वृद्धि तीन अरब रुपये वार्षिक अथवा उसके लगभग होनी चाहिये।

प्रतिकूल मौसम के लिए प्रावधान

यदि हम चाहते है कि हमारा विकास का स्वप्न आज की तरह मात्र कागजी परियोजना न बनी रहे तो फिर दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि हमे कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए इस प्रकार का आयोजन करना पडेगा कि १९४८–४९ के मूल्यो के अनुसार तीन अरब रुपये वार्षिक के बराबर वृद्धि हो। कृषिक आयोजन मे मौसम आदि जैसे कारको का निश्चय ही सम्बन्ध है अर्थात् उन्हे ध्यान मे रखना आवश्यक है। लेकिन चूँकि वे सगत है, इसलिए उनका ध्यान उक्त क्रम से वृद्धि करने की दृष्टि से रखा जाना चाहिये न कि कमी की अवस्था मे औचित्य प्रदान करने के लिए। इसका मतलब है कि प्रकृति के साथ मुकाबला एक ऐसा कारक है जिसके लिए स्पष्ट रूपेण योजना बनानी पडेगी, ताकि प्रतिकूल मौसम के कारण हमारा आयोजन ही खतरे मे न पड जाय।

उक्त तालिकाओं मे विकास की अहिस्र प्रक्रिया का भी पता चलता है। वे इस दलील का खण्डन करती है कि विकास दर और विदेशी विनियम विषयक आवश्यकताओ मे महज सम्बन्ध है और उनसे यह बात भी सामने आती है कि जो उत्पादन वृद्धि करनी है उसमे समय की दृष्टि से विलम्ब नही होना चाहिये। सीमित विनिमय आवश्यकताओ तथा सापेक्षिक दृष्टि से कम पूजी के साथ उत्पादन की शब्दावली मे तुरन्त फल-प्राप्ति करना और इस प्रकार कमी तथा स्फीति के दुष्चक्र को भी तोडना सम्भव हो सकता है।

३

ग्राम्य क्षेत्रो की अवहेलना

इस प्रकार हमारा विकास कार्य ग्राम्य क्षेत्रो पर कितना अधिक निर्भर है, यह बिल्कुल स्पष्ट है, जिसके सबध मे शहरी बुद्धिजीवि वर्ग का ज्ञान धूमिल-सा ही है। इन परिस्थितियो मे सरक्षण प्रदान करने का दिखावा करना मात्र कपट भद्रता है। कुल मिला कर देखने पर भारतीय समस्याओ की जटिलताएँ शहरोन्मुख नेतृत्व की इस प्रारम्भिक अज्ञानता के कारण खडी होती है, जोकि आधुनिकता के प्रति अपनी व्यग्रता के कारण तथ्यो का अनवरत उपहास कर रहा है। हमारी आर्थिक विचारधारा मे जो भी विकृतिया दिखायी देती है, उनका उद्गम इसी शहरोन्मुख दष्टिकोण मे है, जोकि आज भी हमारा पथ निर्देश करता है और हमारी विचारधारा पर भूत की तरह सवार है।

भारतीय ससद के गत शरद-कालीन अधिवेशन मे जब पण्डितजी ने यह स्वीकार किया कि वे यह सोचने लगे है कि हमे गाधीवादी दृष्टिकोण का सहारा लेना पडगा, तो वे यह चाहते थे कि देहातो की समस्या के समाधान पर ध्यान दिया जाय। लेकिन उनका मतलब यह नही था कि उद्योगीकरण के लिए जो बडी-बडी योजनाएँ है, उनका त्याग कर दिया जाय, इसलिए उन्होने देश के विकास की समस्या के प्रति एक ऐसा नया प्राणवान दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह किया कि उससे ग्राम्य क्षेत्रो मे सामाजार्थिक शक्तियो मे जान आ जाय, वे सक्रिय हो उठे। इस नव दृष्टिकोण का निहितार्थ

यह है कि यह कृत्रिम विचार अथवा धारणा बिल्कुल भ्रातिमूलक है कि भारत को अमेरिका और रूस का अनुकरण करने की आवश्यकता है, बस, फिर अपन आप उसे नया स्वर्ग मिल जायेगा। हो सकता है कि कुछ को यह सत्य बुरा भी लगे, लेकिन इसका सामना करना ही होगा। भारत ठीक उसी प्रकार अमेरिका अथवा रूस नही हो सकता, जिस प्रकार वे भारत नही हो सकते। हमारी अपनी पृष्ठभूमि, अपनी समस्याएं और अपने साधन-स्रोत है। ये शक्तिदायक पहलू तभी हो सकते है, जबकि हम इनकी कमजोरियो से बचते और मजबूतियो का ध्यान रखते हुए अपनी समृद्धि के लिए आधार बनाने की कोशिश करे। ग्राम्य क्षेत्रो की उनकी पृष्ठभूमि, उनकी समस्याओ और उनके साधन-स्रोतो के साथ अवहेलना करने के लिए अग्रेजो को अपने साम्राज्य तथा भारतीय जागीरदारो को अपनी जागीरो से हाथ धो बैठने के रूप मे मूल्य चुकाना पडा है। पिछले पन्द्रह वर्ष के अनुभव से पता चलता है कि इस मूलभूत तथ्य की सापेक्षिक अवहेलना से भारतीय लोकतत्र के लिए सबसे बडा सरदर्द पैदा हो रहा है।

खाद्यान्न आयात के निहितार्थ

अनवरत रूप से चली आ रही हमारी अन्न की कमी इसी वृत्त का एक अग है। उदाहरण के लिए देश मे चावल और गेहूँ की स्थिति को ही ले लीजिये। ग्रामीणो से केवल अपना जरूरत से ज्यादा अनाज ही बेचने की अपेक्षा की जा सकती है। गेहूँ के मामले मे किसानो के पास बिक्री के लायक अतिरिक्त गेहूँ चालीस लाख टन है। इसमे लोगो की केवल आधी आवश्यकता ही पूरी हो सकती है। शेष की पूर्ति आयात करके करनी पडती है। आयात का मतलब है पी एल ४८०, पी एल ४८० का अर्थ है अर्थ-व्यवस्था मे उतने रुपयो का और समावेश, रुपयो के समावेश—उत्पादन मे उसी के समान वृद्धि किये बिना—के माने है स्फीति, स्फीति का तात्पर्य है अव्यवस्था व अशाति। इन परिस्थितियो मे यह कहना ओछापन है कि ग्राम्य विकास ग्रामीण जनता के लिए है। कभी-कभी ग्राम्य विकास ग्रामीणो की अपेक्षा शहरवासियो के लिए अधिक आवश्यक है।

४

ग्राम्य विकास व उद्योगीकरण मे विरोध नहीं

ऐसी धारणा पायी जाती है कि ग्राम्य विकास के हिमायती उद्योगीकरण के विरोधी है। राष्ट्र के हित मे इससे अधिक भ्रामक अथवा अहितकर अन्य कोई बात नही हो सकती। ग्राम्य विकास मे उर्वरको, कीटनाशको के उपयोग, सिचाई योजनाओ के निर्माण की बात शामिल है, जिनके लिए बहुत बडी तादाद मे सिमेण्ट व इस्पात तथा अन्य ऐसी ही सामग्री की आवश्यकता पडती है। यही नही इसमे बिजली के उपयोग तक का सवाल आता है। परिवहन की सुव्यवस्था इसके लिए आवश्यक है। यह मानना कि ये यथार्थ रूप मे औद्योगिक परियोजनाएँ नही है, नासमझी की-सी बात है। क्या कभी किसी ने ऐसा कहा है कि भाखरा-नागल बाध के हजारो हिस्से कर दिये जायं? वस्तु स्थिति यह है कि ईधन, उर्वरक, कीटनाशक, बिजली व परिवहन जैसी योजनाओ को सदैव ही परिपूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ है। यह सच है कि साथ ही साथ हम ने प्रशोधन और उपभोग उद्योग के क्षेत्र मे ग्राम्य उद्योगीकरण आवश्यक समझा है। लेकिन ग्राम्य उद्योगीकरण तो ग्राम्य विकास का एक ही अग है। ग्राम्य विकास का अर्थ कृषि और ग्रामीण उद्योगो का विकास ही नही है। 'ग्राम्य विकास' शब्द एक बहुत ही व्यापक, प्राणवान शब्द है। देश मे एक सच्चे माने मे विकासशील प्रयास का आधार ग्राम्य विकास ही बन सकता है। गाधीजी के समय से ही ग्राम्य विकास-पर जो जोर दिया जा रहा है, उसकी पृष्ठभूमि यही है।

मूलभूत सवाल तो यह है कि कौन-सी विकास परियोजनाओ को प्रथम स्थान दिया जाय— भारत के विकास के सामाजार्थिक पक्षो से असम्बद्ध 'उद्योगीकरण की परियोजनाओ' को अथवा उन 'उद्योगीकरण की परियोजनाओ' को जो कम से कम सम्भव समय मे देश की अर्थ-व्यवस्था

के इस प्राणवान सामाजार्थिक आधार के विकास मे योगदान दे सकती है, सहायक हो सकती है। भारत को ग्राम्य और शहरी दोनो क्षेत्रो के विकास की आवश्यकता है। लेकिन सवाल यह है कि गाडी को बैलो के जोता जाय या बैलो को गाडी के ! ग्राम्य विकास पर लगातार जोर देने के पीछे दृष्टिकोण है निरोधित-पूर्वाग्रही शहरोन्मुखी विचारधारा को भारतीय परिस्थिति की वास्तविकताओ का सही रूप मे भान करवाना । सामाजिक पुनरुत्थान के नियमो पर आधारित ग्राम्य विकास के चक्र को सक्रिय बनाने के लिए यह एक हेतु है।

ग्राम्य विकास का मतलब उद्योगीकरण से इन्कार नही है। इसका अर्थ इस दावे से इन्कार है कि आर्थिक विकास का पाश्चात्य ढग भारत मे भी लागू किया जा सकता है। देश मे यथेष्ट रूपेण उद्योगीकरण होगा। तथापि, वह सामाजार्थिक पुनस्सगठन का एक ऐसा दुर्ग होगा, जिसकी नीव ग्राम्य विकास मे, गॉवो मे होगी। औद्योगिक विस्तार की शब्दावली मे प्राथमिकता कृषि-उद्योगो के लिए आवश्यक आर्थिक मदो को (जैसे सडक, बिजली, इस्पात, उर्वरक, कीटनाशक, सिचाई आदि) निर्मित करने के लिए योजनाओ को मिलनी चाहिये।

५

साधन-स्रोतों का उपयोग

ग्रामीण क्षेत्र मे ऐसे साधन-स्रोतो की भरमार है, जिनका उपयोग और विकास करने की आवश्यकता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे जन-शक्ति सम्बन्धी हमारे साधन-स्रोतो का अपनी पिछडी अवस्था मे होते हुए भी राष्ट्रीय उत्पादन मे करीब ६० प्रति शत योगदान है। उन्हे उपयुक्त दिशा मे प्रवृत्त कर हम उन्हे बेहतर तथा और अधिक फलदायी कामो मे लगा सकते है। लगभग ६० प्रति शत व्यक्तियो के पास अपर्याप्त जमीन ह। करीब तीन-चार करोड के पास पर्याप्त काम नही है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था की बैलगाडी पर भार इतना अधिक हो गया है कि वह क्षत-विक्षत हो जाने की अवस्था पर पहुँच चुकी है। भार के नीचे वह तिडक रही है, लेकिन उसमे एक क्षमता है। कार्य-स्थल पर अवसर उपलब्ध है। काम करने के लिए व्यक्ति मौजूद है। विश्व मे पर्याप्त वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्य है। प्राविधिक प्रगति की भी कमी नही है। वैज्ञानिक तौर-तरीको और उन्नत साधन-सरजाम का उपयोग कर उसी जमीन से पर्याप्त अधिक उपज हासिल की जा सकती है। इन सब मे ३२ करोड काम करनेवालो के हाथ लगने से भारत का नाम रोशन हो सकता है, उसका सितारा बुलद हो सकता है। और, जैसा कि लार्ड वेवल (Lord Wavell) ने कहा है, मन्द गति से चलनेवाली बैलगाडी शीघ्र ही जीप का रूप धारण कर सकती है।

न्यून वन्य उत्पादन

भारत मे २,३०,७८९ वर्ग मील पर–देश के लगभग एक-पचमाश भौगोलिक क्षेत्र मे–जगल है। इनसे हमे ५५ करोड घनफुट इमारती लकडी, ईंधन और काठ की प्राप्ति होती है। ससार के प्रति वर्ग मील ४,००० घनफुट औसत के समक्ष हमारा औसत २,००० घनफुट प्रति वर्ग मील है। हमारे कुछ वन्य क्षेत्र तो, खास कर विध्य श्रेणी, घाट और हिमालय के वन्य क्षेत्र, विश्व मे सर्वोत्तम हो सकते है। इटली मे हमारे वन्य क्षेत्र के दसवे हिस्से के बराबर इलाका होते हुए भी वह हमसे सवाया पैदा करता है। इसी प्रकार फ्रास हमारे वन्य क्षेत्र के छठे हिस्से के बराबर क्षेत्र रखते हुए भी हम से ढाई गुना अधिक वन्य उत्पादन करता है। चीन मे भारत से १२ प्रति शत ज्यादा क्षेत्र मे ही जगल है, लेकिन उसका कुल वन्य उत्पादन हम से तीन गुना है। भारत के एक-पचमाश क्षेत्र के विपरीत युगोस्लाविया मे कुल के ३६ प्रति शत इलाके मे जगल है। इजराइल मे यदि तीव्र गति से वृक्षारोपण किया जा सकता है तो वैसा भारत मे भी हो सकता है।

हमारे वनो मे अन्याय कार्यशीलताओ के विकास की अत्यधिक गुजाइश है। उदाहरणार्थ जलावन, लकडी का कोयला और पत्थर का कोयला (कोक), खाद

सग्रह, गौण उत्पादन तथा जडी-बूटियों का सग्रह, गोद, खालो, पेडो के तनो का एकत्रण, उपस्कर बनाना और निर्माण उद्योग का विकास, अखाद्य तिलहन, काठ, बेत, बास और रेशो का सग्रह, कागज उद्योग का विकास, टसर, ऊन और रेशम कीट-पालन का विकास, बागवानी, फलोत्पादन और उन्हे डिब्बो मे बन्द करने के काम का विकास, दुग्धोद्योग आदि। भारत के जगलो की क्षमता इतनी अधिक है कि उस पर विश्वास नही हो पाता—वह कल्पनातीत है। हमे केवल इसकी ओर अपना, ध्यान भर पलटना है। इसके उपयोग के लिए शक्ति-बुद्धिमत्ता और पौरुष की आवश्यकता है— बस, फिर सब कुछ होता चला जायेगा।

पशु-पालन

अब हम देश मे पशु-पालन पर भी विचार करे। भारत मे किसान और पशु-पालक अपनी २० से ३० प्रति शत तक आय के लिए मवेशियो तथा अन्य पशुओ पर निर्भर करते (जैसा कि विश्व के प्रत्येक देश मे उन्हे निर्भर करना पडता है) है। भारत मे पशु-सुरक्षा और पशु-विकास के लिए पजाब के सिवाय अन्यत्र कही कुछ नही किया गया है। महत्वपूर्ण आधिकारिक पदो पर आसीन व्यक्तियो ने तो यही मान लिया है कि भारतीय मवेशी बेकार है। लेकिन क्या कभी किसी ने उनकी क्षमता का विकास करने की कोशिश की है? पजाब मे हरियाणा, बीकानेर, जोधपुर, बाडमेर और जैसलमेर के इलाका मे थरपाडकर और राठ, दक्षिण-पूर्व राजस्थान तथा उत्तर-पश्चिम गुजरात मे साचोरी और काकरेज, सौराष्ट्र मे गिर, मैसूर मे बगलोर, आन्ध्र प्रदेश मे ओगगोल, मध्य प्रदेश मे मालवी तथा देश के कुछ अन्य छोटे-बडे हिस्सो मे पायी जानेवाली ऐसी ही नस्लो के पशु बहुत उत्तम कोटि के होते है। और, उनकी सख्या एक-दो मे नही, लाखो मे है। यही बात पजाब की मुर्र और गुजरात की सूरती भैसो के बारे मे कही जा सकती है। जरूरत है उन पर व्यक्तिगत ध्यान देने और उन्हे अच्छा चारा खिलाने की। व्यक्तिगत ध्यान तथा पर्याप्त पौष्टिक खुराक की कमी ही एक मात्र कारक है, जो इन नस्लो के विकास मे बाधक है।

ग्रामोद्योग

यही हालत दस्तकारियो और ग्राम उद्योगो की है। यह सच है कि दस्तकारियो तथा ग्राम उद्योगो के समर्थको ने कभी-कभी उनके विकास की समस्या के प्रति पुराना दृष्टिकोण अपनाया है, लेकिन उनके हाथ से इनका विकास कार्य लेकर उनमे नवीनतम वैज्ञानिक व प्रविधिक उपकरण एवम् तौर-तरीके लागू करने के लिए किसी को कोई रोक नही सकता था।

आज भी वैसा कर लेने मे कोई देर नही हुई है। ग्राम्य विकास से चन्द गाधीवादियो का ही ताल्लुक न समझ कर, यदि मात्र राष्ट्रीय नेतृत्व भी यह समझ ले कि ग्राम विकास ही वह मूलभूत माध्यम है, जो भारतीय आर्थिक विकास मे गति पैदा कर सकता है तो वह अब भी स्थिति मे सुधार ला सकता है, उस पर काबू पा सकता है।

लेकिन क्या हमे अपनी विचारधारा की इस अपूर्णता और इस नये दृष्टिकोण की शक्यता के बारे मे दिलजमई हो चुकी है? क्या हमारा मस्तिष्क इस सबध मे बिल्कुल स्पष्ट है कि वास्तविक आर्थिक प्रयास का प्रारम्भ बिन्दु इस उक्त अर्थ मे ग्राम्य विकास ही हो सकता है? क्या हम इस सबध मे बिल्कुल स्पष्ट है कि भारतीय अवस्थाओ मे आवश्यक न्यूनतम सात प्रति शत विकास दर इस महत्वपूर्ण विभाग के विकास के जरिये ही सम्भव है? उपर्युक्त तालिकाओं मे दिये गये १९५८–५९ और १९६१–६२ के आकडे हमारे सामने है। राष्ट्र केवल कृषि के कारण ही उक्त वर्षो मे ८ से १० प्रति शत के बीच विकास दर हासिल कर सका था। योजना मे अलग प्रकृति हमे जो दे सकती है, क्या हम उसकी योजना नही बना सकते?

इसका मतलब है हमारी योजना के प्रति अर्थात् स्वयम् उसी मे ही एक बिल्कुल नया दृष्टिकोण अपनाना।

इसका अर्थ है विकास की समस्याओ के प्रति एक परिपूर्ण नया दृष्टिकोण अपनाना। इसके माने है प्रशासन के क्षेत्र मे नये दृष्टिकोण का समावेश। इसका अर्थ है फिलहाल के लिए पाश्चात्य जीवन-पद्धति व कार्य-प्रणाली और उद्योगीकरण के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण अपनाने के लिए जो लोलुपता या उत्सुकता, अथवा और कुछ, है उसका परित्याग।

मै मानता हूँ कि मार्ग मे बाधाएँ अनेक है। पिछले पन्द्रह वर्ष की अवधि मे हमने अनेक प्रकार के वादे किये है। मौजूदा प्राथमिकताओ और उद्योगीकरण के वर्तमान स्वरूपो को आसानी से बदला नही जा सकता। तथापि, क्या हम इस बात के लिए तैयार है कि वादो पर पुनर्विचार किया जाय, प्राथमिकताओ को एक-एक करके तब तक ऊपर-नीचे किया जाय जब तक कि वे पुनर्व्यवस्थित न हो जाये और बैल, गाडी मे उपयुक्त स्थान पर न जुत जाय? क्या हम कृषि, वन्य-उत्पादन, भूमि-सरक्षण, पशु-पालन, ग्रामीण उद्योगो और इसके लिए आवश्यक उन आर्थिक मदो, जिनका उत्पादन बडे पैमाने के उद्योगो मे हो सकता है, मे हम ग्राम-जन-प्रयास की दिशा मे अपने को लगाने के लिए तैयार है? तब, हमारे आयोजन मे बिजली, औद्योगिक कच्ची सामग्री तथा अन्य आवश्यकताओ और परिवहन एवम् प्रशिक्षण, अन्वेषण व शैक्षणिक नूतनता के रूप मे सुविधाओ को एक युक्तिसगत स्थान प्राप्त होगा।

हमे कच्ची सामग्री तथा वित्त के वितरण के सवाल को उक्त दृष्टिकोण से देखने के लिए तैयार रहना होगा। तब हमे अपने को इस बात के लिए तैयार करना पडेगा कि कच्ची सामग्री के मामले मे किसान, पशु-पालक और ग्रामीण कारीगर की आवश्यकताओ को प्राथमिकता दी जाय। हमे ग्राम्य नूतनता की कसौटी पर भी राजनीतिक तथा प्रशासनात्मक दोनो ही क्षेत्रो मे सस्थात्मक स्वरूप का मूल्याकन करने के लिए भी तैयार रहना होगा। राष्ट्रीय व्यय और राष्ट्रीय जीवन पद्धति के सबध मे हमे अपने विचार को नया रूप देना होगा अर्थात् नया दृष्टिकोण अपनाना होगा। हमे और भी सैकडो काम करने होगे। लेकिन यदि राष्ट्र को विप्लव और/अथवा साम्यवाद से बचाना है तो ये सब आधारभूत बाते है।

बम्बई १४ जुलाई १९६४

नैतिकता के दो पक्षो मे एक पक्ष आत्म-सयम का है, अपने आप अपनी प्रेम-भावना और इच्छा-शक्ति पर काबू पाना आत्म-संयम है। बेथॅम ने कही भी इसका जिक्र नही किया है। दूसरा और उतना ही महत्वपूर्ण पक्ष है अपने आचरण को नियमित करना। बिना पहले के यह भी अनिश्चित और अपूर्ण ही रहेगा, क्योकि जब तक हम अपनी अथवा दूसरो की भावना व इच्छाओ को समझ न ले, तब तक यह निर्णय कैसे कर सकते है कि हमारी 'करनी' हमारे अथवा दूसरो के सासारिक हितो पर कैसा प्रभाव डालेगी? बेथॅम के सिद्धान्तो के अनुसार नीतिज्ञ इतना कह सकता है कि मनुष्य को हत्या नही करनी चाहिये, आग नही लगानी चाहिये अथवा चोरी नही करनी चाहिये, परन्तु मनुष्य के श्रेष्ठ आचरण के लिए उसका क्या कहना है अथवा चरित्र पर प्रभाव डालनेवाले तथ्यों सम्बन्धी नैतिक मूल्य निश्चित करने के विषय मे उसका क्या विचार है, जोकि यौन सम्बन्ध, सामान्य पारिवारिक सम्बन्ध अथवा अन्य किसी निकटवर्ती या सामाजिक सम्बन्ध जैसे भौतिक कारको की अपेक्षा मानव चरित्र को अधिक प्रभावित करते है?

— बेथॅम पर जॉन स्टुअर्ट मिल

आर्थिक विकास पर प्रधान मत्री के विचार

वैकुण्ठ ल. मेहता

आनुक्रमिक पच वर्षीय योजनाओं की परिकल्पनाएँ उत्साहजनक चित्र प्रस्तुत नही करती। अत प्रधान मत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने योजनाओं को नया मोड देने तथा उन्हे रोजगार-मुखी बनाने पर जो जोर दिया है, वह समयानुकूल है।

अध्यक्ष की हैसियत मे योजना आयोग की पहली बैठक मे प्रधान मत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने अपने भाषण के दौरान जो नया विचार सामने रखा उसके लिए कोई भी उनका कृतज्ञ हुए बिना नही रह सकता। अब जबकि हमने तीसरी पाँचसाला योजना का मध्य-कालीन मूल्याकन कर लिया है, और यद्यपि चौथी योजना के सम्भाव्य आकार तथा विषयो की मोटी रूपरेखा भी दी जा चुकी है, फिर भी क्या अभी समय नही है कि हम पिछले अनुभवो और वर्तमान अवस्थाओ के आधार पर हमारी योजना मे प्राथमिकताओ के क्रम निर्धारण पर पुनर्विचार न करे।

परिकल्पनाएँ निरुत्साहजनक

इसके लिए प्रधान मत्री के विचारो ने एक मार्ग प्रशस्त किया है। सर्व प्रथम वे यह चाहते है कि योजना रोजगार-मुखी हो। "रोजगारी के अवसरो का पर्याप्त विस्तार" निस्सन्देह तीसरी योजना के पाँच मुख्य उद्देश्यो मे से एक है। परन्तु अब तक जिस गति और जिस तरीके से आर्थिक विकास हुआ है, उससे यह माना जाता है कि योजना के अन्त मे बेकार लोगो की सख्या, उसके प्रारम्भ मे जितने बेकार लोग थे, उनसे बहुत अधिक रहेगी। अगर हम इसी तरह बढते रहे तो, हमारी आबादी वृद्धि की गति धीमी होने पर भी, अवस्था हर वर्ष गिरती ही जायेगी। इसका हमारे करोडो लोगो के जीवन पर क्या प्रभाव पडेगा, उसकी कल्पना हम सहज ही कर सकते है।

हाल ही मे हमारी आगामी योजनाओ की परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। उनकी सगणना से लगता है कि पचम पच वर्षीय योजना के अत मे अर्थात् अब से बारह वर्ष बाद देश मे किसी भी व्यक्ति की आय २० रुपये प्रति माह से कम नही होगी। इस अनुमान पर तो शका करने का कोई कारण ही नही है, परन्तु यह समझना बडा कठिन है कि क्या यह सात्वना दे सकता है। यह मान लिया जाय कि १९७६ मे रुपये का मूल्य आज के ही समान रहेगा, तो भी २० रुपये प्रति माह आय का अर्थ है ६६ पैसे दैनिक आय, जोकि आज देश के अधिकाश भागो मे प्रचलित कृषि-मजदूरी दर की आधी है। वार्षिक आय २४० रुपये होगी, जोकि आज की प्रति व्यक्ति आय की तीन-चौथाई है। यह अक तो विश्व के जिन देशो के साख्यिकी आकडे उपलब्ध है, उनमे सबसे कम है। यदि २५ वर्ष के आयोजन के बाद भी हम यही प्रगति कर सकते है, तो जैसा कि प्रधान मत्री ने कहा है कि क्या हमारी योजना को नया मोड देने का यही समय नही है?

नयी दिशा का संकेत

प्रधान मत्री ने नयी दिशा का एक सकेत दिया है। उन्होने कहा कि यदि सिचाई के लिए बडे-बडे बाध बाधने हेतु देश के पास पर्याप्त स्रोत नही है तो आयोग को अपभीत नही होना चाहिये। तालाबो और कुओ के निर्माण और मरम्मत के लिए जोरदार प्रयास किये जा सकते है। ये तथा अन्य लघु सिचाई कार्य रोजगारी के अवसर बढायेगे, उनके लिए यत्र मगाने हेतु विदेशी विनियम की आवश्यकता नही पडेगी और ये काम

हमारे देश मे बहु सख्या मे उपलब्ध सिविल-इजीनियर कार्यान्वित कर सकेंगे। हो सकता है कि सिचाई के अन्तर्गत लाये गये खेतो मे प्रति एकड खर्च बडी परियोजनाओ के खर्च के मुकाबले थोडा-सा अधिक हो, लेकिन इसके विपरीत इसका लाभ भी शीघ्र ही मिलेगा और अपने खेतो तथा जगलो से विस्थापित होनेवाले लोगो की सख्या भी बहुत कम होगी।

खाद के स्रोत

प्रधान मत्री ने रासायनिक उर्वरको की उपलब्धि की भी बात कही। कुछ वर्गो मे तो इसे स्वयम् सिद्ध सत्य मानते है कि उत्पादकता मे वृद्धि सुनिश्चित करने के लिए फसलो मे रासायनिक खाद डालनी ही होगी। यदि यह देशी स्रोतो अथवा आयात के जरिये पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही होती तो हम उत्पादन वृद्धि की आशा नही कर सकते। स्वय मे यह स्वयसिद्ध प्रस्ताव नही है। तथापि, इसके अतिरिक्त प्रधान मत्री ने आग्रह किया कि यदि खाद-स्रोतो की कमी राह मे बाधक है तो अन्य खाद-स्रोतो की खोज कर इस बाधा को दूर करना चाहिये। हमारे नियोजित कार्यक्रम के प्रारम्भिक सोपानों मे कम्पोस्ट खाद की प्राप्ति और पूर्ति पर बहुत जोर दिया गया था। कार्यक्रम मे तो यह अब भी शामिल है, परन्तु इसके लाभो के विस्तार के लिए कोई जोरदार प्रयास किया जा रहा हो, ऐसा सुनने मे नही आता।

चूँकि गोबर हमारी भूमि और हमारी फसलो की विशेष आवश्यकता-पूर्ति के लिए मूल्यवान खाद प्रदान करता है, अत यदि इसे सिर्फ खाद के लिए सरक्षित रखा जाय तो बारिश पर निर्भर करनेवाली फसलो मे विशेष कर बहुत वृद्धि होगी। दुर्भाग्यवश अभी भी गोबर की बहुत बडी मात्रा का उपयोग जलावन के रूप मे किया जाता है। यदि इसे रोकना है तो देश भर मे जलावन के अन्य विकल्पो की योजना होनी चाहिये, जिसमे गॉव के निकट ही शीघ्र बढनेवाले वृक्षो का रोपण भी एक हो सकता है।

चीन और जापान, इन दोनो ही देशो मे मल-मूत्र का उपयोग फसलो के उर्वरक के रूप मे करते है। हमारे गॉव मे मल-मूत्र की निकासी का जो तरीका है, वह तो सम्पूर्णतया इसे व्यर्थ जाने देने का ही है, शहरो मे इसका तरीका गन्दा और अपमानजनक है। जिन चन्द शहरो मे स्रोतो को सरक्षित रखा जाता है, वहॉ उनकी अच्छी बिक्री हो जाना यही दर्शाता प्रतीत होता है कि मल-मूत्र के उपयोग का विरोध उतना गम्भीर नही है, जितना कि उद्यमी किसानो को इसे खाद के रूप मे इस्तेमाल करने से रोकना। कुछ हद तक यही बात पशु-शवो के उपयोग के विषय मे भी लागू होती है, जोकि विशेष कर गॉवो मे तो बर्बाद ही जाते है, [illegible] साबित हो सकते है।

जन-शक्ति स्रोतो का उपयोग

देश मे व्याप्त गरीबी का "देश के जन-शक्ति स्रोतो के पूर्ण उपयोग–" जोकि हमारे आयोजन का एक मुख्य उद्देश्य है– मे हमारी अपेक्षाकृत असफलता के साथ जिक्र करते हुए प्रधान मत्री ने आवश्यक रूप से मध्यम, लघु और ग्रामीण उद्योगो के विकास पर जोर दिया, क्योकि उनमे सार्वजनिक अथवा निजी क्षेत्र के बडे उद्योगो के मुकाबले रोजगारी देने की अधिक क्षमता है। इस प्रकार रोजगारी के प्रसार हेतु विकेन्द्रित आधार पर औद्योगिक उत्पादन अनिवार्य हो जाता है।

प्रशोधन उद्योग का यांत्रीकृत विभाग

ऐसी बात नही है कि प्रधान मत्री ने जिन बातो पर जोर दिया है, उन पर योजना आयोग का ध्यान ही नही गया है। जून १९५५ मे ही आयोग ने ग्रामीण और लघु उद्योग समिति की नियुक्ति विशेषतया इसलिए की थी कि वह अर्थ-व्यवस्था के इस विभाग के लिए इस उद्देश्य से योजना बनाये कि 'योजनावधि मे आम मॉग की उपभोक्ता सामग्री के बढे उत्पादन का अधिकाश भाग ग्रामीण और लघु उद्योग पूरा करे।" इस उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए आयोग द्वारा एक सयुक्त

उत्पादन कार्यक्रम बनाने की कोशिश की गयी है।

दुर्भाग्यवश पिछले वर्षो म कताई मिले, शक्ति-करघे, तेल मिले और चावल मिले खोलने की आज्ञा दी गयी है और चन्द राज्यो मे तो वे ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम के अग स्वरूप पनप रही है। सबसे ताजा उदाहरण तो सरकार के लिए ही विदेशो से आयात किये गये यत्रो की मदद से छ आधुनिक चावल मिले खोलने का प्रस्ताव है।

फिलहाल जैसी स्थिति है उसे ध्यान मे रखते हुए यदि सम्पूर्ण देश की दृष्टि से देखे तो यात्रीकृत विभाग की क्षमता का एक अश अनुपयोगित पडा है, और हलरो की स्थापना—अधिकृत अथवा अनधिकृत रूप मे—से तो हस्त प्रशोधन उद्योग में भी काफी क्षमता अनुपयोगित पड गयी है। इन परिस्थितियो मे योजना आयोग को इस सम्बन्ध मे विचार करना होगा कि बडी क्षमतावाली इन मिलो की स्थापना से हाथ धान कुटाई उद्योग के जरिये दी जानेवाली रोजगारी पर क्या प्रभाव पडेगा, जिसके विकास के लिए योजना मे शामिल एक कार्यक्रम, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा है। चतुर्थ पच वर्षीय योजना बनाने अथवा उपर्युक्त प्रस्तावा पर कार्यवाही करने के पूर्व योजना आयोग द्वारा इस पर विचार करना वाछनीय होगा कि वे प्रधान मत्री द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो के अनुरूप है अथवा नही।

पूना १७ जुलाई १९६४

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आकडो तथा आय कर-दाता वर्ग की आय के आकडो का उपयोग करते हुए लीडल ने सम्पूर्ण शहरी और ग्रामीण आबादी तथा दोनो के लिए अलग-अलग भी वर्ष १९५५–५६ के लिए प्रति व्यक्ति मासिक आय के जरिये आय के वितरण का अन्दाज लगाया है। इन आकडो के अनुसार ८६ प्रति शत आबादी की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ३६० रुपये मे कम और ९६ प्रति शत की २४० रुपये से कम है। यह मान कर कि २४० रुपये और ३६० रुपये के बीच की आयवाले लोग इस क्रम मे सम रूप से वितरित है, ऐसा लगता है कि १९५५–५६ में करीब ७२ प्रति शत आबादी की आय उस वर्ष की औसत प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (२५५ रुपये) से कम थी और कुल व्यक्तिगत आय मे उनका हिस्सा ४९ प्रति शत था। इस प्रकार १९५५–५६ मे करीब २८ प्रति शत आबादी—जिसकी प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत आय से अधिक है— का हिस्सा कुल व्यक्तिगत आय के ५० प्रति शत से अधिक था। भिन्नात्मक वर्गो (फ्रैक्टाइल ग्रुप) पर आधारित विश्लेषण से आय-वितरण की असमानता की सीमा का और स्पष्ट विवरण मिल जाता है। मासिक प्रति व्यक्ति आय के अनुसार वर्गीकृत करने से १९५५–५६ मे आबादी के उच्च १० प्रति शत की आमदनी आय-कर देने से पूर्व की कुल आय (अर्थात् व्यक्तिगत आय) का ३४ प्रति शत थी; उच्च ५ प्रति शत की २३ प्रति शत और उच्च एक प्रति शत की तो ११ प्रति शत थी, जबकि निचले २५ प्रति शत ने आय के १० प्रति शत मे ही हिस्सा बटाया। कर देने के बाद बची आय (अर्थात् जिस आय को खर्च किया जा सकता है) पर विचार करने से अवस्था मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही होता। इसके सिवाय और किसी बात की अपेक्षा भी नही की जा सकती, क्योकि कुल आबादी मे कर–दाताओ का अनुपात बहुत कम है।

— रिपोर्ट ऑफ दि कमिटी ऑन डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड लेवल्स ऑफ लिविंग, पार्ट १ (डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड वेल्थ एण्ड कसेण्ट्रेशन ऑफ इकनॉमिक पावर)

गोबर गैस संयंत्र : विभिन्न उपयोग और समाज पर प्रभाव

जशभाई झ. पेटल

गोबर गैस सयत्र ग्रामीणो को ईंधन का सस्ता स्रोत उपलब्ध करेगा। गोबर से गैस तयार करके जलाने से उपलो की अपेक्षा अधिक तेज आँच प्राप्त होती है।

गोबर गैस सयत्र मुख्यत रद्दी पदार्थों का यत्र है। यह उसी तरीके का इस्तेमाल करता है, जोकि प्रकृति अस्थायी प्रागारिक कचडा पदार्थो के इस्तेमाल के लिए करती है। प्रागारिक कचडा पदार्थ किसी भी प्रकार का क्यो न हो, उससे अन्तत मुख्यतया तीन गैसो— मीथेन, कार्बन डायक्साइड और हायड्रोजन— का मिश्रण, जिसमे नाइट्रोजन, हायड्रोजन सल्फाइड और अन्य गैसो की भी थोडी-थोडी मात्रा रहती है, और ह्यूमस की तरह ही करीब-करीब बिलकुल काले रग का स्थायी ठोस पदार्थ प्राप्त होता है। गैस का उपयोग घरेलू अथवा औद्योगिक जलावन के रूप मे किया जाता है तथा स्थायी अथवा पाचित पदार्थ ह्यूमस और अधिक नाइट्रोजनवाली खाद होता है। सम्पूर्ण किण्वन विज्ञान के क्षेत्र मे यह प्रक्रिया इस प्रकार बिल्कुल निराली है कि शुद्ध सवर्धन बनाये रखने की जरूरत नही तथा किण्वन के लिए कच्चे माल के आवपन और अनुर्वरीकरण की आवश्यकता नही। वात-निरपेक्षित पाचन के इस विशेष गुण ने सरल वात-निरपेक्षित गैस सयत्र का विकास सम्भव बनाया। चन्द शर्तो के पूरा कर दिये जाने पर सवर्धन मे गति आ जाती है तथा वह अच्छी तरह काम करता है।

इस गैस का उष्मीय मान प्रति घनफुट ५५० ब्रिटिश थर्मल युनिट (ब्रि थ यु) है। जलने पर इससे नीली अज्योतिष्मान ज्योति निकलती है, जिसका तापमान १०,००० फर्नहाइट से भी अधिक होता है। इस गैस का २५० घनफुट एक मन (८२ पौड या ३७ २ किलोग्राम) जलावन लकडी का काम देता है। इससे कालिख नही लगती। इसका इस्तेमाल विशेष प्रकार के बर्नर मे किया जा सकता है और बर्नर मे पूर्ण रूप से जलाये जाने पर कोई गध भी नही निकलती। इसका इस्तेमाल मेंटलवाली गैसबत्तियाँ जलाने मे भी किया जा सकता है। अब तक जो गैसबत्तियाँ उपलब्ध है, वे बडी असतोषजनक है। उनका प्रारम्भिक तथा रख-रखाव खर्च अधिक है। अत गैस-बत्तियो का उपयोग वाछनीय नही है। उत्तम गैसबत्तियाँ तैयार करने का कार्यक्रम बनाया जा रहा है।

जलावन	उष्मीय मान (प्रति पौड किलो कॅलरी)	योग्यता	मूल्य प्रति मन (रुपये)	मूल्य प्रति पौड (पैसे)	प्रभावी मूल्य (१,००० किलो कॅलरी)
मृदु कोयला	२,८६०	२८	२ ६०	३ १७	३ ९३
लकडी का कोयला	३,१५०	२८	८ २५	१० ००	११ ४०
लकडी	२,१४०	१७ ३	२ ००	२ ४४	६ ५९
उपले	९६७	११ ०	२ ०० मन	२ ४४	२२ ७
मिट्टी का तेल	४,९०३	४८	१ ७५ गैलन	२१ ९०	९ ३५
बिजली		७६	१० पैसे किलोवाट		१५ ४०
कोयले की गैस	११९ किलो कॅलरी प्रति घनफुट	६०	४ ५० एक हजार घनफुट		६ ३
गोबर गैस	१४२ ,,	६०	३ ०० एक हजार घनफुट		३ ५२

सबसे सस्ता जलावन

गोबर गैस सयत्र मे प्रति १,००० घनफुट गैस उत्पादन पर तीन रुपये खर्च होते है। इस दर से तो यह भारत का सबसे सस्ता जलावन है। उक्त तालिका मे विभिन्न जलावनो का मूल्य और प्रभावी मूल्य दिया गया है।

उपर्युक्त तालिका मे यह भी देखा जा सकता है कि जहॉ जलावनो मे उपले सबसे महँगे है, गोबर से ही तैयार गैस सबसे सस्ती है।

सौ पौण्ड ताजे गोबर मे २० पौण्ड सूखा पदार्थ होता है। इससे ३० पौण्ड उपले तैयार होते है। यदि ये ३० पौण्ड उपले जलाये जाये, तो ३,१९११० किलो कॅलरी प्रभावी उष्मा देगे। जब गोबर गैस सयत्र मे १०० पौण्ड ताजा गोबर पाचित होता है तो औसतन ७० घनफुट गोबर गैस मिलती है। रसोई बनाने मे इस ७० घनफुट गोबर गैस का इस्तेमाल करने पर ५,९६४ किलो कॅलरी प्रभावी उष्मा प्राप्त होती है। इस प्रकार गोबर गैस मे बदल दिये जाने पर उसी गोबर से उसके उपले की तुलना मे ८६ ९ प्रति शत अधिक प्रभावी उष्मा मिलती है। गोबर मे जितना सूखा पदार्थ रहता है, उसका सिर्फ २० प्रति शत ही गैस मे परिवर्तित होता है। इस प्रकार सिर्फ ४ पौण्ड सूखा पदार्थ ही जलावन के रूप मे इस्तेमाल किया जाता है और १६ पौण्ड खाद के रूप मे इस्तेमाल करने के लिए बच जाता है। जब उपले जलाते है तो सिर्फ राख ही खाद के रूप मे इस्तेमाल करने के लिए बच पाती है।

खाद मे नाइट्रोजन

खाद के गड्ढो मे जब १०० पौण्ड ताजा गोबर रखा जाता है तो उसमे का आधा सूखा पदार्थ समाप्त हो जाता है, और फिर १० पौण्ड सूखा पदार्थ ही पकी खाद के रूप मे बच पाता है। बाकी १० पौण्ड सूखे पदार्थ गैस बन कर हवा मे उड जाते है। जैसा कि पहले देखा जा चुका है कि जब गोबर को गैस मे बदला जाता है तो १६ पौण्ड सूखा पदार्थ खाद के लिए बच जाता है और इस प्रकार ६० प्रति शत अधिक खाद प्राप्त होती है।

गोबर गैस सयत्र से प्राप्त खाद का नाइट्रोजन के लिए विश्लेषण किया गया और उसमे कम से कम १ ५ प्रति शत नाइट्रोजन पाया गया। बाडे की खाद के सूखे पदार्थ मे अधिक से अधिक १ प्रति शत नाइट्रोजन होता है। इस प्रकार प्रत्येक १०० पौण्ड ताजे गोबर से बाडे की खाद मे ० १ पौण्ड नाइट्रोजन बच जाता है और सयत्रवाली खाद मे ० २४ पौण्ड।

गॉव मे मानव मल-मूत्र बिल्कुल बेकार जाता है। यदि गॉव मे १०० व्यक्तियो के लिए शौचालयो से लगे गैस सयत्रो का इस्तेमाल किया जाय तो प्रति दिन १०० घनफुट गैस अथवा प्रति वर्ष ३६,५०० घनफुट गोबर गैस प्राप्त की जा सकती है, जोकि २८२ रुपये कीमत की १४१ मन जलावनवाली लकडी के बराबर है। सौ व्यक्तियो के मल-मूत्र से गोबर गैस सयत्र मे जो खाद तैयार होगी, उससे प्रति वर्ष २०० रुपये मिलेगे। इससे गॉव मे प्रति १०० व्यक्ति पीछे कुल ४८२ रुपये अथवा मोटे तौर पर ४७५ रुपये प्राप्त हो जाते है।

अन्य लाभ

मैदान मे शौच करने के बदले शौचालयो का उपयोग करने के लिए, इसके समाजिक पहलू पर ध्यान दिया जाना जरूरी है। गॉव की महिलाएँ शौच के लिए सुबह अधेरे और शाम ढलने के बाद मैदान मे जाया करती है। उन्हे दिन-भर परेशानी उठानी पडती है। दूसरा महत्वपूर्ण यानी इससे भी अधिक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि गोबर गैस सयत्र भगी का काम भी कर देता है। सयत्र मे तैयार खाद कुछ समय बाद गध-रहित हो जाती है। कभी भी मल-मूत्र ढोना नही पडता—वह गोबर गैस सयत्र के पाचित्र मे चला जाता है और वहॉ से पूर्ण पाचित काली खाद के रूप मे बाहर आता है।

गावमे सूखे और ताजे मल-मूत्र से फैलनेवाले कीटाणुओ को पूर्णत रोकना स्वास्थ्य-सफाई की दृष्टि से बडा ही महत्वपूर्ण है। फिर, गोबर गैस सयत्र के उपयोग से कडे-कचडे और खाद के गड्ढो मे पैदा होनेवाली मक्खियो का अभिजनन बिल्कुल बन्द हो जाता है। गोबर गैस सयत्र मे निकलनेवाले पाचित पदार्थो पर न तो मक्खियॉ बैठती है और न ही वे मक्खियो को जन्म देते है। फिर, पाचित खाद पर मक्खियॉ जिन्दा भी नही रहती।

उपले अथवा लकडी के बदले गोबर गैस का इस्तेमाल करनेवाले परिवारो को और भी कई लाभ होते है, जैसे, उपले बनाने की मेहनत बच जाती है, रसोई घर साफ सुथरा रहता है और रसोई बनाना आनन्ददायक हो जाता है।

बम्बई १० फरवरी १९६८

किसानों के लिए उर्वरक

मगुदेसन बालसुब्रह्मण्यन

इस लेख म उर्वरकों का उत्पादन बढाने तथा उनकी कीमत कम करने, किसानों को उनके उपयोग की पूर्ण जानकारी देने के लिए कार्रवाई करने तथा भूमि-विश्लेषण की आवश्यकता पर विचार किया गया है।

भारतीय किसान कई कारणो से वाछित मात्रा मे उर्वरको का उपयोग नही करते। उदाहरणार्थ, किसानो को और अधिक ऋण सुविधाएँ देने तथा योग्य वितरण सगठन खडा करने एवम् उर्वरको के उपयोग की शिक्षा देने की आवश्यकता है। भारतीय किसान को तो अभी यह भी समझाना बाकी है कि नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश का क्या महत्व है तथा यह कि पौध को पौष्टिकता प्रदान करनेवाले इन अत्यावश्यक तत्वो की राष्ट्रीय खपत निराशाजनक है। जब तक पौध-पौष्टिक-तत्वो की वर्तमान दर को नही बढाया जाता, तब तक कृषि उत्पादन बढाने के लिए किये जा रहे विशेष प्रयासो तथा अनुकूल बारिश के बावजूद तीसरी पॅचसाला योजना के बाकी समय मे कुल कृषि उत्पादन मे अधिक वृद्धि की औचित्यपूर्ण आशा नही कर सकते। अत तत्काल आवश्यकता इस बात की है कि राज्यो के कृषि विभाग सतुलित उर्वरको के इस्तेमाल के लिए और अधिक प्रचार व प्रदर्शन करे। यूरिया जैसे उर्वरको की बिक्री बढाने के लिए बडे पैमाने पर प्रोत्साहक कदम उठाने आवश्यक है। ऐसा उर्वरको के इस्तेमाल सम्बन्धी फिल्मे दिखा कर किया जा सकता है।

उर्वरकों की पूर्ति

यदि खाद देने के मौसम के पूर्व ही खुदरा बिक्री भण्डारो मे उर्वरको का स्टॉक भर दिया जाय और उनके बिक जाने पर समय रहते अच्छी पूर्ति कर दी जाय, तो बिक्री बढेगी और फलत कृषि उत्पादन मे भी वृद्धि होगी। मॉग और उपभोग लक्ष्य के अनुसार उर्वरको के परिवहन को गति बढाने के लिए भारत सरकार ने हाल ही मे चन्द रियायते लागू की है, जैसे ५०० किलोमीटर तक उर्वरको की सडक-परिवहन दर की प्रतिपूर्ति करना, गैर मौसम मे उर्वरको की कीमत मे अमोनियम सल्फेट पर प्रति टन ढाई रुपये तथा यूरिया पर प्रति टन चार रुपये प्रति माह छूट (रिबेट) देना। राज्यो को स्वयम् ही इन रियायतो का उपयोग सुदूर गाँवो मे स्टॉक जमा करने तथा भविष्य मे बन्दरगाहो मे आनेवाले उर्वरको को शीघ्र गोदामो मे पहुँचाने की व्यवस्था करने के लिए करना चाहिये। राज्य सरकारो को इन रियायतो का सर्वोत्तम उपयोग करने योग्य बनाने हेतु भारत सरकार भी कार्यालयी कठिनाइयो को दूर करने के लिए कदम उठा सकती है।

किसानो को प्रशिक्षण

नेत्रजनीय उर्वरको के वितरण का एकाधिकार सहकारी समितियो को सौपने की सरकारी नीति के अवाछित परिणाम निकलने की आशा है, क्योकि इससे सहकारी समितियो का सिर्फ अनुचित प्रश्रय ही मिलेगा। अत इस दृष्टि से कि किसान धीरे-धीरे अधिक मात्रा मे उर्वरको का इस्तेमाल करने लगे, सरकार को निजी क्षेत्र की सेवाएँ लेने मे भी हिचकना नही चाहिये। सरकार जितनी ही जल्दी रासायनिक उर्वरको के योग्य वितरण हेतु सहकारी विभाग के साथ ही साथ उर्वरक निर्माताओ और वितरको की सेवाओ का उपयोग करने लगेगी, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित मे उतना ही अच्छा होगा।

करीब-करीब सभी उदीयमान देश अपनी सारी प्रशिक्षण व्यवस्थाएँ औद्योगिक तकनीज्ञो के लिए इस्तेमाल करते है और किसानो को अकेला छोड देते है। आधुनिक कृषि मे उद्योग की तरह प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

कृषि विभाग की समस्याओ का सही उत्तर है पूर्ण जानकार और प्रशिक्षित किसान। कृषि मे वास्तविक मोड तो बडे पैमाने पर किसानो के प्रशिक्षण के कार्यक्रम के आधार पर ही लाया जा सकता है।

किसानो के लिए आधुनिक तकनीकों के मुख्य वाहक उर्वरक उद्योग को भी स्वयम् प्रशिक्षण कार्यक्रम का महत्व समझना है और उसमे भाग लेना है। किसान प्रागारिक खाद के उपयोग तथा उसी तरह के जो अन्य समाचार देगे, उनसे उर्वरक उद्योग जो दिलचस्पी लेगा उससे कही अधिक कीमत वसूल हो जायेगी। यह अत्यावश्यक है कि उर्वरक के उत्पादन मे जो इतनी अधिक लागत लगती है, वह घटा कर कम से कम की जाय। भारतीय उर्वरक निगम को भी शीघ्र ही प्रदर्शनो और प्रशिक्षण कार्यक्रमो के जरिये किसानो को उर्वरको का प्रयोग सिखाना ही चाहिये। उर्वरक सम्बन्धी वैज्ञानिको को भी इस ओर ध्यान देना चाहिये।

मिट्टी विश्लेषण की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण उपयुक्त मात्रा मे उर्वरको का प्रयोग असम्भव-सा हो जाता है। अत किसानो के लिए यह अनिवार्य कर देना चाहिये कि उर्वरक प्राप्त करने के लिए वे अपने खेतो की मिट्टी का विश्लेषण प्रस्तुत करे। इस क.न मे उर्वरक उद्योग अगुआई कर सकता है।

देश मे कृषि उत्पादन बढाने हेतु जबकि उर्वरको की मॉग तेजी से बढती जा रही है, किसानो को कम से कम कीमत पर उर्वरको की पूर्ति कराना भी कृषि अर्थ-व्यवस्था के स्वस्थ विकास के लिए उतना ही महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि न सिर्फ तेजी से उर्वरको का उत्पादन बढे, बल्कि लागत भी यथा सम्भव कम से कम हो। भारतीय उर्वरक निगम द्वारा कार्यान्वित की जा रही परियोजनाओ और प्रस्तावित नयी इकाइयो को उर्वरको की बढती मॉग की पूर्ति करनी चाहिये।

आम तौर पर उर्वरक उद्योग अपने निवेश के अनुमार अधिक लाभ प्राप्ति नही कर सकता है, क्योकि इसकी बुनियादी लागत अधिक है। विशेप कर भारत मे उर्वरक परियोजना आरम्भ करने मे विदेशो की अपेक्षा अधिक पूँजी लगती है, क्योकि भारत कारखाने के लिए अधिकाश यत्र-सरजाम आयात करता है, जिसके लिए विदेशी इजीनियरिग फर्मो को अधिक मुनाफा देने के अलावा परिवहन, आयात शुल्क, बीमा का खर्च आदि भी चुकाना पडता है। मौजूदा इकाइयो मे उर्वरको की उत्पादन लागत कम करने के लिए निम्न सुझाव दिये जाते है

१ यूरिया जैसे उच्च साद्रतावाले उर्वरको के उत्पादन की कोशिश की जानी चाहिये। न्यून-साद्रतावाले उर्वरको का नाइट्रोजन तत्व २० ५ से बढा कर धीरे-धीरे २६ प्रति शत तक लाया जा सकता है। उच्च साद्रतावाले उर्वरको का उपयोग करने से लागत भी कम होगी।

२ अभी अमोनियम सल्फेट को छोड कर, जोकि एक बोरे मे १०० किलोग्राम भरा जाता है, बाकी सभी उर्वरक एक बोरे मे ५० किलोग्राम ही भरे जाते है। सभी उर्वरको के लिए १०० किलोग्राम की पैकिगवाले बोरे का इस्तेमाल अच्छा रहेगा। इससे पैकिग-खर्च मे बचत होगी।

३ छुट्टे पुर्जो और भडार की वस्तुओ की सूची छोटी से छोटी की जानी चाहिये। यह उचित सूची-नियत्रण तथा सम्प्राप्ति समय मे कमी करके की जा सकती है।

४ मजदूरी और व्यवस्थापन खर्च को न्यूनतम रखना नितान्त आवश्यक है, जोकि उत्पादन लागत के महत्वपूर्ण बचे खर्च है।

नये कारखानो अथवा नयी परियोजनाओ के मामले मे लागत कम करने के लिए ये सुझाव है (१) कारखाना ऐसी जगह मे स्थापित किया जाना चाहिये कि कच्चे माल और तैयार माल के परिवहन पर अधिक खर्च न बैठे अर्थात् कच्चे माल की प्राप्ति और तैयार माल भेजने की दूरी अधिक न हो। यदि उर्वरक कारखाने वैसे स्थानो मे स्थापित किये जाये जहॉ कच्चे माल और तैयार माल को अधिक दूर तक लाना-ले-जाना पडे, जिससे कि माल-भाडे का खर्च बहुत ज्यादा हो, तो रेलवे अधिकारियो को नीति स्वरूप अधिक रियायती दरे लागू करनी चाहिये, और (२) यह वाछनीय है कि अब तक जितनी बडी परियोजनाएँ हमने आरम्भ की है, उनसे बडी परियोजनाएँ आरम्भ की जाये।

अन्नमलै नगर (मद्रास) ९ दिसम्बर १९६३

उन्नत धान-कुटाई चक्की

रा. कृ. श्रीवास्तव, एस. वाय. नन्दनवार और भा. य. राव

धान कुटाई चक्की मे हाल ही मे चन्द सुधार उसकी योग्यता बढ़ाने की दृष्टि से किये गये है। इस सुधरी चक्की में २० किलो ग्राम धान की कुटाई करने से ज्ञात हुआ कि इसकी कुटाई क्षमता ४० किलोग्राम धान प्रति घटा है, टूटन कम होती है और तैयार चावल मे धान का प्रातिशत्य भी न्यूनतम रहता है।

जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसधानशाला ने एक हस्त-चालित चावल कुटाई यत्र तैयार करने के लिए काफी काम किया है, जिसमे धान की कुटाई करने के लिए रबड-युक्त बेलन लगा है। परन्तु अब तक यह यत्र जितना विकसित हो पाया है उससे धान कूटनेवाली सामान्य चक्की से अधिक लाभ नही मिलता।

हाल ही मे इसे अन्य कुटाई यत्रो से अधिक उपयोगी बनाने के लिए इसमे कुछ सुधार किये गये है। सुधरी चक्की मे लकडी के दो पाट १४ इच व्यास और ३ इच मोटाई के होते है तथा उनमे विशेष किस्म के छिद्र किये होते है। एक पाट स्थिर रहता है और दूसरा पाट एक गियर के जरिये हत्थे से जुडा होता है। धान-प्रशोधन करते वक्त यह चाक सहज ही प्रति सेकण्ड ३५० चक्कर लगा सकता है। इस चक्की की योग्यता दर्शाने के लिए इसमे २० किलोग्राम धान कूटने का जो परीक्षण किया गया, उसके आकडे ऊपर प्रस्तुत है।

सुधरी चक्की को एक पुरुष श्रमिक चलाता है और सफाई का काम मजदूरिन करती है। पूर्ण कार्य तीन सोपानो मे किया जाता है। प्रारम्भिक कुटाई के बाद धान और भूसी को मजदूरिन अलग-अलग कर लेती है और धान को फिर से चक्की मे डाल देती है। दूसरी बार कुटाई करने के बाद भी जो धान बच जाता है, उसे फिर चक्की मे डालते है। बचे हुए धान तथा प्रति कुटाई मे लगे समय का विवरण तालिका १ मे दिया गया है।

बीस किलोग्राम धान की कुटाई करने मे लगा समय और कुल शेष धान का विवरण तालिका २ मे दिया गया है।

तालिका १

प्रत्येक सोपान मे कुटाई मे लगा समय और शेष धान

सोपान क्रम	प्रारम्भिक धान (कि ग्रा)	चावल (प्रातिशत्य)	टूटन (प्रातिशत्य)	धान (प्रातिशत्य)	भूसी (प्रातिशत्य)	कुटाई मे लगा समय (मिनट)	सफाई तथा धान-भूसी अलग करने मे लगा समय (मिनट)
१	२० ०	५१ ५०	२ २५	२७ ००	१९ २५	२३	५०
२	५ ४	४३ ५	१ ९	३८ ९	१५ ७	५	१२
३	२ १	५७ २	५ ९	१९ ०	१७ ९	२	८

तालिका २

२० किलोग्राम धान की कुटाई मे लगा समय और कुल शेष धान

चावल (प्रातिशत्य)	टूटन (प्रातिशत्य)	धान (प्रातिशत्य)	भसी (प्रातिशत्य)	कुटाई समय (मिनट)	सफाई और अलग करने मे लगा समय (मिनट)
६९ २	३ ४	२ ०	२५ ४	३०	७०

उपर्युक्त तालिकाओं से यह स्पष्ट हो जायगा कि सुधरी चक्की की धान कुटाई क्षमता प्रति घटे ४० किलोग्राम है और टूटन का प्रातिशत्य भी बहुत कम (करीब ३ से ४ प्रति शत) है। इस किस्म की चक्की के ये लाभ है (१) अधिक कुटाई क्षमता, (२) कम टूटन, और (३) तैयार चावल मे धान का प्रातिशत्य न्यूनतम।

इसमे सुधार के लिए और प्रयत्न किये जा रहे है।

अहमदनगर जिले में गाँवों का आर्थिक सर्वेक्षण और आयोजन

मधुसूदन द. साठे

महाराष्ट्र मे अहमदनगर जिले के सत्तासी गॉवो के आर्थिक सर्वेक्षण से प्राप्त आकडे यह दर्शाते है कि करीब एक तिहाई भूमि परती है, सिंचित भूमि का अनुपात नगण्य है, औसत खेत बहुत छोटे है और प्रति एकड उत्पादकता कम हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप गरीबी की जड़े बहुत गहरी जम गयी हैं। स्थानीय लोगों की आर्थिक अवस्था सहकारी अथवा सामूहिक रूप में ग्रामीण स्रोतों—वन्य स्रोत भी शामिल है—के उपयोग का आयोजन कर, जिसमें कि रोजगारी की व्यवस्था पर अधिक जोर रहेगा, सुधारी जा सकती है।

अगस्त १९६२ मे महाराष्ट्र राज्य के अहमदनगर जिले के अकोला तालुके मे ८७ गाँवो का सर्वेक्षण किया गया। इन गॉवों का कुल क्षेत्रफल १९,४८,८६१ एकड अथवा ३०४ ४ वर्ग मील है। इसमे से खेती के अन्तर्गत १,०४,९४७ एकड अथवा १६३ ७ वर्ग मील क्षेत्र है, जोकि कुल क्षेत्र के आधे से अधिक है। फसलों के अनुसार खेती के अन्तर्गत क्षेत्र का वितरण इस प्रकार है

फसल का नाम	फसल के अन्तर्गत क्षेत्र (एकड़ मे)
धान	१७,३७७
नाचनी	१७,८१२
खुरसानी	५,६०५
बाजरा	३,९००
सावा	४,१५५
मूगफली	२,९३०
वरी	२,२८२
ज्वार	५९१
उडद	१,६८८
कुलीथ	५,०५५
मोठ	३२३
मूग	३६
गेहूँ	३,६९३
चना	२,१४२
गन्ना	१२२
रहर	७९
टमाटर	१०४
आलू	१४
तम्बाकू	५
घास	अप्राप्य
तरकारी	अप्राप्य
कुल	६७,९१३

उपर्युक्त तालिका दर्शाती है कि खेती के अन्तर्गत जितनी जमीन है, उसमे आधी से अधिक तो धान और नाचनी फसलो के अन्तर्गत है।

जगली और सिंचित क्षेत्र

इस क्षेत्र मे जगली इलाका ६३,७६० एकड अथवा ९९ ६१ वर्ग मील है। चरागाह १५,७१६ एकड अथवा २४ ७३ वर्ग मील है। परती भूमि ६९,६९१ एकड अथवा १०८ ८ वर्ग मील है। उपर्युक्त आकडे स्पष्ट दर्शाते है कि कुल भूमि का करीब एक-तिहाई खेती के अन्तर्गत है, करीब एक-तिहाई जगल है और एक-तिहाई से कुछ अधिक परती भमि है।

इन गॉवो मे सिंचित क्षेत्र, नहर-क्षेत्र और कुआँ सिचाई-क्षेत्र बहुत ही थोडे है—क्रमश पॉच एकड, छ एकड और ३३ से ३५ एकड अर्थात कुल ५० एकड से भी कम है।

प्रति एकड धान की पैदावार १० से १३ मन है। पैदावार मे धान के बाद खुरसानी का नाम आता है। खुरसानी फसल का औसत उत्पादन ५ से ६ मन है। अन्य फसलो का प्रति एकड उत्पादन ५ मन से कम है। शायद ही कभी इस औसत से अधिक उत्पादन होता है।

कृषि कार्य बारिश पर निर्भर है और इस तालुके मे बारिश २० इच से २५० इच तक होती है। परन्तु अकोला तालुके के डगन भाग मे औसतन करीब ४० इच बारिश होती है, जोकि धान की खेती के लिए अनुकूल है।

निम्न तालिका मे यह बताया गया है कि खेती के अन्तर्गत कुल भूमि विभिन्न जोतदारो मे किन आकार-वर्गों मे बटी है

जोत का आकार	खेती करनेवाले परिवारो की सख्या
१ – १ ९९	१५४
२ – २ ९९	–
३ – ३ ९९	१,२७५
४ – ४ ९९	२,८६०
५ – ५ ९९	२,४१९
६ – ६ ९९	१,८५४
७ – ७ ९९	१,७६२
८ – ८ ९९	५६
९ – ९ ९९	४६४
१० – १० ९९	१००
११ – ११ ९९	१३९
१२ – १२ ९९	–
१३ – १३ ९९	४१
१४ – १४ ९९	–
१५ – १५ ९९	–
१६ – १६ ९९	४३
१७ – १७ ९९	५१
१८ और ऊपर	२०

बम्बई प्रान्त सहकारी बैंक के प्रतिवेदन के अनुसार खेतिहर-परिवारो की औसत जोत करीब ३ ५ एकड होती है, जबकि १९४७ मे यह औसत (पाँच व्यक्तियो के खेतिहर-परिवार के लिए) ८ से २० एकड थी। उपर्युक्त तालिका से यह प्रकट है कि अधिकाश कृषक परिवारो के पास तीन से आठ एकड तक खेत है।

इस क्षेत्र मे ६९,०२५ एकड भूमि मे खेती होती है। जोकि जोत-योग्य कुल भूमि से ३७,००० एकड कम है। इस अन्तर के कई कारण है। कभी-कभी खेती के अन्तर्गत भूमि को एकदम ठीक-ठीक नही नापा जाता, परती भूमि को भी खेती की जा रही भूमि मे जोड दिया जाता है तथा चरागाह के रूप मे भी जब इस भूमि का उपयोग किया जाता है तो यह अनगिनी रह सकती है। यदि हम इन्हे ध्यान मे रखे तो खेती योग्य भूमि और वस्तुत खेती की जा रही भूमि के साख्यिकी आकडो मे जो अन्तर नजर आता है, उसका कारण सहज ही समझ मे आ सकता है।

निम्न तालिका मे फसलो का प्रति एकड मूल्य (रुपये मे) दिया गया है

आय (रु मे)	एकड	एकड का प्रातिशत्य
१ – २४ ९९	१३,०३८	१८ ९५
२५ – ४९ ९९	१९,३१७	२८ १४
५० – ७४ ९९	२४,९६५	३६ ६१
७५ – ९९ ९९	८,५४०	१२ ४६
१०० – १२४ ९९	२,५१२	२ ९०
१२५ – १४९ ९९	१०३	० १६
१५० – १७४ ९९	–	–
१७५ और ऊपर	८९	० १३

उपर्युक्त तालिका निश्चित रूप से यह बताती है कि प्रति एकड उत्पादन-मूल्य बहुत कम है। खेती के अन्तर्गत कुल भूमि के करीब ९७ प्रति शत का प्रति एकड उत्पादन-मूल्य १०० रुपये से कम है।

भूमि-राजस्व

इन ८७ गाँवो के भूमिधारी कुल अन्दाजन ४९,९०० रुपये भूमि-राजस्व के तौर पर देते है। हरे वृक्षो से ९६७ रुपये वन-रायल्टी के तौर पर प्राप्त किये जाते है। भूमि-राजस्व ७,७५४ भूमिधारी देते है। परन्तु सच तो यह है कि वस्तुत खेती कर रहे भूमिधारियो की सख्या ११,२३२ है। पट्टे (लीज) पर खेत देनेवाले खेतिहर परिवारो की सख्या २२५ है। करीब २,९७३ खेतिहर परिवार है, जोकि अपने खेत जोतते है, परन्तु उनके आकार छोटे होने के कारण उन्हे पट्टे पर भूमि लेनी ही पडती है। हम यो भी कह सकते है कि ऐसे खेतिहर परिवारो की सख्या काफी बडी है–कुल खेतिहर परिवारो की करीब एक-तिहाई–जोकि अपने खेत तो जोतते है परन्तु वे उनके लिए अपर्याप्त है। आदिवासी सस्कृति के अनुरूप भूमि-रहित किसान परिवारो की सख्या नही के बराबर है– सिर्फ २७५। इनमे से कास्तकारो की सख्या (जोकि पट्टे पर भूमि लेते है) ४७ है। वन्य

भूमि मे खेती करनेवालो की सख्या १,०१३ है और वे वन विभाग को राजस्व रूप मे २,४७८ रुपये देते है।

सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार इन ८७ गाँवो की कुल आबादी ५७,५६१ है। सन् १९५१ की जनगणना से यह सख्या १२,०७१ अधिक है। अकोला तालुके की आबादी इन ८७ गाँवो को लेकर, १९५१ की जनगणना के अनुसार ९६,०७४ थी और १९६१ की जनगणना के अनुसार १,१७,७९५ है अर्थात् आबादी मे २१,७२१ लोग बढ गये है।

शिक्षितो की सख्या इस प्रकार है पुरुष– ७,८८७ (अशिक्षित ८,२६१) और महिलाएँ– ३,२५६ (अशिक्षित–१३,३१२)।

अच्छी अवस्थावाले घरो की सख्या ९,८८२ है। गिरे अथवा मरम्मत की जरूरतवाले घरो की सख्या १,७२९ है। इन ८७ गाँवो मे कुल ११,५८२ परिवार है। इस प्रकार प्रति परिवार सदस्यो की औसत सख्या पाँच से छ तक है।

कृषि से आय

निम्न तालिका मे प्रति परिवार को कृषि से होनेवाली औसत वार्षिक आय का विवरण देने की कोशिश की गयी है

आय	आय करनेवाले परिवारो की सख्या
१ – ४९ ९९	१९६
५० – ९९ ९९	४८३
१०० – १४९ ९९	९३२
१५० – १९९ ९९	१,३६१
२०० – २४९ ९९	१,२१५
२५० – २९९ ९९	९०६
३०० – ३४९ ९९	१,०९०
३५० – ३९९ ९९	१,७०५
४०० – ४४९ ९९	३७५
४५० – ४९९ ९९	४९९
५०० – ५४९ ९९	५०६
५५० – ५९९ ९९	८१
६०० – ६९९ ९९	२०४
७०० – ८००	१,४२९
कुल परिवार	१०,९८२

उपर्युक्त तालिका यह दर्शाती है कि करीब ९० प्रति शत कृषक परिवार खेती से आय करते है, जोकि वार्षिक ६०० रुपये से कम है। पाच से छ सदस्योवाला औसत परिवार इस अपर्याप्त आय पर मुश्किल से ही जिन्दा रह सकता है। आय सम्बन्धी ये आकडे स्पष्ट दर्शाते है कि ग्रामीण आदिवासी समाज मे गरीबी की जडे कितनी गहरी है। यहाँ प्रस्तुत ये साख्यिकी आकडे निश्चित रूप से इस तथ्य की ओर सकेत करते है कि जब तक वर्तमान कृषिक धधे को जीविका के अन्य साधनो से पूरित नही किया जाता, इस आदिवासी समाज के लिए सम्माननीय जीवन-स्तर प्राप्त करना मुश्किल ही है।

कृषि से प्रति व्यक्ति औसत आय निम्न तालिका मे दी गयी है

आय (रु मे)	लोगो की सख्या	आबादी का प्रातिशत्य
१ – २४ ९९	९,९८४	१७ ७४
२५ – ४९ ९९	१३,७५२	२४ ४४
५० – ७४ ९९	१३,२७०	२३ ६९
७५ – ९९ ९९	१०,३८२	१८ ४५
१०० – १२४ ९९	८,५४१	१५ १८
२५ – १४९ ९९	८२५	१ ४७
१५० – १७५	६७५	१ २०

इन आकडो से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कुल आबादी के करीब ८५ प्रति शत लोग कृषि से ही आय करते है, जोकि वार्षिक १०० रुपये से कम है।

मवेशियो की आबादी निम्न तालिका मे दी गयी है

मवेशी	सख्या
शुद्ध नस्ल के साड	६९
बैल	१३,६२६
गाय	२२,९४१
भैसा	३,८६७
भैस	३,४७६
बकरियाँ	१६,१२०
खच्चर	१०१
घोडे	५६
मुर्गिया (देशी)	३७,६३६
मुर्गियाँ (विदेशी)	८९

औसत रूप मे इस क्षेत्र के प्रत्यक कृषक परिवार के पास एक बैल और दो गाये है। अकोला तालुका डागी नस्ल के मवेशियो के लिए प्रसिद्ध है।

परन्तु सर्वोत्तम डागी नस्ल के साड करीब ७० ही है। इसका यह अर्थ है कि इस क्षेत्र के अभी मूल्यवान मवेशी स्रोतो पर बिल्कुल ध्यान ही नही दिया जाता।

देशी जाति के पालतू पक्षियो की सख्या ३७,६३६ है। इस प्रकार प्रति परिवार पीछे औसतन ३ से ४ पक्षी है। इसकी तुलना मे उन्नत नस्ल के पक्षियो की सख्या सिर्फ ९० है, जोकि निश्चय ही नगण्य है। पक्षी-पालन अपेक्षाकृत सहज है और इस प्रकार पक्षी-पालन के लिए बडे पैमाने पर क्रमबद्ध योजना बनाने की आवश्यकता है, ताकि आय का सहायक-स्रोत उपलब्ध हो सके। यदि पक्षियो की नस्ल सुधरती है और उनकी बीमारियो के सम्बन्ध मे पर्याप्त अनुसधान किया जाता है तथा बिक्री की सहकारी व्यवस्था की जाती है, तो पक्षी-पालन की सफलता के आसार दिखायी देते है।

पूरक धंधो की मांग

फिर भी, आम तौर पर यह तो कहा ही जा सकता है कि अधिकाश गॉवो मे सडके, साल भर पीने के पानी की व्यवस्था, स्कूल की इमारत और कृषि के अलावा जीविका के अन्य साधन नही है, फिर आलोच्य सभी गॉवो मे स्वास्थ्य-सफाई पर तो कोई ध्यान ही नही दिया जाता। मार्के की बात तो यह है कि इन सभी गॉंवो ने जीविका के लिए सहायक धधे उपलब्ध करने की माग की है। अधिकाश गॉवो ने सडक निर्माण, स्कूली इमारत और पीने के पानी की व्यवस्था के लिए पर्याप्त सख्या मे कुओ की माग की है।

गरीबी की सीमा

इन गॉंवो मे भी देश के अन्य गॉंवो की तरह ही घोर गरीबी है। इन गॉवो मे आर्थिक परिवर्तन की पहल और विकास को करीब-करीब असम्भव बनाये रखनेवाली बुनियादी बाधाएँ है छोटे-छोटे गॉवो मे कम उपजाऊ मिट्टी पर बहुत अधिक निर्भरता, जैसे-तैसे निर्वाह करनेवाले लोग, घोर गरीबी और अज्ञानता, साक्षरता का न्यूनतम प्रातिशत्य, प्राथमिक तकनालाजी, परम्परागत दस्तकारो और ग्रामीण कारीगर वर्गों की भी कमी, गॉवो के बीच सचार की कमी और फलत सामाजिक सलाग की कमी।

मूल समस्याएँ दो है (१) सास्कृतिक पृथक्कत्व की समस्या—हमे ऐसी प्रक्रिया निकालनी है जोकि आदिवासियो की सास्कृतिक पद्धति और नयी आर्थिक पद्धति को अधिक विकसित समाज की पद्धतियो से समजित कर सके, और (२) आर्थिक विकास की समस्या। इन दो बुनियादी बातो का अर्थ यह है कि परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी व्यापक होनी ही चाहिये कि सम्पूर्ण आदिवासी समाज उसके अन्तर्गत आ जाय। इसके साथ ही चयन की स्वतत्रता भी होनी ही चाहिये।

रीति-रिवाज

आदिवासी समाज मे मुख्यत महादेव ठाकर, कोली, तलवार और कमाठी आदिवासी सप्रदाय के लोग है, जोकि अकोला तालुके के डागन भाग मे रहते है। उनकी अपनी घनी बस्तियाँ है। वे स्वभावत बडे स्वामीभक्त, सच्चे और सरल है। फिर अतिथि सत्कार तो उनके लिए धर्म जैसा ही है। कम उम्र मे शादी और एक-पत्नी प्रथा प्रचलित है। उनका रहन-सहन गदा और अस्वास्थ्यकर है, जोकि पानी की कमी के कारण और गदा हो जाता है। इन सभी गॉंवों मे पीने के पानी की समस्या बडी गम्भीर है। फलत करीब ७५ प्रति शत लोग चर्म-रोग से पीडित है। लोग इतने बलिष्ठ है कि साल के एक लम्बे भाग मे अध-भखे रहने पर भी वे अपना स्वास्थ्य बनाये रखते है। पहाडी इलाके मे रहने के कारण लोग मजबूत, परिश्रमी और कोई भी शारीरिक काम करने योग्य होते है।

खावाती प्रथा का बोलबाला

इन आदिवासियो के लिए प्रति वर्ष बारिश का मौसम सर्वाधिक व्यस्त और खर्चीला है। चूँकि धान मुख्य

फसल है, अत इसकी बोआई बारिश के आगमन के साथ ही शुरू होती है। ये लोग तेज बारिश मे दिन भर मेहनत करते है। यही समय है जबकि उनके पास भोजन बनाने के लिए बहुत कम अनाज होता है। इस कारण वे महाजनो की ओर खिचे चले जाते है। सामान्यत इस ऋण की, जिसे खावाती कहते है, जो शर्ते होती है वे बडी कठोर होती है।

किस हद तक शोषण होता है, उसे समझने के लिए हम ऋण सम्बन्धी कुछ तरीको पर गौर करे। यदि जून माह मे एक रुपया दिया जाता है, जोकि बारिश का आरम्भ काल है, तो बारिश के समाप्त होने पर चुकती के समय किसान को ब्याज के रूप मे दो सेर धान देना होता है और एक रुपया मूल अन्यथा उसे मूल और ब्याज के रूप मे ६ सेर धान देना पडता है।

मूल का सवाया ब्याज

यदि एक बोरा नाचनी (अथवा नागली) उधार ली गयी तो चुकती के समय, फसल कटाई के बाद, मूल और ब्याज के रूप मे तीन बोरा धान देना होता है। शोषण का अन्दाज हम रुपये-पैसो मे इस प्रकार लगा सकते है एक बोरा नाचनी की कीमत करीब ४० रुपये होती है। बारिश आरम्भ होने के समय, जबकि व्यापारियों के पास स्टाक होता है, इसकी कीमत बहुत अधिक होती है। किन्तु जब किसान खावाती ऋण चुकाता है तो अवस्था बिल्कुल उल्टी होती है। इस प्रकार हम पाते है कि करीब ४ महीने की अवधि के लिए ४० रुपये मूल का ब्याज करीब ५० रुपये लिया जाता है।

यह याद रखना चाहिये कि मानवीय सभ्यता और सामाजिक चेतना के विरुद्ध ये लेन-देन तब होते है, जबकि व्यापारियो की शर्ते खेतिहर उत्पादको के हित मे नही होती—फसल कटाई के बाद उत्पादनो की कीमत न्यूनतम होती है, क्योकि सारी फसल या तो खावाती ऋण चुकाने के रूप मे या उसे बेच कर दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए नकद रकम हासिल करने हेतु बाजार मे आ जाती है। महाजन-व्यापारी का यह जटिल रूप, जोकि सारे भारत मे फैला हुआ है इन गाँवो मे भी व्याप्त है और इसका शोषक रूप तो बिल्कुल स्पष्ट है।

इस प्रकार महाजन उत्पादन का अधिक हिस्सा ले लेते है और खेतिहर-उत्पादको को अधिक अन्न उत्पादित करने के लिए कोई प्रोत्साहन नही देते। फिर, एक मौसम से दूसरे मौसम तक के लिए अतिरिक्त माल भी तो नही बचता।

इसके लिए आवश्यकता है बारिश के मौसम मे बहुत ही मामूली ब्याज पर लघु-कालीन खावाती ऋण देने की व्यवस्था करने और सहकारी आधार पर कार्यो का सगठन करने की। इस निर्णय से राज्य स्तर पर नीतियो मे परिवर्तन करना होगा, क्योकि खावाती ऋण विशेषतया उपभोग कार्यो के लिए होगे जिनके लिए अभी कोई व्यवस्था नही है। खावाती ऋण वसूल करने की व्यवस्था करने हेतु सगठनात्मक कमी के कारण यह दुविधा कम से कम अकोला तालुके के लिए उतनी जबरदस्त नही है जितनी कि देश के अन्य भागो के लिए।

सर्वोदय योजना

खावाती ऋण के विषय मे सर्वोदय योजना का अनुभव ध्यान देने योग्य है। पिछले तीन वर्षो से सर्वोदय योजना केन्द्र भडारदरा झील के आस-पास के ९ विस्थापित गाँवो को ब्याज-रहित खावाती ऋण देता आ रहा है। वर्ष १९६२–६३ मे ६ गॉवो को ६,००० रुपये दिये गये। ये गॉव अब इन रुपयो को वापस लौटा रहे है और ब्याज-रहित होने पर भी अपनी खुशी से ब्याज स्वरूप २५ प्रतिशत अधिक रकम लौटा रहे है।

ब्याज रूप मे प्राप्त यह राशि सीधे उन ग्रामीण अनाज भडारो को इन समुदायो के पूँजी योगदान के रूप मे दे दी जाती है। इस तरह ४–५ वर्ष की अवधि मे ये गॉव अपने अनाज भडार खोल सकेगे। इनमे से एक गॉव—कोलतेम्बे—खावाती के मामले मे स्वावलम्बी हो गया है। इन गॉवों तथा इनकी समस्याओ से निकटतम सबधित व्यक्तियो से बातचीत करने के बाद यह पता लगा कि प्रत्येक गॉव को औसत रूप मे ४,००० रुपये के

ऋण की जरूरत है, जबकि सर्वोदय योजना के अन्तर्गत सिर्फ २५ प्रति शत आवश्यकताओ की पूर्ति करना ही सभव हो सका है अर्थात प्रत्येक गॉव को एक हजार रुपये दिये गये है। फिर, कभी-कभी भोजन सामग्री की थोक खरीद, भाडारीकरण और बिक्री से सबधित कठिनाइया बडी सकटमय हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समस्या का हल करने के लिए बडे पैमाने पर उपलब्ध वित्त की सहायता से प्रयोग करना आवश्यक है।

यह स्पष्ट है कि कृषि पर्याप्त आय कराने के लिए अपर्याप्त है और अधिक खेत कृषि के अन्तर्गत लाने की सभावना न्यूनतम है। कुछ स्थानो मे घने जगलो की सम्प्राप्त भमि को कृषि के अन्तर्गत लाया जा सकता है, परन्तु वह जमीन सामान्यतया रागी, वाई आदि जैसे मोटे अनाज पैदा करने के लिए ही उपयुक्त होगी। धान के खेतो मे और वृद्धि होने की आशा नही है, परन्तु यदि उन्ही खेतो मे धान की फसल कटाई के बाद गेहूँ, चना आदि दूसरी फसले (जाडे की फसले) उगाने की कोशिश की जाय तो काफी हद तक कृषि उत्पादन बढने की सम्भावना है, परन्तु यह सब तभी सभव है, जबकि जल-स्रोतो का उपयोग किया जाय तथा किसानो को सिचाई सुविधाएँ उपलब्ध की जाय।

धान मार्गदर्शी योजना

प्रवरा घाटी क्षेत्र मे फल-बागवानी की सभावनाओ की जाच करना अत्यावश्यक है। सहकारी स्तर पर उच्च सहायित फल-बागवानी प्रयोगो से कृषि सुधार मे सहायता मिल सकती है।

अकोला तालुके मे धान मार्गदर्शी योजना के अनुभव दिलचस्प है। सरकारी अधिकारियो का विश्वास था कि इस तालुके मे बीस हजार एकड धान के खेतो मे से करीब पाँच हजार एकड का इस्तेमाल जापानी पद्धति से धान की खेती करने मे किया जा सकता है। जापानी पद्धति की तकनीकल शर्त यह है कि धान के खेतों मे जल-पूर्ति सुनिश्चित होनी चाहिये, और यह समझना बडा कठिन है कि जापानी पद्धति से ५ हजार एकड मे खेती करने का लक्ष्य क्यो कर निर्धारित किया गया, जबकि इस ताल्लुके मे वैसी जमीन बहुत ही कम है जहाँ हमेशा पानी उपलब्ध हो (इस तरह की भूमि को नम भूमि कहते है)।

धान मार्गदर्शी योजना के प्रथम वर्ष मे प्रति एकड ४० रुपये नकद और ३२ रुपये के उर्वरक दिये गये। परन्तु इसमे शर्त यह थी कि नकद ऋण तभी दिया जा सकता है, जबकि उर्वरक भी खरीदे जाय। उर्वरक महज ४० रुपये नकद प्राप्त करने के लिए लिये गये। किसानो का मनोवैज्ञानिक रुख इस तरह विकसित हो रहा था, और अधीक्षक अधिकारियो ने खुशी-खुशी यह विश्वास कर लिया कि लोग अधिकाधिक जापानी पद्धति को अपना रहे है। जापानी पद्धति की सफल प्रयुक्ति को मापने का उनका ढग निराला ही था। यो भी कह सकते है कि उनके दिमाग मे सिर्फ "लक्ष्य की पूर्ति" ही थी। जापानी पद्धति को लोग स्वीकार कर रहे है, इसे वे इस चीज से मापते थे कि उनके गोदामों से उर्वरको के कितने बोरे किसान लेते जा रहे है। इस नीति के साथ भी पाच हजार एकड का लक्ष्य पूरा नही हो सका। प्रथम वर्ष मे सिर्फ १,२०० एकड क्षेत्र मे जापानी पद्धति से खेती हुई। दूसरे वर्ष मे और २०० एकड क्षेत्र उसमे शामिल किया गया। सन् १९६३ मे लक्ष्य ५ हजार एकड से कम कर ३ हजार एकड कर दिया गया।

कठिनाइयाँ

धान मार्गदर्शी योजना के लक्ष्य की पूर्ति मे आनेवाली सही और कल्पित कठिनाइयो मे से चन्द पर हम विचार कर सकते है। चूँकि उर्वरको का प्रयोग मिट्टी मे ऊष्मा पैदा करता है, अत पानी की सप्लाई तो सुनिश्चित होनी ही चाहिये, और अकोला तालुका ऐसा क्षेत्र है, जहाँ बारिश मे बहुत अधिक भिन्नता पायी जाती है। फिर, अनुभवी किसानो का यह कथन है कि रासायनिक उर्वरको के उपयोग से मिट्टी मे पैदा हुई ऊष्मा के कारण किसानो को आगामी रबी फसल के लिए मिट्टी मे जो अनुकूलतम आर्द्रता चाहिये वह नही रहती। फलत

जिन किसानों को धान की जापानी पद्धति से खेती करने पर खरीफ फसल मे लाभ होता है, उन्हे ही रबी की फसल मे घाटा उठाना पडता है। इस प्रकार धान के बडे उत्पादन से जो लाभ होता है, वह रबी फसल मे कमी होने से बराबर हो जाता है।

यह इलाका पहाडी है, जिस कारण यहाँ जल-पूर्ति की व्यवस्था अलग ही है। प्राय पौधो मे जब उर्वरक डाले जाते है तो वे बह जाते है। सरकारी अधिकारी इस कठिनाई को नही समझे। जापानी पद्धति से धान की खेती करने मे दक्ष श्रमिकों की कमी अनुभव की गयी। फिर, तेजी से काम के मौसम मे, खास कर फसल बोआई के समय, दक्ष मजदूरो की जरूरत पडती है। किसान वर्ग दोहरी जोखिम उठाने को तैयार नही है—बारिश और सहकारी जन-स्रोत पर निर्भरता। फिर, किसानो की मन-स्थिति सम्पूर्ण गॉव की सहकारी श्रम-शक्ति पर परस्परावलम्बन की आवश्यकता को स्वीकार करने की नही है।

मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो पर काबू

मिट्टी के हिसाब से रासायनिक उर्वरको के प्रयोग की आवश्यकता है। रासायनिक उर्वरक प्रयुक्त करने के बदले गोबर खाद तथा कम्पोस्ट खाद (बाडा खाद) का उपयोग करना वाछनीय होगा। चबूतरे बनाकर बीज पैदा करनेवाले तरीके मे बीज हल्के पीले रग के होते है, क्योकि चबूतरे जैसी स्थिति मे पानी एक स्थान पर रुक जाता है, बहता नही। तथापि, बहुत सभव है कि चन्द प्रौद्योगिक और भौतिक कठिनाइयाँ मनोवैज्ञानिक हो, जिन्हे धान मार्गदर्शी योजना के जोरदार प्रचार कार्य तथा विस्तार से दूर नही किया जा सकता। इसके साथ ही कृषि को आधुनिक बनाने की किसी भी योजना को सफल बनाने के लिए इन मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो को दूर करना ही होगा।

एक तरह से देखे तो किसानो को जापानी पद्धति मे निहित तकनीकल प्रवृत्तियो को कभी ठीक से समझाया नही गया और न ही उन्हे इस पद्धति के विषय मे ठीक से कुछ बताया गया। सभवत यह अधिकारियों की 'लक्ष्य पूर्ति' की ओर नजर का परिणाम था। तकनीकल तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह बडा ही महत्वपूर्ण है कि प्रचार कार्य अक्तूबर तथा नवम्बर महीने मे आरभ किया जाय, न कि अवानी बोने के मौसम मे। हमारे यहाँ के लिए अच्छा यह होगा कि हम जापानी पद्धति की महत्वपूर्ण प्रक्रियाओ को अपना ले—विशेष कर उनको जोकि स्थानीय आबहवा, मिट्टी, जल-स्रोत आदि के लिए उपयुक्त हो— और खेती की हमारी जो वर्तमान प्रक्रिया है, उसकी विशषताओ को भी अपनाये रहे। तब इसका अर्थ होगा धान की खेती जापानी पद्धति से करने के बदले वैज्ञानिक पद्धति से करने पर जोर देना।

इन गॉवो मे शीघ्र ही सिचाई के लिए जल स्रोतों (कुएँ, नहरे, भडारे, बाध, तालाब आदि) की खोज करने हेतु तकनीकल सर्वेक्षण किया जाना चाहिये। विभिन्न सिचाई फसलो के लिए मिट्टी की उपयुक्तता—और विशेष कर जापानी पद्धति से धान की खेती करने योग्य कुल भूमि—निश्चित की जानी चाहिये और तदनुसार ही खेती योग्य कुल भूमि को वर्गीकृत करना चाहिये। इस तरह के सर्वेक्षण से इस क्षेत्र के कृषि उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए जिन परिवर्तनो की आवश्यकता है, वे कितने ही छोटे क्यो न हो, उनकी खोज की जा सकती है।

सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए आयोजन

लगता है कि अब तक उत्पादन के क्षेत्र मे ग्रामीण स्रोतो के सामूहिक अथवा सहकारी उपयोग की दिशा मे कोई प्रयास नही किया गया। आर्थिक स्रोतो के सामूहिक उपयोग के इस विचार, जिसमे मितव्ययिता शामिल है, की कल्पना नही की जा सकी है और इस प्रकार फलत इस विचार को कुल निवेश प्राथमिकताओ और सगठनात्मक योजना मे शामिल नही किया गया है।

यह क्षेत्र आर्थिक रूप से इतना पिछडा हुआ है कि कृषि विकास की कोई भी महत्वाकाक्षी योजना, औद्योगिक विकास के लिए सहायक योजनाओ के महत्वपूर्ण पहलुओ को बाद देते हुए, इस आदिवासी आबादी को

पर्याप्त रोजगारी और आय नही दे सकेगी। शैक्षणिक और समाज कल्याण कार्य, स्वास्थ्य और सफाई कार्य पर हो रहे खर्च के साथ, उतने ही जरूरी है और उनके लिए आर्थिक मदद की जरूरत है। इस निवेश खर्च को श्रमिक इकाइयो द्वारा न्यूनतम योग्य कार्य करने के लिए निवेश समझा जा सकता है।

रोजगारी के अवसरो का तो निर्माण होना ही चाहिये, परन्तु उसके साथ-साथ ही ग्रामीणो मे इस बात के लिए भी उत्साह होना चाहिये कि वे इन निर्मित अवसरो का लाभ उठाये। अत इन आदिवासियो मे उत्तम सामाजिक और आर्थिक जीवन के लिए मनोवैज्ञानिक वातावरण बनाना होगा। उन्हे मदद देनी होगी, और कभी-कभी मजबूर करना होगा कि वे अपनी प्राचीन सामाजार्थिक पद्धति से भौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनो ही दृष्टियो से बाहर निकले अन्यथा परिवर्तन की प्रक्रिया का आरम्भ वस्तुत कठिन है।

अखाद्य तिलहनो का एकत्रण

विस्तृत रोजगार योजना बनाना भी बहुत जरूरी है। अभी अधिकाश किसानों के लिए सानाजार्थिक मर्दो मे की गयी व्यवस्था मे प्राकृतिक स्रोतो के सरक्षण और उत्पादन सभाव्यताओ का कोई खास अर्थ नही है। चूकि उत्पादन स्रोतो की बहुत कमी उनके व्यक्तिगत दु ख-दर्द का मूल कारण है, अत उनके लिए रोजगारी और आय की व्यवस्था करना ही एक मात्र रास्ता है, जोकि उन्हे कम उत्पादकता और न्यून स्रोतो के दूषित वृत्त से बचा सकता है। यह रोजगार योजना कृषि कार्य की योग्यता बढाने का तरीका निकालेगी ताकि कृषि उत्पादन मे वृद्धि हो।

अभी रोजगारी के चन्द अकृषिक स्रोत है जगल मे लकडी कटाई, कोयले तैयार करना, हिरदा एकत्रण, सडक निर्माण और मरम्मत आदि। चन्द स्थानीय लोगो का यह धूमिल विश्वास है कि इस क्षेत्र के घने जगल स्रोतो का इस्तेमाल करनेवाले कुछ लघु उद्योग गैर-मौसमो मे पर्याप्त पूरक रोजगारी दे सकते है। सर्वोदय योजना के अन्तर्गत अखाद्य तेल और साबुन उद्योग द्वारा दिये गये योगदान का हम जिक्र कर सकते है, जिसके अन्तर्गत गुलचाई (पिसा) और रत्न-ज्योति तिलहनो की खोज की गयी। भडारदरा के आस-पास के जगलो मे उगनवाले गुलचाई मे लॉरिक एसिड काफी मात्रा मे होता है। अभी इसका इस्तेमाल साबुन बनाने मे किया जाता है। इन तिलहनो के एकत्रण मे आदिवासियो को लाभदायक रोजगारी मिलती है और इसके जरिये उन्हे सालाना ५ हजार रुपये मिल जाते है। इस क्षेत्र मे रत्न-ज्योति (जगली अडी) उगती है। राजूर के साबुन केन्द्र ने इस तिलहन को प्रशोधित कर पाया कि साबुन निर्माण मे अडी के तेल के स्थान पर इसके तेल का उपयोग किया जा सकता है। सघन जगल सर्वेक्षण कर और भी वन्य उत्पादनो की खोज की जा सकती है।

इस क्षेत्र के जगली स्रोतो का तकनीकल सर्वेक्षण करने से आदिवासियो के लिए रोगारी के चन्द नये स्रोत भी खोजे जा सकते है। इन अतिरिक्त रोजगार स्रोतो को सहकारी आधार पर सगठित करना होगा। पिछले दशक से इस क्षेत्र मे वन्य श्रमिक सहकारी सघ काम कर रहे है। प्रारम्भ मे उन्हे स्थानीय और बाहरी कई कठिनाइयो का सामना करना पडा, परन्तु उन्होने सब को झेल लिया।

जंगलों का प्रबन्ध

इस सबध मे सहकारी वन्य प्रबन्ध विचार के प्रभाव का परीक्षण आवश्यक है। सरक्षित जगलो, बागों और जगली कूपो का प्रबन्ध और रक्षण वन्य श्रमिको की समितियों को सौप देना चाहिये। इससे न सिर्फ वन-विभाग का काफी प्रशासनिक खर्च बच जायेगा, बल्कि सहकारी सगठन के सफल कार्य सचालन हेतु मनोवैज्ञानिक वातावरण बनाने मे भी बहुत मदद मिलेगी। जब वनो का सरक्षण और प्रबन्ध ग्राम समाज— ग्राम बहुधन्धी सस्था अथवा ग्राम वन श्रमिक समिति— की जिम्मेदारी

हो जायेगी, तो जगल सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण और सबध मे भी परिवर्तन आ जायेगा। उनमे सामूहिक स्वामित्व, स्वरुचि और जिम्मेदारी की भावना पैदा होगी।

वन्य अधिकारियों तथा वन्य श्रमिक सहकारी समितियो-के प्रतिनिधियो के हाल ही मे सम्पन्न एक सम्मेलन मे यह निर्णय किया गया कि प्रत्येक प्रमण्डल मे चुनिन्दा क्षेत्रो मे वन्य कूपों को समितियो को रायल्टी पर सौपने का प्रयोग किया जाना चाहिये। सरकार को वन्य विभाग और श्रमिको द्वारा दिये गये अदाजों को ध्यान मे रखते हुए तथा समितियों को प्राथमिकता और सहानु-भूतिपूर्ण स्थान देते हुए रायल्टी निश्चित करनी चाहिये।

परस्परावलम्बन की भावना का विकास

चूकि हम सम्पूर्ण क्षेत्र के साथ-साथ विकास को बहुत महत्वपूर्ण स्थान देते है, अत सचार सेवा योजना बनाना आवश्यक है, क्योकि इससे सुगठित एकसम खण्ड के लाभ प्राप्त करने मे मदद मिलेगी और उसके साथ ही बाजार निर्मित करने की प्रक्रिया मे मजबूती आयेगी। यह प्रक्रिया आदिवासी समुदाय को विकास कार्यो के लिए स्रोतो का उपयोग करने मे मदद देगी। और, विकास योजना के जरिये सामाजार्थिक मदो के अन्तर्गत उपबन्ध ही निवेश खर्च की उपयोग-क्षमता को विकसित करने की एक मात्र प्रक्रिया लगती है। चूकि हम रोजगार योजना के निहितार्थो पर विचार कर रहे हैं, अत सामाजार्थिक मदो और प्राकृतिक स्रोतो के सरक्षण की योजना को रोजगार योजना के आधार स्वरूप स्वीकृत करते ही समग्रता और परस्परावलम्वन की भावना विकसित हो जायेगी।

चरागाहो के बरबाद जाने, अर्द्ध-जगली भूमि और विशेष कर हिरडा वृक्षो और वन्य धन के तेजी से विलुप्ती-करण की गभीर समस्या को अच्छी तरह हल करना होगा। पिछले बीस वर्षो मे वन्य धन पर अधिकाशत ध्यान ही नही दिया गया है। जब तक इन प्राकृतिक स्रोतो के न्यूनतम सरक्षण की जिम्मेदारी आदिवासी समाज नही लेता, इस रुख को पलटा नही जा सकता। इस प्रकार सहकारी वन्य प्रबन्ध जैसी कोई व्यवस्था करना अत्यावश्यक है।

औद्योगीकरण की क्षमता

अन्तत इस क्षेत्र की औद्योगीकरण की क्षमता पर हम विचार करे। प्रवरा घाटी मे फल-बागवानी की सभावनाओ का जिक्र पहले ही किया जा चुका है। यह क्षेत्र मुख्यत धान पैदा करनेवाला है, अत यहाँ चावल प्रशोधन करनेवाली मिले निजी क्षेत्र द्वारा पहले से ही स्थापित है और सच तो यह है कि वे बडी सुस्त चलती है। उनकी रोजगारी क्षमता भी नगण्य है। इसके साथ ही प्राय यह सुझाव दिया जाता है कि हिरदा जैसे जगली उत्पादनो के उपयोग के लिए छोटी-छोटी प्रशोधन इकाइयाँ सफलतापूर्वक चलायी जा सकती है। सहकारी आधार पर सगठित ये प्रशोधन कार्य आदिवासियो को गैर-मौसम मे रोजगारी भी सुनिश्चित करेगे और आय प्रदान करनेवाली प्रक्रिया का आरम्भ भी। चन्द औद्योगिक इकाइयाँ आरम्भ करने तथा इन वन्य उत्पादनों की लगातार पूर्ति का मूल्याकन करने के लिए विभिन्न वन्य उत्पादनो के सर्वेक्षण की तत्काल आवश्यकता के लिए विशेष कुछ कहने की आवश्यक नही है। इससे लघु इकाइयो मे रोजगारी क्षमता का भी पता लगाया जा सकेगा।

हिरडा वृक्ष अकोला तालुके का एक महत्वपूर्ण वन्य उत्पादन है। अभी हिरडा को एकत्रित कर राजूर, कोतूल, शेण्डी जैसे निकटस्थ बाजारो मे बेच दिया जाता है, और स्थानीय व्यापारी वर्ग उसे बम्बई और मद्रास भेजता है।

बम्बई प्रान्तीय सहकारी बैंक प्रतिवेदन (१९४७) ने पिछले वर्षो के हिरडा एकत्रण सबधी आकडे दिये है। प्रतिवेदन के अन्दाजानुसार १९४० के अन्त तक एक लाख बोरे हिरडा का एकत्रण और निर्यात किया गया। उसके बाद युद्धकाल और युद्धोत्तर काल मे जगलो की बडे

पैमाने पर कटाई शुरू हुई, जिससे हिरडा एकत्रण मे कमी आयी। सन् १९४७ मे इस कटाई के कारण एक लाख बोरे हिरडा के बदले सिर्फ तीस हजार बोरे हिरडा की प्राप्ति हुई। यह प्रक्रिया अभी जारी है और अभी करीब दस हजार बोरे हिरडा की प्राप्ति होती। यह हिरडा उत्पादन शोषण का एक अच्छा स्रोत रहा है, क्योंकि खावाती ऋण हिरडा मे चुका दिये जाते है। हिरडा समितियो के योग्य सचालन से इस शोषण को रोका जा रहा है। कुछ लोगो की यह आशका है कि अभी इस क्षेत्र मे इतनी मात्रा मे हिरडा उत्पादन नही होता कि उसके प्रशोधन के लिए कारखाने खोले जाये। उसके बदले यह सुझाव दिया जाता है कि अधिक से अधिक परिमाण मे हिरडा का उत्पादन बढाने की कोशिश की जाय।

अनुसंधान योजना

बास रोपण, फल-बागवानी और चाय तथा काफी बागानो— चाय और काफी बोर्ड की मदद से— मे चन्द प्रयोग करने से वैसे परिणाम निकल सकते है, जिनसे विकास अभिकरण को चन्द औद्योगिक कार्यों की योजना बनाने मे, जिससे स्थानीय लोगो को रोजगार मिलेगा और सथानीय कच्चे माल का इस्तेमाल हो सकेगा, मदद मिलेगी।

अनुसधान योजना को हम दो सोपानो मे विभाजित कर सकते है

स्थानीय लोगो के उपभोग का अध्ययन करने से टिन का काम, बाल्टी बनाने का काम, किरासन पम्प और किरासन चिमनी निर्माण, पलाग वृक्षो से पत्रावली बनाने, कपडे की रगाई और छपाई आदि जैसे चन्द उपभोक्ता सामग्री उद्योग आरम्भ करने की योजना तैयार करने का सुझाव मिल सकता है। इसके लिए पहले स्थानीय बाजार को उचित मुनाफे का आश्वासन और फिर रोजगारी क्षमता का मूल्याकन आता है। अभी टमाटर उत्पादन, स्थानीय उच्च स्तरीय टमाटर फसल का उपयोग और सहकारी दुग्ध उत्पादन इकाइयो जैसी परियोजनाएँ योजित की जा रही है।

वृक्षारोपण

द्वितीय सोपान मे वन लगाने की क्रमबद्ध योजना शामिल है। इस जगली क्षेत्र मे तेजी से उगने और धीरे-धीरे उगनेवाले वृक्षो का अनुसधान करने से नये वन्य उत्पादनो की खोज हो सकेगी।

नरम लकडी को कडी लकडी मे बदलने की, जिसकी औद्योगिक क्षेत्र मे बहुत माग है, प्रक्रियाएँ खोजी जा चुकी है।

वैज्ञानिक सरक्षण और वन वृद्धि योजना किसी भी विकास योजना का केन्द्र है और अकोला तालुके जैसे भूतपूर्व घने जगली क्षेत्रो के लिए तो खास कर। ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र के आर्थिक विकास की कोई भी योजना बागवानी-सह-वन्य विकास के पक्ष पर जोर देगी।

राजूर (महाराष्ट्र) १२ अक्तूबर १९६३

पाठकों से

पाठकों से निवेदन है कि *खादी ग्रामोद्योग* के न मिलने अथवा देर से मिलने के सम्बन्ध मे शिकायत भेजते समय वे पते के साथ दी गयी अपनी ग्राहक-सख्या लिखना न भूले। जैसा कि हम चाहते है, ग्राहक-सख्या लिखने पर यथा शीघ्र कार्यवाही करने मे सहायता मिलती है।

ग्राम्य उद्योगों के विकास के लिए आयोजन

मारियप्पन प. गुरुसामी

किसी खण्ड की विकास योजना बनाने के लिए सर्वेक्षण उद्योग विस्तार अधिकारी द्वारा तीन सोपानो में किया जाना चाहिये. प्रथम, सभी कारीगर परिवारों का विस्तृत सर्वेक्षण; द्वितीय, द्वितीयक स्रोतो से शक्ति, यातायात की सुविधाओं की उपलब्धि लोक-उपभोग पद्धति आदि के सम्बन्ध मे विवरण प्राप्त करना, और तृतीय, खण्ड की समग्र योजना के साथ ताल-मेल बैठाने के लिए अन्य विस्तार अधिकारियों की योजनाओं के बारे मे जानकारी का सग्रह करना।

गुजरात के विकासायुक्त का कहना है कि "हमारे विकास खण्डो की कार्यशीलताओ रूपी शृखला मे सम्भवत सबसे कमजोर कडी यह है कि हम ग्रामीण दस्कारियो का विकास करने मे असफल रहे है—या तो इस कारण कि हम समस्या की तह तक नही पहुँच सके है या फिर इस कारण कि हमने उस दिशा मे दिलोजान से कोशिश नही की है। इसलिए हमारे प्रयासो की छाप यह पडी है कि वे अव्यवस्थित और अपव्ययपूर्ण है। इस कार्यक्रम मे इस बात की बडी जरूरत है कि गॉवो मे दस्तकारियो की आवश्यकताओ तथा उनके विकास मे आनेवाली बाधाओ को बुद्धिमत्तापूर्वक समझा जाय।" एक तरह से यह वक्तव्य भारत के सभी राज्यो मे लागू होता है। अतएव वाछित फल-प्राप्ति के लिए ग्राम्य उद्योगीकरण के कार्यान्वय मे खण्ड स्तर पर काम करनेवाले सभी उद्योग विस्तार अधिकारियो तथा अन्य विभिन्न स्तरो पर कार्यरत व्यक्तियो की जिम्मेदारी अधिक है।

विस्तार अधिकारी के बहुविध कार्य

इस महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रयास को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध मे उद्योग विस्तार अधिकारियों पर बहुत बडी जिम्मेदारी है। उन्हे चाहिये कि वे अपने क्षेत्रो मे औद्योगिक सम्भाव्यताओ का सर्वेक्षण करे और औद्योगिक विकास योजनाऍ बनाये। औद्योगिक सहकारो का सगठन करने, कारीगरों को कच्चा माल, बिक्री सुविधाऍ, वित्तीय सहायता और उधार सुविधाऍ प्राप्त करने मे आवश्यक सहायता देने, उन्हे उन्नत साधन-सरजाम और उत्पादन तकनीक अपनाने के लिए तैयार करने, विस्तार सुविधाऍ उपलब्ध करवाने, राज्य उद्योग विभाग, लघु उद्योग सेवा सस्थान तथा राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के कार्यक्रम कार्यान्वित करने, विचार गोष्ठियाँ, प्रदर्शनियॉ आदि आयोजित करने जैसे कामो के अलावा उद्योग विस्तार अधिकारी को अपने क्षेत्र मे उपलब्ध अवस्थाओ की समझ प्राप्त करने के लिए सर्वेक्षण और आयोजन का काम भी करना पडता है।

सफलता की पूर्व-शर्तें

ग्राम्य उद्योगो का वाछित और सुनिर्देशित ढग से विकास करने के लिए भी आयोजन का होना आवश्यक है। जैसा कि श्री प सा लोकनाथन् का कहना है, "ग्राम्य उद्योगीकरण भारत का एक सामाजिक लक्ष्य है लेकिन यह बहुत ही शकास्पद बात है कि चाहे जहॉ और प्रत्येक स्थान पर उद्योगो की स्थापना की जा सकती है। उद्योगो की स्थापना से पहले सावधानी पूर्वक यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि सफलता की पूर्व-शर्तें मौजूद है अथवा नही। उत्पादन के लिए बाजार मे प्रबल मॉग, उद्योग के प्रति लोगो के मन मे इच्छा, दिलचस्पी और रुख, कौशल, यातायात और शक्ति तथा अन्य परमावश्यक चीजो की उपलब्धि सफलता की पूर्व-शर्तें है।"

ग्रामीण कला और दस्तकारी उद्योग कार्यक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, जोकि सामान्यत वैज्ञानिक कृषि और कुटीर तथा लघु स्तरीय उद्योगो के माध्यम से ग्राम्य जीवन की अभिन्न अग बनी हुई भीषण बेरोजगारी मे कमी एवम् उत्पादन मे वृद्धि करते हुए समग्र समाज के लिए आर्थिक व सामाजिक प्रगति करने की अवस्थाएँ निर्मित करने का उद्देश्य रखता है, मौजूदा साधन स्रोतो पर आधारित योजना बनाना आवश्यक है। और फिर, उद्योगो का विकास कार्यक्रम खण्ड क्षेत्र की सर्वांगीण विकास योजना का अभिन्न अग होना चाहिये। उपलब्ध साधन-स्रोतो का यथा सम्भव अधिकतम उपयोग, टालने योग्य बर्बादी से बचने हेतु उपलब्ध साधन-स्रोतो मे मितव्ययिता, प्रशिक्षित व्यक्तियो का अनुकूलतम उपयोग और निष्क्रिय जन-शक्ति का परिपूर्ण उपयोग आदि सर्वांगीण विकास के मुख्य उद्देश्य समझे जाते है।

सर्वेक्षण की आवश्यकता

श्री आर वी राव का कहना है, "भारत जैसे किसी भी देश मे किसी योजना का तभी कोई न्यायसगत महत्व हो सकता है जबकि वह मौजूदा आर्थिक व औद्योगिक विकास से सम्बद्ध हो। इस प्रकार के उद्योगो मे लगे व्यक्तियो और यहाँ तक कि समूची आबादी के पेशेवर स्वरूप के सम्बन्ध मे भी सही-सही सांख्यिकीय जानकारी का अभाव है। उनकी अवस्था आदि के सम्बन्ध मे यथेष्ट जानकारी प्राप्त की जानी चाहिये।"

ग्राम और लघु स्तरीय उद्योगो के लिए योजना बनाने हेतु आवश्यक है कि यह जानकारी इकट्ठी की जाय (क) जन-शक्ति की उपलब्धि, (ख) कौशल और उद्यम की उपलब्धि, (ग) सामग्री, बिजली, जल-पूर्ति, ईंधन, प्रशोधन के लिए कृषिक उत्पादन, सचार सुविधाओ आदि जैसे साधन-स्रोतो की उपलब्धि, और (घ) बाजार की समीपता—रोजमर्रा के काम की विभिन्न चीजो के सम्बन्ध मे लोगो की आवश्यकताएँ।

एक अनुभवी उद्योग विस्तार आधिकारी के अनुसार अन्तर्निहित यानी सहज सम्भाव्यताओ के परिपूर्ण ज्ञान के बिना औद्योगिक विकास के लिए योजनाएँ बनाने का परिणाम होगा परिपूर्ण असफलता। इस प्रकार की असफलता मे रुपये-पैसे, समय और श्रम की बर्बादी होगी तथा भावी विकास के लिए असख्य बाधाएँ खडी हो जायेगी। औद्योगिक सम्भाव्यता के मूल्याकन हेतु सर्वेक्षण मे प्रशिक्षण की कमी के कारण भी ऐसा हो सकता है। डाक्टर जे सी कुमारप्पा ने एक बार कहा था, "अनुभव से पता चलता है कि आर्थिक सर्वेक्षण करने के लिए जो अनेक नवयुवक आगे आते है, वे बिना किसी पूर्व तैयारी के काम के क्षेत्र मे पदार्पण करते है।" कुमारप्पा ने यह बात १९४७ मे कही थी, लेकिन आज भी वह उतनी ही सत्य है। अनेक क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओ की शिकायत है कि औद्योगिक सहकारिताओ के सगठन, रियायती दरो पर सरजाम-पूर्ति आदि से सम्बन्धित लक्ष्याको की पूर्ति पर अत्यधिक जोर देने के कारण सर्वेक्षण करने के लिए उन्हे बहुत कम समय मिल पाता है। यह बात किसी हद तक सही हो सकती है। औद्योगिक शक्यता का अन्दाजा लगाने और आयोजन के लिए, सभी जिला तथा राज्य स्तरीय अधिकारी भी अब अधिकाधिक रूप से सर्वेक्षणो का महत्व समझ रहे है।

उपयुक्त इकाई

सर्वेक्षण और आयोजन के लिए सामुदायिक विकास खण्ड एक बहुत ही उपयुक्त इकाई हो सकती है। यह भी कहा जाता है कि २६ औद्योगिक मार्गदर्शी परियोजनाओ के अनुभव से इस निष्कर्ष को प्रश्रय मिलता है कि लघु उद्योगो के आयोजन के लिए एक जिला अथवा कुछ जिलो का एक समूह आर्थिक दृष्टि से जीव्य इकाई हो सकता है। लेकिन उद्योग और वाणिज्य मत्रालय का मत है कि खादी, घानी तेल, ईंट पथाई, सिलाई, मधुमक्खी-पालन, ग्रामीण कुम्हारी आदि जैसे ग्रामोद्योगो का खण्ड को इकाई के रूप मे लेकर आयोजन किया जा सकता है। मत्रालय के अनुसार खण्ड के औद्योगिक विकास के लिए योजना जिले की योजना के अन्तरग के रूप मे सागोपाग बैठेगी और इसी प्रकार जिले की योजना राज्य की योजना मे तथा

राज्य की समूचे देश की औद्योगिक विकास योजना के अन्तरग स्वरूप सागोपाग बैठेगी। विभिन्न प्रकार की अवस्थाएँ पायी जानेवाले भारत जैसे उप-महाद्वीप मे ग्राम्य उद्योगीकरण के लिए हम कोई एक ही पद्धति नही रख सकते, नही अपना सकते।

उद्देश्य यह नही होना चाहिये कि खण्ड के सभी परिवारो का परिपूर्ण सर्वेक्षण किया जाय। घर-घर का सर्वेक्षण करके हम केवल कारीगर परिवारो से ही साख्यिकीय आकडे इकट्ठे करते है। गॉवो की सामाजार्थिक अवस्था, साधन-स्रोतो की उपलब्धि, बिजली आदि के सम्बन्ध मे विवरण इकट्ठा करने के लिए हमे गॉव के मुखिया, ग्राम सेवक, पचायत तथा अन्य विस्तार अधिकारियो जैसे द्वितीयक स्रोतो के पास उपलब्ध आकडो पर निर्भर करना पडेगा।

श्रीपेरुम्बुडूर मे सर्वेक्षण

यहॉ श्रीपेरुम्बुडूर ग्रामीण उद्योग मार्गदर्शी परियोजना के अनुभव का उदाहरण दिया जा सकता है। श्रीपेरुम्बुडूर परियोजना मे पेन्नलुरपेट उप-तालुके सहित श्रीपेरुम्बुडूर और तिरुवल्लूर के दो तालुके है। कुल ५२५ गॉव है, जो ३०५ पचायतो के अन्तर्गत आते है। इन पचायतो के सात पचायत सघ है। परियोजना का क्षेत्रफल ६५३ ९७ वर्ग मील और आबादी पाच लाख से ज्यादा है। दो साख्यिकीय निरीक्षको ने इस क्षेत्र का सर्वेक्षण कर विवरण इकट्ठा किया, जो उद्योग विस्तार अधिकारियो के पास उपलब्ध था। अध्ययन के लिए उन्होने प्रमुख गैर-सरकारी व्यक्तियो और पचायत यूनियन कॉउन्सिल के परामर्श का लाभ उठाया। उन्होने आबादी, स्थानीय कौशल, मौजूदा उद्योगो, सचार और शक्ति के सम्बन्ध मे आकडे इकट्ठे किये। उन्होने जनगणना आयुक्त द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अन्तर्गत जिले के कारीगरो के बारे मे एकत्रित आकडो का सफलतापूर्वक उपयोग किया।

जब हम सर्वेक्षण करने के तरीके का चुनाव करे तो हमे समझ लेना चाहिये कि सर्वेक्षण करने के लिए विस्तार अधिकारियो (उद्योग) के सिवाय अन्य व्यक्ति अनुपलब्ध होगे और खण्ड के सभी परिवारो का परिपूर्ण सर्वेक्षण करने के लिए पर्याप्त समय नही मिलेगा। इसलिए, उपलब्ध स्रोतो से सही आकडे प्राप्त करने की सीमाएँ समझते हुए हमे तीन सोपानो मे सर्वेक्षण करना होगा।

तीन सोपान

सर्व प्रथम, सभी कारीगर परिवारो का विस्तृत सर्वेक्षण करना चाहिये। कारीगरो के रहन-सहन की अवस्था और विभिन्न उद्योगो की वस्तु-स्थिति समझने के लिए यह आवश्यक है।

द्वितीय सोपान मे गॉव अथवा पचायत के सम्बन्ध मे कुछ विवरण द्वितीयक स्रोतो से इकट्ठा करना पडेगा। आबादी, शक्ति की उपलब्धि, विभिन्न स्थानों तक जाने-आने, माल भेजने आदि के लिए यातायात सुविधाएँ, सहकारी समितियो के विस्तृत विवरण, कच्ची सामग्री की उपलब्धि, जन उपभोग स्वरूप तथा उपभोक्ता-सामग्री की प्राप्ति के स्रोत से सम्बन्धित जानकारी द्वितीयक स्रोतो के सर्वेक्षण से प्राप्त की जा सकती है। यदि हम खुले दिमाग से स्थानीय बाजारो और मण्डियो का अध्ययन करे तो हम लोगो के स्वभाव और रीति-रिवाजो के बारे मे काफी जानकारी हासिल कर सकते है।

तृतीय सोपान मे अन्य विस्तार अधिकारियो की योजनाओ के सम्बन्ध मे आकडो का सग्रह करना शामिल है। यदि हम उन्हे सयोजित करे और अपनी योजना को खण्ड की समग्र योजना मे फिट बैठा दे तो ज्यादा विकास होगा। खण्ड मे अब तक चलायी गयी योजनाओ, प्राप्त सफलताओ आदि का सावधानीपूर्वक अध्ययन करना पडेगा।

जैसा कि श्री आर वी राव कहते है, "यदि प्राप्त फल लाभदायक हो, तो लघु स्तरीय और कुटीर उद्योगो के

सम्बन्ध मे जाच पडताल मौके पर आधारित होनी चाहिये। अनुसधान कर्त्ता को गॉव या शहर मे घर-घर जाना पडेगा। यहॉ यह बताया जा सकता है कि लघु स्तरीय तथा कुटीरोद्योग उत्पादक शायद ही हिसाब-किताब रखते हो– रिकार्ड रखने की गुजाइश तो और भी कम है। अनुसधान कर्त्ता जो जानकारी हासिल करता है, वह प्राय मामूली होती है। अतएव, अनुसधान कर्त्ता को कुटीरोद्योग उत्पादक से प्रश्न पूछने पडेगे, उत्पादन खर्च, बिक्री-मूल्य, बिक्री-व्यवस्था मे कठिनाई आदि के बारे मे मोटा अन्दाज लगाना पडेगा। इसलिए अनुसधान कर्त्ताओ को यथेष्ट आकडे प्राप्त करने के काम मे सफलता प्राप्त करनी है, तो उनके लिए यह अच्छा होगा कि वे कुटीरोद्योगी उत्पादक के साथ सहानुभूतिपूर्वक बर्ताव करे तथा यथा– सम्भव सही-सही आकडे प्राप्त करने के लिए अपनी ओर से कोई कसर न उठा रखे।"

प्रश्नावली का चयन

सर्वेक्षण के लिए प्रश्नावली तैयार करते वक्त हमे चन्द मूलभूत सिद्धान्तो को ध्यान मे रखना चाहिये। प्रश्नावली मे बहुत अधिक प्रश्न नही होने चाहिये। प्रत्येक प्रश्न सरल और स्पष्ट हो तथा वैसे प्रश्न प्रश्नावली मे शामिल न किये जाये जिनसे समुदाय के सदस्यो की भावना को ठेस पहुँचे। सर्वेक्षण कर्त्ता को समझ लेना चाहिये कि प्रश्नावली मे किसी प्रश्न को किस उद्देश्य से शामिल किया गया है। प्रश्नो के जो उत्तर प्राप्त हो उन्हे भी स्पष्ट और सक्षिप्त रूप मे लिखा जाना चाहिये।

विभिन्न अभिकरण भिन्न-भिन्न प्रश्नावलियो का उपयोग करते है। उपलब्ध प्रश्नावलियो मे से एक का चयन करना उत्तम है। लेनिक जहॉ सर्वेक्षण करना हो उस क्षेत्र मे यदि किसी प्रश्न का महत्व नही हो तो उसे प्रश्नावली मे से निकाल देना चाहिये, तथा यह कि ऐसे प्रश्नो को उसमे शामिल किया जा सकता है, जो और अधिक विवरण प्राप्त करने के लिए आवश्यक हो सकते है।

यह स्मरण रखना होगा कि कुछ कारीगर ऐसे हो सकते है जो प्रश्नावली मे रिक्त स्थानो की पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए पूर्ति कर सकते है, लेकिन भारत मे ऐसे कारीगरो की सख्या ज्यादा नही है जो उक्त काम करने मे समर्थ हो। सर्वेक्षण करने के लिए अगर सम्भव हो तो ग्राम सेवको अथवा विकास खण्ड के अन्य कर्मचारियो का उपयोग किया जा सकता है।

सर्वेक्षण

सर्वेक्षण करते वक्त हमे जानकारी प्रदान करनेवाले व्यक्तियो का मनोविज्ञान समझना होगा। उदाहरण के लिए एक बार एक क्षेत्र का सर्वेक्षण करने के वक्त वहॉ एक अफवाह फैली हुई थी कि सर्वेक्षण करने के बाद लडाई के लिए धनराशि इकट्ठी करने के लिए उक्त सर्वेक्षण किया जा रहा है। इससे लोगो के मन मे पूर्वाग्रह पैदा हो गया था। अधिकाश लोगो ने इस प्रकार की जानकारी देने की कोशिश की कि उनके घर का काम ही नही चलता है। कभी-कभी उल्टे प्रश्न पूछने से सही उत्तर मिल जाता है। परिवार की कुल आमदनी पूछने की अपेक्षा अगर हम भिन्न-भिन्न स्रोतो से होनेवाली आमदनी के आकडे इकट्ठे करते जाय तो हमे करीब-करीब सही आकडे मिल जायेगे।

अलग-अलग व्यक्तियो ने जो उत्तर दिये उनसे हमे मिलान करके देखना होगा। आय और व्यय सम्बन्धी विवरण प्राप्त करने के पश्चात् खर्च पूरा करने के बाद शेष आय के उपयोग अथवा कमी पूर्ति के ढग सम्बन्धी प्रश्न पूछने से किसी परिवार की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश पड सकता है।

सर्वेक्षण के पश्चात् एकत्रित आकडो को सकलित और सारणीबद्ध करना होता है। आकडे सारणीबद्ध कर लिये जाने पर समूचे खण्ड का चित्र हमारे सामने आ जाता है। सम्बद्ध मदो का प्रातिशत्य निकाला जा सकता है। सारणीबद्ध आकडो से मौजूदा अवस्थाओ पर एक विहगाव-

लोकन हो जाता है।

एकत्रित आकडों का विश्लेषण करना सर्वेक्षण और आयोजन का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम है। आकडे जिस रूप मे इकट्ठे किये गये हो उनका यदि सावधानीपूर्वक विश्लेषण नही किया जाय तो वैसे-के-वैसे रूप मे समस्याओं पर उनसे कोई प्रकाश नही पडता, जानकारी नही मिलती। उपलब्ध साधन-स्रोतो, मौजूदा औद्योगिक वातावरण और आर्थिक सुविधाओ, उपभोक्ता सामग्री के लिए माग, मौजूदा उद्योगो आदि का हमे विश्लेषण करना होगा। इससे हमे औद्योगिक विकास के लिए योजना बनाने मे मदद मिलेगी।

आयोजन

ग्राम और लघु उद्योगो को जिन उद्देश्यो की पूर्ति करनी है वे मोटे तौर पर इस प्रकार है रोजगारी प्रदान करना, उपभोक्ता और सरल उत्पादक वस्तुओ की बढती हुई माग का बहुत कुछ हिस्सा पूरा करना तथा कृषि व दीर्घ स्तरीय उद्योगो से निकट रूप से सयोजित एक प्रगतिशील एवम् कुशल विकेन्द्रित विभाग के लिए आधार प्रदान करना।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि सर्वेक्षण और आयोजन तो साधन मात्र है। साध्य तो समाज कल्याण है। इसलिए योजना अधिक व्यवहार्य तथा इस प्रकार की हो कि ज्यादा कठिनाइयो का सामना किये बिना लागू की जा सके। अतएव कार्यकर्त्ता को उपलब्ध वित्तीय स्रोतों तथा ग्राम्य औद्योगीकरण मे सहायता देने के लिए चलनेवाले विभिन्न अभिकरणो की योजनाओ की जानकारी होनी चाहिये।

योजना में दो अलग लेकिन परस्पर सम्बद्ध भाग होने चाहिये। प्रथम भाग मे मौजूदा उद्योगो और कारीगरों को सहायता देने की योजनाएँ हो सकती है। ग्रामीण कारीगर को एक अच्छा कारीगर बनाने के लिए हम सभी सम्भव उपायो और साधनो का उपयोग कर सकते हैं। दूसरा भाग नये उद्योगो की सम्भावव्यता से सम्बन्धित हो सकता है। ऐसे साधन-स्रोतो पर आधारित उद्योगो को सामने रखना जिनकी खण्ड मे विकसित करने की– क्षेत्र मे वैसे साधन-स्रोतो का बाहुल्य होने और उनमे से अनेक बेकार जाते रहने के कारण– पर्याप्त गुजाइश हो। साधन-स्रोतों पर आधारित उद्योगो की सूची देते वक्त इन उद्योगो के उत्पादनों के मागवाले पक्ष का, न केवल खण्ड बल्कि जिला और कभी-कभी तो समूचे देश के सन्दर्भ मे, अध्ययन करने का ध्यान रखना पडेगा। प्राथमिकताओ का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख होना चाहिये।

चन्द बातो का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक

केन्द्रीय वाणिज्य और उद्योग मत्रालय के अनुसार ग्राम और लघु स्तरीय उद्योगो के कार्यक्रम की योजना बनाते वक्त उसे मोटे तौर पर दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है, लेकिन दोनो श्रेणियो का कार्यान्वय साथ-साथ हाथ मे लिया जा सकता है। उक्त दो श्रेणियाँ है (अ) तुरन्त हाथ मे लिया जानेवाला कार्यक्रम, और (आ) दीर्घ कालीन कार्यक्रम। योजना विस्तृत रूप मे तैयार की जानी चाहिये। योजना मे इन बातों का साफ-साफ उल्लेख होना चाहिये चन्द नये उद्योगो की प्रस्तावना का कारण, वित्तीय सहायता की प्रणाली और सगठन का प्रकार। विभिन्न प्रकार के उद्योगो के सम्बन्ध मे प्रशिक्षण केन्द्रो मे अर्जित ज्ञान से योजना बनाने मे सहायता मिलेगी।

कुन्नूर (मद्रास), २९ मई १९६४

मुर्शिदाबाद का सूती और रेशमी खादी उद्योग

कमल बनर्जी

पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में किस प्रकार रेशम उद्योग में लगे कारीगरों के बीच सूती हाथ-कताई और हाथ-बुनाई लोकप्रिय बनी, इसका बड़ा ही दिलचस्प विवरण इस लेख में है।

पश्चिम बगाल के मुर्शिदाबाद जिले मे एक जमाने से कुछ सगठित उद्योग चल रहे है, परन्तु इनमे रेशम उद्योग को छोड कर और कोई भी उद्योग अधिक फैला हुआ नही है। रेशम उद्योग ही वह मुख्य अकृपिक उद्योग है, जिसने समय के थपेडे को सहा है, हाथ करघे पर सूती वस्त्र की बुनाई का काम तो ग्रामीण दस्तकारी के रूप मे ही टिक सका है। जिले के कई गाँवो मे बहुत-से हाथ करघे थे, जिन पर गरीब ग्रामीणो के लिए चादर, रूमाल और लुगी बुने जाते थे। काडी उप-प्रमण्डल के इन्द्राणी और शेरपुर गाँवो के थोडे-से सूती वस्त्र-बुनकर मच्छरदानी बुनते थे और आज भी वे दक्ष बुनकर माने जाते है। परन्तु आजकल मुर्शिदाबाद जिले मे ऐसे कई बुनकर है, जिन्होने सूती खादी बुनाई का काम अपना लिया है, और सूती तथा रेशमी खादी की बुनाई मे दक्ष हो गये है, जिससे इस जिले के बुनाई उद्योग को एक नयी गति मिली है। रेशम बुनकरो ने सूती खादी बुनाई का काम कैसे अपनाया, यह एक ऐसी कहानी है जिसका सारा श्रेय खादी कार्यकर्त्ताओ को है, जिनकी कर्मठता और सच्चे कार्य ने रेशम बुनकरो को दक्ष खादी बुनकरो मे परिणत कर दिया है।

भण्डारों के जरिये बिक्री

गाधीजी ने १९२४ मे अखिल भारत खादी मण्डल का गठन किया और भारत के विभिन्न प्रान्तो मे खादी प्रचार-प्रसार कार्य मे लगे रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ ने हाथ-कताई और हाथ-बुनाई के प्रसारार्थ विभिन्न स्थानो मे आश्रमो की स्थापना की। इन आश्रमो ने विभिन्न शहरों व नगरो मे अपने बिक्री भण्डार खोले तथा खादी की बिक्री की। तत्कालीन सयुक्त प्रात के मेरठ शहर मे श्री जी भ कृपलानी और अन्य लोगो द्वारा स्थापित गाधी आश्रम के ऐसे कई भण्डार कई शहरो मे थे। श्री गाधी आश्रम के बनारस बिक्री भण्डार मे मुर्शिदाबादी रेशमी उत्पादनो का स्टाक रहता था, क्योकि वे उन्हे हाथ-कता हाथ-बुना वस्त्र मानते थे। मुर्शिदाबादी रेशमी साडियो और कपडे के थान काफी सख्या मे इसी भडार से बेचे जाते थे। अखिल भारत चरखा सघ के भी विभिन्न स्थानो मे बिक्री भण्डार थे, परन्तु वह सिद्धान्तत किसी वैसे व्यक्ति से मुर्शिदाबादी रेशमी वस्त्र खरीदने को तैयार नही था, जोकि खुद रेशम बुनकर न हो। अत सघ ने रेशम बुनकरो से सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए अपने प्रतिनिधियो को भेजने की योजना बनायी और इस निर्णय के अनुसार उसने अपने बिक्री अधीक्षक श्री विट्टलदास वासनजी जेराजाणी (जो अभी खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य है) को १९२५ मे, रेशम बुनकरो से सम्पर्क साधने तथा उन विक्रेताओ को प्रमाणित करने के लिए मुर्शिदाबाद भेजा, जोकि अखिल भारत चरखा सघ को रेशमी वस्त्र सप्लाई करे।

श्री जेराजाणी १९२५ मे बरहमपुर आये और उन्होने स्थानीय रेशम व्यापारी (स्व) श्री सुरेन्द्रनाथ सरकार से सम्पर्क स्थापित किया, जिनका रेशम बुनकरो से प्रत्यक्ष सम्बध था। सघ का प्रथम प्रमाण-पत्र श्री सुरेन्द्रनाथ सरकार को दिया गया, जिन्होने अखिल भारत चरखा सघ द्वारा सचालित विभिन्न भण्डारों को मुर्शिदाबादी रेशमी वस्त्र सप्लाई करना आरम्भ किया।

बाद में यह मालूम हुआ कि श्री सुरेन्द्रनाथ सरकार भी बिचवानिये थे, क्योकि वे चक-इस्लामपुर, मिर्जापुर तथा अन्य स्थानो के बुनकरो से रेशमी वस्त्र खरीदा करते थे। इसलिए अखिल भारत चरखा सघ ने चक-इस्लामपुर के श्री रजीत कुमार विश्वास और उनके भाइयों को प्रमाण-पत्र दिया तथा बाद मे उसी गाँव के श्री ललित मोहन साहा को १९२६ मे प्रमाण-पत्र दिया। रेशम व्यापारियों की ये तीनों फर्म अखिल भारत चरखा सघ द्वारा प्रमाणित मुर्शिदाबादी रेशमी वस्त्र का व्यापार करती थी और श्री विश्वास तथा श्री साहा १९४३ तक, जबकि अखिल भारत चरखा सघ ने रेशम खादी के लिए प्रमाण-पत्र वापस ले लिये, मुर्शिदाबादी रेशम के प्रमाणित व्यापारी रहे।

खादी को लोकप्रिय बनाने के प्रयास

सन् १९३२ मे श्री गाधी आश्रम के एक कार्यकर्त्ता श्री काली चरण शर्मा को आश्रम के बिक्री भण्डारो के लिए मटका रेशम खरीदने हेतु चक-इस्लामपुर भेजा गया। वे खादी-विचार का प्रसार करने आये थे। उन्होने बुनकरो के इस गाँव मे खादी कताई-बुनाई सगठित करने की योजना बनाने के लिए श्री ललित मोहन साहा, श्री रजीत कुमार विश्वास तथा अन्य लोगों से सम्पर्क किया। मटका रेशम खरीदते वक्त श्री शर्मा स्थानीय बुनकरो के सम्पर्क मे आये, जहाँ कि चरखा जमाने से प्रचलित था। गाधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन आरम्भ किये जाने के बाद से चक-इस्लामपुर के कई लोग चरखा चलाते थे। काग्रेसी नेताओ ने लोगो को खादीधारी बनाने के लिए अथक प्रयास किये और स्थानीय काग्रेसी कार्यकर्त्ताओ ने अपनी विभिन्न गतिविधियो के बावजूद चरखा चलाना नही छोडा। धीरे-धीरे चक-इस्लामपुर मे खादी कताई-बुनाई की जडे जम गयी। सन् १९४८ मे अखिल भारत चरखा सघ ने प्रमाणित सस्थाओ से सलग्न लोगो के लिए अपने उपभोग हेतु कम से कम ७½ गुडी हाथ कथा सूत तैयार करना अनिवार्य बना दिया। उस वक्त चक-इस्लामपुर और बरहमपुर मे चार-पाच प्रमाणित सस्थाएँ थी। चक-इस्लामपुर का उन्मादिनी रेशम कारखाना और चक मे उत्पादन करनेवाला बरहमपुर का भारतीय रेशम उद्योग, ये दो अन्य प्रमाणित सस्थाएँ थी, जिन्होने कि अखिल भारत चरखा सघ द्वारा व्यक्तिगत प्रमाण-पत्र दिया जाना बन्द कर दिये जाने पर अपना कार्य बन्द कर दिया। परन्तु उन सब ने इस जिले मे खादी कताई और बुनाई को प्रचलित करने के लिए बहुत कुछ किया।

मुर्शिदाबाद मे चक-इस्लामपुर मटका रेशम बुनाई के लिए प्रसिद्ध है और मटका रेशम का बगाल मे तथा बाहर अच्छा बाजार है। इस सदी के पाँचवे दशक में अखिल भारत चरखा सघ और खादी सस्थाएँ बडी मात्रा मे चक-इस्लामपुर से मटका रेशम खरीदती थी, क्योकि मटका रेशम परम्परागत खादी मानी जाती थी। सन् १९४३ मे अखिल भारत चरखा सघ द्वारा व्यक्तिगत प्रमाण-पत्र की पद्धति बन्द करने का निर्णय लेने के बाद से इस उद्योग के बुरे दिन शुरू हुए। परन्तु उस समय से रेशम बुनकरो ने रेशम और खादी बुनाई का काम स्वय के तथा अपने परिवारो के भरण-पोषण के लिए अपना लिया। इस प्रकार जो स्थान काफी वर्षो तक मटका रेशम बुनाई के लिए प्रसिद्ध था, वहाँ चरखा कताई और खादी बुनाई कार्य आरम्भ हुआ। अखिल भारत चरखा सघ द्वारा व्यक्तिगत प्रमाण-पत्रो का बन्द कर दिया जाना परोक्ष रूप से इस जिले के विभिन्न क्षेत्रो मे खादी कताई-बुनाई का प्रसार करने मे सहायक हुआ, और उसने रेशम बुनकरो को सूती खादी और रेशमी खादी बुनाई काम अपनाने के लिए मजबूर किया।

स्वतंत्रता के पश्चात्

सन् १९४७ मे भारत सरकार ने अखिल भारत चरखा सघ से बडे पैमाने पर खादी कताई-बुनाई के प्रसार हेतु योजना बनाने के लिए कहा। महात्मा गाधी के दु खद निधन के पश्चात् १९४८ मे सेवाग्राम मे सर्वोदयी नेताओ और कार्यकर्त्ताओ के सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमे सर्व सेवा सघ का गठन हुआ। उक्त

सम्मेलन ने खादी के प्रसारार्थ एक योजना भी स्वीकृत की, जिसे बाद मे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया। जब डा प्रफुल्ल चन्द्र घोष पश्चिम बगाल के मुख्य मत्री थे तो उन्होने अभय आश्रम के श्री सत्य रजन सेन को बुलाया और पश्चिम बगाल के गिरते रेशम उद्योग को पुन प्राणवान बनाने के कार्यक्रम का भार सम्भालने हेतु उन्हे विशेष रेशम अधिकारी नियुक्त किया। श्री सेन ने एक रेशम शिल्पी सघ बीरभूम जिले के बसवा मे, दूसरा चक-इस्लामपुर मे तथा कुछ और अन्य स्थानों पर गठित करने मे सहायता दी। बसवा सघ की स्थापना अक्तूबर १९४८ मे हुई और उसी वर्ष नवम्बर मे चक-इस्लामपुर सघ की। श्री नृसिह प्रसाद विश्वास ने पश्चिम बगाल के विशेष रेशम अधिकारी की सक्रिय सहायता से सहकारी समिति के तौर पर चक रेशम शिल्पी सघ का गठन किया और उस सघ को राज्य सरकार से आर्थिक सहायता मिली। उसने मालदह जिले मे चार लपेटाई (रीलिग) केद्र, मुर्शिदाबाद जिले के चक-इस्लामपुर और मिर्जापुर मे चार बुनाई केन्द्र तथा बसवा और सोनामुखी मे दो और केन्द्र खोले। बाद मे ये रेशम शिल्पी सघ प्रमाणित सस्थाएँ हो गयी। इन सस्थाओ से सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओ के लिए व्यक्तिगत उपभोग हेतु कम से कम ७½ गुडी सूत कातना अनिवार्य था। इसलिए सब ने, बच्चो तक ने, कताई करना आरम्भ कर दिया और धीरे-धीरे इस रेशम बुनाई केन्द्र मे तेजी से खादी बुनाई का विकास होने लगा।

महीन सूत कताई

राज्य सरकार के कुटीर उद्योग निर्देशालय के सक्रिय सहयोग के जरिये रेशम उद्योग के पुनरावर्तन से इन सब केन्द्रो के खादी सूतकारो और बुनकारो को भविष्य की एक सुनहरी किरण दिखाई दी। उस वक्त श्री काली चरण शर्मा पश्चिम बगाल सरकार के कुटीर उद्योग उप-निर्देशक के अतर्गत रेशम बुनकर सगठनों के निरीक्षक के तौर पर काम कर रहे थे। उनके लिए अधिकाधिक लोगो को खादी क्षेत्र मे लाना सम्भव हो सका। सन् १९५२ मे मुख्यत उनके प्रयत्नों से ही बसवा और चक-इस्लामपुर मे कताई मण्डलों की स्थापना की जा सकी, और बसवा मे ५०० तथा चक-इस्लामपुर मे ७५० चरखे आरम्भ किये गये। बीरभूम और मुर्शिदाबाद जिले मे ये दोनो स्थान खादी कार्य के मुख्य केन्द्र बन गये। सन् १९५३ मे अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना होने पर इस जिले के सूती और रेशम खादी उद्योग को अधिक गति मिली और स्थानीय सूतकारो ने बगाल के मृत कुटीरोद्योग को पुनर्जीवित करने हेतु मलमल बनाने के लिए महीन कताई करना आरम्भ किया।

दक्ष सूतकार

जब से खादी और ग्रामोद्योग कमीशन क्षेत्र मे आया है, सूती और रेशमी खादी का उत्पादन करने के लिए कई सस्थाएँ गठित हो गयी है। उनमे से कुछ की स्थापना सहकारी समितियो के तौर पर हुई, परन्तु अधिकाश का गठन खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के तत्वावधान मे हुआ। इन सभी सस्थाओ ने रेशम उद्योग को पुन प्राणवान बनाने तथा रेशम बुनकरो को खादी बुनकरो मे बदलने हेतु अपनी सारी शक्ति लगायी है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने सर्व प्रथम मालदह मे एक रेशम लपेटाई केन्द्र तथा चक-इस्लामपुर मे बुनाई-केन्द्र की स्थापना की और उसके बाद शीघ्र ही कमीशन द्वारा छ और सस्थाएँ पजीकृत तथा प्रमाणित की गयी। उन सभी सस्थाओ ने इस जिले मे सूती और रेशम खादी उद्योग का विकास कार्य अपने हाथ मे लिया और दस वर्ष के अन्दर ही ६,००० लपेटक तथा १,३०० बुनकर फिर से अपने पुश्तैनी धधे मे लग गये। उत्तम मुर्शिदाबादी रेशम बनाने के लिए प्रसिद्ध मिर्जापुर और पियरापुर को भी वही प्रोत्साहन मिला और उद्योग के बुरे दिन धीरे-धीरे समाप्त हो गये।

चक-इस्लामपुर की चन्द्रकाता ललित मोहन रेशम खादी समिति ने एक मलमल कताई स्कूल आरम्भ किया, जिसमे महीन कताई पर जोर दिया गया। इस स्कूल मे महीन कताई करना सीखी लडकियों ने अखिल भारत कताई प्रतियोगिताओ मे प्रथम पुरस्कार और

स्वर्ण पदक प्राप्त किये। पश्चिम बंगाल के तत्कालीन खाद्य मत्री श्री प्रफुल्ल चन्द्र सेन ने इस कताई स्कूल का १९५५ मे उद्‌घाटन किया और महिला प्रशिक्षार्थियो को अपनी कताई मे सुधार करने की सलाह दी ताकि वे बढिया मलमल के लिए सूत तैयार कर सके। छ वर्ष के अन्दर इस स्कूल मे ३०० से अधिक लडकियाँ प्रशिक्षित की गयी और उन्होने अपनी प्रतिभा का परिचय बगाल तथा अन्य राज्यो मे आयोजित कताई प्रतियोगिताओ मे दिया। सन् १९५६ मे पश्चिम बगाल राज्य कताई प्रतियोगिता मे प्रथम पाच स्थान इसी स्कूल की लडकियो को प्राप्त हुए। सन् १९५७ मे उन्होने फिर राज्य प्रतियोगिता मे प्रथम पाच स्थान प्राप्त किये और बाद मे पटना मे आयोजित अखिल भारत कताई प्रतियोगिता मे भी अच्छी सफलता दिखायी। कुमारी आरती गनई ने महीन कताई मे प्रथम स्थान प्राप्त कर स्वर्ण पदक पाया और पाच अन्य लडकियो ने रजत पदक प्राप्त किये। मलमल कताई स्कूल की प्रशिक्षार्थिनियो ने १९५८ मे भोपाल मे आयोजित अखिल भारत कताई प्रतियोगिता मे अच्छा कौशल दिखाया और १९६० मे वर्धा मे आयोजित अखिल भारत कताई प्रतियोगिता की महीन कताई प्रतियोगिता मे प्रथम तीन स्थान प्राप्त किये। चक-इस्लामपुर की इन लडकियो की सफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि इन महीन कताई करनेवालियो के लिए, जोकि किसान और अम्बर चरखे चलाने मे भी पटु है, मलमल कताई असम्भव नही है।

रेशम उद्योग का विकास

रेशम खादी बुनाई के मुख्य केन्द्र है चक-इस्लामपुर और मिर्जापुर, परन्तु पियरापुर, डागापाडा, बिकलनगर, शकरपुर, दादपुर, शक्तिपुर, सोमपाडा, बघरा, रामनगर, पचथुपी, महिलाहटी और अन्य गॉवो मे भी—जहॉ कि रेशम बुनकर अपने पुश्तैनी धधे मे लगे हुए है—केन्द्र है। यहॉ इस जिले मे रेशम खादी उद्योग के विभिन्न विभागो मे लगे लोगो की सख्या देना अनुपयुक्त नही होगा। सन् १९०१ मे मुर्शिदाबाद मे २८,९५० व्यक्ति रेशम खादी उद्योग मे लगे थे, सन् १९११ ने उनकी सख्या घट कर २७,३३८ हो गयी और १९५१ मे ७२०। कभी अकेले चक-इस्लामपुर मे १,२०० हाथ करघे चलते थे, परन्तु १९५१ मे खादी और रेशम बुनाई के इस बडे केन्द्र मे सिर्फ ४०० हाथ करघे रेशम बुनाई कर रहे थे। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने स्थापना के बाद कई सस्थाओ को आर्थिक सहायता दी, जिससे रेशम खादी उद्योग मे लपेटको और बुनकरो की सख्या धीरे-धीरे बढने लगी। निम्न तालिका मे चक-इस्लामपुर मे १९५८–५९ मे विभिन्न सस्थाओ मे कार्य कर रहे लोगो की सख्या दी गयी है, जिससे यह ज्ञात होगा कि किस प्रकार खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मार्गदर्शन तथा आर्थिक सहायता से सूती और रेशमी खादी उद्योग का विकास हुआ है।

	लपेटक	बुनकर
खादी और ग्रामोद्योग कमीशन का रेशम केन्द्र	१,१७४	३०३
चन्द्रकात ललित मोहन रेशम खादी समिति	१,०००	२४०
चक रेशम शिल्पी समवाय सघ लि	१,५००	२२३
विश्वास रेशम खादी ग्रामोद्योग कार्यालय	३६८	६२
चक इस्लामपुर केन्द्र बुनकर सहकारी समिति	२१०	७०
अन्य	१,७००	३८०

व्यक्तिगत बुनकर अब सस्थाओ से सम्बद्ध है, क्योकि उन्होने यह महसूस किया कि सस्थाओ के अन्तर्गत काम करना उनके लिए बेहतर है। इस तरह थोडी-सी अवधि मे चक-इस्लामपुर मे लपेटको और बुनकरो की सख्या पन्द्रह गुनी बढ गयी है।

खगरा (पश्चिम बगाल) ७ सितम्बर १९६३

वस्त्र छपाई

दत्तकुमार पै

विभिन्न प्रकार की वस्त्र छपाई की विशेषताओं की, इस लेख मे चर्चा की गयी है।

खादी उद्योग मे कताई और बुनाई के उन्नत तरीको के समावेश ने खादी को अच्छी गति-प्रगति दी है। अब दिनो-दिन खादी के पोत में तेजी से सुधार होता जा रहा है और इसकी लोकप्रियता बढती जा रही है। इस बढती लोकप्रियता का अधिक श्रेय खादी की आकर्षक रगाई और छपाई को है, जिनमे नयी तकनीको का उपयोग किया जाया है। इस लेख मे वस्त्र छपाई के इतिहास और विभिन्न तकनीको पर प्रकाश डालने का सक्षेप मे प्रयास किया गया है।

छपाई क्या है ?

छपाई को सीमित रगाई कहते है। रगाई मे सम्पूर्ण वस्त्र पर रग चढाया जाता है, परन्तु छपाई मे वस्त्र के विशिष्ट भाग पर आवश्यक डिजाइन पर ही रग चढाया जात है। इस प्रकार कम कीमत पर कलात्मक ढग की तरह-तरह की डिजाइने प्राप्त हो जाती है।

ईसा से इक्कीस सौ वर्ष पूर्व ही मिस्र वासियो ने छपे वस्त्रो का इस्तेमाल किया, जोकि बहुत ही सीमित किस्म की रगाई थी—वस्त्र छपाई का प्रथम नमूना। हाथ छपाई, सीमित रगाई, और ठप्पा (ब्लाक) छपाई का इस्ते-माल कई देशों मे आदिकालीन लोगो ने किया। इन्डोने-शिया और जावा के प्राचीन निवासी सीमित छपाई की तकनीक मे पूर्ण दक्ष थे। भारत और जावा मे बतिक छपाई बहुत ही लोकप्रिय और कलात्मक मानी जाती थी। ठप्पा छपाई तकनीक का उपयोग चीनीयो ने सन् ८०० मे किया, जिसकी लोकप्रियता सन् १२०० तक भूमध्यसागरीय क्षेत्र और यूरोप तक पहुँच गयी। ठप्पा छपाई की खोज चीनियों ने की, परन्तु जापानियों ने इसे स्टेन्सिल छपाई मे विकसित किया, जिसे आधुनिक जाली (स्क्रीन) छपाई की जननी कहा जा सकता है।

वस्त्र छपाई को मोटे तौर पर हम चार वर्गो मे विभक्त कर सकते है— ठप्पा छपाई, बेलन छपाई, स्टेन्सिल छपाई और चार जाली छपाई। इन चार वर्गो की बहुत-सी उप-किस्मे है जैसे – गाठ रगाई-छपाई, सीमित छपाई, ताना छपाई आदि।

ठप्पा छपाई

छपाई के सब से पुराने तरीको मे एक, ठप्पा छपाई मूलत हस्त प्रक्रिया थी। आज यह काम हाथ अथवा मशीन से किया जाता है। कुछ समय के लिये ठप्पा छपाई का प्रचलन बहुत कम हो गया था। परन्तु तेरहवी और चौदहवी सदी मे जर्मनी मे रीनिश भिक्षुको ने इसका पुनरुद्धार किया। वे इसका उपयोग अपने हस्तलेखो के प्रारम्भिक अक्षरो को सजाने मे करते थे। बाद मे इसका इस्तेमाल कपडो पर होने लगा और इस प्रकार जर्मनी उत्तम और विस्तृत वस्त्र छपाई उत्पादन का केन्द्र बन गया। सन् १७०० मे जर्मनी मे ऑगेबर्ग अपने छपे वस्त्रो के लिए प्रसिद्ध था, जहॉ से इसका विस्तार हालैण्ड, स्पेन, स्वीट्जरलैण्ड, फ्रान्स और इग्लैण्ड मे हुआ।

यह छपाई सब से धीमी और सरल है। लकडी, लिनोलियम अथवा किसी अन्य धातु पर आवश्यक डिजाइन की कटाई कर लेते है। यदि डिजाइन मे बहुत ही सूक्ष्म रेखाएँ हो तो उनकी छपाई धातु की पिनो अथवा पट्टियो का इस्तेमाल कर की जाती है। छपाई मे इस्तेमाल किये जानेवाले प्रत्येक रग के लिए अलग-अलग ठप्पे का उपयोग किया जता है। ठप्पे पर रग लगा कर कपडे

की जमीन पर हाथ से उसकी डिजाइन छाप देते है।

वस्त्र छपाई के लिए सब से पहला यत्र सन् १७७० मे तैयार किया गया। यह एक प्रेस की तरह था, जिसने ताबे की प्लेटो से छपाई करना सम्भव बनाया। आज इस यत्र का इस्तेमाल सिर्फ स्वीट्जरलैण्ड मे बहुत ही महीन छपाई के लिए किया जाता है। इस प्रक्रिया मे किसी भी आकार की डिजाइन को ताबे की प्लेटो मे कटाई करके उतार कर ऐसे स्थान पर रख देते है, जोकि बेलन के नीचे आता-जाता रहता है।

बेलन छपाई

बडे ठप्पो के उपयोग ने बडी और अधिक डिजाइनो का उपयोग सम्भव बना दिया, जिनमे डिजाइन की बारीकियाँ भी बिल्कुल स्पष्ट उभर आती है। पहले इन ताबे की प्लेटो मे हाथ से खुदाई की जाती थी, परन्तु सन् १८०३ मे विडमर ने ताबीय बेलन पर खुदाई करने के तरीके का उपयोग ताबेय प्लेट पर किया। सन् १८८४ मे पेरोटीन छपाई का विकास हुआ। आज भी फ्रास, जर्मनी और इटली मे उसका बहुत उपयोग होता है।

सन् १७८५ मे बेल नामक स्काटलैण्डवासी ने इग्लैण्ड मे प्रेस्टन के निकट मॉनसी मे प्रथम बेलन छपाई यत्र का आविष्कार किया। उसी वर्ष एडम पारकिन्सन ने बेल के यत्र मे कई महत्वपूर्ण सुधार किये, जिससे कई रगो की छपाई स्पष्ट उठ सके। दो-तीन वर्ष के अनुभव से लीवेसी हारग्रीव, हार्ले एन्ड कम्पनी ने प्रेस्टन मे बेलन पद्धति से वस्त्र पर एक साथ छ रगी छपाई शुरू कर दी। आज बेलन छपाई पूर्णत आन्तरिक हो गयी है और आधुनिक यत्र तो प्रति मिनट दो सौ गज वस्त्र पर सोलह-रगी छपाई कर सकते है।

स्टेन्सिल छपाई

स्टेन्सिल कला के मूल आविष्कारक और उपयोग करनेवाले जापानी थे। इस प्रक्रिया मे एक मजबूत कागज अथवा किसी उपयुक्त वस्तु पर डिजाइन काट लेते और प्राकृतिक रगो मे जो डिजाइन रहनेवाली होती है उसे अनकटा छोड देते है। इस डिजाइन को कपडे पर रख कर उसके कटे हिस्से मे ऊपर से रग का ब्रश चला देते है अथवा रग छिडक देते है। इस प्रकार स्टेन्सिल छपाई को हस्त प्रक्रिया कह सकते है, जिसके जरिये मूल डिजाइन पर्दे और रूमाल आदि जैसे वस्त्रो पर उतार सकते है। सन् १८९४ मे एक स्टेन्सिल यत्र बनाया गया था और आज भी कही-कही उसका इस्तेमाल होता है।

बम्बई ४ फरवरी १९६४

औद्योगिक सहकारिताएँ और लोकतांत्रिक समाजवाद

त्रिलोक नाथ भास्कर

लेखक ने इस लेख में औद्योगिक सहकारिताओ के कार्य-सचालन के विषय में कई प्रश्न किये हैं और उनमें सुधार के लिए कई सुझाव दिये है। उनके द्वारा उठायी गयीं कुछ महत्वपूर्ण बातें है. (१) सहकारी चीनी मिलो में काम करनेवाले बहु-सख्यक कामगारो को मिल के स्वामित्व, प्रबन्ध और लाभ में भागीदारी का अवसर नही मिलता, और (२) यदि औद्योगिक इकाइयों को गॉवों में सगठित किया जाय, तो वे अनुभवी और प्रतिभाशाली छोटे पूँजीपतियों की सेवाओ का उपयोग कर सकेंगी। हम प्रस्तुत लेख मे उठायी गयी बातो पर पाठकों के विचार आमत्रित करते है। —सम्पादक

पश्चिम मे औद्योगिक क्रान्ति ने एक नयी आर्थिक पद्धति का निर्माण किया, जिसके फलस्वरूप समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया—पूजीदाता और श्रमदाता। यात्रीकरण ने बडे पूजी निवेश और स्रोतो के सकेन्द्रण को आवश्यक बना दिया। और, इसने हाथ से काम करनेवाले कारीगरो के औजार छीन पूजीपतियो को सौप दिये। पूँजी और यात्रीकरण के उपयोग से उपभोक्ता सामग्रियो का सस्ता उत्पादन सम्भव हो गया। इस प्रकार पूँजीपतियो ने मजदूरो और उपभोक्ताओ दोनो के ही, क्रमश· उनकी रोजगारी मे कटौती कर तथा अधिकाश मुनाफा खुद के लिए सुरक्षित कर, शोषण का अवसर पाया। बिचवानियो और थोक व्यापारियो ने भी काफी मुनाफा कमाया। इन थोक व्यापारियो का उपभोक्ता-बाजार और उत्पादको की इकाइयो पर बडा दबाव है, क्योकि आवश्यक वित्त प्रदान करने के स्रोत उनके हाथो मे है, जबकि असल मे उन्हे कमजोर और दुखी, अधकार-विहीन तथा दबे हुए लोगों का ध्यान रखना चाहिये। दिल्ली में २९ और ३० नवम्बर तथा १ दिसम्बर १९६३ को सम्पन्न चतुर्थ भारतीय सहकारी कॉग्रेस ने सहकार के सभी पहलुओ पर विचार किया, कई रियायतो और अधिकारो की मॉग की तथा औद्योगिक सहकारिताओ के विकास की आवश्यकता पर भी जोर दिया।

भारत मे कृषि के बाद रोजगारी का सबसे बडा स्रोत कृषि-उद्योग है। देश-विभाजन के वक्त से ही हम औद्योगिक उत्पादन को सहकारी समितियो के जरिये सगठित करने की बात सोच रहे है, परन्तु इस तरह की योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त विस्तृत और सघन प्रयास किये ही नही गये। प्रथम औद्योगिक कार्यकारी दल ने कई सुझाव दिये थे। स्वीकृत मुख्य सिफारिशो मे से कुछ है स्वामित्ववाली सस्थाओ का औद्योगिक सहकारिता मे परिवर्तन और अभी जो औद्योगिक इकाइयॉ सहकारी आधार पर काम नही कर रही है उन्हे सहकारी समितियो के रूप मे काम करने के लिए प्रोत्साहित करना। यदि इस तरह के परिवर्तन की गति काफी तीव्र नही रही है तो वह उद्यमी की आशकाओ के कारण जोकि यह पाता है कि मानक उप-नियम और सहकार कानून उसके पैसा लगाने तथा उसकी योग्यता का इस्तेमाल करने के बाद भी समान मताधिकार के जरिये उसे अधिकार-विहीन कर देते है। सहकारी समिति का हिस्सा खरीद कर नये सदस्य बननेवाले की तरह ही उसे भी एक ही मत देने का अधिकार रहता है। इससे सारा उत्साह समाप्त हो जाता है। न तो उसके निवेश की सुरक्षा की गारटी होती है और न ही वह अपने गुणो और जोखिम का बडा लाभ ही प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत निवेश के अनुपात मे ही देनदारी बध जाती है। जो व्यक्ति अधिक हिस्से खरीदता है, उसे दूसरो की तरह एक ही मत देने का अधिकार होता है, परन्तु उसकी

देनदारी अधिक होती हैं। इससे बडी बेढब स्थिति पैदा हो जाती हैं। यह स्थिति बहुत निरुत्साहक भी है क्योकि उसे बोझ वहन करना होता है, जबकि हिस्सा खरीदनेवाले उसे उनके ढग से काम करने के लिए कह सकते हैं। इन जोखिमो के रहते कोई भी अपने सस्थान को सहकारी समिति मे नही बदलना चाहेगा।

सच्ची सहकारिता

अधिनियम का पूर्वकथन बहुत स्पष्ट है, "एक समान जरूरतवाले कृषको और अन्य लोगो के बीच मितव्ययिता, स्वय-सेवा और परस्पर-सहयोग का विकास करने हेतु सहकारी समितियो के गठन और कार्य-सचालन मे सुविधाएँ प्रदान करना आवश्यक है, ताकि जीवन-स्तर उन्नत हो, व्यापार मे वृद्धि हो और उत्पादन की उत्तम विधियो का इस्तेमाल किया जा सके।" क्या सिर्फ उन्ही लोगो को सहकारी समितियो का सदस्य होना चाहिये जिनके पास कुछ नही है और जिनके पास गुण व कुछ पूँजी भी है उन्हे छोड देना चाहिये ?

वे छोटे उद्यमी बन जाते है और वस्तुत सहकारिता के दायरे मे नही आनेवालो के समर्थक बन जाते है। इसलिए ऐसी स्थितियो का निर्माण करना चाहिये तथा उपनियमो मे और यहॉ तक कि अधिनियम मे भी, इस तरह की सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिये जोकि छोटे पूंजीपतियो, गुणी लोगो अथवा कारीगरो को एक-दूसरे पर विश्वास रखते हुए सहयोग करने को प्रेरित करे। औद्योगिक सहकारी सघो विषयक हाल ही मे सम्पन्न गोष्ठी मे खास शिकायते थी अच्छे प्रबन्धको की अनुपलब्धि, वित्त की कमी, कच्चे माल की कमी और बिक्री मे कठिनाइयाँ। उपर्युक्त सभी कमियॉ समितियो के सदस्यो मे वर्ष के एक बडे भाग मे बेरोजगारी फैलाती है, जिसका अर्थ है सगठन की असफलता। गोष्ठी मे एक शोध-लेख में यह बताया गया कि ६१ प्रति शत औद्योगिक समितियॉ अच्छी व्यवस्था मे नही है। इसके विपरीत भारत सरकार की 'छोटे उद्योगपतियो की सहायता' योजना के अन्तर्गत व्यक्तिगत उद्यमियो को, जिनके पास कुछ निधि भी है और प्रतिभा भी, समितियो से कही अधिक लाभ हो सकता है। औद्योगिक सहकारिता सम्बन्धी गोष्ठी ने एक अखिल भारत औद्योगिक सहकारी सघ के गठन की सिफारिश की है, परन्तु प्रतिनिधियो द्वारा वास्तविक प्रगति तो आपस मे ही और अधिक निधि इकट्ठी कर तथा अपने क्षेत्र की ओर छोटे उद्यमियो को आकर्षित करने के उपाय ढूढ कर ही की जा सकती है। उद्यमियो को उत्पादन कार्य के लिए आकर्षित और प्रोत्साहित करने का सबसे मौजू उदाहरण है सहकारी औद्योगिक प्रतिष्ठानो का गठन। औद्योगिक सहकारी समितियो को इस योजना से विशेष लाभ नही हुआ है, ९९ प्रति शत लाभ तो व्यक्तिगत उद्योगपतियो को मिला है।

इस प्रवृत्ति को रोकना है। हमे वातावरण बनाना है और अपनी मदद के लिए एक-दूसरे की मदद करने की उपयोगिता लोगो को समझानी है। सबके कल्याणार्थ सहकारी प्रयास करने के लिए समर्थो और असमर्थो को प्रेरित करने की दिशा मे ग्रामदान सच्चा प्रयास है। यह सच्चा सहकार है। यदि इसे सही ढग से समझा जाय तो अच्छे प्रबन्धक, लेखापाल, विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्ति, बुद्धिजीवी, छोटे पूजीपति और सरल कार्यकर्त्ता अपनी तथा लोगो की समस्याओ का हल करने के लिए एक-दूसरे से सहयोग करेगे। सहकारी समितियो से सम्बन्धित अधिनियम, उप-नियमो आदि को आम भलाई के सुनियोजित कार्यक्रमो के कार्यान्वय मे सुविधा प्रदान करनी चाहिये। राष्ट्रीय सहकारी सघो और राज्यो मे स्थित उनकी शाखाओ का मुख्य कार्य जनता को सहकार की शिक्षा देना ही है। उच्चस्थ, राज्य अथवा जिला स्तरीय अन्य सस्थाओ मे से कुछ को थोक व्यापारियो का स्थान लेना है।

संघों का काम

सन् १९६३ के अन्त मे अमेरिका और यूरोप से कुछ उद्योगो के प्रतिनिधियो का एक दल भारत आया और वह अखिल भारत निर्माण सगठन की दिल्ली शाखा तथा अन्य सगठनो के प्रतिनिधियो से मिला। यह बताया

गया कि वे सभी थोक व्यापारी थे तथा मौसम और गैर-मौसम मे अपने उद्योगो के माल का स्टॉक रखते थे एव कारखानो मे पूरा उत्पादन कराने मे सहायक थे। वे खुदरा विक्रेताओ की भी और यहाँ तक कि आयातको को दीर्घ-कालीन उधार देकर, कभी-कभी तो बारह महीने तक के लिए उधार देकर जोकि माल के प्रकार पर निर्भर है, मदद करते थे।

हमारे सघो और थोक-बिक्री उपभोक्ता सहकारी भण्डारो को इस अवस्था मे आना चाहिये कि वे अमेरिका और यूरोपीय देशो के निजी क्षेत्र के थोक व्यापारियो की तरह का आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य कर सके। जिस तरह सरकार बडी फर्मो का अधिकाश हिस्सा खरीद लेती है, उसी तरह बुद्धिमान उद्यमियो को भी सहकारी समितियो मे पूजी लगाने के लिए मार्ग प्रशस्त करना वाछनीय होगा। अत मुख्य आवश्यकता है कर्मी–पूँजी दाता को उचित सुरक्षा प्रदान करने की। यह सहज ही हो सकता है, यदि प्रबन्ध समिति मे ३३ प्रति शत स्थान गैर-कर्मी सदस्यो और तकनीकल कार्यकर्त्ताओ के लिए सुनिश्चित कर दिया जाय तथा उन्हे यह अधिकार दे दिया जाय कि प्रबन्ध समिति के जिस निर्णय को वे समिति के लिए हानिकर समझे उसे अमान्य कर दे। इस तरह के निर्णय तब तक कार्यान्वियत नही किये जाने चाहिये, जब तक कि आम सभा उन्हे स्वीकार न कर ले।

ऋण आदि के रूप मे व्यक्तिगत उद्यमियो को तब तक कोई सरकारी सहायता नही दी जानी चाहिये, जब तक कि वे औद्योगिक समिति की स्थापना न कर ले अथवा उसमे शामिल न हो जाये। वे औद्योगिक सहकारी समितियो मे पूँजी भी लायेगे और बुद्धि भी। इससे सहकारी समितियॉ मजबूत बनेगी और सफल हो सकेगी। अकेली सरकार इन समितियो की मदद नही कर सकती। उद्योगपतियो की पहल भी उतनी ही जरुरी है। उन्हे आकर्षित करने के लिए लाभाश की अधिकतम दर साविधिक ६ प्रति शत से बढा कर १० अथवा १२ प्रति शत कर देनी चाहिये, जोकि अन्य उद्योग देते है। सबको सहकारी समितियो मे अधिकतम पूँजी लगाने का मौका दिया जाना चाहिये। चूकि गॉवो मे सहकारी समितियो आदि मे पैसा लगाने के लिए धनी लोगो को कोई खास अभिप्रेरणा नही मिलती, अत वे शहरों मे अपनी पूँजी लगाते है। सच तो यह है कि वे शहरो मे कोई न कोई उद्योग आरम्भ कर देते है। यदि उपर्युक्त अवस्थाएँ निर्मित तथा सुविधाएँ प्रदान की जाये तो छोटे-छोटे समर्थ और असमर्थ लोग मिल कर गाँवो मे नये उद्योग खडे करेगे तथा रोजगारी के अधिक अवसर प्रस्तुत करने एव सेवको और मालिको के बीच के भेद को कम करने मे मदद देगे।

सहकार की शिक्षा देना आवश्यक

सहकारी समितियो के सदस्यो को सहकारी जीवन बिताने की शिक्षा देना भी आवश्यक है। सहकारिता के दायरे मे आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को सहकार के उद्देश्यो और व्यवहार एव उसके मूल्य से परिचित कराया जाना चाहिये। सहकारी समितियो के बहुत कम सदस्य ही स्वय-सेवा, आत्म-निर्भरता और मितव्ययिता को समझते और अपने जीवन मे अपनाते है। वे हिस्सा खरीद कर अथवा मजदूरी पर काम कर ही सतोष कर लेते है। असल जीवन मे वे सहकार का पालन बहुत कम करते है। हमारे प्रधान मत्री तथा सहकार मत्री इस आन्दोलन की कमियो को दूर करने के लिए बहुत सचेष्ट है। परन्तु वे महाराष्ट्र और पजाब जैसे राज्यो के सहकारिता अधिनियम को लागू करने से नही रोक सके, जोकि सहकारी पजीयक को बहुत अधिक अधिकार देते है।

पजाब के अधिनियम मे पजीयक की आज्ञा के विरूद्ध अपील करने का उपबन्ध नही है। उसमे ऐसे उपबन्ध है, जोकि रिश्तेदारों के लिए सयुक्त कारखानेवाली औद्योगिक सहकारी समिति का सदस्य बनना असम्भव बना देते है। किसी कारीगर अथवा तकनीशियन को औद्योगिक सहकारी समिति की स्थापना करते वक्त यह देखना होता है कि उसके बेटे, भतीजे आदि जिनकी

इस काम में स्वभावत रुचि है, दूसरो के साथ समिति के सदस्य बने और समिति द्वारा सभी सदस्यो को प्रदत्त सुविधाओ मे हिस्सा बटाये। महाराष्ट्र सहकारी समिति अधिनियम की धारा ६ की व्याख्या बचत और ऋण समितियो अथवा सेवा सहकरिताओ के लिए अच्छी हो सकती हैं, परन्तु वह कारीगरो के हित मे निश्चय ही नही है, क्योकि वह कारीगर अथवा तकनीशियन के परिवार के कर्मी सदस्यो को भी समिति का सदस्य होने से रोकती हैं। पजाब के अधिनियम के अनुसार औद्योगिक समिति मे कोई गैर-कर्मी सदस्य नही हो सकता है, जोकि समितियो को पूँजी और कुशाग्रता से वचित करता है। इन दोषो को दूर किया जाना चाहिये।

ग्रामोद्योग

सहकारी चीनी मिले वस्तुत उन किसानो की सयुक्त सम्पत्ति है, जोकि पहले अपने गन्ने से अपने ही कोल्हू अथवा भाडे के कोल्हू से गुड तैयार किया करते थे। उनमे से कुछ ने मिल कर मुख्यत परोक्ष-अपरोक्ष सरकारी आर्थिक सहायता से सहकारी चीनी मिलो की स्थापना की है। चीनी के असल उत्पादक, कारखाने के कामगारो, को तो मजदूर समझा जाता है, समिति के स्वामित्व, प्रबन्ध और लाभ मे भागीदार नही। इस तरह की समिति तो औद्योगिक सहकारी समिति है ही नही। गॉवो से शहरो मे जो मजदूर आते है वे वहाँ काम न मिलने के कारण ही। जिनके पास साधन और श्रम हैं, उनके बीच बिश्वासपूर्ण वातावरण बना कर इसे ठीक किया जा सकता है। फिर, स्थानीय चीजो की खपत के लिए रुचि पैदा करने की भी जरूरत है। हाथ बनी और गृह उद्योग की वस्तुओ को प्रश्रय देने के लिए लोगो मे इच्छा पैदा करने के लिए बहुत प्रचार करने की जरूरत है। तेल और कपडा तो गॉव मे तैयार किया ही जा सकता है। परन्तु सिर्फ उससे ही बेकारी की समस्या का हल नही हो सकता। गॉवो मे औद्योगिक सहकारो के जरिये अन्य औद्योगिक वस्तुओ का भी उत्पादन किया जाना चाहिये। यह शहरो की गन्दी बस्तियों की समस्या को भी दूर करने मे मदद देगा, क्योकि यह बिना सोचे-समझे गॉव से शहरो मे जानेवाले मजदूरो को रोकेगा।

उपसंहार

औद्योगिक सहकारो को सफल बनाना चाहिये। अन्य सहकारी समितियो के साथ वे लोकतान्त्रिक समाज-वाद की नीव डालेगे, क्योकि एकमात्र वही सही दिशा मे मानव-समाज को विकास करने के योग्य है। व्यक्ति को स्वेच्छा से अपने को समाज को समर्पित कर देना चाहिये और बदले मे समाज को उसके वैयक्तिक विकास और स्वतत्रता को सुनिश्चित करना चाहिये। निस्सन्देह स्वतत्रता का अर्थ यह नही होना चाहिये कि व्यक्ति आजादी के नाम पर समाज-विरोधी कार्य कर सकता है।

दिल्ली • ९ मई १९६४

खादी ग्रामोद्योग का एकादश वर्षारम्भ अक सितम्बर के अन्त मे प्रकाशित होगा। लेखको से अनुरोध है कि वे अपने लेख सम्पादक के पास यथा शीघ्र भेज दे।

ग्रामीण औद्योगीकरण और भूमि-सुधार

वे. आ. वासुदेवराजू

चूँकि ग्रामीण औद्योगीकरण का उद्देश्य सहकारी कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था निर्मित करना है, अत इसकी सफलता के लिए भूमि सुधार का विशेष महत्व है। वस्तुत ग्रामीण औद्योगीकरण की नीव तभी डाली जा सकती है, जबकि भूमि-सुधार कार्यक्रम का कार्यान्वय हो।

ग्रामीण औद्योगीकरण का अर्थ है गॉवो मे स्थानीय आवश्यकताओ और स्थानीय स्रोतो पर आधारित लघु उद्योगों का सम प्रसार। ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत सकल्पित नीतियो और कार्यक्रमो द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो मे रोजगारी के अवसरो मे विविधता, ग्रामीण आय-स्तर मे वृद्धि और क्रय-शक्ति का विस्तार लाये जाने की आशा है। ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम की सफलता निर्दिष्ट करनेवाले मुख्य सूचक है कच्चे माल की उपलब्धि और तैयार वस्तुओ की स्थानीय बिक्री। ग्रामीण उद्योगो के लिए कच्चे माल की पूर्ति कृषि को करनी है और इसके लिए फसल-पद्धति मे परिवर्तन आवश्यक है। कृषि पर जीविकोपार्जन के लिए निर्भर करनेवाली ग्रामीण आबादी को वहाँ उत्पादित माल का उपयोग करने की स्थिति मे होना चाहिये। हमारे जैसे देश मे, जहाँकि ८२·७ प्रति शत आबादी गॉवो मे रहती है, ग्रामीण उद्योगो के उत्पादनो के लिए बाजार गॉवो मे ही तैयार करने होगे।

कृषि से सम्बन्ध

गॉवो मे माल की 'वर्तमान मॉग,' स्पष्टत कम आय के कारण, बहुत ही सीमित है। परन्तु 'सम्भावित मॉग' तो ग्रामीण आबादी की तरह ही अधिक है। ग्रामीण औद्योगीकरण की बहुत-कुछ सफलता 'सम्भावित क्षमता' को 'प्रभावी क्षमता' मे परिवर्तित करने पर निर्भर करती है। वर्तमान अवस्था मे इसे किस हद तक और कितने प्रभावी रूप से किया जा सकता है, यह राष्ट्र के लिए एक चुनौती बना हुआ है। यद्यपि ग्रामीण औद्योगीकरण का उद्देश्य ग्रामीणो की आय और क्रय-शक्ति बढाना है, तथापि कच्चे माल प्राप्त करने और प्रारम्भिक अवस्थाओ मे लोगो को क्रय-शक्ति प्रदान करने, दोनो के लिए ही कृषि के सहयोग की आवश्यकता है। इस प्रकार यह आवश्यक हो जाता है कि देश की अर्थ-व्यवस्था कृषि और उद्योग के बीच एक 'कडी' बनाये। इससे ग्रामीण औद्योगीकरण मे कृषि की भूमिका प्रकट होती है।

औद्योगिक रूप मे विकसित देशो का अनुभव यह रहा है कि जब तक सामन्तवादी प्रथा समाप्त नही की जाती, तीव्र औद्योगीकरण असम्भव है। फ्रान्स मे तो सामन्तवाद अठारहवी सदी मे ही समाप्त कर दिया गया। ब्रिटेन मे तो और भी पहले इसे समाप्त कर तीव्र आर्थिक विकास की अवस्थाएँ निर्मित की गयी। समकालीन इतिहास भी इस नियम की पुष्टि करता है कि सामन्तवाद की समाप्ति के बिना औद्योगिक विकास असम्भव है। भू-स्वामित्व मे परिवर्तन करने के कारण चीन और रूस दोनो ने ही अपने औद्योगिक विकास मे मार्के की प्रगति की है।

भूमि-सुधारों की आवश्यकता

हमारे देश मे अब भी सामान्तवादी प्रथा है और गॉवो मे सामन्तवाद के अवशेष को दूर करने मे अभी हमे बहुत कुछ करना है। करीब ६० प्रति शत किसानो के पास सिर्फ १५ प्रति शत कृष्ट-भूमि है, जबकि ५ प्रति शत बडे भू-स्वामियो के पास ४० प्रति शत खेत है। भूमि-सुधार का बडा महत्व है, क्योकि उसके बिना, विशेष कर भारत

जैसे घने बसे देश में, कृषि उत्पादकता मे कोई आमूल सुधार नही हो सकता। ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित करने के लिए भी भूमि-सुधार उतना ही आवश्यक है, क्योकि भूमि-सुधार के उद्देश्य अन्तत आय और लाभ का विस्तार वृहत् ग्रामीण समुदाय में करेगे, जिससे कि ग्रामीण उद्योगो के उत्पादनो के लिए बाजार निर्मित होगा।

हमारी योजनाएँ इस तथ्य को पूर्णतया स्वीकार करती है कि भू-स्वामित्व की असमानताएँ कम करना उन देशो के आर्थिक विकास के लिए, जिनकी कृष्ट-भूमि सीमित है और उस पर निर्भर करनेवाले लोगो की सख्या बडी है, अत्यावश्यक योजनाओ में भूमि-सुधार के उद्देश्य इस प्रकार बताये गये है पहले से चली आ रही भूमि-व्यवस्था मे उत्पादकता बढाने मे आनेवाली बाधाओ को दूर करना, कृषि पद्धति के अन्तर्गत शोषण के सभी तत्वो को दूर करना, खेत जोतनेवाले को भूमि के सम्बन्ध मे सुरक्षा प्रदान करना तथा ग्रामीण आबादी के सभी वर्गो के लिए समान अवसर और दर्जा सुनिश्चित करना। भूमि-सुधार के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अपेक्षित कदम है बिचवानिये अथवा किरायेवाली पट्टेदारी की समाप्ति, काश्त में सुधार जिसमे किराये में कमी तथा उसका नियत्रण भी शामिल है, पट्टेदारी (लीज) के सरक्षण और काश्तकार को स्वामित्व का अधिकार।

जैसे-जैसे भूमि-सुधार के ये क्रमिक कार्यक्रम कार्यान्वित किये जाते है, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को वैविध्य प्रदान करना सम्भव होगा। फिर भी, तृतीय योजना स्वयम् ही यह स्वीकार करती है कि भूमि-सुधार का कुल प्रभाव अपेक्षा से कम है। भूमि-सुधार के कार्यान्वय मे कम प्रगति होने के कारण है विकास के सुनिश्चित कार्यक्रम के रूप मे भूमि-सुधार को बहुत कम मान्यता का प्रदान किया जाना, प्रशासनिक पहलुओ पर अपर्याप्त ध्यान देना, और इस तथ्य को अच्छी तरह महसूस न करना कि सहकारी अर्थ-व्यवस्था निर्मित करने के लिए परमावश्यक नीव है भूमि-पट्टेदारी मे सुधार और शीघ्रातिशीघ्र भूमि-सीमा लागू करना।

किराये मे कमी करने से काश्तकारो की आर्थिक अवस्था मे सुधार होगा। वे अधिक सामग्रियो का उपयोग कर सकेगे और उनका जीवन-स्तर उन्नत होगा। इससे ग्रामीण उद्योगो द्वारा उत्पादित दैनिक आवश्यकता की उपभोग सामग्री की बिक्री बढेगी। परन्तु इस दिशा में हुई प्रगति सतोषजनक नही है। प्रथम योजना में यह सुझाया गया था कि खेत के कुल उत्पादन का एक-चौथाई अथवा एक-पचमाश भाग से अधिक किराये के रूप में लेने के लिए विशेष कारण दिखाना होगा। द्वितीय योजना मे जिन्स के रूप में दिये जानेवाले किराये को नकद में देने के लिए कहा गया ताकि काश्तकारो का बोझ कम हो। अभी भी कई राज्यो में यही पद्धति चालू है कि किराये के रूप में एक-तिहाई अथवा उससे अधिक उत्पादन ले लिया जाता है।

पट्टे का संरक्षण

भू-स्वामी और काश्तकारो के अधिकार-नियत्रण सम्बन्धी जटिल-उपबन्धो ने पट्टा (लीज) सरक्षण कानून को अप्रभावी बना दिया है। यह कह कर काश्तकारों को बेदखल कर दिया गया है कि वे 'स्वेच्छा से भूमि-समर्पित' कर रहे है। अधिकाश ऐच्छिक भू-समर्पण शकास्पद है। 'ऐच्छिक समर्पण' के पजीकरण से सम्बन्धित कानूनी और प्रशासनिक कमियो को दूर किया जाना अभी बाकी ही है। द्वितीय योजना मे यह प्रस्तावित किया गया था कि जहाँ 'स्वय खेती करने हेतु' भूमि प्राप्त की जायेगी, वहाँ खुद खेत में काम करना वाछनीय होगा अन्यथा बेदखल किये गये काश्तकार को पुन भूमि-प्राप्ति का अधिकार होना चाहिये। इस सुझाव को राज्यो के अधिनियमो मे शामिल नही किया गया है। कानून और प्रशासनिक कार्यवाही, दोनो ही सिफारिशो के अनुरूप नही रही है। 'निजी खेती', 'व्यक्तिगत श्रम' और 'निजी देखरेख' की जो वर्तमान परिभाषाएँ है, उनमें भूमि-सुधार के पट्टा सरक्षण उद्देश्य की पूर्ति के लिए सुधार करने की आवश्यकता है। काश्तकारो

के लिए अनिश्चितता अर्थ-व्यवस्था के विकास के हित में नही होगी।

स्वामित्व का अधिकार

भूमि-सुधार का अन्तिम उद्देश्य यथा सम्भव अधिक काश्तकारो को भू-स्वामित्व का अधिकार प्रदान करना है। द्वितीय योजना ने भूमिधर—काश्तकार सम्बन्ध के अवशेष को भी समाप्त करने का सुझाव दिया। किस हद तक काश्तकारो को स्वामित्व अधिकार सौपा गया है, अभी उसकी पूरी जानकारी उपलब्ध नही है। मद्रास जैसे राज्यो मे तो अभी तक काश्तकारो के स्वामित्व-अधिकार के विषय मे कोई भी कदम नही उठाया गया है। सुझाव दिया गया है कि तृतीय योजनावधि मे पुनर्गठन न करने योग्य भूमि के काश्तकारो को स्वामित्व अधिकार प्रदान करने का कार्यक्रम पूरा करने के लिए कार्यवाही की जानी चाहिये। कृष्ट-जोत की सीमा लागू हो जाने के बाद, सीमा से अधिक भूमि रखनेवाले काश्तकारो को सामान्यतया उतनी भूमि का स्वामित्व मिल जायगा, जोकि सीमा से अधिक है। इस विषय मे भी विभिन्न राज्यो ने व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत आनेवाली जमीन अथवा परिवार के सभी सदस्यो द्वारा मिल कर रखी जानेवाली कुल जमीन की सीमा लागू की है। लेकिन हाल के वर्षो म भूमि-हस्तान्तरण से सीमा सम्बन्धी कानूनो के उद्देश्यो को समाप्त तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर उनके प्रभाव को कम करने की दिशा मे प्रश्रय मिला है। परिवार के सदस्यो के बीच कई हस्तान्तरण हुए है। सीमा से छूट ने भी अधिनियम के उपबन्धो के कार्यान्वय मे काफी बाधा पहुँचायी है। सीमा से छूट पाने के लिए धान के खेतो को गन्ने के खेत मे बदल दिया गया। वर्तमान कानून की इन कमियो और कमजोरियो के कारण उस अतिरिक्त भूमि मे काफी कमी हो जायगी, जिसकी एक समय भूमि-रहित लोगो मे वितरण करने के लिए प्राप्त किये जाने की आशा की गयी थी।

भूमि-सुधार कानून के कार्यान्वय मे निम्न कठिनाइयॉ आती है

१ अधिकारो के सही और आद्यतन रेकार्ड का अभाव,

२ अधिकार सम्बन्धी रेकार्ड, जिनमे काश्तकारो, उप-काश्तकारो और फसल-बटाइदारो का ब्यौरा नही है,

३ भूमि-सुधार कानूनो को प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने मे प्रशासनिक तत्र की असफलताएँ और कमियॉ, विशेष कर ग्रामीण स्तर पर।

इसके साथ ही एक बात यह भी है कि काश्तकारो को कानूनन जो अधिकार मिले है, उसकी उन्हे खबर ही नही है। इस प्रकार अभी किसी न किसी रूप मे सामन्तवादी प्रथा ही चल रही है। काश्त सम्बन्धी कानूनो के प्रभावी कार्यान्वय के लिए सरकारी अभिकरणो द्वारा विशेष रूप से जोरदार और निरन्तर प्रयास किये जाने की आवश्यकता है।

योजना आयोग की दुविधा

तृतीय योजना ने भूमि-सुधार कार्यक्रम को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करने की अत्यावश्यकता पर जोर दिया है ताकि कार्यान्वय मे देरी होने के कारण पैदा होनेवाली अनिश्चितता की भावना दूर हो जाय। परन्तु योजना आयोग के समक्ष भी अब तक कोई स्पष्ट चित्र नही है। इसकी सिफारिशो पर राज्यो ने पूरी तौर मे ध्यान नही दिया है। अत भारत सरकार ने राज्यो से कहा है कि उन्होने भूमि-सुधार कार्यक्रम का कार्यान्वय किस हद तक किया है इसका मूल्याकन करने तथा यदि आवश्यक हो तो कार्यान्वय की गति बढाने हेतु सुझाव देने के लिए वे आयोगो की स्थापना करे। राज्यो द्वारा गठित आयोगो द्वारा किये गये अध्ययनो का केन्द्रीय स्तर पर सम्पादन किया जायेगा और उसके आधार पर योजना आयोग की सलाह से भूमि सुधार कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए सारे देश के लिए एकसम नीति बनायी

जायेगी। इन आयोगो के कार्य और एकसम नीति की रचना पर बहुत कुछ निर्भर करता है। तथापि, सिफारिशो को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी राज्यो के कधे पर ही है और किस गति से भूमि-सुधार का कार्य हो रहा है इसका निर्णय इसीसे होगा कि राज्य इस कार्य मे कितनी दिलचस्पी ले रहे है।

पिछले दशक के अनुभव ने तो अधिनियमो के उपबन्धो की जटिलता और कार्यान्वय के बोझिल तरीको को ही प्रकाश मे लाया है। भूमि-सुधार सम्बन्धी विचार मे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता पर अधिक बल देने की आवश्यकता नही है। यद्यपि हमारे देश मे फसल-पद्धति और आबहवा मे बहुत भिन्नता पायी जाती है, काश्तकारो की अवस्था सब जगह प्राय एक-सी ही है। ग्रामीण आबादी को वर्तमान कष्टो से कुछ राहत देने और उत्तम जीवन-स्तर प्रदान करने के लिए भूमि-सुधार की कोशिश की जा रही है। इस प्रयास मे शिथिलता मूल उद्देश्यो को नष्ट कर देगी, फिर चाहे विभिन्न राज्यो मे वर्तमान अवस्थाओ के आधार पर उसके लिए कितना भी औचित्य क्यो न दिखाया जाय। अत यह प्रश्न उठाना प्रासगिक है कि विभिन्न राज्यो के कानूनो मे जो मूल परिवर्तन नजर आते है, क्या वे वर्तमान अवस्था मे उचित है। भूमि-सुधार दो ही प्रकार से प्रभावी हो सकता है ऊपर से (सरकारी प्रयास से) अथवा नीचे से (जन-प्रयास से)। हम समस्याओं का हल मूलत शान्तिपूर्ण तरीके से करते है। फिर भी, अभी क्रातिकारी परिवर्तन करने की तीव्र आवश्यकता है और इसमे सरकार को बडा भाग लेना है।

वैज्ञानिक उपचार

चूकि ग्रामीण औद्योगीकरण का उद्देश्य है सहकारी कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था निर्मित करना, अत इसकी सफलता के लिए भूमि-सुधार का विशेष महत्व है। ग्रामीण औद्योगीकरण की नीव तभी डाली जा सकती है, जबकि भूमि-सुधार कार्य बृहत् ग्रामीण आबादी को लाभ पहुँचानेवाला ठोस रूप धारण कर ले। तभी ग्रामीण उद्योग अपने उत्पादनो के लिए बढते बाजार की आशा कर सकते है। 'प्रभावी मॉग' से ही पर्याप्त 'पूर्ति' होगी। माल की पूर्ति करने के प्रयास से ग्रामीण औद्योगीकरण को गति मिलेगी। ग्रामीण औद्योगीकरण के सन्दर्भ मे पारिभाषित लक्ष्य की पूर्ति के लिए भूमि-सुधार कार्यक्रम को वैज्ञानिक ढग से कार्यान्वित करने की आवश्यकता है।

मदुराई : १९ मार्च १९६४

विभिन्न अवधियो में व्यक्तिगत आय की स्थिति

भिन्नात्मक वर्ग (फ्रैक्टाइल ग्रुप) (परिवारों का प्रातिशत्य)	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५३-५४से १९५६-५७तक			१९६०	
					कुल	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
९५–१००	१४०	१४०	२२०	१७५	२००	१७०	२६०		३१०
९०–१००	२४०	२३०	३४.०	२५०	२८०	२५०	३७०	३३६	४२४
५०–९०			४१०	...	४४०	४४०	३८.०	४५७	४०६
०–२०	७५	८.०	९५	८५	८०	९०	७०	४०	८०

स्रोत रिपोर्ट ऑफ दि कमिटी ऑन डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड लेवल्स ऑफ लिविंग, पार्ट १ (डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इनकम एण्ड वेल्थ एण्ड कन्सेण्ट्रेशन ऑफ इकनॉमिक पावर)

लघु स्तरीय औद्योगिक इकाइयों का सामान्य प्रबन्ध

छोटे-से-छोटे व्यवसाय मे भी काम-धधे का सुव्यवस्थित सगठन आवश्यक है। लोगो को अपने कर्तव्य का भान होना चाहिये और समय-समय पर होनेवाले परिवर्तनो की उन्हे जानकारी करवाते रहना चाहिये।

हम एक फर्म का उदाहरण ले जिसमे एक सौ व्यक्ति काम करते है और दो निर्देशक है, जिनमे एक सक्रिय निर्देशक (वर्किंग डायरेक्टर) है। फर्म की अपनी कार्यशाला है जिसमे कुछ मशीने है और दफ्तर कार्यशाला से जुडा हुआ है। फर्म मे बिक्री प्रबन्धक नही है। बिक्री प्रबन्धक का काम एक निर्देशक करता है। अगर फर्म निर्यात व्यापार मे खास दिलचस्पी रखती हो तो निर्देशक ही विदेश की यात्रा करता है और एजेन्सियाँ सगठित करने का काम करता है। हो सकता है फर्म मे निर्माण प्रबन्धक न हो। एक सीनियर फोरमैन निर्माण कार्य की जिम्मेवारी सम्हालनेवाला हो सकता है। सभी कर्मचारियों से कुछ न कुछ जिम्मेवारी निभाने की अपेक्षा की जाती है।

सगठन के सफल सचालन की जिम्मेदारी सामान्य प्रबन्धक (जनरल मैनेजर) की है। उसे निर्देशको का सहयोग मिलना चाहिये। व्यवसाय के सभी विभागो के लिए उपयुक्त कर्मचारी प्राप्त करना और उन्हे प्रशिक्षित करना आवश्यक है। एक छोटी फर्म में निर्देशक पक्ष के अन्तर्गत उप-विभाग नही होते। कर्मचारी-गण को अतिरिक्त जिम्मेदारी सम्हालने में समर्थ बनाने के लिए सामान्य प्रबन्धक द्वारा निर्धारित रोजमर्रा के कामो के अलावा उन्हे विशेष प्रशिक्षण दिया जाना ही चाहिये।

मै यहाँ एक नयी निर्माण इकाई स्थापित करने का उदाहरण दे सकता हूँ। यह एक छोटी फर्म है जिसकी स्थापना के लिए स्थान प्राप्त किया जाता है। बुनियादी काम निर्धारित किया जाता है। सावधानीपूर्वक तैयार की गयी टिप्पणियाँ कर्मचारियो को प्रदान की जानी चाहिये। अनुवर्ती अनुभव के आधार पर उनमे सशोधन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे भी टिप्पणियाँ प्रसारित करनी होगी कि बुनियादी सामग्री का प्रहस्तन करने सम्बन्धी सामग्री भण्डार की कार्य-प्रणाली क्या होगी और मुख्य कारखाने तथा प्रबन्ध कार्यालय से किस प्रकार नयी इकाई का काम सम्बन्धित होगा। कच्ची सामग्री का किस तरह प्रहस्तन किया जाय और किस प्रकार निर्माण के लिए उसे दिया जाय, इस सम्बन्ध में भी टिप्पणियाँ जारी करनी होगी। निर्माण प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी कुछ मोटी-मोटी बाते निर्धारित करनी होगी।

सामान्य प्रबन्ध

सुरक्षा के सम्बन्ध मे सामान्य मार्गदर्शन देना आवश्यक हो सकता है। सामान्य प्रशासन मद के अन्तर्गत काम की शर्तें शामिल की जा सकती है। टिप्पणियों में काम के घटे, पारिश्रमिक आदि का उल्लेख हो सकता है अर्थात् घटे के हिसाब से अथवा किसी दूसरे रूप मे पारश्रमिक का निर्धारण, कर्मचारी और उनके उत्पादन के सम्बन्ध में

आवश्यक साख्यिकीय विवरण, परिवहन का उपयोग आदि का निर्धारण।

सबसे पहले हमें यह बात तय करनी होगी कि किस प्रकार के वाहक (कनवेयंस) का इस्तेमाल किया जायगा, किस प्रकार कर्मचारी वाहक पर बैठेगे तथा किस प्रकार सामान्यतया वे उन्हे चलायेगे। वाहक की डिजाइन उन पर जो भार पडेगा, जिस गति पर उन्हे चलना होगा और जो उत्पादन जायेगा, उसके हिसाब से बनायी जा सकती है। इसके बाद सामान्य प्रबन्धक और निर्माण फोरमैन को यह विस्तृत रूप में समझाना चाहिये कि नयी व्यवस्था से वे क्या प्राप्त करने की अपेक्षा करते है और किस प्रकार यह नयी व्यवस्था कम्पनी तथा जनता दोनो के लिए लाभदायक होगी। वास्तविक सचालन पद्धति के आधार पर कामो मे सशोधन किया जा सकता है। हम एक ऐसी छोटी फर्म के बारे में विचार कर रहे है, जिसके पास गूढ समय और गति अध्ययन का प्रयोग व विकास करने के लिए सुविधाएँ नही है।

फुटकर उपभोक्ताओ से आर्डर प्राप्त किये व दिये जाते है। इन आर्डरो पर ४८ घटे के अन्दर कार्यवाही की जा सकती है। सावधानीपूर्वक आयोजन करना आवश्यक है। आर्डर पर कार्यवाही करते वक्त उधार के सवाल पर ध्यान देना होगा। एक छोटी फर्म मे इस प्रकार के मामलो की जाच करने का सबसे सतोषप्रद तरीका यह है कि कार्ड सूचीवाला तरीका अख्तियार किया जाय, जिसमें सभी ग्राहको के विवरण दर्ज किये जा सकते है।

खरीद पर नियंत्रण

इस सम्बन्ध मे हर किसी को अपने आप से यह सवाल करना चाहिये कि आर्डर फार्म की रूपरेखा कैसी होगी और कितनी प्रतियो की आवश्यकता होगी ? आर्डर कैसे भेजा जायगा ? बाद में प्रतियो का इस्तेमाल कैसे किया जाना है ? यह देखना पडेगा कि प्राप्त माल बिल्कुल आवश्यक माल के समान है। सप्लाई करनेवालो से आनेवाले बीजकोको यह सुनिश्चित करने के लिए चेक करना पडेगा कि उनमें जो रुपया-पैसा दिखाया गया है वह सही-सही रूप में प्रारम्भिक आर्डर की शर्तों के अनुरूप है या नही।

एक छोटी फर्म में रुपया-पैसा खर्च करना वास्तव में एक बहुत बडे रूप में घर का काम चलाने जैसा है। यदि इस मामले मे पर्याप्त सावधानी नहीं बरती गयी तो हो सकता है कि उत्पादन पूरा न हो; क्योकि किन्ही सघटनों पर रुपया-पैसा अधिक खर्च हो सकता है और हो सकता है कि अन्य आवश्यकताओ पर पहले ध्यान नही गया हो तथा उनकी व्यवस्था नही की गयी हो।

सामान्य प्रबन्धक

पूर्वानुमान तरीके निर्धारित किये जा सकते है। सामा य प्रबन्धक फर्म की खर्च करने की क्षमता के भीतर रहते हुए अपनी आवश्यकताओ का निर्देश करने हेतु प्रत्येक महीने जिस तरीके का अनुसरण करना है उसका सही-सही रूप तैयार कर सकता है। समस्याओ का विश्लेषण करने, सभी सम्भव तरीकों का विश्लेषण करने और यह देखने की उसमे योग्यता होनी चाहिये कि वे किस प्रकार फिट बैठते है। उसे तरीके का निर्धारण करना, मशीनों के सचालन का विशेष ज्ञान होना, ले-आउट और गति क्रम का आयोजन करना तथा मशीनो मे सचलन पद्धति निर्धारित करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि किस प्रकार सामग्री अन्दर आती है, कार्यशाला मे किस प्रकार उसका प्रहस्तन किया जाता है और किस प्रकार वह बाहर जाती है। वह मशीनी हिसाब-किताब और दफ्तर की मौजूदा कार्य-प्रणाली के साथ उसके सयोजन की योजना भी बना सकता है। उसे सचालन की तकनीको के बारे में निर्देश देने होगे।

व्यक्तियो के बीच जो वातावरण निर्मित किया जाता है, उस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। एक छोटी फर्म में कर्मचारी व्यक्तिगत रूप से बहुत मूल्यवान होते है, क्योकि एक छोटी फर्म मे ऐसा शायद ही

होता हो कि एक ही काम को दो आदमी करे।

पिछले वर्षो मे प्रबन्ध का विकेन्द्रीकरण चर्चा का विषय बना रहा है। एक बहुत ही मामूली व्यवसाय या कामधधे अथवा उद्योग मे भी विकेन्द्रीकरण का महत्व है। अनेक छोटी-छोटी फर्मो मे प्रबन्धकीय अकुशलता का कारण है—वहॉ पर उत्तरदायित्व का पर्याप्त रूप मे विकेन्द्रीकरण न होना।

प्रबन्ध सम्बन्धी उत्तरदायित्व के चार अग होते है . (१) आयोजन, (२) नियत्रण, (३) समन्वय और (४) उत्प्रेरणा। यदि उद्योग बडा है तो इस उत्तरदायित्व को और आगे विभाजित करने की आवश्यकता है, लेकिन उत्तरदायित्व के व्यवहार मे समग्र प्रक्रिया आवश्यक रूप से ही एक सुसयोजित प्रक्रिया होनी चाहिये।

—पे. बाल कृष्ण मूर्ति

बिडलापुर (पश्चिम बगाल) • ३० नवम्बर १९६३

खादी और औद्योगिक कानून

वर्तमान श्रम कानून उत्पादन कार्य मे सलग्न श्रम और पूजी के बीच मान्य तथा स्वीकृत अन्तर्निहित वर्ग-हित के सघर्ष से पैदा होनेवाली परिस्थिति का सामना करने के लिए बन ने गये है। स्वभावत इन कनूनो का मुख्य उद्देश्य यह है कि उक्त दोनों विरोधी शक्तियो के बीच सतुलन बनाया रखा जाय, और वे किसी न किसी रूप मे एक ऐसा समझौता सूत्र पेश करते है, जिसमे औद्योगिक शाति कायम रखने के लिए सरकारी हस्तक्षेप अथवा पच फैसले का प्रावधान होता है। अगर हडतलो अथवा काम के ठप्प पड जाने को सफलतापूर्वक टाला जा सके तो इन कानूनो का उद्देश्य कम-ज्यादा रूप मे पूरा हो जायेगा। लेकिन इससे इन्कार नही किया जा सकता कि इस उद्देश्य की पूर्ति होने पर भी इन दो वर्षो के बीच निरन्तर मनमुटाव बना रहता है और वह कभी समाप्त नही होता। वर्गो के मध्य समरसता अथवा उद्देश्य की एक्यता स्थापित करने का उद्देश्य रखने के वास्तविक कार्य पर वाछित ध्यान नही दिया जाता।

गाधीजी की कल्पना के अनुसार खादी उद्योग को पुनस्स्थापित करने का आधार बिल्कुल अलग ही है। इस उद्योग में किसी भी प्रकार के वर्ग सघर्ष के लिए कोई आधार नही है और न ही होना चाहिये, क्योंकि इस उद्योग में श्रमिक के हित के विरुद्ध मालिक के हित जैसी कोई बात नही आती। खादी का समग्र सम्बोध न्यासधारिता (ट्रस्टीशिप) के सिद्धान्त पर आधारित है, न कि मुनाफाखोरी के सिद्धात पर। जो व्यक्ति इस क्षेत्र मे काम करने के लिए कदम रखते है उनसे त्याग करने की और खास कर दलितो और सामान्यत समाज के लिए न्यासधारियो के रूप में काम करने की अपेक्षा की जाती है। हो सकता है कि कुछ खादी सस्थाओ के सामने इस उद्देश्य का बिल्कुल स्पष्ट सम्बोध न हो। लेकिन इससे काम का असली स्वरूप ही नही बदल जाता।

प्रमाणीकरण के जरिये नियमन

इस उद्देश्य को दृष्टि मे रखते हुए पारिश्रमिक, लाभाश और कीमत को खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की प्रमाण-पत्र समिति, जिसे सर्व सेवा सघ का नैतिक समर्थन भी प्राप्त है, बहुत ही सही रूप मे नियत्रित रखती है। यह न केवल सूतकारो और बुनकरो के लिए निश्चित पारिश्रमिक ही सुनिश्चित करती है, बल्कि खादी काम मे लगे कार्यकर्त्ताओं की विभिन्न श्रेणियो मे पारिश्रमिक सम्बन्धी विस्तृत असमानता के लिए भी बहुत कम गुजाश छोडती है, जबकि बडी-बडी औद्योगिक इकाइयो मे यह असमानता बहुत ज्यादा पायी जाती है, फिर चाहे वे इकाइयॉ निजी विभाग मे हो अथवा सार्वजनिक विभाग मे। वस्तुत श्रमिक कानून जिस उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते है, वह खादी उद्योग मे प्रमाणीकरण नियमो के जरिये पहले से ही विनियमित हो रहा है।

खादी काम को फिलहाल जैसे श्रमिक कानून है उनके कार्यक्षेत्र से अलग रखने के लिए उक्त कथन पर्याप्त होना चाहिये। सम्भवत यही इरादा कानून बनानेवालो का भी रहा हो। यह इस बात से स्पष्ट है कि औद्योगिक सम्बन्धो के बारे मे किसी भी कानून के बनाते वक्त खादी काम से प्रत्यक्ष रूप मे सम्बद्ध कोई भी व्यक्ति अथवा खादी जगत का कोई भी प्रतिनिधि उस काम मे शामिल नही किया गया और न ही कभी यह आवश्यक समझा गया कि समय-समय पर श्रमिक समस्याओ पर विचार करने के लिए अयोजित सम्मेलनो मे सर्व सेवा सघ या खादी और ग्रामोद्योग कमीशन से किसी प्रतिनिधि को बुलाया जाय। स्पष्टत खादी जगत को अलग रखा गया है और वैसा करना वस्तुत सही था।

अस्वस्थ प्रवृत्ति

लेकिन कुछ समय से खादी सस्थाओ और उनके कार्यकर्त्ताओ को भी मनमुटाव और वर्ग सघर्ष के झमेले मे घसीट ले जाने की एक प्रवृत्ति दिखायी पड रही है। मजे हुए खादी कार्यकर्त्ताओ को अपने खुद के कार्यकर्त्ताओ का 'स्वामी' बताया जाता है। कानूनो के कार्यक्षेत्र का गलत अर्थ लगाकर एक बनावटी दिवाल अथवा बाधा खडी की जा रही है, जबकि ये कानून खादी काम के क्षेत्र मे भी लागू करने का उद्देश्य शायद कभी नही रहा। अपने खुद के हित-साधन मे रत और खादी के दर्शन से अनभिज्ञ एक वर्ग के व्यक्तियो की इस प्रवृत्ति को दुर्भाग्य-वश कुछ प्रमुख खादी कार्यकर्त्ताओ से भी, सम्भवत अनजाने मे, परोक्ष रूप से प्रोत्साहन मिला है।

यह सब कुछ ऐसा है कि इससे खादी कार्य और उसके दर्शन की बुनियाद पर ही कुठाराघात होता है, जिसका उद्देश्य 'न्यासधारिता' के सिद्धान्त पर आधारित वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना है। खादी सस्थाओ को यह भी महसूस करना चाहिये कि इस उद्देश्य से पीछे हटने और छद्म-औद्योगिक नीति को मान्यता देने से निश्चय ही खादी काम मे श्रमिक और समवाय विधि (फैक्ट्री लॉ) को लागू करने का आमन्त्रण देना है। उन्हे यह समझ लेना चाहिये कि खादी कार्यकर्त्ताओ को एक सूत्र मे बाधनेवाले प्रेम, विश्वास और सेवा के सामूहिक उद्देश्य के सिवाय कोई दूसरी शक्ति नही हो सकती।

इसका अर्थ यह नही कि पारस्परिक सम्बन्धो से सम्बन्धित यदि कोई समस्या अथवा उपयुक्त कठिनाई हो तो उसे दूर करने के लिए कोई तन्त्र नही होना चाहिये। लेकिन इस प्रकार का तन्त्र खादी कार्य के उद्देश्य और देश मे जिस प्रकार का वातावरण यह निर्मित करना चाहता है उसके अनुरूप ही होना चाहिये। यह काम प्रमाण-पत्र समिति का कार्यक्षेत्र विस्तृत करने से सर्वोत्तम रूप मे हो सकता है। प्रमाण-पत्र समिति को कार्यकर्त्ताओ के लिए वेतन तथा अन्य सुविधाओ और पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध मे कुछ स्तर निर्धारित करके कामगारो की तरह खादी कार्यकर्त्ताओ एव उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा करने मे समर्थ होना चाहिये।

खादी संस्थाओ की जिम्मेदारी

जहॉ तक समवाय विधि (फैक्ट्री लॉ) का सम्बन्ध है खादी कार्य अधिकाशत ग्रामीण क्षेत्रो मे और बहुत छोटे-छोटे केन्द्रो के जरिये चलता है। उन चन्द केन्द्रो को छोड कर जहॉ अन्तिम प्रशोधन कार्य होता है, कही भी कामगारो का जमाव और कारखानो जैसी अवस्था नही है। अतएव समवाय विधि का, जहॉ तक वह काम की अवस्थाओ से सम्बद्ध है, खादी केन्द्रो से कोई खास ताल्लुक नही है, लेकिन इस सम्बन्ध मे खादी सस्थाओ पर भी एक जिम्मेदारी है। यदि उन्हे अपनी अपेक्षाओ और आदर्शो पर रहना है तो उन्हे इस सम्बन्ध मे परिपूर्ण सतर्क रहना होगा कि चन्द जमाववाले स्थानो मे खास कर, और अन्य छोटे केन्द्रो मे भी सामान्यत, काम की अवस्थाएँ ऐसी हो कि वे अन्य औद्योगिक इकाइयो और उत्पादन केन्द्रो के लिए आदर्श बन सके।

खादी कार्य का विस्तार करने और खादी भावना की रक्षा करने की नीति के अग स्वरूप खादी को औद्योगिक कानूनो के कार्यक्षेत्र से मुक्त करना आवश्यक है। अगर

विश्वविद्यालय, ट्रेड यूनियन और औद्योगिक विवाद अधिनियमो से मुक्त है, तो कोई कारण नही कि खादी भी क्यो न हो, जोकि अपना उत्पदान और बिक्री कार्य करने के बावजूद सामाजिक जीवन पद्धति मे परिवर्तन लाने और उद्योग को प्रतिस्पर्धात्मक बनाने के बदले समरसता पर आधारित उद्योग के रूप में परिवर्तित करने का एक मात्र साधन है। मूक सामाजिक क्रान्ति के विस्तृत सन्दर्भ मे खादी समग्र समाज के स्वभाव, सम्बन्ध और औद्योगिक स्वरूप में परिवर्तन लाने का उद्देश्य रखने-वाली सामाजिक शिक्षा मे गाधीवादी प्रयोगो का एक माध्यम है।

तथापि, यदि कार्य-साधकता के कारण कोई कानून आवश्यक समझा जाय तो वैसी स्थिति मे खादी कार्य के दर्शन, अनुभव और अवस्थाओ को ध्यान मे रखते हुए एक विशेष कानून बनाया जा सकता है। यह बात देश मे शिखर के खादी कार्यकर्त्ताओ पर छोड देनी चाहिये कि कौन-सा तत्र परिस्थिति की आवश्यकताओ को सर्वोत्तम रूप से पूरी कर सकेगा। लेकिन यह समझने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिये कि यदि खादी सस्था या उसके अधिकारी को अपने ही कार्यकर्त्ताओ पर, 'मालिक' शब्द का साधारणतया जो स्वीकृत अर्थ है उस अर्थ मे, 'मालिक' की भूमिका अख्तियार करने के लिए बाध्य होना पडता है तो वैसा करना खादी के लिए बडा घातक सिद्ध होगा।

—छीतरमल गोयल

चौमू (राजस्थान)　२९ मई १९६४

कृषि में निम्बौरी के गूदे और खली का उपयोग

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अखाद्य तेल और साबुन उद्योग विभाग द्वारा सगठित केन्द्र तेल निकालने के लिए करीब दस हजार टन निम्बौरियाँ वार्षिक रूप से सग्रहित करते है। इस परिमाण मे वे बीज भी जोडे जा सकते है, जिनका सग्रह स्वतत्र व्यक्ति करते है और जिनके सम्बन्ध मे आकडे उपलब्ध नही है।

निम्बौरी का गूदा अलग करने से जो गूदा और पेराई करने से जो खली प्राप्त होती है, उसका खेती मे लाभदायक रूप से उपयोग किया जाता है, क्योकि

१ इन दोनो में पौधे के विकास के लिए आवश्यक तत्व मौजूद होते है,
२ मूगफली की खली जैसी अच्छी खाद से यह गूदा और खली सस्ते होते है, और
३. वे पौधे की कीटों से रक्षा करते है।

गूदा

निम्बौरी के गूदे में १ २ प्रति शत नेत्रजन (नाइट्रोजन) और ० २७ प्रति शत फॉसफोरिक अम्ल (एसिड) होता है। तेल निकालने से पहले ताजा अथवा सूखी हुई निम्बौरी मे गूदा अलग किया जाता है। सूखी निम्बौरी का गूदा अलग करने से पहले उसे पानी में थोडा गलाया जाता है। गूदा उतराने की प्रक्रिया से प्राप्त गूदे और गदले पानी का खाद के रूप मे इस्तेमाल किया जा सकता है। कुछ स्थानो मे गूदे को खाद बनाने अथवा जीवाणु (बैक्टीरिया) बढाने के लिए गड्ढो मे रखा जाता है।

हैदराबाद के नजदीक पट्टनचेरवू में बुद्ध मन्दिर ट्रस्ट ने १९६२ में गदला पानी और सूखा तथा चूर्ण किया हुआ निम्बौरी का गूदा किसानो को बेचा था। इस निम्बौरी के गूदे का भाव उस वक्त छ रुपये प्रति बोरी लगाया गया था। जिन किसानो ने ज्वार की फसल में इसका खाद के रूप में इस्तेमाल किया, उन्हे यह जान कर आश्चर्य हुआ कि जो फसल साधारणतया दूसरे महीने में तीन से चार फुट लम्बी बढती थी, वह उसी समय में आठ फुट तक बढ गयी। एक मामले में तो ऐसा हुआ कि पिछले दो वर्ष मे पौधो से ज्वार ही पैदा नही हुई थी, लेकिन इस बार उस खाद का उपयोग करने पर सात बोरी ज्वार की प्राप्ति हुई। यह उत्पादन उक्त जमीन के औसत उत्पादन से दुगुना था। ऐसा

देखा गया कि ज्वार के लिए धान की भूसी को गूदे के पानी मे मिला कर रखने से बहुत अच्छी खाद तैयार होती है। सब्जी पैदा करने के लिए इस खाद को राख, पोटास और अन्य रासायनिक उर्वरको के साथ मिला कर उपयोग मे लाया जाय तो अच्छी फल-प्राप्ति होती है। उक्त ट्रस्ट ने १९६३ मे भी पॉच रुपये प्रति बोरी के हिसाब से १०० बोरी निम्बौरी के गूदे का चूर्ण बेचा।

गूदे का कीट-नाशक के रूप मे इस्तेमाल

भारतीय कृषि अनुसधान परिषद ने बताया है कि निम्बौरी के गूदे मे कीट-नाशक तत्व होते है। निम्बौरियो के गूदे के ० ००१ प्रति शत भाग से युक्त विलयन से फसल की टिड्डियो से रक्षा की जा सकती है। इसके अलावा यह छिडकने पर पौधो की बाढ पर भी कोई बुरा असर नही पडता। अगस्त १९६२ मे टमाटर, प्याज, बन्दगोभी, ककडी, तम्बाकू, गेहूँ, गुलाब, अण्डी आम, अनार, नीबू, नारगी आदि पर उक्त विलयन अर्थात् घोल छिडक कर सफल प्रयोग किये गये।

नीम का घोल तैयार करते वक्त गूदे का चूर्ण एक कपडे मे बाधा जाता है और उसे पॉच मिनट तक पानी मे रगडा जाता है। इसका अनुपात इस प्रकार होता है कि एक लीटर पानी मे एक ग्राम चूर्ण। एक एकड जमीन पर घोल छिडकने के लिए सौ गैलन पानी की जरूरत होगी।

निम्बौरी की खली

वैश्लेषित परिणामो से प्रकट होता है कि निम्बोरी की खली मे ५ से ५ २५ प्रति शत तक नेत्रजन होता है। इसके अलावा १ ०८ प्रति शत फासफोरिक अम्ल और १ ४८ प्रति शत पोटास भी उसमे होता है। नयी दिल्ली स्थित भारतीय कृषिक अनुसधान सस्था द्वारा किये गये कुछ प्रयोगो से पता चला है कि गन्ने, आलू, कपास और धान की फसलो मे निम्बौरी की खली का बतौर खाद के प्रयोग करने से उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई है। सस्था के प्रतिवेदन मे कहा गया है

"पूसा की मिट्टी पर इस सस्था मे निम्बोरी की खली के साथ जो प्रयोग किये गये उनसे पता चला है कि ७० प्रति शत अण्डी, सरसो और मूगफली की खली के नेत्रजन के स्थान पर करीब ६० प्रति शत निम्बौरी की खली का नेत्रजन आठ सप्ताह तक यवक्षारित होता रहा। ऐसा पाया गया कि निम्बौरी की खली मे दीमक से रक्षा करनेवाले तत्व होते है।"

वास्तविक खाद तत्वो के सम्बन्ध मे उत्तर प्रदेश मे कुछ प्रयोग किये गये जहॉ नीम के पेडो की भरमार है। फसल पर खाद का क्या प्रभाव पडता है, यह बात निम्न तालिका से प्रकट होती है

प्रायोगिक केन्द्र	फसल	बिना खाद दिये प्राप्त उत्पादन मे वृद्धि का प्रातिशत्य	खुराक (पौण्ड मे)
प्रतापगढ	गन्ना	१३६ ४	१६०० खली
गोरखपुर	,,	१० ८-१८ १	१०५ एम
प्रतापगढ	धान	१९ १	७५ खली
अलीगढ	कपास	१५ ४	१०० एन
कानपुर	आलू	१५४ ९	२०० एन

खली का कीट-नाशक के रूप मे उपयोग

इस प्रकार निम्बौरी की खली का खाद के रूप मे उपयोग करने से फसल की दीमक से रक्षा होती है। 'फिलो-जिस्टिस सिक्रेला' नामक कीट नीबू, नारगी, मोसम्बी आदि जैसे साइट्रस वर्ग के पेड-पौधो के लिए सबसे घातक होता है। निम्बौरी की खली का घोल अथवा नीम तेल का अर्क (इमलशन) इस कीट के नाश के लिए सबसे अच्छा समझा गया है। घोल तैयार करने के लिए चार औस खली या नीम तेल के अर्क को एक गैलन पानी मे मिलाया जाता है। नारगी पेड के तने पर खली की परत चढाने से उसकी कीटो से रक्षा होती है।

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि खली मे तेल तत्व ज्यादा न रहे। साधारणतया खली मे ११ प्रति शत तेल तत्व होते है। सबसे अच्छा तरीका यह है कि अगर खली मे इससे ज्यादा तेल तत्व हो तो उसमे से और तेल निकाल लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इस बात का भी उपयुक्त ध्यान रखना चाहिये कि किसी फसल मे कब, कितनी और कैसे खाद दी जाय। इस सम्बन्ध मे स्थानीय कृषिक अधिकारी सहायक हो सकता है।

— अपर्णा सजीव सिरूर

बम्बई १७ मार्च १९६५

भारतीय निर्यात व्यापार : तीव्र विस्तार की आवश्यकता*

युवेश चन्द्र शर्मा

हाल ही मे स्वतत्रत हुए कई अफ्रो-एशियाई देश अपनी अर्थ-व्यवस्था के पुर्ननिर्माण मे व्यस्त है। वे तीव्र आर्थिक विकास करने हेतु बडे उत्सुक है और उनमे से कई ने अलग-अलग अवधियो के लिए विकास कार्यक्रम आरम्भ कर दिये है। मजबूत अर्थ-व्यवस्था निर्मित करना बहुत कठिन, जटिल और विशाल कर्म है, विशेष कर कम विकसित देशो मे जो घोर गरीबी फैली हुई है उसे देखते हुए। गतिहीन अर्थ-व्यवस्था को गतिशील बनाने तथा लोगो की आय बढाने के लिए अभी सबसे जरूरी है तीव्र औद्योगीकरण के जरिये अर्थ-व्यवस्था मे विविधता लाना। परन्तु दुर्भाग्यवश सभी कम विकसित देशो मे तीव्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक स्रोतो की बडी कमी है।

पूंजी निर्माण की धीमी गति

इन देशो मे कम आय के कारण पूजी निर्माण की गति बहुत ही धीमी है और लोगो के पिछडे होने के कारण देश मे आवश्यक तकनीकल ज्ञान भी अनुपलब्ध है। वृहत् पूजी, यत्रो, तकनीकल जानकारी और कभी-कभी कच्ची सामग्री के लिए भी कम विकसित देशों को विकसित देशो पर निर्भर करना पडता है। इस समस्या को सुलझाने का एक रास्ता यह है कि विकासशील देश अपने निर्यात व्यापार को बढाये ताकि उन्हे आवश्यक विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सके। बेशक इसके लिए विकासशील देशो के लोगो को काफी त्याग करना होगा क्योकि उनका जीवन-स्तर बहुत ही नीचा है, परन्तु यह इन देशो का भविष्य अच्छा बनाने के लिए अनिवार्य है।

इस तथ्य के बावजूद कि विकासशील देशो के लिए अपना निर्यात व्यापार बढाना अनिवार्य है, यह काम इतना आसान नही है खास कर इसलिए कि निर्यात व्यापार की वर्तमान पद्धति मे विकसित देशो का प्रभुत्व अधिक है। यहाँ तक कि प्राथमिक उत्पादनो के मामले मे भी विकासशील देशो का हिस्सा, जिन्हे कि वे सामान्यतया निर्यात करने की अवस्था मे है, मामूली-सा ही है। इसके विपरीत पिछले दिनो औद्योगिक देश प्राथमिक उत्पादनो के विश्व निर्यात मे अपना हिस्सा बढाते रहे है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि "उनका हिस्सा १९५० के ४७ प्रति शत से बढ कर १९६१ मे ५५ प्रति शत हो गया जबकि उसी अवधि मे विकासशील देशो का हिस्सा ४१ प्रनि शत से कम हो कर २० प्रति शत हो गया (पेट्रोलियम को छोड कर)। तथापि, उसी अवधि मे प्राथमिक वस्तुओ (कच्चे और अपरिशोधित माल) की व्यापार शर्ते तैयार माल के अनुपात मे २६ प्रति शत गिर गयी।"

विकसित देशों के निर्यातक निर्माताओ की कहानी तो और भी दुखद है। तैयार माल के कुल विश्व निर्यात मे उनका हिस्सा तो करीब ६ प्रति शत ही है। निकट भविष्य मे इस अवस्था मे किसी विशेष परिवर्तन की उम्मीद नही है, क्योकि विकसित देश अपना निर्यात बढा तथा आयात कम कर अपनी अर्थ-व्यवस्था को और सुदृढ बनाने के लिए

* दि जर्नल ऑफ इण्डस्ट्री एण्ड ट्रेड, वर्ष १५, अक ५ (ट्रेड प्रोस्पेक्ट्स नम्बर), मई १९६४, वाणिज्य प्रचार निर्देशालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, पृष्ठ ७९३-९८८, मूल्य : एक रुपया।

चितित है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि विकसित राष्ट्रो क। यह रुख अपनी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत बनाने तथा व्यापक आधार देने हेतु विकासशील देशो के प्रयासो मे बाधा पहुँचा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

अब सर्वत्र यह मान्यता है कि विकासशील देशो को अपने पैरो पर खडा होने के प्रयासो मे समर्थ बनाने के लिए विकसित देशो को भी समान हिस्सा बटाना चाहिये, और विकसित देशो की तरह ही विकासशील देशो को भी अवसर की समानता प्राप्त हो, इसके लिए विशेष उपाय करने है। यह सुनिश्चित करने के लिए यह अत्यावश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के वर्तमान रुख को उलट दिया जाय ताकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार की प्रक्रिया को विकासशील देशो के पक्ष मे करने मे गति लायी जा सके।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कई उपाय सुझाये गये है। एक है टैरिफ मे कमी तथा उसे बन्द कर देना और बाधाओ एव प्रतिबधो को दूर करना जिससे ऐसा उपयुक्त वातावरण का निर्माण हो सके कि उसमे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक शक्तियॉ मुक्त रूप से भाग ले सके "ताकि विभिन्न देशो के बाजारो मे कम विकसित देशो के सभी उत्पादनो को मुक्त और पूर्ण स्थान प्राप्त हो सके।" सिर्फ यही नही, यह भी सुझाया जाता है कि "विकासशील राष्ट्रो के निर्यात को बिना किसी भेद-भाव के प्रश्रय दिया जाना चाहिये।" यह विशेषतया इसलिए आवश्यक है कि विकासशील देशो के पास अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करने के लिए पर्याप्त आन्तरिक व्यवस्था (इन्फ्रा स्ट्रक्चर) नही है और कम विकसित देशो मे निर्माण का खर्च भी विकसित देशो से अधिक पडता है।

भारत ने भी इस बात का समर्थन किया है कि "प्रत्येक सामग्री के लिए 'व्यापार विकास घटाव-बढाव निधि' खोल कर आर्थिक क्षतिपूर्ति पद्धति के जरिये विकासशील देशो के प्राथमिक उत्पादनो के लिए उचित और अच्छी कीमत मिल सके, इसके लिए उपाय निकालने चाहिये।" विकासशील देशो की आय बढाने के साथ ही साथ उन देशो मे उपलब्ध मानवीय कौशल का पूर्ण विकास सुनिश्चित करने के लिए निर्यातो ने वैविध्यीकरण परमावश्यक है। यह उनके तीव्र औद्योगीकरण तथा उनके उद्योगो मे विज्ञान और प्रौद्योगिकी को प्रयुक्त कर ही सुनिश्चित किया जा सकता है।

शीघ्रातिशीघ्र उक्त आधार पर कार्यवाही करने की आवश्यकता दिनोदिन अधिक महसूस की जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विकास सम्मेलन, केनेडी राउँड वार्ता आदि इस दिशा मे प्रत्यक्ष सूचक है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे प्रतिबधात्मक उपायो के निरर्थक होने के बावजूद, जिनका इस शताब्दी के चौथे दशक मे सर्वनाशी अनुभव हुआ, विभिन्न राष्ट्रो ने इन प्रतिबधो मे कोई ढिलाई की हो, ऐसा नजर नही आता, बल्कि इसके विपरीत ही लक्षण दिखाई देते है। ऐसा लगता है कि विकसित राष्ट्र अपनी समृद्धि को अपने तक ही सीमित रख रहे है, विकासशील देशो को उसमे हिस्सा बटाने नही देते और यूरोपीय साझा बाजार आदि जैसे क्षेत्रीय व्यापार सगठनो मे प्रवेश कर उनके आर्थिक मार्ग को बन्द कर रहे है। तथापि, आशा की जाती है कि विकसित राष्ट्र इस परिवर्तन की हवा को ध्यान मे रखेगे तथा अपने कमजोर भागीदारो की मदद को आगे आयेगे ताकि ससार की समृद्धि मे उन्हे उचित अश मिल सके। प्रश्न है कि वे इसे कितनी जल्दी करते है।

विदेशी सहायता

निर्यात विस्तार के अलावा विकासशील देशो मे आर्थिक विकास की गति बढाने का एक जरिया विदेशी सहायता है। कई विकसित देशो ने विभिन्न विकासशील राष्ट्रो की कई योजनाओ के अन्तर्गत सहायता की है। परन्तु दुर्भाग्यवश सहायता प्राय घरेलू उद्योग के निर्यात बाजार की खोज की दृष्टि से दी जाती है और फलत

वह विशिष्ट परियोजनाओ अथवा देशो से बध जाती है। स्वभावत इस सहायता से विकासशील देशो को जो लाभ होनेवाला है, वह बहुत कुछ इन अनुबन्धो के कारण समाप्त हो जाता है। भारत ने आग्रह किया है कि "यदि दी गयी सहायता को विकसित राष्ट्रो के लिए सर्वाधिक प्रभावशाली होना है, तो इसे न तो परियोजनाओ से ही और न ही देशो से बधना चाहिये, बल्कि यह सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता के अनुरूप उपलब्ध होनी चाहिये।" और आदाता राष्ट्र को किसी भी राष्ट्र से क्रय करने की पूरी स्वतत्रता होनी चाहिये। इसी प्रकार "ऋण चुकाने की अवधि लम्बी होनी चाहिये ताकि जिस उद्योग अथवा परियोजना के लिए सहायता दी जा रही है उसकी कर्ज चुकाने की क्षमता का मूल्याकन करने के बदले उस देश को पर्याप्त निर्यात क्षमता बनाने का समय मिल सके। ब्याज की दर भी उचित होनी चाहिए।"

निर्यात मे वृद्धि

विकासशील राष्ट्र होने के नाते भारत भी अपना निर्यात व्यापार जितना बढा सकता है उतना बढाना चाहता है। भूतकाल मे देश को निर्यात के प्रति सजग बनाने और निर्यात विकास के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने हेतु कई कदम उठाये गये है। यह सतोष की बात है कि इन प्रयासो मे पर्याप्त सफलता मिली है। कुल निर्यात मूल्य १९६१–६२ के ६ अरब ८० करोड रुपये से बढ कर १९६२–६३ मे ७ अरब १४ करोड हो गया। वर्ष १९६३–६४ मे उसमे ८१ करोड रुपये की और वृद्धि हुई। इतना निर्यात पहले कभी नही हुआ था। निर्यात मूल्य मे वृद्धि कुछ हद तक कुछ किस्म के माल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मूल्य मे वृद्धि के कारण हुई परन्तु अधिकाश निर्यात मे वृद्धि के कारण ही हुई। "वर्ष १९६३-६४ मे निर्यात वृद्धि मे एक अच्छी बात यह है कि कई वस्तुओ का तथा कई देशो को निर्यात हुआ।"

वर्ष १९६३-६४ मे वृद्धि दर्शानेवाली मुख्य वस्तुएँ है चीनी, जूट के तैयार माल, नये तैयार माल, वनस्पति तेल, तम्बाकू, कमायी और परिशोधित खाले, नकली रेशम की तैयार वस्तुएँ आदि। 'नये तैयार माल,' कमायी और परिशोधित खाले तथा नकली रेशम की तैयार वस्तुएँ आदि के अन्तर्गत निर्यात मे जो वृद्धि हुई है, उसका विशेष स्वागत है और यह हमारी अर्थ-व्यवस्था के विविधीकरण का निश्चित सूचक है। तथापि, १९६३-६४ मे भी हमारे निर्यात किये जानेवाले माल मे मुख्यत प्राथमिक उत्पादन ही थे। कुल निर्यात मे उनका हिस्सा ५० प्रति शत से अधिक था, जबकि तैयार माल का प्रातिशत्य करीब ३३ था। इसका अर्थ यह है कि हमारे देश को औद्योगिक बनाने मे अभी और बहुत कुछ करना है ताकि निर्यात मे प्रशोधित और तैयार माल का अनुपात अधिक हो सके। एक दूसरी विशेष बात यह है कि प्रथम बार अपरिष्कृत चीनी का निर्यात किया गया और उसका स्तर सतोषजनक था।

जहाँ तक निर्यात-दिशा का सम्बन्ध है, १९६३-६४ मे सबसे अधिक वृद्धि (४ करोड ७० लाख रुपये) एशियायी और ओसीनियायी देशो को किये गये निर्यात मे हुई। अमेरिका को किये गये निर्यात मे करीब १० करोड ५० लाख रुपये की वृद्धि हुई। पश्चिमी यूरोपीय देशो मे भी करीब उतने की ही वृद्धि हुई। पूर्वी यूरोपीय देशो के मामले मे कुल वृद्धि कुछ अधिक थी— १२ करोड रुपये। दुर्भाग्यवश अफ्रीकी देशो के निर्यात मे तीन करोड रुपये की कमी हुई। चाय और अत्यावश्यक तेल आदि के मामले मे निर्यात मे कमी हुई।

गारण्टी निगम

निर्यात विस्तार का भारतीय कार्यक्रम बहुत बडा है और आशा है कि १९७० तक निर्यात दूना हो जायेगा—करीब १५ अरब रुपये। स्वभावत इससे सेवा सुविधाओ के विस्तार की भी आवश्यकता होगी। इस दिशा मे निर्यात जोखम बीमा निगम की स्थापना ने निश्चय ही एक बहुत बडी कमी की पूर्ति की है और भारतीय निर्यातको की जोखम दूर करने के लिए अत्यावश्यक सेवा उपलब्ध

की है। वर्ष १९६३–६४ के दौरान बीमा निगम ने २९ करोड ४५ लाख रुपये की जोखम उठायी। इसने एक बहुत ही उपयोगी पुस्तकालय और सूचना केन्द्र खोला है, जिसमे १५ हजार विदेशी ग्राहको के नाम दर्ज है। निर्यात जोखम बीमा निगम को पूर्ण विकसित निर्यात, साख और गारटी निगम मे परिवर्तित करने का भारत सरकार का निर्णय निश्चय ही निर्यात विकास मे अधिक सहायक होगा, क्योकि जोखिम उठाने के अलावा, वह बैको को कई तरह की गारटी भी देता है ताकि निर्यातको को ब्याज की अनुकूल दर पर आवश्यक ऋण सुविधाएँ प्राप्त हो सके। आशा है कि निर्यात, ऋण और गारटी निगम भारत मे भी उतना ही लोकप्रिय हो जायगा जितने कि इस तरह के निगम पश्चिम यूरोपीय देशो अथवा जापान मे लोकप्रिय है।

व्यापार विस्तार अंक

आलोच्य अक मे १९६३–६४ मे भारतीय निर्यात व्यापार और उसी वर्ष के लिए निर्यात, ऋण और गारटी निगम की कार्यशीलताओ की समीक्षा देने के अलावा विदेशो मे भारत के जो व्यावसायिक सचिव/कौसल/व्यापार आयुक्त आदि है, उनके द्वारा लिखे गये २७ लेख प्रकाशित किये गये है, जिनमे उन्होने उन देशो मे भारतीय वस्तुओ के निर्यात के विषय मे लिखा है। इन लेखो मे सम्बन्धित देशो की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पद्धति की विशपताओ पर, विशेष कर भारतीय निर्यात और उसके और विस्तार की सम्भावनाओ के सन्दर्भ मे, पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। कई देशो मे तेजी से बदलती राजनीतिक और आर्थिक अवस्थाओ की दृष्टि से भारतीय निर्यातको को इन लेखो मे जो सकेत तथा विभिन्न देशो की आवश्यकता के अनुरूप माल के सम्बन्ध मे जो विस्तृत मार्गदर्शन दिया गया है, वह भारतीय निर्यातको के लिए बडे व्यावहारिक लाभ के होगे। उसी प्रकार व्यापार विस्तार अक मे दी गयी जानकारी से वाणिज्यशास्त्र के विद्यार्थियो को भी लाभ होगा।

परन्तु यह जानकारी बडी महत्वपूर्ण है कि इस अक मे जिन २७ देशो के विषय मे लिखा गया है, उनमे से ११ एशियायी और ओसीनियायी है एवम् छ पूर्वी यूरोप के, पॉच पश्चिमी यूरोप के, तीन अफ्रीका के तथा दो अमेरिका के। एशियाई देशो को जो महत्व दिया गया है वह सर्वथा उचित है परन्तु इस विशेषाक मे अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी देशो के विषय मे, जहॉ हमारी वस्तुओ के निर्यात मे वृद्धि की सम्भावनाएँ ज्यादा है विशेष कर तैयार माल की, अधिक जानकारी दी जानी चाहिये थी।

जेनेवा मे २५ मार्च १९६४ को सम्पन्न राष्ट्र सघीय सम्मेलन के मत्रिवर्गीय अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि मडल के नेता श्री मनुभाई शाह ने सम्मेलन के कार्य की व्याख्या करते हुए विकासशील राष्ट्रो की समस्याओ को बताया तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र की वर्तमान अनियमित अवस्था में सुधार लाने के निश्चित सुझाव दिये, ताकि विकासशील राष्ट्र गरीबी और भुखमरी को दूर करने एवम् अपनी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत बनाने मे निश्चित और प्रभावशाली कार्य कर सके। उक्त भाषण को इस विशेषाक मे शामिल कर इसकी उपयोगिता और भी बढा दी गयी है।

बम्बई २१ जून १९६४
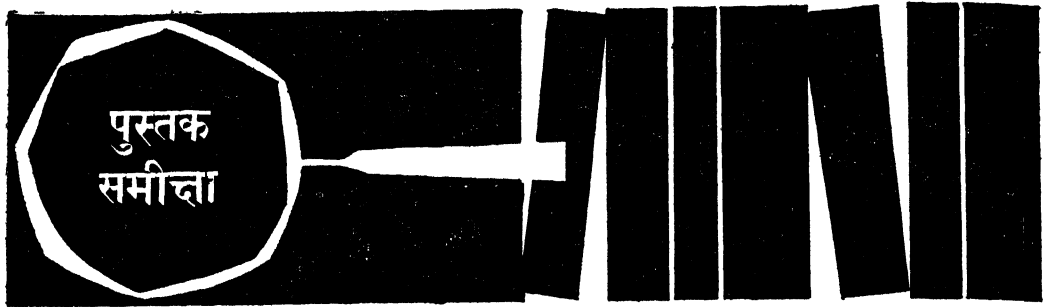
स्टडीज इन इण्डियन फॉकलोर (लोक-गीत, लोक-कला और लोक-साहित्य), शकर सेन गुप्त और के डी उपाध्याय द्वारा सम्पादित, इण्डियन पब्लिकेशन्स, कलकत्ता—१, १९६४, पृष्ठ सख्या सोलह+१८९ मूल्य ५ रुपये।

संकट काल मे जब कोई देश वर्तमान अवस्थाओ को अपर्याप्त और असह्य पाता है, तो वह अपने इतिहास एवम् लोक-राग (फॉकलोर) की ओर मुडता है, जो वस्तुत इतिहास का ही दूसरा रूप है। अनेक देशो मे हम पाते है कि राष्ट्रीय परिवर्तन की अवस्था मे वहॉ लोक-राग और लोक-सस्कृति के प्रति पुन अभिरुचि जागृत हुई। सोवियत सघ और नाजी जर्मनी के उदाहरण हमारे सामने है, जहॉ लोक-राग और लोक-गीतो पर पर्याप्त बल दिया गया। चीनी साम्यवादियो ने तो जन साधारण को साम्यवादी आन्दोलन मे सम्मिलित होने के लिए तैयार करने मे लोक-राग और लोक-कला का विभिन्न रूपो मे व्यापक उपयोग किया। हमारे देश मे शास्त्रो को लोकप्रिय बनाने और लोक-रागो के सग्रह की ओर सर्व प्रथम ध्यान उन्नीसवी शताब्दी मे भारतीय पुनर्जागरण के साथ दिया गया। अग्रेजी पढे-लिखे भारतीयो ने जब विदेशी प्रभुत्व के तिरस्कार और तत्कालीन सामाजिक एवम् आर्थिक व्यवस्था की गुरुगम्भीर त्रुटियों को समझ लिया, तो प्रेरणा के लिए पश्चिम के आधुनिक विचारको के साथ-साथ देश के अतीत के गौरव की ओर भी वे प्रवृत्त हुए। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे, जिन दिनो बगाली अधिकाधिक सख्या मे अग्रेजी की शिक्षा के लिए आगे बढते रहे, तो साथ ही साथ वे सस्कृत से ऋग्वेद (रमेशचन्द्र दत्त द्वारा बगला मे अनूदित, जिन्होने सुप्रसिद्ध **इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया** भी लिखी), महाभारत (कालीप्रसन्न सिन्हा द्वारा अनूदित) तथा अन्य शास्त्रो का बगला अनुवाद भी करते रहे। सामान्यत भारत मे अग्रेजी शिक्षा के प्रादुर्भाव के साथ ही समस्त राज्यो व भाषावार क्षेत्रो मे इतिहास तथा सस्कृति के प्रति, जिसमे लोक-सस्कृति भी थी, नयी अभिरुचि विकसित होने लगी। बीसवी सदी का प्रारम्भ-होते-होते स्वातन्त्र्य-आन्दोलन की गति तीव्र हो गयी और उसके साथ ही साथ अतीत के इतिहास और लोक-राग के प्रति रुचि की गहनता भी बढती गयी। आज भारत फिर एक चौराहे पर खडा है, और देश मे उपस्थित पचमेल तत्वो को निखार कर एक नया राष्ट्र निर्मित करने के सघर्ष मे रत्त है। और, मजे की बात यह है कि साथ ही लोक-राग के प्रति भी नयी अभिरुचि जागृत हो रही है। प्रस्तुत प्रकाशन उसी अभिरुचि का प्रमाण है।

स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद नयी-नयी शक्तियो का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होने देश के विभिन्न भागो मे लोक-सस्कृति को प्रकाश मे लाने और पुन प्राणवान बनाने की दिशा मे कार्य प्रारम्भ कर दिया। उद्योग और हस्त-शिल्प के क्षेत्र मे हो रहे विकास का भी सस्कृति पर प्रभाव पड रहा है। लोक-गीत, लोक-कला और लोक-राग भी इससे अछूते नही रहे। भारत के विभिन्न भागो के लोक कलाकार अब अनेक अवसरो पर दिल्ली मे एकत्रित होते और अपनी कला तथा सगीत का प्रदर्शन करते है। परम्परागत ग्राम उद्योगो और हस्तशिल्प को प्रोत्साहन देने की राजकीय नीति का भी इस सबध मे

लाभकारी प्रभाव पडा है। उदाहरणार्थ, खादी को बढावा देने की नीति से तनजेब और शाल बनाने की गौरवशाली परम्परागत कला को जीवित रखने मे मदद मिली है।

आलोच्य प्रकाशन के प्रथम भाग मे अपनी प्रस्तावना मे श्री शकर सेन गुप्त, ऐसा लगता है कि राजनीतिक दलो द्वारा लोक-रागो के विभिन्न रूपो मे उपयोग किये जाने से रूष्ट है। उनका तर्क समझ मे नही आता। भारत जैसे ग्राम-प्रधान देश मे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनो को लोकप्रिय बनाने के लिए यदि लोक-राग का सहारा नही लिया जाय, तो यह कार्य अत्यन्त कठिन होगा। श्री सेन गुप्त को प्रचार-प्रसार के लिए भी लोक-राग और लोक-गीत के उपयोग पर आपत्ति है। इस आपत्ति को भी स्वीकार करना कठिन है। क्या यह तथ्य नही है कि अनेक प्राचीन लोक-गीत और लोक-राग वस्तुत किसी विचार अथवा वृतान्त की अभिव्यक्ति के लिए ही रचे गये थे। सन् १९४२ के दिनो मे, जब मै पूर्वी बगाल के एक गाँव के स्कूल का विद्यार्थी था, मैने अनेक लोक-गायको को ऐसे लोक-गीत गाते सुना, जिनमे न केवल गाँव अथवा आस-पास के जिलो मे घटित सामयिक घटनाओ का, बल्कि प्रान्त और यहाँ तक कि विदेशो के घटना-चक्रों का भी वर्णन होता था। मुझे आज भी याद है कि उन दिनो के एक सर्वाधिक लोकप्रिय गीत का कथानक था मैमनसिह मे सम्प्रदायवादियो द्वारा एक नव विवाहित युवक की हत्या। एक दूसरा गीत चेतावनी के रूप मे था, जिसमे भविष्य-वाणी की गयी थी कि १९४२ मे ससार मे प्रलय हो जायेगा। लोग अधिकाधिक सख्या मे गायको को घेर कर उनके गीतो का रसास्वादन किया करते थे। मेरे विचार से यदि समसामयिक हलचलो को लेकर गीतो की रचना की जाय तो उन पर बडी सजीव चर्चा होगी।

समय और अभिरुचि के परिवर्तन के साथ लोक-राग, लोक-गीत तथा लोक-कला की विषय-वस्तु बदलती रहती है और सस्कृति ने होनेवाले परिवर्तनों का जिस हद तक उस लोक-राग मे समावेश होता है, उसी हद तक वे अपनी जीव्यता और लोकप्रियता बनाये रखते है।

भौगोलिक स्थिति का भी लोक-राग पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ, बगाल के तटवर्ती भागो के लोक-गीत, लोक-राग तथा लोक-कला अन्य क्षेत्रों से बहुत भिन्न है।

कोई गीत, लोक-गीत है अथवा नही इसका निर्णय उसके आशय अथवा उद्देश्य पर उतना निर्भर नही करता, जितना कि उसकी भाषा और सरगम के सहज गुणो पर।

इण्डियन फॉकलोर सोसायटी और उसकी मासिक पत्रिका **फॉकलोर** भारतीय लोक-रागो का विभिन्न सास्कृतिक तथा भाषात्मक रूपो मे सुव्यवस्थित अध्ययन करने की दिशा मे प्रशसनीय कार्य कर रही है। प्रस्तुत प्रकाशन मे अपने क्षेत्र के जाने-माने विद्वानो की लोक-राग (फॉकलोर) के विभिन्न पक्षो पर सत्तरह रचनाएँ है। इसके साथ ही डाक्टर के डी उपाध्याय द्वारा लिखित ज्ञानवर्द्धक सामान्य सम्पादकीय है, जिन्होंने **फॉकलोर** के सम्पादक श्री शकर सेन गुप्त के सहयोग से आलोच्य प्रकाशन का सम्पादन किया है। लोक-राग सम्बन्धी साहित्य मे यह एक विशिष्ट योग है।

पुस्तक की छपाई-सफाई सुन्दर है और उसके आकार, विषय-वस्तु तथा गुण-स्तर को देखते हुए उसका मूल्य बहुत ही उपयुक्त है।

बम्बई : २८ जून १९६४ —**सुभाष चन्द्र सरकार**

दि प्रोमोशन ऑफ इम्प्लॉयमेण्ट इन रूरल एरियाज इन इण्डिया; इण्टरनेशनल लेबर ऑफिस, नयी दिल्ली, १९६४।

एशियाई देशों मे रोजगारी विकास की समस्याओं पर विचार करते हुए सन् १९६२ के अन्त मे मेलबोर्न (आस्ट्रेलिया) मे सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के पचम क्षेत्रीय सम्मेलन ने सुझाव दिया था कि रोजगारी के अधिक अवसर निर्मित करने के लिए योजना इस प्रकार की होनी चाहिये जोकि आर्थिक विकास को सुनिश्चित

करे। ग्रामीणो को लाभदायक रोजगारी प्रदान करने हेतु आर्थिक नीति को व्यापक कार्यक्रम पर विशेष जोर देना चाहिये। गॉवो की बेकारी और अर्ध-बेकारी की समस्या का सर्वोत्तम हल ग्रामोद्योग विकास कार्यक्रम है, जोकि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को विविध बनाने मे भी सहायक होगा। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार गृह उद्योगो मे १ करोड २० लाख लोग लगे थे, जबकि निर्माण उद्योगो मे ८० लाख लोग ही लगे थे।

यद्यपि बहुत-से लोग यह समझते है कि सिर्फ ग्रामोद्योगो और दस्तकारियो की स्थापना से ग्रामीण औद्योगीकरण का विकास हो सकता है, जबकि वस्तुत ग्रामीण औद्योगीकरण के विचार को व्यापक बनाने की आवश्यकता है। तेजी से बदल रही परिस्थितियो मे ग्रामीण और शहरी उद्योगो के बीच का भेद अब रक्षणीय नही है। परन्तु इतना तो ध्यान मे रखना ी चाहिये कि अकेले गॉव के लिए नये उद्योग का स्व-सचालन कठिन है। कई गॉव मिल कर ही यह कार्य कर सकते है।

रोजगारी के अवसर विकसित करने के साधन हेतु ग्रामीण औद्योगीकरण का अर्थ महज गॉवो मे यहॉ-वहॉ चन्द कारखाने अथवा सयत्र स्थापित कर देना नही है। उन्हे वैसे स्थानो और अवस्थाओ मे स्थापित करना चाहिये कि वे गॉवो की सर्वोत्तम सेवा कर सके। परमावश्यक चीज है आधुनिक तकनालाजी को गॉवो मे लाना और यह सिर्फ शहरो के जरिये ही किया जा सकता है, जोकि प्रशिक्षण, परिवहन, सचार, बाजार, विद्युतशक्ति, तकनीकल और औद्योगिक प्रशिक्षण के लिए सस्थाओ सम्बन्धी सुविधाएँ आदि प्रदान करने की क्षमता रखते है। परन्तु तकनालाजी को एक ही बार मे गॉवो मे नही ले जाया जा सकता। प्रारम्भिक अवस्थाओ मे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर धीमे-धीमे प्रभाव डालने का प्रयास किया जाना चाहिये, जिसके फलस्वरूप रोजगारी के अवसर बढे। ऐसा वातावरण बनाना है, जोकि लोगो को प्राविधिक प्रगति के लाभ बतायेगा।

इस सन्दर्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय दूरदर्शी आयोजन दल के विचार विशेष उल्लेखनीय है, जोकि उसने जुलाई १९६३ मे भारत सरकार को प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन मे व्यक्त किये। दल ने स्पष्टत यह कहा था कि औद्योगिक विकास के विकेन्द्रीकरण हेतु बृहत्तर नगरो और गॉवो पर ध्यान न दिया जाकर इन दोनो छोरो के बीच के शहरो और कस्बो पर ध्यान दिया जाना चाहिये। दल ने यह भी कहा कि छोटे-छोटे योग्य कारखानो का भविष्य उज्ज्वल है। आद्यतन तकनीको और औजारों का इस्तेमाल करनेवाले छोटे-छोटे कारखाने ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है और वे ग्रामीण-विभाग के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दे सकते है।

ग्रामीण औद्योगीकरण को ग्रामीण क्षेत्रो मे आर्थिक रोजगारी के अवसर निर्मित करने की व्यापक योजना का एक अभिन्न अग होना चाहिये। ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम मे शहर अथवा नगर मे केन्द्र रूप मे काम करनेवाले बडे उद्योग तथा उसके साथ ही आस-पास के गॉंवो मे सेवा करनेवाले लघु उद्योगो को भी उतना ही स्थान मिलना चाहिये, जितना कि ग्रामीण और कुटीरोद्योगो के पुनस्स्थापन और विकास को। लघु उद्योगो की श्रेणी मे आनेवाली औद्योगिक इकाइयॉ बडी औद्योगिक इकाइयो की शाखाओ के रूप मे काम कर सकती है। अत कृषि, दस्तकारियो, ग्रामीण, लघु और बडे उद्योगो एव सेवाओ के समग्र और समन्वित विकास की दिशा मे प्रयास करना चाहिये। इसके लिए कच्चे माल और कारीगरो की उपलब्धि को ध्यान मे रखते हुए ग्रामीण और कुटीर उद्योग की रचना और सम्भावना को उपयुक्त रूप मे विस्तृत करना है। यह काम इन उद्योगो को शामिल कर किया जा सकता है बिस्कुट, केश-तल, साबुन, बढईगीरी, लोहे के बर्तन, शौच के बर्तन, तैयार कपडे, कृषि-सरजाम और छोटे यत्र, हाथ के औजार, साइकिल के पुर्जे, पेट, वार्निश, फलो और तरकारियो की पैकिंग, कैनिग और आरक्षण, जॅम, जेली और चटनी बनाने तथा अन्य खाद्य वस्तुओ के उत्पादन आदि।

बम्बई : १४ जुलाई १९६४ —जगदीश नारायण वर्मा

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल. एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५ तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४। वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ पैसे।

भारतीय भाषाओं के दैनिकेतर पत्रों में, वार्षिक पत्रों के अलावा, खादी ग्रामोद्योग को १९६३ में श्रेष्ठ छपाई और सजावट के लिए प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ है। मुद्रण और आकल्पन राजपुरस्कार का यह नवम वर्ष है।

खादी ग्रामोद्योग
ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष · सितम्बर १९६४ · द्वादश अंक

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नहीं है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखो पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस) के पते पर भेजें। टेलीफोन न ५७१३२९।

इस पत्र में प्रकाशित लेखो में व्यक्त विचार आवश्यक नहीं कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति : २५ पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिये : असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ (ए एस)

इस अंक के लेखक

उछरगराय नवलशकर ढेबर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	—खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
अक्षय कुमार करण	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सदस्य-सचिव।
सुहास चटर्जी	—सिलचर (असम) स्थित कछार कालेज मे इतिहास विभाग के अध्यक्ष।
मुहम्मद मोहसीन	—अलीगढ (उत्तर प्रदेश) स्थित मुस्लिम विश्वविद्यालय के वाणिज्य विभाग मे लेक्चरर।
वेकटेशन् पद्मनाभन	—मद्रास स्थित मद्रास राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सचिव।
देवेन्द्र कुमार गुप्त	—खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य, इन्दौर (मध्य प्रदेश)।
एन वाय खेर	—पूना स्थित कोऑपरेटिव ट्रेनिंग सेण्टर के प्राचार्य।
जशभाई झवेरभाई पटेल	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की गोबर गैस योजना के निर्देशक।
भारत भूषण कसाल	—गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) स्थित एच एम एच कालेज मे वाणिज्य विभाग के अध्यक्ष।
माखन लाल भट	—वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित कृषि-आर्थिक अनुसधान केन्द्र में प्रवर अनुसधान सहायक।
तडलम सोमसुन्दर यशवत	—मद्रास विश्वविद्यालय के कृषि-अर्थशास्त्र अनुसधान केन्द्र मे प्रवर अनुसधान-कर्त्ता।
नेदुमरम् सुन्दरराजअय्यगार तिरुवेकटाचारी	—मद्रास विश्वविद्यालय के कृषि-अर्थशास्त्र अनुसधान केन्द्र मे अवर अनुसधान-कर्त्ता।
नवीनचन्द्र कृष्णप्पा तिंगलाया	—बम्बई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग मे अनुसधान सहायक।
सुभाष चन्द्र सरकार	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित **खादी ग्रामोद्योग** और **जागृति** के सम्पादक।

बढ़ते मूल्य

बजरंगराय न. ढेबर

कीमतों मे वृद्धि अस्वाभाविक है और वह महान चिन्ता का विषय बन रही है। स्थिति में सुधार लाने के लिए प्रस्तुत लेख में चन्द सुझाव पेश किये गये हैं।

आज की ज्वलत समस्या है बढते मूल्य। दो प्रमख काग्रेस मदस्यो ने यह कहा बताया कि लोगो को वर्तमान मूल्य वृद्धि योजित विकास के सामान्य परिणाम-स्वरूप स्वीकार करनी चाहिये और कटिनाइयो को राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप मे सहना चाहिये। मै उनसे तथा उन लोगो से, जोकि वैसे ही विचार रखते है, नम्रतापूर्वक यह कहना चाहूँगा कि वे कतई गलत है, क्योकि देश मे पहले से ही अपार दु ख और विपदा व्याप्त है, जोकि मूल्यो मे असामान्य वृद्धि से और भी तीव्र हो गये है।

अस्वाभाविक वृद्धि

मूल्य वृद्धि की मात्रा बहुत बडी है। जनवरी १९६३ मे थोक बिक्री मूल्य सूचकाक १०८ ७ था। जनवरी १९६४ मे यह १२० था। जून १९६३ मे थोक बिक्री मूल्य सूचकाक १२२ ३ था और जून १९६४ मे १३५ ६। सबसे अधिक वृद्धि अनाज के मूल्य मे पायी जाती है। मई १९६३ मे गेहूँ का मूल्य सूचकाक ८७ ८ था, और मई १९६४ मे वह सूचकाक ११३ ६ था अर्थात् २० प्रति शत से अधिक वृद्धि हुई। जून १९६३ मे वह ९१ या ९२ था और जून १९६४ मे ११७। मोटे अनाज के मामले मे भी जनवरी से मई १९६३ के बीच जो सूचकाक ११० और १२८ के बीच झूलता था, वह जनवरी से मई १९६४ मे बढ कर १२३ से १५० हो गया।

विकास खर्च, बढती आबादी, शहरीकरण और आबादी के एक वर्ग की आय मे वृद्धि मूल्यो को बढाते है। परन्तु उपर्युक्त आकडो के अनुसार तीव्र मूल्य वृद्धि की व्याख्या सिर्फ इनसे ही नही की जा सकती। इसके और भी गहरे कारण है और यह समझना आवश्यक है कि उनसे अधिक खतरा है। सन् १९६४ जनता और सरकार के लिए गम्भीर चेतावनी का वर्ष है।

राजनीतिक-वित्तीय-प्रशासनिक कारण

इन बढते मूल्यो के कारणो की खोज—जिनकी वजह से अपार दु ख फैल गया है, असल मजदूरी मे बहुत कमी आ गयी है और सब जगह चिता व्याप्त हो गयी है—राजनीतिक, वित्तीय और प्रशासनिक स्तरो पर नीतियो और कार्यान्वय के क्षेत्र मे करनी है।

नीति-स्तर पर कृषि विभाग की बहुत बडी उपेक्षा की गयी है। गम्भीरतापूर्वक विचार न कर लापरवाही से विचार किया गया है, मौखिक सेवा की गयी है और लगातार प्रयोग किये गये है। यह प्रक्रिया १९५०-५१ मे आरम्भ हुई। वर्ष १९५०-५१ मे केन्द्रीय खाद्य मत्रालय का सिद्ध उपाय था अमेरिका से बडे पैमाने पर अनाज का आयात—अकाल रोकने के लिए नही, बल्कि सदा मौजूद रहनेवाली कमी को दूर करने के लिए नियमित कार्य के रूप मे। स्वर्गीय श्री रफी अहमद किदवई ने, जोकि बाद मे खाद्य मत्री बने, विभागीय आकडो को एक ओर रख दिया और, अपने पूर्वाधिकारी द्वारा पेश किये गये आर्डर तथा अनुकूल बारिश की मदद से, नियत्रण हटा कर ठीक ही किया। दुर्भाग्यवश उनके दुखद निधन के बाद कृषि विकास, विशेषकर अन्न उत्पादन के क्षेत्र मे, के लिए यथार्थ नीति नही अपनायी रखी जा सकी। इसके विपरीत श्री

किदवाई ने जो विश्वास पैदा कर दिया उससे, उनकी मृत्यु के बाद, नेताओ ने यह समझना शुरू कर दिया कि समस्या का हल हो चुका है और यहाँ तक कि द्वितीय योजना के उद्देश्यो मे कृषि का करीब-करीब कोई नाम ही नही था।

श्री किदवई के निधन के बाद केन्द्रीय खाद्य मत्रालय कई व्यक्तियो के हाथो से होकर गुजर चुका है और भिन्न प्रकार की नीतियो का पालन कर चुका है जिनमे से प्रमुख है अन्न स्वावलम्बन, अनाज का राजकीय व्यापार अन्न नीति का अन्तिम उद्देश्य राज्य व्यापार, अनाज व्यापार का सहकारीकरण, वक्त-जरूरत के लिए स्टॉक रखना, पी एल ४८० पद्धति, विभागीय पद्धति, राज्यवार सम्भाग, कट्रोल नही और स्ट्रेटेजिक कट्रोल। यह सब सिवाय प्रयोग के और कुछ नही था। सरकार हमेशा एक ही दल के हाथ मे थी। मत्री बदल जाने से नीति भी बदल गयी। इतने महत्वपूर्ण मामले मे इस तरह की अकुशलता के कारण देश को दण्ड का भागी होना पडा है।

तीन अत्यावश्यकताएँ

जब तक कृषि के बुनियादी महत्व के निहितार्थ को पूरी तौर से और उद्देश्यात्मक विश्वास के साथ कार्यान्वित नही किया जाता, तब तक सब ओर अनिश्चितता, असतोष और बढते मूल्य की वर्तमान अवस्था मे कोई महत्वपूर्ण सुधार नही हो सकता। पर्याप्त उत्पादन, सुनिश्चित पूर्ति और आर्थिक अनुशासन, ये तीन चीजे आर्थिक आयोजन के लिए उतनी ही अत्यावश्यक है जितनी कि उपयुक्त तकनीके वित्तीय स्रोत और कठोर परिश्रम। प्रथम तीनो मे से हम किसी को भी छोड नही सकते। जिस हद तक हम इन पर ध्यान देगे, उस हद तक कीमते कम होगी।

अ पर्याप्त उत्पादन

जहाँ तक पर्याप्त उत्पादन का सवाल है, लक्ष्य निर्धारित करने के लिए बौद्धिक प्रयासो की कमी कभी भी नही रही है। तथापि, कार्यान्वय हमेशा पीछे रहा है। इसके तीन कारण है विभागो के उचित वितरण पर पर्याप्त ध्यान न देना, सरकारी तत्र की अयोग्यता और उत्पादको को अच्छी तरह सोच-समझ कर दिये जानेवाले प्रोत्साहन का अभाव। भूमि-सुधार का प्रभावी कार्यान्वय करने से बचा नही जा सकता। इसी तरह तृतीय और चतुर्थ योजना के लिए क्रमश ९ करोड टन और १२ करोड टन निश्चित खाद्यान्न लक्ष्याक निर्धारित करना है, मत्रालय की जिम्मेदारी पर वजन डालना है, किसानो को अच्छी कीमत देनी है।

आ सुनिश्चित पूर्ति

सुनिश्चित पूर्ति दूसरी अत्यावश्यकता है। यह काम वैज्ञानिक हाट-व्यवस्था का है। यह सम्पूर्णत सरकारी अथवा मिश्रित अथवा गैर-सरकारी हो सकती है। परन्तु इसका सगठन वैज्ञानिक ढग से ही होना चाहिये। देश के आकार और निजी व्यापार तथा प्रशासनिक सेवाओ की सीमा का ध्यान रखते हुये अर्थात् तर्कसगत आधार पर मार्ग प्रशस्त करना है। उत्पादन, ऋण और बिक्री को इस तरह एक दूसरे से जोडा जाना चाहिये कि बिक्री के लिए बचा हुआ अतिरिक्त माल गलत लोगो को न बेच दिया जाय। वितरण-पद्धति की कमी इस तथ्य से बिल्कुल सामने आ गयी है कि देश के एक भाग मे स्टॉक रहने पर भी दूसरे भाग के बाजारो मे मूल्यो को बढने से रोकने के लिए उसे ठीक समय पर बेचना सम्भव नही हुआ है।

इ आर्थिक अनुशासन

तीसरी चीज है उचित वित्तीय प्रबन्ध। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था आर्थिक आयोजन के प्रतिकूल नही है, परन्तु मिश्रित अनुशासन की बात तो सोची ही नही जा सकती। सफल विकासशील देशो के विकासकालीन अनुभवो का हमने कोई लाभ नही उठाया है।

१ सादगी

हमने सादगी को एक बागी रद्द कर दिया है। समृद्ध पश्चिम की स्पर्धा करने के जोश मे हमने हजारो वर्षों

की परम्परागत राष्ट्रीय जीवन-पद्धति, जिसमे आवश्य-कताओ पर नियत्रण करने पर बल दिया जाता है, को छोड समय से पूर्व ही आधिक्यवाली अर्थ-व्यवस्था के मूल्यो की प्रतिष्ठा करने की कोशिश की।

२ गुप्त धन

हम गुप्त धन की शिकायत करते है। यह हुआ कैसे ? स्वर्गीय डा जान मथाई जैसे मध्यमार्गी और उदार विचारवाले व्यक्ति ने भी वस्त्रोद्योग जाच समिति के प्रतिवेदन मे 'आय' पर सीमा बाधने का सुझाव दिया था। हम उस प्रतिवेदन को मानने से इकार करते है। हम यह समझते है कि सामन्तशाही नियत्रण से कर की चोरी, सट्टा बाजार, काली रकम और घुसखोरी को रोक सकेगे। हर चेतावनी के बाद यह सम्भव नही हो सका है तथा हम अपने पुराने खयाल को ही और जोर से पकडे रहे, जिससे गुप्त धन की विचित्र अवस्था पैदा हो गयी है।

क्या इस सम्बन्ध मे हमारी कोई वैसी नीति है, जोकि समुदाय की कीमत पर जमा हो रहे धन को रोकेगी भूतकाल मे अनुचित तरीके से जमा किये गये धन को भी सामने लायेगी ? हमे दोनो ही काम करने है। भविष्य मे धन इकट्ठा न हो सके, इसके लिए शहरी आय पर सीमा का बाधना उतना ही जरूरी है, जितना कि पहले जमा किये गये धन के घातक परिणामो से बचने के लिए उपयुक्त रूप मे परिकल्पित विमुद्रीकरण अथवा उतना ही प्रभावी कोई अन्य उपाय करना। गुप्त धन को बिना देर किये किसी भी तरह से प्रकट लाना ही चाहिये। यदि ऐसा नही हुआ तो लोकतात्रिक प्रणालियो का उपयोग शोषण के लिए किया जायेगा, जिससे लोकतन्त्र पर से जनता का विश्वास उठ जायेगा, जिसकी स्थापना के लिए उसने हमे अधिकार सौपा है, और सामाजिक मूल्य समाप्त हो जायेगे।

३ मुद्रा-परिचालन

परिचालित मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि हुई है। जबकि स्वर्ण नियत्रण आदेश ने स्वर्ण तस्कर व्यापार मे पैसा लगाने का रास्ता बन्द कर दिया है, सटोरिये और मुनाफा-खोर अब पण्य वस्तुओ मे पैसे लगा रहे है। जैसा कि आज हम देखते है, सिर्फ व्यापारी ही सट्टेबाजी और मुनाफा-खोरी नही करते। इसमे सभी वर्ग के लोग लगे है, बडे-बडे कृषक भी। प्रशोधन विभाग को, जोकि अनाज का व्यापार भी करता है, दिये जानेवाले अग्रिम पर भी रोक लगाने की आवश्यकता है। इस विभाग को प्रशोधन के लिए आवश्यक स्रोत उपलब्ध किये जाने चाहिये, परन्तु व्यापार के लिए नही।

४ पी एल ४८०

पी एल ४८० पर बहुत अधिक निर्भर करने की हमारी नीति पर भी वित्तीय दृष्टि से विचार करने की आव-श्यकता है। पी एल ४८० विविध तरीको से मुद्रा पूर्ति को और बढाता ही जाता है। मै पी एल ४८० समाप्त कर देने का आग्रह नही कर रहा हूँ। परन्तु पी एल ४८० उत्पादन के मामले मे सतोप पैदा करता है। जिस तरह से यह खर्च करने के लिए प्रेरित करता है, वह भी उतना ही खराब है। इसे खतरनाक खपत की वस्तु समझनी चाहिये।

५ निर्यात

हमारी निर्यात नीति पर भी, मूल्यो पर इसके प्रभाव की दृष्टि से पुनर्विचार करने की जरूरत है। किसी भी दर पर प्राथमिक वस्तुओ की पूर्ति के मामले मे घरेलू आवश्यकता से निर्यात माग का समन्वय किया जाना चाहिये।

६ बैंकिग

आर्थिक अनुशासन की सूची मे 'बैंकिग' का नाम भी जोडा जाना चाहिये। भारतीय बैंकिग किसी भी स्वतत्र देश की बैंकिग की तरह नियत्रण के विरोध मे है। यह बहुत ही सूक्ष्मग्राही है। इससे कठिनाइयाँ पैदा होती है। जिस क्षण कोई नियमन और नियत्रण की बात करता है, पैसे जमा करनेवाला घबडा जाता है। तथापि, इसका परिणाम यह निकलता है कि बडे-बडे उद्योगपति और

पूजीपति–जिनका बाजार मे प्रभाव है– कितनी भी धनराशि प्राप्त कर लेते है, जबकि उन व्यक्तियो को बचे-खुचे पर ही निर्भर करना पडता है जिनकी कही पहुँच नही है। इसमे एक ओर तो आर्थिक स्रोतो का निराशोन्मुख वितरण होने लगा है और दूसरी ओर काफी हद तक धन और आय का सकेन्द्रण हो गया है। इससे प्रतियोगिता नामक चीज क्षेत्र से हटती जाती है, जोकि गैर-सरकारी क्षेत्र को योग्य बनाये रखने तथा उसमे थोडी और शालीनता विकसित करने का बहुत बडा कारक है। इसका विशुद्ध परिणाम यह निकलता है कि भारतीय बाजार पूजीपतियो के लिए एक सर्वाधिक सुरक्षित बाजार है। कमी है, माग है और प्रतियोगिता नही है। इस प्रकार बडे बडे पूजीपति इस हिसाब मे काम करते है कि उनका कोई मुकाबला करनेवाला ही नही है तथा वे नये उद्यमियो को पनपने नही दे सकते और मुहमागी कीमत ले सकते है। इस काम मे उन्हे बैको और निवेश न्यासो का पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त है। नये उद्यमियो को निरुत्साहित किया जाता है और प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है, जिसमे यदि एकाधिकार नही तो अल्पाधिकार का जन्म तो होता ही है।

७. आय, वेतन, मजदूरी और लाभ

यदि मूल्यो को नियत्रित करना है तो अन्तत आर्थिक अनुशासन को आय, लाभ, वेतन और मजदूरी की ओर भी देखना है। वस्तुओ की कीमत माग तथा पूर्ति की मात्रा पर ही निर्भर करती है। माग और पूर्ति को प्रभावित करनेवाली हर चीज को नियत्रित करना है। जब तक हम उन्हे नियत्रित नही करते, वेतन को भी नियत्रित नही कर सकते। अन्यथा रोक-थाम अनुचित होगी।

तत्काल कार्यवाही के लिए सुझाव

इस प्रकार, मूल्य राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के अच्छे अथवा बुरे प्रबन्ध का अन्तिम परिणाम है। अच्छा प्रबन्ध सुनिश्चित करना सरकार की क्षमता पर निर्भर करता है। मेरे मतानुसार तत्काल ही निम्न उपाय किये जाने चाहिये (अ) दीर्घ-कालीन आधार पर, यह सम्पूर्ण आश्वासन देने की आवश्यकता है कि किसी भी हालत मे कृषि उत्पादन मे वृद्धि एक निश्चित न्यूनतम मे नीचे नही गिरने दी जायेगी।* इसका अर्थ होगा कृषि विभाग मे अति प्रसगानुकूल नव चेतना। इसी प्रकार असफलता अथवा कमी के लिए जिम्मेदारी सौपने, कृषि वर्ग के लिए परमावश्यक वस्तुओ को उपयुक्त प्राथमिकता और उसकी पूर्ति एवम उसके साथ ही अच्छी कीमत का ठोस आश्वासन देने की आवश्यकता है। (आ) लघु कालीन आधार पर इन बातो की आवश्यकता है (१) हमारी अर्थ-व्यवस्था मे गुप्त धन, एकाधिकार, सट्टेबाजी आदि जैसे विनाशकारी तत्वो को दूर करना। पुराने गडे धन को उखाडने के लिए विमुद्रीकरण कर और भविष्य मे गुप्त धन इकट्ठा न हो, इसके लिए आय पर सीमा बाध कर अथवा सरकार अन्य और किसी भी उपाय से यह काम कर सकती है, (२) जनता के पास जो अतिरिक्त धन है उसे धीरे-धीरे परन्तु निश्चय ही बाहर निकालना, (३) बैंकिंग पर प्रभावी नियत्रण, (४) गैर-सरकारी क्षेत्र का विकेन्द्रीकरण, (५) घरेलू आवश्यकताओ का निर्यात आवश्यकताओ के साथ समन्वय, और (६) आय, लाभ, वेतन तथा मजदूरी का नियमन।

कहा जा सकता है कि इससे सारी स्वतत्रता समाप्त हो जायगी और नियत्रित समाज का जन्म होगा। इस समस्या को अन्य दृष्टि से भी देखा जा सकता है कि क्या हम अपनी इन जिम्मेदारियो से बच कर अपनी स्वतत्रता तथा सम्पूर्ण समाज के अस्तित्व को ही खतरे मे नही डाल देगे ?

गाधीवादी सफलताओ का लेखा-जोखा लेना सम्भव है। लेकिन मै यह महसूस करता हूँ कि जब तक हम कृषि औद्योगिक सभ्यता की ओर धीरे-धीरे न बढे, ऐसा नही किया जा सकता। अन्तरिम अवस्था मे राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप मे ये उपाय काम मे लाये जाने चाहिये। ●

* इस प्रश्न पर मैंने अगस्त १९६४ के खादी ग्रामोद्योग मे प्रकाशित 'ग्राम्य विकास' विषयक अपने लेख में विस्तृत विचार किया है।

इजरायल में कृषि-उद्योग समन्वय

वैकुण्ठ ल. मेहता

इजरायल के अनुभव में ऐसी बहुत-सी बातें है जिनका हम लाभ उठा सकते हैं, विशेष कर, उद्योग के साथ खेती के सयोजन, और काम अथवा क्षेत्र के आधार पर कार्य करनेवाले अन्य अभिकरणो की कार्यशीलताओं के साथ समन्वय के मामले में।

गत चन्द वर्षो से कई समाजसेवी और समाज-विचारक हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे व्याप्त गतिहीनता को दूर करने हेतु कृषि-औद्योगिक विकास योजना अपनाने के लिए आग्रह करते आ रहे है। उनका कथन है कि इसी गतिहीनता के कारण हमारे सामाजार्थिक विकास के योजित कार्यक्रम के बावजूद देश मे गरीबी ने घर कर रखा है। इस विचार की गम्भीरता को समझते हुए ही योजना आयोग ने ग्रामीण उद्योग योजना समिति का गठन किया। सर्वोदय विचारधारावाले समाजसेवियो मे यह दृष्टिकोण उनके द्वारा ग्रामोद्योग कार्यक्रम को दिये गये नये मोड और समग्र विकास की योजनाएँ अपनाने के लिए ग्राम इकाई के विकासार्थ किये गये प्रयासो मे परिलक्षित है।

मूल उद्देश्य का सर्वोत्तम अनुसेवन करनेवाली सामाजार्थिक सगठन की नयी पद्धति विकसित करने के लिए हमारे प्रयास के दौरान, हममे से अनेक का ध्यान युगोस्लाविया और इजरायल जैसे देशो मे विकास की वर्तमान पद्धति की ओर आकर्षित हुआ है। ये दोनो ही छोटे देश है, और सिर्फ यही साम्यता है दोनो मे। युगोस्लाविया के मुकाबले इजरायल नया बसा देश है, दोनो की राजनीतिक प्रणालियाँ अलग है, दोनो का सामाजार्थिक स्वरूप भी अलग है। परन्तु दोनो ही अपनी अर्थ-व्यवस्था के सचालन मे जनता की अधिकाधिक भागीदारी प्राप्त करने का प्रयास करते है। इजरायल मे हाल तक कृषि ही राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का मुख्य अग थी। कृषि मे लगे लोग या तो किसी न किसी तरह की कृषि सहकारी समिति या माल और सेवाओ की पूर्ति करनेवाली अन्य किस्म की सहकारी समितियो के सदस्य है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप आवश्यक रूप से सहकारी है, जैसा कि हमने योजित किया है कि भारत मे होना चाहिये।

समग्रता और सहकार

इसलिए अपनी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को सहकारी आधार पर बहुविध बनाने मे इजरायल को जो अनुभव हुए, वे हम भारतवासियो के लिए बहुत लाभप्रद है। हाल ही मे प्रकाशित **'एग्रीण्डस'*** मे इसका सर्वोत्तम विवरण दिया गया है कि इस दिशा मे किस प्रकार धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ। हमारे देश मे कृषि-औद्योगिक विकास कार्यक्रमो के जो प्रवर्तक है, उनके पढने योग्य यह पुस्तक है। जब चीन ने जापान पर हमला किया, तब वहाँ (जापान मे) गाँवो मे सहकारी समितियों का गठन आरम्भ हो गया जिन्हे कि सैनिको ने पहले ही बाहर से प्राप्त अथवा शहरो मे निर्मित, जोकि अब खाली हो गये थे, माल देना बन्द कर दिया था। इस नयी किस्म के सगठन को इडस्को नाम दिया गया। नये विकसित हो रहे अभिकरण के लिए लेखक प्रो हलपेरीन ने **एग्रीण्डस** नाम जो दिया है, वह **एग्रीकल्चर** (कृषि) और **इण्डस्ट्रीज** (उद्योगो) शब्दो के प्रथम शब्दाशो को जोड कर दिया है, जोकि दोनो का समन्वय सुझाता है। लेखक के अनुसार सगठन की मूल और मुख्य समस्याएँ है (अ) कृषि,

---

* 'एग्रीण्डस', लेखक प्रो० नईम हलपेरीन (इटेग्रेशन ऑफ एग्रीकलचर एण्ड इण्डस्ट्रीज), रूटलेज एण्ट केगान पाल, लदन, १९६३, मूल्य ३५ शिलिंग।

सेवाओ और उद्योगो का समन्वय, (आ) प्रदेश के अन्दर पडोसी गाँवो मे सहकार।

प्रत्यक्ष है कि इजरायल मे कृषि और उद्योग को सयुक्त करने हेतु क्रमबद्ध योजित प्रयास किया गया है और वह भी लेखक के शब्दो मे "परम्परागत सम्पत्ति-गाँव" को कम अन्दाज करते हुए नही। लेखक बल देते हुए यह कहता है कि गाँव सिर्फ आर्थिक सत्य नही है, वह जीवन का एक प्रतिनिधि ढग है। "अत ग्राम समाज के साथ हमेशा एक विशेषता जुडी रही है।" जब हम भारत मे कृषि-औद्योगिक समाज की कल्पना करते है तो इन विशेषताओ को बनाये रखने और विकसित करने के अर्थ मे ही। औद्योगिक पद्धति ऐसी होनी चाहिये जोकि गाँव के अतिरिक्त श्रमिको को खपा ले और जीविका के साधनो को, ग्राम समाज के जीवन मे बिना किसी प्रकार का व्यवधान अथवा विच्छेद किये बहुविध बनाये। इस पुस्तक मे जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि सहकारी ढग से सगठित ग्राम समाज अपने नियमित जीवन की मुख्य बातो और अपनी जीवन-पद्धति को सुरक्षित रखने के लिए बहुत ही उत्सुक है।

कृषि से दूर

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन द्वारा आयोजित एक अध्ययन की खोजो के अनुसार आम तौर पर यह पाया जाता है कि विकसित अर्थ-व्यवस्थावाले अधिकाश देशो मे लोग खेती से दूर भागते जा रहे है। कई देशो मे तो कृषि मजदूरो की सख्या मे बहुत कमी हो गयी है। भारत मे इसकी अवस्था कुछ और ही है। खेती से जीविका प्राप्त करने-वालो का प्रातिशत्य कम नही हुआ है, बल्कि कृषि मजदूरो की सख्या बढती ही जा रही है। चूकि न तो कृषि क्षेत्रो मे वृद्धि और न ही सघन खेती का विकास इस वृद्धि की न्यायोचितता सिद्ध करता है, अत परिणाम यह निकला है कि पूर्ण और अर्ध बेकारो की सख्या बढ गयी है। यद्यि लोग गाँवो से शहरो की ओर जा रहे है तो उनमे अधिकाश वैसे ही है, जिन्हे गाँवो मे काम नही मिल पा रहा है, आकस्मिक मजदूरी भी नही। युगोस्लाविया और इजरायल की तुलना मे भारत मे जन-स्रोत का कम उपयोग इतना अधिक और व्यापक है कि हमे जिस ढग से अपनी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को बहुविध बनाने की कोशिश करनी चाहिये, वह उससे अलग होना चाहिये जिसका उन देशो तथा जापान जैसे विकसित अर्थ-व्यवस्थावाले देशो मे सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है।

फिर भी, इजरायल के अनुभवो मे बहुत कुछ ऐसा है जिसका हम लाभ उठा सकते है, विशेषकर कृषि को उद्योग के साथ जोडने मे तथा कार्यवाहक अथवा क्षेत्रीय आधार पर काम कर रहे अभिकरणो के कार्यो के साथ समन्वय करने मे। उनके विकास की पद्धति का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने के लिए नीचे **एग्रीण्डस** की चन्द विशेष-ताएँ पुन प्रकाशित की जा रही है।

१ कृषि सेवाओ, श्रेणीकरण, प्रशोधन, परिवहन और कृषि उत्पादनो के लिए वित्त प्रदान करने तथा कृषि एवम् अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कारखाने और कार्य-गृह स्थापित करने हेतु पडोस के अधिकाधिक गाँवो का सहकार प्राप्त करना,

२ विभिन्न किस्म (किबुज, मोशव आदि) के अधिकाधिक गाँवो को मिल कर क्षेत्रीय सहकार के आधार पर, जिस क्षेत्र के मध्य मे एक शहर हो, क्षेत्रीय ग्राम इकाइयाँ स्थापित करना, परन्तु हर किस्म के गाँव को अपनी जीवन-पद्धति को विकसित करते जाना चाहिये,

३ जहाँ तक सम्भव हो और तरजीहन सहकारी समिति के तौर पर उद्योग का सगठन करना, जिस पर विभिन्न किस्म की प्रवर्तक ग्रामीण सहकारी समितियो तथा उद्योगो के कर्मचा-रियो का सयुक्त स्वामित्व हो।

एग्रीण्डस के सहकारी गुण को सुरक्षित रखने के लिए आर्थिक पहल को नियत्रित किया जाता है, ताकि कृषि, ग्राम समाज और जीवन-पद्धति सरक्षित रहे। अकृषक विभाग के विकास पर चन्द सीमाएँ बाधनी है, ताकि कृषि और उद्योग के बीच का सतुलन न बिगडे। अत कृषि और सम्बन्धित सेवाओ के क्षेत्र मे प्रत्येक गॉव स्वतत्र रूप मे कार्य कर सकता है। ग्राम इकाई द्वारा इस प्रकार अपनाये गये गैर-खेतिहर उत्पादन मे कोई बाधा नही पहुँचती।

निर्बाध कार्य

इस पुस्तक मे सिर्फ सामान्य सिद्धान्तो का ही विवरण नही दिया गया है। इसमे वैसे अध्याय भी है जोकि इजरायल के विभिन्न क्षेत्रो की अवस्थाओ और आवश्यकताओ का विवरण देते है एवम् वर्तमान अभिकरणो, सहकारी समिति, ट्रेड यूनियन और वैधानिक सस्थाओ के कार्य-सचालन को ध्यान मे रखते हुए, इन क्षेत्रो की विकास योजनाओ का खाका पेश करते है। कुछ अन्य अध्यायो मे इस बात का अध्ययन किया गया है कि विकास योजनाओ, कार्यकर्त्ताओ के सगठनो और सहकारी बस्तियो का नगरपालिका अभिकरणो से किस प्रकार समन्वय किया जा सकता है।

भारत की तुलना मे इजरायल का आबादी-घनत्व बहुत कम है। मजदूरो को पूरी रोजगारी मिल रही है, फिर भी लेखक इस बात का आग्रह करता है कि सामाजिक विचारको और प्रशासको को रोजी पा रहे—जिनमे भूमि पर निर्भर लोग भी शामिल है—हर वर्ग के विकास के लिए योजनाएँ बनानी ही चाहिये। जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने पाया है, आम तौर पर यह धारणा है कि विकसित अर्थ-व्यवस्था मे भी जबकि कृषि जीविका प्रदान करने मे असफल है, तो उद्योग अपने कर्मचारियो को पर्याप्त जीविका नही प्रदान करता। अ श्र स के अध्ययन के अन्त मे लिखा है कि हमे क्या दिया जा रहा है, यह एक सामाजिक समस्या है, जोकि समाज-सुधार के लिए अपनाये गये तरीको से ही हल की जा सकती है। मुख्य आवश्यकता है ग्राम्य जीवन के लिए मजबूत सामाजिक और आर्थिक आधार प्रदान करते हुए सतुलित विकास की योजना बनाने की। लेखक का दावा है कि **एग्रीण्डस** के जरिये विकसित सहकार इस तरह के विकास मे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को और बहुविध बना, ग्रामो मे काम करने की सभावना और बढा तथा ग्राम समाज के विभिन्न वर्गो मे और अच्छा सामाजिक सम्बन्ध सुनिश्चित कर काफी योगदान दे सकता है।

पूना ९ अगस्त १९६४

जीवन के आदि से अत तक मनुष्य न जाने कितने ही सम्बन्ध बनाता और तोडता चला जाता है, पर उनमे से कुछ एक ऐसे होते है जिनकी याद विस्मृति की सूखी घाटी में अकस्मात किसी उच्छृखल पहाडी नाले के समान न जाने कैसी हलचल-सी मचा कर उसे आप्लावित कर देती है, और स्मृति के उन लघु पावन क्षणो में प्राणी जिस अलौकिक आल्हाद और अद्भुत सौन्दर्य को पा लेता है, वह अकथनीय है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

खादी और ग्रामोद्योगों के लिए संगठनात्मक स्वरूप

अक्षय कुमार करण

संगठन का एक ऐसा नया स्वरूप विकसित करने की तत्काल आवश्यकता है, जो खादी आन्दोलन को गतिशील तथा प्रभावशाली बना सके। भावी कार्यवाही के लिए लेखक ने प्रस्तुत लेख में कुछ सुझाव प्रस्तुत किये है।

पिछले चालीस वर्ष से हम खादी तथा ग्रामोद्योग का कार्य एक दिशा मे करते रहे। सन् १९२१ से १९४४ तक खादी एक विशेष दिशा मे विकसित हुई। सन् १९४४ मे गाधीजी ने उसे एक नया रूप दिया और उन्होने यह मत दिया कि "जो काते सो पहने और जो पहने वह काते।" उसी समय उन्होने सारे खादी काम को नयी दिशा देने का सकेत खादी जगत् के सामने रखा। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद खादी नव समाज-रचना का आधारभूत अग बने, इसकी तरफ गाधीजी ने उसी समय सकेत कर दिया था और कहा था कि हमे गॉव-गॉव मे फैल जाना चाहिये।

संगठन के स्वरूप मे परिवर्तन

पिछले वर्षो मे हमारी दृष्टि खादी काम के विस्तार की तरफ रही। पिछले दस वर्ष मे इसका विस्तार भी कम नही हुआ। जो काम पहले होता था उससे करीब-करीब बीस गुना काम बढा, लेकिन बीस गुना काम बढने के बाद भी देश की आर्थिक और सामाजिक रचना मे हमारा स्थान कहॉ है, उस ओर जब हम देखते है तो ऐसा लगता है कि हम जिस ओर जा रहे है उस ओर से हमे दूसरी तरफ मुडना चाहिये और गाधीजी ने जिधर जाने के लिये सकेत किया था उस तरफ जाने का हमारा प्रयास होना चाहिये। विनोबाजी भी अत मे हमारा ध्यान बराबर उस ओर आकर्षित करते रहे है। खादी के काम मे लगे हुए जितने और लोग थे वे भी समझने लगे कि जिस तरह के सगठन के द्वारा हम काम कर रहे है, उसकी सीमा आ गयी है। इस प्रकार के सगठन के आधार पर अब हम इसे आगे नही बढा सकते। अगर हमे खादी-काम को व्यापक करना हो और गॉव-गॉव मे ले जाना हो तो, आज के सगठन के स्वरूप मे हमे परिवर्तन करना ही होगा। आज के सगठन की एक सीमा आ गयी है। इसके द्वारा अब हम उस सीमा से आगे नही बढ सकते। देश मे गरीबी, बेकारी, अर्ध-बेकारी आदि समस्याएँ है। आज खादी ग्रामोद्योगो के अलावा दूसरा कोई जरिया दिखाई नही पडता, जिसके द्वारा देश के गरीब मे गरीब व्यक्ति के पास पहुँच कर उसे हम कोई उपयुक्त साधन दे सके।

त्रिविध कार्यक्रम

गत ६ अप्रैल को हमने खादी-ग्रामोद्योग के कार्य को इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही नयी दिशा देने का निश्चय किया। रायपुर सम्मेलन मे विनोबाजी के नेतृत्व मे सारे खादी और रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ ने सर्व सम्मति मे त्रिविध कार्यक्रम अपनाया। वह त्रिविध कार्यक्रम है (१) ग्रामदान, (२) शान्ति सेना और (३) ग्रामाभिमुख खादी, जिसमे ग्रामोद्योग आ ही जाते है। अगर हमे खादी तथा ग्रामोद्योगो को स्थायित्व देना है तो खेती और गो-पालन के काम को आधारस्वरूप दाखिल करना होगा और वह काम ग्रामदान से ही होगा। खादी एक विचार है, अहिसक समाज रचना का प्रतीक है। इसलिये अहिसक समाज रचना का स्वरूप जमाने के लिए शान्ति सेना भी उसका एक अभिन्न अग बन जाती है। इस प्रकार तीनो कार्य मिल कर एक ही त्रिविध कार्यक्रम की और एक ही उद्देश्य की पूर्ति के अभिन्न अग बन जाते है यानी बेकारी, बेरोजगारी

मिटाने के लिए खादी-ग्रामोद्योग, उन्हे आधार देने के लिए ग्रामदान, और ग्राम-परिवार को मजबूत और अहिंसक समाज रचना का स्वरूप देने के लिए शान्ति-सेना। इस प्रकार विकेन्द्रित समाजवादी लोकतत्र का आधार भी यह त्रिविध कार्यक्रम हो जाता है।

कार्यक्रम की सफलता इन चार बातो पर निर्भर है (क) निष्ठावान, विचारवान और त्यागी कार्यकर्त्ता, (ख) जन-जागृति, (ग) साधन, और (घ) सगठन। आधारभूत सगठन, कार्यकर्त्ता, साधन और जन-जागृति होते हुए भी अगर हमारे सगठन के बारे मे हमारे विचार स्पष्ट न हो तो हम उपर्युक्त तीनो चीजो का समाज-रचना को व्यवस्थित रूप देने मे उपयोग नही कर पायेगे, सलिए सारे कार्यक्रम की सफलता सगठन को व्यवस्थित करने मे है।

ग्राम इकाई

हमारे सगठन का स्वरूप क्या हो, यह हमारे लिये विचारणीय है। अब तक सगठन के द्वारा हम जिस हद तक पहुँचे है उससे हमे आगे बढना है। आज के सगठन का स्वरूप जितना हमे दे सकता था, उतना दे चुका है। विस्तार की दृष्टि से, गहराई की दृष्टि से, जन-नेतृत्व खडा करने की दृष्टि से हमे सगठन के बारे मे नये ढग से सोचना चाहिये। राष्ट्र-पिता महात्मा गाधी ने इसके सम्बन्ध मे अपनी कल्पना और योजना काफी पहले दे दी थी। उन्होने उस समय कहा था कि सच्चे ग्राम स्वराज्य की स्थापना के लिए हमे लाखो की सख्या मे कार्यकर्ताओ को तैयार करना होगा, जो गॉव-गॉव मे जा कर जम जाये और गॉव की प्रेरणा, गॉव का नेतृत्व, गॉव की जिम्मेवारी और गॉव का इन्तजाम गॉववाले स्वयम् कर सके, ऐसा प्रयास हो।

बापू ने कहा था कि हमारे सगठन की आधारभूत इकाई गॉव है, और सगठन का बडा से बडे क्षेत्र एक जिला है। जिले मे बडे सगठन की कल्पना को उन्होने बराबर टाला। खादी और ग्रामोद्योग मडल और कमीशन की रचना से खादी-ग्रामोद्योग के कार्यक्रम का बडा विस्तार सारे देश मे हुआ है। हमारे कार्य ने एक लाख गॉवो को स्पर्श किया है। कमीशन की ओर मे सघन क्षेत्र विकास योजना चला कर कुछ प्रयोग भी हुए है। उस अनुभव के आधार पर खादी-ग्रामोद्योग को केन्द्र मान कर समग्र विकास योजना के लिए हमने ग्राम इकाई योजना भी आरम्भ की है। उसके भी कुछ अनुभव हमारे पास है। इन सभी अनुभवो के आधार पर हमे भविष्य के सगठन के स्वरूप के बारे मे सोचना होगा, ताकि हम योजनाबद्ध और व्यवस्थित रूप से आगे बुनियाद जमा सके, और कार्य-विस्तार मे सुगमता हो।

देश मे पिछली तीन पच वर्षीय योजनाओ के द्वारा जनाभिक्रम जगाने के लिए लोकतत्रीय विकेन्द्रीकरण को दृष्टि मे रख कर एक नये प्रकार का विकेन्द्रित ढाचा खडा हुआ है, जो गॉव और जिले के बीच का है। वह है पचास हजार से लेकर एक लाख तक की आबादी के क्षेत्र का एक विकास खड। एक-एक गॉव की ग्राम सभा या ग्राम पचायत और इन पचायतो के समूह की एक पचायत समिति, यह इस सगठन का स्वरूप है। यह एक ऐसी इकाई है जिसके दायरे मे स्थानीय नेतृत्व खडा करके योग्य सेवको के द्वारा उस सीमा मे जिम्मेवारी उठाने और क्षेत्र का विकास करने का मौका और सम्भावना शासन को दिखाई पडती है। हम भी जब विकेन्द्रित ढग से विचार करते है तो हमारे सामने भी कार्यकर्त्ताओ का सगठन, कत्तिन और बुनकर की मुनासिब मजदूरी, खादी और ग्रामोद्योग का आज की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे स्थान, खादी तथा ग्रामोद्योग के माल का स्थानीय और बाहर की खपत का सगठन, लोगो मे खादी और ग्रामोद्योगो की प्रेरणा पैदा करना, लोगो की स्वाभाविक बदलती हुई जरूरतो की तरफ ध्यान देना, वैज्ञानिक साधनो का अच्छे से अच्छा उपयोग आदि सब आते है।

इसीलिये हमे भी ऐसा लगता है कि त्रिविध कार्यक्रम को ठोस रूप देने के लिए और विशेष रूप से खादी और ग्रामोद्योगो को ग्रामाभिमुख करने के लिए विकास खण्ड

के स्तर पर सगठन को हम पहले खडा करे तो एक-दूसरे के पूरक बन कर, प्राप्त शक्ति का अच्छा सयोजन करके, नीचे की इकाई–गाव–को मजबूती के साथ खडा कर सकते हे।

बुनाई उपदान योजना की सफलता

ग्रामाभिमुख खादी को सफल रूप देने के लिए मुफ्त बुनाई योजना का कार्यक्रम हमने स्वीकार किया है। इस कार्यक्रम की सफलता भी नीचे के स्तर के सगठन को मजबूत करने मे ही है। आज हमारा खादी कार्य जिस तरह से फैला है उसमे एकाएक हम गॉव के स्तर के सगठन को मजबूत करने में शायद सफल नही होगे। आज की वर्तमान सस्था जिले के स्तर पर सगठन को अवश्य ले जा सकती है, लेकिन गॉव और जिले के बीच जो विकास खड का एक ढाचा खडा हुआ है वह स्वाभाविक रूप से ग्राम विकास का कई माने मे केन्द्र बन रहा है। अगर हम विकास खड के स्तर के सगठन को एक इकाई मान कर आगे बढे तो मुफ्त बुनाई योजना सफल करने की दिशा में ठोस और योग्य सगठन खडा कर सकेंगे। साथ ही गॉव-गॉव मे काम फैलाने के लिए स्थानीय नेतृत्व भी प्राप्त हो सकेगा।

तीन स्तर

इस प्रकार हमारे सगठन के तीन स्तर होते है (क) ग्राम इकाई, (ख) विकास खड, और (ग) जिला इकाई। वास्तव में हमारा लक्ष्य तो गॉव-गॉव मे पहुँचने का है। एक-एक गॉव मे ग्राम परिवार की भावना जगे और सारे गॉव को एक सूत्र मे बाध कर गॉव की जिम्मेदारी उठाने के लिए गॉव खडा हो, इसके लिए तो ग्राम इकाई ही ठीक होगी, लेकिन इस ग्राम इकाई को सगठित करने के लिए हमे मध्यवर्ती कडी खडी करनी पडेगी जो ग्राम इकाई को सगठित करने और उसे स्वराज्य की तरफ ले जाने के लिए प्रवर्ती सस्था के रूप मे काम करेगी। इसलिए हमारा पहला कदम होगा प्रवर्ती सस्था के रूप मे विकास खड के स्तर पर सगठन खडा करना। सारे देश मे तीन हजार से कुछ अधिक विकास खड होगे और अगर आदिवासियो को मिला दे तो चार-पॉच हजार तक हो जायेगे। अगर हम पहले विकास खड के स्तर पर कार्य को व्यवस्थित कर ले और एक ठोस नेतृत्व खडा कर ले तो गॉव के सगठन को खडा करना हमारे लिए आसान होगा।

विकास खड के स्तर का सगठन दो तरह का होगा (क) रचनात्मक कार्य मे रुचि रखनेवाले और त्रिविध कार्यक्रम को भली प्रकार समझनेवाले कार्यकर्त्ताओ की एक समिति होगी जो गॉव मे वातावरण पैदा करने, नेतृत्व खडा करने और जन-मानस को मजबूत करने मे मददगार होगी, (ख) खादी–ग्रामोद्योग, खेती, गो-पालन के काम को आर्थिक दृष्टि से मजबूत करने तथा ग्रामीण अर्थ-रचना को बुनियादी ढग से बदलने के लिए आर्थिक जिम्मेवारी उठानेवाली दूसरी पजीकृत सस्था होगी या विकास खड के स्तर पर, आज जो सस्थाएँ काम कर रही है उन सस्थाओ की शाखा होगी जो सारे काम की आर्थिक बुनियाद मजबूत करने मे सक्रिय रूप से काम करेगी। इस प्रकार पहला काम यह है कि विकास खड के स्तर पर सर्वोदय और लोकतत्रीय समाजवाद के विचार को माननेवालो तथा सक्रिय कार्यकर्त्ताओ व सहानुभूति रखनेवालो की एक समिति हम कायम करे जिसे हम ग्राम स्वराज्य समिति या रचनात्मक समिति का नाम दे सकते है। देश के हर एक विकास खड मे इस प्रकार की समिति का जल्दी से जल्दी गठन हो जाय, इसको प्राथमिकता देनी चाहिये। इस कार्य की जिम्मेवारी सर्व सेवा सघ ही उठा सकता है। उसके नेतृत्व मे ही यह कार्य अच्छा होगा। चूकि खादी कार्य सारे देश मे फैला हुआ है, इसलिए सर्व सेवा सघ के मार्गदर्शन मे खादी सस्थाएँ और कमीशन पूरी तरह से मदद दे सकते है।

खण्डीय स्तर

द्वितीय, विकास खड के स्तर पर जो पजीकृत सस्थाएँ है, उनके विषय में भी सोचना है। आज सारे देश मे बडी-बडी सस्थाएँ काम कर रही है। पहले आवश्यक यह है कि ये खादी सस्थाएँ अपने काम को विकास खड के स्तर पर ले जाय और विकास खड के स्तर को इकाई मान कर गॉव-गॉव मे काम फैलाने की जिम्मेवारी ले। इन बडी सस्थाओ को विकास खड के स्तर पर एक सलाहकार समिति बनानी चाहिये, जोकि सस्था की तरफ से उस क्षेत्र के काम की जिम्मेवारी उठाने मे मददगार हो। इस तरह सारे देश मे बडी सस्थाओ के द्वारा कम से कम एक हजार के लगभग विकास खडो मे काम सगठित रूप से किया जा सकता है।

इसके अलावा और भी सस्थाएँ है जो काम कर रही है। उन्हे भी अपना काम विकास खड के स्तर पर ही

नियोजित करना होगा। मुफ्त बुनाई योजना को सफल करने के लिए भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि हर एक विकास खड के स्तर पर कम से कम एक-एक बुनाई केन्द्र हो जाय, ताकि उसके द्वारा धीरे-धीरे हम गॉव के स्तर पर उसे ले जा सके।

दो प्रकार का संगठन

जहाँ तक सम्भव हो विकास खड के स्तर पर धीरे-धीरे पजीकृत सस्था हो जाय, जिसमे एक-एक गॉव मे जो ग्राम इकाइयॉ खडी हो उनके भी प्रतिनिधि हो और जो विकास खड के स्तर पर एक स्वतत्र सस्था के रूप मे गॉवो मे मदद दे और उन्हे हर प्रकार का कच्चा माल तथा कामो के लिए सेवाएँ प्रदान करने का काम पूरी तरह से करे। इस प्रकार विकास खड के स्तर पर दो प्रकार का सगठन होगा। एक ग्राम नेतृत्व पैदा करने के लिए, और दूसरा गाव को ठोस आर्थिक ढाचा देने के लिए। इन दोनो सगठनो के द्वारा ग्राम स्वराज्य की गाडी को व्यवस्थित रूप से चलाना होगा। यह सगठन खडा हो जाने से फिर इसके द्वारा ही ग्राम इकाई मे खेती, गो-पालन, खादी और ग्रामोद्योग का कार्य होगा। गॉव-गॉव मे कच्चा माल पहुँचाने, पक्के माल के लिए वहॉ कारीगर तैयार करने, पक्के माल के विपणन की व्यवस्था करने तथा कुछ ऐसे उद्योग जोकि हरेक गॉव में सगठित नही किये जा सकते है उन्हे विकास खड के स्तर पर स्थापित करने का काम इस सस्था के द्वारा होगा।

ग्राम इकाई के स्तर पर

ग्राम इकाई के स्तर पर किस प्रकार का सगठन हो, यह भी सोचने की बात है। गॉव के स्तर पर सहकारी समिति ही सुलभ दिखाई पडती है, लेकिन इस सहकारी समिति का गठन, इसका विधान तथा इस प्रकार के गठन का विकास खड के स्तर की सस्था के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहे, इसके बारे मे इसके अनुरूप नियमावली तैयार करनी होगी। आज तक का अनुभव यह बताता है कि ग्राम इकाई के स्तर पर सहकारी समिति और विकास खड के स्तर पर एक व्यवस्थित पजीकृत सस्था ही योग्य और व्यावहारिक होगी। सहकारी समिति और सस्था का सम्बन्ध किस प्रकार का हो, यह वैधानिक दृष्टि से कैसे जमेगा, यह भी सोचना होगा।

विकास खड के स्तर पर सगठन जब खडा हो जाय तो, उनका समूह ही जिले के स्तर के सगठन का रूप लेगा। जिन जिलो मे बडी सस्थाएँ काम कर रही है वहाँ तो बडी इकाई ही जिला इकाई के रूप मे काम कर सकती है, लेकिन जिन जिलो में विकास खड के स्तर पर सस्थाएँ खडी हो जायें वहॉ उन सस्थाओ को मिला कर एक जिला स्तर पर सघ बनाना ठीक होगा। इस सघ का यह भी काम होगा कि जिन विकास खडो मे कुछ काम नही है उन मे भी काम को सगठित करने और सगठन खडा करने मे मदद करे। इसके अलावा यह सघ सारे कच्चे माल की व्यवस्था करेगा, विकास खड के स्तर पर उत्पादित वस्तुओ मे जो फाजिल पक्का माल है उसके बाजार की व्यवस्था करेगा और बाहर की जरूरतो को विकास खड के स्तर तक पहुचाने का प्रबन्ध करेगा। प्रारम्भ मे ऐसा भी हो सकता है कि आस-पास के दो-तीन जिलो को मिला कर एक सघ हो।

पक्की कड़ी

इस प्रकार अगर हमे सारे देश मे आज की समस्याओ को हल करने के लिए खेती, गो-पालन, खादी तथा ग्रामोद्योगो को ठोस रूप देना है तो सगठन की कडी पक्की करनी होगी। आज देश मे समस्याओ के हल का एकमात्र तरीका यह रचनात्मक कार्य ही है। एक उद्देश्य, एक विचार और पारिवारिक रूप मे जम कर काम करनेवाले खादी-ग्रामोद्योग के हजारो कार्यकर्त्ता ही आज एक परिवार के रूप मे बचे हुए है। लेकिन देश की जरूरत को पूरा करने के लिए उपयुक्त सगठन हमारे पास नही है। उपयुक्त सगठन खडा करना ही आज हमारा पहला कर्तव्य है और यह सगठन अगर हम खडा कर लेते है तो, आज देश मे जो ज्वलत समस्याएँ है उनके निराकरण करने मे, और हम कार्यकर्ताओ से जो अपेक्षा राष्ट्र-पिता रखते थे या आज विनोबाजी रखते है उसे पूरा करने मे, हम योग्य साबित होगे।

बम्बई १९ जुलाई १९६४

कछार का सामाजार्थिक सर्वेक्षण

सुहास चटर्जी

यद्यपि कछार एक कृषि-प्रधान जिला है, वहा के लोगो के आर्थिक जीवन मे मत्स्य-पालन, फल और बेत उद्योगो का भी महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक मणिपुरी घर मे हाथ करघा पाया ही जाता है। शैक्षणिक सुविधाए भी काफी बडे पैमाने पर उपलब्ध है और ग्रामीण क्षेत्रो के लड़के लडकियों में भी इन सुविधाओ का लाभ उठाने की प्रवृत्ति बढती ही जा रही है।

असम, विभाजन से पूर्व भौगोलिक दृष्टि से, तीन क्षेत्रो—पहाडी क्षेत्र, ब्रह्मपुत्र की घाटी और सुरमा घाटी—मे विभक्त था। सिलहट और कछार जिले सुरमा घाटी मे थे और आबादी घनत्व वहाँ अधिक था। भौगोलिक दृष्टि से यह घाटी बगाल के मैदानो मे जुडी हुई थी। चूँकि घाटी क्षेत्र का अधिकाश हिस्सा बगला भाषी है, इसलिए बगाल के साथ इसका सास्कृतिक सम्बन्ध भी था। सिलहट और कछार—खास करके कछार—चाय उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे। जिला सदर मुकाम सिलचर 'चाय के कस्बे' के रूप मे प्रसिद्ध हो गया। बराक नदी (जोकि अन्त मे सुरमा और कुशियारा के रूप मे दो धाराओ मे विभक्त हो जाती है) के तट पर बसा सिलचर उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे सुरमा घाटी मे चाय उद्योग का केन्द्र बन गया। कलकत्ता के साथ इसका अच्छा सम्बन्ध था। इस क्षेत्र मे 'स्टीमर कम्पनी' का काम अच्छी तरह फूला-फला। बगाल असम रेलवे सिलचर मे जाकर समाप्त होती थी। इससे कलकत्ता और सिलचर का रेल के जरिये बडा ठोस सम्बन्ध स्थापित था।

श्रम की उपलब्धि

उत्पादन बढाने के लिए अग्रेज बागान मालिकों ने पर्याप्त कोशिश की। मलेरिया से पीडित जिले के स्वास्थ्य और साफ-सफाई मे सुधार करने का भी उन्होने प्रयास किया। कालाज्वर फैल जाने से बागानी श्रमिक उसके बुरी तरह शिकार हुए, जिन्हे बिहार और उत्तर प्रदेश के अकाल-ग्रस्त जिलो से लाया गया था। कुछ सथाल भी श्रमिको के रूप मे काम करते थे। असम और दार्जिलीग के बागानी श्रमिको के मध्य अन्तर यह है कि दार्जिलीग मे इन श्रमिको की सख्या मे अच्छी-खासी तादाद स्थानीय पहाडी लोगो की होती है, जबकि कछार मे अधिकाश श्रमिक बाहर से आते हैं। सिलहट जनमत-सग्रह के वक्त इन श्रमिको को मत देने का अधिकार नही दिया गया था, क्योकि तत्कालीन अग्रेज सरकार ने मुस्लिम लीग की दलील के अनुसार इन लोगो को 'यायावर' जनसख्या की सज्ञा दी थी। आज स्वतत्र भारत मे असम विधान सभा और ससद मे उनका प्रतिनिधित्व है।

उद्योग

उन्नीसवी शताब्दी मे प्राय सभी बागानो के मालिक यूरोपवासी थे, लेकिन वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ मे कुछ बागान भारतीयो के स्वामित्व मे भी आ गये थे। कुछ स्थानीय लोगो ने १८६८ मे मिल कर एक जाइट स्टाक कम्पनी खोली थी। कुछ मामलो मे भारतीय मालिको का स्वार्थी यूरोपीयो के साथ सघर्ष हुआ और यदा-कदा उन्हे मात खानी पडी, लेकिन उन्होने मैदान नही छोडा। कछार और सिलहट कृषिक उत्पादन के लिए भी प्रसिद्ध हैं। इस क्षेत्र की मिट्टी बहुत ही उपजाऊ है। धान इस क्षेत्र की प्रधान उपज है।

कछार मे विभाजन से पूर्व आबादी घनी नही थी तथा कृषिक आबादी मे स्थानीय मुसलमान और अनुसूचित

हिन्दू जातियाँ थी। तुलनात्मक दृष्टि से मुसलमान सदैव ही हिन्दुओ से अच्छे कृषक होते है। कछार के मुसलमानो की माली हालत भी हिन्दुओ से अच्छी है। इस क्षेत्र के आर्थिक जीवन मे मछली पकडने के उद्योग का बहुत बडा महत्व है। बराक और उसकी सहायक नदियो मे मछली और कछुए खूब मिलते है। मछुए साल भर इन्हे पकड कर बेचते रहते है– जाडे और वसन्त मे विशेष कर। अतिरिक्त मछलियो को सुखा कर स्थानीय तथा कलकत्ता के बाजार मे ऊँचे भाव पर बेचा जाता है। विभाजन का इस उद्योग पर बहुत बुरा असर पडा है। आवागमन के विस्थापन, सामान भेजते समय औपचारिकताएँ बरतने, से सिलहट (पाकिस्तान) और कछार (भारत) दोनो के मछुओ को आवश्यक कठिनाइयाँ उठानी पडी है।

जनसख्या वर्ग

कछार का फल उद्योग भी उतना ही महत्वपूर्ण है। कछार तथा आसपास के पहाडी इलाको की नारगी बहुत लोकप्रिय है। कलकत्ता के बाजार मे मालदह आमो की तरह इन नारगियो की बहुत माँग है। प्रति दिन लाखो की तादाद मे नारगियाँ हवाई जहाज से कलकत्ता पहुचायी जाती है। सिलचर और करीमगज, जैसे स्थानीय बाजारो तथा छोटे-छोटे गाँवो मे भी इन नारगियो को अच्छा बाजार प्राप्त है। इस व्यापार मे काफी तादाद मे लोग लगे है और यह हिन्दुओ के हाथ मे है। पाकिस्तान से आये शरणार्थी अनन्नास उद्योग मे लगे है। इसके लिए लखीपुर बहुत प्रसिद्ध है। कछार के अनन्नास आकार मे बहुत बडे होते है, और स्थानीय रूप से उन्हे 'बनारस' कहा जाता है। यह उद्योग कछार के मुसलमानो के हाथ मे है।

इस जिले की आबादी किसानो की है। यह जिला सुरमा घाटी के ऊपरी मैदानो मे अवस्थित है। भारत मे यह एक सर्वाधिक उपजाऊ मैदान है। इसके अलावा यहाँ की भूमि अभी तक अछूती है। मुख्य कृषि उत्पादन चावल है। प्राय जिले के प्रत्येक ग्रामीण के पास जमीन है। शरणार्थियो को अपवाद-स्वरूप छोड दे तो भूमिहीन किसानो की समस्या यहाँ नही है। श्रमिकों के कठोर परिश्रम के फलस्वरूप जमीन खूब उपज देती है। मुसलमान किसान कठोर परिश्रमी है और यह कि उनकी अवस्था हिन्दुओ से अच्छी है। हिन्दू और मुसलमानो की जनसख्या का प्रातिशत्य क्रमश ५८ और ३८ है। जिले का उप-सम्भाग हैलाखण्डी इस क्षेत्र का अन्न भण्डार है। बागानी श्रमिक हिन्दू है। वे अधिकाशत बिहारी है। शरणार्थियो का प्रातिशत्य २२ है। वे विशुद्ध रूपेण किसान नही है। सिलचर, करीमगज और हैलाखण्डी शहरो मे उनका बहुमत है। कुछ शरणार्थी कृषि और मत्स्य-पालन कार्य मे लगे है।

कछार मे अनेक ऐसे श्रमिक है, जो बागान मालिको से पट्टे (लीज) पर ली गयी जमीन पर खेती करते है। चूकि ऐसी भूमि पर पहले खेती नही की गयी थी इसलिए वह बहुत उपजाऊ है। कछार के चाय बागान विशेष प्रकार के गाँव है। स्थानीय मणिपुरी लोग खेती और कुटीर उद्योग का काम करते है। वे बडे कठोर मेहनती और बलिष्ठ होते है। कभी इन स्थानो की साफ-सफाई बहुत बुरी थी, लेकिन आज सरकारी सहायता के फलस्वरूप स्थिति मे सुधार हुआ है।

हाथ करघा बुनाई

भाषा की दृष्टि से जिले की आबादी को तीन वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है। ये वर्ग है बगला भाषी, हिन्दुस्तानी भाषी और मणिपुरी भाषी। प्राय ७५ प्रति शत जनसख्या बगालियो की है। बागानी श्रमिको की भाषा हिन्दुस्तानी है। कछार मे मणिपुरियो की सख्या करीब दो लाख है और वे मणिपुरी भाषा बोलते है। जिले मे कुछ सख्या नागाओ की भी है– वे समूचे जिले मे बिखरे हुए है। इस जिले मे असमियो की सख्या प्राय नगण्य है। समूची गैर-बगाली आबादी बगला का इस्तेमाल करती है।

मणिपुरी लोग बुनाई कला के माहिर है। जिले के लखीपुर क्षेत्र मे प्रत्येक घर मे हाथ करघा पाया जाता

है। राज्य खादी ओर ग्रामोद्योग मण्डल का लखीपुर मे एक केन्द्र है, जो समूचे असम मे सर्वाधिक आकर्षक है।

पूर्वी पाकिस्तान से आये शरणार्थी भी हाथ करघा बुनाई मे लगे है। उनमे से ३६ तो परम्परागत बुनकर है।

कछार के पहाडी प्रदेश मे बेत उत्पादन की भरमार है ओर यहाँ का यह बेत उद्योग मुसलमानो के हाथ म है और विभिन्न प्रकार का उपस्कर, टोकरियाँ तथा अन्य फैंसी सामान बनाने के लिए प्रसिद्ध है। कामगार कुशल और अकुशल दोनो प्रकार के है। बास उद्योग का क्षेत्र मे प्रमुख स्थान है। सिलचर और करीमगज मे कुछ मकानो को छोड कर प्राय सभी घर बास के बने है। यहा तक कि सिलचर स्थित कछार कालेज का भवन भी बास का बना है। "कमला" नामक समुदाय के बहुत-से लोग इस उद्योग मे लगे है। बराक और उसकी सहायक नदियो मे प्राय पूरे वर्ष भर बाँस के गट्ठे पानी मे बहते हुए देखे जा सकते ह।

शिक्षा

कछार जिला शिक्षा की दृष्टि से भी विकसित है। इस जिले के शरणार्थी लडके और लडकियाँ शिक्षा-प्राप्ति के लिए बहुत उत्सुक है। जिन छात्र-छात्राओ के घरो मे शैक्षणिक वातावरण नही रहा है उनमे भी शिक्षा प्राप्ति की यह प्रवृत्ति पायी जाती है। दूर-दूर तक के गावो मे भी ऐसा देखा गया है कि छात्र-छात्राएँ पाँच-छ मील चल कर स्कूल मे पढने जाती है। जिले के सदर मुकाम सिलचर मे चौदह हायस्कूल अथवा हायर सेकण्डरी स्कूल है। असम के किसी दूसरे कस्बे मे इतने स्कूल नही है। सिलचर में एक लॉ कालेज, ए० बी टी कालेज, एक पॉलीटेकनीक स्कूल तथा एक सामान्य स्कूल के अलावा तीन और कालेज ह। इस जिले मे प्राविधिक शिक्षा का प्राय अभाव है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार असम मे शिक्षा के प्रातिशत्य की दृष्टि से इस जिले का तीसरा स्थान है।

कछार जिले मे साक्षरता - १९६१

एक हजार मे शिक्षितो की सख्या	एक हजार पुरुषो मे शिक्षित पुरुष	एक हजार स्त्रियो मे शिक्षित स्त्रिया
२८६	४०२	१५८

प्राथमिक शिक्षा नि शुल्क दी जाती है और उसका सगठन अच्छा है। शिक्षको मे महिलाओं की सख्या काफी है। पाठशालाओ मे शिक्षा का माध्यम बगला, हिन्दी और मणिपुरी है।

शहरीकरण

ऊपर से देखने पर असम ग्रामीण लगता है। लेकिन द्वितीय महायुद्ध से इसमे परिपूर्ण परिवर्तन हुआ है। कछार के कस्बो मे भारतीय पोशाक का स्थान पाश्चात्य पोशाक ने ले लिया है। गाँवो मे आबादी की कमी होनी शुरू हो गयी है, यद्यपि समस्या इतनी गम्भीर नही है। विभाजन से पूर्व कछार के प्रमुख शहर सिलचर ओर करीमगज बहुत छोटे थे, लेकिन आज उनका आकार काफी बढ गया है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार सिलचर असम का चोथा सबसे बडा शहर है। शहरो मे आबादी की वृद्धि से अनेक कठिनाइया खडी हो गयी है, आवास और साफ-सफाई की समस्या इनमे सबसे महत्वपूर्ण है।

सिलचर (असम) १९ जून १९६४

आर्थिक प्रगति की प्रारम्भिक अवस्था में औद्योगिक विकास के लिए वित्तीय व्यवस्था

मुहम्मद मोहसीन

प्रस्तुत लेख मे राष्ट्र के औद्योगिक विकास मे उद्योग वित्त निगम, राज्य वित्त निगम, राष्ट्रीय उद्योग वित्त निगम आदि जैसी माध्यमिक वित्तीय सस्थाओं की भूमिका का बचत के सास्थानीकरण की पृष्ठभूमि में विश्लेषण किया गया है।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे अन्य चीजो के अलावा छोटे और नये औद्योगिक कार्यो के विकासार्थ पूजी-प्रवाह की आवश्यकता पडती है। लेकिन औद्योगीकरण के दौर मे बचत सस्थानो का भी जन्म होता है। जैसे-जैसे आर्थिक विकास की प्रक्रिया आगे बढती है, जीवन बीमा कम्पनियो, वाणिज्य बैको, सहकारी बैको, निवृत्ति वेतन और भविष्य निधि तथा डाकघर जैसी बचत सस्थाएँ व्यक्तिगत बचत का अभियान चला कर काफी महत्व प्राप्त कर लेती है। अपनी खास जिम्मेदारियो और कानूनी गठन के कारण ये बचत सस्थाएँ घटती-बढती आमदनी करनेवाली नयी सस्थाओ के साथ सम्बन्ध स्थापित न कर पुरानी तथा जमी हुई सस्थाओ के निश्चित आमदनीवाले ऋण पत्रो मे पैसे लगाने को प्राथमिकता देती है।

इस प्रकार छोटे व नये उद्योग व्यक्तिगत बचत से वचित हो जाते है। फलत यदि बचत सस्थाओ से औद्योगिक सस्थाओ की ओर निधि प्रवाहित करने का प्रयास नही किया जाता है, तो औद्योगिक विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। इस प्रकार पूजी बाजार की इस कमी को दूर करने के लिए माध्यमिक (विशिष्ट) वित्तीय सस्थाओ की स्थापना की जाती है। भारत मे बहुत कुछ इन्ही परिस्थितियो मे सन १९४८ से बहुत-सी विशिष्ट वित्तीय सस्थाओ का जन्म हुआ है। इस लेख का उद्देश्य 'भारत के औद्योगिक विकास मे माध्यमिक वित्तीय सस्थाओं की भूमिका' पर प्रकाश डालना है।

औद्योगिक वित्त की मुख्य समस्याएँ

अनुमान है कि भारत ने आर्थिक विकास की 'उठान' (टेक ऑफ) अवस्था मे १९५२ मे प्रवेश किया।[1] अभी की अवस्था मे औद्योगीकरण, बाद की उस अवस्था से जबकि औद्योगीकरण "प्रभावशाली घटना" बन जाता है, "जड पकडता है।"[2] 'उठान' के दोरान नये उद्योग तेजी से बढते है और उनमे काफी मुनाफा होता है जिसका अधिकाश भाग फिर से नये उद्योग मे लगा दिया जाता है। परन्तु तीव्र आर्थिक विकास के मामले मे कम्पनियों के 'आन्तरिक स्रोत' उनकी आवश्यकताओ के अनुरूप नही रह पाते। परिणामत उद्योगो को काफी मात्रा मे 'बाहरी वित्त' प्राप्त करना होता है। इस प्रकार भारत मे, जहाँ कि औद्योगिक विकास की गति मुनाफे की गति से भी तेजी से बढी है, पच वर्षीय योजनाओं की प्रेरणा से चुकता पूजी, ऋण, उधार और व्यापारिक बकायों आदि जैसे बाहरी स्रोतो ने पूजी निर्माण (कुल निश्चित सम्पत्ति) मे ८० प्रति शत तक वित्तीय सहायता दी है।[3]

---

१ डब्ल्यू डब्ल्यू रोस्टो दि स्टेज ऑफ इकनॉमिक ग्रोथ, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९६०, पृष्ठ ३८।

२ वही, पृष्ठ ४०।

३ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन, सितम्बर १९६१, पृष्ठ १४३४।

जबकि 'उठान' की प्रारम्भिक अवस्था मे पुरानी ओर जमी हुई सस्थाओं को आधुनिकीकरण, विस्तार और बदलाव के लिए बाहरी स्रोतो की जरूरत पडती है, छोटे और नये उद्योगो को दीर्घ-कालीन वित्त प्राप्त करने हेतु बाहरी वित्तीय स्रोत की आवश्यकता पडती है। यह मामला खास कर उन उद्योगो का है जिनका सगठन वर्तमान कम्पनियो का विलय अथवा पुनर्सगठन कर नही किया जाता।

नयी कम्पनियाँ

बाहर से पूँजी प्राप्त करने मे बडी और जमी हुई कम्पनियाँ अपेक्षतया अच्छी अवस्था मे है। पुरानी सस्था का बाजार मे अपना मान-स्थान होता है और उनके पास जमानत देने हेतु पर्याप्त सम्पत्ति भी होती है। छोटी फर्मो के पास ये सुविधाएं नही होती। आय, अपर्याप्त सम्पत्ति और बाजार मे उद्योग के सचालको की पूरी जानकारी न होने से उन्हे (छोटी कम्पनियो) अधिकाश पूँजी चुकता पूँजी के रूप मे प्राप्त करनी होती है अर्थात् उद्योग के मालिको का वह अतिरिक्त योगदान होता है तथा उन्हे बाजार से बहुत ही ऊँची दर पर वित्त प्राप्त करना होता है। इससे उनके विकास मे बाधा पहुँचती है। परन्तु नये उद्योगों अथवा सस्थाओ का विकास बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योकि वे प्रणाली मे प्रति-योगात्मक भाव पैदा करते है और साथ ही आर्थिक विकास की कुल दर मे भी सहायता देते है।

बचत के स्वरूप मे परिवर्तन होने से नयी औद्योगिक सस्थाओ को वित्त देना बडा मुश्किल हो जाता है। 'उठान' की पूर्ण शर्तो मे एक यह है कि सरकार और बचत सस्थाओ की बचत उत्पादकता सयोजित करने की प्रारम्भिक क्षमता क्या है। इस प्रकार भारत मे १९५०–५१ से १९५८–५९ के बीच सरकारी प्रचार तथा सस्थाओ के सम्पर्क कार्य तथा अन्य कारणो से, जोकि विकास के प्रसग मे आते है (जैसे औद्योगीकरण, शहरीकरण, आय का पुर्नवितरण, सयुक्त परिवार प्रणाली के समाप्त होने से स्वाभाविक सामाजिक सुरक्षा मे कमी), व्यावसायिक बैंको की जमा बीमा बचत, निवृत्ति वेतन और भविष्य निधि, डाक-बचत जैसी सास्थानिक बचते क्रमश १८५४ प्रति शत, ३४८ प्रति शत, २७० प्रति शत और २२० प्रति शत बढ गयी है। इसके विपरीत मुद्रा चलन, स्वर्ण ओर भौतिक सम्पत्ति जैसी बचतो मे क्रमश ३९ प्रति शत, १६ प्रति शत और १७ प्रति शत की ही वृद्धि हुई है।[१]

आर्थिक विकास की पद्धति पर सास्थानिक बचत के विकास का बडा प्रभाव है। सामान्यतया सस्थाओ की खास जिम्मेदारियो और कानूनी गठन के अनुसार ही उनमे निवेश किया जाता है। प्रथम सम्पत्ति के एक मिश्रित भाग को उस रूप मे रखने का आग्रह करती है जिसे तुरन्त ही बिना किसी खास नुकसान के नकद मे बदला जा सके, जबकि बादवाला चन्द क्षेत्रो मे निवेश के लिए मना करता है। इस प्रकार पूँजी की सुरक्षा चाहने-वाली सास्थानिक बचतो और जोखम उठा कर काम करने-वालो के बीच दीवाल खडी हो जाती है। इससे अर्थ-व्यवस्था के निजी विभाग के मुकाबले सार्वजनिक विभाग को कुछ लाभ हो जाता है।

निवेश के प्रकार

फिर, नियमत सस्थाएँ अपने दायित्व के अनुरूप ही अपनी निधियाँ लगाती है। व्यापारिक बैंक, जिनका दायित्व लघु-कालीन होता है, 'समकक्ष नीति' का अनु-सरण करने मे दीर्घ-कालीन ऋण देने से कतराते है। सहकारी बैंकों द्वारा सयोजित बचतो से अधिकतर कृषि विभाग मे पूजी निर्माण के लिए निधि दी गयी है। डाक-घरो, निवृत्ति वेतन और भविष्य निधियो द्वारा इकट्ठी की गयी बचत रकमो का उपयोग सरकार करती है। जीवन बीमा निगम, जोकि दीर्घ-कालीन निवेशक है, मुख्यत सरकारी जमानतवाले कार्यो मे ही पैसे लगाता है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि सस्थाओ की निवेश नीति

---

१ रिजर्व बैंक ऑफ इडिया बुलेटिन, अगस्त १९६१, पृष्ठ १२०२।

जबकि 'उठान' की प्रारम्भिक अवस्था मे पुरानी ओर जमी हुई सस्थाओ को आधुनिकीकरण, विस्तार और बदलाव के लिए बाहरी स्रोतो की जरूरत पडती है, छोटे ओर नये उद्योगो को दीर्घ-कालीन वित्त प्राप्त करने हेतु बाहरी वित्तीय स्रोत की आवश्यकता पडती है। यह मामला खास कर उन उद्योगो का है जिनका सगठन वर्तमान कम्पनियो का विलय अथवा पुनर्सगठन कर नही किया जाता।

नयी कम्पनियाँ

वाहर से पूँजी प्राप्त करने मे वडी और जमी हुई कम्पनिया अपेक्षतया अच्छी अवस्था मे है। पुरानी सस्था का बाजार मे अपना मान-स्थान होता है और उनके पास जमानत देने हेतु पर्याप्त सम्पत्ति भी होती

व्यावसायिक वैको की जमा बीमा बचत, निवृत्ति वेतन और भविष्य निधि, डाक-बचत जैसी सास्थानिक बचते क्रमश १८५४ प्रति शत, ३४४ प्रति शत, २७० प्रति शत और २२० प्रति शत बढ गयी है। इसके विपरीत मुद्रा चलन, स्वर्ण और भौतिक सम्पत्ति जैसी बचतो मे क्रमश ३९ प्रति शत, १६ प्रति शत और १७ प्रति शत की ही वृद्धि हुई है।[८]

आर्थिक विकास की पद्धति पर सास्थानिक बचत के विकास का बडा प्रभाव है। सामान्यतया सस्थाओ की खास जिम्मेदारियो और कानूनी गठन के अनुसार ही उनमे निवेश किया जाता है। प्रथम सम्पत्ति के एक मिश्रित भाग को उस रूप मे रखने का आग्रह करती है जिसे तुरन्त ही विना किसी खास नुकसान के नकद मे

ने ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियो की आवश्यकताओ और स्रोतो के बीच शन्य का निर्माण कर दिया है। इस अन्तर की विशालता का अन्दाज इस तथ्य से मिल सकता है कि १९५१–१९५८ की अवधि मे पूजी इजरा नियत्रक द्वारा ५ अरब ५५ करोड रुपये की स्वीकृति दी गयी, जिस पर कम्पनिया कुल ३ अरब १ करोड रुपये प्राप्त कर सकी अर्थात् उस अवधि मे स्वीकृत रकम का करीब ५४ प्रति शत ही।[५] आवश्यक पूँजी एकत्र करने मे कठिनाई सम्पूर्णत देश मे बचत की कमी के कारण ही नही है, बल्कि जीवन बीमा कम्पनी तथा बचत सस्थाओ द्वारा औद्योगिक विकास कार्यो मे वित्तीय सहयोग देने मे बेरुखी से भी है।

फिर, नयी सस्थाओ के घटते-बढते अर्जक ऋण-पत्रो मे पूँजी न लगा कर जमी-जमायी व्यापारिक सस्थाओ के निश्चित अर्जक ऋण-पत्रो मे पूँजी लगाने को प्राथमिकता देना भी कम्पनियो के वित्तीय ढाचे मे मौजूद उच्च ऋण अनुपात के लिए जिम्मेदार है। उदाहरणार्थ, १९५६–६० की अवधि मे कम्पनियो के कुल स्रोतो के अनुपात मे ऋण का प्रति शत ३० १ था, बाहरी स्रोतो का ५१ ५ प्रति शत, निश्चित परि-सम्पत्ति का ४३ ९ प्रति शत। कुल स्रोतो मे साधारण हिस्सो का प्रति शत सिर्फ ९ ८ अथवा बाहरी स्रोतो का १६ ७ प्रति शत है। कम्पनियो के वित्तीय स्वरूप मे ऋण-पत्रो और अधिमान अशो का अपेक्षतया कम महत्व है। उनका योगदान कम्पनियो के कुल स्रोतो के एक प्रति शत से अधिक नही है।[६]

बचत के सास्थानीकरण का प्रभाव

कम्पनियो मे भारी कर्ज का मौजूद रहना विकासशील निगमित विभाग के लिए कमजोरी का एक चिन्ह है, क्योकि इसके अन्तर्गत कम्पनियाँ विस्तार और प्रवर्तन की जोखिम नही उठा सकती। परन्तु इस वित्तीय स्वरूप को अपनाने मे कम्पनियो को बाजार की परिस्थितियो के निर्देश के अन्तर्गत काम करना पडा है, क्योकि वे बाहरी स्रोतो पर निर्भर है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है बचत सस्थाएँ, जोकि व्यक्तिगत बचतो की मात्रा दिनोदिन बढाती ही जा रही है, अपने अनिश्चित स्वभाव के कारण इक्वीटी मे बहुत कम पूँजी लगाती है। भारत मे सस्थाओ को डिबेचर भी मुवाफिक नही बैठते, क्योकि उसमे उन्हे सरकारी ऋण-पत्रो मे रुपया लगाने जितना ही लाभ मिलता है, जबकि डिबेचर मे जोखिम अधिक है। यह जीवन बीमा निगम के विभागीय स्वरूप से जाहिर है, जोकि निगमित ऋण-पत्र मे सबसे अधिक पूँजी लगानेवाला है। निगमित ऋण-पत्रो मे जीवन बीमा निगम का निवेश इसकी कुल सम्पत्ति का सिर्फ १४ ८ प्रति शत है, जिसमे साधारण अशो का योग परिसम्पत्ति का ७ ६ प्रति शत है, अधिमान अश परिसम्पत्ति का ३ ३ प्रति शत है और ऋण-पत्र ३ ८ प्रति शत। सस्थाओ द्वारा लगायी गयी सीमित पूजी कम्पनियो की विकास आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बहुत अपर्याप्त है। अत कम्पनियो को पूँजी बाजार के असगठित विभाग से मजबूरन ऋण लेना पडता है। इससे छोटे उद्यमियो को नुकसान होता है, क्योकि उनके पास सस्थाओ की निवेश आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु वित्तीय जमानत देने के लिए कुछ खास नही होता।

अत यह स्पष्ट है कि बचतो का सास्थानीकरण, जोकि देश के औद्योगीकरण का परिणाम है, अपेक्षतया कमीवाले और विकासशील क्षेत्रो मे पूँजी के प्रवाह मे बाधा पहुँचाता है। यदि उत्पादक आधार पर निधि को प्रवाहित करने का प्रयास न किया गया तो भविष्य मे औद्योगिक विकास मे बाधा पहुँचेगी।

---

५ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन, फरवरी १९६१, पृष्ठ १७७।

६ रिजर्व बैक ऑफ इण्डिया बुलेटिन, सितम्बर १९६१ पृष्ठ १४३४।

उनके महत्वपूर्ण होने पर भी हम बचत संस्थाओं पर औद्योगिक वित्त की समस्याओं को प्रत्यक्ष रूप में हल करने के लिए अधिक दबाव नहीं डाल सकते। बचत संस्थाओं की अपनी सीमाएँ हैं; क्योंकि वे अपने भागीदारों की निधि की न्यासी हैं। न्यासी के तौर पर वे औद्योगिक विकास की जिम्मेदारी और जोखिम नहीं उठा सकतीं। और न ही उन्हें अपने भागीदारों के हित को बन्धक रखने तथा एक निर्धारित ब्याज दर पर सरकार को निधि दे देने की सलाह दी जा सकती है। दोनों ही विचार अति छोर पर हैं और देश के आर्थिक विकास पर उनका बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

माध्यमिक वित्तीय संस्थाएँ

अतः औद्योगिक वित्त की समस्या को माध्यमिक वित्तीय संस्थाओं के जरिये हल करने की कोशिश की जाती है। विशेषज्ञ संस्थाएँ, जोकि औद्योगिक विकास के सहायतार्थ जन्म लेती हैं, प्रत्यक्ष रूप में बचत संयोजन नहीं करतीं बल्कि अपनी निधि बचत संस्थाओं से अंश पूँजी, ऋण-बाण्ड आदि के जरिये प्राप्त करती हैं। संस्थाओं द्वारा जारी किये बाण्ड की गारण्टी केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारें देती हैं। अतः वे प्राथमिक बचत संस्थाओं की पूँजी के लिए सुरक्षा प्रदान करते हैं। इस प्रकार माध्यमिक वित्तीय संस्थाएँ प्राथमिक बचत संस्थाओं को उस जोखिम से मुक्त कर देती हैं जोकि विकासशील अर्थ-व्यवस्था में अर्न्तनिहित हैं। इस प्रकार भारत में १९४८ से बड़ी संख्या में माध्यमिक वित्तीय संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ, जैसे उद्योग वित्त निगम, राज्य वित्त निगम, राष्ट्रीय उद्योग वित्त निगम, भारतीय उद्योग ऋण और निवेश निगम। ये सब सरकार के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से ही सामने आयें हैं। ये संस्थाएँ अब भारत में औद्योगिक वित्त के मामले में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। इनका प्रत्यक्ष और परोक्ष योगदान कम्पनियों द्वारा बाहर से प्राप्त वित्त का एक-तिहाई है जोकि संगठित निजी औद्योगिक विभाग द्वारा वर्ष में कुल निश्चित निवेश का करीब १५ से २० प्रति शत है।[७]

यद्यपि औद्योगिक क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण योगदान है, संस्थाओं द्वारा यदि अपेक्षतया नहीं तो निश्चित रूप में दिनोंदिन अपनी भूमिका बढ़ाते जाना आवश्यक होगा। परन्तु अभी माध्यमिक वित्तीय संस्थाओं के पास अधिक प्रभावशाली भूमिका निभाने हेतु पर्याप्त स्रोत नहीं है। निवेश वित्त निगम का उदाहरण सामने है जिसके पास उसकी सामर्थ्य से कहीं अधिक सहायता के लिए प्रार्थना पत्र आये हैं, जोकि यह दर्शाता है कि वर्तमान वित्तीय संस्थाओं के स्रोतों को बढ़ाने की बहुत जरूरत है।

फिर, विशेषज्ञ माध्यमों द्वारा दी जानेवाली सहायता, निवेश ऋण निगम को छोड़ कर, मुख्यतः ऋण के रूप में ही दी जाती है। कम्पनियों के वित्तीय स्वरूप में ऋण का इतना बड़ा अनुपात जो पाया जाता है उसका महत्वपूर्ण कारण उसे ही मानना चाहिये। सन् १९६१ में उद्योग वित्त निगम अधिनियम को संशोधित किया गया, ताकि निगम उद्योग को साम्य (इक्विटी) पूँजी उपलब्ध करने योग बन सके। परन्तु जब तक निगम के पास पर्याप्त स्रोत नहीं हो जाते, इस समस्या का हल होने की आशा नहीं है।

जमानत की कठोर कसौटी

उद्योग वित्त निगम और निवेश निगम ने यद्यपि नयी संस्थाओं की स्थापना के लिए अपनी निधि का आधे से ज्यादा का वितरण कर दिया, परन्तु वह निधि बड़ी कम्पनियों को ही दी गयी है; क्योंकि छोटी कम्पनियों को वित्त देने का अधिकार राज्य वित्त निगमों को ही है। ऋण मंजूर करने में भी निगमों ने जमानत की बहुत कठोर कसौटी निर्धारित की है। सामान्यतया, ऋण-

७. रोजेन जार्ज : सम एक्सपेक्ट्स ऑफ इण्डस्ट्रियल फायनेन्स इन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, लंदन; १९६२; पृष्ठ : १०४।

विमक्त गोचर परिसम्पत्ति की जमानत पर ही ऋण दिया जाता है। वह पहले ही यह मान लेता है कि पर्याप्त साम्य पूंजी वर्तमान है। ऋण परिसम्पत्ति-मूल्य के आधे तक ही दिया जाता है। इस प्रकार निगम काफी सुरक्षित कदम उठाता है। उद्योग वित्त निगम से ऋण लेने में निगम के जाने पहचाने उद्यमियों की व्यक्तिगत जमानत भी देनी पडती है। फिर, इन शर्तों की पूर्ति करना नयी कम्पनियों के लिए बहुत कठिन है। अत वे निगम से काफी सहायता प्राप्त करने से वंचित रह जाती है। इन शर्तों में ढिलाई करने के विषय में निगम की सीमाएँ भी समझी जा सकती है। अधिकाश विशेषज्ञ सस्थाएँ सरकार द्वारा प्रवर्तित अभिकरण हैं, अत वे ससद के प्रति उत्तरदायी हैं। इस कारण उन्हे बहुत सोच समझ कर कदम उठाना पडता है।

औद्योगिक विकास बैंक

हाल मे वर्तमान सस्थाओं की भूमिका को विस्तृत करने अथवा विकल्प अभिकरणों की व्यवस्था करने के सम्बन्ध मे कई प्रस्ताव किये गये हैं। उनमें सम्भवत सर्व प्रमुख है, उद्योग विकास बैंक की स्थापना करने के लिए भारत सरकार द्वारा किया गया निर्णय। यह नया बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के उच्चस्थ समन्वयकारी अभिकरण के रूप में काम करेगा। यह उद्योग वित्त निगम और पुनर्वित्तदात्री निगम को मार्गदर्शन देगा ओर कुछ समय बाद दोनो निगमो को अपने अन्तर्गत ले लेने का अधिकार भी इसे है। उद्योग विकास बैंक सार्वजनिक ओर गैर सरकारी दोनो ही विभागो को मदद देगा। परमावश्यक परियोजनाओं को वित्त देने के मामले में यह बहुत ही उदार नीति का अनुसरण करेगा, भले ही वे सामान्य व्यापारिक स्तर के अनुरूप न भी हो। यह बैंक वर्तमान सभी सस्थाओं को मिला कर एक केन्द्रीय वित्तदात्री सस्था के रूप में काम करेगा ताकि राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम (जिसने ऋण देना अब बन्द कर दिया है) छोटे-छोटे उद्योग निगमों और उद्योग वित्त निगम में होनेवाले दोहरे काम को कम किया जा सके। उद्योगो के लिए आनुषगिक नीतियो के निर्माण की दिशा मे यह पहला कदम है।

निष्कर्ष

यह नयी सस्था सीधी भारत सरकार के सरक्षण मे काम करेगी। इस वजह से इसे सरकार से ब्याज रहित ऋण मिलेगा और यह रिजर्व बैंक के अतिरिक्त कोष का भी इस्तेमाल कर सकेगी। तथापि, आगे चल कर बैंक को स्वावलम्बी सस्था बन जाना चाहिये। स्रोत निर्माण की दिशा मे इसे प्राथमिक बचत सस्थाओं को उच्च ब्याज दर देकर पर्याप्त प्रेरणा देनी चाहिये। अभी व्यावसायिक बैंक और जीवन बीमा निगम विशेषज्ञ सस्थाओं में अपनी परिसम्पत्ति का नगण्य भाग निवेश रूप मे लगाते है। उदाहरणार्थ, जीवन बीमा निगम विभिन्न विशेषज्ञ समितियो के ऋण-पत्रों म जीवन बीमा कोष का सिर्फ एक प्रति शत ही लगाता है, क्योकि विशेषज्ञ समितियो द्वारा प्रदत्त ब्याज दर अधिक नही हैं। यदि जीवन बीमा निगम को अपनी निधि का करीब छ. अथवा सात प्रति शत इसमे लगाने को प्रेरित किया जाय और व्यावसायिक बैंक भी तदनुसार अपनी नीति में सशोधन करे, तो उद्योग विकास बैंक को और अधिक निधि मिल जायेगी। इससे भारत के औद्योगिक विकास मे यह अधिक महत्वपूर्ण और व्यापक भूमिका निभा सकेगा।

अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) १८ जुलाई १९६४

ग्रामीण उद्योग और लोकतान्त्रिक समाजवाद*

वें. पद्मनाभन

हमारे सामाजार्थिक स्वरूप की अनिवार्यताएँ इस बात की आवश्यकता पर जोर देती है कि हम एक कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए अपने को लगा दे। ऐसी व्यवस्था विकसित करने के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी और सगठनात्मक स्वरूप का विकास करना होगा। साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों मे कुशल कारीगरो के मध्य उद्यमशील प्रतिभा और प्रबन्ध कौशल का विकास करना भी आवश्यक होगा।

यद्यपि भारतीय समाज व्यवस्था से सभी परिचित है फिर भी, इसे कृपि-औद्योगिक ग्रामीण आधार के विकास अथवा कृपि को केन्द्रित औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए अन्न और कच्चे माल का उत्पादन करनेवाला बनाने की आवश्यकता की एक अलग दृष्टि से ही समझना अभी भी वाकी है। यह सर्वविदित है कि भारत गॉवो का देश है। इसकी अधिकाश आबादी गॉवो मे बसती है और उसके पास अवकाश के अपरिमित क्षण है। परन्तु और भी कई महत्वपूर्ण तथ्य है जिनका जानना आवश्यक है, यदि सम्पूर्ण देश के लिए एक विकास पद्धति बनानी हो।

इन मे से जिस तथ्य की व्यापक जानकारी करायी जानी चाहिये वह यह है कि आबादी के सर्वोच्च १ प्रति शत लोगो की सयुक्त आय निचले २५ प्रति शत लोगो की कुल आय से भी बडी है। दूसरा तथ्य यह है कि ग्रामीण आबादी का ७० प्रति शत प्रति दिन सिर्फ ५० पैसे ही खर्च कर सकता है, भले ही हमारी राष्ट्रीय आय का आधा कृपि से ही प्राप्त होत हो, और सिर्फ १७ अथवा १८ प्रति शत ही उद्योगो से प्राप्त होता है तथा सगठित विभाग से सिर्फ ९ अथवा १० प्रति शत। हम जिन वस्तुओ का निर्यात करते है उन मे कृषि उत्पादन से बनी चीजो की मात्रा काफी अधिक है, और दूसरे देशो मे उद्योगो का तेजी से विकास कर प्राकृतिक उत्पादनो के विकल्प स्वरूप जो अधिकाधिक कृत्रिम वस्तुएं प्राप्त की जा रही है, उनसे इन्हे खतरा है ही।

परिवर्तनशील सामाजार्थिक स्वरूप

विश्व मे हो रहे इन महत्वपूर्ण और बडे परिवर्तनो के प्रभाव से हमारे देश के सामाजिक ढाचे मे भी बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहा है। शीघ्र ही शिक्षा का प्रसार स्कूल जानेवाले तमाम बालको तक हो जायेगा, जोकि आगे चल कर जागृत नागरिक बनेगे और जिनमे धन्धो, कोई जरूरी नही कि कृपि ही हो, के जरिये अपने परिवार की आमदनी मे हिस्सा बॅटाने की लगन होगी। देश की अर्थ-व्यवस्था मे कृपि अथवा उद्योग से भी अधिक महत्वपूर्ण विभाग व्यापार बनता चला जा रहा है, जिसमे लाभ की अधिक सम्भावना है और इसका परिणाम यह है कि समाज के विकास के लिए जिन उद्यमी प्रतिभाओ की अत्यावश्यकता है, वे सब व्यापार की ओर खीची चली आ रही है।

मद्रास राज्य मे बडे पैमाने पर गॉवो मे बिजली का तीव्र विस्तार वह दूसरी बात है, जिस पर विचार करना आवश्यक है।

अब यदि हम विकास कार्यक्रम बनाने की तैयारी करे तो यह महसूस करेगे कि देश की अर्थ-व्यवस्था मे शीघ्र विकास और परिवर्तन लाने के लिए कृपि-

* मद्रास मे दिनाक १६ से १८ जुलाई १९६४ तक सम्पन्न लोकतान्त्रिक समाजवाद विषयक गोष्ठी के लिए तैयार किये गये शोध लेख पर आधारित।

औद्योगिक समाज की दृष्टि से सोचना आवश्यक है। अकेली कृषि इस बड़ी जागृत और शिक्षित आबादी को, जिसे परिस्थितियो से मजबूर होकर गॉवो मे ही रहना पड सकता है, रोजगारी नही दे सकती। औद्योगिक विभाग की प्रेरणा से ही कृषि के परम्परागत कला-कौशल मे परिवर्तन होगा। अत कृषि विकास और गॉवो के जीवन-स्तर मे सुधार के हित मे, नये वर्ग के युवको को रोजगारी देने के अलावा—अन्यथा कही वे निरुत्साहित और विरक्त वर्ग मे शामिल न हो जायें—कृषि और उद्योग को भी साथ ही साथ विकसित होना है।

ग्रामीण कारीगरो की भूमिका

इस प्रकार गॉवों मे उद्योगो के विकास की आवश्यकता स्वीकार करने के बाद हमारा दूसरा प्रश्न यह है कि लक्ष्य प्राप्ति के लिए किस प्रकार का सगठन तैयार किया जाना चाहिये। उद्योग के विकास के लिए उद्यमी और प्रबन्ध-कीय प्रतिभाएँ परमावश्यक है। इन प्रतिभाओ को एक नये वर्ग के लोगो ने, जिनका काफी प्रभाव है, हथिया लिया है, जिसका परिणाम यह निकला है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे उद्योगो के विकास ने एक दक्ष कारीगर को मजदूर और उद्यमियो को छोटा पूजीपति बना दिया है। यदि समाजवाद की प्राप्ति करनी है तो 'औद्योगिक समाज के लिए आयोजन' अन्तिम उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए नीचे से करना होगा। इस प्रक्रिया मे दक्ष कारीगरो को मुख्य भागीदार होना होगा। फिर, समाजवाद को वास्तविकता का रूप देने के लिए इन कारीगरो को सहकारी सघो मे सगठित होना होगा।

हमने हमेशा छोटे उद्योगो के सहकारी ढग से काम करने पर जोर दिया है, जैसे निर्माण और व्यापारिक इकाइयो की सहकारी समितियॉ, कच्चे माल खरीदने-वाली तथा उत्पादन का साधन रखनेवाली एव सदस्यो को बहुत कुछ मजदूर समझनेवाली समितियॉ। इस प्रकार की समितियो की अपनी ताकत है, अपने लाभ है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रो मे सभी कारीगरों को शामिल करने के लिए इस प्रकार की पद्धति से मुख मोडना होगा। यदि इस बात की जॉच करे कि हम देश मे किस प्रकार के कृषि-औद्योगिक आधार का निर्माण करना चाहते है, तो एक भिन्न किस्म की समिति की आवश्यकता स्पष्ट हो जायगी।

उन्नत तकनीकों मे प्रशिक्षण

गॉवो मे हजारो की सख्या मे बढई, लोहार, चर्म-शोधक, कुम्हार, ताड-छेदक आदि जैसे परम्परागत कारीगर है। शैक्षणिक सुविधाओ के प्रसार से परिवर्तित पद्धति होने पर भी ये कारीगर वर्ग, जिन्होने निशुल्क शिक्षा का लाभ नही उठाया है, काफी सख्या मे मौजूद रहेगे और ग्रामीण क्षेत्रो की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु उत्पादन करते रहेगे। उन्हे अपनी कारीगरी को काफी मात्रा मे विकसित करना है। परम्परागत कारी-गरो को प्रशिक्षण केन्द्रो मे लाना हमेशा एक समस्या बनी रही है। सम्भवत एक सहज उपाय यह होगा कि गॉवो के कारीगरो को छोटे-छोटे दलो मे विभक्त कर उनके रहने की जगह के आसपास ही नयी तकनीको और सुधरी कारीगरी की जानकारी दी जाय। कुछ और स्पष्ट रूप मे इस प्रकार भी कह सकते है कि बढइयो और लोहारो के मामले मे अभी भी जो लोग अपने धधों मे लगे है उन्हे छोटे-छोटे ओसारे **प्रदान किये** जाये, जोकि ५ से १० कारीगरो की जमात के लिए पर्याप्त हो। उनकी कारीगरी मे सुधार करने के लिए रियायती दर पर औजार बाटे जाये।

सामूहिक ओसारे

आधुनिक तकनालाजी अपनाने हेतु प्रेरित करने के लिए सभी कारीगरो को सामूहिक ओसारो मे काम करने के लिए चन्द शक्ति चालित यत्र दिये जाये, जैसे गोल आरी, बर्मा, जोडनेवाला यत्र, धौकनी आदि। इन ओसारो की देखभाल पचायत सगठनो के जरिये विस्तार अधिकारी (उद्योग) करेगे। यदि आवश्यक हुआ तो इस प्रकार के छ सामूहिक ओसारे रखनेवाली पचायत के लिए एक प्रशिक्षित शिक्षक की नियुक्ति की जा सकती

है, जोकि घूम-घूम कर कारीगरो को औजारो और यत्रो का उपयोग करना सिखायेगा। योजना को सफल और प्रभावी बनाने के लिए दूसरा कदम होगा सम्पूर्ण पचायत सघ के लिए, एक कारीगर सेवा समिति का गठन करना, जिसमे सामूहिक ओसारे, औजार और यत्र प्राप्त सभी कारीगर आ जायेगे। यह समिति कारीगरो को आर्थिक सहायता देगी, कच्चे माल उपलब्ध करायेगी और तैयार माल की बिक्री मे मदद देगी। इससे कारीगर अभी कृषको की जो सेवा कर रहे है वह करते रह सकेगे तथा उनके लिए उत्पादन के नये द्वार भी खुल जायेगे। यह समिति दरवाजे और खिडकियॉ, शहतीर, कृषि औजार और स्कूल तथा कार्यालयो के लिए उपस्कर (फर्नीचर) बनाने के काम भी हाथ मे ले सकती है। इस प्रकार के सगठनात्मक विकास की विशेषता होगी—ग्रामीण क्षेत्र की सेवा के लिए सहकारी प्रयास मे कारीगरो द्वारा सक्रिय भागीदारी।

इसी प्रकार की सुविधाएँ कुम्हारो को भी दी जा सकती है, जिन्हे ओसारो के अलावा मिट्टी गूथने के लिए छोटी-छोटी मशीने, मिट्टी धोने की टकिया, सामूहिक भट्टियॉ बिक्री के लिए परिवहन सेवाएँ आदि दी जा सकती है। कुम्हारो की दक्षता उन्हे सुराही, जल-शीतक, खपरैल, नलिकाएँ, लाख की पालिशवाले बर्तन आदि जैसी चीजो के निर्माण की नयी तकनीके बता कर विकसित की जा सकती है।

चर्मकारों के लिए

यह कार्यक्रम बडी सख्या मे पाये जानेवाले ग्रामीण चर्म-शोधको के लिए भी बहुत उपयोगी होगा। बिजली के प्रसार के कारण मशक की माग बहुत घट गयी है और जब तक वे जूते और चर्म वस्तुओ के लिए बहुत ही सुन्दर ढग से शोधित चमडा उत्पादन की ओर नही मुडते, उनके मिट जाने की आशका है। चर्म-शोधक बहुत ही पिछडे हुए कारीगर है तथा उन्हे सहानुभूति और सहायता की आवश्यकता है। उन्हे चर्म-शोधन ओसारे, वाटल छाल और चर्म-शोधन के अन्य वैज्ञानिक तरीके उपलब्ध कराने पर, उनके द्वारा की गयी चर्म-कमाई का स्तर बहुत सुधर जायेगा। इस तरह के चर्म-शोधन ओसारो के एक समूह के लिए एक समापन केन्द्र हो सकता है, जिसमे कि चन्द चर्म-शोधन ढोल और यत्र होगे तथा उन पर उस सेवा समिति का अधिकार होगा जिसके सदस्य क्षेत्र के सभी चर्म-शोधक होगे। अन्य किस्म के कारीगर भी है। उपर्युक्त आधार पर उनके लिए भी योजनाएँ बनानी होगी। ये चन्द तरीके है जिनके जरिये कारीगरो की लुप्त हो रही कारीगरी को सुधारा जा सकता है। नये उद्योगो को भी विकसित करना होगा। उन्हे अधिकाशत प्रशोधन कार्यो तक ही सीमित रखना होगा।

तकनालाजी का स्तर

सर्वाधिक प्रमुख कारक है तकनालाजी का एक स्तर अपनाना जोकि लुप्त हो रही कारीगरी के लिए एक बहुत ही ऊँची चढान साबित नही होगी और देश के साधनो के अन्तर्गत ही होगी और सैकडो-हजारो नही बल्कि लाखो लोगो को रोजगारी देने की क्षमता रखेगा। श्री ई एफ शुमाशेर के शब्दो मे "भारत मे श्रमिको का 'आधिक्य' है और पूँजी की 'कमी' तथा उसे तकनालाजी के एक स्तर की जरूरत है। अथवा प्रति कार्य स्थान पीछे पूँजी निवेश की जोकि पश्चिमी देशो की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है, जहॉ कि पूँजी का 'आधिक्य' है और श्रमिको की 'कमी'। अत प्रारम्भ के लिए मेरा यह सुझाव है कि निर्माण उद्योगो मे प्रति कार्य स्थान पीछे औसत निवेश—ग्रामीण औद्योगीकरण के व्यापक प्रसार के लिए उपयुक्त—एक हजार रुपये होगा, जिसमे भवन-निर्माण का खर्च शामिल नही है।"

संगठित विभाग के पीछे-पीछे

यदि हम देशी तकनीक का ऐसा स्तर प्राप्त करने मे सफल होते है तो औद्योगिक विकास के लिए बहुत बडी सख्या मे ग्रामीण केन्द्रो का निर्माण करना सभव होगा।

तब सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू आयोजन स्तर पर ठोस नीति बनाने से सबधित होगा, ताकि उन्हे विकास का मौका मिले और उस विभाग से अकेले ही मुकाबला न करना पडे जोकि उन्नत तकनीको का इस्तेमाल करता है। कसौटी यह होनी चाहिये कि अधिकाश स्थानीय आवश्यकताएँ ग्राम स्तर पर ही पूरी हो जायें। योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री अशोक मेहता के शब्दो मे "सरकारी क्षेत्र मे चन्द परम्परागत उद्योगो को विकेन्द्रित करना होगा और उन्हे विकसित हो रही कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था मे शामिल करना होगा।" विकास का अगला आधार होगा– लघु उद्योग विभाग द्वारा ग्रामीण विभाग को औजारो, यत्रो, गाँवो मे न तैयार हो सकने लायक पुर्जो तथा यत्र-मशीन फिट करने के मामले मे सक्रिय सहयोग देना। इसी प्रकार पूर्ण सगठित बडे उद्योगो को भी, जोकि विशेष कर कच्चे माल के प्रशोधन और उन वस्तुओ के उत्पादन से सम्बन्धित है जोकि समाज की अत्यावश्यकताओ की पूर्ति करती है, अपने वैसे उत्पादन को सीमित अथवा बन्द कर देना चाहिये ताकि वे ग्रामीण और लघु उद्योग विभाग पर उल्टा प्रभाव न डाले।

मैने अपनी बाते ग्रामीण क्षेत्रो के उद्योगो तक ही सीमित रखी है तथा औद्योगिक विभाग के बडे विकास के साथ समन्वय के प्रश्न पर विचार नही किया है। वर्तमान सन्दर्भ मे, यदि शीघ्र परिणाम प्राप्त करना और राष्ट्रीय आय को काफी बढाना है तो, अब तक बहुत अधिक नजरअदाज किये गये ग्रामीण उद्योगो पर ज्यादा जोर देना ही होगा।

युग का महान व्यक्ति वही है, जो अपने युग की आकाक्षाओ को वाणी प्रदान करे, युग को बताये कि उसकी आकाक्षाएँ क्या है और उन्हे पूरी करे। वह जो कुछ करता है, वह उसके युग का स्पन्दन और सार तत्व होता है, वह अपने युग को परिपक्व और परिमार्जित करता है।

—ह्वाट इज हिस्ट्री मे इ एच कार द्वारा हीगल का उद्धरण, पेग्विन बुक्स, लदन; १९६४।

विभिन्न ग्रामोद्योगों का सापेक्षिक महत्व

देवेन्द्र कुमार गुप्त

लेखक का सुझाव है कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न ग्रामोद्योगों के लिए बटित की जानेवाली निधि उनके महत्व के अनुपात में होनी चाहिये। उसका निर्णय इन बातों पर विचार कर किया जा सकता है। प्रथम, एक आम आदमी के पारिवारिक बजट में इन उद्योगों द्वारा उत्पादित विभिन्न प्रकार की उपभोक्ता सामग्री का सापेक्षिक स्थान द्वितीय, उनका निवेश-उत्पादन-अनुपात, तृतीय, उनके द्वारा प्रदत्त रोजगारी तथा उनका उत्पादन, और चतुर्थ, प्रत्येक उद्योग के भावी विकास की क्षमता।

सभी ग्रामोद्योगो का समान महत्व नही होता और उन सबके विकास की सम्भाव्यताएँ भी समान नही होती, इसलिए देश की अर्थ-व्यवस्था मे उनके सापेक्षिक महत्व का मूल्याकन करने की आवश्यकता है। अतएव कार्यक्रम और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ मे प्रत्येक उद्योग के सापेक्षिक महत्व का मूल्याकन करने के लिए कोई साधन मालूम करना चाहिये। इस दृष्टि से देखने पर निम्न बातो पर विचार करना वाछनीय होगा।

विभिन्न ग्रामोद्योग

यदि हम खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अधिकार क्षेत्र मे आनेवाले पन्द्रह उद्योगो पर विचार करे तो देखेगे कि प्रत्येक उद्योग के उत्पादन का आम आदमी की दैनिक आवश्यकताओ मे स्थान है, और एक सामान्य जन किसी उद्योग के उत्पादन पर वार्षिक रूप से कितना खर्च करता है, उस उद्योग के सापेक्षिक महत्व का मूल्याकन करने का यह एक मार्ग हो सकता है। जन साधारण के उपयोगार्थ विभिन्न उद्योग निम्न भिन्न-भिन्न उत्पादन उपलब्ध करवाते है (१) अन्न और धान प्रशोधन—चावल, (२) गुड-खाण्डसारी—गुड और खाण्डसारी, (३) ताड-गुड—गुड, (४) ग्रामीण तेल—तेल, (५) मधु-मक्खी पालन—शहद, (६) ग्रामीण चर्म—चर्म-उत्पादन, (७) अखाद्य तेल और साबुन—साबुन, (८) हाथ कागज—कागज, (९) ग्रामीण कुम्हारी—बर्तन, (१०) रेशा—रस्सी तथा अन्य रेशा उत्पादन, और (११) बढईगीरी और लुहारगीरी—काष्ठ तथा लोहे के उपकरण आदि।

पारिवारिक बजट मे स्थान

उक्त चीजो पर एक सामान्य नागरिक अपने परिवार के बजट मे से कितना प्रति शत खर्च करता है, इस सम्बन्ध मे कमीशन का आर्थिक अनुसधान निर्देशालय सर्वेक्षण कर सकता है अथवा किये गये सर्वेक्षणो मे ऑकडे प्राप्त कर सकता है। निश्चय ही इन आकडो के सम्बन्ध मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे भिन्नता मिलेगी और एक वर्ग मे दूसरे वर्ग के आकडो मे तो यह भिन्नता काफी अधिक होगी, लेकिन इन आकडो से एक आधार का निर्धारण तो आसानी से किया ही जा सकता है।

इन उद्योगो के विकासार्थ धनराशि का बटन करने के लिए एक वैज्ञानिक कसौटी हो, इस दृष्टि से पारिवारिक बजट मे उनके सापेक्षिक स्थान के अलावा इन उद्योगो के निवेश-उत्पादन-अनुपात को ध्यान मे रखना भी आवश्यक होगा। सरजाम, भवन तथा पशु-धन जैसे अनावर्ती और कच्ची सामग्री के भाण्डारीकरण, श्रमिकार्ड तथा बिक्री जैसे आवर्ती खर्च एक से दूसरे उद्योग मे भिन्न होगे। उदाहरणार्थ, ग्रामीण तेल उद्योग

मे उत्पादन के लिए विनियोजन मान लो १०० रुपये है तो वह हाथ कागज उद्योग के विनियोजन से भिन्न होगा। प्रत्येक उद्योग के सम्बन्ध मे इस प्रकार के आकडे तत्सम्बन्धी उद्योग के पिछले वर्षो के काम के आधार पर प्राप्त किये जा सकते है।

तृतीय मूल्य निर्धारक कारक

उद्योग मे काम पर लगे व्यक्तियो की सख्या और उनके द्वारा किया जानेवाला उत्पादन इन उद्योगो के सापेक्षिक महत्व का तीसरा निर्धारक कारक होगा।

प्रत्येक उद्योग की वास्तविक सफलताओ से बिल्कुल अलग, उसके विकास की भावी सम्भाव्यता चतुर्थ कारक होगा। कमीशन की अनुसूची मे ऐसे उद्योग है, सम्पत्ति के नये-नये स्रोतो का उपयोग करना जिनका उद्देश्य है, उदाहरण के लिए अखाद्य तेल और साबुन उद्योग को लिया जा सकता है, जो फिलहाल बेकार जा रहे अखाद्य तिलहनो के सग्रह को प्रोत्साहन देना है और इनका तेल साबुन बनाने के काम मे लाता है। लोक कल्याण के लिए अनुपयोगित साधन-स्रोतो का उपयोग करने की दृष्टि से ग्रामोद्योग कार्यक्रम मे ऐसे उद्योगो को प्राथमिकता देना वाछनीय है।

विभिन्न उद्योगो के लिए धन-राशि के बटन को वैज्ञानिक ढग से मूल्याकन करने के बाद उनका जो सापेक्षिक महत्व है उससे सलग्न करना वाछनीय होगा। किसी उद्योग का महत्व निम्न चार कारको के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिये

कसौटी

- अ उद्योग द्वारा उत्पादित माल का सामान्य जन के पारिवारिक बजट मे स्थान,
- आ निवेश-उत्पादन अनुपात,
- इ वास्तविक उत्पादन तथा रोजगारी, और
- ई उत्पादन और रोजगारी की दृष्टि मे उद्योग की सम्भाव्यता।

केवल इसी तरह ग्रामोद्योग देश की अर्थ-व्यवस्था पर कोई वास्तविक प्रभाव डाल सकेगे।

इदौर २९ मई १९६४

हर व्यक्ति जानता है कि मनुष्य सदैव या स्वभावतः उन प्ररणाओ से काम नही करता, जिनके बारे मे वह पूर्ण सचेत है या जो उसे स्वीकार्य है। अचेतन की या अस्वीकार्य प्रेरणाओ मे अतर्दृष्टि को छोडना निश्चय ही एक आँख बन्द करके चलने के समान है।

—इ. एच. कार ह्वाट इज हिस्ट्री, पग्विन बुक्स, लदन; १९६४।

टीका-टिप्पणी:

सहकारी प्रशासन सम्बन्धी समिति का प्रतिवेदन

तृतीय पच वर्षीय योजना ने राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे सहकारी विभाग के निरतर विकास की परिकल्पना सही ही की है। अब तक इन तीन योजनावधियो के अन्तर्गत सहकार आन्दोलन मे बडी मार्के की प्रगति हुई है और अब इसने वह रूप धारण कर लिया है कि निजी विभाग और सरकारी विभाग दोनो का ही ध्यान इस ओर जायेगा ही। अब यह अपने पैर जमा रहा है और निकट भविष्य मे ही राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे इन दोनो विभागो मे से किसी के भी समकक्ष स्थान प्राप्त कर लेगा। यह आन्दोलन जोकि कुछ वर्ष पूर्व तक मुख्यत कृषको को ऋण देने तक सम्बन्धित था, दिनोदिन विविध आर्थिक गतिविधियो को अपनाये जा रहा है और सरकार अब सहकार को समाज कल्याण सम्बन्धी नीति और समाजवादी ढग के समाज की स्थापना के लिए उपयोगी माध्यम समझती है।

योग्य प्रशासन अत्यावश्यक

सहकारी विभाग के इस प्रगतिशील विकास ने कई समस्याएँ खडी कर दी है, जिनमे से एक प्रमुख समस्या सहकारी समितियो के प्रशासन की है। एक समय था जबकि सहकार आन्दोलन के लिए व्यग के तौर पर यह कहा जाता था कि इसमे प्रशासन अधिक और वित्त कम है। अब ऐसी बात नही है ओर इसका सबूत है सहकारी प्रशासन सम्बन्धी समिति का गठन। प्रशासन की जिम्मेदारियाँ सहकार के अचानक विकास से बहुत ही जटिल और विविध हो गयी है और सहकार से सम्बन्धित प्रशासनिक पद्धति की समीक्षा करने की आवश्यकता है। इन तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओ पर विचार करने के लिए ही समिति की नियुक्ति की गयी है। समिति ने देश मे सहकारी प्रशासन पद्धति के कई पहलुओ पर विचार किया है तथा पद्धति को अभिनव और मजबूत बनाने तथा उसकी क्षमता को व्यापक बनाने के लिए कई सिफारिशे की है।

भूतकाल मे सहकार आन्दोलन को गैर-सरकारी बनाने के विषय मे बहुत विचार किया गया और अधिकाश लोग इस बात से सहमत हुए कि आन्दोलन को धीरे-धीरे गैर-सरकारी बना दिया जाना चाहिये। इस दृष्टि से पहली नजर मे तो यह विरोधाभास ही लगेगा कि समिति ने सहकारी प्रशासन के विस्तार और उसकी मजबूती के लिए प्रस्ताव क्यो किये है। सहकार आन्दोलन की वर्तमान अवस्था का सूक्ष्म विवेचन करने से इस विरोधाभास की सहज ही व्याख्या हो जाती है। कटु सत्य तो यह है कि सहकार आन्दोलन अपनी सभी गतिविधियो मे अथवा देश के सभी भागो मे एकसम नही बढा है। चूकि अभी यह विकसित ही हो रहा है, अत उचित ढग से तथा योजना मे परिकल्पित गति से विकास सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त और योग्य प्रशासनिक सगठन का होना आवश्यक है। स्वभावत इसके लिए विकासशील और उपयोगी प्रशासन की जरूरत होगी, जोकि सहकारी कानून को कार्यान्वित करे। इसके साथ ही आन्दोलन के लिए स्वाभाविक नेतृत्व अथवा जन-नेतृत्व को भी विकसित होना है और उसके विकास को भी प्रोत्साहन देना है ताकि बाद मे यह नेतृत्व पूर्णरूपेण इस प्रशासन तत्र का स्थान ले सके।

हस्तक्षेप अप्रिय

समिति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "सहकारी विभाग के आकार मे किसी भी वृद्धि से सहकारी सस्थाओ

के दैनिक कार्य मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही होना चाहिये, जोकि उनकी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता पर बुरा प्रभाव डाले। इसके विपरीत हमेशा यह कोशिश की जानी चाहिये कि यह आन्दोलन जन-आन्दोलन बन जाय।" समिति के ही शब्दो मे "सहकारी प्रशासन की योग्यता अन्तत सभी किस्म और सभी स्तर की सहकारी सस्थाओ के ठोस प्रबन्ध पर निर्भर करती है। इन समितियो के सचालको मे नेतृत्व की सही भावना आ जाने तथा सरकार से आवश्यक मार्गदर्शन और सहायता प्राप्त कर लेने पर ही सस्थाएँ प्रगति कर सकती है। अत हमारा यह दृढ विश्वास है कि जहाँ गैर-सरकारी कार्यकर्त्ताओ का बडा सगठन हो, जोकि आन्दोलन के निर्माण मे रुचि लेता और इस पर पूरा ध्यान देता हो, वहाँ सहकारी विभाग का प्रशासन अधिक कठिन नही होता और थोडे से कर्मचारियो के जरिये भी सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है।" तत्काल की मुख्य आवश्यकता है इस नेतृत्व को जिम्मेदारियाँ सम्भालने के लिए प्रोत्साहित करना, क्योकि उत्तरदायित्व को सतोषजनक ढग से निभाने से ही सहकारी आन्दोलन जीवन्त और स्वस्थ बन सकता है।

स्वावलम्बी आन्दोलन की ओर

आन्दोलन के चन्द ऐसे अग भी है जहाँ कि सहकारी समितियो ने विकास की वह अवस्था प्राप्त कर ली है कि उन्हे बाहरी मदद, सरक्षण अथवा मार्गदर्शन की आवश्यकता नही है। इन समितियो को सहकार कानून की आवश्यकताओ के अनुरूप सहकारी प्रशासन के विभिन्न वैधानिक अथवा अन्य नियत्रणो से धीरे-धीरे मुक्त किया जा सकता है। सिद्धान्त रूप मे जबकि सभी यह स्वीकार करते है कि सहकार आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य स्वावलम्बी आन्दोलन बनना होना चाहिये, जोकि बिना किसी बाहरी मदद के आगे बढ सके, वहाँ यह भी मानना ही चाहिये कि इस लक्ष्य की प्राप्ति मे काफी समय लग जायगा—सम्भवत एक पुश्त अथवा उससे भी अधिक। कारण स्पष्ट है। अत हमे तथ्यो का सामना करना ही चाहिये तथा समिति द्वारा की गयी सिफारिशो का स्वागत करना चाहिये, जोकि सहकार विभाग के ठोस विकास के हित मे ही है। सहकार आन्दोलन की अन्तिम सफलता विकास की ऐसी अवस्था प्राप्त करने मे ही होगी, जबकि सरकार द्वारा उपलब्ध सहकारी प्रशासन आवश्यक नही रहेगा। अभी तो वर्तमान सहकारी प्रशासन को अपने को मजबूत और विस्तृत तथा अपनी गतिविधियो को अभिनव बनाना ही चाहिये, ताकि यह अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की उत्तम और मजबूत अवस्था मे आ सके।

इसे दृष्टि मे रखते हुए सभी सम्बन्धित व्यक्तियो और सस्थाओ को समिति की सिफारिशो का ध्यानपूर्वक अध्ययन और कार्यान्वयन करना चाहिये।

—एन वाय. खेर

पूना, १९ जुलाई १९६४

गोबर गैस सयंत्र : एक अध्ययन

यह अध्ययन* पाठको मे गलतफहमी पैदा कर सकता है। अत इस सम्बन्ध मे मै कुछ स्पष्टीकरण दे रहा हूँ। मैने उक्त सयत्र को उस वक्त देखा था, जबकि मरम्मत होने के बाद उसमे तुरत ही गोबर घोल भरा गया था।

वह सयत्र तीन वर्ष पहले नयी दिल्ली की भारतीय कृषि अनुसधान सस्था से प्राप्त नमूने के आधार पर बनाया गया था। दो वर्ष तक वह काम करता रहा और दूसरे वर्ष के उत्तरार्ध मे गैस उत्पादन कम होता गया और अन्तत बन्द हो गया। जब सयत्र खोला गया तो पाचित्र के अन्दर भरे पदार्थ की सतह पर आधे गोबर की बहुत ही मोटी परत पायी गयी। मैने जब सयत्र देखा था तो उस समय उसे चलाना आरम्भ ही किया

*खादी ग्रामोद्योग के जुलाई १९६४ अक मे एस डी तेजनारायण और राम मूर्ति द्वारा लिखा गया लेख 'गोबर गैस सयत्र एक अध्ययन'।

गया था। गोबर घोल भरने के बाद सयत्र से आधे इच व्याम की नली ग्राम सेविकाओ के कमरो तक ले जायी गयी। पाया गया कि वह नली एक साथ दो चूल्हो (बर्नर) के लिए पर्याप्त गैस नही दे सकी।

गैस-घर के बाहर तीन रिग के सहारे तीन पाइप लगाये गये थे जिनमे गैस घर धीरे से छूने अथवा हवा के हल्के झोके से भी करीब नौ इच तक मुड जाता था। अत गैस घर के गिरने से गैस के उपयोग के सम्बन्ध मे विचार करना यदि असभव नही तो मुश्किल जरूर है।

एक ओर आपत्ति है। गैस घर लगातार पाचित्र से गैस प्राप्त करता है। गैस प्राप्ति की दर अल्पावधि के लिए भी समान नही है।

एक आपत्ति यह भी है कि गैस घर का तापमान सुबह से बढ जाता है और शाम से घट जाता है। गैस की मात्रा तापमान मे प्रति दस डिग्री घट-बढ के साथ तीन प्रति शत तक घट-बढ सकती है।

प्रस्तुत गैस घर पॉच इच व्यास का है और जैसा कि पहले बताया जा चुका है वह नौ इच तक किसी भी दिशा मे मुड जाता ह। चूकि गैस घर की एक फुट ऊँचाई १ ६४ घनफुट गैस रखती है, इसलिए कम मात्रा की गैस के पर्यवेक्षण मे जो गलतियॉ होंगी वे प्रयोगा-वस्था मे दृष्टि ओझल कर दे सकनेवाली भूलो की सीमा से अधिक होगी। इस बात को प्रयोगकारो ने यह कहते हुए माना है कि उनकी प्रति घटा खपत के आकडे विश्वसनीय नही है।

स्पष्टीकरण की आवश्यकता

लेख मे कुछ और बाते भी ऐसी है जिनके लिए स्पष्टीकरण आवश्यक है। बताया गया है कि पाचित्र की क्षमता १०० घनफुट घोल रखने की है। यह शुरू मे दिये गये पाचित्र के माप के अनुसार नही है, जिसके मुताबिक यह क्षमता २०० घनफुट से भी अधिक आती है। लेखको ने कहा है कि सयत्र की टकी "१२० पौण्ड गोबर मे उतना ही पानी मिला कर भरी जा सकती है।" वे सम्भवत उस मात्रा का जिक्र करते है जोकि सयत्र मे नित्य डालते है। इतना स्पष्ट देखा जा सकता है कि २४० पौण्ड गोबर और जल मिश्रण सिर्फ ३ घनफुट जगह को ही घेरेगा क्योकि एक घनफुट मे ६८ पौण्ड गोबर घोल आता है।

बताया गया है कि प्राचार्य को यह सुझाव दिया गया कि इस गैस प्रदायक नलिका की जगह पोलिथिन लगी नलिका लगायी जाय "ताकि धातु नलिका होने तथा इसके जमीन के अन्दर होने से ताप और दबाव मे जो अन्तर आ जाता है वह न आये और यह अधिक समय के लिए स्थानीय जलवायु ग्रहण करने योग्य बन सके ।" ऐसा प्रतीत होता है कि जमीन के अन्दर बैठायी गयी गैस प्रदायक नलिका की जगह जमीन के ऊपर पोलिथिन लगी नलिका लगायी गयी है। समझ मे नही आता कि गैस का दबाव महज नलिका के द्रव्य को बदल कर इस प्रकार कैसे बदला जा सकता है। गैस का दबाव मुख्यत प्रति घटा गैस की प्रवाह नलिका के व्यास और नलिका की लबाई से प्रभावित होता है। जहाँ तक तापमान ग्रहण करने का सवाल है जमीन के ऊपर बिछी नलिका स्वभावत जमीन के अन्दर बिछी नलिका से बाहरी तापमान से अधिक प्रभावित होगी।

बताया गया है ६ व्यक्तियो के लिए तीन से चार घटे मे १३ से १५ घनफुट गैस की खपत होती है, परतु इन आकडो से जिस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है वह नही निकलता। इसके विपरीत इस प्रतिवेदन के आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रकार भोजन पकाने के लिए ६ व्यक्तियो के परिवार हेतु प्रति दिन ५० से ६० घनफुट गैस उत्पादन पर्याप्त होगा। चूकि एक समय, सुबह अथवा शाम, भोजन पकाने मे ३० घनफुट से अधिक गैस का इस्तेमाल नही होता, अत इससे कही छोटे गैस-घर से काम चल जाना चाहिये।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक द्वय केन्द्रीय सामुदायिक विकास, पचायत राज और सहकार मत्री श्री सुरेन्द्र कुमार डे के प्रश्नो का मान्य उत्तर प्राप्त करने के लिए यदि इस सयत्र पर फिर से परीक्षण करे तो वे गोबर गैस सयत्र कार्य मे बहुत सहायक सिद्ध होगे।

—जशभाई झ. पटेल

बम्बई ३१ जुलाई १९६४

उत्तर प्रदेश में गुड़ के संग्रह की समस्याएँ

संग्रह का कार्य है माल को उत्पादन के समय से लेकर उपभोग के वक्त तक भाडारित और परिरक्षित रखना। चकि उत्पादन और उपभोग साथ-साथ शायद ही कभी होते है, उत्पादक के पास से उपभोक्ता तक पहुँचने मे माल को एक अथवा अनेक जगह सग्रह किया ही जाना चाहिये। सग्रह की आवश्यकता मूलत इसलिए पडती है कि माल के उत्पादन और उपभोग काल के बीच समजन नही होता। इसका मुख्य कार्य है यह समजन लाने के लिए माल का सग्रह करना। बिक्री कार्य मे सग्रह से काफी सहायता मिलती है। व्यवस्थित बिक्री की प्रगति मे यह एक महत्वपूर्ण सोपान है। सग्रह से होनेवाले लाभो का चित्र व्यापार, वाणिज्य और उद्योग तथा अन्तत समाज को होनेवाले लाभो के अध्ययन से स्पष्ट हो जायेगा। उनका सार यहाँ दिया जा रहा है।

संग्रह के लाभ

१. माँग और पूर्ति का समजन एक मौसम मे उत्पादित माल का इस्तेमाल यदि दूसरे मौसम मे करना है तो उसका सग्रह करना ही होगा। अधिकाश कृषि उत्पादनो के मामले मे यही होता है। अस्थायी बाजार अवस्थाओ और माँग तथा पूर्ति सम्बन्धी लघु-कालीन समस्याओ के कारण भी माल-सग्रह आवश्यक बन जाता है। इस प्रकार यदि नाशवान पदार्थो की बाजार मे अस्थायी भरमार है तो उन्हे कीमत सुधरने तक कुछ दिनो के लिए ही भाडारित किया जा सकता है।

२ अतिरिक्त-कमी–समीकरण एक बाजार के अतिरिक्त माल को तब तक सग्रहीत किया जा सकता है जब तक कि उसका इस्तेमाल न हो जाय अथवा वैसे बाजार मे भेजने की परिवहन सुविधाएं न मिल जाये जहाँ से अच्छे पैसे मिलने की उम्मीद हो।

३. अन्य बिक्री कार्यों मे सुविधा: अन्य बिक्री कार्यो के लिए भी सग्रह अत्यावश्यक है। जैसे, माल तब तक एकत्रित किया जा सकता है जब तक कि ट्रक-भर अथवा गाडी भर सामान न हो जाय।

४ तकनीकल सग्रह सग्रहीत माल के नमूने खरीदारो को दिखाये जा सकते है और उनका निरीक्षण, वर्गीकरण, सफाई, पैकिग और वजन किया जा सकता है।

५ समपार्श्व सरक्षण: सग्रहीत माल का उपयोग ऋण के लिए समपार्श्व रूप मे भी किया जा सकता है।

६. मूल्य स्थिरीकरण और, अन्तत, सग्रह का बाजार मूल्य से सम्बन्ध भी महत्वपूर्ण है। जरूरत से बहुत अधिक माल जमा हो जाने पर प्राय मूल्य मे कमी आ जाती है। यदि माल भाडारित किया जा सकता है तो मूल्य भी स्थिर किये जा सकते है और माल रखनेवाले के नुकसान को, उसे बाद मे ऊँची कीमत पर बेच कर, कम अथवा दूर किया जा सकता है।

योग्य सग्रह के लिए, जोकि सम्बन्धित व्यक्तियो को उपयुक्त लाभ पहुँचा सकता है, यह अत्यावश्यक है कि माल की उचित देख-भाल की जाय, सहज स्थलो पर भाडारित किया जाय और सग्रह कार्य इस तरह नियत्रित किया जाय कि सभी सम्बन्धित व्यक्तियो के हित की रक्षा हो सके।

अब हम यह देखे कि विभिन्न स्थानो मे गुड का सग्रह कैसे किया जाता है, यह सेवा कितनी योग्य है तथा इसे और योग्य बनाने के लिए कौन-कौन-से सुधार सुझाये जा सकते है।

ग्राम स्तर पर

गुड उत्पादक उत्पादन का २० से २५ प्रति शत अपने पास रख कर बाकी मडियो मे व्यापारियो को बेच देते

हैं। भारतीय किसानो की जो अवस्था है, उसमे वे गुड का सग्रह हाडियो मे करते है, जिनका मुह ढक्कन अथवा कपडे से बन्द रखते है या खोई अथवा भूसे की चटाई पर उसका कोठा बना कर रखते हैं। अच्छी आर्थिक अवस्थावाले चन्द किसान गुड को अपने ही घरो मे कोठा बना कर अथवा मिट्टी की हाडियो मे उनका मुह मिट्टी-भूसी से बन्द कर रखते है।

गुड मे बहुत जल्दी नमी आ जाती है। ग्रामीणो के कच्चे घरो मे वारिश से अधिक बचाव नही हो पाता। फिर, कच्चे घरो के कच्चे फर्श भी नम हो जाते है, जोकि गुड के लिए अच्छा नही है। यही कारण है कि किसान गुड तैयार करने के बाद गॉव मे ही पहला मौका पाते ही, सिर्फ ५-७ प्रति शत घरेलू उपयोग के लिए रख कर, बेच देते है। गॉव मे गुड का सग्रह न होने अथवा खराव सग्रह होने का एक मुख्य कारण है दोपपूर्ण स्थान होने मे अनार्थिक सग्रह।

मण्डी स्तर पर

उत्पादन का अधिकाश भाग मौसम मे मडी मे चला आता है। कच्चे और पक्के आढतिये स्टाक जमा करने के लिए बडी मात्रा मे गुड खरीद लेते है। उसे वे बोरो मे अथवा खुले मे एक पर एक गुड की चक्की रख कर सग्रह करते है। इस तरीके से ४० से ५० किलोग्राम की क्षमतावाले बोरो मे गुड भर कर उनका मुह सी देते है और उन बोरो को गोदाम मे एक के ऊपर एक लाद देते है। इन गोदामो की क्षमता १०० से ५०० क्वीटण्ल गुड रखने की होती है। आम तौर पर ये गोदाम आवास स्थल हुआ करते है, जिनका मौसम मे गोदाम के रूप मे इस्तेमाल किया जाता है। सामान्यतया गुड को चटाई पर फैला देते है ताकि उसमे नमी न आये। इन गोदामो का भाडा ४० से ५० किलोग्राम के १०० कट्टे के लिए १० से १२ रुपये है, जोकि कोठा कितना सुरक्षित है उस पर निर्भर करता है।

इन गोदामों का उपयोग मितव्ययी होता है, क्योकि सिर्फ भाडा देना होता है और वह भी सिर्फ मौसम के लिए। आढतियो को सामान्यतया पूरा विश्वास होता है कि उन्हे वे स्थान मिल ही जायेगे, क्योकि उनका सिवाय गोदाम के और कोई उपयोग नही हो सकता। परन्तु अवस्था उतनी लाभप्रद नही है जितनी दिखाई देती है। इस तरह के सग्रह मे एक बडा नुकसान यह है कि यदि दो-तीन महीने से अधिक गुड को रखा गया तो वह धीरे-धीरे छोआ बनने लगता है, जिससे उसका स्तर गिर जाता है। इस मौसम मे प्रति बोरा तीन से पॉच किलोग्राम का नुकसान हो जाता है।

खुले मे रखने की पद्धति

इस पद्धति के अन्तर्गत मडी मे दुकानो के अन्दर फर्श पर गुड की भेलियो को एक के ऊपर एक करके चार पॉच भेली रखते है। नमी से बचाने के लिए पहले तरीके की तरह ही यहा भी फर्श पर चटाई बिछा देते है। इन भेलियो को फिर तारपोलीन अथवा चटाई या मोटे कपडे से ढक देते है। इस तरह का सग्रह बुलन्दशहर जिले की सिर्फ मियाना और गुलोती मडियो मे ही होता है। भाडा प्रति ५० क्वीन्टल पॉच से सात रुपये होता है। यहाँ एक बडा लाभ यह है कि बरसात के दिनो को छोड कर, जबकि आर्द्रता अधिक होती है, बाकी दिनो मे गुड अनुकूल जलवायु होने के कारण सूखा रहता है।

हर मडी की सग्रह-क्षमता भिन्न होती है। सामान्यतया बडी मडी की क्षमता बडी और छोटी मडी की छोटी होगी, परन्तु, सब जगह ऐसा नही है, जैसे, मियाना छोटी मडी है परन्तु उसकी सग्रह-क्षमता एक लाख क्वीण्टल गुड है। गुलौती मडी के साथ भी वही बात है।

सामान्यतया गुड जनवरी से जून तक सग्रह किया जाता है, परन्तु चन्द मडियो मे, जहा कि जलवायु अनुकूल है और अवस्थाएँ अच्छी है, अक्तूबर मे नये मौसम के आरम्भ तक सग्रह करते है। अक्तूबर और नवम्बर माह से ही गुड के सग्रह न करने का कारण यह है कि बाजार मे पहले-पहल जो गुड आता है वह सग्रह करने लायक नही होता। पके गन्ने के रस से जो गुड तैयार किया जाता है, वही कुछ दिनो तक सग्रह कर रखा जा सकता है।

प्रत्येक मडी मे सग्रह खर्च २० से २५ पैसे प्रति बोरा बैठता है। सग्रह खर्च मे ये मद शामिल है माल लदाई—

तीन पैसे, गाडी ढुलाई–तीन पैसे, चटाई–दो से तीन पैसे, थप्पी लगाई–तीन पैसे, भाडा–छ से दस पैसे, और बीमा–दो से तीन पैसे, कुल–१६ से २४ पैसे।

अब हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह जाचने का है कि सग्रह कार्य कितना योग्य है। सग्रह की समस्या की छानबीन करने पर हम पाते है कि (१) ग्रामीण स्तर पर गुड सग्रह की सुविधाएँ नही होती और जो भी सग्रह होता है वह अवैज्ञानिक, अपरिस्कृत और अनार्थिक होता है, (२) गॉवो मे बैकिग और बीमा सुविधाएँ नही है जोकि किसानो को सग्रह कार्य अपनाने के लिए प्रोत्साहन दे सकती है, (३) सडको की कमी अथवा उनका न होना और परिवहन एव सचार माध्यमो की अयोग्यता के कारण गॉवो मे माल सग्रह की बात सोची ही नही जा सकती और (४) पिछले दशक मे आयोजको और सरकार के प्रयत्नो के बावजूद किसानो की माली हालत नही सुधरी है और रुपये-पैसे सम्बन्धी उनकी जरूरते उन्हे उत्पादन के बाद तुरन्त ही अपने माल बाजार मे भेज देने को मजबूर कर देती है।

संग्रह योग्यता

(१) किसी भी किस्म की मडी मे वैज्ञानिक ढग से सग्रह कार्य नही होता, (२) उत्तर प्रदेश की प्रत्येक मडी मे गुड खाण्डसारी व्यापारी सघ है, परन्तु उसने इस समस्या पर कोई ध्यान ही नही दिया है, (३) सग्रह मे होनेवाले नुकसान से बचने अथवा सग्रहीत गुड-खाण्डसारी का स्तर न गिरने देने के लिए वर्तमान कोठाओ अथवा गोदामो की अवस्था सुधारने हेतु भी कीटनाशको और अन्य रसायनो एव सरजामो का इस्तेमाल नही किया जाता, और (४) सग्रह के तरीके भी नही सुधरे है।

कुछ समय से उत्तर प्रदेश गोदाम निगम ने चन्द मडियो मे सग्रह कार्य अस्थायी आधार पर किराये पर मकान लेकर आरम्भ किया है। इस गोदामो मे स्तर को बनाये रखने और नुकसान रोकने के लिए कीटनाशको का इस्तेमाल किया जाता है। सग्रह के लिए वे प्रति बोरा १२ से १५ पैसे लेते है।

अनुसंधान की आवश्यकता

गुड का सग्रह एक गम्भीर समस्या है, जिसका तत्काल हल निकालना जरूरी है। उत्तर प्रदेश मे मुजफ्फरनगर, मेरठ, सहारनपुर और बुलन्दशहर जिलो से बने मेरठ क्षेत्र की १२ मडियो मे जमा स्टाक के आधार पर एक मौसम मे करीब एक लाख क्वीतल गुड के नुकसान का अन्दाज है।* जबकि गुड का सग्रह दिसम्बर-जनवरी मे शुरू हो कर जून-जुलाई तक चलता रहता है और सग्रह मे असल नुकसान अप्रैल-मई माह मे आरम्भ होकर जून और जुलाई मे बारिश शुरू हो जाने पर बहुत बढ जाता है।

विभिन्न अनुसधान सस्थाओ तथा विभिन्न अनुसधान अभिकरणो द्वारा कई प्रयोग किये गये है। गुड उत्पादको और इसके व्यापारियो तथा उपभोक्ताओ के समक्ष मुख्य समस्या 'सग्रह' ही है। गुड का रग, स्वाद आदि बनाये रखने और सग्रह मे कोई नुकसान न होने एव सग्रह का तरीका सस्ता तथा उत्पादको और बिचवानियो की पहुँच के अन्दर होने का पूर्ण आश्वासन देने के लिए निरन्तर अनुसधान करने की आवश्यकता है। उत्पादन और बिक्री के विभिन्न क्षेत्रो मे, स्थानीय जलवायु परिस्थितियो, मिटटी की किस्म, स्थानीय कच्चे माल की उपलब्धि तथा गुड के सग्रह को प्रभावित करनेवाले कारणो को ध्यान मे रखते हुए, अनुसधान कार्य किया जाना चाहिए।

—भारत भूषण कसाल

गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) ९ जुलाई १९६८

---

* यह अदाज लेखक ने विभिन्न मडियों के आढतियों से हुई अपनी बातचीत के आधार पर दिया है। इन आढतियो के पास अप्रैल से जुलाई माह तक करीब १९ से २० लाख क्वीटल स्टाक रहता है और प्रति क्वीटल ५ से ७ किलोग्राम नुकसान होने मे मोटे तौर पर कुल एक लाख क्वीटल नुकसान हो जाता है।

जम्मू और कश्मीर का पशुधन : चन्द समस्याएँ

माखन लाल भट

जम्मू और कश्मीर राज्य म पशुपालन से ४०,००० लोगों को प्रत्यक्ष रोजगारी मिलती है और राज्य की कुल आय मे उसका योगदान १५ प्रति शत है। अतिरिक्त मवेशियो की छटाई और उनकी सख्या में होनेवाली वृद्धि पर नियन्त्रण करना आवश्यक है, विशेष कर इसलिए कि चरागाह भूमि दिन ब दिन कम होती जा रही है। लक्ष्य होना चाहिये सूखी और बेकार गायों, अन्य बेकार मवेशियो तथा दूध देनेवाली गायो एवम् अन्य उपयोगी मवेशियो के बीच उचित सतुलन स्थापित करना।

जम्मू और कश्मीर राज्य के सामाजार्थिक ताने-बाने में पशुधन का स्थान, रोजगारी और आमदनी दोनो ही मामलों में, कृषि के ही बाद आता है। राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों में करीब ४० हजार[१] लोगो को प्रत्यक्ष रोजगारी देने के अलावा यह राज्य की कुल आय में करीब १५ प्रति शत योगदान देता है और इस उद्योग मे हुई आय राज्य में कृषि से हुई आय के ३३ प्रति शत से अधिक होती है।[२] इसमें कृषि और परिवहन में वाहक के रूप में जिस बैल शक्ति का इस्तेमाल किया जाता है वह शामिल नही है। पशु-पालन विभाग से होनेवाली कुल आय का ९० प्रति शत तो अकेले गोजातीय मवेशियो से ही होता है।

इसके बावजद कि राज्य की अर्थ-व्यवस्था को नव रूप देने का प्रयास किया जा रहा है, राज्य की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में इस विभाग का वर्तमान महत्व तो आगामी १०-२० वर्षो मे कम होने की आशा नही है, क्योकि राज्य मे बडे उद्योगों की स्थापना के अवसर पर्याप्त बधे खर्चों, उद्योग स्थल के लाभों की कमी और प्रतिकूल भौगोलिक दशाओ के कारण बहुत कम ही है। परम्परागत दस्तकारियो की माग मे बराबर कमी होते जाने और विभिन्न ग्रामीण उद्योगो के धीरे-धीरे नष्ट हो जाने मे, जिनमे अब तक राज्य के बहुत-से ग्रामीणो को प्रत्यक्ष व परोक्ष रोजगारी मिलती थी, भी कृषि विभाग का महत्व बढ गया है जिसका पशुपालन एक बडा ही महत्वपूर्ण अग है। इसके अतिरिक्त वर्तमान कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत कई कृषि प्रक्रियाओ के यान्त्रीकरण की सभाव्यता, जोकि अभी पशुओ की मदद से की जा रही है, कई वर्षो तक सीमित ही रहेगी।

पशुधन के आकार का नियमन

ऐसी परिस्थितियों मे वाहन के काम आनेवाले बैलों के साथ ही दुधारू मवेशियो का बडी सख्या में होना—बशर्ते कि उन्हे खिलाने के लिए पर्याप्त चारा हो—एक सम्पत्ति ही है। दुर्भाग्यवश राज्य में चारे की अवस्था अच्छी नही है। कठिनाई मवेशियो की कमी की नही है—बल्कि उनकी सख्या तो इतनी अधिक है कि वह एक गभीर समस्या पैदा कर देती है जोकि इससे और भी गम्भीर हो जाती है कि उनकी नस्ल अच्छी नही है—उनका रखना अनार्थिक है तथा वे कमजोर भी है। इस प्रकार मवेशियो की सख्या का अधिकाश एक महान राष्ट्रीय सम्पत्ति

१. देखिए जनगणना १९४१। सन् १९६१ के लिए दिये गये आकडे बाकलित है।

२ राज्य के मात्स्यकीय विभाग द्वारा तैयार किया गया एस्टिमेट्स ऑफ स्टेट इनकम ऑफ जम्मू खण्ड कश्मीर स्टेट देखिए। पशुधन से होनेवाली आय को कम अदाज कर बताया गया है, क्योंकि इसमें मास, हड्डियो, चर्बी, सीग, खुर आदि से होनेवाली करीब ८० लाख रुपये की अनुमानित आय शामिल नहीं है।

हाने के बदले राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर बोझ बन गया है। अत यह अनिवार्य है कि उनकी सख्या को कम व नियमित करने और साथ ही हल चलाने लायक बैलो तथा दुधारू मवेशियों की नस्ल उन्नत करने की व्यवस्था की जाय। अभी यह काम मुश्किल हो गया है, क्योकि एक ओर तो जानवरो का मारा जाना सख्त मना है और दूसरी ओर निर्यात पर भी प्रतिबन्ध है।[3] अनियन्त्रित पैदायश के कारण मवेशियो की सख्या बढने से कमजोर और अधभूखे जानवरो की सख्या बढती है, जोकि किसी भी बीमारी के जल्द ही शिकार हो सकते है।

उपर्युक्त समस्या को समझने और उसका हल निकालने के लिए रास्ता खोजने हेतु राज्य की मवेशी अर्थ-व्यवस्था के चन्द मुख्य पहलुओ को फिर से समझ लेना उपयुक्त होगा। सन् १९५६ की पशु-गणना[4] के अनुसार प्रति शत रही। राज्य मे मवेशियो की सख्या मे अधिक वृद्धि हुई और भैसो के मामले मे यह सामान्य रही। प्रान्तवार कुल मवेशियो के आकडे, सन् १९५१ और १९५६ दोनो ही वर्षो के लिए, नीचे तालिका १ मे दिये गये है।

घनत्व

इस धारणा की पुष्टि कि राज्य की मवेशी आबादी बहुत बडी है, इस बात से हो जाती है कि प्रति एक सौ हैक्टर कृष्ट क्षेत्र की गोजातीय आबादी २७ है, जबकि महाराष्ट्र और गुजरात मे २८ है, जहाँ कि इसका घनत्व सबसे अधिक है। इसी प्रकार राज्य मे प्रति एक सौ व्यक्ति पीछे पशु आबादी ६९ है और इसमे इसका स्थान हिमाचल प्रदेश तथा मध्य प्रदेश, जिनका अनुपात क्रमश ९० और ७६ है, के ही बाद आता है। सम्पूर्ण देश मे प्रति १०० व्यक्ति पीछे मवेशी आबादी ४० से अधिक नही है।

तालिका १

जम्मू और कश्मीर मे पशुधन की सख्या (लाख मे)

	१९५१				१९५६			
	जम्मू	कश्मीर	लद्दाख	कुल	जम्मू	कश्मीर	लद्दाख	कुल
मवेशी	६ ७४	६ २०	० २०	१३ १४	९ ०२	८ ३४	० २०	१७ ५६
भैस	२ ५१	० २७	—	२ ७८	३ ४१	० ३१	—	३ ७२
कुल	९ २५	६ ४७	० २०	१५ ९२	१२ ४३	८ ६५	० २०	२१ २८

गोजातीय मवेशियो की सख्या[5] सन् १९५१ की १५ लाख ९. हजार के मुकाबले २१ लाख २८ हजार थी अर्थात् पॉच साल मे ३३ ७ प्रति शत वृद्धि यानी प्रति वर्ष ६ ७ प्रति शत अभिवृद्धि हुई। इसी अवधि मे सपूर्ण देश मे यह वृद्धि २ ५ प्रति शत[6] अर्थात् प्रति वर्ष ० ५ भैसो के मामले मे भी मे प्रति १०० हैक्टर पीछे भैस की सख्या ५३ है और इसमे इस राज्य का स्थान आन्ध्र प्रदेश के ही बाद आता है, जहाँ कि भैस-आबादी का सर्वाधिक घनत्व (प्रति १०० है टर पीछे ५७ भैस) है। अखिल भारत घनत्व प्रति १०० हैक्टर कृष्ट क्षेत्र पीछे ३४ भैस

३ 'जम्मू ओर कश्मीर रणवीर दण्ड सहिता' के अन्तर्गत गोजातीय पशुओ के ऐच्छिक वध पर प्रतिबध है। गोजातीय पशु निर्यात (प्रतिबध) अधिसूचना १९९० के अन्तर्गत गोजातीय पशुओं का राज्य सीमा के बाहर निर्यात करना भी मना है।

४ राज्य के लिए पशु-गणना १९६१ के अतिम आकडे अभी तक प्रकाशित नही हुए है। स्वभावत विचार-विमर्श को १९५६ की पशु गणना के आकडो पर ही आधारित करना पडा है। तथापि, १९६१ की पशु-गणना के अस्थायी आकडो के अस्थायी अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस लेख में हमने जो निष्कर्ष निकाले है वे करीब-करीब सही ही है।

५ यहॉ मवेशी का अर्थ है गोजातीय पशु, जैसे, गाय, बैल, बकरी, भैस, भैसा और उनके बच्चे।

६ सन् १९५१ की तुलना मे १९५६ मे अधिक वृद्धि पायी जाने का कारण यह है कि १९५०—५१ वर्ष मे पशुधन की कोई नियमित गणना नही हुई थी। उस वर्ष के लिए आकडे

है और प्रति १०० व्यक्ति पीछे १२ भैस। कर्षक और दुधारू दोनो ही किस्म के मवेशियों के मामले मे सख्या का आधिक्य है।

कर्षक मवेशी

कुल आबादी २१ लाख २८ हजार में मे कर्षक मवेशियो का प्रातिशत्य २५ है। काम आनेवाले मवेशियो की कुल आबादी में से करीब ९२ प्रति शत बैल, ६ २ प्रति शत भैसे,, ० ५ प्रतिशत गाय और १ ३ प्रति शत भैंस है। काम आनेवाले पशुओ मे मवेशियों का प्रातिशत्य ९५ है।[७] नर पशुओ के आधार पर भी अनुपात करीब-करीब बराबर ही है। तथापि, कुल कृष्ट भूमि का कुल कर्षक पशुओ के सन्दर्भ में प्रति जोडा बैल पीछे औसत भूमि करीब छ एकड है। सम्पूर्ण देश के लिए प्रति जोडा बैल पीछे १० एकड भूमि है और गुजरात के लिए तो १६ एकड। इसे देखते हुए इस राज्य के लिए तो यह सख्या बहुत ही कम है। इस बात को मद्देनजर रखते हुए कि इस जलवायु और नम भूमि मे एक जोडा बैल औसतन १० एकड भूमि जोत सकता है, यह प्रत्यक्ष है कि सम्पूर्ण राज्य मे उत्कर्षण शक्ति आवश्यकता से कही अधिक है। इस प्रकार क्षमता के एक बडे भाग का पूरा-पूरा उपयोग नही हो पाता। यह एक गम्भीर समस्या है, जिसके हल के लिए तत्काल कदम उठाये जाने चाहिये। राज्य के विभिन्न क्षेत्रो मे कर्षक मवेशियो पर कार्य-भार भी बहुत भिन्न है। सच तो यह है कि कश्मीर प्रान्त मे बैलो पर अपेक्षतया काम का अधिक बोझ है। यह विरोधाभासी स्थिति पिछले कई वर्षो से बनी हुई है, जैसा कि तालिका २ से प्रदर्शित है।

तालिक २

काम आनेवाले मवेशी और कृष्ट क्षेत्र

(प्रति जोडा बैल पीछे कृष्ट भूमि)

(एकड मे)

वर्ष	जम्मू	कश्मीर	कुल
१९५१–५२	५ ६	११ ०१	७ ४
१९५२–५३	४ ८	११ ००	६ ७
१९५३–५४	४ ८	१० ००	६ ५
१९५४–५५	५ ०	७ ८	६ ०
१९५५–५६	६ ३	७ २	५ ९
१९६०–६१	५ ९	८ ०	५ ८

दुधारू मवेशी

दुधारू पशुओ के सम्बन्ध मे स्थिति, जोकि कुल गोजातीय आबादी के (जहाँ तक उनकी सख्या का सम्बन्ध है) ३८ ४ प्रति शत है, सम्पूर्ण देश की तुलना मे बडी प्रोत्साहक है। प्रति १०० व्यक्ति पीछे २३ दुधारू पशु है जिनमे २८ गाय और ५ भैसे है जबकि सम्पूर्ण देश के लिए यह सख्या सिर्फ १८ है—१२ गाय ओर ६ भैस। जम्मू प्रान्त मे अपेक्षतया दुधारू पशुओ की सख्या अधिक है, जबकि कश्मीर प्रान्त मे चरागाह, जगल और उपयुक्त आबहवा जैसी आवश्यक सुविधा होने पर भी लद्दाख से भी कम सख्या मे पशु है। मुख्य कमी भैंसों के मामले मे है।

पटवारी स्तर पर प्राप्त किये गये थे। अत फलस्वरूप कमअदाज की गुजाइश तो है ही। समय बीतने पर राज्य मे राजनीतिक स्थिरता आने और आयोजित विकास के कारण राज्य की आर्थिक अवस्था मे सुधार होने के फलस्वरूप लोगो ने १९४७ मे पाकिस्तानी आक्रमण के कारण हुए नुकसान की भरपाई करने की कोशीश की है। इसका कुछ अश १९९६ मे पशु-गणना की पद्धति और सगठन मे सुधार की वजह मे विशुद्ध साख्यिकीय भी हो सकता है।

७ इस क्षेत्र में बैलो को प्राथमिकता दी जाती है। भैस अथवा भैसों का बहुत ही कम इस्तेमाल किया जाता है। यदि उनका कोई इस्तेमाल होता है तो वह राज्य के जम्मू प्रान्त तक ही सीमित है। धार्मिक और सामाजिक कारणो से गायो का इस्तेमाल नहीं किया जाता।

राज्य की पशु पाल्य अर्थ-व्यवस्था के लिए इतनी बडी सख्या मे दुधारू पशुओ का मिलना बडी अच्छी बात है बशर्ते कि इनमे से सब अथवा अधिकाश का उपयोग आर्थिक रूप मे मुलझे हुए ढग से, कुछ समय बाद ही सही, किया जाय।

परन्तु इसके विपरीत दुधारू पशुओ की रचना बहुत ही असतुलित है। यहा तक कि कुल दुधारू पशुओ मे दूध देनेवाली गाय और भैसे का अनुपात मुश्किल से

तालिका ३

प्रति एक सौ व्यक्ति पीछे तीन वर्ष से अधिक उम्रवाली दुधारू गायो की सख्या

प्रान्त	गाय	भैस	गाय और भैस
जम्मू	२८	१६	४४
कश्मीर	१५	१	१६
लद्दाख	१६	–	१६
कुल (जम्मू और कश्मीर)	१८	५	२३

२६ प्रति शत है, जबकि सूखी और विशेष कर 'बेकार' दुधारू मवेशियो का क्रमश ५० और १५ प्रति शत है। इससे एक ओर तो दूध देनेवाली गायो की कमी परिलक्षित होती है जिससे कि बहुत बडी समस्या सामने आती है, और दूसरी ओर यह ज्ञात होता है कि अनार्थिक मवेशियो की सख्या कितनी अधिक है। देश के प्रमुख भागो मे भी, जोकि सभी व्यावहारिक कार्यो के लिए जम्मू और कश्मीर के समान ही या उससे भी गयी बीती विकासा वस्था मे है, दूध देनेवाली गायो का अनुपात काफी ऊँचा है। सम्पूर्ण देश के लिए भी बेकार मवेशियो की सख्या मे, जिनका उपयोग न किसी काम मे किया जाता है और न ही अभिजनन के मामले मे, कमी हुई है। तालिका ४ से यह बिल्कुल स्पष्ट है।

सूखे और बेकार मवेशियो का आधिक्य होने से, जोकि उपलब्ध चारे का अधिकाश खा जाते है, दूध देनेवाली गायो को पूरा चारा नही मिल पाता और स्वभावत वे दूध कम देती है। औसतन एक गाय एक दिन मे १¾ पौण्ड से दो पौड दूध देती है और इस आधार पर सालाना २७ लाख मन दूध का उत्पादन होता है। इसका अर्थ है प्रति व्यक्ति पीछे प्रति दिन २ ४ औस दूध की पूर्ति जबकि मानक आवश्यकता १० ओस दूध की है। ग्रामीण आबादी तो सामान्यतया और भी कम दूध का सेवन करती है, क्योकि अधिकाश दूध से घी निकाल कर महाजनो को दे दिया जाता है अथवा कर्ज चुकाने मे चला जाता है अथवा कभी-कभी बेच दिया

तालिका ४

विभिन्न राज्यो में दूध देनेवाले तथा सूखे मवेशियो का तुलनात्मक अध्ययन

(प्रातिशत्य)

राज्य	दूध देनेवाले	सूखे	बेकार	कुल
पजाब	५९	३५	६	१००
असम	५५	२५	२०	१००
मध्य प्रदेश	४२	४६	१२	१००
हिमाचल प्रदेश	४२	४९	९	१००
उत्तर प्रदेश	४१	५०	९	१००
आन्ध्र प्रदेश	३९	४८	१७	१००
जम्मू और कश्मीर	२६	५९	१५	१००
अखिल भारत	४०	४३	१७	१००

जाता है। तथापि, तर्क सगत आधार पर राज्य को प्रति वर्ष वर्तमान आबादी के लिए प्रति व्यक्ति १० औस की दर से एक करोड मन दूध की जरूरत है। इसकी प्राप्ति चन्द ऐसे सुधार करने मे हो सकती है, कि गाय का ओसत उत्पादन कम से कम छ पौड बढ जाय और भैस का नौ पौड। इसकी प्राप्ति के लिए हमे अनार्थिक और बेकार मवेशियो को दूर कर देना है जोकि

कुल दुधारू मवेशियों के तीन-चोथाई है और उनकी जगह ऊँची नस्ल के मवेशी ले आते है। अधिकाश देशो मे जहा कि पशुपालन जम्मू और कश्मीर की तरह ही महत्वपूर्ण है और विशेष कर उन क्षेत्रो मे जहा कि दुग्ध उद्योग बहुत ही विकसित है, दूध देनेवाले पशुओ की सख्या सूखे पशुओ से ज्यादा है और सूखे पशुओ की सख्या पर अर्थ-व्यवस्था की मूल आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए नियत्रण किया जाता है।

बैलो की सख्या गायो से कम

एक महत्वपूर्ण बात और। राज्य मे बैलो की सख्या गायो से कम है जैसा कि भारत मे कही नही है। सन् १९५६ की पशु-गणना के अनुसार गायो की सख्या ८ लाख २२ हजार और बैलो की सख्या ५ लाख ४१ हजार थी। इस प्रकार गायो की सख्या बैलो से ७० प्रति शत अधिक है। अन्य शब्दो मे यह भी कह सकते है कि प्रति बैल पीछे डेढ गाय थी। इसके विपरीत सपूर्ण भारत मे प्रति गाय पीछे करीब १ ३ बैल है। कई राज्यो मे तो यह अनुपात १ ५ से भी ज्यादा है। बैलो और गायो के सख्या मे अन्तर इस कारण है कि स्वाभाविक रूप से बैल का मृत्यु अनुपात अधिक है। गाय और बैल के बीच गायो की जरूरत मुख्यत बैलो के प्रजनन के लिए है और दुग्ध उत्पादन तो अधिकाश किसानो के मामले मे प्रासगिक भर है। कर्षक कार्य योग्यता के साथ किया जाय, इसके लिए जरूरी है कि बैलो को पर्याप्त चारा दिया जाय। स्वभावत उपलब्ध भोजन पहले बैल को मिलता है और फिर बचा-खुचा गायो को। खुराक और रख-रखाव मे इस अन्तर के कारण बैलो की सख्या गायो से कम नही होनी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नही है। अत यह माना जा सकता है कि बैल अधिक कार्य भार होने की वजह से अधिक सख्या मे मरते है।

इस पर हम कुछ और सूक्ष्म रूप से विचार करे। सन् १९५६ मे विभिन्न आयु वर्ग की गायो और बैलो का वितरण तालिका ५ मे दर्शाया गया है।

निम्न तालिका से यह जाहिर है कि ०–१ और १–३ आयु वर्ग मे गायो और बैलो की सख्या करीब-करीब समान है, जिससे यह पता चलता है कि इस अवस्था मे इन दोनो श्रेणियो के बीच कोई विभेद अथवा चुनाव नही होता। परन्तु अगले आयु वर्ग मे अर्थात् तीन वर्ष और उससे ऊपरवाले वर्ग मे गायो की सख्या बैलो की सख्या से करीब ५२ प्रति शत अधिक है। यह अखिल भारत पद्धति से बिल्कुल विपरीत है, जिसमे कि बैलो की सख्या गायो की सख्या से २५ प्रति शत अधिक रहती है।

तालिका ५

सन् १९५६ मे जम्मू और कश्मीर मे विभिन्न आयु वर्गो की गायो और बैलो का वितरण

(लाख म)

आयु वर्ग (वर्ष)	बैल	गाय	कुल
०–१	१ ४८	१ ७१	३ १९
१–३	१ ९७	२ ५२	४ ४९
३ और अधिक	५ ४१	८ २२	१३ ६३
कुल	७ ८६	१२ ४५	२१ ३१

यह इस बात का सूचक है कि बैलो के विपक्ष मे कोई निश्चित चयन-प्रणाली कार्य कर रही है अथवा गायो का जन्मानुपात अपेक्षतया अधिक है। बादवाली बात अधिक जचती है, क्योकि हम यह आशा नही कर सकते कि किसान बैल, जोकि उसकी खेती का मुख्य साधन है, की अपेक्षा गाय पर ज्यादा ध्यान देगा अथवा उस पर ज्यादा खर्च करेगा। यह हो सकता है कि छोटी जोतवाले किसान, जोकि सामान्य आय करानेवाली फसले ही उगाते है, अपने बैलो की बीमारियो से रक्षा करने के लिए उपयुक्त सुरक्षा उपलब्ध न कर सके, जिसका परिणाम यह निकलता है कि उनमे से अधिकाश पशु कुसमय और अस्वाभाविक मौत मर जाते है।

ऐसी बात नही है कि सिर्फ बूढे तथा अनुत्पादक बैल ही भूखे मरते हो बल्कि युवा मवेशियो के अधिकाश को भी वही भुगतना पडता है। सामान्यतया एक गाय को अपनी उत्पादक उम्र मे, यदि उसे दूध देना होता है तो, कम से कम ८ बछडे पैदा करने होते है, जिससे गायो की शक्ति तो क्षीण हो ही जाती है, साथ ही उनकी सख्या किसान की जरूरत से भी अधिक हो जाती है—एक निश्चित सख्या मे पाले अथवा बदले जाने वाले मवेशियो मे भी अधिक। वस्तुत प्रति गाय से दो अथवा तीन बछडो की पैदाइश निश्चित स्तर पर पशुधन बनाये रखने के लिए पर्याप्त होगी, जोकि फिर भी अधिक है। बाकी अतिरिक्त है और उन्हे छाट कर निकाला ही जाना चाहिये, जिसकी इजाजत किसानो को नही है।

उच्च मृत्यु अनुपात

अत वह नजरअन्दाज और भूख का रास्ता अपना उन्हे स्वाभाविक मौत मरने देता है। इसे स्पष्ट करने के लिए यह बताना जरूरी ह कि १९५६ मे युवा मवेशियो की सख्या ७ लाख ६८ हजार थी जिनमे से ३ लाख १९ हजार ०—१ आयु वर्ग के थे और ४ लाख ४९ हजार १—३ आयु वर्ग के। यदि युवा मवेशियो मे मृत्यु नही होती तो १—३ आयु वर्ग मे मवेशियो की सख्या ६ लाख ३८ हजार होती। वस्तुत अभी उनकी सख्या १९५६ से मुश्किल से ४० प्रति शत अधिक है।

इस बीच जो कमी हुई है वह मौत के कारण। इस ४० प्रति शत को मृत्यु आपात मानकर ०—१ वर्ष के आयु वर्ग मे अकित ३ लाख १९ हजार मवेशियो की सख्या यह बताती है कि सालाना ४ लाख ५९ हजार मवेशियो का जन्म होता है और १—३ आयु वर्ग मे बचे ४ लाख ४९ हजार मवेशी यह बताते है कि सिर्फ २ लाख २ हजार मवेशी ही जीवन के तीन वर्ष पूरे कर पाते है। अन्य शब्दो मे ४ लाख ५९ हजार मे से सिर्फ २ लाख २ हजार ही अर्थात् करीब ४४ प्रति शत ही जीवन के प्रथम तीन वर्ष पार कर वयस्कावस्था मे प्रवेश पाते है। इस प्रकार चूँकि युवा मवेशियो की सख्या ज्यादा है और इतने अधिक वयस्क मवेशियो की जरूरत नही है अथवा उन्हे खिलाया-पिलाया नही जा सकता, कुल बछडे-बछडियो मे से ५६ प्रति शत तक को मरने दिया जाता है। दुर्भाग्यवश यह मृत्यु अनुपात भी कुल पशुधन के विकास को रोकने के लिए पर्याप्त नही है। इस त य मे कि युवा नर और मादा मवेशियो का मृत्यु अनुपात करीब-करीब समान है, यह तर्क पेश किया जा सकता है कि अभी जितने बैल है उनसे अधिक बैलो की जरूरत नही है अथवा उनसे अधिक को खिलाया-पिलाया नही जा सकता। नर और मादा दोनो ही युवा मवेशियो को भटकने के लिए छोड दिया जाता है।

इस प्रकार मवेशी विकास की समस्या केवल गुण मे ह्रास होने, कम दूध देने, क्षमता की कमी, वृद्ध और अनुत्पादक पशुओ की ही नही है, बल्कि इससे भी अधिक एक ऐसे निश्चित आकार-प्रकार के जवान पशुओ की है जो वैसे आकार-प्रकार के पशुओ की नस्ल का विकास कर उसे बनाये रखने के लिए आवश्यक आकार मे भी बडे बछडे, बछडियॉ आदि पैदा कर सके। "इसी कारण उपयुक्त चुनाव और छटाई के जरिये पशुधन प्रबन्ध का तरीका 'वैज्ञानिक ढग से पशुधन प्रबन्ध करने के लिए' मुख्य सिद्धान्त के तौर पर अपनाया गया है।"

अनुकूलतम सख्या

प्रत्यक्ष है कि अब वह समय आ गया है जबकि किसान को यह निर्णय लेना है कि उसे कितने बैलो की जरूरत खेती के लिए है और कितनी गायो की आ ्यक सख्या मे बैल और दूध देने के लिए तथा कितने नर अथवा मादा मवेशियो की आवश्यक सख्या बनाये रखने के लिए। अतिरिक्त मवेशियो का निश्चय हो जाने के बाद उन्हे दूर किया जा सकता है, क्योकि वे आर्थिक रूप मे दायित्व होने के अलावा उपयोगी कर्षक पशुओ, दुधारू मवेशियो और जन-आबादी से भोजन के मामले मे प्रतियोगिता करते है तथा उपयोगी मवेशियो की नस्ल को प्रभावित करते है।

प्रश्न उठता है कि पालने के लिए मवेशियो की अधिकतम और अनुकूलतम सख्या क्या होनी चाहिये ? सामा-

न्यतया अभी जो आठ लाख गायें हैं, वे सालाना ४ लाख ४९ हजार बछड़े-बछड़ियों को जन्म देती हैं। सिर्फ २ लाख २ हजार गायों से ही इतनी ही सख्या मे बछड़े-बछड़ियाँ प्राप्त की जा सकती है, बशर्ते कि वे उन्नत नस्ल की तथा स्वस्थ हो। फिर, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ४ लाख ४९ हजार बछडे-बछडियो मे से सिर्फ २ लख २ हजार ही तीन वर्ष से अधिक की उम्र प्राप्त कर पाती है। यदि इस मजबूरन मृत्यु की सख्या आधी कर दी जाय, जोकि विशेष सावधानी बरतने पर की जा सकती है, तो ४ लाख ४९ हजार वयस्क पशुओ का स्टाक बनाये रखने के लिए सालाना सिर्फ ३ लाख १ हजार बछडे-बछडियो की पैदाइश ही जरूरी होगी। इसका अर्थ है कि ५ लाख ४१ हजार बैलो की सख्या, जोकि क्षेत्र की कुल आवश्यकता से अधिक है, बनाये रखने तथा उनकी जगह नये बैल लाने के लिए ३ लाख वयस्क गायें काफी होगी। इस प्रकार गायो की सख्या बैलो की सख्या की सिर्फ ६० प्रति शत होनी चाहिये। चूकि बछडे-बछडियो की सख्या करीब-करीब बराबर है, अत यह आवश्यक है कि प्रति वर्ष ४० प्रति शत बछडियो की छटाई कर दी जाय। इससे युवा मवेशियो को अच्छा चारा मिलेगा, वयस्क मवेशी अधिक दूध देगे और बैल अधिक काम कर सकेगे।

मवेशी संख्या का नियंत्रण

अतिरिक्त मवेशियो की छटाई और उनकी सख्या मे वृद्धि नियत्रण इस कारण और भी आवश्यक हो जाता है कि राज्य मे चरागाह भूमि की कमी हो गयी है, क्योकि प्रत्येक इच भूमि को खेती के लायक बनाने की कोशिश की जा रही है।

इस प्रकार प्रश्न उठता है—इनकी सख्या किस प्रकार कम और नियत्रित की जा सकती है ? चन्द विकल्प है—(अ) जन्म निरोध, (आ) बीमारियो और महामारियो से मृत्यु, (इ) बन्धीकरण, (ई) कत्ल, और (उ) भुखमरी। मवेशियो के मामले मे जन्म निरोध सम्भव नही है। यदि इस सम्बन्ध मे कोई तरीका निकाल भी लिया गया तो गायो का १२वा हिस्सा भी दुग्ध उत्पादन कार्य के लिए नही रखा जा सकेगा और अनार्थिक रूप मे इतनी बडी सख्या मे उनका पालन बिना किसी लाभ के करना असभव हो जायेगा। बीमारियो और महामारियो मे मरने देना वाछनीय नही है, क्योकि इसका असर सम्पूर्ण मवेशियो पर किसी न किसी रूप मे पडेगा। बन्धीकरण के कई लाभ है, परन्तु इस दिशा मे अब तक चिकित्सा सुविधाओ की कमी के कारण कुछ नही किया गया है। चौथा विकल्प अर्थात् बेकार पशुओ का कत्ल आर्थिक रूप मे लाभप्रद जरूर है, परन्तु सामाजिक और धार्मिक रूप मे इस पर बहुत मतभेद है, और हमारे सास्कृतिक तथा परम्परागत मूल्यो के अनुरूप भी नही है। इस प्रकार एक ही विकल्प और बच जाता है, और वह है जानबूझ कर जानवरो को चारे और ठीक से देख-भाल के बिना मर जाने देना। यह प्रथा जोरदार रूप मे प्रचलित है, भले ही प्रकट रूप मे ऐसा कुछ नजर न आता हो, और यह अविवेकपूर्ण, अनार्थिक तथा व्यर्थ है। भूख मे मरे जानवरो की खाले भी निकृष्ट श्रेणी की होती है और उनमे मास, चर्वी आदि भी अधिक प्राप्त नही होते।

चन्द आवश्यक उपाय

किसान यह जानता है कि बिना चुनिन्दा मवेशी रखे वह उनकी पूरी देखभाल नही कर सकता, परन्तु कानूनी और सामाजिक प्रतिबन्ध इस सम्बन्ध मे उसकी पहल मे रुकावट डालते है। इस दिशा मे एक निर्भीक और फलमूलक कार्यक्रम अपनाने की आवश्यकता है तथा सदियो पुरानी परम्पराओ को वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओ के अनुरूप उपयुक्त ढग से परिवर्तित करना है।

मवेशियो की सख्या मे विवेकपूर्ण वृद्धि, बेकार पशुओ का पूर्ण बन्धीकरण और अनुत्पादक गायो का अनुर्वरीकरण कार्य अपनाया जाना चाहिये। बाकी गायो की दूध देने की क्षमता को भी मान्य साडो के जरिये ही प्रजनन कर सुधारना होगा। सम्भोग मध्यान्तर को अल्प बना, गायो और साडो को एक साथ रखने पर प्रतिबन्ध लगा सभोग मे नियत्रण कर, गायो को गाभिन करने की क्षमता के आधार पर सॉडो को चिन्हित करना तथा उपयुक्त जननिक गुणो का विकास करना होगा।

सूखी बेकार गायो, अन्य बेकार मवेशियो और दूध देनेवाले एव उपयोगी मवेशियो के बीच उचित सतुलन प्राप्त करना उद्देश्य होना चाहिये। यदि यह किया जा सका तो दुग्ध उत्पादन पर इसका असर पडेगा, परन्तु इससे रख-रखाव खर्च मे काफी कमी हो जायेगी और उसी के अनुसार दुग्ध उत्पादन खर्च मे भी उतनी ही कमी हो जायेगी। काम आनेवाले पशुओ की पूर्ति पर भी कोई बुरा असर नही पडेगा, क्योकि गायो की सख्या कम होने मे बाकी बचे मवेशियो को अधिक तथा पौष्टिक खुराक मिल सकेगी, गाये जल्दी गाभिन हो सकेगी, उनकी अन्तर्वर्ती अवधि कम हो जायेगी और वे दिनोदिन अधिक बछडे तथा दूध देने लायक हो सकेगी।'

लघु-कालीन दृष्टि से सरकार को अयोग्य, बेकार और अनुत्पादक मवेशियो को अपने कब्जे मे ले लेना चाहिये, जोकि अभी योग्य मवेशियो को उनके भोजन और चारे से वचित कर रहे है ताकि वे कृषि पर बोझ न बने रहे। इस सब के अलावा चरागाह भी बढाने की आवश्यकता है ताकि अधिक चारा मिल सके और उसे योग्य मवेशियो को खिलाया जा सके। चरागाह के विकास के लिए एक निश्चित सयोजित कार्यक्रम किसी किस्म की फसल योजना के अन्तर्गत होना चाहिये।

सरकारी निरपेक्षता

यहाँ इस सम्बन्ध मे इस बात की समीक्षा करना उपयुक्त होगा कि पिछले १३ वर्ष मे इस समस्या के समाधान हेतु सरकार ने क्या किया है। प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे इस विभाग का प्रत्यक्ष महत्व होते हुए भी राज्य सरकार ने पशुधन विकास के लिए कोई विस्तृत और समग्र कार्यक्रम, विशेष कर अतिरिक्त सख्या के नियत्रण के मामले मे, नही बनाया है और न ही कोई बडा पशुपालन तथा दुग्ध उत्पादन कार्यक्रम कार्यान्वित किया है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि प्रथम तीन योजनाओ मे कुल १ अरब २२ करोड के प्रावधान मे से इस विभाग के लिए सिर्फ दो करोड रुपये ही दिये गये।

तालिका छ दर्शाती है कि न सिर्फ कुल योजना खर्च को देखते हुए इस विभाग के लिए दी गयी निधि नगण्य रही, बल्कि प्रस्तावित निधि, विशेष कर प्रथम और द्वितीय योजनाओ की अवधि मे, खर्च भी नही हो पायी। इसका परिणाम यह निकला कि जो छोटी-मोटी सुविधाएँ और पूर्ति आवश्यक मानी जाती थी उनकी भी उपलब्धि नही की गयी।

बडी विचित्र बात है कि जो विभाग राज्य की कुल आय मे करीब १५ प्रति शत योगदान देता है उस पर मुश्किल से १ से २ प्रति शत निवेशगत पूजी खर्च की गयी है। भौतिक रूप मे भी कोई खास सुधार नही दिखाई देता। प्रत्येक ६७ हजार मवेशियो के लिए एक अव्यवस्थित अस्पताल है, प्रत्येक २४ हजार मवेशियो के लिए एक छोटा-सा दवाखाना है, प्रत्येक १,३३० के लिए प्राथमिक उपचार केन्द्र है और प्रत्येक ८७ हजार के लिए एक कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र है। जब तक पशुधन प्रबन्ध और विकास के लिए—सख्या नियत्रण अथवा नस्ल सुधार के अतिरिक्त—योजित कार्यक्रम कार्यान्वित नही किया जाता, तब तक राज्य की आवश्यकताओ के अनुरूप उन्नत नस्ल के मवेशियो का प्राप्त करना मुश्किल ही लगता है।

वल्लभ विद्यानगर (गुजरात), १६ जुलाई १९६४

तालिका ६

सन् १९५१ और १९६१ के बीच पशुपालन पर कुल निवेश और १९६१-६५ की अवधि मे अनुमानित खर्च

(लाख रुपयो मे)

वर्ष	पशुपालन के लिए कुल प्रावधान (१)	वास्तविक खर्च (२)	योजना का कुल खर्च (३)	३ के प्रातिशत्य स्वरूप १ (४)
१९४७ (योजना से पूर्व)	२ २६	—	—	—
१९५१–५६	२४ ३८	२२ १६	१,२७४ ०७	१ ९
१९५६–६१	७४ ५७	४६ ५५	३,३९२ ००	२ २
१९६१–६५ (अनुमानित)	१०० ००	अनुपलब्ध	७,५०० ००	१ ३

मद्रास के एक गाँव का आर्थिक चित्र

त. सो. यशवन्त और ने. सु. तिरुवेंकटाचारी

मद्रास राज्य के उत्तर आर्काट जिले मे स्थित वगाई गॉव की अर्थ-व्यवस्था के अध्ययन से पता चलता है कि काश्तकारी की सुरक्षा-विहीन अवस्थाओं और सिचाई सुविधाओं की कमी के कारण अधिकाश आबादी बडी मुश्किल से गुजर-बसर कर सकती है। साठ प्रति शत परिवार पूरक धधे के रूप में हाथ करघा बुनाई पर निर्भर करते है, परन्तु इस उद्योग की अवस्था भी कोई विशेष अच्छी नही है।

वगाई गॉव मद्रास राज्य मे उत्तर आर्कोट जिले के चेटयर ताल्लुके मे है। मद्रास-वडीवाश सडक पर ५६वे मील पर एक गॉव है दुसी, बस से वही उतर कर इस गॉव मे पहुँचा जा सकता है। वगाई का क्षेत्रफल है ४१६ ५४ एकड और आबादी है ४०२, जोकि ७९ परिवारो मे बटी है। यहाँ से काजीवरम् शहर सिर्फ छ मील दूर है। काजीवरम् अपनी हाथ करघा रेशमी साडियो के लिए प्रसिद्ध है। वगाई मे एक पुरवा भी है नत-कोल्लई, जोकि गॉव के मध्य भाग से तीन फर्लांग की दूरी है।

जातियाँ और आबादी

वगाई गॉव मे वन्य जाति के लोगो की सख्या अधिक है। तालिका १ मे जातिवार परिवारों के आकडे दिये गये है।

तालिका १

वगाई मे जातिवार परिवार

जाति	परिवार सख्या	कुल का प्रतिशत्य
वन्य	७१	८९ ८
इरुला	५	६ ३
यादव	१	१ ३
विश्व-ब्राह्मण	१	१ ३
मैस्त्री (धोबी)	१	१ ३
कुल	७९	१०० ०

वन्य जाति के लोग कृषक-सह-हाथ करघा बुनकर है। उनके पास अधिकाशत दुसी गॉव के ब्राह्मणो की जमीन पट्टे पर है, वे अतिरिक्त कमाई के लिए हाथ करघा चलाते है—यह उनका परम्परागत पेशा नही है। इरुला* जाति के लोग आदिवासी है और कृषि-मजदूरी करते है। अकेला यादव परिवार खेती मे लगा है। विश्व-ब्राह्मण और धोबी अपना पुश्तैनी धधा क्रमश लोहारी और सुनारी तथा कपडा धोने का काम करते है। इरुला को छोड बाकी सभी जातियाँ सहायक धधे के रूप मे हाथ करघा बुनाई का कार्य करती है। ग्रामीण लोग बुनाई कार्य सिचाई की अनिश्चितता के कारण ही करते है। तालिका २ मे दिये गये आकडे गॉव की भूमि-

तालिका २

वगाई मे भूमि उपयोग

श्रेणी	एकड
विशुद्ध कृष्ट भूमि	२३५ ९४
एक से अधिक बार जोती गयी भूमि	१५२ ९६
अकृषक कार्यो मे लगी भूमि	१३१ ८५
पडती भूमि	४८ ७५

स्रोत विलेज रेकार्डस'

उपयोग पद्धति दर्शाते है, जिसके अध्ययन से हमे यह जानकारी मिलती है कि इस गॉव के लोग अपनी आय के मुख्य स्रोत कृषि पर कितने अधिक निर्भर है।

---

* ए. अय्यप्पन. 'रिपोर्ट ऑन दि सोशियो-इकनॉमिक कडीशस ऑफ दि एबोरीजनल ट्राइब्स ऑफ दि प्रोविन्स ऑफ मद्रास,' पृष्ठ १०१-१०९।

खेती के अन्तर्गत और भी ४८ ७५ एकड भूमि लायी जा सकती है। सडक, निवास आदि जैसे अकृषक कार्यो मे १३१ ८५ एकड भूमि है। सिंचित भूमि १६० २७ एकड है तथा असिंचित भूमि १२४ ४२ एकड। सिंचित व असिंचित दोनो ही प्रकार की भूमि पर धान की खेती की जाती है। गाँव के लिए सिंचाई का स्रोत है मैमनदुर हिस्सा तालाब, जोकि पानी के लिए पालार एबीकट नहर पर निर्भर करता है। सिंचाई के लिए ३२ गाँव इस मैमनदुर हिस्सा तालाब पर निर्भर करते है। इस तालाब को नियमित रूप मे पानी नही मिलता, क्योकि पानी पूर्ति करनेवाली नाली १९३१ की बाढ के कारण कीचड से भर गयी थी। इस कारण अधिकाश वर्षो मे तालाब पूरा भर नही पाता, जिस कारण फसल का न होना आम बात है। सरकार नाली की छँटाई का काम कर सकती है; क्योकि वह गाँव का जीवन-स्रोत है।

तालिका ३

वगाई की फसले

फसल	फसल के अन्तर्गत क्षेत्र (एकड मे)	कुल का प्रातिशत्य
धान	३३९ ५४	८७ ३
मूगफली	३८ ८१	१० ०
रागी	५ ०६	१ ३
अन्य*	५ ४९	१ ४
कुल	३८८ ९०	१०० ०

स्रोत विलेज रेकार्डस।

* वारागु, तरकारिया, दाल आदि शामिल है।

धान सर्वाधिक महत्वपूर्ण फसल है। धान और रागी आदि तथा मूगफली की फसले शुष्क फसलो के रूप मे पैदा की जाती है। साल मे दो फसले पैदा की जाती है, यद्यपि बहुत कुछ मैमनदुर हिस्सा तालाब मे उपलब्ध जल पर निर्भर करता है। अगर तालाब मे काफी पानी होता है तो साल मे धान की तीसरी फसल भी पैदा की जाती है।

खेती

खेती मे चन्द अच्छे सुधार हुए है। लोहे के हल चलाये जाते है और उर्वरको का भी आम इस्तेमाल होता है। कृषको की आम शिकायत यह है कि उन्हे मैमनदुर की बहुधधी सहकारी समिति से उचित दर तथा उपयुक्त समय पर पर्याप्त उर्वरक नही मिलते, जिसका कारण यह है कि उक्त समिति को कई गाँवो को उर्वरको की पूर्ति करनी पडती है, जिसका परिणाम यह निकलता है कि कई छोटे किसानो को उर्वरक नही मिल पाते। कुछ किसानो को उर्वरक ऊँची दर पर अन्य स्रोतो से खरीदने पडते है। प्रति एकड ५० से २२० पौड उर्वरको का इस्तेमाल किया जाता है और अनाज (धान) की उत्पादन वृद्धि के लिए यह अनुकूल कारक है। प्रति एकड धान की उपज १२ बोरा (१,५१२ पौड) है, जोकि कई गुनी बढायी जा सकती है, यदि समय पर और पर्याप्त मात्रा मे उर्वरक दिये जाये। गाँव मे ३५ काश्तकार है, जोकि सुरक्षा की कमी और उत्पादन मे उचित हिस्सा न मिलने के कारण भुगतते है। अभी काश्तकार को कुल उत्पादन का करीब ४५ प्रति शत मिलता है। खेती का सारा खर्च काश्तकार को देना होता है, जबकि भू-स्वामी भूमि-राजस्व ही चुकाना है।

सहायक उद्योग

एक ओर प्रतिकूल काश्तकारी और दूसरी ओर मैमनदुर हिस्सा तालाब से जल-पूर्ति की अनिश्चितता होने से अधिकाश आबादी, दूसरे गाँव के काश्तकारो सहित, घाटे की जोखिम उठाती है। हाथ करघा बुनाई ही उन्हे बचाती है। दुर्भाग्यवश, इस धधे मे भी उन्हे कठिनाइयाँ आती है, क्योकि वे काजीवरम् शहर के निकट रहनेवाले मास्टर बुनकरो के अन्तर्गत काम करते है। बुनकरो को बहुत-कुछ मजदूर ही समझा जाता है और उन्हे

मजदूरी, जितना कपडा वे बुनते है उसके हिसाव मे दी जाती है। करीब ६० प्रति शत परिवार हाथ करघा बुनाई मे लगे है, जोकि उनका पारिवारिक उद्यम बन गया है। प्रत्येक घर मे उडन ढर्की करघे इस्तेमाल किये जाते है। बुनकरो के पास अपने करघे है और अधिकाश मामलो मे बुनाई कार्य अपने घरो मे ही किया जाता है।

हाथ करघा उद्योग की आर्थिक स्थिति का रूप इस प्रकार है मास्टर बुनकर कारीगर बुनकर को सूत सप्लाई करता है, बुनकर उसमे साडी और कैली (रगीन लुगी) जैसी वस्तुऐं बुन कर लौटा देता है। कुछ समय मे अमेरिका, इग्लैड, आस्ट्रेलिया आदि विदेशो मे ये वस्तुऐं लोकप्रिय होती जा रही है। अब रेशमी साडियो की बुनाई को अधिक महत्व दिया जा रहा है, क्योकि सूती साडियो अथवा कैलियो की बुनाई की तुलना मे उनमे अधिक पैसे मिलते हैं।

हाथ करघा बुनकरो की अवस्था

एक परिवार (वयस्क पुरुष, वयस्क नारी और एक मददगार) एक **चित्तम** सूत से एक गज साडी बुन सकता है। मजदूरी ७५ पैसे से १ रुपया गज है। इस प्रकार एक परिवार मजदूरी स्वरूप ७० से ८० रुपये महीना कमा सकता है, यदि वह माह मे १५-१६ दिन काम करे। चूँकि सूत की सप्लाई, जोकि स्वय अधिकाशत बाजार की मॉग पर निर्भर करती है, मास्टर बुनकर अनियमित रूप से करता है अत बुनकरो की रोजगारी अनिश्चित और अनियमित रहती है। इसके मौसमी होने का एक कारण यह भी है कि बरसात के दिनो मे बुनाई करना सम्भव नही है, क्योकि ताना-बनाने आदि जैसे प्राथमिक कार्य जोकि खुले मे किये जाते है, नही किये जा सकते। हमेशा रोजगारी न मिलने के कारण आमदनी कम होती है, जिससे बहुत-से बुनकरो को मास्टर बुनकरो के चगुल मे मजबूरन फँसना पडता है, जोकि उनकी **ऋण** सम्बन्धी आवश्यकताओ के बडे भाग की पूर्ति करते है।

उपसंहार

मास्टर बुनकरो के अन्तर्गत काम करनेवाले हाथ करघा बुनकरो की दयनीय अवस्था है। ग्रामीणो ने दुसी की सहकारी समिति का उपयोग करते हुए अपनी सहकारी सस्था बनाने की इच्छा जाहिर की है। परन्तु उनके लक्ष्य की पूर्ति मे मुख्य बाधाएँ पूजी और सहकारी समिति के सदस्यो मे धन की कमी है। आशा है कि नयी पचायत अपने प्रबुद्ध नेतृत्व मे गॉव के गुटबन्द समाज को सुधारने का जो प्रयास कर रही है, उससे ग्रामीणो की आर्थिक अवस्था सुधरेगी। कई कमियो और कमजोरियों के बाद भी अन्तत यह कहा जा सकता है कि गॉव मे हाथ करघा उद्योग कृषि का सुखद अवलम्ब है।

अध्ययन मे वगाई की अर्थ-व्यवस्था का उज्ज्वल चित्र नही मिलता। कृषि और उद्योग की उत्पादकता मे वृद्धि न होने के कारण है—सिचाई की कमी, वित्त की कमी, उर्वरको की कमी, मास्टर बुनकरो के अन्तर्गत काम करना, आदि। अत ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को पुन प्राणवान बनाने के लिए कार्यवाही करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

मद्रास ३ जुलाई १९६४

★

दक्षिण कॅनरा में बदलौन व्यापार

नवीनचन्द्र कृ. तिंगलाया

प्रस्तुत लेख मे मैसूर राज्य के दक्षिण कनरा जिले के किसानो और मछियारिनो के बीच प्रचलित बदलौन व्यापार की अनोखी विशिष्टताओ का विश्लेषण किया गया है।

भारत जैसी कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था मे, जहाँ कि बिक्री योग्य कुल अतिरिक्त कृषि सामग्री का करीब ६० प्रति शत ग्राम स्तर पर ही बिक जाता है, यदि ग्रामीण क्षेत्रो मे बदलौन व्यापार अभी भी प्रचलित है तो इसमे कोई ताज्जुब की बात नही है। इन क्षेत्रो मे मजदूरो और ग्रामीण कारीगरो को जिस के रूप मे पारिश्रमिक चुकाना आम बात है। **रिपोर्ट ऑफ मार्केटिंग ऑफ राइस इन इण्डिया** के अनुसार कुल धान उत्पादन का करीब १ ७ प्रति शत किसानो द्वारा बदलौन के लिए इस्तेमाल किया जाता है।[1] यद्यपि यह प्रातिशत्य बिल्कुल नगण्य है, बडी सख्या मे अकृपक ग्रामीणो के आर्थिक कल्याण मे यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, क्योकि बदलौन व्यापार कृषि उत्पादको तथा ग्रामीण फेरीवालो, कारीगरो और अन्य छोटे-छोट व्यापारियो के बीच विनिमय की प्रचलित विधि है। इस लेख मे मैसूर राज्य के दक्षिण कॅनरा जिले मे किसानो और मछेरिनो के बीच चलनेवाले बदलौन व्यापार की विशेषताओ पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

सामान्य पृष्ठभूमि

जिले की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ हैं विकसित हो रही कृषि, भरपूर जगली स्रोत और विशिष्ट मत्स्य उद्योग। जिले की मुख्य फसल है धान और कुल राष्ट्रीय धान उत्पादन मे प्रत्येक जिले के प्रातिशत्य योगदान के अनुसार देश के १७१ धान पैदा करनेवाले जिलो मे इसका स्थान ३८वॉ है।[2] यद्यपि यहॉ धान की खेती बारिश पर निर्भर है, उत्पादन दर देश की चन्द सर्वोच्च उत्पादन दरो के बराबर है। मत्स्य धन के मामले मे भी यह जिला बडे स्रोतो मे से एक है। यहॉ के मछुओ का जीवन भौतिक साधनो अथवा जीवन-स्तर के बदले आनन्ददायक रीति-रिवाजो और सामाजिक सगठनो से परिपूर्ण [illegible] जाता है।[3] मछली पकडने के मौसम मे जो अतिरिक्त मछलियॉ बच जाती है, उन्हे पुराने तरीके से नमक लगा कर और सुखा कर आरक्षित रखते हैं। बहुत-से बियवानिये नमक लगी मछलियो का व्यापार करते है और तमिलनाड तथा श्रीलका मे महज ही इनकी बिक्री हो जाती है।

यहॉ दिये जा रहे आकडे बदलौन-व्यापारवाली सामग्रियो की मात्रा के मुख्य सूचकाक है। जिले मे उत्पादित कुल २,३८,६५० टन चावल (१९६०-६१) मे से करीब ३,०४० टन (कुल उत्पादन का १ ७ प्रति शत) का विनिमय बदलौन व्यापार के जरिये होता है। सूखी मछलियो के सम्बन्ध मे आकडे उपलब्ध नही है। तथापि, **रिपोर्ट ऑफ मार्केटिंग ऑफ फिश इन इण्डिया** के अनसार २,३८,४५० मन मछलियो पर दक्षिण कॅनरा के सरकारी यार्डो मे नमक लगाया जाता है।[4] चकि यार्डो के बाहर भी उतनी ही मछलियो पर

---

१ रिपोर्ट ऑन दि मार्केटिंग ऑफ राइस इन इडिया, भारत सरकार, द्वितीय सस्करण, १९५५।

२ एग्रीकल्चरल सिचुएशन इन इडिया, अगस्त १९५९, पृष्ठ ६१६।

३ विस्तृत विवरण के लिए देखे 'दक्षिण कॅनरा के मछुवाही गॉवो का सामाजार्थिक सगठन', खादी ग्रामोद्योग, जुलाई १९६३।

४ रिपोर्ट ऑफ मार्केटिंग ऑफ फिश इन इडिया, द्वितीय सस्करण, १९६१, पृष्ठ ७९।

नमक लगाया जाता है, अत नमक लगायी जानेवाली मछलियों की मात्रा ५,००,००० मन मानी जा सकती है। इसमे से करीब १,००० मन का बदलौन व्यापार मे इस्तेमाल होता है और बाकी विक्री माध्यमो के जरिये जिले के मछली खानेवाले लोगो अथवा मद्रास राज्य और श्रीलंका के व्यापारियो को बेच दी जाती है।

बदलौन व्यापार

किसानो और मछुवो के बीच धान और मछली के विनिमय मे व्यपार को **मुदाई पोपिनी** कहते है, जिसका अर्थ है "पूर्वी गॉवो मे जा रहे है" अर्थात् पश्चिम के तटीय मछलीमार गावो से मछेरिने अपने माल के साथ अन्दर के गॉवो मे जाती है। इस प्रकार बदलौन व्यापार मछलीमार केन्द्रो से २०-२५ मील की त्रिज्या के अन्तर्गत उन गॉवो मे होता है जहॉ कि जल्दी पहुंचना कठिन है। मछेरिन समूह मे सर पर मछली की टोकरी रखे और कभी-कभी दिन-रात कही-कही ठहरती हुई अपनी मछली के बदले धान अथवा चावल प्राप्त करने के लिए मारा रास्ता तय करती है। सम्भवत खेतो के आस-पास सूखी मछली की पूर्ति करने की वजह से ही उसकी माग बनी रहती है।

विनिमय की दर

धान और सूखी मछली के बीच बदलौन शर्ते अथवा विनिमय की दर प्रभावित करनेवाला मुख्य कारक सम्बन्धित वर्गो द्वारा दोनो किस्म के माल की मॉग का परिमाण है। चावल सम्बन्धी मछुओ की मॉग अपेक्षतया वर्षो तक एक ही बनी रहती है। चूकि मछेरिन बदले मे अपने परिवार की वार्षिक आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त चावल प्राप्त कर लेना चाहती है, अत वे बदले मे कम चावल मिलने पर भी उसे लेने को तैयार रहती है, जबकि किसान परिवारो मे मछली की मॉग उनकी रसोई-वाटिकाओ मे पैदा हुई तरकारियो से व्युत्क्रमानुपातिक रूप से सम्बन्धित है। प्रस्थापित सीमान्तर दर की हिकसियन शब्दावली मे विनिमय प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए यह कहा जा सकता है कि सूखी मछली प्राप्त करने की इच्छा चावल की मॉग की पूर्ति से जल्दी हो सकती है। अत कुछ समय के बाद व्यापार की शर्ते, मछेरिनो के लिए अनुकूल नही भी हो सकती है और चावल प्राप्त करने के लिए अभी से कही अधिक मछली देनी पड सकती है। इसके विपरीत किसान परिवार मछली लेकर अपेक्षतया अच्छी दर पर चावल देने के बदले उसे जमा रखना पसन्द कर सकते है। अत मछेरिने अगर और बदलौन करना चाहेगी तो तरकारियॉ देगे, क्योकि अब तक वे काफी सूखी मछली खा चुके है और बदले मे चावल देना उपयुक्त नही समझते। उन्हे वे मछली से उत्तम मानते है।

उत्तरी भागो मे प्रचलित

इन दो प्रकार के प्राथमिक उत्पादनो के बीच—चावल और सूखी मछली का—बदलौन व्यापार जिले मे ५० वर्षो से भी अधिक से प्रचलित है। जिले के सम्बन्ध मे जो सबसे पुराना अधिकृत प्रतिवेदन प्राप्त है, उसमे भी उसकी परोक्ष सूचना है।[५] जिले के दक्षिणी भागो के बनिस्बत उत्तरी भागो (होस्बेट्टु से माल्पे तक) मे यह व्यापक रूप से प्रचलित था। इसका कारण दोनो भागो मे सडक और परिवहन सुविधाओं के फर्क से जाना जा सकता है। चूकि दक्षिणी भागो मे अच्छी सडके और नियमित परिवहन सुविधाऍ है, अत दूरस्थ गॉवो मे भी लोग किसी न किसी बाजार तक सहज ही पहुँच सकते है। अत इस भाग मे इन वस्तुओ मे बदलौन व्यापार नही होता। उत्तरी भाग मे सडको की कमी और अधिकाश गॉवो तक सहज ही न पहुँच सकने के कारण किसान परिवारो को मछली प्राप्त करने के लिए मछेरिनो और उनके बदलौन व्यापार पर निर्भर करना पडता है। इस प्रकार अन्य बिचवानियो के न होने पर मछेरिन नमक लगाने, सुखाने और दूर-दूर बसे अपने ग्राहको को मछली देने का काम करती आ रही है।

बदलौन व्यापार उनके दैनिक जीवन का अग बन गया है। मछुओ की ग्राम सभा की इसे स्वीकृति प्राप्त

५ जे स्टुरॉक साउथ कॅनरा डिस्ट्रीक्ट मैन्युअल, १८९४।

है। मछेरिना और किसान परिवारो के बीच रीति-रिवाजो ओर आपसी सहमति से सम्पर्क स्थापित हो जाता है। विभिन्न गॉवो मे मछेरिनो के अपने बधे ग्राहक है जिनके यहॉ कोई दूसरी मछेरिन मछली बेच ही नही सकती, अत उनके यहॉ दूसरा कोई जाता ही नही। यह परम्परागत अनुबध मछुओ द्वारा इतनी ईमानदारी से निभाया जाता है कि ग्राहको पर उनका अधिकार-सा हो जाता है, और लोग इसे मानते भी है। ग्राम सभा का इन रीतियो तथा अन्य कई सामाजार्थिक गतिविधियो पर इतना जबरदस्त अधिकार रहा है कि पचासो वर्षो से बदलौन व्यापार पद्धति उनके परम्परागत जीवन का अग बनी रही है।

ग्राम सभा का अधिकार

पिछले पचास वर्ष से यह परम्परागत बदलौन व्यापार इसलिए जिन्दा रह सका है कि मछेरिनो को इससे आर्थिक लाभ होता है। चूकि उसे बदलौन व्यापार से साल भर के लिए चावल मिल जाता है, वह अनाज बाजार की घट-बढ से मुक्त हो जाती है। बरसात के दिनो मे जब मछली पकडने का काम बन्द हो जाता है तो मछेरिन परिवार के पास जीविका अर्जित करने के लिए कोई काम नही होता और उसके पास मौसम मे सूखी मछलियॉ देकर जमा किया गया चावल ही बचा रह जाता है। युद्धकाल के पूर्व के वर्षो मे उसे बदलौन व्यापार के जरिये अपनी आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त चावल मिल जाता था, और वह आषाढ के दिनो मे भूखो मरने से बच जाती थी। ऐसा शायद ही कभी होता था कि मछुआ परिवारो के पास साल भर खाने के लिए पूरा चावल हो, जबकि किसान परिवारो के पास उसकी कमी हो।

तथापि, हाल के वर्षो मे बदलौन व्यापार मे ह्रास होता जा रहा है। यह कई आर्थिक कारणो से है जोकि धीरे-धीरे ग्राम्य जीवन के क्रम और पद्धति को परिवर्तित कर रहे है। प्रथम, धातु-टकन प्रक्रिया अर्थात् रुपये-पैसे के प्रचलन ने धीमी गति के बावजूद बदलौन व्यापार के आकर्षण को कम कर दिया है। युद्ध के समय से अनाज के भाव मे बढोतरी होते रहने से किसान अधिकाधिक बाजार मुखी होते जा रहे है, विशेष कर उत्तम अनाज बेचने के मामल मे। वे अपना सारा उत्पादन (घर खर्च के लिए थोडा-सा रख कर) गॉव के बनिये को बेच देते है। अब उन्हे सूखी मछलियॉ परम्परागत मछेरिनो से नही खरीदनी पडती, उनकी जगह छोटे-छोटे मछली व्यापारियो ने ले ली है और वे नकद व्यापार करते है।

सडक और परिवहन पद्धति के विकास ने दक्षिण कॅनरा के गॉवो मे बदलौन व्यापार कार्य को अधिकाधिक मन्दा कर दिया है। दूरस्थ गॉवो मे साइकिल मे सहज ही पहुँच सकने के कारण अब मछेरिनो का गॉव-गॉव घूम कर बेचने का काम बन्द हो गया है। छोटे-छोटे मछली व्यापारी साइकल पर मछली लाद कर कई बार गॉवो मे घूम जाते है।

बदलौन व्यापार मे ह्रास

फिर, इधर हाल मे मछुआ समाज मे शिक्षा के प्रसार से, इस पुरानी पद्धति को बेकार माना जा रहा है। इसके बदले वे अपना माल बिक्री के लिए निकटस्थ शहरो मे ले जाते है। वे उन व्यापारियो के हाथ भी अपना माल बेच देते है जो अपनी गाडी उनके दरवाजे पर लाकर उनसे नकद देकर खरीद लेते है। और, किसानो द्वारा मजबूरन माल बेचने की जो बात कही जाती है, वह भी इस मामले मे बिल्कुल सही है, जैसे कहा जाता है "किसानो की अवस्था जिसके पास पैसा है, बाजार है और परिवहन है, उसके साथ प्राय यदि वह कर सकता है तो, सौदेबाजी करने की होती है।"[६]

इस प्रकार सूखी मछली और चावल का बदलौन व्यापार अब समाप्त होने की अवस्था मे आ गया है। एक समय था जबकि यह मछुओ के जीवन और श्रम का अविभाज्य अग था। आज यह करीब-करीब भूत-कालीन वस्तु बन गया है।

बम्बई २२ जून १९६४

---

६ रूरल क्रेडिट सर्वे जनरल रिपोर्ट, सक्षिप्त सस्करण, पृष्ठ ३७।

भ्रष्टाचार निवारण के लिए उपाय

भारत सरकार ने ससद सदस्य श्री के सन्तानम की अध्यक्षता मे 'भ्रष्टाचार निवारण समिति' का गठन किया। अन्य बातों के साथ-साथ समिति से ''इस प्रकार के नपे तुले उपाय सुझाने के लिए कहा गया कि उनके फल-स्वरूप जन-सेवको एवम् सामान्य जनता दोनो में ही एक ऐसा सामाजिक वातावरण निर्मित हो, जिसमे घूसखोरी और भ्रष्टाचार न पनप सके। अध्यक्ष के अतिरिक्त समिति के अन्य सदस्य इस प्रकार थे ससद सदस्य श्री सन्तोष कुमार बसु, श्री टीका राम पालीवाल, श्री आर के खाडीलकर, श्री नाथ पै और श्री शम्भूनाथ चतुर्वेदी, प्रशासनात्मक सतर्कता सम्भाग के निदेशक श्री एल पी सिंह और स्पेशल पुलिस इस्टेब्लिशमेण्ट के इन्स्पेक्टर जनरल श्री डी पी कोहली। प्रशासनात्मक सतर्कता सम्भाग के सयुक्त निर्देशक श्री टी सी. ए रामानुजाचारी समिति के सचिव थे।

भ्रष्टाचार निवारण के लिए समिति ने जो सुझाव दिये हैं उनमें से कुछ सझाव (प्रतिवेदन का छठवॉ अध्याय) यहा पुनः प्रकाशित किये जा रहे ह।

भ्रष्टाचार का उन्मूलन अथवा यहॉ तक कि किसी उल्लेखनीय सीमा तक उसमे कमी भी तब तक नही की जा सकती, जब तक कि तत्सम्बन्धी निरोधक उपायोको योजन-बद्ध रूप मे एक अविरल और प्रभावशाली ढग से कार्यान्वित न किया जाय। निरोधक कार्रवाई मे, आवश्यक रूप से ही प्रशासनात्मक, कानूनी, सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक उपाय शामिल होने चाहिये।

भ्रष्टाचार रोकने और उसके लिए एक ऐसा वातावरण निर्मित करने के लिए, जो सत्यनिष्ठा के मार्ग से विमुख करनेवाले किसी भी लालच को बडे जोरदार रूप मे निरुत्साहित करेगा, मुख्य प्रयास स्वय मत्रालय-विभाग की तरफ से होना चाहिये। इस सम्बन्ध मे जिम्मेवारी को मानना, उस पर जोर देना और उसे स्वीकार करना ही पर्याप्त नही है, बल्कि यह भी समझ लेना है कि कुछ मामले सामने आने पर कार्रवाई मात्र करने से ही काम नही चलेगा वरन् सवेदनशील स्थलो पर अनवरत निगरानी रखना और उन्हे खोज निकालना कितना ही अधिक महत्वपूर्ण है। (अ) विवेकाधीन शक्तियो, (आ) उक्त शक्तियो को अमल मे लाने के स्तरो, (इ) इन शक्तियो को काम मे लाने के ढग, (ई) इस प्रकार की शक्तियो के प्रयोग पर पदसोपान (हीरार्की) के भीतर काम मे लाये जानेवाले नियत्रण, और (उ) जिन स्थितियो मे तथा जिन कामो के लिए नागरिक मत्रालय और/या विभाग के सम्पर्क मे आते है, उनकी सूची बनाने के लिए कानूनो, नियमो, तौर-तरीको तथा कार्य-पद्धतियो की सुव्यवस्थित व परिपूर्ण समीक्षा की जानी चाहिये।

परिपूर्ण अध्ययन आवश्यक

इसके अतिरिक्त प्रत्येक मत्रालय / विभाग / प्रतिष्ठान के सम्बन्ध मे भ्रष्टाचार की सीमा, गुजाइश और रूप के, यदि कोई निरोधात्मक और शोधक उपाय निर्धारित हो तो, उनका और उनकी प्रभावशालिता का गहन अध्ययन किया जाना चाहिये। यह देख कर हमे खेद होता है कि अभी तक इस दिशा मे कोई प्रयास नही किया गया है। हम सिफारिश करते है कि प्रत्येक मत्रालय / विभाग / प्रतिष्ठान के सम्बन्ध मे इस प्रकार के अध्ययन प्राथमिकता के आधार पर शुरू किये जाये, और केन्द्रीय सतर्कता आयोग (सेण्ट्रल विजीलेन्स कमीशन) को भी चाहिये कि वह इस महत्वपूर्ण कार्य पर ध्यान दे। इसके लिए आयोग को सरकार आवश्यक कर्मचारी तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान कर सकती है।

कलकत्ता और बम्बई मे हम लोग जिन व्यावसायिक और व्यापारिक क्षेत्र के प्रतिनिधियो से मिले, उन्होने प्राय एक स्वर मे बताया कि लायसेस देने और दुर्लभ सामग्री के बटन जैसे मामलो मे व्यापारिक सगठनो अथवा उनके प्रतिनिधियो को शामिल न किये जाने से किसी हद तक अनाचार और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। उन्होने यह भी बताया कि प्रार्थी की योग्यता के सम्बन्ध मे सरकार को क्षेत्र मे काम करनेवाले अपने अधिकारियो के प्रतिवेदनो पर निर्भर करना पडता है । ये अधिकारी मदैव ही वास्तविक स्थिति का सही-सही मूल्याकन कर सकने की स्थिति मे नही होते । तथापि, प्रत्येक योग्य व्यापारिक सगठन यह जानता है कि व्यापार मे कौन असली है, और कौन से व्यक्ति चरित्रवान है तथा कौन से नही। हम से यह भी कहा गया कि यदि व्यापारिक सगठनो को सामने आने का मौका दिया जाता है तो वे अपनी जानकारी सरकार को अवश्य उपलब्ध करायेगे। कुछ जिम्मेवार व्यापारिक सगठनो ने लायसेस देने और दुर्लभ सामग्री के बटन की पूर्ण जिम्मेवारी लेने से जो इन्कार किया वह हमारी दृष्टि से ठीक ही है। वे केवल परमार्शदाता के रूप मे ही अपनी भूमिका निभाने के इच्छुक है। हम इसे एक बहुत ही सहायक दृष्टि-कोण समझते है और इसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

व्यापारिक संगठन

हम यह स्वीकार करते है कि जब तक व्यापारिक सगठन वास्तव मे प्रतिनिध्यात्मक नही होते, तब तक अनेक व्यावहारिक कठिनाइयॉ सामने आयेगी। ये सगठन स्वैच्छिक है और निष्कासन के सिवाय उनमे कोई दाण्डिक कार्यवाही नही की जा सकती। यहॉ तक कि सगठन से निष्कासन का भी कोई खास असर नही पडता, क्योकि वैसा करने का परिणाम यह नही निकलता कि निष्कासित सदस्य लायसेस अथवा परमिट प्राप्त करने के लिए योग्य नहीं होगा। इस प्रकार किसी व्यापारिक सगठन का सदस्य बनने के लिए कोई उत्प्रेरणा नही है और ऐसे मामले देखने मे आये है कि सम्बद्ध व्यापारिक सगठन से बाहर रह कर भी व्यक्ति अथवा प्रतिष्ठान विभिन्न स्तरो पर —उच्चतम स्तर सहित— सरकार से सीधा सम्पर्क स्थापित करके वाछित वस्तु प्राप्त करने मे सफल सिद्ध हुए है। ऐसे मामलो से व्यापक पैमाने पर इस भावना को प्रश्रय मिलता है कि उपयुक्त सम्पर्क स्थापित करके कुछ भी किया या कराया जा सकता है।

इस तरह की भावनाओ से कोई कम नुकसान नही होता है। इसलिए, हम सिफारिश करते है कि इस सम्बन्ध मे गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिये कि किस प्रकार लायसेस देने और दुर्लभ सामग्री के बटन कार्य मे व्यापारिक सघो अथवा उनके प्रतिनिधियो का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। हमारी समझ मे लायसेस या परमिट की प्राप्ति की योग्यता के लिए किसी मान्य व्यापारिक सगठन की सदस्यता एक आवश्यक शर्त होनी चाहिये। सगठन को चाहिये कि वह आवेदको की योग्यता, उनके पहले के काम और चरित्र के सम्बन्ध मे छानबीन करके लायसेस देनेवाले अधिकारी को सिफा-रिश करे। लायसेस के अन्तर्गत प्राप्त माल के दुरुप-योग और दुष्प्रयोग की हरकतो तथा अनुचित लाभ प्राप्ति के लिए निर्धारित नियमो, कार्य-प्रणालियो और रूप-पत्रो मे चालाकी करने के तरीको की छान-बीन करने के काम मे इन सगठनो को लाभदायक रूप से शामिल किया जा सकता है। हम यह भी मानते है कि मान्यता प्रदान करने के सिद्धान्त, छोटे व्यापारी को सरक्षण, स्वेच्छाचारिता आदि रोकने के सम्बन्ध मे अनेक विस्तृत बाते तैयार करनी पडेगी। हमारा सुझाव है कि व्यापा-रिक सगठनो के सलाह-मशविरे से सम्बद्ध मत्रालय इस प्रश्न का समाधान कर सकते है।

व्यापार सगठनो के जिन प्रतिनिधियो और अन्य गैर अधिकारियो से हम मिले, उन्होने जोर देकर यह बात कही कि अन्य बातो के अलावा भ्रष्टाचार के मुख्य कारण इस प्रकार है

१ प्रशासनात्मक विलम्ब,

२ सरकार द्वारा नियामक कार्यों के जरिये जितना प्रबन्ध वह कर सकती है, उससे अधिक काम हाथ में लेना,

३ विभिन्न श्रेणियों के सरकारी कर्मचारियों को प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में व्यक्तिगत विवेक की गुंजाइश,

४ नागरिकों के दैनिक जीवन में महत्वपूर्ण विभिन्न मामले निबटाने में प्रयुक्त कष्टप्रद कार्य-प्रणालियाँ।

हम से जो कुछ कहा गया उसमें काफी सार है। हम प्रत्येक पर एक-एक करके नीचे विचार करते हैं

१. प्रशासनात्मक विलम्ब

हमारे सामने जिन व्यक्तियों ने साक्षी दी उन सभी की एक राय यही थी कि काम करने में प्रशासनात्मक विलम्ब भ्रष्टाचार का एक प्रमुख कारण है। हम इस मत से सहमत हैं। हमें इसमें सन्देह नहीं कि बहुधा जानबूझ कर देर की जाती है, ताकि कुछ अवैध प्राप्ति की जा सके। प्रशासनात्मक विलम्ब को यथा सम्भव न्यूनतम करना ही चाहिये और विलम्ब के उन समस्त कारणों को दूर करने के लिए ठोस कार्यवाही की जानी चाहिये, जिनमें भ्रष्टाचार की गुंजाइश हो। हम समझते हैं कि प्रस्तावित 'प्रशासनात्मक सुधार विभाग' इस समस्या पर विस्तृत रूप से विचार करेगा, उसे निपटायेगा। हमारी सिफारिश है कि इस समस्या के समाधानार्थ निम्न कदम उठाये जा सकते हैं

विलम्ब से बचने के लिए उपाय

अ विलम्ब के कारण तथा उसके स्थल मालूम करने और उसकी सम्भाव्यता को कम से कम करने के लिए उपयुक्त कदम उठाने हेतु प्रत्येक मत्रालय/विभाग/ प्रतिष्ठान को चाहिये कि वह तत्काल सभी मौजूदा कार्य-प्रणालियों और कार्य-पद्धतियों की समीक्षा करे।

आ रसीद, फाइल आदि का काम निबटाने के लिए यदि समय-सीमाएँ न बाधी गयी हों तो निर्धारित की जानी चाहिये और उनका कडाई से पालन होना चाहिये। यदि किसी मामले में अनावश्यक देर हुई हो तो उसका पता लगाना और उसके लिए उत्तरदायी व्यक्ति से जवाब तलब करना ऊपरवाले अधिकारियों को अपनी जिम्मेदारी समझनी चाहिये।

इ अवर सचिव से नीचे के स्तरों पर सभी प्रकार की टिप्पणियों (नोटिंग) से बचा जाना चाहिये। अनुभाग की जिम्मेवारी केवल इतनी ही होनी चाहिये कि वह पूर्व-कागजात तथा पूर्व-निर्णय पेश करे। उन मत्रालयों/विभागों में इस कार्य-प्रणाली का कडाई से पालन किया जाना चाहिये, जिन्हें विभिन्न प्रकार के लायसेंस अथवा परिमिट देने का काम करना पडता है।

ई जिन स्तरों पर महत्वपूर्ण निर्णय लिया जा सके उनका निर्धारण होना चाहिये और यथा सम्भव अधिकाधिक को शामिल करने के किसी भी प्रयास को निरुत्साहित किया जाय तथा यदि कहीं वैसा होता हो तो, उसके साथ कडाई से निबटा जाय।

२ सरकार द्वारा नियामक कार्यों के जरिये जितना प्रबन्ध वह कर सकती है, उससे अधिक काम हाथ में लेना

हम इस बात का अन्दाज लगाने की स्थिति में नहीं है कि यह आलोचना कितनी सही है। लेकिन यह मानना ही पडेगा कि उन सभी क्षेत्रों में, जहाँ सरकार नियमन और नियत्रण के लिए हस्तक्षेप करती है, भ्रष्टाचार की गुंजाइश है। यह स्वीकार करना सम्भव नहीं है कि सरकार को सभी नियामक कर्तव्यों और नियत्रण शक्तियों का परित्याग कर देना चाहिये, किन्तु प्रत्येक मत्रालय/ विभाग के लिए यह वाछनीय प्रतीत होता है कि वह अपने उत्तरदायित्व के नियामक कर्तव्यों की समीक्षा करे और वह यह भी परीक्षण करे कि क्या वे सभी आवश्यक हैं और इन कर्तव्यों की पूर्ति तथा नियत्रण शक्तियों का उपयोग करने के ढग में क्या कोई सुधार हो सकता है। हमारी सिफारिश है कि इस प्रकार की समीक्षा अवश्य ही की जानी चाहिये।

३. विभिन्न श्रेणियो के सरकारी कर्मचारियो को प्रदत्त शक्तियो के प्रयोग मे व्यक्तिगत विवेक की गुजाइश

विभिन्न श्रेणियो के सरकारी कर्मचारी विवेकाधीन शक्ति का प्रयोग करते है। उन सभी मे उत्सर्ग की उच्च भावना तथा सत्यनिष्ठा समानरूप से विद्यमान नही होती। विवेकाधीन शक्ति के प्रयोग मे उत्पीडन, दुराचार और भ्रष्टाचार के लिए गुजाइश है। जहाँ हम यह मानते है कि शक्तियो के प्रयोग मे व्यक्तिगत विवेक के उपयोग को समाप्त करना सम्भव नही है, वहाँ यह भी है कि प्रशासन का कोई ऐसा तरीका खोज निकालना सम्भव होना चाहिये कि जिससे पूर्णता को कुछ ठेस पहुँचे तो भी दक्षता और शीघ्रतापूर्वक सार्वजनिक काम करने मे एक रूप से व्यक्तिगत विवेक का प्रयाग कम से कम किया जा सके। इस पर भी पर्याप्त क्षेत्र ऐसा बच रहेगा जिसमे व्यक्तिगत विवेक के प्रयोग को दूर नही किया जा सकता। इसलिए व्यक्तिगत विवेक के प्रयोग पर नियत्रण रखने के लिए उपयुक्त तरीके खोज निकलना आवश्यक होगा। अधिक उन्नत देशो मे इस प्रकार के नियत्रण के अनेक तरीके खोज निकाले जा चुके है। हमारी सिफारिश है कि इसका अध्ययन किया जाय और स्थिति की आवश्यकता, देश की विशालता के कारण सामने आनेवाली कठिनाइयो तथा हमारे सविधान व न्यायशास्त्र मे निहित मूलभूत सिद्धान्तो को ध्यान मे रखते हुए नियत्रण की कोई व्यवस्था बनायी जानी चाहिये।

४. नागरिको के दैनिक जीवन मे महत्वपूर्ण विभिन्न मामले निबटाने मे प्रयुक्त कष्टप्रद कार्य-प्रणालिया।

भारत के नागरिको को अपने दैनिक जीवन के विभिन्न महत्वपूर्ण मामलो मे प्रशासन की सहायता लेनी पडती है। अनेक कारणो से प्रचलित कार्य-प्रणालियॉ ऐसी है कि नागरिको के लिए शीघ्रतापूर्वक अपना काम करवा लेना वस्तुत कठिन बना देती है। इसके अलावा, अधिकाश नागरिक यह भी नही जानते अथवा यह भी कहने मे समर्थ नही होते कि साफ-साफ और सही-सही माने मे उन्हे क्या चाहिये। अपने अधिकारो और उत्तरदायित्वो के प्रति जागरूकता की कमी तथा सरकारी कार्य-प्रणालियॉ किसी हद तक इसके लिए जिम्मेवार है। इसलिए 'दलालो' तथा 'बिचवानियो' का सहारा लेना, उनके लिए आवश्यक बन जाता है। हमारी सिफारिश है कि नागरिको को इन मामलो मे शिक्षित करने के लिए गम्भीर प्रयास किये जाये तथा उपयुक्त व्यवस्था भी की जाय जिसमे दलालो व बिचवानियो की कोई जरूरत न रह जाय और प्रशासन के पास आसानी से पहुँचा जा सके।

इन मामलो की विस्तृत बातो मे जाना हमारे लिए सम्भव नही है, क्योकि इसके माने है विभिन्न मत्रालयो और विभागो की कार्य-प्रणालियो का विस्तृत अध्ययन करना। इसके अलावा इस प्रकार के अध्ययन का काम हाथ मे लेना हमारे अधिकार-क्षेत्र के बाहर की बात भी होती। इसलिए ये प्रश्न हम सम्बद्ध मत्रालयो/विभागो के लिए छोड देते है। हमे आशा है कि वे इन मामलो को उच्च प्राथमिकता देगे।

सरकारी कर्मचारियों का वेतन

यह देखने मे आया है कि वस्तुओ के श्रेणीकरण, खानो के निरीक्षण, श्रम-विधियो और पच-फैसलो के कार्यान्वय के पर्यवेक्षण, विभिन्न प्रकार के लायसेंस देने, सीमा-शुल्क स्थल पर माल के परीक्षण आदि जैसे कामो मे न्यून वेतन भोगी सरकारी कर्मचारियो को निरीक्षण, पर्यवेक्षण, लायसेस देने का उत्तरदायित्व सोपा गया है। जहॉ सरकारी कर्मचारियो के वेतन मे सामान्य वृद्धि करना एक ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और जनता की कर देने की क्षमता को मद्देनजर रखते हुए किया जाना है, वहाँ देश के हित मे इस बात का परीक्षण करना हितकर हो सकता है कि क्या वैसे अधिकारियो की श्रेणियो के दर्जे और वेतन की तरफ विशेष ध्यान नही देना चाहिये, जिन्हे कराधान

मूल्यवान परमिट और लायसेंस देने सम्बन्धी मामलों में पर्याप्त विवेक से काम लेना पड़ता है अथवा जो ऐसे काम करते हैं, जिनमें उच्च सत्यनिष्ठा की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार सीमा-शुल्क विभाग में कूतकारों और परीक्षकों, उत्पादन और आय-कर विभागों में निरीक्षकों, केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभागों, रेलवे और डाक-तार विभागों में पर्यवेक्षण का काम करनेवालों तथा अन्य ऐसी ही श्रेणियों के कर्मचारियों को यह महसूस करवाना चाहिये कि उनकी अवस्था में सुधार करने के लिए सरकार विशेष रूप से चिन्तित है। हम यह भी महसूस करते हैं कि अधिकारियों की संख्या में अनावश्यक मितव्ययिता बरतना वांछनीय नहीं है। हमें अनेक गवाहों ने बताया कि जहाँ सीधे भर्ती किये गये और सहायक सेवाओं से तरक्की प्राप्त—दोनों प्रकार के—कर्मचारी हैं, वहाँ सीधे भर्ती किये गये व्यक्तियों की सत्यनिष्ठा का स्तर सापेक्षिक दृष्टि से ऊँचा है। जहाँ हम किसी ऐसे क्रान्तिकारी सामान्यीकरण का समर्थन करने में असमर्थ हैं, वहाँ हम यह भी महसूस करते हैं कि इस प्रश्न पर सावधानीपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है और यदि सामान्य छाप यानी धारणा के पीछे कोई सच्चाई है तो इस दृष्टिकोण से उनके सापेक्षिक अनुपात पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो सकता है।

आवास व्यवस्था

वेतन स्तर में सुधार करने से भी अधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि सरकारी कर्मचारियों तथा उनके परिवारों को आवास-व्यवस्था, दवा-दारू की सुविधा प्रदान की जाय, और उनके बच्चों की शिक्षा के लिए, खास कर उन्हें जिन्हें अपने राज्यों से बहुत दूर काम करना पड़ता है, सहायता प्रदान की जाय। रेलवे विभाग ऐसे उपयुक्त शिक्षा केन्द्रों में रेलवे कर्मचारियों के बच्चों के लिए छात्रावास स्थापित कर रहा है, जहाँ कर्मचारीगण अपने बच्चों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार सामान्यतः वहन कर सकने लायक खर्च पर रखते हैं। यह वांछनीय है कि अन्य विभाग भी इसका अनुगमन करें।

हमारे विचार में आवास-व्यवस्था, और वह भी जहाँ-कहीं सम्भव हो बस्तियों में, करने से सत्यनिष्ठा के विकास में अमूल्य सहायता मिलेगी। यदि बम्बई, कलकत्ता व मद्रास जैसे बड़े-बड़े शहरों में आय-कर, सीमा-शुल्क तथा उत्पादन-कर विभागों के अधिकारियों को अपने रहने के लिए खुद मकान प्राप्त करने पर बाध्य होना पड़ता है, तो वे मकान-मालिकों और उनके अभिकर्त्ताओं के एहसानमन्द हो जाते हैं। हमारा सरकार से गम्भीरतापूर्वक यह सुझाव है कि वह उपयुक्त पैमाने पर आवास-व्यवस्था करे, और जब तक वह ऐसी व्यवस्था न कर ले तब तक के लिए अपने सभी कर्मचरियों को मकान प्रदान करने के लिए आवश्यक संख्या में मकानों का अधिग्रहण करे। जब एक ही विभाग अथवा सम्बन्धित विभागों के सरकारी कर्मचारी किसी एक बस्ती में रहें तो ऐसा नहीं हो सकता कि कोई कर्मचारी समाज-विरोधी काम करे और उसका किसी को पता भी न चले या उसके सम्बन्ध में कोई बात भी न हो। प्राय प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष ने, जिसने हमसे बातचीत की, उपयुक्त आवास-व्यवस्था की आवश्यकता प्रकट की और उसके हितकर प्रभावों का महत्व सामने रखा।

देश के आर्थिक मामलातों से जिन मंत्रालयों/विभागों का सम्बन्ध रहता है उनमें और उनमें, जिन्हें निर्माण कार्यों तथा खरीद पर बड़ी-बड़ी रकम खर्च करनी पड़ती है, सत्यनिष्ठा त्याग देने का लालच अधिक होता है एवम् यहीं आकर सम्पर्क साधनेवाले अवांछित व्यक्ति और दलाल पनपते हैं। हम सोचते हैं कि इन मंत्रालयों में विभिन्न श्रेणियों के सरकारी कर्मचारियों के लिए मनोरंजन कार्यक्रमों में भाग लेने और उन व्यक्तियों से अन्य सुविधाएं स्वीकार करने के सम्बन्ध में अनौपचारिक आचार-संहिता बनाने के लिए तुरन्त कदम उठाये जाने चाहिये, जिनका उन कर्मचारियों के साथ कोई आधिकारिक व्यवहार है अथवा होनेवाला है और इन नियमों के अनुसार स्वेच्छापूर्वक चलने को प्रोत्साहन देने हेतु किसी कार्य-प्रणाली का विकास किया जाना चाहिये।

इस सम्बन्ध मे प्रवर अधिकारियो को आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये।

प्रवर पद पर आसीन जिस अधिकारी के अन्तर्गत कई राजपत्रित अधिकारी प्रत्यक्षत काम करते है उसे व्यक्तिगत रूप से यह जानने के लिए कदम उठाने चाहिये कि क्या किसी अधिकारी की ईमानदारी पर शक या सुबहा करने का कोई कारण है। इससे प्रवर अधिकारी अपने अवर अधिकारियो के निकट सम्पर्क मे आयेगे और इसमे यह सुनिश्चित करने मे सहायता मिलेगी कि वे गुण का मार्ग छोड कर पथभ्रष्ट नही होते है।

निवारक उपाय

कुछ अन्य महत्वपूर्ण निवारक उपाय है

१. उच्च प्रशासनात्मक पदो पर नियुक्ति करने के लिए अधिकारियो का चयन करने मे भारी सावधानी बरतनी चाहिये। इन पदो पर केवल उन्ही व्यक्तियो को रखा जाय जिनकी ईमानदारी शक के परे हो।

२ पहली बार अराजपत्रित से राजपत्रित (गजेटेड) पदो के लिए चयन करते वक्त जिन व्यक्तियो की ईमानदारी पर शक हो, उन्हे चयन मे शामिल नही किया जाना चाहिये।

३ तरक्की देने के लिए किसी कर्मचारी का नाम पेश करना जिस अधिकारी का कर्तव्य हो उसके लिए यह आवश्यक होना चाहिये कि वह इस बाबत एक प्रमाणपत्र दे कि "उसने सरकारी कर्मचारी की सेवा का रिकॉर्ड देखा है और वह इस सम्बन्ध मे सन्तुष्ट है कि उक्त सरकारी कर्मचारी ईमानदार व सत्यनिष्ठ व्यक्ति है।'

४ जन सेवा की अपरिहार्यताओ के अनुसार उन व्यक्तियो की सेवा की अवधि बढाने अथवा उन्हे पुन नियुक्त करने की आवश्यकता पडती है जो कार्य-मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर चुके है तथा सेवा-निवृत्त होनेवाले है अथवा हो गये है। इस प्रकार के कर्मचारी सार्वजनिक विभाग के प्रतिष्ठानो मे भी रखे जाते है। हमारी सिफारिश है कि सेवावधि बढाने अथवा पुन नियुक्त करने की एक शर्त यह होनी चाहिये कि सम्बद्ध व्यक्ति की ईमानदारी और निष्ठा-विषयक अच्छी प्रतिष्ठा रही है। यदि यह शर्त पूरी न होती हो तो सेवावधि बढाने अथवा पुन नियुक्ति के लिए सम्बद्ध व्यक्ति को योग्य नही समझना चाहिये।

५ भ्रष्टाचार के सम्बन्ध मे बेठिकाने की बात करने से पर्याप्त हानि होती है। ऐसी बातचीत का होना तभी कम हो सकता है, जबकि कोई ऐसा अभिकरण हो जिसके पास सही शिकायतवाला आदमी इस आश्वासन के साथ पहुँच सके कि यदि उसकी शिकायत सही है तो उसकी पूर्ण सुरक्षा की जायेगी और तुरन्त तथा उपयुक्त कार्यवाही होगी। भ्रष्टाचार, उत्पीडन, परेशानी आदि से सम्बन्धित शिकायतो के मामलो मे केन्द्रीय सतर्कता आयोग और सतर्कता सगठन (विजीलेंस आर्गे-नाइजेशन) को इस आवश्यकता की पूर्ति करनी चाहिये। हम इस बात पर जोर देना चाहेगे कि सही शिकायत करने-वाले को इस सम्बन्ध मे सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिये कि उसे परेशान नही किया जा सकेगा अथवा कोई उसकी हजामपट्टी नही कर सकेगा। गृह मत्रालय को इस बारे मे अपनी विशेष जिम्मेवारी समझनी चाहिये।

६ उन सभी मत्रालयो/विभागो मे पूछताछ-सह-स्वागत कार्यालय होने चाहिये, जिनका काम लायसेंस/परमिट से सम्बद्ध हो और जिनमे प्राय जनता जाती-आती रहती है। सभी दर्शको को स्वागत कार्यालय मे रखे गये रजिस्टर मे अपने नाम लिखने चाहिये और अपने आने के प्रयोजन का उल्लेख करना चाहिये।

७ सूचना-विक्रय को रोकने की दिशा मे कदम उठाये जाने चाहिये। ऐसे मामलो मे भी अनावश्यक गोपनीयता का रखा जाना जहाँ वैसा करना आवश्यक नहीं है, इस प्रकार के भ्रष्टाचार का एक कारण है। इस सम्बन्ध मे बिल्कुल स्पष्ट विभेद किया जाना चाहिये कि किस प्रकार की सूचना 'गोपनीय' समझी जाय तथा किस प्रकार की जनता को मुक्त रूप से उपलब्ध की जा

सकती है। द्वितीय वर्ग की सूचना जो भी व्यक्ति प्राप्त करना चाहे वह उस काम के लिए प्रत्येक मंत्रालय/विभाग/प्रतिष्ठान में किसी विशिष्ट अधिकारी तक पहुँचने तथा जो कुछ उसे चाहिये वह प्राप्त करने में समर्थ होना चाहिये।

हमें बताया गया कि लायसेंस/परमिट आदि प्राप्त करने के लिए जो फार्म भर कर पेश करने पडते हैं उनकी प्राप्ति में कठिनाइयाँ आती हैं। तकावी, सिमेण्ट तथा इस्पात आदि के लिए आवेदन पत्रों के मामले में इस प्रकार की कठिनाई अधिक आनेवाली है। जो मामले केन्द्रीय सरकार निबटाती है उनके मामलों में केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों को छोड कर अन्यत्र कठिनाइयाँ नहीं आनेवाली है। इस प्रकार की कठिनाइयों को जिस किसी हद तक वे हों, दूर करना वांछनीय है। इसलिए हमारी सिफारिश है कि मुफ्त में अथवा कीमत ले कर फार्मों की आसानी से उपलब्धि हो सके, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये।

सत्यनिष्ठा पर गोपनीय रिपोर्ट

फिलहाल प्रत्येक सरकारी कर्मचारी की वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट में एक 'खाना' होता है जिसमें प्रवर अधिकारी उक्त कर्मचारी की सत्यनिष्ठा के सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ लिखता है। लेकिन मौजूदा प्रणाली के अन्तर्गत प्रवर अधिकारी के पास अपने सहायक की सत्यनिष्ठा पर शक करने के कोई उपयुक्त कारण हो तो भी किसी प्रमाण के अभाव में उक्त खाना-पूर्ति करना उसके लिए मुश्किल है। इसलिए यह एक सामान्य पद्धति है कि उस सम्बन्ध में कोई पक्की बात नहीं लिखी जाती। हमारी सिफारिश है कि वैसे मामलों में जहाँ रिपोर्ट देनेवाला अधिकारी सत्यनिष्ठा के सम्बन्ध में निश्चित रिपोर्ट देने की स्थिति में न हो तो उसे वह खाना बिना भरे ही छोड देना चाहिये तथा जिसके सम्बन्ध में वह रिपोर्ट दे रहा है उसकी सत्यनिष्ठा पर सन्देह का उसके पास कोई कारण हो तो वैसी अवस्था में अपने सन्देह के कारणों का उल्लेख करते हुए उसे गुप्त रिपोर्ट देनी चाहिये। इस प्रकार की गुप्त रिपोर्ट प्राप्त करनेवाले अधिकारियों अथवा सरकार को चाहिये कि रिपोर्ट की सही स्थिति का पता लगाने के लिए उपयुक्त कदम उठाये।

बडी सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद २० दिसम्बर १९६३ को हमने 'सेवा निवृत्ति के पश्चात् सरकारी व्यक्तियों द्वारा व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में नियुक्तियाँ स्वीकार करने' के प्रश्न पर प्रतिवेदन पेश किया था। उसमें हमने सिफारिश की है कि इस सम्बन्ध में परिपूर्ण प्रतिबन्ध होना चाहिये कि सरकारी व्यक्ति सेवा-निवृत्ति के दो वर्ष बाद तक किसी भी निजी व्यावसायिक और औद्योगिक प्रतिष्ठान में कोई नियुक्ति स्वीकार न करे। हमारे विचार से, यदि कोई इस प्रकार की धारणा हो कि उच्च प्रशासनात्मक श्रेणियों और निजी निगम विभाग के बीच किसी प्रकार की साठ-गाठ, भागीदारी, हित-साधकता अथवा दुरभिसन्धि है, तो उसे दूर करने के लिए ऐसा करना आवश्यक है, क्योंकि इस प्रकार की धारणा से, फिर चाहे वह न्याय-सगत हो अथवा नहीं, न केवल जन-सेवा की प्रतिष्ठा पर ही आच आती है, बल्कि सामाजिक वातावरण पर भी उसका असर पडता है।

उन व्यक्तियों के विरुद्ध निवारक उपाय अपनाना, जो आदतन सरकारी कर्मचारियों को भ्रष्ट करते है, दूसरी तरफ से बुराई की जड काटना है। हम इस विचार का तहेदिल से समर्थन करते है कि अत्यधिक मात्रा में काले बाजार के रुपये का होना–जिसका कोई हिसाब-किताब नहीं है–भ्रष्टाचार का एक प्रमुख स्रोत है। इस प्रकार का धन अनेक प्रकार से अर्जित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कर की चोरी, तस्कर व्यापार, अचल सम्पत्ति और शेयरों तथा स्टॉक सम्बन्धी सट्टेबाजी, हिसाब-किताब में बिना किसी उल्लेख के आंशिक अथवा पूर्ण रूप से शुल्क और भृत्ति के रूप में नकद प्राप्त करना, लायसेंस और परमिटों का व्यापार, मूल्य से ज्यादा अथवा कम का बीजक बनाना आदि। इन प्रश्नों पर

विस्तृत रूप से विचार कर सकना हमारे लिए सम्भव नही बन पडा है। लेकिन हम कुछ सुझाव देने का साहस कर सकते है।

आय कर अधिनियम क अन्तर्गत गोपनीयता

हम सोचते है कि आय कर प्रतिवेदनो और कर निर्धारणो को गोपनीय समझने का कोई औचित्य नही है। हम देखते है कि आय कर अधिनियम, १९६१ मे गोपनीयता विपयक प्रावधानो मे कुछ ढिलाई की गयी है, लेकिन वह पर्याप्त नही है। कुछ अन्य विकसित देशो मे आय कर विवरणी और निर्धारण गोपनीय नही समझे जाते एवम् प्रकाशित किये जाते है। हम समझते है कि इस प्रकार की विवरणियो और निर्धारणो के प्रकाशन से व्यापार और धधो मे लगे उन व्यक्तियो पर वडा भारी प्रभाव पडेगा, जो आय-कर की चोरी करने के लिए गोपनीयता विपयक प्रावधानो का लाभ उठाने की ओर प्रवृत्त होते है। वे अपनी प्रतिष्ठा के प्रति सवेदनशील होते है और चूँकि आय-कर के रूप मे दी गयी रकम व्यापार अथवा धधे मे उनके स्थान का प्रतिबिम्ब प्रकट करती है, इसलिए यदि उनके जितना कमाने का विश्वास है उससे कम आय पर आय-कर निर्धारित होता पाया गया, तो अपने साथियो की नजरो मे गिरने अथवा अपने प्रतिस्पर्धियो को एक सुराग हाथ लग जाने के डर से वे ठोस रूप से प्रतिनिवृत्त होगे। हमे यह जान कर खुशी हुई कि १९६४ के वित्त विधेयक मे तत्सम्बन्धी कुछ प्रावधानो की व्यवस्था की जा रही है।

अभिहस्तातरण-पत्रो मे दर्ज कीमत से पर्याप्त अधिक मूल्य पर सम्पत्ति की खरीद और बिक्री करना, केन्द्रीय सरकार को आय-कर तथा अन्य करो के सम्बन्ध मे और राज्य सरकार को मुद्रा-शुल्क के सम्बन्ध मे धोखा देने का तरीका है एवम् काले वाजार की रकम के हस्तातरण की यह एक सहज पद्धति है। यदि किसी प्रकार केन्द्रीय और राज्य सरकारो अथवा इसी उद्देश्य से बनाये गये किसी विशेष निगम को हस्तक्षेप करने तथा उल्लिखित मूल्य पर सम्पत्ति प्राप्त करने की, अथवा यह समझा जाय कि सम्पत्ति का जान-बूझ कर कम मूल्य रखा गया है तो कुछ कम मूल्य पर भी प्राप्त करने की, शक्ति दे दी जाय तो, चोर बाजारी के धन पर यह एक भारी प्रहार होगा।

इसी प्रकार मकान किराये पर देने के लिए 'पगडी' अथवा 'नजराना' लेने की आदत भ्रष्टाचार का एक स्रोत है। इस सम्बन्ध मे कुछ बहुत ही कठोर कदम उठाने पडेगे। हम समझते है कि इस प्रकार की गैर कानूनी 'पगडी' न केवल मकानो और 'फ्लेटो' के मालिक, बल्कि किरायेदार भी लेते है, जो नाम मात्र के रूप मे तो स्वयम् किरायेदार होते है, लेकिन वास्तव मे अपने किराये का मकान दूसरो को किराये पर दे देते है।

औद्योगिक प्रतिष्ठानों के प्रतिनिधियों से सम्पर्क

हम पहले ही 'बिचवहो' और 'दलालो' का जिक्र कर चुके है। स्पष्टत इनमे व्यावसायिक और औद्योगिक प्रतिष्ठानो के सही प्रतिनिधि शामिल नही है। इस सम्बन्ध मे हमारी सिफारिशे इस प्रकार है

१ किसी भी अधिकारी को किसी ऐसे व्यक्ति के साथ कोई व्यवहार नही करना चाहिये जो किसी व्यावसायिक अथवा औद्योगिक प्रतिष्ठान या व्यक्ति की तरफ से काम करने का दावा कर रहा हो, जब तक कि वह उस सम्बन्ध मे उपयुक्त रूप से प्रत्यायित न हो और सम्बद्ध विभाग ने उसे उस रूप मे स्वीकार न कर लिया हो। इस प्रकार की कार्य-प्रणाली अपनाने से ऐसे व्यक्ति दूर ही रह जायेगे जिनका भूत अच्छा नही रहा हो अथवा जिनकी पैठ यानी प्रतिष्ठा अच्छी न हो। तथापि, किसी फर्म के मालिक या प्रबन्धक आदि अथवा स्वयम् आवेदक द्वारा अधिकारियो से सम्पर्क साधने पर कोई प्रतिवन्ध नही होना चाहिये।

२ प्रत्यायित प्रतिनिधियो तक को भी एक विशिष्ट स्तर से नीचे के अधिकारियो से नही मिलने देना चाहिये। प्रत्येक सगठन मे सगठन के कार्यो, काम की प्रकृति और परिसीमा तथा सगठन के ढाचे को ध्यान मे रख कर इस प्रकार के स्तर का निर्धारण किया जाय। तथापि, उन स्तरो पर अनुमित सम्पर्क सीमित रखने मे सावधानी

बरती जाय, जहाँ भ्रष्टाचार की गुजाइश कम हो। इसका तात्पर्य कभी-कभी यह भी हो सकता है कि सहायक अधिकारियो के स्तर पर सम्पर्क साधने की अनुमति ही न दी जाय।

३ प्रत्यायित प्रतिनिधियो से की गयी सभी मुलाकातो का किसी रूप मे रिकॉर्ड रखने की कोई व्यवस्था होनी चाहिये।

४ प्रत्येक विभाग मे एक ऐसा प्रवर अधिकारी होना चाहिये, जिसके पास यदि किसी आवेदक के मामले मे अनावश्यक विलम्ब हो रहा हो तो, वह पहुँच सके।

विभाग द्वारा प्रत्यायित और स्वीकृत करने के लिए केन्द्रीय सतर्कता आयोग के सलाह-मशविरे से एक उपयुक्त कार्य-प्रणाली तैयार करना आवश्यक है। किसी व्यक्ति को प्रत्यायित करने से पहले उसके भूत-कृत्यो की, यदि सम्भव हो तो, जाच की जानी चाहिये। जो व्यक्ति किसी सुस्थापित प्रतिष्ठान मे नियुक्त न हो, जोकि उसके सम्पर्क और कृत्यो के लिए उत्तरदायी होगा, उसे किसी भी अवस्था मे स्वीकृत न किया जाय।

मुलाकातों का विवरण

यह भी वाछनीय है कि निर्धारित श्रेणियो के अधिकारी, जिनका इन प्रतिनिधियो के साथ काम पडता है, पजीकृत प्रतिनिधियो के साथ उनकी जो मुलाकाते और चर्चाएँ हो, उनका नियमित रोजनामचा रखे, फिर चाहे मुलाकात तथा वार्तालाप कार्यालय मे हो अथवा घर पर। सामान्य पद्धति यह होनी चाहिये कि इस प्रकार की मुलाकाते कार्यालय मे हो, और यदि वे घर पर हो तो कारणो का उल्लेख किया जाना चाहिये। जिस काम अथवा चर्चा का विवरण न हो उसे अनियमित व्यवहार समझना चाहिये और सम्बद्ध अधिकारी के ऊपरवालो को चाहिये कि उस पर वे गम्भीर कदम उठाये।

कम्पनियो और व्यापारियो के लिए यह आवश्यक बना देना चाहिये कि वे अपने खर्च-खाते का विस्तृत हिसाब रखे। सामान्यत आय-कर अधिकारियो को इस प्रकार के खातो का विश्लेपण करना चाहिये। लेकिन जब कभी कोई आय-कर अधिकारी यह महसूस करे कि रकम उच्च अधिकारियो को खुश करने अथवा अन्य किसी ऐसे काम के लिए खर्च की गयी है जिसका कोई सन्तोषप्रद उत्तर नही मिलता तो उसका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह यह मामला सम्बद्ध विभाग के सतर्कता अधिकारी के पास पेश करे। मौजूदा कानूनो के अन्तर्गत इस प्रकार की जानकारी देने के रास्ते मे यदि कोई कानूनी कठिनाई आती हो तो, उसे दूर किया जाना चाहिये। आय कर विभाग, सतर्कता अधिकारियो और सेण्ट्रल ब्यूरो ऑफ इन्वेस्टीगेशन के मध्य निकट सहकार से ही प्रभावशाली परिणाम प्राप्त किये जा सकते है। इस प्रकार के सहकार की यदि सार्वजनिक जानकारी हो तो वह एक अच्छा निवारक उपाय होगा।

भ्रष्टाचार के विरुद्ध लडाई लडने मे विवेकपूर्ण और प्रभावशाली प्रचार कार्य से बडी सहायता मिल सकती है। इस प्रकार के प्रचार मे एक तरफ अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण देने से बचना चाहिये कि अमुक मामला जरूरत से अधिक सामान्य है, तो दूसरी ओर जनता को विश्वास दिलाया जाना चाहिये कि भ्रष्ट अधिकारियो के साथ सरकार की कोई सहानुभूति नही है तथा यह कि वह उन्हे समाप्त करने मे कृत-सकल्प है। गृह मत्रालय मे एक ऐसा अनुभाग खोलना वाछनीय होगा, जिसमे प्रभावशाली प्रचार-प्रसार के उपाय खोज निकालने के लिए आकाशवाणी, पत्र सूचना कार्यालय और फिल्म अनुभाग के प्रतिनिधि हो। समाचार पत्रो के प्रतिनिधियो को भी शामिल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे जिन सिद्धान्तो का अनुकरण करना है वे इस प्रकार है

दोषी का भण्डाफोड़

खोजबीन करते वक्त अथवा विभागीय जाच के दौरान किसी प्रकार का प्रचार नही होना चाहिये, लेकिन जिन मामलो का परिणाम पदच्युति, निष्कासन अथवा अनिवार्य सेवा-निवृत्ति हो उनका व्यापक प्रचार किया

जाना चाहिये। न्यायालय मे चलनेवाले मामलो मे महत्व-पूर्ण मुकद्दमो की कार्रवाई आम तौर पर पत्रो मे आयेगी। जरूरत इस बात की है कि जो व्यक्ति मामलो का सम्पादन करे उन्हे सही तथ्य और तर्क उपलब्ध करवाये जाये। प्रस्तावित अनुभाग को आवश्यक सहायता प्रदान करनी चाहिये। ऐसे खास-खास मामलो के सामयिक सक्षेप, उदाहरणार्थ त्रैमासिक सक्षेप, पत्रो को उपलब्ध करवाये जाये, जिनकी विभागीय जाच हुई हो अथवा न्यायालयो मे मुकद्दमा चला हो। यह भी अपेक्षा की जा सकती है कि सतर्कता आयोग के प्रतिवेदन को, जो ससद मे प्रस्तुत किया जायेगा, समाचार पत्रो आदि मे व्यापक स्थान दिया जायेगा।

वास्तव मे एक ऐसा सामाजिक वातावरण विकसित करना सर्वाधिक निवारक उपाय है, जिसमे कोई भी सरकारी कर्मचारी अथवा सार्वजनिक पद पर आसीन व्यक्ति, तब तक सत्यनिष्ठा का मार्ग छोड कर भ्रष्टाचार का पथ नही अपनायेगा जब तक कि उसका पूर्णत नैतिक पतन ही न हो गया हो।

बम्बई के प्रोफेसर दातवाला ने प्रन्यासिता का एक सरल और व्यावहारिक सूत्र प्रस्तुत करके भेजा था। गाधीजी के सम्मुख उसे रखा गया, जिसमे उन्होने कुछ सशोधन किये। अतिम मसविदा, सशोधित रूप मे, इस प्रकार है :

१ प्रन्यासिता, वर्तमान पूजीवादी समाज-व्यवस्था को समानतापूर्ण समाज-व्यवस्था के रूप मे परिणत करने का एक साधन है। यह पूजीवाद को प्रश्रय नही देता, बल्कि वर्तमान स्वामी वर्ग को स्वयम् सुधर जाने का एक अवसर प्रदान करता है। इसके मूलाधार मे यह विश्वास है कि मानव-स्वभाव कभी भी सुधार से परे नही है।

२. यह सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व के अधिकार को मान्यता प्रदान नही करता, सिर्फ उस अवस्था को छोड़कर जब कि समाज अपने कल्याण के लिए स्वयम् उसकी आज्ञा दे दे।

३. स्वामित्व तथा सम्पत्ति के उपयोग के सम्बन्ध मे वैधानिक नियमो को यह परे नही करता।

४. इस प्रकार राज्य-नियमित प्रन्यासिता के अतर्गत व्यक्तिविशेष अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए या समाज हित की अवहेलना करके निजी सम्पत्ति रखने या उसका उपयोग करने मे स्वतत्र न होगा।

५. ठीक उसी प्रकार, जैसा कि एक अच्छे जीवन-यापन के लिए न्यूनतम जीवन वेतन निर्धारित करने का प्रस्ताव है, समाज के किसी भी व्यक्ति के लिए उच्चतम आय की सीमा निर्धारित कर देनी चाहिये। इस न्यूनतम और उच्चतम आय के बीच का विभेद विवेकपूर्ण, समानतापूर्ण और समय-समय पर परिवर्तन-योग्य होना चाहिये, ताकि विभेदो को विछिन्न करने की प्रवृत्ति का विकास हो।

६. गाधीवादी अर्थ-व्यवस्था के अतर्गत उत्पादन का स्वरूप सामाजिक आवश्यकता के अनुसार होगा, न कि व्यक्तिविशेष की तुनुकमिजाजी या लोभ के अनुसार।

इस सूत्र को प्रकाशन के लिए समाचारपत्रो को देने का निर्णय किया गया। किन्तु फिर से विचार करने पर ऐसा महसूस किया गया कि प्रकाशन से पहले इसे श्री घनश्याम दास बिडला को दिखा दिया जाय। वे प्रन्यासिता के सिद्धात के कुछ पक्ष मे थे। इसलिए एक प्रति उनके पास भेज दी गयी। उन्होने उसका स्वागत किया, किन्तु राय दी कि सूत्र के प्रकाशन के साथ ही कही सारे प्रयासो का आदि-अत एक साथ ही न हो जाय, इसलिए अपने साथी-पूँजीपतियो से उन्हे चर्चा कर लेने दी जाय और उसके बाद ही मसविदे के प्रकाशन के साथ-साथ उनकी सहमति की घोषणा भी हो जाय।

—प्यारेलाल महात्मा गांधी : दि लास्ट फेज, खण्ड २।

अखाद्य तेल से विकेन्द्रित साबुन उत्पादन

सुभाष चन्द्र सरकार

माबुन उद्योग के विकाम की गुजाइश को ध्यान मे रखने हुए इम बात पर विचार करना समीचीन होगा कि क्या विकेंद्रित इकाइयो को किसी विशेष किस्म के साबुन का उत्पादन कार्य नही मौंपा जा मकता, ताकि बडे और छोटे पैमाने की इकाइयों के मध्य असमान स्पर्धा को कम से कम किया जा मके।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यक्रम मे विकेन्द्रित माबुन उद्योग के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमे साबुन बनाने के लिए यथा सभव अखाद्य तेल का इस्तेमाल करने पर जोर दिया गया है। ऐसा करने पर जोर देने के ठोस कारण है।

प्रथम, खाद्य के रूप मे इस्तेमाल करने हेतु काफी मात्रा मे खाद्य तेल बचाया जा सकता है। तीसरी पच वर्षीय योजना के अन्त तक वानस्पतिक तिलहनो की माग, आय मे घट-बढ, प्रति व्यक्ति उपभोग और आबादी मे वृद्धि को भी ध्यान मे रखते हुए, अन्दाजन एक करोड तीस लाख टन की थी। इस माग की तुलना मे छ मुख्य तिलहन फसलो– मूगफली, तिल, राई, सरसो, तिली, और अण्डी– का सम्मिलित उत्पादन लक्ष्य तीसरी पच वर्षीय योजना के अन्त मे ९८ लाख २० हजार टन अनुमानित था और इस प्रकार वानस्पतिक तिलहनो की माग और पूर्ति के बीच काफी अन्तर रह गया था। उत्पादन के वर्तमान स्तर पर प्रति व्यक्ति दो औस दैनिक खपत, जोकि प्रत्येक वयस्क की तेल सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकता मानी गयी है, के आधार पर वस्तुत कमी तो अब भी व्याप्त है ही। यदि साबुन बनाने मे दिनोदिन अखाद्य तेल की मात्रा बढायी जाय तो लोगो के लिए काफी मात्रा मे खाद्य तेल की बचत की जा सकेगी। द्वितीय, अखाद्य तिलहनो के उपयोग से, जोकि अभी करीब-करीब बेकार ही जाते है, उत्पादन बढाने मे उपलब्ध कच्चे माल का उपयोग हो सकेगा और इससे काफी लोगो को लाभदायक रोजगारी मिलेगी।

उपलब्धि

खाद्य तेल की माग और पूर्ति के सम्बन्ध मे स्थिति का परीक्षण करते हुए योजना आयोग की प्राकृतिक स्रोत-सम्बन्धी समिति ने साबुन उत्पादन मे नारियल तेल के बदले महुआ, नीम और करज जैसे अखाद्य तेलो का उपयोग करने का सुझाव दिया है। इण्डियन सेण्ट्रल आयलसीड्स कमेटी के अध्यक्ष ने अखाद्य और गौण तेल के विकासार्थ एक विशेष समिति का गठन किया है। विशेष समिति की सिफारिशो के अनुसार इण्डियन सेण्ट्रल आयलसीड्स कमेटी मे ही एक अलग विभाग राज्य सरकारो के वन और कृषि विभागो, तिलहन एकत्र करनेवाले अभिकरणो, अनुसधानशालाओ और तेल का उपयोग करनेवाले उद्योगो जैसे विभिन्न सगठनो के बीच समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से प्रस्तावित किया गया है। इण्डियन सेण्ट्रल आयलसीड्स कमेटी ने देश की विभिन्न रसायन प्रयोगशालाओ मे अखाद्य तिलहनो पर तकनालाजीकल अनुसधान करने हेतु कई परियोजनाएँ प्रवर्तित की है। इन परियोजनाओ पर तीसरी पच वर्षीय योजना मे करीब ३ लाख ५० हजार रुपये खर्च होगे।

देश मे उपलब्ध प्रमुख अखाद्य तिलहन है नीम (अजाडिरॅक्टा इण्डिका), महुआ (बेसिया लेटिफोलिया),

करज (पोगामिया ग्लाब्रा), पिलू अथवा खाखन (साल्वाडोरा ओलियोडाइज), पीसा (एक्टीनोडाफने हुकेरी), उन्दी (कैलोफायलम इनोफायलम), मरोती (हिड्नोकार्पल्स विगटियाना), रत्नज्योति (जट्रोफा यूफारबेसिया), कमला (मैलोटस फिलिपिनेसिस), कोकम (गार्मिनिया इण्डिका), नहोर (मेसुआ फेरिया)। इनमे से कई तिल्हन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है और उनमे १५ से ६० प्रति शत तक तेल की मात्रा पायी जाती है। प्राप्त सूचनाओ के अनुसार अखाद्य तिलहनो की वर्तमान पूर्ति अदाजन करीब दस लाख टन है जिसका राज्यवार वितरण इस प्रकार है आन्ध्र प्रदेश–५७,२४४ टन, असम–७८,१७६ टन, बिहार– ४,२०० टन, गुजरात– ३७,९९० टन, केरल– २,४२५ टन, मध्य प्रदेश– ७९,७१२ टन, मद्रास– १,००,०७२ टन, महाराष्ट्र– ८०,४०८ टन, मैसूर– २७,६६२ टन, उडीसा– ५,४११ टन, पजाब– ११,३०५ टन, राजस्थान– ६,६०१ टन, उत्तर प्रदेश– ९९,७०४ टन, पश्चिम बगाल– ६,४१५ टन। इन तिलहनो से न्यूनतम स्तर पर भी कम से कम २ लाख टन तेल की प्राप्ति की जा सकती है, जबकि १९५७–५८ वर्ष मे मिल विभाग मे सिर्फ ६१,६७१ टन तिलहन पेरे गये जिस से १९,४४० टन तेल की प्राप्ति हुई। इस प्रकार साबुन उद्योग मे इस्तेमाल के लिए अखाद्य तेल उत्पादन मे वृद्धि की काफी गुजाइश है।

समस्याएँ

साबुन के नियमित उत्पादन हेतु अखाद्य तेल के उपयोग के तीन पहलू है (१) तिलहन एकत्रण, (२) तेल निस्सारण, और (३) साबुन निर्माण।

अखाद्य तिलहनो का सग्रह एक समस्या उपस्थित करता है, क्योकि अखाद्य तिलहनवाले वृक्ष देश मे व्यापक रूप से फैले हुए है, उनमे से कई तो सुदूर क्षेत्रो मे और ६,००० फुट तक की ऊचाई तक पाये जाते है। प्रत्यक्ष है, यदि इन छितरे क्षेत्रो से अखाद्य तिलहन बडी मात्रा मे सग्रह कर शहरो मे केन्द्रीय उत्पादन केन्द्रो को भेजे जाये तो बहुत अधिक परिवहन खर्च बैठेगा। परिवहन की समस्या अशत हल की जा सकती है, यदि उन इलाको मे, जिन के निकट काफी मात्रा मे अखाद्य तिलहन उपलब्ध है, छोटे-छोटे अखाद्य तेल और साबुन उत्पादन केन्द्र खोले जायें। तिलहन की कमी की समस्या गभीर भी है, विशेष कर इसलिए कि ग्रामीण क्षेत्रो मे उनके भाण्डारीकरण की उपयुक्त सुविधाएँ उपलब्ध नही है।

फिर, इन अखाद्य तिलहनो से तेल निकालना भी बहुत जरूरी है। ग्रामीण क्षेत्रो मे प्राय बिजली नही पायी जाती। अत पशु-चालित घानियो और हस्त-चालित स्क्रू प्रेस का इस्तेमाल तेल निकालने के लिए किया जाता है। चूँकि अखाद्य तेल निस्सारण अपेक्षतया एक नवीन कार्य है, अत तेल निकालने के लिए पर्याप्त घानियाँ प्राप्त करना भी हमेशा सहज काम नही है।

निस्सारित तेल को साबुन उत्पादन मे इस्तेमाल करने के पूर्व प्रशोधित करना होता है, क्योकि अखाद्य तिलहनो से प्राप्त अपरिशोधित वसा दुर्गन्धपूर्ण, कडवी और काली होती है।

प्रयास

यह आशा करना उचित नही है कि अपने ही बल पर काम करनेवाले छोटे-छोटे उत्पादक अखाद्य तिलहनो के उपयोग मे सन्निहित इन गभीर समस्याओ को हल कर लेगे। स्पष्टत इसके लिए एक अखिल भार-तीय अभिकरण की आवश्यकता है, जोकि इस नये उद्योग का विकास कार्य सभाले और उद्योग की क्षमता को प्रसारित करे तथा वैज्ञानिक और तकनालाजीकल समस्याओ को हल करने मे हर तरह की मदद देने का आश्वासन दे कर, लोगो को यह उत्पादन कार्य अपनाने की प्रेरणा दे। यह कार्य खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा अपनाया गया है, जिसे कि ससद ने ग्रामोद्योगो का विकास करने हेतु विशेष रूप से गठित किया है।

चूँकि साबुन बनाने मे अखाद्य तेल का उपयोग करने का सुझाव एक नयी बात है, इसलिए कमीशन ने विभिन्न स्तरो पर सहायता दे कर उद्योग का विकास करने के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम बनाना आवश्यक समझा है। पिछले वर्षो मे जैसे–जैसे उद्योग का विकास हुआ है सहायता पद्धति मे भी काफी परिवर्तन हुए है और विभिन्न पहलुओ पर जोर भी दिया गया है। अभी तकनीकल मार्गदर्शन देने के अलावा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तिलहन एकत्रण, तेल पेराई और साबुनसाजी के लिए अनुदान और ऋण स्वरूप वित्तीय सहायता भी देता है। तिलहन एकत्रण के लिए कमीशन तीन हजार रुपये पूँजीगत खर्च के लिए देता है, जिनमे से आधे अनुदान रूप होते है। तिलहन का स्टाक जमा करने के लिए दिया गया ऋण केन्द्र द्वारा अनुमानित एकत्रण की वास्तविक जरूरत तक दिया जाता है। उपदान स्वरूप सहायता एकत्रित तिलहन के कुल मूल्य के ५ प्रति शत तक या कम से कम ३०० रुपये प्रति वर्ष, प्रथम तीन वर्षो के लिए, दी जाती है तथा चौथे व पाचवे वर्ष मे क्रमश तीन और दो प्रति शत। इसके अलावा गोदाम बनाने के लिए १५ हजार रुपये तक सहायता दी जाती है जिसमे से ५० प्रति शत अनुदान होता है और यह तिलहन केन्द्रो को दिया जाता है। तेल पेराई केन्द्र को नौ हजार रुपये की सहायता दी जाती है जिसमे से ३,००० रुपये अनुदान, ३,००० पूँजी गत खर्च, और ३,००० रुपये सचालन पूँजी ऋण के लिए होते है। फिर कमीशन प्रत्येक केन्द्र के प्रबन्धक के वेतन भुगतान के लिए भी (पहले दो वर्ष मे ६० रुपये प्रति माह, तीसरे वर्ष मे ४५ रुपये प्रति माह और चौथे एव पाचवे वर्ष मे ३० रुपये प्रति माह) सहायता देता है।

अखाद्य तेल से साबुन बनाने के लिए साबुन केन्द्रो की तीन श्रेणियाँ है ए, बी और सी, जिनकी स्थापना के लिए ९,००० रुपये तक आर्थिक सहायता पूँजीगत खर्च के लिए दी की जाती है, जिसमे से ५० प्रति शत अनुदान होता है। सचालन पूँजी भी दी जाती है जोकि कुल उत्पादन-बिक्री पर निर्भर करती है। केन्द्र के प्रकार के अनुसार कमीशन एक रसायनज्ञ की तनख्वाह भी देता है, जोकि प्रथम वर्ष के लिए १५० रुपये प्रति माह होती है तथा बाद के ३ वर्षों मे धीरे-धीरे कम होती जाती है। इस के अतिरिक्त केन्द्रो को बिक्री बढाने के लिए, जोकि निर्धारित लक्ष्य से अधिक बिक्री करते है, अतिरिक्त बिक्री पर ४२ रुपये प्रति टन की दर से विक्रय-उत्प्रेरणा दी जाती है।

कमीशन केन्द्रो को अपने उत्पादन की बिक्री बढाने हेतु अनुदान रूप मे सहायता देता है। दो वर्ष के लिए विक्रेता के वेतन स्वरूप ६०० रुपये और पूँजी गत खर्च के लिए ६०० रुपये प्रति वर्ष दिये जाते है।

प्रशिक्षण

अखाद्य तिलहन के एकत्रण और भाण्डारीकरण के उचित तरीके सिखाने के लिए कार्यकर्त्ताओ को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है। गलत ढग से एकत्रण करने और दोषपूर्ण भाण्डारीकरण से बहुत-से तिलहनो का नुकसान हो सकता है तथा उनकी आर्थिक उपयोगिता भी कम हो सकती है। फिर भी, चूँकि यह उद्योग विकेन्द्रित आधार पर अधिकाशत ग्रामीण क्षेत्रो मे चलता है, अत वैसे कार्यकर्त्ताओ को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है जोकि ग्रामीण क्षेत्रो मे काम कर सके। दिनाक ३० जनवरी १९६३ को महाराष्ट्र राज्य के शोलापुर जिला स्थित मोहोल मे अखाद्य तेल और साबुन उद्योग के लिए एक केन्द्रीय प्रशिक्षण सस्था का उद्घाटन किया गया, जोकि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत चल रही है।

तिलहन एकत्रण और साबुनसाजी का काम करने के लिए उन क्षेत्रो मे जहा कि अब भी कोई क्षेत्रीय सगठन नही है, कई विस्तार केन्द्रो और मार्गदर्शी इकाइयो की स्थापना की गयी है। इन केन्द्रो के सगठन की जिम्मेदारी अखिल भारत अखाद्य तेल उद्योग सघ को सौपी गयी है जिसका प्रमुख कार्यालय पूना मे है।

चन्द क्षेत्रो मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन स्वयम् ही ऐसे केन्द्रो की स्थापना करता है।

तिलहन एकत्रण, उनका प्रशोधन और तेल पेराई करना तथा अखाद्य तेल से साबुन बनाना सिखाने के लिए कमीशन विस्तार प्रशिक्षण केन्द्र चलाता आ रहा ह। प्रशिक्षण अवधि छ माह है। वर्ष १९६२-६३ मे सात विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रो (तिलहन एकत्रण और तेल पेराई) ने ४२ व्यक्तियो को प्रशिक्षण दिया जबकि १३ विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रो (साबुनसाजी) ने अखाद्य तेल से साबुन बनाने मे ६९ व्यक्तियो को प्रशिक्षित किया। स्कूली इकाइयो मे प्रशिक्षण देने के लिए शिक्षको को चार उत्पादन केन्द्रो मे प्रशिक्षित किया गया।

कमीशन ने यह उद्योग १९५३-५४ मे अपने हाथ मे लिया। उद्योग को चलाने के लिए कोई सगठनात्मक स्वरूप सामने नही था। अत सभी स्थानो मे कमीशन को सगठनो का निर्माण करना पडा। पिछले दस वर्ष मे नीव को मजबूत करने के लिए कमीशन (४७,७३५ रुपये मूल्य का १,५७,००० किलोग्राम) का स्थान था। अखाद्य तिलहन की पूर्ति करनेवाले मुख्य राज्य थे– मैसूर, मद्रास और आन्ध्र प्रदेश। वर्ष १९६२–६३ तक ६२७ केन्द्रो की स्वीकृति दी गयी, जिनमे से १४९ केन्द्रो को खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने प्रत्यक्ष रूप मे आर्थिक सहायता दी तथा राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलो ने ४७८ केन्द्रो को, इनमे से ३३९ सहकारी समितियाँ है तथा २८८ सन् १८६० के समिति पजीकरण अधिनियम के अन्तर्गत पजीकृत समितियाँ। नीचे दी गयी तालिका मे विभिन्न श्रेणियो के सगठनो द्वारा चलाये जानेवाले केन्द्रो का विवरण है।

अकेले १९६२–६३ वर्ष मे ९३ हजार व्यक्तियो को तिलहन एकत्रण कार्य मे रोजगारी मिली और उनमे पारिश्रमिक स्वरूप १७ लाख रुपये बाटे गये।

इस विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत १९६२–६३ वर्ष मे अखाद्य तेल का कुल उत्पादन २०,०६,४४८ रुपये मूल्य का ११,३०,४५७ किलोग्राम हुआ जिसमे

तालिका

कमीशन द्वारा सहायित अखाद्य तेल साबुन उत्पादन केन्द्रो का वितरण

वर्ष	खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रत्यक्ष सहायित	राज्य खादी और ग्रामोमोग मण्डलो द्वारा सहायित	सहकारी समितियाँ	पजीकृत समितियाँ (सन १८६० के समिति पँजीकरण अधिनियम के अन्तर्गत पजीकृत)	कुल
१९५८–५९	११९	२५१	१८०	१९५	३७५
१९५९–६०	१३४	३४३	२४१	२३६	४७७
१९६०–६१	१३८	४००	२८०	२५८	५३८
१९६१–६२	१४६	४४५	३०७	२८४	७६१
१९६२–६३	१४९	४७८	३३९	२८८	६२७

द्वारा काफी काम किया गया। वर्ष १९६२–६३ मे १८ लाख ५१ हजार रुपये मूल्य के ८६,१४,००० किलोग्राम अखाद्य तिलहन एकत्रित किये गये। इनमे से १०,६७,४७९ रुपये मूल्य की ६५,३४,००० किलोग्राम निम्बौरियाँ थी। उसके बाद महुआ (६,४५,१६० रुपये मूल्य का १५,०३,००० किलोग्राम) और करज १,०३४ व्यक्तियो को पूर्ण-कालीन और १०,२१९ व्यक्तियो को अश-कालीन रोजगारी मिली। पूर्णकालीन कर्मियो की कुल वार्षिक आय २,२९,३३९ रुपये और अश-कालीन कर्मियो की १,०५,०६१ रुपये रही।

वर्ष १९६२–६३ मे साबुन उत्पादन मे ३१७ केन्द्र लगे थे जिनमे से १८९ सन् १८६० के समिति

पजीकरण अधिनियम के अन्तर्गत पजीकृत समितियाँ थी और बाकी १२८ सहकारी समितियाँ। इन केन्द्रो ने १९६२–६३ वर्ष मे कुल ५० लाख रुपये मूल्य का ३७,३४,००० किलोग्राम साबुन का उत्पादन किया जोकि पिछले वर्ष के उत्पादन मे २३ प्रति शत अधिक था। उस वर्ष ५१ लाख रुपये मूल्य के ३४,५५,००० किलोग्राम साबुन की बिक्री हुई। साबुन उत्पादन कार्य मे ७८५ व्यक्तियो को पूर्ण कालीन और ४,०८४ व्यक्तियो को अश-कालीन रोजगारी मिली और उनकी आय क्रमश ४,६७,४६५ रुपये और ५९,८०२ रुपये रही।

उत्पादन मे लगे ३१७ केन्द्रो मे से १७६ ने निर्धारित लक्ष्य के ५० प्रति शत से अधिक की पूर्ति की। इन १७६ केन्द्रो मे से १०२ पजीकृत समितायाँ थी और ७४ सहकारी समितियाँ।

अखाद्य तेल से साबुन बनाने के कार्य मे पजाब, गुजरात और मद्रास राज्य अग्रणी रहे।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यक्रम मे माध्यमिक विद्यालयो मे अखाद्य तेल से साबुन उत्पादन करने का कार्य आरम्भ करना भी शामिल है। वर्ष १९६२–६३ मे ३० स्कूली इकाइयाँ चल रही थी। उनमे से २१ ने साबुनसाजी के २२५ प्रदर्शन किये तथा ९८८ पुराने और ५,०११ नये विद्यार्थियो को प्रशिक्षण दिया।

जेलो मे बन्दियो को साबुन बनाना सिखाने की योजना भी है। जेलो के लिए स्वीकृत २९ साबुन उत्पादन केन्द्रो मे से १० की स्थापना १९६२–६३ मे की गयी। उस वर्ष के अन्त तक मैसूर राज्य के बेलारी केन्द्रीय जेल के साबुन केन्द्र ने उत्पादन कार्य आरम्भ कर दिया।

विकेन्द्रित साबुन उद्योग मुख्यत खाद्य तिलहनो का उपयोग करता है। तथापि इसे कुछ अश मे नारियल तेल और कास्टिक सोडा का भी इस्तेमाल करना होता है। नारियल तेल और कास्टिक सोडा उचित दर पर प्राप्त करने मे उद्योग मे कठिनाई महसूस हो रही है, क्योकि ये विकेन्द्रित इकाइयाँ लम्बे अरसे के लिए कच्चा माल भाण्डारित करने योग्य नही है। इन कच्चे मालो के खरीदने मे बडे पैमाने के निर्माताओ की स्पर्धा मे वे अपने को घाटे की अवस्था मे पाती है।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की एक नीति के अनुसार ग्रामोद्योगो के विकासार्थ सहायता तरजीहन सहकारी समितियो और पजीकृत समितियो को दी जाती है। ग्रामीण क्षेत्रो मे, जहा कि अनपढ और उत्पादन की आधुनिक विधियो से अनभिज्ञ लोगो की सख्या अधिक है, औद्योगिक सहकारी समितियो के गठन मे आनेवाली कठिनाइयाँ सर्वविदित है और इस सम्बन्ध मे कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नही। उन क्षेत्रो मे वित्त, तकनीकल ज्ञान और प्रबन्धकीय दक्षता उपलब्ध नही है। कमीशन वित्तीय और तकनीकल सहायता दे सकता है, प्रबन्धकीय प्रतिभाओ को स्थानीय रूप से प्राप्त करना है। यह कोई सहज कार्य नही है।

फिर, बिक्री की भी समस्या है। विकेन्द्रित इकाइयो द्वारा जोकि अखाद्य तेल का इस्तेमाल करती है, मिल विभाग के आधुनिक साबुन उद्योग से खुले बाजार मे प्रतियोगिता करना तो सभव है ही नही।

यह तो मानी हुई बात है कि देश मे विकेन्द्रित साबुन उद्योग की क्षमता सीमित है। अत सयुक्त उत्पादन कार्यक्रम के लिए दिया गया सुझाव निरा सैद्धान्तिक होगा। फिर भी, साबुन उद्योग के विकास की सभावना को ध्यान मे रखते हुए इस बात पर विचार करना बहुत अच्छा होगा कि क्या विकेन्द्रित इकाइयो को खास किस्म के उत्पादन का कार्य नही सौपा जा सकता, ताकि बडे पैमाने और छोटे पैमाने की इकाइयो के बीच की प्रतियोगिता को कम किया जा सके।

(इकनॉमिक टाइम्स से साभार)

दि ट्रायबल वर्ल्ड ऑफ वेरियर एल्विन : एन ऑटोबायग्राफी, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, १९६४, पृष्ठ बारह+३५६, मूल्य २० रुपये।

देश की आदिवासी जनता मे दिलचस्पी रखनेवालो को स्व डा वेरियर एल्विन का परिचय देने की आवश्यकता नही। आदिवासी जीवन और सस्कृति को समझने के प्रत्येक प्रयास के साथ उनका नाम जुडा हुआ है अर्थात् इस क्षेत्र मे हर कदम पर उनका नाम आता है। आलोच्य पुस्तक डा एल्विन की विवरणात्मक आत्मकथा है, जिसे उन्होने अपने देहावसान के पहले पूरा कर दिया था। यह पुस्तक न सिर्फ डा एल्विन के जीवन और कार्यो पर बल्कि भारत के आदिवासी जीवन पर इस बात का विशेष उल्लेख करते हुए प्रकाश डालती है कि पिछले तीस वर्षो मे उनकी अवस्था सुधारने हेतु क्या-क्या प्रयास किये गये है। जिस प्रकार डा एल्विन का जीवन बहुमुखी था, उसी प्रकार उनकी जीवनी भी विविध प्रसग प्रस्तुत करती है। उनका जीवन मानवीयता और समझबूझ से भरपूर था। डा एल्विन मे मित्र बनाने की असाधारण क्षमता थी ओर वे बहुतो के प्रिय थे।

गाधी और टैगोर के सम्बन्ध मे उनके विचार, जिनका प्रत्यक्षत उनके जीवन पर बहुत प्रभाव था, बडे रुचिकर और विस्तार मे उद्धृत करने योग्य है। उदाहरणार्थ "ईसाई धर्म के बाद गाधी आये। अन्य लोगो की तरह मै गाधीजी के उन उपदेशो यानी विचारो को अपना लेता हूँ जोकि मुझे अच्छे लगते है और बाकी को छोड देता हूँ। गाधी दर्शन के भारत द्वारा परित्याग, जोकि उनकी मृत्यु के पूर्व ही आरम्भ हो गया, का प्रतीक है—दाह-सस्कार के लिए उनके पार्थिव शरीर को तोपगाडी (गन-कॅरेज) पर ले जाना। गाधीवाद की बहुत-सी बातो को मै कभी स्वीकार नही कर पाया हूँ, विशेष कर इसका विशुद्धतावादवाला पक्ष, परन्तु इसके साथ ही उसमे अनेक बाते प्रेरणादायक भी थी। सत्य सम्बन्धी उनकी शिक्षा का मर्म, क्रोध का प्रेम से शमन करनेवाला उनका सिद्धान्त और विशुद्धतावाद से अलग उनकी सादगी आज भी हृदयग्राही लगती है। और, मै उस विलक्षण व्यक्तित्व को, जोकि एक साथ ही प्रेममय और तेजमय था, अथवा जो प्यार उन्होने मुझे उस समय दिया जबकि मै उसके योग्य बिल्कुल नही था, कभी भूल नही सकता और यही कारण है कि आज भी मे उनका नाम सुन कर गर्व और हर्षोल्लाद महसूस किये बिना नही रह सकता।

"मै टैगोर से कभी मिला नही, यद्यपि उन्होने मुझे उसी समय से प्रभावित किया जबकि मै ऑक्सफोर्ड मे पढता था। एक अजीब बात यह है कि मै उनकी ओर सर्व प्रथम उनकी प्रसिद्ध गीताजलि से आकर्षित न होकर कबीर के दोहो का उनके द्वारा किये गये अनुवाद से हुआ, और प्राच्य कविता से वह मेरा प्रथम परिचय था।

"मेरे सामने सदैव मार्ग अर्थात पक्ष रहे है— एक ओर गाधीजी का निर्लिप्त मार्ग और दूसरी ओर

टैगोर का ससार अपनाने का रास्ता। सौन्दर्य, राग और रग मे टैगोर के विश्वास ने, जबकि भारत मे अधिकाश लोग प्रेम से डरते थे परन्तु वे नही, मेरे हृदय मे बडा ही उत्साह से भरपूर प्रत्युत्तर पैदा किया। 'जो भला करना चाहता है वह दरवाजा खटखटाता है, परन्तु जो प्यार करता है उसके लिए दरवाजा खुला है।' टैगोर की हर बात, हर चीज सकारात्मक थी। उन्होने स्वयम् जीवन को ही कला-कृति बना दिया था। वे आदिवासी सतालो मे दिलचस्पी रखते थे और उनसे प्रेरित हुए थे। वस्तुत मैने प्राय यह महसूस किया है कि आदिवासी क्षेत्रो का प्रशासन और नीति-निर्माण कवियो ओर कलाकारो द्वारा निर्दिष्ट होने चाहिये।

''भारत इसे अपना सौभाग्य मानता है कि स्वतत्रता की ओर आगे बढते समय, उस नाजुक अवधि मे उसे मार्गदर्शन देने के लिए दो-दो व्यक्ति थे– गाधी और टैगोर। गाधी ने लोगो मे जोश पैदा किया और उन्हे दृढ बनाया और एक बृहत साम्राज्य से अहिसात्मक ढग से लडाई लडने के लिए उनके कठोर सदेश उनके अनुगामियो को जागृत करने और उनकी धमनियो मे रक्त सचार करने के लिए परमावश्यक थे। परन्तु ललित कला के पक्ष मे वे कमजोर थे। ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक गीतो को छोड कर अन्य प्रकार की कविता मे उनकी कोई विशेष दिलचस्पी नही थी। कला को प्रोत्साहन देने के लिए उन्होने शायद ही कुछ किया हो। जिस हाथ करघा उद्योग के जरिये वे एक सौन्दर्य-ससार का निर्माण कर सकते थे, उसका उपयोग उन्होने सादे और कोरे वस्त्र बनाने के लिए किया, जिसे आज भी उनके अधिकाश अनुगामी धारण करते है, क्योकि वे भारत को कैदखाने के कपडे मे रख कर हमेशा उसे उसकी हैसियत की याद दिलाते रहना चाहते थे। टैगोर के बिना भारत सूखा और रगविहीन हो गया होता। वह विश्व के सौन्दर्य, मानव जीवन के परमावश्यक गीत तथा वह जिन चीजो का निर्माण करता है उन्हे, भूल गया होता। टैगोर परिपूर्ण सटीक प्रति-प्रभावी थे और इन दोनो व्यक्तियो का मेल सम्पूर्ण भारत और मेरे लिए तो निश्चय ही बहुत आवश्यक था।''

इस तरह की पुस्तक का पठन वस्तुत आनन्ददायक है।

—सुभाष चन्द्र सरकार

बम्बई २६ अगस्त १९६४

★ ★ ★

इवोल्यूशन ऑफ पंचायती राज, लेखक आर वी जठार, इन्स्टीट्यूट ऑफ इकनॉमिक रिसर्च, धारवाड, १९६४, पृष्ठ २१९, मूल्य १० रुपये।

मई १९६२ मे केन्द्रीय सरकार की सेवा से निवृत्ति पाने के बाद प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री आर वी जठार को धारवाड स्थित 'इन्स्टीट्यूट ऑफ इकनॉमिक रिसर्च' ने 'भारत मे पचायत राज का विकास' का गवेषणात्मक अध्ययन करने का काम सोपा। प्रस्तुत पुस्तक मे लेखक ने, वैदिक युग से लेकर पचायत राज सस्थाओ की स्थापना मे रूपातरित होने वाली ग्राम पचायतो के हाल ही के इतिहास तक, ग्राम पचायतो के इतिहास तथा विकास का परीक्षण किया है। ऐसा करके उन्होने तत्सम्बन्धी विभिन्न विवरणो से प्राप्त जानकारी एक स्थल पर जुटाई है। प्रस्तुत प्रकाशन मे जिन महत्वपूर्ण सिफारिशो का जिक्र है उनमे 'सामुदायिक परियोजना और राष्ट्रीय विस्तार सेवा अध्ययन दल,' 'पचायत राज वित्त अध्ययन दल' तथा 'ग्राम सभा, ग्राम पचायत और पचायत समिति अध्ययन दल' के प्रतिवेदनो तथा 'भारतीय राज्य प्रशासन सेवाएँ' और 'जिला प्रशासन की समस्याओ पर प्रतिवेदन' मे की गयी सिफारिशे है।

प्रथम तीन अध्यायो मे लेखक उन बातो पर चर्चा करता है प्राचीन भारत मे ग्राम पचायतो की भूमिका, अँग्रेजी शासनकाल मे उनका विकास और पचायतो के स्थापनार्थ सविधानिक निर्देश। चतुर्थ और पचम अध्यायो मे लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण के लिए बलवन्तराय मेहता समिति के प्रस्ताव तथा प्रत्येक राज्य मे उसे

कार्यान्वित करने हेतु अपनाये गये स्वरूप का परीक्षण किया गया है। विभिन्न अधिनियमो मे इनमे से प्रत्येक सस्था के लिए सगठनात्मक स्वरूप, शक्ति, वित्त तथा साधन-स्रोतो का जो प्रावधान रखा गया है उस पर भी लेखक ने आवश्यक ध्यान दिया है। अनुवर्ती अध्याय मे लेखक ने पचायत राज मे सेवाओ की भूमिका, स्वैच्छिक सगठनो, ग्राम सभाओ तथा न्याय पचायतो से सम्बन्धित प्रश्नो पर विचार किया है। यूरोपीय देशो, सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ मे स्वायत्त शासन सस्थाओ का इतिहास खासा लम्बा है। लेखक ने वर्तानिया स्वीडन, युगोस्लाविया, सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ की स्वायत्त शासन सस्थाओ का सक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत प्रकाशन मे दिया है।

स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्राय सभी राज्यो मे ग्राम पचायतो के सगठन और विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। हाल ही मे बनाये गये पचायत राज कानूनो से प्रशासन-पद्धति मे एक महत्वपूर्ण सगठनात्मक परि-वर्तन और सविधान तथा पच वर्षीय योजनाओ मे निर्दिष्ट आर्थिक व सामाजिक नीति के मूलभूत उद्देश्यो की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ है। विभिन्न राज्यो मे अपनाया गया पचायत राज सस्थाओ का स्वरूप मोटे तौर पर एक समान है, अन्तर मात्र विस्तृत बातो मे ही है। चूँकि उक्त व्यवस्था हाल ही मे लागू की गयी है, इसलिए अभी वह अपने शैशव-काल मे ही है। जिन राज्यो मे उसे पूर्णत कार्यान्वित किया जा चुका है, उनमे पचायत राज सस्थाओ की कार्यशीलता सम्बन्धी अनुभव और ज्ञान इतना पर्याप्त नही है कि हम किसी वैध निष्कर्प पर पहुँच सके। बुनियादी तौर पर ग्राम, खण्ड और जिला आयोजन, योजना कार्यान्विय तथा सामाजिक कायाकल्प के साधन की दृष्टि से पचायत राज मे महान सम्भाव्यताएँ है। पचायत राज सस्थाओ की वृद्धि और विकास इस बात पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि जनता की आवश्यकताओ को समझने के लिए वे किस प्रकार कितना प्रयास करती है तथा समाज के आर्थिक एवम् सामाजिक कल्याण को प्रोत्साहन देने के लिए किस प्रकार वे एक सुव्यवस्थित ढग से आयोजन करती है।

इस प्रकार के सगठित प्रयासो का एक महत्वपूर्ण मापदण्ड यह है कि विकास के लिए आवश्यक कर लगाने और इकट्ठा करने की उनमे कितनी क्षमता है। राजस्थान मे हाल ही मे किये गये पचायत राज के अध्ययन से प्रकट होता है कि पचायत समितियो की स्थापना हुए तीन वर्ष हो गये, लेकिन कुल २३२ मे से केवल १७५ ने ही कर लगाया। सामुदायिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए सगठित प्रयासो की एक दूसरी कसौटी यह है कि इस नये काम मे अपने को लगाने के लिए प्रशासन मे कितनी क्षमता है, किस हद तक वह इसमे सफल होता है। सरकारी कर्मचारियो और लोक प्रतिनिधियो के बीच कैसा सम्बन्ध है, इसका यहाँ बहुत बडा महत्व है। यह नही कहा जा सकता कि विभिन्न राज्यो के सभी भागो मे सही प्रकार के सम्बन्धो का विकास हुआ है और वे स्थापित हो चुके है। सरकारी अधिकारियो और लोक-प्रतिनिधियो के कार्य-क्षेत्रो, शक्तियो तथा कर्त्तव्यो का स्पष्ट प्रतिपादन आवश्यक प्रतीत होता है। पारस्परिक समझ-बूझ और एक-दूसरे की कद्र करने जैसी बातो का विकास केवल इस प्रकार के विवेकपूर्ण प्रयास से ही हो सकता है। लोकप्रतिनिधियो की प्रधान भूमिका यह होनी चाहिये कि वे विकासशील कार्यो मे लोक उत्साह तथा जन सहयोग का निर्माण करे। लोक प्रतिनिधियो को ठोस प्राविधिक परामर्श देना और प्रतिनिधियो द्वारा स्वीकृत आधार पर अत्यन्त कुशलता-पूर्वक कार्यक्रम कार्यान्वित करना सरकारी अधिकारियो का परम कर्त्तव्य होना चाहिये। अधिकारियो को आवश्यक रूप से ही समुदाय के सफल विकास के लिए समाज की आवश्यकताओ तथा भावनाओ के प्रति और अधिक प्रत्युत्तरगामी बनने की क्षमता अर्जित करनी होगी।

—इन्दिरा अनन्तराम अय्यर

बम्बई १ अगस्त १९६४

महोदय,

अगरत १९६४ के *खादी ग्रामोद्योग* मे श्री त्रिलोकनाथ भास्कर द्वारा लिखित 'औद्योगिक सहकारिताएँ और लोकतान्त्रिक समाजवाद' मे उठाये गये प्रश्नो पर पाठको के विचार आमत्रित कर आपने एक अच्छा काम किया है। लेखक द्वारा प्रस्तुत कुछ सुझावो का यदि अनुसरण किया जाय तो फलस्वरूप अन्ततोगत्वा समितियाँ बन्द पड जायेंगी और स्वयम् सहकार आन्दोलन ही समाप्त हो सकता है।

लेखक ने प्रश्न उठाया है कि "क्या सिर्फ उन्ही लोगो को सहकारी समितियो का सदस्य होना चाहिये, जिनके पास कुछ नही है – ?" और आगे सुझाव देते है कि इस प्रकार की अवस्थाएँ निर्मित करनी चाहिये जो पूँजीपतियो, उद्योगपतियो, व्यापारियो तथा उपक्रमियो को सहकारिताओ मे भाग लेने के लिए प्रेरित कर सके। और, ये ही तो वे तत्व है जिन्हे सहकारिताओ के प्रत्येक अग से बाहर निकाल फेकना है। विश्व के अनेक देशो मे जहाँ शक्तिशाली और स्वस्थ सहकारिता आन्दोलन पनप रहा है हम देखते है कि वह इन तत्वो से परिपूर्ण मुक्त है तथा यहाँ तक कि यदि ये तत्व आन्दोलन मे घुसने की कोशिश करते है तो उन्हे रोकने के लिए उल्टा वह उनसे लोहा लेता है। भारतीय सहकारी आन्दोलन मे उनके घुस बैठने से वह कमजोर और छिन्न-भिन्न हुआ है। ये तत्व चाहे सरकार हो अथवा प्राविधिज्ञ, सफल पूँजीपति या उनका समूह, सभी अवाछनीय तत्व है। ससार भर मे सफल सहकारी समितियाँ वे ही है जो अपने बल-बूते पर विकसित हुई है। इस 'अपने बलबूते' मे पूँजी, प्रबन्ध और प्राविधिक कौशल भी शामिल है। आज जो सहकारी समितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक सघो को सफलतापूर्वक चुनौती देती है, वे ऐसी समितियाँ नही है कि जिन्होने विनियोजको के लिए अपना दरवाजा खोल दिया हो और अधिकतम अधिलाभ (डिवीडेण्ट) उन्हे दिया हो।

लेखक का कहना है कि कामगारो को समितियो के स्वामित्व, प्रबन्ध और लाभ मे हिस्सा देना चाहिए। यह बात तो स्वयम् सहकारिता के विचार के ही विरुद्ध है। स्वामित्व और मुनाफाखोरी एक अर्जनशील समिति की विशेषताएँ है। यदि ऐसी समिति एक सुसमृद्ध अवस्था भी प्राप्त कर ले तो भी उनका औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता। एक सही अर्थ मे सहकारी समिति की सम्पत्ति उसके सदस्यो की पूँजी नही है। यहाँ तक कि यदि लाभ भी हुआ तो उसे उसी स्रोत मे और उसी अनुपात मे छूट के रूप मे वापिस कर दिया जाता है, जहाँ से वह आया है। वस्तुत लेखक स्वयम् अपनी बात का विरोध करता है जब वह कहता है कि 'ग्रामदान सच्चा सहकार है जिसमे लोग अपनी मदद के लिए एक-दूसरे की मदद करने की उपयोगिता समझते है।' बाहर का कोई भी आदमी यदि उनके लिए किसी रूप

मे कोई उपकार करता है तो वह उन्हे सच्चे सहकार से दूर भगाता है। पूँजीपति इसलिए नही फलते-फूलते कि वे बुद्धिमान हैं अथवा उनमे कोई विशेष प्राविधिक श्रेष्ठता या व्यापारिक कुशाग्रता है। सभी प्राविधिक, प्रबन्धकीय और व्यापारिक पक्षो का प्रबन्ध निचले स्तर के लोग करते है। पूँजीपति को श्रेय इसलिए मिलता है कि उसके पास मात्र लाभ कमाने के लिए विनियोजन करने हेतु पूँजी है। ये ही व्यक्ति यदि किसी सहकारिता के अन्तर्गत काम करते है तो उसे लाभ पहुँचायेगे। जहाँ तक पूँजी का सवाल है, यूरोप तथा अन्यत्र स्थानो की सही सहकारिताओ का अनुभव बडा अच्छा रहा है। उनके पास कभी पूँजी की कमी नही पडती और कीमती उपक्रमो मे विनियोजित पूँजी की भी वे लघु काल मे ही पुनर्वाप्ति कर लेती है। तब क्यो फिर भारतीय सहकारी समितियो को शोषको के चगुल मे फसाया जाय ?

सहकार का वास्तविक आधार सदस्यो की 'आवश्यकता' है। और, सहकारिताओ का गठन इस प्रकार की आवश्यकताओं के आधार पर किया जाना चाहिये। 'एक ही' मत देने का अधिकार सदस्य को होना चाहिये और कोई सदस्य कितनी पूँजी किसी सहकारिता मे लगाता है, इसका मत देने से कोई सम्बन्ध नही होना चाहिये। ऐसा करने से यह एक साथ ही 'लोकतत्र और समाजवाद' दोनो बन जाता है। 'साधन-सम्पन्न' और 'साधन विहीनो' की खिचडी नही होनी चाहिये। वस्तुत सहकार दर्शन मे ही 'वर्ग भेद' का सम्बोध नही है। सहकारी आन्दोलन के इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलेगे जहाँ औद्योगिक सहकारिताओ मे स्वामित्व, प्रबन्ध और लाभ मे हिस्से की बात शामिल की जाती है तथा वे सहकारिताएँ या तो जाइण्ट स्टाक कम्पनियो मे रूपातरित हो जाती है अथवा स्वेच्छापूर्वक या अनिवार्यत दिवाला निकाल देती है। भारत की औद्योगिक सहकारिताएँ भी इसका कोई विशेष अपवाद नही है। कारण सीधा-सादा है। पूँजीवादी 'साधन' से आप सहकारी 'साध्य' की प्राप्ति नही कर सकते।

अपने उत्पादन की बिक्री-व्यवस्था करना औद्योगिक सहकारी समितियो के सामने आज एक भारी समस्या है। यहाँ तक कि वे सहकारिताएँ भी जो इन उत्पादक सहकारिताओ की वस्तुओ का उपयोग कर सकती है अपनी जरूरत की चीजे इनसे नही खरीदती। इस सम्बन्ध मे सरकार मदद दे सकती है। वह अनेक समितियों, सगठनो और स्थानीय विभागो को ऋण तथा उपदान देती है। इस प्रकार के ऋण और उपदान नकद रूप मे न दे कर, नकद और जिन्स दोनो रूपो मे दिये जाने चाहिये अर्थात् ऋण व उपदान का कुछ अश औद्योगिक सहकारिताओ के उत्पादनो के रूप मे दिया जा सकता है। इस प्रकार यह व्यवस्था उत्पादन करनेवाली तथा अन्य सहकारी समितियों को परस्पर जोडने के लिए एक उपयोगी कडी हो सकती है। स्वयम् सरकार को भी उनके उत्पादनो का व्यवहार करना चाहिये।

—सॅम एम. नेकसतखान

किल्ले सोनगट
जिला सूरत (गुजरात)
१३ अगस्त १९६४

महोदय,

खादी ग्रामोद्योग, वर्ष १०, अक ११ मे प्रकाशित "गोबर गैस सयत्र विभिन्न उपयोग और समाज पर प्रभाव" लेख मे लेखक श्री जशभाई झ पटेल ने विभिन्न जलावनो का कॅलरी मूल्य, उसकी योग्यता और प्रभावी मूल्य दर्शानेवाली तालिका दी है।

लेख के दूसरे पैरा मे लेखक ने कहा है कि गैस का उष्मीय मान प्रति घनफुट ५५० ब्रिटिश थर्मल युनिट (ब्रि थ यु) है और इस गैस का २५० घनफुट ८२ पौण्ड जलावन लकडी का काम देता है। इस ओर ध्यान दिये जाने की जरूरत है। लेख मे बताये अनुसार २५० घनफुट गोबर गैस, जिसका कुल कॅलरी मूल्य २५०×५५० अर्थात १,३७,५०० ब्रि थ यु होता है, ८२ पौण्ड जलावन लकडी के बराबर बताया गया है जबकि जलावन लकडी का नीचे दिये गये सगणन के अनुसार कॅलरी मूल्य ६,९८,२०० ब्रि.थ यु होता है।

संगणना

२५० घनफुट गोबर गैस का प्रति घनफुट ५५० ब्रि थ यु की दर से कॅलरी मूल्य =१,३७,५०० ब्रि थ यु.

८२ पौण्ड जलावन लकडी का प्रति पौण्ड २,१४० किलो कॅलरी की दर से कॅलरी मूल्य $= \frac{८२ \times २,१४० \times १००}{२५२}$

(१ ब्रि थ यु = २५२ कॅलरी) =६,९८,२०० ब्रि थ यु

टी कल्लूपट्टी स्थित ग्रामीण विस्तार प्रशिक्षण केन्द्र के कारखाना विभाग मे प्रमुख शिक्षक ने लकडी जलावन का इस्तेमाल करनेवाले निर्धूम चूल्हो की, उष्मा ऊर्जा स्रोत के रूप मे, योग्यता निश्चित करने के लिए विस्तृत प्रयोग किये हैं। उनसे यह पाया गया कि टी कल्लूपट्टी मे तैयार किये गये चूल्हो की योग्यता ३० से ३५ प्रति शत है, न कि १७ ३ प्रति शत जैसा कि लेख मे बताया गया है। यदि यह भी मान ले कि चूल्हे की योग्यता लकडी जलावन का इस्तेमाल करते हुए १७ ३ प्रति शत है और गोबर गैस की ६० प्रति शत, तो वस्तुत उपभोग की गयी उष्मा-ऊर्जा, एक ही किस्म का काम करने के लिए, गोबर गैस और लकडी जलावन के लिए क्रमश $\frac{१,३७,५०० \times ६०}{१००}$ अर्थात् ८२,५०० ब्रि थ यु और $\frac{६,९८,२०० \times १७ ३}{१००}$ अर्थात् १,२०,७८८ ब्रि थ यु होगी।

लेखक महोदय अपने लेख मे बताये निष्कर्ष पर किस प्रकार पहुँचे है, जबकि सगणना से कुछ और परिणाम निकलता है, इस पर स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

टी. कल्लूपट्टी (मद्रास) —पी संजीव शेट्टी
२१ अगस्त १९६४ —पी. एस. मंजनाथ

श्री जशभाई झ पटेल लिखते हैं :

ईंधन के रूप में एक मन लकड़ी के स्थान पर २९० घनफुट गोबर गैस की सख्या हिसाब लगाकर नहीं प्राप्त की गयी है। यह संख्या वास्तविक व्यवहार से प्राप्त की गयी है। दत्तापुर स्थित गोबर गैस सयत्र से १९६२-६३ के समूचे वर्ष में २,०३,३०० घनफुट गैस की प्राप्ति हुई और उसी वर्ष भोजन बनाने के लिए उक्त गैस ने ८०० मन (एक मन=८२ पौण्ड) जलावन की लकडी का काम दिया। इस प्रकार प्रति एक मन लकड़ी के बराबर गोबर गैस की मात्रा २,०३,३००-८००=२५४ १३ घनफुट आती है।

धूमविहीन चूल्हों का इस्तेमाल करते हुए उन्होंने ईंधन की लकड़ी के लिए जो ३०-३५ प्रति शत क्षमता प्राप्त की है, वह सराहनीय है। मैने अपने लेख मे भोजन बनाने के लिए ईंधन के स्रोत के रूप में जलावन की लकड़ी की क्षमता १७ ३ प्रति शत बतायी है। यह प्रातिशत्य डॉमेस्टिक फ्यूएल्स इन इण्डिया से लिया गया है।

मेरे विचार से जलावन की लकड़ी की क्षमता के सम्बन्ध में यह कम सख्या वास्तविकता का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करनेवाली प्रतीत होती है। यहाँ यह बताया जाना आवश्यक है कि भारत में सम्भवत कुल परिवारों के एक प्रति शत के दसवे हिस्से से भी कम परिवार निर्धूम चूल्हो का उपयोग करते है।

यह भी स्पष्ट है कि लकड़ी जैसे जलावन की क्षमता का मामला वास्तविक व्यवहार में बड़ा 'अनिश्चित' है। सम्भवता परीक्षण के लिए अपनाये गये तरीके सदैव ही उन अवस्थाओ क प्रतिनिधित्व नही करते, जिनके अन्तर्गत पारिवारिक भोजनालयो में ईंधन की लकड़ी का उपयोग होता है। यह भी सम्भव है कि दत्तापुर में भोजन बनाने के लिए भट्टियों जैसा विशेष प्रबन्ध होने की वजह से गोबर गैस का अधिक कुशलता के साथ व्यवहार किया जा रहा हो।

पृष्ठ ७२२ पर एक भूल है। उक्त पृष्ठ पर गोबर गैस की लपट का तापमान १००००° फर्नहाइट बताया गया है। सही तापमान १०००° फर्नहाइट है।

बम्बई २८ अगस्त १९६४

[श्री पटेल ने ऊपर जिस भूल का जिक्र किया है वह हमारे पास प्रकाशनार्थ भेजे गये उनके लेख की मूल प्रति मे ही थी। तथापि, पाठको को इस कारण जो असुविधा हुई, उसका हमे खेद है। —सम्पादक]

सम्पादक · सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५ तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४। वार्षिक शुल्क · ३ ५० रुपये, एक प्रति : २५ पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

वर्ष : १० : अंक : १-१२

अक्तूबर १९६३–सितम्बर १९६४

विषय सूची

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार

प्रचार निर्देशालय

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन

ग्रामोदय, इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम)

बम्बई–५६

लेखों की सूची

लेखों की सूची

पुस्तक समीक्षा

लेखक और उनकी रचनाएँ

सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव आर्थर रोड, बम्बई–३४

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष • अक्तूबर १९६३ • प्रथम अंक

(अगले पृष्ठ पर)

सम्पादक सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र-विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नही है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखों पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन न ८६७७३।

इस पत्र मे प्रकाशित लेखों मे व्यक्त विचार आवश्यक नही कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे। इस अक के दो रुपये। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६।

विषय सूची

(पिछले पृष्ठ से)

एस्पेक्ट्स ऑफ इकनॉमिक चेज एण्ड पालिसी इन इण्डिया १८००–१९६०—वी वी भट्ट।

एक्शन रिसर्च एण्ड इट्स इम्पॉटस इन एन अण्डर-डेवलप्ड इकनॉमी—प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इन्स्टीट्यूट, योजना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार।

इकनॉमिक अफेयर्स (अर्थशास्त्र विषयक मासिक), योजना अक—हिमासर राय, कलकत्ता।

कोऑपरेटिव पॉलिसी एण्ड प्रोग्रैम्स— नेशनल कोऑपरेटिव यूनियन ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली।

कोऑपरेशन ॲज ए रेमेडी फॉर रूरल पावर्टी — एम नुरुल हक, ईस्ट पाकिस्तान कोऑपरेटिव यूनियन लिमिटेड, ढाका।

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
मोरारजी रणछोडजी देसाई	–भूतपूर्व केन्द्रीय वित्त मंत्री, संसद सदस्य।
कन्दस्वामी अरुणाचलम्	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के उपाध्यक्ष।
त्रिभुवन नारायण सिंह	–योजना आयोग के सदस्य।
ब्रह्मदेव मुकर्जी	–बम्बई स्थित स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मैनेजिंग डायरेक्टर।
अरुण चन्द्र गुहा	–संसद सदस्य, लोक सभा की अनुमान समिति के अध्यक्ष।
ध्वजा प्रसाद साहू	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सदस्य।
रामकृष्णराव कृष्णराव पाटिल	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
झवेरभाई पुरुषोत्तमभाई पटेल	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
शंकरलाल घेलाभाई बैंकर	–प्रख्यात अनुभवी रचनात्मक कार्यकर्त्ता।
जोसेफ बुरे सुन्दरम्	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के भूतपूर्व अर्थ [illegible] स्थित 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स' के सेक्रेटरी।
भगवन्त नागेश दातार	–भारत सरकार के नयी दिल्ली स्थित योजना आयोग में श्रम [illegible] रोजगारी प्रमुख।

(अगले पृष्ठ पर)

इस अंक के लेखक
(पिछले पृष्ठ से)

अमृतलाल दत्त	–बम्बई स्थित टैरिफ कमीशन मे सहायक अनुसधान निर्देशक।
बहराम होरमसजी मेहता	–टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइसेस मे रिसर्च प्रोफेसर, 'इण्टेग्रेटेड प्रोग्रैम्स ऑफ सोशल सर्विसेस एण्ड एज्यूकेशन फॉर ट्राइबल वेलफेयर' के गोडवाना केन्द्र के निर्देशक।
अब्दुर रहीम खॉं	–नयी दिल्ली स्थित भारतीय कृषिक अनुसधान सस्था मे कृषि विस्तार विभाग के अध्यक्ष।
शिशिर कुमार बराट	–मद्रास स्थित केन्द्रीय चर्म अनुसधान सस्था मे सहायक निर्देशक, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की चर्मोद्योग सलाहकार समिति के सदस्य।
चित्तप्रिय मुखर्जी	–श्रीनिकेतन स्थित 'रूरल हायर इन्स्टीट्यूट' मे सहकार के लेक्चरर।
मजेश्वर सदाशिव राव	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की ग्रामीण इजीनियरिंग शाखा के निर्देशक।
गौरी शकर रायचौधरी	–दिल्ली विश्वविद्यालय मे अर्थशास्त्र के लेक्चरर।
श्रीपति श्रीदेवी	–हैदराबाद स्थित महिला विश्वविद्यालय कालेज की आचार्या।
मीरा गुहा	–कलकत्ता विश्वविद्यालय मे भूगोल की लेक्चरर।
पुल्लै विश्वनाथ श्रीकण्ठ राव	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन मे अखाद्य तेल और साबुन उद्योग निर्देशक।
सुभाष चन्द्र सरकार	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित 'खादी ग्रामोद्योग' तथा 'जागृति' के सम्पादक।

दशम वर्ष

प्रस्तुत अक के साथ ***खादी ग्रामोद्योग*** अपने जीवन के दसवे वर्ष मे पदार्पण कर रहा है। गॉवो मे परम्परागत उद्योगो मे लगे, यहाँ-वहाँ बिखरे हुए रूप मे बसे हुए असगठित कारीगरो को सगठित करने और तकनीकल प्रशिक्षण तथा वित्तीय एवम् अन्य प्रकार की सहायता के जरिये उनकी हालत सुधारने मे मदद करने हेतु भारत सरकार ने अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना की, उसके लगभग डेढ वर्ष पश्चात् इस पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। निश्चय ही किसी सस्था को अपना सगठन स्थापित करने मे कुछ समय लगता है–विशेष कर उस अवस्था में जबकि उसका कार्यक्षेत्र या स्वरूप अखिल भारतीय स्तर का हो। अतएव एक माने मे ***खादी ग्रामोद्योग*** का दसवॉ वर्ष खादी और ग्रामोद्योगो को बढावा देने के सुव्यवस्थित प्रयासो का दशम वर्ष समझा जा सकता है।

राष्ट्र विकास के लिए पिछला दशक बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। इस दशक मे राजनीतिक तथा आर्थिक एकीकरण और पूर्णीकरण अर्थात् समा-कलन हुआ है एवम् जनता की आर्थिक और सामाजिक खुशहाली के लिए सुनियोजित उपाय काम मे लाये गये है। इसी काल मे पचायत राज की स्थापना के जरिये, निर्णय करने की प्रक्रिया मे ग्रामीणो की आवाज को साथ लेकर चलने के बडे सोचे-समझे कदम भी उठाये गये। आयोजन पर जोर देना इस दशक की प्रबल प्रवृत्ति रही है।

खादी व ग्रामोद्योगो के क्षेत्र मे प्राप्त सफलताओ का मूल्याकन अर्थ-व्यवस्था की सामान्य प्रगति के सदर्भ मे करना पडेगा। अर्थ-व्यवस्था के ग्रामीण क्षेत्र मे प्रयास करने के बावजूद सामान्य चित्र यह रहा है कि विकास व परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत मन्द रही है। कृषि क्षेत्र मे उत्पादकता और उत्पादन वढाने के प्रयत्नो का कोई विशेष प्रत्युत्तर नही मिला। चूँकि अधिकाश ग्रामीण आबादी कृषि पर निर्भर है–वैसे सामान्य आबादी के सम्बन्ध मे भी यह सच है–इसलिए कृषि मे मन्द विकास की प्रतिछाया गॉवो में चलनेवाले अन्यान्य काम-धधो पर भी पडने ही वाली है।

सामान्यत विकास की प्रक्रिया के साथ कदम मिला कर चलने मे कृषि की असफलता से उन कठिनाइयो का प्रतिबिम्ब सामने आता है, जिनके साथ विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था को लोहा लेना पडा। खादी व ग्रामोद्योगो का काम एक लाख से भी अधिक गॉवो मे फैला हुआ है। दस वर्ष पूर्व करीब दस हजार गॉवो तक ही इस कार्यक्रम का विस्तार था। खादी-उत्पादन (मय रेशमी, ऊनी व अम्बर खादी) मे ५५९ प्रति शत से भी अधिक वृद्धि हुई है। यह उत्पादन १९५३-५४ मे १,१५,६३,००० वर्ग गज था, जो १९६१-६२ मे ७,६२,०२,००० वर्ग गज तक जा पहुँचा। इसी प्रकार रोजगारी के क्षेत्र मे भी ३६० प्रति शत से अधिक वृद्धि हुई। पूर्ववर्ती वर्ष मे ३,७९,००० व्यक्तियो को रोजगारी मिली थी तथा अनुवर्ती मे १७,४६,०००को। अन्य ग्रामोद्योगो के क्षेत्र मे भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। खादी तथा अन्य ग्रामोद्योगो ने १९६१-६२ मे कुल २३,६०,००० व्यक्तियो को रोजगारी प्रदान की, जिनमे से ७४ प्रति शत अकेले खादी उद्योग मे लगे थे। इसी प्रकार नौ वर्ष की अवधि मे खादी की बिक्री मे चौदह गुनी वृद्धि हुई। पॉच लाख से भी अधिक व्यक्तियो को [illegible] प्रदान की गयी।

निस्सदेह खादी व अन्य परम्परागत ग्रामो-द्योगो मे व्यक्ति को पारिश्रमिक कम मिलता है अर्थात् इनसे उसे कम ही आमदनी होती है और रोजगारी प्राप्ति के अन्य कई क्षेत्रो मे मिलनेवाले परिश्रमिक की तुलना मे वे ठहर

नही पाते। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि यदि किसी को कही अन्यत्र अच्छी रोजगारी मिलती है तो उसके लिए यह आवश्यक नही कि वह इन उद्योगो को अपनाये ही। गाधीजी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था, "हाथ कताई किसी भी उद्योग की विनाशक नही है। मैंने हाथ कताई के खातिर एक भी उपयोगी प्राणदायक औद्योगिक प्रवृत्ति को छोडने की कल्पना तक नही की, सलाह देना तो दूर रहा।" इस गाधीवादी दृष्टिकोण से पराङमुखता नही आयी है। इस आर्थिक वास्तविकता की स्पष्ट प्रतिछाया गत २६ अगस्त को केन्द्रीय योजना मन्त्री ने जो वक्तव्य दिया उसमे मिलती है। उस वक्तव्य मे यह बताया गया था कि देश की जन-सख्या मे नितल श्रेणी के दस प्रति शत व्यक्तियो का प्रति व्यक्ति मासिक व्यय देहातो मे आठ रुपये और शहरो मे दस रुपये है। इसका मतलब है ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति प्रति दिन व्यय ४ ३ आने (२७ नये पैसे से कुछ अधिक) और शहरी क्षेत्रो मे तेतीस नये पैसे है। उक्त वक्तव्य के अनुसार देहाती क्षेत्रो की सत्तर प्रति शत आबादी प्रति दिन पचास नये पैसे से कम ही खर्च कर सकती हैं। और, देश की अस्सी प्रति शत से अधिक जन-सख्या गाँवो मे रहती है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि २५ करोड १९ लाख व्यक्तियो के पास प्रति दिन प्रति व्यक्ति के हिसाब से खर्च करने के लिए पचास नये पैसे भी नही है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के ग्यारहवे दौर के अनुसार ग्रामीण आबादी का प्रति व्यक्ति मासिक खर्च १६ ९७ रुपये था यानी प्रति व्यक्ति प्रति दिन ५६ नये पैसे से कुछ ही ऊपर। फिर, एक से दूसरे प्रदेश मे पर्याप्त भिन्नता है, जैसे मध्यवर्ती भारत मे १४ ९१ रुपये मासिक और पश्चिमोत्तर भारत मे २१ ७५ रुपये। शहरी क्षेत्रो की आय के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार का भिन्नत्व दृष्टव्य है।

योजना मत्री द्वारा उद्धृत आकडे सितम्बर १९६१ से जुलाई १९६२ तक की अवधि से सम्बन्धित थे, जब राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण का सत्रहवाँ दौर पूर्ण हुआ था। यहाँ यह स्मरण करवाया जा सकता है कि १९५५ मे हुए सर्वेक्षण (नवम दौर) के प्रति व्यक्ति आँय सम्बन्धी आकडो से पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे २० करोड व्यक्तियो की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १७५ रुपये थी, जिसके माने है पचास नये पैसे रोजाना से कम। इस प्रकार १९५५ और १९६२ के बीच इस न्यून आय वर्ग मे पाँच करोड व्यक्ति बढे है। इसे आर्थिक प्रगति का द्योतक नही समझा जा सकता। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि यदि जनता को रोजगारी के ऐसे अवसर उपलब्ध करवाये जा सके कि उससे वह प्रति व्यक्ति प्रति दिन पचास नये पैसे से अधिक कमाई करने मे समर्थ हो तो प्रयास काफी प्रशसनीय होगा। इस दृष्टि से मूल्याकन करने से खादी और ग्रामोद्योगो का सही स्थान सामने आ जायेगा। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रति आलोचको ने जो धारणा बनायी अथवा उसका जो चित्र प्रस्तुत किया है उसके विपरीत न्यूनतम आय वर्ग मे आनेवाले सूतकारो की आय बढाने मे सहायता देने के प्रति वह अनभिज्ञ अथवा असावधान नही है। कमीशन ने ऐसा चरखा प्रचलित करने का निर्णय किया है, जिससे सूतकार प्रति दिन एक रुपया कमा सकेगा। यह नमूना ज्यो ही परिपूर्ण होगा, उसका क्षेत्र मे प्रचलन किया जायेगा।

प्राय सवालान उठाये जाते है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर इस कार्यक्रम का क्या प्रभाव

पडा है। प्रथम पच वर्षीय योजनावधि मे खादी और ग्रामोद्योगो के लिए १४ करोड ८२ लाख रुपये निर्धारित किये गये अर्थात् योजना के लिए जो कुल प्रावधान था उसके ० ४४ प्रति शत के वराबर इन उद्योगो को दिया गया। द्वितीय योजना मे खादी व ग्रामोद्योगो के लिए ८४ करोड रुपये का प्रावधान (योजना के कुल निर्धारण का १ २४ प्रति शत) रखा गया। इनके लिए तीसरी योजना के अन्तर्गत रखा गया ९२ करोड ४० लाख रुपये का प्रावधान कुल निर्धारण का ० ७८ प्रति शत है। इसे यो भी कहा जा सकता है कि तीनो योजनाओ मे कुल २ खरब १९ अरब १० करोड रुपये के निर्धारण मे से खादी और ग्रामोद्योगो के विकासार्थ मात्र १ अरब ९१ करोड २२ लाख रुपये यानी कुल की करीब ० ८७ प्रति शत निधि ही दी गयी। कुल आयोजित परिव्यय के एक प्रति शत से भी कम व्यय के साथ किसी कार्यक्रम से राष्ट्रीय स्तर पर अपनी छाप छोडने की शायद ही अपेक्षा की जा सके। देश मे कुछ विशिष्ट क्षेत्र ऐसे है, जहाँ कार्यक्रम के प्रभाव का समुचित अध्ययन किया जा सकता है। और फिर, कार्यक्रम के लाभदायक प्रभाव का स्थायित्व व्यापक राष्ट्रीय नीतियो के निर्धारण और कार्यान्वियन पर निर्भर करता है। यहाँ तक कि उन क्षेत्रो मे भी यान्त्रिक इकाइयो की स्थापना अथवा नीति परिवर्तन के कारण कार्यक्रम छिन्न-भिन्न हो सकता है, जहाँ कि वह सफलतापूर्वक सचालित, कार्यान्वित किया जा चुका है। गन्ना-पूर्ति का धारा-प्रवाह चीनी उत्पादन की ओर मोडने के हाल ही के निर्णय से गड-उत्पादक को खतरा पैदा हो गया है।

खादी तथा ग्रामोद्योगो की प्रकृति अथवा स्वरूप ही कुछ ऐमा है कि उस कारण ग्रामीण समुदाय के अपेक्षाकृत पिछड़े हुए वर्ग के साथ व्यवहार करना खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए आवश्यक हो जाता है अर्थात् उसे ग्रामीण समाज के पिछडे हुए वर्गो मे काम करना पडता है, जो आर्थिक दृष्टि से भी कमजोर है। कार्यक्रम की व्यवस्था यानी उसका प्रबन्ध करने मे आनेवाली विभिन्न समस्याएँ (जरूरतमन्द व्यक्तियो को वित्त उपलब्ध कराना और वह भी उसकी सुरक्षा पर बिना कोई आघात पहुँचाये, उपयुक्त उपकरण मुहैया करना, साधन-सरजाम की मरम्मत के लिए सुविधाएँ प्राप्त करवाना, ग्रामीण कारीगरो को प्रशिक्षण देना, उन्हे ऐसे उपकरणो का व्यवहार करने के लिए तैयार करना, हो सकता है जिनके वे अभ्यस्त न हो अथवा जिनके लिए वे नये हो, उत्पादन की देखभाल करना, उत्पादनो की बिक्री-व्यवस्था करना और वह भी दूर-दूर, अलग-थलग रूप मे बसे गाँवो से इकट्ठे करके; तथा अन्य ऐसी ही अनेक बातो की सार-सम्भाल करना) विचार कर देखने पर अपनी सही विशालता और जटिलता के साथ सामने आयेगी, जो सर्वोत्तम अभिक्रम तथा इरादो को भी विचलित कर देने के लिए पर्याप्त है।

इस समस्याओ का कोई सरल समाधान नही है तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अतिरिक्त अन्य कई सस्थाएँ भी उन्हे हल करने मे जुटी है, पर किसी को भी अधिक सफलता नही मिली है। और फिर, यहाँ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि कमीशन प्राय प्रत्यक्ष रूप से कार्यक्रम कार्यान्वित नही करता। कार्यक्रमो का कार्यान्वयन राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, सहकारी समितियाँ तथा समिति पजीयन अधिनियम के अन्तर्गत पजीकृत सस्थाएँ करती है। कमीशन के प्रमुख कार्य वित्तीय सहायता, मार्गदर्शन व समितियो के कार्यकर्त्ताओ

तथा कारीगरो के प्रशिक्षण के लिए सुविधाएँ प्रदान करने सम्बन्धी है। अपने काम मे समितियाँ किस हद तक सफल होती है, यह अनेक बातो पर निर्भर करता है, उदाहरणार्थ उनके पास कैसे, कितने उद्यमशील, साहसी व व्यवस्थापकीय योग्यता रखनेवाले कार्यकर्त्ता है, कच्चा माल प्राप्त करने और अपने उत्पादनो की बिक्री करने मे बाजार मे आनेवाली घट-बढ या उतार-चढाव का सामना करने की उनमे कितनी दक्षता व कौशल है, आदि।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पिछले दशक मे जो प्रयास किये गये उनसे ऐसी बात नही है कि अच्छे परिणाम बिल्कुल ही प्राप्त न हुए हो। किन्तु उस पर ही परितुष्ट हो कर बैठ जाने या काम मे शिथिलता आने देने का अवसर नही है। कार्यक्रम का सचालन-क्षेत्र विस्तृत करने और ग्रामीणो के लिए उसकी सार्थकता बढाने हेतु कमीशन मे अधिक व बेहतरीन कार्य पर अनवरत जोर दिया जाता है। कमीशन ग्रामीण क्षेत्रो मे काम करनेवाले अन्य माध्यमो और अपनी कार्यशीलताओ के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा है, ताकि जो प्रयास किये जायें उनसे अधिकाधिक फल प्राप्त किये जा सके। समन्वय की आवश्यकता के प्रति जागरूकता ही ***नया मोड़*** कार्यक्रम की पृष्ठभूमि मे मार्गदर्शक भावना है। ग्राम पुनर्निर्माण की सर्वाधिक कठिन समस्याओ से मुटभेड लेने मे, यह कहे कि निरन्तर सजगता और आत्म-समीक्षा का बहुत बडा महत्व है, तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नही है अर्थात् उक्त दोनो बातो के महत्व की शायद ही अतिशयोक्ति हो सके। जहाँ खादी और ग्रामोद्योगो की अपूर्ण ज्ञान पर आधारित आलोचना को, सही स्थिति पर प्रकाश डालते हुए, रोकना है वहाँ उन्हे प्रोत्साहन देने के लिए विभिन्न वैकल्पिक मार्गो पर विचार करने से इन्कार करना अनुचित होगा। खादी व ग्रामोद्योगो के विकास कार्य मे लगे कार्यकर्त्ता यदि परिपूर्ण जानकारी से युक्त और पक्षपात-विहीन दृष्टि से विभिन्न विकल्पो पर विचार करे तो ही गलतियो से बचा जा कर सही मार्ग ढूढा जा सकता है। अतएव प्रस्तुत अक मे—ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का सामान्य मूल्याकन प्रस्तुत करना जिसका उद्देश्य है—कार्यक्रम और कमीशन की आलोचना को दूर रखने का कोई प्रयास नही किया गया है।

पत्रिका का उद्देश्य इसके प्रथम अक मे श्री वैकुण्ठ ल मेहता ने इस प्रकार बताया था "किन्तु राज्य की सहानुभूति और सहायता जरूरी होने पर भी मण्डल (अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, जिसके उत्तराधिकारी के रूप मे अब खादी और ग्रामोद्योग कमीशन है) जो पुनर्गठन करके उसके द्वारा व्यापक रूप मे लोगो को रोजी देना चाहता है, वह तभी सम्भव है जबकि समाज का विचारक वर्ग, जो सार्वजनिक मामलो के मार्ग पर अपना अधिक प्रभाव रखता है, हमारे आर्थिक जीवन मे खादी और ग्रामोद्योगो का महत्व समझे तथा उनकी कद्र करे। अत समाज के इस वर्ग के समक्ष खादी ग्रामोद्योग आन्दोलन का सही चित्र प्रस्तुत करना और उसके प्रति रुचि जागृत कर उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना मण्डल का एक सर्व प्रमुख कार्य है। गाधीजी ने हमे भारतीय अर्थनीति की बुनियाद का जो अमूल्य पाठ सिखाया है उसे अगर हम भूल गये तो हमारा सामाजिक ढाँचा छिन्न-भिन्न हो जायगा।" आज भी हमारा उद्देश्य यही है।

जनता के रहन-सहन की अवस्थाओ मे सुधार करने के लिए किसी भी मौलिक यानी विशुद्ध कार्यक्रम मे ग्रामोद्योगो की अनुप्रासगिकता तथा उस लक्ष्य की प्राप्ति मे आनेवाली जिन महान समस्याओ से लोहा लेना पडता है उसका यदि इस अक से तनिक भी बेहतरीन अहसास हो जाता है तो हम समझेगे कि हमारा परिश्रम सार्थक सिद्ध हुआ। ●

भारत में सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का स्वरूप

उछरंगराय न. ढेबर

भारत में पायी जानेवाली अनेक असमानताओं का मूल है हमारी समाज-व्यवस्था, जो युगयुगान्तरों से विशेषाधिकारो को पनपाती रही है। पिछले पन्द्रह वर्ष की अवधि मे हुए अनेक प्रयासो के बावजूद देश मे आज जो हालात है, वे सामाजिक तथा आर्थिक दोनो ही क्षेत्रो मे उत्साहजनक नही है। देश के अधिकाश हिस्सों में आज घोर गरीबी का बोलबाला है। तीस प्रति शत आबादी के सामने तो आज जीवन-मरण का प्रश्न आ खडा हुआ है। असमानताएँ दूर करने का सघर्ष हमारी विशाल जन-सख्या के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखने का सघर्ष है। अर्थ-व्यवस्था के इस असतुलन को कम करने में खादी-ग्रामोद्योग तथा पशु-पालन से सहायता मिलेगी।

आय और सम्पत्ति के क्षेत्र मे पायी जानेवाली असमानताओ के लिए अनेक बाते जिम्मेदार है। कुछ असमानताएँ व्यक्तिगत कारणो से है। प्रकृति ने हम सबको एक समान नही बनाया है। व्यक्ति-व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता भिन्न होती है। हृदय और मस्तिष्क के गुणो से कुछ अन्य पहलुओ का भी सम्बन्ध होता है। जीवन मे व्यक्ति के स्थान पर भी उनका प्रभाव पडता है। साहसिक कार्य करने की भावना की भी अपनी भूमिका है। इन सब गुणो से युक्त व्यक्ति का पलडा अन्य लोगो से भारी होता है। इन सबसे कुछ असमानताएँ आया करती है। तथापि, इस सम्बन्ध मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती।

फिर भी, कुछ असमानताएँ ऐसी है जो आपत्तिजनक है। उन्हे रोकना अथवा दूर करना होगा। व्यक्तिगत गुणो का इन असमानताओ से शायद ही कोई सरोकार हो। वे ऐसे कारणो से पैदा होती है जिनके लिए कोई व्यक्तिगत रूप से श्रेय नही ले सकता। उनका उद्गम जन्म, वर्ग, जाति, धार्मिक पद, धार्मिक व्यवस्था यानी धर्मसत्ता, पेशे तथा अन्य बाह्य पहलुओ मे है। सम्पन्न घर मे पैदा हुआ एक मूढमति भी धनाढ्य है। इसलिए नही कि उसमे कुछ व्यक्तिगत गुण है, जिनसे वह उसके पास जो धन है उसका अधिकारी है,बल्कि इसलिए कि वह एक समृद्ध बाप का बेटा है। सामन्तशाही व्यवस्था मे एक सामन्त के लडको को स्वत भूमि मिल जाती है। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि वे सयोगवश एक सामन्त के बेटे है। जातिवादी दृष्टिकोण के कारण एक हरिजन सदैव ही घाटे मे रहता है। पण्डे-पुजारियो की प्रधानता के युग मे धर्म ने भी उक्त सदर्भ मे अपनी भूमिका अदा की है। कुछ पेशे ऐसे है, जिनकी समाज मे प्रतिष्ठा है और समाज के प्रति जो भी सेवा वे करे उसके बदले मे उन्हे सभी प्रकार से मोटी आमदनी होती है।

विषम समाज व्यवस्था

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि चन्द विशेषाधिकृत पद स्वत ही कुछ लाभ प्रदान करते है, फिर चाहे वे पद सामाजिक कारणो से हो अथवा आर्थिक, राजनीतिक या धर्मसत्ता के कारण। इसका कारण है समाज-व्यवस्था का स्वरूप। समाज उक्त विशेपाधिकार प्राप्त व्यवितयो के अधिकारो को मान्यता देना है और उनसे विहीन व्यक्तियो के दावो की अवहेलना करता है। भारत मे प्रचलित अनेक असमानताओ का मूल समाज-व्यवस्था है, जिसमे युगयुगान्तरो से ऐसे विशेषाधिकारो का पोषण होता रहा है, जिनसे चन्द व्यक्तियो अथवा वर्गो को लाभ प्राप्त होता है, जबकि दूसरो को अधिकारो या अवसरो से वचित रखा जाता है। फलस्वरूप भारत मे आय तथा सपत्ति के क्षेत्र मे उस सीमा तक असमानताएँ

पैदा हुई हैं, जिस सीमा तक ससार के किसी अन्य सगठित समाज मे शायद ही मिले।

२

विशेषाधिकृत वर्ग

भारत का जो चित्र आज १९६३ मे है वह १९४७ से भिन्न है। सन् १९४७ मे ऐसे सामाजिक वर्ग थे, जिन्हे तत्कालीन साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापक विशेषाधिकार प्राप्त थे। उन अधिकारो मे जीवन मे उन्हे किन्ही प्रकार का स्थान यानी दर्जा प्राप्त था और समाज मे उनकी आवाज थी। साथ ही साथ उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्य भारतीय जनता उन अवसरो से वचित थी, जिनसे वह अपना विकास करने मे समर्थ बनती। अपनी प्रकृति से ही साम्राज्यवादी व्यवस्था शोषणकारी व्यवस्था थी। चन्द व्यक्तियो तक ही जीवन के व्यापक अवसर एकाधिकृत कर वह जीवित रही तथा पनपी। साम्राज्यवादी वर्ग के बाद भूमिधारी अभिजात वर्ग आता है। उदाहरणार्थ, लगभग देश के एक-तिहाई भाग मे भारतीय राजा-महाराजाओ को राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे वह प्रमुखता प्राप्त थी, जो अन्य किसी को उपलब्ध नही थी। इस प्रकार समाज-व्यवस्था से ऐसी सामाजिक प्रणाली अथवा गठन को पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ, जिसके अन्तर्गत उनका बोलबाला था और जिसमे उनकी रियासतो मे सर्वसाधारण को शायद ही कोई अवसर प्राप्त हो। राजकुमार का छोटा भाई उस समाज-व्यवस्था मे जमीदार था। सामाजिक स्वरूप यानी सरचना मे विशेषाधिकृत पद का दावा करके और अपने काश्तकार को प्रत्येक अवसर से वचित करके उसने भी सामाजिक स्वरूप मे असतुलन ही पैदा किया। भारत मे करीब तीन-चौथाई जन-सख्या काश्तकार है। उस वक्त वह उक्त समाज-व्यवस्था की शिकार थी।

उत्तराधिकारविहीन

अनुसूचित जातियॉ वह दूसरा वर्ग था, जिसे धर्म के नाम पर उत्तराधिकार के अधिकार प्राप्त नही थे। परिगणित जन-जातियॉ एक अन्य वर्ग था, जिसे नीति–उन पर राजनीतिक पृथक्कत्व थोपने के लिए तत्कालीन साम्राज्यवादी सरकार द्वारा अख्तियार की गयी नीति–विपयक कारणो से उत्तराधिकारविहीन बनाया गया था। श्रमिक भी रोजगारी देनेवालो की दया पर निर्भर करते थे। स्थानिक बेरोजगारी और अल्प-रोजगारी के कारण श्रमिको के पास इसके सिवाय कोई चारा नही था कि जो कुछ मजदूरी उन्हे प्रस्तुत की जाती हो उसे वे स्वीकार कर ले।

इन दो वर्गो–सामाजिक दृष्टि से विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग और शोषित वर्ग–के बीच मध्यम वर्ग था। वह भी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से हीन जीवन व्यतीत कर रहा था।

गांधीजी का नेतृत्व

इस प्रकार की अप्राकृतिक स्थिति दीर्घ काल तक टिकनेवाली नही थी। शीघ्र ही जनता मे नैराश्य के चिन्ह दिखायी पडने लगे, वह अपना अभिक्रम खोने लगी और कुछ समय तक तो ऐसा लगा कि उसका परिपूर्णत नैतिक ह्रास हो चुका है। यह गाधीजी के नेतृत्व का चमत्कार ही था कि उन्होने इस प्रकार के नैतिक ह्रास के वातावरण मे नव आशा व साहस का सचार किया और जनता को आजादी की लडाई के लिए तैयार करने मे सफल हुए, जिसकी प्राप्ति से इस देश तथा अन्य अनेक देशो पर साम्राज्यवादी व्यवस्था के अधिकार का खात्मा होना था।

३

उज्ज्वल भविष्य हेतु परिवर्तन

लोक निर्वाचित प्रतिनिधियो ने पन्द्रह वर्ष के शासन मे भारत का चित्र बदल दिया है। साम्राज्यवाद का कब्जा पूर्णत समाप्त कर दिया गया है और भारतीय अर्थ-व्यवस्था राजनीतिक दृष्टि से आज एक स्वतत्र, अर्थ-व्यवस्था है। सरदार वल्लभभाई पटेल की राज-नीतिक दूरदर्शिता ने देश को जमीदारो के चगुल से भी

मुक्त कर दिया है। तुलनात्मक दृष्टि मे, भूमि पर अधिकार के सम्बध मे भारतीय कृषक एक स्वतत्र व्यक्ति है। साम्राज्यवादी सामन्तशाही व्यवस्था की समाप्ति मे विशाल जनता के सामने अनेक अवसर आये है। अनुसूचित जातियॉ सम्भल रही है। परिगणित जन-जातियो का पृथक्करण समाप्त किया जा रहा है। कारखानो मे काम करनेवाला मजदूर अपने हक के सम्बन्ध मे आश्वस्त है। कृषिक तथा औद्योगिक दोनो ही प्रकार की आय मे वृद्धि हुई है। शैक्षणिक अवसरो का काफी विशाल पैमाने पर विस्तार हुआ है। आज पहले के मुकाबले अधिक व्यक्तियो को जीवन सम्बन्धी सामान्य सुविधाएँ उपलब्ध है। पचायत राज सस्थाओ और सहकारी समितियो के माध्यम से भारत के सभी व्यक्तियो को लोकतान्त्रिक स्वतत्रता प्राप्त करवाने के वचन को पूरा करने के लिए निष्ठापूर्ण तथा हार्दिक प्रयत्न किया जा रहा है। जनता मे एक नया जागरण पैदा हुआ है, जिससे उसमे नये अभिक्रम का सृजन हो रहा है और जीवन के नव अवसर सामने आ रहे है। न्याय का यह तकाजा है कि जिन्होने यह सब सम्भव बनाया है, उन्हे उचित श्रेय मिले।

४

कमियाँ

कुछ दिशाओ मे कमियॉ है। वे भी सब जगह नही है। किन्तु इसमे सन्देह नही कि कमियाँ है। मै नही सोचता कि जिन व्यक्तियो के हाथ मे देश की बागडोर है, जो भावी भारत के निर्माता है, वे भी इससे इन्कार करेगे कि कमियॉ है। मै यह भी नही सोचता कि उन्हे ही इन कमियो के लिए उत्तरदायी ठहराना उचित अथवा समीचीन होगा। जबकि रचनात्मक योगदान के रूप मे उनके आलोचको ने कुछ भी नही किया, वहॉ यदि कुछ कहना ही हो तो हम यह कह सकते है कि, उन्होने देश की पन्द्रह वर्ष तक सेवा की है, जिसके फलस्वरूप आज हमारे जीवन मे नये अवसर आये है और इसके अतिरिक्त उन्होने वे बाधाएँ दूर की है जो कल तक राष्ट्र की प्रगति मे रोडा अटकाए हुए थी।

इन कमिया के सम्बन्ध मे कुछ विचार करने का कारण यह है कि इन कमियो मे भयानक नैतिक और सामाजिक बाते छिपी है। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे कमियॉ ढूढी जा सकती है। यह हमारा सौभाग्य है कि हमे गाधी जैसा महापुरुष मिला। वे एक आदर्शवादी थे, जिनमे सहज व्यावहारिक ज्ञान भरा पूरा था। कठोर परिश्रम और व्यक्तिगत त्याग द्वारा उन्होने देश मे अहम् के विचार से रहित होकर दलितो की सेवा करने का वातावरण निर्मित किया। उन्होने वित्तीय उत्प्रेरणाओ का स्थान लेने हेतु आध्यात्मिक उत्प्रेरणाओ, मान्यताओ को लोक-प्रिय बनाया। उन्होने सादगी का वातावरण निर्मित किया। राष्ट्र के गत १५ वर्ष के जीवन मे सबसे बडी कमी इसी स्तर पर रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि मे १९६३ के भारत का १९४७ अथवा उससे भी पहले के भारत से शायद ही कोई सम्बन्ध हो। आज त्यागमय वातावरण के स्थान पर 'अपनी रोटी के नीचे आच लगाने' वाला वातावरण पाया जाता है। सेवा का स्थान 'लक्ष्मी' ने ले लिया है। सहकारी सिद्धान्त के स्थान पर अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना प्रतिष्ठापित की जा रही है। व्यक्तियो अथवा समूहो के वस्तुपरक, निरपेक्ष, विचार का रूपान्तर हो गया है। देश आज एक ऐसे वातावरण मे रह रहा है जिसमे आराम-तलबी तथा अहकार का बोल-बाला है। समग्र चित्र ही अधिकाधिक अश्लील तथा अशोभनीय बनता जा रहा है और अपने आकर्षण व शोभा से विहीन हो रहा है। यह कहना गलत होगा कि यह बात राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नही जो दूसरे पर उगली उठा सकता हो और उस पर उगली न उठे।

क्षमतायुक्त साधन से वचित

हमारे राष्ट्रीय जीवन का जो भी क्षेत्र हो, गाधीजी के जीवन-मूल्यो का अनुकरण न करने और अन्य देशो के स्तर की नकल की कोशिश करते हुए, राष्ट्र ने अपने आपको अपेक्षाकृत एक महान शक्यता अथवा क्षमतायुक्त साधन या उपादान से वचित कर लिया है, जो उसके लिए इस यथार्थ जगत मे भी अत्यधिक सहायक होता।

सामाजिक क्षेत्र मे अहिसा का सिद्धान्त सर्वसाधारण और अभिजात वर्ग को तथा विभिन्न धर्मो ओर समुदायों के व्यक्तियों को एक साथ रखने, विवेकशील ओर अनपढ जनता को एक-दूसरे के निकट लाने, धनवानो को गरीबो के साथ और शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियो के साथ मिलाने के लिए एक जादू के रूप मे काम कर रहा था। हम यह महसूस करना प्रारम्भ कर रहे थे कि हमने एक ऐसा समाज निर्मित किया है कि वह जीवन के नये मूल्यो—सहकार, सद्भावना, सहानुभूति, भ्रातृत्व भावना, पारस्परिक प्रेम ओर भारत के लाखो-करोडो दलितो की अवस्था सुधारने का प्रयत्न करने मे ही रुचि रखने के मूल्य—से बधा हुआ है, उन पर टिका हुआ है। इन मूल्यो ने हमे कुछ अनुशासन के सिद्धान्त भी दिये। यह अनुशासन नये ढग का था, किन्तु उसने राष्ट्र को एक प्रकार का स्वाभिमान और प्रतिष्ठा प्रदान की। उन मूल्यों और अनुशासन को जो सामाजिक मान्यता मिली, उससे साधारण आदमी को भी वे मूल्य तथा अनुशासन आसानी से अपनाने मे सहायता मिली। उन मूल्यो को न केवल मनोवैज्ञानिक रूप से बल्कि यथार्थ मे भी आघात पहुँचा है। राष्ट्रीय जीवन आज फिर उन्ही मूल्यो की 'दया' पर निर्भर है, जो उसे पतन के गर्त मे ले गये थे।

आर्थिक स्तर पर

आर्थिक स्तर पर भी कमियाँ रही है। भारत पूर्ण और अल्प-बेकारी के कारण दो करोड मनुष्य-दिनो की हानि उठा रहा है और उसे इस प्रकार की हानि काफी लम्बे समय तक उठानी पडेगी। समाज के निचले तबके मे हमारी जन-सख्या के तीस प्रति शत को उस आमदनी पर सन्तोष करना पडता है, जो पेट भरने के लिए भी पर्याप्त नही समझी जा सकती और यद्यपि उसका स्तर १९४७ की अपेक्षा ऊँचा है तथा अनुक्रमिक रूप से ऊपर उठता ही जायेगा, लेकिन आगामी पच्चीस वर्ष या उससे भी ज्यादा समय तक मानवीय अस्तित्व की दृष्टि से वह पर्याप्त नही होगा। आज अधिकाश मध्यम वर्ग भार मय जीवन बिता रहा है और आगामी २०-३० वर्ष तक उसे वैसी ही अवस्थाओ के अन्तर्गत रहना पडेगा। आय ओर सम्पत्ति के क्षेत्र मे जो असमानताऍ है, उन पर इस सन्दर्भ मे विचार करना होगा।

५

गरीबी की कहानी

इन असमानताओ का महत्व क्या है? कुछ चित्र मेरे सामने आते है। करीब पॉच वर्ष पूर्व मैं एक बार अपने प्रिय मित्र श्री गिरधरलाल कोटक के साथ यात्रा कर रहा था। मध्यान्ह भोजन का वक्त था। रास्ते मे हमने अपनी कार रोकी और हम दो-चार झोपडो मे गये। पहले पहल जिस झोपडी मे हम गये, उसमे शायद खाने के लिए अनाज के लाले पडे थे और दूसरे घर मे रोटियो के लिए एक औरत से तीन-चार बच्चे लिपटे हुए थे। दिन का भोजन बनाना शुरू करती इससे पहले वह घर मे मालिक के लौटने का इन्तजार कर रही थी। श्री कोटक बडे सहृदय तो है ही, वे ऑसू न रोक सके।

ऐसा ही एक वाकया गत जुलाई माह मे सामने आया। मैं एक राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के अध्यक्ष के साथ कार मे सफर कर रहा था। वे मुझ से देहाती क्षेत्रो मे जो महान् परिवर्तन आये है उस सम्बन्ध मे बात कर रहे थे। कुछ हद तक उनका दावा न्यायोचित भी था। लेकिन मेरे मन मे कुछ ऐसी बात थी कि उक्त अध्यक्ष समग्र चित्र से अवगत नही है। अतएव मैंने उनसे अगले गॉव मे कार रोकने का आग्रह किया। यह भी मध्यान्ह भोजन का समय ही था। सर्व प्रथम हम जिस घर मे गये उसका मालिक चार एकड जमीन पर सिकमी खेती करता था। परिवार मे छ व्यक्ति थे। वे दोपहर का भोजन कर चुके थे और शाम के लिए थोडा-बहुत बचा कर रख दिया था। अध्यक्ष महोदय द्वारा बारबार पूछताछ और करीब १० मिनट तक छानबीन करने के बाद पता लगा कि उनके घर मे छ. सेर अनाज भी नही था। फिर हम एक दूसरे घर मे गए। उस घर का मालिक भी काश्तकार था और उसके पास छ एकड भूमि थी। उसने भी

वैसी ही कहानी सुनायी। उसे वर्ष मे तीन-चार महीने उधार पर काम चलाना पडता था और ब्याज की दर थी २५ प्रति शत प्रति माह! हम तीसरे घर मे गये और वहाँ भी वैसी ही कहानी सुनने को मिली। ये है भारत के भूमिहीन श्रमिक जो हमारी ग्रामीण कृषक जन-सख्या के १७ प्रति शत है और ज्यो-ज्यो हमारे छोटे-छोटे भूमिधारियो के परिवारो मे विभाजन होता है, प्रत्येक दशक के साथ इनकी सख्या बढती ही जाती है। भारत मे खेती योग्य जो खेत है, उनके ५७ प्रति शत खेत पॉच-पॉच एकड से छोटे है। समय बीतने पर वे भी भारत के भूमिहीन श्रमिको की श्रेणी मे आ जायेगे।

अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष

अनुसूचित जातियो को दो वर्गो मे बाटा जा सकता है। जो व्यक्ति साफ-सफाई—खासकर छोटे-छोटे शहरो मे—का काम करते है वे अपना अस्तित्व मात्र बनाये रखने के लिए भी बडे कठिन समय से होकर गुजर रहे है। शेष व्यक्ति जो गॉवो मे रहते है, उनकी हालत वहाँ के भूमिहीन मजदूरो जैसी ही है। जो कष्टमय जीवन परिगणित जन-जातियो को बिताना पड रहा है, उसका वर्णन अनुसूचित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति आयोग के प्रतिवेदन मे किया गया है, जिसकी यहाँ पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही। नगरो मे जो गन्दी बस्तियॉ है, उनमे रहनेवालो की जो, फटेहाल वाली स्थिति है, उसका चित्र किसी से छिपा नही है। भारत के बडे-बडे शहरो-नगरो मे 'फुटपाथ' पर कितने व्यक्ति रहते है इस सम्बन्ध मे आकडे प्रस्तुत करना आसान नही है।

किसी देश मे जो असमानताएँ हो, उन्हे राष्ट्र जीवन के सामाजिक तथा आर्थिक सन्दर्भ मे मापना पडता है। मैने सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओ पर इतना विस्तृत विचार स्थिति की गम्भीरता व्यक्त करने के लिए ही किया है। भारत मे जो असमानताएँ है, उन पर केवल आर्थिक रूप मे ही प्रकाश नही डाला जा सकता। साधन-स्रोत-विहीन भारतीय आवे भूखे-नगे रहते है। वे देश की जन-सख्या के एक-तिहाई है।

६

भारत मे सहायक धधे की भूमिका पर इस उक्त दृष्टि से विचार करना होगा। कोई भी अर्थशास्त्री किसी भूखे को अपनी अतृप्त भूख मिटाने के लिए दो कौर भोजन मिल जाये तो उसका मूल्य आर्थिक शब्दावली यानी रुपये-पैसे की भाषा मे व्यक्त नही कर सकता। इन कौरो का अपना स्वयम् का मूल्य है। भूखे के लिए वे आधे पेट और भर पेट भोजन किये हुए व्यक्ति का अन्तर स्पष्ट करते है। इस सन्दर्भ मे अर्थ-शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना उस भूखे आदमी के 'कौरो' का मजाक उडाना है। कोई भी आर्थिक सिद्धान्त अभी तक यह नही बता सका है कि क्षुधाग्रस्त अथवा किसी तरह से अपना अस्तित्व बनाये रखनेवाली जनता के सामने किसी रक्त-क्राति का क्या मूल्य है। इसका कारण यह है कि जब आदमी के स्वयम् अस्तित्व बनाये रखने का ही प्रश्न आ खडा होता है तब रुपये-पैसे का विचार कोई माने नही रखता। भारत की ३० प्रति शत से अधिक आबादी के समक्ष आज इसी निजी अस्तित्व का सवाल है। जो सरकार अथवा अर्थशास्त्री केवल रुपये-पैसे की शब्दावली मे ही दलील पेश करता है वह मानवीय प्रकृति के सिद्धान्त के विषय मे अपनी अज्ञानता ही प्रकट करता है। ये सिद्धान्त अथवा नियम अर्थशास्त्रीय नियमो से भिन्न है।

दोहरी समस्या

अकिचन भारतीय जनता की सहायता करने की समस्या नैतिक और राजनीतिक दोनो ही है—अपने खुद के प्रयासो से अपने पैरो पर खडा होने मे समर्थ बनाने की दृष्टि से यह नैतिक है और समाज को अपना अस्तित्व बनाये रखने मे समर्थ बनाने के अर्थ मे राजनीतिक। खादी और ग्रामोद्योगो की प्रासगिकता यानी उनका स्थान भारत मे अवस्थित इस नैतिक और राजनीतिक सघर्ष के सन्दर्भ या प्रसग मे ही समझना पडेगा। हमारे अपने देश मे असमानता का उन्मूलन करने का सघर्ष हमारी बहुत बडी गरीब आबादी के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखने का सघर्ष है। मात्र आर्थिक असमानताएँ समाप्त

करने अथवा केवल धन और शक्ति के सकेन्द्रण से बचने के सघर्ष से यह हमेशा ही अधिक गम्भीर है।

ग्रामोद्योग और पशु-पालन एक तरह से कृषि अर्थ-व्यवस्था की दो शाखाए हैं। वे भूमि की कमी पूरित करते है। वे खेती पर दिन प्रति दिन बढनेवाले भारी बोझ के कारण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे जो असतुलन है, उमे कम करते है। वे ग्रामीणो को अपना अस्तित्व बनाये रखने मे समर्थ बनाते है। यथा सम्भव न्यूनतम पूजी विनियोजन के साथ वे धधे भी सुनिश्चित करते है। साथ ही साथ वे प्रविधि तथा उत्पादन मे व्यवहृत उपकरणो और तौर-तरीको मे सुधार करने के अवसर भी प्रस्तुत करते है। धीरे-धीरे सुस्थिर गति से नव अभिक्रम का निर्माण करने तथा सृजनशीलता को बढावा देने मे भी वे सहायक होते है। निर्भरता ओर नैराश्य की भावना को वे मिटाते है। इस प्रक्रिया के दौरान वे सम्भाव्य हिसात्मक कार्य-वाहियो के विरुद्ध एक तरह से दिवाल खडी करते है, जो निराशापूर्ण अवस्थाओ के फलस्वरूप कभी भी पैदा हो सकती है। जिस खर्च पर खादी और ग्रामोद्योग सर्वसाधारण जनता के खाली समय को उत्पादनशील कामो मे लगा पाये है, उतने कम व्यय पर अन्य कोई भी राष्ट्रीय गतिविधि वैसा करने मे समर्थ नही हुई है। इस प्रकार सरकार जो आर्थिक मदद देती है, उससे वह न केवल व्यक्तियो की सहायता करती है, बल्कि सामाजिक कर्तव्य भी पूरा करती है। खादी व ग्रामोद्योगी उत्पादनो का ग्राहक अपेक्षाकृत थोडा-बहुत अधिक मूल्य चुका कर न केवल किसी व्यक्तिगत परिवार को जिन्दा रखने मे, बल्कि राष्ट्र का अस्तित्व बनाये रखने मे भी योगदान देता है।

बम्बई · ११ सितम्बर १९६३

आर्थिक समानता अहिसात्मक स्वाधीनता की कुंजी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ पूजी और श्रम के शाश्वत सघर्ष को मिटा देना है। इसका अर्थ यह है कि एक तरफ जिन मुठ्ठीभर धनवानो के हाथ मे राष्ट्र की अधिकाश सम्पत्ति इकट्ठी हो गयी है उनका स्तर घटाया जाय और दूसरी ओर करोडो भूखे-नगे लोगो का स्तर बढाया जाय। जब तक धनवानो और करोड़ो भूखे लोगो के बीच की चौडी खाई बनी हुई है तब तक स्पष्ट है कि कोई अहिसक शासन प्रणाली कायम नही हो सकती। नयी दिल्ली के महलो और गरीबो तथा श्रमिक वर्ग की झोपडियो का अन्तर स्वतत्र भारत में एक दिन भी नही टिक सकता, जिसमे कि गरीबो को भी वे ही अधिकार प्राप्त होगे जोकि धनवानो को। यदि धन का तथा धन से मिलनेवाले अधिकारो का स्वेच्छा से त्याग नहीं किया जाता और उनका सर्वसाधारण की भलाई के लिए उपयोग नहीं किया जाता तो एक दिन हिसक और खूनी क्राति होकर रहेगी। मेरे सरक्षकता के सिद्धान्त की खूब खिल्ली उडायी गयी है, फिर भी मै उस पर कायम हूँ। सच तो यह है कि उसे सिद्ध करना कठिन है। अहिसा की भी यही बात है। परन्तु हमलोगों ने सन् १९२० में इस पर पहल करने का निर्णय लिया।

—महात्मा गाधी

आयोजन का गांधीवादी दृष्टिकोण*

वैकुण्ठ ल. मेहता

देश मे आयोजन की सफलता का मूल्यांकन करने के लिए गांधीजी के अनुसार एक ही कसौटी है [illegible] अधिकाधिक लोगों को काम करने का अधिकार दिलवाने और भोजन, वस्त्र, शुद्ध-स्वच्छ जल, आवास [illegible] सुविधाओं जैसी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करवाने में सफल हुआ है। विकास कार्यक्रमों का [illegible] भी इसी दृष्टि से होना चाहिए।**

राष्ट्रीय आयोजन के स्वरूप अथवा पंच वर्षीय योजनाओं के उद्देश्यों और कार्यक्रमों पर गांधीजी की दृष्टि से परीक्षण करना इस लेख का अभिप्राय नहीं है। ऐसा लेख निरर्थक है, और फिर, मेरे लिए तो ऐसा करना दुस्साहस ही होगा। परन्तु सामाजिक और आर्थिक आयोजन के प्रति गांधीजी का जो सामान्य दृष्टिकोण था, उसे ध्यान में रखना अप्रासंगिक न होगा। **हिन्द स्वराज** और गांधीजी के प्रारंभिक लेखों के अतिरिक्त, कराची में १९३१ में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस के ऐतिहासिक अधिवेशन के वक्त उन्होंने जो काम किया उसकी ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। चूंकि पूर्ण स्वतंत्रता के लिए आंदोलन आरम्भ करने के बाद वह प्रथम अधिवेशन था, अतः राष्ट्रीय नेताओं का, जिनमें गांधीजी सबके अग्रणी थे, ध्यान भारत की भावी सामाजिक पद्धति की ओर केन्द्रित होना स्वाभाविक ही था। उनके विचार, जिनका गांधीजी ने न सिर्फ समर्थन, बल्कि प्रतिपादन भी किया था, राष्ट्रीय कार्यक्रम से सम्बन्धित प्रसिद्ध कराची कांग्रेस प्रस्ताव में अंकित हैं। अतः गांधीजी राष्ट्र के विकासार्थ योजना बनाने से विमुख नहीं थे। कांग्रेस ने जब सन् १९३५ के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' के अन्तर्गत चुनावों में भाग लिया तथा उसके प्रतिनिधियों ने १९३७ में अधिकांश प्रांतों में अपनी सरकारें बनायीं, तब गांधीजी की सम्मति से कराची प्रस्ताव राष्ट्रीय [illegible] बनाया गया।

कांग्रेस मंत्रियों के कार्य-भार सम्भालने [illegible] बाद तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने १९३९ के आरम्भ में श्री जवाहरलाल नेहरू [illegible] में राष्ट्रीय आयोजन समिति का गठन किया। [illegible] के एक सदस्य प्रोफेसर जे सी कुमारप्पा भी [illegible] कुटीरोद्योग समिति के अध्यक्ष श्री सतीश चन्द्र दास [illegible] थे—और दोनों ही गांधीजी के निकट सहयोगी थे। उसी समय श्री एम विश्वेश्वरय्या लिखित **इकनॉमिक प्लानिंग फॉर इण्डिया** प्रकाशित हुई। जिस एकाग्रता और उत्साह से सुविख्यात अभियंता-राजमर्मज्ञ ने उक्त पुस्तक तैयार की थी, जो कि उस विषय पर प्रथम पुस्तक [illegible] गांधीजी ने उसकी बड़ी प्रशंसा की, परन्तु उन्होंने इस बात पर आपत्ति उठायी कि [illegible] आयोजन का केन्द्र तीव्र सघन औद्योगीकरण है। उन्होंने उस प्रकार के औद्योगीकरण के [illegible] विरोध किया, जो कि [illegible] करने की बुनियाद डालते हैं।

यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि जब [illegible] समिति राष्ट्रीय विकास के विविध पहलुओं [illegible] योजना बनाने में व्यस्त थी गांधीजी ने देश [illegible] [illegible]

* [illegible] १८ जुलाई १९६३ को [illegible]

परन्तु आर्थिक समानता अहिंसक तरीके से लानी थी, उन्हे इस बात का विश्वास था कि हिंसा के जरिये सामाजिक क्रान्ति लाने का कोई भी प्रयत्न वैसी शक्तियों को विमुक्त कर देगा जिनसे स्वतत्रता ओर भ्रातृत्व का सामाजिक मूल्य ही, जो कि भारत को बहुत ही पसन्द है, सकट मे पड जायगा। रचनात्मक कार्यक्रम का मार्ग अपनाना जनतत्र की जडे जमाने के लिए सुनिश्चित तरीका है। वे जोर दिया करते थे कि चूकि हमारी अधिकाश आबादी गाँवो मे रहती है, अत उसे तथा सबसे निचली श्रेणी के लोगो अर्थात् हरिजनो के कल्याण कार्य को सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम के अन्य अगो मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए। दूरद्रष्टा, पद्धति-सगत ओर व्यवहार शल होने की वजह से गाधीजी जो करना चाहते थे, हमेशा उसकी योजना बना लिया करते थे।

आयोजन के उद्देश्य

यह कहा जा सकता है कि हमारे देश मे आयोजन युग भारतीय सविधान के अतर्गत स्थापित भारतीय गणतत्र के उद्घाटन के साथ आरम्भ हुआ है। सविधान मे निहित मौलिक अधिकारो के अनुरूप राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धातो ने देश की सरकार के लिए यह आवश्यक बना दिया है कि वह उन निर्देशो के कार्यान्वियन के लिए देश के सामाजिक और आर्थिक विकास हेतु योजना बनाये। यह समझा गया कि औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था से मुक्त हुए देश के लिए—जिसके कुछ विभाग अल्प विकसित है तथा ग्रामीण विभाग निश्चल—सावधानी-पूर्वक सुनियोजित आयोजन के अभाव मे प्रगति करना असम्भव-सा है। राष्ट्रीय आयोजन समिति ने योजना आयोग की स्थापना के दस वर्ष पूर्व ही उद्देश्यो की व्याख्या की थी—जिन्हे यदि गाधीजी होते तो उनकी स्वीकृति मिल सकती थी—"हमारे आयोजन की पृष्ठ-भूमि अथवा मूल परिपूर्ण लोकतात्रिक राज्य की स्थापना करना है, जिससे समतावादी समाज का निर्माण हो, जिसमे हर व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने तथा आत्मपूर्ति का समान अवसर प्राप्त हो व प्रत्येक सदस्य को सभ्य ढग के जीवन-स्तर के लिए पर्याप्त न्यूनतम निश्चित ही मिले ताकि यह समान अवसर की प्राप्ति वास्तविकता का रूप धारण कर सके।" द्वितीय और तृतीय योजना के प्रतिवेदन मे उद्देश्यो की और भी विस्तृत व्याख्या की गयी है तथा उन्हे निश्चित ढग से प्रस्तुत किया गया है। तृतीय पच वर्षीय योजना मे प्रथम वाक्य है "भारत के विकास का मूल उद्देश्य निश्चय ही भारतीय जनता को एक अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान करना होना चाहिए।"

साधन को साध्य समझने का भ्रम नही होना चाहिए। भारी उद्योगो का विकास, इस्पात का उत्पादन, तेल-स्रोतो का विस्तार, विद्युत उत्पादन, ये सब साध्य प्राप्ति के उपकरण है। यदि उन करोडो लोगो के जीवन को पूर्ण बनाना है, जिनका १२ वर्ष के आयोजन के पश्चात् भी कठिनाई से गुजर-बसर हो पाता है, तो प्रगति आकने के माप कुछ और ही है। औद्योगीकरण ओर शक्ति तो सामान्य लोगो के जीवन को पूर्ण बनाने हेतु स्रोत प्राप्त करने के साधन है। जैसा कि पूना मे १९६१ मे अखिल भारत सर्व सेवा सघ और 'गोखले इस्टीट्यूट ऑफ पोलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स' के सयुक्त तत्वावधान मे हुई गोष्ठी मे जोर दिया गया था कि सर्वोच्च प्राथमिकता हर काम चाहनेवाले व्यक्ति को रोजगार देने के उद्देश्य को दी जानी चाहिए, जिससे कि वह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति अथवा न्यूनतम भौतिक सुख की प्राप्ति कर सके। गाधीजी के सर्वोदय समाज से यह विचार मेल खाता है।

कृषि समस्याएँ

इसका अर्थ यह है कि योजना ग्रामोन्मुखी होनी चाहिए। गाधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम मे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के समग्र विकास को सर्वोपरि स्थान दिया गया था। यह सच है कि कृषि उद्योग के पुनर्गठनार्थ गाधीजी के पास कोई विशिष्ट कार्यक्रम नही था, परन्तु अपने रचनात्मक कार्यक्रम मे उन्होने

कृषि में सुधरे तरीके अपनाने का जोरदार आग्रह किया और कहा कि इसके विकास के लिए जिन लोगों के पास छोटे खेत है तथा जो आवश्यक साधन प्राप्त नही कर सकते, उन्हे सहकारी सगठन मे आबद्ध हो जाने के लिए उत्साहित किया जाना चाहिए। सहकारी खेती का आग्रह उन्होने वर्तमान अवस्था को देखते हुए आर्थिक वचत के साधन के रूप मे किया। सहकारी सगठन का विचार उन्होने गोपालन, गोसवर्द्धन और दुग्ध उत्पादन वढाने के लिए भी किया। जनता के प्रति जिम्मेदार सरकार के अभाव मे उन्होंने भू-स्वामित्व के प्रश्न पर अधिक विचार नही किया। आज की परिवर्तित अवस्था मे आचार्य विनोबा भावे इस समस्या का हल हृदय परिवर्तन, अधिकतम अहिसा और न्यूनतम राजकीय सहयोग पर आधारित कार्यक्रम के जरिये करने की कोशिश कर रहे है।

तृतीय पच वर्षीय योजना के उद्देश्यो मे यद्यपि कृषि के विकास की आवश्यकता पर वल दिया गया है, उद्योगो के लिए कच्चे माल तथा विदेशी मुद्रा प्राप्त करने हेतु निर्यातीय कृषि सामग्रियो के उत्पादन पर जो अधिक वल दिया गया है, वह कुछ असगत लगता है। निश्चय ही हम खेतो मे अधिक पैदावार करना चाहते है, जिसमे कुल कृषि उत्पादन वढे, ताकि अन्न के मामले मे हम स्वालम्बी बन जाये। तथापि, इससे भी अधिक स्वागतार्ह है वे उपाय जिनसे कृषि से होनेवाली आय मे वृद्धि के लिए उत्पादन स्तर ऊँचा उठे और कृषि तथा शहरी उद्योगो, व्यापार, वाणिज्य तथा माध्यमिक या तीसरी श्रेणी की सेवाओ से होनेवाली आय के बीच जो महान अन्तर है वह कम हो।

स्थानीय स्रोतों पर बल

विभिन्न कृषि कार्यो मे यात्रीकरण अपनाने अथवा फसलो के लिए उर्वरको का उपयोग करने मे ही कृषि मे सुधार नही हो जायगा। ये दोनों ही उपयोगी है, परन्तु जैसा कि गाधीजी ने हमेशा यह आग्रह रखा कि कृत्रिम साधनो को अपनाने के पहले यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि उपलब्ध साधन-स्रोतो का पूर्ण उपयोग होता है। यदि किसी कार्य को करने के लिए जन और बैल शक्ति उपलब्ध है तो उसके बदले यात्रिक शक्ति का उपयोग नही किया जाना चाहिए। इसी तरह उत्पादन-स्तर बढाने के लिए स्थानीय खाद-स्रोतो का उचित आरक्षण और पूर्ण उपयोग करने के वाद ही उर्वरको का इस्तेमाल किया जाना चाहिए, जो कि कम परिमाण मे उपलब्ध है तथा महँगे भी। समूचे गॉव के लिए खाद-स्रोत का आरक्षण प्रत्येक ग्राम आयोजन का एक अत्यावश्यक भाग होना चाहिए—जैसे कि भू-आरक्षण स्थानीय श्रम से किया जाता है—और लघु-सिचाई कार्यों के जरिये जल-स्रोतो का आरक्षण भी किया जाना चाहिए। पशु-पालन से प्राप्त होनेवाले धन को मृत पशुओ के शव के हर भाग का पूर्ण उपयोग कर बढाया जा सकता है। पशु-शव सम्प्राप्ति कार्यक्रम से जो लोग शवच्छेदन, चर्मशोधन तथा अन्य सह-प्रशोधन कार्यो मे लगे है, उनका सामाजिक स्थान उन्नत होगा और आय-स्तर भी बढेगा।

दोहरी हानि

गाधीजी के विचार से ग्रामीण निश्चलता और फलस्वरूप गॉवो की घोर गरीबी के लिए मुख्यत जिम्मेदार है—ग्रामोद्योगो का ह्रास। वे प्राय कहा करते थे कि इससे गॉव को दोहरी आर्थिक हानि होती है। ग्रामीण लोग विभिन्न पूरक धधो तथा सहायक अथवा मुख्य उद्योगो मे उत्पादन कर—जिसकी गॉवो तथा शहरो दोनो ही जगह माँग थी—जो आय करते थे, वह बद हो गयी। अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए भी उन्हे अपनी गाढी कमाई का पैसा देशी-विदेशी चीजे खरीदने मे खर्च करना पडता था, जब कि वे उन वस्तुओं का उत्पादन स्वय ही कर सकते थे और कम पैसे मे अपनी आवश्यकता पूरी कर सकते थे। गाधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम मे इन उद्योग-धधो की पुनस्स्थापना का प्रमुख स्थान था।

अत हमारी अर्थ-व्यवस्था मे कुटीरोद्योगो के महत्व का समझते हुए उनके विकासार्थ प्रथम पच वर्षीय

योजना मे प्रावधान रखा गया। द्वितीय योजना में मोटे तौर पर इस बात को स्वीकार किया गया कि सर्व साधारण की दैनिक उपभोक्ता सामग्रियों की आवश्यकता अधिकाधिक ग्रामीण और अन्य कुटीरोद्योगो के जरिये ही पूरी करने की कोशिश की जानी चाहिए। यह स्वीकार किया गया कि सरकार ऐसी नीति अपनाये कि वह इन उद्योगो को सहायता दे तथा सगठित भारी उद्योगो के उत्पादनो की स्पर्धा मे सरक्षण प्रदान करे। यद्यपि इस बात का दावा नही किया जा सकता कि सर्व साधारण माग की हर तरह की उपभोक्ता सामग्रियो की बढते परिमाण मे पूर्ति ग्रामीण और कुटीर उद्योगो द्वारा की जा रही है, तथापि गत १२ वर्ष के आयोजन मे यह बात तो स्पष्ट दिखाई दी है कि इन उद्योगों के जरिये लोगो को काफी सख्या मे रोजगारी मिली है।

ग्रामीण औद्योगीकरण आयोग

समग्र अर्थ-व्यवस्था पर स्पष्टत इस कार्यक्रम का कोई विशेप प्रभाव नही पडा है। प्राप्त सफलता की समीक्षा करते हुए १९६१ के सर्वोदय सम्मेलन में श्री जयप्रकाश नारायण ने आग्रह किया था कि ग्रामीण-अर्थ-व्यवस्था के वैविध्यीकरण की समस्या पर अधिक विस्तृत दृष्टिकोण अपनाया जाय और ऐसा परम्परागत उद्योगो के अलावा अन्य उद्योगों को—न सिर्फ देहाती क्षेत्र की बल्कि शहरी क्षेत्रों की भी नयी उपभोक्ता और उत्पादक सामग्रियो की आवश्यकता पूरी करने के लिए—आरम्भ करके किया जा सकता है। ये उद्योग बहुत-कुछ स्थानीय रूप मे उपलब्ध कच्चे माल—कृषिक तथा अन्य—पर निर्भर कर सकते है। तथापि, अपने क्षेत्र के बाहर से कच्चा माल मँगाने पर किसी तरह का प्रति-बध नही लगाया जाना चाहिए। मुख्य ध्येय गाव के अतिरिक्त श्रमिको को यथा सम्भव उनके घर या पास-पडोस मे रोजगारी प्रदान करने के लिए उपयुक्त किस्म का कार्य देना होना चाहिए।

फिर, नये अथवा पुराने उद्योगो मे भी उन्नत तकनीको के उपयोग पर कोई प्रतिबन्ध नही होना चाहिए, बशर्ते कि इन पद्धतियो अथवा उपकरणो के इस्तेमाल से काम पर लगे श्रमिकों का विस्थापन न हो अथवा शोषण को प्रश्रय न मिले। इस तरह के विस्तृत और प्राणवान कार्यक्रम का आरम्भ करने के लिए श्री जयप्रकाश नारायण ने ग्रामीण औद्योगीकरण आयोग की स्थापना का आग्रह किया। ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति की स्थापना तथा स्वीकृत योजनाओ के कार्यान्वियन हेतु आयोजन समिति के प्रति जिम्मेदार किसी एक सस्था के अन्तर्गत ग्रामीण उद्योगो के सघन विकासार्थ योजना-बद्ध यानी अनुक्रमिक कार्यक्रम स्वीकृत कर योजना आयोग ने इस माग के मूल की पूर्ति कर दी है।

मूल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण

यह गैर कृषि उत्पादनों के विकेन्द्रीकरण का कार्यक्रम है, जिसमे उत्पादन केन्द्र गॉव-गॉव मे फैले रहेंगे, ग्रामीण ही उनके मालिक होंगे और वे ही उनका सचालन विभिन्न स्तरों पर अपने पचायत माध्यमो अथवा सहकारी समितियो के जरिये करेगे। लेकिन जैसा कि गाधीजी ने समझा था, कुछ उत्पादन ऐसे है जिनका सचालन व नियत्रण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित मे किसी केन्द्रीय अधिकारी के हाथ मे रहना चाहिए। जिन्हे हम आज भारी उद्योग कहते है, उन्हे ही उन्होने मूल उद्योग कहा था। इनकी आवश्यकता उत्पादक माल देने तथा विद्युत् पैदा करने के लिए है, जो कि आधुनिक समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने हेतु हमारी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत तथा प्राणवान बनाने के लिए परमावश्यक है। यह गाधीजी का एक आधारभूत सिद्धात था कि इस तरह के उद्योगो का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अर्थात् उन्हे सरकारी स्वामित्व और नियत्रण मे चलाया जाना चाहिए। अधिकारो के केन्द्रीकरण होने से नौकरशाही की अवस्था पैदा न हो और न मालिक-नौकर का सवाल पैदा हो, इसके लिए गाधीजी यही उपाय बताते कि श्रमिक का स्थान सहयोगी और भागीदार का होना चाहिए।

चूकि सर्वोदय का अर्थ है सबका भला, जो कि अधिका-धिक लोगों के अधिकाधिक भले से अलग है, अत

गाधीजी ने निजी तौर पर अथवा सिडिकेट या निगमो द्वारा चलायी जा रही व्यापारिक सस्थाओ को निर्मूल करने की कल्पना नही की। परन्तु उन्होने इनके अधीक्षको से आग्रह किया कि वे श्रमिको को कार्य-नियमो तथा मुनाफे मे अपना भागीदार व सहयोगी दोनो ही समझे। जबकि उन्होने इन सस्थाओ के अधीक्षको के उद्यम, कुशाग्रता और योग्यता को मूल्यवान माना, तो उन्हे उन्होने जनता का न्यासी भी कहा। उन्हे अपने कला-कौशल का उपयोग सस्था के लिए जन-सेवी के रूप मे करना चाहिए। इसके लिए उन सस्थाओ के—जिनको अभी निजी अथवा गैर-सरकारी विभाग कहा जाता है— अधीक्षको के हृदय-परिवर्तन की आश्यकता है। प्रन्यासिता के विचार को ऐच्छिक रूप से नही अपनाये जाने पर इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु समाज को कानूनी कार्यवाही करनी होगी।

प्रगति का मूल्यांकन

आयोजन मे गाधीजी के आदर्श तथा सामाजिक मूल्य जिस हद तक समाहित है, उस हद तक यह दावा किया जा सकता है कि यह उस दिशा मे प्रगति कर रहा है जिस दिशा मे स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत की प्रगति की कामना गाधीजी करते थे। परन्तु यदि हम भव्य के आकर्षण मे बह गये, यदि हम गति को जबरदस्ती आगे ढकेलने की कोशिश करते है, यदि हम औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशो की विकास पद्धति की नकल करने का प्रयत्न करते है, यदि हम बेकारी और अर्ध-बेकारी को देश मे जड जमाने देते है और यदि हम आय तथा धन मे असमानता बढने देते है, तो यह कहा जा सकता है कि आयोजन अपने उद्देश्य मे असफल रहा है, फिर चाहे समग्र राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि की दर जो भी रही हो और इस्पात के उत्पादन, विद्युत उत्पादन, तेल, गैस और कोयला-स्रोतो की प्राप्ति कितनी भी अधिक क्यो न हो अथवा रेडियो और टेलीफोन जैसी उपभोक्ता सामग्रियो मे प्रति व्यक्ति खपत कितनी भी क्यो न बढी हो। न सिर्फ गाधीजी, बल्कि जो प्रगति का मूल्याकन एक अच्छे जीवन से करते है, उनके अनुसार एक मात्र कसौटी यह है कि आयोजन किस हद तक बढती हुई आबादी के लिए पर्याप्त भोजन, अच्छे वस्त्र, शुद्ध-स्वच्छ जल, आवास, साक्षरता, स्वस्थ व स्वच्छ वातावरण और इन सबके भी ऊपर अपने निर्वाह के लिए काम करने का अधिकार देने मे सफलता प्राप्त करता है।

पूना २ अगस्त १९६१

जिन व्यक्तियो की सर्वोच्च पदो पर नियुक्ति हो उनमें ये तीन गुण होने चाहिए· (१) सबसे पहले निर्धारित सविधान मे निष्ठा; (२) सर्वोत्तम प्रशासकीय क्षमता, (३) हर प्रकार के शासन के योग्य गुण और न्याय-परायणता; क्योकि जो न्यायपूर्ण है, यदि वह सभी शासनो मे समान न हो तो न्याय का स्तर भी बदलना ही चाहिए।

—अरस्तू पॉलिटिक्स

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के चन्द पहलू

मोरारजी देसाई

भारत में गरीबी का उन्मूलन करना कोई महज काम नही है। कृषि, विकास का मर्मस्थल है। उसे उत्पादनशील बनाना पडेगा। दस्तकारियो, कुटीर तथा अन्य उद्योगो के साथ उसका सम्बन्ध जोडना होगा। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत जनता को ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व स्वयम् उठाना पडेगा। ग्रामीण भारत का भावी चित्र ऐसा होना चाहिए कि आर्थिक दृष्टि से वह समृद्ध हो और ग्रामीण लोकतान्त्रिक दृष्टि से काम में हाथ बटाये।

भारत मे आयोजित आर्थिक एवम् सामाजिक विकास कार्यक्रम एक दशक से भी कुछ पहले प्रारम्भ हुआ था। आज हम तीसरी पच वर्षीय योजना के मध्य से गुजर रहे हैं। हमारी समस्त योजनाओं के पीछे भविष्य की एक ऐसी कल्पना है कि भारत निर्धनता के अभिशाप से मुक्त होगा और देश के प्रत्येक व्यक्ति को एक अच्छा जीवन व्यतीत करने हेतु अवसर प्राप्त होंगे। इस कल्पना को साकार रूप देने हेतु हम स्वतत्रता प्राप्ति आदोलन के समय से ही प्रयत्नशील रहे हैं। जब तक हमे आर्थिक स्वतत्रता प्राप्त नही होती, तब तक राजनीतिक स्वतत्रता के कोई माने नही होते। इस आर्थिक स्वतत्रता की प्राप्ति के लिए ही तो देश ने सोच-विचार कर वर्षो की आर्थिक गतिहीनता को तिलाजलि दी और विकास के लम्बे मार्ग पर प्रथम चरण रखा है।

निर्धनता की समाप्ति

देश के ४४ करोड से भी अधिक लोगो को एक अच्छा जीवन व्यतीत करने के साधन उपलब्ध कराना कोई मामूली कार्य नही है। यह एक बडा भारी काम है, और इसे पूरा करने मे अनेक वर्ष लग जायेंगे। निर्धनता की समाप्ति कोई चुटकी भर मे कर लेनेवाला सहज काम नही है। यह काम कतिपय व्यक्तियो द्वारा—चाहे वे कितने ही महत्वपूर्ण क्यो न हो—एक-दो छोटे-मोटे कार्य करने से पूर्ण नही हो सकता। देश की अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक अग – खेत, कारखाने, खाने और वन—के उत्पादन मे वृद्धि होनी ही चाहिए। अर्थ-व्यवस्था के ग्रामीण तथा शहरी दोनो ही पहलुओं मे परिवर्तन तथा विकास होना ही चाहिए।

भारत के विशाल जनसमूह का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के महान कार्य मे स्वयम् ग्रामीण भारत की ही अनेक कठिन समस्याएँ हैं। भारत मूलत ग्रामीण है और काफी समय तक ऐसा रहेगा। इसकी लगभग ८० प्रति शत आबादी गाँवो मे रहती है। इस गाँवो के विकास के बिना भारत का विकास अपूर्ण और अवास्तविक अर्थात् कृत्रिम या दिखावटी ही रहेगा। वस्तुत देश की गरीबी की जडे इसके गाँवो मे निहित है। अत ग्रामीणो को अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाने तथा बेहतर जीवन बनाने के प्रयत्न मे सहायता करना ही हमारा तात्कालिक, सामाजिक एवम् आर्थिक लक्ष्य है। ग्राम-समृद्धि वह आधार है जिस पर ही देश के आर्थिक विकास की इमारत खडी करने की आवश्यकता है।

उत्पादन वृद्धि के लिए उपाय

गाँवो मे हर आठ मे से सात व्यक्ति जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर करते है और वह उनका मुख्य

पेशा है। भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग कृषि से प्राप्त होता है, जबकि अमेरिका मे कृषि का योगदान ९ प्रति शत और जापान मे १८ प्रति शत है। कृषि के आधुनिकीकरण और विकास मे ही ग्राम-समृद्धि अथवा राष्ट्र की समृद्धि भी निहित है। तीसरी पच वर्षीय योजना मे हमने कृषि को सर्वोपरि प्रमुखता दी है और सच तो यह है कि आगामी पन्द्रह वर्षो मे भी इसको प्राथमिकता देनी पडेगी। जबसे योजनाबद्ध आर्थिक विकास प्रारम्भ हुआ है, भारत का कृषि उत्पादन बढ रहा है, परन्तु देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए वृद्धि की यह गति अब भी बहुत धीमी है। भारत ससार के उन देशो मे है जहाँ प्रति एकड उत्पादन न्यूनतम है। प्रति एकड अधिक उत्पादन करके कृषि-उत्पादन मे तीव्र वृद्धि करने की सम्भाव्यता हमारे लिए एक चुनौती है और साथ ही साथ कृषि उद्योग के लिए एक गर्व की बात भी। सिचाई—जोकि कृषि का प्राण है—की सुविधा, उर्वरक, उत्तम बीज और खेती-बाडी के उन्नत उपकरण, और इन समुन्नत उपकरणो का उपयोग करने के लिए सुशिक्षित तथा उद्यमशील किसान हो तो मुझे विश्वास है कि कृषि-उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि सम्भव है। वस्तुत हमारे समस्त कृषि कार्यक्रमो का ध्येय, ये सब चीजे शीघ्र और व्यापक रूप से प्रदान करना है।

मर्मस्थल

कृषि उद्योग ससार के अधिकाश विकासोन्मुख देशो का 'रावण की नाभि' के समान एक मर्मस्थल है। किसी भी प्रकार के कृषि सगठन या व्यवस्था मे उत्पादन बढाने की समस्त समस्याओ मे अधिकतम कृषि-उत्पादन सुनिश्चित करना सबसे कठिन समस्या सिद्ध हुई है। ग्रामीण समस्याओ के अत्यधिक महत्वपूर्ण एवम् कठिन होने के कारण देश मे शातिपूर्ण लोकतत्रात्मक प्रणाली से आर्थिक परिवर्तन लाने के इस सघर्ष की विजय या पराजय ग्रामीण क्षेत्रो मे ही होगी। लोगो को धैर्यपूर्वक समझा कर प्रेरित करने और अधिक विस्तार सेवाओ, खेती की आवश्यक चीजो की अधिक पूर्ति, उधार तथा बिक्री सुविधाओ, प्रभावकारी भूमि-सुधार और कृषि-उत्पादनो के उचित मूल्य के रूप मे सक्रिय सहायता देने के सफल परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे है। सिचाई के साधनो मे निरन्तर वृद्धि की जा रही है और अधिकाधिक किसान पानी से भरे हुए खेतो मे बोआई करने (वेट फार्मिग) के तौर-तरीके सीख रहे है। वस्तुत भारत की खेती योग्य समस्त भूमि के आधे हिस्से यानी १७ करोड ५० लाख एकड मे सिचाई सुविधाएँ प्रदान करने का विचार है, जबकि फिलहाल सात करोड एकड भूमि मे ही सिचाई होती है। इससे भारत मे कृषि को वर्षा पर निर्भर रहने से मुक्ति दिलाने मे बहुत सहायता मिलेगी।

ग्रामीण क्षेत्रों के लिए उद्योग

कृषि-उत्पादन बढाना एक प्रक्रिया है जिसमे समय लगेगा, और जिसके लिए धैर्य, कुशल आयोजन तथा सगठन की आवश्यकता है। इसे उर्वरको, सुधरे उपकरणों की पूर्ति और अतिरिक्त उत्पादन की बिक्री के लिए औद्योगिक क्षेत्र की ओर से अधिकाधिक मदद की आवश्यकता है। देश मे आर्थिक विकास की समग्र योजना के लिए कृषि का महत्व इतना बडा है और ग्राम-समृद्धि से इसका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि मौजूदा और भविष्य की योजनाओ मे इसे अधिक उत्पादक तथा लाभप्रद बनाने के लिए बडे प्रयास करने ही चाहिए एवम् किये जायेगे।

अधिक उत्पादनशील कृषि के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रो की समृद्धि को कुछ उद्योगो की भी आवश्यकता है, ताकि वहाँ के ७ करोड ४० लाख परिवार शहरो तथा नगरो मे रहनेवाले परिवारो के साथ कदम मिला कर चल सके। अकेली उन्नत यानी फलती-फूलती कृषि से ही देश के लगभग ८० प्रति शत ग्रामवासियो को उपयुक्त आय सुनिश्चित नही हो सकती। और फिर, आज बहुत अधिक लोग खेती पर निर्भर करते है। इस भारी

निर्भरता को कम करने की आवश्यकता है और यह काम मुख्यत उद्योगों के जरिये ही किया जा सकता है। उद्योग एक महान् आधुनिकीकारक पहलू है और नवीन विचारो के द्वार उन्मुक्त करता है। इसके प्रभाव से कृषि और समस्त ग्रामीण समाज लाभान्वित होगा। जब हम इस सदर्भ मे उद्योगो की चर्चा करते है तो अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न खडे होते है। कौन-से यानी किस प्रकार के तथा कितने उद्योग ग्रामो मे शुरू किये जा सकते है? औद्योगिक विकास की समग्र योजना के साथ इनका कैसे तालमेल वैठाया जा सकता है? उद्योगो को स्थापित करने हेतु किस प्रकार के स्थल का चुनाव हमे करना है? उद्योग विकास के लिए आवश्यक वित्त कैसे प्राप्त किया जाय?

विस्फुरण आवश्यक

औद्योगिक विकास की हमारी समग्र योजनाओ मे यत्रचालित बडे उद्योगो एवम् कुटीर और दस्तकारी उद्योगो दोनो का ही अपना-अपना स्थान है। देश के आर्थिक विकास और प्रतिरक्षा दोनो के लिए आवश्यक जटिल वस्तुओ के उत्पादन हेतु हमे बडे कारखाना उद्योगो की जरूरत है। किन्तु ग्रामीण भारत के इकतरफे पेशेवर ढाँचे मे विविधता लाने के लिए दस्तकारियाँ तथा ग्रामोद्योग महत्वपूर्ण है। दूरदर्शी दृष्टिकोण से विचार करने पर एक सतुलित और कुशल औद्योगिक स्वरूप का विकास करना आवश्यक प्रतीत होता है। पश्चिम के औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशो के अनुभव से हम कतिपय शहरो मे उद्योगो के केन्द्रीकरण के फल-स्वरूप उत्पन्न हानियो से परिचित है।

भारत मे भी अभी हाल ही तक जो थोडे-बहुत उद्योग विकसित हुए है, वे कुछ नगरो के आस-पास ही हुए है। कतिपय बडे नगरो मे इस प्रकार के केन्द्रीकरण से कुछ प्रारम्भिक लाभ हो सकते है, पर कुछ ही समय बाद लोक-स्वास्थ्य, शिक्षा, यातायात तथा अन्य लोकसेवाओ और सुविधाओ सम्बन्धी—इनमे जल व बिजली की सुविधाएँ भी शामिल है—अनेक गम्भीर समस्याएँ एवम् बुराइयाँ पैदा हो जाती है।

अत हमे अपने उद्योगो की योजनाएँ एक ऐसे ढग से बनानी पडेगी कि उनसे हम उन गभीर सामाजिक और आर्थिक बुराइयो से बच सके जो प्राय कुछ ही शहरो मे उद्योगो के सकेन्द्रण से खडी हुआ करती है। इस प्रसग मे यहाँ यह जानना रुचिकर होगा कि भारत के सबसे बडे दस शहरो मे उसकी पाच प्रति शत जन-सख्या है, जबकि जापान मे २० प्रति शत, इग्लैण्ड मे १८ प्रति शत और सयुक्त राज्य अमेरिका मे १२ प्रति शत। लेकिन हमे जापान या ब्रिटेन की तरह जन-सख्या का भारी केन्द्रीकरण नही चाहिए। इसके साथ ही हम प्रत्येक गाँव को दीर्घ-स्तरीय उद्योग का केन्द्र भी नही बना सकते। इसलिए उद्योगो की आदर्श सरचना यह लगती है कि देश मे कुछ एक-सौ उद्योग केन्द्र हो जो पूरे देश भर मे अच्छी तरह फैले हो। इस प्रकार के ये केन्द्र औद्योगिक विकास के प्रतिनिधि केन्द्र होगे। उद्योगो की ऐसी सरचना यानी स्थापना से गाँवो और शहरो के बीच जो अतर है उसमे कमी हो सकेगी। इस प्रकार उद्योगो की प्रस्थापना के साथ-साथ हमे एक नये प्रकार के उद्योगो का विकास करने की आवश्यकता है। वे न तो कुटीर एवम् दस्तकारी उद्योगो जैसे ही होगे और न यत्र-चालित बडे उद्योगो जैसे ही और इस प्रकार के उद्योगो मे छोटे उद्योगो जैसी लोगो को काम देने की क्षमता होगी तथा बडे उद्योगो जैसी उत्पादन-क्षमता। देश की पूर्ण एवम् अर्ध-बेकारी की गभीर समस्या का बहुत-कुछ समाधान इस प्रकार के उद्योगो के विकास मे सफलता पर ही निर्भर है।

बचत पर जोर

हमारे ग्रामीण अथवा समूचे आर्थिक विकास का स्वरूप चाहे जो भी हो, हमे अपनी विकास योजनाओ के लिए साधन-स्रोत खोजने ही पडेगे। यह कैसे हो? ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ब्रिटेन, जर्मनी और जापान

मे औद्योगीकरण कृषि क्षेत्र से साधन-स्रोत छीन कर किया गया। भारत मे हम उस अनुभव की पुनरावृत्ति नही करना चाहते। परन्तु यह आवश्यक और महत्वपूर्ण है कि कम से कम खेती के विकास के लिए तो उससे साधन-स्रोतो की पूर्ति हो। विकास के लिए आवश्यक सभी वित्त की पूर्ति या तो हमारी बचत से करनी पडेगी या फिर किसी दूसरे की बचत से। यहाँ आकर ग्रामीण बचत अभियान, कराधान, अनिवार्य जमा योजना और स्वर्ण नियन्त्रण आदेश का महत्व सामने आता है। इनमे से पहले तीन—जहाँ तक उनका ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रयोग से सम्बन्ध है—ग्रामीण क्षेत्रो मे बचत निर्मित तथा सक्रिय बनाने के लिए है तो स्वर्ण नियत्रण आदेश का ध्येय स्वर्ण जैसी अनुत्पादन चीज पर बचत को लगाने से रोकना है। मौजूदा हालत मे स्वर्ण खरीदना देश का अहित करना है, क्योकि जितना सोना आज खरीदा और बेचा जाता है वह अधिकाशत चोरी से लाया हुआ होता है। इस प्रकार से प्राप्त सोने से देश को नुकसान और तस्कर व्यापारी को फायदा होता है।

सहकारिता, विद्युतीकरण, गोदाम तथा बिक्री सम्बन्धी सुविधाओ जैसे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के और भी अनेक पहलू है, जिनका विकास ग्राम-प्रधान भारत का स्वरूप बदलने के लिए किया जा रहा है। सहकारिता और विद्युतीकरण दोनो ही ग्रामीण प्रगति की गाडी खीचनेवाले दो बैल है। कृषि क्राति के आरम्भ और सचालन तथा साथ ही साथ ग्रामीण और शहरी सस्कृतियो के मध्य भारी अतर को कम करने के लिए ये दोनो अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

त्रि-सूत्री व्यवस्था

भविष्य के ग्रामीण भारत की कल्पना केवल आर्थिक ही नही है। लोकतत्र के रूप मे विकास योजनाएँ बनाने तथा कार्यान्वित करने के काम मे ग्रामीणो सहित हर व्यक्ति को प्रत्यक्ष एवम् सक्रिय भाग लेने के लिए अवसर प्रदान करना आवश्यक है। पचायत राज ग्रामवासियो को ऐसे अवसर प्रदान करने के लिए है। पचायत राज देश के ग्रामीण विकास और स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र मे बहुत ही व्यापक व दूरगामी परिवर्तन है। पचायत राज का मुख्य उद्देश्य समस्त ग्रामवासियो को ग्राम विकास योजनाओ मे भाग लेने के अवसर प्रदान करना है। यह त्रि-सूत्री व्यवस्था है, जिसमे तीन निर्वाचित स्थानीय सस्थाएँ आती है—ग्राम स्तर पर **पचायत,** खण्ड स्तर पर **पचायत समिति** और जिला स्तर पर **जिला परिषद।** पचायत राज की महान सम्भाव्यताएँ इस बात मे निहित है कि राज्य सरकारो के मार्गदर्शन व निरीक्षण मे ग्राम विकास की योजनाएँ कार्यान्वित करने का अन्तिम उत्तरदायित्व अधिकाधिक रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियो के जरिये ग्रामीणो पर पडता जायगा।

लोकतांत्रिक भागीदारी

यद्यपि पचायते हमारे देश की प्राचीन सस्थाएँ है, पर लोक कल्याण यानी गॉव के सामान्य हित की दृष्टि से गॉवो का विकास करने का जो उत्तरदायित्व उन्हे सौपा गया है, वह अपेक्षाकृत नया ही है। पचायत राज के अन्तर्गत प्रत्येक पचायत को नही तो कम से कम पचायत समितियो को तो स्थानीय साधन-स्रोतो का पूरा उपयोग करने के लिए योजनाएँ बनाना और उन्हे कार्यान्वित करने के लिए वित्तीय साधन-स्रोत यदि पूरे तौर पर नही तो कम से कम आशिक रूप मे जुटाना सीख ही जाना चाहिए। आर्थिक समृद्धि और ग्रामीण सस्थाओ मे लोकतात्रिक भागीदारी से परिपूर्ण यही तो वह ग्रामीण भारत का चित्र है, जो गाधीजी ने हमारे सामने रखा था।

नयी दिल्ली ४ सितम्बर १९६३

शैक्षणिक प्रगति तथा औद्योगीकरण

कन्दस्वामी अरुणाचलम्

योजना आयोग ने १९६१ मे सगठित और सुव्यवस्थित राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्यों की पुन व्याख्या की, तौर-तरीके तथा विषय-सामग्री तैयार की एवम् उसके लक्ष्य को नया रूप दिया। शिक्षा में शहरी मूल्यो की प्रमुखता होने की वजह से आर्थिक विकास का पलडा भी शहरी क्षेत्र की ओर झुका हुआ है। शैक्षणिक सुविधाओं की दृष्टि से अभाव-ग्रस्त ग्रामीण क्षेत्रो में गरीबी तथा अन्य बातो की कमी भी पायी जाती है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी शिक्षा का विस्तृत पैमाने पर विस्तार किया जाय, तो वहा औद्योगीकरण के लिए वातावरण निर्मित करने मे बहुत सहायता मिलेगी।

शिक्षा अर्थ-व्यवस्था को अनेक दृष्टियो मे प्रभावित करती है। न केवल यह कौशल प्रवाह मे वृद्धि करती है वरन् नयी-नयी तकनीकों की ज्ञान-प्राप्ति मे सहायता भी देती है। और फिर, यह प्रगति-अवरोधक पुराने दृष्टिकोण या विचार को नष्ट करने की ओर प्रवृत होती है, यह ज्ञान को उत्पादन के साथ जोडती है। दूसरी ओर शिक्षा-पद्धति पर अर्थ-व्यवस्था की तरफ से विज्ञान के जरिये प्रतिक्रिया होती है, जिसने आज उद्योग मे एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है तथा विद्यालयो मे जिसकी अधिकाधिक शिक्षा दी जाती है। अतएव एक तरफ शिक्षा अर्थ-व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने मे सहायक होती है, क्योंकि जन-शक्ति मे यह एक प्रकार का निवेश अर्थात् विनियोजन है, जबकि दूसरी ओर यह बहुत खर्चीली बनती जा रही है। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है, शिक्षा के लिए अधिक निधि दी जा सकती है। हमारी अर्थ-व्यवस्था की गति बर्मा और श्रीलका जैसे हमारे पडोसी देशो से भी धीमी है। हमारे यहाँ अभियतो (इजीनियरो) और वैज्ञानिको की कमी है। हमे बहुत शीघ्र ही सैकडो-हजारो अपेक्षाकृत अधिक योग्य व्यक्तियो की आवश्यकता है।

अतएव शिक्षा न केवल बच्चों को सहायता देने, उनका जीवन बेहतर बनाने, जिस समाज मे हम रहते है उसे समुन्नत करने तथा देश को अपने मार्ग मे आगे बढते रहने और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धा करने मे समर्थ बनाने के लिए ही महत्वपूर्ण है, वरन् यदि हम परिवर्तनशील प्राविधिक एवम् वैज्ञानिक युग मे अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते है तो उसके लिए अर्थात् उस दृष्टि से वह परमावश्यक भी है। किन्तु मात्र शिक्षा ही पर्याप्त नही है, उसीसे काम नही चलेगा। महत्व उस बात का भी है कि शिक्षा कैसी और किस ढग की है, जिस ससार मे हम रहते है, शिक्षा उसके अनुरूप ही होनी चाहिए, उससे व्यक्ति को जीवन व परिवर्तनो के लिए तैयार होना ही चाहिए। मानव को अपना विकास करने तथा अपने को ग्रहणशील बनाने मे भी शिक्षा मे सहायता मिलनी ही चाहिए। और अन्त मे, वह सभी तक अवश्य पहुँचनी चाहिए।

स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व

स्वतत्रता-प्राप्ति से पूर्व भारत में शिक्षा का उद्देश्य था—अग्रेजी प्रशासन और सैनिक सेवाओ मे काम-काज करने के लिए शिक्षित भारतीय वर्ग में से बाबू यानी क्लर्क तैयार करना। उस वक्त के 'शिक्षित वर्ग' मे अधिकाशत क्लर्क और सैनिक तथा 'मुट्ठीभर' व्यावसायिक व्यक्ति ही थे, जिन्होंने भारत मे अग्रेजो के एजेण्टो के रूप मे काम किया। जिन विचारो और प्रभावो ने अग्रेजो को अपने देश मे प्रेरित किया उनसे अनुप्राणित हो उक्त स्वदेशी व्यक्तियो ने भी उन्ही रीति-रिवाजो तथा नीति का अनुसरण किया और वह भी अधिक सघनता

के साथ। लोक शिक्षा के बजाय वर्ग शिक्षा उस वक्त का एक नियम-सा, फैशन-सी बन गयी थी और अनेक मामलो मे आज भी बनी हुई है। इस प्रकार की नीति का अपरिहार्य परिणाम निकला विशुद्ध साहित्यिक शिक्षा पर जोर देने की अति और वह भी विदेशी भाषा के माध्यम से। स्कूल और कालेज किसी एक स्तर के शिक्षित व्यक्ति पैदा करनेवाले कारखाने जैसे बन गये।

देश जब आजाद हुआ तब ६ से ११ वर्ष तक की आयुवाले ४० प्रति शत और ११ से १७ वर्ष तक की आयुवाले १० प्रति शत बालक ही स्कूलो मे जाते थे। देश के विभिन्न भागो, भिन्न-भिन्न वर्गो और विशेष कर शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रो के मध्य शिक्षा सुविधाओ की व्यवस्था मे असमानताएँ थी।

शिक्षा पद्धति के विभिन्न सोपानो पर काफी बर्बादी होती थी। प्राविधिक तथा वृत्तिक शिक्षा के लिए सुविधाएँ बिल्कुल अपर्याप्त थी। प्रशिक्षण-विहीन शिक्षको का अनुपात प्राथमिक विद्यालयो मे ४१ प्रति शत और माध्यमिक विद्यालयो मे ४६ प्रति शत से अधिक था। अध्यापिकाओ की बहुत कमी थी। अध्यापको का वेतन-स्तर तथा नौकरी सम्बन्धी अवस्थाएँ सामान्यत असन्तोषप्रद थी और किसी अश तक निम्न शिक्षण-स्तर के लिए उत्तरदायी भी।

स्वतंत्र देश मे

ऐसी अवस्था मे न तो व्यक्तिगत अभिक्रम की आवश्यकता थी और न स्वतत्रता को प्रोत्साहन मिलता था। नकल, पुनरावृत्ति, बिना किसी अत अथवा अन्तर के एक ही काम की चक्की चलाते जाना (रुटीन वर्क) तब का एक परिशुद्ध नियम था। एक स्वतत्र देश मे इस प्रकार की स्थिति दीर्घ काल तक नही चल सकती थी। एक स्वतत्र राष्ट्र मे वहाँ के नागरिको को प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व वहन करना और राष्ट्र के शासन-सचालन मे अधिकार काम मे लाना पडता है। इस प्रकार एक नयी शैक्षणिक नीति और कार्यक्रम की रचना कर उसे समग्र देश मे स्वीकृत कराना था। तदनुसार १९५१ मे राष्ट्रीय योजना आयोग ने पुन सगठित और सुव्यवस्थित राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्यो की व्याख्या की, तौर-तरीके तथा विषय सामग्री तैयार की एवम् उसके लक्ष्य को नया रूप दिया।

परिमाणात्मक विकास

तत्पश्चात् १९५०-५१ से १९५९-६० तक के दशक मे सरकार द्वारा शिक्षा पर किये जानेवाले वार्षिक व्यय मे वृद्धि हुई और प्रथम वर्ष का ६५ करोड रुपये का व्यय अन्तिम वर्ष (१९५९-६०) मे दो अरब तक पहुँच गया। कुल खर्च—जिसमे स्थानीय सस्थाओ, शुल्क तथा अन्य धर्मार्थ सस्थाओ का खर्च शामिल होता है—एक अरब चौदह करोड से बढ कर दो अरब सत्तानवे करोड रुपये तक पहुँचा। कुल जन सख्या के प्रति ६ से ११ वर्ष के आयु वर्ग के बच्चो का अनुपात प्रथम से पाचवी कक्षा तक १९५०-५१ मे मात्र ४२ प्रति शत था। यह अनुपात १९६०-६१ मे बढ कर ६१ प्रति शत हुआ। तृतीय योजना की समाप्ति तक ७६ प्रति शत का लक्ष्याक प्राप्त करना है। चतुर्थ योजना के अन्त तक आशा है कि स्कूल जाने लायक आयुवाले सभी बालक पढने जाया करेगे। यह सच है कि अन्य स्तरो पर भी पढने के प्रातिशत्य मे काफी वृद्धि हुई है, जैसे ११ से १४ वर्ष के आयु वर्ग का प्रातिशत्य १२ से बढ कर २८ प्रति शत हुआ, इसी प्रकार १४ से १७ वर्ष के आयु वर्ग का प्रातिशत्य ५ से १५, और १७ से २३ वर्ष वाले आयु वर्ग का प्रातिशत्य ०९ से २४हो गया। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि १४ वर्ष तक के बच्चो के लिए नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का जो सवैधानिक निर्देश है वह अभी तक तो एक निर्देश ही बना हुआ है।

आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश, मैसूर, पजाब और दिल्ली जैसे राज्यो मे अनिवार्य शिक्षा के लिए कानून बनाये जा चुके है। विद्यालयो मे सघन प्रवेश के लिए योजनाएँ बनी है। शिक्षको (१५ लाख) को प्रशिक्षित करने की योजनाएँ भी बनायी गयी है।

भारत मे १९५०-५१ से १९५९-६० तक की अवधि मे प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र मे जो प्रगति हुई है वह तालिका १ (पृष्ठ २२) मे दी जाती है

तालिका १

भारत में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति : १९५०–१९६०

वर्ष	मान्य विद्यालय	छात्र सख्या	शिक्षक सख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड रुपये मे)
१९५०–५१	२,०९,६७१	१,८२,९३,९६७	५,३७,९१८	३६ ४९
१९५५–५६	२,७८,१३५	२,२९,१९,७३४	६,९१,२४९	५३ ७३
१९५६–५७	२,८७,२९८	२,३९,२२,५६७	७,१०,१३९	५८ ४८
१९५७–५८	२,९८,२४७	२,४७,८८,२९९	७,२९,२३९	६६ ७४
१९५८–५९	३,०१,५६४	२,४३,७२,१८१	६,९५,२८०	६३ ६४
१९५९–६०	३,२०,५८६	२,५९,१८,८६४	७,३३,३८२	६९ ६३

तालिका २ माध्यमिक (सेकण्डरी) विद्यालयो के विकास और वित्तीय पहलुओ का एक विहगम चित्र प्रस्तुत करती है।

तालिका २

भारत में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति : १९५०–१९६०

वर्ष	विद्यालय	छात्र सख्या	शिक्षक सख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड रु मे)
१९५०–५१	२०,८८४	५२,३२,००९	२,१२,०००	३० ७४
१९५५–५६	३२,५६८	८५,२६,५०९	३,३८,१८८	५३ ०२
१९५६–५७	३६,२९१	५९,७९,१६४	३,७२,१८०	५८ ७३
१९५७–५८	३९,६५४	१,०६,२१,४९९	४,०६,७६८	६७ २१
१९५८–५९	५३,९२३	१,४३,४१,०४३	५,१०,३८८	८४ ३४
१९५९–६०	५७,८६३	१,५७,०६,२००	५,६१,९५९	९५ ६५

तालिका ३ उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र मे हुई सस्थागत प्रगति का एक चित्र प्रस्तुत करती है।

तालिका ३

भारत में उच्चतर शिक्षा का विकास १९५०–१९६०

वर्ष	विश्व विद्यालय	शिक्षा मडल	अन्वेषण सस्थाएँ	विशिष्ट शिक्षा कालेज	प्राविधिक कालेजो के वृत्तिक	कला व विज्ञान कालेज	छात्र-सख्या	शिक्षक सख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड रुपये मे)
१९५०–५१	२७	७	१८	९२	२०८	४९८	४,०३,५१९	२४,४५३	१७ ६८
१९५५–५६	३२	११	३४	११२	३४६	७१२	६,८१,१७९	३७,८६५	२९ ७१
१९५६–५७	३३	१२	४१	१२८	३९९	७७३	७,५०,१९५	४२,१३५	३३ ५४
१९५७–५८	३८	१४	४३	१४८	४८९	८१७	८,०३,९४२	४५,२३२	३८ १०
१९५८–५९	४०	१३	४२	१६८	५४२	८७८	८,७६,३१२	५२,१८०	४३ ९२
१९५९–६०	४०	१३	४२	१७७	७२८	९४६	९,४०,४८४	५५,४९३	४७ ७१

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् प्राविधिक और वृत्तिक शिक्षा के विस्तार की जरूरत महसूस की गयी। प्राविधिक तथा वृत्तिक शिक्षा की विकास योजनाओ मे केन्द्रीय और राज्य सरकारो को परामर्श देने हेतु १९४५ मे प्राविधिक शिक्षा के लिए अखिल भारतीय परिषद गठित की गयी। सन् १९४७ के प्रारम्भ मे युद्धोत्तर विकास कार्यक्रमो पर विचार हो रहा था। उनके लिए आवश्यक वैज्ञानिक तथा प्राविधिक कर्मचारियो का मूल्याकन करने का कार्य वैज्ञानिक जन-शक्ति समिति (साइण्टीफिक मैन पावर कमेटी) को सौपा गया। इस क्षेत्र मे सुविधाएँ बढाने के लिए प्रथम पच वर्षीय योजना से पहले अनेक कदम उठाये गये। खडगपुर मे 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी' की स्थापना, और विकास के लिए १४ प्राविधिक प्रशिक्षण सस्थाओ का चुनाव, गवेषणा प्रशिक्षण छात्रवृत्ति और व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु वृत्तिका के लिए प्रावधान तथा वैज्ञानिक एवम् प्राविधिक शिक्षा व अन्वेषण के प्रोत्साहनार्थ अन्य योजनाएँ इन सुविधाओ मे शामिल थी। इस काल मे और दो योजनाओ के अन्तर्गत उठाये गये कदमो के परिणाम, नीचे तालिका ४ मे, १९५०-१९६० के बीच की अवधि मे अभियान्त्रिक तथा प्राविधिक सस्थाओ के विकास मे हुई वृद्धि मे परिलक्षित है।

गुणात्मक सुधार

आर्थिक विकास के लिए शिक्षा का कितना भारी महत्व है, इसकी शायद ही अतिशयोक्ति हो अर्थात् उसका बहुत बडा महत्व है। आज के ससार मे अनेक देशो मे आर्थिक विकास और शैक्षणिक स्तर मे परिपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है। यहाँ तक कि हमारे अपने देश मे भी शिक्षा मे शहरी मूल्यो की प्रधानता के कारण आर्थिक विकास के पलडे का झुकाव भी शहरो की ओर ही है। देहाती क्षेत्रो मे अब भी शिक्षा सुविधाओ का अभाव है। आज भी वे दुख-दर्दो और भुखमरी के शिकार है। जहाँ-कही शिक्षा की दृष्टि से लोग पिछडे हुए है, वहाँ अर्थ-व्यवस्था भी पिछडी हुई है। हमे आजाद हुए पन्द्रह वर्ष हो गये। इस अवधि मे हमने अनुभव भी प्राप्त किये है। फिर भी, हम आज अन्धेरे मे पत्थर फेक रहे है और अपनी शक्ति तथा अल्प राष्ट्रीय स्रोत गँवा रहे है। एक ही साथ कई योजनाएँ चालू करने की पद्धति से हमारे प्रयासो की बर्बादी होती है और प्राप्त परिणाम महत्वहीन बन जाते है। जैसा कि विनोबाजी कहते है, "सभी प्रकार की शिक्षा का एकमेव उद्देश्य है कि देश के सभी नागरिक कुशल दस्तकार और स्पष्ट विचारक बन जाये। लेकिन हम इस उद्देश्य को अनेक भागो—टुकडो—मे बॉट देते है, जैसे शहरी शिक्षा, प्रौढ शिक्षा, बाल शिक्षा, धाय शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, स्त्री शिक्षा, पुरुष शिक्षा, दस्तकार शिक्षा, बौद्धिक शिक्षा, शारीरिक शिक्षा और इन सबके ऊपर आता है साक्षरता अभियान।"

विनोबाजी का मत है कि यदि हम इन सभी पहलुओ

तालिका ४

इजीनियरिंग कालेजो और पॉलिटेकनिक्स की प्रगति १९५०-१९६०

वर्ष	स्नातक पाठ्यक्रम			डिप्लोमा पाठ्यक्रम		
	सस्थाएँ	प्रवेश क्षमता	शिक्षा प्राप्त व्यक्ति	सस्थाएँ	प्रवेश क्षमता	शिक्षा प्राप्त व्यक्ति
१९५०-५१	४९	४,१२०	२,२००	८६	५,९००	२,४८०
१९५५-५६	६५	५,८९०	४,०२०	११४	१०,४८०	४,५००
१९६०-६१	१००	१३,८६०	५,७००	१९६	२५,५७०	८,०००
१९६५-६६*	११७	१९,१४०	१२,०००	२६३	३७,३९०	१९,०००

* अनुमानित।

पर अलग-अलग रूप मे विचार करेगे तो निश्चय ही हमारी प्रगति रुक जायेगी। हर आदमी को खुश करने के लिए अल्प स्रोतो का वितरण किया जा रहा है। इसका परिणाम यह निकलता है कि ऐसी शैक्षणिक बातो को, अपेक्षाकृत उपेक्षित करना पडता है। जिनमे बचा नही जा सकता और जो तुरन्त करने योग्य हे यदि हमारा ध्यान थोडा इस ओर, थोडा उस ओर बँट जाता है तो हमे कही भी वास्तविक सन्तोष नही मिलेगा। हमे दृढता के साथ मूल प्रश्न को लेना है और इस बात पर परिपूर्ण ध्यान देना है कि उस पर उचित कार्यवाही होती है। मूल है बुनियादी तालीम। दस्तकारी भी इसमे आ जाती है, बौद्धिक विकास भी और साक्षरता भी। यह एक गतिविधि-केन्द्रित पाठ्यक्रम है, जिसमे ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया बच्चे के शारीरिक और सामाजिक वातावरण के साथ परस्पर जुडी हुई है। शिक्षा कताई और बुनाई, बागवानी, बढईगीरी, चर्म कार्य, घरेलू दस्तकारी, कुम्भकारी, प्रारम्भिक अभियान्त्रिकी आदि जैसी सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक गतिविधियो के माध्यम से दी जाती है। यद्यपि बुनियादी शिक्षा प्रारम्भिक स्तर पर अब शिक्षा पद्धति की राष्ट्रीय तौर पर स्वीकृत पद्धति है, तो भी प्राथमिक विद्यालयो की सख्या मे बुनियादी तालीम के मात्र २९ प्रति शत विद्यालय है। शेष वही 'मैकाले पद्धति' वाली किताबी शिक्षा देते है। तीसरी योजना के अन्त तक यह प्रातिशत्य बढकर ३६ हो जाने की अपेक्षा है। कहा जाता है कि इस विलम्ब का कारण है शिक्षा के लिए उपलब्ध साधन-स्रोतो की कमी। किन्तु जो मुख्य कारण सुस्पष्ट है वह यह है कि जिस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है उसमे और राष्ट्र के औद्योगिक विकास मे जो पारस्परिक सम्बन्ध है, शैक्षणिक प्रशासको को अभी तक उसकी प्रतीति नही हो पायी है। पुरानी नौकरशाही वाली प्रवृत्ति आज भी पायी जाती है। बाबूगिरी को आज भी अच्छा समझते है।

तथापि, बताया जाता है कि गैर बुनियादी प्राथमिक विद्यालयो मे बुनियादी शिक्षा के चन्द उन महत्वपूर्ण-विषयो को प्रारम्भ किया जा रहा है, जिनके सम्बन्ध मे व्यय की बात नही है। अधिकारियो और प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षको के लिए नवीनीकरण पाठ्यक्रम कार्यान्वित किये जा रहे है। जिस ढग से कदम उठाये जा रहे है, उनमे यह नही प्रकट होता है कि शिक्षा की यह क्रान्तिकारी पद्धति समझ-बूझ कर तथा हृदय से स्वीकृत की जा रही है। देश भर मे इस शिक्षा पद्धति के विस्तार से ही भारत के साढे-पाँच लाख गाँवो मे उद्योग फैलेगे। तब वे गतिविधियो के केन्द्र होगे और देश से अल्प तथा पूर्ण बेकारी को मार भगायेगे।

सभी प्राथमिक विद्यालय शिक्षक प्रशिक्षण सस्थाओ को अनुक्रमिक रूप मे बुनियादी ढग की सस्थाओ मे बदला जा रहा है। सत्तरह वर्ष की आयु तक के बालको के लिए माध्यमिक शिक्षा को परिपूर्ण बनाने के उद्देश्य से माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिशो के आधार पर माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा रहे है। उनमे एक अनुपम परिवर्तन है बहुमुखी शिक्षा पद्धति का प्रारम्भ जिसके अन्तर्गत विद्यार्थी को सामान्य पाठ्यक्रम के अतिरिक्त मानव शास्त्र, विज्ञान, प्रविधि, वाणिज्य, कृषि, परिष्कृत कलाओ तथा गृह विज्ञान मे से तीन विषयो का चुनाव करने की छूट है।

विश्वविद्यालय स्तर पर भी प्रत्यक्ष अनुभव पर जोर दिया जा रहा है। यद्यपि विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की ग्राम्य विश्वविद्यालयो सम्बन्धी सिफारिशे स्वीकार नही की गयी है, तथापि चन्द ग्राम्य सस्थान खुले है। अधिकाधिक प्राविधिक और वृत्तिक विद्यालय स्थापित किये जा रहे है।

कृषि शिक्षा

शिक्षा पद्धति मे एक दोष यह है कि कृषि स्नातको के प्रशिक्षण और अशिक्षित कृषक जनता के बीच बहुत बडी खाई है। जिस वर्तमान पद्धति के अन्तर्गत बहु-उद्देश्यीय उच्च विद्यालयो अथवा अलग-अलग पाठ्यक्रमो मे कृषि-विषयक पाठ्यक्रम का प्रावधान है वह किसी भी व्यावहारिक उद्देश्य यानी काम के लिए बहुत ही अपर्याप्त है। जहाँ स्थानीय परिस्थितियो के अनुकूल व्यावहारिक

पाठ्यक्रमो की शिक्षा दी जा सकती है, वहाँ कृषि को बुनियादी दस्तकारी के रूप मे लेकर अनेक उत्तर बुनियादी विद्यालय स्थापित करना वाछनीय होगा। इन विद्यालयो मे शिक्षित-प्रशिक्षित विद्यार्थी अपने खेतो व खेती करने के तौर-तरीको मे सुधार और कृषि उत्पादन बढाने मे समर्थ होने चाहिए। कृषि विकास देश मे विस्तृत औद्योगिक विकास करने की कुन्जी है, जान है। इसका कारण यह है कि कृषि अधिकाश उपभोक्ता सामग्री उत्पादित करनेवाले उद्योगो का आधार है। राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित को इस दृष्टि से मोड देने पर व्यक्ति को मनुष्यत्व-विहीन बनाये बिना भारत का औद्योगीकरण करना सम्भव बन सकेगा।

परिमाणात्मक दृष्टि से हम ने शिक्षा के क्षेत्र मे उल्लेखनीय प्रगति की है। यदि प्राविधिक शिक्षा के द्रुत विस्तार से हमे मात्र नकल करनेवाले और स्वचलन का अनुकरण करनेवाले बनने से बचना है तो शिक्षा के गुण एवम् उसकी उपयुक्तता पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देना चाहिए, परिमाण की वेदी पर हमे गुण की बली नही चढा देनी चाहिए। हम गुण के सम्बन्ध मे इतने आतुर इसलिए है कि हम उद्योगवाद की बुराइयो से बचते हुए देश मे उद्योग फैलाना चाहते है। औद्योगीकरण यदि आज की तरह चन्द बडे-बडे नगरो मे ही होता है, तो ग्राम रूपी भारत के हृदय का शोषण होता रहेगा तथा अन्ततोगत्वा समूचा देश बर्बाद हो जायेगा। उपयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के द्वारा ही इससे बचा जा सकता है।

मदुराई २ अगस्त १९६३

कुछ लोग यह सोच सकते है कि यदि किसी वस्तु का मूल्य इस बात से निर्धारित किया जाये कि उसमे कितना श्रम लगा है, तो श्रमिक जितना ही अधिक सुस्त व अकुशल होगा उस वस्तु का मूल्य भी उतना ही अधिक होगा, क्योकि उसके उत्पादन मे अधिक समय लगेगा। मूल्य में श्रम का जो भाग होता है वह सयुक्त मानव श्रम होता है अर्थात् एक समान श्रमशक्ति का व्यय। समाज की सम्पूर्ण श्रम-शक्ति जो कि उस समाज द्वारा निर्मित सभी सामग्रियो मे निहित होती है, मानव-श्रम-शक्ति का सयुक्त पुज होती है, यद्यपि उस शक्ति मे असख्य व्यक्ति रूपी ईकाइयो की शक्ति मिली होती है। जहाँ तक समाज की औसत श्रम-शक्ति के स्वरूप का सम्बन्ध है, इन इकाइयो मे से प्रत्येक इकाई दूसरी के समान ही होती है और इसी रूप मे वह घटित होती, अर्थात् उस वस्तु के उत्पादन मे औसत समय ही खर्च होता है, और सामाजिक दृष्टि से जितना समय आवश्यक है उससे अधिक समय नही खर्च होता है। सामाजिक दृष्टि से श्रम रूपी समय वही है जो कि उत्पादन की सामान्य परिस्थितयो मे कार्यकुशलता के औसत स्तर के साथ और उस समय प्रचलित गति व तीव्रता के साथ उस वस्तु के निर्माण मे लगे। इगलैण्ड मे शक्ति-चालित करघो के प्रचलन से सभवत सूत की निश्चित मात्रा का कपडा बुनने के लिए आवश्यक श्रम मे आधे की कमी हो गयी। वास्तव मे हाथ करघे के बुनकरो को पहले जितना ही समय लगता रहा, परन्तु उनका एक घण्टे का श्रम इस परिवर्तन के बाद केवल आधे घण्टे के सामाजिक श्रम के बराबर हुआ और इस कारण उसका मूल्य पहले के मूल्य का आधा हो गया।

—कार्ल मार्क्स 'कैपिटल, *खण्ड १*

ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योग कार्यक्रम

त्रिभुवन नारायण सिंह

ग्रामीणों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाना और गाँवों मे गैर खेतिहर काम-धधो का सृजन करना ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम का प्रधान उद्देश्य है, लक्ष्य है। कार्यक्रम के प्रवर्त्तकों ने उत्पादन के उन्नत तौर-तरीके अपनाने और जहाँ शक्ति उपलब्ध हो वहाँ उसका उपयोग करने की आवश्यकता पर बल दिया है। ग्रामीण उद्योगो के आयोजित विकास में सफलता प्राप्त करने के लिए ग्रामीणो को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने के अतिरिक्त सरकार को और भी वस्तुपरक, सोद्देश्य तथा ठोस कदम उठाने पड़ेंगे।

दिल्ली मे विभिन्न राज्यों के मुख्य मत्रियों और उद्योग मत्रियों का हाल ही मे एक सम्मेलन हुआ था। ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम के सम्बन्ध में उक्त सम्मेलन मे चन्द महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय सवालात उठाये गये थे। सम्मेलन मे जिन मुद्दों पर विचार हुआ उनमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नो की महत्ता का उपयुक्त मूल्याकन करने, उन्हे सही रूप में पहचानने के लिए उक्त कार्यक्रम के प्रधान उद्देश्यो और मान्यताओं का कुछ विस्तृत विश्लेषण करना वाछनीय होगा।

प्रधान उद्देश्य

ग्रामीणो का जीवन-स्तर ऊँचा उठाना तथा उच्च स्तरीय आय करवानेवाली उत्पादनशील गतिविधिया के लिए उन्हे विभिन्न प्रकार के अवसर प्रदान करना कार्यक्रम का प्रधान उद्देश्य यानी लक्ष्य है। ग्रामीण क्षेत्रो में गैर खेतिहर धधो के लिए विस्तृत अवसर निर्मित करने की योजना है। उत्पादन के उन्नत, विकसित तौर-तरीके अथवा जिसे 'माध्यमिक प्रविधि' (इण्टरमीडिएट टेक्नालॉजी) कहा जाता है उसे न केवल कृषि उत्पादनो एवम् अन्य कच्ची सामग्री का प्रशोधन करने के लिए वरन् यात्रीकृत लघु उद्योगों के लिए भी अपनाना है। लोग उच्च उत्पादन क्षमतावाले बेहतरीन यत्रों का सचालन कर सके, इसके लिए उन्हे इस नये कौशल का प्रशिक्षण देने और सगठन तथा व्यवस्था कार्य के लिए एक व्यापक कार्यक्रम हाथ में लिया जा रहा है।

ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम की चन्द मान्यताओं को सक्षेप मे इस प्रकार रखा जा सकता है

मान्यताएँ

अ खेत बहुत छोटे-छोटे है तथा द्रुत गति से बढ रही आबादी के कारण वे और भी छोटे हो जायेंगे, इसलिए काफी आबादी को कृषि से हटा कर अन्यान्य धधो मे लगाना आवश्यक हो गया है।

आ. एक ऐसी स्थिति मे जिसमे लोग बहुत बडी तादाद मे देहाती क्षेत्रो से शहरी क्षेत्रो की ओर अनवरत रूप से काम की तलाश मे जाते हो, भयकर सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ पैदा हो सकती है, जिन्हे हो सकता है कि हल करना ही मुश्किल हो जाय।

इ यदि आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जाय और लोगों को आवश्यक कौशल का प्रशिक्षण दिया जाय तो ग्रामीण क्षेत्रो मे भी उन्हे काफी तादाद मे गैर खेतिहर काम-धधे उपलब्ध करवाये जा सकते है।

ई ग्रामीण क्षेत्रों मे आज काफी परिमाण मे अमूल्य कच्ची सामग्री बर्बाद यानी बेकार जाती है। यदि नवीन तथा वैज्ञानिक तकनीक प्रारम्भ की जाय, तो काफी लोगो को काम मिलना चाहिए।

उ कृषि उत्पादन पर आधारित प्रशोधन उद्योगो के लिए व्यापक क्षेत्र है और यदि उनमे उपयुक्त वैज्ञानिक

तौर तरीके अपनाये जाये तो वे दीर्घ-स्तरीय इकाइयो के साथ सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा कर सकते है।

शक्ति की उपलब्धि

प्रधान मत्री ने सम्मेलन का उद्घाटन करते वक्त आवश्यक सुविधाएँ–विशेष कर बिजली–उपलब्ध करवाने की व्यवस्था पर काफी जोर दिया था। ऐसा होने से ही ग्रामीण आबादी के एक बहुत बडे हिस्से को कृषि के अतिरिक्त अन्य काम-धधे अपनाने के अवसर प्रदान किये जा सकते है। कुछ अन्य वक्ताओ ने भी इस प्रश्न पर जोर दिया और यहाँ तक कहा कि शक्ति की उपयुक्त पूर्ति के बिना ग्रामीण क्षेत्रो के औद्योगीकरण का कोई विशाल कार्यक्रम चलाना सम्भव नही है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि निकट भविष्य मे ही लगभग एक लाख गाँवो का भी विद्युतीकरण करना सम्भव प्रतीत नही होता तो फिर कम से कम एक लाख गाँवो तक बिजली न पहुँच जाय, क्या तब तक ग्रामीण औद्योगीकरण का समग्र कार्यक्रम त्याग देना चाहिए? मुझे विश्वास है कि प्रधान मत्री का मकसद यह नही था कि शक्ति की उपलब्धि हो तब तक के लिए ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम से नमस्कार कर लेना चाहिए। यदि ऐसा होता तो वे सम्मेलन का उद्घाटन करना स्वीकार न करते।

विभिन्न अवस्थाएँ

ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम के प्रवर्त्तको ने प्रारम्भ से ही उत्पादन के यात्रिक तौर-तरीके और जहाँ उपलब्ध हो वहाँ शक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया है। जो ४६ परियोजनाएँ कार्यान्वित हो रही है उनमे से अधिकाश उन स्थानो मे है जहाँ शक्ति उपलब्ध है, यद्यपि कुछ जगह ऐसी भी है जहाँ शक्ति जैसी सुविधाओ की कमी है। इस प्रकार की मिश्रित व्यवस्था इसलिए है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे गैर खेतिहर काम-धधो की उत्पादन क्षमता बढाने का प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति को विभिन्न अवस्थाओ के अन्तर्गत जिन विभिन्न समस्याओ का सामना करना पडेगा, कार्यकर्त्ताओ को उनका अनुभव हो जाय।

कुछ लोग ऐसे है जो इस बात मे विश्वास करते है कि राज्य यानी सरकार का कर्तव्य तो इतना ही है कि वह कुछ सुविधाएँ तथा अन्य सामाजिक उपादान (जैसे सडक, पानी, बिजली, यातायात आदि) प्रदान कर दे और इसके बाद का काम स्वतत्र रूप से करने के लिए ग्रामीण जनता पर छोड दे। मुझे डर है कि इस प्रकार का सिद्धान्त ग्रामीण क्षेत्रो मे फिलहाल जैसी स्थिति है उसमे चल ही नही सकता। हमे ग्रामीण क्षेत्रो मे न केवल शक्ति, यातायात, सचार तथा शिक्षा जैसी आवश्यक सुविधाएँ ही प्रदान करनी पडेगी, बल्कि वहाँ ग्रामीण उद्योगो के आयोजित विकास के लिए सोद्देश्य यानी वस्तुनिष्ठ कदम भी उठाने पडेगे। जिन्हे साधारणतया 'उद्यमशील' या 'साहसिक' वर्ग कहा जाता है वे दुर्भाग्यवश न केवल ग्रामीण समस्याओ और अवस्था से परिचित ही नही है, बल्कि इस प्रकार के प्रयास मे हाथ बटाने की दिशा मे सोचेगे तक नही।

व्यक्तिगत रूप से मै ग्रामीण क्षेत्रो की जनता मे आवश्यक कौशल का विकास करने और उन्हे तकनीकल ज्ञान की शिक्षा देने को बहुत बडा महत्व देता हूँ। मामूली जुगतवाले उपकरणो को चलाने का सहज कौशल साधारण ग्रामीणो मे होता है। बहुत ही कम समय का उपयुक्त प्रशिक्षण देने पर मुझे विश्वास है कि वे छोटे-छोटे शक्ति-चालित यत्र चला सकते है।

कार्यकर्त्ता

कोई वस्तुपरक कदम उठाने से पूर्व परियोजना क्षेत्रो का प्राविधिकार्थिक सर्वेक्षण करना आवश्यक है। किसी परियोजना क्षेत्र के जन-शक्ति तथा सामग्री, दोनो प्रकार के साधन-स्रोतो सम्बन्धी उपयुक्त आकडो के बिना ग्रामीण उद्योगो का सुनियोजित कार्यक्रम सम्भव नही है। मेरी समझ मे कार्यक्रम की सफलता बहुत-कुछ ग्रामीण उद्योगो के चुनाव के सम्बन्ध मे सही निर्णय लेने पर निर्भर करेगी। हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि कार्यक्रम की सफलता के लिए उन व्यक्तियो की क्षमता का भी समान महत्व है, जो काम मे अपने आप को निष्ठा और विवेक के

साथ निरन्तर कठोर श्रम करते हुए लगाने के लिए उत्तरदायी है।

रूढ़िमुक्त उपागम

अधिकांश परियोजना क्षेत्रों के सर्वेक्षण पूरे हो गये हैं, किन्तु मैं सोचता हूँ कि कुछ सर्वेक्षण और अधिक परिपूर्ण होने चाहिए थे। विभिन्न राज्यों के उद्योग अधिकारियों और परियोजना अधिकारियों के साथ विस्तृत चर्चा करने के पश्चात् स्थायी समिति के अध्यक्ष तथा उनके सहयोगी प्रत्येक क्षेत्र के लिए कार्यक्रम तैयार करने मे व्यस्त है। अनेक ऐसी समस्याओं का सामना करना पडा जिनके सम्बन्ध मे किसी ने कुछ सोचा नही था और अनेक अनपेक्षित बाधाए रास्ते मे आयी। इस सम्बन्ध में मै सबसे अधिक प्रशंसा इस बात की करता हू कि कार्यक्रम के कार्यान्वय के लिए उत्तरदायी व्यक्ति कार्यक्रम के प्रति रूढिमुक्त उपागम अपनाते ह और इसलिए जो भी कोई समस्या उनके सामने आती है, वे उसे बडे स्फूर्तिदायक ढग से हल करने मे अपने को लगा देते है। जो कठिनाइयाँ हमारे सामने आती है, उनके सम्बन्ध मे मुझे कोई भ्राति नही है। यह तो प्राय अनजाने सागर की यात्रा के समान ही है। अनेक मामलो मे हमे शमन करना पडता है जो कि स्पष्टत: असम्य प्रतीत होते है अर्थात् बेमेल के साथ मेल बैठाना पडता है, समझोता करना पडता है।

कार्यक्रम के प्रवर्त्तकों को न केवल उन व्यक्तियों की ओर से निष्क्रियता और विरोध मिलेगा, जो सामान्यत नये विचारों को आत्मसात नही करते, बल्कि आधुनिक और नव जीवन मार्ग के अनेक विचारकों की तरफ से भी, जो ग्रामीण तथा आडम्बरविहीन यानी दीखने मे भव्य, महान न लगनेवाली चीजों का उपहास करते है।

तथापि, मै सोचता हूँ कि राज्यो तथा केन्द्र के स्तर पर ग्रामीण उद्योग समिति के सदस्यों और सम्बद्ध अधिकारियों मे, रूढिमुक्त सरणी यानी तौर-तरीको की सामर्थ्य पर दिलजमी हो जाने पर वे भी अपनाने की तत्परता एवम् जिस सुस्थिरता व आडम्बरविहीन ढग मे वे अपने आपको काम मे लगाये हुए है, उससे मुझे यह विश्वास करने का प्रोत्साहन मिलता है कि इस कार्यक्रम को सफलता मिलनी चाहिए तथा ग्रामीण भारत की प्रगति अवरोधक समस्याओं को हल करने का सम्भवत उससे नया मार्ग भी प्रशस्त होना चाहिए।

नयी दिल्ली • १९ अगस्त १९६३

सत्य की आराधना भक्ति है, और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है, जिसमे कायरता की गुजाइश नही है, जिसमे हार नाम की कोई चीज है ही नही। वह तो 'मर कर जीने का मत्र' है।

—महात्मा गाधी

गाँवों के लिए ऋण की व्यवस्था

ब्रह्मदेव मुकर्जी

ग्रामीण क्षेत्रो का विकेन्द्रित आधार पर विकास करने में सम्पूर्णत सलग्न समग्र, विकेन्द्रित परतु योग्य बैकिग पद्धति की बडी आवश्यकता है। पचायत राज की स्थापना से अब 'सामुदायिक बैंक' खोलने के विषय पर ध्यान देना होगा, जो कि पचायत राज सस्थाओ के लिए बैंकर का काम करेगा तथा ग्राम समाज के आर्थिक विकास में सहयोग देगा।

हमारे देश के विशाल ग्रामीण क्षेत्र मे आधुनिक बैकिग सुविधाएँ शायद ही कही उपलब्ध है। इसका कारण यह है कि अब भी बैंकिग कार्य अधिकतर औद्योगिक और व्यावसायिक रूप से विकसित क्षेत्रो मे ही केन्द्रित है। परन्तु ग्रामीण ऋण की समस्या पर बात करना मुख्यत कृषको को कृषि कार्य के लिए और सामान्यतया अन्य ग्रामीण विभागो को ऋण उपलब्ध करने की बहुत ही कठिन समस्या को सामने रखना है। यदि हम इस तथ्य को समझ ले कि हमारी आबादी का करीब ८० प्रति शत गॉवो मे रहता है, उसमे से तीन-चौथाई लोग कृषि पर निर्भर है और वार्षिक कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे करीब आधा योगदान कृषि उत्पादन का है, तो इस समस्या का महत्व स्पष्ट हो जायगा। अत ग्रामीण ऋण की समस्या पर विचार करना एक तरह से कृषि उत्पादन के लिए सस्थागत वित्त पर विचार करना है।

कृषि के लिए निधि

यद्यपि कृषि एक कला भी है और एक जीवन मार्ग भी, फिर भी यह एक व्यापार है और अन्य व्यापारो की तरह तब तक नही चल सकता जब तक इसके मुख्य उपकरणो के रख-रखाव , बदल और सुधार तथा इसके उत्पादन मे होनेवाले कार्यकारी खर्च के लिए निधि उपलब्ध न हो। इस तरह की निधि की आवश्यकता इसलिए और भी बढ जाती है कि हमे कृपि मे बहुत सुधार करना है। कृपि मे नये और उन्नत तरीके अपनाने होगे, जिनमे उन्नत कृषि सरजाम, अच्छे बीज, अधिक उर्वरक और सिचाई जल भी शामिल है। गुजारेवाली कृषि के लिए भी उधार व्यवस्था आवश्यक है।

अन्य उद्योगों से भिन्न

कृषि अन्य अधिकाश उद्योगो से कई महत्वपूर्ण मामलो मे भिन्न है और उन्ही भिन्नताओ के कारण कृषि के लिए उधार व्यवस्था करने मे विशेष कठिनाइयॉ पैदा होती है। बडे उद्योगो का कार्य चन्द क्षेत्रो मे केन्द्रित होता है और वे पब्लिक कम्पनी का रूप धारण कर लेते है, जिनका देय सीमित होता है तथा जिनके पास विस्तृत पूजीगत साधन और बिक्री योग्य सम्पत्ति होती है, जबकि इतना बडा कृषि उत्पादन व्यक्तियो अथवा परिवारो के हाथ मे होता है, जिनके पास अपेक्षाकृत छोटे-छोटे खेत, सीमित पूजी और उपकरण होते है। इतनी अधिक सख्या मे उत्पादन इकाइयॉ, हर उत्पादक के सीमित पूजीगत साधन और धधे का निजी स्वरूप होने के कारण ही कृषि उधार देने मे कई कठिनाइयॉ पैदा हो जाती है। धधे का यह निजी स्वरूप और उत्पादक के सीमित साधन ऋण देनेवाली सस्था के लिए यह और भी महत्वपूर्ण बना देते है कि वह कर्जदार से अधिकाधिक व्यक्तिगत सम्पर्क रखे, लेकिन इनकी सख्या इतनी अधिक है और ये किसान देश भर मे फैले हुए है, जिनमे से कुछ तक तो पहुँचना भी कठिन है, इसलिए व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखना असम्भव-सा हो जाता है।

कृषि की दूसरी विशेषता इसकी लम्बी उत्पादन अवधि है। इसकी वजह से व्यावसायिक बैंको का ऋण के प्रत्यक्ष स्रोत के रूप मे इस्तेमाल करने मे साधारण किसानो की राह मे अडचन आती है, क्योकि बैंक अपने पैसो का लेन-देन जल्दी-जल्दी चाहते है। फिर भूमि, मवेशी या उपकरण खरीदने अथवा भूमि-सुधार करने के लिए दीर्घ-कालीन ऋण का प्रश्न है। साधारण व्यावसायिक बैंको के लिए कृषि मे पैसे लगाना सामान्यत अनाकर्षक है, क्योकि इस काम मे प्रशासन का खर्च हमेशा भारी पडता है और जोखिम भी अन्य व्यापारो से अधिक रहती है।

प्रशासनात्मक समस्या

किसानो को वित्त प्रदान करनेवाली किसी भी पद्धति को उसकी सारी ऋण आवश्यकताओ (लघु-कालीन, मध्य-कालीन और दीर्घ-कालीन), उत्पादन-साख और व्यक्तिगत साख को ध्यान मे रखना तथा सब जोखिमो का मूल्याकन करना होगा, ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि किसान का कुल खर्च उसकी क्षमता से अधिक नही है और न ही इतना अधिक है कि उसकी उत्पादन क्षमता ही समाप्त हो जायगी एवम् वह हमेशा कर्ज मे डूबा रहेगा। न सिर्फ किसानो की आवश्यकताएँ ही भिन्न होगी, वरन् व्यक्तिगत आवश्यकताओ का मूल्याकन करना बहुत कठिन भी होगा। कृषि ऋण की मुख्य समस्या है इतनी अधिक सख्या मे किसानो को आवश्यक निधि उपलब्ध करना तथा उनकी आवश्यकताओ का अलग-अलग मूल्याकन करना, और यह समस्या आर्थिक से अधिक प्रशासनात्मक है।

इस प्रकार एक ही सम्भव रास्ता माना जाता है और वह है सहकारी समितियो के जरिये वित्त देना। कई देशो के अनुभवो ने इसे सही ठहराया है। गॉव मे अथवा उसके निकट स्थित सहकारी समिति उधार लेनेवाले सभी व्यक्तियो से निकट सम्पर्क रख सकती है। सहकारी समिति के सदस्य एक-दूसरे को जानते है और हर कोई दूसरे के चरित्र, क्षमता और आवश्यकताओ की गवाही दे सकता है तथा समिति बिना किसी विशेष खतरे के ऋण दे सकती है एवम् बिना किसी खास दिक्कत के उस ऋण से चलनेवाले कार्य का पर्यवेक्षण कर सकती है। अपने कार्य मे स्वायत्त होने के फलस्वरूप सहकारी समिति अपनी नीतियॉ और व्यवहारो मे परिवर्तन कर सकती है, ताकि वे क्षेत्र अथवा उधार लेनेवालो की अवस्था के अनुरूप हो सके। इन सबसे भी अधिक सहकारी दृष्टिकोण सदस्यो मे स्वय-सेवा, मितव्ययिता और पारस्परिक सहयोग की भावना भरने की कोशिश करता है और समुदाय मे सामाजिक स्निग्धता का विकास करता है। यह इस तथ्य का यथार्थ रूप मे सामना करता है कि बहुत हद तक ग्रामीणो को अपनी आय तथा अपने ही साधनो पर निर्भर करना पडेगा, और यह विश्वास रखता है कि व्यक्तिगत तौर से कही अधिक वे सहकारी तौर पर बढ सकते है।

सहकारिता का प्रारम्भ

भारत मे सहकारिता का आरम्भ इस शताब्दी के आरम्भ मे हुआ। परन्तु अग्रेजी शासनकाल मे इसने बहुत ही कम प्रगति की। हमारी पच वर्षीय योजनाओ मे सहकार को दोनो ही दृष्टियो से—इसके व्यवहारिक महत्व और समाजवादी समाज तथा लोकतात्रिक कल्याण राज्य सम्बन्धी देश की बुनियादी नीति के अनुरूप होने की दृष्टियॉ—बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। द्वितीय पच वर्षीय योजना मे यह कहा गया—"लोकतात्रिक आधार पर आर्थिक विकास अनन्त रूपो मे सहकार को प्रयुक्त करने का बृहत् क्षेत्र प्रस्तुत करता है। समाजवादी समाज की हमारी पद्धति मे बहु-सख्यक विकेन्द्रित इकाइयो का निर्माण—कृषि और उद्योग दोनो ही क्षेत्रो मे—शामिल है। सहकारी सगठन का जो लाभ है, उसका मुकाबला न निजी उद्योग कर सकता है और न राज्य स्वामित्व। विशेष रूप से यह समान रूप से सामाजिक और वैयक्तिक प्रेरणाओ का लाभ उठा कर समाज के लिए बहुमूल्य परिणाम प्राप्त करने के साधन प्रस्तुत करता है।"

अब तक जो प्रगति हुई है, वह महत्वपूर्ण है। प्राथमिक कृषि सहकारी समितियो की सख्या १९५०-५१के १,०५,००० से बढ कर १९६१-६२ मे २,१५,००० हो गयी। उनकी सदस्य सख्या ४० लाख ८ हजार से बढ कर १ करोड ९५ लाख ६ हजार हो गयी है और सचालन पूजी ३७ करोड २५ लाख रुपये से बढ कर ३ अरब २५ करोड २५ लाख रुपये। ये आकडे समूचे देश की दृष्टि से आकर्षक है, देश भर मे प्रगति समान नही हुई है और समस्या का सिर्फ एक छोर ही छूआ जा सकता है। जबकि देश के कुछ भागो मे हुई प्रगति उत्साहजनक रही है, कई अन्य भागो मे वह बडी निराशाजनक रही है। सहकारी विभाग के विकासार्थ बहुत विचार, आयोजन और प्रयास किये गये है, परन्तु विश्वास के साथ यह कहा जा सके कि हम उस प्रशस्त पथ तक पहुँच गये है जोकि हमे निर्दिष्ट लक्ष्य तक ले जायगा, मुझे इसमे सदेह है। मै अपने सहकारी कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओ पर विस्तार मे चर्चा नही करूँगा जो कि अभी तक कमजोर बने हुए है, और न उन दोषो के विषय मे ही जो कि कार्यक्रम के कार्यान्विय मे मौजूद है और न उन कारणो पर ही, जो कि प्रगति की राह मे बाधक बने है। इन पर कई समितियो, कार्यकारी दलो, आदि द्वारा विचार किया जा चुका है तथा बडी-बडी रिपोर्टे प्रकाशित की जा चुकी है, जिससे सबको इसकी जानकारी मिल सके। अत मै प्रश्न के अन्य पहलुओ का जिक्र करूँगा।

ग्रामीणों को ज्ञान देना

यह महसूस करना आवश्यक है कि यह बडा ही कठिन काम है। इसमे लाखो ग्रामीणो को नये विश्वासो और विचारो मे शिक्षित, सगठित और लक्ष्यमुखी बनाना शामिल है ताकि वे बुद्धिमानीपूर्वक और सक्रिय ढग से लोकतात्रिक सस्थाओ के रूप मे काम कर सके और अपने को आर्थिक और सामाजिक कल्याण के नये कार्यो मे लगा सके। इतने बडे देश मे और वह भी अशिक्षित और परम्परामुखी लोगो मे ऐसा परिवर्तन लाना जटिल, कठिन और समय लगनेवाला कार्य होगा। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण यह है कि सहकारी कार्यशीलताएँ ग्रामीणो के आर्थिक व सामाजिक कल्याण से बहुत ही निकट रूप मे सम्बन्धित है, जो कि प्रत्यक्षत दृष्टिगोचर हो तथा उसमे जनता का दृढ विश्वास पैदा हो।

यदि कृषि को सुधारने तथा ग्रामीण औद्योगीकरण के विकास मे पर्याप्त सफलता नही मिली तो सहकार आन्दोलन के सफल होने की आशा बहुत कम रहेगी, यद्यपि ग्रामीण औद्योगीकरण के क्षेत्र मे सफलता किसी हद तक सहकार के विकास मे प्राप्त सफलता पर निर्भर करेगी। ठोस और अच्छा आयोजन तथा आयोजन का योग्य कार्यान्विय आवश्यक होगा। अकेली कृषि से ग्रामीण क्षेत्र के सम्पूर्ण श्रमिको को रोजगारी नही मिल सकती, जब तक कि वह रोजगारी गुजारे अथवा गुजारे से भी निचले स्तर की न हो। यदि ग्रामीण क्षेत्रो मे ग्रामीण औद्योगीकरण रोजगारी के अन्य पथ प्रशस्त नही करता तो अधिकाश श्रमिक औद्योगिक केन्द्रो की ओर भागते ही रहेगे और इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ पैदा करते रहेगे।

आर्थिक रूप से प्राणवान उद्योग

परन्तु अतिरिक्त श्रम-शक्ति को रोजगारी अथवा पूर्ण रोजगारी प्रदान करने और ग्रामीणो के लिए केवल कृषि अर्थ-व्यवस्था के स्तर से, भले ही वह कितनी भी सुधरी क्यो न हो, ऊँचे स्तर का जीवन प्राप्त करने हेतु धन-उत्पादन मे वृद्धि करने, इन दोनो ही उद्देश्यो की पूर्ति करने के लिए यह आवयश्क है कि ग्रामीण औद्योगीकरण का कार्यक्रम सुनियोजित हो तथा वह कृषि विकास के साथ-साथ बडे पैमाने के औद्योगिक विकास के साथ समन्वित हो।

मै ग्रामीण औद्योगीकरण के विषय मे कह रहा हूँ, न कि ग्रामीण उद्योगो अथवा ग्रामोद्योगो के बारे मे। कुछ और उत्तम साधन प्राप्त न हो जाने तक ग्रामोद्योगो का पुनस्स्थापन और विकास कार्य जारी रखना होगा, उन्हे हमेशा निचली तकनालॉजी तक ही नही रखा जा

सकता। परम्परागत ग्रामोद्योगो के स्थान तथा उन्हे यथावत् सरक्षित रखने की आवश्यकता पर हाल के वर्षो मे काफी भावात्मक, निराधार और प्राय परिभ्रमित विचार व्यक्त किये गये है। इसमे कोई शक नही कि किसी भी ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम की सफलता वैसे उद्योगो के चुनाव पर ही निर्भर करेगी जो कि आर्थिक रूप से जीवित रहने योग्य, प्राणवान हो अथवा जिन्हे शीघ्र ही वैसा बनाया जा सके और जो कि निरन्तर उन्नत तकनालॉजी अपनाने योग्य हो।

सही दृष्टिकोण से विचार करने पर ग्रामीण औद्योगीकरण का उद्देश्य प्रो गाडगिल के शब्दो मे यह होना चाहिए–"देश का औद्योगीकरण अधिकाधिक विकेन्द्रित, छोटे से छोटे पैमाने पर और अधिक से अधिक रोजगारी क्षमता के साथ होना चाहिए जोकि योग्य तकनीक और विकास प्रक्रियाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप हो।" इस सन्दर्भ मे कृषि विकास की चर्चा करते वक्त मै अन्तत कृषि को योग्य व्यावसायिक कार्य के रूप मे विकसित करने के विषय मे सोच रहा हूँ। विकेन्द्रित क्षेत्रीय आधार पर आयोजन के जरिये ग्रामीण क्षेत्रो मे कृषि विकास और औद्योगिक विकास के बीच अधिकाधिक आपसी सहायता और परस्पर निर्भरता लाना सम्भव होना चाहिए। कुछ हद तक ग्रामीण क्षेत्रो मे स्थापित होनेवाले लघु उद्योगो और देश के औद्योगिक केन्द्रो मे जमे बडे उद्योगो के बीच भी आपसी सहायता और परस्पर निर्भरता लाने के लिए आयोजन करना सम्भव है।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को साख योग्य बनाना

ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए ऋण की व्यवस्था करने मे भी वैसी समस्याओ का सामना करना पडेगा जैसा कि कृषि के विकास मे, और कारण भी बहुत-कुछ वही रहेगे। दोनो ही मामलो मे सामान्य बैकिग माप से साख की दर निम्न रहेगी। परन्तु दोनो ही मामलो मे आवश्यक ऋण की व्यवस्था करनी होगी ताकि उनकी साख बढ सके। इससे परिस्थिति की जटिलता सामने आती है, पर साथ ही इस बात का विशाल व्यापक महत्व भी स्पष्ट होता है कि ग्रामीण क्षेत्रो के आर्थिक विकास के लिए एक ठोस योजना अपनाना कितना आवश्यक है जो कि उस अर्थ-व्यवस्था की सारी बातो को ध्यान मे रखते हुए –जैसे बढती आबादी, समग्र रूप से स्रोतो की अपर्याप्तता, गावो मे तकनीकल ज्ञान तथा प्रबन्धकीय योग्यता की कमी, प्रारम्भ मे सीमित बाजारो का होना आदि–उसे चिरविकासशील निवेश-स्तर के लिए एक प्राणवान और साख के लायक अर्थ-व्यवस्था बना दे। ग्रामीण ऋण तो सिक्के का एक ही पहलू है, दूसरा पहलू है ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को साख के लायक बनाना। इन दोनो समस्याओ को सिर्फ इकट्ठे ही हल किया जा सकता है।

विकेन्द्रीकरण

यह प्रश्न किया जा सकता है ग्रामीण क्षेत्रो का जैसा विकास मै चाहता हूँ, उसे कैसे पूरा किया जा सकता है? मेरा उत्तर है कि इसकी प्राप्ति तब तक नही हो सकती जब तक कि लोकतात्रिक राष्ट्रीय सरकार और राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम मे विकेन्द्रित सामाजार्थिक समुदायो के विकासार्थ एक सामान्य नीति नही अपनायी जाती। केन्द्रित उपागम तो असफल ही रहेगा। मै यहाँ इस प्रश्न पर चर्चा नही करूँगा कि क्षेत्रीय विकास के लिए विकेन्द्रित आयोजन किस प्रकार आम तौर पर तथा समग्र राष्ट्रीय आयोजन से पूर्णरूपेण सगत है। मेरी समझ से इस पर तर्क करने की आवश्यकता नही है, क्योकि हमने पचायत राज जैसे दूरगामी और क्रातिकारी विचार अपना कर तथा हमारे विकास कार्यक्रम मे सहकारी सगठन को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कर विकेन्द्रीकरण की नीति स्वीकार कर ली है।

विकास कार्यक्रम की सफलता के लिए सही किस्म के स्थानीय नेतृत्व का विकास बडा ही महत्वपूर्ण होगा और दूरगामी विकेन्द्रित दृष्टिकोण ही ऐसे नेतृत्व का विकास कर सकेगा। पचायत राज योजना तभी सफल होगी जबकि उसमे निहित विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रो मे समान रूप से लागू हो। घोर गरीबी मे जीवन बिता रहे ग्रामीणो को सिर्फ यह कहने से काम नही चलेगा कि पचायत राज सस्थाएँ उनकी है और उन्हे बहुत-से काम दिये जा रहे है, बल्कि उन्हे यह विश्वास हो जाना चाहिए कि ये अधिकारी उनकी आर्थिक समस्याओ को योग्यतापूर्वक सम्भाल रहे है। इस कार्य के लिए उन्हे पर्याप्त आर्थिक-स्रोत प्राप्त करने योग्य होना चाहिए। उन्हे गाँवो मे कृषि-सुधार और उद्योगो के विकास का कार्य देखना होगा जो कि बेकारो तथा अर्धबेकारो को रोजगारी देगा, न कि सिर्फ वे असैनिक कार्य देखने होगे जो कि स्थानीय अधिकारियो द्वारा किया जाता है। ग्रामीणो की आर्थिक अवस्था सुधारने हेतु मै जिला परिषदो और पचायत समितियो द्वारा भी सार्वजनिक स्वामित्व वाले उद्योग आरम्भ किये जाने की कल्पना करता हूँ, जिस तरह कि राज्य सरकारे और केन्द्रीय सरकार भी कुछ सार्वजनिक सस्थान चलाती है।

सहकारी आधार

बेशक इन उद्योगो को वैसा होना होगा, जो कि अधिकतर स्थानीय प्रयासो से विकसित किये जा सके और जिनका प्रबन्ध स्थानीय अधिकारीगण कर सके। इसे फलित होने मे कुछ समय लग सकता है, पर लक्ष्य यही होना चाहिए। इनके अतिरिक्त सहकारी आधार पर गठित अन्य बहुत-से उद्योग होगे। हमारे आयोजन का सामाजिक उद्देश्य यह है कि ग्रामीण क्षेत्रो का विकास, भले ही कृषिक रूप मे हो अथवा औद्योगिक, यथा सम्भव सहकारी आधार पर होना चाहिए। यदि ग्रामीणो को अपने उद्योग स्वय ही विकसित करने है, जोकि अधिकतर अपने ही प्रयासो और स्थानीय स्रोतो पर आधारित होना चाहिए, तो अधिकतर इनका विकास सहकारी आधार पर करने के सिवा और कोई चारा नही दिखाई देता। पर यह समझ लेना गलत होगा कि सहकारी आधार पर सगठन सिर्फ ग्रामीण क्षेत्रो की पिछडी अर्थ-व्यवस्था, जिनकी तकनालाजी उन्नत नही है, तथा ग्राम स्वावलम्बन के आधार पर बिक्री के लिए ही आवश्यक है। सहकारी आधार पर योग्य उत्पादन, ठोस व्यापारिक प्रबन्ध और निरन्तर उन्नत हो रही तकनालाजी का सगठन करना सम्भव है और इसका कई उन्नत देशो मे प्रदर्शन भी किया गया है।

स्रोतों का स्थानीय विकास

अब मै इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न पर आता हूँ कि मेरी कल्पना के ग्रामीण विकास हेतु किस प्रकार पर्याप्त स्थानीय स्रोत उपलब्ध हो सकते है। स्थानाभाव के कारण इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक प्रकाश नही डाला जा सकता। सामान्य उद्देश्य, जिसे कि मै कुछ महत्वपूर्ण समझता हूँ और जो कि मेरी राय मे पर्याप्त वैधता भी रखता है, यह है कि मेरे बताये अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो के विकासार्थ आवश्यक स्रोत का बहुत अधिक भाग गावो मे ही पैदा किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की दीर्घ-कालीन वैधता है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि कुछ समय के लिए बाहरी आर्थिक सहायता की आवश्यकता नही पडेगी। इस तरह की बाहरी सहायताएँ पच वर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत दी जाती है, खास कर सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सहकार, कृषि, ग्रामोद्योग आदि कार्यक्रमो के लिए। मै यह कल्पना करता हूँ कि पूर्ण विकसित हो जाने पर पचायत राज सस्थाओ को कर के रूप मे भी खासी रकम उगाहनी चाहिए। सब कर उनके द्वारा लगाये जाने अथवा उगाहने की आवश्यकता नही है। उदाहरणार्थ भूमि-राजस्व जैसे कर राज्य-कर रह सकते है, परन्तु पचायत राज सस्थाओ को उसम से कुछ हिस्सा मिलना चाहिए। अन्य कर भी वितरित होनेवाले करो की श्रेणी मे आ सकते है। परन्तु पचायत राज सस्थाओ द्वारा लगाये और उगाहे जानेवाले करो की सूची बढती जायेगी और उससे अधिकाधिक राजस्व की प्राप्ति होनी चाहिए। फिर उन्हे राज्य सरकार से ऋण मिलना चाहिए। उन्हे इस योग्य होना चाहिए कि वे बाजार से स्वय भी ऋण प्राप्त कर सके। सहकार आन्दोलन और इसकी बैकिग

पद्धति के मजबूत होने के साथ साथ सहकारी विभाग द्वारा अधिकाधिक निधि प्राप्त की जायगी और विकास कार्यो के लिए प्राप्त होगी—सहकारी सस्थाओ की अश पूजी बढा कर, सरक्षित निधि बना कर, बाहरी साधनो से उधार लेकर।

संयुक्त बैंकिग स्वरूप

पचायत राज सस्थाओ को मेरी कल्पना के अनुरूप विकास कार्यक्रम का कार्यान्वय करने हेतु, जो कि उन्हे अन्तत अपनाना ही चाहिए, बैंकिग सेवा की आवश्यकता होगी जिसे कि सहकारी माध्यम के जरिये उपलब्ध किया जा सकेगा। अब तक हमारा सहकार आन्दोलन प्रधानत कृषि विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने तक ही विकसित हुआ है। काफी हद तक ग्रामीण औद्योगीकरण हो जाने के बाद भी, ग्रामीणो का मुख्य धधा कृषि ही रहेगा। अत मुझे शक है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे उद्योगो के विकास मे सहकारी बेंकिग माध्यम कोई विशेष योगदान दे सकेगा। उसका झुकाव कृषि की ओर ही रहनेवाला है। बाद मे पचायत राज सस्थाओ को कई किस्म की बैंकिग सेवाओ की जरुरत पडेगी, जैसे बढते नकद लेन-देन का प्रबध करने, पूजीगत और सार्वजनिक निर्माण कार्यो के लिए ऋण प्राप्त करने मे मदद देने, उनके उद्योगो के लिए ऋण प्राप्त करने मे मदद देने, उनके उद्योगो के लिए सचालन आदि के लिए।

हमे यह भी ध्नान मे रखना ही चाहिए कि जैसे-जैसे हमारी कृषि व्यापारिक बनती जाती हे, जैसा कि होना ही चाहिए—इसमे लोगो को उच्च जीवन स्तर उपलब्ध करने तथा बढते पैमाने के विकास कार्यक्रम को बनाये रखने के लिए भी—इसे काफी बडे पूजी-निवेश की जरुरत पडेगी। मेरी राय मे हमारे देश मे कृषि के लिए आर्थिक सहायता हेतु सहकारी और व्यावसायिक बैंको का मिश्रित दृष्टिकोण रखनेवाला बैंक कृषको के लिए अधिक उपयोगी होगा। कृषि और ग्रामीण-औद्योगीकरण, दोनो ही के विकास पर आधारित ग्राम विकास की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अन्तत सयुक्त बैंकिग प्रणाली ही लाभदायक होगी।

एक सामुदायिक बैंक की भी आवश्यकता होगी, जोकि पचायत राज सस्थाओ के लिए बैंकर का काम करने और स्थानीय समुदायो के आर्थिक विकास मे सहायता देने के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी हो। यह सुझाव देते वक्त इतना तो मै मान ही लेता हूँ कि पचायत राज सस्थाएँ मेरी कल्पना के अनुरूप विकेन्द्रित स्थानीय अधिकारियो के रूप मे विकसित हो जायेगी। यह आशा करना बेकार है कि बडे-बडे व्यावसायिक बैंको की शाखाएँ यह कार्य कर सकती है। यह भी कल्पना करना कठिन है कि कोई सहकारी समिति अथवा बैंक इतना बडा काम कर सकता है। जिस सामुदायिक बैंक का मै सुझाव दे रहा हूँ, वह सहकारी और व्यावसायिक बैंको दोनो के अच्छे और मजबूत पहलुओ का मिश्रण होना चाहिए। उन्हे बहुत ही विकेन्द्रित आधार पर और स्थानीय अधिकारियो से निकट सम्पर्क रखते हुए कार्य करना होगा। स्टेट बैंक ऑफ इडिया, राज्य वित्त निगमो, सहकारी बैंको तथा अन्य व्यावसायिक बैंको जैसी कई वित्तीय सस्थाओ की भागीदारी मे इन्हे स्थापित किया जा सकता है, जैसे कि चन्द विकास वित्तीय सस्थाएँ स्थापित की गयी है। इस तरह के छोटे बैंको के योग्य ढग से कार्य न करने का कोई कारण ही नही है, यदि स्टेट बैंक ऑफ इडिया और रिजर्व बेंक जैसी अनुभवी सस्थाओ द्वारा उनके नियत्रण और मार्गदर्शन के लिए कोई अच्छी पद्धति निकाली जाय।

अमेरिका मे छोटे बैंक

मै यह स्वीकार करता हूँ कि 'सामुदायिक बैंक' पर मैंने इतना अध्ययन नही किया है कि उसे विस्तृत रूप से बता सकू, परन्तु मै यह महसूस करता हूँ कि यह विचार आजमाने लायक है। सयुक्त राज्य अमेरिका के बैंकिग इतिहास मे—देश के विकास के प्रारभिक काल मे जबकि आबादी पूर्व से पश्चिम की ओर जा रही थी और नये-

नये क्षेत्र बन रहे थे—छोटे-छोटे बैंको ने सामुदायिक बैंक के रूप मे बहुत ही मूल्यावान कार्य किया। नये-नये समुदायो के साथ उनका भी विकास और उत्थान हुआ और उन्होंने उन समुदायो के विकास मे सहयोग दिया। वे जिस समुदाय के बीच कार्य करते थे, उसके प्रति बडे ही ईमानदार थे। इस अमेरिकी बैंकिग पद्धति के अच्छे-बुरे अनुभवो से हम लाभ उठा सकते है। मै मुख्य रूप से यही कहता हूँ कि हमारे ग्रामीण क्षेत्रो का विकास विकेन्द्रित आधार पर और कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के विकास के जरिये करने पर हमे समग्र, विकेन्द्रित, परन्तु योग्य बैंकिग सेवा की—जोकि पूर्णत इस विकास कार्य के लिए ही हो—जरुरत पडेगी। इसकी नीतियॉ, कार्य और कार्य-विधियॉ क्षेत्र की आवश्यकताओ तथा जिसकी सेवा करनी है उसकी अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप होनी चाहिए।

इस विचार का एक अनुसिद्धान्त यह है कि इस बैंकिग स्वरूप को उस समुदाय की बचत और व्यापार का आश्वासन दिया जाना चाहिए, जिसकी इसे सेवा करनी है। जैसा कि मैंने कहा है, ग्रामीण क्षेत्रो को अधिकतर अपने ही साधनो के आधार पर विकसित होना है। लोगो की बचत के लिए आज व्यावसायिक बैंको, सहकारी बैंको, सरकारी अल्प बचत अभियानो के बीच प्रतियोगिता बढती जा रही है। व्यावसायिक बैंक गॉवो मे अपनी शाखाएँ खोल रहे है। यदि बडे रूप मे अन्तत विकेन्द्रित विचारधारा को सफल होना है तो इन माध्यमो के बीच कार्य-क्षेत्र का किसी किस्म का बटवारा होना ही चाहिए। गॉवो मे कार्य कर रही विभिन्न वित्तीय सस्थाओ के बीच काफी सहयोग पैदा करना कठिन नही होना चाहिए, जोकि सब के लिए लाभदायक होगा। रिजर्व बैंक, व्यावसायिक बैंको, विकास बैंको और सहकारी बैंको के बीच इस तरह के सहयोग और समझ-बूझ की आवश्यकता हमारे आर्थिक विकास के अन्तर्गत स्पष्ट होती जा रही है।

बम्बई ६ सितम्बर १९६३

विचार ही मनुष्य को नागरिक बनाता है। इसलिए उसे अपने श्रम की अवधि का ऐसा विभाजन करना चाहिए कि रचनात्मक कार्यो के लिए समय बच सके। यह स्पष्ट है कि मनुष्य जो शक्ति खर्च कर सकता है मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसकी सीमा होती है, परन्तु अपने लिए सरकार उसे शक्ति खर्च करने की जो अनुमति दे सकती है उसकी भी नागरिक, सामाजिक दृष्टि से सीमा होगी। जो लोग यत्र के सचालन व उसकी देख-रेख मे अपनी शक्ति खर्च करते है वे, जैसा कि अरस्तू ने अनुभव किया, जीवन के उच्चतम कार्यो के लिए अयोग्य हो जाते है, बशर्ते कि उनके पास यत्र चलाने व उसकी देखरेख के अलावा दूसरे काम के लिए काफी अवकाश हो। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे कई घण्टो तक काम करने के कारण व्यक्तित्व मे अवरुद्धता का पैदा होना एक आम बात थी और उसके परिणामो की जो जॉच की गयी उससे यह स्पष्ट हो गया है। पुरुष और स्त्रियॉ दिन भर मेहनत करने के बाद जब घर लौटते थे तो थकान के कारण उनकी सोचने-विचारने की शक्ति लुप्त हो जाती थी, यहाँ तक कि उनकी भावनाएँ भी मन्द पड जाती थी। उनके यत्र ही उनके मालिक थे। उनके पास अवकाश नही होता था, जिसमे वे अपने आप को पहचान सके। वे तो केवल लगातार मेहनत के जीवन से ही परिचित थे। समुचित घण्टो तक श्रम करने का अधिकार ही मनुष्य को अपने मस्तिष्क का क्षेत्र पहचानने का अधिकार प्रदान करता है। यह मानव जाति की बौद्धिक विरासत का मूलमंत्र है।

—हॅरोल्ड जे लास्की : ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स

हमारी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था पर खादी का प्रभाव

अरुण चन्द्र गुहा

हमारी सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर खादी तथा ग्रामोद्योग कार्यक्रम का क्या प्रभाव पड़ा है, इसका निर्णय इस दृष्टि से किया जाना चाहिए कि समाज के सबसे गरीब वर्गों को राहत प्रदान करने, उनकी मदद करने में वह किस हद तक सफल हुआ है।

भारत सरकार को खादी-ग्रामोद्योग कार्यक्रम राष्ट्र पिता की प्रत्यक्ष देन के रूप मे मिला है। महात्मा गाधी के नेतृत्व मे स्वतत्रता सग्राम की समस्त अवधि मे इस कार्यक्रम ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उस वक्त प्रत्येक कार्यकर्त्ता खादी व ग्रामोद्योगों का सकल्प लिये हुए था। अतएव समग्र सरकार अथवा सरकार मे उत्तरदायित्वपूर्ण पदो का भार वहन करनेवाले व्यक्तियो का इस कार्यक्रम से भावात्मक सम्बन्ध है तथा वे इसके लिए जिम्मेदार है। किन्तु यह कहना ठीक नही होगा कि भावात्मक सम्बन्ध के कारण ही हमारी सरकार ने इन उद्योगो को प्रोत्साहन देने का उत्तरदायित्व लिया है। भारत एक गरीब देश है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत की प्रति व्यक्ति आय १०० रुपये वार्षिक से कुछ अधिक थी। आज भी लाखो व्यक्ति या तो बेरोजगार है अथवा उन्हे बहुत ही कम रोजगार उपलब्ध है। किसी भी सरकार का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे लाखो बेरोजगार अथवा अल्प-रोजगारी प्राप्त व्यक्तियो के लिए काम का प्रबन्ध करके उनकी प्रति व्यक्ति आय बढाये। काम दिलाऊ दफ्तरो के माध्यम से शहरी बेरोजगारी के कुछ चित्र हमारे सामने है, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रो की रोजगारी की स्थिति का कोई खाका हमारे सामने नही है, वह अनुमान का विषय ही बना हुआ है। तिस पर भी यह मालूम है कि अधिकाश ग्रामीणो के पास वर्ष मे १५० दिन का ही काम रहता है और इस प्रकार उन्हे आशिक रूप से ही काम प्राप्त है।

खादी-ग्रामोद्योग कार्यक्रम बनाने का यही आर्थिक और सामाजिक कारण है। जबसे हम आजाद हुए है, ग्रामीण बेरोजगारो तथा अल्प-रोजगारी प्राप्त व्यक्तियो को रोजगारी का वैकल्पिक साधन प्रदान करने के विचार से हम यह कार्यक्रम चलाते आ रहे है। लगभग १६ वर्ष तक कार्यक्रम चलाने के पश्चात् इस बात का मूल्याकन करना समीचीन ही होगा कि हमारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर इसका क्या प्रभाव पडा है। बडी दृढतापूर्वक ऐसा कहा जाता है कि गत १५-१६ वर्ष मे समाज के सबसे निचले तबके के व्यक्तियो की वास्तविक आय बढी नही है, हो सकता है कि रुपये-पैसे की शब्दावली मे उनकी आमदनी बढी हो, लेकिन जिन सेवाओ तथा सामग्री का वे उपभोग करते है उनकी दृष्टि से नही। अतएव अब इस चीज का मूल्याकन किया जाना चाहिए कि इस कार्यक्रम ने हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप मे क्या कोई परिवर्तन लाया है।

खादी उद्योग

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के नवीनतम वार्षिक विवरण (१९६१-६२) से पता चलता है कि करीब १७ लाख व्यक्ति खादी कार्य मे लगे है तथा उनमे से अधिकाश आशिक समय का काम करनवाले है। इन १७ लाख व्यक्तियो मे कमीशन ने १७ करोड से कुछ अधिक रुपये वितरित किये, इसलिए इन व्यक्तियो की प्रति व्यक्ति आय लगभग १०० रुपये वार्षिक अथवा ८.३३ रुपये प्रति माह हो सकी। जिस देश मे नितल श्रेणी के लोगो की आय करीब आठ-दस रुपये मासिक ही हो,

वहाँ और आठ रुपये की आमदनी कोई नगण्य नही है। तृतीय योजना के प्रतिवेदन मे लगाये गये हिसाब के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगार व्यक्तियो की कुल सख्या १ करोड ७५ लाख (द्वितीय योजना के अन्त मे बचे करीब ६० लाख व्यक्तियो और रोजगारी चाहनेवाले नये १ करोड १५ लाख से कुछ अधिक व्यक्तियो सहित) होगी। यदि खादी कायक्रम ने १७ लाख व्यक्तियो को आशिक काम और औसतन रूप से लगभग १०० रुपये प्रति व्यक्ति वार्षिक आमदनी प्रदान की है तो उसने तकरीबन १० प्रति शत ग्रामीण बेरोजगारो की मदद की है। यह कोई मामूली बात नही है। हॉ, इस हिसाब मे जो असख्य व्यक्ति अल्प-रोजगार प्राप्त है, उन्हे वस्तुत शामिल नही किया गया है।

राज्य मण्डल

समग्र खादी-कार्यक्रम के अन्तर्गत १७ करोड से कुछ अधिक रुपये की खादी बिकी और उसी वर्ष मे कमीशन ने अनुदान तथा ऋण के रूप मे लगभग १८ करोड रुपये वितरित किये। प्रतिवेदन का अध्ययन करने पर पाठक को आश्चर्य होता है कि कमीशन ने १९६१–६२ मे १७ करोड ९३ लाख रुपये वितरित किये और समग्र कार्यक्रम ने खादी का उत्पादन भी १७ करोड ५४ लाख रुपये का ही किया। कोई यह मानने के लिए उद्यत हो सकता है कि यह समग्र रकम खादी-कार्यक्रम मे लगे सूतकारो और बुनकरो को राज्य की तरफ से एक प्रकार से सदावर्त के रूप मे दी गयी। किन्तु मेरी दृष्टि से यह सही मूल्याकन नही है, प्रति वर्ष जो वितरण होता है वह सब का सब सरकार से नही मिलता। इसका कुछ हिस्सा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की कमाई होता है, जिसे खादी का बिक्री मूल्य मिलता है, और उसका कुछ हिस्सा पहले ऋण के रूप मे दी गयी रकम की पुन अदायगी के रूप मे वापस मिलता है। इस सम्बन्ध मे एक चिन्ताजनक बात यह है कि बकाया ऋण की रकम बढती जाती है—फिलहाल ३५ करोड ५८ लाख रुपये बकाया है। यह प्रश्न उठ सकता है कि यह समूची रकम कभी वापिस आयेगी भी या नही।

दो वर्ष पूर्व ससद द्वारा नियुक्त अनुमान समिति ने खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के काम का मूल्याकन किया था। उसने बताया था कि कमीशन ने राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलो को २२ करोड से ज्यादा रुपये दिये, लेकिन उपयोगिता प्रमाण-पत्र केवल १ करोड ४७ लाख रुपयो के लिए ही प्राप्त हुए। अतएव हिसाब-किताब और लेखा-परीक्षण की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि २१ करोड रुपयो का अब भी कोई हिसाब नही है। हम आशा कर सकते है कि राज्य मण्डल अब हिसाब-किताब और लेखा-परीक्षण सम्बन्धी कार्यो के मामले म ठीक से काम कर रहे होगे। हमारा एक दु खपूर्ण अनुभव यह है कि जहाँ कमीशन निष्ठापूर्वक और तहेदिल से कार्य करना चाहता है, वहाँ राज्य मण्डल वैसा ही दृष्टिकोण प्रस्तुत नही करते। राज्य मण्डलो के गठन और कार्य मे प्राय राजनीति की प्रधानता रहती है। हो सकता है कि कार्यक्रम के सचालन का काम राज्य मण्डलो को देने और स्वयम् कमीशन के पास मात्र रुपये-पैसे वितरित करने तथा प्रभावविहीन निरीक्षण या व्यवस्था का अधिकार रखने का निर्णय विवेकपूर्ण नही रहा हो।

हमे डर है कि कमीशन कभी-कभी बहुत ही विस्फुरित कार्यक्रम हाथ मे लेता है। कताई, बुनाई और खादी की बिक्री कमीशन के खादी विभाग का मुख्य कार्यक्रम है, अब उसने उत्पादन और बिक्री का काम राज्य मण्डलो के पास छोडने का तय किया है। लेकिन हम विश्वासपूर्वक नही कह सकते कि कपास उत्पादन मे प्रयोग व अन्वेषण के क्षेत्र मे कदम रखना इसके लिए बुद्धिमानी का काम था। यह काम उपयुक्त अधिकारियो—केन्द्रीय कपास समिति और कृषि मत्रालय—के लिए छोडना चाहिए था। इस काम के अनुपात के आधार पर इस बात के कारण है कि कमीशन को विस्तृत पैमाने पर कृषि-विषयक परीक्षण और अन्वेषण करना पडेगा। इन सबके लिए विशिष्ट माध्यम, सस्थाएँ है।

कुटीरद्योगो मे शक्ति के उपयोग का प्रश्न काफी समय से विचाराधीन रहा है। जहाँ तक हम इस सम्बन्ध मे गाधीजी के विचारो को समझ पाये है, उन्हे इस सम्बन्ध मे कोई आपत्ति नही होती, क्योकि प्राथमिक उत्पादक का श्रम कम करने के लिए उन्होने किसी भी प्रकार की यात्रिक शक्ति का समर्थन किया है। जिस महत्वपूर्ण प्रश्न पर उन्होने बहुत जोर दिया वह यह था कि उत्पादन के साधन और उससे प्राप्त फल पर मिल्कियत कामगार की होनी चाहिए और यह कि उसे इन साधनो का गुलाम नही बना देना चाहिए। हाथ से सिलाई करने के स्थान पर, महिलाओ को सिलाई करने के थका देनेवाले श्रम से बचाने के लिए, सिलाई मशीन के उपयोग को तरजीह देने मे उन्हे कोई आपत्ति नही थी। फिर भी, ग्रामोद्योगो मे शक्ति का उपयोग स्वीकार करने मे कमीशन को काफी हिचक है। कुटीर उद्योगो मे शक्ति के इस्तेमाल के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी थी। समिति ने शक्ति के उपयोग की सिफारिश की, किन्तु प्रतिवेदन से पता चलता है कि कमीशन अब भी हिचकिचा रहा है और "विकेन्द्रित आधार पर शक्ति उत्पादन अथवा जनन के लिए कदम उठाने की" कोशिश कर रहा है।

शक्ति-जनन

कमीशन का विचार है कि "स्थानीय रूप से उपलब्ध सामग्री से विकेन्द्रित आधार पर शक्ति उत्पादन को एक प्राथमिक उद्योग समझना चाहिए।" हमे डर है कि कमीशन एक कठिन मार्ग अपना रहा है, उसके सामने अनेक कठिनाइयाँ आ सकती है। शक्ति उत्पादन के लिए प्राय एकाधिकृत तत्र सरकार—उसका सिचाई मत्रालय तथा उसके सहायक अभिकर्त्ता—है। यह एक विशिष्ट विषय है और सस्ती कीमत पर शक्ति पैदा करने का प्रत्येक उपाय किया जाना चाहिए। इकाई जितनी ही बडी होगी, शक्ति जनन की लागत उतनी ही कम होने की अपेक्षा है।

कुटीरोद्योगो मे एक कमी यह है कि उनका उत्पादन खर्च कारखानो के उत्पादन खर्च से अधिक होता है। लागत कम करने का एक साधन शक्ति का इस्तेमाल है। अब यदि कमीशन के विकेन्द्रित शक्ति उत्पादन के विचार को अमल मे लाया जाता है तो इसका मतलब है कि कुटीर उद्योगो को बिजली के लिए अधिक खर्च वहन करना पडेगा। और फिर, ग्रामीण उद्योग शक्ति के विकेन्द्रित उत्पादन के लिए प्रतीक्षा करते है तो हमे डर है कि उन्हे काफी लम्बे समय तक इन्तजार करना पडेगा। कमीशन गोबर गैस और सौर ऊर्जा के उपयोग पर विचार करता आ रहा है। इस सम्बन्ध मे काफी समय तक प्रचार करने के बाद अब भी यह देखना है कि ग्रामीणो को उक्त योजनाएँ कब वास्तविक सेवाए प्रदान करेगी। प्रात्यक्षिक के तौर पर उत्पादन और व्यावसायिक उत्पादन के मध्य विभेद करना होगा।

निराधार भय

राष्ट्र या राष्ट्र के अपेक्षाकृत गरीब लोगो तक की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करनेवाले मामलो मे बहुत अधिक भावना-प्रधान या सैद्धान्तिक होने से कोई लाभ नही है। कमीशन को यह महसूस नही करना चाहिए कि बडी इकाइयो की शक्ति का कुटीरोद्योगो मे इस्तेमाल करने से वे दूषित हो सकते है। इस सम्बन्ध मे सर्व प्रधान विचार यह होना चाहिए कि शारीरिक श्रम तथा उत्पादन लागत कम हो और फलस्वरूप ग्रामीण कारीगर को कुछ आराम मिले एवम् अधिक प्राप्ति हो। मानवीय श्रम को उचित प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए और उसे पशुवत श्रम नही समझना चाहिए।

हम ने खादी के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है वह प्राय अन्य सभी ग्रामोद्योगो पर समान रूप से लागू हो सकता है। हम सोचते है कि खादी की अपेक्षा हाथ कागज मे शक्ति का उपयोग अधिक आवश्यक है, साबुन उत्पादन मे भी शक्ति के इस्तेमाल से अच्छे फल प्राप्त हो सकते है। यह शका पैदा हो सकती है कि शक्ति के प्रयोग से कार्यक्रम की रोजगारी देने सम्बन्धी क्षमता कम हो जायेगी। किन्तु वस्त्र तथा अन्य उपभोक्ता सामग्री

की अपेक्षाकृत कम पूर्ति होने की वजह से इस प्रकार का डर न्यायोचित नही है। इसके सिवाय बिजली के प्रति जो आपत्ति है उसी आधार पर 'गियर' और 'बाल बियरिंग' सहित चार या छ तकुओ के अम्बर चरखो से भी बचना चाहिए था।

अम्बर चरखा

चरखे मे सुधार करने के लिए कमीशन ने अनेक प्रयोग किये है। अम्बर चरखा कार्यक्रम के भविष्य का मूल्याकन करना लाभप्रद होगा। करीब चार लाख अम्बर चरखे वितरित हुए है। उनमे से दो लाख के करीब चरखे निष्क्रिय पडे है। कमीशन अब उन्हे छ तकुओवाले चरखो मे बदलने और चलाने मे हल्के तथा आसान बनाने के लिए उनकी बनावट मे कुछ सुधार करने की भी सोच रहा है। ऐसा करने से उत्पादन तथा आमदनी बढ सकेगी। इन पुराने चरखो को फिर से दूसरे नमूनो मे बदलने का कार्यक्रम चलाने से पूर्व यह देखना बेहतर होगा कि अन्ततोगत्वा कही अच्छी किस्म के नये चरखो का उत्पादन करना तो सस्ता नही पडेगा। रचनात्मक काम करनेवाले प्रमाणित सगठनो से पुराने अम्बर चरखे वापिस लेने के लिए कहा गया है, लेकिन वे सभी ऐसा करने मे हिचकिचा रहे है।

अम्बर चरखे को उच्च उत्पादकता और अधिक लाभदायक आय करवानेवाले बेहतरीन चरखे के रूप मे बडी आशावादिता के साथ प्रारम्भ किया गया था। 'गियर' और 'बाल बियरिग' से युक्त तथा चलाने मे आसान हो, ऐसे चरखे के लिए आज भी व्यापक क्षेत्र व गुजाइश है। यदि आवश्यक हो तो इस प्रकार के चरखे मे शक्ति का उपयोग किया जा सकता है। ऐसा करने पर हमे कुटीर उद्योग स्तर पर चलाने के लिए एक प्रकार का कताई यत्र मिल जायेगा। बुनाई मे शक्ति का प्रयोग करने के प्रति अब भी प्रतिरोध है। हम मानते है कि हाथ करघे के स्थान पर शक्ति करघे का अर्थ है कार्यक्रम की रोजगारी देने की क्षमता मे कमी, किन्तु हम सोचते है कि कपडे की कोई बहुत अधिक पूर्ति न होने के कारण इस प्रकार का डर परिपूर्णत न्यायसगत नही है।

यह सच है कि रोजगारी के पहलू का महत्व है, लेकिन इसके साथ ही इस बात का भी समान महत्व है कि काम मे लगे व्यक्ति को उस काम से लाभदायक आय का प्राप्त होना सुनिश्चित हो। कमीशन इस सवाल पर विचार कर सकता है कि शक्ति चालित करघो के साथ शक्ति से चलाये जानेवाले कताई यत्र को कुटीर उद्योग का आधार माना जा सकता है या नही। हमे अपना कार्यक्रम इस मान्यता पर आधारित नही करना चाहिए कि निकट भविष्य मे ही बेरोजगारी के परिणाम मे कमी नही होगी। फिलहाल उचित मूल्य पर उपभोक्ता सामग्री की पूर्ति करने का भी बहुत बडा महत्व है। खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम को उस दिशा मे अवरोधक नही बनना चाहिए।

यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत की अर्थ-व्यवस्था इस वक्त एक सघर्ष से होकर गुजर रही है। सघर्ष है उच्च उत्पादन खर्च और वस्तुओ की अपर्याप्त पूर्ति से। इन दोनो बातो से ही ऊँची कीमतो को प्रश्रय मिलता है। इसका परिणाम होता है रहन-सहन का मँहगा हो जाना। उच्च उत्पादन लागत का एक कारण है बेरोजगारी या अल्प-रोजगार प्राप्त व्यक्तियो को काम प्राप्त कराने की आवश्यकता। इसके लिए पूजी-प्रधान उद्योगो के समक्ष श्रम-प्रधान उद्योग कार्यक्रम है। पूजी-प्रधान उद्योग सस्ती कीमत पर सामान मुहैया कर सकते है, लेकिन श्रम-प्रधान उद्योगो का महज अर्थ है अपेक्षाकृत अधिक लागत।

आर्थिक दृष्टि से प्राणवान

द्वितीय योजना-काल मे भारत सरकार ने खादी और ग्रामोद्योगो पर ८७ करोड से कुछ अधिक रुपये खर्च किये। इनमे से ६८ करोड ६८ लाख रुपये अकेली खादी पर खर्च हुए। तृतीय योजना मे खादी व ग्रामोद्योगो के लिए ९२ करोड रुपये का प्रावधान है। यह एक बडा निवेश है। जैसा कि कमीशन के अनुक्रमिक

वर्षो के प्रतिवेदनो से पता चलता है, इस निवेश से उत्पादन भी प्राय उसके बराबर ही होगा। इसमे अन्य उत्पादनो के कुल लागत खर्च और सरकार की कराधान नीति पर भी प्रभाव पडता है। हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि खादी मे निष्ठा रखनेवाले हमारे बुजुर्ग नेतागण धीरे-धीरे कम होते जा रहे है, नये व्यक्तियो का कार्यक्रम के साथ उनके समान ही भावात्मक लगाव नही होगा। इसलिए अब वह समय है कि कार्यक्रम को आर्थिक दृष्टि से प्राणवान आधार पर प्रतिष्ठापित किया जाय।

जैसा कि हम पहले कह चुके है खादी और ग्रामोद्योगो का कार्यक्रम सरकार ने मात्र राष्ट्र पिता की देन के रूप मे हाथ मे नही लिया बल्कि हमारे सर्वाधिक गरीब वर्ग की आर्थिक स्थिति सुधारने के उपाय के रूप में भी। अब इस बात का निर्णय करना है कि राष्ट्र के सर्वाधिक गरीब वर्ग को यह कार्यक्रम कहाँ तक राहत पहुँचाने मे समर्थ हुआ है। कोई यह कह सकता है कि न केवल समग्र राष्ट्र, बल्कि सबसे गरीब वर्ग के भी सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर खादी व ग्रामोद्योगो का इतना प्रभाव नही पडा है कि उससे तृतीय योजाना के पॉच वर्ष मे उन पर ९२ करोड रुपया खर्च करने का औचित्य सिद्ध हो। बडे उद्योगो के हिमायती कह सकते है कि इन ९२ करोड रुपयो की लागत से उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करने के लिए सरकार कुछ कपडा मिले तथा कारखाने स्थापित कर सकती है। फिलहाल कपडे और अन्य उपभोक्ता सामग्री की जो कमी है, उसमे कीमते बढी है। उपभोक्ता सामग्री की कीमते बढना सरकार के लिए गम्भीर समस्या है। उपभोक्ता सामग्री की कमी दूर करने और फलस्वरूप उनकी कीमते कम करने के लिए, कोई कह सकता है कि सरकर को इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या उसे ऐसे कार्यक्रम मे इतनी बडी रकम रोकनी चाहिए, जहाँ उत्पादन अपेक्षाकृत कम होगा, और क्या अपेक्षाकृत अधिक फलप्रद विनियोजन करके उपभोक्ता सामग्री की कमी दूर करने मे सहायता नही करनी चाहिए।

कमीशन तथा खादी व ग्रामोद्योगो के समर्थको को इस सम्बन्ध मे विश्वास दिलाना पडेगा कि इन कार्यक्रमो से उपभोक्ता सामग्री—खास करके ग्रामीणो की कपडे सम्बन्धी—की कमी दूर करने मे वास्तव मे काफी सहायता मिलेगी। न केवल स्थापित उद्योग वरन् समग्र कार्यक्रम आर्थिक ृष्टि से प्राणवान हो, इस पर अधिक ध्यान देना चाहिए। हमारी जनता के सबसे गरीब व्यक्तियो के लिए यह कार्यक्रम है। जनता की विकासोन्मुख उच्चाकाक्षाओ के अनुसार ये व्यक्ति भी अपना जीवन-यापन कर सके, वैसे ही रह सके, उनके साथ कदम मिला कर चल सके—ये सब सुनिश्चित करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए।

नयी दिल्ली　७ सितम्बर १९६३

कर्म युग में अधभक्ति बिल्कुल बेकाम है, प्राय. आकुल करनेवाला है और उतना ही दुखदायी भी।

—महात्मा गाधी

खादी किस ओर?

ध्वजा प्रसाद साहू

विस्तृत पैमाने पर खादी कार्य का विस्तार करने के लिए जन-बल तैयार करना होगा। जनता को इसके विकास का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लेने के लिए प्रोत्साहित करके यह काम हो सकता है। मुफ्त बुनाई का नया प्रस्ताव और ग्राम इकाई कार्यक्रम कार्यकर्त्ताओ को इस दिशा में आगे बढनेके लिए अपना पुरुषार्थ दिखाने का अवसर प्रस्तुत करते है।

पिछले महीने श्री गाधी आश्रम का वार्षिक अधिवेशन अकबरपुर (जिला फैजाबाद) मे हुआ था। आश्रम की ओर से जो प्रतिवेदन पेश किया गया उससे प्रकट हुआ कि पिछले वर्ष के लिए खादी उत्पादन और बिक्री का जितना अनुमान किया गया था, वह पूरा हुआ। फिर भी, अगले वर्ष का जो अन्दाजा लगाया गया था, उसमे काम बढाने का कार्यक्रम नही था। सारे देश की खादी सस्थाओ का प्राय यही हाल है। पुरानी बडी-बडी सस्थाओ की शक्ति सीमा पर पहुँच गयी है और वे काम बढाना नही चाहती। नयी सस्थाओ के पास कार्यक्षम कार्यकर्त्ताओ का अभाव रहता है, खादी बिक्री की परेशानी रहती ही है, इसलिए उनके काम नही बढते। कम्बलो के उत्पादन मे यथेष्ठ वृद्धि हुई है, जिन्हे सेना के इस्तेमाल के लिए सस्थाए बनाती है। सूती खादी का उत्पादन बडी धीमी गति से कही-कही बढ रहा है। ऐसा कहना गलत नही होगा कि खादी उत्पादन की गति ठिठक-सी गयी है। इस स्थित मे खादी की गति को देख कर इसके भविष्य के बारे मे चिन्ता होती है। कहावत है जो लडका न बढता है और न मोटा होता है वह मर जाता है। तो क्या खादी का भी वही हाल होनेवाला है?

रिबेट कोई हल नहीं

खादी सस्थाओ के बहुत-से जिम्मेवार व्यक्तियो की यह राय है कि आज जो प्रति रुपया बीस नया पैसा रिबेट दिया जाता है, उसको क्रमश बढाते जाना चाहिए, जिससे खादी सस्ती हो और उत्पादन बढाया जा सके। यह सोचने की बात है कि जब मिल के कपडे से खादी का दाम दुगुना-तिगुना और उससे भी ज्यादा है तो रिबेट बढाते जाने से क्या खादी स्थायी बन सकती है और क्या सरकार को इतनी रकम देने के लिये तैयार कियाजा सकता है? मै समझता हूँ कि जब तक बुनियादी दृष्टि से इस पर विचार नही किया जायेगा, तब तक चाहे जितनी भी रिबेट की रकम बढाई जाय—जिसकी प्राप्ति की बहुत कम सम्भावना है—खादी की जड मजबूत नही बन सकती। खादी के लिए आज जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित है। इस पर खादी प्रेमियो को गभीरता से विचार करना चाहिए और मजबूती के साथ ठोस तथा क्रातिकारी कदम उठाना चाहिए।

मुफ्त बुनाई

खादी का विकास आज जिस मद गति से हो रहा है उससे आचार्य विनोबा भावे को सतोष नही है और वे यह अनुभव करते है कि बिना क्रातिकारी कदम उठाये खादी को जीवित नही रखा जा सकता। इसीलिए वे खादी सस्थाओ को रिबेट छोडने के लिये सलाह दे रहे है। पडोसी के लिये त्याग करने की भावना यानी 'पडोसी धर्म' के पालन पर ही खादी टिक सकती है। इसे जिन्दा रखने के लिए वही भावना एक मात्र इसका सहारा हो सकती है। नवद्वीप मे विनोबाजी के सम्मुख खादी सस्थाओ के प्रतिनिधियो ने रिबेट छोडने की तत्परता बुनाई सहायता देने की शर्त पर दिखलाई। विनोबाजी ने

मध्यम मार्ग समझ कर उसे मजूर किया। उसमे उन्हे दीख पडा कि खादी की प्रगति पर्याप्त मात्रा मे हो सकेगी। वे मानते है कि बुनाई सहायता से खादी व्यापक बन सकती है और व्यापकता से शक्ति पैदा होगी। आज की खादी अपने अथवा जनता के बल पर नही चल रही है। खादी आज बापू के पुण्यार्थ और सरकार की कृपा से चल रही है। खादी के प्रसार के लिए जनता की शक्ति का आवाहन् करना होगा। इसके लिए सस्थाओ का स्वरूप बदलना होगा, जिसके लिए सस्थाओ के पास काफी जन-बल है। आवश्यकता है सस्थाओ के सचालक खादी के काम को जनता के हाथ देदेने, सौपने का सकल्प करे और उसके लिए तैयारी करे। बुनाई सहायता पुरुषार्थ करने का काफी मौका दे रही है।

कार्यकर्त्ताओं की भूमिका

आज देश मे हजारो सस्थाओ द्वारा करीब एक लाख गॉवो मे खादी का काम हो रहा है। कुल मिला कर ३०–३५ हजार खादी कार्यकर्त्ता सारे देश मे फैले हुए है। मेरा अन्दाज है कि इनमे से २०–२५ हजार कार्यकर्त्ता ऐसे निकल सकते है जो एक-एक करके पाच हजार आबादीवाली एक-एक पचायत मे सघन रूप से चर्खे का प्रचार कर सकते है और खादी का विचार जनता को समझा कर जो खादी गॉव मे बनेगी उसका अधिकाश हिस्सा वही खर्च हो, इसकी दीक्षा दे सकते है। गॉव मे उद्योग देकर बेकारी निवारण करने की जिम्मेवारी ग्राम पचायतो की है, यह समझाना आवश्यक होगा। पचायत स्तर पर सस्था खडी हो और उसकी जिम्मेवारी गॉव के लोग ले, इस भावना से खादी कार्यकर्त्ताओ को काम करना होगा। जिन बीस-पच्चीस हजार कार्यकर्त्ताओ का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमे से बहुत-से लोग गॉवो के रहनेवाले होगे। वे अपनी-अपनी पचायतो की जिम्मेवारी ले सकते है और अडोस-पडोस के गॉवो मे अपने उदाहरण से वातावरण बना सकते है। जन-शक्ति को जगाने और उसे सगठित करने के दूसरे कारगर उपाय भी सोचे जा सकते है। मैने जो सुझाव दिये है, वे थोडे-बहुत अनुभव के आधार पर दिये है, लेकिन मेरी दृष्टि मे आज की स्थिति को कायम रखना खादी के विकास के लिए घातक होगा। हम लोगो को सोचना होगा कि खादी को जनता का बल किस प्रकार प्राप्त हो।

कमीशन का **ग्राम इकाई** कार्यक्रम इस दिशा मे जाने का एक ठोस कदम है। यद्यपि इकाइयो का लक्ष्य बहुत ऊँचा रखा गया है, जहॉ तक पहुँचने मे काफी समय की आवश्यकता है। फिर भी, प्रारम्भ मे प्रगति का जो मापदण्ड इकाइयो के लिए निर्धारित किया गया है वह केवल इकाई के अन्दर रहनेवाले प्रति व्यक्ति एक गज खादी के इस्तेमाल का ही है। नयी इकाइयो मे इस छोटे-से कार्यक्रम को भी पूरा करने मे समय लगेगा। उसे प्रत्येक खादी सस्था अपने उत्पादन केन्द्र के गॉवो मे आसानी से पूरा करती हुई जनता को जिम्मेवारी उठाने के लिए प्रेरित कर सकती है।

जहॉ कताई, वही बुनाई

बुनाई की छूट से सस्थाओ के ऊपर एक बडी जिम्मेवारी इस बात की आ जाती है कि जहाँ कताई हो वहाँ बुनाई का भी प्रबन्ध किया जाय। यह काम कठिन अवश्य है, पर दु साध्य नही । जहाँ पेशेवर बुनकर है, वहॉ यह आसान है। लेकिन जहॉ पर पेशेवर बुनकर नही है, वहॉ पर नये व्यक्तियो को बुनाई का काम सिखाना होगा। पहले का अनुभव यह रहा है कि जिन लोगो ने यह काम सीखा उन्होने इसे अपना पेशा नही बनाया। इससे बहुत लोगो को शका होती है कि यह कार्यक्रम सफल होगा या नही। इसके विपरीत दूसरा भी अनुभव है कि कई लोगो ने यह काम सीखा और वे अच्छी तरह से उसे (बुनाई) कर रहे है। ऐसे व्यक्तियो का चुनाव करना होगा जिनको काम की भूख हो। बिना भूख के काम लादने से असफलता ही हाथ लगती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हजारो अम्बर चरखो का बैठ जाना है। कठिनाइयॉ अनेक है, लेकिन साथ ही पुरुषार्थी आदमी को कोई भी कठिनाई आगे बढने से नही रोक सकती।

पटना २० अगस्त १९६३

खादी का भविष्य

रामकृष्णराव कृ. पाटिल

खादी जब तक समुदाय के जीवन का अविभाज्य अंग नही बन जाती, तब तक वह जीवित नही रह सकती। व्यापारिक खादी के लिए बहुत ही सीमित क्षेत्र है।

खादी-कार्य के पीछे अतत क्या उद्देश्य है ? क्या इसका उपयोग जीवन के नये मूल्यो को लेकर नये समाज की रचना करने के साधन के रूप मे किया जाने-वाला है अथवा जरूरतमद लोगो को रोजगारी, खासकर सहायक धधा, मुहैया करने के रूप मे ही इसका उपयोग है ? इस कार्य सम्बन्धी स्पष्ट धारणा का अभाव ही भ्रम उत्पन्न करने और खादी कार्यकर्त्ताओ के बीच के मतवैभिन्य के लिए भी जिम्मेवार है। निरुत्तर हो जाने पर उनमे से कुछ लोग कहते है कि उनका उद्देश्य तो रोजगारी या सहायक धधे के रूप मे खादी-कार्य करने का है, खादी को नये समाज के नये मूल्यो का वाहक बनाने की जिम्मेवारी अखिल भारत सर्व सेवा सघ या दूसरी सस्थाएँ उठाये। परतु इस तरह जो लोग दलील करते है, वे यह महसूस नही करते कि इस दृष्टि से तो वे गाधीजी के नाम का उपयोग करने और इस प्रकार से व्याख्यित खादी के साथ उस नाम को जोडने के हकदार नही हो सकते ।

नव संस्करण

प्रारभ मे सन १९२० से १९२९ के काल मे जब खादी-कार्य आरभ हुआ, गाधीजी की इस काम के पीछे जो भी दृष्टि रही हो, बाद मे, सन् १९४० के पश्चात् जब उन्होने खादी कार्य का नवसस्करण किया, तब उनके सामने खादी सबधी लक्ष्य बिल्कुल स्पष्ट था। जब उन्होने कहा कि "कातो, समझ बूझ कर कातो, जो काते वह पहने और जो पहने वह काते " आदि, तो यह बात स्पष्ट थी कि खादी मे सम्बन्धित नयी दृष्टि के बारे मे उनका मतव्य क्या है। वे चाहते थे कि शातिमय सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप मे खादी-कार्य किया जाय, जो हमे अहिसक अर्थात् शोषण-रहित समाज की स्थापना की दिशा मे अग्रसर करेगा। यही मूल है और जो खादी कार्यकर्त्ता पूर्ववत खादी कार्य जारी रखना चाहते है, वे शीघ्रातिशीघ्र इस बुनियादी बात को समझ ले । तब न सिर्फ वे अपनी अन्तर्निहित कमजोरी का अनुभव कर सकेगे, बल्कि कदाचित वे वैकल्पिक उद्देश्य के सबध मे विचार करने और उसको परखने की ओर भी प्रवृत हो सकेगे।

मूल्यांकन समिति का दृष्टिकोण

जब खादी की मूल्याकन समिति ने खादी कार्य की प्रगति के बारे मे अपना विवरण पेश किया, और कुछ आलोचको की राय मे खादी के उत्पादन और वितरण के क्षेत्र मे हुई भारी प्रगति के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा खादी कार्यकर्त्ताओ को यथोचित श्रेय देने मे वह असफल रही तो मौजूदा उपलब्धियो पर निर्णय देने की बनिस्बत उसे (समिति को) खादी काम के भविष्य के बारे मे ही विशेष रूप से अपनी राय प्रकट करनी थी। उसकी मुख्य आलोचना यह थी कि खादी-कार्य एक तो कुछ पम्परागत क्षेत्रो तक ही सीमित हो गया है और दूसरे, वहाँ भी ग्रामीण समाज के जीवन से वह एकरूप नही हो सका है । उसने अनुभव किया कि खादी का भविष्य तभी सुरक्षित रह सकता है जब वह ग्राम जीवन से पूर्णत एकरूप हो जाय। यही मत पूसा सम्मेलन द्वारा प्रकट किये गये वक्तव्य मे भी स्वीकार किया गया। उसमे कहा गया कि खादी-कार्य को नया

मोड दिया जाना चाहिए, ताकि उसमे बुनियादी बातो का समाधान हो सके। इसीलिए ग्राम इकाई का कार्यक्रम बना और वर्तमान खादी-कार्य सघन रूप से स्थापित ग्राम इकाइयो को हस्तातरित करने का निर्णय किया गया।

उद्देश्यो से सम्बन्धित इन दृष्टि भेदो के बारे मे अब मै चर्चा नही करूँगा । मै यह मानता हूँ कि जिनके मन सदिग्धावस्था मे है, उन्हे भी यदि यह कहा जाय कि जैसा काम आज वे कर रहे है, उसमे वे गाधीजी के नाम का उपयोग तो नही कर सकते, तो इसमे वे कुछ तथ्य ही अनुभव कर सकेगे । परन्तु नये उद्देश्यो की हार्दिक स्वीकृति भी विशेष उपयोगी तब तक नही बन सकती, जब तक इस बात की स्पष्ट अनुभूति न हो जाये कि इस नये दृष्टिकोण की उपलब्धि के लिए खादी कार्य का पुनरुत्थान किस प्रकार से होना चाहिए । नया समाज क्या है और उसके नये मूल्य कौन से है ? इस नये समाज मे शोषण नही होगा और नये मूल्य वे है, जिनके अनुसार सामाजिक रूप मे उपयोगी सभी कार्यों का पारिश्रमिक समान या करीब-करीब समान होना चाहिए, ताकि इस समाज के सदस्य अन्य लोगो की तरह ही रह सके । अर्थात्, अन्नोत्पादन, वस्त्रोत्पादन, तेल-उत्पादन, बढई-गिरी, लुहारी आदि कामो मे समान रूप से पारिश्रमिक दिया जाय, क्योकि ये सभी काम समाज-जीवन बनाये रखने की दृष्टि से समान रूप से आवश्यक है। "उपयोग के लिए उत्पादन" का सही अर्थ यही है।

ग्रामदान के साथ सम्बंध

एक समाज अपनी आवश्यकताओ के लिए उत्पादन करता है और जो लोग उत्पादन करते है, वे उसमे हिस्सा बॅटाते है। इससे कुछ निष्कर्ष पर आना पडता है। सर्वप्रथम, सबमे सामाजिक भावना होनी चाहिए । इसीलिए, पश्चिम बगाल के नवद्वीप स्थान मे खादी कार्यकर्त्ताओ के सामने बोलते हुए विनोबाजी ने अपने भाषण मे बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा था कि खादी कार्य का तब तक कोई भविष्य नही है, जब तक कि वह खेती के साथ न जुड जाय। खादी का अर्थ केवल रोजी के लिए कताई या स्थानीय रूप से कपडे का उत्पादन और खपत नही है । प्राथमिक रूप से वह समाज द्वारा अपने निज के उपयोगके लिए किया हुआ वस्त्रोत्पादन है । यह विचार अमल मे लाने की दृष्टि से जरूरी है कि समाज के मुख्य साधन-स्रोत समुदाय के ही पास हो। अब, जब तक कि मनुष्य के पास उसकी अपनी भूमि है, वह समाज के विरुद्ध भी उसे अपने पास रखता है । परन्तु एक बार समाज को भूमि दे देने के बाद वह समाज के लिए ही उसकी देखभाल करता है । वस्तुत फिर यह बात कोई खास महत्व की नही रह जाती है कि दान के पहले एव पश्चात् उसकी भूमि-सीमा मे क्या परिवर्तन होता है और किस हद तक वह अपनी जमीन मे दूसरो के साथ हिस्सा बॅटाता है । अगर, वह ऐसा नही भी करता है, तो भी यह तथ्य कि अब वह समाज के लिए भूमि रखता है, उसके दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन ला देता है। पहले वह 'अपनी' भूमि जोतता था। अब वह समाज की भूमि को जोतता है। अब भी उसके अपने लिए भूमि की जुताई तो जारी ही है, परन्तु जैसा कि विनोबाजी बारबार कहते है, समाज को भूमि-दान करना ही अपने आप मे एक ऐसी सामाजिक चेतना जागृत करा देता है, जिसको और भी आगे विकसित करते रहना आवश्यक है। इसीलिए वे इस बात पर जोर देते है कि ग्रामदानी गॉवो मे खादी कार्य प्राथमिकता के आधार पर शुरू हो जाना चाहिए । और, यदि वह अन्यत्र भी चल रहा हो, तो वहाँ भी उसे बद नही करना चाहिए । परतु आवश्यकता केवल इस बात की है कि कार्यकर्त्ता यह समझे कि वह कार्य सिर्फ अपने बल पर नही टिक सकता और देर-अबेर उसे भूदान-आधारित होना ही है । अत व्यवहार मे खादी-कार्य को भूदान और ग्रामदान ओर भूदान-ग्रामदान को खादी के प्रचार के साथ-साथ चलना ही होगा।

अल्प उपयोगार्थ उत्पादन

समाज का अपने निज के उपभोग के लिए वस्त्रोत्पादन ही इस बात की एकमात्र गारटी है कि उसकी उत्पादन की लागत के बारे मे बहुत अधिक सतर्कता बरते

बिना भी यह कार्य सतत जारी रह सकता है। एव केवल इन्ही परिस्थितियो मे ही यह खुले बाजार मे मिल कपडे की प्रतिस्पर्धा मे खडा रह सकता है। कोई भी किसान अपने घर मे उत्पादित चावल या गेहूँ की लागत देखने नही बैठता। इसी तरह, जहाँ समाज ने अपना कपडा खुद बनाना तय किया कि वह स्वाभाविक रूप से उसके पास उपलब्ध सभी उच्चतम कुशल साधनो से लाभ उठाएगा, परतु इसके उपरात, वह इस बात की फिक्र नही करेगा कि इन वस्त्रो के उत्पादन की लागत क्या आती है और इन कपडो का बाजार-भाव क्या है। जैसा कि स्वर्गीय डॉ जे सी कुमारप्पा अक्सर कहा करते थे, 'हम जब हलुवा खाना चाहते है, तो हम उसे तैयार करके खा लेते है। हम यह नही देखने जाते कि उस पर हमे क्या लागत बैठी और न हम यही तुलना करते है कि बाजार से यह हमे किस कीमत पर प्राप्त हो सकता था।'

काल्पनिक जगत

समाज द्वारा निर्मित कपडे के उत्पादन के बारे मे भी यही स्थिति आनी चाहिए। यहाँ फिर समाज का ही निर्णय महत्वपूर्ण है। क्योकि केवल उन परिस्थितियो मे ही, जिनमे समाज यह तय करता है कि अपने लिए वह अन्न और वस्त्र का उपयोग करेगा, इस तरह का तरीका उपयोगी हो सकता है। समाज का इस प्रकार का निर्णय कार्यरूप मे तभी आ सकता है, जब श्रम-विभाजन के सिद्धात का अनुसरण किया जाय। समाज मे कुछ लोग अन्नोत्पादन करेगे, तो कुछ लोग वस्त्रोत्पादन करेगे। दूसरे कुछ लोग मिट्टी के बर्तन बनायेगे। ऐसे यह प्रक्रिया चलती रहेगी। परतु चूकि कुम्हार को अन्न-वस्त्र की जरूरत है और किसान को बर्तन और कपडो की तथा बुनकर को अनाज और बर्तन की, इसलिए सबका उत्पादन हरेक अपनी आवश्यकतानुसार पायेगा। यह व्यवहार मे, वस्तुओ के आदान-प्रदान के रूप मे भी चल सकेगा या पारिश्रमिक तय करके मुद्रा-विनिमय के रूप मे भी। आलस्य और निठल्लेपन को रोकने के लिए उत्पादन की मात्रा के साथ पारिश्रमिक को जोडना होगा। लेकिन यह बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समाज के भीतर, समाज द्वारा निर्मित वस्तुओ के लिए बाजार की व्यवस्था होगी।

इसका अर्थ होता है, व्यक्ति के पारिवारिक जीवन का ऐसा विस्तार, जिसमे समस्त ग्राम-समुदाय समाविष्ट हो जाय। पर क्या यह कभी सभव भी है ? और अगर यह सभव है, तो इसमे और सामूहिक (कलेक्टिव) जीवन के बीच क्या अनर रहेगा ? पहले प्रश्न का उत्तर निश्चयात्मक रूप से देना जरा कठिन है। ऐसे कुछ गॉवो की ओर, जहॉ ग्रामदान के पश्चात इस प्रकार घटित हुआ है सकेत करके ही इसकी मिसाल दी जा सकती है। इन गॉवो मे तो यहॉ तक देखा गया है कि ग्राम समुदाय के वे सदस्य, जिन्हे गॉव के बाहर रोजगारी प्राप्त थी, उन्होने अपने ग्राम-समुदाय द्वारा निर्धारित वेतन स्वीकार किया और अपनी उस आय की शेष रकम ग्राम-समुदाय को अर्पित कर दी। यह सब कुछ काल्पनिक या अव्याव-हारिक दिखाई दे सकता है। एक अर्थ मे यह ऐसा है भी।

इजरायल मे ऐसी ही करीब ३०० बस्तियॉ अपने आर्थिक जीवन का उत्तरोत्तर विकास करती जा रही है और वे गत ४० वर्षो से वहॉ विद्यमान है। इस कार्य की पृष्ठभूमि मे जो आदर्शवादिता है, उसे अस्वीकार नही किया जा सकता, परतु यह उदाहरण इस बात की ओर सकेत करता है कि अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग हो रहे है। आदर्शवादिता के दृष्टिकोण से सभी परिवर्तन—मुख्यतया सामाजिक और आर्थिक सगठन मे क्रानिकारी परिवर्तन—हमेशा आदर्शवादी ही दिखाई देते है, खासकर उन लोगो को, जिनके दिमाग नये अपेक्षित परिवर्तनो को ग्रहण करने के लिए तैयार नही है। इस अर्थ मे, भूदान, ग्रामदान और ऐसे ही अन्य नये परिवर्तन, जैसे कि सहकारी खेती का कार्यक्रम, आदर्शवादी महसूस हो सकते है। परतु सिर्फ इसी कारण उद्देश्य को तो नही छोड देना चाहिए।

इच्छा स्वातंत्र्य

पर स्पष्टतया ऐसे समुदाय (कम्युनिटी) मे ओर सामू-हिकता (कलेक्टिव) मे अन्तर होगा। दोनो मे समानता

इतनी ही है कि दोनों में ही व्यक्ति सामाजिक नियम-व्यवस्था, खासकर अपने आर्थिक जीवन के नियम, स्वीकार करता है। परन्तु व्यक्ति द्वारा उसकी स्वेच्छापूर्वक स्वीकृति के अलावा, समुदाय अपना आर्थिक जीवन अपने इच्छानुसार, आयोजित करने में भी स्वतन्त्र रहेगा, जो कि सामूहिकता से सर्वथा भिन्न होगा, जो 'राज्य' के नाम से पहचाने जानेवाले विशाल समुदाय के लाभ के विचार से ही नियन्त्रित होता है। अर्थात् इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समुदाय के हित तथा क्रिया-कलाप सदैव राज्य के हितों व क्रिया-कलाप से विपरीत होंगे। फिर भी, समुदाय मुक्त व्यवसाय के विचारों से मार्ग-दर्शित होकर अपने उत्पादन और खपत का आयोजन खुद करने में स्वतन्त्र होगा।

दोषपूर्ण आयोजन

कुछ खादी-कार्यकर्त्ताओं का मत है कि अम्बर चरखे के आगमन ने खादी तकनीक में ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है कि अब खादी का उत्पादन और बिक्री बड़े पैमाने पर हो सकेगी। पर यह दृष्टिकोण खादी के बृहत् उत्पादन और बिक्री के विचार पर अधिक आधारित है, न कि समुदाय के जीवन के साथ खादी को एकात्म करने के विचार पर। इस पर भी इस दावे में बहुत अतिशयोक्ति है और, इस धारणा को अंगीकार करने के फलस्वरूप ही, दोषपूर्ण आयोजन हुए हैं। खादी-कार्य के लिए इससे बढ़कर क्लेशकारी और नैतिक अवनति की बात और क्या हो सकती है कि विशाल संख्या में अम्बर चरखे उत्पादन केंद्रों में बेकार पड़े हैं।* शायद ही भविष्य में उनका उपयोग ठीक से हो सकेगा और संभवतः रद्दी माल के रूप में वह बेच देना होगा। अम्बर चरखा यद्यपि अधिक रोजगारी दे सकता है और खादी की कीमत घटा सकता है, फिर भी अम्बर खादी और मिल के सामान्य कपड़े के दाम में अब भी उतना अधिक अन्तर है कि एक अनिश्चित मर्यादा के पश्चात् संभवतः वह बाजार में नहीं खपायी जा सकेगी। और, इस धारणा की भी, कि अम्बर चरखे का काम बढ़ाने से कताई द्वारा काफी हद तक रोजगारी की समस्या को हल किया जा सकता है, कुछ सीमाएं स्पष्ट हैं। अम्बर चरखे तक पहुंच जाने मात्र से कताई को पूरक रोजगारी देनेवाले धंधे की स्थिति पर से नहीं हटाया जा सकता, क्योंकि उसका बाजार में लाने के लिए अभी भी राज्य की सहायता अपेक्षित रहेगी।

केवल कताई से नहीं

और जब कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को रोजगारी देने की जिम्मेदारी राज्य की मान ली गयी है, तब ऐसी रोजगारी केवल कताई के जरिये ही दी जानी चाहिए, ऐसा कहना एक सर्वथा भिन्न बात होगी। राज्य के पास रोजगारी मुहैया करने के अलग-अलग कई क्षेत्र हैं। वह इस बात पर जोर दे सकता है कि जहां तक सारे स्वस्थ लोगों का संबंध है, अन्य सभी उपायों का पूरा उपयोग ले लेने के पश्चात् ही, कताई रूपी साधन का उपयोग रोजगारी के लिए किया जा सकता है। अतएव यह शर्त, कि अम्बर चरखे पर कता सभी सूत सरकार को ऐसे दामों पर खरीद ही लेना चाहिए कि जिनमें सूतकारों को पूरा जीवन वेतन मिल जाय, सरकार द्वारा तभी स्वीकार की जा सकती है, जब ऊपर बतायी हुई स्थिति आ जाय। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि खादी-कार्य कमोबेश ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का स्थायी अंग तभी और केवल तभी बना रह सकता है, जब हर ग्रामीण समुदाय यह स्वीकार

*पिछले दो वर्षों में, जितना संभव हो सका, कमीशन ने इन बेकार पड़े अंबर चरखों में से अधिकतम् चरखे चालू करने की दृष्टि से कई कदम उठाये हैं। अन्य योजनाओं के साथ-साथ उस योजना का भी उल्लेख यहां कर देना उचित होगा, जिसके अनुसार अंबर चरखों के नवीनीकरण की प्रक्रिया के साथ उन्हें हलका बनाने के भी प्रयत्न किये गये हैं और जहां सूतकारों द्वारा अधिक घंटों तक सूत कातने की स्थिति हो, वहां मौजूदा ४ तकुओं के अंबर चरखों का रूपान्तर ६ तकुओंवाले चरखों में भी किया जाता है। दिनांक ३१ जुलाई १९६३ तक कमीशन ने ऐसे २६,७०५ चरखों का नवीनीकरण कर दिया है और १०,५०१ चार तकुएवाले चरखों को ६ तकुएवाले चरखों में बदल दिया है।
—सम्पादक

कर ले कि चरखा एक ऐसा साधन है, जो उसे वस्त्र दे सकता है और इसलिए वह उसे ग्राम समाज की अन्य आर्थिक प्रवृत्तियो मे मिला लेता है।

खादी के उद्देश्य

कुछ विचार करने पर यह दिखाई देगा कि ऐसी एकरूपता या समग्रता चालू पारिवारिक अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर सामुदायिक अर्थ-व्यवस्था की स्थापना का निर्देश करती है। उत्पादन और वितरण की व्यवस्था अन्य समुदाय द्वारा ही आयोजित होनी चाहिए, न कि आज की तरह व्यक्तिगत रूप से। खादी-कार्य को ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का स्थायी अग बनाने के पूर्व उपर्युक्त परिवर्तन ग्रामवासियो के मानस मे लाना होगा। ऐसा ही उत्पादन राज्य की सहायता के बिना अपने पैरो पर खडा रह सकता है, जबकि केवल रोजगारी देनेवाली खादी अपने अस्तित्व के लिए राज्य की सहायता पर और महात्मा गाधी द्वारा इसके लिए किये गये पुराने प्रयत्नो पर ही निर्भर रहती है। ये दो स्थितियाँ जब तक रहेगी, तब तक ही खादी टिक सकेगी।

उत्पादन और बिक्री मे अस्थायी वृद्धि हो जाने और खादी भडारो के स्थान पर खादी भवन बन जाने से ही खादी कार्यकर्त्ताओ को अपनी कार्यपूर्ति की गलतफहमी नही होनी चाहिए। खादी-कार्य के मूल उद्देश्य की यह पूर्णता नही है, वह तो, जैसा कि ऊपर कहा गया है, नये मूल्यो सहित नये समाज के निर्माण करने का कार्य है। महात्मा गाधी का यही स्वप्न था, जो अब तक अपूर्ण रहा है। ऐसे कुछ क्षेत्र, जहाँ समुदाय ने खादी को अपना वस्त्रभरण पूरा करने के एक साधन के रूप मे स्वीकार कर लिया और फिर अपने ग्रामीण जीवन के साथ उसे एकरूप बना लिया है, खादी के आदर्श को अधिक अच्छी तरह प्रचारित कर सकेगे, न कि कृत्रिमता से बढा हुआ उत्पादन और करोडो रुपयो की खादी की बिक्री। इसमे तो खादी कार्यकर्त्ताओ मे स्वार्थो की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी है। और जो मूलभूत उद्देश्य उनके सामने सतत रहना चाहिए था, उसके बारे मे उनमे सभ्राति पैदा हो गयी है।

नागपुर १८ जुलाई १९६३

हमारे आनन्द और अवसाद सही मानो में ऐतिहासिक घटनाएँ है जो कि, राजनीतिक इतिहास मे कितने भी छोटे क्यो न हो, सामूहिक रूप से भविष्य के परीक्षण हेतु अत्यावश्यक है। अधिकारो के कार्यकारी सिद्धान्त का अर्थ है कि हमे अधिकार दिये जाते है ताकि हम अपनी सामाजिक विरासत मे और अभिवृद्धि करे। हमे पाने का नही, करने का अधिकार है। माना कि हमारा समाज कल्याण कोष मे योगदान कम अथवा अधिक होगा, फिर भी योगदान के माध्यम तो रहेगे ही।

—हॅरोल्ड जे लास्की : ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स

खादी का मिशन

झवेरभाई पटेल

खादी अपने वर्तमान रूप मे हमारी अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी और आवश्यक समस्याओ को हल करने मे असफल रही है। विनोबाजी इसे **अकाली खादी** कहते है। खादी कार्य का सगठन इस रूप मे किया जाना चाहिए कि उससे कारीगरो का ज्ञान, शक्ति और चैतन्य बढे। ऐसा अस्तित्व के लिए उनके सघर्ष को कम करके ही किया जा सकता है। हमारे गॉवो को भी बड़ी और प्राणवान आकार की कार्यकारी इकाइयो मे पुनर्गठित करना होगा ताकि ग्रामीणों का दृष्टिकोण व्यापक बने और उन्हे विकास के अवसर प्राप्त हो।

अब वह समय आ गया है जब खादी के सिद्धान्त पर फिर से रौशनी डाली जाय। सन् १९४७ मे गाधीजी ने कहा था "बहुत-से रचनात्मक कार्यो पर अब तक राजनीति से अलग रह कर अमल किया जाता रहा है। कॉग्रेस के हुकूमत मे आने के बाद, मत्रीगण अगर चाहते तो अपने अनुभवो (रचनात्मक कार्यकर्त्ता की हैसियत से) का फायदा उठा सकते थे और अब तक जो कुछ वे प्रयोग के रूप मे करते रहे, उसे मुल्क भर मे फैला सकते थे।" दो पच वर्षीय योजनाओ की अवधि मे खादी कार्यक्रम को अमल मे लाने का हमने १० साल से ऊपर का तजुरबा हासिल किया है और अब हम इस स्थिति मे आ गये है कि इस बात की जॉच कर सके कि खादी के मिशन को पूरा करने मे यह कार्यक्रम कहॉ तक प्रगति कर सका है अथवा सही दिशा मे चल भी रहा है या नही।

खादी का असल मिशन क्या है? खादी की 'श्रुति' और 'स्मृति' क्या हे? क्या समय-समय पर खादी कार्यक्रम इस मिशन की रौशनी मे बनाये और मूल्याकित किये जाते है?

अधूरा विचार

गाधीजी ने खादी की श्रुति की व्याख्या एक स्पष्ट सूत्र मे की है—**खादी कपडा नही, विचार है**। स्पष्टत, अपने समय की स्थिति की सीमाओ के अन्दर वे अपने सूत्र की पेचिदगियो की पूरी गणना नही बैठा सके। उस समय के हालात के मुताबिक वे सिर्फ सीधी-सादी उत्पादन-तक्नीक ओर किसी रूप मे सगठन खडा करने का पहला कदम ही उठा सके।* गाधीजी का खयाल था कि एक कदम ही उनके लिए काफी है। इसमे कोई शक नही कि पहला कदम काफी महत्वपूर्ण था, लेकिन वह आखिरी कदम नही था—यहॉ तक कि बिचला कदम भी नही था। ये कदम काफी खोज और तजुरबे के जरिये उठाये जाने चाहिए थे। पर ऐसा लगता है कि हम पहले कदम से ही चिपटे हुए रहने की कोशिश मे लगे है और नये तजुरबे करने की हम मे हिम्मत नही है। मौजूदा अवस्था की सबसे बडी वजह यह है कि खादी के मूल्य या मूल्यो को उस सामाजिक ढाचे के सन्दर्भ मे पूर्ण स्वरूप देना अब भी शेष है जो उन मूल्यो को कायम और जिन्दा रख सके। विचार अधूरा होने के कारण आगे के कदम असम्भव हो जाते है और स्वभावत समूचा खादी कार्यक्रम उस प्रथम कदम की रौशनी मे ही बनाया जा रहा है, जो गाधीजी ने उठाया था। इस वजह से खादी-आन्दोलन का आगे बढना रूक-सा जाता है। इसलिए विचार को पूर्ण स्वरूप देना अर्थात् '**पूर्णं पश्यत मा अंशम्**' की स्थिति प्राप्त करना खादी आन्दोलन की बुनियादी जरूरत हो गयी है।

"आज का इन्सान एक धोखा खाया हुआ इन्सान

---

* गाधीजी ने एक कार्यक्षम चरखे की ईजाद के लिए एक लाख रुपये के इनाम की घोषणा की थी।

है—उसे बहुत-से ऐसे राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और तकनीकी पुरोहितो ने धोखा दिया है जिनमे हर एक अपने धधे का उस्ताद और कूप मण्डूक बना हुआ है।"*

कार्यकर्त्ताओ तक ही सीमित

खादी आन्दोलन के जरिये जिस समाज-व्यवस्था की कल्पना की गयी थी उसकी साफ तस्वीर न होने की वजह से लाजिमी तौर पर इसकी नीति और कार्यक्रम अश के दृष्टिकोण से ही चलते जा रहे है। खादी कार्यकर्त्ता अन्य विशेषज्ञो की तरह कुछ पहलुओ तथा कामो मे पूरे माहिर हो जाते है और उनके ढर्रे पर ही काम करते है। इसमे कोई ताज्जुब नही कि खादी आन्दोलन आज भी लोक आन्दोलन की बजाय खादी कार्यकर्त्ताओ का आन्दोलन ही बना हुआ है। बडे दबाव के अन्तर्गत इसको चलाया जा रहा है और अब भी जनता रूपी जमीन मे इसे जड पकडना बाकी है। इसे जनता के जेहन मे उतरना भी वाकी है, क्योकि वे अब भी ऐसा ही समझते है कि यह कार्यक्रम खादी कार्यकर्त्ताओ के जज्बात की तसल्ली के लिए है, न कि जन-साधारण की समस्याओ को हल करने के लिए। इसकी व्याख्या और व्यवस्था 'अश' के आधार पर ही की जाती है। इसका पूरा भविष्य समझ सकने मे जनता असमर्थ है। उत्पादन की तकनीक के बारे मे जो विवाद उठ खडा होता है उसमे भी 'अश' वाले दृष्टिकोण का बहुत बडा हाथ है। पारम्परिक चरखे की जगह अम्बर चरखे अपनाने के कार्य मे भी काफी विरोध का मुकावला करना पडा। इस विवाद मे कभी-कभी एक पहलू पर इतना ज्यादा जोर दिया जाता है कि 'पूर्ण' नजरअन्दाज हो जाता है और कभी-कभी हालात की कठिनाइयो को आदर्श मान लिया जाता है।

माध्यम

आम तौर से कुछ आर्थिक और सामाजिक मूल्य, जैसे गॉवो की आत्म-निर्भरता और सामाजिक न्याय आदि, खादी कार्यक्रम के साथ जुड़े हुए है। खादी कार्यकर्त्ताओ से यह भी उम्मीद की जाती है कि वे खादी कार्यक्रम के जरिये इन मूल्यो का भी प्रचार करेगे। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष श्री उ न ढेबर भी यही चाहते है कि खादी कार्यकर्ता नैतिक मूल्यो को बढावा दे। गाधीजी के व्यक्तित्व के जोरदार असर की वजह से, जिसका उनके कार्यक्रम के जरिये जनता पर काफी प्रभाव है, हम लोग इन मूल्यो का प्रचार करने मे इस व्यक्तिगत तत्व के महत्व पर जोर देने के आदि हो गये है, किन्तु मौजूदा परिस्थितियो मे, खास कर, इस असर की सीमाओ को महसूस करना मुनासिब होगा।

कार्यक्रम का स्वरूप

कार्यकर्त्ताओ की स्थिति के बारे मे खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सदस्य श्री ध्वजा प्रसाद साहू का कहना है कि "पहले के दिनो मे किसी सस्था मे खादी कार्यकर्त्ताओ के बीच भाई-चारे और बन्धुत्व का वातावरण रहता था, लेकिन अब उनकी तादाद बढने के साथ ही पुराने रिश्ते टूटते जा रहे है और उनकी जगह व्यवस्थापकीय नियत्रण के विचार आते जा रहे है जिसके कारण उस रिश्ते-नाते का बदलना लाजिमी है। खादी आन्दोलन के पीछे विचार यह था कि सूतकार, बुनकर, तथा अन्य कारीगरो का एक परिवार हो। खादी सस्थाओ की व्यवस्था मे अब इस खयाल की कोई गुजाइश नही रही और अब कारीगरो के साथ मजदूरी पानेवालो का सा सलूक किया जा रहा है।" अब ऐसी स्थिति आ गयी है कि खादी कार्यकर्त्ताओ ने सस्थाओ के साथ अपने सम्बन्धो को नियमित रखने के लिए अपने सघ बना लिये है। कारीगरो और सस्थाओ के बीच के रिश्ते अब बिल्कुल कारबारी ढग के हो गये है। इन परिस्थितियो मे ऐसी उम्मीद करना कि खादी सस्थाएँ या उनके कार्यकर्त्ता नैतिक मूल्यो का प्रचार करे, खामखयाली के अलावा और क्या हो सकता है!

खादी कार्यकर्त्ताओ के व्यक्तिगत असर से ज्यादा भरोसे का जरिया खादी कार्यक्रम का स्वरूप है। कार्यकर्त्ता

* रेने फुएर **कृष्णमूर्ति—दि मैन एण्ड हिज टीचिंग।**

भी कार्यक्रम से ही प्रेरणा लेते है। इससे भी बढ कर बात यह है कि कार्यक्रम के स्वरूप के मुताबिक ही कार्यकर्त्ता उसमे शामिल होते है। अगर कार्यक्रम प्रेरणा उत्पन्न करनेवाला हुआ तो वह रचनात्मक ओर मेधावी कार्यकर्त्ताओ को सिर्फ अपनी ओर खीचने और उन्हे प्रेरणा देने का ही काम नही करता, बल्कि जनता पर भी भरपूर असर डालता है। क्या मौजूदा खादी कार्यक्रम मे ऐसा कोई आकर्षण है ? लोगो की नजर मे ऐसा लगता है कि खादी आन्दोलन अपने मौजूदा रूप मे स्थिर हो गया है। ऐसा लगता है कि यह मौजूदा सामाजिक ढाँचे की सीमाओं के भीतर काम कर रहा है। सूत-कताई, जो खादी उत्पादन मे सबसे ज्यादा तादाद मे रोजगारी मुहैया कर रही है, किसानो तथा अन्य लोगो को खाली वक्त के धधे के रूप मे दी जा रही है और वह भी मुस्तकिल नही। अभी तक इसे पूरे समय के धधे के रूप मे विकसित नही किया जा सका है कि कृषि की तरफ से हट कर अधिकाधिक तादाद मे लोग इसकी ओर आकर्षित हो। इसलिए खादी, कृषि को सहकारी खेती के रूप मे बदलने की दिशा मे कोई मदद नही पहुँचाती, जिसकी वजह से श्रम-शक्ति फाजिल रह जाती है। राहत पहुँचाने के अलावा आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के मामले मे अब तक खादी प्रभावकारी नही रही। गॉव और शहर के बीच की असमानता और विभेद को दूर करने मे भी इसका शायद ही कुछ असर पड सका हो। और, न तो खादी के धधे ने पढे-लिखे बेरोजगारो को राहत पहुँचाने मे ही कोई मदद की है। इस प्रकार हम देखते है कि वर्तमान रूप मे खादी का हमारी अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी और बडी समस्याओ से कोई ताल्लुक नही है।

बदलता हुआ तरीका

खादी कार्यकर्त्ताओ ने समय-समय पर कार्यक्रम के सम्बन्ध मे बेचैनी महसूस की है और उसे जाहिर भी किया है। कुछ ने तो खादी कार्यक्रम को सरकार की पच वर्षीय योजनाओ के एक अग के रूप मे चलाने की बुद्धिमानी तक पर भी शका प्रकट की है। लेकिन यह देखने की बात है कि सरकार ने कार्यक्रम के स्वरूप या परम्परा को नही बदला है। श्री कृष्णदास जाजू ने योजना आयोग के सामने खादी की जो पहली पच वर्षीय योजना पेश की वह सरकारी सहायता के बल पर खादी कपडे के उत्पादन के विस्तार के अलावा और कुछ नही थी। विनोबाजी इसे 'अकाली खादी' कहते है। फिर खादी कार्यकर्त्ताओ ने जब अपने दिलो को टटोला तो **नया मोड** का मशहूर फार्मूला सामने आया, जो १९५८ मे चालीसगॉव (महाराष्ट्र) सम्मेलन मे स्वीकृत किया गया। यद्यपि इस नये फार्मूले ने खादी को ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के समग्र विकास की योजना का एक अग मान लिया है, लेकिन कुछ तो खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अधिनियम की पाबदियों की वजह से और कुछ ऊँची तकनीक–जिन्हे अब माध्यमिक तकनीक कहा जाता है और जो वाकई खादी को अन्यान्य विकासशील अर्थ-व्यवस्था से मिला देगी–को अपनाने मे कार्यकर्त्ताओ की हिचक की वजह से खादी कार्यक्रम अब भी अलग-थलग ही चल रहा है। अब एक बिल्कुल ताजातरीम फार्मूला बिक्री पर दिये जानेवाले रिबेट की जगह पर बुनाई-सहायता लागू करने से ताल्लुक रखता है। इसके जरिये देहाती क्षेत्रों मे खादी उत्पादन के विस्तार पर कुछ असर तो पड सकता है, लेकिन जहाँ तक सामाजिक ढाँचे को बदलने का ताल्लुक है, यह कार्यक्रम के स्वरूप को शायद ही बदल पायेगा।

मिशन

खादी आन्दोलन को गाधीजी क्या मूल्य देते थे ? सन् १९४६ मे श्री जवाहरलाल नेहरू के साथ परामर्श करते हुए गाधीजी ने "मनुष्य के सर्वोच्च बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक विकास" को खादी आन्दोलन का लक्ष्य या मिशन बताया था। उन्होंने यह भी कहा था कि "इसमे सबको बराबर के अधिकार और मौका मिलना चाहिए।" इस आन्दोलन के जरिये वे एक ऐसे वर्गहीन **सर्वोदय समाज** की स्थापना करना

चाहते थे, जिसमे मनुष्य का सतुलित शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास हो सके।

हमारे समाज मे वर्ग-विभेद की जड क्या है? गीता मे वर्णित चारो वर्णो के कर्तव्य-विभेद मे उसकी जड मिलती है। गीता ने ब्राह्मणो और क्षत्रियो के कर्म क्रमश विद्या-अर्जन, पठन-पाठन और पुरोहिती तथा शासन, युद्ध और राजनीति बाह्य कर्म के रूप मे नही, बल्कि अन्तर चारित्रिक रूप मे बताये है।* वैश्य और शूद्र के कर्म बाह्य कर्म के रूप मे बताये गये है और इस विभेद का गभीर महत्व है। प्रथम दोनो बाह्य कर्मो को आतरिक मूल्यो के विकास के लिए क्षेत्र और साधन के रूप मे लेते है। अतिम दोनो प्राय निष्कासित कर दिये गये है और वे अपने कर्मो के चारित्रिक मूल्यो से अधिक बाह्य मूल्यो से चिपके हुए है। एक बार कर्मो के विभेद के जरिये व्यक्तित्व के विकास मे इस तरह का विभेद आ जाने दिया जाय तो बेहतर से बेहतर राजनीतिक व्यवस्था भी उसे कभी दूर नही कर सकती। वास्तविक समानता तो व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर की समानता है। ब्राह्मणो और क्षत्रियो को एक ओर जहॉ यह अवसर मिलता है, वहॉ खास कर शूद्रो को बाध्य हो कर शारीरिक मेहनत करनी पडती है। शारीरिक आवश्यक्ताओ, जीवन के प्रति मोह तथा समाज द्वारा निर्धारित किसी न किसी रूप मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विवषताओ ने उसके पशुवत आलस्यपूर्ण जीवन पर कठिन कामो का बोझ लाद रखा है। समाज के लिए वह पसीना बहाता है, पर उसकी प्रगति मे उसकी कुछ भी देन नही है। वह अपनी मेहनत और मेहनताने मे ही सतुष्ट है।

इस दृष्टिकोण से क्या आज के खादी कारीगर उन शूद्रो की तरह महज बाह्य मूल्यो के लिए ही काम नही कर रहे है? खादी आन्दोलन के सामने यही तो आज एक वास्तविक चुनौती है। क्या यह उन्हे अन्तर्मुखी बना सकता है? इसीमे उनका सर्वोच्च विकास होना चाहिए। यही खादी का असली मिशन है: **'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा।'** यथा, जो विवश हो कर हर दम कठिन मेहनत करते रहते है और जो सिर्फ बाह्य मूल्यो के लिए ही कार्य करते है, इसलिए अविकसित ही रह जाते है उन्हे खादी आन्दोलन मे अपने कर्मो का रूपान्तर मिलना चाहिए, जो उन्हे अपने आतरिक मूल्यो के लिए काम करने मे समर्थ बनाये।

अलग अलग आत्माएं नही

श्री अरविन्द के कथानुसार अलग-अलग आत्माएँ— एक आत्मा ज्ञान की, दूसरी आत्मा शक्ति की, तीसरी आत्मा उत्पादन शक्ति की और चौथी आत्मा सेवा की— नही है। वे यह भी नही मानते कि चौथी आत्मा को क्रमान्तर जीवन से तीसरी और दूसरी आत्माओ से होकर पहली आत्मा मे आना पडता है। सच तो यह है कि प्रत्येक आत्मा मे ज्ञान, शक्ति, उत्पादन-शक्ति और सेवा, ये चारो होते है, जिनमे कोई ज्यादा होता है कोई कम। मनुष्य के इन आतरिक पहलुओ तथा बाह्य कार्यो के बीच गहरे ताल्लुकात है। अगर सही तौर पर किया जाय तो शूद्र के काम भी ज्ञान को विकसित करते है, शक्ति बढाते है, उत्पादन-शक्ति को सुदृढ करते है और कौशल की वृद्धि करते है। यही सारा सवाल है। कार्यो को किस तरह सही ढग से किया जाय? इस समस्या का हल निकालना ही खादी आन्दोलन का मिशन है। यह हल भी व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास और वर्गहीन समाज का निर्माण होना चाहिए, जिसमे इस तरह के विकास के लिए सदृश वातावरण उपस्थित हो।

खादी कार्य को किस तरह सगठित किया जाय कि खादी कारीगरो के अन्दर ज्ञान, शक्ति और उत्पादन-शक्ति की वृद्धि हो? क्या खादी अपने मात्र भौतिक

---

* **शमो दमस्तप. शौचम् क्षान्तिरार्जवमेवच।**
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्य तेजोधृतिर्दाक्ष्य युद्धेचाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥
कृषि गोरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्
पारिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

पहलुओ से ऐसा कर सकने में समर्थ हो सकेगी ? जमाने से इस कार्य मे लगे हुए खादी कारीगरो की अवस्था से कोई ऐसा सबूत नही मिलता। भौतिक वस्तुओं से ज्यादा महत्वपूर्ण इसकी स्थापना या इसका सगठन है—वैज्ञानिक और तकनीकी, सामाजिक और दार्शनिक—जिसके अन्तर्गत कार्य किये जाते है। कार्यकर्त्ता का अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी होना, वह आन्तरिक मूल्यो के लिए काम करता है या बाह्य मूल्यो के लिए, सब कुछ, उसी सगठन पर निर्भर करता है। यह सगठन क्या है जो कार्यकर्त्ता को आतरिक मूल्यो के लिए अतर्मुखी बना देता है ? सक्षेप मे यो कहा जा सकता है कि इसमे (१) अस्तित्व के लिए कोई सघर्ष नही है, (२) वर्ग-सघर्ष नही है, और (३) सादा जीवन तथा उच्च विचार है। पहली शर्त विज्ञान और तकनीक के विकास से ताल्लुक रखती है, दूसरी सही किस्म के सामाजिक सगठन से और तीसरी जीवन के उपयुक्त दर्शन से।

विज्ञान और तकनीक

[illegible] कि "कोई भी अभौतिक सभ्यता जीवित नही रह सकती। भौतिकता और जीवन यानी प्राण मानव का वास्तविक आधार है। ससार के समस्त बौद्धिक तर्क, समस्त नैतिक आदर्शवादिता और अध्यात्मवादिता, जिसे मानव-विवेक समझ सकने में समर्थ है, हमारी जीव्यता और भौतिक बुनियाद की वास्तविकता तथा दावे को विलुप्त नही कर सकती और न जाति को प्रकृति की अलघनीय विवशता के अन्दर अपने उद्देश्य तथा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयास करने या अपनी बडी समस्याओं को मानवीय लक्ष्य, अभिरुचि तथा प्रयासो का बडा और आवश्यक अग बनाने की प्रवृत्ति से रोक सकती है।"

इसी प्रयास मे मनुष्य ने विज्ञान तथा तकनीक के विकास के लिए लगातार कोशिशे की है, ताकि अस्तित्व के लिए सघर्ष की भीषणता कम हो सके। यही बुनियादी सवाल है। जिस हद तक इसमे सफलता मिलती है, मनुष्य अपने उच्च व्यक्तित्व के विकास की चेष्टा के लिए स्वतत्र होता है, किन्तु विपरीतावस्था मे जीवित रहने के लिए निरतर सघर्ष करते-करते उसकी क्षमता और सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है।* इसी दृष्टिकोण में उत्पादन और उत्पादकता का विशेष मूल्य है। आशिक दृष्टि से देखने पर हाथ से होनेवाले कार्य का कुछ सीमित महत्व है, लेकिन व्यक्तित्व विकास के पूरे दृष्टिकोण से सबसे अधिक विचारनीय सवाल है विज्ञान और तकनीकी सहायता से अधिक उत्पादन के जरिये जीवन-सघर्ष की भीषणता कम करना। विनोबाजी की राय मे मनुष्य को स्वयम् तथा अपने ऊपर निर्भर व्यक्तियो के भरण-पोषण के लिए रोजाना पाच घण्टे से अधिक उत्पादक-कार्य मे लगा रहना आवश्यक नही होना चाहिए। और, इस भरण-पोषण मे सिर्फ आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति ही नही, बल्कि ऊँचे जीवन की आवश्यकताएँ भी शामिल होनी चाहिए। उत्पादकता का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि इस तरह के जीवन-यापन के अतिरिक्त बचत भी हो सके, जिसकी समाज की प्रगति के लिए निहायत जरूरत है। जीवन-यापन की ऐसी परेशानियो से मुक्त होने पर मनुष्य अतर्मुखी हो सकता है।

हाथ के काम पर अधिक जोर प्राय आदर्श के साथ बेरोजगारी की व्यावहारिक समस्या को उलझा देता है। अगर पहले आदर्श के बारे मे सफाई हो जाय, तो समस्त तथ्यो—जैसे समस्त सभाव्यताओ के विकास के जरिये विकासशील अर्थ-व्यवस्था और हमारी जनता के उठते हुए व्यक्तित्व के अनुकूल उपभोग और सेवाओ की वृद्धि आदि—को नजर मे रखते हुए व्यावहारिक प्रश्न का वैज्ञानिक हल निकाला जा सकता है। इसके लिए लचीलेपन तथा प्रयोग का रास्ता अपनाने की जरूरत है।

खादी कार्यकर्त्ताओ के अन्दर अनेक वर्षो के विचार-विमर्श और दिल की खोज के बाद अब एक ठोस मतैक्यता स्थापित हो गयी है कि खादी और ग्रामोद्योगो की कुछ प्रक्रियाओ को, खास कर जो उत्पादन के लिए गत्या-

---

* ससारार्णव लब्धनक्षमधियावृत्ति कृता सा नृणाम।
यामन्वेषयता प्रयान्ति रूतत सर्वे समाप्ति गुणा।।

वरोध बनी हुई है, यत्रीकृत कर दिया जाय। बहुत-से खादी कार्यकर्त्ता भी इस बात को नही जानते होगे कि उसी करघे पर अबर चरखे के सूत की बुनाई का खर्च मिल के सूत की बुनाई से ३५ नये पैसे अधिक पडता है। ऐसा इसलिए होता है कि हाथ-धुनाई प्रक्रिया के दोषपूर्ण होने की वजह से अम्बर सूत का गुण खराब होता है। इस प्रकार खादी उद्योग मे धुनाई मुख्य गत्यावरोध है जिसका यात्रीकरण होना चाहिए। अगर खादी-उत्पादन का लक्ष्य गॉवो की आत्म-निर्भरता है तो इस गत्यावरोध को दूर कर देना सर्वाधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य है।

किसी धधे को बुद्धिमत्तापूर्ण अपनाना बहुत आवश्यक शर्त है, क्योकि यही कार्यकर्त्ता को अतर्मुखी और आतरिक मूल्यो के लिए कार्य करने मे समर्थ बनाता है। आज हमारे समस्त उत्पादक धधे–जिनमे खादी, कृषि तथा पशु-पालन भी सम्मिलित है–एक तरह से नियमित कार्य हो गये है, जिनसे कोई आतरिक मूल्य नही निकलता, वरन् सिर्फ बाह्य मूल्यो के लिए ही उन्हे चलाया जाता है। और, चूकि अत प्रेरणा की गतिशील शक्ति और वैज्ञानिक ज्ञान की भी कमी है, इसलिए बाह्य मूल्यो को भी नुकसान उठाना पडता है। स्वामी विवेकानन्द ने हमारी इस गिरी हुई हालत का कारण हमारी जनता का 'तमस्' बताया है। इजराइल की ग्राम-बस्तियो का सबसे बडा सबक यही है कि कार्यकर्त्ताओ का सिर्फ विकसित व्यक्तित्व ही अर्थ-व्यवस्था को विकसित कर सकता है। इजराइल के समस्त किसानो को कृषि धधे मे आने से पहले वैज्ञानिक प्रशिक्षण दिया गया–वैसे उनके मामले मे यह बात भी है कि उनमे से कोई भी परम्परा से किसान नही था इसलिए वैसा करना उनके लिए एक आवश्यकता थी। इजराइल की विकास सेवाओ के अन्तर्गत वहाँ के किसानो को सिर्फ अच्छे किस्म के बीज, खाद, सरजाम तथा कीट-नाशक दवाओ का ही उपयोग नही बताया जाता, बल्कि उन्हे कृषि के सभी क्षेत्रो का ज्ञान भी कराया जाता है और जिन्दगी की आम दिलचस्पी के विषय मे, जैसे पुष्टिकर भोजन, सहकारिता तथा दर्शन आदि, शिक्षा भी दी जाती है, जहॉ पुरुषो के साथ महिलाएँ भी बराबर का भाग लेती है। इन ग्राम-बस्तियो मे पुरुष और नारी दोनो का मानसिक स्तर मैने काफी ऊँचा पाया। वहॉ का पुरुष वर्ग उत्पादक-कार्यो मे सहकारिता या स्वय सेवी भाव से लगा रहता है और महिलाएँ भी घर के कामो के अतिरिक्त आपसी सहायता, सहकारी दुकाने, शिक्षा, खेल तथा क्रीडा-मैदान आदि समस्त ग्राम-सेवा कार्यो को स्वय-सेवा के आधार पर सम्भालती है। इजराइल बहुत छोटा देश है, इसलिए वहाँ के गॉव बिखरे हुए, अलग-थलग नही है। पर हमारे लिए सबसे बडी दिलचस्पी की बात यह है कि उनका जीवन कुछ इस तरह का है कि उनके अन्दर सास्कृतिक विलगाव भी नही है।

खादी आन्दोलन की सफलता, दरअसल, इस बात से आकी जायेगी कि अपने गॉवो के भौगोलिक और सास्कृतिक बिलगाव को दूर करने मे हम कहॉ तक सफल होते है। इस प्रकार तकनीक और नयी तालीम–कोई भी पेशा और कार्य बौद्धिक तथा वैज्ञानिक ढग से करना–दो ऐसे महान तथ्य है जो **'स्त्रियो वैशावस्थता शूद्रा'** को अतर्मुखी बनने और आतरिक मूल्यो के लिए काम करने के लिए अभिप्रेरित करते है।

सामाजिक ढॉचा

वह आदर्श समाज जिसमे मनुष्य अतर्मुखी हो सकता है, एक परिवार का विकसित रूप है। मनुष्य को इतना सक्षम होना चाहिए कि वह दृष्टिकोण के विस्तार और उच्च प्रेरणा के लिए 'सघ शरण गच्छामि' की भावना से समाज मे प्रवेश करे। मनुष्य को चिताओ से मुक्त करने के लिए यह समाज रोजगारी, शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है और इस प्रकार वे हालात तैयार करता है कि मनुष्य अतर्मुखी बन जाय। चूकि प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थ-व्यवस्था मनुष्य को बहिर्मुखी बनाती है, इसलिए यह समाज सहकारी अर्थ-व्यवस्था को अपनाता है जिसमे स्वय रोजगारी की पूरी गुजाइश रहती है। लोगो की मेहनत के फलो को

सग्रहीत करनेवाला व्यापार परिपूर्ण रूप से सहकारी विभाग को सौपा जा सकता है। सामूहिक उत्पादन की जगह इस तरह का समाज गाधीजी के शब्दो मे "जन साधारण द्वारा विकेन्द्रित उत्पादन का सगठन करता है।" अगर केन्द्रित और विकेन्द्रित दोनो व्यवस्थाएँ विज्ञान और तकनीक से पूरा फायदा उठाये तो विकेन्द्रित व्यवस्था मे उत्पादन अधिक होगा, क्योकि जहाँ केन्द्रित व्यवस्था सिर्फ सर्वाधिक सक्षम इकाई से ही उत्पादन का काम लेती है और अन्य इकाइयो को काम मे अलग रखती है, वहाँ विकेन्द्रित व्यवस्था समस्त प्राप्य साधन व स्रोतो का पूर्ण उपयोग करती है और कुल उत्पादन मे प्रत्येक* का कुछ न कुछ योग रहता है। इस तरह का समाज, वाकई-कल्याणकारी समाज होगा, जिसमे स्वय-रोजगारी से पर्याप्त आय होगी ओर सार्वजनिक सम्पत्ति के सहारे पर्याप्त मात्रा मे सामाजिक सेवाएं उपलब्ध होगी।

गॉवो का पुनर्गठन

मौजूदा स्वरूप मे, हमारे गॉव उपर्युक्त कल्पना के आधार पर जीवन सचार की प्रेरणा लेने की शायद ही आशा कर सके। वे इतने बिखरे है कि आधुनिक सुविधाओ और सेवाओ की आशा भी नही कर सकते। अपने मानसिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए तथा विकास के अवसर विस्तृत करने के लिए उन्हे अपने को अपेक्षाकृत काम की दृष्टि से सप्राण इकाइयो के रूप मे पुनर्गठित करना पडेगा। राजनीतिक दायरे मे उनके इस तरह के सगठन जिला परिषदो के रूप मे है। आर्थिक दायरे मे उन्हे उपयुक्त सहकारी सगठन बनाने पडेगे जो प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त कर स्थानीय साधनो–प्राकृतिक और श्रम-शक्ति–को समस्त सदस्यो के समान लाभ के लिए पूर्ण वैज्ञानिक उपयोग का अवसर देगे। इस तरह की सहकारी व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग की बडी इकाइयॉ उत्पादन की छोटी इकाइयो के पोषक केन्द्र या सेवा केन्द्र की तरह चलेगी, उन्हे दबाने की हरकत नही करेगी। इस कार्य के लिए अलग-थलग दूर-दूर बसे हुए गॉवो को सेवा केन्द्रो के जरिये सम्बद्ध किया जायेगा, जिसमे एक केन्द्र कई गॉवो के एक समूह की सेवा करेगा और यही एक रास्ता है जो गॉवो के भौगोलिक विलगाव को दूर करेगा।

विकसित विज्ञान और तकनीक तथा एक अच्छी समाज व्यवस्था मनुष्य को आराम और सामाजिक न्याय दे सकती है, पर यह कोई जरूरी नही है कि वह उसे जीवन के उच्चादर्शो तक भी ले जाय? इसके लिए उसमे समुचित जीवन-दर्शन का ज्ञान एव अपने व्यक्तित्व के सतुलित§ विकास की लालसा का होना आवश्यक है। दर्शन का जीवन पर कितना प्रभावशाली असर पडता है, यह तो विभिन्न तौर-तरीके के समाजो की कार्य प्रणालियो के पर्यवेक्षण से ही पता लगता है।

सादा जीवन

अफ्रीका के आदिम समाजो मे वर्गविहीन समाज के बहुत से लक्षण दृष्टव्य है। व्यवहारत वहाँ समस्त उत्पादक कार्य हाथ से ही किये जाते है। वहाँ खेती के लिए पशु-शक्तिया पुरुष-शक्ति का नही बल्कि नारी-शक्ति का उपयोग होता है। यह **ऋषी खेती** है और अपनी चरमावस्था मे। सारी जमीन समाज की है और प्रत्येक परिवार को उसे जोतने और उससे जीविका प्राप्त करने का हक है। अभी हाल तक वहाँ वस्तु या सेवा विनिमय के लिए मुद्रा का प्रचलन नही था। वस्तुओ का ही विनिमय होता था। और, तब प्रत्येक कबीला अपनी निहायत जरूरियात तथा सुरक्षा के मामले मे आत्म-निर्भर था। प्रकृति व बीमारियो से सघर्ष तथा विभिन्न कबीलो के साथ लडाइयॉ करते-करते जीवन व्यतीत होता था। यह उस **प्राकृत समाज** का नमूना

---

* **अमत्र अक्षर नास्ति**
नास्ति मूलमनौषधम्
अयोग्यः पुरुष नास्ति
योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

§ **धर्मार्थ कामाः सममेव सेव्या ।**
य एकसेवी स नरो जघन्य ॥

है जिसमे सीधी-सादी जिन्दगी और सीधे-सादे विचार है। और फिर, शोषण करनेवाले देशो मे हम विकृत समाज का नमूना देखते है, जहाँ विज्ञान और तकनीक ने अस्तित्व के लिए सघर्ष तो कम कर दिया है, लेकिन ऊँचे जीवन-यापन के आदर्श की वजह से अस्तित्व के लिए सघर्ष की जगह वर्ग-सघर्ष ने ले ली है। यह उस किस्म का समाज है जहाँ आदर्श की शब्दावली मे ऊँची जिन्दगी और साधारण विचार है।

इस प्रकार सीधी-सादी जिन्दगी सिर्फ बसर करने के खयाल से या विज्ञान तथा तकनीक ही इतने पर्याप्त या सक्षम नही है कि मनुष्य को ऊँची जिन्दगी की खोज मे रास्ता बता सके। यह क्षमता तो सस्कृत समाज—सर्वोदय समाज—मे ही है, जो नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो पर जोर देते हुए और भावनाएँ भरते हुए मनुष्य को ऊँचा उठने मे समर्थ बनाता है। सर्वोदय समाज प्राकृत समाज की सीमाओ तथा विकृत समाज की कमजोरियो पर काबू पा कर मनुष्य को इस योग्य बनाता है कि वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तौर पर पूर्ण और सतुलित जीवन व्यतीत कर सके। यह समाज का ऐसा आदर्श है जिसमे सीधी-सादी जिन्दगी और ऊँचे विचार है। खादी आन्दोलन का यही मिशन है कि चुने हुए क्षेत्रो मे इस तरह के नमूने निर्मित करने के जरिये सर्वोदय समाज की स्थापना की जाय। किन्तु कार्यक्रम के एक अलग-थलग अग की हैसियत मे खादी यह काम पूरा नही कर पायेगी, फिर चाहे इसके पीछे कितनी भी श्रेष्ठ भावना क्यो न हो। यह तो तभी सम्भव होगा जब खादी सर्वोदय समाज के पूरे मूल्यो का प्रतिनिधित्व करते हुए हमारे समाज के समस्त कार्यो से ऊपर उठ कर एक विशेष रूप अपनाये, एक आदर्श बन जाय। यही महसूस करके गाधीजी ने १९४४ मे समग्र कार्यक्रम पेश किया था। सर्वोदय समाज सिर्फ अर्थ-व्यवस्था की ही नही, बल्कि मनुष्य की सारी जिन्दगी की समग्रता चाहता है।

नयी दिल्ली १६ अगस्त १९६२

नैतिक और बौद्धिक स्वतत्रता के लिए पेश किये जानेवाले तत्कालीन तर्को मे कुछ नया नही है। जब कोई सरकार विश्वास और आचरण के स्तरीयकरण हेतु असामान्य अथवा अति प्रयास करती प्रतीत होती है तब हम यह पाते है कि अधिकतर लूथर, मिल्टन, लॉक, स्पीनोजा, फेनेलॉन, मौण्टेस्क्यू, वालतेयर और मिल की ही उत्कृष्ट बाते दोहरायी गयी है। इन लोगो ने कहा है कि विश्वासवाली बातो का निर्णय विवेकपूर्ण आग्रह अथवा दैवी अभिव्यक्ति और प्रेरणा से ही किया जा सकता है, नैतिकता और विचार मे समानता लाने का बलयुक्त प्रयत्न तो असफल होगा ही, विचार और निजी नैतिकता के विषय मे स्वतत्रता तो मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है, और सुख-शान्ति सहन-शक्ति की नीति से ही प्रवाहित होती है।

—फ्रासिस डब्ल्यू कोकर रिसेण्ट पॉलिटिकल थॉट

अम्बर की शक्यता

शकरलाल बैंकर

यदि सूतकारो को यह देखने का अवसर मिले कि अम्बर चरखा किस प्रकार दक्षता, कुशलतापूर्वक चलाया जा सकता है तो उन्हे अपनी कुशलता, क्षमता बढाने का प्रोत्साहन मिलेगा। परीक्षण और प्रात्यक्षिक केन्द्र इस लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत सहायक हो सकते है।

भारत अधिकतर देहातो से बना हुआ है और देहातों की अधिकतर आबादी गरीब, बेकार अथवा अर्ध बेकार है। ग्रामीणो को रोजगारी मिले और उनके जीवन का उचित विकास हो इस दृष्टि मे गाधीजी ने खादी की प्रवत्ति चलायी तथा चरखा सघ व ग्रामोद्योग सघ की स्थापना की। राष्ट्रीय काग्रेस ने भी यह कार्यक्रम चलाया। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने भी इस कार्यक्रम को अधिक गतिशील बनाने के लिए खादी और ग्रामोद्योग मडल तथा कमीशन की स्थापना की । इस प्रकार के प्रयास के फलस्वरूप आज भारत के करीब एक लाख देहातो मे यह प्रवृत्ति फैली हुई है और करीब १५ लाख मे अधिक लोग इससे फायदा उठा रहे है।

परम्परागत चरखे मे सुधार

गाधीजी ने चरखे का काम शुरू किया तब भी देश के अनेक भागो मे परम्परागत चरखे चल रहे थे। शुरू-शुरू मे इसी चरखे का प्रचार हुआ, फिर भी, इस दिशा मे प्रगति करनी हो तो उसमे सशोधन और सुधार करने ही चाहिए, ऐसा गाधीजी का आग्रह रहा। इसलिए परपरागत चरखे मे नये-नये सुधार होते रहे तथा खुद गाधीजी ने इसमे दिलचस्पी ली। फलत यरवडा चक्र (पेटी चरखे) की शोध हुई और बाद मे वे चरखे हजारो की तादाद मे चलने लगे । स्कूलो मे कताई सिखाने के लिए भी इन पेटी चरखो का उपयोग किया गया ।

पेटी चरखा कीमत मे सस्ता, वजन मे हलका, एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने के लिए अनुकूल, चलाने मे सरल एवम् हलका, कम जगह घेरनेवाला तथा परपरागत चरखे की अपेक्षा अधिक उत्पादन देनेवाला बना। इस विशेषता के कारण पेटी चरखे का उपयोग दिन-प्रति-दिन बढता गया।

इस पेटी चरखे के निर्माण के बाद भी गाधीजी को सतोष नही हुआ । उनको चाहिए था ८ घटे मे १६,००० गज समान और मजबूत सूत कत सके वैसा चरखा। इसके लिए उन्होने एक लाख रुपये के इनाम की घोषणा की । कई प्रकार के नमूने आये, लेकिन गाधीजी की शर्त के अनुसार कोई नमूना न बनने के कारण इनाम की घोषणा वापस लेनी पडी। फिर भी, चरखे मे सशोधन हो, वह पूर्ण रूप से कार्यक्षम बने, ऐसा चितन वे करते रहे। साथ-साथ पेटी चरखे पर कतवार की गति बढे, पूनी अच्छी ली जाय सूत अच्छा एवम् अधिक कते, इसके लिए भी वे प्रयत्नशील रहे।

अम्बर चरखा

उसके बाद तमिलनाड के श्री एकम्बरनाथ ने अबर चरखे का आविष्कार किया। गाधीजी की इनामी चरखे की कल्पना के अनुसार यह चरखा कुछ शर्तें पूरी करता था। खादी काम करनेवालो ने इसे पसद किया। लेकिन इसमे भी सशोधन की काफी गुजाइश प्रयोगकारो ने महसूस की और इस दिशा मे अधिक प्रयोग करने के लिए सर्व सेवा सघ ने 'अबर प्रयोग समिति' की स्थापना की। इस समिति द्वारा अम्बर चरखे मे सशोधन का काम चलता रहा और परिणाम स्वरूप एक

व्यक्ति आठ घटे मे आसानी से ८ से १६ गुण्डी अच्छा और समान सूत कात सके, ऐसे अबर चरखे का निर्माण किया।

पेटी चरखे पर आठ घटे मे तीन गुडी सूत कतता है और अम्बर चरखे मे चार और छ तकुए होने से सूत अधिक कतता है, इसलिए इसके विकास और प्रचार की ओर अधिक ध्यान जाना स्वाभाविक है। पेटी चरखे और अम्बर चरखे की कताई प्रक्रियाये भिन्न है। पेटी चरखे मे 'म्यूल पद्धति' के अनुसार काम होता है, जबकि अम्बर पर 'रिग पद्धति' के अनुसार। 'रिग पद्धति' मे कताई के साथ-साथ तकुओ पर सूत परेतने का काम भी होता है, इसलिए सूत अधिक कतता है, जबकि 'म्यूल पद्धति' मे वे दोनो काम एक साथ नही हो सकते। मिलो मे भी अब 'रिग पद्धति' के अनुसार काम होता है।

धुनाई यंत्र

कताई उद्योग मे धुनाई एवम् पूनी बनाने की प्रक्रिया का स्थान भी अत्यत महत्वपूर्ण है। पहले धुनाई का काम पारम्परिक साधनो से होता था। धुनाई अच्छी नही होती थी, इसलिए हाथ की मध्यम धुनकी का उपयोग शुरू हुआ। इसके बाद कई प्रकार के प्रयोग हुए तथा धुनाई यत्र का सशोधन हुआ, और उस पर रूई की धुनाई होने लगी। लेकिन गुण की दृष्टि से उस धुनाई यत्र पर जो काम होता था, वह सतोषजनक न लगने से यह काम प्रयोग समिति ने हाथ मे लिया। अब ऐसा यत्र तैयार किया जा सका है कि उससे धुनाई करते समय रूई के ततु अच्छी तरह अलग होते है, ततुओ को बहुत कम हानि पहुँचती है और रूई मे से कचरा अच्छी तरह अलग हो जाता है। इस यत्र के हाथ और पैर दोनो से चलाये जा सके, ऐसे दो नमूने बनाये गये। हस्त-चालित यत्र पर प्रति घटा १५ तोला और पैर-चालित यत्र पर प्रति घटा ३० तोला रूई की धुनाई अच्छी तरह हो सकती है। अम्बर कताई के लिए पूनी (टेप) भी तैयार हो सके, ऐसी शक्यता भी अब प्रयोगो मे दीख रही है।

पेटी चरखे की अपेक्षा अम्बर चरखा कीमत मे महँगा और चलाने मे कुछ पेचीदा होने के बावजूद अच्छे गुण-स्तर का अधिक सूत दे सके, ऐसा कार्यक्षम साधन है। आज के प्राविधिक विकास के युग मे विकेन्द्रित हस्त उद्योग मे भी अच्छा उत्पादन दे सके, ऐसे साधन का प्रचार वाछनीय है और इस दृष्टि से ही गाधीजी चरखे की उत्पादन-क्षमता बढाने का आग्रह रखते थे।

कुछ महत्वपूर्ण पहलू

अम्बर चरखे से सूत अधिक, समान और मजबूत निकलता है, कतवारो को अधिक रोजी मिलती है, बुनकर यह सूत आसानी से अधिक मात्रा मे बुन सकते है, और उससे अधिक टिकाऊ खादी बन सकती है, इसलिए कताई उद्योग मे कार्यक्षम साधन के तौर पर अम्बर का प्रचार हो, यह उचित ही है।

अम्बर चरखा कार्यक्षम होते हुए भी उसके उपयोग एवम् प्रचार के लिए कई महत्वपूर्ण पहलुओ के बारे मे ध्यान रखना जरूरी है। उदाहरणार्थ

१ हरेक कतवार को दिया जानेवाला अम्बर चरखा अच्छा एवम् त्रुटिहीन होना चाहिए। जरूरत पडने पर उसकी मरम्मत तुरत हो सके, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।

२ कतवार को अम्बर की पूरी तालीम देनी चाहिए जैसे, अलग-अलग अको का सूत कातने का गणित, बट का हिसाब, यत्र के हरेक पुर्जे की जानकारी तथा यत्र बिगडने न पाये, इस प्रकार चलाने की कुशलता और यदि बिगड जाय तो उसे दुरुस्त करने की तालीम आदि। इसके उपरात किसी कारणवश चरखा कुछ समय बद रखना पडे तो वह जग लग कर बिगड न जाय, इस प्रकार उसे रखने की जानकारी भी देनी चाहिए।

अलग-अलग अको का सूत कातने के लिए अलग-अलग प्रकार की रुई काम मे ली जाती है। किस अक के लिए कौन सी रुई का इस्तेमाल करना चाहिए, इसका अभ्यास कतवार को कराना चाहिए। और, वैसी रुई मुहैया करने का प्रबध भी होना चाहिए।

३ टाइपराइटर एव सीने की मशीन चलाना सीख जाने मात्र से आदमी निष्णात नही बन सकता, लेकिन उसमे गति के साथ अधिक और अच्छा काम करने के लिए सतत अभ्यास करते रहना जरूरी है। इसी प्रकार अम्बर चरखे की भी तालीम लेने के बाद गति के साथ कताई करते हुए अच्छा और मजबूत सूत कत सके, इसके लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता है। पेटी चरखे पर भी अच्छा और गतिपूर्वक कातने के लिए सतत अभ्यास की जरूरत रहती है।

गाँवो के लोगो की आर्थिक उन्नति के लिए हाथ कताई उद्योग अत्यत महत्व का है। इस प्रवृत्ति के साधनो से काम लेने की समझ और कुशलता के उपरात उन साधनो के प्रति लोगो में श्रद्धा जगायी व उत्साह लाया जा सके, ऐसा वायु-मण्डल बनाना भी अत्यत महत्वपूर्ण है।

परीक्षण तथा आदर्श केन्द्र

अम्बर की तालीम पूरी होने के बाद गाँव के लोग अम्बर चरखा अपने घर ले जाकर कताई करते है। घर पर किया जानेवाला काम भी अच्छे मे अच्छा हो, यह अत्यत आवश्यक है। यह स्थिति किस प्रकार लायी जा सके, यह एक सवाल है। देहातो मे—केन्द्रो मे भी—यह काम वास्तव मे घर-घर उत्तम प्रकार से चलता हुआ ये लोग प्रत्यक्ष देख सके, तो उस बारे मे उनके दिल मे विश्वास बढेगा और इस प्रकार यह काम उत्साहपूर्वक करने के लिए वे भी तैयार हो सकते है। इसके लिए अलग-अलग प्रदेशो के खास चुने हुए देहातो मे परीक्षण और आदर्श सूत उत्पादन केन्द्र स्थापित किये जायें और उनके द्वारा अम्बर की वास्तविक क्षमता की प्रतीती क्षेत्रो मे हो। इस दृष्टि से घर-घर यह काम शास्त्रीय पद्धति से उत्तम प्रकार का होता रहे। इस प्रकार इस काम को विकसित करने का प्रयत्न किया जाय तो इसके विकास मे बहुत ही सहायता मिल सकती है। ऐसे केन्द्रो मे आदर्श स्थिति स्थापित हो और बाद मे आस-पास के अन्य केन्द्रो के कतवार तथा कार्यकर्त्ता उन केन्द्रो का अवलोकन कर सके, वहा के काम का अच्छी तरह निरीक्षण कर सके और उसके बारे मे महत्व के पहलुओ पर मन को समाधान हो वैसी सही जानकारी एवम् अनुभव ले सके, ऐसी व्यवस्था हो सके तो उससे इस महत्वपूर्ण काम को अच्छा वेग मिल सकता है।

अनाज की अधिक एव अच्छी किस्मो के उत्पादन के लिए कृषि प्रयोग केन्द्र एवम् 'आदर्श फार्म' है। जो किसान अधिक-से-अधिक अच्छी किस्म का अनाज पैदा करता है, उसे इनाम दिया जाता है। पशुपालन के लिए भी वैसी व्यवस्था है। अधिक पैदावार तथा अच्छी नस्ल के पशु गाँवो मे लोग देख सकते है। ये सुधार कैसे हुए, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकते है, और खुद वैसे प्रयोग करने के लिए प्रेरित होते है। इसी तरह यदि अम्बर और खादी मे भी उत्तरोत्तर अच्छी प्रगति करनी हो तो उसके साधन और प्रक्रियाओ का प्रात्यक्षिक हो सके, ऐसे नमूने के अबर व खादी केन्द्रो की व्यवस्था का होना अत्यत आवश्यक है।

प्रयोग समिति केन्द्र

यह स्वाभाविक है कि अम्बर चरखे की योग्यता और कार्यक्षम उपयोगिता के बारे मे अम्बर प्रयोग समिति के सचालक तथा कार्यकर्त्ता अधिक जानकारी रखते हो। इसलिए यह वाछनीय लगता है कि ऐसे परीक्षण ओर आदर्श केन्द्र स्थापित करने तथा चलाने का काम प्रयोग समिति द्वारा किया जाय। कताई का काम अधिक परिमाण मे जिन प्रदेशो मे चलता हो, वहाँ अनुकूल स्थान चुन कर अम्बर की वास्तविक क्षमता के दर्शन हो, इस दृष्टि से परीक्षण केन्द्र स्थापित करने तथा उन्हे चलाने की व्यवस्था प्रयोग समिति करे। ऐसा एक केन्द्र प्रयोग समिति की ओर से गुजरात के श्रीअमीरगढ मे चल भी रहा है। वहाँ जो काम हो रहा है, उससे ऐसा लगता है कि हरेक राज्य मे ऐसे कुछ केन्द्र भी चलाये जाय और अम्बर कताई तथा बुनाई के बारे मे शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्थित ढग से प्रयास हो, तो

कार्यकर्त्ता व कतवारो पर इसका अच्छा प्रभाव पड सकता है और क्षेत्रो मे कार्यक्षमता बढाने मे मदद भी मिल सकती है।

परीक्षण एव आदर्श केन्द्र खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मार्गदर्शन मे सस्थाओ द्वारा चलाये जा रहे है। लेकिन सस्थाएँ स्वयम् भी ऐसे केन्द्र अपनी ओर से चलाये, यह वाछनीय है अर्थात् जहाँ ऐसे केन्द्र चल रहे हो उन्हे अधिक विकसित करने तथा जहाँ न हो वहाँ नये केन्द्र शुरू करने का कार्यक्रम वनाना चाहिए। इस प्रयास की ओर विशेष ध्यान दिया जाय और ऐसे केन्द्र अच्छी तरह विकसित किये जाय तो इस काम की नीव अधिक सुदृढ हो सकेगी।

सहज प्रेरणा

देहातो मे ऐसे परीक्षण तथा आदर्श केन्द्र शुरू किये जाय और उनमे वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से उत्तम प्रकार का काम होता रहे, उन केन्द्रो के मातहत अच्छे से अच्छे और अधिक से अधिक सूतकार तैयार होते रहे और अन्य क्षेत्रो के कतवारो को उनका काम दिखाने की व्यवस्था हो, तो उस आदर्श तक पहुँचने के लिए देखनेवाले नये लोग भी प्रेरित होगे। देहातो की आबादी मे बहुत बडा हिस्सा गरीबो का है। उनके लिए हाथ कताई एक सहायक उद्योग है। उस पर काम करनेवाले को अच्छी कमाई हो तो उस ओर वे सहज ही अधिक ध्यान देगे। उत्पादन बढाने के लिए त्रुटिहीन साधन मुहैया करना और क्षमता बढाने के लिए बौद्धिक और वैज्ञानिक तालीम देना जितना जरूरी है उतना ही उस काम के लिए श्रद्धा और उत्साह का वायुमण्डल बनाना भी। प्रत्यक्ष अच्छा काम हो रहा हो तो उसे देखने से सहज ही वैसा वायुमण्डल पैदा होता है।

इस सबध मे १९२२ मे गाधीजी के साथ यरवडा जेल मे था उस समय की बातचीत का स्मरण मुझे आता है। गाधीजी उस समय रोजाना चार घण्टे कताई करते थे और घण्टे मे २५० गज सूत कत जाता था। लेकिन वह बहुत कम कतता है, ऐसा गाधीजी को लगता था इसलिए अधिक गति से कातने का प्रयत्न वे करते थे। श्री मगन-लाल गाधी के पुत्र भाई केशव को सत्याग्रह आश्रम मे एक घण्टे मे ४५० गज से भी अधिक गति से कातते हुए, उन्होने देखा था। 'इसलिए मै भी इतना क्यो नही कात सकू', ऐसा गाधीजी को लगता था। तात्पर्य यह है कि अच्छे और गति से कातनेवालो की टोली इस प्रकार के केन्द्रो मे कातती रहे तो उसे देख कर अन्य कातनेवालो का उत्साह भी बढ सकता है।

चन्द उदाहरण

इस प्रकार देख कर प्रोत्साहित होनेवालो मे से एक-दो उदाहरण मित्रो से सुने हुए नीचे दे रहा हूँ

साबरमती जेल मे करीब तीन साल पहले अम्बर चरखे दाखिल किये गये। छ माह के प्रयत्न के बाद भी वहाँ के कैदियो की दो गुडी से अधिक गति नही आयी। शिक्षक कुशल होने के बावजूद यह स्थिति रहती थी। फिर, कैदियो को प्रयोग समिति के शिक्षको व कार्यकर्त्ताओ की कताई दिखाने का प्रयोग किया गया। पहले ही दिन प्रथम घण्टे मे ही उनके दिल मे ऐसा विश्वास पैदा हो गया कि ये लोग जिस गति से कातते है उस गति से हम भी कात सकते है। दूसरे दिन फिर से चार घण्टे तक उनके सामने कताई प्रदर्शन किया गया। फलत सभी कैदियो का विश्वास बढ गया और उनकी गति दो गुण्डी से बढ कर पाँच से आठ गुडी तक पहुँच गयी।

ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण १९५९-६० के कॉग्रेस अधिवेशन के समय का है

प्रयोग समिति के कार्यकर्त्ता तीन तकुओ का सयुक्त ढोलवाला चरखा नागपुर ले गये थे। उनका दावा था कि वे उस पर चार घण्टे मे आठ गुडी सूत कात सकते है। लेकिन भारत मे उत्तम गति से कातनेवाले वर्धा के श्री शामराव मुले ने उस बारे मे शका प्रकट की। इसलिए प्रयोग समिति के कायकर्त्ता श्री रामयादीभाई ने उतनी गति से कात कर दिखाना स्वीकार किया। श्री शामराव आदि घडी लेकर सामने बैठे। चार घण्टे के बाद साढे आठ गुण्डी कती। उसी समय श्री शामराव तथा अन्य

साथियो ने कहा कि अब हम इससे भी अधिक कात सकेगे।

इस प्रकार श्रद्धा और उत्साह पैदा करने तथा उसके लिए वायुमण्डल बनाने मे काम का प्रत्यक्ष दर्शन अधिक महत्व रखता है। इस पर से लगता है कि जहां खादी प्रवृत्ति अच्छी तरह चल रही हो वैसे सभी प्रदेशो मे परीक्षण और आदर्श केन्द्र स्थापित करके विकास करने का भरसक प्रयत्न हो, यह वाछनीय है।

दोनो का महत्व

अम्बर और पेटी चरखा दोनो ही महत्वपूर्ण साधन है। दोनो का अपना-अपना स्थान है। स्वावलबन, अकाल, अतिवृष्टि आदि मे राहत कार्य, शारीरिक श्रम कम हो सके ऐसे शारीरिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियो के लिए पेटी चरखा अधिक अनुकूल हो सकता है, जब कि सशक्त, कला-कुशल, बुद्धिशाली एवम् अपनी कमाई मे वृद्धि की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियो के लिए अम्बर चरखा अधिक उपयोगी हो सकता है।

देहातो मे हाथ कताई का काम पर्याप्त रोजी देनेवाले उद्योग के तौर पर स्थापित करने के लिए अम्बर चरखा कार्यक्षम, आशास्पद और उपयोगी साबित हो सकता है। लेकिन उसे ग्राम विस्तार मे प्रचलित करने के काम की ओर विशेष ध्यान देना जरूरी लगता है। ऊपर बताये अनुसार आदर्श केन्द्र तथा आदर्श कताई करनेवालो के समूहो की रचना हो और उसके द्वारा अम्बर की वास्तविक कार्य-क्षमता का प्रत्यक्ष अनुभव खादी क्षेत्र के ग्राम जनो को मिले, ऐसा प्रबध किया जा सके तो अम्बर चरखे को व्यापक बनाने मे अधिक सफलता मिल सकती है।

अहमदाबाद २९ जुलाई १९६३

हमे बाहरी भयो से मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद है उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयो का उपद्रव अपने आप मिट जाता है। भय मात्र देह के कारण है। देह विषयक रोग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो जा सकता है। इस दृष्टि से यह मालूम होता है कि भय मात्र हमारी कल्पना की उपज है। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दे तो फिर भय कहाँ ? 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'–यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यो के त्यो रहे, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारे मे अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नही है, यह ईश्वर के है, 'मै' उसी का हूँ, मेरी कहलानेवाली इस ससार में कोई भी वस्तु नही है, फिर मुझे भय किसका हो सकता है ? इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जाये, शून्यवत होकर रहे तो सहज मे भयमात्र जीत ले, सहज मे शान्ति पा जाये, सत्यनारायण के दर्शन प्राप्त कर ले।

—महात्मा गाधी

यथार्थवादी दृष्टिकोण आवश्यक

जोसेफ दु. सुन्दरम्

गाधीजी एक ऐसे शोषणरहित समाज की स्थापना की कामना करते थे जो कि बिना अधिक सामाजिक अथवा आर्थिक उलट-फेर के आर्थिक स्वतन्त्रता सुनिश्चित करे। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मडल से कार्य-भार सम्भालने के बाद, अपने 'नीचे से निर्माण' और नया मोड़ कार्यक्रमों के जरिये गाधीजी द्वारा निर्दिष्ट इस लक्ष्य की पूर्ति का प्रयास कर रहा है। इस दिशा में कमीशन की सफलताओ की समीक्षा करते हुए लेखक, जो कि खादी और ग्रामोद्योग मूल्याकन समितियो (१९६०) के मत्री रह चुके हैं, नीति और कार्यक्रम के कई पहलुओं के सम्बन्ध मे आलोचनात्मक प्रतीत होते हैं। यद्यपि प्रत्यक्षत हम डा सुन्दरम् की समीक्षा से सहमत नही है, इसे हम इस विश्वास के साथ प्रकाशित कर रहे है कि विकास की गति बढ़ाने के लिए मुक्त विचार-विमर्श परमावश्यक पूर्वावश्यकता है। अत इस लेख मे उठाये गये प्रश्नो पर विचार आमन्त्रित हे। —सम्पादक

गांधीजी द्वारा खादी ग्रामोद्योगो की की जानेवाली वकालत इस बात पर आधारित थी कि निम्न तीन उद्देश्यो की पूर्ति मे इसके द्वारा सहायता पहुँचाने की अत्यावश्यकता वे महसूस करते थे (१) सबसे गरीब वर्ग की मामूली आय मे कुछ वृद्धि की जा सके, ऐसे योग्य साधन उन्हे मुहैया करना, जिससे उनकी सामाजिक और आर्थिक उन्नति के कार्यक्रम की दिशा मे पहला कदम उठाया जा सके, (२) तेजी से बढते हुए शहरो के फल-स्वरूप गॉवो की अपनी सम्पत्ति, उत्पादन तथा मनुष्य शक्ति का जो ह्रास हो रहा है, उसे रोकना तथा (३) परपरागत भारतीय जीवन के बुनियादी, सामाजिक तथा नैतिक मूल्यो की रक्षा करना—खासकर उनके उस अग की रक्षा करना, जो एक या दूसरे तरीके से,कम या अधिक प्रमाण मे, पारस्परिक सहायता, सहकार ओर परस्पर निर्भरता जैसे सामाजिक गुणो को उनके अन्त करण मे प्रविष्ट कराने की क्षमता रखता है। गाधीजी के समय मे जो राजनीतिक परिस्थितियॉ थी, उनके कारण उनके कार्यक्रम का राष्ट्रीय (राजनीतिक) और सास्कृतिक (सामाजिक) महत्व भी हो गया था।

विकासोन्मुख तत्व

खादी और ग्रामोद्योगो के पुनर्जीवन और विकास का गाधीजी का कार्यक्रम, "समय चक्र को पीछे खीचने-वाला" है, ऐसा बताकर कुछ उदार मतवादी आलोचको द्वारा इसे सामान्यत या तो ठुकरा दिया जाता था या कुछ आलोचक, जो 'आधुनिकता' का दावा करते थे, इसे "स्वप्नदर्शी या सनकी" करार देते थे। तथापि गाधीजी के बहुसख्य निकट सहयोगी इस कार्यक्रम को अत्यधिक सभाव्यताओ से भरे एक ऐसे क्रातिकारी साधन के रूप मे देखते थे, जो भारतीय जीवन पद्धति के सपूर्ण सत्वाश की रक्षा कर सकता है। लेकिन गाधीजी को अपने कार्यक्रम के प्रति होनेवाली ऐसी प्रशसाओ या निदाओ से कोई वास्ता न था, उनका ध्यान मुख्यत ऐसे सगठित प्रयत्न के कार्यक्रम के विकास की ओर था और उसी ओर लगा रहा, जो जनता को, खासकर ग्रामीणो को, उद्देश्यपूर्ण उत्पादन प्रयत्नो के लिए प्रवृत्त करे जिससे कि ऊपर लिखे हुए उद्देश्यो को कार्यरूप मे लाया जा सके। इसी कारण गाधीजी की दिलचस्पी हाथ करघा बुनकरो के, क्योकि पहले पहल बुनकरो ने ही उनका ध्यान अपनी ओर खीचा था, वर्तमान कौशल की सुरक्षा और विकास के प्रयत्नो मे आगे बढ कर विकेन्द्रित कताई उद्योग के विकास की ओर मुडी, जिससे कि बुनकरो को सूत की पर्याप्त और निश्चित आपूर्ति अवश्य होती रहे। यही

बात तकनीकी अनुसधान, प्रशिक्षण, कारीगरो की आय बढाने और उत्पादन वृद्धि मे उनकी गहरी दिलचस्पी और आग्रह को प्रकट करती है। सुधार के समस्त प्रयत्न, यद्यपि अपने आप मे स्वागत योग्य थे, उनकी दृष्टि से पूरे सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के साधन रूप थे। यह उद्देश्य, उनकी राय मे, भारतीय जीवन पद्धति के बुनियादी सामाजिक मूल्यो की रक्षा का था। सक्षेप मे, उनका सामाजार्थिक कार्यक्रम इस उद्देश्य से प्रेरित था कि शोषण रहित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो सके, जिसके द्वारा बिना किसी सामाजिक या आर्थिक विघटन के आर्थिक स्वतत्रता का आश्वासन प्राप्त हो। इसके फलस्वरूप उनका कार्यक्रम सतत बदलता और बढता रहता एव उसके मूल तत्व मे, सुधार होता रहता, जिसके परिणामस्वरूप यह कार्यक्रम उतना योग्यतम बनता गया जितना वे बना सकते थे।

तैयारी के दस वर्ष

सन् १९५३ और १९६३ के एक दशक की अवधि मे खादी और ग्रामोद्योग का विकास सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए होनेवाले सुयोजित राष्ट्रीय प्रयत्नो का अविभाज्य अग बन गया है। यह पहली पच वर्षीय योजनावधि के अत मे वास्तविक रूप मे राष्ट्रीय बन गयी, यद्यपि आरम्भ मे उसे राजनीतिक जामा पहनाया जा सकता था। करीब-करीब एक रिक्तता (वैक्यूम) मे से ही शुरू करके खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने विधिविहित राज्य मण्डलो को स्थापित करके यह काम आगे बढाया, जो कि अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल द्वारा सन १९५३–५४ मे शुरू किया गया था। ये राज्य मडल खादी ग्रामोद्योग के विकास का राज्यवार कार्यक्रम अमल मे लाने की कमीशन की जिम्मेवारी स्वय उठाने के इच्छुक थे और वैसी क्षमता भी रखते थे। इसके लिए आवश्यक प्रशासनात्मक और सगठनात्मक कार्य पद्धति का जो क्रमश विकास, अपनी नीतियो को आर्थिक उन्नति और आर्थिक उत्कर्ष के प्रभावकारी कार्यक्रम के रूप मे परिणत करने के लिए कमीशन द्वारा किया गया, वह व्यापक पैमाने के प्रयत्नो के लिए तैयारी करने के अत्यावश्यक समय की समाप्ति का निदर्शक था। अत प्रस्तुत समय इस बात का विचार करने के लिए उपयुक्त है कि इन उद्योगो के विकास की वर्तमान नीति और दृष्टिकोण योग्य है या नही और इससे गाधीजी के ध्येय को कार्यक्रम मे सहज ही लाया जा सकता है कि नही।

बुनियादी नीति

भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने 'नीचे से निर्माण' नामक अपने नीति सबधी वक्तव्य मे इस बात का प्रतिपादन किया कि नये उन्नत साधनो और उपकरणो को अगीकार किया जाय, जिनसे कारीगरो की आय मे वृद्धि हो और उत्पादकता भी बढे।[१] सगठनात्मक रूप मे, उसने शोषणरहित समाज की स्थापना की दिशा मे प्रगति करने की दृष्टि से सहकारिता को एक बहुत प्रभावशाली सरचना के रूप मे अगीकार किया।[२] अत स्वय-रोजगारी प्राप्त कारीगरो की सहकारी समितियो को उत्तरोत्तर उन्नत किस्म का सामान तैयार करने, जहाँ उत्पादन होता है उन्ही क्षेत्रो मे अधिकतर उन्हे बेचने, परिवहन खर्च कम करने और अन्य इसी तरह का खर्च घटाने मे तथा कुछ अवधि के पश्चात् स्वनिर्भर इकाइयो की स्थिति उन्हे प्राप्त हो सके, इसके लिए सहायता देने की बात की गयी।

समग्र विकास, जो कि 'नया मोड' के नाम से जाना जाता है और जिसे तीसरी पच वर्षीय योजना के आधार के रूप मे स्वीकार किया जा चुका है, जहाँ तक खादी-ग्रामोद्योगो के विकास का सबध है, वही कार्यक्रम है।[३] तथापि, कम से कम प्रारम्भिक काल मे, सगठनात्मक स्वरूप के लिए योग्य नेताओ द्वारा बनायी गयी स्थानीय

---

१ **'बिल्डिंग फ्रॉम बिलो'** अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, १९५९ अध्याय ५ और ८।

२ **वही।**

३ **'थर्ड फाइव ईयर प्लान फॉर खादी'**, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, १९६१।

समितियो पर जोर दिया गया, यद्यपि सगठन के अतिम स्वरूप के तौर पर बहुधधी सहकारी समितियाँ ही रहेगी। उसका जोर, पूर्व के 'नीचे से निर्माण' के समान ही, उन्नत साधनो और उपकरणो का अगीकार करने, उच्च उत्पादकता, अल्प लागत और कम मूल्य पर तथा अधिकतम आय पर ही रहा।[४]

नीति और व्यवहार

स्थूल नीति सबधी वक्तव्यो के रूप मे न तो 'नीचे से निर्माण' का और न 'नया मोड' का ही उस बुनियादी सामाजिक उद्देश्यो से सघर्ष आता है, जिसके लिए गाधीजी चाहते थे कि इन उद्योगो के विकास कार्यक्रम को अमल मे लाया जाय। पर कथनी और करनी मे सतत बढती हुई खाई केवल उस समय दिखाई देती है, जब प्रत्यक्ष कार्यक्रम, उसकी सरचना और उसकी गत्यात्मकता का अध्ययन उन उद्देश्यो के सदर्भ मे किया जाता है। ये कार्यक्रम अपने मूल स्वरूप मे आपत्तिजनक नही लग सकते, क्योकि अन्तत सहायित प्रयत्नो के लिए किये जानेवाले अनेकविध उपायो से अधिक उनका स्थान न था, परन्तु कमीशन द्वारा अपनाये हुए स्थायी महत्व के उपाय या कमीशन द्वारा सहायित और प्रोत्साहित प्रयत्न दूसरी ही श्रेणी के अन्तर्गत आते है। कमीशन ने अपने कार्यक्षेत्र मे आनेवाले प्रत्येक ग्रामोद्योग का और खादी का सन् १९५३ से १९६३ तक की दस साल की अवधि मे जो विकास किया, उसे यदि बडी-बडी आर्थिक सहायताओ और उनके उपयोग, उत्पादन और बिक्री तथा कमीशन द्वारा मान्य ओर पजीकृत नयी सस्थाओ की सख्या की दृष्टि से सन् १९५३ या अन्य किसी कथित वर्ष की स्थितियो से तुलना करे तो वह वास्तविक खर्च के ठीक अनुरूप और प्रभावशाली लगेगा भले ही प्रगति सबधी अधिकारिक वित्तीय मूल्याकन इस दावे के बारे मे सवाल उठा सकता है, प्रगति का वास्तविक या सच्चा माप वस्तुत उत्पादन और बिक्री मे वृद्धि की दर नही है, बल्कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का वह स्वरूप ही है जो प्रत्यक्ष रूप से लाया गया हो या उसके लिए तैयारी की गयी हो। इसी दृष्टि से नीचे कुछ मतव्य एव सुझाव पेश किये जा रहे है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे खादी-ग्रामोद्योगो का जो स्थान है, उसका औचित्य अतिरिक्त पूजीगत लागत बहुत कम मात्रा मे लगाकर या उसके बिना ही व्यापक पैमाने पर जरूरतमदो को रोजगारी देने की उसकी क्षमता मे है। अम्बर चरखा कार्यक्रम शुरू किये जाने के कारण विविध प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रम की आवश्यकता स्वभावत पैदा हुई। प्रयत्नस्वरूप प्रति इकाई उत्पादन काफी मात्रा मे बढाने का आश्वासन, सूत की सुधरी हुई किस्म, लागत मूल्य मे कमी और इस कारण रिबेट और सब्सिडी की दरो मे भी होनेवाली कमी से इस प्रशिक्षण कार्यक्रम का औचित्य सिद्ध किया जाता है।[५] दावा किया गया कि अम्बर चरखा कार्यक्रम इस योग्य है कि स्वस्थ शरीरवाले लोगो को पूरे समय की रोजगारी मुहैया करके वह अपनी ओर आकृष्ट करेगा, जिससे भूमि पर का दबाव कम होगा।[६]

निरपेक्ष मूल्यांकन

परन्तु खादी के विकास और उसमे अम्बर चरखा कार्यक्रम के योगदान की सूक्ष्म छानबीन से इन दावो को कोई समर्थन नही मिलता। ग्रामीण क्षेत्रो के गरीब और कमजोर वर्गो ने साधारणतया सम्पूर्ण उद्योग को नजरअदाज ही किया है, क्योकि उन्हे इसमे स्थायी आर्थिक महत्व का कोई आश्वासन नही मिला।[७] अम्बर या परपरागत चरखे द्वारा जिन्हे रोजगारी दी गयी, उन्होने केवल आशिक समय के लिए ही उस पर काम किया। पूरे समय काम करनेवाले लोग, सख्या की दृष्टि से अथवा

---

४ **थर्ड फाइव ईयर प्लान फॉर खादी**, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, १९६१।

५ **दि अबर चरखा प्रोग्राम, इट्स इकनॉमिक्स**, अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, १९९६।

६ **खादी एड विलेज इडस्ट्रीज, सेकेण्ड फाइव ईयर प्लान**, अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, १९५६।

७ **रिपोर्ट ऑफ दि खादी इवेल्यूएशन कमिटी**, अध्याय ८।

अन्य किसी भी दृष्टि मे महत्वहीन ही रहे। [८] तथापि विशेष महत्व की बात यह है कि, ऊपर बतायी हुई महत्वहीन सख्या को छोड कर, अम्बर या परपरागत चरखो के सूतकारो की आय बहुत ही कम रही, इसलिए आर्थिक प्रगति के बुनियादी उद्देश्यो के प्रति, जो कि माली राहत से भिन्न वस्तु है, उनका योगदान नगण्य रहा। [९] पुरुष सूतकारो को आकर्षित करने और उन्हे इस काम मे टिकाये रखने के कार्य मे, वर्तमान सामाजिक और अन्य बाधक परिस्थितियों को दृष्टि मे रखते हुए, खादी को करीब-करीब पूरी असफलता ही प्राप्त हुई और इस असफलता का दोपारोपण आर्थिक महत्व की रोजगारी के स्रोत के रूप मे इस कार्यक्रम की जो बुनियादी अपूर्णता है, उमी पर होना चाहिए। [१०]

उमी तरह, हाथ करघा बुनकरों को पर्याप्त और नियमित रूप से सूत की पूर्ति की जा सके, ऐसा आश्वासन देने की दृष्टि से भी खादी-कार्यक्रम असफल रहा है। जो कुछ भी कारण हो, हाथ-कता सूत करघा-बुनकरो की उत्पादकता और उनकी आय की दृष्टि मे अवरोध ही बना रहा है, और कपडे की किस्म मे काफी हद तक गिरावट होने के बावजूद बुनाई की लागत भी सामान्यतौर पर ऊँची ही रही है। मिल सूत बुननेवाले बुनकर हाथ-सूत का उपयोग करने के लिए राजी हो सके, इसके लिए उन्हे काफी प्रलोभन देने होगे और साथ ही उन्हे हाथ-सूत के उपयोग का प्रारंभिक प्रशिक्षण भी देना होगा। [११] खादी सस्थाओं के बुनकर खुले रूप मे इस नियम की, कि मिल सूत से वे कपडा न बनावे, जो अवहेलना कर रहे है, [१२] वह मिल सूत के योग्य विकल्प के रूप मे हाथ-कते सूत की तकनीकी और आर्थिक असफलता को ही प्रकट करती है।

खादी-कार्यक्रम मे, विशेषत अम्बर चरखा कार्यक्रम मे, लगनेवाले पूजीगत व्यय की तुलना मे कोई प्रशसनीय प्रगति हुई है, ऐसा किसी भी दृष्टि से नही दिखायी देता। वितरित कुल अम्बर चरखो मे से अनुपयोगित पडे हुए अम्बर चरखो के प्रातिशत्य, बेकार और दोषपूर्ण चरखो के नवीनीकरण और सुधार पर होनेवाले खर्च, उस पर कते हुए सूत से बनाये गये कपडों की गिरी हुई किस्म और सबसे अधिक तो इनके कारण खादी की फुटकर बिक्री के बाजार की जो गम्भीर स्थिति हो गयी है तथा सस्थाओं का स्टॉक बढ गया है, इनके आधार पर गणना करने से इस पूजीगत व्यय को नगण्य नही कहा जा सकता।

प्रशिक्षितों की सम्भावना

कुल मिलाकर हमारे खादी कार्यक्रम का, और अम्बर कार्यक्रम का, जैसाकि विशेप रूप से उसका कार्यान्वय हुआ है, सबसे बडा दोष यह है कि लोगो को प्रशिक्षण देने मे समय, शक्ति और धन का बडा अपव्यय हो रहा है, [१३] क्योंकि इन प्रशिक्षितों की न तो आज, न आगे ही खादी या अन्य किसी उद्योग मे कोई माग है। यदि कपडो की दिन प्रति दिन उन्नत हो रही किस्मों के बढते उत्पादन को सतत निम्न दरो पर बेचना सम्भव होता, तो अम्बर चरखे के सूतकारो के लिए काफी अधिक, यद्यपि सीमित क्षेत्र मे, माग हो सकती थी। तेजी से गिरती हुई कपडो की किस्म, अशत, ऊँची कीमतो के और अशत लोगो की सतत गिरते जानेवाली आय के कारण कपडे की मॉग जो कम होती जा रही है, वह इस बात की ओर इगित करता है कि अम्बर के सूतकारो के लिए कोई वास्तविक मॉग नही है और विभिन्न श्रेणी के लोगों को दिये जानेवाले प्रशिक्षण पर होनेवाले खर्च की तुलना मे आर्थिक या सामाजिक रूप से कोई स्थायी महत्व की या प्रशसनीय प्राप्ति नही हुई है, न होने की सभावना है। देर या अबेर इन "प्रशिक्षित" लोगो को, जहॉ भी सभव हो, दूसरे कामो की शरण मे जाना ही होगा।

---

८. वही।

९ वही।

१० वही।

११. वही, सहायता के विवरण के लिए परिचय पुस्तिका सहायता का विवरण भी देखिए।

१२ **खादी इवेल्यूएशन कमिटी रिपोर्ट,** अध्याय ८

१३ प्रशिक्षण कार्यक्रम के परिणामो के विवरण के लिए देखिए **खादी इवेल्यूएशन कमिटी रिपोर्ट,** अध्याय ८ और १०।

अनियमित और निर्भरीय होने के बावजूद पर्यायी काम, जैसे सडके बनाना, मेडे बनाना आदि, सूतकारो को अपनी ओर खीचते रहते है, क्योकि सूत कताई से वस्तुत इतनी आय हो ही नही सकती। दूसरे शब्दो मे, अम्बर या परपरागत चरखो पर सूत कताई ऐसी कला या कौशल नही है, जो "बिक्री योग्य" हो, जैसे कि बढईगीरी, लुहारी, राजगीरी आदि है। सूतकारो की 'कला', या 'कौशल' की माग कुछ सस्थाओ तक ही सीमित है, जिनके कार्य उन अनेक विध-विचारो पर आधारित रहते है, जो कारीगरो की जरूरतो से सर्वथा असबधित होते है।

विकेन्द्रीकरण और खादी

परन्तु उपर्युक्त सूक्ष्म मूल्याकन से विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता के बारे मे कोई शका नही उठती। औद्योगीकरण के साथ-साथ आनेवाले नागरीकरण का सामाजार्थिक मूल्याकन, सामाजार्थिक जीवन के विकेन्द्रीकरण का ही महत्व निर्देश करता है, जो कि मानव और उसके नैतिक मूल्यो को बचाने की दृष्टि से एकमात्र सभव उपाय है। परन्तु आर्थिक सगठन और प्रवृत्तियो का विकेन्द्रीकरण भी उत्पादन के आधुनिक और अत्यधिक उन्नत तक्नीको को अपनाने से विरत नही करता,[१४] जैसाकि अमेरिका, इग्लैण्ड और स्वीट्जरलैड का अनुभव बताता है। आवश्यक कौशल की प्राप्ति, जिसमे यद्यपि समय लगता है, कारीगर को काम के चुनाव के कई मौके उपलब्ध करा देती है, और इसलिए कई पर्यायी कामो या व्यवसायो का उपयोग लेते रहने का अवसर उसे मिलता रहता है। दूसरे शब्दो मे, उसे वह बाजार के उपयोग के योग्य कौशल प्रदान करती है, फलत उसे आत्मनिर्भर, उपयोगी और उत्पादक कारीगर बना देती है, जबकि सूतकार सभवत कभी ऐसा नही बन सकता। बढईगीरी या ऐसा ही कोई काम सीखने मे निस्सदेह सूत कताई की तुलना मे अधिक समय लगता है, लेकिन औसत कौशलवाला मेहनती बढई भी समान समय काम कर उस बहुत कुशल सूतकार की बनिस्बत कई गुना अधिक कमा लेता है। अत यहाँ प्रश्न कौशल की पसदगी का है, न कि बृहत प्रयास का, और यही महत्वपूर्ण बन जाता है।[१५]

वस्तुनिष्ठ या निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर यह नही कहा जा सकता कि व्यापक और दुर्बोध प्रशिक्षण कार्यक्रम, जो अम्बर चरखे के कारण आवश्यक हो गया है, के अन्तर्गत प्रशिक्षित उन बहुसख्य लोगो को ऐसा कौशल सिखाया गया है, जो कि 'खुले बाजार' मे बिक्री योग्य हो। निस्सदेह, खादी के लिए हाथ-कताई करनेवालो की जरूरत है, लेकिन उसमे ऐसी क्षमता नही है कि मान्य दर से मजदूरी चुका सके। यह राहत पहुँचाने मे बडा सफल हुआ है। परन्तु वह भी यदि निरपेक्ष रूप से देखे तो, सीमान्त स्तर पर ही हुआ है। व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करने पर पूरी तौर से अस्थायी या क्षणिक महत्ववाला महज राहत का कार्यक्रम क्या इतनी अधिक आर्थिक सहायता पा सकता है या पाने के लिए माग कर सकता है जितना कि अम्बर चरखा कार्यक्रम के लिए आवश्यक है? प्रत्यक्षत निरपेक्ष मूल्यो से रहित कौशल का प्रशिक्षण मुश्किल से यह दावा कर सकता है कि वह राष्ट्रीय है अथवा एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के साथ एकरूप हो सकने योग्य स्थायी महत्व का है।

तकनीकी अनुसंधान

अच्छे साधनो और उपकरणो का विकास करने की दृष्टि से अलग-अलग सस्थाओ को कमीशन द्वारा अनुदानो के रूप मे पर्याप्त व्यय करने की स्वीकृति दी गयी है। उसने अपनी एक अनुसधानशाला भी स्थापित की है और सस्थाओ तथा एजेसियो द्वारा सिफारिश किये गये

---

१४ भारत की कौशलहीन जनता की परिस्थितियो के साथ उसका सबध कैसे बैठता है, इसके विवरण के लिए तुलना कीजिए, **बिल्डिंग फ्राम बिलो**, भाग–३।

१५. समाज के पिछड़े हुए वर्गों से कारीगर कौन-से बिक्री योग्य कौशल प्राप्त कर सकता है इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिए, **ऑल इंडिया कॉग्रेस कमिटी** का **इकनॉमिक रिव्यू** भाग १९, स ३१७, जुलाई १९६३, पृष्ठ २६ और आगे।

कारीगरो की भी सहायता इसके लिए की है। पर यहॉ भी, प्राप्त निष्कर्षो के सबध मे वस्तुनिष्ठ दृष्टि मे विचार करने की आवश्यकता है।

सन् १९५०-५९ के दशक के प्रारभ मे, अम्बर चरखे का प्रथम नमूना बनने के बाद से, अखिल भारत सर्व सेवा सघ, उससे सबधित सस्थाओ तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा अनुसधान पर जो खर्च हुआ है, वह काफी है, परन्तु किस उद्देश्य की पूर्ति की दिशा मे यह अनुसधान कार्य हो रहा है? किसी नये 'तकनीक' को खोजने का प्रश्न तो कनई था ही नही। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओ के लिए पहले से जाने हुए और पूर्णत प्राप्त तकनीको को अपनाने का ही प्रश्न था। परन्तु जो कुछ हुआ, वह यही कि कीमती वस्तु, शक्ति और पैसो का व्यय छोटे-मोटे सुधार करने जैसे प्रयासो पर हुआ है और केन्द्रित उद्योगो के रूप मे वर्णित उद्योगो पर जो निर्भरता है, उसे दूर करने या काफी हद तक कम करने के साधन और रास्ते ढूढने पर ही खर्च हुआ है। इनमे से कुछ केन्द्रो मे जो समाधन खोजे गये, उनमे से कुछ साधन कार्य करने की दृष्टि से "स्वीकृत उद्देश्यो" के सदर्भ मे "सक्षम" माने जा सकते है, पर पूर्णत ग्रामो मे ही बन सके, ऐसे साधन ढूढने मे ही शक्ति लगाने के बारे मे अवश्य प्रश्न किया जा सकता है। यह बात उस समग्र अर्थ-व्यवस्था की सपूर्ण धारणा के ही विपरीत चली जाती है जिसके अनुसार हरेक क्षेत्र दूसरे पर निर्भर रहता है और प्रत्येक दूसरे की सहायता करता है। यह उन सभी बडे उद्योगो की परिलक्षित निन्दा है, जो कि स्वतत्र भारत मे उतने ही "स्वदेशी" है, जितनी कि "खादी" दावा करती है। "रूढिवादी" (या पूर्व कालीन अपिरिवर्तनकारी?) रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ के प्रभुत्व के कारण तकनीकी अनुसधान उपाहासात्मक बन कर रह गया है। करीब एक दशक बाद भी, कमीशन के क्षेत्र मे आनेवाले किसी भी उद्योग के किसी प्रशोधन कार्य के उपकरण मे उन्नत तकनीक दाखिल करके उसे विकसित किया गया हो, ऐसा नही दिखायी देता। तथाकथित 'तकनीकी अनुसधान' ऐसा कोई उपकरण ढूढ निकालने मे असफल रहा, जो तकनीकी और कार्यक्षमता, उत्पादकता, उत्पादन की प्रति इकाई लागत और फलत मूल्य की दृष्टि से सतोषकारी हो। प्रयोगशालाओ मे जो उपकरण खोजे गये, यद्यपि वे आज उपयोग मे आनेवाले साधनो से निश्चित ही श्रेष्ठ है, पर वे विशेष रूप से उच्च उत्पादकतावाले नही है अथवा मान्य तकनीको के सफल अगीकार का भी प्रतिनिधित्व वे नही करते या मानकीकरण और बडे पैमाने पर निर्मित करने योग्य भी नही है। सबसे बुरी बात तो यह है कि विशेपता युक्त और व्यक्तिगत ध्यान, जो प्रयोगशाला म देना सभव है, क्षत्र मे नही दिया जा सकता, क्योकि कारीगर वह आवश्यक कौशल अपने मे न रखता है, न विशेष वक्त खर्च किये विना उसे प्राप्त ही कर सकता है, जो कि ऊपर बताये अनुसार, किसी तरह के भौतिक लाभ की सभावना नही बताता।

असली परिवर्तन का विरोधी

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उस पर से यह खयाल स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि किसी प्रकार का अनुसधान कार्य हुआ है और वह चल भी रहा है, फिर भी प्रभावशाली रूप से अपनाने और उच्च उत्पादकता मे सहायता पहुँचानेवाले उन उन्नत साधनो एवम् उपकरणो की खोज करने, जो पूरे समय काम करने के इच्छुक और योग्य ऐसे स्वस्थ शरीरवाले लोगो को उद्योगो मे टिकाये रखने और आकर्षित करने लायक हो, की दिशा मे सच्ची एकाग्रता से प्रयास नही किया गया है। तकनीकी अनुसधान कार्य को रूढिवादिता ने सदा रोका है और यही स्थिति आज भी चली आ रही है। यह रूढिवादिता ही असली परिवर्तन का विरोध करती है। इस सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण और प्रवृत्ति ने ही कमीशन को अनेक समितिया जैसे ग्रामीण और लघु उद्योग (द्वितीय पच वर्षीय योजना) समिति, खादी और ग्रामोद्योगो के लिए मूल्याकन समितिया तथा शक्ति समिति, के उपयुक्त सुझावो पर अमल करने से रोका है। इसका फल यह हुआ कि बुनियादी नीति को प्रभावित करनेवाली सिफा-

रिशो और इस कार्यक्रम को वास्तविक रूप से सामाजिक तथा आर्थिक महत्व प्रदान करनेवाले सुझावो की स्वीकृति केवल जबानी जमा खर्च तक ही सीमित रह गयी। व्यवहार मे ये सारे कार्यक्रम वैसे ही बने रहे और उसी प्रकार प्रभावहीन रहे, जैसे कि इन समितियो की जॉच और रिपोर्ट के पूर्व थे।

उद्देश्यपूर्ण उपयोगितावाद

रचनात्मक कायकर्त्ताओ की सिद्धान्तवादी दृष्टि ही वास्तव मे प्रभावशाली कार्यक्रम की प्रगति मे बाधा पहुँचाने के लिए उत्तरदायी रही है। हर चीज को समझते हुए रचनात्मक आलोचना करने पर भी ऐसा जोशीला और अक्सर असगत बचाव किया जाता रहा है कि जिससे सुझावो का सार भी दुर्लक्ष्य हो जाता है। इन परिस्थितियो मे विकास कार्यक्रम रोजगारी की स्थिति पर किसी भी तरह का प्रभाव डालने मे असफल सिद्ध हुए तथा उनके बचाव की सभी दलीले और दावे, सब कुछ कहे और किये जाने के बाद, खाली और प्रभावहीन रहे।

बहुत अधिक मात्रा मे बढती हुई बेरोजगारी और अर्द्ध-रोजगारी की सच्चाई के बारे मे अब कोई प्रश्न नही रहा है, परन्तु जो सदेह किया गया और किया जाता है, वह बेरोजगारी की भीषण समस्या को हलका बनाने के साधन के रूप मे खादी-ग्रामोद्योगो की प्रभावशीलता के बारे मे है, जिसका कारण यह है कि एक पूरे दशक की अवधि मे भी कही भी बेरोजगारी और अर्द्ध-रोजगारी की समस्या, किसी भी प्रशसा योग्य पैमाने पर, हल करने मे ये पूर्णत असफल रहे है। इन उद्योगो से हट कर श्रमिको का भारी सख्या मे किसी दूसरी रोजगारी मे लग जाना इसी बात को प्रकट करता है कि अपर्याप्त आमदनी होने के कारण वे इन उद्योगो मे काम करते रहना नही चाहते।

वे बुनियादी सिद्धान्त, जिनसे अनुप्राणित होकर गाधीजी ने खादी की वकालत की, आज भी उतने ही सत्य है, जितने कि उनके जीवन-काल मे थे। खादी एक विशेष तकनीक के द्वारा उत्पादित उपभोक्ता सामग्री होने के अतिरिक्त, सामाजिक बुराइयो के प्रति सवेदनशीलता का भी प्रतिनिधित्व करती है। ससार की परिवर्तित स्थितियो मे खादी का अपने खुद के मूल्यो और अधिमानो के पैमाने पर जो बुनियादी सिद्धान्त है, वह प्रसगोचित है, क्योकि उसका स्थायी मूल्य है।[१६] मानवीय कार्यकलापो के आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्रो मे खादी एक विकेन्द्रित, आर्थिक एव सामाजिक सगठन का प्रतिनिधित्व करेगी, विशेषतया इसका स्वरूप ऐसा होगा कि वह जन-सख्या के जीवन-स्तर को ऊँचा उठायेगी और सामाजिक, सास्कृतिक तथा आर्थिक विकास के अवसरो की असमानताओ को कम करेगी।

बीते जमाने का दृष्टिकोण

बार-बार दुहराया जानेवाला "आत्मनिर्भरता" का आदर्श आज की परिस्थितियो मे सर्वथा अप्रासगिक और बीते जमाने का है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप मे जन्मता है और सिर्फ अपने ही समाज मे वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। धर्म, सामाजिक एवम् सास्कृतिक जीवन के साथ ही आर्थिक क्षमता सहकारी प्रयासो तथा सामान्य आदर्शो के प्रयत्नो को अपरिहार्य कर देती है। आत्मनिर्भरता के विचार द्वारा तिरस्कृत श्रम विभाजन सभी कार्यकलापो को आधार देता है। राजनीतिक, आर्थिक तथा जनाकिकीय प्रवाह आज विश्वव्यापी चिन्तन की आवश्यकता पर जोर देता है और आणविक विकासो ने राष्ट्रीय सीमाओ तक को भूल जाने की आवश्यकता पैदा कर दी है, जैसे कि अब वे सचमुच अर्थहीन हो गयी है। इस सदर्भ मे, आत्मनिर्भरता के लिए पुकार मचाना या भारी उद्योगो पर निर्भर रहने से बचना अवश्यम्भावी यथार्थताओ का मुकाबला करने से पीछे भागना ही है। यथार्थता का यही अभाव बौद्धिक जडता की बुनियाद मे है, जो सकल्पपूर्वक आगे बढने से रोकती रहती है।

---

१६. खादी विचार की पूर्ण जानकारी के लिए तुलना कीजिए **रिपोर्ट ऑफ खादी इवेल्यूएशन कमिटी**, अध्याय २।

इसी प्रकार सगठन और रोजगारी के स्वरूप के सबध मे भी कई बाधाएँ हे। आमतौर पर यह माना जाता है–जो मानो स्वय सिद्ध ही हो–कि कारखाना सगठन या अन्य किसी रूप मे रोजगारी मे बुरे है और सहकारी सगठन स्वत उच्चतर है। वैयक्तिक अभिक्रम और उद्यम मे एक व्यक्ति के दूसरे के ऊपर हावी होने के सिवा और कुछ नही हो सकता, और सहकारी सस्था मे रोजगारी, यदि उसका प्रबन्ध निहित स्वार्थवाले व्यक्तियो के हाथ मे हो तो, फैक्टरी की रोजगारी से भी बदतर हो सकती है। सभी खादी सस्थाएँ समान रूप से दयालु नही है, और न सब-के-सब फैक्टरी मालिक या मैनेजर क्रूर शोषक ही होते है। यथार्थवाद इन बीते समय के पक्षपातो को दूर फेकने की आवश्यकता का सकेत दे रहा है। प्रजातत्र मे मानवीय कार्यकलापो का अतिम नियामक जागृत और जिम्मेवार जनमन ही होता है। विकास कार्य को सभी कार्यकलापो की प्रभावशाली तथा सामाजिक रूप से सार्थ समग्रता की समस्या के रूप मे देखनेवाली नयी सामाजिक व्यवस्था मे सामाजिक जरूरतो और समस्याओ के प्रति भावनात्मकता की शिक्षा देनी होगी। स्वमताग्रह तो केवल प्रगति रोकने का ही काम करता है और उद्देश्ययुक्त प्रयत्नो को प्रोत्साहित नही करता।

कल्याण का उत्तरदायित्व

आधुनिक, औद्योगीकृत और तीव्र गति से विकसित होती हुई अर्थ-व्यवस्था के सदर्भ मे यह मान्य है कि सामाजिक कल्याण का उत्तरदायित्व सरकार, मालिक और कर्मचारी इन तीनो का है। हाल के श्रमिक, फैक्टरी और औद्योगिक विधि-विधान इस बात की दृढ स्वीकृति पर आधारित है कि सामाजिक कल्याण मे त्रिदलीय आयोजन, सहयोग और प्रशासन निहित है और सरकार की भूमिका निश्चित ही एक पच की तरह है। अतएव हमारे लिए यह जरूरी है कि इस सदर्भ मे हम सगठन के सभी स्वरूपो और नमूनो को विकास की सामाजार्थिक परियोजना मे समान और समझदार भागीदार के रूप मे ग्रहण करे। उपयोगितावादी दृष्टिकोण, जो कि व्यक्तिगत उद्योगकर्त्ताओ के व्यापार की सभाव्य लाभकारी भूमिका को मान्यता देता है, विकास को शीघ्र सरल बना सकता है, क्योकि वह समुदाय के अधिकाश उद्यमी और उन्नति के लिए तत्पर लोगो के सक्रिय सहयोग को प्राप्त कर सकेगा। इसके अतिरिक्त उद्योग, श्रम और सामाजिक सम्बन्धो को प्रभावित करनेवाले मौजूदा कानून सर्व-साधारण रूप से व्यापक है, और यदि उन्हे प्रभावकारी रूप से लागू किया गया, तो वे बिना किसी बडे परिवर्तन के, समाज के सभी वर्गो के अधिकार की रक्षा कर सकेगे, एव उनके विशेषाधिकारो को भी प्राप्त कर सकेगे। सबके द्वारा स्वीकृत आदर्शो की प्राप्ति के लिए सामान्य समस्याओ के हल के प्रति पारस्परिक दायित्वो की सामाजिक चेतना सभी विकेन्द्रित सामाजार्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है, और यह वही उद्देश्य है, जिसका उत्साह के साथ निरतर पालन ओर प्राप्ति के प्रयत्न होने चाहिए।

यथार्थतायुक्त पुनर्गठन

ग्रामीण क्षेत्रो के सामाजिक विकास सबधी सही और समग्रतायुक्त दृष्टिकोण विकसित करने मे जो बाधाएँ वर्तमान है, वे उपर्युक्त विचारो को स्वीकार करने से दूर हो सकती है। विचार और कार्य स्वयमेव आर्थिक बुराइयो को दूर करने की नीति और उपायो को प्रतिबिबित करेगे, क्योकि वे अपनी शक्ति सीधे समुदाय से ही प्राप्त करेगे। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, अखिल भारत हाथ करघा मण्डल व लघु स्तरीय उद्योग मण्डल के कार्यो की भूमिका और कार्यक्षेत्र का जो सर्वथा असमर्थनीय विभाजन हुआ है, वह ग्रामीण विकास मडलो की स्थापना कर दूर किया जा सकता है, जो कि सभी आर्थिक हितो की सहभागिता के लिए योग्य सघटनात्मक ढाचा प्रस्तुत करेगा तथा किसी भी कार्यक्रम पर जन-सम्मति की मुहर लगा सकेगा। सामाजिक कल्याण और आर्थिक उन्नति के स्वीकृत और प्रशसनीय उद्देश्य रखने के बावजूद कमीशन की वर्तमान योजनाओ को जनता का सहयोग या स्वीकृति नही मिल पाती, जैसे कि जनता के समर्थन

की वर्तमान मात्रा और उत्साह से दिखाई देता है।

कमीशन ने पिछले दशक मे वास्तविक उद्देश्य और महत्ता के कार्यक्रम के कार्यान्वियार्थ सगठनात्मक तथा प्रशासनात्मक बुनियादी तैयारियॉ पूरी कर ली है। इसके कार्यक्रम को नियत्रित करनेवाली इसकी नीतियो, उनके प्राविधिक-आर्थिक तत्वो, और अर्थ-व्यवस्था के समग्र और स्थायी अग के रूप मे विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था की स्थापना और विकास के साथ उसकी सबद्धता तथा इनके प्रभावशाली कार्यान्वय हेतु आवश्यक प्रशिक्षण और अनुसधान के कार्यक्रम पर पुर्नविचार करना अत्यावश्यक है, और इस पर यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही विचार करना चाहिए।

जैसाकि शुरू मे ही बताया गया है, खादी केवल एक उपभोक्ता वस्तु नही है, बल्कि कुछ बुनियादी सिद्धान्तो का पुज है। वे तथाकथित भावनात्मक मूल्य, जो खादी के साथ जोडे जाते है, अक्सर भावुकता की उस सीमा तक उतर आते है, जहॉ खादी अपने निज के समस्त मल्य ही खो बैठती है। खादी के सामाजिक उद्देश्य की मान्यता, जिसे गाधीजी अपनी सर्वश्रेष्ठ विरासत के रूप मे राष्ट्र के पास छोड गये है, उस प्रयास कार्यक्रम की तैयारी मे सहायक हो सकती है जो कि सब को आर्थिक रूप मे स्वीकार्य होगा और सामाजिक रूप मे वह इतना महत्व-पूर्ण होगा कि सभी वर्ग के लोग इसमे स्वेच्छापूर्वक सहयोग दे सकेगे।

हमारी जनता के ६० प्रति शत से भी अधिक भाग की आय का निम्न स्तर और उसकी गरीबी के किसी तात्का-लिक सुधार की क्षीण सभावनाऍ हमे सतत निर्भर रखने-वाले कार्यक्रमो अथवा स्थायी फल का आश्वासन न दे सकने योग्य कार्यकलापो की ओर न ले जा पाएँ इसका ध्यान हमे रखना होगा। दुर्भाग्य से ये दोनो ही सामाजिक-आर्थिक-सरचना मे बुराइयॉ और सभाव्य राजनीतिक खतरा पैदा करते है। इस परिस्थिति को सुधारने की दृष्टि से जो परिवर्तन जरूरी है, वे इतने पर्याप्त होने चाहिए कि वर्तमान काल मे जनता मे प्रेरणा भर दे और उन्हे इस बात के लिए उत्साहित करे कि वे अपने प्रयत्नो को जारी रखे तो अतत सफलता मिलेगी ही। अगर यह लेख नीति तय करनेवाले लोगो को उपर्युक्त तरीको से सोचने के लिए बाध्य कर सके, तो मेरा प्रयास सार्थक होगा।

बम्बई २१ अगस्त १९६३

अभय के मानी है बाहरी भयमात्र से मुक्ति—मौत का भय, धन दौलत लुट जाने का भय, कुटुंब परिवार विषयक भय, रोग भय, शस्त्रप्रहार का भय, प्रतिष्ठा का भय, किसी के बुरा मानने का भय।

— महात्मा गाधी

गत पन्द्रह वर्ष में रोजगारी व बेरोजगारी

भगवन्त नागेश दातार

दो योजनाएँ पूरी होने और तीसरी के चलने के बावजूद बेरोजगारी की स्थिति बदतर होती जा रही है, अर्थ-व्यवस्था का विकास जैसी कल्पना की गयी थी, उससे धीमा हो रहा है। पिछले पन्द्रह वर्ष में रोजगारी की क्या स्थिति रही है, उस पर तथा बेरोजगारी के विभिन्न पहलुओं पर प्रस्तुत लेख में विचार किया गया है।

आयोजन और विकास के सन्दर्भ में रोजगारी का कितना महत्व है, इस बात पर जोर देने की शायद ही कोई आवश्यकता हो। काम चाहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति रोजगारी की स्थिति से अवश्य प्रभावित होता है। अगर उसे काम नही मिलता है, तो स्वयम् उसे तथा उसके परिवार को तो जीवन में कठिनाई का सामना करना ही पडता है पर साथ-साथ राष्ट्र को भी हानि उठानी पडती है, क्योकि ऐसी अवस्था मे राष्ट्र के उत्पादन कार्य मे बिना हाथ बँटाए वस्तुओ का उपभोग होता है। देश मे लोग अपनी शिक्षा, प्रशिक्षण, सहज प्रवृत्ति और क्षमता या कौशल के अनुसार हजारो काम-धधे करते है। कुछ लोग गाँवो मे रहते है तो कुछ शहरो मे और काम की खोज मे वे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में साधारणत गाँवो से शहरो मे जाते है। यद्यपि काम की खोज करना व्यक्ति के लिए बडा सहज दीखता है, किन्तु उसे प्राप्त करना सदैव ही आसान नही होता। वस्तुत आज रोजगारी पाने का वास्तविक सघर्ष चल रहा है, और इससे यह प्रश्न राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री और आयोजक से लेकर साधारण व्यक्ति तक की गहरी और स्थायी दिलचस्पी का विषय बन जाता है।

अन्तर

आर्थिक विकास और रोजगारी के अवसर निर्माण करना, ये दोनो एक ही प्रक्रिया के दो पहलू है जिसका ध्येय बेहतर जीवन व्यतीत करने की हमारी अनन्त आकाक्षाओं की पूर्ति करना है। रोजगारी (यानी व्यक्ति जो दैनिक या मासिक पारिश्रमिक अथवा वेतन अर्जित करते हुए काम करते है) और बेरोजगारी (यानी व्यक्ति जो काम मे लगे थे पर बाद में बेरोजगार हो गये या वे व्यक्ति जो काम की तलाश में है) मे जो अन्तर है वह बिल्कुल स्पष्ट है। ये विचार ऐसे काम से सम्बन्धित है जो पारिश्रमिक पर होता है और ऐसी विकसित अर्थ-व्यवस्था का वर्णन करने मे प्रयोग मे लाये जाते है, जहाँ के लोगो को या तो रोजगारी प्राप्त है या वे बेरोजगार है।

बेरोजगारी के कारण

विकसित अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी का मुख्य कारण तकनालाजिकल परिवर्तन होता है और वह अस्थायी होती है तथा व्यापार की स्थिति मे सामान्य अर्थ मे होनेवाले उतार-चढाव पर और अभिनवीकरण एवम् उत्पादन प्रक्रिया में उन्नत तकनीकों के उपयोग से उत्पादकता के स्तर मे हुए परिवर्तनो पर आधारित रहती है। विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे आयोजक को उत्पादकता और रोजगारी में वद्धि करनेवाले तरीको मे सतुलन स्थापित करना पडता है। नये-नये उद्योगो और परियोजनाओ से रोजगारी के नये द्वार उन्मुक्त होते है। निरन्तर रोजगारी उपलब्ध करने और जनशक्ति बर्बाद जाने से रोकने के लिए प्रविस्तरण प्रबन्ध करने की आवश्यकता होती है। विकासोन्मुख अर्ध-व्यवस्था मे अर्ध-बेरोजगार लोगो का भी खयाल करना पडता है, जो बिल्कुल बेकार तो नही है पर उनके पास पूरा काम नही होता और वे अतिरिक्त काम के लिए उपलब्ध है अर्थात् वे और भी काम कर सकते है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि देश मे फिलहाल जैसी स्थिति है उसमे काफी लोग बेरोजगारी से प्रभावित है और उनसे भी ज्यादा लोग ऐसे है, जिन्हे आशिक रोजगारी ही प्राप्त है। यद्यपि गॉवो मे पूर्ण और अर्ध बेकारी मे अन्तर नही किया जा सकता, पर पूर्ण बेकारी की समस्या प्राय शहरो मे अधिक है और अर्ध बेकारी की गॉवो मे। चूकि काम करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त काम नही मिल पाता, इसलिए जो-कुछ थोडे-बहुत काम के अवसर उपलब्ध है काम करनेवालो मे उनका बॅटवारा हो जाता है। अगर इस अतिरिक्त जन-शक्ति को सक्रिय बना दिया जाय तो आर्थिक विकास बडी तीव्र गति से हो सकता है। यह कथन कि भारत मे साधनो की प्रचुरता होते हुए भी गरीबी व्यापक रूप से व्याप्त है, शायद प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध एक ही साधन-स्रोत—जन-शक्ति—की ओर सकेत करता है।

गत १५ वर्षो मे रोजगारी की स्थिति के मूल्याकन का अर्थ है १९४७ यानी स्वतत्रता-प्राप्ति के वर्ष से मूल्याकन शुरू करना। इस सम्बन्ध मे मुख्य कठिनाई है जानकारी की कमी और अन्तर इतने विस्तृत है कि रोजगारी, बेरोजगारी और अर्ध रोजगारी की स्थिति का परिपूर्ण चित्र उपस्थित करना सम्भव नही है। सन् १९४७ और १९५० के बीच की अवधि ऐसी अवधि थी कि उसमे देश की शक्ति विभाजन से उत्पन्न समस्याओ के समाधान मे ही लगी। अत १९५१ की जन-गणना ही एक ऐसा साधन है जिस पर हम विश्लेपण करने के लिए निर्भर रह सकते है। किन्तु जन-गणना तो इस बात का अध्ययन करने मे ही उपयोगी हो सकती है कि काम मे लगे लोग किस प्रकार के काम करते है।

नगरो मे रोजगारी

बेरोजगारी और वह भी मुख्यत शहरी क्षेत्रो की बेरोजगारी के सम्बन्ध मे जानकारी राष्ट्रीय रोजगारी सेवा के अन्तर्गत रोजगारी कार्यालयो के जरिये प्राप्त की जाती है। दिसम्बर १९४७ मे रोजगारी कार्यालयो के पास करीब १ लाख ७२ हजार लोगो ने अपने नाम दर्ज कराये थे और दिसम्बर १९५० मे यह सख्या बढ कर २ लाख ८७ हजार हो गयी थी। रोजगारी और बेरोजगारी की स्थिति को समझने के लिए इन आकडो की व्याख्या अनेक सीमाओ यानी बातो से नियत्रित होती है, जैसे रोजगारी कार्यालयो की कुछ चुनिन्दा स्थानो पर ही स्थापना, समय-समय पर इन कार्यालयो की सख्या मे वृद्धि होना, इन कार्यालयो मे स्वेच्छा से नाम दर्ज कराना और इनके जरिये काम दिलाना, काम मे लगे लोगो द्वारा अच्छा काम पाने हेतु नाम दर्ज कराने की सम्भावना आदि। अत ये आकडे शहरो की बेरोजगारी की स्थिति से भी पूर्णत अवगत नही कराते। यद्यपि इस अवधि मे श्रम-शक्ति की वृद्धि और रोजगारी के सृजन का विवरण उपलब्ध नही है, पर यह मानना अनुचित न होगा कि १९४७ से १९५१ के बीच की अवधि मे आर्थिक मामलो पर जो चर्चाएँ हुई उनमे बेरोजगारी मुख्य विपय नही रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय महायुद्ध और कोरिया की लडाई के कारण बाजार मे जो तेजी आयी थी, उससे रोजगारी की स्थिति मे कुछ इस हद तक स्थिरता आयी कि वह अधिक चिता-जनक नही थी।

दो योजनाओं मे

अब प्रथम एवम् द्वितीय योजना-काल मे परिमाण की दृष्टि से रोजगारी की स्थिति का मूल्याकन करना समीचीन होगा। परिमाण की दृष्टि से रोजगारी की स्थिति को प्रभावित करनेवाले कारण है (अ) योजना के शुरू मे बेरोजगारो की सख्या, (आ) योजनावधि मे श्रम-शक्ति मे वृद्धि, और (इ) योजना के कार्यान्वयन के परिणाम-स्वरूप अतिरिक्त रोजगारी के अवसरो का सृजन। अन्तिम (इ) के सम्बन्ध मे अनुमान लगाते वक्त अर्थ-व्यवस्था के आयोजित विभाग मे प्रत्यक्ष रूप से रोजगारी प्राप्त व्यक्तियो की सख्या पर ही ध्यान नही दिया जाता बल्कि उन लोगो की सख्या का भी ध्यान रखा जाता है जिन्हे परोक्ष रूप से व्यापार, वाणिज्य और यातायात के क्षेत्रो मे रोजगारी उपलब्ध हुई है। श्रम-शक्ति मे हुई वृद्धि की गणना लाभदायक रूप से काम

मे लगे या काम पाने की कोशिश मे लगे १५-५९ वर्ष के आयु वर्ग मे आनेवाले स्त्री-पुरुषो के अनुपात से की जाती है।

प्रथम योजना

प्रथम योजना मुख्य रूप से महायुद्ध और देश के बँटवारे से उत्पन्न विशिष्ट समस्याओ को हल करने के उद्देश्य से बनायी गयी थी। उल्लिखित कारणों से इस योजना मे रोजगारी की स्थिति पर विशेष ध्यान नही दिया गया। मोटे तौर पर प्रथम पच वर्षीय योजना का उद्देश्य देश की अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद मजबूत करना और आगामी वर्षो मे विकास की गति मे तीव्रता लाने के लिए सास्थानिक परिवर्तन लाना था। परन्तु योजना के मध्य मे योजना आयोग को बेरोजगारी की समस्या पर ध्यान देना पडा। कोरिया की लडाई से उत्पन्न तेजी के गिरते ही काम चाहनेवालो की सख्या मे वृद्धि होने लगी और दिसम्बर १९५३ मे रोजगारी कार्यालयो के पास काम चाहनेवालो के नामो की सख्या करीब ५ लाख २२ हजार तक पहुँच गयी। अत बेरोजगार लोगो को काम देने के उद्देश्य से विशिष्ट योजनाएँ सम्मिलित करने हेतु योजना मे सशोधन किया गया। ऐसी अल्प-कालीन योजनाएँ सम्मिलित की गयी, जिनसे रोजगारी के सृजन को प्रोत्साहन मिले। आरम्भ मे प्रथम योजना मे कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रो मे ५५ लाख लोगो को काम उपलब्ध कराने का लक्ष्य था।

योजनावधि मे 'एक दश-सूत्री कार्यक्रम' सहित और जो कार्यक्रम शुरू किये गये उनके फलस्वरूप प्रथम योजना के लिए निर्धारित लक्ष्य लगभग प्राप्त हो गये। किन्तु प्रथम योजना मे जितने नये काम करनेवालो की सख्या बढी थी उसके हिसाब से यह लक्ष्य भी कम था। बाद मे रोजगारी की स्थिति बिगडी और इसका पता इस बात से लग जाता है कि मार्च १९५६ तक रोजगारी कार्यालयो के रिक्त रजिस्टर, (लाइव रजिस्टर) के नाम दर्ज करानेवाले बेरोजगारो की सख्या ७ लाख ५ जार तक पहुँच गयी। इन पाँच वर्षो मे (मार्च १९५१ से मार्च १९५६ तक की अवधि मे) विशुद्ध वृद्धि ३ लाख ६८ हजार थी। इन आकडो का अध्ययन यदि शहरो की बेकारी पर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (प्रारम्भिक सर्वेक्षण) मे प्राप्त परिणामो को दृष्टिगत रख कर किया जाय तो (सर्वेक्षण के अनुसार सिर्फ २५ प्रति शत बेकार लोग ही अपना नाम रोजगारी कार्यालयो मे दर्ज कराते है) १९५१ और १९५६ मे मौजूदा बेकारी की हालत का मोटे तौर पर अन्दाज लगाया जा सकता है। शायद इनकी सख्या क्रमश १३ लाख ४८ हजार और २८ लाख २० हजार हो सकती है।

द्वितीय योजना

इस आधार पर द्वितीय योजना के प्रारम्भ मे अस्थायी बेकारी को छोड कर– जिनका होना अपरिहार्य है–२५ लाख बेरोजगार लोगो का अनुमान लगाया गया। कृषि श्रमिक जाँच समिति के प्रतिवेदन के आधार पर गाँवो मे बेरोजगारो की सख्या का अनुमान २८ लाख लगाया गया था। रोजगारी प्रदान करना द्वितीय योजना का चार लक्ष्यो मे से एक था। इस समस्या को भली-भाँति समझने हेतु द्वितीय योजना-काल मे नियमित रूप से रोजगारी विषयक जानकारी एकत्रित करनेवाला सगठन काफी शक्तिशाली बनाया गया, नये रोजगारी कार्यालय स्थापित किये गये और इन कार्यालयो द्वारा चलाये जानेवाले रोजगारी के विषय मे सूचना देने-वाले केन्द्रो का एक जाल-सा बिछाया गया। ये केन्द्र ऐसे सार्वजनिक एवम् गैर सरकारी प्रतिष्ठानो मे, जिनमे से प्रत्येक मे २५ या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हो, रोजगारी की हालत की खबरे देने लगे। और, प्रत्येक केन्द्र ने विभिन्न स्थानो पर रोजगारी की स्थिति मे होनेवाले परिवर्तनो के बारे मे उपयोगी सामग्री प्रदान की।

दूसरी योजना के प्रारम्भ मे देश मे ५३ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे, जिनमे से २५ लाख शहरो मे व २८ लाख गाँवो मे थे। यह अनुमान था कि दूसरी योजना की अवधि मे काम चाहनेवाले नये एक करोड लोग आ जायेगे। पूर्ण रोजगारी देने के लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए द्वितीय पच वर्षीय योजना की अवधि मे १ करोड ५० लाख से

अधिक लोगो को काम देना आवश्यक था। यह स्वीकार किया गया था कि योजनावधि मे बढती हुई बेकारी को रोकने के लिए कम से कम उन लोगो को जो प्रति वर्ष काम पाने के लिए तैयार हो जाते है, काम दिलाने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए, ताकि बेरोजगारी की स्थिति जहाँ की वहाँ रोक रखी जाय। अत दूसरी पच वर्षीय योजना का लक्ष्य करीब एक करोड लोगो को काम दिलाना रखा गया। यह अपेक्षा की गयी थी कि सिचाई, सामुदायिक विकास, ग्राम एवम् लघु उद्योगो आदि सम्बन्धी कार्यक्रमो के जरिये अर्ध बेकारो को भी कुछ राहत मिल जायगी। इसके अतिरिक्त शिक्षित बेकारो के लिए कुछ विशेष योजनाएँ बनायी गयी, जैसे कार्य-सह-अभिस्थापन केन्द्रो, सहकारी भारवाही यातायात, उत्पादन केन्द्रो आदि की स्थापना।

रोजगारों की संख्या मे वृद्धि

तथापि, योजना के परिव्यय और स्थूल लक्ष्यो मे सशोधन करके कमी करनी पडी और साथ ही कीमते बढी जिससे योजना के लिए निर्धारित रोजगारी के अवसरो मे २० प्रति शत की कमी हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि तीसरी योजना के प्रारम्भ मे बेरोजगार व्यक्तियो की सख्या ओर भी बढी हुई थी। प्रथम और द्वितीय योजनाओ मे रोजगारी के अवसर निर्मित करने मे काफी प्रयत्न करने के बावजूद उनकी समाप्ति पर देश मे बेकारो की सख्या बढी। अनुमानत उस समय करीब ९० लाख लोग बेकार थे, जिन्हे रोजगारी देने का काम तृतीय और उसके बाद की योजनाओ पर छोडा गया। यह सख्या देश की कुल ४३ करोड ९० लाख जन-सख्या का करीब २ १ प्रति शत है।

बेरोजगारो की इतनी वडी सख्या होने के अतिरिक्त यह अनुमान लगाया गया था कि तृतीय योजना की अवधि मे करीब १ करोड ७० लाख व्यक्ति नये काम करनेवाले तैयार हो जयेंगे और १९६१ की जन-गणना के आकडो के हिसाब से–जिन्हे अभी सारिणीबद्ध किया जा रहा है–जब इस सख्या मे सशोधन किया जायगा तो वहुत सम्भव है कि यह और भी बढ जाय। यद्यपि अर्ध-बेकारी की अवस्था का सही-सही अनुमान लगाना सम्भव नही है, पर ऐसे लोगो की सख्या जिनके पास थोडा ही काम है और वे अधिक काम पाने के लिए इच्छुक है, आज १ करोड ५० लाख से १ करोड ८० लाख तक मानी जाती है। यह अनुमान राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा १९५५ और १९५७ के मध्य की गयी जाँचो पर आधारित है और यह उन लोगो से सम्बन्धित है, जिन्हे औसतन दैनिक चार घण्टा या उससे कुछ कम समय तक ही काम मिल पाता है (वे बुरी तरह अर्ध बेकारी के शिकार है) तथा उन लोगो से जो प्रति दिन ४ घण्टे से ८ घण्टे तक काम कर लेते है (साधारणत अर्ध बेकार लोग) किन्तु अधिक काम पाने के इच्छुक है। तृतीय योजना का लक्ष्य १ करोड ७० लाख व्यक्तियो के लिए काम के अवसर निर्मित करना है, जोकि अपेक्षित नयी श्रम-शक्ति की वृद्धि के बराबर ही है।

तृतीय योजना मे इस समस्या के विभिन्न पहलुओ और रोजगारी का लक्ष्य प्राप्त करने के कल्पित उपायो पर भी व्यापक रूप से विवेचन किया गया है। इसका उद्देश्य १ करोड ४० लाख व्यक्तियो को रोजगारी देने की व्यवस्था करना है–जिनमे से १ करोड ५ लाख को गैर कृषि क्षेत्र मे और ३५ लाख को कृषि और उसकी सहायक गतिविधियो मे। योजना के अतिम वर्ष मे ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमो द्वारा गॉवो मे योजना के अन्तिम वर्ष तक २५ लाख व्यक्तियो को काम देने की व्यवस्था भी की गयी है, परन्तु यह कार्यक्रम मुख्यत अर्ध बेकारो को राहत देने के रूप मे ही होगा। ग्रामीण और लघु उद्योगो, उनकी उत्पादक-क्षमता का पूर्ण उपयोग, ग्रामीण औद्योगीकरण, ग्रामीण विद्युतीकरण, यातायात आदि से सम्बन्धित कार्यक्रमो को रोजगारी के अवसर निर्मित करने की दृष्टि से बहुत महत्व दिया जाता है।

ग्राम, खण्ड और जिला स्तरो पर बेरोजगारी की समस्या को हल करने पर भी योजना पर्याप्त जोर देती है। पहले की तरह यह वताया जा चुका है कि बेरोजगारी

निवारण की प्रक्रिया एक लम्बे अर्से तक चलनेवाली प्रक्रिया है। योजना मे रोजगारी का एक दीर्घ-कालीन उद्देश्य यह है कि १९७६ तक कृषि पर निर्भर रहनेवाली श्रम-शक्ति का अनुपात घटा कर ६० प्रति शत कर दिया जाय। इसका यह अर्थ है कि १९६१-१९७६ की अवधि मे गैर कृषि क्षेत्र मे ५ करोड व्यक्तियो को काम देने की व्यवस्था की जाय।

मन्द आर्थिक विकास

तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षो मे रोजगारी मुहैया करने का जो क्रम रहा है उसके सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि अमूमन तौर पर श्रम-शक्ति मे ३० लाख नये व्यक्ति वार्षिक रूप मे काम चाहने के लिए तैयार हो जाते है, उनके समकक्ष ४० लाख को काम देने की व्यवस्था की गयी होती। स्पष्टत प्राप्त सफलता हमारी आवश्यकता मे ओछी पडती है। रोजगारी कार्यालयो मे नाम दर्ज व्यक्तियो की सख्या मे भी उक्त स्थिति का प्रतिबिम्ब मिलता है। उनकी सख्या मार्च १९६१ के अन्त मे १५ लाख ६१ हजार थी जो मार्च १९६२ मे १८ लाख ५४ हजार तक और मार्च १९६३ मे तकरीबन २५ लाख तक पहुंच गयी। इस बात के लिए कुछ रियायत करते हुए भी कि रोजगारी कार्यालयो की सख्या में कुछ वृद्धि ओर रिक्त स्थानो को अनिवार्य रूप से अधिसूचित करने का कुछ प्रभाव पडा हो, तो भी इतनी अधिक वृद्धि वस्तुत गहरी चिन्ता का विषय है।

कुल मिला कर देखने पर यह कहा जा सकता है कि जिस गति से आर्थिक विकास होने की कल्पना की गयी थी, उससे उसकी गति काफी कम रही है। राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आकडो से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। कृषि उत्पादन प्राय स्थिर रहा है। शक्ति, कच्ची सामग्री, विदेशी विनिमय आदि की कमी जैसी अनेक बाधाओ के कारण उद्योग अपनी क्षमता से कम काम कर रहे है। यदि जन-सख्या वृद्धि १९५१-६१ की दर से जारी रहती है तथा विकास की गति भविष्य मे तीव्र नही हुई, तो यह मानने के कारण है कि तृतीय योजना के दरमियान रोजगारी की स्थिति और भी खराब हो जायेगी।

इसके साथ ही साथ कि बेरोजगारो की सख्या मे वृद्धि होती है, दूसरी तरफ जन-शक्ति की–विशेष कर तकनीकल ओर वृत्तिक कार्यकर्त्ताओ के मामले मे–कमी है। किसी हद तक यह बात क्षेत्रीय असतुलन के कारण हो सकती है, लेकिन समग्र रूप से देखने पर पता चलता है कि अर्थ-व्यवस्था की जन-शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओ तथा जन-शक्ति की पूर्ति के बीच सतुलन की कमी शायद अस्थायी है। तदनुसार तृतीय योजना मे प्राविधिक शिक्षा के पर्याप्त विस्तार और प्रशिक्षण सुविधाओ की व्यवस्था है, ताकि वर्तमान आवश्यकताएँ पूर्ण की जा सके एवम् भविष्य मे सभी स्तरो पर इस प्रकार के व्यक्तियो की उपयुक्त पूर्ति के लिए नीव डाली जा सके। देश के अन्दर ही प्रशिक्षित तकनीकल व्यक्ति तैयार करना, जन-शक्ति उपयोगिता का एक महत्वपूर्ण अग है। कुछ समय के लिए उधार लिये गये व्यक्तियो से काम चलाना सम्भव है, पर चूँकि प्रशिक्षित व्यक्तियो की भी ससार मे कमी है, इसलिए अनवरत रूप से उन्हे बाहर से बुलाते रहना न तो वाछनीय है और न शक्य ही।

गत बारह वर्ष मे हमारी बेरोजगारी के एक दूसरे पहलू–शिक्षित बेरोजगारो–की तरफ देश का ध्यान गया है। रोजगारी कार्यालयो के रजिस्टरो से पता चलता है कि शिक्षित व्यक्ति पर्याप्त सख्या मे बेरोजगार है। इस मामले मे छानबीन करने की आवश्यकता है। सन् १९५५ मे नियुक्त एक अध्ययन दल के अनुमान के मुताबिक–जिसने उन व्यक्तियो को शिक्षित माना था, जो मैट्रिक की परीक्षा मे उत्तीर्ण हो चुके थे—द्वितीय योजना के प्रारम्भ मे बेरोजगारी की सख्या ५ लाख ५० हजार थी। तब से इस सख्या मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस अध्ययन का एक परिणाम यह निकला कि इसने विश्व विद्यालय के स्तर की शिक्षा और रोजगारी के मध्य सम्बन्ध मालूम यानी स्थापित करने के विचार का प्रचलन किया, ताकि उस दिशा की खोज की जा सके, जिसमे शिक्षा का अभिनवीकरण करने की आवश्यकता है।

इस दिशा मे प्रथम कदम यह था कि दिल्ली विश्व विद्यालय से १९५० और १९५४ मे निकले विद्यार्थियो

का १९५८-५९ मे एक मर्वेक्षण किया गया। इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति शामिल थे, जिन्होने उक्त वर्षो मे स्नातकीय उपाधियॉ, डिप्लोमा तथा प्रमाण-पत्र प्राप्त किये। यद्यपि ऐसा लगता है कि सर्व प्रथम रोजगारी मिलने से पहले उक्त विद्यार्थियो मे से बहु-सो को एक वर्ष तक बेरोजगार रहना पडा, किन्तु समग्र रूप से देखने पर उनकी रोजगारी सम्बन्धी स्थिति असन्तोष-जनक नही पायी गयी। उनमें से अधिकाश को सार्व-जनिक विभाग मे काम मिला। सर्वेक्षण से यह भी पता चला कि अधिक वेतन, पेशे की दृष्टि से उच्च दर्जे अथवा अधिक सुरक्षा की खोज के लिए उनमे पर्याप्त तत्परता थी।

वृत्तिक उद्देश्यविहीनता के अत्यधिक प्रभाव के अति-रिक्त रोजगारी प्राप्त करने मे पारिवारिक पद्धति का अनुसरण करने की ओर शक्तिशाली झुकाव था। महिला विद्यार्थियो मे शिक्षण-कार्य सर्वाधिक लोकप्रिय था—करीब ५० प्रति शत स्थानो पर वे काम कर रही थी। सर्वेक्षण से इस बात का पता चला कि कानूनी पढाई के अतिरिक्त वृत्तिक तथा प्राविधिक पाठ्यक्रमो के सम्बन्ध मे शिक्षा और रोजगारी के मध्य निकट सम्बन्ध है। सामान्य शिक्षा प्राप्त अधिकाश व्यक्ति क्लर्की का काम करते पाये गये, जिससे सामान्य शिक्षा और रोजगार के मध्य असतोपजनक सम्बन्ध की स्थिति प्रकाश मे आयी। सामान्य स्नातकीय प्रमाण-पत्रो-वाले व्यक्तियो मे पर्याप्त पेशेवर सक्रियता, तत्परता पायी गयी। दिल्ली सर्वेक्षण (१९५८-५९ मे) के परि-णामो से प्रोत्साहित हो कर स्नातकीय रोजगारी की पद्धति पर १९६० मे एक अखिल भारतीय सर्वेक्षण प्रारम्भ किया गया, जो उन विश्वविद्यालयीन स्नातको तक ही सीमित था, जिन्होने १९५० और १९५४ मे डिग्रियॉ प्राप्त की। यद्यपि इस द्वितीय सर्वेक्षण के अतिम आकडे प्रकाशित नही हुए है, तो भी साराश रूप मे अखिल भारतीय आकडो से दिल्ली सर्वेक्षण के निष्कर्षो का समर्थन होता प्रतीत होता है।

इन सर्वेक्षणो तथा विकसित किये जानेवाले उद्योगो और अनुमानित जन-सयोजन पद्धति के आधार पर उनकी आवश्यकताओ के बारे मे सहायक जानकारी से शिक्षित जन-शक्ति की बेहतरीन उपयोगिता के लिए सुझाव प्राप्त होगा। ज्यो-ज्यो योजना मे प्रगति होती है, त्यो-त्यो ग्राम प्रशासन, शिक्षा, उद्योग आदि जैसे क्षेत्रो मे काम करने के लिए शिक्षित व्यक्तियो के लिए रोजगारी के अधिकाधिक अवसरो का सृजन भी होनेवाला है। अधिक रोजगारी के अवसर निर्मित करने और साथ ही साथ शारीरिक श्रम करने प्रति उनके दृष्टिकोण मे अन्तर आने से उनकी समस्या हल करने मे बहुत बडी सहायता मिलेगी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे प्रकट होगा कि

१ भारत मे रोजगारी की समस्या का तात्पर्य है पूर्ण और अल्प-बेरोजगारी—प्रथम मुख्यत शहरी क्षेत्रो मे और द्वितीय ग्रामीण क्षेत्रो मे पायी जाती है।

२ स्वतत्रता प्राप्ति से लेकर १९५१ तक आर्थिक मामलो पर हुए विचार मे रोजगारी का सवाल महत्वपूर्ण नही था, क्योकि द्वितीय विश्वयुद्ध और कोरिया की लडाई के कारण आयी तेजी का अनुकूल प्रभाव पडा।

३ प्रथम दोनो तथा तृतीय योजनाओ के अन्तर्गत विकासशील प्रयत्नो के बावजूद रोजगारी की स्थिति मे ह्रास होने के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे है, क्योकि रोजगारी का उस तीव्र गति से सृजन नही हो रहा है कि श्रम-शक्ति मे नवागतुको को काम दिया जा सके।

४ यह एक विरोधाभास ही है कि पर्याप्त जन-शक्ति के होते हुए भी प्राविधिक तथा वृत्तिक व्यक्तियो के मामले मे अर्थ-व्यवस्था के सामने जन-शक्ति की कमी आयी है। इसका अर्थ है देश मे जन-शक्ति की आवश्यकता व उसकी पूर्ति के बीच सन्तुलन का अभाव—सम्भवत अस्थायी।

५ सामान्य बेरोजगारी के साथ ही साथ शिक्षित व्यक्तियो मे भी बेरोजगारी बढ रही है।

नयी दिल्ली ७ सितम्बर १९६३

भारत में पूँजी संचयन और निवेश

अमृतलाल दत्त

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सकल अचल निवेश की वृद्धि दर सकल राष्ट्रीय उत्पादन की दर से तीव्र रही है। पूँजी सचयन की वार्षिक वृद्धि दर भी विशुद्ध अचल निवेश की दर से आगे बढ गयी है। ऐसा, उच्च वृद्धिशील पूंजी-उत्पादन-अनुपात के साथ साथ हुआ है। प्रस्तुत लेख में बताया गया है कि निर्यात-आय को अधिकतम बनाया जाय। उससे ही देश मे अचल पूँजी निर्माण की प्रक्रिया को द्रुत गति मिल सकती है।

भारत मे पूँजी निर्माण का विकास काफी समय से मन्द रहा है। उन्नीसवी शताब्दी मे दीर्घ स्तर पर विनियोजन करके जूट और वस्त्रोद्योग की स्थापना को छोड कर १९२० या १९३० तक देश मे औद्योगिक विकास प्राय गतिहीन ही रहा। उक्त समय मे यानी १९२०–३० के बीच उपभोक्ता सामग्री तथा अन्य कुछ मध्यस्थ-सृष्ट (अर्थात् ऐसे उत्पादन जो प्राथमिक भी न हो और अन्तिम भी नही, बल्कि बीच-वाले, जैसे पूनी) उत्पादन के लिए चन्द उद्योग स्थापित हुए। युद्ध तथा युद्धोत्तर काल मे इस प्रक्रिया को कुछ बढावा मिला और डीजल इजन, रेल के इजन, वस्त्रोद्योगी यत्र आदि का निर्माण करनेवाले बुनियादी सामग्री उत्पादक उद्योगो की स्थापना करने हेतु एक श्रीगणेश भी हुआ। तथापि, विनियोजन न केवल उपभोक्ता सामग्री उद्योगो मे ही सकेन्द्रित था, बल्कि उसका नियन्त्रण और प्रबन्ध भी प्राय परिपूर्ण रूप से स्वतत्र व्यक्तियो के हाथ मे था। अनेक सर्वविदित बाधक पहलुओ के कारण बुनियादी सामग्री उत्पादक उद्योगो के विस्तार की सीमित गुजाइश थी। परिणामस्वरूप अचल विनियोजन अर्थात् निवेश के लिए निर्धारित साधन-स्रोत अपेक्षाकृत मामूली थे।

देश को आजादी मिलने के साथ अचल सम्पत्ति निर्माण की दीर्घ-कालीन गतिहीनता समाप्त हुई। अगस्त १९४७ के पश्चात् का समय भारत के आर्थिक विकास मे एक नये उत्साहपूर्ण अध्याय के प्रारम्भ का द्योतक है। औद्योगिक नीति मे परिवर्तन और पच वर्षीय योजनाओ के प्रारम्भ के साथ सरकारी नीति अधिक तीव्र गति से आर्थिक विकास करने के लिए अधिकाधिक रूप से अचल निवेश यानी विनियोजन के विस्तार की ओर उन्मुख हुई। पिछले वर्षो मे देश ने कितनी तीव्र प्रगति की है, इस बात की एक झलक आजादी हासिल करने के बाद अचल सम्पत्ति निर्माण मे कितना विकास हुआ है उससे प्राप्त की जा सकती है। सन् १९४८–४९ और १९६०–६१ के बीच जहाँ सकल अचल सम्पत्ति सात प्रति शत वार्षिक की दर से बढी वहाँ सार्वजनिक विकास मे यह वृद्धि १३ प्रति शत थी और निजी विभाग मे ५ ६ प्रति शत। इसके अलावा समग्र अचल निवेश मे सार्वजनिक विकास का हिस्सा (१९५८-५९ मे प्रचलित मूल्यो के आधार पर) योजना-युग से पूर्व १९ ३ प्रति शत था, वह प्रथम और द्वितीय पच वर्षीय योजनाओ मे क्रमश २७ ३ और ३५ ५ प्रति शत हो गया। निवेश के इस परिमाण मे हुई वृद्धि के साथ सकल राष्ट्रीय उत्पादन मे सकल अचल निवेश की वृद्धि (यानी औसत निवेश अनुपात) भी हुई। जैसा कि निम्न आकडो से प्रकट है, योजना-पूर्व-काल का औसत निवेश अनुपात

टिप्पणी प्रस्तुत लेख लेखक ने व्यक्तिगत हैसियत से लिखा है।

प्रथम योजना मे १२ १ से बढ कर १३ २ प्रति शत और द्वितीय योजना मे १७ ५ प्रति शत हो गया।*

	सकल अचल निवेश मे वार्षिक वृद्धि की दर (प्रातिशत्य)	औसत निवेश अनुपात
(१९५८-५९ मे प्रचलित मूल्यो के आधार पर)		
योजना-पूर्व काल (१९४८-४९ से १९५०-५१)	४ १	१२ १
प्रथम योजना काल (१९५१-५२ से १९५५-५६)	८ ६	१३ २
द्वितीय योजना काल (१९५६-५७ से १९६०-६१)	६ ५	१७ ५
समग्र काल (१९४८-४९ से १९६०-६१)	७.०	१४ ८

स्रोत भारत सरकार केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन और सयुक्त राष्ट्र सघ एशिया और सुदूर पूर्व का आर्थिक सर्वेक्षण, १९६१।

निवेश हेतु साधन-स्रोतो का नियतन फिर भी अक्षरश योजना-कालो का पालन नही करता। इस बात का पता निवेश अनुपात के झुकाव से लग सकता है, जोकि १९५४–५५ तक प्राय स्थिर ही रहा, किन्तु उसके बाद उसमे उल्लेखनीय वृद्धि हुई। जैसा कि आगे तालिका १ मे दिये गये अको से पता चलता है स्थिर मूल्यो के आधार पर औसत निवेश-अनुपात मे सुधार हुआ और वह १९४८–४९ / १९५४–५५ के दरमियान के १२ ३ प्रति शत से बढ कर १९५४–५५/१९६०–६१ के दौरान १६ ६ प्रति शत हुआ। सन् १९५४–५५ के पश्चात् न केवल सार्वजनिय परिव्यय तीव्र बनाया गया बल्कि निजी क्षेत्र मे भी अधिक कार्यशीलताओं ने जोर पकडा, जिसे कि आजादी मिलने से पहले के प्रारम्भिक काल की अनिश्चितता के वातावरण (राष्ट्रीयकरण, श्रमिको के झगडो आदि का भय) की वजाय अपने अस्तित्व के सम्बन्ध मे अब अधिक विश्वास हो गया था। फिर भी, १९५४–५५ से सकल अचल निवेश की वृद्धि की दर सकल राष्ट्रीय उत्पादन विकास से अधिक रही है। जहाँ १९४८–४९ मे १९५४–५५ तक अचल निवेश मे वृद्धि की ओसत दर ५ ३ प्रति शत और १९५४–५५ से १९६०–६१ तक ८७ प्रति शत रही है, वहाँ सकल राष्ट्रीय उत्पादन की उक्त अवधियो के लिए औसत दर क्रमश २ ९ प्रति शत तथा ३ १ प्रति शत रही है। अतएव अध्ययन के उद्देश्य से १९५४-५५ को विभाजक रेखा माना जा सकता है।

भारत मे जिन दो विभागो ने अचल विनियोजन अथवा निवेश के विकास मे योगदान दिया उनमे निजी विभाग ने–जैसा कि उसकी भूत कालीन देन का निदर्शन किया गया है–सकल राष्ट्रीय उत्पादन मे सार्वजनिक विभाग के अपेक्षाकृत मामूली हिस्से (४ ३ प्रति शत) के समक्ष काफी अधिक (१० ५ प्रति शत) योगदान दिया। फिर भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है अचल निवेश मे वार्षिक वृद्धि की दर निजी विभाग की अपेक्षा सार्वजनिक विभाग मे काफी अधिक थी, आलोच्य काल के उतरार्द्ध मे अनुवर्ती की दर मे कुछ कमी आयी तो पूर्ववर्ती की दर मे पर्याप्त सुधार हुआ। तथापि, आलोच्य काल मे सार्वजनिक विभाग के सम्बन्ध मे जो समस्त रूप से उच्च दर दृष्टिगोचर होती है वह इस बात का प्रमाण है (यदि प्रमाण की आवश्यकता भी हो तो) कि आजादी के बाद इस विभाग ने उल्लेखनीय प्रगति की है। इसका जो न्यून निवेश अनुपात है उसे भी १९३०–४० के मध्य सार्वजनिक आर्थिक गतिविधियो के क्षेत्र मे जो गतिहीनता की अवस्थाएँ थी, उनके सन्दर्भ मे प्रभावोत्पादक समझा जा सकता है। (नीचे तालिका २ देखिए)

* इस सम्पूर्ण लेख मे अचल निवेश, स्टाक तथा अन्य सम्बन्धक आकडे 'राष्ट्रीय आय साख्यिकी' (भारत मे १९४८–४९ से १९६०-६१ तक सकल पूँजी निर्माण का अनुमान) पर प्रकाशित केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन के 'पेपर' से लिये गये है।

तालिका १

सार्वजनिक और निजी निवेश की प्रगति

(१९५८–५९ मे प्रचलित मूल्यो के आधार पर)

वर्प	सकल राष्ट्रीय उत्पादन मे मकल अचल निवेश का अनुपात			सकल निवेश मे सार्वजनिक निवेश का प्रातिशत्य
	सार्वजनिक	निजी	कुल	
१९४८–४९	२ १	९ ५	११ ६	१७ ९
१९४९–५०	२ ३	१० १	१२ ४	१८ ९
१९५०–५१	२ ६	९ ७	१२ ३	२१ ०
१९५१–५२	२ ०	१० ०	१२ ९	२२ ३
१९५२–५३	२.९	९ २	१२ १	२४ ०
१९५३–५४	३ २	८ ६	११ ८	२७ २
१९५४–५५	३ ८	०.४	१३ २	२९ २
१९५५–५६	५ ०	१० ६	१५ ६	३१ ८
१९५६–५७	५ ४	११ ९	१७ ३	३१ १
१९५७–५८	५ ४	१३ ३	१८ ७	२९ ०
१९५८–५९	५ ३	११ २	१६ ६	३२ १
१९५९–६०	७ ३	१० ८	१७ १	४२ ८
१९६०–६१	५ ८	१२ ०	१७ ८	३२ ४

स्रोत. अचल निवेश के सम्बन्ध मे आकड़े केन्द्रीय सांख्यिकीय मगठन के 'पेपर' से और मकल राष्ट्रीय उत्पादन के बारे म सयुक्त राष्ट्र मघ द्वारा १९६१ में किये गये 'एशिया और सुदूर पूर्व के आर्थिक सर्वेक्षण' से लिये गये है। द्वितीय आकड़े प्रथम से सकलित किये गये हैं।

तालिका २

सकल राष्ट्रीय उत्पादन और सकल अचल पूँजी निर्माण के विकास में सम्बन्ध

(१९५८–५९ मे प्रचलित मूल्यो के आधार पर)

वार्षिक वृद्धि दर (प्रातिशत्य)	१९४८–४९ से १९६०–६१ तक	१९४८–४९ से १९५४–५५ तक	१९५४–५५ से १९६०–६१ तक
सकल राष्ट्रीय उत्पादन (स रा उ)	३ ०	२ ९	३ १
सकल अचल निवेश (स अ नि)	७ ०	५ ३	८ ७
१. सार्वजनिक क्षेत्र	१३.०	१४.२	११ ८
२. निजी क्षेत्र	५.६	२ ७	८ ५
स. रा उ. के प्रातिशत्य स्वरूप (स अ नि.)	१४.८	१२.३	१६ ६
इसमे १ सार्वजनिक क्षेत्र	४.३	२ ९	५ ५
२. निजी क्षेत्र	१० ५	९ ४	११.१
वद्धिशील पूजी-गुणक अनुपात *	४ ९	४ २	५ ४

* औसत निवेश अनुपात को सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि की वार्षिक दर से भाग देकर निकाला गया।

आलोच्य काल मे सकल और विशुद्ध निवेश के पारस्परिक सम्बन्ध मे परिवर्तनो तथा वस्तु-सूचियो मे परिवर्तन व अवमूल्यन का अध्ययन करना यहाँ रुचिकर होगा। यद्यपि नीचे तालिका ३ मे प्रस्तुत आकडो मे कुछ समजन (जैसा कि तालिका की टिप्पणी मे बताया गया है) किया गया है, फिर भी यह माना जा सकता निवेश के परिवर्तनो मे अन्तर माल (स्टॉक) की स्फीतियो के कारण थे जो १ ३ प्रति शत से बढ कर १ ५ प्रति शत हो गयी। इसका मुख्य कारण था, देश मे फसलो का अनिश्चित होना जिससे आयात के जरिये खाद्यान्नो मे वृद्धि करना आवश्यक हो गया।

सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति सकल और विशुद्ध

तालिका ३

सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रातिशत्य स्वरूप सकल अचल निवेश, अवमूल्यन, वस्तु-सूची और पूंजी सचयन मे सापेक्षिक परिवर्तन

(१९५८–५९ मे प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

अवधि	सकल अचल निवेश	अवमूल्यन	विशुद्ध अचल निवेश	वस्तु-सूची परिवर्तन	पूजी सचयन
१९४८–४९ से १९५०–५१	१२ १	७ ६	४ ५	१ १	५ ६
१९५०–५१ से १९५२–५३	१२ ४	७ ३	५ १	१ ०	६ १
१९५२–५३ से १९५४–५५	१२ ४	६ ९	५ ५	१ १	६ ६
१९५४–५५ से १९५६–५७	१५ ४	६ ७	८ ७	१ ८	१० ५
१९५६–५७ से १९५८–५९	१७ ५	६ ५	११ ०	१ ७	१२ ७
१९५८–५९ से १९६०–६१	१७ २	६ ४	१० ८	२ १	१२ ९
१९४८–४९ से १९६०–६१	१४ ८	६ ९	७ ९	१ ४	९ ३
१९४८–४९ से १९५४–५५	१२ ३	७ ३	५ ०	१ ३	६ ३
१९५४–५५ से १९६०–६१	१६ ६	६ ५	१० १	१ ५	११ ६

टिप्पणी चूंकि विशुद्ध अचल निवेश के सम्बन्ध मे प्रचलित मूल्यो के आधार पर आकड़े उपलब्ध ह, इसलिए स्थिर मूल्यों के आधार पर विशुद्ध अचल निवेश हासिल करने के लिए प्रचलित मूल्यो के आधार पर प्रत्येक वर्ष के लिए सकल अचल निवेश के प्रति विशुद्ध अचल निवेश का अनुपात स्थिर मूल्यो (१९५८-५९) के आधार पर सकल अचल निवेश पर लागू किया गया है।

स्रोत भारत सरकार केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन।

है कि इस समजन से वस्तुस्थिति के झुकाव पर कोई प्रभाव नही पडनेवाला है। तालिका ३ से पता चल सकता है कि आलोच्य अवधि मे सकल अचल निवेश और पूँजी सचयन दोनो की ही समान रूप से प्रतिक्रिया हुई। सकल राष्ट्रीय उत्पादन के अनुपात स्वरूप सकल तथा विशुद्ध दोनो ही प्रकार का अचल निवेश पूर्वार्ध मे क्रमश १२ ३ और ५ प्रति शत था जो उत्तरार्ध मे बढ कर १६ ६ और १० १ प्रति शत हो गया। पूजी सचयन मे भी इसी प्रकार वृद्धि हुई—वह ६ ३ से ११ ६ प्रति शत हुआ। पूजी सचयन तथा विशुद्ध अचल निवेश के मध्य भारी अन्तर अवमूल्यन मे परिवर्तन प्रतिबिम्बित करते है, जो पूर्वार्ध मे ७ ३ प्रति शत था तथा उत्तरार्ध मे घट कर ६ ५ प्रति शत हुआ। जहाँ समूची अवधि मे विशुद्ध अचल निवेश सकल अचल निवेश की दर (७ प्रति शत) से काफी अधिक दर (१३ ७ प्रति शत) से बढे, वहाँ अवमूल्यन की वृद्धि १ २ प्रति शत वार्षिक की नगण्य दर (तालिका ४) से बढे। सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति अवमूल्यन का अनुपात पूर्वार्द्ध मे विशुद्ध अचल निवेश के अनुपात से अधिक था, लेकिन उत्तरार्ध मे वह उसमे कम हो गया।

अवमूल्यन का सापेक्षिक रूप मे कम अनुपात पूजी-परिसम्पत्ति की दीर्घायु प्रतिबिम्बित करता है। युद्ध-कालीन टूटे-फूटे, घिसे पिसाये पुराने यत्रो तथा सयत्रो के कारण पूर्वार्ध मे उनकी व्यवहार लोपोन्मुखता यानी उनका अप्रचलन उत्तरार्ध की अपेक्षा अधिक था, जबकि द्वितीय पच वर्षीय योजना काल मे उन्हे हमवक्त बनाने की क्रिया के कारण सार्वजनिक क्षेत्र मे नये यत्र और सयत्र स्थापित किये गये।

तालिका ४

सकल अचल निवेश, अवमूल्यन, विशुद्ध अचल निवेश और पूँजी सचयन मे वार्षिक वृद्धि दर का प्रतिशत्य

(१९५८–५९ मे प्रचलित मूल्यो के आधार पर)

मद	१९४८ से १९६०–६१	१९४८–४९ से १९५४–५५	१९५४–५५ से १९६०–६१
सकल अचल निवेश	७ ०	५ ३	८ ७
अवमूल्यन	१ २	१ १	१ ३
विशुद्ध अचल निवेश	१३ ७	१२ ३	१५ २
पूँजी सचयन	१५ ४	१४.२	१६ ६

स्रोत भारत सरकार केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन।

पूँजी संचयन

उत्तरार्ध मे पूँजी सचयन मे न केवल वृद्धि ही हुई वरन् उसकी वार्षिक वृद्धि दर विशुद्ध अचल निवेश की वार्षिक वृद्धि दर को भी मात कर गयी। यद्यपि पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्ध मे अवमूल्यन मे तनिक वृद्धि थी, पर वस्तु-सूचियो मे परिवर्तन प्राय नगण्य-सा ही रहा। इससे परमावश्यक माल की अपेक्षा कुछ अधिक माल का स्टॉक रखने के बावत औद्योगिक विभाग की असमर्थता प्रकट होती है। इसका मुख्य कारण था १९५७ मे आये विदेशी विनिमय के सकट के कारण सीमित स्तर पर कच्चे माल के 'कोटा' का निर्धारण और कठोर आयात नियत्रण। और फिर, आयात नियत्रण, टैरिफ तथा अन्य ऐसे कारणो से बाजार बहुत ही सुरक्षित था, जिससे उत्पादक भारी मुनाफे पर अपना माल जल्दी-जल्दी खाली करने मे समर्थ हुए। तथापि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तरार्ध मे केन्द्रीय गोदामो मे माल के स्टाक मे जो थोडी-बहुत वृद्धि थी वह खाद्यान्नो के मामले मे किसी सकट काल का सामना करने के कारण हुई थी। प्राप्य पूर्ति के प्रति खाद्यान्नो के कुल स्टॉक का अनुपात १९४८-४९/१९५४-५५ के ६ प्रति शत से बढ कर १९५४-५५/१९६०-६१ के दौरान १६ प्रति शत हो गया (विस्तृत विवरण के लिए पृष्ठ ८६ पर तालिका १० देखिए)। फिर भी, स्टॉक मे कुछ वृद्धि होते हुए भी उत्तरार्ध मे पूँजी सचयन मे तीव्र वृद्धि हुई। इस प्रकार अधिकाधिक अनुपात मे साधन-स्रोतो की प्रयुक्ति निवेश को बढावा और ज्यादी हासिल करने के बाद तेरह वर्ष की लघु-कालीन अवधि के दौरान अर्थ-व्यवस्था के तीव्र विकास को प्रश्रय मिला। यद्यपि अर्थ-व्यवस्था के इस विस्तार मे सार्वजनिक तथा निजी दोनो ही क्षेत्रो का हाथ रहा है, फिर भी सार्वजनिक विभाग ने जो गति हासिल की वह बहुत ही प्रभावशाली रही है।

इतना होने पर भी आलोच्यावधि के दरमियान पूँजी सचयन मे अधिकाश बढोतरी उच्च वृद्धिशील पूंजी-उत्पादन अनुपात के समकालीन अर्थात् उसके साथ हुई है। जैसा कि पीछे तालिका २ मे प्रस्तुत आकडो से पता चलता है, वृद्धिशील पूंजी-उत्पादन-अनुपात पूर्वार्ध के ४ २ से बढ कर उत्तरार्ध मे ५ ४ हो गया और उसके साथ ही सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति अचल निवेश का अनुपात भी उसी काल मे १२ ३ से बढ कर १६ ६ हो गया था। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि उद्योग तथा कृषि दोनो ही स्वतत्रता प्राप्ति के बाद प्रारम्भिक काल मे अपने क्षमता-स्तर से काफी नीचे रहे और प्राय करके माल तथा सेवाओ की कमी रही। यद्यपि बाद के वर्षो मे उपलब्ध रसद सम्बन्धी स्थिति मे सुधार हुआ, किन्तु उसके यानी सामान के सम्बन्ध मे माग और भी अधिक बढ गयी है। घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो ही क्षेत्रो मे माग के कारण घरेलू उपभोग तथा निर्यात विभाग के लिए वस्तुओ की

सप्लाई मे विस्तार हुआ है। तथापि, निर्यात विभाग के धीमे विकास और फलस्वरूप निर्यात मे मद वृद्धि के कारण इस विशिष्ट क्षेत्र मे अथवा अन्यान्य क्षेत्रो मे निवेश वृद्धि से पूँजी-उत्पादन अनुपात मे वृद्धि हुई है, विशेष कर आलोच्य-काल के उत्तरार्द्ध मे। और फिर नये क्षेत्रो मे हुए निवेश की फल-प्राप्ति मे समय लगा है और जहा सकल अनुपात पूर्वार्ध के ५ ३ प्रति शत से उत्तरार्ध मे ८ ७ प्रति शत वार्षिक की तीव्र गति मे बढा है, वहाँ सकल राष्ट्रीय उत्पादन अपेक्षाकृत मद गति से बढा है—उक्त काल मे वह २ ६-प्रति शत से बढ कर ३ १ प्रति शत ही हुआ। अतएव, यह स्वाभाविक ही है कि दीर्घ-कालीन दृष्टिकोण से रसद के मामले मे विकास अपर्याप्त रहा है।

२

घरेलू वास्तविक स्रोत

घरेलू पूँजी निर्माण की बहुविध आवश्यकताएँ पूर्ण करने हेतु निवेश के परिमाण मे तीव्र वृद्धि के साथ-साथ वास्तविक साधन-स्रोतो मे भी वृद्धि हुई है और कभी-कभी तो निवेश के परिमाण मे वृद्धि को सहायता भी मिली है। यह बात दो तरह से हुई। कुछ मूल उद्योगो—उदाहरणार्थ सिमेण्ट—के उत्पादन मे इतनी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है कि आयात कम अथवा बिल्कुल बन्द करना पडा। दूसरी ओर अचल पूँजी निर्माण की प्रक्रिया मे सहायता देने हेतु लोहे और इस्पात अथवा अन्य बुनियादी वस्तुओ जैसी चन्द सामग्रियो का आयात होने दिया गया। तालिका ५ इस बात का चित्र प्रस्तुत करती है कि घरेलू उत्पादन और/या आयात पर किस हद तक निर्भर रहा गया। यद्यपि लोहे तथा इस्पात और अन्य भवन निर्माण सामग्री (सिमेण्ट को छोड कर) का आयात अब भी—विशेष कर उत्तरार्द्ध मे—आवश्यक था, तथापि 'निर्माण' के अन्तर्गत सिमेण्ट, लोहे और इस्पात जैसे सामान के घरेलू

तालिका ५

सकल अचल सम्पत्ति निर्माण के प्रतिशत्य स्वरूप निर्माण सामग्री तथा यत्रों व उपकरणो का घरेलू उत्पादन और आयात

(प्रचलित मूल्यो के आधार पर)

मद	१९४८–४९ से १९६०–६१		१९४८–४९ से १९५४–५५		१९५४–५५ से १९६०–६१	
	उत्पादन	आयात	उत्पादन	आयात	उत्पादन	आयात
१ निर्माण सामग्री	१९ ५	२ ७	२० ४	१ ९	१९ २	३ ०
इसमे						
सिमेण्ट	३ २	० १	२ ७		३ ५	.
लोहा और इस्पात	५.९	१ ५	५ २	० ५	६ ३	२ ०
अन्य भवन निर्माण सामग्री	१० ४	१ १	१२ ५	१ ४	९ ४	१ ०
२ यत्र और उपकरण	१३ ०	१५ १	११ ३	१५ १	१३ ९	१४ ९
जिनमे						
बुनियादी सामान	८ १	८ २	७ २	१० २	८ ६	७ १
अन्य यत्रादि	४ ९	६ ९	४ १	४ ९	५ ३	७ ८
३ योग (१ और २)	३२ ५	१७ ८	३१ ७	१७ ०	३३ १	१७ ९

स्रोत भारत सरकार केन्द्रीय साख्यकीय सगठन।

उत्पादन-क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति हुई। इसके दूसरी ओर बुनियादी सामग्रियो तथा अन्यान्य प्रकार के यत्रादि के घरेलू उत्पादन मे सुधार हुआ अर्थात् उसमे वृद्धि हुई, तथापि आयात काफी अधिक हुआ, जिसका परिणाम यह निकला कि आलोच्यावधि मे सकल अचल निवेश मे उनका स्थान १५ प्रति शत था।

इस प्रकार जहाँ अचल पूँजी निर्माण की वृद्धि मे निर्माण सामग्री के उत्पादन-विस्तार ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की, वहाँ चूँकि देश मे बुनियादी-आधार का अभाव था इसलिए बुनियादी सामान तथा अन्य प्रकार के यत्रो मे वद्धि आयात के जरिये की गयी। तथापि, यह उल्लेखनीय है कि उत्तरवर्ती सामानो के घरेलू उत्पादन मे महत्वपूर्ण उन्नति हुई है, चूँकि आलोच्यावधि मे वह सकल अचल निवेश का १३ प्रति शत था। वास्तव मे सिमेण्ट तथा बुनियादी सामग्री के उत्पादन मे वार्षिक वृद्धि-दर उनके लिए प्राप्त पूर्ति (तालिका ६ देखे) से बहुत अधिक रही है। यद्यपि लोहा और इस्पात तथा यत्रो के पुर्जो के सम्बन्ध मे वृद्धि दर बहुत अच्छी रही है तथापि, आलोच्य-काल मे उक्त दो मदो के आयात मे बहुत वृद्धि हुई है। इसके दूसरी ओर सिमेण्ट के आयात मे १४ प्रति शत वार्षिक दर से गिरावट आयी है। उत्तरार्द्ध मे उत्पादन तथा आयात (सिमेण्ट को छोड कर) दोनो क्षेत्रो मे ही तीव्र वृद्धि हुई है और आयात के– खास कर लोहा और इस्पात तथा अन्य यत्रो के पुर्जे आदि का–जरिये जो साधन-स्रोत प्राप्त किये गये वे उनके घरेलू उत्पादन के जरिये जो वृद्धि हुई उससे काफी अधिक थे। सामान्यत आलोच्य काल मे जहाँ समग्र निर्माण सामग्री का आयात यत्रो/उपकरणो की वार्षिक दर से तीव्र दर से बढा वहाँ उत्पादन तथा प्राप्य पूर्ति दोनो ही क्षेत्रो मे प्रथम की अपेक्षा द्वितीय मद की गति तीव्र रही।

तालिका ६

प्राप्य पूर्ति, निर्माण सामग्री तथा यत्रों व उपकरणो के उत्पादन और आयात में वृद्धि/कमी की वार्षिक दर

(प्रातिशत्य प्रचलित मूल्यो के आधार पर)

मद	१९४८–४९ से १९६०–६१			१९४८–४९ से १९५४–५५			१९५४–५५ से १९६०–६१		
	प्रा पू	उ	आ	प्रा.पू.	उ	आ	प्रा पू	उ	आ
निर्माण सामग्री									
सिमेण्ट	१७१	१८२	–१४	१८२	२०५	–०३	१६१	१५९	–२५
लोहा और इस्पात	१६५	१५२	४०८	१२५	१२५	१९२	२०६	१७८	६२५
अन्य	५०	५१	७०	२५	२२	९९	७५	८०	४१
योग	९६	९६	१७२	६३	६७	८४	१२९	१२४	२६०
यंत्र तथा अन्य उपकरण									
बुनियादी सामग्री	८६	१२६	५४	४३	८७	१३	१३०	१६५	९४
अन्य यत्र	१९५	१३५	१७९	७०	६५	७७	३२०	२०५	२८०
योग	१११	१२८	९८	४९	७६	२९	१७३	१७९	१६७
कुल योग	१०३	१०७	१०३	५४	६.९	३२	१५३	१४५	१७३

स्रोत भारत सरकार केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन। प्रा पू =प्राप्य पूर्ति, उ = उत्पादन, आ = आयात।

जैसी अपेक्षा की जाति है, सकल पजी निर्माण और सकल राष्ट्रीय उत्पादन मे निर्माण कार्यो सम्बन्धी पूँजी निर्माण सामग्री का हिस्सा (क्रमश ६३ २ और १० ३ प्रति शत) आलोच्यावधि मे यत्रो तथा उपकरणो के हिस्से (क्रमग २७ ९ और ४ ५ प्रति शत) से अधिक रहा। (इस सम्बन्ध मे विस्तृत आकडे तालिका ७ मे दिये गये है।) सकल राष्ट्रीय उत्पादन मे निर्माण सामग्री और यत्रो तथा उपकरणो का सापेक्षिक हिस्सा पूर्वार्द्ध व उत्तरार्ध के बीच दो विशिष्ट उपनतियाँ अर्थात् झुकाव प्रदर्शित करता है। जैसा कि तालिका ७ से स्पष्ट है, उक्त मदो का अनुपात पूर्वार्ध मे काफी कम था और उत्तरार्ध मे पर्याप्त रूप से बढा। सकल पूँजी निर्माण और सकल राष्ट्रीय उत्पादन के समक्ष कुल सकल अचल निवेश के सम्बन्ध मे भी यही प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर होती है। यद्यपि दोनो ही 'अर्द्धों' मे सकल पूजी निर्माण के प्रति अनुपात सापेक्षिक रूप से करीब ९१ प्रति शत रहा, लेकिन इसी काल मे सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति यह अनुपात सापेक्षिक तौर पर १२ से बढ कर १७ हो गया। इस प्रकार का अप्रत्याशित झुकाव या मोड आलोच्य-काल के उत्तरार्ध मे निवेश की गतिविधि के क्षेत्र मे जो सामान्य वृद्धि हुई उसके कारण हो सकता है।

तालिका ७

सकल पूंजी निर्माण और सकल राष्ट्रीय उत्पादन मे 'निर्माण सामग्री' तथा 'यत्र-उपकरणो' के क्षेत्र मे अचल निवेश का सापेक्षिक हिस्सा और वार्षिक वृद्धि–दर का प्रातिशत्य

(१९५८–५९ मे प्रचलित मूत्यो पर आधारित)

सकल अचल निवेश	वार्षिक वृद्धि दर	सापेक्षिक हिस्सा: सकल पूँजी निर्माण	सकल राष्ट्रीय उत्पादन
निर्माण सामग्री			
१९४८-४९ से १९६०-६१	७ २	६३ २	१० ३
१९४८-४९ से १९५४-५५	७ ५	६३ ०	८ ६
१९५४-५५ से १९६०-६१	६ ९	६३ ७	११ ६
यत्र और उपकरण			
१९४८-४९ से १९६०-६१	६ ९	२७ ९	४ ५
१९४८-४९ से १९५४-५५	० ५	२७ ३	३ १
१९५४-५५ से १९६०-६१	१३ २	२७ ९	५ १
सकल अचल निवेश			
१९४८-४९ से १९६०-६१	७ ०	९१ १	१४ ८
१९४८-४९ से १९५४-५५	५ ३	९० ३	११ ७
१९५४-५५ से १९६०-६१	८ ७	९१ ६	१६ ७

स्रोत भारत सरकार · केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन।

स्थिर मूल्यो के आधार पर इन मदो की वार्षिक वृद्धि दरो मे आलोच्य काल के दौरान तीव्र भिन्नता पायी जाती है। जहाँ निर्माण सामग्री मे अचल निवेश की वार्षिक दर ७ ५ से कम हो कर ६ ९ प्रति शत हुई, वहाँ यत्रो व उपकरणो की वार्षिक दर दोनो 'अर्द्धों' मे ० ५ से बढ कर १३ २ प्रति शत तक जा पहुँची। पूर्वार्द्ध मे जो नगण्य वृद्धि हुई उसका मुख्य कारण था युद्ध समाप्ति के तुरन्त वादवाले प्रारम्भिक वर्षो मे विदेशो मे बुनि-यादी सामग्री की उपलब्धि का अभाव। किसी भी दृष्टि से देश मे १९५४-५५ से पहले निवेश कार्यक्रम इतना सघन नही हुआ कि उसकी यत्रो व उपकरणो मे अचल निवेश की वार्षिक वृद्धि-दर के लिए गणना की जा सके। उत्तरार्द्ध मे निवेश कार्यक्रम ने जोर पकडा। उसमे इस विभाग की वार्षिक वृद्धि-दर मे तीव्र सुधार हुआ। फलत दोनो 'अर्द्धों' मे कुल अचल निवेश भी ५ ३ और ८ ७ प्रति शत की वार्षिक-दर से बढा।

समग्र रूप से देखने पर आलोच्य काल मे निर्माण सामग्री की अपेक्षा यत्रो तथा उपकरणो का विस्तार सापेक्षिक रूप से कम हुआ है। वस्तुत सकल अचल निवेश मे सभी प्रकार के प्रमुख विस्तार मे आयातित सामग्री से सहायता मिली है। विशेष कर उत्तरार्ध

के दौरान निवेश के आयात तत्व मे तीव्र वृद्धि दृष्टि-गोचर हुई। यद्यपि उसके साथ लोहे तथा इस्पात का उत्पादन काफी बढा तथापि उस सामग्री का आयात भी पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध मे बहुत अधिक था। इसप्रकार सकल अचल निवेश के विस्तार मे घेरलू उत्पादन वृद्धि (जिससे आयात कम या बन्द हुआ, जैसे सिमेण्ट के मामले मे) तथा अधिक आयात (लोहे और इस्पात तथा बुनियादी सामान के मामले मे) दोनो मे ही सहायता मिली है। अब यह प्रश्न उठता है कि इस आयातित सामान की वृद्धि मे सहायक होने के नाते हमारी आयात करने की क्षमता पर्याप्त रही है अथवा नही।

३

अप्रैल १९४८ के प्रारम्भ मे देश के विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्रोत १६ अरब १२ करोड रुपये के बराबर थे जो अप्रैल १९५४ के आरम्भ मे कम हो कर ९ अरब १० करोड रुपये और अप्रैल १९६० के शुरू मे ३ अरब ६३ करोड रुपये के बराबर रह गये। यद्यपि व्यापारिक वस्तुओ के निर्यात और विशुद्ध सेवाओ से प्राप्त विदेशी मुद्रा के कारण उत्तरार्ध मे आयात करने की क्षमता मे कुछ सुधार हुआ, तो भी अचल निवेश के आयात-तत्व के लिए वित्तीय व्यवस्था करने हेतु विदेशी विनिमय प्रारक्षण का सहारा लेना पडा। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के मध्य—जैसा कि तालिका ८ से

तालिका ८

वास्तविक आयात और आयात क्षमता की वस्तु-सूचियो और वार्षिक-दरो की वृद्धि/कमी

(१९५८–५९ मे प्रचलित मूल्यो पर आधारित, आधार १९४८–४९ मे १९५४–५५ = १००)

मद	१९४८–६० से १९६०–६१		१९४८–४९ से १९५४–५५		१९५४–५५ से १९६०–६१	
	वस्तु सूचियाँ	वार्षिक दर	वस्तु सूचिया	वार्षिक दर	वस्तु सूचियाँ	वार्षिक दर
वास्तविक व्यावसायिक आयात †	१२५ ३	९ ८	१०० ०	७ ५	१४६ ९	१२ १
निम्न मदों से प्राप्त आयात क्षमता						
निर्यात और विशुद्ध सेवाएँ*	१०५ ५	६ १	१०० ०	१० ८	११६ १	१ ४
योग सरकारी ऋण व अनुदान	११६ ६	८ ७	१०० ०	९ १	१३१ १	७ ३
योग अन्य दीर्घ-कालीन पूँजी	१२१ ६	८ ०	१०० ०	६ ६	१४० २	९ ४
विदेशी मुद्रा प्रारक्षण	८१ ९	८ २	१०० ०	४ ९	६४ ८	११ ६

† प्रतिरक्षा सामग्री व सन्थापन की खरीद के लिए १९४८–४९ मे इग्लैण्ड को चुकाये गये ७१ करोड ९० लाख रुपये के असाधारण भुगतान को छोड कर।

* उधार पट्टे (लेण्ड-लीज) के सम्बन्ध म १९५७–५८ में सयुक्त राज्य अमेरिका को भुगतान स्वरूप भेजी गयी ७४ करोड ४० लाख रुपये की चाँदी को छोड कर। 'विशुद्ध सेवाओ' म सरकारी अनुदान नही है, पर 'निजी' अनुदान शामिल है।

स्रोत रिजर्व बैंक आफ इंडिया।

प्रकट है—व्यापारिक वस्तुओ के निर्यात व सेवाओ के कारण आयात क्षमता १६ १ प्रति शत बढी जो सरकारी ऋण व अनुदान को मिला कर ३१ १ प्रति शत तक बढी। दीर्घ-कालीन पूँजी को साथ मिला कर देखने से पता चलता है कि यह वृद्धि ४० २ प्रति शत थी। आलोच्यावधि मे सरकारी ऋण व अनुदान तथा अन्य दीर्घ-कालीन पूँजी जो कुल विदेशी मुद्रा मिली उसके २३ ७ प्रति शत थे, यद्यपि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के बीच अन्तर बहुत अधिक था—पूर्वार्द्ध मे उनका प्रातिशत्य ११ ९ और उत्तरार्द्ध मे ३० ८ था। तथापि, इसी काल मे वास्तविक व्यापारिक वस्तुओ के आयात मे ४६ ९ प्रति शत वृद्धि हुई। आयात क्षमता से अधिक इस आयात की वित्तीय व्यवस्था वस्तुत विदेशी मुद्रा प्रारक्षण से की गयी। पूर्वार्द्ध की तुलना मे उत्तरार्द्ध मे मुद्रा प्रारक्षण के 'बराबर' का आयात काफी कम करके ३५ २ प्रति शत कर दिया गया। जबकि व्यापारिक वस्तुओ के आयात मे आयात करने की क्षमता की वृद्धि-दर (८ प्रति शत) से अधिक दर (९ ८ प्रति शत) पर वृद्धि हुई, इसलिए शेष कमी-पूर्ति के लिए एक ही विकल्प था कि विदेशी मुद्रा प्रारक्षण का सहारा लेना पडा। विशेष कर उत्तरार्द्ध मे वास्तविक आयात कुल आयात क्षमता व दर (९ ४ प्रति शत) से भी काफी ऊँची दर (१२ १ प्रति शत) से बढे, जिसका परिणाम यह निकला कि विदेशी मुद्रा प्रारक्षण ११ ६ प्रति शत वार्षिक दर से कम हो गये। इस प्रकार घरेलू अचल निवेश के लिए वास्तविक आयात को परिपूर्णत कुल आयात क्षमता पर ही निर्भर नही रहना पडा।

बुनियादी सामग्री और यन्त्रो के हिस्सो के आयात के फलस्वरूप सकल अचल निवेश के कारण स्वयम् आयात की जानेवाली वस्तुओ की सूची मे ही कुछ तब्दीली करनी पडी। दोनो 'अर्द्धों' मे, जैसा कि तालिका ९ मे प्रस्तुत आकडो से पता चलता है कि बुनियादी सामग्री के आयात मे २५ से ३८ प्रति शत तक वृद्धि हुई, जबकि इसी काल मे कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री का प्रातिशत्य क्रमश ३० और २४ प्रति शत से गिर कर प्रत्येक का २० प्रति शत हो गया। इसके पीछे मुख्य कारण था आयात पर कठोर पाबदियो

तालिका ९

कुल आयात के प्रातिशत्य स्वरूप बुनियादी सामग्री, कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री का आयात

(प्रचलित मूल्यो के आधार पर)

अवधि	कुल आयात	बुनियादी सामग्री§	कच्चा माल	उपभोक्ता सामग्री	
				खाद्य	कुल
१९४८-४९ से १९५०-५१	१०० ०	२५ ८	२९ ८	१६ ५	२३ ८
१९५०-५१ से १९५२-५३	१०० ०	२२ ६	३१ १	२० २	२६ ९
१९५२-५३ से १९५४-५५	१०० ०	२७ १	२८ ९	१४ ६	२२ ५
१९५४-५५ से १९५६-५७	१०० ०	३५ ७	२३ १	४ ०	१३ २
१९५६-५७ से १९५८-५९	१०० ०	४० ४	१८ २	८ ८	१८ ६
१९५८-५९ से १९६०-६१	१०० ०	३८ ५	१८ ६	१७ ६	२६ ४
१९४८-४९ से १९६०-६१	१०० ०	३२ ५	२४ २	१३ ७	२२ ०
१९४८-४९ से १९५४-५५	१०० ०	२४ ८	२९ ९	१७ १	२४ ४
१९५४-५५ से १९६०-६१	१०० ०	३८ ०	२० ३	१० ६	१९ ८

§ बुनियादी सामग्री के लिए यहाँ दिये गये आकडे केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन के आकडो से कुछ भिन्न है।

स्रोत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया।

का लगाया जाना, जिसे १९५७ मे उत्पन्न सकट के बाद और भी कठोर कर दिया गया। जहाँ बुनियादी सामग्री के अधिक आयात से अचल पूँजी निर्माण की प्रक्रिया मे सहायता मिली, वहाँ साथ ही साथ कच्चे माल व उपभोक्ता सामग्री के आयात मे–कुल आयात के आनुपातिक रूप मे–कमी हुई। जहाँ तक देश मे औद्योगिक गतिविधि का सम्बन्ध है, कच्चे माल पर पाबन्दियाँ लगा देने से बडी गडबडी पैदा हुई, क्योकि उससे अर्थ-व्यवस्था और स्वयम् अचल निवेश के विकास मे गत्यावरोध आनेवाला था।

यद्यपि जब–तब कम उत्पादन होने के कारण काफी तादाद मे खाद्यान्नो का आयात करना आवश्यक हुआ है, तथापि उपभोक्ता सामग्री के आयात पर पाबन्दियाँ लगाना सामान्यत हमारे आयात व्यापार का एक उपयोगी अग रहा है। वास्तव मे उपभोक्ता सामग्री के कुल आयात मे खाद्यान्नो के आयात का अनुपात, समग्र अवधि मे ६२ प्रति शत रहा है, लेकिन पूर्वार्द्ध मे जो ७० प्रति शत था वह उत्तरार्द्ध मे ५४ प्रति शत हो गया। यद्यपि उत्तरार्द्ध मे खाद्यान्नो का उत्पादन २० प्रति शत बढा, अधिक आयात करना न केवल घरेलू उपयोग पूरा करने बल्कि केन्द्रीय प्रारक्षण बनाये रखने के लिए भी करना आवश्यक हो गया। जैसा कि तालिका १० से प्रकट है, पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध मे खाद्यान्नो के घरेलू उपभोग मे यद्यपि क्रमश २५ और २७ प्रति शत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई, लेकिन इसके समक्ष उक्त काल मे खाद्यान्नो के उत्पादन मे क्रमश ३७ और ३२ प्रति शत की दर से वृद्धि हुई। उपभोग (मानवीय तथा कुल) मे विशुद्ध आयात वास्तव मे उत्तरार्द्ध मे कम हुआ और किसी भी दृष्टि से वह बहुत ही कम प्रातिशत्य (३ से ५ प्रति शत तक) के रूप मे था। तिस पर भी विशुद्ध आयात जो कि पूर्वार्द्ध मे ४ प्रति शत वार्षिक दर से कम हुए थे वे उत्तरार्द्ध मे २९ प्रति शत वार्षिक की दर से बढे, जो कि कुल उपलब्धि के प्रति खाद्यान्नो के स्टॉक के अनुपात मे हुई तीव्र वृद्धि (६ से १६ प्रति शत तक) पर प्रकाश डालते है। तथापि, मूल्य की दृष्टि से खाद्यान्नो के आयात और कुल उपभोक्ता सामग्री दोनो मे ही उत्तरार्द्ध मे कमी हुई और इसमे तथा कच्चे माल के आयात मे कमी के कारण कुल आयातित वस्तुओं मे बुनियादी सामग्री का अनुपात बढा।

वस्तुत निजी तथा समग्र उपभोग्य परिव्यय मे कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री (खाद्यान्नो सहित) का सापेक्षिक हिस्सा पूर्वार्द्ध की तुलना मे उत्तरार्द्ध मे

तालिका १०

भारत मे खाद्यान्नो की स्थिति

वर्ष	वार्षिक वृद्धि (प्रातिशत्य)			उपभोग के प्रातिशत्य स्वरूप विशुद्ध आयात		प्राप्य रसद के प्रातिशत्य स्वरूप स्टॉक
	घरेलू उत्पादन	विशुद्ध आयात	कुल उपभोग	मा उ	कुल	
१९४८–४९ से १९६०–६१	३४	१२५	२६	४५	४१	११५
१९४८–४९ से १९५४–५५	३७	३९	२५	५२	४७	६१
१९५४–५५ से १९६०–६१	३२	२८९	२७	३४	३१	१६०

मा उ =मानवीय उपभोग।

टिप्पणी आकडे मौलिक रूप से हजार टनो में हैं और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन के 'पेपर' से लिए गये है।

काफी कम कर दिया गया, जैसा कि तालिका ११ से प्रकट है। हॉ, तालिका ११ मे दिये गये आकडे अस्थायी है और उनमे सेवाओ पर हुआ खर्च भी शामिल है। मात्र सामग्री यानी अकेले माल पर ही कितना खर्च हुआ उसे अलग करके देखना सम्भव नही बन पडा है। तथापि, मोटे तौर पर जो झुकाव परिलक्षित है उनमे निश्चय ही यह सकेत मिलता है कि इनके अनुपात थी, तथापि विजली सम्बन्धी सामान के सम्बन्ध मे प्राय उदारता बरती गयी। उत्तरार्द्ध मे इनके आयात मे वृद्धि हुई। इसके विपरीत इसी अवधि मे (जैसा कि तालिका ११ मे प्रस्तुत आकडो से द्रष्टव्य है) उपभोग परिव्यय के प्रति कच्चे माल के आयातानुपातो मे तीव्र कमी आयी है। बाजार की मुक्तावस्था की अपेक्षा आयात नियत्रण और 'कोटा' निर्धारण का अपेक्षाकृत

तालिका ११

घरेलू उपभोग परिव्यय के प्रातिशत्य स्वरूप कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री का आयात
(प्रचलित मूल्यो के आधार पर)

आयातित वस्तुएँ	१९४८–४९ से १९६०–६१		१९४८–४९ से १९५४–५५		१९५४–५५ मे १९६०–६१	
	निजी	कुल	निजी	कुल	निजी	कुल
कच्चा माल	२० ५	१९ ०	२३ ४	२१ ९	१८ १	१६.६
उपभोक्ता सामग्री	१८ ६	१७.३	१९.१	१७ ९	१७ ६	१६ २
इसमे						
खाद्यान्न	११.५	१० ७	१३ ४	१२.६	९.५	८.७
कुल	३९.१	३६ ३	४२ ५	३९ ८	३५ ७	३२.८

टिप्पणी घरेलू उपभोग व्यय में सामान व सेवाओ के अक भी शामिल है। कुल उपभोग्य खर्च मे निजी तथा सरकारी खर्च—प्रचलित मूल्यों पर आधारित—शामिल है। इन अकों के सकलन मे कई जगह समजन किया गया है। चूँकि विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन निमित करते हुए खर्च -एक्सपेण्डीचर जेनरेटिग नेट नेशनल प्रोडक्ट (केन्द्रीय साख्यिकीय मगठन राष्ट्रीय आय का अनुमान)—दिखानेवाले विवरण मे निजी वर्तमान खर्च के अक निजी विशुद्ध पूँजी निर्माण के अकों के साथ मिला दिये गये है, इसलिए १९४८-४९ से १९५४-५५ तक के प्रत्येक वर्ष के लिए कुल सकल पूँजी निर्माण के प्रति निजी पूँजी निर्माण के अनुपातों का प्रचलित मूल्यों के आधार पर (के सा स के 'पेपर' में उपलब्ध) विशुद्ध पूँजी निर्माण पर प्रयोग किया गया है। प्रचलित मूल्यों के आधार पर सामग्री और सेवाओं पर निजी वर्तमान खर्च के अक प्राप्त करने के लिए मिले हुए आकडो मे से उक्त प्रकार से प्राप्त आकडे निकाल लिये गये है।

सन् १९५५–५६ से १९६०–६१ तक के वर्षो के लिए निजी उपभोक्ता खर्च के आकडे के सा स के 'पेपर' में उपलब्ध आकडो को पुन व्यवस्थित करके सकल राष्ट्रीय उत्पादन के आकडो से प्राप्त किये गये है। कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री के आंकडे 'रिजर्व बैक ऑफ इडिया' से प्राप्त किये गये हे।

मे कमी हुई है। यह कमी उपभोक्ता सामग्री की अपेक्षा कच्चे माल के क्षेत्र मे विशेष रूप से अधिक हुई है।

उत्तरार्द्ध मे निजी तथा कुल उपभोक्ता खर्च के प्रति खाद्यान्नो के आयात के अनुपातो मे तीव्र कमी होते हुए भी कुल उपभोक्ता सामग्री के आयातानुपातो मे तनिक-सी कमी ही आयी। यद्यपि इस विशिष्ट श्रेणी मे आनेवाली वस्तुओ के आयात पर सर्वाधिक कठोर पाबन्दियॉ इस पर अधिक प्रभाव पडा है। निस्सदेह पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्ध के दौरान कृषि तथा औद्योगिक, दोनो ही प्रकार के उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। कृषि उत्पादन का औसत सूचकाक (आधार १९४९-५०=१००) १९४९–५० से १९५४–५५ (वर्ष का अन्त जून माह मे) के १०४ ३ से बढ कर १९५४–५५ से १९६०–६१ मे १२५ १ हुआ है, जिसमे करीब

२० प्रति शत ऊर्ध्वोन्मुखी उपननि दृष्टिगोचर होती है। ओद्योगिक उत्पादन का वार्षिक ओसत सूचकाक (आधार १९५१=१००) भी ३७४ प्रति गत बढा है– पूर्वार्द्ध मे वह १०३ ३ था ओर उत्तरार्द्ध मे बढ कर १४१ ९ हो गया। इस प्रकार की इस उन्नति का घरेलू उपभोक्ता परिव्यय के प्रति कच्चे माल का आयातानुपात कम करने मे प्रभाव पडना चाहिए। इतना होने पर भी कुछ उद्योग न केवल अपने यत्रो को उनकी अनुकूलतम क्षमता पर चलाने बल्कि जिस क्षमता का लाइसेस मिला हुआ था उसके अन्दर रहते हुए उत्पादन को अधिकतम बनाने के लिए भी बिल्कुल आयातित कच्चे माल पर ही निर्भर थे।

बुनियादी सामग्री, कच्चे माल और खाद्यान्न हमारे आयात व्यापार मे तीन मुख्य प्रतिस्पर्धी रहे है तथा सामान्यत बुनियादी सामग्री के आयात के साथ या तो कच्चे माल के आयात मे कमी हुई है या खाद्यान्नो के आयात मे अथवा फिर दोनो के आयात मे। जैसा कि पीछे तालिका ९ के अको मे प्रकट होता है कि बुनियादी सामग्री का आयात सामान्यत विलोमरूप से कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री (विशेष कर खाद्यान्न) से भिन्न रहा है। कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री के सापेक्षिक हिस्सो मे कमी के साथ बुनियादी सामग्री के हिस्से मे वृद्धि हुई है। इस प्रकार जहॉ तक बुनियादी सामग्री के आयात ने अचल निवेश का स्तर निर्धारित किया है, अचल निवेश को अन्ततोगत्वा खाद्यान्नो और/अथवा कच्चे माल की कमी ने प्रतिबद्ध कर दिया है। खाद्यान्न उत्पादन मे कमी और अन्ततोगत्वा परमावश्यक कच्चे माल तथा उपभोक्ता सामग्री के आयात को बन्द कर देना एक असभव बात बना देना मुख्य बाधा रही है।

आयात क्षमता जब निजी या कुल उपभोग खर्च से अधिक ऊँची वार्षिक-दर से बढी तो सकल अचल निवेश की वृद्धि मे सहूलियत हुई (देखिए तालिका १२)। इसके ऊपर उत्तरार्द्ध मे अधिक जोर दिया गया, यद्यपि यह बात नही है कि पूर्वार्द्ध मे उस पर जोर न दिया गया हो। यद्यपि वास्तविक आयात आयात क्षमता की दर की अपेक्षा तीव्र दर मे बढे, तो भी युद्ध समाप्ति पर जो पौण्ड-पावना भारी तादाद मे उपलब्ध था उससे उनकी वित्तीय व्यवस्था मे जो अन्तर था वह काफी समय तक पूरा किया जाता रहा। इस प्रकार आयात क्षमता मे वृद्धि और उसके साथ घरेलू उपभोग की वस्तुओ के आयात मे कमी से देश कुल आयात मे बुनियादी सामग्री का हिस्सा बढाने तथा सकल अचल निवेश को बढावा देने मे समर्थ हो सका। इसलिए यह स्वाभाविक था कि सकल अचल निवेश से आयात क्षमता के साथ प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन आता, यद्यपि अनुवर्ती की वार्षिक वृद्धि दर पूर्ववर्ती से बहुत तीव्र थी। इस विस्मयजनक स्थिति का कारण यह हो सकता है कि विदेशो से प्राप्त सरकारी ऋण व अनुदान की बडी-बडी रकम अनप्रयोगित पडी रही, जोकि या तो आवश्यक परिमाण मे या फिर निरूपित समय के अन्दर-अन्दर खर्च नही की जा सकी। इनके अतिरिक्त अनुदानो का काफी हिस्सा सरकारी हिसाब मे खाद्यान्नो का आयात करने के लिए था और सम्भवत देश मे अचल निवेश के विकासार्थ नही था।

उपसहार के रूप मे यह कहा जा सकता है कि युद्धोत्तर-काल मे पूँजी सचयन मे विकास की गति उल्लेखनीय रही है, जिसकी प्राप्ति मुख्यत सरकारी उपक्रम के जरिये अचल विनियोजन यानी निवेश मे वृद्धि के कारण हुई। अचल पूँजी निर्माण के क्षेत्र मे निजी विभाग ने भी प्रशसनीय भूमिका अदा की है। यद्यपि चन्द दिशाओ मे घरेलू उत्पादन से सहायता मिली है तथापि अचल निवेश की आवश्यकता पूर्ति के लिए साधन-स्रोत प्राप्ति का मुख्य जरिया आयात व्यापार रहा है। इसमे किसी हद तक वृद्धि-प्राप्त आयात क्षमता से सहायता मिली है, जोकि घरेलू उपभोग परिव्यय की अपेक्षा तीव्र गति से बढी है। फिर भी, वास्तविक आयात, आयात क्षमता से भी तीव्र गति से बढा है, जिस कारण विदेशी

मुद्रा प्रारक्षण का सहारा लेना आवश्यक हो गया। अचल निवेश की प्रगति रोकने मे बुनियादी सामग्री का आयात मुख्य पहलू रहा है, जोकि आयात व्यापार मे कच्चे माल व खाद्यान्नो के सापेक्षिक महत्व पर निर्भर रहा है। यद्यपि कृपि तथा उद्योग, दोनो ही क्षेत्रो मे उत्पादन बढा हे, वर्षो के दौरान प्रारक्षणो मे तीव्र कमी आने से परिपूर्ण रूप मे इन पर ही निर्भर रहना सम्भव नही होगा। इसके बाद सरकारी ऋण और अनुदान के रूप मे विदेशो से प्राप्त स्रोत आते है, लेकिन ऋण की वापसी सम्बन्धी समस्याएँ होती है तथा फलस्वरूप भुगतान-शेष पर दबाव पडता हे, और अनुदान स्पष्टत चिरकाल

तालिका १२

सकल अचल निवेश, वास्तविक आयात, आयात क्षमता और घरेलू उपभोग परिव्यय की वार्षिक वृद्धि-दर का अनुपात

(१९५८–५९ मे प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

अवधि	सकल अचल पूँजी	वास्तविक आयात	आयात क्षमता	घरेलू उपभोक्ता व्यय*		
				निजी	सरकारी	कुल
१९४८–४९ से १९६०–६१	७०	९८	८०	२५	४.५	२.६
१९४८–४९ से १९५४–५५	५३	७.५	६६	२२	२६	२२
१९५४–५५ से १९६०–६१	८७	१२१	९४	२७	६३	३०

स्रोत केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन तथा एशिया और सुदूर पूर्व का आर्थिक सर्वेक्षण, १९६१।

टिप्पणी * स्थिर मूल्यो के आधार पर निजी और सरकारी वर्तमान व्यय प्राप्त करने के लिए तालिका ११ की टिप्पणी मे दिये गये तरीके के अनुसार प्राप्त प्रचलित मूल्यो के आधार पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति सामग्री और सेवाओ पर नीजी तथा सरकारी वर्तमान व्यय का जो अनुपात है उसका १९५८–५९ मे प्रचलित मूल्यो के आधार पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन पर प्रयोग किया गया। आकडे आवश्यक रूप से ही अस्थायी है और सदैव की भाँति सरो-सामान तथा सेवाओं के आकड़े भी इनमे शामिल है। दोनों को अलग-अलग करना सम्भव नही जान पडा है। आशा है मामूली त्रुटि रहते हुए भी मोटे तोर पर जिधर झुकाव है, वह द्रष्टव्य है।

तथापि सामान्यत उपभोक्ता सामग्री और विशेष कर खाद्यान्नो का आयात रोक रखना मुश्किल रहा है। कच्चे माल के आयात पर लगी पाबन्दियां अर्थ-व्यवस्था के चन्द क्षेत्रो की गति मद करने के कारण रही है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी स्वरूपात्मक कुव्यवस्था अब भी शेष है—आर्थिक विकास की समग्ररूपेण आवश्यकताओ के प्रति अन्योन्याश्रय रूप से साधन-स्रोतो की पूर्ति मे कमी अब भी बनी हुई ही है।

दीर्घ काल तक आयात क्षमता मे अधिक आयात करने के कारण उत्पन्न कमी की वित्तीय व्यवस्था विदेशी मुद्रा प्रारक्षणो से की जा सकी। पिछले चन्द के लिए जारी नही रह सकते। इन सबसे एक ही दिशा का निदर्शन होता है कि निर्यात-आय को अधिकतम बनाया जाय। उससे ही देश मे अचल पूँजी निर्माण की प्रक्रिया को गति मिल सकती है। निस्सदेह अचल निवेश की दर तीव्र बनाने से चतुर्दिक कठिनाइयाँ व कष्ट आयेगे, किन्तु ये सब शाति, धैर्य और पौरुष के साथ सभी को सहन करने पडेगे, क्योकि पूँजी सचयन की समस्या न तो अस्थायी ही है और न उस लिहाज से कोई प्रासगिक विषय ही।

बम्बई ९ सितम्बर १९६३

आदिवासी क्षेत्रों में ग्रामोद्योग

बहराम होरमसजी मेहता

आदिवासी क्षेत्रों में कुटीर और ग्रामोद्योगो के विकासार्थ दृष्टिकोण को सम्पूर्ण रूप में इन क्षेत्रो की आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण से अलग नही किया जा सकता है। आदिवासी प्राकृतिक स्रोतों तथा कौशल में सम्पन्न है तथा उनमें मादर्य-भाव भी है। अत आदिवासी क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था को प्रगति मार्ग पर उन्मुख करने के लिए आवश्यक यह है कि स्थानीय जनसमूह को उचित प्रशिक्षण दिया जाय तथा प्राकृतिक स्रोतो का पूर्ण उपयोग किया जाय।

सभी क्षेत्रों मे आर्थिक विकास की दिशा, प्रकृति-किस्म तथा गति एक ही नही हो सकती है, किन्तु जहा कही भी नेतृत्व, शैक्षणिक प्रगति तथा उन्नत आवागमन प्राप्य हो, प्रगति की गति तेज हो सकती है। जहा भी ये तीन साधन अनुपस्थित है अथवा सीमित रूप मे उपस्थित है, वहॉ प्रगति अत्यत मन्द तथा यहॉ तक कि नगण्य होगी। भारत के वन्य प्रदेशो मे जहॉ कि मुख्यत आदिवासी निवास करते है तथा जिनकी सख्या ३ करोड से अधिक है, विकास का नया दृष्टिकोण कार्यरत है। दुर्भाग्यवश विकास सस्थाओ के पास ऐसे क्षेत्रो के प्राकृतिक साधनों तथा निवासियो के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी तथा ज्ञान नही है। आदिवासी क्षेत्रों मे ग्रामीण विकास की सामान्य पद्धति सहज ही प्रारभ नही की जा सकती है और यद्यपि हाल ही मे बहुमुखी योजना-क्षेत्रो मे सामुदायिक विकास योजानाओ की शुरुआत हुई है, किन्तु वे जटिल समस्याओ का समाधान नही कर सकती है जो कि वन्य अर्थ-व्यवस्था के सघन विकास के लिए अत्यावश्यक है।

घाटी-क्षेत्र-सिद्धान्त

आदिवासी क्षेत्र मे कुटीर तथा ग्रामोद्योग के विकासार्थ दृष्टिकोण को सम्पूर्ण रूप मे उस क्षेत्र की आर्थिक विकास की समस्याओ के प्रति सामान्य दृष्टिकोण से अलग नही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, आदिवासी क्षेत्र के आर्थिक विकास की समस्या इन अर्द्ध विकसित तथा कम जनसख्यावाले क्षेत्रो की भूमि-समस्या की प्रकृति उन क्षेत्रों मे प्रचलित कृषि प्रणाली तथा मानव शक्ति की स्थिति मे बहुत अधिक सम्बन्धित है। सर्व प्रथम, वन्य अर्थव्यवस्था के अध्ययन तथा ग्रामीण एवम् वन्य अर्थ-व्यवस्था की महत्वपूर्ण भिन्नताओं को जानने के लिए सघन प्रयास करना आवश्यक है। घाटी-क्षेत्र-सिद्धान्त इन भिन्नताओं की अच्छी व्याख्या करता है, जिसके अनुसार प्राकृतिक खडो को व्यापक तौर पर ६ प्रमुख किस्मो में विभाजित कर सकते है (१) पर्वतीय तथा वन्य क्षेत्र, (२) सामान्य घास-क्षेत्र तथा प्रमुख घास-क्षेत्र, (३) भिन्न भू-तत्व तथा सिचाई की सुविधाओंवाले मैदान, (४) उर्वर मिट्टी तथा सिचाई–सुविधाओ से युक्त उपवन-भूमि तथा नदी की घाटियॉ, (५) वाणिज्य का अवसर प्रदान करनेवाले समुद्र-तट तथा तटीय प्रदेश, और (६) कठिन अवरोधों से युक्त मरुस्थल। ग्रामोद्योग के विकास कार्यक्रम बहुत लाभकारी सिद्ध होगे यदि योजनाए क्षेत्र के पाषाण तथा प्राकृतिक साधनो और जनता तथा उसकी अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डालनेवाली मुख्य विशेषताओ के अध्ययन पर आधारित हो।

आदिवासी क्षेत्र सतत पर्वतीय तथा वन्य क्षेत्रों से सम्बद्ध है और कभी-कभी विशेषकर पर्वत-शृखलाओ के गिरिपादो के समीप घास के बडे मैदान भी इसमे आ

जाते है। सामान्य मैदानी क्षेत्रों की तुलना मे इन क्षेत्रों मे अधिक अच्छे तथा भिन्न प्राकृतिक साधन होते है।

ऐतिहासिक रूप मे आदिवासी क्षेत्रो मे आखेटक रहते थे, जिन्होने उन्नतिशील अर्थ-व्यवस्था का निर्माण किया। वे पशु जगत की अमूल्य उपयोगिता से अच्छी तरह अवगत थे। अब भी वन्य पशु स्थानीय तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे योगदान कर सकते है। वे देश की भोजन-आपूर्ति को बढा सकते है और पशु चर्म औद्योगिक कार्यो तथा निर्यात के लिए उपयोग मे लाया जा सकता है।

कच्चे माल

हाल ही मे सतपुडा पहाडियो पर गोंडवाना केन्द्र अस्तित्व मे आया है। वह विशेष प्रकार के फूल उगाने तथा औषधियो और विदेशी पौधे लगाने की सम्भावनाओ की खोज कर रहा है। तेल युक्त घासो से बडी सम्पत्ति का उत्पादन हो सकता है। सावधानीपूर्वक सगठित तथा व्यापक वानस्पतिक सर्वेक्षण से हमारे वन्य क्षेत्रो के प्रचुर पौधो के उपयोग की जानकारी हो सकती है।

पर्वतीय क्षेत्रो मे अनेक प्रकार की मिट्टी मिलती है जिसकी जानकारी हमे नही है। मिट्टी-बर्तन-निर्माण के लिए ये मिट्टी अत्यत मूल्यावान है। औद्योगिक कार्यो मे दुर्लभ मिट्टी प्रयुक्त होती है तथा कुछ मिटटी स्थानीय निर्माण कार्यो के लिए उपयोगी है। जब तक इन अनुपयोगी प्रतीत होने वाले आर्थिक साधनो की उचित खोज तथा उनका अध्ययन नही होता, आदिवासी क्षेत्रो की अर्थव्यवस्था तेजी से प्रगति नही कर सकती।

प्रस्तर, काष्ठ तथा चिक्कण मृत्तिका ही ऐसे कच्चे माल रहे है जिनको आदिवासियो ने शताब्दियो मे उपयोग किया है। जहाँ पत्थर पाये जाते है उससे दूर मैदान निवासी पत्थर का प्रयोग करते है, किन्तु पर्वतीय क्षेत्रो मे कदाचित ही प्रस्तर खाने विकसित हुई है, शायद इसका कारण परिवहन तथा आवागमन की सुविधाओं का अभाव रहा हो। यद्यपि आदिवासी क्षेत्रों मे अपरिमित प्रस्तर साधन उपलब्ध है, किन्तु उनका उपयोग किये बिना ही उन क्षेत्रो मे प्रति मील २०० रुपये की लागत की सडके बनायी गयी है।

वाणिज्य उपयोगी काष्ठ उत्पन्न करनेवाले वृक्षो, अथवा वन्य फलो अथवा शोभावृक्षो का उपयोग शायद ही आर्थिक विकास का योजनाबद्ध कार्यक्रम हो। महुआ, अचार, बेर, चिरौजी, वन्य आम, जामुन आदि जैसे वृक्ष, जो समृद्धि तथा अभाव के दशको मे लोगो के लिए अत्यत मूल्यवान सिद्ध हुए है, ग्रामीण तथा कुटीर उद्योग के आयोजको का उपयुक्त ध्यान नही प्राप्त कर रहे है।

आदिवासी अर्थ-व्यवस्था का विकास

कुटीर उद्योगो के आयोजक शहरी समाज के औद्योगिक विकास की विशाल आयोजनो के समक्ष किसी प्रकार की हीन ग्रन्थि से पीडित प्रतीत होते है। साधारणत लोगो का यह विश्वास है कि कुटीर उद्योग अवश्य ही लघु होने चाहिए और प्रबन्ध तथा सगठन की क्षमताओं के कारण ही उनके विकास की योजनाए असफल होती है। क्षेत्र मे उपलब्ध कच्चे माल की विशाल मात्रा का उपयोग करना लाभदायक है। जन-शक्ति समस्या, स्थानीय कौशल तथा बाज़ार का गम्भीर अध्ययन अवश्य करना चाहिए, और तब समस्त स्थानीय सामग्रियो को स्थानीय आदिवासी अर्थ व्यवस्था के विकास मे योगदान देना चाहिए। सिर्फ औद्योगिक उपयोगितावाले कच्चे मालो को प्रमुख शहरो तथा विदेशो मे उचित तौर पर बेचना चाहिए।

शताब्दियों की उपेक्षा तथा उर्वरको एवम् अन्य रसायन-उपयोग की अनुपस्थिति के कारण सौ वर्षो से भी अधिक पुराने वृक्ष ऐसे फल प्रदान कर रहे है जिनकी बिक्री बहुत मुश्किल है। पर्वतो तथा वन्य क्षेत्रो मे पादपजात के पुनस्स्थापन से आदिवासियो को बडी सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है।

एक आदिवासी क्षेत्र मे औद्योगिक विकास चार प्रमुख बातो पर ही आधारित होना चाहिए (अ) कच्चे माल की उपलब्धि, (आ) उत्पादक समुदाय मे उपभोक्ता की आवश्यकता, (इ) स्थानीय बाजार की आवश्यकताए और (ई) अतिरिक्त श्रम तथा लोगो

को अवकाश–समय की उपलब्धि। कच्चे माल प्राप्य है, किन्तु उनका उपयोग थोडे मे विक्रय-योग्य वस्तुओ के उत्पादन मे ही होता है। आदिवासी केवल स्थानीय साप्ताहिक बाजार मे आगत है, और कभी-कभी वे समीप के नगरीय बाजार का भी लाभ उठाते है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वे कच्चे मालो की उपलब्धि, उनके सभव उपयोग तथा उक्त क्षेत्र के बाहर के प्राकृतिक साधनो से अनभिज्ञ है। स्थानीय अर्थव्यवस्था के विकासार्थ प्रकृति-प्रदानो का अधिकतम लाभ उठाने के लिए उनमे पहल, व्यापारिक क्षमता एवम् उत्पादन के तौर-तरीके के ज्ञान की कमी है।

उनका घरेलू जीवन सामान्यत सादा तथा प्राय आत्मनिर्भर है। प्रकृति की गोद मे रहने तथा जीवन-स्तर की कोई चिंता नही रहने के कारण वे सन्तुष्ट तथा आलसी जैसे प्रतीत होते है। भोजन, वस्त्र और आवास सम्बन्धी उनकी आदतो तथा जीवन-सुख के लिए थोडे बहुत विलास की प्राप्ति के कारण अब तक ग्रामोद्योगो के विकास मे उन्होने कोई योगदान नही दिया है। दन्ति-योजना क्षेत्र मे, जहाँ कि मध्य प्रदेश के गोडवाना केन्द्र ने गोड लोगो मे काम करने का प्रचुर अनुभव प्राप्त किया है, पाच सौ वर्गमील के क्षेत्र मे शायद ही एक दर्जन बढई, राजगीर, लोहार, कुम्हार तथा टोकरी बनाने वाले मिले।

बाजार का अभाव

सस्कृति-सगर, मूल्य-वृद्धि, तथा पारिश्रमिक और नौकरियो मे अभिवृद्धि होने के फलस्वरूप मन्द परन्तु निरन्तर सुधार हो रहा है। परन्तु सामुदायिक योजना अधिकारीगण कुछ निम्न कोटि का प्रशिक्षण देने के अतिरिक्त कारीगरो को सगठित करने अथवा समीपवर्ती नगरो मे बाजार की व्यवस्था करने मे असमर्थ है।

आदिवासी क्षेत्रो मे वर्तमान बाजारे मौसमी, अस्थायी तथा अव्यस्थित है। वे लोगो की आवश्यकता-पूर्ति के लिए लगायी जाती है, किन्तु दूकानदार तथा छोटे व्यापारी औद्योगिक क्षेत्रो मे मौजूद बडे बाजारो से पूर्णत अनभिज्ञ है। सगठित बाजारो तथा परिवहन के समुचित सरल तथा सस्ते साधन के अभाव और स्थानीय उत्पादनो के विक्रयार्थ गैर-आदिवासियो पर उनकी लगभग पूर्ण निर्भरता के कारण अब तक आदिवासी क्षेत्रो की अर्थ-व्यवस्था का विकास नही हो सका है।

आदिवासी क्षेत्रो मे मानव शक्ति की समस्या बडी उलझनपूर्ण है। सम्पूर्णरूपेण जनसख्या कम है, ग्राम समुदाय भी बहुत छोटा है तथा खेत भी बहुत छोटे है। खण्ड तथा सामुदायिक विकास के अधिकारीगण अनियमित रूप से काम देते है, इसलिये लोग ग्रामोद्योगो का काम स्थायी तौर पर करने मे असमर्थ है।

प्रतिकूल जलवायु

आदिवासी क्षेत्रो मे स्त्रियाँ पुरुषो से अधिक काम करती है। पुरुष दूर दूर के स्थानो को जाने मे अधिक समय बिताता है और उसे स्थायी रूप से कोई काम करने अथवा समय पर काम करने की आदत नही है। उसमे काम करने की इच्छा का अभाव होता है। जलवायु के कारणो से वह साल भर नियमित रूप से काम नही कर सकता है। बरसात के दिनो मे ६० प्रति शत से भी अधिक पुरवे अलग पड जाते है और यहाँ तक कि समीपवर्ती गावो से भी आवागमन बन्द हो जाता है। बुवाई तथा फसल कटाई के समय मजदूरो की कमी रहती है। जाडे के दिन, जबकि अधिक काम हो सकता है, ठडे और छोटे होते है और इसलिए पर्याप्त अवकाश नही मिलता है। मुख्यत गर्मी मे, मार्च से मई के अन्त तक अवकाश मिलता है और वह होली का समय होता है जबकि कई दिनो तक उत्सव तथा नृत्य होते है और उसके बाद ही शादी, तीर्थयात्रा तथा अनेक उत्सवो का समय आता है। तदनन्तर ऐसे दिन आते है जो बरसात से बचने के लिए घर की छतो तथा दीवारो को सुधारने मे लग जाते है। और फिर, खेत बुवाई के लिए तैयार किये जाते है।

आदिवासियो ने अनेक शताब्दियो मे अपने कौशल तथा तकनालाजी का विकास किया है, जो आधुनिक

ग्रामोद्योगो के लिए आवश्यक कौशल से अलग है। पिछड़ेपन तथा ग्रामोद्योग के अर्द्धविकास के मुख्य कारणो मे से एक है–ऐसे नेतृत्व का अभाव, जिसमे वर्तमान अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक प्राप्त कौशल को उचित दिशा मे पलटने तथा नवीन कौशल को विकसित करने का ज्ञान हो।

सामुदायिक विकास अधिकारियो द्वारा आयोजित अधिकाश प्रशिक्षण पाठ्यक्रम उचित ढग से नही तैयार किये जाते है और उन कार्यक्रमो का सचालन ऐसे व्यक्तियो द्वारा नही होता है जो स्वय औद्योगिक युग के लिए आवश्यक नव-कौशल तथा गति से युक्त हो। प्रयुक्त औजार तथा साधन निम्न कोटि के है। प्रशिक्षण काल बहुत सीमित है और अच्छी कारीगरी तथा उच्च श्रेणी के वस्तु-निर्माण के लिए पर्याप्त अनुभव नही है। आर्थिक व्यवस्था को पुराने से नये मे शीघ्र बदलने के लिए बिल्कुल नये विचारो की आवश्यकता है।

वैविध्यपूर्ण अर्थ-व्यवस्था

यह समझना आवश्यक है कि आदिवासी अर्थ-व्यवस्था तभी समृद्धिशाली होगी, जबकि वह मिश्रित अर्थ-व्यवस्था हो। वन्य अर्थ-व्यवस्था के विकास मे, आखेट के महत्व-पूर्ण योगदान के बिना भी, वन सवर्धन का सबसे बडा क्षेत्र है। आदिवासी क्षेत्रो मे 'आदिवासी कृषि' तथा पशु-पालन का अपना विशेष स्थान है, और मैदानी कृषि पर्वतीय क्षेत्रो की मिट्टी तथा जलवायु के अनुकूल नही हो सकती। आदिवासी दस्तकारियाँ, वन सवर्धन, गिरि क्षेत्रीय ज्वार तथा बाजरे की खेती, मुर्गी-पालन, मधुमक्खी-पालन, बागवानी आदि केवल पूरक रूप मे ही स्थान पा सकती है।

आदिवासी क्षेत्रो मे ग्रामोद्योग के विकास की समस्या के हल के लिए आवश्यकता है–छोटे परन्तु अनुक्रिया-शील समुदायो का गहन अध्ययन तथा शोध कार्य एवम उनमे अधिक काल तक धैर्यपूर्ण कार्य। शहरो को सर्वोत्कृष्ट प्रतिभाएं उच्च पारिश्रमिक की अपेक्षा किये बिना ही प्रदान करनी चाहिए, जो कि असगठित तथा पारिश्रमिक न दे सकनेवाली अर्थ-व्यवस्था के लिए सभव नही है। आदिवासी कच्चे माल, कौशल और सौन्दर्य भाव रखते है, किन्तु शहरो तथा आदिवासी क्षेत्रो के सम्पर्क को अभी भी सघन तथा परस्पर लाभ-कारी होना बाकी है, जिससे आदिवासी अर्थ-व्यवस्था मे पर्याप्त योगदान के लिए ग्रामोद्योगो की उत्पत्ति तथा उसका विकास हो सके।

सुखी जीवन के लिए प्रशिक्षण

सात वर्षो के प्रयास से निर्मित गोडवाना केन्द्र एक प्रयोगात्मक केन्द्र के रूप मे विकसित हुआ है, जहाँ विकासशील आदिवासी अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए गोड जनता मे शिक्षा के समग्र कार्यक्रम के विकास का प्रयोग चल रहा है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य है तीन वर्षीय प्रशिक्षण प्रदान करना, जिससे उन्नत कृषि तथा बढईगीरी, ईंटे बनाने का काम, सूत की कताई और बुनाई जैसे शिल्पो की कुशलता का विकास हो सके और युवक ऐसी वृत्ति के लिए तैयार हो सके कि वे आदिवासी वातावरण मे अपनी अनुकूलनीयता न नष्ट करे। शारीरिक योग्यता, नैतिक शिक्षा तथा पौष्टिक शरीर विकास के लिए प्रशिक्षण, तीन वर्ष के कठोर श्रम से युक्त जीवन का एक अग है। परन्तु जहाँ शिक्षा-कक्ष, वर्कशाप तथा पुस्तकालय मे निरन्तर शारी-रिक काम करना पडता है, वहाँ जीवन सुखी होता है।

केवल सही शिक्षा द्वारा ही प्रगतिशील तथा जागृत आदिवासी समाज के लिए ऐसी नीव डाली जा सकती है, जिसमे नेतृत्व, पहल तथा सगठित प्रयास की क्षमता हो, और जो सुन्दरतम अवसरो से युक्त तथा पहले से ही आधुनिक जीवन की कला से सम्पन्न लोगो के साथ-साथ आदिवासी समाज मे सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति लाने की शक्ति रखती हो। ग्राम-नगर, वन-समतल मैदान, मानसिक-भावनात्मक विकास के स्तर और जीवन-स्तर के बीच के अन्तर को दूर करने के लिए उचित कदम उठाये जाने चाहिए।

बम्बई १४ जुलाई १९६२

कृषिक अनुसंधान और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

अब्दुर रहीम खॉ

खेती में सुधार करने के लिए कृषिक अनुसधान का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राविधिक विकास मे सरकार की कितनी रुचि है, यह तो इसी से परिलक्षित है कि देश भर में उसने अनेक अनुसधान सस्थाएं स्थापित की है। उक्त सस्थाओं मे प्राप्त सफलता का यद्यपि बहुत बड़ा व्यावहारिक मूल्य है, तथापि ग्रामीण क्षेत्रों की विशिष्ट सामाजिक एवम् आर्थिक अवस्थाओं के कारण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

यद्यपि खेती भारत का सबमे बडा पेशा है तथा उसमे देश की करीब ७० प्रति शत जनता लगी है और राष्ट्रीय आय मे उसका आधे से भी अधिक हिस्सा रहता है, फिर भी वह देश की अनवरत रूप से बढ रही आबादी का भरण-पोषण करते रहने मे समर्थ नही हो पायी है। भारत मे औसत प्रति एकड उत्पादन और भारतीय कृषक की प्रति व्यक्ति आय सम्भवत ससार मे सबसे कम है। आज भी खेती का काम एक जीवन-मार्ग के रूप मे होता है, व्यवसाय के रूप मे नही। पिछले चन्द वर्षो मे प्रविधि के क्षेत्र मे महान विकास हुए है और एक तरह से उन्होने क्रान्ति-सी ला दी है, किन्तु ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर उसका कोई विशेष प्रभाव नही पडा है।

विज्ञान की देन

कृषि क्षेत्र मे सुधार करने की दिशा मे कृषिक अनुसधान ने जो भूमिका अदा की है, उसका मूल्याकन करना रुचिकर हो सकता है। पिछली सदी मे विज्ञान ने कृषि को तीन महत्वपूर्ण देन दी। प्रथम देन थी १८४३ मे उर्वरक उद्योग का प्रादुर्भाव। उर्वरक और मृत्तिका के बीच जो प्रतिक्रिया होती है, उसके आधार पर उर्वरक प्रयोग तथा वर्गीकरण की तकनीक विकसित की गयी। इससे करीब ६० वर्ष बाद बेहतरीन किस्मो के पौधे उत्पादित करने का मार्ग ढूढ निकाला गया और, कृषि के लिए यान्त्रिक शक्ति का उपयोग तीसरी देन थी। तब से प्रविधि के क्षेत्र मे इतनी तरक्की यानी विकास हुआ है कि सर्वोत्तम भूमि पर उसका प्रयोग किया जाय, तो हमारी अधिकाश ग्रामीण जनता बेरोजगार हो जायेगी और उसे कही अन्यत्र काम देना पडेगा। इससे सामाजिक और आर्थिक पुन समजन—जिसके बिना विज्ञान तथा कृषि के बीच जो खाई है वह पाटी नही जा सकती—की नयी समस्याएं सामने आयेगी।

अनुसधान संस्थाएँ

देश का रूपान्तर करने मे प्राविधिक विकास को सरकार कितना महत्व देती है यह तो इसी बात से परि-लक्षित है कि उसने देश भर में अनेक अनुसधान सस्थाएँ और सामग्री केन्द्र खोले है। इन सस्थाओ मे हुई चन्द मौलिक और व्यावहारिक खोजो से बहुत ही प्रत्यक्ष मूल्य के परिणाम प्राप्त हुए है। **पूसा गेहूँ** अपने गुण, पौधो को होनेवाली बीमारियो के प्रति प्रतिरोध, प्रति एकड अधिक उपज और देश के विभिन्न भागो मे पाई जानेवाली विभिन्न प्रकार की मिट्टी तथा बोआई आदि की अवस्थाओ के अनुकूल अपने को ढाल लेने के लिए प्रसिद्ध है। इसकी लोकप्रियता कृषको तथा उपभोक्ता दोनो ने ही पिछले पचास वर्ष से भी कुछ अधिक से इसमे जो विश्वास प्रकट किया है, उस पर आधारित है। गन्ने के पतले डण्ठलवाली देशी किस्म के स्थान पर जिससे किसान को शरबत के रूप मे बहुत कम यानी नगण्य-सी प्राप्ति होती थी, अब कोयम्बतूर किस्म का मोटे डण्ठल-वाला गन्ना बोया जाने लगा है, जिससे प्रथम किस्म की तुलना मे ५० प्रति शत से ज्यादा अथवा उससे भी अधिक प्राप्ति होती है। इस नयी पद्धति का प्रभाव चीनी के कारखानो की स्थापना और उनसे ग्रामीण आबादी को जो रोजगारी प्राप्त होती है, उसके कारण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे जो परिवर्तन आया है उससे परिलक्षित होता है।

ज्वार, बाजरा आदि जैसे मोटे अनाजो के सम्बन्ध मे अधिक उपज की प्राप्ति करवानेवाली किस्मो का पता लगाने के लिए ज्वार और बाजरे की खेती मे विजातीयकरण-तकनीक का विस्तार किया जा रहा है अर्थात् यह विधि लागू की जा रही है। अनेक केन्द्रो मे उक्त प्रकार के मोट अनाजो के बारे मे उन्नत कृषि-शास्त्र सम्बन्धी पद्धतियो का अध्ययन किया जा रहा है। कपास अन्वेषण के क्षेत्र मे केरल मे एण्ड्रूज की 'सी आयलैण्ड' कपास का वायुजलानुकूलन एक उल्लेखनीय कदम है। मद्रास और पजाब मे अति लम्बे रेशे की कपास का पता लगाया जा चुका है और व्यावसायिक आधार पर उसका उपयोग करने की सिफारिश की गयी है। विजातीय मक्का बीज उत्पादन का एक विस्तृत कार्यक्रम हाथ मे लिया जा चुका ह और आलू तथा कसावा की सूजी आदि जैसे सहायक खाद्य पदार्थो एवम् टमाटर व बैंगन जैसी साक-भाजी और अगूतन पपीते जैसे फलो तथा दालो एवम् तिलहनो की कई उन्नत किस्मो का पता लगाया जा चुका है। विभिन्न फसलो मे कितनी मात्रा मे उर्वरक दिये जाय तथा उन्हे कितने जल की आवश्यकता होती है, इस सम्बन्ध मे विस्तृत बातो की खोज की जा चुकी है। घास-पात पर नियत्रण और रसायन छिडक कर पौधो की रक्षा करने के लाभप्रद फल प्राप्त हुए है।

तृतीय पच वर्षीय योजना के अन्तर्गत मौजूदा कृषि सस्थाओ के विस्तार के जरिए और विभिन्न क्षेत्रो मे मिट्टी तथा जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओ पर आधारित प्रायोगिक केन्द्र स्थापित करते हुए भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् का राज्यो मे अनुसधान सुविधाएँ विस्तृत करने का कार्यक्रम है।

संयुक्त कृषि

इन सब बातो से पता चलता है कि भारत मे ग्रामीण जीवन की गतिहीनता भग करने के लिए महान प्रयासो का आयोजन किया जा रहा है। किन्तु अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि कृषि मे उच्च स्तरीय अनुसधान करके ही सुधार को प्रश्रय नही मिलता। भारत मे कृषि विषयक अनुसधान का स्तर पर्याप्त ऊँचा है और ससार के अन्य किसी भी विकसित देश के कृषि अनुसधान-स्तर से उसकी तुलना की जा सकती है। लेकिन दुर्भाग्यवश अन्वेषण से प्राप्त फलो का ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा है। इस सम्बन्ध मे मुख्य कमजोरी हमारी समाज व्यवस्था मे निहित है। कृषि मे किसी भी प्रकार की तरक्की के लिए भूमि सुधार एक पूर्व-शर्त है, जो अभी तक पूर्ण नही हुई है। उत्पादन वृद्धि मे खेतो का छोटा होना उतना बाधक नही है जितना कि उनका अलग-अलग छितरे हुए रूप मे होना तथा फसल पद्धति। निश्चित फसल पद्धतिवाले बडे-बडे खेतो का सम्बद्ध सस्था के कृषक सदस्यो के सयुक्त प्रबन्ध के अन्तर्गत कुशलतापूर्वक एव लाभदायक रूप मे सचालन होना चाहिए। इससे गाँव को एक खेत का नया आकार प्राप्त होगा और इस प्रकार खेतो के क्षत-विक्षत छोटे-छोटे टुकडो का लोप हो जायेगा। एक ही समान फसल बोनेवाले व्यक्तियो के निकट साहचर्य से सहकारी मिल्कियतवाले साधन-स्रोतो का सामूहिक तौर पर उपयोग करने का प्रोत्साहन मिलेगा और बेहतरीन उत्पादन के लिए स्वस्थ प्रतिस्पर्धा करने की प्रेरणा मिलेगी। नयी-नयी कुछ बाते स्वतत्र रूप से अपनायी जा सकती है, किन्तु कुल मिला कर देखने पर अधिकाश बाते सहकारिताओ के माध्यम से ही अपनायी जा सकती है।

मानवीय पहलू

उत्पादकता बढाने, सघन कृषि को बढावा देने और लोगो को काम के अधिक अवसर प्रदान करने के लिए विस्तार सेवा को शक्तिशाली बनाना पडेगा। इस सेवा के बिना अनुसधान से प्राप्त परिणामो को सरलतापूर्वक कार्यान्वित करने की अपेक्षा करना अवास्तविक है। जिन्होने इस कार्य के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओ पर विचार नही किया है, वे अनुसधान से प्राप्त मालूमातो को किसान जिस धीमी गति से अपना रहे है, उस पर आसानी से चिढ सकते है। इस समस्या ने कार्यकर्त्ताओ को भी चक्कर मे डाल दिया है। इसके लिए मुख्यत मानवीय पहलू उत्तरदायी प्रतीत होता है। मानवीय

पहलू के महत्व को समझ लेने पर अन्वेषण की एक नयी दिशा के लिए मार्ग प्रशस्त होगा। इसका विकास किया जाना चाहिए और विस्तार अनुसधान का यह एक अग होना चाहिए। अनुसधान से प्राप्त फल उपभोक्ता (कृषक) तक पहुँचाना और उपभोक्ता की समस्यएँ वापिस अनुसधानकर्त्ता (वैज्ञानिक) तक लाना विस्तार सेवा का मुख्य कार्य है। कार्यशीलता का यह एक नया क्षेत्र है जिसके जरिये प्रयोगशाला और खेत के बीच के अन्तर की खाई पटनी चाहिए।

विस्तार मेवा के क्षेत्र मे जो कार्य हुआ है, उसका सक्षिप्त विवरण यहा प्रस्तुत करना अप्रासगिक न होगा। सामुदायिक विकास की समस्याओ मे शोधकार्य करने और उस क्षेत्र मे प्रशिक्षण प्रदान करने के मुख्य उद्देश्य से केन्द्रीय सामुदायिक विकास मस्था की स्थापना सम्भवत इस दिशा मे प्रथम कदम था। नयी दिल्ली स्थित उच्च स्तरीय कृपि अनुसधान के लिए लब्ध प्रतीष्ठ भारतीय कृषि अनुसधान सस्था मे हाल ही मे एक स्वतत्र कृषि विस्तार विभाग खोला गया है। प्रकृति विज्ञान और मनोविज्ञान तथा ग्रामीण समाज शास्त्र के विशेषज्ञो की सेवा-प्राप्ति का लाभ उक्त विभाग को उपलब्ध है। गृह अर्थशास्त्र तथा श्रव्य-दृश्य शिक्षा के विशेषज्ञ भी वहाँ है। विभाग उत्तर-स्नातकीय शिक्षा कार्यक्रम चलाता ह। कृषि विस्तार के क्षेत्र मे शोधकार्य करके एम ए और पीएच डी. की पदवी प्रदान करने की व्यवस्था भी विभाग मे है।

बहुविध प्रयास

कृषिक विस्तार के क्षेत्र मे शोधकार्य का ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर भारी प्रभाव पडनेवाला है। कृषक तक अनुसधान से प्राप्त परिणाम पहुँचाने के सर्वाधिक प्रभावकारी उपायो का विकास किया जा रहा है। अनुसधान से जो नये मालूमात होते है उनके महत्व के सम्बन्ध मे किसान की दिलजमई करने मे प्रात्यक्षिक बहुत प्रभावशाली पाये गये। परिवर्तनो के प्रति प्रतिरोष पैदा करनेवाले मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलुओं का अध्ययन किया जा रहा है। ऐसा पाय गया है कि कुछ खोजो को वे किसान सामान्य किसान की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह अपनाते है, जिनका सामाजार्थिक दर्जा यानी प्रतिष्ठा कुछ ऊँची होती है। किसान के दृष्टिकोण अथवा अनुकूलता और प्रतिकूलताओ, मूल्यो और मान्यताओ, आकाक्षाओ तथा अपेक्षाओ, परिवर्तन के प्रति ग्रहणशीलता और अभिप्रेरणा को प्रभावित करनेवाले अन्य महत्वपूर्ण पहलू मालूम करने के लिए भी प्रयास किये जा रहे है। 'किसान द्वारा निर्णय' करने की दिशा मे भी शोधकार्य हो रहा है।

नेताओं की भूमिका

वैज्ञानिको द्वारा की गयी खोजो पर सिफारिशे स्वीकार करने मे जन-नायको की भूमिका पर ध्यान दिया जा रहा है। ऐसा पाया गया है कि अभिनव कृषि मे तथा उन्नत पद्धतियॉ कार्यान्वित करने और फलस्वरूप ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को उन्नत बनाने की दृष्टि से गॉवो मे लोक-मन को प्रभावित करनेवाले जन-नायक बहुत महत्वपूर्ण है। अनुसधान और उसके व्यवहार के बीच का अन्तर मिटाने के लिए नयी-नयी पद्धतियॉ अपनाने की दिशा मे अनेक अध्ययन किये जा रहे है।

निस्सदेह भारत मे कृषि क्षेत्र मे उल्लेखनीय अनुसधान हुआ है। देश की अर्थ-व्यवस्था पर इसका बहुत प्रभाव पडना चाहिए था। किन्तु यह प्रभाव अपेक्षित रूप से नही पडा है। इन विभिन्न शोधो के मध्य समन्वय और सश्लेषण स्थापित करने की बडी आवश्यकता है। आगे चल कर इन शोधकार्यो से प्राप्त परिणामो से देश की कृषि मे सुधार होना चाहिए। अनुसधान का यही औचित्य है, वैधता है। 'विस्तार सेवा' के जरिये यह प्रदान की जा रही है, जो कि एक सामान्य केन्द्र बिन्दू—यानी किसान—पर विभिन्न प्रकार के अनुसधान का सश्लेषण कर रही है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास मे योगदान देने के लिए किसान की अवस्था सुधरनी ही चाहिए।

नयी दिल्ली: ९ अगस्त १९६३

हमारे हड्डी स्रोत

शिशिर कुमार बराट

भारत सरकार द्वारा खाद्य और कृषि-कचरे के उपयोगार्थ जो समिनि नियुक्त की गयी थी, उसने अनुमान लगाया कि भारत में कच्ची हड्डियों की वार्षिक उपलब्धि ३ लाख ६० हजार टन के करीब है, जिसकी कीमत लगभग ७ करोड़ रुपये होती है। इनमें से सिर्फ ३८ प्रति शत ही एकत्रित और प्रशोधित होती है। अत हड्डियो की सघन सम्प्राप्ति आवश्यक है। समिति ने सिफारिश की है कि यथा सम्भव हड्डी उत्पादनो, जिसमे हड्डी-खाद भी शामिल है, के निर्यात की हर कोशिश की जानी चाहिए।

भारत हड्डी-स्रोत मे परम रूप से काफी धनी है और इसके और भी विकास की काफी सम्भावनाएं :। आमतौर पर यह अन्दाज लगाया जाता है कि मवेशी ; शारीरिक वजन का एक-चौथाई हड्डियो का वजन ोता है। भारतीय मवेशी का औसत वजन करीब ;०० पौड मान कर और उनके मृत्यु-अनुपात का अनुदार नुमान ८ प्रति शत लगा कर हिसाब लगाने से सैद्धान्तिक ौर पर हर साल २ करोड ४६ लाख मवेशी मिलेगे, ौर अकेले उनसे ही १० लाख ९० हजार टन हड्डियॉ ाप्त होगी। वहरहाल, असल मे जितनी हड्डी मिलनी ;, वह बहुत कम है। बडे जानवरो की हड्डियॉ, खासकर वाभाविक मौत मरनेवालो की, व्यापारिक रूप से :कत्रित की जाती है, क्योकि कसाईखाने मे ये जानवर ोडी सख्या मे ही आते है। भारत सरकार द्वारा ाद्य और कृषि कचरे के उपयोगार्थ जो समिति नियुक्त ी गयी थी, उसने अनुमान लगाया कि भारत मे कच्ची :ड्डियो की वार्षिक उपलब्धि ३ लाख ६० हजार :न के करीब है जिसकी कीमत लगभग ७ करोड रुपये ोती है। विभिन्न जातियो के जानवरो से होनेवाली उपलब्धि निम्न तालिका मे दी गयी है

तालिका

विभिन्न जातियो के जानवरो से प्राप्त कच्ची हड्डी

(लाख टन मे)

जाति	मृत	कत्ल	कुल
मवेशी	२ ४९५	० ०९७	२ ५९२
भैस	० ९५२	० ०६८	१ ०२०
घोडे और टट्टू	० ०१३	—	० ०१३
ऊँट	० ०१७	—	० ०१७
कुल	३ ४७७	० १६५	३ ६४२

अनुमानित उपलब्धि

इनमे से अभी सिर्फ १ लाख ३६ हजार टन हड्डियाँ ही, जो कि कुल अनुमानित उपलब्धि की ३८ प्रति शत है, असल मे देश की ९८ हड्डी चूरक इकाइयो मे एकत्र और प्रशोधित की जाती है और बाकी सगठन की कमी के कारण बेकार जाती है। हड्डियो की सघन सम्प्राप्ति का कार्य, विशेषकर उत्तर प्रदेश, उडीसा और असम के जगलो से, हाथ मे लिया जाना चाहिए, क्योकि इन राज्यो मे मवेशियो और जगली पशुओ की हड्डियॉ

भारी परिमाण मे एकत्रित नही होने के कारण बेकार चली जाती है। हमारे देश मे हड्डियो की पूर्ति लचीली नही है, क्योंकि अधिकतर इनकी प्राप्ति मृत पशुओं से होती है।

एकत्रीकरण की कठिनाइयाँ

मुख्य कठिनाई हड्डियो के एकत्रीकरण की है क्योकि हमारा पशुधन देश के साढे पॉच लाख गाँवो मे वितरित है। सच तो यह है कि बहुत से गॉव तो ऐसे है –जिनकी औसत मवेशी सख्या सिर्फ ३५० है। मवेशियो का मृत्यु-अनुपात करीब ८ प्रति शत मान कर इन गाँवो मे पशु-शवो की वार्षिक उपलब्धि प्रति गॉव ३० से कुछ कम होती है। अत यह प्रत्यक्ष है कि गाँवो मे पशु-शवो की इस आकस्मिक पूर्ति के कारण ग्राम स्तर पर हड्डियो का प्रभावशाली एकत्रण सगठित करना कठिन होगा। बहरहाल यह कार्य गाँवो मे ग्राम पचायतो, सामुदायिक परियोजना प्रशासन, ग्राम शवच्छेदन केन्द्रो, आदि के जरिये सलाभ सगठित किया जा सकता है। गॉवो मे मरनेवाले जानवरो का प्रशोधन निकट के शवच्छेदन केन्द्रो मे किया जाना चाहिए। गाँवो मे मरनेवाले सभी पशुओं को एक निश्चित जगह मे पहुँचाया जाना चाहिए।

खड विकास क्षेत्रो मे क्रय केन्द्र भी खोले जा सकते है जहॉ कि आस-पास के ग्रामीण एकत्रित की गयी हड्डियो को समुचित दर पर, जो कि उनके लिए आकर्षक भी हो, बेच सके। अधिकाधिक एकत्रण तभी सम्भव है, जबकि इन प्राथमिक एकत्राकर्त्ताओ को ऊँची कीमत दे प्रोत्साहित किया जाय। एकत्रण बढाने के लिए प्रोत्साहन की एक ऐसी पद्धति निकाली जानी चाहिए जो कि प्राथमिक एकत्रकर्त्ता को पर्याप्त लाभ की गारटी दे। अधिकाश मामलो मे यह एकत्रणकार्य लाभदायक नही होता, क्योकि माल-भाडा और परिवहन की दरे बहुत ऊँची है।

फासफोरस युक्त खाद के लिए हड्डी बडा ही महत्वपूर्ण स्रोत है। सुपर फास्फेट मे फासफोरस पेण्टोक्साइड (P_2O_5) होता है जोकि पानी मे धुल जाता है और भारत के अधिकाश भाग की भूमि मे फास्फेटयुक्त उर्वरक के इस्तेमाल के लिए यह अधिक उपयुक्त है। यदि हड्डी उत्पादक क्षेत्र मे ही व्यापारिक सलफ्यूरिक एसिड सस्ते मे मिल जाय, तो उसका उपयोग हड्डियो को सुपर फास्फेट मे, कम-से-कम स्थानीय उपयोग के लिए, बदलने हेतु सलाभ किया जा सकता है। तथापि, देश के कई भागो मे धार्मिक कारणो से हड्डी उर्वरक को लोग जल्दी स्वीकार नही करते, यद्यपि आमतौर पर इसके इस्तेमाल मे कुछ हद तक इसकी ऊँची कीमत भी बाधक है। विशेषकर दक्षिण मे सब्सिडी आदि देकर हड्डी उर्वरक के इस्तेमाल को लोकप्रिय बनाने की कोशिश की जा रही है। भारत सरकार और राज्य सरकारे राज्य सरकार के जरिये बेचे जानेवाली हड्डी खाद की खुदरा कीमत पर २५ प्रति शत सब्सिडी देती है, हड्डी खाद तैयार उर्वरक के एक अग के रूप मे अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है। यह वाछनीय है कि इस हड्डी खाद को एन्थ्रेक्स से बचाने के लिए अच्छी तरह निष्कीटित कर लिया जाय। जहॉ सुपर-फास्फेट आवश्यक न हो, वहाँ खनिजीय फास्फेटो का भी सुविधानुसार उपयोग कर सकते है।

विदेशी मुद्रा उपार्जक

देश मे खनिजीय फास्फेट स्रोतो की कमी होने की वजह मे हाल के वर्षो मे हड्डियो अथवा अधिक फासफोरस पेण्टोक्साइड रखनेवाले हड्डी उत्पादनो के मुक्त निर्यात के विरुद्ध आवाज उठायी गयी है। यह आग्रह किया जाता है कि देश के अन्दर फास्फेटिक उर्वरक की माग की पूर्ति करने हेतु इसका निर्यात बन्द किया जाना चाहिए। तथापि निर्यातीत हड्डी अथवा आयातीत फास्फेट राक की फासफोरस पेण्टोक्साइड इकाई की गणना के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय दर का अन्तिम विश्लेषण करे तो यह मालूम होगा कि सुपर फास्फेट के मामले मे फासफोरस पेण्टोक्साइड का मूल्य बहुत प्रतियोगात्मक है। सच तो यह है कि प्रति टन फासफोरस पेण्टोक्साइड हड्डी अथवा हड्डी उत्पादन के रूप मे निर्यात करने पर उसके बदले मे आयातीत फासफेट राक मे वह तीन गुना अधिक मिलता है। अत हड्डी उत्पादनो की वर्तमान अन्तर्रा-

ष्ट्रीय दर पर भारत के लिए इनका अधिकाधिक निर्यात करना लाभदायक है और देश की माग की पूर्ति के लिए फास्फेटिक राक का आयात किया जाना चाहिए, जोकि विदेशो मे तैयार मिलते है, उपर्युक्त तथ्यो के सन्दर्भ मे भारत सरकार द्वारा गठित समिति ने अधिकृत रूप मे यह सिफारिश की है कि जब तक विदेशो से हमे फास्फेट राक सहज ही मिल जाता है और अपने देश के अन्दर हड्डी उत्पादनो का मुख्यत खाद के रूप मे इस्तेमाल होता है, तब तक जितना ज्यादा सम्भव हो हम हड्डी उत्पादनो का, जिसमे हड्डी चूरा भी शामिल है, निर्यात करने की भरपूर कोशिश करे। इससे उपार्जित विदेशी मुद्रा का एक भाग फास्फेट राक अथवा हाइपर फास्फेट जैसे खनिजीय फास्फेट का आयात करने मे खर्च किया जा सकता है, जोकि हड्डियो तथा हड्डी उत्पादनो के निर्यात से फासफोरस पेण्टोक्साइड के होनेवाले नुकसान की पूर्ति करेगा।

चूना निकालना

हमारे देश मे हड्डी उद्योग तो काफी हद तक अभी निर्यात-मुखी है ही, क्योकि अभी सालाना औसत ७४ हजार टन हड्डी और हड्डी उत्पदानो का इग्लैंड,बेल्जियम अमेरिका आदि को निर्यात कर करीब २ करोड ५० लाख रुपये की आय होती है। इसके अतिरिक्त, भारत प्रति वर्ष करीब ३२ से ३५हजार टन हड्डी खाद तैयार करता है। परन्तु अभी इसके निर्यात पर प्रतिबन्ध हटा दिया जाय तो इस उद्योग की विदेशी मुद्रा अर्जन क्षमता बहुत वढ जायगी। इससे प्राथमिक उत्पादको को अधिक लाभ होगा और जिससे कि उपलब्ध स्रोतो से अधिकाधिक हड्डी एकत्रण कार्य को प्रोत्साहन मिलेगा।

हड्डी का अन्य उपयोग है इसे ओसीन मे परिवर्तित कर देना और फिर यदि आवश्यक हो तो जिलेटीन मे। हड्डी को श्लेष-जनीय अन्तर्द्रव्य कह सकते है, जिसमे कैलशियम फास्फेट की लगभग-रचना का अणुस्फटात्मक अप्रागारिक क्रम रहता है, लेकिन उसमे अन्य अयन भी रहते है। इसलिए जब हड्डी को कमरे के तापमान पर मन्द हाइड्रोक्लोरिक एसिड का सयोग कराया जाता है तो मुख्यत ओसीन और मन्द हाइड्रोक्लोरिक एसिड मे कैलशियम फास्फेट का घोल प्राप्त होते है। प्रयोगिक तौर पर यह पाया गया है कि हड्डी का चूना निकालने के लिए करीब १४ प्रति शत अम्ल आवश्यक है, और अम्ल को चूना जल अथवा सोडियम हाइड्रोक्साइड मे मिलाकर क्लीबित करने से कैलशियम फास्फेट प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया के दौरान कैलशियम क्लोराइड और सोडियम क्लोराइड का भी उत्पादन होता है और उन्हे पानी से धोकर आसानी से बाहर निकाल लेते है। परिवर्त समु का सावधानी से फेर-बदल तथा क्लोराइडो को निकाल कर उचित रूप मे शुद्ध डाइकैलशियम फास्फेट प्राप्त करना सम्भव है।

नये मार्ग

अभी देश के अन्दर जिलेटीन की खपत कम है तथा इसके निर्माण की सस्थापित क्षमता का काफी भाग निष्क्रिय पडा रहता है। अत ओसीन और तकनीकल जिलेटीन के निर्यात व्यापार की क्षमता को जानना होगा और यदि इन उत्पादनो की ठीक माग हो तो देश मे ही प्राप्य हड्डियो से ओसीन और जिलेटीन तैयार करने के लिए कदम उठाने होगे। अभी जापान भारी मात्रा मे ओसीन आयात करने को तैयार है और हमारे यहाँ उपलब्ध उनकी अपेक्षा सस्ते श्रम को देखते हुए हमे इस मामले मे अच्छी तरह प्रतियोगिता करने योग्य होना चाहिए। फिर, हड्डी को ओसीन मे परिवर्तित करने से क्लोरिन उपयोग का नया मार्ग निकलेगा, जिससे माल-भाडा खर्च तो काफी बचेगा ही, साथ ही सह-उत्पादन के रूप मे डाइकैलशियम फास्फेट और अवशिष्ट आसव प्राप्त होगा जिनका उपयोग उपयोगी उर्वरको के रूप मे करने के अलावा अन्य औद्योगिक कार्यो मे भी किया जा सकता है।

मद्रास १९ अप्रैल १९६३ ●

ग्रामीण रोजगारी और योजना

चित्तप्रिय मुखर्जी

यदि हम एक आत्म-निर्भरक, अपने पैरो पर खड़े होनेवाले स्वावलबी ग्राम समाज की स्थापना करना चाहते है, तो गैर खेतिहर उद्योगो के सगठित निजी क्षेत्र और ग्रामोद्योगो व गाँवों, यत्र-प्रधान और श्रम प्रधान उद्योगो, तथा सामान्यत. शहरोन्मुख औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था और ग्रामोन्मुख विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के मध्य सतुलित सम्बन्ध सुनिश्चित करना आवश्यक है।

तृतीय योजना के अन्त मे पूर्ण तथा अर्ध-बेरोजगारो[1] की सख्या के द्वितीय पच वर्षीय योजना के अत की सख्या से भी अधिक होने के आसार हम मे से अनेकों को उलझन मे डालनेवाले प्रतीत होते है। दो दशको की अवधि मे बलिदान करते और कष्ट झेलते हुए क्या हमने एक ऐसे समाज का मार्ग प्रशस्त नही किया है, जिसमे बेरोजगारी तथा उसके सहगामी असमान सम्पत्ति वितरण की समस्या नही होगी? क्या स्वयम् योजना मे या उसके कार्यान्वयन मे कोई कमी है?

हितों में अनेकरूपता

फलविहीन विश्वयुद्ध के साथ समाप्त होनेवाले दीर्घ कालीन आर्थिक शोषण और हम पर थोपे गये देश विभाजन के फलस्वरूप चूर-चूर कर खोखलेपन की स्थिति तक पहुँचे हुए देश के सामने आज जो अनेक समस्याएँ—भूमि की उर्वरकता को मात कर देनेवाली जन-सख्या मे अचानक वृद्धि से लेकर विनियोजन की वाछित दर के साथ-साथ आगे बढने हेतु घरेलू बचत की असफलता तक—हैं उनमे जन-शक्ति रूपी पूंजी का पूर्ण उपयोग करने के लिए अवसरों (काम के अवसरो) का अभाव निस्सन्देह सबसे भारी समस्या है। नवीन और प्राचीन तथा बड़े-बड़े गर्वित शहरो व नगरो मे सगठित एकाधिकरवादी विकास और बिल्कुल असगठित एवम् यत्र-तत्र बिखरे हुए कृपि विभाग के विलक्षण और अनुरूप सयोग से पीडित हमारे ससाज ने—जिसके सामाजिक व आर्थिक जीवन मे पहले से ही किसी न किसी रूप मे व्यक्ति-वाद तथा वर्ग-भेद की अन्तर्निहित भावना थी—गरीब और अमीर, ग्रामीण और शहरी, शिक्षित और अशिक्षित, बाबूगिरी का काम करनेवालो व बुद्धिजीवियो और मेहनतकश के बीच हितो की अनेकरूपता तथा दृष्टिकोण भिन्नता को पनपाया।

आज जो देश अच्छी और सुदृढ स्थिति मे है, उनके द्वारा निर्धारित समाधान (जो कि अधिकाश आकस्मिक रूप से, केवल युद्धकाल[2] मे ही अपनी

---

१ "द्वितीय पच वर्षीय योजनावधि में ८० लाख व्यक्तियो को रोजगारी देने के नये अवसर निर्मित किये गये, जिनमें से ६५ लाख कृषि क्षेत्र के बाहर थे। द्वितीय योजना के अन्त में बेरोजगारों की सख्या ९० लाख थी। इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों का सही सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता जिनके पास कुछ काम तो है पर वे और भी अतिरिक्त काम करने के लिए उत्सुक हैं। फिर भी, उनकी सख्या डेढ-दो करोड के बीच मानी जाती है।...तृतीय योजना के दौरान करीब और पौने दो करोड़ व्यक्ति श्रम-शक्ति में शामिल हो जायेंगे। ऐसा अनुमान है कि तृतीय योजना के दौरान १ करोड ५ लाख नये व्यक्तियों को गैर खेतिहर कामों मे तथा कृषि में और ३५ लाख व्यक्तियो को काम दिया जा सकेगा।" —**तृतीय पच वर्षीय योजना**; पृष्ठ १९६-१९९।

२ "ऐसे व्यक्ति भी है जो प्राविधिक बेरोजगारी की सम्भाव्यता से इन्कार करते हैं। जिस तर्क पर उनकी दलील आधारित है वह कुछ हद तक सही है, लेकिन अधिक तर्कसंगत नही जान पडती। अब तक द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण माग

बेरोजगारी की समस्या सुलझाने की बात सोच सकते है) शायद ही उन वास्तविक समस्याओ की तह तक पहुँच सके जोकि मात्र गुजर-बसर करने के स्तरवाली अत्यधिक अतिरिक्त जन-शक्ति और परिणामस्वरूप बचत के अभाव तथा उच्च उत्पादकता और रोजगारी के मध्य उद्देश्यो के सघर्ष से पीडित हमारे देश मे एक दुष्चक्र बनाये हुई है। हमने इस महान कठिन काम मे उस वक्त हाथ डाला है जबकि कम आबादीवाले महाद्वीपो मे अपनी अतिरिक्त आबादी को भेजने की कोई गुजाइश नही है—जोकि अग्रणी पाश्चात्य देशो के मामले मे थी—और न आज शोषण व नियत्रण के लिए उपनिवेश है तथा न ही साम्राज्य।[3]

मालथस (Malthus) के सिद्धान्त को सही न मान कर जब समूचा ससार उत्सुकतापूर्वक 'भूख से मुक्ति' अभियान मे शामिल होता है, तो प्राय समस्त 'अल्प-विकसित' देश एक साथ राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता की योजनाएँ चलाते है, और विश्व-व्यापार एक ऐसा मोड लेता है कि उससे 'तुलनात्मक लागत' के पुराने सिद्धान्त के आधार पर दूसरो के साथ विनिमय करने के लिए शायद ही पर्याप्त रूप मे निर्यात योग्य उत्पादन हो। विदेशी सहायता की परिभाषा अथवा उसके उद्देश्य जो भी हो[4] अल्प-विकसित देशो को सहायता देनेवाले शक्तिशाली राष्ट्र, विश्व सगठनो द्वारा अन्य दिशाओ मे किये जानेवाले प्रयासो की प्राय अवहेलना करते हुए, अपने स्वयम् के सघ वना लेते है और फलस्वरूप अल्प-विकसित देश पहले जिन उत्पादनो का निर्यात करते थे उनका मूल्य गिरा देते है। फिर भी, उन तमाम आपदाओ के बावजूद जिन पर हमारा कोई नियत्रण नही है, यह स्वीकार करना पडेगा कि हमने कुछ स्थूल परिणाम प्राप्त किये है, और कुल आबादी मे कार्यकारी आबादी का अनुपात १९५१ के बाद भारत मे बढा है।[5]

असामान्य रूप से बढ नही गयी, सयुक्त राज्य अमेरिका मे बेरोजगारी की समस्या पर काबू नही पाया जा सका था। यदि ससार का सर्वाधिक सम्पन्न देश, जो सतति-निग्रह के जरिये लाखो और सम्भवत करोडों की तादाद मे श्रम-शक्ति मे बढती नही होने देता अपनी श्रम-शक्ति को काम मे लगाये नहीं रख सकता तो यदि यान्त्रिक क्रांति का विलोम पक्ष कभी सामने नही आया होता, उस अवस्था मे कितनी भयकर बेरोजगारी होती ?"—ई डब्ल्यू जिमरमॉन (Zimmermann) **वर्ल्ड रिसोर्सेस एण्ड इण्डस्ट्रीज; पृष्ठ १००।**

३ चीन की समस्याएँ तथा सम्भाव्यताएँ हमारे समान है, पर उसने विकास की जो पद्धति अपनायी है वह हमारे विकास का जो सिद्धान्त है उससे मेल नहीं खाती। जापान ने इस सदी के प्रारम्भ से महान सफलता प्राप्त की थी। लेकिन वह भी उसका विस्तृत साम्राज्य छिन्न भिन्न हो जाने के बाद और पहले की अपेक्षा आबादी बहुत बढ जाने से आज अपने साधन-स्रोतो का पुनर्मूल्याकन करने मे व्यस्त है। "राष्ट्रीय स्तर पर यह महसूस करने, समझ लेने पर कि राष्ट्र जितनी आबादी का भार सह सकता है, उस अधिकतम सीमा तक उसकी जन-सख्या पहुँच गयी है, जापान मे पिछले वर्षों मे जन्मानुपात मे जो महान गिरावट (प्रति एक हजार के पीछे सात) आयी या लायी गयी है उससे हर किसी को विश्वास हो जाना चाहिए कि जो कुछ जापान मे हुआ उसकी पुनरावृत्ति भारत मे भी की जा सकती है।" **—रिपोर्ट ऑफ दि कमीशन फॉर लेजीस्लेशन ऑन टाउन एण्ड कण्ट्री प्लानिंग; पृष्ठ ४१।**

४ "प्राय 'सहायता' शब्द का बडा उदार प्रयोग किया जाता है और इसमे वह विनियोजन अथवा उधार भी शामिल कर ली जाती है जो, उदाहरणस्वरूप, विकासोन्मुख देशो को यन्त्रों तथा उपकरणो के मध्य-कालीन निर्यात के रूप मे दी जाती है। इसके अतिरिक्त विकासोन्मुख देशों को फिलहाल जो सहायता उपलब्ध है—विशेष कर कुछ यूरोपीय देशो से—वह इतनी लघु कालीन है और उस पर ब्याज दर इतनी अधिक है कि उसे सामान्य वाणिज्य-उधार से शायद ही अलग किया जा सके।" डाक्टर बी के मदान (रिजर्व बैंक ऑफ इडिया के कार्यकारी निर्देशक) का 'रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया बुलेटिन' के मई १९६३ के अक मे पृष्ठ ६०९ पर प्रकाशित ३० अप्रैल १९६३ को दिया गया भाषण।

५ **भारत की जनगणना १९६१** (१९६२ का पेपर नबर १) पृष्ठ ४०३ और ४०९, तथा स्टेटमेण्ट (विवरण) १९ और १६, **पृष्ठ** २२ और २३ (रोमन मे)। १९५१ को आधार (१००) मान कर १९६१ मे आबादी वृद्धि का सूचकाक १२१ ६९ और कामगारो की वृद्धि का सूचकाक १३३ ८१ था। यदि १९०१

सभी समस्याओ को एक साथ हल करने के महान् दुस्तर कार्य का सामना करते हुए और वैसे परिणाम प्राप्त करने के लिए कृत-सकल्प–जिनकी प्राप्ति मे हमसे अधिक विकसित देशो को भी अपेक्षाकृत अधिक अनुकल परिस्थितियो के होते हुए ज्यादा समय लगा–हम एक ऐसी आयोजन तकनीक का अनुसरण करते आ रहे है, जो एक माने मे अनुपम तथा कार्यान्वित करने मे अधिक कठिन है। यदि अन्य तरीको से उक्त तरीका धीमी यानी मन्द गतिवाला है, तो इसके साथ ही कार्यान्वियन की प्रक्रिया मे यह कम कष्टदायक भी है और ज्यो ही हम इस अवसाद–उडान भरने या छलाग मारने की स्थिति–को पार करके 'आत्म-निर्भर' यानी अपने पैरो पर खडे हो कर विकास करने की स्थिति पर पहुँच जायेगे उसके बाद इसमे बहुत ही दूरगामी फल प्राप्त होने की सम्भावना है। प्राथमिकता किसे दी जाय ? इस प्रश्न पर कुछ लोग यह दलील देते है कि हमारे पास जो कुछ भी धन, सम्पत्ति है उसके समान वितरण और सबको रोजगारी देने के सवाल को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। दूसरो का कहना है कि समान वितरण बाद मे भी हो सकता है और यदि निकट भविष्य मे तीव्र गति से सम्पत्ति के सृजन या अन्यथा सम्पत्ति-सृजन के लिए आधार निर्मित करने की प्रक्रिया मे वर्तमान आय सम्बन्धी असमानताएँ कुछ और भी बढ जाती है तो अन्तिम परिणामो के सम्बन्ध मे हमे निराश होने की आवश्यकता नही। वे आगे कहते है कि उत्पादन-तकनीक के सुधार के दौरान प्रत्येक देश मे–विभिन्न कालो मे–प्रारम्भिक तौर पर कुछ बेरोजगारी अथवा श्रम-विस्थापन हुआ है, लेकिन उसके बाद उत्पादन साधनो व रोजगारी का विस्फुरण, विस्तार हुआ है, होता है। ऐसा सुझाया जाता है कि जो परिवर्तन अब हम कर रहे है उनका मूल्याकन चन्द नये उद्योगो या काम-धधो के अतिरिक्त रोजगारी सबन्धी आकडो अथवा बेरोजगारी की परिमाणात्मक शब्दावली मे ही नही किया जाना चाहिए, बल्कि उनका मूल्याकन उस जीवन मार्ग के प्रति परिवर्तित, पुन सस्कृत उपागम की गुणात्मक दृष्टि से किया जाना चाहिए जिसने आज तक बेरोजगारी, गरीबी और सम्पत्ति-सृजन के अपर्याप्त साधनो का दुष्चक्र ही निर्मित किया है।

सफलताएँ

उत्पादकता, रोजगारी और सम्पत्ति के समान वितरण के प्रतिस्पर्धात्मक दावो के प्रवाह मे अपनी नैया को खेते हुए हमारे आयोजक दो पच वर्षीय योजनाओ के दश वर्षीय काल मे पुनरुत्पादनीय चर सम्पत्ति[६] का एक ठोस आधार निर्मित करने और १९५१ से लेकर पाँच करोड व्यक्तियो को रोजगारी

को आधार (१००) स्वरूप माने तो आबादी का सूचकाक १९५१ मे १५० ७० तथा १९६१ मे १८३ ४० आता है, कुल कामगारों का प्रातिशत्य इसी काल मे १२६ ५० से बढ कर १६९ १४ हुआ। कुल आबादी में कामगारो का प्रातिशत्य १९०१ मे ४६ ६१; १९५१ मे ३९ १०; और १९६१ मे ४२.९८ था। रोजगारी के विकास पर योजना-परिव्यय का प्रभाव स्पष्ट है, दो योजनाओ में सार्वजनिक विभाग में हुए कुल परिव्यय (६९ अरब ६० करोड़ रुपये) में से सामान्य तौर पर कृषि कार्यक्रमो को १२ अरब ३१ करोड़ रुपये यानी खानों सम्बन्धी कार्यक्रम पर हुए खर्च के करीब २० ३ प्रति शत रुपये मिले, और उद्योगो को २६ ९ प्रति शत, निर्माण कार्यों को ६ ३ प्रति शत, यातायात, भाण्डारीकरण आदि को २८.४ प्रति शत और सामाजिक सेवाओ तथा अन्यो को १८.१ प्रति शत धन मिला। कामगारो की विभिन्न श्रेणियो मे हुई वृद्धि के सूचकाक से इसकी तुलना करने पर हमें पता चलता है कि १९५१ को आधार (१००) मानने पर कृषको की वृद्धि का प्रातिशत्य ४० ८६; खेतिहर मजदूरो का १४ २१, बागानो, वनो आदि मे लगे श्रमिको का २९, घरेलू तथा निर्माण उद्योगो के काम मे लगे कामगारों का ५७ ९७, निर्माण कार्य मे लगे व्यक्तियो का ३९ ०४, वाणिज्य और व्यापार में ३ ८७, यातायात, भाण्टारीकरण, सचार में ३९ ७५ और तीसरी श्रेणी की सेवाओ या काम-धंधो मे लगे व्यक्तियों का प्रातिशत्य १२ ३९ था।

६. पुनरुत्पादनीय चर सम्पत्ति १९४९–५० में १ खरब ७० अरब ८६ करोड रुपये से बढ कर १९६०–६१ में ३ खरब २१ अरब ६४ करोड़ रुपये क बराबर हो गयी थी। इसी

अथवा लाभदायक काम-धंधे प्रदान करने तथा तृतीय योजना[७] मे अनुपातिक रूप से और भी तीव्र गति से रोजगारी के लिए उपयुक्त प्रावधान रखने मे समर्थ हुए है। यद्यपि चन्द हाथो मे धन का सकेन्द्रण होने की अवश्यम्भावी प्रवृत्ति जारी है,[८] तथापि उन व्यक्तियो के हाथ से, जिन्होने योजना के कार्यान्वियन के दौरान विदेशी उत्पादको का स्थान ले लिया है– और विकास-शील व्यय के अन्य हिताधिकारियो के हाथ से भी– अत्यधिक क्रय-शक्ति कम करने के लिए अनेक प्रकार के राज्य-कर-विषयक, वित्तीय और प्रशासनात्मक कदम उठाये तथा साथ ही साथ अपनाये जा रहे है।

प्रविधि और रोजगारी

यद्यपि विशेषज्ञ इस बात से सहमत है कि भारत मे बुनियादी समस्या ग्रामीण क्षेत्रो मे अल्प-रोजगारी की है, तथापि इस शक्ति का उपयोग करने के तरीको के सम्बन्ध मे बहुत मत-भिन्नता है। 'राहत' की प्रकृतिवाली रोजगारी की जैसे के तैसे रूप मे भर्त्सना[९] नही की जाती, लेकिन जैसा कि अनुवर्ती अनुभव से प्रकट हुआ है उससे देश की समग्र उत्पादकता अथवा सम्पत्ति मे शायद ही कोई वृद्धि हो, इस आशा से इस प्रकार की रोजगारी का निर्माण या विस्तार करने के विचार को कि जब उसका विस्तृत रूप सामने आयेगा तो अपने विशाल पैमाने मात्र से ही वह उस चीज की प्राप्ति कर लेगा, जोकि 'उत्पादनशील' रोजगारी छोटे पैमाने पर प्राप्त कर सकती है, उन व्यक्तियो की ओर से शायद ही प्रोत्साहन मिले जो 'तत्काल' की अपेक्षा आगे की सोचते है तथा इस बात मे दृढ विश्वास रखते है कि प्रति कर्मी उच्च उत्पादकता प्राप्त करने के लिए बेहतरीन तकनीको के व्यवहार से इन्कार करना स्वयम् 'प्रगति' की जड मे कुल्हाडी मारना है। पहले से ही यह तर्क मानते हुए कि शाति के समय मे विकसित देश बेहतरीन उत्पादन-तकनीको का व्यवहार करके बेरोजगारी की समस्या का उन्मूलन करने मे अभी तक समर्थ नही हुए है, बडा जोर देकर यह दलील दी जाती है कि यदि वे देश असफल रहे है तो इसका कारण श्रमिक की उत्पादकता बढाने के लिए प्राविधिक सफलताएँ प्राप्त करना इतना नही है, जितना कि मानवीय सस्थाओ तथा वृत्तियो का असफल होना, जिनसे मार्गदर्शन मिलता है एवम् जिन पर मानव व मशीन[१०] का उपयोग करने के बडे भारी काम का उत्तरदायित्व है।

काल में कुल चर सम्पत्ति अनुमानत क्रमश ३ खरब ४९ अरब ४० करोड़ और ९ खरब २४ अरब ९ करोड़ रुपये मूल्य की थी–**रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन;** जनवरी १९६३।

७ महापजीयक और केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन द्वारा १९६१ में लगाये गये अनुमान के अनुसार हमारी आबादी १९६६ मे बढ कर ४९ करोड २० लाख; १९७१ मे ५५ करोड़ ५० लाख और १९७६ मे ६२ करोड़ ५० लाख तक हो जानेवाली है, इस काल मे श्रम-शक्ति वृद्धि ७ करोड हो सकती है, मोटे तौर पर यह तृतीय योजना में करीब १ करोड ७० लाख, चतुर्थ योजना मे लगभग २ करोड ३० लाख और पचम योजना मे तकरीबन ३ करोड हो सकती है।–**तृतीय पच वर्षीय योजना;** पृष्ठ १५६, ७५०।

८ देखिए **रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन;** सितम्बर १९६२।

९ इस सम्बन्ध मे योजना आयोग द्वारा रोजगारी का विस्तार करने के लिए १९५३ मे जिस 'ग्यारह-सूत्री कार्यक्रम' की घोषणा की गयी थी, उसका उल्लेख किया जा सकता है। उत्पादनशील रोजगारी निर्मित करने के लिए 'अरुढिवादी' तरीको का इस्तेमाल करने सम्बन्धी प्रस्ताव की अनेक अर्थशास्त्रियों ने उसे बेरोजगारी के समान ही कह कर आलोचना की है।–भवतोष दत्त **एसेज इन प्लान इकनॉमिक्स** में 'अनएम्प्लॉयमेण्ट एण्ड अनऑर्थोडोक्स मेथड्स' शीर्षक लेख।

१० "मार्गावरोधक यन्त्र युग का नही, बल्की द्रव्य-विषयक युग का अस्तित्व है। कामगार असहाय रूप से मशीन से बधा हुआ है और हमारी संस्थाएँ तथा रीति-रिवाज मशीनो से इस लिए आक्रात एवम् अपक्षरित होते है कि यन्त्र का उपयोग पैसे के लिए होता है। हम उस प्राचीन पंथ से चिपटते है, वे विचार और भावनाएँ अभिव्यक्त करते है, जिनका

सरकारी दृष्टिकोण[११] परिपूर्णत उक्त सिद्धान्त को स्वीकार करता है--और, स्वयम् योजना आयोग द्वारा स्वीकृत चन्द अपरिहार्य प्रशासनात्मक मन्दता को छोड कर--तथा यत्रो के आयात व निर्माण पर बडा जोर देता है, विशेष कर उन उद्योगो के लिए जो पूँजी-प्रधान होने चाहिए और उस गति से उत्पादन करे कि फलत न केवल घरेलू माग पूरी हो, बल्कि निर्यात के लिए भी पर्याप्त सामान बचा रहे। जैसा कि पिछले दशक के रिकार्ड से पता चलता है कि यत्रो का आयात अन्य प्रकार की आयातित वस्तुओ से बहुत अधिक हुआ है और वर्तमान विदेशी मुद्रा के सकट का कारण भी बहुत कुछ इन यत्रो का आयात ही है, जो भविष्य में उत्पादकता-वृद्धि के लिए निस्सदेह एक ठोस आधार निर्मित करता है।[१२]

विविध उद्योग

इसके साथ ही योजना आयोग अतिरिक्त जन-शक्ति[१३] को काम देने के लिए विभिन्न प्रकार के उद्योगो पर भी विचार करता है और साथ ही साथ कुटीरोद्योगो के 'कृषि-प्रकार' 'पूरक उद्योग', 'सेवा प्रकार' के कुटीर उद्योग आदि तथा सम्बद्ध कुटीर एवम् लघु-स्तरीय उद्योगो पर जोर देता है, जोकि अपेक्षा की जाती है कि प्रारम्भिक अवस्था मे उपयुक्त सरक्षण प्रदान करने पर पर्याप्त मात्रा मे उपभोक्ता सामग्री उत्पादित कर सकते है तथा प्रति कर्मी मामूली विनियोजन से काफी सख्या मे पूर्ण और अर्द्ध-बेकार जन-शक्ति को काम दे सकते है। परम्परागत या अम्बर चरखा, हाथ करघा आदि को प्रोत्साहन देना, और सगठित क्षेत्र के साथ 'सयुक्त उत्पादन कार्यक्रम' बनाना पिछले दशक मे उठाये गये तथा तृतीय एवम् अनुवर्ती योजनावधियो मे सघन रूप दिये जानेवाले कदमो यानी उपायो के प्रमाण है।

गाँवो में रोजगारी की समस्या

गाँवो मे बेरोजगारी की समस्या जितनी बडी और जिस प्रकार की है, वह तो है ही, लेकिन इस दुर्भाग्यपूर्ण

हमारे जीवन की वर्तमान कार्यशीलताओं पर कोई वास्तविक प्रभाव नही है, क्योंकि आज भी हमारी निष्ठा पर रुपयेपैसे सम्बन्धी लाभ-हानि का भूत छाया हुआ है।"--जॉन डिवे (Dewey) **दि हाउस डिवाइडेड अगेन्स्ट इटसेल्फ।**

११ बेकारी की समस्या और उसके समाधानार्थ तीन उपागमों--**लघु उद्योगो** के जरिये काम का विस्तार करने के लिए **रोजगारी के अवसरो का विस्तार, ग्रामीण विद्युतीकरण** और औद्योगीकरण तथा **ग्रामीण निर्माण कार्यक्रम** का सगठन -- के प्रसग मे योजना आयोग का मत है, "उत्पादन की नयी तकनीकों का समावेश करने पर शुरू की अवस्था में रोजगारी में कमी भी हो सकती है। **यह अपेक्षा की जाती है** कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे पुन प्राण फूंकने की दृष्टि से उल्लेखनीय दूरगामी फल प्राप्त होंगे,"--**तृतीय पच वर्षीय योजना, पृष्ठ, १६१।**

१२ सन् १९५८-५९ और १९६१-६२ के दौरान हम ने अनुमानत कुल ४० अरब रुपये की आयातित सामग्री में से १.२ अरब रुपये के यत्र तथा सभी श्रेणियों के यातायात उपकरणों का आयात किया।

१३ तृतीय योजना के दौरान अतिरिक्त गैर खेतिहर रोजगारी का अनुमान लगाते हुए (कुल १ करोड ५ लाख ३० व्यक्तियो को काम देने की सख्या मे से ६७ लाख ५० हजार की प्रत्यक्ष रोजगारी के लिए गणना की जा सकेगी और शेष ५६ प्रतिशत विकास कार्यक्रमो के परोक्ष हिताधिकारियो के रूप में वाणिज्य तथा व्यापार मे काम प्राप्त कर सकेंगे) योजना आयोग ने **नव निर्माण कार्य,** पहले से **जारी कार्य** और **परोक्ष रोजगारी** के सम्बन्ध में भी रोजगारी के लिए अमूमन तौर पर रोजगारी-निवेश-अनुपात का हिसाब लगाया है। नव निर्माण कार्य मे रोजगारी के लिए (१) **सिचाई परियोजनाओ** मे प्रति एक करोड रुपयो के पीछे ७,००० मनुष्य-वर्षों का अनुपात है, (२) **शक्ति परियोजनाओ** मे प्रति एक करोड रुपयो के पीछे १,६०० मनुष्य-वर्षों का, और (३) यातायात निर्माण--विशेष कर रेलवे मे--१,९०० मनुष्य-वर्षों का अनुपात है। पहले से **जारी रोजगारी** के सम्बन्ध मे स्वभावत बहुत भिन्न, विस्तृत अनुपात प्रयुक्त होता है। लघु-स्तरीय उद्योगों में एक व्यक्ति को रोजगारी देने का मतलब है औसतन ५,००० रुपये का निवेश, दस्तकारियो के सम्बन्ध मे इसका अर्थ है १,५०० रुपये का निवेश और रेशा तथा रेशम उद्योग के लिए अमूमन तौर पर १,०००

बर्बादी को समाप्त करने के लिए जो कदम उठाये गये है अथवा उठाये जानेवाले है, उनसे वह दूर नही हो सकेगी। यह मानते हुए कि परिवार नियोजन के लिए जो सोद्देश्य कदम उठाये गये तथा उठाये जा रहे है उनसे निरपेक्ष रूप से बढनेवाली आबादी का कुछ अश ही प्रभावित होगा। हमारे सामने समस्या–जहॉ तक उत्पादन तकनीक का सवाल है–इस प्रकार के उत्पादनो के सम्बध मे पूँजी-प्रधान उपकरणो और जन-शक्ति के बारे मे **अब प्राथमिकता निर्धारण** की रहेगी जोकि–चन्द विशिष्ट प्रकार के भारी और बुनियादी उद्योगो अथवा अन्य ऐसे उपभोक्ता उत्पादनो[१४] के विपरीत जिनके लिए निर्यात बाजार निर्मित करने की हमारी योजना है–त्रिशकु के समान बीचवाली स्थिति मे है। सभी क्षेत्रो मे प्रति श्रमिक उत्पादकता बढाने का सामान्य विचार जबकि अविवादास्पद है वहॉ वर्तमान अल्प-रोजगारी-स्तर, औद्योगीकरण की स्थिति प्राप्त[१५]

रुपये। दीर्घ और मध्य स्तरीय उद्योगो के सम्बन्ध मे भी अलग-अलग सिद्धान्त या कसौटिया होंगी। इस्पात उद्योग मे आवश्यक प्रति व्यक्ति १,६०,००० रुपये, उर्वरक उद्योग मे ४०,००० रुपये, यत्रोपकरण उद्योग मे २९,००० रुपये, भारी यत्र निर्माण उद्योग मे १,००,००० रुपये, कोयला खुदाई व मशीन उद्योग मे ६०,००० रुपये विनियोजन का अनुमान है। (तृतीय पच वर्षीय योजना—पृष्ठ ७५३–७५७)। द्वितीय योजना मे प्रति कर्मी कुल १०,४०० रुपये का निवेश किया गया था। उसके समक्ष तृतीय योजना मे ९,७०० रुपये का अनुमानित निवेश डाक्टर ए वैद्यनाथन (इन्क्रीजिग दि इम्प्लॉयमेण्ट पोटेंसियल **प्रॉब्लम्स इन दि थर्ड प्लान, ए क्रिटीकल मिसेलनी**)। पश्चिम बगाल के प्राविधिकाधिक सर्वेक्षण के मालूमातो के अनुमार १९६१–७१ के दौरान दीर्घ-स्तरीय उद्योगों के विकास से ७३,५०० व्यक्तियो को काम मिलेगा और विनियोजन होंगे २ अरब ३७ करोड ८२ लाख रुपये। इस प्रकार प्रति कर्मी विनियोजन ३२,३०० रुपये होगा। वर्तमान अभियात्रिक उद्योगों के विस्तार मे ३ अरब ८४ करोड ३० लाख रुपये के विनियोजन की आवश्यकता पडेगी। इन उद्योगों मे ३९,९०० व्यक्तियों को काम मिल सकेगा। प्रति व्यक्ति विनियोजन करीब १,०७,००० रुपये आता है। नये लघु-स्तरीय उद्योगो मे ६,४०० व्यक्ति लग सकेंगे और विनियोजन होंगे ४१ करोड़ ६९ लाख रुपये। प्रति कर्मी निवेश करीब ६९,००० रुपये आता है। कुल मिला कर १,१९,८०० कामगारों को काम देने के लिए कुल पूँजी परिव्यय ६ अरब ६३ करोड़ ८१ लाख रुपये होगा, प्रति कर्मी विनियोजन ५७,००० रुपये आता है। पश्चिम बगाल के राज्य साख्यिकीय केन्द्र के भूतपूर्व निर्देशक द्वारा लिखित 'ए डिजाइन फार डेवलपमेण्ट आफ विलेज इण्डस्ट्रीज इन वेस्ट बगाल' भी देखिए, पैराग्राफ १९ १–१९ ९।

१४ परिवर्तनशील समय के साथ हम 'नितान्त माग रहितावस्था' से बाहर आ रहे है, जिसके सम्बन्ध में पाश्चात्य विक्रेताओं ने प्राच्य-निवासियो पर दोषारोपण किया है। यद्यपि हम इस बात के प्रति सचेत है कि 'मागे बनावटी रूप से निर्मित की जाती है' और आधुनिक उद्योगवेत्ता 'माग के सृजनकर्त्ता' है, फिर भी हम यथा सभव 'तेते पॉव पसारिये जेती चादर होय' के मुताबिक उन वस्तुओ की प्राप्ति के लिए उत्सुक है, जो कभी ऐशो-आराम की चीजे समझी जाती थी। और, इससे निश्चय ही विस्तृत आर्थिक गतिविधि के लिए क्षेत्र निर्मित होता है।

१५ सन् १८०० मे विश्व जन-सख्या का अनुमान ९० करोड़ ५६ लाख होने का लगाया गया था। यूरोप मे १८ करोड़ ७० लाख, उत्तरी अमेरिका मे ५७ लाख, मध्य और दक्षिण अमेरिका मे १ करोड़ ८९ लाख, अफ्रीका मे ९ करोड और एशिया मे ६० करोड़ २० लाख की आबादी थी। सन् १९३६ में विश्व जन-सख्या २ अरब ११ करोड ५८ लाख थी और उक्त भूभागों की क्रमश ५१ करोड ३० लाख, १४ करोड ३ लाख, १२ करोड ५३ लाख, १९ करोड १२ लाख और १ अरब १९ करोड ३३ लाख। यह अनुमान लगाया जाता है कि सन् २००० तक यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका की आबादी प्राय स्थिर रहेगी, अफ्रीका और एशिया की जन सख्या क्रमश २९ करोड़ एवम् १ अरब ९० करोड़ हो जायेगी।

" किसी नवोदित राष्ट्र का औद्योगीकरण ज्यो ज्यो विकसित होता है, आगे बढ़ता है और खेतिहर आबादी का गैर खेतीहर आबादी के प्रति अनुपात घटता है, तो आर्थिक विकास के एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचा जा सकता है जब कि प्रति व्यक्ति उच्च उत्पादकता भी निर्यात योग्य अतिरिक्त माल की प्राप्ति नही करवा सकती।"–**वर्ल्ड रिसोर्सेस एण्ड इण्डस्ट्रीज**, पृष्ठ १९८।

करने से पूर्व बहुत अधिक जन-सख्या वृद्धि और अन्यत्र स्थानों मे विकास के सन्दर्भ मे हमारे निर्यात व्यापार का भविष्य बहुत उज्ज्वल न होने की दृष्टि मे ऐसा लगता है कि हमे इस बात का निर्णय करना पडेगा कि **ऐसे कौन-से क्षेत्र है जहाँ यात्रीकरण करना तथा पूँजी-प्रधान तकनीको का अपनाना नितान्त परमावश्यक है** ओर कौन-से ऐसे क्षेत्र है जिनमे ऐसा बिल्कुल नही किया जाय।

भूमि-उत्पादकता मे वृद्धि

यद्यपि हम इस बात मे बिल्कुल सहमत हो सकते है कि सयुक्त राज्य अमेरिका, रूस या अन्य यूरोपीय देशो के समान यात्रीकरण (पशु-शक्ति से चलनेवाले उपकरण नही बल्कि अचेतन शक्ति से सचालित उपकरण, जैसे ट्रैक्टर आदि) और विज्ञान का बेहतरीन उपयोग करने से न केवल हमारे लिए खाद्यान्न एवम् सम्पत्ति की प्राप्ति होगी, बल्कि आगे चल कर निर्यात करने के लिए अतिरिक्त सामग्री भी बच सकेगी और साथ ही साथ काफी सख्या मे लोग गैर खेतिहर काम-धधो के लिए उपलब्ध हो सकेगे, तथापि वर्तमान अवस्था मे यदि हमे, उदाहरणार्थ, कृषि क्षेत्र मे किसी निश्चित श्रम तथा विज्ञान—जोकि निश्चय ही यात्रीकरण का पर्याय नही है—का उपयोग करते हुए उच्च उत्पादकता और उसी उत्पादकता के लिए श्रम की बचत करनेवाले यात्रिक साधनो के प्रयोग के मध्य किसी एक का चुनाव करना हो तो सम्भवत तरजीह प्रथम को ही दी जायेगी। जैसे हम बहुत आगे चल कर प्राप्त होनेवाले लाभो की चिन्ता न करते हुए लागत और श्रम-विस्थापन के आधार पर ट्रैक्टर, फसल कटाई मशीनो आदि के उपयोग को खारिज कर पुराने हल व बैलगाडी को तरजीह देते है, वैसे ही उन्नत बीज, उर्वरक, जल, सयुक्त खेती, बेहतरीन भूवारण–पद्धति, खेतो का आकार बढाने आदि जैसी बातो से ऐसा लगता है कि हम यह अवश्यम्भावी बात स्वीकार करते है कि समस्या **श्रम बचत करने की उतनी नही है** जितनी की **भूमि की उर्वरकता बढ़ाने की।**

यांत्रीकरण की समस्या

व्यस्त मौसम मे लम्बे समय तक दिन भर कमर तोड देनेवाले श्रम-साध्य काम मे लगे देश के अधिकाश कृषको को जहाँ निस्सदेह आराम[१६] की आवश्यकता है वहाँ इस बात से भी हर कोई सहमत होगा कि उनकी (और इसलिए समग्र देश की) सेवा अथवा इमदाद के लिए यह बेहतर होगा कि

---

१६ "सन् १८५० में साधारण अमेरिकी सप्ताह में ७० घण्टे काम करता था, आज वह ४३ घण्टे काम करता है। उस वक्त एक अमेरिकी कृषक १ ८ अश्व-शक्ति के बराबर पशु-शक्ति का उपयोग करता था, सन् १९४० में प्रति खेतिहर कामगार २७ ८ अश्व शक्ति के बराबर शक्ति का इस्तेमाल हुआ। इसमें यात्रिक शक्ति २६ २ और पशु शक्ति मात्र १ ६ अश्व-शक्ति के बराबर थी। सन् १९३९ मे प्रति व्यक्ति दैनिक ऊर्जा उत्पादन सयुक्त राज्य अमेरिका में १२ २७ अश्व-शक्ति घण्टे था और कनाडा में १६ ७९, चीन में ० ४६ तथा भारत में ० ४९ अश्व-शक्ति घण्टे। यात्रिक शक्ति का उपयोग कर एक कृषक २४ घण्टे में उतना काम कर सकता है, जितना कि उसके बिना काम करनेवाला दूसरा किसान १० दिन में करता है। . श्रम की बचत करनेवाले साधन वही सर्वाधिक फलीभूत होते है जहाँ उसकी कमी है। सामान्यतय यह कहा जा सकता है कि जहाँ भूमि की पर्याप्तता है वहाँ **यात्रीकरण** सर्वाधिक उपयुक्त है और जहाँ भूमि अपेक्षाकृत कम है वहाँ खेती में **विज्ञान का प्रत्यक्ष व्यवहार** अधिक उपयुक्त जान पडता है। यात्रिक श्रम-बचतकारी साधन जन-शक्ति का स्थान लेते है और प्रति व्यक्ति अधिक क्षेत्र पर खेती करने में समर्थ बनाते है। विज्ञान **प्रति एकड़, प्रति पौधा, प्रति पशु उत्पादकता** बढाने की ओर अग्रसर करनेवाला है। विज्ञान कृषि को सघन बनाता है और यत्र उसका विस्तार करते है। **प्रति एकड़** अधिक उत्पादकतावाले देशो मे **श्रम पर अधिक खर्च** की किसी अश मे कम भूमि के इस्तेमाल के रूप मे **क्षतिपूर्ति** हो जाती है।"—**वर्ल्ड रिसोर्सेस एण्ड इण्डस्ट्रीज**, पृष्ठ १५८। **अमेरिकन रिव्यू** के जुलाई १९६३ के अक के परिशिष्टाक—व्यू पॉइण्ट ऑन इकनॉमिक्स पट—में ई जे लॉग का 'अल्प-विकसित देशो मे भूमि-सुधार का आर्थिक आधार' विषयक लेख भी देखें।

वर्ष के शेष महीनो मे उन्हे जो मजबूरन बिना काम के बैठा रहना पडता है उससे मुक्ति दिलवायी जाय। अत्यन्त व्यस्त महीनो मे आराम निस्सदेह आवश्यक है लेकिन यदि इसका मतलब एक ओर ट्रैक्टर, फसल कटाई यत्र तथा 'ईधन-तेल' पर विदेशी मुद्रा खर्च होती है तथा दूसरी ओर खेतिहर मजदूरो मे बेरोज-गारी फैलती है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हम वैसा कर ही नही सकते। इस सैद्धान्तिक सम्भाव्यता की बिना परवाह करते हुए कि हमारे पास निर्यात योग्य अतिरिक्त सामग्री बच सकेगी, हमे उक्त बात अव्यावहारिक होने की वजह से खारिज करनी पडेगी।

गैर खेतिहर उत्पादन के इस प्रकार के मदो पर उक्त तर्क का प्रयोग करते हुए, **जिनमे यांत्रीकरण करने से समग्र उत्पादन मे वृद्धि नही होती** या जिनमे हमारी घरेलू माग से अधिक उत्पादन करने की आवश्यकता नही है, **लेकिन केवल श्रम की बचत होती है**, हमे यह निर्णय करना पडेगा कि हम किस हद तक **विदेशी मुद्रा मे कमी करने और अतिरिक्त बेरोजगारी निर्मित करने** की **दोहरी हानि** बर्दाश्त कर सकते है। इस तथ्य का हमारी वर्तमान अवस्था से कोई ताल्लुक नही है कि इग्लैण्ड या अन्य यूरोपीय देशो मे भी इसी प्रकार की **सक्रमणकालीन** बेरोजगारी की स्थिति उन्नीसवी शताब्दी[१७] के प्रारम्भिक काल मे आयी थी।

इस क्षेत्र मे ऐसा लगता है कि अब तक जिस नीति का अनुसरण किया गया है उसमे कुल स्पष्टता का अभाव है। कृषि तथा ग्रामीण क्षेत्र की समस्याओ के सबध मे पिछले दशक मे हमने जो प्रयास किये है उनके बावजूद कुछ ऐसे कारणो की वजह से, जिन्हे समझा जा सकता है, हमारा ध्यान बडे उद्योगो की ओर निर्दशित होता है। विकास की यह पद्धति बहुत कुछ उस पद्धति से मिलती है, जिससे हो कर पाश्चात्य देश गुजरे है।[१८]

प्रतिस्पर्धात्मक उद्योग

यह मानते हुए कि ग्रामीण औद्योगीकरण का सर्वोपरि इलाज बिजली है, हमे यह सुनिश्चित करना चाहिए कि विकेन्द्रित औद्योगीकरण के लिए यह नयी सहायता **नव** सम्पत्ति निर्माण मे लगे और उन उद्योगो का **स्थान लेने में नहीं** जोकि काफी तादाद मे श्रमिको को लगाये

१७ देखिए जॉन सेविल (Saville) **रूरल डिपोपूलेशन इन इग्लैण्ड एण्ड वेल्स : १८५१–१९५१** (अध्याय एक— दि हिस्टोरीकल बैक ग्राउण्ड) "उन्नीसवी शताब्दी के दौरान अमेरिकी खोज-वेत्ता जिन समस्याओ का सामना कर रहे थे उनमे श्रम की कमी, स्थान आधिक्य और समय की कमी की समस्याएँ मुख्य थी . इस तमाम प्रगति के बावजूद दोनों महायुद्धों के बीच के बीस वर्षों की अवधि मे अधिकाश काल मे समूचे पाश्चात्य ससार में कृषि अत्यधिक दुरावस्था में थी, और उसे अप्राकृतिक साधनों के जरिये जैसे के तैसे रूप मे जीवित रखा जा रहा था।" **— वर्ल्ड रिसोर्सेस एण्ड इण्डस्ट्रीज;** पृष्ठ १६३।

१८ "निस्सन्देह आज के भारतीय जीवन मे भूमि सम्बन्धी समस्याएँ सब चीजो के केन्द्र मे निहित है। ग्रामीण आय मे महान वृद्धि–और अपेक्षाकृत बेहतर वितरण–किये बिना उद्योग का परिपूर्ण विकास नही हो सकता, क्योंकि भूमि सम्बन्धी गरीबी परिमाणात्मक दृष्टि से विशाल आन्तरिक बाजार की प्रभावक माग को बुरी तरह सीमित कर देती है और अनवरत रूप से भूमिहीन अथवा अल्प-रोजगार प्राप्त ग्रामीण श्रमिकों की सख्या या तो पूर्ववत् बनाये रखती है अथवा उसमें वृद्धि करती है तथा इस प्रकार कामगार का पारिश्रमिक न्यून बनाये रखती है एवम् जीवनावस्था ऐसी बदत्तर कि उसका बखान नही किया जा सकता, और जैसा कि स्वाभाविक परिणाम निकलता है उसकी कार्यक्षमता बहुत ही निम्न। इस क्राति (भारत मे) के प्रणेताओं, शहरी मध्यम वर्ग और नये व्यापारी उद्योगपतियों, के लिए मिले, कारखाने, बिजली घर ही बडी चीजे है और राष्ट्रीय गर्व का पोषण करती है। यह पर्याप्त रूप से वैध है। बशर्ते कि इससे उस सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य की अवहेलना न हो कि भारत के खेतो मे ही उसका अन्तिम भविष्य निहित है और यह कि स्वयम् औद्योगिक विकास भी सुसयोजित तथा सतुलित हो, जोकि फिलहाल स्पष्टत नही है। इसका अत्यन्त असमान विकास सम्भवत कुछ तो राष्ट्रीय देन के कारण है, लेकिन अधिकाशत इसके सामाजिक इतिहास के कारण।"—ओ एच के स्पेट **इंडिया एण्ड पाकिस्तान।**

हुए हैं तथा समाज की चन्द आवश्यकताओं को पूर्ण कर रहे है। यह सच है कि नये उद्योगों और पुराने तौर-तरीको से काम चलाते आ रहे उद्योगो के बीच बिल्कुल सही-सही सीमा निर्धारित करना कठिन है, फिर चाहे वे अलग-अलग सामग्री का इस्तेमाल करते हो अथवा एक समान माल का। जिस प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका मे पेट्रोल की खोज से इग्लैण्ड के कोयले की खानो का काम करनेवालो मे बहुत बेकारी फैल गयी थी अथवा जर्मनी मे सश्लिष्ट रजकों की खोज मे भारत मे 'इण्डिगो' की खेती समाप्त हो गयी थी, उसी प्रकार बिजली-चालित आरा ग्रामीण बढई के पुराने आरे का स्थान ले लेगा, कुम्भकारी के स्थान पर अल्यूमिनियम आ धमकेगा या प्लास्टिक उद्योग के सामने धात्विक खिलौने बनानेवाला ग्रामीण घुटने टेक देगा, लोहे की चद्दरे ग्रामीण लोहार का हक छीन लेगी, और इसी प्रकार मोटर गाडियाँ असख्य ग्रामीण बैल गाडियो को बेकार बना देगी।

जब हम यह देखते है कि हाथ धान कुटाई अथवा तेल घानी (या अन्य ऐसे ही 'कृपि प्रकार' के उद्योग जो **अतिरिक्त** सम्पत्ति के निर्माण मे **नहीं** बल्कि कुछ निश्चित तादाद मे सामग्री का प्रशोधन करने मे ही लगे थे) के स्थान पर पिछले कुछ वर्षो मे 'डीजल' अथवा बिजली से चलनेवाले यत्र (यद्यपि लघु स्तरीय उद्योग) आ गये हे, जबकि सिफारिश या सुझाव [19] इसके विपरित थे, तो हमे कम से कम देश के अधिकाश भाग[20] के सम्बन्ध मे महिलाओ की रोजगारी का सूक्ष्म निरीक्षण करके यह देखने की आवश्यकता है कि क्या पिछले दशक मे सामाजिक अवस्थाओ मे इतना परिवर्तन हो गया है कि आर्थिक कार्यशीलता के जिस क्षेत्र मे पहले महिलाओ का नियत्रण था उससे काफी सख्या मे उन्हे हटा कर तथा मात्र पुरुषो पर निर्भर बना देना आवश्यक हो गया। यदि यह मान लिया जाता है कि "शुरू-शुरू मे नव उत्पादन-तकनीको के समावेश से रोजगारी कम हो सकती है, आशा है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे पुन प्राण फूँकने की दिशा मे आगे चल कर उनका उल्लेखनीय लाभ सामने आयेगा" (तृतीय पच वर्षीय योजना, पृष्ठ १६१) तो भी यह पूछा जा सकता है कि यदि परम्परागत उद्योगो का यात्रीकरण[21] जारी रहता है तो बाद मे गैर खेतिहर क्षेत्र मे किस प्रकार के काम-धन्धे उपलब्ध होगे?

---

१९ ग्राम और लघु स्तरीय उद्योग (द्वितीय पच वर्षीय योजना) समिति (१९५५) ने आयोजित विकास की प्रक्रिया मे और अधिक प्राविधिक बेरोजगारी से बचने की बात पर जोर दिया था। तृतीय पच वर्षीय योजना (पृष्ठ ४४३) से यह प्रकट होता है कि १९५८ के चावल कुटाई उद्योग (नियन्त्रण) अधिनियम के अन्तर्गत कुछ निर्देश होते हुए भी उक्त अधिनियम के कुछ मुख्य इरादे राज्यों में पूरे नही किये गये है। इस सम्बन्ध में पश्चिम बंगाल की १९५१ की जनगणना (खण्ड ६, भाग १-ए रिपोर्ट) और 'ए डिसीजन फॉर डेवलपमेण्ट ऑफ विलेज इण्डस्ट्रीज इन वेस्ट बगाल' (१९५९) के पृष्ठ १५४-१५५ भी देखिए। पश्चिम बंगाल में १९०१ मे अनाज व दाल प्रशोधन उद्योग मे १२,५०० पुरुष और १,९०,२८० स्त्रिया (कुल २,०२,७८०) थी, उनमें से १९५१ में २३,२७० पुरुष और ८८,१४० महिलाएं (कुल १,११,४१०) ही थी। पश्चिम बंगाल में १९०१ मे गैर खेतिहर वर्गों की १०,६१,८७६ महिलाए स्वावलम्बिनी थी, १९५१ मे उनकी सख्या घट कर ६,०९,१२२ हो गयी थी। दीर्घ स्तरीय उद्योगो मे १९५१ में ८५,४५७ महिलाए ही था, जबकि १९०१ में ६१,३०० थीं। यह अन्तर इतना बडा हे कि उसकी अवहेलना नही की जा सकती। १९६१ मे हुई पश्चिम बंगाल तथा अन्य कई राज्यो की जनगणना से भी उक्त तथ्य की परिपुष्टि होती है।

२०. भारत की जनगणना, १९६१ (पृष्ठ २९-३१-सख्या रोमन अक्षरो मे-१९६२ का पेपर नम्बर १). महिलाओं की रोजगारी में सामान्य वृद्धि होने के बावजूद—अधिकांशत कृषि क्षेत्र मे—१९५१ से कुछ श्रेणियो के काम-धधों मे उल्लेखनीय कमी आयी है तथा १९६१ मे उस कमी की गति और भी तीव्र बन गयी।

२१ सयोगवश, अम्बर या परम्परागत चरखे में जो कुछ भी कमियाँ हो और निर्यात बाजार प्राप्त करने के लिए सगठित सूती मिलों में जो भी सम्भाव्यना हो, हमें रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के प्रतिवेदन ('रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन'

यह सच है कि पिछले चन्द वर्षो मे कृषक आबादी के एक वर्ग ने–उस वर्ग ने जिसके पास पर्याप्त जमीन थी और उस पर वह बाजार मे बेची जाने योग्य अतिरिक्त सामग्री पैदा कर सकता था–कृषि उत्पादनो की कीमते अधिक होने के कारण कुछ नकद लाभ प्राप्त किया है। किन्तु उस रकम का इस प्रकार के उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए जिनमे सभी ग्रामीण भाग ले सके, उपयोग करने के एक निश्चित और सुदृढ तथा सोद्देश्य प्रयास के अभाव मे उन चन्द कृषको की वह रकम या तो और अधिक जमीन प्राप्त करने (अधिकाशत गरीबो द्वारा धनवानो को निराश हो कर बेची गयी जमीन) मे अथवा ट्राजीस्टर रेडियो, तेल-फूलेल, साबुन तथा अन्य इसी प्रकार की फैन्सी चीजे खरीदने मे या फिर मुकद्दमेबाजी में जाती है। जहाँ यह स्वीकार किया जाता है कि ग्रामीणो को उन चीजो का इस्तेमाल करने का पूर्ण अधिकार है जिन तक आज तक शहरी व्यक्तियो की ही पहुँच थी (और जब तक गॉवो से अतिरिक्त आय प्रवाहित नही होती उद्योग नही फल-फूल सकते) तो भी औद्योगिक शहरो और खेतिहर ग्रामो के मध्य आज जिस प्रकार के व्यावसायिक सम्बन्धो की प्रवृत्ति है उससे यह बात सामने आती प्रतीत होती है कि असतुलन अब भी जारी है एवम् सामान्यत उसका झुकाव ग्रामीणो के विपक्ष मे ही अधिक है।

यदि चद पैसेवाले ग्रामीण अपने गैर मौसम के, बिना कामवाले महीने चाहे जिस ढग से व्यतीत करना बर्दाश्त कर सकते है तो भी अधिकाश भूमिहीन कृषको और बहुत कम जमीन के मालिक किसानो के लिए ये बिना कामवाले महीने भार-स्वरूप है तथा बिल्कुल बेकार जाते है।

यदि एक आत्मनिर्भर, अपने पैरो पर खडे होनेवाले ग्राम समुदाय का विकास करता है तो जहाँ हम एक ओर सहकारिताओ[२२] अथवा पचायतो को लोकप्रिय बनाने की बात सोचते है वहाँ दूसरी ओर इसके साथ ही हमे सगठित निजी क्षेत्र और गैर खेतीहर उद्योगो और गाँवो, यत्र-प्रधान और श्रम-प्रधान उद्योगो, तथा अन्त मे सामान्यत शहरोन्मुख औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था व ग्रामोन्मुख विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के मध्य **सतुलित सम्बन्ध** स्थापित करने के लिए एक या दो नही बल्कि अनेक कदम बठाने पडेगे, उपाय काम मे लाने पडेगे। यदि हम यह भी स्वीकार कर ले कि विश्व स्थिति ऐसी है कि उसमे हम गाधीजी या रवीन्द्रनाथ ठाकुर की योजनाएँ जैसे के तैसे रूप मे कार्यान्वित करने की बात शायद ही सोच सके, तो भी यह कहना पडेगा कि यदि हम असख्य ग्रामो मे नव जीवन सचार करने और ग्रामीण बेरोजगारी का उन्मूलन करने की बात सोचते है तो हमे 'अपरमावश्यक' उपभोक्ता सामग्री के सगठित दीर्घ स्तरीय उत्पादको और लघु-स्तरीय तथा कुटीरोद्योगी उत्पादन, बिक्री और यात्रीकरण की सीमा के बीच एक सुस्पष्ट विभाजन रेखा खीचनी ही पडेगी।

संरक्षण

यहाँ यह तर्क उठाया जा सकता है कि इस आधुनिक युग मे इस प्रकार का कदम उठाना समय की गति को उल्टा फेरना होगा। चूँकि हमे इस प्रतिस्पर्धा-

के मार्च १९६२ का अक देखिए) से पता चलता है कि पिछले चन्द वर्षों मे उद्योग पर विदेशी मुद्रा परिव्यय उसकी आय से निरन्तर रूप से अधिक हुआ है। किन्तु घरेलू बाजार मे मिल वस्त्र हाथ करघा और खादी के विकास को अधिक कठिन बना देता है। विदेशी मुद्रा की बर्बादी रोकने और हाथ करघा वस्त्र के स्वस्थ विकास, इन दोनों ही दृष्टियो से हमारी निर्यात नीति का घरेलू उपभोक्ता-नीति के साथ एवम् मिल क्षेत्र का कुटीर क्षेत्र के साथ निकट सयोजन स्थापित करना आवश्यक प्रतीत होता है।

२२ ग्रामीण उधार अनुवर्ती सर्वेक्षणो से पता चलता है कि सहकारिताओ तथा सामान्य ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर शहरी व्यापारियो और साहूकारो, महाजनो का कितना भारी प्रभाव है। (देखिए, 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन,' नवम्बर १९६२।)

प्रधान युग मे अपना अस्तित्व बनाये रखना है, उसमे जिन्दा रहना है, इसलिए हमे प्रत्येक क्षेत्र मे अपनी उत्पादन तकनीकों को आधुनिक रूप देना ही चाहिए। यदि हम यह तर्क उन उद्योगो पर लागू करे जो देश मे भलीभाँति जमे हुए है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि इन सब उद्योगो को इनकी प्रारभिक अवस्था मे विदेशी प्रतिस्पर्धा के समक्ष जो 'सरक्षण' प्रदान किया गया वह आज जिस 'तुलनात्मक लागत' और 'श्रेष्ठ प्राकृतिक लाभ प्राप्ति' के नियम की जो दलील पेश की जाती है उसके तदनुरूप नही था। (अधिकाश यूरोपीय देशो के इस्पात उद्योग के इतिहास से पता चलता है कि तुलनात्मक लाभ प्राप्ति का अभाव होते हुए भी अनेक देशो ने इस्पात सयत्र स्थापित करने के लिए सरक्षणात्मक उपाय अपनाये।) यदि हमारे चीनी उद्योग, मोटर, ट्रक आदि का निर्माण करनेवाले उद्योग तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक उद्योगो को प्रतिस्पर्धा के प्रति सरक्षण प्रदान नही किया जाता तो जीवित नही रह पाते। (और फिर, प्रारम्भिक लाभ प्राप्त होते हुए भी लकाशायर सरक्षण के बिना जीवित नही रह सका, पनप नही सका।) और, यदि उक्त मामलो मे उन उद्योगो के पास उन्नत उपकरण उपलब्ध होते हुए भी सरक्षण अच्छा था तो फिर हमारे लघु स्तरीय एवम् कुटीर उद्योगो को भी, यदि वे देश मे किसी निश्चित कमी की पूर्ति करते है तो, क्यो न सरक्षण प्रदान किया जाय ?

अल्प और पूर्ण बेरोजगारी का समाधान निकालना हमारी योजनाओ का एक उद्देश्य है, और हम अपने असख्य गाँवो मे आत्मनिर्भरता (जहाँ तक वह आधुनिक अवस्थाओं के मुताबिक ठीक है) लाने के लिए वचनबद्ध है। दीर्घ स्तरीय उद्योग का विकास अपनी प्रकृति से ही सबको काम देने मे असफल रहा है और यदि हम यह भी मान ले कि हमारा निर्यात व्यापार उस सीमा तक बढ जायेगा कि वह अधिक विस्तृत पैमाने पर लोगो को काम प्रदान कर सकेगा (प्रत्येक देश मे राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता आन्दोलन हमारे सामने वैसा अवसर नही आने देगा) तो भी हम परम्परागत कुटीरोद्योगो को समाप्त होने दे कर बेरोजगारी की समस्या हल करने की आशा नही कर सकते। उत्पादकता और रोजगारी के मध्य एक सतुलन स्थापित करना ही होगा, अब तक जिस नीति का अनुसरण किया गया है वह किसी हद तक अनिर्णयात्मक अर्थात् ढुलमुल और स्वयम् असफलता कारक रही है। एक ठोस व सोद्देश्य नीति के अभाव मे जिन ग्राम सहकारी समितियो की स्थापना के लिए हम वचनबद्ध है तथा जिन्हे हम ग्राम्य-जीवन का केन्द्र बिन्दु मानते, समझते है उन्हे विकसित होने का शायद ही अवसर या समय मिले, और ग्रामीण क्षेत्रो मे अल्प-रोजगारी की समस्या भी उक्त प्रकार की नीति के अभाव मे हमारी अर्थ-व्यवस्था पर एक धब्बा ही बनी रहेगी।

कलकत्ता : २६ जुलाई १९६३

उपनिषदो में वर्णित उन कथाओं से जिनमें ब्राह्मणो को क्षत्रियो के पास जाकर दर्शन का सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने की बातें आयी है और फिर उपनिषद के उपदेशो की ब्राह्मण-धर्म से विभिन्नताएँ एवम् पाली ग्रन्थो मे वर्णित लोगो के अन्दर दार्शनिक कल्पनाओ के सकेतो से यही अन्दाज लगता है कि क्षत्रियो के अन्दर आम तौर पर पर्याप्त दार्शनिक ज्ञान मौजूद था, जिसका उपनिषद-सिद्धान्तो के निर्माण पर निश्चय ही महत्वपूर्ण प्रभाव पडा होगा। इसलिए यह मत कुछ हद तक सही प्रतीत होता है कि यद्यपि उपनिषदो की पराकाष्ठा ब्राह्मणो के हाथों ही हुई, पर वे ब्राह्मण धर्म से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होते हुए भी उनकी रचना अकेले ब्राह्मण सिद्धान्तो की अभिवृद्धि से ही नहीं हुई, बल्कि पर-ब्राह्मण विचारो ने भी उनके सिद्धान्तों को आगे बढ़ाया होगा या उनके सविन्यास और परिमार्जन में लाभप्रद सहयोग दिया होगा।

सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी; खण्ड १

ग्रामीण औद्योगीकरण में वैज्ञानिकों और अभियंताओं की भूमिका

मंजेश्वर सदाशिव राव

आधुनिक वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति के सदर्भ में ग्रामीण उद्योगों के समक्ष दो किस्म की समस्याएँ है—एक औद्योगिक उत्पादकता बढाने के आर्थिक उद्देश्य से और दूसरी जन-स्रोतो के उपयोगार्थ सामाजिक उद्देश्य से सम्बन्धित है। प्रश्न है कि क्या विकेन्द्रित पद्धति की स्थापना के जरिये एक प्राणवान औद्योगिकी को मूर्त रूप दिया जा सकता है, जिसके लिए आधुनिक प्राविधिक विकास का योजित उपयोग करना आवश्यक है? यह काम सुव्यवस्थित अनुसधान से हो सकता है। इसमें वैज्ञानिकों और अभियताओं को बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है।

हमारी आर्थिक योजनाओ मे ग्रामीण औद्योगीकरण एक विशालकाय परियोजना है और आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण के लिए वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास का उपयोग करने की जटिल समस्याएँ प्रस्तुत करता है। फिर भी, प्रथम और द्वितीय पच वर्षीय योजनाओ की अवधि मे उद्योगो के ग्रामीण विभाग मे शहर और अन्य विभागो के बनिस्बत कुछ ही औद्योगिक वैज्ञानिक, जिनमे अभियता भी शामिल है, जुटाये जा सके है। इस बडे अन्तर के कारण क्या है? ग्रामीण उद्योग विभाग के विकास के कार्य क्या है? ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रमो मे वैज्ञानिक और तकनीकल जन-शक्ति को किस तरह प्रभावशाली ढग से जुटाया जा सकता है? इन पर तथा सम्बन्धित अन्य प्रश्नो पर, जिनके लिए अब तक कोई मान्य हल नही मिला है, हमारी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे ग्रामीण औद्योगीकरण की दीर्घ-कालीन समस्याओ के सन्दर्भ मे, आधुनिक वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति के दृष्टिकोण से, विचार-विमर्श किया जाना चाहिए।

दीर्घ-कालीन समस्याएँ

अन्य विभागो के उद्योगो से भिन्न ग्रामीण उद्योग औद्योगिक उत्पादन के लिए आधुनिक वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति के सन्दर्भ मे दो भिन्न किस्म की दीर्घ-कालीन विकास समस्याएँ प्रस्तुत करते है। पहली किस्म की समस्याएँ हर विभाग के उद्योगो मे पायी जाती है और उनका सम्बन्ध औद्योगिक कार्यो और प्रक्रियाओ की उत्पादकता मे निरन्तर वृद्धि होने से है ताकि आर्थिक अस्तित्व और प्रगति सुनिश्चित हो सके। ये मुख्यत व्यक्तिगत औद्योगिक इकाइयो अथवा ग्रामीण उत्पादको की समस्याएँ है। आधुनिक सन्दर्भ मे उनका एक ही हल है और वह है उपयुक्त आधुनिक प्राविधिक विकासो को अपनाना। उन्हे औद्योगिक उत्पादकता की समस्याएँ भी कह सकते है। तथापि ग्रामीण औद्योगीकरण अथवा गाँवो मे औद्योगिक कार्यो के विस्तार की प्रक्रिया दूसरी किस्म की समस्याएँ भी प्रस्तुत करती है जो कि हमारी योजनाओ मे ग्रामीण समुदायो मे उद्योगो अथवा धधो मे अतिरिक्त रोजगारी के अवसर निर्मित कर जन-शक्ति के उपयोग को उच्च प्राथमिकता दी गयी है, उससे पैदा होती है। ये मुख्यत समूचे विभाग की समस्याएँ है जिनकी ओर योजनाधिकारियो का ध्यान आकर्षित है और ये इस विभाग के लिए विशिष्ट समस्याएँ है। इन्हे ग्रामीण औद्योगीकरण मे जन-शक्ति के उपयोग की समस्याएँ कह सकते है। ये दोनो ही किस्म की समस्याएँ स्पष्ट है, क्योकि इनके उद्देश्य, दृष्टिकोण और हल प्राप्त करने के तरीके अलग है।

विकेन्द्रित पद्धति

ग्रामीण उद्योग विभाग शहरी तथा अन्य औद्योगिक विभागो की अपेक्षा कम उन्नत है। इसके विकास की कोशिश ग्रामीण औद्योगीकरण के आयोजन और कार्यान्वय के

जरिये की गयी है । आयोजन की दो बहुत ही महत्वपूर्ण पूर्व-शर्तें है सामान्य रूप से उपलब्ध रोजगारी से कही अधिक मात्रा मे औद्योगिक रोजगारी निर्मित करना और उच्च औद्योगिक उत्पादकता का समावेश कर ग्रामीणो का जीवन-स्तर उच्च करना । विकासोन्मुख क्षेत्रो मे औद्योगीकरण सामान्यत विकसित क्षेत्रो मे चलाये जा रहे औद्योगिक कार्यो के जरिये किया जाता है । ग्रामीण क्षेत्रो मे औद्योगीकरण सामान्यत शहरी औद्योगिक पद्धति का विस्तार कर लाया जाता है । इस कार्य के लिए प्रारभिक तौर पर सर्वाधिक उपयुक्त उद्योग है कृषि और सह-उद्योगों के कच्चे माल के प्रशोधन उद्योग। इन उद्योगों के शहरी अथवा आधुनिक रूप सामान्यतया बडे पैमाने के सगठन का प्रतिनिधित्व करते है, जिनकी तकनालाजी पूजी प्रधान और कम रोजगारीवाली होती है । इन उद्योगों का गॉवों मे विस्तार करने से औद्योगिक उत्पादकता की समस्याएं हल हो सकती है, पर इससे अतिरिक्त रोजगारी के अवसर निर्मित करने की समस्या का हल नही हो सकता । इस प्रकार ग्रामीण औद्योगीकरण की शीघ्र और दीर्घ-कालीन सम्भावनाएँ ओद्योगिक उत्पादकता बढाने के आर्थिक उद्देश्य और जन-शक्ति स्रोत के उपयोग के सामाजिक उद्देश्य के बीच मतभेद उपस्थित करती है। इस मतभेद को औद्योगीकरण की विकेन्द्रित पद्धति अपनाकर दूर करने की कोशिश की गयी है।

सैद्धान्तिक कल्पना

यद्यपि औद्योगीकरण की विकेन्द्रित पद्धति के विकास पर बहुत विचार किया गया है, परन्तु अब तक कोई ठोस रूप नही दिया जा सका है। इसका एक स्थिर रूप है आपेक्षिक तौर पर छोटे और लघु उद्योगो का ग्रामो मे प्रसार तथा कुल रूप मे रोजगारी मे वृद्धि । तथापि इसका अधिक प्राणवान रूप यह मानना है--उपलब्ध श्रोतो का अनुकूलतम पैमाने पर आर्थिक लाभ उठाने और रोजगार प्रदान करने के लिए बँटवारा । इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना अभी भी बाकी है कि क्या आधुनिक प्राविधिक विकास के दृष्टिकोण से सच्चे प्राणवान औद्योगिकी के रूप मे विकेन्द्रित पद्धति की स्थापना की जा सकती है? यद्यपि छोटे और लघु उद्योगो के विकेन्द्रीकरण का विकास करने हेतु आर्थिक सहायता और सरक्षण जैसे आर्थिक साधनो को परमावश्यक माना जाता है तथापि इस बात पर ध्यान नही दिया गया है, जबकि इस पर विचार किया जाना चाहिए, कि इसमे भी बडे उद्योगो की भाँति औद्योगिक वैज्ञानिकों और अभियताओ का सक्रिय रूप से भाग लेना आवश्यक है या नही। यह सुझाव दिया गया है कि औद्योगिक विकेन्द्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए अनुसधान की आवश्यकता है । परन्तु वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसधान के वर्तमान तरीके, इस प्रकार का अनुसधान कौन-सी एजेसियॉ करेगी तथा ग्रामीण औद्योगिक विकास के विशाल क्षेत्र मे इसके परिणामो को प्रयुक्त करने के सन्दर्भ मे यह नही बताया गया है कि अनुसधान किस प्रकार का हो। इस प्रकार औद्योगीकरण की विकेन्द्रित पद्धति की कल्पना अभी मुख्यत सैद्धान्तिक ही है, जो कि आर्थिक विश्लेषणकारो के लिए दिलचस्प विषय है परन्तु व्यावहारिक वैज्ञानिको और अभियताओ तथा ग्रामीण उत्पादको के बडे समूह के लिए अवधारणा के बाहर की वात है।

अनुसंधान और विकास

विकेन्द्रित पद्धति मे वैज्ञानिको और अभियताओ की रुचि न होने के कारण कभी-कभी यह आलोचना की जाती है कि उनमे 'सामाजिक चेतना' नही है जो कि उन्हे ग्रामीण उद्योग विभाग की ओर पर्याप्त आकर्षित कर सके और इसकी विकास समस्याओ के समाधान हेतु अनुसधान करने के लिए प्रेरित कर सके। इस तरह की आलोचनाएँ अशत वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास से प्रभावित विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे औद्योगिक विकास की प्रक्रिया को पूर्णत नही समझ सकने के कारण की जाती है । अशत यह औद्योगिक उत्पादकता की समस्याओ और ग्रामीण औद्योगीकरण मे जन-शक्ति स्रोत के उपयोग को एक समान ही समझने से पैदा होती है । विज्ञान और तकनालाजी मे हुई आधुनिक

प्रगति के सन्दर्भ मे विकासोन्मुख गॉवो की वे समस्याएँ, जिनका सम्बन्ध अनुसधान से है, तकनालाजी के उपयोग से सम्बन्धित है, न कि तकनालाजी के विकास से, जिससे सर्वाधिक आर्थिक और सामाजिक लाभ हो। इन समस्याओ को औद्योगीकरण के क्षेत्र मे ही हल करना है।

दो-क्रमी प्रक्रिया

आलोचना से यह ज्ञात होता है कि अभी भी हमारे विचार मे उन्नीसवी सदी की "भौतिक विज्ञान बनाम सामाजिक विज्ञान" वाली अवस्था मौजूद है, यद्यपि इस प्रकार का द्विभाजन माध्यमिक विज्ञान और द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मे ही सामाजिक उद्देश्यो मे प्रयुक्त करने के लिए भौतिक ओर सामाजिक दोनो ही विज्ञानो से प्राप्त वैज्ञानिक तकनीक के विकास से कब की दूर हो चुकी है। आलोचना जिस अनुसधान की बात करता है, वह अनुसधान है जिसे आम लोग समझते है और जो बृहत वैज्ञानिक खोजो और प्राविधिक अन्वेषणो से सम्बन्धित है। वर्तमान परिभाषा मे इसे "अनुसधान और विकास" कहते है। अनुसधान और विकास अथवा विकास करनेवाला वैज्ञानिक अनुसधान अथवा औद्योगिक तकनालाजी की प्रगति ही वह मुख्य रचनात्मक प्रक्रिया है जिसके जरिये आधुनिक उद्योग उच्च उत्पादकता प्राप्त करने की ओर प्रगति कर रहे है अथवा प्राकृतिक स्रोतो के अधिकतम उपयोग को सुनिश्चित तथा औद्योगिक उत्पादनो की शृखला विस्तृत करने के लिए अपनी क्रियाशीलताओ को विविध बना रहे है। यह दो-क्रमी प्रक्रिया है जो कि दो भिन्न माध्यमो द्वारा पूरी की जाती है। प्रथम क्रम मे, जो कि व्यावहारिक वैज्ञानिक अनुसधान कहलाता है, अनुसधान प्रयोगशालाओ मे काम कर रहे वैज्ञानिक उद्योग मे विज्ञान के नये उपयोग की खोज करते है। द्वितीय क्रम मे, जो कि प्राविधिक विकास अथवा प्राविधिक अनुसधान कहलाता है, औद्योगिक उपकरणो का निर्माण करनेवाले उद्योगो मे काम करनेवाले अभियता विज्ञान के नये तरीको का उपयोग नयी तकनालाजी का विकास अथवा वर्तमान तकनालाजी मे सुधार करने मे करते है।

सगठित अनुसधान और विकास के जरिये ही वर्तमान शताब्दी मे विज्ञान और तकनालाजी मे अद्भुत प्रगति की गयी है। अनुसधान और विकास नये उद्योगो को आरम्भ करने और पुरानो को मजबूत बनाने का मार्ग प्रशस्त करते है। आपेक्षिक तौर पर नये उद्योग, जो कि पूर्णत वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप ही जन्मे है, वे है आधुनिक रसायन प्रशोधन उद्योग, इलेक्ट्रोनिक उद्योग, एडवान्स इजीनियरिंग और मेटलर्जिकल इडस्ट्रीज, आणविक उद्योग, आदि। पुराने उद्योग वे है, जिनका मूल पूर्व-औद्योगिक दस्तकारियो मे है और जिन्होने कि १७५० और १८५० के बीच औद्योगिक क्राति मे से गुजरने पर अपना कार्य बडे पैमाने पर कर लिये है और उस तकनालाजी को ठोस कर लिया है जो कि प्रथम अभियात्रिकी के उपयोग के जरिये विकसित हुई और बाद मे प्राकृतिक रेशो का उपयोग करनेवाले वस्त्रोद्योग, वानस्पतिक तेल और स्नेह, चीनी, चमडा, कागज, कुम्हारी तथा अन्य कृषिक प्रशोधन उद्योगो, दुग्ध और खाद्य उत्पादनो जैसे उद्योगो को विज्ञान के उपयोग के जरिये अभिनव किया। ये पुराने उद्योग ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है क्योकि प्रक्रियाएँ अपेक्षाकृत सरल है तथा कच्चे माल ग्रामीण स्रोत से ही उपलब्ध है।

चन्द गलतफहमियाँ

प्राविधिक रूप से अर्ध-विकसित उद्योग, जैसेकि हमारे परम्परागत ग्रामोद्योग, अनुसधान और विकास के जरिये प्रगति नही कर सकते, लेकिन सिर्फ आधुनिकीकरण अथवा आधुनिक तरीको को अधिकाधिक अपनाकर ही प्रगति कर सकते है। व्यावहारिक वैज्ञानिक और प्राविधिक अनुसधान के तरीको को औद्योगिक विकेन्द्रीकरण मे युक्त नही किया जा सकता। प्राविधिक परिवर्तन के फलस्वरूप होनेवाले सामाजिक व्यवस्था की समस्याओ का हल करने मे उनका उपयोग नही किया जा सकता। अत कभी-कभी जो यह सुझाव दिया जाता है कि ग्रामीण उद्योगो मे किया जानेवाला अनुसधान वैज्ञानिक

खोजो और प्राविधिक अन्वेषणो की दिशा मे किया जाना चाहिए, जो कि आधुनिक तकनालाजी की अवाछनीय सामाजिक और केन्द्रित जटिलताओ से मुक्त हो, बेमतलब है। अनुसधान करनेवाले वैज्ञानिको अथवा अभियताओ से ऐसी आशा करना उनसे किसी चमत्कार की ही आशा करना होगा। अधिकाश वैज्ञानिक खोजो और प्राविधिक अन्वेषणो के पीछे आर्थिक उद्देश्य है। सामाजिक जटिलताएँ उद्देश्य और जिस सन्दर्भ मे मनुष्य द्वारा उसका उपयोग किया जाता है उसके फलस्वरूप पैदा होती है। यदि किसी तरह विकेन्द्रित पद्धति सफल हो सकती है तो वह सिर्फ आधुनिक तकनालाजी का उपयोग कर ही। इस असत्याभास को सिद्ध करने मे अधिक समय नही लगेगा कि ग्रामीण उद्योगो मे रोजगारी के जरिये जन-शक्ति स्रोत के उपयोग की समस्याएँ हमारी विकासो-न्मुख अर्थ-व्यवस्था मे वैज्ञानिक और प्राविधिक अनु-सधान की कमी के कारण नही पैदा हुई है बल्कि इस कारण से पैदा हुई है कि हम यह समझने मे असमर्थ रहे है कि किस तरह आधुनिक प्राविधिक विकास के रूप मे उनके सग्रहित परिणामो को उपयोग मे लाया जाय ताकि जितना सभव हो उतना उत्तम आर्थिक और सामाजिक परिणाम निकले।

आधुनिक तकनालाजी की जटिलताएं

आज हमारे सम्मुख जो समस्याएँ है वे शक्ति के यात्रिक स्रोतो के प्राविधिक विकास से शुरू हुई, जो कि औद्योगिक क्राति की अवधि मे सौ वर्ष से भी पूर्व आरम्भ हुई। तब से विज्ञान और तकनालाजी ने बडी तीव्र गति से प्रगति की है। उनकी विकास गति आबादी-वृद्धि गति से भी काफी तेज रही है। हमारे समय मे ही स्वचलन का प्रतिनिधित्व करनेवाले प्राविधिक विकास, जिन्होने कि दूसरी औद्योगिक क्राति की रूपरेखा तैयार कर दी (साइबरनेटिक रिवोल्यूशन), के कारण पैदा हुई समस्याओ को हमारी औद्योगिक क्राति को अभी भी झेलना बाकी है। इस दृष्टिकोण से यह समझना कि ग्रामीण उद्योगो की समस्याएँ तकनालाजी के विकासार्थ अनुसधान की समस्याएँ है, बहुत ही कृत्रिम है।

तथापि यथार्थ दृष्टिकोण है उन्हे आधुनिक प्राविधिक विकास के साथ ही अन्य स्रोतो के योजित उपयोग की समस्याएँ समझना ताकि अनुकूलतम अथवा सर्वाधिक सम्भव रोजगारी के अवसर प्राप्त हो सके। विकेन्द्रित पद्धति तथा "माध्यमिक" तकनालाजी की आधुनिक कल्पना इस अनुकूलतम का प्रतिनिधित्व करते है। ग्रामीण औद्योगीकरण मे आधुनिक तकनालाजी के योजित उपयोग का इसके सिवा कोई दूसरा विकल्प नही है कि शहरी उद्योगो का ग्रामीण क्षेत्रो मे विस्तार कर बिना क्रम अथवा आयोजन के उपयोग किया जाय। आधुनिक तकनालाजी का उसी के द्वारा उठायी गयी समस्याओं के हल के लिए उपयोग परस्पर विरोधी लग सकता है। परन्तु अगर यह महसूस कर लिया जाय कि आधुनिक तकनालाजी की सामाजिक जटिलताएँ इसमे निहित न होकर इसके उपयोग के तरीके पर निर्भर है तो कोई विरोधाभास नही है।

तकनालाजी का योजित उपयोग

हर विभाग मे औद्योगीकरण विकसित विभागो से तकनालाजी के साथ-साथ सगठन की नकल कर किया जाता है। हमारी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे हर औद्योगिक विभाग इस्पात और मूल उद्योगो से लेकर लघु शहरी उद्योगो तक, उन्नत अथवा विकसित देशो की तकनालाजी अपना रहे है। ग्रामीण विभाग कोई अपवाद नही है। यह अधिक उन्नत शहरी विभाग से तकनालाजी अपना रहा है। यह विकेन्द्रित प्रक्रिया है, जो कि उत्पादको के स्वय के निर्णय से लागू किया गया है। सामान्य क्रम मे उद्यमी उत्पादक को निर्णय करने मे छोटी-छोटी आटा मिलो से लेकर बडी सोलवेण्ट एक्सट्रैक्शन प्लाट्स बनानेवाले औद्योगिक निर्माताओ से सहायता मिलती है। उसे तकनीकल ज्ञान नही होता और वह तकनीकल ज्ञान तथा औद्योगिक उपकरणो के लिए व्यावसायिक स्रोतो पर निर्भर करता है। सफल उत्पादको के उदाहरण उनमे और विश्वास पैदा करते है। अत उपलब्ध स्रोतो के उपयोगार्थ सर्वोत्तम

मार्ग का ध्यान रखे बिना ही औद्योगिक सगठन और तकनालाजी आमूल रूप से दोहराये जाते है। योजना का एकमात्र प्रभावशाली व्यूह है ग्रामीण औद्योगीकरण की प्रक्रिया को उद्गम स्थल—सामुदायिक विकास खड स्तर—की ओर निर्देशित करना ताकि स्रोतो का, जिनमे जन-शक्ति और तकनालाजी भी शामिल है, अनुकूलतम उपयोग सुनिश्चित हो सके।

तकनालाजी सर्वाधिक योग्य स्रोत है और सम्पूर्ण रूप मे औद्योगीकरण की प्राणवान प्रक्रिया मे नियत्रण योग्य स्वतत्र परिवर्ती है, जबकि उसमे उत्पादन और रोजगारी मे बचत निर्भरीय परिवर्ती है। यदि तकनालाजी पर नियत्रण रखा जा सकता है तो रोजगारी पर भी नियत्रण रखा जा सकता है। परन्तु नियत्रण के लिए खड-स्तर पर तकनीकल सेवाओ के सगठन की जरूरत है, जिसमे औद्योगिक आयोजन के आधुनिक तरीको मे प्रशिक्षित वैज्ञानिको, समाज वैज्ञानिको और अभियताओ की सेवाएँ भी शामिल है, जो कि भौतिक और समाज-विज्ञान के तरीको का मिश्रण प्रस्तुत करता है। इन तरीको को ही प्रयुक्त कर प्राविधिक विकास का उपयोग योजित आधार पर उत्पादन खर्च मे बचत करने और उच्च पारिश्रमिक पर अधिक रोजगारी देने मे किया जा सकता है।

तकनीकल सेवाओ का संगठन

तकनीकल सेवाओ के इस तरह के सगठन के परिणामस्वरूप, जिसका कार्य पच वर्षीय योजनाओ के अनुसार सार्वजनिक और निजी क्षेत्र मे विकसित हो रहे बहुत ही उन्नत उद्योगो को उपलब्ध तकनीकल और सलाह सेवाओ की तरह ही है, आधुनिक भौतिक और समाज विज्ञान की समस्त रचनात्मक शक्तियॉ घोर गरीब और निश्चल समाज मे रहनेवाले हमारे लाखो लोगो की आर्थिक और सामाजिक प्रगति मे सहायक होगी। पचायत राज की स्थापना ने, जो कि ग्रामीण विकास आयोजन का अधिकार स्थानीय लोकतान्त्रिक सस्थाओ को दिया है, उस पैमाने और गुण-स्तर पर इस तरह की तकनीकल सेवाओ का सगठन सम्भव बना दिया है जो कि हमारे आर्थिक आयोजन के प्रथम दशक मे सम्भव नही था।

औद्योगिक आयोजन

औद्योगिक आयोजन के वे कौन-से नये तरीके ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम मे प्रयुक्त किये जाने के लिए उपलब्ध है, जोकि अधिकतम रोजगारी के अवसर निर्मित करना सुनिश्चित करते है ? वर्तमान शताब्दी मे, और खास कर द्वितीय महायुद्ध के बाद, वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास की बहुत ही तीव्र गति ने उद्योगो तथा उनकी प्रगति से प्रभावित अन्य गतिविधियो के लिए नयी समस्याएँ पैदा कर दी है। ये निर्णय अथवा आयोजन की समस्याएँ है, जोकि सगठित प्रक्रियाओ ने अपनी विवादास्पद आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यो के कारण बढी जटिलताओ से पैदा की है। इस समस्या का सबसे ज्वलत उदाहरण है आणविक शक्ति का विकास, जिसका उपयोग मानवता के लाभ के लिए भी किया जा सकता है और विनाश के लिए भी। इन समस्याओ का न तो भौतिक विज्ञान के जरिये ही और न सामाजिक विज्ञान के जरिये ही हल हो सकता है।

हाल के दशको मे माध्यमिक विज्ञानो की अभूतपूर्व प्रगति ने—खास कर साख्यिकी शाखा ने, जोकि 'साख्यिकी निर्णय' के नाम से जानी जाती है—भौतिक और समाज विज्ञान की वर्तमान तकनीको को मिलाने योग्य बनाया है ताकि विवादास्पद समस्याओ का हल हो सके और अनुकूलतम अथवा फलमूलक हल खोजे जा सके। उच्च औद्योगिक उत्पादकता के आर्थिक उद्देश्य और ग्रामीण औद्योगीकरण मे बडी रोजगारी के सामाजिक उद्देश्य के बीच का मतभेद विवादास्पद समस्या है, जिसका इस तरीके से हल किया जा सकता है। अब तक भौतिक और सामाजिक वैज्ञानिको के बीच कोई सामान्य दृष्टिकोण नही रहा है। यह नया तरीका जिसे वैज्ञानिक 'कार्यवाहक अनुसधान' कहा करते है, सामान्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इसकी सम्भाव्यता आर्थिक, औद्योगिक और

राज्य-वार आधार पर सामाजिक आयोजन मे लेकर यातायात नियत्रण तक है।

ग्रामीण औद्योगीकरण मे विवादास्पद पद्धति है— "नियत्रित परिस्थितियो मे स्रोतो का अनुकूलतम बँटवारा।" ग्रामीण औद्योगीकरण मे कार्यवाहक अनुसधान की सम्भाव्यता मुख्य रूप से इसी विवादास्पद पद्धति से सीमित है। अत प्रयुक्त होनेवाली चुनिन्दा तकनीको को औद्योगिक आयोजन कहा गया है, जिसमे क्रमबद्ध कार्यक्रम और प्राणवान कार्यक्रम शामिल है। औद्योगिक आयोजन की तकनीक परम्परागत ग्रामोद्योगो के विकास अथवा आधुनिक उद्योगो के विकेन्द्रीकरण मे प्रयुक्त कर सकते है। उन्हे प्रादेशिक आयोजन मे भी, जिनमे परम्परागत अथवा आधुनिक उद्योग और कृषि दोनो ही शामिल है, प्रयुक्त किया जा सकता है। विशिष्ट उद्योगो मे इसे प्रयुक्त करने का विस्तृत विवरण इस लेख मे देना स्थानाभाव के कारण सम्भव नही है।

कार्यवाहक अनुसंधान

कार्यवाहक अनुसधान ही आज एकमात्र उपलब्ध तरीका है जिसे सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए विज्ञान तथा उसके उत्पादन–तकनालाजी–मे प्रयुक्त कर सकते है। इसी तरीके से वैज्ञानिक और अभियता सक्रिय रूप से ग्रामीण औद्योगीकरण मे भाग ले सकते है। आयोजन के लिए अनुसधान शब्दो का प्रयोग विचित्र लग सकता है। अनुसधान और विकास तथा कार्यवाहक अनुसधान के बीच भेद यह है कि एक विकास कार्य है और दूसरा मूल्याकन कार्य। अनुसधान और विकास कार्य वर्तमान तकनालाजी से अधिक उत्पादकतावाली नयी तकनालाजी विकसित करने से सम्बन्धित है। कार्यवाहक अनुसधान वर्तमान और नयी तकनालाजी के मूल्याकन से सम्बन्धित है, जिससे उनका उपयोग योजित आधार पर पूर्व-निर्धारित आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जा सके। अनुसधान और विकास वह अनुसधान है, जोकि सम्पन्न समाज के लिए बहुत ही लाभदायक है। कार्यवाहक अनुसधान वह अनुसधान है जोकि करोडो लोगो की प्रगति के लिए परमावश्यक है। तथापि, ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए कार्यवाहक अनुसधान प्रयुक्त करने मे वैज्ञानिको और अभियतो की अनुसधान और विकास से कम आवश्यकता नही पडती। जबकि हमारे देश मे प्राविधिक विकास के लिए वैज्ञानिक अनुसधान करनेवाली २० से भी अधिक राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ है, हमारे करोडो ग्रामीणो के आर्थिक और सामाजिक कल्याण के लिए वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास का मूल्याकन और उपयोग करनेवाला अब तक वैसा कोई भी सगठन नही है। यदि हम औद्योगिक उत्पादकता बढाने की समस्याओ और ग्रामीण औद्योगीकरण के जरिये जन-शक्ति स्रोत के उपयोग की समस्या को एक समान ही समझे, तो इस तरह के सगठन का अर्थ बडे-बडे भवनो के निर्माण तथा खर्चीले वैज्ञानिक और अभियात्रिक उपकरणो से लगाया जा सकता है, जोकि गलत होगा। राष्ट्रीय आयोजन की सबसे बडी समस्या को हल करने के लिए इस सगठन मे परमावश्यक रूप से ही मेधावी और नेतृत्वशाली वैज्ञानिको और अभियताओ का जुटाया जाना शामिल है।

बम्बई · १५ जुलाई १९६३

भारत पर नयी दृष्टि*

गौरी शंकर रायचौधरी

ग्रामीण औद्योगीकरण भारत मे एक भारी समस्या है। इस समस्या की विशालता तब स्पष्ट हो जाती है, जब हम भारत की ग्रामीण जन-सख्या की गत्यात्मकता को देखते है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार कुल ४३ करोड ९० लाख की जन-सख्या मे से ३६ करोड आबादी देश के लगभग ६ लाख गॉवो मे (साढे पॉच लाख से अधिक) है। यह जन-सख्या प्रति वर्ष लगभग २ प्रति शत की दर से बढ रही है। और फिर, जैसाकि गत दशक के शहरीकरण की प्रक्रिया से अभिव्यक्त होता है, अब शहरी क्षेत्र मे इन ३७ करोड ५० लाख व्यक्तियो के किसी महत्वपूर्ण हिस्से को बसाने की बहुत कम गुजाइश है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि हमे ग्रामीण एवम् शहरी क्षेत्रो मे पहले से जो बेरोजगारी है, उसकी समस्या पर अलग-अलग रूप से विचार करना चाहिए।

इस आधार पर ही श्री लिण्टन एवम् स्टेपनेक ने 'बडे शहरो के बाहर औद्योगीकरण' (इण्डस्ट्रियलाइजेशन बियॉण्ड मेट्रोपोलिस) की समस्या पर विचार किया है। बडे शहरो के बाहर औद्योगीकरण के प्रसार मे अनेक बाधाएँ है, तथापि यह सुझाव दिया गया है कि दरिद्रता एवम् बेकारी की समस्या को हल करने के लिए हर हालत मे भारत को अपने औद्योगिक विकास की गति दुगुनी अथवा तिगुनी करनी पडेगी। प्रति वर्ष १५ से २० प्रति शत के मध्य सन् १९५६ को आधार वर्ष मान कर औद्योगिक विकास की औसत दर प्राप्त करने के लिए पूँजी निवेश अर्थात् विनियोजन बहुत बढाना पडेगा। इस काम के लिए आवश्यक पूँजी की मात्रा के बारे मे कुछ अनुमान लगाना हमारे पूँजी उत्पादन अनुपात सम्बन्धी जानकारी पर निर्भर करता है। यह जानकारी कुछ माने मे हमारे पूँजी लगाने के क्षेत्र एवम् उत्पादन तकनीक के चुनाव अर्थात् पसन्दगी से हासिल की जा सकती है। इसी पसन्दगी से हमे रोजगारी सम्बन्धी स्थिति की भी जानकारी मिलती है। अत्यधिक पूँजी प्रधान तकनीक के लिए अधिक विनियोजन की आवश्यकता होती है, जबकि उसी अनुपात मे रोजगारी मे वृद्धि नही होती। चूँकि भारत मे उत्पादन तथा रोजगारी दोनो का बढाना जरूरी है, इसलिए पुस्तिका के लेखको ने औद्योगिक विकास की एक नयी नीति अपनाने की आवश्यकता प्रकट की है। इस नीति की प्रमुख विशिष्टताएँ है (अ) सम्पूर्ण भारत के बजाय जिले का आयोजन इकाई के रूप मे चुनाव, (आ) कौशल प्रधान माध्यमिक प्रविधि (इण्टरमीडियेट टेक्नालॉजी) पर जोर, ओर स्थानीय सस्थाओ के पुनर्गठन के जरिए विकास कार्य मे अधिकाधिक रूप से लोक-भागीदारी को प्रोत्साहन देना।

जिला आयोजन

जिले को आयोजन इकाई के रूप मे चुनने के प्रश्न पर केवल किन्ही विशिष्ट उद्योगो की स्थापना की दृष्टि से नही, बल्कि समग्र योजना मे सघन विधेयक सयोजन की समस्या के रूप मे उसका चुनाव करने की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए।

*आर पी लिण्टन और जे ई स्टेपनेक· **इण्डस्ट्रीयलाइजेशन बियॉण्ड दि मेट्रोपोलिस–ए न्यू लुक ऐट इण्डिया, हैदराबाद, १९६३, पृष्ठ** ६+४४ (सक्षिप्त सस्करण), मूल्य का उल्लेख नही।

अर्थशास्त्र के दर्शनशास्त्रीय सिद्धान्त (क्लासिकल थियरी) की उद्योगो से विकास होता है। यहाँ बदली जा रही है कि उद्योग कार्यक्रम के अनुवर्ती है। यह इसलिए है कि उद्योगो के केन्द्रीभूत होने के फलस्वरूप आर्थिक विकास के तथा कथित विस्तार प्रभाव का बहुत ही सीमित महत्व देखने मे आया है। इसके अतिरिक्त, अत्यधिक केन्द्रीभूत उद्योगोंवाले क्षेत्र के समीपवर्ती भाग के आर्थिक विकास की पद्धति से जाहिर होता है कि वहाँ आय एवम् सम्पत्ति के वितरण मे घोर असमानता है। अत यह सिर्फ किसी जिले के निष्क्रय साधन स्रोतो का उपयोग करने का ही नही, बल्कि यह ठोस तथा सतुलित क्षेत्रीय विकास का श्रीगणेश करने का सवाल है कि हम जिले के एक पार्श्ववर्ती चित्र (डिस्ट्रिक्ट प्रोफायल) के रूप मे शुरूआत करके, उसे जिला योजना मे रूपान्तरित कर दे।

इस चित्र का दूसरा पहलू भी है। अल्प काल मे जब तक कि गाँवो मे पर्याप्त सामाजिक साधनो (बिजली, सडक, यातायात आदि) का निर्माण नही होता है, देहाती क्षेत्रो मे मानाकित सामग्री उत्पादित करने के किसी भी प्रयत्न का फल यह निकलने वाला है कि उत्पादन लागत अधिक होगी। फिर भी लेखको का मत है कि यद्यपि ऐसे उत्पादनो को अलग से देखने पर लागत अधिक होगी, किन्तु कुल लागत कम होगी, क्योकि विकास की एक निश्चित सीमा के बाद उन उद्योगो को शहरो से वाह्य लाभ एवम् जीवन की अन्य सहूलियते अधिक लागत पर प्राप्त होती है। यद्यपि अल्प विकसित देशो के सम्बन्ध मे यह सत्य है, किन्तु यह सत्य इसलिए नही है कि अल्प विकसित देशो मे शहर अपनी परिपूर्णता के स्तर पर पहुँच गये है, बल्कि इसलिए कि उनमे शहर प्राय अनायोजित है। इसलिए निकट-भविष्य मे हमारे सामने शहरो के पुनरायोजन तथा ग्रामीण विकेन्द्रीकरण के लिए सहायता प्रदान करने मे से किसी एक का चुनाव करने की समस्या है, और यह जैसाकि लेखको का मत है, विभिन्न प्रकार के उत्पादनो की सार्वजनिक तथा निजी लागत के बीच सम्बन्ध-स्थापित करने हेतु बहुत कुछ परिमाणात्मक अनुसधान पर निर्भर करता है।

माध्यमिक प्रविधि

रोजगारो के लिए लेखको ने कौशल प्रधान माध्यमिक प्रविधि के चुनाव का सुझाव दिया है। यह इस तथ्य से अनुप्राणित है कि भारत न तो इतना बडा विनियोजन कर सकता है कि वह पूँजीप्रधान तक्नीक के साथ अतिरिक्त श्रम-शक्ति को सम्भाल सके और न वह अपनी औद्योगिक उत्पादकता बढाने के लिए परम्परागत तकनीको पर ही निर्भर रह सकता है। इसलिए माध्यमिक प्रविधि के साथ समझौता किया जाना चाहिए अर्थात् उसका चुनाव किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा समझौता है जो यत्र तथा मूल्य दोनो दृष्टियो से सफल होना चाहिए, किन्तु निश्चय की इस प्रविधि से उत्पादकता इतनी नही बढ सकती जितनी वह आधुनिक तकनीक मे बढ सकती है। वैसी अवस्था मे विकसित देश माध्यमिक प्रविधि का अनुसरण करने की आवश्यकता महसूस करेगे। तब प्रश्न उठता है कि माध्यमिक प्रविधि कितनी माध्यमिक होगी, क्या हमारे वित्तीय विनियोजन की सीमाओ के अन्दर रहते हुए एक निश्चित अधिकतम उत्पादकता की गति प्राप्त करने के लिए प्रविधि मे सशोधन करना सम्भव हो सकेगा ?

इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ यात्रिक सभाव्यताओ पर निर्भर करता है। अब यदि कोई इससे एक अल्प कालिक सम्भावना के रूप मे स्वीकार भी करे तो भी कोई यह नही जानता कि भविष्य मे यह क्या रूप धारण करेगी, क्योकि जब वर्तमान अल्प विकसित देश आज की आधुनिक प्रविधि अपनाने मे समर्थ होगे। तब उन्हे शायद यह जान कर आश्चर्य नही होगा कि उस समय के विकसित देशो की प्रविधि की तुलना मे उनकी आजवाली प्रविधि पुरानी पडेगी। या फिर कोई यह भी बडी खुशी के साथ

सोच सकता है कि इतिहास के एक निश्चित स्थल यानी काल मे अल्प विकसित देशो की विकास की गति वर्तमान विकसित देशो की विकास की गति से बहुत आगे बढ जायेगी। जिससे प्रविधि की दृष्टि से वे विकसित देशो के बराबर होगे तथा अल्प विकसित देशो की जन-सख्या मे कमी होने लगेगी। फलस्वरूप बेकारी की समस्या हल हो जायेगी। अतएव हमे अवश्य ही प्रतीक्षा करके देखना चाहिए।

सलाहकार सहकारिताएँ

यह सब उसके लिए है कि क्या करना चाहिए, किन्तु एक दूसरा और प्रश्न है कि जो काम करना है वह किया जाना चाहिए? लेखक इन बातो पर जोर देते है (अ) प्रत्येक जिले मे एक प्रमुख सलाहकार अवश्य ही होना चाहिए और (आ) औद्योगिक सगठनो मे सहकारी उद्योग शहरी एवम् ग्रामीण क्षेत्रो के मध्य विभिन्न प्रकार के सयुक्त उद्योग और कारखानो की शाखाएँ हो सकती है। सलाहकार का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योकि उसमे न केवल उच्च तकनीकी योग्यता ही, बल्कि आधुनिक प्रविधि का प्रचार मात्रा मे प्रत्यक्ष अनुभव भी होना चाहिए। इन सबसे अधिक बिना दैनदिन बाह्य सहायता के लिए अपना काम जारी रखने मे समर्थ किसी व्यक्ति मे कार्य-शक्ति, अभिक्रम और सृजन-शक्ति का होना परमावश्यक है। प्राविधिक सलाह देने से लेकर भावी होनहार उद्योगपतियो की ओर ध्यान आकृष्ट करने तक के विभिन्न प्रकार के काम उक्त सलाहकार करेगा।

यद्यपि हम इस प्रकार के मार्गदर्शक असामान्य व्यक्ति की सेवाएँ प्राप्त कर सके तो उससे बढ कर और कोई बात नही होगी। वस्तुत हम अपनी सामुदायिक विकास योजनाओ मे ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता के विचार मे एक ऐसे ही सर्वज्ञानी व्यक्ति का स्वरूप रखते है, किन्तु हमारे ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता की तुलना मे यह सलाहकार अधिक तकनीकी योग्यता रखेगा और उसे अधिक वेतन भी मिलेगा। हमारा ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता स्पष्टत इस कार्य मे असफल हुआ है, किन्तु यह भी सन्देहास्पद ही है कि उच्च-स्तरीय तकनीकी ज्ञान एवम् उच्च वेतन प्राप्ति के कारण यह सलाहकार सफल हो सकेगा। ग्रामीण क्षेत्रो का आर्थिक विकास केवल एक आर्थिक कार्य ही है—इसमे समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक गुत्थियाँ भी सुलझायी है। हमारी नौकरशाही राजनीतिक वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होने के कारण सलाहकार को प्रस्तावित स्वतत्रता की गारटी नही दे सकती। दूसरी तरफ अनेक तरह की गुटबन्दियो तथा असमानताओ से वशीभूत जिस तरह का समाज हमारे गाँव मे है वह हमारी कोरी आर्थिक उत्प्रेरणाओ से अनुप्राणित, प्रत्युत्तरशील नही हो सकता। यहाँ स्पष्ट अभिव्यक्ति की जाय तो यह कहना पडेगा कि नौकरशाही की ओर उदासीनता अथवा दबदबे उसके तथा ग्रामीण राजनीति के मध्य हो सकता है कि सलाहकार का कार्य बिल्कुल ही उत्प्रेरक हो। अनेक प्रकार के औद्योगिक सगठन एवम् वित्तीय सस्थाओ के मामले मे उनके विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियो को सावधानीपूर्वक ध्यान मे रखना चाहिए।

जनतत्र मे जब तक विरोधी शक्तियाँ अधिक प्रभावशाली स्थिति मे हो, तब तक ये सस्थाएँ कदापि विकसित नही हो सकती। और जनतत्र मे ही कभी-कभी इन विरोधी शक्तियो का निदान भी बडा पेचीदा किंकर्तव्यमूढ कर देनेवाला बन जाता है। फिर भी, मै लेखक द्वय के इस मत से पूर्ण सहमत हूँ कि किसी न किसी तरह के सलाहकार एव विभिन्न प्रकार की आर्थिक सस्थाओ की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे केवल एक बात जोडना चाहूँगा कि उनके विकास को बढावा देने के लिए सरकार को पर्याप्त धानिक तथा राजनीतिक अवस्थाएँ निर्मित करनी चाहिए।

नयी दिल्ली • २४ अगस्त १९६३

स्त्री शिक्षा की समस्याएँ

श्रीपति श्रीदेवी

जबकि स्त्री शिक्षा के प्रसार तथा उनके स्थान में सुधार होने का, विशेष कर स्वतन्त्रता के बाद, स्वागत किया गया है, साथ ही कई समस्याएं भी खडी हो गयी है। शिक्षा ने महिलाओं को जो आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की है, पारिवारिक जीवन, जिसमें बच्चो का पालन-पोषण भी शामिल है, के सन्दर्भ में उसके अवाछनीय परिणाम निकल रहे है। इससे स्त्री शिक्षा के उद्देश्य, तत्व और कार्यक्रम के पुनर्मूल्याकन की आवश्यकता हो गयी है।

हाल के वर्षो मे भारत ने जिस क्षेत्र मे बहुत ही शानदार प्रगति की है वह है स्त्री शिक्षा। जो भारतीय समाज आज मे साठ वर्ष पूर्व तक लडकियो की शिक्षा को बिल्कुल अनावश्यक समझता था, उसके रुख मे आमूल परिवर्तन हो गया है और अब वह उन्हे हर स्तर पर शिक्षा देने की आवश्यकता समझता है। आज स्कूलो और कालेजो मे बडी सख्या मे लडकियाँ सिर्फ सामान्य शिक्षा और सस्कृति के लिए ही नही बल्कि शिक्षण, नर्सिग, चिकित्सा, व्यापार, अभियान्त्रिकी, कानून, पत्रकारिता आदि क्षेत्रो मे काम करने की शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से भी पढने जाती है। जिनशक्तियो ने महिलाओ मे उच्च शिक्षा का यह विस्तार लाया है, उनके लिए कोई सीधा-साधा कारण नही बताया जा सकता। इस विकास मे, उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे धार्मिक और सामाजिक सुधारो के लिए हुए आन्दोलन के परिणामस्वरूप जिन चन्द शक्तिशाली विचारो का प्रसार हुआ, उन्ही का योगदान है।

महिलाओ के स्थान मे परिवर्तन

ये आन्दोलन दो बाहरी तथ्यो के चुनौतीपूर्ण प्रत्युत्तर स्वरूप थे—भारत मे अंग्रेजी राज का आरम्भ और इसाई धर्म के प्रचारार्थ इसाई मिशनरियो का आगमन। साम्राज्यवादी प्रवृत्तिवाले अंग्रेजी प्रशासन का प्रारम्भिक इसाई मिशनरियो की धर्मपरिवर्तन नीति के साथ-साथ कडा विरोध किया गया। राष्ट्रवादी आन्दोलन, विशेषकर महात्मा गाधी के नेतृत्व मे जो कि महिलाओ की स्थिति सुधारने मे गहरी दिलचस्पी रखते थे, इतना शक्तिशाली था कि महिलाओ को अपनी उन्नति के लिए स्वय ही आगे बढ कर काम करने का प्रोत्साहन मिला। इससे स्त्री आन्दोलन का आरम्भ यद्यपि कुछ देर से ही हुआ, परन्तु उसने निरतर महिलाओ के अधिकारो और शिक्षा के लिए आन्दोलन किया। फिर रामकृष्ण मिशन और ब्रह्मवाद आन्दोलन का आरम्भ हुआ, जिसने अपने साधारण कार्यक्रम मे महिलाओ के निस्तार को भी शामिल किया। फलत. क्रियाशीलताएँ बहुत अधिक हो गयी, जिससे अचानक ही महिलाओ की स्थिति मे बहुत ही अनुकूल परिवर्तन और अतत निस्तार हुआ।

स्वतत्रता मिलने के बाद पिछले पन्द्रह वर्षों मे महिलाओ के निस्तार के साथ-साथ सम्पत्ति और तलाक अधिकारो तथा पुरुषो से बराबरी का हक आदि जैसे अन्य अधिकारो से एक शातिमय क्राति हुई है, जिससे विभिन्न वर्गो की महिलाओ मे बहुत भारी परिवर्तन हुए है। उच्च वर्गों मे, जो कि आबादी का सबसे कम प्रति शत है, स्त्री शिक्षा अधिकतर 'सजावट की वस्तु' ही रही है, यद्यपि इन वर्गों की कई महिलाओ ने अपने को सार्वजनिक कार्यो में भी लगा दिया है। मध्यम तथा निम्न मध्यम वर्गो मे शिक्षा और स्वतत्रता ने कई परिवर्तन लाये है, जिनमे से कुछ लाभदायक है, जबकि बाकी परिवारिक सुख

की राह मे बाधक बन रहे है।

सबसे बडा परिवर्तन तो यह है कि विवाहित और अविवाहित शिक्षित लडकियाँ बहुत बडी सख्या मे रोजगारी मे लगी है। आरम्भ मे तो सिर्फ अविवाहिताएँ ही नौकरी किया करती थी और वह भी अध्यापन तथा चिकित्सा क्षेत्रो मे ही, क्योकि उस समय उनके लिए और कोई मार्ग नही था, परन्तु आज स्थिति बदल गयी है और करीब-करीब हर क्षेत्र मे महिलाएँ कार्य कर रही है तथा अन्य महिलाओ की प्रेरणा और अपने परिवार की अवस्था पर ध्यान दिये बिना कार्य करने के लिए आकर्षित हो रही है। श्रमिको की माग बढने से, विशेष कर पच वर्षीय योजनाएँ आरम्भ होने के बाद—जिनसे हर क्षेत्र मे रोजगारी की सम्भाव्यताएँ और बढ गयी है—काफी सख्या मे महिलाएँ पूर्ण अथवा अश-कालीन कार्यो मे लगी है। इससे निश्चय ही महिलाओ को आर्थिक स्वतत्रता मिली है, जिसके फलस्वरूप विवाह के क्षेत्र मे अनुकूल परिवर्तन हुए है और माता-पिता को दहेज मे होनेवाले भारी खर्च की चिता से मुक्ति मिली है। दहेज के सम्बन्ध मे हाल ही मे बने कानून से भी स्थिति मे सुधार हुआ है।

आर्थिक रूप से स्वतत्र महिलाओ के लिए विवाह अब आर्थिक आवश्यकता नही रही, बल्कि पसन्द की बात हो गयी है। इसने सकीर्ण सामाजिक दृष्टिकोण की सीमा तोड दी है और अन्तर्जातीय तथा अन्तर्साम्प्रदायी विवाह हो रहे है। तथापि इसका अर्थ यह नही है कि मध्यम तथा निम्न मध्यम वर्ग की सभी शिक्षित लडकियाँ सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रही है। कुछ युवक अभी भी चुपके-चुपके दहेज मागते है। अत कुछ नौकरीपेशा लडकियाँ अविवाहित रहने को मजबूर है, यद्यपि हमारे समाज-सुधारक और सरकार इस प्राचीन प्रथा को समाप्त करने के लिए जोरदार प्रयास कर रही है। फिर अधिक उम्र होने पर भी विवाह होते है, जिसमे लडकियाँ जानबूझ कर अथवा अनजाने विवाहित पुरुषो से, जिनकी पत्नी है अथवा मर चुकी है, ब्याह कर लेती है। नये हिन्दू विवाह अधिनियम मे इस बहु-विवाह से महिलाओ की रक्षा की गयी है।

पारिवारिक जीवन को खतरा

तथापि महिलाओ के निस्तार को पारिवारिक सम्बन्ध भग करने के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है। यद्यपि इसके लिए अनेक बडे कारण है, युवा शिक्षित विवाहित जोडो का अपना घर खुद बसाने की इच्छा एक मुख्य कारण मानी जाती है। प्राचीन पारिवारिक सास्कृतिक पद्धति नष्ट हो गयी है और इसके साथ ही सयुक्त परिवार के विभिन्न लाभ भी। फिर, यह भी कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति, जिसमे पश्चिमी विचारो के अवशेष अभी भी वर्तमान है, ने हमारी महिलाओ को पश्चिमी दृष्टिकोण दिया है, जिससे कि वे व्यक्तिवादी हो गयी है, जोकि हमारे लिए बिल्कुल विदेशी है। दोषारोपण किया जाता है कि इस नयी बात से पुराने किस्म के परिवार भग होते जा रहे है, क्योकि शिक्षित लडकियाँ कृत्रिम बनती जा रही है और वे अब अपने देश अथवा परिवार की सामाजिक और धार्मिक परम्पराओ मे रुचि नही रखती। वे अब बडी रूमानी समझी जाती है, जोकि उपयोगी घरेलू कार्य पर ध्यान देने के बजाय सस्ती और गदी फिल्मो तथा अन्य उत्तेजक कार्यो से अधिक प्रभावित है। अत परिवार का सामाजिक और सास्कृतिक जीवन खतरे मे बताया जाता है। कुछ हद तक यह सही हो सकता है, परन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि आधुनिक युवती दो ससार के बीच फँसी है—समाप्त हो रही पुरानी दुनिया और नवजात ससार। निश्चय ही वह इस स्थिति मे अपने को व्यवस्थित कर रही है। प्रायः वह पारिवारिक जीवन और अपने धधे के बीच उलझ जाती है। जीवन की कठिनाइयो को दूर करने के प्रयास मे उसकी मानसिक और भौतिक दोनो ही रूपो मे अपरिमित हानि हो रही है। कुछ लोग इन अवस्थाओ मे बहुत चिन्तित

है। हाँ, कुछ ऐसे भी लोग है जोकि उत्तम सन्तति ओर उत्तम विश्व के लिए महिलाओ की शिक्षा को परमावश्यक मानते है। ये दोनों ही वर्ग दो भिन्न विचारो का प्रतिनिधित्व करते है ओर दोनो ही के अपने-अपने समर्थक है।

बच्चों का पालन-पोषण

एक वर्ग के निराशावादी दावे पर ध्यान देते हुए यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि क्या इतना दुखदायी विकास हुआ है। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि स्नातक पत्नियो ने, जोकि कही काम करती हैं, बच्चा के पालन-पोषण तथा पूर्णकालीन धधे के अनुगमन को समाहित करने की समस्या खडी कर दी है, क्योकि बच्चों पर पूरा-पूरा ध्यान दिये जाने की जरूरत है। डाक्टरों ने यह पाया है कि जिन बच्चों को सविराम दूसरों की देखभाल मे छोड दिया गया है उन्हे अधिजठर व्रण, फीलपाव तथा अन्य बीमारियाँ हो गयी है। अत बच्चो को माँ-बाप के प्यार अथवा देखभाल मे कोई कमी नही होनी चाहिए।

साथ ही मनोवैज्ञानिक यह बताते है कि बहुत अधिक आरक्षण भी नही देना चाहिए, जैसे बच्चो को अपनी आवश्यकताए नही बढाने दी जाती। उन्हे कुछ स्वतत्रता देनी चाहिए। बच्चो पर माँ का प्रभुत्व कभी भी उनके (बच्चो) लिए लाभदायक नही हो सकता। अल्वा मिरडल और वायला क्लिएन अपनी पुस्तक **वीमेन्स टू रोल्स** मे कहती है - "अधिक दबाव अथवा अधिक प्यार करने से बच्चो की शिक्षा की दिशा अनिश्चित हो जाती है। माता-पिता के लिए सम्भवत सबसे अच्छा यह है कि वे अधिक ध्यान न दे, नही तो स्वचेतना से उनका स्वाभाविक विश्वास समाप्त हो जायगा। चूंकि माता-पिता के पालन-पोषण मे यह बहु-विशेष अवस्था वर्तमान रहती है कि उत्पादन उत्पादक के साथ-साथ उत्पादन की प्रक्रिया को भी आक सकता है, अत पूर्णता का लक्ष्य रखना बेकार है। जहाँ बच्चे मनोवैज्ञानिक साहित्य पढने लायक हो गये, वे अपने माता-पिता को किसी न किसी अपराध के लिए कोसना शुरू कर देंगे।"

भविष्य की सम्भावना

दूसरे वर्ग का विचार कि उत्तम सन्तति तथा उत्तम विश्व के लिए महिलाओ की शिक्षा परमावश्यक है, सही है तथा होना चाहिए, क्योकि सारा शैक्षणिक प्रशिक्षण बेकार नही जायगा। माँ के रूप मे महिलाओ को महत्वपूर्ण कार्य करना है। उनके लिए शिक्षा पुरुषो से भी अधिक महत्वपूर्ण है, क्योकि उन पर परिवार के अपने पालन-पोषण तथा अपने बच्चों को, जोकि भावी नागरिक है, अच्छी शिक्षा देने की जिम्मेदारी है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जोकि उन्हे घर तथा समाज मे अच्छी तरह कार्य करने मे मदद दे। जब भारत अमेरिका और इग्लैंड की तरह उच्चतम औद्योगिक राष्ट्र हो जायगा तो महिलाएँ घर और दफ्तर दोनो का ही काम बिना विशेष कठिनाई के सम्भाल सकेगी, क्योकि कई नयी और सुघरी घरेलू सुविधाएँ मिल जायेगी जो कि उनके समय और शक्ति की बचत करेगी। इस सन्दर्भ मे जॉन डी डुरंण्ड की सुखद घोषणा का जिक्र करना दिलचस्प होगा, जिन्होने अपने लेख 'मैरिड वीमेन इन दि लेबर फोर्स' मे कहा है कि नित नयी चीजो के आविष्कार होते जाने से एक दिन ऐसा आयगा जब किसी घर मे कोई काम नही होगा और गृहणियाँ आबादी की कार्यकारी वर्ग नही रह जायेगी। फिर, परिवार नियोजन के प्रचलित होने से काम और भी कम हो जायेगा।

माँ का प्रभाव

फिर भी, समस्या वही रह जाती है, क्योकि घर और बच्चे नजरअदाज होने ही वाले है और यदि बच्चो को अच्छी तरह बढना है तो उन्हे माता की अच्छी देख-भाल चाहिए ही—खास कर शिक्षित माँ की—क्योकि पुरुषो और नारियो की सास्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक प्रकृति का निर्णय प्रारम्भिक वर्षों मे ही

माँ के ससर्ग मे होता है। जैसा कि डा राधाकृष्णन् कहते है—"इसलिए यदि माँ शिक्षित और नव-विचारो का स्वागत करनेवाली, जिज्ञासु और सचेत, अफवाहो और परम्परा पर ध्यान न देकर तथ्य पर ध्यान देनेवाली, अपने आसपास की दुनिया के मूल्य की जानकार और उसमे दिलचस्पी रखनेवाली, इतिहास और साहित्य मे रुचि रखने तथा आनन्द लेनेवाली हो तो उसके बच्चे ये चीजे उससे सीखेगे। शिक्षित सजग माँ, जोकि अपने घर मे अपने बच्चो के बीच रह कर काम करती है, चरित्र और बौद्धिक ज्ञान की विश्व मे सबसे बडी शिक्षिका है। ऐसे घरवाले समाज के बच्चे जब स्कूल जाना आरम्भ करते है तो उन्हे सब चीजो की जानकारी और समझ-बूझ रहती है तथा वे सुसस्कृत होते है, जिससे उन्हे स्कूल का अधिक लाभ प्राप्त होता है, अन्यथा जितना कि सम्भव नही होता।"

यांत्रीकरण के प्रभाव

लेकिन सबसे विकट प्रश्न है कि श्रम बचानेवाली खोजो के उपयोग से अवकाश के जिन वडे क्षणो की प्राप्ति होगी, क्या उसे महिलाओ को अपनी अमेरिकी बहनो की तरह उकताहट से बचाने अथवा अधिक पैसे कमाने के लिए बेचने होगे? यदि वे ऐसा करती है तो बच्चो के सही पालन-पोषण की जिम्मेदारी स्कूलो की हो जायगी। अमेरिकी स्कूल इस दोमुखी कार्य के उपयुक्त नयी कार्य-विधि आरम्भ करने हेतु गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे है। सम्भवत इन्ही परिणामो की कल्पना करते हुए महात्मा गाधी बडे पैमाने के यात्रीकरण से भय खाते थे। हमारा भविष्य देश मे किस हद तक औद्योगीकरण होता है और कहाँ तक महिलाएँ इस यात्रीकरण को अपने घरो मे प्रवेश करने से बचा पाती है, इस पर निर्भर करता है।

माना कि काफी अवकाशवाली शिक्षित महिलाएँ अपने घर मे रह कर घर और बच्चों की देख-रेख पर पूरा ध्यान देने का निर्णय करती है, फिर भी यदि उकताने का नही तो निराश होने का खतरा तो रहेगा ही, क्योकि उनकी शिक्षा के उपयोग का मार्ग नही रहेगा। उनकी शिक्षा निरर्थक जायगी और वे शिक्षा मे दिलचस्पी लेना कम कर देगी और काफी समय बाद महिलाएँ फिर से उतनी ही अज्ञानी हो जायेगी जितनी कि सौ साल पहले थी। अत महिलाओ को अपने घरेलू कार्य के अलावा कुछ काम करना ही चाहिए। यह काम दो-तीन घटे रोजाना का हो सकता है, जिससे वे अपनी घरेलू जिम्मेदारियो को निभाने के लिए शीघ्र घर लौट सके। यदि सभी शिक्षित महिलाओ को इस तरह का आशिक काम दे दिया गया तो वे कम महत्वपूर्ण कार्यो से बध जायेगी जहाँ कि उन्हे मानसिक कार्य नही करना होगा। यदि इसके विपरीत महिलाएँ प्रमुख प्रशासनाधिकारी अथवा डाक्टर अथवा वकील बनाना चाहती है तो उन्हे धधे के लिए तैयार किया जाना चाहिए, जिससे उन्हे मानसिक सतोष मिलेगा तथा पूर्णता का भान होगा। लेकिन यह फिर से हमे प्रारभिक प्रश्न पर ले जाता है।

विशेष पाठ-चर्या

इस दूषित वृत्त से निकलने हेतु रामबाण के रूप मे महिलाओ के लिए विशेष शिक्षा का सुझाव दिया गया है। इस प्रश्न पर तरह-तरह के विचार प्रकट किये गये है। विवाद महिलाओ के लिए विशेष विषयो के मूल्य पर है—क्या लडकियो की सीमित शारीरिक क्षमता को देखते हुए अध्ययन क्षेत्र सीमित कर दिया जाय अथवा उनके लिए बिल्कुल ही अलग पाठ्यक्रम बनाया जाय जिसमे गृह विज्ञान और सबधित विषय हो। लडकियो के लिए बिल्कुल ही अलग पाठ्यक्रम से कई खतरे है। उनका ज्ञान घरेलू कार्य तक सीमित हो जायगा और उससे भारत मे महिलाओ की प्रगति रुक जायगी। व्यवहारत यह स्त्री शिक्षा के लिए धक्का सिद्ध होगा। महिलाओ की शिक्षा का क्षेत्र सीमित कर राष्ट्र अपने आधे जन-स्रोत को खो देगा।

यह तर्क लडकियो के लिए विशेष पाठ्यक्रम लाग करने के विपक्ष मे नही दिया गया है। निश्चय ही विशेप पाठ्यक्रम हो सकते है, बशर्ते कि अन्य विषयो

के अध्ययन पर रोक न हो। फिर, विशेष शिक्षा लेने-वाली महिलाएँ, अपने को अपने घरो तक सीमित रखने मे कभी भी सफल नही हो सकती। निस्तार और पुरुषो से बराबरी का हक औरत को घर के बाहर भी कुछ रुचि पैदा करेगा। चूकि बच्चो का पालन-पोषण औरत की जिम्मेदारी है, अत उसे घर मे हमेशा काम मिलेगा। जैसा कि मिस डेटन पोलेक कहती है, "समानता की ओर बहुत अधिक प्रगति होने के बावजूद, महिलाओ के लिए जीवन पुरुषो मे अधिक कठिन है ओर सम्भवत रहेगा।" उसे इन दोनो महत्वपूर्ण कार्यो के लिए आयोजन करना होगा और तदनुरूप अपने को व्यवस्थित करना होगा। इसी सकट का सामना करते हुए इग्लैड मे आबादी सम्बधी रायल कमीशन ने यह विचार प्रकट किया कि "महिलाएँ राष्ट्र के सास्कृतिक और आर्थिक जीवन मे जो योगदान दे रही है, उसे सीमित करने की कोशिश करना महिलाओ के लिए सर्वांगीण हानिकर होगा। यह सत्य है कि मातृत्व और पूर्ण-कालीन पेशे के बीच सही सघर्ष है। इस सघर्ष का एक अश महिलाओ के जैविक कार्य मे अन्तर्निहित है, परन्तु एक अश कृत्रिम है और इस कृत्रिम तत्व की निरन्तर उपस्थिति मातृत्व के स्थान को निकृष्ठ विकल्प मे–बाहरी रोजगारी अथवा सार्वजनिक जीवन मे–गिराने का प्रयास करती है। अत हम शिक्षण और असैनिक सेवाओ मे रोजगारी पर से विवाह प्रतिबन्ध हटाने का स्वागत करते है और यह समझते है कि एक ऐसी व्यवस्था खोज निकालने का समझ-बूझ कर प्रयत्न करना चाहिए कि महिलाओ के लिए मातृत्व और घरेलू कार्य को बाहरी गतिविधियो के साथ मिलाना सहज हो सके।"

हैदराबाद. ५ अगस्त १९६३

●

इसीलिए राज्य के आदेश ही अतिम आदेश नहीं होते। हमारे आचरण का मार्ग-दर्शन सत्ता की आवाज से नही होता। सत्ता के परिणाम तो सिर्फ आदर्श अधिकारो की पूर्ति ही कर सकते है। जनता से राज्य भक्ति की अपेक्षा करने के पहले, न्याय का तकाजा है कि राज्य मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से उसका सब कुछ दे। व्यापक तौर पर, यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे युग में जबकि सक्रिय नागरिकता वयस्क व्यक्तियो को प्राप्त हो, तब तो राज्यो की कर्तव्य-परीक्षा पूर्व समय की अपेक्षा और भी गभीर हो जाती है। जिन लोगो के हाथो में राजनीतिक सत्ता आ जाती है वे देर-सबेर सत्ता के परिणाम अधिकारो में देखने का आग्रह करने लगते है। वे ऐसी संस्थाओ का निर्माण करेगे जिनके जरिये अधिकारो की सुगमता से प्राप्ति की जा सके। वे सुविधाओ को व्यापक रूप दे देंगे या उसे रद्द कर देंगे। वे यह भी आग्रह करेगे कि स्वतत्रता और समानता, लोकतात्रिक व्यवस्था के अनिवार्य स्वाभाविक परिणाम है। वे अपने उन भाव-विचारो का प्रसारण समाज के पूरे ताने-बाने में करेगे, कम से कम उस सीमा तक जहाँ राज्य की सत्ता अधिकाधिक स्पष्टता के साथ सबकी मर्जी पर निर्भर करती है। अंत में, इन लोगो का अवरोध कठिन हो जाता है, क्योकि जैसा कि एक्टन ने बताया है, जनता के पास गुप्त अधिकार होते है जिससे निपटने की शक्ति या एकता बहुत थोडे अल्प मत के पास होती है। इसलिए राज्य को, अगर वह जीवीत रहना चाहता है तो जनता की माग के सामने बदलना पड़ेगा; क्योकि सार्वजनिक कल्याण पर उसका भी समान दावा होता है और उसकी अभिवृद्धि उसका उद्देश्य होता है।

हॅरोल्ड जे. लास्की . *ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स*

बंगाल में शहरीकरण के कुछ पहलू

मीरा गुहा

अंग्रेजी शासन के आगमन से भारत के अन्य स्थानों के समान बगाल की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को भी बुरी तरह आघात पहुँचा। कृषि व्यापार की वस्तु बन गयी और कारीगर तथा व्यापारी अपने जीविकोपार्जन के पुश्तैनी धधों से वचित हो गये। ग्रामीण आबादी का नये औद्योगिक केन्द्रों में स्थानातरण हुआ और उसने जीवन-यापन के लिए नये-नये काम-धधे अपनाये। शहरीकरण की इस प्रक्रिया से मानवीय सम्बन्धो में भी परिवर्तन आये।

बंगाल मे शहरीकरण की प्रक्रिया मे सन्निहित परिवर्तन ग्रामीण स्वायत्तता अथवा आत्म-निर्भरिता पर लादे गये है। इस ग्रामीण आधार के अन्दर एक पेशेवर परस्परावलम्बन है, जिसका उद्देश्य है स्वावलम्बन। फलत स्वरूप या पद्धति उस चुनरी के समान है, जिसमे कृषक समुदायो रूपी 'बिन्दियों' के छोटे-छोटे 'गुच्छ' और उनके साथ विशिष्ट कुटीरोद्योगों मे लगे कारीगरो रूपी 'बिन्दियों' के बडे-बडे 'गुच्छ' हो। स्थान-विषयक दृष्टि से इसमे ऐसे गॉव आते है, जिनमे एक या अधिक प्रकार के काम-धधे चलते है और जो 'साप्ताहिक बाजारो' अथवा 'मौसमी मेलो' के माध्यम से दस्तकारी केन्द्रो से जुडे हुए होते है। 'साप्ताहिक बाजारो' से पास-पडौस के कुछ गॉवो का सम्पर्क होता है, जबकि 'मेलो' का क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। इस प्रकार के मेले प्राय धार्मिक पर्वो के वक्त लगते है, किन्तु आस-पास के अनेक जिलो के आदान-प्रदान केन्द्र के रूप मे आर्थिक दृष्टि से वे अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

प्राचीन अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तन

इस प्रकार की जीवन पद्धति मे कई तरह से परिवर्तन आये ह, किन्तु इनका ठोस रूप से अध्ययन करने से पूर्व इनमे सन्निहित कुछ अधिक गहरे पहलुओ का अध्ययन करना बेहतर होगा। अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तन मुख्य पृष्ठभूमि है और ऐतिहासिक दृष्टि से यह पिछले दो सौ वर्ष से भारत-बर्तानिया आर्थिक सम्बन्धो से जुडी हुई है।

अग्रेजो ने १७५७ तक अन्य यूरोपीय प्रतियोगियो को बाजार से समाप्त कर दिया था। अपनी राजनीतिक शक्ति का विस्तार कर उन्होंने देश के व्यापार मे एकाधिकार जमा लिया था। इस प्रक्रिया के प्रथम सोपान मे उन्होंने कृषि को एक व्यावसायिक वस्तु बनाया और रेशम, इण्डिगो तथा अन्य इस प्रकार की वस्तुओ की खेती अग्रेजो के एकाधिकार की चीज बन गयी। यहाँ यह बडे मजे की बात है कि इस नये व्यवसाय ने भारतीय पूँजी को भी आकर्षित किया, जिसने क्वचित रूप से अग्रेजो की पूजी के साथ गठ-बधन किया। तथापि, बाद मे अग्रेजी व्यापार और उद्योग की सरक्षण-नीति ने इन भारतीय व्यापारियो को विस्थापित कर दिया तथा उन्हे इसके बदले स्थायी बन्दोबस्त (परमानेण्ट सेटलमेण्ट) द्वारा भूमि-प्रलोभन दिया गया। इस सरक्षण नीति ने दस्तकारी उद्योगो पर भी कुठाराघात किया और कारीगर अपने परम्परागत काम-धधो से वचित कर दिये गये। प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गयी। नयी अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन केन्द्रो के अभिनवीकरण को वाष्प उत्कर्षण के समारम्भ द्वारा अन्तिम उत्प्रेरणा प्रदान की गयी। इन

नये केन्द्रो मे विस्थापित हो कर आयी आबादी ने उसके समक्ष जो विशिष्ट अवसर प्रस्तुत हुए, उनमे चुनाव प्रवृत्ति का परिचय दिया। बोलपुर-रायपुर-इलमबाजार क्षेत्र इस सम्बन्ध मे एक उपयुक्त उदाहरण है।

बोलपुर-रायपुर-इलमबाजार

यह क्षेत्र अजय नदी के उत्तरी किनारे—जोकि वीरभूम जिले की सीमा है—के साथ-साथ फैला हुआ है। कभी इस सरिता तट पर सुपुर, रायपुर तथा इलमबाजार जैसे व्यावसायिक केन्द्र थे। इस नदी का महत्व इसलिए था कि यह गगा के किनारे पर कलवा की ओर जाने के लिए एक माध्यम के रूप मे थी। इस क्षेत्र की **दिवानी** १७६५ मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दे दी गयी, और अग्रेजो की व्यावसायिक गतिविधियाँ शुरू हुई तथा रेशम उद्योग मे उनका एकाधिकार था—उसमे ४५ से ६५ लाख तक रुपये उनके लगे थे। एक अग्रेज अभिकर्त्ता जॉन चीप (John Cheap) ने 'इण्डिगो' की खेती प्रारम्भ की ओर सुरुल तथा सुपुर मे इण्डिगो के कारखाने खोले गये।

रायपुर के एक सम्पन्न बगाली कायस्थ श्याम किशोर सिन्हा ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अभिकर्त्ता के रूप मे काम किया और उसने यूरोप को निर्यात करने के लिए जॉन चीप को वस्त्रो की पूर्ति की। रायपुर के समीप इण्डिगो के कारखाने मे श्याम किशोर के पौत्र सितीकान्त भी हेनरी एर्सकिन (Erskine) के साथ भागीदार हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ अपने भाग्य का तादात्म्य स्थापित कर उक्त परिवार ने बहुत धन कमाया और शीघ्र ही जमीदार परिवार बन बैठा। सितीकान्त के बच्चे शिक्षा-प्राप्ति के लिए इग्लैड भेजे गये। उनमे से एक वकील बना और 'पीर' की पदवी पानेवाला वह प्रथम भारतीय था। तदुपरान्त परिवार के अन्य सदस्यो ने भी अग्रेजी शिक्षा प्राप्त की और कलकत्ता मे विभिन्न उद्योग-धधो मे अच्छे पद प्राप्त किये।*

तथापि, जर्मनी मे सस्ती लागत पर उत्पादित सश्लिष्ट रजको की स्पर्धा मे 'इडिगो' उद्योग की अवनति हो गयी। फलस्वरूप उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक सभी कारखाने बन्द कर दिये गये—तत्कालीन फलते-फूलते सुरुल तथा सुपुर के केन्द्रो के बुरे दिन आ गये। इसी वक्त एक अन्य कारक का प्रादुर्भाव हुआ जिसने शहरी केन्द्रो की स्थापना मे और कुछ परिवर्तन लाने मे अपना प्रभाव डाला। ईस्ट इडिया कम्पनी ने १८५५ मे बगाल को उत्तरी भारत मे मिलाते हुए अपेक्षाकृत एक लघु रेल मार्ग का निर्माण किया। अजय नदी पर से होकर यह रेलवे लाइन उत्तर दक्षिण रूप मे गयी थी।

द्रुत विकास

वीरभूम जिला सदैव ही एक अच्छा अतिरिक्त चावल उत्पादक क्षेत्र रहा है। प्रथम महायुद्ध के समय जब चावल की कीमते बढी तो चावल कुटाई वहाँ का एक लाभदायक उद्योग बन गया। रेलवे लाइन के आस-पास गुशकारा, बोलपुर, अहमदपुर और सथिया जैसे नये चावल कुटाई केन्द्र खुले। सुपुर से छ मील की दूरी पर स्थित पुराना इडिगो केन्द्र बोलपुर उस वक्त एक मामूली छोटा सा गाँव था, जो आज तब से विकसित होते-होते क्षेत्र का एक सर्व प्रमुख चावल व्यापार केन्द्र बन गया है। शहर मे अब काफी श्रमिक आबादी है और मौसमी काल मे बोआई व कटाई का काम करनेवाले सथाल आकर देहाती वातावरण निर्मित कर देते है। पचास वर्ष की अवधि मे स्वयम् बोलपुर का बडी द्रुत गति से विकास हुआ है—सन् १९०१ मे उसकी आबादी ३,८३१ थी और १९५१ मे १४,८०२। इलम-

* निर्मल कुमार बोस **मॉडर्न बगाल**; १९५९, पृष्ठ २०–२३.

बाजार जानेवाली सडक के समीप एक छोटे-से पुरवे से शुरू होकर इसका क्षेत्र उत्तर की ओर बन्दगोरा और त्रिशूलीपट्टी तक फैल गया है, जो आज इसकी नगर-पालिका के कार्यक्षेत्र मे आते है।

अद्रा-रघुनाथपुर §

अब हम उस क्षेत्र के जीवन मार्ग मे रेलवे शहर के विकास से हुए परिवर्तनो का उदाहरण ले, जो प्रधान रूप से ग्रामीण यानी देहाती क्षेत्र था। रघुनाथपुर मानभूम जिले मे एक बहुत ही प्राचीन गॉव है। यह गॉव पचेत के राजा का हेड क्वार्टर था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बगाल से जानेवाले गया-बनारस मार्ग पर एक छोटी-सी **चट्टी** या डाकघर प्रतीत होता है। श्री चैतन्य महाप्रभु (१४८५-१५३३) ने जब गया की पैदल तीर्थयात्रा की तो यही मार्ग अपनाया था। रघुनाथपुर के दक्षिण और पूर्व मे अन्य कई पुराने गॉव है। पूर्व की ओर मौजा आरा के चार गॉवो मे विष्णुपुर नमूने के अनेक ईंटो से बने मन्दिर है और वे बाकुरा तथा बर्दवान जानेवाले मार्ग पर अवस्थित है। इस क्षेत्र मे प्रारम्भिक जन-सख्या इस प्रकार थी पचेत के राजा ने माल उगाहने और पुजारियो के रूप मे काम करने के लिए कनौज (उत्तर प्रदेश) से बुला कर पॉच ब्राह्मण परिवार बसाये। उसने मौजा आरा मे उन्हे जमीन दी। आज वहॉ के ब्राह्मण परिवार अपने को उन्ही के वशज कहते है। वहॉ की आदिवासी जाति बोरी थी, जो राजा की पालकी इधर-उधर लाया-ले जाया करती थी। इसके अलावा लुहार, कुम्हार, मछुवे, बढई तथा तेली भी थे, जो अपना-अपना पेशा किया करते थे।

§ इस क्षेत्र के सम्बन्ध में जानकारी कलकत्ता विश्व विद्यालय के भूगोल विभाग से सम्बद्ध कुमारी सीखा चक्रवर्ती ने इकट्ठी की है।

आस-पास के क्षेत्र और रघुनाथपुर के जयचण्डी पहाड मे भी अयरक (ओरे) मिलने के कारण क्षेत्र का आर्थिक उपयोग करने की दिशा मे एक नयी सम्भाव्यता सामने आयी। भविष्य मे इन कच्चे मालो का औद्योगिक उपयोग करने की दृष्टि से सिघभूम के अयस्क उत्पादक क्षेत्र को रानीगज और बैराकड की कोयले की खानो से जोडने के लिए क्षेत्र से हो कर एक रेलवे लाइन निकाली गयी। काशीपुर तथा आरा मौजो के बीच अद्रा नामक एक नया रेलवे शहर बसा और इसने जनता के जीविकोपार्जन की पद्धति मे एक सामान्य परिवर्तन ला दिया है।

रोजगारी की पद्धति

रेलवे के कारखाने (रेलवे सेटलमेण्ट) काशीपुर और आरा के दो छोटे-छोटे टोलो—पलासखोला और पाचूडागा—तक फैल गये है। रेलवे की वर्कशाप मे रोजगारी मिलने के कारण, इस नये शहर ने पास-पडौस की जन-सख्या आकर्षित की है। कृषि कार्य काफी कम हो गया है तथा उसी प्रकार पुराने पुश्तैनी धधे भी। 'बोरियो' को या तो कुली कार्य मे अथवा रेलवे के चौथी श्रेणी के कर्मचारियो का काम मिलता है। जमीदारी उन्मूलन के साथ ब्राह्मणो की बहुत-सी जमीन चली गयी और अब वे या तो रेलवे कार्यालय मे कर्मचारियो के रूप मे काम करते है अथवा झरिया मे कोयले की खानो मे क्लर्की का। लुहारो और बढइयो ने अपना पुश्तैनी धधा छोड दिया है। अब लुहार रेलवे मे 'फीटरो' और 'वेल्डरो' का काम करते है तथा बढई रेलवे की 'वर्कशाप' मे बढइयो का। इसी प्रकार तेलकार भी रेलवे मे काम करने लगे है और आसनसोल तथा रानीगज से आ कर मारवाडी व्यापारी वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र मे घुस गये है। इस तरह जाति के आधार पर चलनेवाले पुश्तैनी काम-धधो मे एक प्रकार से क्रातिकारी परिवर्तन आ गया है। यद्यपि कुछ आबादी—बहुत ही कम—अब भी खेती करती है, पर प्रत्येक परिवार

के लगभग ७५ प्रति शत व्यक्ति रेलवे अथवा खानो मे मजदूरी करते है।

रिसड़ा

तीसरा उदाहरण है हुगली के दोनो किनारो पर घनी आबादीवाले चिरतन शहरीकरण मे विशुद्ध औद्योगिक इकाई का। **चिप्र दास** १४६५ मे लिखित अपनी रचना **मनसा मगल** मे हुगली के दोनो किनारो पर बसे गावो का वर्णन करते है। त्रिवेणी से नीचे की ओर सप्तग्राम, कुमारहट्ट (हाली शहर), हुगली, भटपाडा, बोरो (एक बस्ती जो अब चन्द्र नगर के क्षेत्र मे आती है), काकीनारा, मूलजोडे, गुरुलिया, तेलिनीपाडा, भद्रेश्वर, चम्पादानी, इचापुर, डिग्गा (वैद्यवती खाल), रामनान, अकनाख, महेश, रिसडा, कोन्नागर, कोटरग, चाणक, मुकचर, कामराहटी, अडियादह, घुसुरी और चित्तपुर का वर्णन है। चित्तपुर का **सर्व मगल देवी** के मन्दिर के साथ वर्णन किया गया है। नदी के इस किनारे के साथ-साथ ईस्ट इडिया कम्पनी के व्यावसायिक हित १८वी शताब्दी मे कलकत्ता—जॉब चारनोक (Job Charnock) द्वारा बसाये गये सूतानट्टी, गोविन्दपुर और कालीकाता क्षेत्र—मे घनीभूत हो गये थे। नदी के किनारो के देहाती वातावरण मे अवस्थित इन गावो मे या तो ब्राह्मणो के पठन-पाठन केन्द्र थे या छोटे-छोटे बाजार व व्यापारिक बस्तियॉ थी अथवा बुनाई केन्द्र। इस अवस्था पर द्रुत गति से हुए औद्योगिक विकास का बहुत प्रभाव पडा।

जूट मिलों की स्थापना

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक आते-आते थोक रूप मे सामान के आदान-प्रदान सम्बन्धी व्यापार मे जूट का महत्व सामने आ चुका था। इसकी फसल पर बगाल का एकाधिकार है, इसलिए नदी-किनारो पर जूट मिलो की स्थापना स्वाभाविक थी। प्रथम मिल १८५५ मे रिसडा नामक स्थान पर स्थापित हुई थी—१९८० तक इनकी सख्या १०१ तक पहुँच गयी थी। रिसडा का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने से शहरी विकास की प्रक्रिया का अधिक स्पष्ट चित्र सामने आ सकेगा।

गॉव के रूप मे रिसडा को महेश के समीप होने का लाभ प्राप्त था, जोकि 'रथयात्रा पर्व' के लिए सुप्रसिद्ध है। रिसडा स्वयम् पान के बागानो के लिए प्रसिद्ध था। वर्तमान शहर के पुराने घरो—वार्ड तीन व चार—मे बहुत तग गलियाँ—मात्र ढाई गज चौडी—थी। इसके अन्दर तीन जाति-प्रधान मुहल्ले है—बरुईपाडा मे बोरी है, जोकि परम्परा से पान की खेती करते है, ढेकीपाडा मे ढेकी है, वे भी पान की खेती करते है, और चासापाडा, जिसके निवासी भी कृषक है। अतएव पुराने गॉव का स्वरूप इस प्रकार के समुदाय का था, जो विशेष प्रकार की खेती पर निर्भर करता था। इस पर औद्योगिक स्वरूप थोपा गया। रिसडा १८६५ मे सेरामपुर नगरपालिका का हिस्सा था। सन् १९०० मे रेलवे स्टेशन की स्थापना होने पर ही इसका मुख्य रूप से विकास हुआ। इस सम्बन्ध मे कारखानो के विकास का विश्लेषण (विस्तृत विवरण के लिए पृष्ठ १२९ पर दी हुई तालिका देखे) करना रूचिकर होगा।

औद्योगिक विकास जूट मिलो की स्थापना के साथ प्रारम्भ हुआ और बहुत अधिक तादाद मे श्रम-स्थानातरण के लिए उत्तरदायी था। पहले से ही औद्योगिक परम्परा स्थापित हो जाने पर अन्य प्रकार के उद्योगो की स्थापना करना अपेक्षाकृत आसान बन गया। विशेष विकास आजादी हासिल करने के बाद हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि हलके धातुकार्मिक सामान के उत्पादन पर जोर दिया जाता है। लेकिन यहा ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि बादवाले उद्योग रेलवे लाइन के दोनो ओर स्थापित है, जबकि नदी के किनारे स्थापित जूट मिले

यातायाव के माधन के रूप मे हुगली नदी का महत्व प्रकट करती है। ग्राण्ट ट्रक रोड पर अवस्थित प्रेसीडेसी जूट मिल बाद मे स्थापित हुई, किन्तु कच्चा माल ढोने के लिए नदी-किनारे इसकी भी स्वयम् की 'गोदी' है। यहा यह मजेदार चीज है कि औद्योगिक कारखानो मे ग्यारह के मालिक बगाल के बाहर के पूजीपति अधिकाश अब औद्योगिक उपयोग मे आती है। श्रमिक आबादी–खास कर गैर बगाली–आन्ध्र प्रदेश(महिलाएँ), बिहार, उत्तर प्रदेश और उडीसा से आती है। सामान्यत इस आबादी मे अनेक जातियॉ है। श्रमिक भर्ती करने का तरीका इस प्रकार है मिल जॉबर के जरिये सम्पर्क साधती है, हो सकता है कि वह

औद्योगिक इकाई	स्थापना वर्ष	कर्मचारी
वेलिग्टन जूट मिल	१८५५	३,८६१
हैस्टिग्स जूट मिल	१८७६	४,५००
प्रेसीडेन्सी जूट मिल	—	—
ए सी सी आय (आय सी आय)	१९३१	१,४००
जयश्री टेक्सटायल्स	१९४४	३,०००
श्री राम सिल्क मैन्यूफक्चरिग कम्पनी लिमिटेड	१९४८	३००
यनाइटेड वेजीटेबल मैन्यूफैक्चरिग कम्पनी	१९४८	—
कलकत्ता फॉसफेट कम्पनी लिमिटेड	१९४८	—
लक्ष्मीनारायण कॉटन मिल्स	१९५२	१,०००
जे के स्टील	१९५२	—
बगाल वायर नेटिग फैक्ट्री	१९५२	—
श्री इजीनियरिग प्रोडक्ट्स	१९६०	३००
गोविन्द स्टील कम्पनी लिमिटेड	१९६२	३००
श्री दयाल पोर्सलेन वर्क्स	१९६२	—

है। इनमे से कुछ के मालिक अग्रेज थे, किन्तु बाद मे वे कारखाने भारतीय व्यापारियो को हस्तातरित कर दिये गये।

श्रमिकों की भर्ती

भौतिक दृष्टि से इस औद्योगिक सगठन या व्यवस्था का परिणाम निकला है आबादी का पृथक्करण अथवा विसयोजन। जहाँ जमीन औद्योगिक प्रतिष्ठानो से रिक्त है—वार्ड एक और दो—वहाँ श्रमिक बस्तियॉ है। औद्योगिक क्षेत्रो मे भी अधिकारियो, श्रमिक चालो और कारखानो के लिए मकान है। पान के बागीचो के अन्तर्गत भूमि बहुत कम हो गयी है। उसमे से उस मिल का कर्मचारी ही हो। गॉवो से नये श्रमिक भर्ती करने के लिए वह जिम्मेदार होता है। स्वाभाविक रूप से ही वह अपने गावो की ओर से श्रमिक लाता है, जो प्राय पारिवारिक तौर पर उसके सम्बन्धी होते है। इसके लिए वह जो सेवा प्रदान करता है, उसके बदले मे प्रति श्रमिक कुछ शुल्क लेता है। इस प्रकार लाये गये व्यक्ति अकुशल होते है। उन्हे शिशिक्षु प्रशिक्षण दिया जाता है। औद्योगिक प्रतिष्ठानो मे इस प्रकार के अनेक जॉबर है। किन्तु जहॉ तक बडे प्रतिष्ठानो का सवाल है, जहा कि कुशल श्रमिको की आवश्यकता होती है, श्रमिको की

भर्ती एक श्रमिक भर्ती अधिकारी के जरिये की जाती है। वह प्रतिष्ठान का वेतन भोगी कर्मचारी होता है।

प्रथम तरीके मे भर्ती किये गये श्रमिकों मे सामुदायिक गठन और ठोस ग्रामीण सम्बन्ध होते है। प्राय किसी विशिष्ट कुशल समुदाय की तकनीकल ज्ञान के सम्बन्ध मे परम्परागत पृष्ठभूमि होती है, जैसे वस्त्र मिलों मे बुनकर, जोकि प्राय सभी उत्तर प्रदेश के मुसलमान कारीगर है। श्रमिक आबादी के स्थानान्तरण के सम्बन्ध मे जो भी पृष्ठभूमि हो, उसमे समूह के लिए विशिष्ट तरजीह पायी जाती है। उन्हे जब मिल की तरफ से मकानात नही मिलते तो वे अपने प्रदेशवालो–जैसे छपरा, बलिया, पटना, गोरखपुर, प्रतापगढ अथवा अन्य ऐसे ही स्थानों से आये हुए व्यक्ति जोकि किन्ही खास मुहल्लो मे रहते है–के मोहल्लों की ओर जाना पसन्द करते है। सकटकाल अथवा होली या मुहर्रम जैसे त्यौहारो पर जो पारस्परिक मदद ली-दी जाती है, उस वक्त ये विशिष्टताएँ अधिक स्पष्ट रूपेण दृष्टिगोचर होती है, तथापि मालिक और मजदूरों के मध्य खडे होनेवाले श्रमिक विवादों या झगडों के दौरान मजदूर सघ इन विभागो को पार कर जाते है तथा तरोताजा निष्ठा निर्मित करते है।

सामाजिक पृथक्करण

प्रारम्भिक बोरी, ढेकी और चासा आबादी मे मात्र २० परिवार ही खेती करते है। शेष कारखानो में काम करते है। बगाली व्यक्ति कारखानो के दफ्तरों मे काम करते है। उन्हे स्थानीय रूप से अथवा सेरामपुर, कोन्नागार और चन्द्रनगर मे भर्ती किया जाता है। आर्थिक स्तर का विन्यास इस प्रकार है श्रमिक–गैर बगाली, कार्यालय कर्मचारी–बगाली, और कार्यपालक–गैर बगाली।

श्रमिक दलों की भाति सामाजिक पृथक्करण उच्च स्तरों पर भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, रिसडा महिला मण्डल नामक एक महिला सघ आस-पास के औद्योगिक प्रतिष्ठानो मे काम करनेवाले कार्यपालको की श्रीमतियों का सगठन है। इसकी कुल सदस्य-सख्या ३६ है। इनमे केवल तीन ही बगाली है। अध्यक्ष तथा मत्री गैर बगाली है। एक अन्य सगठन रोटेरी क्लब है। इसके अन्तर्गत बाली से वैद्यावती तक का क्षेत्र आता है। इसके सदस्य जूट मिलों से लेकर मोटर आदि का उत्पादन करनेवाले कारखानो तक के कार्यपालक है। कुल सदस्य २१ है, जिनमे चार बगाली है और अध्यक्ष गैर बगाली है।

नव आर्थिक स्तर विन्यास

परिवर्तनशील आर्थिक पद्धति मे शहरी सगठन के स्थान-विषयक वितरण मे एक नयी पेशेवर सघटना का विकास हुआ है। आबादी-स्वरूप मे भी एक परिपूर्ण परिवर्तन आ गया है। नवीन आर्थिक स्तर विन्यास मे, उत्पादन क्षेत्र मे मजदूरो की नयी सस्था का जन्म हुआ है और सामुदायिक हितो के अनेक रूप है। इनमे से कुछ अभी शहरीकरण द्वारा मुक्त नही हुए है। उदाहरणार्थ, रिसडा मे जो श्रमिक है उनमे अब भी अपने जिले की भावना पायी जाती है। इस प्रकार शहरीकरण के नये स्वरूप और काम-धधो ने मानवीय सम्बधो के स्वरूप मे भी एक नयी परिवर्तन प्रक्रिया प्रारम्भ की है, जिसमे जाति, गाँव अथवा जिले सम्बन्धी पहले के सम्बन्ध धीरे-धीरे समाप्त हो रहे है।

कलकत्ता १७ अगस्त १९६३

मितव्ययी तिलहन एकत्रण की ओर

पु. वि. श्रीकण्ठ राव

तिलहन एकत्रण कार्य का सगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि एकत्रकर्त्ता की उचित आय सुनिश्चित हो और औद्योगिक तथा अन्य कार्यों के लिए तिलहन का उपयोग करनेवालो का उत्पादन सस्ता हो।

लगभग गत पॉच वर्षो मे देश मे अखाद्य तिलहन सम्पत्ति के सरक्षण की आवश्यकता अधिक महसूस की जाने लगी है, यद्यपि भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल द्वारा अखाद्य तेल और साबुन उद्योग के विकास का कार्यक्रम १० वर्ष पहले आरम्भ किया गया था। यद्यपि इन तिलहनो के उपयुक्त एकत्रण, भाण्डारीकरण तथा प्रशोधन के लिए अनेक कदम उठाये गये और अनुप्रेरणाएँ दी गयी, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे 'स्तरीय एकत्रण' की अनुक्रिया वडी मन्द रही। 'स्तरीय एकत्रण' का लक्ष्य बनाते समय दो परस्पर विरोधी तत्वो पर उचित ध्यान देना चाहिए—पहला यह कि तिलहन एकत्र करनेवालो की उचित आय सुनिश्चित होनी चाहिए और दूसरा यह कि तिलहन का प्रशोधन खर्च ऐसा होना चाहिए जोकि उसका औद्योगिक अथवा अन्य कार्यो मे उपयोग करनेवालो को स्वीकार्य हो। इन दोनो को सन्तुलित करना सरल काम नही है। इस समस्या का एक निदान है हमारी कार्य-पद्धति के अनरूप बनाने के लिए तकनालाजी को सरल बनाना। प्रक्रिया को अधिक तेज करने के लिए जहॉ कही भी सम्भव हो, किसी भी आवश्यक हद तक शक्ति का उपयोग किया जाना चाहिए। सभी क्रियाओ मे समय का बडा महत्व है।

आज अधिकाश तिलहन एकत्रकर्त्ता की मौजूदगी मौसम के साथ-साथ बदलती रहती है। यह प्रयास किया जाना चाहिए कि तिलहन एकत्रकर्त्ता और तिलहन प्रशोधन मे लगे लोग साल दर साल यही कार्य करे। चन्द क्षेत्रो मे बहुत वडी मात्रा मे तिलहन एकत्र होता है या वडी सख्या मे लोग इस काम मे लगते है और अल्प काल मे ही (लगभग एक महीने मे) अच्छी रकम मजदूरी के रूप मे प्राप्त कर लेते है। यद्यपि यह अल्प आयवाले परिवारो को अतिरिक्त आय कराने की दृष्टि से एक सफलता है, तथापि यह अकेले ही ऐसी मजबूत नीव नही डाल सकती, जोकि किसी भी औद्योगिक क्रिया के लिए अत्यत महत्वपूर्ण है। तिलहन एकत्रण की अवधि उतनी महत्वपूर्ण नही है जितनी कि मौसम मे एक व्यक्ति कितनी आय कर लेता है। समस्या है यह देखना कि इस आय मे पर्याप्त वृद्धि की जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति को सुनिश्चित करने के लिए सगठनात्मक स्वरूप को तदनुरूप व्यवस्थित करना ही पडेगा।

भाण्डारित तिलहन

प्रथम एवम् प्रमुख बात है यह समझना कि हम कहते है 'तिलहन एकत्रण' यद्यपि वह फल ही है जोकि पक जाने पर एकत्र किया जाता है। तिलहन शब्द का प्रयोग इस माने मे महत्वपूर्ण है कि वह तिलहन ही है जो लम्बे काल के लिए भाण्डारित किया जा सकता है। इसीलिए फल को तिलहन मे बदलने की आवश्यकता है। यदि कुछ हालात मे तिलहन अर्थात् बीज भाण्डारित नही हो सकता हो तो व्यावहारिक रूप मे गिरी या गूदा ही बीज का काम करेगी, किन्तु किसी भी हालत मे फल बीज नही हो सकता है।

जब लक्ष्य तिलहन का 'स्तरीय एकत्रण' है तब एकत्रण खर्च उचित रूप मे कम होना चाहिए। उचित रूप मे कम का तात्पर्य है कि अन्तिम उत्पादन को ध्यान मे

रख कर विभिन्न जाति के तिलहनों और क्षेत्रों के लिए लागत का विस्तृत स्वरूप तैयार किया जाना चाहिए। यह तभी सभव है, जबकि अन्तिम उत्पादन की लागत प्रसिद्ध तिलहनों तथा तेल के मूल्यों के परिवर्तनों के प्रभाववश नही हो। यह सवाल दूसरा है कि लागत के सामान्य स्तर और श्रम तथा समय स्रोतों के रूप में निवेशों को ध्यान मे रख कर देखा जाय कि क्या किसानों को उनके तिलहनों के लिए मिलनेवाला मूल्य उचित है।

तिलहन एकत्रण मे सफलता को इसमे आँकना होगा कि किस हद तक कार्य-पद्धति ताजे फल एकत्रण को 'भाण्डारित तिलहन' के रूप मे परिवर्तित करने मे सफल रही है। 'भाण्डारित तिलहन' एक महत्वपूर्ण वाक्यांश है जोकि सिर्फ बडी मात्रा मे तिलहन एकत्रण की ओर ही सकेत न करके ऐसे तिलहन की ओर भी सकेत करता है जो लम्बे समय तक अच्छी हालत मे सुरक्षित रखा जा सकता हो। इसका महत्व इस अर्थ मे है कि भाण्डारित तिलहन अच्छा तेल प्रदान करने मे क्षम्य हो जिसका मतलब यह है कि उनका तेल-तत्व अनकूलतम होना चाहिए और आर्द्रता तथा मुक्त स्नेहाम्ल का क्रानिक अनुपात रासायनिक तौर पर स्वीकृत मात्रा से अधिक नही होना चाहिए।

स्राव-सूचिका : वृक्ष से तेल तक

निम्न स्राव-सूचिका प्रत्येक क्रम पर प्राथमिक उत्पादन और अन्तिम उत्पादन प्रदर्शित करती है
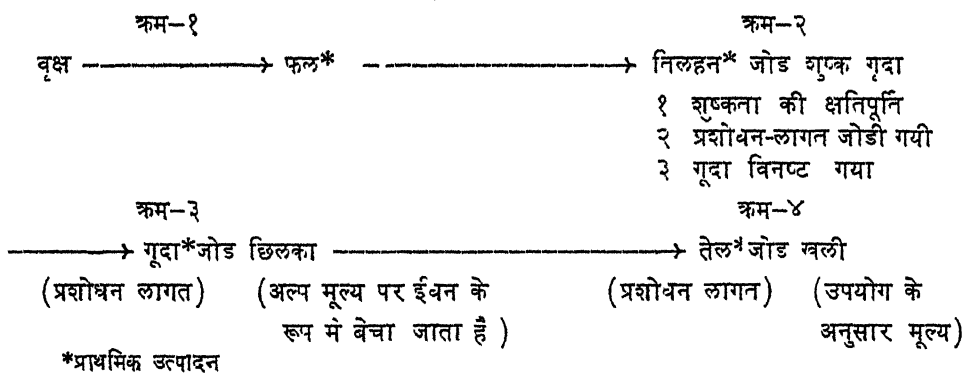
वृक्ष फल देनेवाले प्राथमिक स्रोत है। फल गुच्छों मे रहते है और शाखाओ के अन्त मे मिलते है। पकने पर वे पेड से गिर जाते है और कभी-कभी तेज हवा या आँधी के कारण वे अध पकी अथवा कच्ची स्थिति मे ही गुच्छे से अलग हो कर गिर पडते है। फलो के पकने तथा जमीन पर गिरने मे तीन से चार सप्ताह और कभी-कभी उससे भी अधिक समय लगता है। सीधे-सीधे वृक्षो से ही फलो को प्राप्त करना आदर्शपूर्ण है। किन्तु चूकि कभी-कभी पेड लम्बे होते है और फलो के गुच्छे फुनगियो पर होते है, ऐसी स्थिति मे पेडो पर चढ कर उनको तोडना सभव नही, क्योकि पेड की वे शाखाएँ आदमी का भार वहन नही कर सकती। मध्यम श्रेणी के वृक्षो के लिए हँसिया लगे हुए बासो का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इससे पेडो को क्षति पहुँच सकती है। इसलिए फलों को पेडों से स्वाभाविक तौर पर गिरने पर ही एकत्र करना पडता है। पेड के नीचे की भूमि की सफाई और फलों को हाथ से तोडने से वाह्य अशुद्धियों को खत्म किया जा सकता है, जोकि जमीन से बटोर कर एकत्र करने से नही हो सकता है।

फलों को हाथ से तोडने का अभ्यास करना चाहिए, क्योकि वह आदर्शपूर्ण तरीका है जबकि बटोरने की पद्धति से एकत्रण मे बाहरी चीजों का आना अवश्यम्भावी है। ये बाहरी चीजे–पत्थर, टहनियाँ, फूल–लागत तो बढाती ही है और यदि उन्हे उसी हालत मे कुछ समय तक छोड दिया जाय तो फल पर बुरे प्रभाव भी डालती है। कच्चे फल हवा की वजह से या फल के गुच्छे के

अग के पेड से अलग हो जाने के कारण जमीन पर गिर पडते है। पके फल का रग (पीला) कच्चे फल के रग—जोकि कुछ हरापन लिए हुए होता है—से भिन्न होता है। विभिन्न किस्मो के फलो का निरीक्षण करके कोई भी सूक्ष्म दृष्टि इस भिन्नता को सहज ही पहचान सकती है। व्यापारिक एकत्रण मे उनको अलग-अलग करना कठिन होगा, वह अधिक समय लगानेवाली प्रक्रिया है।

उन फलो के तिलहनो मे जिनके छिलके टूटे-फूटे है, हवा तथा आर्द्रता प्रवेश कर जाती है और गूदे को प्रभावित करती है। गूदा जारित होकर दुर्गन्धित हो जाता है। इसलिए यह सावधानी बरतनी चाहिए कि छिलका टूटे-फूटे नही।

धल से भरे फलो से मालूम होता है कि गूदे मे मिट्टी लगी है और अन्दर का छिलका टूट-फूट सकता है। जब आधी-पानी आता है, तब जमीन पर गिरे हुए फल मिट्टी से भर जाते है। उनको पानी से साफ करके शीघ्र सुखाना चाहिए। किन्तु सबसे अच्छा तरीका है उनका गूदा शीघ्र निकालना। पानी मे फल को भिगोने से ऐसे वाह्य तत्व निकल जाते है जोकि पानी से अधिक वजनदार है, जबकि अन्य तत्व फल के साथ पानी मे तैरते रहते हैं। इनको दूर करने के लिए चलनी का उपयोग किया जा सकता है।

अत इस दिशा मे एकत्रण के समय ही कदम उठाये जाने चाहिए, जिससे स्तरीय एकत्रण सुनिश्चित हो सके। इसके लिए एक विस्तार प्रशिक्षण कार्यक्रम की आवश्यकता है, जोकि धैर्यपूर्ण तथा प्रवीण मार्गदर्शन मे सचालित किया जाना चाहिए। यह क्षेत्र के लोगो से सीधे-सीधे सम्बन्धित समस्याओ के अध्ययन के लिए पर्याप्त सम्भावना प्रदान करता है। यदि कम से कम इतना प्राप्त हो जाय तो अच्छे श्रेणी के फल का एकत्रण बहुत-कुछ सुनिश्चित हो जाय।

गूदा निकालने, सुखाने, छिलका निकालने, ओसाने और तेल निकालने की प्रक्रियाएँ तकनालाजी, कार्य पद्धति, तकनीक, उपकरण, औजार और सबधित लोगो की तकनीकी योग्यता पर निर्भर करती है।

प्रशोधन के दौरान प्राप्त विभिन्न उप-उत्पादनो, जैसे एकत्रित फलो के विभिन्न भाग के उपयोग की सम्भावनाओ की खोज करने की भी काफी गुजाइश है। उदाहरणार्थ, निम्बौरी के बारे मे निम्न स्राव सूचिका कार्य की विभिन्न स्थितियो मे उत्पत्ति व प्रक्रियाए प्रदर्शित करती है
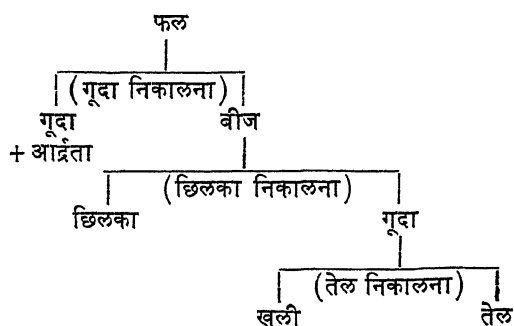
प्रथम स्थिति मे फल से गूदा निकाला जाता है और सुखाया जाता है। यदि फलो से प्राप्त गूदे का कुछ उपयोग हो सके तो फल से गूदा निकालने की लागत पूरी की जा सकती है। जिस हद तक यह किया जा सकता है उस हद तक तिलहन एकत्रण लागत को कम किया जा सकता है। उसी तरह जिस हद तक छिलके, खली और बाद मे उपोत्पादन से आर्थिक अर्घ्य प्राप्त किये जा सकते है उस हद तक तेल—जोकि अन्तिम उत्पादन है—का मूल्य नियत्रित किया जा सकता है।

हर क्रम—गूदा निकालने, छीलने तथा तेल निकालने—मे प्रशोधन लागत कम करनी चाहिए। इस के लिए यत्र तथा उपकरण योग्य होने चाहिए, ताकि कम से कम समय मे अनुकूलतम उत्पादन सुनिश्चित हो सके।

उपकरणो तथा औजारो की सविरचना के साथ-साथ, प्रशोधन के हर क्रम मे अनुकूलतम उत्पादन सुनिश्चित करने के लिए अच्छी तरह उनके इस्तेमाल की योग्यता को सुनिश्चित करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगो को प्रशिक्षण देने की पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। उन्नत उपकरणो, तकनीको तथा कार्य पद्धति शुरू करने के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम लागू करना चाहिए, जिससे कि उनका उपयोग

करनेवाले लोग नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात कर सके। इस प्रसग मे प्रचलित कार्य-पद्धति के अध्ययन और नयी कार्य पद्धति न अपना कर उसमे ही सुधार करने की सम्भावनाओ की खोज के लिए उठाये गये कदम सही प्रयास होगे। इस प्रकार कुछ समय बाद उन्नत तथा नवीनतम उपकरणो व तकनीको को लागू करना सहज होगा। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अखाद्य तेल और साबुन उद्योग निर्देशालय द्वारा गठित तिलहन प्रशोधन पर्यवेक्षण इकाइयाँ इस दिशा मे सही कदम है। ये इकाइयाँ प्रचलित पद्धतियो के बारे मे आधारभूत आकडे प्रदान करने मे सहायक सिद्ध हुई है।

सावधानी बरतने के बावजूद हर क्रम मे उत्पादन मे कुछ अशुद्धियाँ रह जाने की सम्भावनाए है। आदर्श फल या बीज अथवा गूदा की परिभाषा क्षम्य अशुद्धियो के अनुपात के साथ करनी चाहिए। यह इकट्ठे फलो और तिलहनो के ढेर के निर्धारण को सरल बनायेगा। फलो या तिलहनो के स्तर के अनुकूल मूल्य दिये जाने चाहिए। सम्प्रति, सारे देश के लिए समान मान नही है। यह हर क्षेत्र मे भिन्न है, परन्तु एक सामान्य मान निश्चित करना है। तिलहन प्रशोधन पर्यवेक्षण इकाइयो द्वारा एकत्रित आकडे इस दिशा मे उचित मार्गदर्शन दे सकते है।

समाजशास्त्रीय पहलू

मितव्ययी तिलहन एकत्रण की समस्या के अन्य पहलू भी है। अनुकूलतम स्थितिया सुनिश्चित करने के लिए किये गये समस्त प्रयासो–गुणात्मक, परिमाणात्मक तथा तकनालाजीकल–के बाद भी यह निश्चित नही माना जा सकता कि अपेक्षित परिणाम प्राप्त होगे। जब कार्य पद्धति को कार्यरत किया जाता है, तो उसमे सर्वदा पीछे रह जाने का तत्व रहता है, क्योकि समस्त अनुवर्ती क्रिया अन्ततोगत्वा स्थानीय लोगो पर निर्भर करेगी। एकत्रण एवम् प्रशोधन कार्य मे सर्वदा व्यक्तिगत तत्व होता है, जोकि स्थानीय लोगों द्वारा मानक तकनीको की ग्रहणशीलता तथा प्रयुक्तता पर निर्भर करता है। साथ ही यह ध्यान मे रखना चाहिए कि तिलहन एकत्रण प्राकृतिक स्थिति व प्रकृति की अनिश्चितताओ पर निर्भर है, जिन पर सामान्य स्थिति मे नियत्रण रखना कठिन है।

कृषि प्रक्रियाओ के विपरीत, जहाँ किसान अपने को कुछ ज्ञात तत्वों–जैसे उपलब्ध भूमि का विस्तार और उसकी किस्म, जमीन जोतने, बोने और कटाई के समय तक फसल की देखभाल करने की उसकी क्षमता तथा उत्पत्ति का ज्ञान–का भान रहता है। ये अखाद्य तिलहन वृक्ष सर्वत्र बिखरे है और समस्त स्रोतो का एकत्रीकरण तथा उपयोग करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्थान-स्थान तथा पेड-पेड तक जाना पडता है।

कृषि में सहायक

अखाद्य तिलहनो की समस्त अनुमानित सम्पत्ति मे नीम का हिस्सा आधा है। इसे ५ लाख टन ताजे फल मानने से मूल्य करीब तीन करोड रुपये होता है। समस्त अखाद्य तिलहनो से २८ करोड रुपये की कीमत के दो लाख टन अखाद्य तेल प्राप्त हो सकते है। साथ ही कृषि के लिए खाद के रूप मे उपयोग करने लायक ४ लाख टन खली भी मिल सकती है। एक एकड मूगफली की फसल मे अन्दाजन २०० पौड तेल मिलता है। दो लाख टन अखाद्य तेल २२ लाख ४० हजार एकड मूगफली क्षेत्र के बराबर होगा। चार लाख टन खली धान और गन्ने की चार लाख एकड फसल मे खाद का काम दे सकती है।

अत अभी आवश्यकता यह है कि अखाद्य तिलहनो के इस स्रोत का पूर्ण उपयोग किया जाय। निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने मे हमारी असफलता के कारणो का पूर्ण विश्लेषण होना चाहिए। ये मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय या तकनीकी हो सकते है, जैसे असाक्षरता कार्यक्रम के प्रति उदासीनता, पर्य्याप्त आर्थिक आकर्षण का अभाव, वित्तीय कमी और आर्थिक नेतृत्व। इनको युद्ध-तत्परता के स्तर पर चलाना पडेगा। हमारे सगठन की शक्ति हमारी इस तत्परता मे निहित है कि हमारे कार्य मे छोटे से छोटे दोष को अच्छी तरह ठीक किया जाय और हमारी सफलता इस बात पर निर्भर रहेगी कि किस हद तक कार्यक्रम व्याप्त हो गया है।

बम्बई २७ अगस्त १९६१

समृद्धि की दुविधा *

सुभाष चन्द्र सरकार

हजारो वर्ष पूर्व पृथ्वी पर मनुष्य के आगमन से ही उसका जीवन बडा परिश्रमी रहा है, जिसमे उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए निरन्तर सघर्ष और कठोर श्रम करना पडा है। अधिकाश मानविक शक्ति जीवन की अत्यावश्यकताएँ पूरी करने मे लगती थी। बहुतो को कष्टमय जीवन बिताने के लिए मजबूर किये बिना कोई आराम मे नही रह सकना था, क्योकि उपलब्ध रसद सीमित थी और उसे बढाया नही जा सका। जहाँ कुछ लोग धनी थे, वहाँ बहुतो को गरीब होना ही पडता था। कुछ दिनो पूर्व तक सब जगह के लोगो के लिए यह सत्य था। औद्योगिक क्रान्ति ने प्रथम बार उन सम्भाव्यताओ का मार्ग प्रशस्त किया, जिनके जरिये राष्ट्र न सिर्फ अपनी आवश्यकता भर, बल्कि उससे कही ज्यादा उत्पादन कर सके। प्राविधिक विकासो ने गरीबी और असमानता को अनावश्यक बना दिया है। अनेक देशो मे यह सिद्ध किया जा चुका है कि आधुनिक तकनालाजी का उपयोग कर काफी हद तक गरीबी दूर की जा सकती है। इसी प्रकार असमानता भी दूर की जा सकती है, क्योकि अब हर व्यक्ति के लिए पर्याप्त उत्पादन करना सम्भव है।

गरीब-अमीर का अन्तर जारी

दुर्भाग्यवश ये सम्भावनाएँ विश्वव्यापी रूप से कार्य रूप मे परिणत नही की गयी है। अभी भी बहुत बडी आबादी घोर गरीबी मे रहती है और ससार के सर्वाधिक समृद्ध देश से भी असमानता समाप्त नही हुई है। सर्वाधिक समृद्ध देशो मे गरीबी का भौगोलिक वितरण तथा असमानता का रूप बहुत ही महत्वपूर्ण है। विश्व की करीब आधी आबादी विश्व की कुल आय का १६ प्रति शत ही प्राप्त करती है, दूसरी ओर सिर्फ १५ २ प्रति शत लोग ही विश्व की कुल आय का ४५ प्रति शत प्राप्त करते है (सिर्फ ७ ७ प्रति शत आबादी कुल आय का २८ प्रति शत प्राप्त कर लेती है)। जैसे कि यह अवस्था अधिक खराब नही है, गरीब देशो मे धनी देशो की अपेक्षा धीमी गति से प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि हो रही है, जिससे गरीब और धनी देशो का अन्तर निरन्तर बढता जा रहा है। अनेक देशो मे राष्ट्रीय रूप से भी विभिन्न आय वर्गो के बीच के बडे अन्तर की यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति धीरे-धीरे स्पष्ट हो गयी है। इसलिए, प्राविधिक सभाव्यताओ के बावजूद राष्ट्रीय दायरे मे भी समृद्धि उतनी ही अपवाद स्वरूप रह गयी है, जितनी कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे।

यह एक असाधारण स्थिति है, और मानव के सुखी भविष्य के लिए इसमे शीघ्र सुधार करना ही चाहिए। इस समस्या के दो पहलू है—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय। प्रत्येक राष्ट्र मे सर्व साधारण जनता का जीवन-स्तर उन्नत करने और असमानता कम करने का हर प्रयास किया जाना चाहिए। विश्व की वर्तमान स्थिति मे, जबकि देशो को विश्वव्यापी प्रतियोगिता करनी पडती है, यह उद्देश्य प्राप्त करना बहरहाल किसी भी तरह सहज नही है। कई राष्ट्र आधुनिक तकनालाजी को जन-सेवा मे प्रयुक्त करना बहुत ही मुश्किल पाते है। प्रथम, इसलिए कि उन्हे तकनीकी ज्ञान नही है और न वे साधन है जिनसे कि यह ज्ञान खरीद सके, जोकि अधिक माग होने के कारण

---

* अमेरिका एण्ड दि वर्ल्ड रिवोल्यूशन, लेखक आर्नाल्ड टायनबी, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लदन, १९६२, पृष्ठ ११७, मूल्य १२ शिलिंग ६ पेंस।

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे जितने मे बिकना चाहिए था, उससे कही अधिक महँगा है, और द्वितीय, न सिर्फ विकसित और अल्प विकसित देशो के बीच, बल्कि अल्प विकसित देशो के बीच आपस मे भी, दिन प्रति दिन प्रतियोगिता कडी होती जा रही है, जिसका अल्प विकसित देशो की विकास क्षमता पर असर पड रहा है। दूसरी बात को और स्पष्ट करने के लिए भारत-चीन के सघर्ष का उदाहरण लीजिए, जिसने निश्चय ही भारत के विकास की गति पर असर डाला है और उसी तरह चीन-रूस सघर्ष ने चीन की प्रगति पर। इससे समस्या के दूसरे पहलू की ओर ध्यान जाता है, जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय सहकार की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। अधिक समृद्ध राष्ट्र कई तरह से लाभदायक योगदान दे सकते है। आधुनिक विश्व मे दो बडे राष्ट्र है—अमेरिका और रूस। केवल पश्चिमी शक्तियो और रूस द्वारा ही नि शस्त्रीकरण से विश्व कल्याण के लिए वृहत राशि और ऊर्जा प्रसारित हो सकती है, यह "धनी राष्ट्रो को उनके वर्तमान भय और गरीब राष्ट्रो को उनकी वर्तमान कमिया से छुटकारा दिलायेगा।" (पृष्ठ ७१)

प्रचुरता के जरिये पृथकत्व

सन् १९६१ के बसत मे पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय मे दिये गये अपने तीन सार्वजनिक-व्याख्यानो मे डा आर्नोल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) ने, जोकि उक्त पुस्तक मे प्रकाशित किये गये है, अमेरिका के कर्तव्य पर प्रकाश डाला है, जिसके पास इस आधुनिक विश्व मे बहुत बडी उत्पादक शक्ति है। अमेरिका ने समकालीन विश्व में अपनी जिम्मेदारियो को कहाँ तक आका है और कहाँ तक पूरा किया है ? डा टायनबी कहते है कि अमेरिका ने अपनी जिम्मेदारियाँ नही निभायी है। यद्यपि अमेरिका के स्वातत्र्य युद्ध ने विश्व भर मे दिलचस्पी जगायी थी, अब वह जबकि धनी हो गया है इस क्रान्ति युग मे ससार भर से मिले प्रत्युत्तर के प्रति उत्साही नही है, जिसने कि सर्वत्र गरीब किसानो के दिल मे हलचल मचा दी थी। डा टायनबी के शब्दो मे अमेरिका "अल्प-सख्यको मे शामिल हो गया है" और "अब बढती हुई क्रान्तिकारी शक्तियो, जिनका उसने खुद ही निर्माण किया था, के विरुद्ध उसने जो धन सचय किया है उसकी रक्षा के लिए वह अपने को बाध्य पाता है।" (पृष्ठ १८)

मांग सीमित करना आवश्यक

यह पृथकत्व धन के कारण हुआ है। (यह जातिवाद के कारण भी हो सकता है। डाक्टर टायनबी ने बताया है कि एक भारतीय हिन्दू ब्राह्मण प्राध्यापक उनके साथ भोजन करने मे बचता था, क्योकि वे ईसाई थे।) सन् १९२४ तक अमेरिका ने देशान्तरवास कानून बना कर, जिसने कि यूरोपवासियो के (एशियावासियो को अमेरिका मे बसने की इजाजत तो कभी थी ही नही) देशान्तरवास पर भी प्रतिबध लगा दिया। "यह स्वय पृथक्करण, इस बात का भान होने का कि 'वह धनी हो गया है तथा फिर अपने इस नये कल्याण की रक्षा करने के लिए कदम उठा रहा है' का अनिवार्य दड है।" (पृष्ठ २४–२५) फिर भी, इस समृद्धि का रूप क्या है ? आज अमेरिका मे जितनी खपत होती है वह लोगो की सही व्यक्तिगत आवश्यकता से कही ज्यादा है। ("हमारी मागे तब भी हमारी जरूरतो मे बहुत अधिक है, जबकि वे विज्ञापन माध्यमो के कृत्रिम प्रोत्साहन से प्रभावित नही है।") (पृष्ठ ६९) और, वृहत उत्पादन शक्तियो को बनाये रखने के लिए, जोकि सामान्य कल्याण के लिए आवश्यकताओ का उत्पादन करने के लिए स्वाभाविक मार्ग नही खोज सकी तथा जोकि कम आवश्यक सामग्रियो के उत्पादन मे लग गयी है, मागो को विज्ञापन उद्योग के जरिये कई गुना अधिक बढा-चढा दिया गया है। डा टायनबी लिखते है, "अमेरिका मे सही माग और वास्तविक खपत के बीच कितना अन्तर है, उसकी प्राप्ति माग निर्माण उद्योग के पैमाने से होती है, जोकि मैडिसन एवेन्यू मे (जहाँ प्रमुख विज्ञापन कार्यालय स्थित है) चलता है।" (पृष्ठ ५६) इसका परिणाम सुखद नही हुआ है।

निरन्तर बढती माग को कुछ सीमित करना आवश्यक

हो गया है। डा टायनबी चेतावनी देते है, "अमेरिकी जीवन मार्ग 'जॉच' करने की अवस्था पर आ पहुँचा है" (पृष्ठ ६७), क्योकि वह मनुष्य के सही लक्ष्य, जोकि आध्यात्मिक उद्देश्यो की प्राप्ति है, की प्राप्ति मे मदद नही देता। जबकि मनुष्य का अस्तित्व आवश्यकताओ की पूर्ति पर निर्भर करता है, उन मागो की पूर्ति की कोशिश करना–जोकि प्राथमिक आवश्यकताएँ नही है–जीवन का मुख्य लक्ष्य नही बनाया जा सकता। आध्यात्मवाद ही मनुष्य को मानवीय बनाता है। ससार से गरीबी दूर करने की सम्भावनाओ ने इन आध्यात्मिक क्षमताओ को–मूल आवश्यकताओ की पूर्ति पहले से बहुत ही सहज बना कर–प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। भूखे मर रहे लोगो को जब अन्न दिया जाता है, तो वे अत्याहारी हो सकते है, परन्तु अत्याहारी होना स्वास्थ्यकर नही है।

प्रचुरता प्राप्त करने मे सर्व प्रथम, अमेरिकी यदि पहली पीढी मे अपने को उपभोक्ता सामग्रियो मे ही बाहुल्यता की ओर प्रवृत्त करते तो यह समझना कठिन नही है। परन्तु अत्याहारी होने की तरह यह लिप्सा भी स्वास्थ्यकर नही है और इसलिए वाछनीय भी नही है, आगे चल कर इससे विवेकशीलता आने ही वाली है। डा टायनबी कहते है, "पश्चिमी देशो की भावी पीढियॉ पश्चिमी इतिहास के इस अश पर आश्चर्य और अरुचि से गौर करेगी।" (पृष्ठ ७६)

ससार के सबसे बडे जीवित इतिहासकार के विश्लेषण पर पूर्ण गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। डा टायनबी अमेरिकी श्रोताओं के बीच भाषण कर रहे थे, इसलिए उन्होने अमेरिका के ही उदाहरण दिये। लेकिन हर राष्ट्र को यह विश्लेषण अपने क्षेत्र मे प्रयुक्त करना ही चाहिए, ताकि वह अपनी गलतिया सुधार सके। अत्याहारी होने से, भले ही अमेरिकी हो अथवा भारतीय, सभी जगह एक समान बुरे परिणाम निकलनेवाले है। यह समझना सबसे बडी गलती होगी कि कम उन्नत राष्ट्रो को प्रमुख खपत के विषय मे चिंता नही करनी चाहिए। हम भारतवासी यह जानते है कि घोर गरीबी होने के बावजूद दिखावटी खर्च एक दुर्गुण बन चुका है। अमेरिकी सिर्फ अपने ही प्रयासो से अत्याहार और असमानता को दूर नही कर सकते, उन्हे अन्य राष्ट्रो की मदद भी लेनी ही होगी। इस सम्बन्ध मे एक बहुत बडी जिम्मेदारी कम समृद्ध राष्ट्रो पर है। एक प्रकार से अमेरिकी जीवन (जिसे डा टायनबी विलासी जीवन कहते है) की विलासिता से बहुत दूर रहने के कारण अल्प विकसित राष्ट्रो के लोग अच्छी स्थिति मे है, क्योकि वे उस अनुभव से सीख सकते है और विज्ञापन के जरिये निर्मित कृत्रिम मागवाले समाज के दोषो से बच सकते है। सतुष्टि का दर्शन हम भारतीयो के लिए–जिन्हे शताब्दियो से ऋषि-मुनियो और दार्शनिको के ज्ञान-सदेश प्राप्त है—एक लम्बे अरसे से जीवन-मार्ग का एक अग बना हुआ है। हॉ, व्यवहार मे कुछ समय से इस पोषित आचरण के प्रति कुछ विमुखता दिखायी पड रही है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे परिपूर्ण रूप से व्यवहार मे लाना सुनिश्चित करने हेतु ठोस कदम उठाये जाय।

बम्बई २ सितम्बर १९६२

हम अपने पाठको और लेखको के प्रति आभारी है, जिन्होंने खादी ग्रामोद्योग के प्रस्तुत वार्षिकाक के लिए हमारे आग्रह का आदर कर लेख भेजने की कृपा की। खेद है कि स्थानाभाव के कारण हम सभी लेख इस वार्षिकाक मे प्रकाशित करने मे असमर्थ रहे है। हम आशा करते है कि खादी ग्रामोद्योग के आगामी अंको मे हम उन्हे प्रकाशित कर सकेगे।

—सम्पादक
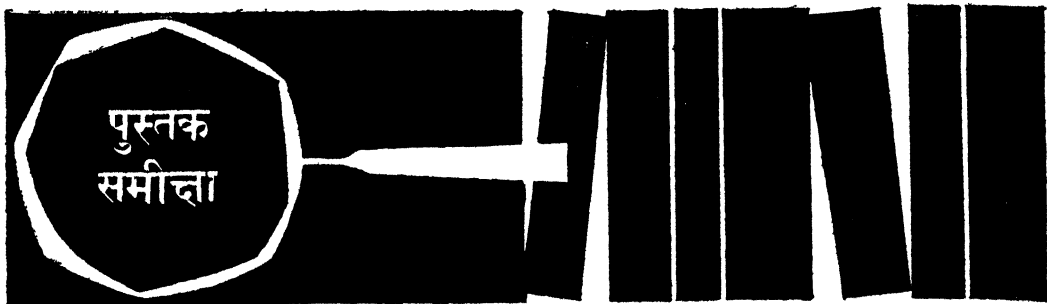
एस्पेक्ट्स ऑफ इकनॉमिक चेन्ज एण्ड पॉलिसी इन इण्डिया : *१८००–१९६०*, लेखक वी बी भट्ट, एलाइड पब्लीशर्स प्रायवेट लिमिटेड, बम्बई, १९६३, पृष्ठ १२+१८०, मूल्य १०.५० रुपये।

इस वर्ष के प्रारम्भ में डा भट्ट द्वारा बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय में दिये गये तीन व्याख्यान, जोकि इस पुस्तक का सार है–विशेष कर ऐतिहासिक अश का–काफी रुचिकर पाठ हैं। यद्यपि वे किसी प्रकार का आश्चर्यजनक रहस्योद्घाटन नही करते, तथापि गत १५० वर्षों में देश मे आर्थिक नीति एवम् विकास के ऐतिहासिक अनुभव का अकाट्य साराश अवश्य पेश करते हैं। और, यह ज्ञान केवल शास्त्रीय रुचि का ही विषय नही है। विकास की प्रक्रिया को उपयुक्त दृष्टिकोण से देखने तथा वर्तमान नीतियों एवम् प्रवृत्तियों का बुद्धिमत्तापूर्ण मूल्याकन करने की अभिलाषा रखनेवाले व्यक्ति के लिए इतिहास का ज्ञान जहाँ तक उसके द्वारा विकास की गति को नियन्त्रित करनेवाली दीर्घ कालीन अनिवार्यताओं व परिसीमाओं का उद्घाटन होता है वहाँ तक आवश्यक है। डा भट्ट ने यह सुझाव देने के लिए पर्याप्त तथ्य एकत्र किये है कि "स्वतन्त्रता-पूर्व के गत १५० वर्षों मे प्रति व्यक्ति आय मे होनेवाले परिवर्तनों के अनेक लक्षणो एवम् अनुमानों के मापन से जाहिर होता है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था आर्थिक गतिहीनता अथवा हो सकता है आर्थिक अवनति के दौर से गुजर रही थी।" (पृष्ठ २८) लेखक द्वारा पुस्तक में उल्लिखित सन्दर्भ-स्रोतों से ज्ञात होता है कि साम्राज्य के दिनो मे अधिक विचारवान अग्रेजों मे से भी कई अवनति की इस प्रक्रिया से भिज्ञ थे। विलियम विल्सन हण्टर ने १८८० मे कहा था, "हस्त लिखित दस्तावेजों से प्राप्त तथ्यों से वर्तमान ग्रामीण भारत की तुलना करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य हो गया हू कि भारत में आज जीवन उस समय की अपेक्षा अधिक कष्टमय हो गया है, जब यह देश हमारे हाथों मे आया था। सन् १९५१ के पूर्व की लगभग एक शताब्दी में भारतीयों के परम्परागत पेशे की अपरिवर्तनीयता में गतिहीनता की झलक मिलती है।

लेखक ने भारतीयों तथा अग्रेजों के अकाट्य प्रमाणों के आधार पर भारत में ब्रिटिश नीति पर गभीर आरोप लगाया है। ऐसा अनुमान है कि १७५७ से १९३९ तक के काल मे भारत की राष्ट्रीय आय का २ से ३ प्रतिशत भाग अनेक प्रकार के भुगतानों के रूप में इग्लैण्ड जाता था और उसके बदले भारत को कुछ भी नही मिलता था। सामान्य अपवादों को छोड कर उस वक्त की सरकार की नीति भारतीय उद्योगों के विकास में यदि पूर्णत विरोधी नही, तो अवरोधक अवश्य रही है। विदेशी पूजी देश के अर्थतन्त्र के विकास में सहायक होने के बजाय बाधक ही रही है। लेखक महोदय ठीक ही इस परिणाम पर पहुँचे है कि "भारत में आर्थिक गतिहीनता की व्यापक व्याख्या यह हो सकती है कि राज्य अपनी उचित भूमिका निभाने में असफल रहा।" (पृष्ठ ५८)

योजनाबद्ध विकास के दशक पर लिखते हुए डा भट्ट ठीक ही कहते है कि "आर्थिक विकास एवम् सामाजिक-राजनीतिक स्थायित्व के लिए, प्राप्य अतिरिक्त जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग अवश्य होना चाहिए।" (पृष्ठ १०१)

जन-शक्ति के प्रभावशाली उपयोग के बारे मे डा भट्ट कहते है कि इसके लिए "किसी तरह के प्रशासनिक तत्र की आवश्यकता होगी" (पृष्ठ १०३), जिसे अतिरिक्त जन-शक्ति को उत्पादक कामो के निमित्त सगठित करने का उत्तरदायित्व लेना पडेगा। उनका विश्वास है कि पचायत राज सस्थाएँ सतोषजनक रूप से ऐसा कर सकती है।

—सुभाष चन्द्र सरकार

*   *   *

एक्शन रिसर्च एण्ड इट्स इम्पॉर्टेन्स इन एन अण्डर-डेवलप्ड इकनॉमी**.** प्लानिग रिसर्च एण्ड एक्शन इन्स्टीटयूट, योजना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, १९६३, पृष्ठ ७४, मूल्य का उल्लेख नही।

'कृति-शोध' (एक्शन रिसर्च) का तात्पर्य है मौलिक तथा प्रयुक्त शोध के परिणामो को बुद्धिमत्तापूर्वक आर्थिक तथा सामाजिक विकास के क्षेत्र मे विस्तृत करना। यह वैज्ञानिक ज्ञान का जीवन की वास्तविक परिस्थितियो के साथ समन्वय करना है यानी उक्त ज्ञान को प्रस्तुत परिस्थितियो के अनुरूप बनाना तथा उसमे सशोधन करना। इस अर्थ मे उक्त 'कृति शोध' पर कोई आपत्ति नही हो सकती, जोकि लोगो द्वारा शोध परिणामो के अपनाने अथवा अस्वीकार करने की अभिप्रेरणा तथा आचरण मे बहुत बहुमूल्य जानकारी प्रदान कर सकती है। तथापि, भारत की सस्कृति, जलवायु तथा अर्थ-व्यवस्था की विभिन्नता की स्थिति ही 'कृति शोध' की (जो विशिष्ट परिस्थितियो का हल प्राप्त करने का उद्देश्य रखती है) उपयोगिता अति वाछनीय होते हुए भी भारत जैसे देश के लिए न्यून कर देती है, क्योकि जो हल एक प्रकार की परिस्थितियो मे उपयोगी है, शायद वह भिन्न परिस्थितियो मे सतोषजनक परिणाम न दे। 'कृति शोध' को उपयोगी क्रियाशीलता की मान्यता देने के पूर्व यह निश्चय करना आवश्यक है कि उसके परिणामो को बिना अनावश्यक लागत के व्यवहार मे लाया जा सके। यह स्पष्ट है कि इस तरह का आश्वासन सरलतापूर्वक नही दिया जा सकता और इससे देश मे इस प्रकार की शोध का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है। यह उद्देश्य सुनिश्चित करने का एक उपाय यह है कि यथा सभव विस्तृत क्षेत्रो मे 'कृति शोध' केन्द्र कायम किये जायें। उत्तर प्रदेश की जन सहयोग मूल्याकन समिति ने भी यह माना है, पर अन्ततोगत्वा वही साधन-स्रोतो की उपलब्धि का प्रश्न आ खडा होता है।

सन् १९५४ मे उत्तर प्रदेश सरकार के योजना विभाग के अन्तर्गत लखनऊ मे 'दि प्लानिग रिसर्च एण्ड एक्शन इन्स्टीटयूट' का प्रारम्भ निम्न लिखित समस्याओ पर शोध करने के लिए हुआ (१) जन-दृष्टिकोण, (२) पचायत, सहकारी समिति तथा विद्यालयो जैसी ग्राम्य सस्थाएँ, (३) कुटीर तथा लघु स्तरीय उद्योग, (४) सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाई, (५) भू-रक्षण तथा भू-उपादेयकरण सहित कृषि, (६) पशुपालन, (७) लघु सिचाई, (८) ग्रामीण आवास, (९) युवक, महिला तथा शिशु-कल्याण, और (१०) परिवार नियोजन। भारत मे इस प्रकार का यह प्रथम सस्थान है।

लखनऊ स्थित 'प्लानिग रिसर्च एण्ड एक्शन इन्स्टीटयूट' के निर्देशक डा राम दास ने क्षेत्र मे बहुत महत्वपूर्ण काम किया है। उन्होने इस रचना मे 'कृति शोध' के सिद्धात व व्यवहार की व्याख्या की है तथा गत वर्षो मे सस्था द्वारा किये गये कार्य का सक्षेप मे वर्णन किया भी है।

—सु च स

*   *   *

इकनॉमिक अफेयर्स (एक अर्थशास्त्र विषयक मासिक), योजना अक, वर्ष ८, अक ७ और ८ (जुलाई-अगस्त १९६३), सम्पादक हिमाम्रर राय, ५१।१डी, राजा दिनेन्द्र स्ट्रीट, कलकत्ता—६, पृष्ठ ८२, मूल्य १ ५० रुपया। (वार्षिक शुल्क १० रुपये)।

विशुद्ध अर्थशास्त्र से सम्बन्धित मासिक पत्रिकाओ मे 'दि इकनॉमिक अफेयर्स' विशेष उल्लेखनीय है। इसकी उपयोगिता तथा मूल्य तो इसी तथ्य से सिद्ध होता है कि अब इसका आठवॉ वर्ष चल रहा है। विशुद्ध अर्थशास्त्रीय पत्रिका प्रकाशित करने

मे आनेवाली कठिनाइयो पर काबू पाना कोई आसान काम नही है और सम्पादक महोदय–जिन्होने इन वर्षो मे पत्रिका चलायी है–प्रशसा के पात्र है। ऐसी पत्रिकाओ के सम्पादको के समक्ष सबसे बडी कठिनाई होती है, उक्त विषय पर प्रकाशित करने योग्य लेखो का अभाव। श्री राय ने अपने अथक प्रयास से देश भर के ऐसे लेखको की रचनाएं प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त की है, जो इस विषय मे सैद्धान्तिक रुचि–ज्ञान और समझ बढाने के लिए–रखते है।

प्रस्तुत योजना अक मे उदीयमान अर्थशास्त्रियो की रचनाएं सगृहीत है।

–सु च स

* * *

कोऑपरेटिव पालिसीं एण्ड प्रोग्रैम्स : नेशनल कोऑपरेटिव यूनियन ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली, १९६३, पृष्ठ १८९, मूल्य का उल्लेख नही।

यह केन्द्रीय सामुदायिक विकास, पचायती राज और सहकार मत्रालय के सहकारी विभाग द्वारा राज्य सरकारो के सहकारिता विभागो के सचिवो को प्रेषित सहकारी नीति तथा कार्यक्रम सम्बन्धी महत्वपूर्ण पत्रो का सग्रह है। पत्र कई परिच्छेदो मे सकलित कर प्रत्येक परिच्छेद मे कालक्रम से समाविष्ट किये गये है।

ग्रामीण समितियो के गठन के पीछे कल्पना यह थी कि वे मुख्यत अल्प कालिक तथा मध्य कालिक ऋण, कृषि विषयक तथा अन्य प्रकार की उत्पादन आवश्यकताओ की पूर्ति और कृषि उत्पादनो की बिक्री की व्यवस्था करेगी। ऐसे सगठन के लिए अनुपयुक्त छोटे गाँवो को छोड कर समस्त गाँवो मे सहकारी समितियाँ बनाने की योजना थी। सहकारी समितियॉ आवश्यक रूप से ही व्यापारिक सगठन होने के कारण उन्हे ग्राम पचायतो, जोकि लगान के स्रोत मे युक्त तथा कर लगाने की शक्ति से सम्पन्न प्रशासनात्मक सगठन है, से अलग रखा जाना था। सहकारिता की स्वयभू प्रकृति, उसमे अधिक से अधिक गैर सरकारी व्यक्तियो का सहयोग प्राप्त करने तथा सहकारी विधि एवम् कार्य पद्धति मे सरलता लाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया था।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। जैसा कि श्री ब्रह्म प्रकाश ने पुस्तक की भूमिका मे उल्लेख किया है कि सहकारिता प्रसार मे अनेक कार्यकर्त्ताओ– जिन पर कार्यक्रम को लागू करने का बडा उत्तरदायित्व है– को भारत सरकार द्वारा प्रवर्तित सहकारी विकास कार्यक्रमो व नीति-विषयक निर्णयो की विस्तृत जानकारी नही है। इस सम्बन्ध मे उक्त पुस्तक बहुत सहायक सिद्ध होगी।

–सुभाष चन्द्र सरकार

* * *

कोऑपरेशन ॲज ए रेमेडी फॉर रूरल पावर्टी : एम नुरूल हक, ईस्ट पाकिस्तान कोऑपरेटिव यूनियन लिमिटेड, ढाका–२, १९६३, पृष्ठ ३९, मूल्य १ २५ रुपया।

यह रिक्शा-चालको की एक सहकारी समिति (दि काशीनाथपुर बलरामपुर दीदर श्रमिक समवाय समिति लि) का यथा तथ्य अध्ययन है, जो १९६० के प्रारम्भिक काल मे कोमिला स्थित ग्रामीण विकास के लिए पाकिस्तान अकादमी के तत्वावधान मे सगठित की गयी थी। लेखक के अनुसार सहकारी समिति बहुत सफल रही। किन्तु अप्रभावकारी लेखनी से पाठको के समक्ष उसका पूर्ण स्पष्टीकरण नही होता है।

–सु च स

सम्पादक . सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई–३४। वार्षिक शुल्क २ ५० रुपये, एक प्रति २५ नये पैसे। इस अक के दो रुपये।

A monthly devoted to discussion on rural economics, sociology and development

VOLUME TEN OCTOBER 1963 NUMBER ONE

(*Continued on next page*)

Editor S C Sarker Published and printed by him from *Gramodaya*, Irla, Bombay-56 Brought out by the Khadi and Village Industries Commission, *Khadigramodyog* is a non-profit-making journal devoted to discussion on rural economics, sociology and development The editor would be glad to consider articles on these and allied topics, written from an objective angle Accepted contributions will be paid for Manuscripts of articles, books for reviews, etc , should be addressed to the editor, *Khadigramodyog, Gramodaya*, Irla, Vile Parle (West), Bombay-56 Telephone No 86773

Opinions expressed in articles published in this journal do not, unless specifically indicated, necessarily reflect the views of the Khadi and Village Industries Commission or of the editor

Annual subscription Rs 2 50 Single Copy Re 0 25 This issue Rs 2 Remittance of subscription should be sent to the Asstt Accounts Officer (Cash), Khadi and Village Industries Commission, *Gramodaya*, Irla Road, Vile Parle (West), Bombay-56

CONTENTS (*Continued*)

Our Contributors:

UCHHRANGRAI NAVALSHANKER DHEBAR	—	*Chairman, Khadi and Village Industries Commission*
VAIKUNTH LALLUBHAI MEHTA	—	*Member, Khadi and Village Industries Board*
MORARJI RANCHHODJI DESAI	—	*former Finance Minister, Government of India, Member of Parliament*
KANDASWAMY ARUNACHALAM	—	*Vice-Chairman, Khadi and Village Industries Commission*
TRIBHUVAN NARAYAN SINGH	—	*Member, Planning Commission*
BRAHMADEV MUKERJI	—	*Managing Director, State Bank of India, Bombay*
ARUN CHANDRA GUHA	—	*Member of Parliament, Chairman of Estimates Committee of Lok Sabha*
DHWAJA PRASAD SAHU	—	*Member, Khadi and Village Industries Commission*
RAMKRISHNARAO KRISHNARAO PATIL	—	*Member, Khadi and Village Industries Board*
JHAVERBHAI PURUSHOTTAM-BHAI PATEL	—	*Member, Khadi and Village Industries Board*
SHANKARLAL GHELABHAI BANKER	—	*veteran constructive worker*
JOSEPH DURAI SUNDRAM	—	*former Director of Economic Research, Khadi and Village Industries Commission, at present Secretary, Indian Institute of Bankers, Bombay*

(Continued on next page)

OUR CONTRIBUTORS—(*Continued*)

BHAGWANT NAGESH DATAR	—	*Chief (Labour and Employment), Planning Commission, Government of India, New Delhi*
AMRITALAL DATTA	—	*Assistant Director (Research), Tariff Commission, Bombay*
BEHRAM HORMASJI MEHTA	—	*Professor of Research, Tata Institute of Social Sciences, Director, Gondwana Centre, Integrated Programmes of Social Services and Education for Tribal Welfare*
ABDUR RAHIM KHAN	—	*Head of Division of Agricultural Extension, Indian Agricultural Research Institute, New Delhi*
SISIR KUMAR BARAT	—	*Assistant Director, Central Leather Research Institute, Madras, Member, Leather Advisory Committee of Khadi and Village Industries Commission*
CHITTAPRIYA MUKHERJEE	—	*Lecturer in Cooperation, Rural Higher Institute, Sriniketan*
MANJESHWAR SADASHIVA RAO	—	*Director, Rural Engineering Branch, Khadi and Village Industries Commission*
GAURI SHANKAR RAYCHAUDHURI	—	*Lecturer in Economics, University of Delhi*
SRIPATI SHRIDEVI	—	*Principal, University College for Women, Hyderabad*
MEERA GUHA	—	*Lecturer in Geography, Calcutta University, Calcutta*
PULLE VISHWANATHA SHRIKANTA RAO	—	*Director, Non-Edible Oils and Soap Industry, Khadi and Village Industries Commission*
SUBHASH CHANDRA SARKER	—	*Editor of "Khadi Gramodyog" and "Jagriti" published by Khadi and Village Industries Commission*

THE TENTH YEAR

Khadigramodyog *enters the tenth year of its march with this issue The journal was started a little over a year and a half after the All India Khadi and Village Industries Board had been set up by the Government of India with a view to organizing the scattered artisans engaged in the traditional industries in the villages and helping them to improve their lot through technical training and financial and other types of assistance Invariably it takes some time for a new body to set up its organisation, especially so when the organisation has an all-India interest In a sense, therefore, the tenth anniversary of the journal can be considered to be the tenth anniversary of systematic efforts to promote khadi and village industries*

The past decade has been momentous for the nation's development It has been marked by political and economic consolidation and integration and planned measures for the economic and social well-being of the population This was also the period when deliberate steps were taken to associate rural population with the processes of decision-making through the introduction of the panchayati raj The dominating trend of the decade was the emphasis on planning

The assessment of the achievements in the field of khadi and village industries has to be made in the context of the general progress of the economy Despite the efforts made the general picture has been one of relatively slow pace of change and development in the rural sector of the economy Agriculture has not yielded any marked response to efforts to raise productivity and production Since the bulk of the rural population, as is true of the population in general, is dependent on agriculture, the slack growth of agriculture is bound to find reflection in other fields of village enterprise

The failure of agriculture to catch up with the process of development generally reflects the difficulties with which the decentralized sector of the economy has to contend The programme of khadi and village industries has been spread over a lakh of villages Ten years ago only about ten thousand villages had been covered The production of khadi (including silk, woollen and ambar) rose from 115 63 *lakh square yards in* 1953-54 *to* 762 02 *lakh square yards in* 1961-62, *registering a rise of more than* 559 *per cent Employment in khadi went up from* 3 79 *lakh persons in* 1953-54 *to* 17 46 *lakh persons in* 1961-62*—a rise of more than* 360 *per cent The progress in the field of other village industries has also been remarkable In* 1961-62 *khadi and other village industries provided employment to* 23 6 *lakh persons of whom* 74 *per cent were employed in the khadi sector Likewise, sales of khadi registered a fourteen-fold rise during the nine year period Assistance was provided for the training of over half a million persons*

There is no doubt that the wages that a person can earn on khadi and the traditional village industries are very low and compare unfavourably with those in many other sectors of employment But the important point to note is that there is no obligation on the part of anybody who can find better employment to take to these industries Gandhiji

had categorically stated, "Handspinning does not, it is not intended that it should, compete with, in order to displace, any existing type of industry, it does not aim at withdrawing a single able-bodied person, who can otherwise find a remunerative occupation from his work" There has been no departure from this Gandhian stand The economic reality found eloquent reflection in the statement made by the Union Minister for Planning on 26 August, 1963 wherein it was disclosed that the poorest ten per cent of the population had a monthly per capita expenditure of eight rupees in the rural areas and ten rupees in the urban areas, that is, a daily per capita expenditure of 4 3 annas (a little over 27 naye paise) in the rural areas and thirty-three naye paise in the urban areas According to that statement in the rural areas seventy per cent of the population could spend only less than fifty naye paise per day And more than eighty per cent of the population live in villages In other words, 25 19 crores of people do not have as much as even fifty naye paise per day per head to spend According to the eleventh round of the National Sample Survey the per capita monthly expenditure of the rural population was Rs 16 97—or just a little over 56 naye paise per day There was however considerable regional variation from Rs 14 91 in Central India to Rs 21 75 in Northwest India Similar variation was observable in the case of urban incomes as well

The statistics quoted by the Union Minister for Planning related to the period from September 1961 to July 1962, when the seventeenth round of the National Sample Survey was conducted It may be recalled that the data on per capita incomes obtained during the ninth round of the Survey conducted in 1955 had indicated that 20 crores of people in the rural areas had a per capita income of Rs 175 per year, that is less than fifty naye paise per day The number of people in this low income group has thus risen by over five crores between 1955 and 1962 This cannot be considered to be a sign of economic progress In other words, if employment opportunities can be created which would enable people to earn more than eight annas per day per head, the effort would be quite worthwhile Judged in this manner the relevance of khadi and village industries will be properly realized The Khadi and Village Industries Commission is not, contrary to the impression given by the critics, unmindful of the need to help raise the income of spinners who are among the lowest income group The Commission has taken a decision to introduce a model of charkha which would yield a daily per capita income of one rupee The model will be introduced as soon as it is perfected

Questions are often raised about the impact of the programme on the national economy The allocation for khadi and village industries during the first plan period amounted to Rs 14 82 crores which worked out at 0 44 per cent of the total plan provision A sum of Rs 84 crores (1 24 per cent of the total plan allocation) was allotted for khadi and village industries in the Second Plan The allocation for khadi and village industries of Rs 92 4 crores during the Third Plan works out at 0 78 per cent of the total allocation In other words, out of a total allocation of Rs 21,910 crores, in the three plans, only Rs 191 22 crores or about 0 87 per cent was allotted for the development of khadi and village industries A programme with an outlay of less than one per cent of the total planned outlay can hardly be expected to make a mark nationally There are particular areas in the country where the impact of the pro-

gramme can be properly studied Again the permanence of the beneficial impact of the programme is dependent on the formulation and implementation of broader national policies Even areas where the programme has been satisfactorily implemented can be disrupted by the introduction of mechanized units or by a change in policy The recent decision to divert sugarcane to the production of sugar threatens the producers of gur

The very nature of the programme of khadi and village industries puts an obligation on the Khadi and Village Industries Commission to deal with the relatively backward section of the village community, the members of which are economically weaker too The various problems involved in administering the programme—making finances available to the needy section without affecting the security of the money thus advanced, making proper equipment available, providing facilities for repairing of equipment, training village artisans, inducing them to use equipments with which they may not be familiar, supervising production, arranging for marketing of products which have to be collected from villages not always situated in contiguous areas, and so on—would, on contemplation, appear in their true dimension and complexity which were enough to baffle the best initiative and intentions The problems do not admit of any easy solution and many other agencies, besides the Khadi and Village Industries Commission have been trying their hands at them with no more remarkable success Moreover it is to be noted that largely the Commission does not itself implement the programme The implementation is made by the State Khadi and Village Industries Boards, cooperative societies and organisations registered under the Societies Registration Act The principal functions of the Commission are to provide financial assistance, technical guidance, and facilities for training of workers of societies and artisans The extent to which the societies will succeed in their working depends on a number of other factors such as entrepreneurial and managerial ability the organisations can command, the skill with which they can face the fluctuations of the market in procuring raw materials and selling their products

As has already been noted the efforts made during the past decade have not been entirely barren of good results But that certainly offers no ground for complacence In the Commission there is a constant stress on more and better work to widen the scope of operation of the programme and to enhance its meaningfulness for the rural masses The Commission has been trying to coordinate its activities with those of other agencies working in the rural areas so as to maximise the results obtainable from their efforts The awareness of this need for coordination is the guiding spirit behind the naya morh programme In grappling with the most difficult problems of rural regeneration the need for constant vigilance and self-criticism can hardly be exaggerated While ill-informed criticism of khadi and village industries is to be correctly deprecated, it is improper to refuse to discuss the various alternative courses of action open for their promotion It is only if the workers engaged in the promotion of khadi and village industries discuss the alternatives with an informed and unbiased mind, can mistakes be avoided and the correct path found No effort has, therefore, been made to exclude any criticism of the programme and the Commission in this volume which is intended to provide a general review of the rural economy

The objectives of the journal had been des-

cribed by Shri Vaikunth L Mehta in the first issue in the following words "Essential, however, as are State sympathy and support, the reorganisation that the (All India Khadi and Village Industries) Board (which has since been succeeded by the Khadi and Village Industries Commission) seeks and the positive contribution towards provision of wider employment that it wishes to make, are possible only when the thinking sections of the community, who largely influence the course of public affairs, come to understand and appreciate the significance of khadi and other village industries in our economic life Hence one of the foremost tasks of the Board is to place before this section of our public the khadi and village industries movement in its proper perspective, and, having aroused their interest, to seek their active participation in the great endeavour The invaluable lesson in the fundamentals of our Indian economics that Gandhiji taught us, we can afford to forget only at peril to our social structure" They still remain our motto

Our labours will have been rewarded if this volume helps even in a small measure a better realization of the relevance of the rural industries to any genuine effort for the improvement of the conditions of living of the masses and of the problems that have to be contended with in achieving that goal

To believe your own thought, to believe that what is true for you in your private heart is true for all men,—that is genius Speak your latent conviction, and it shall be the universal sense, for the inmost in due time becomes the outmost, and our first thought is rendered back to us by the trumpets of the Last Judgment Familiar as the voice of the mind is to each, the highest merit we ascribe to Moses, Plato and Milton is that they set at naught books and traditions, and spoke not what men, but what they thought A man should learn to detect and watch that gleam of light which flashes across his mind from within, more than the lustre of the firmament of bards and sages

Ralph Waldo Emerson

SPECIAL FEATURES OF SOCIAL AND ECONOMIC DISPARITIES IN INDIA

U N DHEBAR

At the root of many inequalities obtaining in India is the social system which has been nourishing privileges for ages Despite the efforts during the last 15 years the conditions in the country today are far from encouraging in both the social and economic fields Poverty still stalks the land in many regions For 30 per cent of the population it is a question of survival The struggle to eliminate disparities is a struggle for self-survival on the part of our teeming millions Khadi, village industries and animal husbandry will help in toning down the imbalance in the economy

MANY things are responsible for inequalities in income and wealth There are some inequalities which are due to personal factors Nature has not made us all alike Intellectual capacities differ from individual to individual There are other factors which relate to the qualities of head and heart They also affect the standing in life of a person The spirit of adventure also plays its own part These qualities give to a person advantage over others and some inequalities do result from them This however cannot be complained against

But there are inequalities which are objectionable and have to be prevented or removed Personal qualities have little to do with these inequalities They arise due to factors for which an individual cannot take personal credit They originate in birth, class, caste, religious status, hierarchy, profession and other extraneous factors A dunce, born at a rich man's place, is rich because he is a rich man's son and not because he has some personal qualities which entitle him to the riches that he possesses The cadets in a feudal system automatically come into possession of land simply because they happen to be the sons of the landholder A Harijan is always at a disadvantage because of caste considerations In the age of priestly domination, religion played its own part Some professions have a honoured place and yield fat incomes out of all proportion to the service they render to the society

Inequitous Social System

In short, certain privileged positions—may be because of social, economic, political or hierarchical reasons—automatically give a certain advantage This is because of the character of the social system It upholds the right of persons possessing these privileges and bypasses the claims of others At the root of many inequalities obtaining in India is the social system which has been nourishing privileges for ages which give advantage to certain persons or groups and deny opportunities to others This has brought about dis-

parities in wealth and incomes in India to an extent we rarely find in any organised society of the world

II

Privileged Classes

The picture of India of 1963 was not the picture of our country in 1947 In 1947 we had social groups which were enjoying, under the protection of the then prevailing imperialist system, vast privileges which gave them a certain standing and status in life This system simultaneously denied to vast masses of India opportunities which would enable them to develop The imperialist system in its very nature, was an exploitative system and lived and flourished by monopolising opportunities of life in the hands of a few Next to the imperialist group came the landed gentry The princes of India for instance enjoyed a position of eminence in the political and economic field in nearly one-third of India which no one else did The social system thus lent its unqualified support to the social order under which they predominated and in which hardly any opportunities were given to the bulk of the people in their principalities The princes' younger brother in that social system was a zamindar He also made for imbalance in the social structure by claiming a privileged position in the social structure and denying to his tenants any opportunity The bulk of the peasantry in India which constituted nearly three-fourths of the country was then a victim of the social system

The members of the scheduled castes constituted another group of persons disinherited in the name of religion Scheduled tribes which were disinherited because of policy reasons—a policy enunciated by the then imperialist Government of inflicting political segregation upon them—was another group The labour was also at the mercy of the employment market The endemic unemployment and underemployment left hardly any choice for it but to accept what wages were offered

In between these two groups—groups of socially privileged persons and socially exploited persons were the middle classes They were also living a life of great strain socially economically and politically

Gandhiji's Leadership

This unnatural situation was not going to last long Soon the masses began to show signs of frustration began to lose their initiative and appeared for a time completely demoralised It was a magic of Gandhiji's leadership that he could in the midst of such demoralisation revive new hope and courage and succeed in mobilising them for the struggle of independence which was to end the hold of imperialist system upon this country and many others

III

Changes for the Better

Fifteen years of rule by people's chosen representatives have changed the picture of India The hold of imperialism has been completely eliminated and the Indian economy today is a free economy, politically speaking The statesmanship of Sardar Vallabhbhai Patel has freed the country from the feudal hold also Comparatively speaking, Indian farmer is a free individual in relation to his rights on land The elimination of the imperialist feudal system had opened out opportunities of life to the vast numbers of people Scheduled castes are

coming into their own Segregation of the scheduled tribes is being eliminated The factory labour is assured of its dues There has been a rise in incomes both agricultural and industrial There has been expansion of educational opportunities on a very substantial scale Amenities are available to a wider circle of people than in the past Sincere and earnest efforts are being made to fulfil the promise of democratic freedom to all the people of India through panchayati raj institutions and through cooperatives There has been a growth of new consciousness among the people, generating new initiatives and opening new opportunities of life Justice demands that due credit is given to those who have made all these possible

IV

Shortfalls

There are shortfalls in some directions They too are not universal But there has been no doubt that the shortfalls exist I do not think even those who are in charge of the destinies of the country deny their existence I also do not think it will be proper or fair to hold them responsible unilaterally for these shortfalls If anything, while their critics have nothing to their credit in the shape of constructive contribution, they have to their credit a decade and a half of service to the nation which has been responsible for the new opportunities of life which we enjoy today, apart from the vast obstacles which they have removed—obstacles which impeded the march of the nation towards progress till the other day

If I am speaking about these shortfalls it is because these shortfalls have dangerous moral and social implications The shortfalls can be traced in every direction of national life It was our good fortune to possess Gandhiji He was an idealist, who combined in his personality a robust commonsense By dint of hard work and personal sacrifice he generated an atmosphere in this country of service, without thought of self, to the down-trodden He popularised spiritual incentives to take the place of monetary incentives He generated a climate of simplicity The greatest shortfall in the last 15 years of the country's life has been the shortfall at this level Psychologically India of 1963 has litttle relation to the India of 1947 or of earlier years The climate of sacrifice has given way to the climate of self-seeking Values of service have been replaced by those of returns and rewards The principle of cooperation is being replaced by the spirit of unhealthy rivalry The objective frame of mind of individuals and groups has undergone a metamorphosis The country lives in an atmosphere which is polluted by considerations of self, comfort, ease and arrogance The whole picture is becoming more and more unseemly and unbecoming and therefore losing its grace and charm It will be a mistake to suggest that this is confined to the political sphere Nobody can point an accusing finger at another without someone else pointing the finger at him

Whatever the sphere of our national life, by not adhering to Gandhiji's values of life and by trying to copy the standards of other countries, the nation has deprived itself of a greater potential factor which would have helped her immensely even on a mundane plane

In Social Sphere

In the social sphere the conception of non-violence was acting as it were as a talisman for keeping the classes and the masses together, for keeping people belonging to different creeds and religions together, for drawing intelligent and illiterate masses towards

one another, for mixing rich with the humble and educated with the uneducated We were beginning to feel that we constituted a society held together by new values of life—the values of cooperation, goodwill sympathy fellow feeling, bearing love towards one another and interested only in trying to improve the lot of the teeming millions of India's down-trodden These values also gave us a few norms of discipline It was a discipline of a new kind but it vested the nation with some kind of self-respect and dignity The social recognition offered to those values and disciplines helped even common people to subscribe to those values and disciplines with ease Those values have suffered not only at the psychological level but in the field of actuality also The national life is once again at the mercy of those values which led it to its downfall

At Economic Level

At the economic level also there have been shortfalls India is losing two crores of man-days due to unemployment and under-employment and India will have to live with this picture of these losses for a long long time to come Thirty per cent of our population in the lowest layer of society has to be satisfied with an income which cannot be considered to be sufficient for human existence and though this level is higher than what it was in 1947 and will go on progressively increasing, it will not be enough from the point of view of human existence for another quarter of a century or more Large sections of middle classes are living a life of strain and will have to live under similar conditions for another 20 to 30 years The question of disparities in incomes and wealth requires to be considered in this context

V

Tales of Poverty

What is the significance of these disparities? Some pictures arise before my mind I was travelling with a beloved friend of mine, Shri Girdharlal Kotak, some five years back It was lunch hour We stopped our car on the way and entered a couple of huts There were hardly any rations for the family in the first hut we entered and the mistress of the house in the second was surrounded by three or four children She was waiting for the master to return before she could begin preparing the day's meal Soft as he is Shri Kotak could not resist tears

Another instance exactly parallel occurred in the month of July last I was travelling in a car in the company of the chairman of a State Khadi and Village Industries Board He was engaged in talking to me about the great change hat had come over in the rural areas To a certain extent this claim was justified But I had a feeling that the chairman had not the whole picture before him I, therefore, requested him to stop our car at the next village side This was also lunch hour In the first hut we entered the owner was a tenant cultivating four acres of land There were six people in the family They had had their midday meals and had preserved something for the evening one On persistent inquires by the chairman and after rummaging for about ten minutes he learnt that they had not even six seers of foodgrains in the house We entered another house The owner was again a tenant cultivating six acres of land He told a similar tale He had to borrow to sustain himself for three or four months in a year The rate of interest

was $2\frac{1}{2}$ per cent per month We proceeded to the third house and heard similar stories These are landless labourers of India constituting 17 per cent of our rural agricultural population and increasing with each decade as divisions take place in the families of our small landholders Fiftyseven per cent of the agricultural holdings of India are below five acres each With the passage of time they will also join the ranks of the landless labourers of India

The scheduled castes can be divided into two groups Those who do scavenging especially in the small towns are passing through a difficult period of existence The remaining in the rural areas of India suffer the same fate as the landless labourers of India The privations in which scheduled tribes live have been described in the Report of the Scheduled Areas and Scheduled Tribes Commission and I need not reiterate them here The picture of squalor and filth in which the city slum-dwellers live is well-known It is not easy to give a census of the footpath-dwellers in the big towns of India

The disparities obtaining in a country have to be measured from the social and economic context of a nation's life I have indulged in a long prologue about the social and economic conditions to convey the deep sense of urgency the situation demands Disparities in our country cannot be explained away in mere economic terms Have-nots of India are underfed and hungry They constitute more than a third of India's population

VI

Struggle for Self-Survival

The role of side occupations in India has to be considered from that angle No economist can describe the value in economic terms of a few morsels that a hungry man can get to satisfy his unsatisfied hunger These morsels have a value of their own They signify to the hungry the difference between a half belly and a full belly To introduce considerations based on economic costs in that context is to play with the morsels of hungry man No economic theory has so far been able to work out the cost of a bloody revolution to the famishing masses or the masses who live on the verge of sustenance The reason is that the consideration of money has no relevance when it is a question of self-survival For more than 30 per cent of the population in India it is a question of self-survival A Government or an economist who argues on the basis of the principles of market economy only exposes his ignorance of the working of the law of human nature These laws are different from the laws of economics

The problem of helping the indigent masses of India is a problem both moral and political—moral in the sense of enabling a human being to stand on his own legs with his own efforts and a political problem of enabling our society to survive The relevance of khadi and village industries has to be understood in relation to this moral and political crisis that obtains in India Struggle to eliminate disparity in our own country is a struggle for self-survival on the part of our teeming millions It is any time more acute than the struggle for toning down mere economic inequalities or avoiding merely concentration of wealth and power

Role of Village Industries

Village industries and animal husbandry are the two off-shoots of agricultural economy They supplement the shortage of land They tone down the imbalance in the rural

economy due to heavy pressure of population on land which is monthly and daily increasing They make it possible for village people to exist, to survive They also ensure occupations with the lowest possible capital investment Side by side they provide opportunities for improving the technology and the tools and the methods used in their production They help in steadily building up new initiatives and helping in promoting creativeness They wear out feelings of dependence and frustration In the process they are building up defences against possible eruption of violence which desperate conditions can breed at any moment No other national activity has been able to put the idle manhours of the vast masses to productive purposes as khadi and village industries have been able to do at the cost at which they have done The Government that pays subsidy thus not only helps the individuals but also fulfils social purposes The customer who pays a little higher price contributes not only towards sustenance of the individual family but also towards the survival of his country

Bombay
11 September 1963

Economic equality is the master key to non-violent independence Working for economic equality means abolishing the eternal conflict between capital and labour It means the levelling down of the few rich in whose hands is concentrated the bulk of the nation's wealth on the one hand, and a levelling up of the semi-starved naked millions on the other A non-violent system of government is clearly an impossibility so long as the wide gulf between the rich and the hungry millions persists The contrast between the palaces of New Delhi and the miserable hovels of the poor, labouring class cannot last one day in a free India in which the poor will enjoy the same power as the richest in the land A violent and bloody revolution is a certainty one day unless there is a voluntary abdication of riches and the power that riches give and sharing them for the common good I adhere to my doctrine of trusteeship in spite of the ridicule that has been poured upon it It is true that it is difficult to reach So is non-violence difficult to attain But we made up our minds in 1920 to negotiate that steep ascent

Mahatma Gandhi

*PLANNING—GANDHIAN APPROACH**

VAIKUNTH L MEHTA

The only criterion for judging the success of planning in our country, according to Gandhiji, is the extent to which our planning succeeds in securing for an increasing number of people the right to work and such basic necessities as food, decent clothing, pure drinking water, housing and educational facilities This should also be the real test for evaluating the efficacy of the programmes for development

IN this article it is not proposed to examine the concept of national planning, or the objectives and content of our five year plans as Gandhiji would have viewed them Such an essay is fruitless, in any case it would be presumptuous for the present writer to attempt the task But it would not be irrelevant to take note of the general approach of Gandhiji to social and economic planning Leaving aside *Hind Swaraj* and Gandhiji's earlier writings, one may draw attention to his role at the historic session of the Indian National Congress held at Karachi in 1931 Being the first session to be held after the struggle for complete independence had been launched, our conception of the future pattern of society in India naturally engaged the attention of the nation's leaders, with Gandhiji at their head Their views, which were not only endorsed but were expounded by Gandhiji, are set forth in the famous Karachi Congress Resolution on the National Programme Gandhiji was thus not averse to formulating a plan of development for the country The Karachi Resolution formed the basis of the national demand, when, with Gandhiji's approval, the Congress participated in elections under the Government of India Act of 1935 and its representatives assumed office in a majority of Indian Provinces in 1937

Early Beginnings

Shortly after the assumption of office by Congress Ministries, the then President of the Congress, Netaji Subhas Chandra Bose constituted early in 1939 the National Planning Committee with Shri Jawaharlal Nehru as its chairman Among the members of the Committee was Prof J C Kumarappa while the Committee on Cottage Industries had as its chairman Shri Satish Chandra Das Gupta— both of them close associates of Gandhiji About the same time, there was published *Economic Planning for India* by Sri M Visvesvarayya While applauding the earnestness and enthusiasm which the veteran engineer-statesman had brought to the production of this, the first study on the subject, Gandhiji expressed his dissent from the view that the core of economic planning was rapid intensified industrialization Particularly did he object to the intensification of industrialisation of a type that prepared the ground for the manufacture of armaments

It is significant that while the National Planning Committee was engaged in the drawing up of plans for the various facets

* Based on a talk at Maharashtra Gandhi Smarak Nidhi, Poona on 14 July, 1963

of national development, Gandhiji placed before the country what he considered to be the essentials of his constructive programme based on the application of the twin concept of truth and non-violence The social order, he sought to see established, was one founded on social justice But the rule of economic equality was to be ushered in in a non-violent manner, for Gandhiji was convinced that any attempt to bring about a social revolution through violence would unchain forces that would endanger the social values of liberty and fraternity, which according to him, India ardently cherished Pursuit of the constructive programme was the surest means of ensuring democracy at the grass-roots Since the great majority of our people lived in villages it is their welfare, and the welfare of the lowliest of the low, namely, Harijans that, he emphasised, should claim priority over other parts of the programme of social and economic development Far-looking, methodical and businesslike as he ever was, Gandhiji had always a plan for all he wanted to be done

Objectives of Planning

The era of planning in our country may be said to have commenced with the inauguration of the republican Government of the country established under the Constitution of India The Directives of State Policy enunciated in the Constitution in conformity with the Fundamental Rights enshrined therein made it incumbent on the Government of the country to plan for its social and economic development for implementing those Directives For a country emerging from a colonial economy, with certain sections underdeveloped and the rural sector in conditions of stagnation, progress is well-nigh impossible, it was recognized, in the absence of careful well-ordered planning The National Planning Committee had defined the objectives—in terms which should have secured Gandhiji's endorsement—a decade before the Planning Commission was appointed "The background or foundation of our Plan is the establishment of a full democratic state involving an equalitarian society in which equal opportunities are provided for every member for self-expression and self-fulfilment and an adequate minimum of a civilized standard of life is assured to each member so as to make the attainment of this equal opportunity a reality" In the reports on the Second and Third Plans the objectives have been elaborated and set forth in specific terms Essentially, to quote the opening sentence in the Third Five Year Plan, "the basic objective of India's development must necessarily be to provide the masses of the Indian people the opportunity to lead a good life"

Means should not be confused with ends The development of heavy industries, the production of steel, the expansion of oil resources, the generation of electricity are all instruments for securing the end If life is to be made a fuller one for the millions, who despite 12 years of planning have barely enough for their sustenance, the indicators for measuring progress are different Industrialization and power are all aids that are intended to secure the resources for making the life of the common man fuller The highest priority, as was emphasised at a Seminar held at Poona in 1961 under the joint auspices of the Akhil Bharat Sarva Seva Sangh and the Gokhale Institute of Politics and Economics, should be accorded to the objective of providing work or employment for everybody willing to work, which would enable him to earn enough to

satisfy his minimum needs or to enable him to have a minimum of material well-being That fits in with Gandhiji's conception of a sarvodaya order

Problems of Agriculture

This postulates that the plan should be rural reorientated In Gandhiji's Constructive Programme, the integrated development of the rural economy was the principal concern It is true that Gandhiji had no specific programme for the reorganization of the agricultural industry But in the Constructive Programme he laid stress on the need for adopting improvements in methods of agriculture for promoting which, individuals who could not, because of the size of their holdings, command the necessary resources, should be encouraged to resort to the cooperative form of organization Cooperative farming, he advocated as a measure of economy called for under our present agrarian conditions Cooperative organisation was also thought of by him for the maintenance of cows, for cow breeding and for increasing milk production To the problem of land ownership, in the absence of a Government responsible to the people, he did not devote much thought In the context of the changed conditions, Acharya Vinoba Bhave seeks to deal with the problem through a programme based on a change of heart, a maximum of voluntary effort and a minimum of State action

In the objectives as defined in the Third Five Year Plan, though the need for the development of agriculture has been underlined, the emphasis laid on increasing production so as to provide raw materials for industries and to secure earnings from the export of agricultural commodities appears to be somewhat misplaced We certainly want to get more out of the land to raise the aggregate output from agriculture so that we may have self-sufficiency in the matter of foodgrains Even more welcome, however, are the efforts to raise the level of production for the purpose of increasing the earnings from agriculture, and of reducing the gross disparities that prevail between the incomes from agriculture and those from urban industries, trade, commerce and from secondary or tertiary services

Stress on Local Resources

Agricultural improvement does not consist in resort to mechanization for various agricultural operations or in the application of fertilizers to crops Both may have their uses, but, as Gandhiji always used to insist, one must first ensure that all available local resources are fully utilized before resort is had to artificial aids If human or bullock power is equal to carrying on certain operations it should not be replaced by mechanical aids Similarly, the local manurial resources should be properly conserved and fully used before fertilizers which are scarce and costly are employed for raising levels of production Conservation of manurial resources should be for the entire countryside an essential feature of all rural planning, just as soil conservation done with local labour and conservation of water resources through minor irrigation works should also be The wealth from pursuit of animal husbandry can be augmented by the full exploitation of all the ingredients obtainable from the carcasses of fallen animals A programme for carcass recovery will raise the social status and the level of incomes of those engaged in the disposal of dead animals, in flaying, in tanning and in other ancillary processes

The main factor responsible for rural stagnation and the consequent deep-rooted

poverty of the country, Gandhiji held, was the decay of rural industries Often he described the process as causing a double drain on the rural economy The people in villages lost the income they derived from the pursuit of various supplementary occupations and subsidiary or principal industries producing goods which had a large demand both in villages and in towns In order to meet their own consumption requirements they had to buy goods manufactured at home or abroad by parting with their hard-earned income when they could easily have produced the goods themselves and satisfied their own needs at much less cost The revival of these occupations and industries was a major part of Gandhiji's constructive programme

Hence, recognizing the role of cottage industries in our economy, provision was made for their development in the First Five Year Plan In the Second Plan, the position was broadly accepted that an attempt should be made to ensure that as large a portion of the growing demand for consumers' goods entering into the daily life of the common man should be produced increasingly through rural and other cottage industries The State, it was agreed, should adopt a policy of extending aid to these industries and affording to them protection against the products of organized large-scale industries Although it cannot be claimed that a growing proportion of all varieties of consumers' goods in common demand is now supplied by rural and cottage industries, the last 12 years of planning have certainly witnessed a substantial rise in the employment provided through these industries

The impact of this programme on the economy as a whole has admittedly not been appreciable After reviewing the progress achieved, Shri Jayaprakash Narayan urged at the Sarvodaya Sammelan of 1961 a more comprehensive approach to the problem of diversification of the rural economy, by taking in hand industries other than the traditional ones to produce the new types of consumers' and even producers' goods required not only in the countryside but in urban areas as well To the extent possible these industries might depend on raw materials, agricultural and others, that were available locally There should, however, be no restrictions placed on the use of raw materials obtained from outside the region of their location The main purpose, of course, should be the provision of work of a suitable type for the surplus labour in villages so far as possible in the vicinity of their own habitats

Rural Industrialization Commission

There should, moreover, be no bar to the application of improved techniques for the new or even for the traditional industries provided the introduction of these methods or appliances did not lead to the displacement of labour or provide scope for its exploitation To put through such a comprehensive, dynamic programme Shri Jayaprakash Narayan urged the creation of a rural industrialization commission By appointing a Rural Industries Planning Committee and approving of a phased programme for the intensified development of rural industries under a single agency responsible to the Planning Committee for execution of the approved plans, the Planning Commission has met the substance of the demand made

This is a programme for decentralization of non-agricultural production with the

units of production dispersed and located in rural areas, owned and managed by the rural people themselves, through their co-operative organizations or panchayat agencies at various levels But, as Gandhiji recognized, there are some forms of production that have to be conducted and controlled by a central authority in the interest of the national economy Principally, these are what he described as key industries, what we now term as heavy industries These are needed to give us the producers' goods and to generate the power which are essential for the strengthening and reinvigorating of our economy to meet the requirements of a modern society Such industries, it was an article of faith with Gandhiji, should be nationalized, that is, they should be run under state ownership and control In order that the centralization of authority should not lead to bureaucratization, and to the emergence of employer-employee relations, Gandhiji would have applied a remedy in the shape of the treatment of labour as a participant and a partner

Trusteeship or State Action

Since sarvodaya spelt the good of all, as distinct from the greatest good of the greatest number, Gandhiji did not visualize the complete extinction of business enterprises run by private individuals or their syndicates or corporations But he called upon those in charge to look upon the workers as partners and as participants both in matters relating to conditions of work and in the division of the gains of the undertakings While he valued the enterprise, acumen and ability of the businessmen in charge of undertakings, he adjured them to be trustees for the people They should harness their skills to the concerns as public servants This postulates a change of heart on the part of those in charge of the undertakings in what is now known as the private sector Failing the voluntary acceptance of the concept of trusteeship, there has to be regulatory action on the part of the community, to ensure that the objective is achieved

Test of Progress

To the extent that planning subserves the ideals that Gandhiji upheld, and the social values that he cherished, one can claim that it proceeds in the direction in which Gandhiji desired India to move after the achievement of independence But if we are carried away by the glamour of bigness, if we try to force the pace, if we seek to emulate the pattern of development in industrially advanced countries, if we allow unemployment and underemployment to stalk the land, and if we permit disparities in income and wealth to get widened, our planning may be said to have failed in its purpose, whatsoever the rate of growth of the gross national product and howsoever high the achievements recorded in the production of steel, the generation of electricity, the tapping of resources in oil, gas and coal or in the per capita absorption of consumers' goods such as radios and telephones The sole test, not only according to Gandhiji but according to all who value progress in terms of the good life, is the extent to which planning succeeds in securing for growing numbers enough food, decent clothing, pure drinking water, a roof and four walls for shelter, a modicum of education, environments conducive to good health and, above all, the right to work for one's sustenance

Poona
2 August 1963

THE STATE OF RURAL ECONOMY

MORARJI DESAI

There is no short or easy answer for conquest of poverty in our country Agriculture which is the Heel of Achilles of development will have to be made productive and linked up with cottage, handicraft and other industries Under democratic decentralization the masses will have to shoulder the responsibility of implementing the rural development programmes The rural India of tomorrow should present a picture of economic prosperity and democratic participation

IT is more than a decade since India launched on a course of planned economic and social development We are now in the middle of the Third Five Year Plan Behind all our plans lies a vision of the future, when India would be free from the curse of poverty and everybody in this country would be assured of opportunity to lead a good life This is a vision which we have been carrying through since the long years of our national struggle for independence Political freedom would mean little unless we also succeed in achieving freedom from want It is in quest of this second freedom that the country has deliberately broken with past economic stagnation and has already taken the first steps along the long road to development

Conquest of Poverty

To provide for a good life to more than 440 million people of India is no small undertaking It is a colossal job and its achievement will take many more years The conquest of poverty has no short or easy answer It cannot come through one or two quick and simple lines of action involving small numbers of people, however important they may be Every part of the country's economy, its farms, its factories, its mines and forests must produce more Its urban as well as rural sectors must change and develop

Within the gigantic task of raising the living standards of India's masses, the problems of rural India are enormous by themselves India is predominantly a rural nation and will remain so for many years Nearly 80 per cent of India's population lives in villages Without developing her rural sector, India's development will be incomplete and unreal Indeed, the roots of India's poverty lie in its villages To help India's rural people raise their living standards and build a better life is, therefore, an urgent social as well as economic goal Rural prosperity is the bed-rock on which the nation's economic development must rest

Measures for Improving Agriculture

Seven out of eight people in India's villages depend on farming as a way of life

and livelihood Nearly half of India's national income derives from agriculture, as compared with nine per cent in the U S or 18 per cent in Japan Modernisation and development of agriculture holds the key to rural prosperity and even the nation's development In the Third Five Year Plan we have accorded top priority to agriculture Indeed, over the next fifteen years or so agricultural development is bound to be given high priority Since the commencement of planned economic development India's agricultural production has been rising, but it is still too slow to meet India's needs Crop yields in India are among the lowest in the world The possibility of raising farm output sharply through better crop yields is both a challenge and an asset on the agricultural front Given irrigation—the life-blood of Indian agriculture—fertilizers, improved seeds and implements, and more and more educated and enterprising farmers to use improved methods, I am sure enormous increase in yields is possible In fact, our agricultural programmes aim at providing these very things more rapidly and widely than in the past

Heel of Achilles

Agriculture is often the Achilles Heel of most of the developing countries of the world Under any form of agrarian organization, assuring high agricultural output has proved to be one of the most difficult of all production problems India's struggle to achieve rapid economic transformation by peaceful democratic means will be won or lost in the rural areas because of the overwhelming importance and difficulty of rural problems Patient persuasion and active help in the form of more extension services, more farm supplies, credit and marketing facilities, effective land reforms and fair prices for agricultural produce have already begun to show results Irrigation is being continuously expanded and more and more farmers are learning the use of 'wet' farming techniques Eventually, the idea is to cover nearly half of all India's farm land—about 175 million acres, as compared to about 70 million acres irrigated at present This will go a long way towards freeing Indian agriculture from the vagaries of the monsoon

Raising agricultural output is then a process that will take time, and requires patience, efficient planning and organization It also needs increasing support from the industrial sector for the supply of fertilizers, improved agricultural implements and for market for its surplus product The importance of agriculture is so great to the whole scheme of economic development in the country, its relation so close to the hope of rural prosperity that in the current plan and in future plans, supreme efforts must and will be made to make it more productive and paying

Industries for Rural Areas

In addition to more productive agriculture, rural prosperity needs some industries so that India's 74 million village families can keep pace with those in towns and cities Prosperous agriculture alone cannot ensure adequate income for nearly 80 per cent of our people who live in rural areas Moreover too many of our people are now dependent on agriculture There is need to reduce this heavy dependence This can be done chiefly through industry Industry is a great modernising factor and opens the windows for new ideas Its influence will be beneficial to agriculture and rural society as a whole When we talk of industry in this context, it raises a number of questions of

wider import What type of industry and how much of it can we take to rural area? How is it to be linked up with the overall plan of industrial development? What kind of location are we to choose for industries? How are the finances to be raised for developing industries?

Diversification Essential

In our overall schemes of industrial development both large-scale factory industry and cottage and handicraft industries have their roles to play In order to produce complex things needed both for economic development and defence we need large-scale factory industry But our handicrafts and village industries are important for diversifying the present lop-sided occupational structure of rural India Taking a long-range view of things it appears necessary to evolve a balanced and efficient industrial structure From the experience of industrialised western countries we know the disadvantages of concentrating industries in a few cities Even in India until recently, the few industries that developed, grew around some big cities Such concentration in a few big cities may have some initial advantage, but before long it gives rise to serious problems and disadvantages connected with public health, education, transport and other public services and facilities, including even water and electricity

So we have to plan our industries in such a way as to avoid the grave social and economic evils associated with excessive concentration of industries in a few cities In this context it is of interest to note that the 10 largest cities of India account for about five per cent of the total population, as compared with 20 per cent in Japan, 18 per cent in United Kingdom and 12 per cent in the U S A In this country we do not want such heavy concentration as in Japan or United Kingdom At the same time we cannot make every village a centre of large-scale industry So the ideal pattern appears to be a few hundred centres of industry well scattered all over the country Such centres will serve as focal points of industrial influence With such a pattern of industrial location it will be possible to minimise the gap between rural and urban parts of India Together with such location, we must evolve a new type of industry—different from cottage and handicraft industries as well as large-scale factory industries -which can combine the efficiency of the latter with the employment potential of the former The solution to the problem of underemployment and unemployment in our country, will to a large extent, depend upon the possibility of achieving this

Accent on Savings

Whatever the pattern of our rural as also the entire economic development, we have to find the resources for our schemes of development How do we find these? Historically speaking, in countries like United Kingdom, Germany, Japan etc, industrialisation was financed by squeezing resources out of the agricultural sector We do not like to repeat that experience in India But it is necessary and important that the agricultural sector pays at least for its own development All development has to be financed by savings either of our own or of some one else's Here comes the importance of rural savings campaign, taxation, compulsory deposit and the gold control order While the first three, in so far as they apply to rural areas, are meant to create and mobilise savings in rural areas, the gold control measure is meant to pre-

vent savings from being spent on so unproductive an asset as gold. Buying gold is a disservice to the country at the present juncture, because almost all the gold that is bought and sold in this country is smuggled gold. It is a loss to the country and a gain to the smuggler.

There are many other aspects of rural economy such as cooperation, electrification, warehousing and marketing facilities which are being developed to transform rural India. Cooperation and electricity are the twin engines of rural progress. Both these are of vital importance for introducing and carrying forward an agrarian revolution as well to narrow the gap between the urban and rural cultures.

Three-tiered System

The vision of future rural India is not merely an economic one. As a democracy, it is necessary to provide opportunities for everybody, including the rural people, to play an active and direct role in planning and executing development schemes. The panchayat raj or 'rule of panchayats' is meant to provide this opportunity to the rural people. The panchayat raj constitutes a far-reaching change in the structure of local administration and rural development in our country. The chief purpose is to involve all the people in rural areas to work for their own development. It consists of a three-tiered system of elected local bodies —the *panchayats* or village councils at the village level, a *panchayat samiti* at block level and a *zila parishad* at the district level. The great potentialities of panchayat raj lie in the fact that, under the guidance and supervision of the State Governments, the final responsibility for carrying out rural development will fall more and more on the people themselves through their elected representatives.

Democratic Participation

Although panchayats are an ancient institution in our country, it is a relatively new idea to charge them with responsibility for developing their villages for the common good of the village. Under the panchayat raj, if not every panchayat, at least panchayat samitis should learn to draw up local plans to fully exploit local resources and to find financial resources, at least in part, to execute their plans. It is this picture of rural India, with economic prosperity and democratic participation by all its people in rural institutions that Gandhiji held before us.

New Delhi
4 September 1963

EDUCATIONAL PROGRESS AND INDUSTRIALIZATION

K ARUNACHALAM

In 1951 the Planning Commission "redefined the aims, redesigned the method and content and reshaped the entire purpose of organised and systematic national education" Because of the dominant urban values in education, however, the economic development is tilted in favour of the urban sector. Rural areas lacking educational facilities also suffer from poverty and want. If Basic Education is introduced in rural areas on a large scale it would go a long way towards creating a climate for industrialization in the countryside

EDUCATION affects the economy in a number of ways, not only does it increase the flow of skills but also assists people to acquire new techniques Moreover, it tends to destroy the traditional attitudes which impede progress, and it links knowledge with production The economy in turn reacts on the educational system through science which has now grown more important in industry and so is taught increasingly in schools On the one hand, therefore, education helps to strengthen the economy, for, it is an investment in manpower, on the other, it is becoming very expensive As the national income grows, more can be spared for education Our economy is moving more slowly than even that of our neighbours like Burma and Ceylon We are short of engineers and scientists We need hundreds and thousands of more qualified people very quickly

Education is important, therefore, not only to help our children, to give them better lives, to improve the society in which we live, to enable our country to go forward paying its way and competing internationally, it is also essential if we are to survive in a changing technical and scientific age But education by itself is not enough What matters is the kind and type of education it must be geared to the world we live in, it must prepare people for life and for changes, help them to develop and become adaptable and it must reach them all

Before Independence

Education in our country before the advent of freedom aimed at making out of the educated section of the Indian people recruits for conducting the British administration and for military defence Clerks and soldiers with a small leaven of professional men made up the bulk of the "educated" who acted as the agents of the British in our country Animated by the ideals and influences which inspired the Britisher in his own country these indigenous recruits and agents in India observed the same traditions and carried out the same policy, though in a more intensive form Class rather than mass education became the rule or fashion and remains so in

many respects even to this day Such a policy necessarily resulted in an over-emphasis on purely literary education and that too in a foreign language The schools and colleges became so many factories for mass production of a standardised pattern

On the eve of independence only 40 per cent of the children in the age group of 6 to 11 years and 10 per cent in the age group 11 to 17 years were attending school There were disparities in the provision of educational facilities between different parts of the country, between different sections of the population and in particular between urban and rural areas

Considerable wastage occurred at various stages of the educational system Facilities for technical and vocational education were altogether inadequate The proportion of teachers without training exceeds 41 per cent in primary schools and 46 per cent in secondary schools There was considerable shortage of women teachers Scales of pay and conditions of service for teachers were generally unsatisfactory and were in part responsible for low teaching standards

In A Free Country

In such a system neither individual initiative was wanted nor independence encouraged Imitation, repetition, routine without end or variation was the absolute rule Such a state of affairs could not be continued for long in a free country In an independent nation the people of the land have to shoulder direct responsibility and wield authority in the governance of the nation A new educational policy and programme has thus got to be evolved and accepted throughout the country Accordingly, the national Planning Commission in the year 1951 redefined the aims, redesigned the method and content, and reshaped the entire purpose of organised and systematic national education

Quantitative Development

In the following decade the annual expenditure of the Government on education increased from Rs 65 crores in 1950-51 to Rs 200 crores in 1959-60 The total expenditure which includes the contribution of local bodies, fees and other endowments registered an increase from Rs 114 crores to Rs 297 crores The percentage of pupils in classes I to V to the total population in the age group 6 to 11 was only 42 per cent in 1950-51 This rose to 61 per cent in 1960-61 The target to be achieved at the end of the Third Plan is 76 per cent By the end of the fourth plan cent per cent of the children of school-going age are expected to be in school It is true that there has been a considerable rise in the percentage at other levels of schooling also Proportion for the age group 11 to 14 rose from 12 per cent to 28 per cent, for the age group 14 to 17 from 5 per cent to 15 per cent, for the age group 17 to 23 from 0 9 per cent to 2 4 per cent But it is also a fact that the Constitutional Directive of free and compulsory education for all children upto 14 years of age still remains a pious wish

In some states like Andhra Pradesh, Gujarat, Madhya Pradesh, Mysore, Punjab and Delhi, legislation for compulsory primary education has been enacted Schemes have been drawn up for intensive enrolment in schools Plans have been drawn up to train 1 5 million tachers

The progress of primary, secondary and higher education in India during the period 1950-51 to 1959-60 is shown in tables 1, 2 and 3 respectively

TABLE 1

PROGRESS OF PRIMARY EDUCATION IN INDIA 1950-60

Year	Number of recognised schools	Number of students on rolls	Number of teachers	Direct expenditure (Rs crores)
1950-51	2,09,671	1,82,93,967	5,37,918	36 49
1955-56	2,78,135	2,29,19,734	6,91,249	53 73
1956-57	2,87,298	2,39,22,567	7,10,139	58 48
1957 58	2,98,247	2,47,88,299	7,29,239	66 74
1958 59	3,01,564	2,43,72,181	6,95,280	63 64
1959-60	3,20,586	2,59,18,864	7,33,382	69 63

TABLE 2

PROGRESS OF SECONDARY EDUCATION IN INDIA 1950-60

Year	Number of schools	Number of students on rolls	Number of teachers	Direct expenditure (Rs crores)
1950-51	20,884	52,32,009	2,12,000	30 74
1955-56	32,568	85,26,509	3,38,188	53 02
1956-57	36,291	95,79,164	3,72,180	58 73
1957-58	39,654	1,06,21,499	4,06,768	67 21
1958-59	53,923	1,43,41,043	5,10,388	84 34
1959-60	57,863	1,57,06,200	5,61,959	95 65

TABLE 3

PROGRESS OF HIGHER EDUCATION IN INDIA 1950–60

Year	Universities	Boards of Education	Research Institutions	Special education colleges	Professional and Technical colleges	Arts and Science colleges	Number of students enrolled	Number of Teachers	Direct expenditure (Rs crores)
1950–51	27	7	18	92	208	498	4,03,519	24,453	17 68
1955–56	32	11	34	112	346	712	6,81,179	37,865	29 71
1956–57	33	12	41	128	399	773	7,50,195	42,135	33 54
1957–58	38	14	43	148	489	817	8,03,942	45,232	38 10
1958–59	40	13	42	168	542	878	8,76,312	52,180	43 92
1959–60	40	13	42	177	728	946	9,40,484	55,493	47 71

The need for expanding technical and vocational education was realised in the years following the second world war In 1945 the All India Council for Technical Education was set up for advising the Central and State Governments on the schemes of development in technical and vocational education Early in 1947 the Scientific Manpower Committee was given the task of assessing the requirements of scientific and technical personnel in relation to the post-war development programmes which were then under consideration A number of steps for increasing the facilities in this field were taken before the first five year plan These included the establishment of the Indian Institute of Technology at Kharagpur, selection of 14 Technical Training Institutions for further development, the provision of research training scholarships and stipends for practical training and other schemes for the promotion of scientific and technical education and research The results of the measures initiated in this period and those taken under the two

plans are reflected in the increase in the out-put of engineering and technological institutions during the period 1950-60 as shown in table 4

TABLE 4

PROGRESS OF ENGINEERING COLLEGES AND POLYTECHNICS 1950-66

Year	Degree course			Diploma course		
	No of Institutions	Admission capacity	Outturn	No of Institutions	Admission capacity	Outturn
1950-51	49	4,120	2,200	86	5,900	2,480
1955-56	65	5,890	4,020	114	10,480	4,500
1960-61	100	13,860	5,700	196	25,570	8,000
1965-66*	117	19,140	12,000	263	37,390	19,000

*Estimated

Qualitative Improvement

The importance of education for economic development can hardly be overestimated There exists in the world of today, a practically perfect correlation between the educational level and economic development in the various countries Even in our c vn country because of the dominant urban values in education the economic development is tilted in favour of the urban side The rural areas still lack educational facilities They continue to be on the verge of poverty and misery Wherever there is backwardness in education the economy also lags behind In spite of our fifteen years of freedom and experience we are still groping in the dark and dissipate our energies and waste scanty national resources The tendency to start too many schemes at the same time involves waste of efforts and the results achieved become insignificant As Vinobaji says "The single purpose of all education is that the whole nation should become skilful craftsmen and clean thinkers But we subdivide this purpose into so many aspects—urban education, adult education, child education, nursery education, basic education, women's education, men's education, craft education, intellectual education, physical education and on top of all these there come literacy campaigns"

Vinobaji is of the opinion that our progress will certainly be retarded if we think of all these aspects separately With a view to pleasing everybody the scanty resources are being distributed with the result that the most urgent and inescapable educational tasks have to be comparatively neglected If our attention is distracted a little for this, a little for that, we shall find no real satisfac-

tion anywhere We should keep a firm hold on the root and concentrate on seeing that it is properly attended to The root is Basic Education It includes craftsmanship, it includes development of intellect and it includes literacy also It is an activity-centred curriculum wherein the process of learning is correlated with physical and social environment of the children Education is imparted through socially useful productive activities like spinning and weaving, gardening, carpentry, leather work, bookcraft, domestic crafts, pottery, elementary engineering, etc Even though Basic Education is now the nationally accepted pattern of educational system at the elementary level, the total number of schools that are of the basic type is only 29 per cent of the total number of elementary schools The remaining continue to impart the same old Macaulayian type of bookish education The percentage is expected to rise to 36 by the end of the third plan period The reason for this tardiness is said to be the lack of resources available for education But the main reason that is palpable is that the education administrators are not convinced of the relationship yet between the kind of education that is imparted and the industrial development of the nation The old bureaucratic mentality persists White collared values continue However, we are told that in non-basic primary schools such important features of basic education as do not entail expenditure are being introduced Orientation programmes for education to officers and primary school teachers are being implemented The way in which these steps are taken, does not show that this revolutionary system of education is accepted with wholehearted appreciation and understanding If only this system spreads widely in the country the five and a half lakhs of villages will be industrialised They will be humming with activity driving out the demon of underemployment and unemployment from our country

All the teacher training institutions for elementary school teachers are being progressively converted into the basic type

Significant changes are being carried out in the field of secondary education on the basis of the recommendations of the Secondary Education Commission with the aim of making secondary education a self-contained and complete stage upto the age of 17 Unique among them is the introduction of diversified system of education in which students could offer, in addition to a common core of studies, a group of three subjects from any one of the seven, namely, humanities, science, technology, commerce, agriculture, fine arts and home science

At the university level also added emphasis is slowly being given to work experiences Even though the recommendations of the University Education Commission on the rural universities were not accepted a few rural institutes have been started More and more technical and vocational schools are being established

Agricultural Education

A defect of the educational system is that there is a wide gap between the training of agricultural graduates and uneducated mass of agriculturists The provision for a course in agriculture at the multipurpose high school or the bifurcated courses in the high schools under the present system is very inadequate for any practical purpose It is desirable that a large number of post-basic schools with agriculture as the basic craft should be opened, where practical courses adapted to local conditions could be taught The boys trained in these schools should be able to im prove the farming practices on their fields and augment agricultural production Deve-

lopment of agriculture is a *sine qua non* for the widespread development of industries in the country For, agriculture is the base of most consumer goods' industries When the national system of education is oriented this way it will be possible to industrialise India without dehumanising the individual

We have made commendable progress in the matter of quantitative education If the rapid expansion of technical education is not to reduce us to mere imitators and automatons we must pay greater attention to the quality and appropriateness of the kind of education We should not sacrifice quality at the altar of quantity We are anxious about the quality because we want to avoid the evils of industrialism and yet industrialise the country If industrialisation takes place within a few metropolitan cities only as it is happening today the villages which are the very backbone of India, will continue to remain exploited and ultimately spell the ruin of the whole country This can be avoided only by a properly oriented system of national education

Madurai
2 August 1963

The thing that makes a man a citizen is thought He must, therefore, so distribute the period of labour that he may have leisure for creative tasks Obviously there is a physiological limit to the energy a man can afford to expend But there is a civic limit to the amount the State can, for its own sake, permit him to expend Those who devote their energies to attendance upon a machine become, as Aristotle saw, disqualified for the nobler tasks of life unless they have ample leisure to be other than the tenders of a machine Certainly the frustration of personality involved, in the long hours of toil characteristic for instance, of the first part of the nineteenth century has been made obvious by inquiry into its results Men and women came home from their daily toil incapable of thought and even of feeling Their machines were their masters There was no leisure in which they could find themselves They knew only a life of endless toil The right to reasonable hours of labour is the right to discover the land of the mind It is the key to the intellectual heritage of the race

Harold J Laski *A Grammar of Politics*

PROGRAMME FOR INDUSTRIES IN RURAL AREAS

T N SINGH

The principal objective of the Rural Industries Programme is to raise the standard of living of rural population and create non-agricultural occupations in villages The sponsors of the programme have underlined the need for adopting improved methods of production and using power where it is available Besides providing facilities to the villager, other positives steps will have to be taken by the State to achieve planned development of rural industries

SOME important and significant issues were raised at the recent conference in Delhi of Chief Ministers and Ministers of Industries of various States on the Rural Industries Programme In order to appreciate properly some of the important issues which figured at this conference, it may be desirable to analyse in some detail the principal objectives and assumptions of this new programme

The principal objective of the programme is to raise the standard of living of the rural population and provide them with a variety of opportunities for productive activities at higher levels of income It is proposed to create extensive opportunities for non-agricultural occupations in the rural areas Improved methods of production or what has been described as 'intermediate technology' are to be adopted not only for processing of agricultural produce and raw materials but also for running small mechanised industries In order that the people in these areas are able to operate better machines with a higher rate of production, a comprehensive programme for training them in new skills and suitable methods of organisation and management work, is being undertaken

Assumptions

Some of the assumptions of the Rural Industries Programme can be summarised as follows

(a) In view of the very small holdings which will be further fragmented with the rapid growth of population it has become necessary to take off a large population from agricultural pursuits

(b) A situation where there is continuing exodus of large number of people from the rural areas to urban areas in search of employment, may create tremendous social and economic problems which may well prove to be insoluble

(c) It is possible to provide non-agricultural opportunities even in rural environments to large numbers of people, if the necessary facilities are provided and if the people are trained in requisite skills

(d) Large amounts of valuable raw materials are going waste in rural areas and

if new and scientific techniques are introduced, they should provide new sources of employment to a sizable population

(e) Processing industries based on agricultural produce have a large scope and can compete successfully with large-scale units if suitable scientific methods are adopted

Availability of Power

The Prime Minister who inaugurated the conference laid great stress on the provision of necessary facilities, particularly electricity, which alone could provide opportunities to a large section of the rural population to take to pursuits other than agriculture Some others also emphasised this point and went on to urge that without adequate supply of power it was not possible to launch any big programme of industrialising the rural areas The point here arises that since it does not seem possible to electrify even a lakh or so villages in the near future, should one give up the entire programme of rural industrialisation till power becomes available in at least a lakh of villages I am sure it was not the intention of the Prime Minister that pending availability of power we should bid good-bye to the rural industries programme If that were so he would not have agreed to inaugurate the conference

The sponsors of Rural Industries Programme have from the very beginning laid great stress on the need for adopting mechanised methods of production and using power where available Many of the 46 projects which are in hand are located in places where power is available, though, there are some areas where facilities like power are lacking Such a mixed bag is designed to give the workers an experience of the varying problems which one will have to face in varying conditions in their attempt to increase the productive capacity in non-agricultural occupations in the rural areas

Responsibility of State

There are a set of people who further believe that the State's duty is only to provide certain facilities and social overheads and the after things should be left to the free enterprise of the rural population I am afraid, this theory will simply not work in conditions prevailing in the rural areas We have not only to provide the necessary facilities of power, transport, communication and education in rural areas, we have even to take positive steps to engineer planned development of rural industries What are commonly called the 'entrepreneurial' classes are unfortunately not only unfamiliar with rural problems and conditions, they would not simply think of venturing on such an effort

Personally I attach very high importance to the development of necessary skills among our people in the rural areas and imparting technical knowledge to them The average man in the villages possesses a natural skill to manipulate small gadgets With proper training, in a very short time, I am confident, they can operate most power-driven small machines

Workers

Before any positive steps can be taken it is necessary to undertake a techno-economic survey of the project areas No systematic programme of rural industries is possible without adequate data about the resources, both in men and material of a project area I think the success of the programme will depend very largely on the

correct judgment in regard to the choice of rural industries Let us not forget that of equal importance for the success of the programme is the capacity of those responsible to apply themselves to the task sincerely, intelligently and with unremitting hard work

Unconventional Approach

Economic surveys of most of the project areas have been completed, though I wish some of the surveys had been more thorough After a detailed discussion with the project officers and the industry officers of various States, the Chairman of the Standing Committee and his colleagues are busy working out programmes for each project area Many problems which were not thought of and many unexpected snags have to be faced What I admire most about the approach to this programme of those responsible for its implementation is the unconventional and therefore refreshing manner in which they set about finding solutions to the problem raised I have no illusions about the difficulties that we have to face It is almost like voyaging on an uncharted sea In many cases we have to reconcile what apparently seems to be irreconcilable

The sponsors of the programme would find not only inertia and opposition of those who usually do not relish new ideas, but even of a host of thinkers of modern and new way of life who scoff at things rural and things which do not look grandiose

However, I think the readiness of the members of the Rural Industries Committees in the States and at the Centre and of the officers concerned to adopt even unconventional ways provided they are convinced of their efficacy and the steady and unostentatious manner in which they are devoting themselves to the task encourages me to believe that this programme should meet with success and probably show a new way to solve one of the most baffling problems of rural India

New Delhi
19 August 1963

Our joys and sorrows are in a real sense historic events which, minute as they may be in the record of the political fabric, are collectively urgent in the test of its future By a functional theory of rights is meant that we are given powers that we may so act as to add to the richness of our social heritage We have rights, not that we may receive, but that we may do Granted that we shall contribute unequally to the store of social well-being, it is yet imperative that the means of contribution shall be there

Harold J Laski *A Grammar of Politics*

PROBLEMS OF RURAL CREDIT

B MUKERJI

An integrated, decentralised but efficient banking system wholly dedicated to the cause of developing rural areas on a decentralised basis is a vital necessity With the introduction of panchayati raj consideration will have to be given to the setting up of 'community banks' having responsibility of serving as bankers to panchayati raj institutions and assisting in the economic development of the rural communities

MODERN banking facilities are hardly available in the vast rural areas of our country This is due to the fact that banking even now remains largely concentrated in the industrially and commercially developed regions But to talk of the problem of rural credit is to refer to the much more difficult problem of making credit available to the agriculturists for their agricultural operations and to the rural sector of the economy generally The importance of this problem would be obvious if account is taken of the facts that nearly 80 per cent of our people live in the villages, nearly three quarters of them are dependent on agriculture, and that agricultural production contributes to nearly half the annual gross national product In a way, therefore, to talk of the problem of rural credit is to talk of institutional finance for agricultural production

Though agriculture is both an art and a way of life, yet it remains a business and like other businesses cannot be carried on unless funds are available for the maintenance, replacement and improvement of its capital equipment, and for the working expenses of its production The need for such funds becomes all the greater when, as in our case, agriculture has to be greatly improved New and improved methods of farming have to be adopted, involving the use of better farm implements, better seeds, more fertilisers and irrigation water Even for subsistence farming credit is necessary

Agriculture differs from most other industries in several important ways and it is from these differences that the special difficulties of providing credit for agriculture mainly arise Unlike big industries, which concentrate in certain areas and take the form of public companies with limited liability and have extensive capital resources and salable assets the overwhelming mass of agricultural production is in the hands of individuals or families, conducting relatively small independent enterprises with very limited capital and equipment It is this very large number of producing units, the limited capital resources of each producer, and the personal nature of his enterprise that cause many of the difficulties inherent in the provisioning of agricultural credit While the personal nature of the enterprise and the limited means of the producer make it more important for a lending institution

to keep greater personal contact with the borrower, because of the numbers involved and the persons being distributed over vast areas of the country, some even difficult to reach, maintaining such personal contact becomes almost impossible

Another special feature of agriculture is its long production period This restricts the use of commercial banks as direct sources of credit to ordinary farmers, as banks require quick turnover of their money Then there is the question of long-term financing for purchase of land, of cattle or machinery or for making land improvements To the ordinary commercial banker financing of agriculture is generally unattractive because the cost of administration is always heavy and the risks involved higher than in other businesses

Administrative Problem

Any system of financing the farmer has to take care of all his credit requirements, short-term, medium and long-term, production credit and personal credit, and assess the overall risks involved to ensure that the farmer's total indebtedness is not beyond his capacity to bear and not such as would cripple his productive capacity altogether and make him permanently indebted Not only will the needs of individual farmers vary, there will be considerable difficulty in assessing individual requirements To make necessary funds available to a very large number of farmers and to have to assess their requirements separately is the main problem of agricultural credit, and this is a problem of administration more than of economics

Thus it is that the cooperative channel of financing has come to be regarded as the only feasible one The experience of many other countries has already proved this to be correct The cooperative being located in the village itself or near at hand can keep in close touch with all the borrowers The members of the cooperative have mutual knowledge of each other and can vouch for each other's character, capabilities and requirements and so the society can lend without undue risk and supervise the use of the loans without much difficulty Being autonomous in its working the cooperative society can mould its policies and practices to suit the different conditions of different regions or of individual borrowers But above all, the cooperative approach seeks to inculcate in the members the habits of self-help, thrift and mutual cooperation, and promotes in the community social cohesion It faces realistically the fact that, to a very large extent, the people in the rural areas will have to depend on themselves and on their own resources, and has the faith that cooperatively they can do much more than they can do individually

Socialist Pattern of Society

The cooperative was introduced in this country around the turn of this century But during the British regime it made very little progress In our five year plans cooperation has been accorded a very important place both because of its practical significance and because it is in accord with the basic policies of the country of promoting a socialist pattern of society and a democratic welfare state In the Second Five Year Plan it was said, "Economic development along democratic lines offers a vast field for the application of cooperation in its infinitely varying forms Our socialist pattern of society implies the creation of a large number of decentralised units both in agriculture and

industry" "The cooperative form of organisation has advantages which neither the system of private enterprise nor of State ownership can match In particular, it offers the means to achieve results valuable to the community by drawing equally upon incentives which are social and incentives which are individual"

Uneven Progress

The progress already achieved is significant The number of primary agricultural societies has increased from 1,05,000 in 1950-51 to 2,15,000 in 1961-62 Their membership has grown from 44 08 lakhs to 195 06 lakhs and working capital from Rs 37 25 crores to Rs 325 25 crores While these are impressive figures for the whole country, the progress is not uniform all over the country and only the fringe of the problem has been touched While the progress in a few parts of the country has been encouraging that in several other parts has been most disappointing Much thinking, planning and effort has gone into the endeavour to develop the cooperative sector, but I doubt whether it can be confidently said that we have even reached the high-road that will lead to success in achieving our declared goal I will not discuss in any details the various aspects of our cooperative programme that continue to remain weak, nor the defects that persist in the implementation of the programme, nor the other reasons that continue to hamper progress These have been considered by many committees, working groups, etc, and voluminous reports have been published to make all this common knowledge I shall, therefore, refer to other aspects of the question

Educating the Villager

It is necessary to realise that the task is a very difficult one It involves educating, organising and motivating hundreds of thousands of rural people into new beliefs and ideas, to function intelligently and actively in new democratic institutions, and to apply themselves to new tasks of economic and social welfare To bring about such a change over a vast country and in respect of people largely illiterate and tradition-dominated will be complicated, laborious and time-taking But what is most important is that the cooperative activities are closely and effectively linked with the promotion of the economic and social welfare of the rural people and that this is demonstrably so and carries conviction with those people

The cooperative movement will have little chance of success if there is not adequate success in improving agriculture and in promoting rural industrialisation, though success in the latter field may be dependent, to some extent, on success in promoting cooperation Sound and good planning and efficient implementation of the plans will be needed Agriculture alone can never provide employment to the entire labour force of the rural areas unless it means employment at subsistence and even below subsistence level If rural industrialisation does not provide other avenues of employment in the rural areas, much of the labour force from there must continue to migrate to areas of industrial concentration and thus create both social and economic problems

But to be able to achieve the twin purposes of providing employment or fuller employment to the surplus labour force and to add to the production of wealth in the rural areas to secure for the rural people a rising standard of living above the level that can be achieved only on the basis of an agricultural economy, however improved it may be, it is necessary that the programme of rural

industrialisation should be well-planned and co-ordinated with the plan of agricultural improvement as well as with the plan for large-scale industrial development

I am talking of rural industrialisation and not of rural industries or what are more commonly known as village industries While the latter may have to be rehabilitated and kept going for some time in the absence of something better, they cannot be preserved at the low level of technology for all time to come There has been much sentimental, unsound and often confused thinking and talk in recent years about the place of traditional village industries and the need to preserve them as they are There could be no doubt that the success of any programme of rural industrialisation must depend on the selection of industries which are economically viable or can be made so fairly quickly and which are capable of adopting progressively improving technology

Viewed in its true perspective the objective of rural industrialisation, to quote the words of Professor Gadgil, should be, "Industrialisation of the country as widely dispersed, at as small a scale, with as high an employment potential as is compatible with an efficient technique and the requirements of the development process" When I talk of agricultural development in this context I am thinking of agriculture developing eventually into an efficient commercial business Planned on a decentralised regional basis it should be possible to bring about a great deal of mutual assistance and interdependence between agricultural development and industrial development in the rural areas It is also possible to plan for a degree of mutual assistance and interdependence between the small-scale industries that will be dispersed in the rural areas and the large industries that would be concentrated in the industrialised belts of the country

Making Rural Economy Creditworthy

Provisioning of credit for rural industrialisation will have to face difficulties of a somewhat similar nature as for agricultural development, and more or less, for similar reasons The credit rating in the case of both purposes will be low, judged by usual banking standards But in both cases the needed credit will have to be found to improve the creditworthiness This shows the complexity of the situation, but also the vital importance of adopting a sound plan of economic improvement of the rural areas which has the promise of making that economy viable and creditworthy, for an ever-increasing level of investment, taking into account all relevant factors, e g, the growing population, the inadequacy of the total resources, the lack of technical knowledge and managerial ability in the rural areas, the limited market that there will be in the beginning, etc The problem of rural credit is only one side of the coin, the other side is the problem of making the rural economy creditworthy Only together can these two problems be solved

Decentralization

The question may be asked how can the kind of development of the rural areas that I am talking about be achieved My answer is that this will not be achieved unless there is an overall policy of promoting decentralised socio-economic communities within the framework of a Democratic National Government and a National Plan of development A centralised approach will be

doomed to failure I will not go here into the question of how decentralised planning for regional development is fully compatible with an overall, integrated National Plan The point need not be argued since, as I see it, we have already accepted the policy of decentralisation by the adoption of a far-reaching and radical concept of panchayati raj and by assigning a very large and important place to the cooperative form of organisation in our development programme

The development of the right kind of local leadership will be a matter of vital importance for the success of the development programme and only a far-reaching decentralised approach will promote such leadership The scheme of panchayati raj will succeed only if the principle of decentralisation which it incorporates applies equally to the political, social and economic spheres To tell the village masses, who live in utter poverty, that the panchayati raj institutions are their institutions and are being given wide functions will not impress them unless they find that these authorities are able effectively to deal with their economic problems They should be able to command adequate financial resources for this purpose They will have to look after the improvement of agriculture in the village and the promotion of industries that will provide employment to the unemployed or the underemployed, and not only take care of the civic functions commonly attended to by local authorities I even visualise zilla parishads and panchayat samitis starting industries which will be publicly owned, just as State Governments and the Central Government have public undertakings, in order to improve the economic life of the village people

Cooperative Basis

No doubt these industries will have to be of the kind which can be developed largely on the basis of local effort and within the capacity of the local authorities to manage The fruition of an idea like this may take time, but such must be our goal In addition there will be many industries organised on a cooperative basis The social objectives of our planning require that the development of the rural areas, whether agriculturally or industrially, should be organised on cooperative lines as far as possible If the rural people have to promote their own industries, based as these must be very largely on their own effort and local resources, there seems to be no other alternative than to promote these largely on a cooperative basis But it will be wrong to assume that the cooperative form of organisation necessarily goes only with the backward economy of rural areas, with technology of a low order, and marketing based on the idea of self-sufficiency of the village It is possible, and this has been demonstrated in many advanced countries, to organise on a cooperative basis efficient production, sound business management and a steadily improving technology

Raising Resources Locally

Now I come to the very important question of how adequate financial resources can be made available for the kind of rural development that I have visualised Space does not permit going into the details of this question The general principle, which I think is of some importance and, in my opinion, has considerable validity, is that to a very large extent the resources needed for

the development of the rural areas on the pattern indicated by me should be raised in the rural areas alone This is a principle which has a long-term validity, but it does not mean that in the short run outside assistance would not be needed Such outside assistance is being given by allocations under the five year plans, particularly, under the programme of community development, the programmes for the development of cooperation, agriculture, village industries, etc

I visualise that when the panchayati raj institutions are fully developed they should be able to raise significant amounts by taxation Not all these taxes need be imposed or collected by them Some, as for example, the land revenue, may remain a State tax, but the panchayati raj institutions would get their share of the proceeds Other taxes may also come in the category of distributable taxes But the list of taxes which the panchayati raj institutions will themselves impose and collect should go on increasing and should bring them more and more revenue Then there should be loans given to them by the State Government They should also be able to borrow from the market themselves With the strengthening of the cooperative movement and its banking channels, more and more funds will be raised by the cooperative sector and become available for development purposes, i e , by raising of share capital of the cooperative institutions, building up of reserves and borrowings from outside sources

Common Banking Structure

For carrying out their development responsibilities of the kind that I visualise they should ultimately have, the panchayati raj institutions will need banking services which the cooperative channels will not be able to provide Our cooperative movement has so far been geared to meet primarily the requirements of agricultural development Even with a great deal of rural industrialisation agriculture will still remain the predominant activity of the rural communities I doubt, therefore, that the cooperative banking channels will be able to help much in the development of industries in the rural areas Their bias is bound to remain in favour of agriculture The panchayati raj institutions will in course of time need a variety of banking services, as for example, for managing their growing cash transactions, help for raising loans for capital and public works, working capital for their industries etc We must also bear in mind that as our agriculture gets commercialised, as it must, to provide a higher standard of living to the people engaged in it and also to sustain a development programme of growing magnitude, it would need very substantial capital investments I feel that in our country a mixture of the approaches of the cooperative and commercial banks in financing agriculture will be to agriculture's advantage In the ultimate picture it may be an advantage to have a common banking structure to meet the requirements of rural development based on the promotion of both agriculture and rural industrialisation

Community Banks

There would be need for a 'community bank' having the special responsibility of serving as bankers to the panchayati raj institutions and of assisting in the economic development of the local communities In suggesting this I am, of course, presuming that the panchayati raj institutions will develop into decentralised local authorities of the kind I have visualised It is futile to expect that branches of big commercial

banks can play such a role It is also difficult to conceive that a cooperative society or bank can play such a comprehensive role In the 'community bank' that I am suggesting there should be combined the good and strong features of both cooperative and commercial banking They will have to function on a highly decentralised basis and in close alliance with the local authorities They could be brought into being by the participation of a number of financial institutions, such as the State Bank of India, State Financial Corporations, Cooperative Banks and other commercial banks, in the same manner as some of the developmental financing institutions have been created There is no reason why such small banks cannot function efficiently if a good system for their control and guidance by experienced institutions like the State Bank of India and the Reserve Bank is devised

Small Banks in U. S. A

I must confess that I have not given enough thought to this idea of a "community bank" to be able to elaborate it, but I do feel that the idea is worth exploring In the history of banking of U S A, during the early period of the country's development when the population was moving from the Fast to the West and opening up new areas, small banks as community banks played a very valuable role They grew and progressed with the newly established communities and helped those communities to progress Their sense of loyalty and obligation towards the community in which they functioned was strong There are lessons for us to learn from this history of American banking, both good and bad My main point is that in developing our rural areas on a decentralised basis and through the promotion of an agro-industrial economy we would need an integrated, decentralised, but efficient banking service wholly dedicated to the cause of this development Its policies, functions and procedures have to be in harmony with the requirements of the region and the economy it has to serve

A corollary of this idea is that this banking structure should be assured of the bulk of the savings and business of the community it has to serve For, as I have said, the rural areas have to develop very largely on the basis of their own resources Today, there is growing competition between commercial banks, cooperative banks, Government's small savings drives for the savings of the people Commercial banks are opening branches in the countryside Some kind of allocation of fields of operation between these agencies may have to be thought out if the concept of decentralisation is to ultimately succeed in a large way It should not at all be difficult to arrange for a great deal of collaboration between the different financial institutions operating in the countryside, which collaboration will be to the advantage of all of them The need for such collaboration and understanding between the Reserve Bank, the commercial banks, the development banks and the cooperative banks is already becoming apparent under the impact of our economic development

Bombay
6 September 1963

IMPACT OF KHADI ON OUR ECONOMY AND SOCIAL ORDER

ARUN CHANDRA GUHA

The impact of the programme of khadi and village industries on our social and economic conditions has to be judged by the extent to which it succeeds in giving relief to the poorest sections of the community

THE programme of khadi and village industries has come to Government of India directly as a legacy of the Father of the Nation Throughout the period of struggle for independence under the leadership of Mahatma Gandhi, this programme played a very important role Every worker was pledged to the creed of khadi and village industries So the Government as a whole or the persons holding responsible positions in the Government are emotionally attached and committed to this programme But it would not be correct to say that this emotional attachment is the only reason for our Government to accept the policy of promoting village industries India is a poor country Before the Second World War, the per capita income of India was a little more than Rs 100 per annum Even now, vast masses of people are unemployed or very much underemployed It is an obligation for any Government to find some employment to the unemployed or underemployed masses and thereby increase their per capita income There is some assessment of the urban unemployed through the Employment Exchange, but the position of employment in the rural area is anybody's guess Yet it is known that a vast portion of the rural people is only partially employed—for about 150 days a year only.

Time for Assessment

That is the economic and social reason for drafting this programme of khadi and village industries From the beginning of our independent nationhood, we have been working this programme with the idea of providing an alternative source of employment for the rural unemployed and partially employed After pursuing the programme for about 16 years, it may be appropriate to make an assessment of the impact of the programme on our social and economic structure It is seriously contended that real income of the lowest stratum of the people has not increased during the last 15 or 16 years, their income might have increased in terms of money but not in terms of goods and services enjoyed by them It should now be examined if this programme has made any contribution in changing the pattern of our rural economic order

Performance of Khadi Industry

From the latest annual report (1961-62) of the Khadi and Village Industries Commission, we find about 17 lakhs of persons

are engaged in khadi work and most of them are part-time workers The Commission has distributed a little over Rs 17 crores to these 17 lakhs of men, so the per capita earning of these men could be just about Rs 100 per annum, or Rs 8 33 per month For a poor country where the poorest section of the people have an earning of only about Rs 8 to 10 per month, this addition of another Rs 8 is not a negligible figure On the basis of the calculation made in the Third Plan report the total number of unemployed in the rural areas would be a little above 1 75 crores (including a little over 1 15 crores of new entrants into the employment market and about 60 lakhs from the backlog of the Second Plan) If the khadi programme has given part-time employment and an average remuneration of about Rs 100 per head per year to 17 lakhs of men, it has helped about 10 per cent of the rural unemployed This is not a very mean performance Of course, this calculation has not taken into consideration the vast number of underemployed

The entire khadi programme has on its credit side the sale of a little over Rs 17 crores for the year 1961-62 and in that very year, the Commission disbursed in grants and loans about Rs 18 crores On reading the report one feels surprised that the Commission disbursed a sum of Rs 17 93 crores for the year 1961-62, the whole programme also produced khadi of the value of Rs 17 54 crores One may be tempted to presume that the entire amount was a sort of gratuitous relief by the State to the spinners and weavers engaged in khadi programme But I think this is not a quite correct assessment, the disbursement every year does not all come from the Government A portion of it is the earning of the Khadi and Village Industries Commission which gets the sale price of khadi, and a portion of it has come as part repayment of loans advanced In this regard, one disquieting feature is the ever-increasing amount of outstanding of the loans —now standing at Rs 35 58 crores It may be questioned if the entire amount will ever be realised

State Boards

Two years ago, the Khadi and Village Industries Commission's work was examined by the Estimates Committee of Parliament It was noted there that the Commission disbursed over Rs 22 crores to the State Boards but utilisation certificates were received only for Rs 1 47 crores So from the point of view of audit and accounting, it may be argued that an amount of about Rs 21 crores still remained unaccounted for We may hope that the State Boards have been now functioning properly in the matter of accounting and audit formalities It is our sad experience that while the Commission itself wants to work in a sincere and earnest manner, the State Boards often do not show the same mental attitude Often politics plays a dominant role in the formation and working of the State Boards It might not have been a wise decision of the Commission to delegate the working of the programme to the State Boards, leaving for itself only some authority for disbursing money and an ineffective supervision

We are afraid that the Commission often takes up a very diffused programme Spinning, weaving and the sale of khadi form the main programme for the khadi section of the Commission, and now it has decided to leave the production and sales of khadi to the State Boards But we are not sure if it was wise on its part to enter into

the field of experiment and research in the production of cotton That should have been left to the appropriate authorities—the Central Cotton Committee and the Ministry of Agriculture On that analogy, the Commission should have reason to go into far wider fields or agricultural experiment and research For all this there are specialised bodies

Power in Cottage Industries

Use of power for cottage industries has been under discussion for a long time As far as we have been able to understand the mind of Gandhiji in this respect, he would have had no objection to that as he had advocated the use of any mechanical device to lighten the labour of the primary producers The vital point on which he insisted very much was that the worker must be the owner of the means of production and of the fruits of his labour and that he must not be converted into a bond-slave In preference to hand sewing, he had no objection to take the sewing machine as that would very much relieve the hard and tedious labour of the women at home Yet the Commission had much hesitation in accepting the use of power in village industries A committee was set up to consider the question of power being used for cottage industries The Committee recommended the use of power, but we find from the report that the Commission is still hesitating and is trying to "take measures for the production or generation of power on a decentralised basis"

Generation of Power

The Commission's idea is "the decentralised production of power from locally available material should be treated as a primary village industry" We are afraid the Commission would be treading into difficult terrain For the production of power the Government machinery, almost the monopoly machinery now is the Ministry of Irrigation and Power and its subordinate agents This is a specialised subject and every attempt should be made to produce power at a cheaper price The bigger the unit, the less is expected to be the cost of production of power

One of the handicaps from which cottage industries suffer is that their cost of production is higher than that of factory-produced articles And one of the means of reducing the cost of production is the use of cheap power Now if the Commission's idea of decentralised production of power is given effect to, that would mean that the cottage industries will have to bear a higher charge for electricity Moreover, if rural industries are to wait for the decentralised production of power, we apprehend they may have to wait for an indefinitely long period The Commission has been considering the utilisation of cow-dung gas and solar energy We have yet to know—in spite of long years of publicity about these —when these may be of any real service to the rural people A difference has to be made between demonstration-production and commercial production

Unfounded Fears

It is no use being too sensitive or doctrinaire in matters affecting the economic life of the nation or even of the poorer section of the nation The Commission should not feel that power of a big generating unit may pollute the cottage industries if introduced there The first consideration in this matter should be reducing physical

strain and reducing the cost of production, thereby giving the village worker some relief from the strain and some more money Human labour should be given its proper dignity and should not be treated as labour of the beast of burden

What we have said about khadi would apply equally to almost all other village industries We think that for handmade paper power is more necessary than for khadi, in soap production also power may give better result It may be apprehended that introduction of power may result in reducing the employment potentiality of the programme But textiles and other consumers' goods being rather in short supply, no such fear is justified Further, the introduction of four or six spindle charkha with gear and ball bearing should also have been avoided—on the analogy of objection to electricity.

Ambar Charkha

The Commission has made several experiments about improving the charkha It would be worth while to assess the future fate of the ambar charkha programme About four lakh ambar charkhas have been distributed, about two lakhs of ambar charkhas are now lying idle The Commission is now thinking of turning them into six-spindle charkhas and also improving their mechanism to make them lighter and easier to ply. That would give greater output and higher remuneration Before undertaking the programme of remodelling this old ambar charkha it is better to see whether, ultimately, it would be cheaper to produce a better type of charkha than to remodel this old ambar charkha. Voluntary certified organisations have been asked to take over the old ambar charkhas, but they have all been hesitating to do so

Ambar charkha was introduced with great optimism as a better type of charkha with higher productivity and more remunerative to the spinners There is wide scope even now to have a charkha with gear and ball-bearing and lighter to ply If necessary such a charkha should be run on power That would give us a sort of a spinning machine on the cottage industry scale On the weaving side, there is yet the resistance to accept power We appreciate that powerloom instead of handloom may mean reduction in the employment potentialities of the programme, but we think that in view of the not-too-abundant supply of textiles, such a fear is not fully justified

Employment, Earnings and Price

While employment is an important aspect, another equally important aspect is to ensure a proper remuneration to the men engaged It may be considered by the Commission whether the improved spinning machine to be worked with power, together with powerloom, cannot be taken as a basis of cottage industry We should not base our programme on the assumption that the volume of unemployment will not be relieved in the foreseeable future The question of supply of consumers' goods at a fair price is also a very important issue at the moment The programme of khadi and village industries should not become an impediment to that

It should be remembered that the economy of India is passing through a crisis. The crisis is one of high cost of production and inadequate supply of goods, both leading to higher price and, consequently, to higher cost of living Among the reasons

for the higher cost of production, one is the necessity of finding employment for the unemployed or underemployed For that we have the programme of labour-oriented industries as against capital-oriented industries Capital-oriented industries can supply goods at a cheaper cost, but labour-oriented industries will naturally mean higher cost

Economically Viable Programme

During the Second Plan, the Government spent a little over Rs 87 crores for khadi and village industries, out of which Rs 68 68 crores alone went for khadi, and the provision in the Third Plan period is Rs 92 crores for khadi and village industries This is a big investment And the value of the products out of these investments may be just of the same amount, as we find from the report of the Commission for consecutive years This makes an impact on the total cost of production of the other articles as also on the taxation policy of the Government We should also remember that the old generation of leaders who were pledged to the creed of khadi is passing away, the new men would not have that emotional attachment to this programme So it is time that the programme is placed on the basis of economic viability

Khadi and village industries as we have stated earlier have been taken up by the Government not only as a sacred legacy of the Father of the Nation but also as a measure for improving the economic condition of the poorest section of the people It is to be judged now how far it has been able to give relief to the poorest community of the nation One may be tempted to say that the impact of khadi and village industries on the social and economic life, not only of the whole nation but even of the poorest section, is not yet so appreciable as to justify an expenditure of about Rs 92 crores in five years of the Third Plan Advocates of big industries can claim that with Rs 92 crores the Government might have established some more cotton mills and factories for producing consumer goods The present scarcity of textile and other consumer goods has led to higher prices The spiral of high prices of consumers' goods is a serious problem for the Government To relieve the scarcity and thereby to reduce the prices of consumers' goods, people may argue that the Government should consider whether they should lock up the huge amount in programmes where production would be comparatively low, and would not help in removing the scarcity of consumers' goods by making more fruitful investment

The Commission and the advocates of khadi and village industries will have to satisfy themselves that these investments will really help in removing substantially the scarcity of consumers' goods, particularly of textile goods—at least for the rural consumers Economic viability not only of the industries set up but also of the programme should receive more attention This is a programme for the benefit of the poorest sections of our people, it should be our concern to ensure that these men live consistently with the developing aspirations of the people

New Delhi
7 September 1963

★

WHITHER KHADI?

DHWAJA PRASAD SAHU

For securing expansion of khadi work on a large scale popular support will have to be mobilised This can be achieved by enthusing people to shoulder responsibility for its development The new proposal for free weaving of khadi and the gram ekai *programme provide an opportunity to the workers to advance in this direction*

A REPORT of the activities of the Gandhi Ashram of Akbarpur (in Faizabad district of Uttar Pradesh) submitted to the annual meeting of the ashram held last month, showed that achievements in respect of production and sale of the ashram during last year had fulfilled the expectations In spite of this, there was no programme of expansion planned for the coming year This state of affairs obtains in respect of khadi institutions all over the country The old major institutions have reached the limit of their capacity and are not willing to expand their work The new institutions are short of efficient workers as a result of which they are not able to take up programmes for expanding their work Besides, the usual difficulties about marketing are also there Though there has been good progress in the production of *kambals* which are being produced for supply to the armed forces, the production of cotton khadi is increasing only at a snail's pace in some centres It would not, therefore, be wrong to say that khadi production has reached a stage of stagnation This is a state of affairs which should cause anxiety about the future of khadi It is said that anyone whose growth is stunted is not likely to survive Are the prospects for khadi equally depressing?

Rebate, No Solution

Some of the responsible persons connected with the khadi institutions hold the view that the present rate of rebate of 25 naye paise per rupee on khadi sold should be gradually increased so that the cost of khadi would be reduced and its production could be increased It is a point for consideration whether the khadi industry could be stabilised by increasing the quantum of rebate when khadi is twice or thrice as costly as—or even costlier than—mill cloth, and whether the Government could be induced to make available the necessary finances I feel that the foundations of khadi industry cannot be strengthened by increasing the rate of rebate--which itself is not feasible—unless the whole problem is viewed from a fundamental perspective Since the survival of khadi itself is at stake, those interested in the survival and development of khadi should give serious consideration to the problem and chalk out some firm and revolutionary steps for imparting strength to the khadi industry

Acharya Vinoba Bhave is not satisfied with the present slow pace of khadi work

and he holds the view that khadi cannot survive unless some revolutionary steps are taken It is, therefore, that he is advising the khadi institutions to forgo aid for khadi industry in the form of rebate Khadi can survive only if it is based on the willingness of the people to make sacrifices for their neighbours At the meeting of the Khadi and Village Industries Board held in Nabadwip in West Bengal khadi workers showed their readiness to give up aid in the form of rebate if it was substituted by free service for weaving hanspun yarn Vinobaji accepted this as a compromise proposal He believes that khadi can make sufficient progress by the new arrangement and khadi work can be broadbased by this changeover which would also strengthen the foundation of the khadi industry

At present the khadi industry is neither self-sustaining nor does it have popular support It is surviving because it is associated with the name of Gandhiji and as a result of the benevolence of the present Government For securing expansion of khadi on a wide scale, we will have to mobilise popular support Khadi institutions will have to change their present form and methods of work Those in charge of khadi institutions should take steps to hand over charge of the work which is being carried on by the institutions, to the people The new facility of free weaving for khadi provides opportunity to the workers to strive for the fulfilment of this objective

Tasks for Workers

At present hundreds of khadi institutions are carrying on khadi work in nearly a lakh of villages through some 30,000 to 35,000 workers throughout the country I think that 20,000 to 25,000 of these workers can take up work relating to the intensive development of handspinning in units with a population of 5,000 each, and encourage villagers to consume a major portion of the khadi produced in the village by explaining to them the philosophy of khadi It would be necessary to convince the gram panchayat that it is its responsibility to provide work to the unemployed in the village Khadi workers should address themselves to the task of setting up institutions at the panchayat level which should be run by the local population Many of the 25,000 workers to whom I have referred earlier may be residents of these villages They can take up the responsibility of organising the work on these lines in their areas and set an example to the villages in the neighbourhood and create a favourable climate for organising work along similar lines in them Other effective methods of rousing popular enthusiasm and mobilising it can be found out I have only shown lines along which we can proceed

Targets

The gram ekai programme formulated by the Khadi and Village Industries Commission is a step in this direction Though the targets set up for gram ekais are quite high and will take quite some time for fulfilment the target fixed for the initial period is consumption of only a square yard of khadi per head of the population living in the ekai It is true that the new ekais would need some time to achieve even this modest target Every khadi institution should strive for the fulfilment of this modest target in villages where its production centres are located and inspire the local population to shoulder the responsibility for it

A heavy responsibility rests on the institutions under the new scheme of free

weaving of khadi and they will have to make arrangements for weaving of khadi in all places wherever spinning is carried on This is indeed a difficult task though not certainly an impossible one This should be achieved easily in places where services of professional weavers are available In other places new persons will have to be trained in the technique of weaving Since our experience is that a number of persons who take training in weaving, do not later on take to it to earn their living, many persons are doubtful about the effectiveness of the programme of training new weavers It should, however, be remembered that a large number of people who took training in weaving in the past have become good weavers and are earning their living through weaving We have hence to choose persons who are really interested in taking up this work Imposition of work on unwilling persons will not prove beneficial The fact that thousands of ambar charkhas are lying idle bears testimony to this In the end we must remember that though our path is strewn with difficulties nothing can come in the way of a dedicated person striving relentlessly to attain his objective

Patna
20 August 1963

The prescriptions of the State are never final prescriptions The guide to our conduct is not the voice of authority, save in so far as the results of authority go to the realisation of ideal right A State must give to men their due as men before it can demand, at least with justice, their loyalty And it may be urged that in a period when active citizenship is coincident, broadly speaking, with the adult population, the test to which the State is submitted becomes more serious than at any previous time Men who are granted political power sooner or later become insistent that the result of power be rights They will seek the institutions through which the substance of rights can be best secured They will either universalise privilege, or else abolish it They will insist that liberty and equality are inevitable corollaries of a democratic system They will seek the diffusion of those notions through the whole fabric of the community, at least to the point where the power of the State is placed with approximate fairness at the disposal of all In the end, resistance to such demands is difficult, for, as Acton pointed out, there is a reserve of latent power in the people which few minorities have either the strength or the cohesion to overcome The State, therefore, which seeks to survive must continually transform itself to the demands of men who have an equal claim upon that common welfare it is its ideal purpose to promote.

Harold J. Laski, *A Grammar of Politics*

FUTURE OF KHADI

R K PATIL

Khadi cannot survive unless it becomes an integral part of the life of the community Commercial khadi has a very limited role to play

WHAT is the objective behind khadi? Is it to be utilised as an instrument of ushering in a new society with new values of life, or is it to provide employment, rather residuary employment, to those who need it? The absence of a clear formulation in this respect is responsible for some confusion and also difference of opinion amongst khadi workers When driven to a corner in argument some of them say that their objective is the latter, and let the Akhil Bharat Sarva Seva Sangh or some other institution take upon itself the responsibility of ushering in the former But those who argue like this fail to realise that, from this angle they have no claim to exploit Gandhiji's name and associate it with the khadi of this description For whatever may have been Gandhiji's approach in the twenties, when khadi work was first started, in the forties, when he gave a new orientation to khadi work, he was very clear on the objectives of khadi When he said "spin, spin knowingly, and those who spin should wear khadi, and those who wear should spin " etc, it is crystal clear, what he meant by the new outlook on khadi He wanted to use it as an instrument of a peaceful social change, which will lead to the establishment of a society based on non-violence, i e, a non-exploitative society This is basic, and those khadi workers who would like to continue as before, had better realise this as early as possible Then, not only will they realise the inherent weakness of their own position but perhaps also feel inclined to examine and consider the alternative objective

Evaluation Committee's View

When the Evaluation Committee reported on the progress of khadi work, and according to some critics, failed to give due credit to the Khadi and Village Industries Commission and khadi workers for the great progress made in the production and distribution of khadi, they had obviously in view more the future of khadi work than a judgment on present achievement Their main criticism was that khadi work was limited only to certain traditional areas, and there, too, it was not integrated in the life of the rural community They felt that khadi had a future only if it was so integrated This judgment was upheld by the Pusa Declaration which desired that khadi work should take a new turn (*naya morh*) so that it could satisfy this basic condition Hence the *gram ekai* programme and the decision to transform present khadi work into intensely developed *gram ekais*

I will not dilate on the difference of view about the objectives now I take it that even

the waverers would see light if they are told that they cannot utilise Gandhiji's name for the type of work they are doing. But even a sincere acceptance of the new objective will not be of much avail, unless there is a clear realization of how khadi work can be reoriented to achieve this new outlook. What is the new society and what are its new values? The new society is non-exploitative, and the new value is that all socially useful work must carry an equal or a near equal wage to enable its follower to live in society as others do. That is food production, cloth production, oil production, carpentry, smithy etc., all trades necessary for sustaining the life of the community, being equally necessary, must be equally remunerated. This is the real meaning of the expression "production for use".

A community produces for its needs, and all who produce share the articles. From this proceed certain deductions. First, there must be a sense of community. For this to be generated it is necessary that the main assets of the society must be with the community. Hence Vinobaji was very clear in his address to the khadi workers at Nabadwip in West Bengal that khadi work had no future unless it was integrated with agriculture. Khadi is not spinning for wages or mere production and consumption of cloth locally. It is primarily production of cloth by the community for its own needs. Now so long as a man owns his land, he holds it even against the community. But once he donates it to the community, he holds it for the community. It is really not so material, whether there is any change in the extent of his holding before and after the donation and to what extent he has shared his land with others. Even if he has not done so, the fact that he holds the land now for the community does make for a total change in his outlook. Formerly he was cultivating his land. Now he is cultivating the community's land. He is still cultivating it for himself but, as Vinobaji often says, the donation of land to the community itself creates a community consciousness which has to be further developed. Hence his insistence that khadi work should be started on a priority basis in *gramdan* villages. But if it is functioning elsewhere it is not to be stopped. Only the workers should understand that it cannot stand by itself and has to become sooner or later *bhoodan*-based. In practice, therefore, khadi work must go hand in hand with propaganda for *bhoodan* and *gramdan* and *vice versa*.

Production for Local Consumption

A community's production of cloth for its own use is the only guarantee that it will continue to do so without being too meticulous about its cost of production, and only in such circumstances can it stand competition in an open market from mill-made cloth. No cultivator calculates the cost of his home-grown rice or wheat. Similarly, where a community decides to produce its own cloth, it will naturally utilise the most efficient means available to it, but, beyond this, it will not bother to enquire into the cost of production of its cloth and the market price of cloth. As the late J. C. Kumarappa used to say, when we want to eat *halwa*, we prepare and eat it, we do not calculate its cost to us and compare it with the market price at which it can be had. Similarly with cloth produced by the community. Here, again, the decision by the community is important. For it is only in circumstances in which the community decides to clothe and feed itself that such a method will be of avail. Such a decision by the community can only be translated into practice by fol-

lowing the principle of division of labour Some in the community will produce food Others will produce cloth Still some will produce pots, and so on But since the potter will need food and cloth and the cultivator pots and cloth and the weaver food and pots, and so on the produce of all will have to be shared by each This may be done physically in terms of goods, or monetarily, by fixing wages, and, to prevent idleness or indolence, relating the wages to output But it must be clear that within the community, the market will be for the goods produced by the community

Utopian

This will mean such an enlargement of the family life of an individual as to encompass the whole village community in it Is this ever possible? And if so, what would be the difference between this and a collective? It is rather difficult to answer the first question categorically—one can only point to the examples of some villages where this is the case after *gramdan* In these villages it was even noticed that members of the village community, who got employment outside the village, accepted a salary decided upon by the community and remitted the balance to the community All this may sound utopian In one sense it is so In Israel, about 300 such settlements are developing a progressively improving economic life, and they have been in existence for the last 40 years This is not to deny the idealism behind the conception, but to indicate that it has also been practised elsewhere From the standpoint of idealism all changes —especially revolutionary changes in social and economic structure—always appear to be idealistic particularly to those whose minds are not ready to grasp the new change contemplated In this sense *bhoodan, gramdan,* and even such innovations as the programme of cooperative farming would appear idealistic The objective should not, therefore, be ruled out of hand on this account

Freedom of Choice

But there would clearly be a difference between such a community and a collective The similarity would be that in both the individual accepts social regulation, particularly of his economic life But apart from its voluntary acceptance by the individual, the community would be free to plan its economic life as it chooses, unlike a collective, which is regulated in the interests of the large community known as the state Of course this does not mean that the interests and actions of the community would always run counter to those of the state But the community would be free to plan its production and consumption being guided by free market considerations

The view is advanced by some khadi workers that the introduction of the ambar charkha has so revolutionised the khadi technique that it would now be possible to produce and market khadi on a very large scale This view places more reliance on the larger production and sale of khadi rather than on its integration in the community's life Even so, it has been greatly exaggerated, and faulty planning has resulted from the acceptance of this idea Nothing is more distressing and demoralising for khadi work than to see huge stocks of ambar charkhas lying everywhere in production centres* They are unlikely to be used in future, and will in all probability have

to be sold as junk While ambar charkha could give more employment and reduce the price of khadi, the price-difference between ambar khadi and ordinary mill-cloth is yet so overwhelming that ambar cloth is not likely to be marketed beyond a certain maximum Again, the idea that the introduction of ambar charkha has, to a large extent, solved the problem of giving employment through spinning has also its severe limitations Spinning cannot be lifted from its position of a provider of residuary employment by the transition to ambar charkha, because it will still need state assistance for being marketed

Not by Spinning Only

And while the responsibility of the state to provide employment to every able-bodied person is accepted, it will be an entirely different proposition to say that such employment must be given through spinning only The state has various avenues of work, and can insist that spinning as a source of employment be made available only after other avenues are exhausted so far as all able-bodied persons are concerned Therefore, the condition that all yarn produced on the ambar charkha must be purchased by the state at rates which will provide living wages to the spinner can only be accepted with the above qualification The conclusion, therefore, is inevitable that khadi can remain a more or less permanent feature of the rural economy, if and only if, it is adopted by the rural community as the instrument which provides its clothing, and therefore, integrates it with other economic activities of the community

Objective of Khadi

A little thought will show that such integration involves the substitution of the present family economy by that of the community Production and distribution must be planned by the community and not by the individual as at present This is the change in the rural mind which has to be brought about before khadi can be made a permanent feature of the rural economy Such production can stand on its own legs without any help from the state, while khadi, which seeks to provide employment only, depends for its existence on state assistance and vogue set in by Mahatma Gandhi It will last till these two factors operate

Let khadi workers not be misled into a false sense of fulfilment by the temporary increase in production and sales, and the conversion of the khadi bhandars into khadi bhavans This is no fulfilment of the genuine purpose of khadi work, which is, as indicated above, to create a new society with new values This was the dream of Mahatma Gandhi, which remains unfulfilled A few such areas where khadi is adopted by communities as a means of providing clothing and then gets integrated in rural life, will go a longer way in propagating the ideal of khadi than an artificially boosted production and sale of a few crores rupees worth of khadi, which has tended to create vested interests amongst khadi workers, and has blurred the genuine objective which should have been before them all the time

Nagpur
18 July 1963

---

* During the last two years the Commission has taken steps to put as many idle charkhas into active operation as possible Mention may be made, among others, of the sheme for renovating ambar charkhas to make them lighter and for conversion of existing 4-spindle models into 6-spindle sets, wherever there is possibility of spinners working longer hours on the charkha Till 31 July 1963 the Commission had renovated 26,705 charkhas and converted 10,50[illegible] charkhas into 6-spindle model —*Editor*

MISSION OF KHADI

JHAVERBHAI PATEL

Khadi in its present form has not been able to deal with the basic and vital problems of our economy Vinobaji calls this relief khadi Khadi activity should be so organised as to enable artisans to grow in knowledge, power and vitality This can be achieved by reducing the severity of their struggle for existence Our villages too will have to reorganise themselves into bigger and viable structural units of operation to enable the villagers to widen their mental horizon and development opportunities

THE time has now come when the khadi proposition needs to be restated In 1947 Gandhiji had said "The various constructive activities had so far been carried on in a sphere apart from the political With the assumption of power by the Congress the ministers could have availed themselves of their (constructive workers') experience and enabled them to spread on a countrywide basis what they had so far been doing on an experimental basis" We have now had experience of working out the khadi programme for over a decade under two five-year plans and we should be in a position to review as to how far this programme has made progress in the direction of fulfilling the mission of khadi or whether it is moving in the right direction at all

What is the central mission of khadi? What are the *shruti* (श्रुति) and the *smruti* (स्मृति) of khadi? Are the khadi programmes formulated and evaluated from time to time in terms of this mission?

Incomplete Concept

Gandhiji put in a terse aphorism the *shruti* of khadi—खादी कपडा नहीं, विचार है। Khadi is not cloth,' it is a value Evidently, under the limitations of the situation obtaining in his time, he could not work out the full implications of his aphorism He could take only the first step of evolving simple production techniques suitable for the prevailing situation* and some form of organisation also suitable for the prevailing situation Gandhiji believed in one step being enough for him But important though this first step was, it was not the last step, not even the intermediary step These steps were to be taken through exploration and experimentation But it appears as though we are trying to be too loyal to the first step and dare not embark on new experimentation The main reason for this state of affairs is the fact that the whole concept of the value or values that khadi stands for remains to be worked out in terms of the social order which would uphold and nourish those values The concept being incomplete, further steps become impossible and naturally the whole khadi programme is being worked out in terms of the first

* Gandhiji had announced a prize of Rs one lakh for an efficient charkha

step This halts the onward march of the khadi movement The evolving of the concept therefore, becomes the fundamental necessity of the khadi movement

पूर्ण पुरुष का अभाव

'The modern man is essentially a man betrayed betrayed by the innumerable political, economic, religious and technological priests, each highly specialised, each entrenched in his limited field and refusing to see the whole beyond the part' §

Movement of Workers

In the absence of a clear-cut picture of the social order envisaged through the khadi movement the policy and programme are naturally governed by the part perspective Khadi workers become specialists in certain aspects and function like all other specialists No wonder the khadi movement till today remains the movement of the khadi workers rather than the movement of the masses It is conducted under high pressure and has yet to take roots in the soil It has yet to catch the imagination of the masses, who feel that the programme is being worked more to satisfy the sentiments of the khadi workers than to solve the problems of the people. It is defined and governed by the part perspective The masses are unable to see its full prospects The part perspective plays a predominant role in the controversy regarding the techniques of production Even the transition from the simple to the ambar charkha had to overcome opposition In this controversy sometimes a part is emphasised to the detriment of the whole and sometimes the limitations of the situation are idealised

Usually some economic and social values like village self-sufficiency and social justice are associated with the khadi movement Khadi workers are expected to become the medium to propagate these values through the khadi programme Shri U N Dhebar, Chairman, Khadi and Village Industries Commission expects workers to foster moral values Because of the powerful factor of the influence of Gandhiji's personality, having its impact on the masses through his programme, we have been accustomed to emphasise the importance of this personal element in propagating these values but under the present circumstances, particularly it would be wise to realise the limitations of this influence In regard to the position of workers, Shri Dhwaja Prasad Sahu, Member, Khadi and Village Industries Commission, observes "In the past, there used to prevail an atmosphere of brotherhood and comradeship among khadi workers of an institution, but now with the increase in their numbers, the old ties are vanishing and these are being replaced by ideas of managerial control which involves change in relationship The idea behind the khadi movement was to form a family of spinners, weavers and all other artisans This idea has no place now in the management of the khadi institutions and the artisans are being treated as wage-earners" The stage has been reached when the khadi workers have formed their unions to regulate their relationship with their institutions. The relationship between the artisans and the institutions is practically commercial In the circumstances, to expect either the khadi institutions or their workers to become the medium for propagating moral values through khadi would be wishful thinking

Character of Programme

A more reliable medium than the personal influence of the workers is the charac-

§ René Fouere *Krishnamurthy The Man and His Teaching*

ter of the khadi programme Even the workers derive their inspiration from the programme What is more, workers are drawn to a programme according to its character If it is an inspiring programme it not only draws and inspires creative and talented workers but has its own intrinsic impact on the masses Has the present khadi programme any such appeal? In the eyes of the people, it seems to have been stabilised in its present form It seems to work within the limitations of the present social structure Spinning which provides employment to the greatest number in khadi production, is offered as a spare-time occupation to the farmers and others and even that only as a residual occupation It has not yet been developed as a whole-time occupation so as to draw a considerable number of workers away from agriculture Khadi, therefore, does not help the reorganisation of agriculture into cooperative farming, which renders manpower surplus Beyond providing relief, khadi has so far not been effective in decentralising economic power It has hardly had any impact on reducing the disparities and gaps between the village and the town Neither has khadi occupation made any contribution to the relief of the educated unemployed The present form of khadi thus does not deal with the basic and vital problems of our economy

Changing Formulae

Khadi workers have from time to time felt and expressed uneasiness about the programme Some have expressed doubt as to the wisdom of working the khadi programme as a part of the Government five year plans But it is not the agency of Government which has changed the character or the traditions of the programme The first five year plan for khadi presented by Shri Krishnadas Jaju to the Planning Commission was a programme of nothing more than an expansion of production of khadi cloth with the aid of subsidy Vinobaji calls this अकाली (relief) khadi Heart-searching among khadi workers gave the famous formula of *naya morh* evolved and adopted at a conference held in Chalisgaon in Maharashtra in 1958 Although this new formula conceived khadi as part of a plan for an integrated development of rural economy, partly owing to the limitations imposed by the Khadi and Village Industries Commission Act and partly owing to the hesitation of the khadi workers to adopt higher or what is now called intermediate technology which would really integrate khadi with the rest of the expanding economy, the khadi programme continues to be worked in isolation The latest formula which now holds the field, is the substitution of sales subsidy by weaving subsidy While this may have some salutary effect on achieving expansion of khadi production, it would hardly change the character of the programme in terms of transforming the social order

Mission

What value or values did Gandhiji associate with the khadi movement? In his discussions with Shri Jawaharlal Nehru in 1946, Gandhiji put down "the highest intellectual, economic, political and moral development of man" as the objective or the mission of the khadi movement "In this", he said, "there should be an equal right and opportunity for all" Through this movement he aimed at establishing the *sarvodaya samaj*, a classless society which

would help in the balanced growth of man in body, mind and soul

Equality of Opportunity

What is the root of the classes in our society? The root can be traced to the distinctions made between the nature of functions of the four *varnas* in the *Gita* The *Gita** describes the work of the *Brahmin* and *Kshatriya* not in terms of external functions, defined as learning, priest work and letters, or Government, war and politics respectively, but entirely in terms of internal character The work of the *Vaishya* and the *Sudra* is expressed in terms of external functions and this difference has a deep significance The first two take to external activities as a field and means for developing inner values The last two are usually turned outward and are more occupied with the external values of their work than its value for character Once this distinction in the growth of personality is allowed through distinctions in activities, it can never be obliterated through the best of the political systems Real equality is the equality of opportunity for the development of personality While the *Brahmin* and the *Kshatriya* get this opportunity, the *Sudra* particularly does physical toil under compulsion Rude toil is enforced on his animal indolence by the needs of the body, by the impulsion of life and by some form of direct or indirect compulsion which society lays upon him He performs toil for the society but makes no contribution to its progress He is satisfied with a modicum of labour and the reward for his labour

Viewed thus, are not the present khadi artisans working as *Sudras* merely for external values? This is the real challenge to the khadi movement Can it make them turn inward? It should for their highest development This is the real mission of khadi स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा Who are usually engaged in rude toil under compulsion and are working for external values, therefore, remain undeveloped, they should find in the khadi movement a transformation of their activities, which will enable them to work for inner values.

Shri Aurobindo observes that there are no exclusively different souls, one soul of knowledge, another soul of power, a third soul of vitality and a fourth soul of service, as if the fourth soul has to pass in successive lives through the third and the second stages to the first stage Each soul in fact has all these four aspects of knowledge, power, vitality and service, with a predominance of one or the other aspect There is a deep relationship between these inner aspects and the outer activities of man Rightly done, the work of the *Sudra* develops knowledge, increases power, strengthens vitality and raises skill This is the whole question How should the activities be rightly done? It is the mission of the khadi movement to find out a solution to this problem This solution should make for the highest development of the personality, as also for a classless society which would provide congenial atmosphere for such development

How should the khadi activity be organised to enable the khadi artisans to grow in knowledge, power and vitality? Is khadi

---

* शमो दमस्तप शौचम् क्षान्तिरार्जवमेवच
ज्ञान विज्ञान मास्तिक्य ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥
शौर्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्य युद्धचाप्यपलायनम्
दानमीश्वर भावश्च क्षात्र कर्मस्वभावजम् ॥
कृषि गोरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्
परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

in its mere physical aspect capable of doing this? The condition of the khadi artisans of long standing does not bear this out More important than the physical thing is the setting—scientific and technical, social and philosophical—in which the activities are carried on It depends on the setting whether the worker turns inward or becomes external minded, whether he works for internal values or for external values What is this setting which can enable the worker to turn inward and to work for internal values? It can be briefly stated as one in which, there is (1) no struggle for existence, (2) no class struggle, and (3) simple living and high thinking The first condition refers to the development of science and technology, the second to the right type of social organisation and the third to the proper philosophy of life

Science and Technology

No anti-vital civilization can survive, says Shri Aurobindo and adds, "Matter and life are the actual basis of man All the intellectual reasoning in the world, all the ethical idealism and spiritualism of which the higher faculties of man are capable, cannot abolish the reality and claim of our vital and material base or prevent the race from following under the imperative compulsion of Nature, its aims and the satisfaction of its necessities or from making its important problems a great and legitimate part of human destiny and human interest and endeavour"

It is in this endeavour that man has continually striven to develop science and technology, so as to reduce the severity of the struggle for existence This is the fundamental issue To the extent that this is achieved, man becomes free to pursue the development of his higher personality But, otherwise, all his capacities and virtues are constantly exhausted* in surviving through the struggle It is from this point of view that production and productivity are important values Viewed in part perspective, hand-work has a certain limited virtue, but the overriding consideration from the whole perspective of personality development is the reduction of the severity of the struggle through higher production with the aid of science and technology Vinobaji suggests that it should not become necessary for man to engage himself for more than five hours a day in productive work for maintaining himself and his dependants And this maintenance should include not only the prime necessities but also the requirements of the higher life Productivity should be achieved so as to provide for such a maintenance, as also savings which are essential for the progress of society Freed thus from anxiety for maintenance, man can turn inward

Overemphasis on hand-work often confuses the ideal with the practical problem of unemployment If there is clarity first about the ideal, the practical question can be rationally worked out, taking into consideration factors such as the expanding economy through development of all its potentials and rising consumption and services in tune with the growing personality of our people For this an approach of flexibility and experimentation is required

The consensus of opinion which seems to have crystallised now after many years of discussions and heart-searching among khadi workers is to mechanise discriminate-

* ससारर्णव लङ्घनक्षमनृधिया वृत्ति कृता सा कृणाम्
यामन्वेषयता प्रयान्ति रूतत सर्वे समाप्ति गुणा ॥

ly certain processes of khadi and village industries, particularly those which constitute the bottlenecks in production It will be a revelation even to most khadi workers to know that on the same loom, weaving khadi out of ambar yarn is said to cost 35 naye paise more per yard than weaving cloth with mill yarn This is due to the poor quality of ambar yarn owing to the defective, manually operated carding process Carding is thus the main bottleneck in the khadi industry which deserves to be mechanised If the aim is village self-sufficiency in cloth, removal of this bottleneck becomes of paramount importance and urgency

An intelligent following of an occupation is an important condition which enables the worker to turn inward and to do the job for inner values Today, all our productive occupations including khadi, agriculture and animal husbandry have become routine activities, not yielding inner values but pursued merely for external values Because the driving force of the inner urge and scientific knowledge is wanting, even the outer values suffer Swami Vivekananda ascribes our downtrodden condition to the तमस् inertia and ignorance of our masses The greatest lesson of the Israel Village Settlements is that only the developed personality of the workers can develop the economy

All farmers in Israel received scientific training before they took to agriculture as an occupation—in their case it was a necessity because none of them was a farmer by tradition The extension services in Israel not only advise farmers about the use of the best seeds, fertilisers, implements and insecticides, but also conduct courses to provide scientific knowledge to farmers in all branches of agriculture, also, for subjects of general interest in life like nutrition, cooperation and philosophy in which women participate equally with men I found a wide mental horizon of both men and women in these village settlements While men engage themselves in productive activities, cooperatively or as self-employed persons, women are not confined to mere household duties, they take charge of all village services like mutual aid, cooperative shop, education games and playgrounds, etc on a voluntary basis Israel being a very small country, its villages are not geographically isolated But what is of interest to us is the fact that by their way of life they do not suffer from cultural isolation either

The success of the khadi movement will really be judged by the success we achieve in breaking the geographical and cultural isolation of our villages Thus intermediate technology and *nai talim*--intelligent and scientific following of occuptions and activities- are two great factors to make स्त्रियो वैस्यास्तथा शूद्रा turn inward and work for inner values

Social Frame

The ideal society in which man can turn inward is one which is an extension of the family Man should be able to turn to society in a spirit of सघ शरण गच्छामि for widening of outlook and higher inspiration To make man free from anxiety this society provides social security in respect of employment, education and health, and thus creates conditions in which man can turn inward Since competitive economy makes man turn outward, this society adopts cooperative economy, allowing full scope for self-employment But trade which pools the

fruits of the labour of many is strictly allocated to the cooperative sector In place of centralised mass production, such a society organises, in the words of Gandhiji, decentralised production by the masses If both systems take full advantage of science and technology, production would be greater in the latter system, because, while the centralised system restricts production to the most efficient units, putting all other units out of action, the decentralised system makes the fullest use of every available resource, each* one of which adds to the total Such a society would really be a welfare society providing sufficiency of income from self-employment and abundance of social services from public wealth

Reorganisation of Villages

In the present form our villages can hardly hope to aspire for the life envisaged above Dispersed as they are, they can hardly hope for modern amenities and services For widening their mental horizon and development opportunities, they will have to reorganize themselves into bigger viable structural units of operation They have got such units in the political sphere in the form of the zila parishads In the economic sphere, they will have to evolve suitable cooperative units which would eliminate competition and allow full and rational use of local resources, both natural and manpower, to the equal advantage of all the members In such a cooperative structure, the bigger units in industry will serve either as feeder centres or as service centres for smaller units of production and will not be interested in suppressing them For this purpose, scattered villages will have to be linked through the creation of service stations each serving a group of villages, a device which can break their geographical isolation

Simple Living, High Thinking

Developed science and technology and a good social frame may provide creature comforts and social justice to man but need not by themselves lead him to the pursuit of higher objectives in life For this he must also possess a proper philosophy of life and aspire for a balanced** growth of his personality How powerful an influence philosophy has on life is borne out by observing the working of different types of societies

In the primitive societies of Africa most of the attributes of a classless society are discernible Practically all productive work is carried on by hand Agriculture is not done by animal power, nor by manpower but by womanpower It is ऋषि खेती carried to its extreme All the land is communally owned and every family has a right to cultivate and get maintenance from it Till recently, currency did not enter into the local exchange of goods and services which were carried on on barter system and each tribe was self-sufficient in regard to its prime necessities and defence Life was spent in struggle against nature, struggle against disease and wars with different tribes This represents the model of प्राकृत समाज in which there is simple living and simple thinking

There is the model of विकृत समाज found in the exploiting countries Here science and technology have reduced the

*अमत्र अक्षारनास्ति
नास्ति मूलमनौषधम्
अयोग्य पुरुष नास्ति
योजकस्तत्र दुर्लभ ॥

** धर्मार्थ कामा सममेव सेव्या ।
य एकसेवी स नरो जघन्य ॥

struggle for existence but because of the ideal of high living the struggle for existence has been replaced by class struggle This is the type of society in which there is high living and simple thinking (in terms of the ideal)

Thus, simple living, in the sense of simply living, or science and technology alone are not enough or capable of guiding man in the pursuit of higher life संस्कृत समाज - *sarvodaya samaj* emphasizing and inculcating moral and spiritual values enables man to rise higher *Sarvodaya samaj* gets over both the limitations of the प्राकृत समाज and the weakness of the विकृत समाज and enables man to lead full and balanced life in body, mind and soul It is a model in which there is simple living and high thinking

It is the mission of the Khadi movement to establish such a *sarvodaya samaj* through the creation of models in selected areas But Khadi, as an isolated item of programme, cannot accomplish the task even with the best of sentiments This is possible only when Khadi as representing the values of *sarvodaya samaj* becomes typical of all the activities of our society It is through this realisation that Gandhiji evolved the *samagra* or integrated programme in 1944 *Sarvodaya samaj* demands integration not only of economy but of the whole life of man

New Delhi
16 August 1963

We must give up all external fears But the internal foes we must always fear We are rightly afraid of animal passion, anger, and the like External fears cease of their own accord, when once we have conquered these traitors within the camp All such fears revolve round the body as the centre, and will, therefore, disappear as soon as one gets rid of attachment for the body We thus find that all external fear is the baseless fabric of our own vision Fear has no place in our hearts, when we have shaken off the attachment for wealth, for family and for the body Nothing whatever in the world is ours Even we ourselves are His When we cease to be masters, and reduce ourselves to the rank of servants, humbler than the very dust under our feet, all fears will roll away like mist, we shall attain ineffable peace, and see Satyanarayana *(the God of Truth) face to face*

Mahatma Gandhi

POTENTIALITIES OF AMBAR CHARKHA

SHANKARLAL BANKER

If spinners get opportunities to see for themselves how charkha can be plied efficiently it will enthuse them to improve their performance Experimental and demonstration centres can go a long way towards fulfilling this objective

INDIA is predominantly a land of villages with the majority of rural population poor and unemployed or underemployed It was with a view to providing employment to these villagers and enriching their lives that Gandhiji launched a programme for the development of khadi industry and established the All India Spinners Association and the All India Village Industries Association The Indian National Congress also took up this programme The National Government formed after the attainment of independence established the All India Khadi and Village Industries Board (now Khadi and Village Industries Commission) for efficient implementation of the programme As a result of these efforts khadi work has spread to nearly a lakh of villages and more than 15 lakh persons have been provided with gainful employment in the khadi industry

Improvements in Traditional Charkha

When Gandhiji initiated his programme for the development of handspinning, traditional charkhas were being plied in different parts of the country Though this traditional model was popularised in the beginning, Gandhiji felt the need for effecting modifications and improvements in it for making its popularisation on a wide scale possible The charkha underwent many improvements as Gandhiji himself devoted considerable attention to this work The yervada charkha (box charkha) was evolved as a result of efforts in this direction and soon tens of thousands of these charkhas became popular with the people These box charkhas were also used in schools to train boys and girls in spinning

Besides being cheap, the box charkha was light and portable It was smooth in operation, occupied less space and above all its productivity was higher than that of the traditional model Owing to these merits the box charkha gained in popularity day by day

However, not resting content with the evolution of the box charkha, Gandhiji desired the evolution of a charkha with a productivity of 16,000 yards of yarn of good tensile strength and evenness in eight hours He, therefore, announced a prize of one lakh of rupees for an efficient charkha A number of specimens were submitted, but none satis-

fied the conditions laid down by Gandhiji The award was hence withdrawn The question of effecting modifications in charkha to make it faultless and more efficient, however, continued to claim Gandhiji's attention He also directed his efforts towards raising the efficiency of the spinner popularising the use of good slivers and increasing the production of yarn with good tensile strength

Ambar Charkha

Later came the ambar charkha which was evolved by Shri Ekambarnath of Tamilnad This model fulfilled some of the conditions laid down by Gandhiji The khadi workers welcomed the new model, but the research workers felt that there was considerable scope for making improvements in it Consequently, the Akhil Bharat Sarva Seva Sangh constituted the Ambar Prayog Samiti which took up the work of making improvements in the ambar charkha As a result of its continued efforts a model with a productivity of 16 hanks of yarn in a period of eight hours was evolved

It is natural that more attention has been paid to the development and popularisation of the ambar charkha which has a higher productivity, with its four to six spindles, than the box charkha which gives a production of three hanks of yarn in a period of eight hours The processes of the two charkhas are quite different The box charkha operates according to the 'mule process,' while in the ambar charkha the 'ring process' is followed, in which the winding of yarn on the spindles is done simultaneously with spinning, and, consequently, the output is higher than on the box charkha because in the 'mule process' spinning and winding have to be done separately Even in the mills the 'ring process is followed

Instrument for Carding

The processes of carding cotton and preparation of slivers are also of vital importance in handspinning In the past carding was done on traditional instruments which were not efficient Later on the hand-operated *madhyam dhunki* came into use This was followed by the *dhunai yantra* which was evolved as a result of researches and experiments But as the carding done on this instrument was not satisfactory, the Prayog Samiti took up further research on this instrument The carding instrument which was devised by the Samiti, has facilitated the operation of separating the fibres and removing dust without causing damage to the fibres There are two models of this instrument—hand-operated and pedal-driven On the former, one can card 15 *tolas* of cotton and on the latter 30 *tolas* of cotton in an hour Experiments have also revealed the possibility of preparing slivers (*tapes*) for ambar spinning on this instrument

Though costlier and more complicated in its operation than the box charkha the ambar charkha is an efficient instrument giving greater production of better quality yarn An efficient device capable of giving good output in the decentralised sector of the textile industry is necessary in this age of technological advancement This, in fact, was what Gandhiji desired and strove to achieve It is, therefore, that the ambar charkha which has a higher productivity and is capable of providing better wages to the spinners—who can also spin on it with ease—and which facilitates production of better quality

khadi, should be popularised on a large scale

Guiding Points

Still some points should be borne in mind with regard to its use and popularisation in the field They are

(1) The ambar charkhas provided to the spinners should be free from any defects Adequate arrangements should also be made for their immediate repairs when necessary

(2) The spinners should be given thorough training in the operation of the ambar charkha They should also be made conversant with the calculations necessary for spinning yarn of different counts and different twists They should also be made familier with all the parts of the ambar charkha and be trained to operate it with skill to avoid any breakdown and be able to repair it They should know how to protect the charkha against rust, in case it has to be kept idle for some period The spinner should know how to choose cotton suitable for producing yarn of particular counts Adequate arrangements should be made for the supply of these varieties of cotton

(3) Training in typewriting or in working on a sewing machine does not make one an expert Constant practice alone will impart skill to the worker Similarly, the spinners on ambar charkha have to practise regularly to acquire good speed and efficiency to be able to produce quality yarn of good tensile strength Even a spinner on the box charkha needs continuous practice

Experimental and Model Centres

As handspinning is of vital importance for the economic regeneration of the villagers, it is necessary to create an atmosphere conducive to the cultivation of the habit of spinning among the people and to induce them to develop faith in the programme and to acquire skill in the efficient use of the instruments It is equally necessary that the yarn spun by the spinners in their homes after the conclusion of their training period should be of a good quality This can be achieved if the spinners get an opportunity to witness spinning being carried on efficiently in homes by other spinners in the centres and villages around them With this end in view it is necessary to establish experimental and model yarn production centres so that the people in the surrounding areas could realize the potentialities of ambar charkha If khadi work is developed in every household on an efficient basis on scientific lines it would go a long way in expanding khadi work It will help in accelerating the speed of khadi work if spinners and workers could visit centres where work is well established and study carefully the work carried on there

There should be provision for demonstrating improved models and improved techniques in khadi centres on the lines of model farms and agricultural research centres established to promote the cultivation of better varieties of farm products The farmers who show good performance are given awards as an incentive Similar steps are taken for the development of animal husbandry The villagers are given opportunities to get intimate knowledge of these developments, which inspires them to adopt better techniques and processes Facilities of this nature should be provided in khadi industry

Prayog Samiti Centre

It would be desirable to man all such centres with the workers of the Ambar

Prayog Samiti who have deeper knowledge of the capacity and efficient operation of the charkha The Prayog Samiti should organise and conduct these experimental and model centres in selected places in States where spinning is carried on on a large scale One such centre is being run at Sri Amrigarh under the aegis of the Prayog Samiti The experience gained at the centre shows that if similar centres are run in every State to develop spinning and weaving on scientific lines, it would inspire the spinners and the workers to increase their efficiency Similar centres are also being conducted by the Khadi and Village Industries Commission It is desirable that the institutions themselves should run such centres Therefore a programme should be chalked out to further expand the existing centres and to organise new ones in those areas where there are none If particular attention is paid to this work and good care is taken for ensuring proper development of these centres it would lay a strong foundation for the khadi programme

A large number of people in the countryside would take to ambar spinning if a network of experimental and model centres in which spinning and weaving work is carried on on scientific lines is established, a band of spinners and weavers is trained in performing the processes of spinning and weaving efficiently and facilities are provided to the artisans of other regions to visit those centres and study the work being done there

Jail Incident

This reminds me of a talk I had with Gandhiji in Yervada Jail in 1922 Then Gandhiji used to spin four hours daily at the rate of 250 yards of yarn per hour He felt that this rate of production was too low, and hence tried to spin faster He had seen Shri Keshav Gandhi, son of Sri Maganlal Gandhi, spinning yarn at the rate of more than 450 yards an hour at the Satyagraha Ashram which had induced Gandhiji to strive to catch up with him The point is that the spinners' enthusiasm for increasing their skill and efficiency can be stimulated if they get an opportunity to watch a group of skilled spinners working efficiently in a centre

Learning through Observation

Another incident is of Sabarmati Jail In spite of their efforts for a period of six months to improve their production, the inmates of the Jail could not spin more than two hanks of yarn per hour, although they had efficient instructors to train them When they were given an opportunity to witness spinning performed by the instructors and the workers of the Praog Samiti, on the first day itself they felt confident that they too could attain the same speed in production as the workers of the Samiti On the second day again a spinning demonstration was arranged for the benefit of the prisoners which lasted for about four hours Consequently, all the prisoners developed full confidence in their capacity to spin As a result of the impact of this demonstration the jail inmates succeeded in increasing their rate of production from two hanks to five hanks of yarn in a day

Let me cite yet another example It refers to an incident which occurred in 1959-60 during the annual session of the Indian National Congress at Nagpur The workers of the Prayog Samiti who carried with them the three-spindle composite drum charkha, claimed that they could spin eight hanks of yarn in four hours But Shri Shamrao

Muley from Wardha, who was known to be an expert spinner in the country, doubted this claim In order to prove the claim• one of the workers of the Prayog Samiti, Shri Ramayadibhai, accepted the challenge of spinning eight hanks of yarn in a period of four hours He was able to produce 8½ hanks of yarn in four hours Seeing the demonstration, Shri Shamrao and his friends declared that they could easily better Shri Ramayadibhai's performance

Actual observation of demonstration of spinning thus serves to stimulate spectator's interest and increase his faith in the potentialities of spinning These examples prove that the estblishment of experimental and model centres, particularly, in those areas where khadi work has made fairly good progress, is necessary

Both the ambar and the box charkhas are useful spinning implements, both have their own place in the sphere of spinning The box charkha is more suitable for affording relief to the people affected by drought, floods and other natural calamities and for those who are physically handicapped Ambar charkha is generally meant for able-bodied, intelligent and skilled artisans who wish to increase their earnings

For the purpose of providing gainful employment to the people through handspinning in the rural areas, ambar charkha can prove to be an efficient and useful implement Hence the urgent need of the hour is to propagate vigorously its use in the villages This is possible only when experimental and model ambar spinning and weaving centres are established and the villagers are provided opportunities to learn through first-hand experience by visiting such centres

Ahmedabad
26 July 1963

There are three qualifications required in those who have to fill the highest offices—(1) first of all, loyalty to the established constitution, (2) the greatest administrative capacity, (3) virtue and justice of the kind proper to each form of government, for, if what is just is not the same in all governments, the quality of justice must also differ

Aristotle *Politics*

A PLEA FOR REALISM

J D SUNDRAM

Gandhiji wished to usher in a non-exploitative social order that assured economic independence without major social or economic dislocation The Khadi and Village Industries Commission which took over the activities of the All India Khadi and Village Industries Board, has been trying, through its programmes of building from below and naya morh, *to attain this goal envisaged by Gandhiji While reviewing the achievements of the Commission in this direction, the writer who was secretary of the Khadi and Village Industries Evaluation Committees (1960), is critical about several aspects of the policy and programme Though, obviously, we do not agree with the criticism levelled by Dr Sundram we publish the article in the belief that free and frank appraisal is an essential prerequisite for stimulating development We would hence welcome comments on the points raised in the article* —Editor

GANDHIJI'S advocacy of khadi and village industries was based on his recognition of the urgent need to assist (i) the poorest among the poor by giving them a means of supplementing their meagre incomes as a first step in a programme for their social and economic uplift, (ii) the villages from being impoverished of their wealth, output and personnel by the fast growing urban areas, and (iii) the preservation of basic moral and social values in the traditional Indian way of life, particularly that part of it that inculcated, in one way or another, to a smaller or larger degree, basic social virtues of mutual aid, co-operation and interdependence The political conditions that prevailed during his time invested his programme with national (political) and cultural (social) significance

Gandhiji's programme for the revival and development of khadi and village industries was generally dismissed as one that "put the clock back" when the critic was charitable, and as that of "a visionary and a crank" when the critic chose to lay claim to "modernity" A large number of his close associates, however, saw in his programme a revolutionary weapon of great potential for the restoration of all that was good in the Indian way of life But Gandhiji was not concerned with either the criticism or the commendation of his programme, his main concern originated and continued to be in the evolution of a programme of organised effort that would activate the masses, particularly in the rural areas, into purposive, productive endeavour to realize in practice the three-fold objective mentioned above It was on this account that Gandhiji's interest ranged from the preservation and development of the existing skills of handloom weavers, who were the first to attract his attention, to the

development of a decentralized spinning industry to assure them regular and adequate supply of yarn The same concern explains his sustained interest in and advocacy of technical research, of training, and the pursuit of higher productivity and earnings of artisans All efforts at improvements, though welcome in themselves, had, in his view, to subserve the overall social objective, viz, preservation of what he considered to be the basic social values of the Indian way of life In brief, his was a socio-economic programme that had as its objective the establishment of a non-exploitative social order that assured economic independence, without major social or economic dislocation His programme as a result was constantly changing, growing and improving in content, evolving into as efficacious an endeavour as he could make it

Decade of Preparation

During the decade, 1953-1963, the development of khadi and village industries has come to be accepted as an integral part of the planned, national effort at socio-economic development This acceptance, though originally capable of being dubbed as political, became by the end of the First Plan period, truly national Starting almost in a vacuum, the Khadi and Village Industries Commission has carried on the work, initiated by the All India Khadi and Village Industries Board in 1953-54, of setting up statutory bodies in the States, capable and willing to take over from it the responsibility for implementing statewide programmes of development The gradual evolution of the essential framework—administrative and organisational—to translate policies into effective programmes of economic amelioration and of economic uplift marks the end of the much needed period of preparation for large-scale effort Time is, therefore, appropriate to consider whether the present policy and approach to the development of these industries are appropriate and likely to facilitate the realization of the objectives of Gandhiji

Basic Policy

In its policy statement *Building from Below*, the former All-India Khadi and Village Industries Board advocated the adoption of improved tools and implements that held out the promise of higher productivity and incomes to artisans [1] Organisationally, it considered the cooperative as the most effective structure to facilitate the progress towards the establishment of a non-exploitative society [2] Cooperatives of self-employed artisans were, therefore, to be assisted to produce progressively improved qualities of goods, market them mostly in the areas of their manufacture, eliminating the incidence of transport and other similar avoidable costs, and, over a period of time attain the status of self-supporting units

Integrated development, or what has come to be known as *naya morh*, adopted as the basis of the programme during the Third Plan period, is essentially the same programme, so far as the development of khadi and village industries is concerned [3] Organisationally, however, the emphasis was shifted, at least in the initial stages, to any local body of enlightened leaders, though multi-purpose cooperative societies

---

1 *Building from Below*, All India Khadi and Village Industries Board, 1956, chapters V and VIII

2 *Ibid*

3 *Third Five Year Plan for Khadi*, Khadi and Village Industries Commission, 1961

continue to be the final pattern of organization Its emphasis, as of the earlier *Building from Below*, is on the adoption of improved implements and tools, higher productivity, lower costs and prices, and higher incomes [4]

Policy and Practice

As statements of broad policy, neither *Building from Below* nor *naya morh* is in conflict with the basic social objectives that Gandhiji desired the development programmes for these industries to pursue The steadily widening gulf between profession and practice, however, is seen only when the actual programmes, their structure and their dynamics are studied in relation to those objectives The programmes *per se* may not be found objectionable, as they, after all, represent no more than a set of measures for assisted effort, but the measures of continuing importance, adopted by the Commission itself or efforts assisted and encouraged by the Commission fall into another class altogether The progress made by khadi and each of the village industries in its charge during the decade, 1953-63, measured by the volume of financial disbursements and utilization, production and sale, number of new institutions registered or recognized by the Commision, may, as compared with the conditions prevailing prior to 1953 or any other given years be considered to be impressive and commensurate with the actual outlay, even though official financial audit of progress may question such a claim The real or true measure of progress is not the rate of increase in production and sale, but the nature of the socio-economic change either actually brought about or prepared for It is from this point of view that the following comments are made and suggestions offered for consideration

Objective Assessment

The justification of khadi and village industries in the Indian economy is their capacity to provide employment to the needy on a large scale with little or no additional capital cost The multi-tiered programme of training necessitated by the introduction of the ambar charkha programme was justified by the promise of a considerably enhanced output per unit of effort, improved quality of yarn, reduction in costs and, therefore, in the rates of rebates and subsidies [5] The ambar charkha programme, it was claimed, was capable of easing the pressure on the land by drawing to it able-bodied persons in full-time employment [6]

A critical scrutiny of the progress of khadi, and the role of the ambar charkha programme in it lends no support to these claims The poorer and weaker sections of the population in the rural areas have generally ignored the entire industry as it promised them nothing of any continuing economic significance [7] Those employed in handspinning on the traditional or ambar charkha, work only part-time, the full-time workers being numerically, or from any other point of view, of little significance [8] What is, however, of greater importance is that, except those of the insignificant number referred to above, the earnings of hand-

4 *Ibid*

5 *The Ambar Charkha Programme, Its Economics*, All India Khadi and Village Industries Board, 1956

6 *Khadi and Village Industries, Second Five Year Plan*, All India Khadi and Village Industries Board, 1956

7 *Report of the Khadi Evaluation Committee*, chapter 8

8 *Ibid*

spinners on the traditional and ambar charkha are meagre, and their contribution to the basic objective of economic uplift, as distinguished from economic relief, is, therefore, negligible[9] The almost total failure of khadi to attract and retain male spinners, in view of the prevailing social and other inhibitions, should be attributed to the basic inappropriateness of the programme as a source of employment of any economic importance[10]

From the point of view of assuring a regular and adequate supply of yarn to handloom weavers as well, the khadi programme has been a failure Whatever the cause, handspun yarn continues to be a drag on the productivity of handloom weavers, and their earnings, and the cost of weaving has generally continued to be high, in spite of an appreciable deterioration in the quality of cloth Many inducements have had to be offered to handloom weavers of mill yarn to undertake weaving cloth from handspun yarn, in addition to providing them initial training in the use of handspun yarn[11] That a number of khadi weavers who are on the rolls of khadi institutions today openly switch over from time to time, to weaving cloth with mill yarn[12] testifies to the technical and economic failure of handspun yarn as a viable substitute for mill yarn

The capital investment in the khadi programme, particularly the ambar charkha programme, has yielded no appreciable returns judged from any point of view Calculated on the basis of the percentage of idle ambar charkhas to the total number distributed, the expense involved in the renovation and reconditioning of unserviceable or defective charkhas, the deterioration in the quality of cloth the yarn spun on it has brought about and, above all, the serious problems created as a result in the retail sales market and the consequent accumulation of stocks with institutions, the capital cost has not been inconsiderable

The greatest defect of the khadi programme, as a whole, and the ambar charkha programme as it has been implemented in particular, is the staggering waste of time, energy and money spent on the training of personnel,[13] for whom there is neither current nor future demand either in khadi or any other industry If it had been possible to market an increasing volume of progressively improving varieties of cloth at steadily lower prices, there might have been a fairly large, albeit a closed, market for handspinners on the ambar charkha Consumer resistance, brought about partly by deteriorating quality of cloth, partly by high prices and partly by steadily falling incomes, indicates that there is no real demand for handspinners on the ambar charkhas, and the expenditure incurred on training different categories of personnel has not yielded, and is not likely to yield, any returns socially or economically of any appreciable or lasting significance Sooner or later, these "trained" personnel will have to turn to other jobs wherever they are available

Alternate jobs such as road building, bunding, *bidi* making etc, in spite of their irregularity, and consequent lack of dependability, always draw away spinners, because, essentially, hand-spinning does not pay In other words, handspinning on the traditional and/or ambar charkhas is not

9 *Ibid*
10 *Ibid*
11 *Ibid*, also see *Handbook* for details of assistance
12 *Report of the Khadi Evaluation Committee*, chapter 8

13 For details of the results of the Training Programme, cf *Report of the Khadi Evaluation Committee*, chapters 8 and 10

a " salable" skill such as carpentry, blacksmithy, masonry, etc Demand for this "skill" is restricted to a few institutions, the scale of whose operations depends on a host of considerations wholly irrelevant to the needs of the artisans

Decentralisation and Khadi

The critical assessment made above does not, however, question the need for decentralisation as such Socio-economic evaluation of urbanization that has been a concomittant of industrialisation points to decentralisation of social and economic life as the only possible solution to save Man and his moral values Decentralisation of economic organisation and activity, does not, however, preclude the adoption of the most advanced, modern techniques of production,[14] as the experience of the U S A, the U K and Switzerland shows Acquisition of the necessary skills though time-consuming, gives the artisan a range of choice and, therefore, mobility between a number of alternative trades In other words, it gives him a marketable skill and, therefore, makes him an independent, useful and productive artisan that a handspinner is never likely to be To learn carpentry or a similar trade, no doubt, takes longer than handspinning, but an industrious carpenter of average skill earns several times as much as the *most skilled* hand-spinner for an effort of equal duration It is the choice, therefore, of skills, rather than merely scale of effort that thus becomes important [15]

The elaborate, intricate training programme, necessitated by the ambar charkhas, cannot, objectively, be said to have taught the large number who were covered by it a skill that is salable in the "open" market Khadi, no doubt, requires handspinners, but it has no inherent strength to pay wages at acceptable rates What it has at best achieved is to provide relief, and that, too, objectively speaking, on a marginal scale From the larger national point of view, can a programme of mere relief of totally ephemeral importance claim or receive financial assistance of the magnitude that the ambar charkha programme requires? Teaching of a skill of practically no objective value can hardly claim to have either a national or a continuing importance to be integrated with national programmes

Technical Research

Towards the evolution of better tools and implements, the Commission has authorized considerable expenditure by way of grants to individual institutions, has set up a research institute of its own and also assisted artisans recommended by institutions/agencies Here also, an objective view of results achieved so far needs to be taken

Since the first ambar charkha model was fabricated in the early fifties, the total expenditure on "research" incurred by the Akhil Bharat Sarva Seva Sangh and its affiliated institutions, the Khadi and Village Industries Commission has been substantial To what end has this research been directed? There was absolutely no question of evolving any new "technique" as such, but the adaptation of already known and perfected techniques, to the requirements of a decentralized economic order What has, however, taken place is an expenditure of valuable time, energy and money on experimentation to effect minor

14 For an illustrative [illegible] how this can be reconciled with and [illegible] for the unskilled masses in India, cf *Building from Below*, Part III

15 For illustrative details of what salable skills can secure artisans from socially backward classes, cf *AICC Economic Review*, Vol XV, No 317, July, 1963, p 26, *et seq*

improvements and to discover ways and means of reducing if not eliminating dependence on what are described as "centralized" industries In relation to the "prescribed objectives" some of the implements devised at some of these centres may be considered as "operationally efficient", but the almost total preoccupation with devising an instrument that can be fabricated in the "villages" is open to question This preoccupation cuts across the entire concept of an integrated economy, in which every sector depends and supports every other It is an implicit condemnation of all large-scale industries which in independent India are as much "swadeshi" as "khadi" claims to be The dominance of "orthodox" (no-changers of earlier times?) constructive workers has reduced technical research to a farce In spite of nearly a decade, no instrument in any process of the industries in the charge of the Commission, incorporating advanced technique has been successfully evolved The so-called "technical research" has failed to yield any implement, which is satisfactory from the point of view of technical and operational efficiency, productivity, cost per unit of output and, therefore, of prices Implements devised so far in laboratories, though definitely superior to those currently in use, do not have significantly higher productivity, or represent successful adaptation of accepted techniques or lend themselves to standardization and large-scale manufacture Specialized and, worse, personalized attention possible in laboratories cannot be given in the field when the artisans do not have and cannot acquire, except over a considerable period of time, the requisite skill, which, as pointed out above, does not offer any prospect of material benefit.

From what has been said above, it can be inferred that though research of some kind has been, and is being carried on, there has been no real earnestness in those efforts for an effective adaptation of modern techniques, evolution of improved tools and implements with significantly higher productivity and, therefore, capable of attracting and retaining in the industry able-bodied men capable and willing to work full-time Technical research has been, and continues to be, handicapped by orthodoxy that opposes any real change This doctrinaire approach and attitude has disabled the Commission from acting on the recommendations of Committees, such as the Village and Small-Scale Industries (Second Five Year Plan) Committee, Evaluation Committees for Khadi and Village Industries and also of Power Committee The result is that the acceptance of recommendations affecting basic policy and suggestions to make the programmes of real social and economic significance has amounted to be no more than lip service In practice, programmes have remained the same in all essentials and been as ineffective as before the Committees examined and reported

Purposeful Pragmatism

The doctrinaire approach of constructive workers has been responsible for the prevention of a break-through to a programme of real effectiveness Constructive criticism offered in a spirit of understanding has as a consequence evoked spirited, and often, irrelevant defence that ignored the substance of the suggestions In these circumstances, the programmes of development have failed to have any impact on the employment situation, and all the claims and arguments in their defence remain, when all is said and done, empty and ineffectual

The fact of massive, growing unemploy-

ment and underemployment is no longer questioned but what has been and continues to be doubted is the effectiveness of khadi and village industries as instruments for the mitigation of its severity because of their total failure during a whole decade to attract on any appreciable scale anywhere the unemployed and the underemployed The migration of labour from the bulk of these industries to any other alternative occupation reflects the general reluctance of labour to continue in the industry because of the inadequate levels of returns

Basic Principles

The basic principles that animated Gandhiji in his advocacy of khadi are as true today as during his lifetime Khadi, in addition to being a commodity produced by a certain technique, represents sensitivity to social ills In the changed conditions of the world, with its own scale of values and preferences, khadi as a body of basic principles, has relevance as the values it bespeaks are of enduring value [16] In the economic and social spheres of human activity, khadi would represent a decentralized economic and social organisation, specially oriented to raise the standards of living of the population and reduce inequalities of opportunity for social, cultural and economic improvement

The ideal of "self-sufficiency" which is basic to the khadi creed has become irrelevant in the conditions of today Man was born a social animal, and in the society of his comperes alone can he find his fulfilment Religion, social and cultural life as much as economic efficiency necessitate cooperative endeavour and pursuit of common ideals Division of labour, condemned by the self-sufficiency concept, underlies all activity Political economic and demographic trends today emphasise the need for global thinking and nuclear developments necessitate the relegation of even national frontiers to the background, as they have ceased to have any real meaning In this context, to hark back to self-sufficiency or seek freedom from dependence on large-scale industries is to fly in the face of inescapable realities It is this lack of realism that lies at the root of the intellectual inertia to go forward with determination

Similarly, there are many inhibitions about the pattern of organization and employment It is commonly held, as though it were axiomatic, that factory organisation or employment in any form is bad, and that cooperative organisation is *per se* superior Individual initiative and enterprise cannot but result in one person getting ahead of another and employment in a cooperative can be worse than in a factory, if its management is in the hands of vested interests Not all the khadi institutions are uniformly philanthropic any more than all factory owners or managers are cruel exploiters Realism indicates the need to discard these ancient, time-worn prejudices

In the context of modern, industrialized fast developing economies, social welfare is recognised to be the responsibility of the State, the employer and the employee, recent labour, factory and industrial legislation is based on the firm acceptance that social welfare involves tripartite planning, participation and administration, the State's role being essentially that of an arbitrator It is, therefore, necessary for us to consider, in this context, all forms and patterns of organisation as equal intelligent partners in the socio-economic project of development

16 For a fuller exposition of the concept of Khadi, cf *Report of the Khadi Evaluation Committee*, chapter 2

Pragmatic approach that recognises the possible beneficial role of private enterprise may facilitate faster development, because it will secure the active co-operation of the more enterprising and forward looking sections of the community Moreover, the existing laws governing industry, labour and social relations in general are extensive, and, implemented effectively, they can, without major changes, protect the rights and secure the privileges of all the sections of the community Social awareness of mutual obligations towards the solution of common problems for the realization of commonly accepted ideals is the *sine qua non* of all decentralized socio-economic development, and it is this objective that must be vigorously and continuously pursued and attained

Realistic Reorganisation

Acceptance of the thesis advanced above is capable of removing the existing barriers to the evolution of a truly integrated approach to socio-economic development of rural areas Thought and action will automatically reflect policy and measures for the solution of economic ills, because they will draw their strength from the community itself The altogether untenable divisions of the role and sphere of operation of Khadi and Village Industries Commission, All-India Handloom Board, and Small-Scale Industries Board, may well be replaced by Rural Development Boards, which will provide the right organisational framework for the participation of all economic interests and give any programme the stamp of popular will

The Commission has, during the past decade, completed the basic organisational and administrative preparation for the implementation of programmes of real purpose and significance Reconsideration of its policies governing its programmes, of their techno-economic content and relevance to the establishment and development of a decentralized economic order as an integral and enduring part of the economy, and of the programmes of training and research needed for their effective implementation—is the essential task that awaits a realistic approach

Social Purpose

As stated at the outset, khadi is not merely a commodity, but a body of basic principles The so-called sentimental value that attaches to khadi has often been allowed to descend to the level of sentimentality that robs khadi of all its value Appreciation of the social purpose of khadi, which is the greatest legacy Gandhiji left the nation, can assist in the preparation of a programme of effort that will be economically acceptable to all interests and socially significant to command the willing support and participation of all sections of the population

Low levels of income of over 60 per cent of our population and the bleak prospect of any immediate improvement in their lot should not lead to programmes of perpetual dependence, or activity that promises no enduring result Both unfortunately perpetuate the disease in the body, economic and social, and pose a problem of potential political menace The change that is necessary to remedy the situation has to be large enough to enthuse the people in the present and to encourage them to continue their efforts with assurance of ultimate success If this article provokes policy-makers into thinking on these lines, this effort will not have been made in vain

Bombay
21 August 1963

EMPLOYMENT AND UNEMPLOYMENT DURING LAST FIFTEEN YEARS

B N DATAR

With successive plans the situation in respect of unemployment has worsened as the development of the economy has been slower than had been visualised The employment situation and the different aspects of the problem of unemployment during the last decade and a half are discussed in this article

THERE is hardly any need to emphasise the role of employment in the context of development and planning Every individual willing to work is affected by the employment situation If there is no employment for him, he and members of his family have to face hardship in life and the country also suffers a loss because there is consumption without participation in the nation's productive activity There are a thousand and one occupations in which the workers engage themselves according to their education, training, aptitude and skill Some of them live in rural areas and others in urban areas and they also migrate from one area to another (generally from village to town) in search of work Although it looks so natural for an individual to seek work, yet to secure it is not always easy In fact there is a real struggle for employment, and this makes it a matter of deep and abiding interest to every one right from the politician, economist and planner down to the man in the street

Economic development and creation of employment opportunities are two aspects of the same process which aims at satisfying the never-ending human aspiration for better living standards The distinction between employment (i e in relation to those engaged in work carrying daily or monthly wages or salaries) and unemployment (i e in relation to those who had employment but lost it or others who are seeking work) is quite clear These concepts are associated with wage-paid work and used to describe the situation in developed economies where people are either with jobs or without them

Causes of Unemployment

Unemployment in a developed economy occurs mainly due to technological changes and is of the frictional type depending on fluctuations in the state of business in its generalised sense and on changes in the level of productivity brought about by rationalisation and application of better techniques of production In a developing economy the planner has to strike a balance between methods that increase productivity and methods that increase employment New industries and new projects open up new avenues of employment In order to ensure continuity of employment and prevent wastage of manpower, deployment arrangements have to be

made In developing economies one has to think of underemployed persons who are not unemployed but employed with insufficient work and are available for additional work

Abundance of Manpower

In short, the unemployment problem in the context of conditions obtaining in our country affects a fairly large number of people and for a much larger number only short-term employment is available The first is typical mostly of urban areas and the second of rural areas although it is difficult to distinguish unemployment from underemployment in the villages As there is not enough work for everybody offering himself for employment, the limited work opportunities are shared by the working population This manpower surplus, if mobilised, can make for rapid economic development The remark that India is a land of poverty in the midst of plenty refers more appropriately, perhaps, to the abundance of one resource, i e, manpower

An assessment of the employment situation over a period of the last fifteen years will mean going back to 1947, i e the year of India's independence The main difficulty in this regard is the lack of information and the gaps are too wide to enable anybody to construct a complete picture of the employment, unemployment and underemployment situation The period between 1947 and 1950 was one of adjustment to partition The 1951 census may, therefore, be depended upon as the source with which one could start the analysis But a census is useful only for a study of the employment pattern of the working population

Employment in Cities

The information about unemployment and that too mainly for urban areas is collected through the employment exchanges under the National Employment Service The number of registrants on the live register at the employment exchanges rose from 1 72 lakhs in December 1947 to 2 87 lakhs in December 1950 Interpretation of these figures as an indication of trends in employment and unemployment is governed by a number of limitations, such as location of exchanges only in selected areas, increase in the number of exchanges from time to time, voluntary nature of registration and recruitment through exchanges, the possibility of registration by employed persons for better employment, etc These figures fail, therefore, to quantify the volume of unemployment even among workers in urban areas Although details regarding the growth of labour force or data of employment generation during this period are not available, it may not be inappropriate to assume that between 1947 and 1951 unemployment was not an important point in economic debates The hangover of the Second War and the Korean boom appear to have contributed towards stabilising the employment position to a point of no serious concern

It may now be worth while to assess the situation in quantitative terms during the First and Second Plan periods The factors which affect employment in quantitative terms are those relating to (a) numbers unemployed at the beginning of the Plan, (b) addition to the labour force during the Plan period and (c) generation of additional employment opportunities as a result of the implementation of the Plan The estimates in regard to (c) take into consideration not only the direct employment in the planned sectors of the economy but also the indirect employment opportunities arising in trade, commerce and transport Addition to labour force is calculated in relation to the propor-

tion of men and women in the age group 15-59 estimated as being gainfully employed or seeking employment

First Plan

The First Plan was formulated to tackle in the main the special problems arising out of the war and partition For reasons stated earlier, it did not take a serious view of the employment situation Broadly speaking, the First Plan aimed at strengthening the economy at the base and bringing about institutional changes for accelerating the pace of development in the future But when the Plan was half-way through, the Planning Commission had to take notice of the problem of unemployment With the boom conditions due to Korean war disappearing, the number of job seekers on the live register increased to 5 22 lakhs in December 1953 The Plan was, therefore, modified to accommodate special schemes for relieving unemployment Additional short-term schemes which would encourage employment generation were added to the Plan The employment content of the First Plan, as originally formulated, was creation of 5 5 million job opportunities outside agriculture

As a result of subsequent adjustments made during the Plan period including the '11-point programme', the employment target of the First Plan was more or less realised But even this target itself was short of the number of new entrants to the labour force during the First Plan period The consequent deterioration in employment situation was reflected in the number of registrants on the live register having gone up to 7 05 lakhs in March 1956 The absolute increase during the five year period, i e, between March 1951 and March 1956 was thus of the order of 3 68 lakhs Studying these figures in the context of the results of the National Sample Survey (preliminary survey) of urban unemployment (which established that 25 per cent of the unemployed register themselves with the exchanges) some rough estimates can be made of the magnitude of the urban unemployment prevalent in 1951 and 1956 These would be of the order of 13 48 lakhs and 28 20 lakhs respectively

Second Plan

On this basis, the Second Plan estimated the backlog of urban unemployment in the beginning of the Second Plan at 2 5 million after making allowance for frictional unemployment which is unavoidable The backlog of rural unemployment was estimated at 2 8 million on the basis of the Report of the Agricultural Labour Enquiry Employment became one of the four objectives of the Second Five Year Plan For a better understanding of the problem, the machinery for collection of regular information regarding employment was considerably strengthened during the period of the Second Plan New exchanges were set up and a network of Employment Market Information Centres operating through employment exchanges started functioning The latter source started reporting on the employment situation in the entire public sector and private sector establishments employing 25 or more workers each and yielded valuable information regarding changes in the employment level at various centres

The Second Plan began with a backlog of 5 3 million unemployed—2 5 million in urban areas and 2 8 million in rural areas New entrants to the labour force during the Second Plan were reckoned at 10 million The Second Plan had thus before it the task of providing employment to over 15

million persons if the level of full employment was to be reached It was recognised that during the plan period, an effort must be made to absorb in employment at least the equivalent of new entrants to the labour force so as to hold the unemployment line The employment target in the Second Plan was, therefore, placed at 10 millions It was expected that some measure of relief to the underemployed would come through programmes relating to irrigation, community development, village and small industries, etc Besides, certain special schemes for educated unemployed were drawn up which included the setting up of work-cum-orientation centres, cooperative goods transport, establishment of production centres, etc

The plan, however, had to undergo a downward revision in terms of outlay and physical targets which, coupled with an increase in the price level, curtailed the employment content of the plan by about 20 per cent The result was a further rise in the backlog of unemployed to be carried over to the Third Plan In spite of a sizable effort at employment generation the first two plans ended with a larger number of unemployed estimated at about 9 million to be taken care of during the Third and subsequent Plans This number represented about 2 1 per cent of the country's population which was 439 million according to 1961 census

Third Plan

Besides this backlog, the new entrants to the labour force during the Third Plan period were estimated at 17 millions, which perhaps may even be bigger when revised in the light of the details of 1961 census data which are now under tabulation Although it is not possible to give a precise estimate of underemployment, its magnitude in relation to those who have some work but are willing to take up additional work is placed at 15 to 18 millions This estimate is based on the enquiries conducted by the National Sample Survey during 1955 and 1957 and consists of persons working for four hours or less per day on an average (severely underemployed) and of those working for four to eight hours per day (moderately underemployed) who desire additional work The employment objective of the Third Plan is creation of 17 million job opportunities which is the expected addition to the labour force

The Third Plan deals elaborately with the magnitude of the problem in its various aspects and also with the measures envisaged for achieving the employment goal It aims at creating additional employment potential of 14 millions--10 5 million in non-agricultural occupations and 3 5 million in agricultural and allied activities Through the rural works programme, it is proposed to create another 2 5 million job opportunities by the last year of the plan in rural areas, but this programme will be more in the nature of relief to the underemployed Much significance is attached to employment generation from programmes relating to village and small industries, full utilisation of their productive capacity, rural industrialisation, rural electrification, transport, etc

The Plan also lays stress on the desirability of tackling the employment problem at the district, block and village levels It has been pointed out as in the past that eradication of unemployment has to be a process spread over a long term One of such long-term employment objectives, as stated in the Plan, is to reduce the proportion of the working force dependent on agriculture to 60 per cent by 1976 This

implies creation of 50 million employment opportunities in the non-agricultural sector during the period 1961-76

Slow Economic Development

Regarding the employment trend in the first two years of the Third Plan, it may be mentioned that on a rough estimate, additional employment of the order of about four million would have been generated against the annual increase in the labour force of over three millions Obviously the achievement falls short of our needs This situation is again reflected in the number of employment seekers at the exchanges Their number went up from 15 61 lakhs at the end of March 1961 to 18 54 lakhs in March 1962 and to nearly 25 lakhs in March 1963 Even allowing for the opening of more exchanges and the effect of the compulsory notification of vacancies, such big increases are obviously a matter of serious concern

On the whole, the development of the economy has been much slower than visualised This is further supported by the national income statistics Agricultural production has remained almost static and industries are working below capacity due to a number of bottlenecks, such as shortage of power, raw materials, foreign exchange, etc If population growth continues at the 1951-61 rate and the rate of development does not accelerate in the future, there are reasons to believe that the employment situation will undergo further deterioration during the Third Plan period

Shortage of Technicians

Simultaneously with the increase in the number of unemployed, however, there are shortages of manpower particularly in regard to technical and professional workers To some extent these may be due to regional imbalances but, on the whole, they suggest lack of balance, perhaps temporary, between the supply of manpower and the manpower needs of the economy Accordingly a substantial expansion of technical education and training facilities has been provided for in the Third Plan so as to meet the current requirements and lay the foundation for an adequate supply in future of such personnel at all levels Building up of trained technical personnel within the country is an important aspect of manpower utilisation In the short run, it may be possible to carry on with borrowed hands But since trained manpower is also a scarce commodity in the world market, reliance on its continued import can be considered neither desirable nor feasible

Educated Unemployed

During the last twelve years public attention has been focussed on another aspect of our employment problem, viz, the educated unemployed The live registers of the employment exchanges have been showing a large number of educated persons as unemployed The matter needs investigation According to the estimates of a Study Group appointed in 1955 which defined educated persons as those who have crossed the matriculation standard, the number of unemployed as at the beginning of the Second Plan was about 5 5 lakhs The number has considerably increased since One of the outcomes of this study was the currency it gave to the idea of finding out the relationship between university education and employment so as to discover the direction in which the system of educ tion needs reorientation

The first step in this direction was a survey undertaken in 1958-59 of the alumni of the Delhi University for the years 1950

and 1954, covering all persons who obtained degrees, diplomas and certificates from the university during those years Although a high percentage of the alumni appear to have suffered initial unemployment for over a year before getting first employment, their employment position on the whole was not found to be unsatisfactory The public sector provided jobs to a major portion of them The survey also revealed a fairly high degree of mobility in search for higher emoluments, better occupational status or a greater measure of security

Apart from large incidence of vocational aimlessness, there was a strong inclination for following the family pattern in seeking employment Teaching was the most popular vocation with the women alumni occupying nearly 50 per cent of the posts The survey established a close relationship between education and employment in regard to technical and professional courses except in the case of law A large number of persons with general education were found to be working as clerks, thereby revealing an unsatisfactory relationship between general education and employment General degree-holders also showed a high degree of occupational mobility Encouraged by the result of the Delhi survey of 1958-59 an all-India survey on the pattern of graduate employment was started in 1960 which was confined to university graduates who obtained degrees in 1950 and 1954 Though final data of this latter survey are not published, the conclusions of the Delhi survey, in the main, seem to be supported by the all-India data

These surveys and the complementary information regarding the industries to be developed and the estimates of their requirements on the basis of estimated manning patterns will provide suggestions for a better utilisation of educated manpower As the plan goes ahead, more and more *employment opportunities are also likely to* be created for the educated persons to work in the rural areas in the fields of village administration, education, cooperation, transport, rural industries, etc Creation of more employment opportunities combined with a change in their attitude towards manual work will go a long way to solve their problem

Deterioration in Situation

From what is stated above it will be seen that

(i) The employment problem in India consists of both unemployment and underemployment—the former prevails mainly in urban areas and the latter in rural areas

(ii) Since independence upto 1951 employment was not an important point in economic debates because of the favourable impact of the Second War and the Korean boom

(iii) In spite of developmental efforts under the first two and the third plans, employment situation has been showing signs of deterioration, because employment opportunities are not being created at a rate fast enough to absorb new entrants to the labour force

(iv) Paradoxically, with abundant manpower, the economy has been experiencing shortages of manpower especially in regard to technical and professional personnel which implies, perhaps temporarily, lack of balance between the supply of manpower and the manpower needs in the country

(v) Side by side, with increase in the volume of general unemployment, incidence of unemployment among the educated jobseekers has also been rising

New Delhi
7 September 1963

INVESTMENT AND CAPITAL ACCUMULATION IN INDIA

AMRITA DATTA

The rate of increase in gross fixed investment has been faster since independence than that of gross national product The annual rate of increase of capital accumulation has also exceeded that of net fixed investment This has synchronised with a high incremental capital—output ratio This article points to the need for maximising export earnings which alone can speed up the process of fixed capital formation in the country

THE growth of capital formation in India has been slow Except for the establishment of the jute and cotton textile industries which involved large-scale investment in the nineteenth century industrial development in this country was virtually at a standstill until the twenties of this century The twenties witnessed the establishment of a few industries for the manufacture of consumer goods and intermediate products This process gained some momentum during the war and early post-war period and even a beginning was made to establish a few capital goods industries viz, diesel engines locomotives, textile machinery, etc However, investment was not only concentrated on consumer goods industries but was controlled and managed almost entirely by private enterprise The scope for the expansion of the capital goods sector was limited due to the operation of several well-known inhibiting factors As a result, the resources allocated to fixed investment were relatively nominal

The long period of stagnation in fixed capital formation came to an end with the coming of independence The period following August 1947 marked the inception of a vigorous phase in the economic development of India With the change in industrial policy and commencement of the five year plans, govermental policy was increasingly orientated towards an expansion of fixed investment for achieving a high rate of economic growth An idea of the rapid advance made by the country in recent years could be had from the growth in fixed capital formation since independence Between 1948-49 and 1960-61 while gross fixed investment rose at an annual rate of seven per cent, the annual rate of increase witnessed in respect of the public sector was 13 per cent as against 5 6 per cent in respect of the private sector Besides, the share of the public sector in gross fixed investment (at 1958-59 prices) increased from 19 3 per cent in the pre-Plan period to 27 3 per cent and 33 5 per cent in the First and Second Plan periods respectively Associated with this increase in the volume of investment was the rise in the share of gross fixed investment in gross national product (i e average investment ratio) As the following figures show, the average investment

This article is written by the author in his personal capacity

ratio increased from 12 1 per cent in the pre-Plan period to 13 2 per cent in the First Plan period and to 17 5 per cent in the Second Plan period *

	Annual Rate of Growth in Gross Fixed Investment (percentage)	Average Investment Ratio
	(at 1958-59 prices)	
Pre-Plan period (1948-49 to 1950-51)	4 1	12 1
First Plan period (1951-52 to 1955-56)	8 6	13 2
Second Plan period (1956-57 to 1960-61)	6 5	17 5
Entire period (1948-49 to 1960-61)	7 0	14 8

Source Central Statistical Organisation, Government of India and *Economic Survey of Asia and the Far East*, United Nations, 1961

The allocation of resources for investment, however, did not strictly follow the plan periods This could be seen from the trend of investment ratio which remained more or less stable until 1954-55 but registered a perceptible increase thereafter As figures in

TABLE 1
GROWTH OF PUBLIC AND PRIVATE INVESTMENT
(At 1958-59 prices)

Year	Ratio of Gross Fixed Investment to Gross National Product			Public Investment As Percentage of Total Investment
	Public	Private	Total	
1948–49	2 1	9 5	11 6	17 9
1949–50	2 3	10 1	12 4	18 9
1950–51	2 6	9 7	12 3	21 0
1951–52	2 9	10 0	12 9	22 3
1952–53	2 9	9 2	12 1	24 0
1953–54	3 2	8 6	11 8	27 2
1954–55	3 8	9 4	13 2	29 2
1955–56	5 0	10 6	15 6	31 8
1956–57	5 4	11 9	17 3	31 1
1957–58	5 4	13 3	18 7	29 0
1958–59	5 3	11 3	16 6	32 1
1959–60	7 3	10 8	17 1	42 8
1960–61	5 8	12 0	17 8	32 4

Source Data on fixed investment have been taken from the Central Statistical Organisation paper and those on gross national product from the *Economic Survey of Asia and the Far East* 1961 The latter have been compiled from the former

* Throughout this article, data on fixed investment, stocks and other allied data have been taken from the Central Statistical O[illegible] paper on National Income Statistics (Estimates of Gross Capital Formation in India [illegible] to 1960-61)

Table I show, the average investment ratio at constant prices improved from 12 3 per cent during 1948-49 to 1954-55 to 16 6 per cent during 1954-55 to 1960-61 From 1954-55 onwards, not only public outlay was accelerated but there was also increased activity in the private sector which had emerged more confident from the climate of uncertainty (i e threat of nationalisation, labour troubles etc) of the early post-independence period Moreover, since 1954-55, there had been a greater rate of increase in gross fixed investment than in the growth of gross national product While the average rate of increase in fixed investment was 5 3 per cent from 1948-49 to 1954-55 and 8 7 per cent from 1954-55 to 1960-61 the corresponding average rates for gross national product were 2 9 per cent and 3 1 per cent respectively The year 1954-55 may, therefore be taken as the dividing line for purposes of study

Progress of Public Sector

Of the two sectors which contributed to the growth of fixed investment in India, the private sector, as its past legacy indicated, no doubt contributed the major share (10 5 per cent) of gross national product as against a relatively small share (4 3 per cent) of the public sector However, as already stated above, the annual rate of rise in fixed investment in the public sector was much higher than that witnessed in respect of the private sector though in the second half of the period under review, the rate of increase of the former somewhat slowed down while that of the latter improved sharply None the less the overall high rate of increase witnessed

TABLE 2

RELATIONSHIP BETWEEN GROWTH IN GROSS NATIONAL PRODUCT AND GROSS FIXED CAPITAL FORMATION

(At 1958-59 prices)

Annual Rate of Growth (Percentage)	1948–49 to 1960–61	1948–49 to 1954–55	1954–55 to 1960–61
Gross National Product (GNP)	3 0	2 9	3 1
Gross Fixed Investment	7 0	5 3	8 7
(i) Public Sector	13 0	14 2	11 8
(ii) Private Sector	5 6	2 7	8 5
Gross Fixed Investment as Percentage of G N P.	14 8	12 3	16 6
of which (i) Public Sector	4 3	2 9	5 5
(ii) Private Sector	10 5	9 4	11 1
Incremental Capital-Output ratio*	4 9	4 2	5 4

* Obtained by dividing the average investment ratio by the annual rate of growth in gross national product

in respect of the public sector during the period under review is enough proof (if proof were at all needed) of the significant progress made by this sector since independence Its relatively low investment ratio may still be considered impressive in the context of the almost stagnant conditions in public economic activities prevalent in the thirties

Gross and Net Investment

At this stage it may be interesting to study the changes in the relationship between gross and net fixed investment, depreciation and changes in inventories during the period under review Although some adjustments have been made in the data presented in table 3 (as mentioned in the footnote), it may be assumed that the trends are not likely to be affected by this adjustment It may be seen from table 3 that both gross fixed investment and capital accumulation reacted evenly during the period under review As a ratio to gross national product, both gross and net fixed investment rose from 12 3 per cent and 5 per cent respectively in the first half to 16 6 per cent and 10 1 per cent in the second The growth in capital accumulation also occurred in the same direction from 6 3 per cent to 11 6 per cent in the corresponding period The differences between the changes in capital accumulation and changes in net fixed investment were due to fluctuations in stocks which rose from 1 3 per cent to 1 5 per cent This was at-

TABLE 3

RELATIVE CHANGES IN GROSS FIXED INVESTMENT, DEPRECIATION, INVENTORY AND CAPITAL ACCUMULATION AS PERCENTAGE OF GROSS NATIONAL PRODUCT

(At 1958–59 prices)

Period	Gross Fixed Investment	Depreciation	Net Fixed Investment	Inventory Change	Capital Accumulation
1948–49 to 1950–51	12 1	7 6	4 5	1 1	5 6
1950–51 to 1952–53	12 4	7 3	5 1	1 0	6 1
1952–53 to 1954–55	12 4	6 9	5 5	1 1	6 6
1954–55 to 1956–57	15 4	6 7	8 7	1 8	10 5
1956–57 to 1958–59	17 5	6 5	11 0	1 7	12 7
1958–59 to 1960–61	17 2	6 4	10 8	2 1	12 9
1948–49 to 1960–61	14 8	6 9	7 9	1 4	9 3
1948–49 to 1954–55	12 3	7 3	5 0	1 3	6 3
1954–55 to 1960–61	16 6	6 5	10 1	1 5	11 6

Note As the figures for net fixed investment are available only at current prices, the proportion of net fixed investment to gross fixed investment for each year at current prices has been applied to gross fixed investment at constant (1958-59) prices in order to arrive at net fixed investment at constant prices

Source *Central Statistical Organisation,* Government of India

tributable mainly to the uncertainty of harvests in the country necessitating an increase in foodstocks through imports

Depreciation Ratio

The large differences between the percentages of gross and net fixed investment to gross national product reflected changes in depreciation which was reduced from 7 3 per cent in the first half to 6 5 per cent in the second While, over the period as a whole, net fixed investment increased at a much higher rate (13 7 per cent) than gross fixed investment (7 per cent), depreciation rose at an insignificant rate of 1 2 per cent per annum (table 4) The ratio of depreciation to gross national product was higher than that of net fixed investment in the first half but fell below the latter in the second The relatively lower ratio of depreciation reflected greater longevity of capital assets A greater volume of obsolescence of plant and machinery had to be reckoned with in the first half following the legacy of wartime worn-out plants than in the second when synchronising with the Second Plan period, new plants and machinery were established in the public sector

TABLE 4

RATE OF INCREASE IN GROSS FIXED INVESTMENT, DEPRECIATION, NET FIXED INVESTMENT AND CAPITAL ACCUMULATION

(Percentage At 1958–59 prices)

	1948–49 to 1960–61	1948–49 to 1954–55	1954–55 to 1960–61
Gross Fixed Investment	7 0	5 3	8 7
Depreciation ..	1 2	1 1	1 3
Net Fixed Investment	13 7	12 3	15 2
Accumulation	15 4	14 2	16 6

Source *Central Statistical Organisation*, Government of India

Capital Accumulation

It is interesting to note that capital accumulation not only showed a rise in the second half but its annual rate of increase even exceeded that of net fixed investment The changes in inventories were rather insignificant though there was a slight increase in stocks in the second half over the first This showed the inability of the industrial sector to keep more stocks than were absolutely necessary For it was not always possible to build up inventories due mainly to the operation of rigorous import control and allotment of quotas for raw materials on a restricted scale following the foreign exchange crisis of 1957 Moreover, the market was highly protected through import control, tariffs and other devices which enabled the manufacturers to dispose of their stocks quickly at high profits However, even the

small increase in stock formation in the second half reflected, as already explained above, an increase in the central reserves to meet emergencies on the food front The ratio of total stocks of foodgrains to available supply rose from six per cent during 1948-49 to 1954-55 to 16 per cent during 1954-55 to 1960-61 (for details, see table 10) However, in spite of the slight increase in stocks, capital accumulation witnessed a sharp rise in the second half Thus, the employment of an increasing proportion of resources has stimulated investment and led to a rapid growth of the economy during the brief period of 13 years since independence While both the public and private sectors have contributed to the expansion, the rate achieved by the former has been quite impressive

High Capital-Output Ratio

The substantial growth in capital accumulation has synchronised with a high incremental capital-output ratio during the period under review As figures in table 2 show, the incremental capital-output ratio increased from 4 2 in the first half to 5 4 in the second and was associated with an increase in the ratio of fixed investment to gross national product from 12 3 to 16 6 in the corresponding period It is a well-known fact that both industry and agriculture operated much below capacity levels in the early post-independence period and that there were frequent scarcities of goods and services Although over the years, the position improved in regard to available supplies, demand for them has increased much more Both domestic and international demand has accounted for an expansion of supplies for domestic consumption and for purposes of export However, because of the slow growth of the export sector and consequent slow rise in exports, an increase in investment either in this particular sector or in other fields has accounted for an increase in the capital-output ratio, especially in the second half Moreover, investments in new fields have taken time to materialise and while gross fixed investment has increased, as already pointed out, at a fast annual rate, gross national product has advanced rather slowly Naturally, therefore, the growth in supplies has been inadequate from a long-term point of view

II

Domestic Real Resources

The sharp increase in the volume of investment has been accompanied and at times facilitated by an increase in the volume of real resources to meet the diverse needs of domestic capital formation This has been brought about in two ways Domestic output of some basic industries, namely, cement, has progressed to such a significant extent as to minimise or eliminate imports altogether On the other hand, imports of some commodities, namely, iron and steel or capital goods have been allowed to help in the process of fixed capital formation The extent of dependence on domestic output and/or imports may be seen from table 5 Domestic production of all the main items under 'Construction', such as cement, iron and steel made substantial progress though imports of iron and steel and other building materials (excluding cement) were still necessary to augment domestic resources, especially in the second half Although domestic output of capital goods and other machinery registered an improvement,

TABLE 5

DOMESTIC PRODUCTION AND IMPORTS OF CONSTRUCTION MATERIALS AND MACHINERY AND EQUIPMENT AS PERCENTAGE OF GROSS FIXED CAPITAL FORMATION

(At current prices)

	1948–49 to 1960–61		1948–49 to 1954–55		1954–55 to 1960–61	
	Production	Import	Production	Import	Production	Import
(1) Construction Materials of which	19 5	2 7	20 4	1 9	19 2	3 0
Cement	3 2	0 1	2 7		3 5	
Iron and steel	5 9	1 5	5 2	0 5	6 3	2 0
other building materials	10 4	1 1	12 5	1 4	9 4	1 0
(2) Machinery and Equipment of which	13 0	15 1	11 3	15 1	13 9	14 9
Capital goods	8 1	8 2	7 2	10 2	8.6	7.1
Other machinery	4 9	6 9	4.1	4 9	5 3	7 8
(3) Total (1 *plus* 2)	32 5	17.8	31 7	17 0	33 1	17 9

Source *Central Statistical Organisation*, Government of India

imports were understandably much higher with the result that they constituted 15 per cent of gross fixed investment during the period under review

Construction Materials

Thus, while the expansion in the output of construction materials played a significant part in the growth of fixed capital formation, capital goods and other machinery were augmented through imports due naturally to the absence of a capital base in the country It is, however, significant that domestic production in the latter case revealed a significant improvement inasmuch as it constituted 13 per cent of gross fixed investment during the period In reality, the annual rates of increase in the output of cement and capital goods have been much higher than those of their available supply (table 6) Although the rates of growth in respect of iron and steel and machinery parts were impressive, imports of these two items rose sharply during the period On *the other hand, import of cement* witnessed an annual rate of decline (1 4 per cent)

TABLE 6

ANNUAL RATES OF INCREASE/DECREASE IN AVAILABLE SUPPLY, PRODUCTION AND IMPORTS OF CONSTRUCTION MATERIALS AND MACHINERY AND EQUIPMENT

(Percentage at current prices)

	1948–49 to 1960–61			1948–49 to 1954–55			1954–55 to 1960–61		
	Available Supply	Production	Import	Available Supply	Production	Import	Available Supply	Production	Import
Construction Materials									
Cement	17.1	18 2	—1 4	18 2	20 5	—0 3	16 1	15 9	—2 5
Iron and Steel	16 5	15 2	40 8	12 5	12 5	19 2	20 6	17 8	62 5
Others	5 0	5 1	7 0	2 5	2 2	9 9	7 5	8 0	4 1
Total	9 6	9 6	17 2	6 3	6 7	8 4	12 9	12 4	26 0
Machinery and Equipment									
Capital goods	8.6	12 6	5 4	4 3	8 7	1 3	13 0	16 5	9 4
Other machinery	19.5	13 5	17 9	7 0	6 5	7 7	32 0	20 5	28 0
Total	11·1	12 8	9 8	4 9	7 6	2 9	17 3	17 9	16 7
Grand Total	10.3	10.7	10 3	5 4	6 9	3 2	15 3	14.5	17 3

Source *Central Statistical Organisation*, Government of India

Both production and imports (except for cement) rose sharply in the second half and the resources obtained through imports, especialy of iron and steel and machinery parts far outweighed those augmented through domestic output Generally speaking, while imports of total construction materials rose at a faster rate annually than those of machinery, equipment during the period under review, both production and available supply of the latter increased at a faster rate than those of the former

Increased Tempo of Investment

As would be expected, capital formation in construction constituted the major share (63 2 per cent) in gross capital formation and gross national product (10 3 per cent) as against 27 9 per cent and 4 5 per cent respectively for machinery and equipment

TABLE 7

ANNUAL RATE OF INCREASE AND RELATIVE SHARES OF FIXED INVESTMENT IN 'CONSTRUCTION' AND 'MACHINERY AND EQUIPMENT' IN GROSS CAPITAL FORMATION AND GROSS NATIONAL PRODUCT

(At 1958-59 prices)

Gross Fixed Investment in	Annual Rate of Increase	Relative Shares in Gross Capital Formation	Relative Shares in Gross National Product
Construction			
1948-49 to 1960 61	7.2	63.2	10.3
1948-49 to 1954 55	7 5	63 0	8.6
1954 55 to 1960 61.	6.9	63.7	11 6
Machinery and Equipment			
1948-49 to 1960-61	6.9	27.9	4 5
1948-49 to 1954-55	0.5	27.3	3 1
1954-55 to 1960-61	13 2	27.9	5.1
Gross Fixed Investment			
1948-49 to 1960-61	7.0	91 1	14 8
1948-49 to 1954-55	5.3	90 3	11 7
1954-55 to 1960-61	8 7	91 6	16 7

Source *Central Statistical Organisation* Government of India

during the period (table 7) The relative shares of construction and machinery and equipment in gross national product showed two distinctive trends between the first and the second half As seen in table 7, the ratios were low in the first half but rose substantially in the second The same tendency was witnessed in respect of total gross fixed investment vis-a-vis gross capital formation and gross national product Although the ratio remained at about 91 per cent relatively to gross capital formation in both the half-periods, it moved from 12 to 17 per cent relatively to gross national product during the same time-interval Such an abrupt swing may be attributed to the generally increased tempo of investment activity during the second half of the period under consideration

The annual rates of increase of these items at constant prices revealed sharp variations during the period While the fixed investment in construction was reduced from an annual rate of 7 5 to 6 9 per cent that in respect of machinery and equipment jumped from 0 5 to 13 2 per cent during

the two halves The insignificant increase witnessed in the first half is mainly attributable to the lack of availability of capital goods abroad in the early post-war period At any rate, the investment programme in the country had not been intensified before 1954-55 to account for a sizable increase in the annual rate of fixed investment in machinery and equipment With the investment programme gaining momentum in the second half, the annual rate of increase in this sector recorded a sharp improvement As a result, total fixed investment also increased at an annual rate from 5 3 to 8 7 per cent in the corresponding period

On the whole, however, the expansion of machinery and equipment has been small relatively to that of building materials during the period In reality, all the major expansion in gross fixed investment has been facilitated by an increase in imported supplies In the second half of the period particularly, the import content of investment witnessed a sharp increase Although it was accompanied by a high rate of production of iron and steel, capital goods and other machinery parts, imports of these very items witnessed a much faster rise in the second half than in the first Thus, an expansion in gross fixed investment has been supported both by a rise in domestic output leading to import substitution (as in the case of cement) and a greater volume of imports (as in the case of iron and steel and capital goods) The question now arises whether import capacity has been adequate to facilitate this increase in imported supplies

III

Import Capacity

At the beginning of April 1948, the foreign exchange resources of the country

TABLE 8

INDICES AND ANNUAL RATES OF INCREASE/DECREASE IN REAL IMPORTS AND IMPORT CAPACITY

(At 1958–59 prices)

(*Base* 1948–49 to 1954–55 equal to 100)

	1948–49 to 1960–61		1948–49 to 1954–55		1954–55 to 1960–61	
	Indices	Annual Rate	Indices	Annual Rate	Indices	Annual Rate
Real Merchandise Imports*	125 3	9 8	100 0	7 5	146 9	12 1
Import Capacity derived from						
Exports and net services	105 5	6 1	100 0	10 8	116 1	1 4
plus official loans and grants	116 6	8 2	100 0	9 1	131 1	7 3
plus other long-term capital	121 6	8 0	100 0	6 6	140 2	9 4
Foreign Exchange Reserves	81 9	—8 2	100 0	—4 9	64 8	—11 6

* Excludes the extraordinary payment of Rs 71 9 crores to the U K in 1948-49 for the purchase of defence stores and installations

† Excludes silver despatched to the U S A valued at Rs 74 4 crores in 1957-58 in payment of lend-lease obligations 'Net services' exclude 'official' but include 'private' donations

Source *Reserve Bank of India*

amounted to Rs 1,612 crores which were reduced to Rs 910 crores by the beginning of April 1954 and subsequently to Rs 363 crores by the beginning of April 1960 Although import capacity derived from merchandise exports and net services showed an improvement in the second half, resourse had to be taken to foreign exchange reserves to finance the import content of fixed investment Between the first and the second half, as figures in table 8 show, import capacity derived from merchandise exports and net services increased by 16 1 per cent which coupled with official loans and grants went up by 31 1 per cent and together with other long-term capital witnessed a further rise by 40 2 per cent As a matter of fact, official loans and grants together with other long-term capital accounted for 23 7 per cent of total foreign exchange receipts during the period though as between the two halves, the variation was considerable from 11 9 per cent to 30 8 per cent However, real merchandise imports registered an increase by 46 9 per cent during the corresponding period

This excess of imports over import capacity was of course financed by foreign exchange reserves though the import equivalent of exchange reserves was drastically reduced by 35 2 per cent in the second half compared with the first While merchandise imports increased at a faster rate (9 8 per cent) than import capacity (8 per cent), the only alternative to finance the resultant deficit was to take recourse to foreign exchange reserves Especially in the second half real imports increased at a much higher rate (12 1 per cent) than the total import capacity (9 4 per cent) with the result that foreign exchange reserves were reduced at an annual rate of 11 6 per cent Thus, real imports did not have to depend entirely on total import capacity for financing the

TABLE 9

IMPORTS OF CAPITAL GOODS, RAW MATERIALS AND CONSUMER GOODS AS PERCENTAGE OF TOTAL IMPORTS

(At current prices)

Period	Total Imports	Capital Goods*	Raw Materials	Consumer goods	
				Food	Total
1948–49 to 1950–51	100 0	25 8	29 8	16 5	23 8
1950–51 to 1952–53	100 0	22 6	31 1	20 2	26 9
1952–53 to 1954–55	100 0	27 1	28 9	14 6	22 5
1954–55 to 1956–57	100 0	35 7	23 1	4 0	13 2
1956–57 to 1958–59	100 0	40 4	18.2	8 8	18 6
1958–59 to 1960–61	100 0	38 5	18 6	17 6	26 4
1948–49 to 1960–61	100 0	32 5	24 2	13 7	22 0
1948–49 to 1954–55	100 0	24 8	29 9	17 1	24 4
1954–55 to 1960–61	100 0	38 0	20 3	10 6	19 8

* Figures for capital goods given here are slightly different from those given by the Central Statistical Organisation Paper

Source Reserve Bank of India

import content of domestic fixed investment

Alteration in Composition

An increase in gross fixed investment consequent on a rise in imports of capital goods and machinery parts has involved an alteration in the composition of imports as well Imports of capital goods, as figures in table 9 show, witnessed an increase from 25 to 38 per cent between the two halves whereas those of raw materials and consumer goods declined perceptibly from 30 and 24 per cent to 20 per cent each respectively in the corresponding period The main factor behind this phenomenon was the rigorous control over imports which was especially tightened up following the foreign exchange crisis in 1957 While increased imports of capital goods helped in the process of fixed capital formation, there was at the same time a reduction in the imports of raw materials and consumer goods as a ratio of total imports To the extent the maintenance of industrial activity in the country was concerned, restrictions placed on the import of raw materials were a disconcerting feature as it was likely to retard the growth of the economy and of fixed investment itself

Foodgrains

On the other hand, restrictions imposed on the imports of consumer goods in general have been a usual feature of our import trade though food imports in large quantities have been necessary following poor harvests off and on Indeed, the ratio of foodgrains to total imports of consumer goods amounted to 62 per cent during the period though it was reduced from 70 per cent in the first half to 54 per cent in the second Although production of foodgrains increased by 20 per cent in the second half, increased imports were necessary not only to satisfy domestic consumption but also to build up reserves As figures in table 10 show, although domestic consumption of foodgrains increased at 2 5 and 2 7 per

TABLE 10

POSITION OF FOODGRAINS IN INDIA

Period	Annual Rate of Growth (Percentage)			Net Imports as % of Consumption		Stocks as % of Available Supply
	Domestic Production	Net Imports	Total Consumption	Human	Total	
1948–49 to 1960–61	3 4	12 5	2 6	4 5	4 1	11 5
1948–49 to 1954–55	3 7	—3 9	2 5	5 2	4 7	6 1
1954–55 to 1960–61	3 2	28 9	2 7	3 4	3 1	16 0

Note Figures are originally in thousand tons and are taken from the Central Statistical Organization paper referred to earlier

cent annually in the first and second half respectively, the corresponding rates of rise in foodgrain production were higher at 3.7 and 3.2 per cent respectively. The share of net imports in consumption (both human and total) actually fell in the second half and in any case constituted a small percentage (3 to 5 per cent). Yet net imports which declined at the rate of four per cent per annum in the first half increased at the rate of 29 per cent per annum in the second accounting for a sharp increase (from 6 to 16 per cent) in the ratio of food stocks to total availability. In value terms, however, the share of food imports as also of total consumer goods witnessed a decline in the second half and this, coupled with a reduction in the imports of raw materials, accounted for an increase in the ratio of capital goods to total imports.

Raw Materials and Consumer Goods

In reality, the relative shares of imports of raw materials and consumer goods (including foodgrains) in private and total consumption expenditure were reduced in the

TABLE 11

IMPORTS OF RAW MATERIALS AND CONSUMER GOODS AS PERCENTAGE OF DOMESTIC CONSUMPTION EXPENDITURE

(At current prices)

Imports	1948-49 to 1960-61		1948-49 to 1954-55		1954-55 to 1960-61	
	Private	Total	Private	Total	Private	Total
Raw Materials	20.5	19.0	23.4	21.9	18.1	16.6
Consumer Goods of which	18.1	17.3	19.1	17.9	17.6	16.2
Food grains	11.5	10.7	13.4	12.6	9.5	8.7
Total	39.1	36.3	42.5	39.8	35.7	32.8

Note Figures of domestic consumption expenditure are inclusive of those for goods and services. Total consumer expenditure refers to private and government expenditures at current prices. Several adjustments have been made to compile these figures. As the figures for private current expenditure are merged with those of private net capital formation in the statements showing 'expenditure generating net national product' (see *Estimates of National Income* by CSO), the proportions of private capital formation to total gross capital formation for each year from 1948-49 to 1954-55 have been applied to net capital formation at current prices (available in the CSO paper) in order to arrive at private net capital formation at current prices. The figures thus derived have been deducted from the merged figures in order to arrive at the figures for private current expenditure on goods and services at current prices.

For the years from 1955-56 to 1960-61, figures for private consumer expenditure have been extracted from the figures on gross national product by rearrangement of data available in the CSO paper. Import figures for raw materials and consumer goods have been taken from the Reserve Bank of India.

second half compared with the first (table 11) The figures of domestic consumer expenditure given in table 11 are, however, tentative and are also inclusive of expenditure on services It has not been possible to isolate the figures of consumption expenditure for commodities alone None the less, the broad trends that are discernible unmistakably point towards a decline in these ratios which occurred more especially in respect of raw materials than in respect of consumer goods In spite of a sharp reduction in the ratios of foodgrain imports to private as well as total consumption expenditure in the second half, the ratios of imports of total consumer goods were only slightly reduced Although this particular category was subjected to the most rigorous import control, relaxations were made oftentimes in respect of certain types, viz, electrical goods imports of which witnessed an increase in the second half

On the other hand, as figures in table 11 show, the ratios of raw material imports to consumption expenditure fell rather sharply in the second half This was accomplished more by import control and quota allocations than by the free play of market forces It was really an unreal situation in the context of acute shortage of imported raw materials in certain sectors of the economy No doubt, both agricultural and industrial production had increased remarkably in the second half over the first The average index of agricultural production (base 1949-50 equal to 100) had increased from 104 3 during 1949-50 to 1954-55 (year ended June) to 125 1 during 1954-55 to 1960-61 showing an upward movement by about 20 per cent The annual average index of industrial production (base 1951 equal to 100) had similarly gone up by 37 4 per cent from 103 3 in the first half to 141 9 in the second All this improvement should have accounted for a substantial reduction in the ratio of raw material imports to domestic consumer expenditure Yet, several industries were utterly dependent on imported raw materials not only to operate their plants at optimum efficiency but also to maximise output within the capacity licensed

Relationship

At any rate, capital goods, raw materials and foodgrains have been the three main rivals in our import trade and a rise in the imports of capital goods has normally synchronised either with a fall in the imports of raw materials or of foodgrains or of both As figures in table 9 show, imports of capital goods have usually varied inversely with those of raw materials and consumer goods (especially of foodgrains) A decline in the relative shares of raw materials and consumer goods has been accompanied by an increase in the share of capital goods Thus, in so far as imports of capital goods have determined the level of fixed investment, the latter has been ultimately conditioned by the scarcity of foodgrains and/or raw materials The main inhibiting factor has been deficiency in food production and the virtual impossibility of curtailing imports of essential raw materials and consumer goods

Share of Capital Goods

An increase in gross fixed investment was facilitated when import capacity rose at a higher annual rate than private or total consumption expenditure (table 12) This was actually accentuated in the second half though the tendency was visible in both the half-periods Although real imports rose at a much faster rate than import capacity, the large accumulation of sterling balances

TABLE 12

ANNUAL RATE OF INCREASE IN GROSS FIXED INVESTMENT, REAL IMPORTS, IMPORT CAPACITY AND DOMESTIC CONSUMER EXPENDITURE

(Percentage At 1958-59 prices)

Period	Gross Fixed Investment	Real Import	Import Capacity	Domestic Consumer Expenditure*		
				Private	Government	Total
1948–49 to 1960–61	7 0	9 8	8 0	2 5	4 5	2 6
1948–49 to 1954–55	5 3	7 5	6 6	2 2	2 6	2 2
1954–55 to 1960–61	8 7	12 1	9 4	2 7	6 3	3 0

* The proportions of private and government current expenditure on goods and services to gross national product at current prices arrived at in the way given in footnote to table 11 above have been applied to gross national product at 1958-59 prices in order to arrive at private and government current expenditure at constant prices The figures are necessarily tentative and as usual inclusive of goods and services It has not been possible to isolate the two It is assumed that the broad trends would be discernible even within a small margin of error

Sources Central Statistical Organisation and *Economic Survey of Asia and the Far East, 1961*

available at the end of the war was able to finance the gap for a long time Thus, an increase in import capacity supplemented by a reduction in the import content of domestic consumption enabled the country to raise its share of capital goods in total imports and give an impetus to gross fixed investment Naturally, therefore, the growth in gross fixed investment varied directly with that of import capacity though the annual rate of growth of the latter was much faster than that of the former This strange phenomenon may be attributable to the large sums of unutilised official loans and grants from abroad which could not be spent either in the requisite quantity or within the stipulated time Besides, a sizable portion of the grants was meant to cover food imports on government account and was perhaps not intended to finance the growth of fixed investment in the country

Structural Maladjustment

In conclusion, it may be stated that the post-independence period has witnessed a remarkable rate of growth in capital accumulation which has been accomplished mainly by an increase in fixed investment through governmental initiative The private sector has also played a significant role in the growth of fixed capital formation Although domestic output has helped in certain directions, the main channel through which resources have been obtained to meet the requirements of fixed investment has been the import trade This has been facilitated, to some extent, by an increase in import capacity which has risen faster than

domestic consumption expenditure Yet, real imports have gone up still faster than import capacity necessitating a recourse to foreign exchange reserves The main factor which has held up progress in fixed investment has been import of capital goods which has been dependent on the relative importance of raw materials and foodgrains in the import trade Although production in both the agricultural and industrial sectors has risen, it has been hard to restrict the imports of essential consumer goods in general and of foodgrains in particular Restrictions placed on the import of raw materials have accounted for the slowing down of progress in certain sectors of the economy Thus, the basic structural maladjustment of the economy still remains —a scarcity in the supply of resources relatively to the overall requirements of economic growth

For a long time foreign exchange resources could finance the deficit caused by the excess of real imports over import capacity With the sharp reduction in reserves in recent years, it will no longer be possible to depend exclusively on these resources Next come the resources obtained from abroad in the form of official loans and grants but the former has its own problems of repayment and consequent pressure on the balance of payments and the latter cannot obviously continue for ever All this points to the need for maximising export earnings which alone can speed up the process of fixed capital formation in the country An acceleration of the rate of fixed investment would undoubtedly involve hardships all round but these have to be borne with patience and fortitude by all For, the problem of capital accumulation is neither a temporary one nor for that matter a side issue

Bombay
5 September 1963

The contemporary arguments for moral and intellectual freedom contain little that is new When a government makes what appear to be unusual or exaggerated efforts to standardize belief and conduct, then we find, for the most part, restatements of the classic arguments of Luther, Milton, Locke, Spinoza, Fenelon, Montesquieu, Voltaire and Mill matters of belief, these men maintained, can be determined only by the powers of rational persuasion or by divine revelation and inspiration, coercive efforts to establish uniformity in morals and opinions are sure to fail, man has a natural right to be free in matters of opinion and private morals, and peace and happiness flow from a policy of toleration

Francis W Coker *Recent Political Thought*

VILLAGE INDUSTRIES IN TRIBAL AREAS

B H MEHTA

The approach to the development of cottage and village industries in tribal areas cannot be separated from the general approach to the problem of economic development of tribal areas as a whole The tribals are rich in natural resources and skills and have an aesthetic sense What is required to set the tribal economy on the road to progress is to give proper training to the local people and to exploit the natural resources

THE direction, nature and tempo of economic development cannot be the same in all regions, but wherever there is leadership, educational progress and developed communications, the rate of progress can be rapid Wherever these three factors are absent, or are present in a limited way, progress will be extremely slow and even negligible The sylvan areas of India mostly inhabited by more than 30 million tribals, are witnessing a new approach to development Unfortunately the development agencies do not possess adequate information and knowledge about the natural resources of the physical regions or the inhabitants of such areas The normal pattern of rural development cannot be easily introduced in tribal areas, and though the community development projects have been recently introduced in the multipurpose project areas, they have not been able to deal with the complex problems that must be dealt with to achieve an intensive development of forest economy

Valley Section Theory

The role of cottage and village industries in tribal areas cannot be separated from the general approach to the problem of economic development of tribal areas as a whole Besides the problem of economic development of tribal areas is very much related to the nature of the land problem and the prevailing pattern of agriculture in the areas, and the manpower situation in these undeveloped and usually underpopulated regions In the first instance, intensive efforts are needed to study the sylvan economy and notice the important differences that exist between rural and sylvan economy. The differences are well explained by the Valley Section Theory, according to which, physical regions can be broadly divided into six major types (1) mountain and forest areas, (2) steppe lands and predominant grass lands, (3) plains with their different soil content and irrigation facilities (4) garden lands and river valleys with their fertile soil and irrigation facilities, (5) the shores and the coast-lines with opportunities for commerce, and (6) deserts with their severe handicaps Programmes for the development of village industries will greatly benefit if plans are based on a study of petrology and natural resources of the region and the

special characteristics that will affect the people and their economy

The tribal areas are invariably associated with mountainous and forest regions, and sometimes large areas of grass lands are also involved, especially near the foothills of the mountain ranges Compared to the usual plain areas, these areas have better and more varied natural resources Some of them have the most valuable and rare raw materials for national and industrial development

Historically the tribal areas were the habitat of hunters who developed a flourishing economy The great value of the animal world was well-known to the hunters The animals in the forests can yet make a contribution to local and national economy They could help man in augmenting the food supply of the country, and animal skins and hides can be well utilised for industrial purposes and export

Raw Materials

The Gondwana centre, which has recently come into existence on the heights of the Satpura Mountains, is exploring the possibility of developing special flower crops as well as the cultivation of drug plants and exotic plants Great wealth can also be yielded by the oil-possessing grasses Carefully organised and intensive botanical surveys can indicate the varied uses of the rich plant life of our forest areas

The presence of various types of clays has practically gone unnoticed in mountain areas Such clays are extremely valuable for developing ceramics Rare earths are used for industrial purposes, and some earths are useful for local building purposes Unless there is a proper discovery and study of these seemingly useless natural resources, economic development of tribal areas cannot make rapid progress

Stone, timber and clay have been the raw materials used in the economic life of tribal people for centuries Stones are used by plain dwellers outside the regions in which they are found, but quarries are hardly developed in mountainous regions, probably due to lack of transport and communication facilities Though enormous stone resources are available in tribal areas, roads have been constructed at a cost of Rs 200 per mile in tribal areas, without using the available stone resources

The proper use of trees yielding commercial timber, or the use of wild fruits, or the use of ornamental trees is hardly a planned programme of economic development Trees which have proved of immense value to the people in decades of prosperity and want, like the *mohuva, achai, berra, chironji*, wild mango, *jamun*, etc , are not receiving the attention they deserve by the village and cottage industries planners

Developing Tribal Economy

Planners of cottage industries seem to suffer from some kind of an inferiority complex in face of the gigantic plans of industrial development of urban communities It seems to be generally believed that cottage industries must be small, and deficiencies of management and organisation contribute to the failure of projects for their development It is economical to take advantage of large quantities of raw materials available in a region The manpower problem and the local skills and market must be closely studied, and then the entire local materials should primarily contribute to the development of the local tribal economy Only the raw material for industrial

purposes should be properly marketed in major cities as well as abroad

Due to centuries of neglect and absence of fertiliser and other treatments, trees which are more than a hundred years old, are providing fruits which are hardly marketable The rehabilitation of the flora on the mountains and in forest regions can bring much wealth to the tribals

Industrial Development

The development of industries in a tribal area must be based on four factors (a) the availability of raw materials, (b) the needs of the consumer in the producing community (c) the requirement of the local market and (d) the availability of surplus labour and leisure time for the people Raw materials are available but they are only used for producing a few marketable commodities The tribals are only aware of the local weekly market, and sometimes they take advantage of a nearby town market As stated previously, they are unaware of the availability and the possible use of raw material and natural resources outside their area They lack initiative, business capacity and production know-how to take the maximum advantage that Nature offers for the development of their local economics

Their home lives are normally simple and very often self-sufficient The standard of life as well as the philosophy of living in Nature keeps them contented and seemingly lethargic Their food habits, clothing, shelter and the few luxuries they need to enjoy life have till now failed to provide a scope for the development of village industries In the project area where the Gondwana Centre has obtained considerable experience amongst the Gonds in Madhya Pradesh, there are hardly a dozen skilled carpenters, masons, blacksmiths, potters and basket-workers in a five hundred square mile area

A slow and gradual improvement is taking place as a result of acculturisation, the improvement of prices and the rise in wages as well as the scope for employment But the community development authorities beyond providing some training of poor quality, are unable to organise the artisans or build up a market for them in the nearby towns

Lack of Markets

The existing markets in tribal areas are seasonal, unstable and unsettled They are held to supply the needs of the people, but the shopkeepers and small businessmen are entirely unaware of the larger markets that exist in industrial areas. The absence of an organised market, adequate, easy and cheap means of transport, and dependence almost entirely on non-tribals for marketing their local produce have upto now impeded the development of tribal economies

The manpower problem is very complicated in tribal areas On the whole the population is small, the size of the village community is very small, and the size of the agricultural holding is also small The forest and community development authorities provide irregular scope for employment throughout the year, and, therefore, people are unable to settle down to regular work in a village industry

Unfavourable Climate

Women work much more than men in tribal areas The man spends a good deal of his time on his feet, walking miles to distant places, and he is not habituated to use his hands or time in a steady manner.

He lacks the will to work He even cannot work regularly throughout the year due to climatic conditions During the monsoon more than 60 per cent of the hamlets are practically marooned, and there is practically no communication with even neighbouring villages There is a shortage of labour at sowing and harvesting time Winter days, when more work can be done, are cold and short, and, therefore, there is inadequate leisure time Leisure is available mainly in summer from March to the end of May, and that is a time for Holi with long days of celebrations and dancing followed by the marriage season, pilgrimages and more festivals This is then followed by days spent on repairing roofs and walls in preparation for the monsoon And then the fields are prepared for sowing

Traditional Skills

The tribals have developed their skills and technology over decades and centuries These are different from the kind of skills needed by modern village industries One of the main causes of backwardness and undeveloped village economies is the absence of leadership which knows how to divert existing skills and develop new skills required for present-day economy

The training courses, mostly provided by the community development authorities, are not properly conceived and the programmes are not manned by persons who themselves possess the new skills and speeds required in an industrial age The tools and implements used are of poor quality The duration of training is very brief, and there is not enough practice to produce a good workmanship and a finished product of quality Entirely new conceptions are needed to achieve a rapid change from an old to a new economic order

It has to be realised that the tribal economy is prosperous only if it is a mixed type of economy The greatest scope is for forestry, even though hunting may not play a big role in the development of any sylvan economy Tribal agriculture and animal husbandry have their own distinct place in tribal areas, and the agriculture of the plains cannot be suitable to the soil and climatic conditions of mountain areas Tribal crafts can only find scope as a supplement to forestry, hillside millet agriculture, poultry farming, beekeeping, horticulture etc

Contact with Towns

The problem of development of village industries in tribal areas needs long study and research and patient work over long periods amongst small, but responsive communities The urbanites have yet to contribute their best talents without expecting high remuneration that an ill-organised and non-remunerative economy is unable to afford The tribals have raw materials, skills and an aesthetic sense, but the contact between towns and tribal areas has yet to become more intensive and mutually beneficial for village industries to emerge and develop in tribal areas to make any significant contribution to tribal economy

Training for Happy Life

The Gondwana centre which is created as a result of seven years' work has developed an experimental centre where experiments are carried on amongst the Gonds to develop an integrated programme of education based on the needs of a developing

tribal economy The programmes intend to provide three-year training which can develop skills for a new agriculture for crafts like carpentry brick-making spinning and weaving, and prepare the youth for a career that will not destroy his adaptability to his tribal environments Training for physical fitness, moral education and proper nourishment are part of a three year life of hard work But theirs is a happy life where manual work is a constant factor in the class room, the workshop and the library

Education of the right type alone can build a proper foundation for a progressive and enlightened tribal society capable of leadership, initiative organised effort and a capacity for social and economic progress with others who enjoy better opportunities and who have already developed the art of modern living Measures are needed to bridge the gaps between the village and the town, and the forest and the plain, between levels of mental and emotional developments, and between standards of living

Bombay
14 July 1963

One of the major results of the capitalist mode of production is that, on the one hand, it transforms agriculture from a mere empirical and mechanical self-perpetuating process employed by the least developed part of society into the conscious scientific application of agronomy, in so far as this is at all feasible under conditions of private property, that it divorces landed property from the relations of dominion and servitude, on the one hand, and on the other totally separates land as an instrument of production from landed property and landowner- for whom the land merely represents a certain money assessment which he collects by virtue of his monopoly from the industrial capitalist, the capitalist farmer, it dissolves the connection between landownership and the land so thoroughly that the landowner may spend his whole life in Constantinople, while his estates lie in Scotland Landed property thus receives its purely economic form by discarding all its former political and social embellishments and associations, in brief all those traditional accessories, which are denounced, as we shall see later, as useless and absurd superfluities by the industrial capitalists themselves as well as their theoretical spokesmen, in the heat of their struggle with landed property The rationalizing of agriculture, on the one hand, which makes it for the first time capable of operating on a social scale, and the reduction ad absurdum *of property in land, on the other, are the great achievements of the capitalist mode of production Like all of its other historical advances, it also attained these by first completely impoverishing the direct producers*

Karl Marx *Capital,* Volume III

AGRICULTURAL RESEARCH AND RURAL ECONOMY

A R KHAN

Agricultural research has an important role to play in the improvement of farming The Government's interest in technological development is evident from the chain of research institutes established by it all over the country Though the results of their work are of great practical value, they have not made much impact on the rural economy due to the peculiar social and economic conditions in the rural areas

ALTHOUGH agriculture is the largest occupation in India engaging about 70 per cent of the people and accounting for more than half of the national income, it has not been able to sustain the ever-increasing population of the country The average productivity of land in India and the per capita income of the Indian farmer are, perhaps, the lowest in the world Farming is still being carried on as a way of life rather than as a business Technology which has made great advances amounting to a revolution during recent years has not made much impact on the rural economy

It may be of interest to examine the part played by agricultural research to improve farming During the last century three important contributions were made by science to farming The first was the birth of the fertilizer industry in 1843 From the reactions which take place between fertilizer and the soil was evolved the technique of fertilizer application and placement The second, which came after about 60 years, was the new way of producing better varieties of plants And, the third was the harnessing of mechanical power for cultivation Technology has since made so much advance that, if it is applied ruthlessly to the best lands, the bulk of our rural population will be thrown out of employment and will have to be absorbed elsewhere This will give rise to new problems of social and economic readjustment without which the gap between science and farming cannot be bridged

Research Institutes

The importance the Government attaches to technological development in changing the face of the country may be evident from the establishment of a chain of research institutes and commodity stations all over the country Some of the basic and applied researches carried out in these institutes have yielded results of great practical value The Pusa wheat is reputed for its quality, resistance to plant diseases, high yield and wide adaptability to the soil and growing conditions in different parts of the country Its popularity has rested for more than half a century on the confidence shown by the farmers and consumers alike The indigenous thin varieties of sugar canes, giving a paltry return in the form of jaggery to the farmer have now been replaced by the thick Coimbatore varieties yielding 50 per cent or more return The impact of this innovation

is evident from the change in the rural economy caused by the establishment of sugarcane factories and the employment opportunities they offered to the rural population

In respect of millets, the technique of hybridisation is being extended to jowar and bajra with a view to evolving high-yielding varieties At a number of stations improved agronomic practices relating to millets are also under study In the field of cotton research the acclimatization of sea-island cotton of the Andrews variety in Kerala is a significant development Extra long staple cotton varieties have been evolved in Madras and the Punjab and recommended for commercial use A large programme of hybrid maize seed production has been taken in hand and several improved varieties of subsidiary food crops like tapioca and potato vegetables such as tomato and brinjal and fruits like grapes and papaya, and pulses and oilseeds have been evolved Dosage of fertilizers for different crops and their water requirements have been worked out Work on weed control and plant protection measures by spraying chemicals has yielded useful results

Third Plan Programme

In the Third Plan, the Indian Council of Agricultural Research has a programme of enlarging facilities for research in the States through expansion of the existing agricultural institutes and by the setting up of experimental stations in different regions based on the soil and climatic conditions

All these developments show that gigantic efforts are being planned to break the static nature of rural life in India But experience has shown that high level research in agriculture alone does not lead to improvement The level of agricultural research in India is quite high and can be favourably compared with that of any advanced country in the world But the fruits of research, unfortunately have not made very great impact on the rural economy The main weakness lies in the social order of the country Land reforms which is a prerequisite for any improvement have not yet been completed The smallness of holdings may not come so much in the way of raising production as their scattered nature and the crop pattern The large holdings, having definite cropping patterns, should be operated efficiently and economically under the joint management of farmer members of the enterprise This will erase the chessboard appearance of the village by giving it a new look of a single farm The close association of persons growing the same crop will encourage the collective use of cooperatively owned resources and stimulate the healthy spirit of competition for better production Some of the innovations may be taken up individually but, by and large, the bulk of them will have to be pushed through cooperatives

The extension service has to be strengthened to raise productivity, promote intensive agriculture and expand job opportunities It is quite unrealistic to expect an easy implementation of research results without this service Those who have not yet given thought to the sociological and psychological aspects of the work may get easily annoyed at the slow pace at which research findings are being accepted by the farmers This problem has also baffled the workers The human factor appears to be mainly responsible for this state of affairs The realisation of the importance of the human factor will open up avenues for a new line of research This should be developed and should form part of extension research The process of carrying the results of researches

to the consumer (the farmer) and of carrying back the problems of the consumer to the producer of research (the scientist) is the main work of extension service This is a new area of activity through which the gulf between the laboratory and the field should be bridged

Extension Service

It will not be out of place to mention briefly the work done so far in this regard The establishment of the Central Institute of Community Development with the main purpose of conducting research in the problems of community development and providing training in that field was probably the first step in this direction Recently at the Indian Agricultural Research Institute, New Delhi, which has a long tradition of high level agricultural research, an independent division of agricultural extension was started The division has the advantage of having the services of experts in natural sciences and social sciences like psychology and rural sociology They are also experts in home economics and audio-visual education The division carries out programmes of post-graduate teaching and research in agricultural extension leading to the Master's and Doctor's degrees

The researches in agricultural extension are likely to have a great impact on the rural economy The most effective ways of communicating the results of researches to the farmers are being developed It has been found that demonstrations are very effective in convincing the farmers of the value of new research findings The psychological and sociological factors causing resistance to changes are being studied It has been found that certain innovations are better accepted by farmers with high socio-economic status than by the average cultivator Efforts are also being made to find out other important factors influencing the farmers' attitudes and prejudices, values and beliefs, levels of aspiration and expectations, receptiveness to changes and motivation Researches are being planned in the field of decision-making by farmers

Leaders' Role

Attention is being focussed on the role of leaders in accepting the recommendations on the scientists' findings It has been found that the leaders who influence opinion in the villages, can be important from the point of view of implementation of new and improved practices in agriculture, thereby improving the rural economy Several studies are being planned in the adoption of new practices which are expected to fill the gap between research and practice

There is no doubt that outstanding researches in the field of agriculture have been made in India These could have made a great impact on the rural economy of the country But the impact has not been as great as one would have wished it to be There is a great need for coordinating and synthesizing these researches The researches in the long run should improve agriculture in the country This is the validity of research It is being provided by 'extension' which is trying to synthesize different researches at the common focus, the farmer who must improve his lot to contribute to the development of the rural economy

New Delhi
5 August 1963

OUR BONE RESOURCES

S K BARAT

The Committee on Utilisation of Food and Agricultural Wastes appointed by the Government of India estimated the annual availability of raw bones in India at 3.6 lakh tons approximately, valued at around Rs 7 crores. Only 38 per cent of these are collected and processed. Intensive salvaging of bones is hence necessary. The committee has recommended that every effort should be made to export as much of bone products including bone-meal as possible.

INDIA is pre-eminently rich in bone resources with a very considerable potentiality for further development. It is generally estimated that one-fourth of the body weight of cattle consists of bones. Taking the average body weight of Indian cattle at about 400 pounds and reckoning the casualty rate among them at a conservative estimate of 8 per cent, it would appear that 24.6 million carcasses of bovine animals should be theoretically available every year, accounting for 10.9 lakh tons of bone from this source alone. However, the actual availability is very much less. Bones of larger animals mostly from the fallen stock are commercially collected since only a small portion of these animals enters the slaughter house. The Committee on the Utilisation of Food and Agricultural Wastes appointed by the Government of India recently estimated the annual availability of raw bones in India at 3.6 lakh tons approximately valued around Rs 7 crores. The break-up figures for the different species of animals are given in the table.

Of these at the moment only 1.36 lakh tons of bones, that is about 38 per cent of the estimated availability of the same are

RAW BONES FROM DIFFERENT SPECIES OF ANIMALS

(In lakh tons)

Species	Dead	Slaughtered	Total
Cattle	2.495	0.097	2.592
Buffalo	0.952	0.068	1.020
Horses & ponies	0.013		0.013
Camels	0.017		0.017
Total	3.477	0.165	3.642

actually collected and worked upon within the country by the 98 bone crushing units, the rest going waste for want of any organised effort Intensive salvaging of the bones particularly from forests of Uttar Pradesh, Orissa and Assam should be undertaken since considerable quantity of bones of cattle and wild animals remains abandoned in these states The supply of bones in our country is rather inelastic, these being mostly derived from the dead animals

Difficulties of Collection

Collection of bones however constitutes the main difficulty since our livestock is scattered all throughout the country in its 5 5 lakh villages There are in fact numerous small villages with an average cattle population of only 350 Reckoning the mortality rate of our cattle at about 8 per cent the annual availability of carcass in such villages works out to be less than 30 per village It would, therefore, seem evident that with such casual supply of carcass in the villages, it would be rather difficult to organise effective collection of the bones at the village level However, such work can be advantageously organised with the existing machinery in the rural areas, viz, village panchayats, community projects administration, rural flaying centres, etc The animals dying in the countryside should be dressed in the nearest flaying centres All dead animals in the villages should be disposed of at a fixed place

Purchasing depots in the block development areas could perhaps be set up where the bones collected from the neighbourhood could be sold against cash at a reasonable rate sufficiently attractive to the primary collector Greater collection would be possible only if the incentive of a higher price is offered to the primary collector A system of incentive guaranteeing adequate return to the primary collector should be worked out to boost up collection In most cases, such collection does not work out to be a profitable proposition because of the high rates of freight and transport involved

Bones constitute a valuable source of phosphatic manure Super phosphate with its P_2O_5 content available in water soluble form is more suitable for use as a phosphatic fertiliser in most of the soils in India Commercial sulphuric acid if available cheaply in the vicinity of the bone producing area could be advantageously used in converting the bones into super-phosphate at least for local use However, in many parts of the country, bone fertiliser is not readily accepted mainly on religious grounds although its relatively high cost also to a certain extent stands in the way of its more general use Attempts are now being made particularly in the South to popularise the use of bone fertiliser by offering subsidies, etc The Government of India and State Governments pay a subsidy of 25 per cent of the retail value when bone meal is distributed by the latter, bone meal being more popular as an ingredient in readymade fertiliser It is however desirable that such bone meal is adequately sterilized particularly against anthrax Mineral phosphates can also be used conveniently in places where super-phosphate is not necessary

Foreign Exchange Earner

In view of the lack of any mineral phosphate resources within the country many voices have been raised in recent years

against the free export of bone or bone products rich in P_2O_5. It is urged that these should be retained for meeting the internal demand for phosphatic fertilizer within the country. However on final analysis of the current international price of the exported bone or imported phosphate rock reckoned per unit of P_2O_5 contained it would seem that the price per unit of P_2O_5 is more competitive in case of super-phosphate. In fact for each ton of P_2O_5 exported in the form of bones or bone products, a little over three times as much of P_2O_5 in equivalent quantity of phosphate rock can be imported. At the present international price level for bones and bone products it is therefore worthwhile for India to export as much of these as possible, its own internal demand for phosphatic manure being met through import of phosphatic rocks which are readily available abroad. In the context of the above facts, it has been officially recommended by the Committee set up by Government of India that so long as supplies of phosphate rock are readily available to us from abroad and the main use of bone products within the country is as manure, every effort should be made to export as much of bone products including bone meal as possible. Out of the foreign exchange thus earned, a portion may be utilized to import mineral phosphates such as phosphate rock or hyper phosphate for replenishing the P_2O_5 lost through the export of bones and bone products.

The bone industry in our country is already export-orientated to a considerable extent inasmuch as 74 thousand tons of bones and bone products on an average are annually exported to United Kingdom, Belgium, United States of America, etc., earning about Rs 2.5 crores. Besides, India produces approximately 32 to 35 thousand tons of bone meal every year. But the export of this item is at present banned. If this restriction is removed, the foreign exchange earning capacity of the industry will be greatly increased. This will ultimately mean a better return to the primary producer which will in turn encourage greater collection of bones from the available sources.

Decalcification

The other possible alternative utilization of bones will be to convert them into ossein and then into gelatine if necessary. Bone may be considered as a collagenous matrix filled out with a micro crystalline inorganic phase of approximate composition of a calcium phosphate but containing other ions also. As such when bones are treated with dilute hydrochloric acid at room temperature ossein and a solution of calcium phosphate in dilute hydrochloric acid are mainly obtained. It has been experimentally observed that approximately 14 per cent of the acid is necessary to effect complete decalcification of the bone, calcium phosphate being recovered on neutralizing the acid with lime water or sodium hydroxide. In this process calcium chloride and sodium chloride are also produced and are conveniently removed by washing with water. Through careful adjustment of the pH and removal of the chlorides, it is possible to obtain di calcium phosphate in a reasonably pure form.

New Outlet

At the moment, the internal consumption of gelatine is rather limited and a considerable portion of the installed capacity for its manufacture is lying idle. The export trade potentiality of ossein and technical gelatine

will therefore have to be explored and if any reasonable demand for these products exists necessary steps will have to be taken within the country to process some of the available bones into ossein and gelatine Of late Japan has been interested in importing a large quantity of ossein and with our comparatively cheap labour, we should be able to compete in this field Moreover, conversion of bone to ossein will give a new outlet for chlorine utilisation, and would eliminate much of the bulk freight charges, in addition to obtaining dicalcium phosphate and residual liquor as by-products which besides being used as valuable fertilizers have many other industrial applications

Madras
19 April 1963

Some people might think that if the value of a commodity is determined by the quantity of labour spent on it, the more idle and unskilful the labourer, the more valuable would his commodity be, because more time would be required in its production The labour, however, that forms the substance of value, is homogeneous human labour, expenditure of one uniform labour-power The total labour-power of society, which is embodied in the sum total of the values of all commodities produced by that society, counts here as one homogeneous mass of human labour-power, composed though it be of innumerable individual units Each of these units is the same as any other, so far as it has the character of the average labour-power of society, and takes effect as such, that is, so far as it requires for producing a commodity, no more time than is needed on an average, no more than is socially necessary The labour-time socially necessary is that required to produce an article under the normal conditions of production, and with the average degree of skill and intensity prevalent at the time The introduction of power-looms into England probably reduced by one-half the labour required to weave a given quantity of yarn into cloth The handloom weavers, as a matter of fact, continued to require the same time as before, but for all that, the product of one hour of their labour represented after the change only half an hour's social labour, and consequently fell to one-half its former value

Karl Marx *Capital*, Volume I

RURAL EMPLOYMENT AND THE PLAN

CHITTAPRIYA MUKHERJEE

If we wish to establish a self-reliant and self-contained village community it is necessary to ensure a balanced relationship between the organised private sector of non-agricultural industries and the villages, between mechanized and labour-intensive industries and between the town-oriented industrial economy in general and the village-oriented decentralized economy

THE prospects of our Third Plan closing with an even higher figure of unemployed and underemployed[1] than that at the end of the Second Plan seem to baffle many of us, have we not, through a two-decade period of sacrifices and strain, paved the way for a society where unemployment, and its allied problem of unequal distribution of income, would be absent? Is something seriously wrong with the Plan itself or its implementation?

Divergence of Interests

Of the manifold problems—ranging from a sudden spurt in population growth outstripping the productive capacity of the soil to the failure of domestic savings to keep pace with the desired rate of investment—that confront this country, which was battered to exhaustion as a result of a long period of economic exploitation ending with a fruitless global war and Partition thrust on us, the lack of opportunities to utilise fully the human capital is undoubtedly the foremost Suffering from a strange and incompatible combination of the Old and the New, of the organised monopolistic growth in the inflated towns and cities and utterly disorganised and scattered agricultural sector, our Society—already having both in its social and economic fabrics an ingrained sense of individualism and class distinctions in some form or other—carried the legacy of a wide divergence of interests and outlook between the poor and the rich, rural folk and the urbanites, educated and the uneducated, white collars and intellectuals and the manual workers

Solutions prescribed by countries now placed in a better and stronger position but many of which, incidentally, can think

---

1 "In the course of the Second Plan the additional employment opportunities created amounted to about 8 million, of which about 6 5 million were outside agriculture The back-log of unemployment at the end of the Second Plan is reckoned at 9 million" "In addition, underemployment in the sense of those who have some work but are willing to take up additional work cannot be precisely estimated, but is believed to be of the order of 15-18 million ' "during the Third Plan, the addition to the labour force may be of the order of 17 million " " it is reckoned that the Third Plan may provide additional non-agricultural employment of the order of 10 5 million and additional employment in agriculture of about 3 5 million —*Third Five Year Plan*, Pp 156, 159

of solving their own unemployment problem only in times of war[2], hardly seem to fathom the real problem that moves in a vicious circle in our country suffering from a surfeit of manpower bogged down to the subsistence level, consequent absence of savings and a conflict of aim between higher productivity and employment We have embarked on our difficult enterprise at a time when there is no scope, an in the case of the pioneer Westerners, to squeeze out its 'surplus' population to vacant continents abroad, nor are there colonies to exploit and control or empires to rule[3]

When Malthus is discarded and the whole world eagerly joins the 'freedom from hunger' campaign, almost all 'underdeveloped' countries simultaneously launch their plans of national self-sufficiency, and the world trade takes a course that would eventually leave us with hardly sufficient exportable products to be exchanged with others on the basis of the old theory of "comparative cost" Whatever the definition or the purpose of foreign "aids" may be[4], stronger nations rendering help to the underdeveloped countries, cluster round associations of their own practically in disregard of the efforts in the other direction by the world organizations, and thereby bring down the prices of products which underdeveloped countries had exported earlier Inspite, however, of all adversities over which we can exercise no control, it has to be admitted that we have achieved some tangible results, and the proportion of working to total population in our country has definitely taken an upward swing since 1951 [5]

Approach to Planning

Faced with the formidable task of handling all problems at a time and being committed to attaining results which countries now more advanced took much longer to achieve under more favourable conditions, we have been pursuing a technique of plan-

2 "There are those who would deny the possibility of technological unemployment The reasoning on which they base their argument is enough so far as it goes But it does not go far enough Unemployment in the United States was [illegible] der control until World War II [illegible] up to abnormal size If the most prosperous nation of the world cannot keep its labour employed when birth control is keeping the labour force down by millions, perhaps tens of millions, what would the volume of unemployment be if the negative phase of the mechanical revolution had never occurred?"—E W Zimmermann *World Resources and Industries*, P 110

3 China with her set of problems and potentialities largely resembling those of our country, is committed to a pattern of growth which does not fit in with our concepts of development Japan, with her dazzling success at the turn of this century, is now busy making a fresh assessment of her resources after she has been shorn of her outstretched empire and has been saddled with a much larger population than what she had earlier "The spectacular drop in birth-rate in recent years in Japan (7 per thousand), due to a realization on a national scale that the country has reached the maximum population it can support, should convince one that what has been done in Japan may be repeated in India "—*Report of the Commission for Legislation on Town and Country Planning*, P 41

4 "The term 'aid' is often loosely employed to include any investment or credit such as, for example, is extended in support of medium-term exports of machinery and equipment to developing countries Besides, part of the aid at present available to developing countries, particularly from some European countries, is for such short periods and on such high rates of interest that it appears scarcely distinguishable from ordinary commercial credit —Dr B K Madan, Executive Director, Reserve Bank of India, on April 30, 1963, in Reserve Bank of India Bulletin, May 1963, P 609

5 *Census of India 1961* (paper No 1 of 1962) Pp 403 and 409, and statements 15 and 16, Pp XXII and XXIII Index of increase in population, with 1951 taken as base (100), stood at 121 69 in 1961, index of increase of workers stood at 133 81 in 1961 Taking 1901 as 100, population index stood at 150 [illegible]0 in 1951 and at 183 40 in 1961, percentage of total workers during the period rose from 126 50 to 169 14 Percentage of workers to total population was 46 61 in 1901, 39 10 in 1951 and 42 98 in 1961 Effect of Plan outlays on the employment growth is evident, of the total outlay in the public sector in the two plans (Rs 6,560 crores) agricultural programmes

ning which is in a sense unique and is more difficult to implement If it is slower than some other methods, it is at the same time less painful in its process of implementation and has the possibility of far better results as soon as we cross the hump—the 'take off' stage—and enter the stage of 'self-sustained' growth In the spate of controversies that centre round fixation of priorities, some advocate foremost consideration to equitable distribution of whatever wealth we have got and to the question of employment to all, others argue that equitable distribution may come later and if, in the process of generation of more wealth or rather of the base for creation of wealth at an accelerated rate in the near future, some widening of the gap in existing income-differences takes place, we need not feel pessimistic about the ultimate results With improvements in techniques of production, as the argument goes, some initial unemployment or displacement of labour has, in different periods of history, taken place in every country, but only to be followed by wider diffusion of the means of production and of employment The changes we are now going through should not, it is suggested, be measured just in the quantitative terms of a few additional avenues of employment, or of some unemployment, but be measured in the qualitative terms of changed, reoriented approach to the way of life that had so long created a vicious spiral of unemployment, poverty and inadequate means of generating wealth

Achievements

Steering through these competing claims of productivity, employment and equitable distribution of wealth, the planners have been able to create, during the decade of the two plans, a strong base of reproducible tangible wealth[6], provide employment or gainful occupations for about 50 million people since 1951 and make adequate provision for proportionately an even higher rate of employment in the Third Plan[7] Although the inevitable trend towards concentration of wealth in fewer hands continues[8], various fiscal, monetary and administrative measures are gradually being evolved and adopted simultaneously to siphon off the extra purchasing power placed in the hands of those who have, in the process of the implementation of the Plan, replaced foreign manufacturers, and also other beneficiaries of the developmental expenditure

Technology and Employment

While experts agree that the problem in our country is basically one of underem-

---

in general covered Rs 1,331 crores or about 20 3 per cent expenditure on mining, and industries covered 26 9 per cent, that on construction accounted for 6 3 per cent, transport storage etc covered 28 4 per cent Social services and others covered 18 1 per cent Comparing this with the index of increase in different categories of workers, we find that with 1951 taken as base (100), percentage increase of cultivators was 40 86, that of agricultural workers 14 21, workers in plantations, forests, etc increased by 25 per cent, workers at household and in manufacturing industries increased by 57 97 per cent, those in construction by 39 04 per cent, in trade and commerce by 3 87 per cent, transport, storage, communications by 39 75 per cent, and residuary workers in services by 32 35 per cent

6 Reproducible tangible wealth increased from Rs 17 086 crores in 1949-50 to Rs 32,164 crores in 1960-61, and total tangible wealth was estimated to be Rs 34,940 crores and Rs 52,405 crores respectively during the said period—*Reserve Bank of India Bulletin*, January 1963

7 According to the estimate made by the Registrar-General and the Central Statistical Organisation in 1961, population is likely to be 492 million in 1966, 555 million in 1971 and 625 million in 1976, increase in labour force over this period may be the order of 70 million this consists roughly of about 17 million in the Third Plan about 23 million in the Fourth and about 30 million in the Fifth Plan—*Third Five Year Plan*, Pp 156, 750

8 Vide *Reserve Bank of India Bulletin*, September 1962

ployment in the rural sector, opinions invariably differ on the methods of utilisation of this force 'Relief' employment as such is not denounced[9] but as subsequent experiences had perhaps shown, it hardly adds to the total wealth or productivity of the country, to resort to this kind of employment with the expectation that this, when magnified, would by its sheer volume, perform what 'productive' employment on a smaller scale could achieve, hardly finds support from those who look beyond the immediate and firmly believe that denial of better techniques for attaining higher productivity per worker, cuts at the very root of 'progress' Anticipating the argument that advanced countries with better techniques of production have not so far been able to eradicate unemployment in peace time, it is emphatically argued that if those countries have failed, it is not so much because of the technical achievements towards increasing productivity of labour, as due to the failure of human institutions and attitudes, which guide and are entrusted with the task of utilising the Machine and the Man [10]

Official view-point[11] fully endorses the theory and, barring some inevitable administrative sluggishness admitted by the Planning Commission itself—lays great emphasis on import and manufacture of machineries, particularly for the industries which should be capital-intensive and produce at a rate that would not only meet the increased domestic demand but would leave enough for export As the records of the last decade show, import of machineries of various kinds has far exceeded other imports and much of the present foreign exchange crisis is explained by this item which no doubt creates a strong base for increase of productivity in future [12]

Variety of Industries

At the same time, however, the Planning Commission takes into consideration the capacity of different categories of industries to absorb the additional manpower[13] and simultaneously places emphasis on "agro-type" of cottage industries, "feeder" industries, "service type" of cottage industries etc and allied cottage and smallscale industries which can, it is expected, create—with suitable protection in the initial stage—sufficient volume of consumers' goods and can absorb a large number of unemployed or underemployed manpower with a small

9 Reference may in this connection be made to the "11-point programme' for expanding employment opportunities announced by the Planning Commission in 1953 Proposal for adoption of 'unorthodox' methods for creating *productive* employment has been criticised by many economists as being equivalent to unemployment doles See "Unemployment and Unorthodox Methods" by Bhabatosh Datta in *Essays in Plan Economics*

10 "What stands in the way is not a machine age, but the survival of a pecuniary age The worker is tied helplessly to the machine and our institutions and customs are invaded and eroded by the machine, only because the machine is harnessed to the dollar We cling to old creeds and we profess ideas and sentiments that have no real hold on our living activities, because a regime of pecuniary profit and loss still commands our allegiance"—John Dewey *The House Divided Against Itself*

11 Referring to the problem of unemployment and to the three approaches towards its solution *viz*, *spreading out of employment opportunities, rural electrification* and industrialization and organizing *rural works programme* for increasing employment through *small industries* the Planning Commission observes, "Even though in the first instance, the introduction of new production techniques may result in a decrease in employment, *it is expected* that there will be significant long term benefits in revitalising the rural economy'—*Third Five Year Plan,* P 161

12 During the years 1958-59 and 1961-62 we imported machinery and transport equipment of all categories to the extent of about Rs 1,200 crores out of total imports of approximately Rs 4,000 crores

13 In estimating the additional non-agricultural employment during the Third Plan—(105 30 lakhs in the aggregate of which 67 50

amount of capital per worker Encouragement to traditional or ambar charkha, handloom etc, and evolving a 'common production programme' with the organised sector, are evidence of such measures taken during the last decade and proposed to be intensified in the Third and subsequent Plan periods

Problem of Rural Unemployment

The magnitude and nature of the problem of rural unemployment being what it is, measures taken so far or scheduled to be taken would not wipe off the unfortunate wastage Assuming that the secular trend of population growth would be affected only in its fringes by the positive measures for family planning, the problem will remain one of *deciding now on priorities* with regard to utilization of capital equipment and manpower for such items of production which—unlike some specific heavy and basic industries or even such consumers' goods[14] for which we propose to create an export market—remain, so to say, on the borderland in so far as the technique of production is concerned While the general proposition that productivity of labour has to be increased on all fronts is incontrovertible, it seems we have—in view of the present level of underemployment, prospects of too high a population growth before industrialization is achieved[15] and possibilities of our export trade being not too bright in

---

lakhs would be accounted for by direct employment and the rest in trade and commerce calculated at 56 per cent as indirect beneficiaries of developmental programme), the Planning Commission has worked out a rough employment-investment ratio for employment in *construction phase, continuing phase,* and also in respect of *indirect employment* For employment in construction (i) *irrigation projects* show a ratio of 7,000 man-years for a crore of rupees, (ii) *power projects* a ratio of 1,600 man-years for a crore of rupees and (iii) for transport construction, particularly in railways, a ratio of 1,900 man-years In the case of *continuing employment,* widely divergent ratios naturally apply For small-scale industries, employment of one person would mean an investment on the average of Rs 5,000, for handicrafts the estimate is Rs 1,500, for coir and sericulture it is roughly Rs 1,000 Under large and medium industries there will, again, be different norms Capital required per person in steel industry is estimated to be Rs 1,60,000, that in fertilizers Rs 40,000, machine tools Rs 25,000, heavy machine building plant Rs 1,00,000, coal mining machinery Rs 60,000, etc—*Third Five Year Plan* Pp 753-757 As against an overall investment of Rs 10,400 per worker in the Second Plan, the estimated investment of Rs 9,700 during the Third Plan has been stated to be an under-estimate by Dr A Vaidyanathan "Increasing the Employment Potential", in *Problems in the Third Plan, A Critical Miscellany* According to the findings of the *Techno-Economic Survey of West Bengal* development of large-scale industries during 1961-71 would absorb 73,500 persons and investment would be of the order of Rs 237 82 crores, investment per worker would thus be about Rs 32,300 Expansion of existing engineering industries would require an investment of Rs 384 30 crores and employment would be available to 35,900 persons, investment per worker comes to about Rs 1,07,000 New small-scale industries would absorb 6,400 persons and investment would be of Rs 41 69 crores, investment per worker comes to about Rs 65,000 On the aggregate, in order to absorb 1,15,800 workers the total capital outlay would be for Rs 663 81 crores, investment per worker comes to Rs 57,000 Also refer to *A Design for Development of Village Industries in West Bengal* by Nistaran Chakravarthy ex-Director State Statistical Bureau, West Bengal, Para 19 1-19 5

14 With changing times we are surely coming out of that *'damned wantlessness'* about which Western salesmen had accused the oriental people Conscious though we are that 'wants are artificially created' and that modern entrepreneurs are 'the creators of new wants', we are now keen on having as soon as our funds permit, to possess such items of products which were once considered as luxuries And this surely creates the field for wider economic activity

15 In 1800 AD estimated world population was 905 6 millions, Europe had 187 millions, North America 5 7 millions, Central and South America 18 9 millions, Africa 90 millions and Asia 602 millions In 1936 the corresponding figures were (world population being 2,115 8 millions) 533 millions, 140 3 millions, 127 5 millions, 151 2 millions and 1,153 3 millions It is estimated that while the population of Europe and North America will remain more or less static by 2000 AD, that of Africa will be 250 million and of Asia, 1,900 million

" as industrialization of a young country advances and the ratio of farm to non-farm popu-

the context of developments elsewhere—to make up our mind about the *sphere where mechanization and capital-intensive technique would be absolutely essential* and where it should be scrupulously avoided

Increasing Productivity of Land

In the agricultural sector, for instance, if we have to choose between higher productivity of land with a given amount of labour and better application of science—which surely is not synonymous with mechanization—on the one hand, and same level of land productivity with some labour saving mechanical devices on the other, our preference under the given circumstances will, possibly, be for the former although we might quite agree on the point that as in the U S A, U S S R or other European countries, a combination of both mechanization (as distinguished from use of tools with animal power and not inanimate power) and better application of science would yield not only sufficient food for us and our posterity, but would, at some distant future, leave sufficient surplus for export and at the same time would release a larger number of people for non-agricultural work As we rule out tractors, harvesters, etc, on grounds of cost and labour displacement far outweighing the long-term advantages and prefer to stick to the good old plough and bullock, with better seeds, fertilizers, water, cooperative farming, better land tenure system, enlargement of the size of holdings and all that, it seems we accept thereby the inescapable proposition that the problem is *not so much the saving of labour* as of *increasing output* on a *given plot of land*

Problem of Mechanization

While most of the tillers of the soil of our country, engaged for long, arduous hours in back-breaking labour for a brief spell of time during the monsoon, should undoubtedly deserve, in the peak season, much needed leisure[16], one would agree that their cause (or for that matter, of the whole country) would be better served, if they are relieved from their forced idleness during the remaining months of the year Leisure during peak months is, no doubt, necessary, but if that means, on the one hand, drainage of foreign exchange both for the tractor or the harvester and for the fuel oil, and on the other hand, creation of unemployment amongst the agricultural workers we are led to the conclusion that we cannot simply afford to have it, notwithstanding the the-

---

lation declines, a point may be reached in the esonomir development when even *high per-man productivity* no longer suffices to yield exportable surplus"—*World Resources and Industries*, P 158

16 In 1850 the average American worked seventy hours a week, today he works fortythree In 1850, an American cultivator used animal power to the extent of only 1 8 horse power, in 1940 power used per agricultural worker was 27 8 horse power of which mechanical power constituted 26 3 horse power and animal power only 1 5 horse power Per capita daily output of energy in horse power hours in 1939 was 12 27 in U S A, 15 74 in Canada, 0 46 in China and 0 49 in India A 'mobilised' farmer can do in 24 hours as much cultivating as a farmer unsupported by horse power can do in 10 days " "Labour saving devices thrive most where labour is scarce , " In general it may be said that *mechanization* is most suitable to regions of abundant land while the *direct application of science* to agriculture seems more suitable to regions where land is relatively scarce mechanical labour-saving devices replace manpower and permit the cultivation of larger areas per man They thus raise *per-man* productivity Science tends to raise the *productivity per acre, per plant per animal* It tends to intensify agriculture whereas machines favour expansion over wider areas In countries of high *per-acre* productivity *greater expenditure of labour* may compensate in part for the reduced use of land"—*World Resources and Industries*, P 158 Also refer to "Economic Basis of Land Reform in Underdeveloped Countries" by E J Long in the supplement *View-points on Economic Aid*, the *American Review*, July 1963

oretical possibility of having even exportable surplus by introduction of power-driven instruments, we have to reject it as impracticable

Applying this argument to the production of such items of non-agricultural sector, *in which mechanization does not add to the total output* or does not require further output than what our domestic demand can absorb, *but only 'saves' labour*, we have to decide on how far should we suffer *two-pronged loss* by way of *depletion of foreign exchange* and *creation of additional unemployment* The fact that England or other European countries had similar *transitional* unemployment in the earlier part of the nineteenth century[17] hardly seems to have relevance to our present conditions

On this score, however, it seems that there is some lack of clarity in the policy followed so far inspite of all our efforts made during the last decade in respect of the problems of the agricultural and rural sector, our attention, for understandable reasons, is directed towards big industries and this largely resembles the pattern of growth through which the western countries had passed[18]

Competing Industries

Assuming that electricity is the cure-all for rural industrialization, we must ensure that this new aid to decentralised industrialization goes exclusively for creation of *new* wealth and *not* for *replacement* of industries which, with a larger labour content, were engaged in fulfilling certain requirements of the society It is true that it is difficult to draw a correct line of demarcation between *new* industries and those industries which were engaged so long in a cruder form of production, either with a different material or with the same material Just as invention of petroleum in the U S A created widespread unemployment amongst British coal miners or synthetic dye-stuff in Germany wiped out the Indigo cultivation from India, so will electricity-driven saw mill replace the village artisan with his long, bulky and crude saw, polythene or aluminium will replace the pottery or bell metal products made in the villages, toy makers of the countryside will lose ground to the plastic industry, and steel sheets will

---

17 Vide *Rural Depopulation in England and Wales* 1851-1951 John Saville (chapter one The Historical Background) " the problems which the American inventor was facing during the nineteenth century were mainly problems of labour scarcity excess of space, and its corollary, scarcity of time ,' "despite all this progress, agriculture throughout the Western World for most of the twenty years between the two World Wars was in dire distress, being kept alive by artificial respiration as it were"—*World Resources and Industries*, P 163

18 "The agrarian problem undoubtedly lies at the centre of all things in the life of India today Without a great increase—and a better distribution—of rural income, industry cannot develop to the full, since agrarian poverty severely restricts the effective demand of the numerically huge internal market, and continually maintains, or indeed augments, the immense pool of landless or under-employed rural labour and thus keeps the workers wage low, his living conditions often unspeakably bad, and his efficiency as a natural consequence very poor To the makers of this revolution (in India), the urban middle classes and the new business magnates or petty chiefs *it is the mills, the factories, the power houses, which fill the stage and nourish national pride* This is legitimate enough, *provided* it does not obscure the all important fact that *it is in the fields that India's destiny finally lies*, and provided also that industrial advance is itself *integrated and balanced* which at present it conspicuously is not Its extreme unevenness of development is inherent partly in the natural endowment, but more largely in social history"—O H K Spate *India and Pakistan*

dislodge the village blacksmiths, so will the automobile displace a large number of bullock carts

But when one finds that handpounding of rice or crushing of mustard oil (or such other "agro-type" industries which were engaged, *not* in the creation of *additional* wealth but only in processing of a given amount of products) have, in course of the last few years been replaced, inspite of recommendations to the contrary[19] by diesel or electrically-driven machines (small-scale industries of course), one has only to scan the employment figures for female workers at least in a large part of the country[20] and enquire if social conditions have so changed during the last decade as to warrant withdrawal of a large section of the female workers from a field of economic activity previously controlled by them, and their dependence on the earnings of the male folk only If it is assumed that "in the first instance, the introduction of new production techniques may result in a decrease in employment, it is expected that there will be significant long-term benefits in revitalising the rural economy" (*Third Five Year Plan*, p 161), it may reasonably be asked what occupation in the non-agricultural sector would be available later if the traditional industries continue to become more mechanised[21]

Benefits for a Few

It is true that a section of the agricultural population—the section which owns sufficient land to yield substantial 'marketable surplus'—has in recent years derived cash benefit from higher price of agricultural products But, in the absence of a definite and determined effort at utilising that income for encouragement of such industries in which all the rural people could participate, a large part of that income of the handful of agriculturists goes either towards acquisition of more land (mostly as distress sale from the poorer to the richer section), or towards purchase of such fancy goods as transistors, scented oil, shampoo and other similar products, or is spent on litigation

19 The Village and Small-scale Industries (Second Five Year Plan) Committee (1955) *emphasised the avoidance of further technological unemployment* in the traditional village and small-scale industries during the process of planned development From the *Third Five Year Plan* (p 443) it appears that inspite of certain directives given under the Rice Milling Industry (Regulation) Act, 1958, some of the main intentions of the Act were not fulfilled by the States Also refer in this connection to page 520 of the *West Bengal Census* 1951 (Volume VI, Part I-A Report), and pages 154-155 of *A Design for Development of Village Industries in West Bengal* (1959) Amongst the persons engaged in West Bengal in the processing of grains and pulses in 1901, there were 12,500 males and 1,90,280 females (total 2,02,780), in 1951 there were 23,270 males and 88,140 females (total 1,11,410) As against 10,61,876 self-supporting females in 1901 in West Bengal amongst non-agricultural classes, there were only 6,09,122 in 1951 Large-scale industries absorbed only 85 457 female workers in 1951 as against 61,300 in 1901 The difference is too appreciable to be ignored The census of 1961 in West Bengal and also in some other States confirms the same trend

20 Refer to statements 26 to 29 of the *Census of* 1961 (pp XXIX-XXXI), paper No 1 of 1962 Inspite of a general increase in female employment—mostly in the agricultural sector—marked deterioration has set in since 1951 and accelerated in 1961 in some categories of work

21 Incidentally, whatever inadequacies the ambar charkha or the traditional charkha may suffer from, and whatever promise the organised cotton textile industry may hold out for capture of export market, we find from a report of the Reserve Bank of India (vide its *Bulletin* of March 1962) that *foreign exchange outlays* on the industry have, in recent years, been consistently higher than *foreign exchange earnings* But in the domestic market, mill cloth renders the growth of handloom and khadi more difficult A closer integration of our export policy with our domestic consumption policy and of the mill sector with the cottage industry sector seems to be necessary both for avoiding wastage of foreign exchange and for a healthier growth of the handloom cloth

While it is agreed that rural people have a right to enjoy such amenities of life which were so long within the reach of the urban people only (and unless surplus money flows out of the villages, industries cannot thrive) the present trend of trade relation between the industrial towns and agricultural villages seems to suggest that the imbalance continues and tends to move against the villages in general If the few monied villagers can afford to spend their leisure months in whatever manner they choose, for most of the landless agriculturists and those having small plots of lands, the idle months are a deadweight and go to total waste

Balanced Relationship

If a self-reliant, self-contained village community has to grow, then, while we think of popularising the cooperatives[22] or the panchayats, we must at the same time, go, not one, but several steps forward to establish a *balanced relationship* between the organised private sector of non-agricultural industries, and the villages, between mechanized and labour-intensive industries, and finally between the town-oriented industrial economy in general and village-oriented decentralised economy Even if we admit that the world situation is such that we can hardly think of implementing in toto the plans of Gandhiji or of Rabindranath Tagore, it has at the same time to be said that if we think in terms of putting new life into our innumerable villages, and of eradicating rural unemployment, then a clear line of demarcation has got to be drawn between production, market and extent of mechanization of the organised large-scale producers of "non-essential" consumer goods on the one hand and those of the small-scale and cottage industries on the other

Protection

It may be argued that in this modern era such a step would amount to putting the clock back, as we have to survive in this competitive world we must "modernise" our production technique in every sector If we apply the argument to the modern industries now well established in our country we would come to the conclusion that the 'protection' against foreign competition granted to all such industries during their stage of infancy was not in conformity with the law of comparative cost and of superior natural advantages which is now being advocated (History of steel industry in most of the European countries indicates that many countries adopted protective measures to establish steel plants inspite of absence of comparative advantage) Our sugar industry, automobile industry or for that matter many other industries could not have survived competition had these not been granted protection (On the other hand, Lancashire could not survive inspite of initial advantages) And if protection holds good in such cases, why should not our small-scale and cottage industries, after those have been provided with better implements, be given protection if those are

22 Rural Credit Follow-up Surveys shom the intensity of the influence of urban traders and money-lenders on the cooperatives and on the village economy in general—vide *Reserve Bank of India Bulletin*, November 1962.

found to fill up a definite void in our economy?

Purposeful Policy Needed

One of the objectives of our Plans is to find a solution to the problem of unemployment and underemployment, and we are committed to restoration of self-sufficiency (so far as it fits in with present-day conditions) in our innumerable villages Large-scale industries have, by the very nature of their growth, failed to provide employment to all, and even if we assume that our export market will expand to such an extent as to provide employment on a larger scale (national self-sufficiency drive in every country will not give us such an opportunity), we cannot hope to solve the unemployment problem by allowing the traditional cottage industries to wither away A balance has to be struck between productivity and employment, the policy followed so far is to some extent indecisive and self-defeating In the absence of a more positive and purposeful policy, village cooperatives which we are committed to establish and which we consider as the core of village life would hardly have the breathing time to grow, and the problem of rural underemployment will also continue to remain as a scar on our economy

Calcutta
26 July 1963

Just as capital has the tendency to reduce the direct employment of living labour to no more than the necessary labour, and always to cut down the labour required to produce a commodity by exploiting the social productiveness of labour and thus to save a maximum of directly applied living labour, so it has also the tendency to employ this labour, reduced to a minimum, under the most economical conditions, i e to reduce to its minimum the value of the employed constant capital If it is the necessary labour-time which determines the value of commodities, instead of all the labour-time contained in them, so it is the capital which realizes this determination and, at the same time, continually reduces the labour-time socially necessary to produce a given commodity The price of the commodity is thereby lowered to its minimum since every portion of the labour required for its production is reduced to its minimum

Karl Marx *Capital*, Volume III

ROLE OF SCIENTISTS AND ENGINEERS IN RURAL INDUSTRIALIZATION

M. SADASHIVA RAO

The two sets of problems confronting rural industries in the context of modern scientific and technological advance are those relating to the economic objective of raising the industrial productivity and the social objective of utilizing manpower resources. The question is whether the decentralised pattern can be established as a dynamic industrial reality for which planned exploitation of modern technological developments is needed. This can be brought about by systematic research. Scientists and engineers have a very vital role to play in this respect.

RURAL industrialization is a project of large magnitude in our economic plans and presents complex problems of application of scientific and technological advances to economic and social welfare. Yet fewer industrial scientists including engineers have been mobilised in the rural sector of industries than in the urban and other sectors during periods of the First and the Second Five Year Plans. What are the reasons for this wide disparity? What are the functions of scientists and engineers in the development of the rural industrial sector? How can scientific and technical manpower be mobilised effectively in programmes for rural industrialization? These and related questions, for which as yet no agreed answers have been found should be discussed in the context of the long-range problems of rural industrialization in our developing economy in the perspective of modern scientific and technological advances.

Long-Range Problems

Unlike industries in other sectors, rural industries present two different long-range problems of development in the context of modern scientific and technological advances for industrial production. The first set of problems is common to industries in all sectors and is concerned with progressive raising of productivity of industrial operations and processes to ensure economic survival and progress. These are primarily the problems of individual industrial units or of rural producers. They have only one solution in the modern context and that is to adopt suitable modern technological developments. They may be called problems of industrial productivity. However, rural industrialization, or the process of extending industrial operations to rural areas, presents a second set of problems arising out of the high priority accorded in our economic plans to the utilisation of manpower resources through creation of additional employment opportunities in industries or occupations in rural communities. These are primarily the problems of the sector as a whole engaging the attention of the planning authorities and are unique to this sector. They have no ready solutions at pre-

sent They may be called problems of utilisation of manpower in rural industrialization The two sets of problems are distinct since the objectives, approach and methods for seeking solution are different

Decentralised Pattern

The rural sector of industries is comparatively less developed than the urban and other industrial sectors Its development has been sought through planning and execution of programmes for rural industrialization The two most important *a priori* considerations in planning are creation of industrial employment in a proportion larger than would normally be available and the raising of living standards of the rural people through introduction of higher industrial productivity The normal course of industrialization in the developing areas is through extension of industrial activities carried on in the contiguous developed areas In the case of the rural areas industrialisation is brought about normally through extension of the urban pattern of industry The industries most suited for this purpose in the initial stages are the processing industries for agricultural and allied raw materials The urban or modern forms of these industries represent generally large-scale organisations with a capital-intensive and employment-sparing technology While extension of these industries to rural areas will solve the problems of industrial productivity it may not solve the problems of creating additional employment The immediate and long-range prospects for rural industrialization thus present a conflict between the economic objective of raising industrial productivity and the social objective of utilising manpower resources The conflict has been sought to be resolved through projecting a decentralized pattern of industrialization

Though much thought has been given to the evolution of a decentralised pattern of industrialization, no concrete picture has yet emerged A static picture of it is the dispersal of relatively small or small-scale industries in rural communities and the creation of employment on an aggregate basis However a more dynamic picture is to regard it as the allocation of available resources to secure economy and employment on an optimum scale The question whether the decentralised pattern can be established as a dynamic industrial reality in the perspective of modern technological advances is still to be answered Though economic measures such as financial assistance and protection are considered essential for promoting decentralization of small and small-scale industries the question whether it requires the active participation of industrial scientists and engineers in the field of industry in the manner required for developing large-scale industries has not been given the consideration it deserves It has been suggested that "research" is involved in solving the problems of industrial decentralization But the nature of research in terms of current methodology for scientific and industrial research, the agencies for conducting such research and the application of its results to the vast field of rural industrial development has not been explained The concept of decentralized pattern of industrialisation thus remains largely a theoretical one which is of interest to economic analysts but is beyond the com-

prehension of the bulk of practical-minded scientists and engineers and rural producers

Research and Development

The lack of interest on the part of scientists and engineers in the decentralized pattern has sometimes given rise to the criticism that they are not endowed with a "social conscience" to motivate them sufficiently to be attracted to the rural industrial sector and direct research to its problems of development Such criticism arises partly from lack of full understanding of the process of industrial development in the developing economies under the influence of scientific and technological advances It is partly due to confounding or identification of the problems of industrial productivity with those of utilisation of manpower resources in rural industrialization In the context of modern advances in science and technology, the problems requiring research in the developing rural sector are concerned with utilising technology to obtain the best possible economic and social outcome and not advancement of technology The problems have to be solved in the field of industrialization itself

The criticism reveals that there still persists in our thinking the nineteenth century position of "physical science *versus* social science" though such a dichotomy has long since disappeared by the growth of the borderland sciences and the development, since the Second World War, of scientific techniques derived from both physical and social sciences for application to social objectives The research that the critic has in view is research as understood by the common man and associated with spectacular scientific discoveries and technological inventions This is called "research and development" in current terminology Research and development, or scientific research leading to development or advancement of industrial technology, is the main creative process through which modern industries are advancing to attain higher productivity or diversifying their activities to secure greater utilisation of natural resources and to widen the range of industrial products It is a two-stage process completed by two different agencies At the first stage, called applied scientific research, scientists working in research laboratories discover new applications of science to industry At the second stage, called technological development or technological research, engineers working in industrial equipment manufacturing industries utilise the new applications of science to develop new technology or improve existing ones

Some Misconceptions

It is through organised research and development that phenomenal advances in science and technology have been made in the present century Research and development opens out possibilities of starting new industries and stabilises the old ones The comparatively new industries that have originated entirely through scientific advances are modern chemical processing industries, electronic industries, advanced engineering and metallurgical industries, nuclear industries, etc Old industries are those which had their origin in the pre-industrial crafts and which have in passing through the industrial revolution between 1750 and 1850 enlarged their scale of operation and stabilised the technology first developed through application of engineering and later rationalised through application of science like textile industry using natural fibres, vegetable oils and fats, sugar, leather, paper, ceramics and other processing industries for agricultural, dairy and food products These old industries are most suitable for

rural industrialization since the processes are relatively simple and the raw materials are of rural source

Technologically underdeveloped industries, such as our traditional village industries, cannot advance through research and development but can make progress only through modernisation, or progressive adoption of modern techniques The methods of applied scientific and technological research cannot be applied to industrial decentralization They cannot be extended to solve the problems of social adjustment resulting from technological change Therefore, the suggestion made sometimes that research in rural industries should be directed towards making scientific discoveries and technological inventions which should steer clear of undesirable social and centralised implications of modern technology is meaningless To expect this from research scientists or research engineers would be to expect near-miracles from them Most of the scientific discoveries and technological inventions have an economic motive behind them The social implications arise from the motive and the context in which they are utilised by man The decentralized pattern, if it can be achieved at all, can be achieved only by utilising modern technology The paradox needs little labouring to establish that the problems of utilising manpower resources through employment in rural industries have arisen in our developing economy not due to lack of scientific and technological research but due to our failure to understand how to utilise their accumulated results in the form of modern technological developments to obtain the best possible economic and social outcomes

The problems facing us today have been usually traced to the technological development of mechanical sources of power which occurred more than a century ago during the industrial revolution Since then science and technology have advanced at a very rapid pace Their rate of growth is much faster than the rate of growth of populations The problems raised by the technological advances representing automation in our own times, which have been considered to have touched off a second industrial revolution (the Cybernetic Revolution), have yet to be faced in our industrial economy To consider, in this perspective, that the problems of rural industry are the problems of research for advancing technology is to be highly unrealistic

Planned Utilisation of Technology

A realistic approach, however, is to regard them as problems of planned utilisation of modern technological developments together with other resources to ensure optimal or best possible employment opportunities The decentralized pattern and the more recent concept of an "intermediate" technology represent this optimum There is no alternative to planned utilisation of modern technology in rural industrialization other than haphazard or unplanned utilisation by extending the urban pattern of industry to rural areas The utilisation of modern technology to solve the very problems raised by it may appear self-contradictory But there is no contradiction if it is realised that the social implications of modern technology are not inherent in it but are dependent on the manner of its utilisation

Industrialization in every sector occurs by "borrowing" technology together with organization from developed sectors Every

industrial sector, from steel and basic industries to small-scale urban industries in our developing economy is borrowing technology from advanced or developed countries The rural sector is no exception It is borrowing technology from the more developed urban sector This is a decentralized process brought about by the decisions taken by the producers themselves In the normal course the enterprising producer is assisted in taking decisions by manufacturers of industrial equipment ranging from small flour mills to large solvent extraction plants He has no technical know-how and relies entirely both for technical know-how and industrial equipment on commercial sources The example of other producers who have succeeded gives him added confidence Therefore, industrial organisation and technology tend to be repeated in toto with no regard to the best possible course for utilisation of available resources The only effective strategy of planning is to direct the process of rural industrialization at the place where it occurs, viz, at the community development block level to ensure an optimum utilisation of resources including manpower and technology

Technology is the most potent resource and the controllable independent variable in the dynamic process of industrialisation considered as a whole of which economy in production and employment are dependent variables If technology can be controlled employment can also be controlled But control requires the organization of technical services at the block level consisting of scientists, social scientists and engineers trained in modern methods of industrial planning, which provide combinations of the methods of physical and social sciences It is by applying these methods that technological advances can be utilised on a planned basis to obtain the best possible outcome in the form of economy in production and increased employment on higher remuneration

The result of such an organization of technical services, the function of which is very similar to the technical and consultation services available to the most advanced industries being developed in the public and private sectors according to the five year plans, will be to bring the entire creative forces of modern physical and social sciences to bear on the economic and social advancement of the millions of our people living in utter economic and social stagnation The establishment of panchayat raj, signifying the delegation of authority for rural development planning to the local democratic bodies, has rendered possible the organization of such technical services on a scale and quality which has not been possible in the first decade of our economic planning

Industrial Planning

What are the newer methods of industrial planning available for application to programmes for rural industrialization to ensure the creation of the maximum possible employment opportunity? The greatly accelerated pace of scientific and technological advances of the present century and particularly since the Second World War has created new problems for industry and all other activities affected by these advances These are the problems of decision or planning which an increased complexity of organised activities with their conflicting economic and social objectives have created The most striking illustration of this problem is furnished by the development of nuclear energy which can be used either for the benefit of humanity or for its destruction These problems have no

methods of solutions either through physical sciences or social sciences

The remarkable developments of the borderland sciences in recent decades, Particularly, the branch of statistics known as "statistical decision", has enabled existing techniques of physical and social sciences to be combined to deal with the problems of conflict and seeking optimal or pragmatic solutions The conflict between the economic objective of higher industrial productivity and the social objective of large employment in rural industrialization is a problem of conflict which can be dealt with by this method Hitherto there has been no common approach between physical and social scientists This new method, called somewhat non-committally, "operational research" by scientists provides the common approach Its scope ranges from economic, industrial and social planning on a state-wide basis to traffic control

Operational Research

The pattern of conflict in rural industrialization is the "optimal allocation of resources under restraints" The scope for operational research in rural industrialization is in the main restricted to this pattern of conflict Therefore, the selected techniques applicable have been called industrial planning which includes formulation of linear programmes and dynamic programmes The techniques of industrial planning can be applied to the development of traditional village industries or to the decentralization of modern industries They can be applied to regional planning including both traditional and modern industries and agriculture The detailed illustration of application to specific industries goes beyond the scope of this article

Operational research provides the only methodology available today for application of science, and its product, technology, to social objectives It is through this methodology that scientists and engineers can participate actively in programmes for rural industrialization The word research used to describe what constitutes planning may appear intriguing The difference between research and development and operational research is that while one is developmental the other is evaluative Research and development is concerned with the search for and development of new technology which has a higher productivity than the existing technology Operational research is concerned with the evaluation of existing and new technologies for the purpose of utilising them on a planned basis to realise the pre-determined economic and social objectives Research and development is the research most useful for an affluent society Operational research is the research essential for the advancing millions However, the application of operational research to rural industrialisation requires no less scientific and engineering talent than research and development While we have more than a score of national laboratories for scientific research leading to technological advancement, we have as yet no comparable organisation for evaluation and utilisation of scientific and technological advance for the economic and social welfare of our rural millions Such an organisation may be mistaken for large and imposing buildings and expensive scientific and engineering equipment if we identify problems of raising industrial productivity with the problem of utilisation of human resources through rural industrialisation It consists essentially of scientific and engineering personnel of talent and leadership to be mobilised for a task of the largest magnitude facing national planning

Bombay
15 July 1963

A NEW LOOK AT INDIA*

G S RAYCHAUDHURI

RURAL industrialisation is a massive problem in India How massive it is becomes clear when we look at the dynamics of Indian rural population Of the 439 millions in 1961, 360 millions were found living in over five and a half lakh villages These teeming millions are increasing at the rate of nearly two per cent per annum And further, as the rate of urbanisation in the last decade reveals, there is little chance for any significant portion of this now 375 millions to be accommodated in the urban sector In other words we should view the problem of backlog in unemployment separately for rural and urban areas

It is against this background that Messrs Lynton and Stepanek have viewed the problems of *Industrialisation Beyond the Metropolis*. There are quite a number of bottlenecks obstructing the spread of industrialisation beyond the metropolis but nevertheless it has been suggested that to cope with the problems of poverty and unemployment India should treble or double her rate of industrial growth To achieve an average rate of industrial growth between 15 and 20 per cent per annum (1956 as base year) the rate of capital investment should also be stepped up to a considerable extent Any guess about the volume of capital necessary for this task depends on our knowledge of capital-output ratio And this can somewhat be derived from our choice of investment sector and technique of production The same choice also tells us about the employment position A highly capital-intensive technique calls for increase in investment without proportionate increase in employment But since in India it is necessary to increase both output and employment at a high rate the authors of the booklet have put forward a case for a new industrial development policy The main features of this policy are (a) choice of a district rather than India as a whole as planning unit; (b) emphasis on skill-intensive 'intermediate technologies', and (c) encouragement of people's participation in development through reorganisation of local institutions

District Plan

The choice of district as planning unit should be considered not merely as a problem of location of particular industries but as integration of spatial problem in the body of planning The logic of the classical theory that development follows industries is being reversed here as industries follow development. This is because the so-called 'spread effect' of economic development as a consequence of concentration of industries has been observed to be of limited significance. Moreover, the pattern of economic development close to a region having heavy concentration of industries generally reflects the gross inequality of income and wealth

* R P Lynton and J E Stepanek *Industrialisation Beyond the Metropolis—A New Look at India*, Hyderabad, 1963, Pp vi, 44, (Mimeographed), Price not mentioned

distribution So it is not merely to utilise the idle resources of a district but to initiate a stable and balanced regional development that we should start with a 'district profile' and then transform it into a 'district plan'

But there is another side of the picture In the short run, i e, till sufficient social overheads are built up in villages, any attempt to manufacture standardised goods in rural areas is bound to end up in higher cost per unit The authors, however, feel that though private cost of such manufacture would be higher the total cost would be lower, because, in their opinion, after a certain point of development cities generally provide external economies to industries and other advantages of living only at a high cost Though this is true, in underdeveloped countries this may be true not because cities have reached a saturation level but because cities are mostly unplanned And, therefore, in the short run, there is a problem of choice between replanning our cities and providing subsidies for rural decentralisation Much depends on, and here the reviewer agrees with the authors, "quantitative research to establish the relation between public and private costs for different kinds of manufacture "

"Intermediate Technology"

For employment the authors have suggested the choice of skill-intensive intermediate technologies This is in consideration of the fact that India can neither mobilise such huge investment as to take care of all surplus labour with capital-intensive technique nor depend on traditional technique to raise her industrial productivity Hence this compromise of intermediate technology —a compromise which must work out successfully both in terms of the mechanism and value But surely this technology will not cause the productivity to rise as much as would have been possible under modern technique in that case the developed countries would feel the necessity of imitating intermediate technology) • Then the question arises how intermediate the intermediate technology would be! Will it be possible to modify the technology to achieve a certain maximum productivity rate within our limits of financial investment? Much depends on the mechanical possibilities Now even if one agrees to this as a short-run possibility one does not know what shape it would take in future Because when today's underdeveloped countries would be able to adopt today's modern technology they would, perhaps not to their surprise, find that technology to be traditional compared to the technology of developed countries of that time Or one may happily think that at a certain point of history the rate of growth of underdeveloped countries would far outstrip the rate of growth of the present developed countries so that they may be technologically at par with them and the population growth in underdeveloped countries would enter the phase of decline in demographic cycle and thereby solve the problem of unemployment And therefore we must wait and watch

Consultant and Cooperatives

All this is regarding what is to be done But there is another question—how is it to be done? The two authors are quite emphatic on these (a) there must be a key consultant in each district and (b) in industrial organisation there may be cooperative enterprises, branch factories and joint enterprises of various kinds between units in urban and rural areas The institution of consultant is the most important one because he "needs not only high technical qualifications,

but also substantial work experience with modern technology On top of these, the stamina, initiative and creativity of someone able to keep going without much day-to-day external support are essential" This consultant will have varied work from providing technical advice to pinpointing potential and promising industrialists

If we can obtain the services of such a pioneering type of 'unusual man' there is nothing like it In fact we too have an idea of an omniscient man in our concept of 'village level worker' in our community project schemes But compared to our village level worker this consultant is technically more qualified and high salaried Our village level worker has clearly failed in this task, but that the consultant will be able to succeed because of his superior technical knowledge and high salary is also a doubtful proposition Because economic development of rural areas is not merely an economic proposition—it involves both sociological and political problems And our bureaucracy being largely influenced by political weather cannot guarantee the proposed freedom to the consultant On the other hand a society of the type that we have in our villages riddled with various types of factions and inequalities cannot be responsive to mere economic stimuli To be frank, between either apathy or domination of bureaucracy and village politics the work of the consultant may not be exciting at all In the matter of various kinds of industrial organisation and financial institution one must carefully note the historical condition of their growth In a democracy these institutions can never grow so long as the anti-forces are in a dominating position And it is in a democracy sometimes that even the diagnosis of these anti-forces becomes quite embarrassing Nevertheless the reviewer fully agrees with the authors on the necessity for some sort of consultant and various economic institutions with only this addition that the government should create sufficient legal and political condition to foster their growth

New Delhi
24 August 1963

Capitalist production, when considered in isolation from the process of circulation and the excesses of competition, is very economical with the materialized labour incorporated in commodities Yet, more than any other mode of production, it squanders human lives, or living labour, and not only blood and flesh, but also nerve and brain Indeed, it is only by dint of the most extravagant waste of individual development that the development of the human race is at all safeguarded and maintained in the epoch of history immediately preceding the conscious reorganization of society

Karl Marx *Capital*, Volume III

PROBLEMS OF WOMEN'S EDUCATION

S SHRIDEVI

While the spread of women's education and improvement in their status especially after independence, have been welcomed, they are also believed to pose a number of problems The economic independence which education has brought to women, is fraught with undesirable consequences for family life including children's upbringing This has led to the reappraisal of the objective, content and programme of women's education

ONE of the most impressive achievements of India in recent years is the spectacular growth of women's education Indian society which until six decades ago considered girls' education utterly unnecessary has completely reversed its attitude and is now convinced of the need for providing them with education at all levels Today large numbers of women are going to schools and colleges not only for the sake of general education and culture but also to pursue various professions like teaching, nursing, medicine, commerce, engineering, law, journalism, etc The forces that have brought about this expansion of higher education of women, cannot be traced to any immediate tangible factors A number of powerful currents of ideas that swept through the country during the latter half of the 19th century as a result of certain indigenous movements towards religious and social reforms have contributed to this development

Change in Status of Women

These movements could be described as a challenging response to two outside factors, the advent of British rule and the arrival of Christian Missionaries for evangelist work in India The British administration with its imperialist tendencies, along with the proselytizing policy of the early Christian missionaries was deeply resented The nationalist movement particularly under the leadership of Mahatma Gandhi, who was deeply interested in efforts to improve women's status, was such a tremendous force that women themselves were encouraged to take up their own cause and work for it This ushered in the Feminist Movement which although late in appearance, constantly agitated for women's rights and education Then there was the Ramakrishna Mission and the Theosophical Movement which also included emancipation of women in their general programme of work The result was a flood of activities which brought about all of a sudden a very favourable change in the status of women and finally their emancipation

This emancipation of women coupled with rights of property and divorce and other privileges for equality with men during the last 15 years since independence has caused a silent revolution with tremendous changes affecting women in different class-

es Among the higher classes which constitute a small percentage of the population, women's education has been mostly ornamental, although a good number of women belonging to these classes has been devoting themselves to many a public cause Among the middle and lower middle classes education and freedom have brought about a number of changes some of which are beneficial while others are feared to pose a threat to family happiness

Women in Employment

The most glaring change is the phenomenon of a large number of educated girls both married and unmarried in employment In the beginning there were only unmarried women in service and that again only in the fields of teaching and medicine as there were no other openings for them at the time But today conditions have changed and women are in almost every walk of life and even married women encouraged by other women's example and unmindful of conditions in their own families are tempted to enter service With the increase in demand for labour particularly after the launching of the five year plans—which have further extended the scope for employment in every field of activity—a number of educated women are engaged in full or part-time employment This has certainly given women economic independence which in its turn has brought about a favourable change in the marriage market relieving the anxiety of parents over incurring heavy expenditure on payment of dowry The recent law against dowry has no doubt improved the situation In the case of women enjoying economic freedom marriage is no longer an economic necessity but has become a matter of one of their choice This has broken off barriers of insular community outlook and is leading to happy intercaste and even inter-communal marriages This does not, however, mean that all educated girls of the middle and lower middle classes are hapily married Some young men still secretly desire dowry' some of the working girls are, therefore, compelled to remain unmarried notwithstanding the vigorous efforts of our social reformers and Government to stamp out this outmoded custom Then there are also the late marriages where girls marry wittingly or unwittingly married men with their wives living or dead In the new Hindu Marriage Act women are protected against polygamy

Threat to Family Life?

The women's emancipation has, however, been held to be responsible for the breaking up of the family ties Though there are many major causes for this, the desire of young educated couples to set up their own homes is regarded as one of the main causes The old family cultural pattern is destroyed, and with it the various virtues that joint families were believed to inculcate Further it is said that the present system of education which has still certain vestiges of western ideas, has given our women a western outlook that has made them individualistic, a quality considered altogether alien This new feature is alleged to be disrupting the older type of family because educated girls are becoming sophisticated and are no longer interested in the social and religious traditions either of the country or of the family They are caricatured as highly romantic persons who seem to be more fascinated by cheap and vulgar films and other exciting adventures rather than devoting their attention to useful work at home The social and cultural life of the family is, therefore, said to be in jeopardy While

this may be true to a certain extent, it has to be accepted that the modern young woman is caught between two worlds—a dying old world and the recently born one She is certainly adjusting herself to this situation She is often torn between the family life and the occupation she has taken up In her endeavour to overcome the stresses and strains of this life she is becoming both a mental and physical wreck Some are worried about these conditions There are others of course who feel that women's education is very essential for better progeny and for a better world These two groups represent two radical schools of thought and each has its own following

Considering the pessimistic assertions of one group, one would wonder whether developments have come to such a sorry pass It has, however, to be admitted that graduate wives taking jobs have created a problem of reconciling the rearing of family and the pursuit of a full-time occupation, for, children need to be given all attention and care Doctors have observed that children who have been intermittently left in the care of others have developed peptic ulcers, swelling of the feet and such other disorders So children should not be allowed to experience lack of love or inadequate parental attention

Children's Upbringing

At the same time psychologists tell us that there should not be too much of protection in the sense that children are not allowed to "outgrow their baby needs" They should be given a certain amount of independence Mother's dominance over them could never be beneficial to children Alva Myrdal and Viola Klien in their book *Women's Two Roles* say, "Between the scylla of rejection and the charybdis of overprotection the education of a child steers an uncertain course It is probably best for parents not to meditate over much on these dangers lest their natural confidence be destroyed by self-consciousness Since in the field of parental upbringing the extraordinary situation exists that the product is in a position to judge the producer as well as the process of production, it is almost futile to aim at perfection Once they are old enough to read psychological literature, many children will any way blame their parents for committing one or the other sins or both"

Prospects for Future

The other point of view that women's education is essential for better progeny and for a better world is and ought to be true, for all educational training is not expected to go waste Women as mothers have an important role to play Education for them is even more significant than for men, for they have the responsibility of raising the family and giving good education to their children, the citizens of tomorrow Education should be such as would help them do well both at home and in the community When India becomes highly industrialised as the United States and the United Kingdom, women will be able to manage both home and office with much less difficulty as there will be many new and improved household conveniences to help them save time and energy It is interesting to note, in this connection, the happy prophesy of John D Durand, in his article on 'Married Women in the Labour Force," that by the continual flow of the newly invented gadgets there will be a day when there will be no home as a place of work and housewives as a functional group of the population

Moreover, with the popularisation of family planning, work will be further reduced

And yet the problem remains the same, for, home and children are bound to be neglected and children if they are to grow well need a good deal of maternal attention —particularly the attention of an educated mother at that—as the cultural, moral and spiritual habits of men and women are determined in the early years by contact with the mother "So if the mother is educated," as Dr Radhakrishnan observes, "and is open-minded, inquiring and alert, looking behind rumour and tradition to find the facts concerned with the course of events, informed about the value of the world around her and interested in it and acquainted with history and literature and enjoying them, then her children will learn these interests and attitudes from her The educated conscientious mother who lives and works with her children in the home is the best teacher in the world of both character and intelligence In a society made up of such homes children starting to school already have a background of information, understanding and culture which results in their getting more benefit from school than otherwise would be possible"

Effects of Mechanization

But the crucial question is whether with the enormous leisure resulting from the use of labour saving devices, women will once again be tempted like our American sisters to sell their leisure either to save themselves from boredom or to earn more money? If they do, the problem of correct upbringing of children will become the responsibility of schools American schools are seriously contemplating on introducing a curriculum suited for this double role It was perhaps these consequences that made Gandhiji shudder at the thought of large-scale mechanisation Our future depends on the extent of industrialisation in the country and how far women protect themselves from mechanisation invading their homes

Use of Leisure

Presuming that educated women with plenty of leisure decide to stay at home and look after the house and give full attention to the upbringing of their children, there will still be the danger of their being frustrated if not bored, for, there will be no outlet for their education The meaning of their education will be lost and they will begin to lose interest in education and in the long run women will be as ignorant as they were a hundred years ago Women, therefore, must do some work, besides their domestic duties Such work could be a part-time job for two to three hours a day so as to bring her home early enough to discharge her domestic responsibilities If part-time jobs are assigned to all educated women, it will tie them to jobs of small significance where they will not be called upon to use their mental faculty If, on the other hand, women wished to be chief executives or doctors or lawyers they should be prepared for a career and the returns will be doubtless to their mental satisfaction and give them a sense of fulfilment But this takes us back to the problem posed at the outset

To get out of this vicious circle special education for women has been suggested as a sort of panacea Various opinions have been expressed on this question The controversy is over the value of special subjects for women—whether to limit the area of studies in view of the limited physical capacities of girls or to have an entirely separate curriculum for girls with home

science and allied subjects An entirely separate curriculum for girls forebodes many dangers Their knowledge will be limited to that of housekeeping and that will retard women's progress in India Practically it will mean a setback to women's education The nation will lose half of its human resources by restricting women's education to a limited field

This is not to argue against the introduction of special courses of studies for girls There can certainly be special courses provided there is no restriction on other subjects Women's taking special education can moreover never succeed in keeping woman bound to her home Emancipation and equality of rights with men will mean some interest for woman outside the home As the bearing and rearing of children are her responsibilities she will always find work at home As Miss Deighton Pollack says "Inspite of much progress towards equality, life remains and will probably remain more difficult for a woman than for a man" She will have to plan and adjust herself to these two important roles Facing the same dilemma in the United Kingdom, the Royal Commission on Population expressed the opinion that "It would be harmful all-round to the woman, the family and the community to attempt any restriction of the contribution that woman can make to the cultural and economic life of the nation It is true that there is often a real conflict between motherhood and a wholetime career Part of this conflict is inherent in the biological function of women, but part of it is artificial and the persistence of this artificial element tends to depress the status of motherhood into that of an inferior alternative to outside employment or public life We, therefore, welcome the removal of the marriage bar in such employments as teaching and the civil service and we think that a deliberate effort should be made to devise adjustment that would render it easier for women to combine motherhood and the care of a home with outside activities"

Hyderabad
5 August 1963

From the frequent episodes in the Upanishads in which the Brahmins are described as having gone to the Kshattriyas for the highest knowledge of philosophy, as well as from the disparateness of the Upanishad teachings from that of the general doctrines of the Brahmanas and from the allusions to the existence of philosophical speculations amongst the people in Pali works, it may be inferred that among the Kshattriyas in general there existed earnest philosophic enquiries which must be regarded as having exerted an important influence in the formation of the Upanishad doctrines There is thus some probability in the supposition that though the Upanishads are found directly incorporated with the Brahmanas it was not the production of the growth of Brahmanic dogmas alone, but that non-Brahmanic thought as well must have either set the Upanishad doctrines afoot, or have rendered fruitful assistance to their formulation and cultivation, though they achieved their culmination in the hands of the Brahmins

Surendranath Dasgupta *A History of Indian Philosophy*

SOME ASPECTS OF URBANIZATION IN BENGAL

MITRA GUHA

With the advent of British rule the rural economy in Bengal as elsewhere in India was severely shaken Agriculture was commercialised and artisans and merchants were deprived of their traditional avenues of earnings The population from the countryside migrated to new industrial centres and adopted new patterns of livelihood This process of urbanization brought about a change in human relationships also

THE process of urbanization in Bengal involves changes which have been impressed upon a rural autarchy Within this rural base there is a functional interdependence whose aim is self-sufficiency The pattern, consequently, is one of small agrarian communities interspersed with larger groups of artisans engaged in specific cottage industries Spatially this is composed of villages with single or multiple functions linked with the handicraft centres by a system of contact through weekly markets or seasonal fairs The former serve a cluster of few villages within the range of a small area, while the latter serve a wider field Such fairs are often connected with a religious occasion, but economically are most significant as the foci of exchange for several adjacent districts

Old Economy Changes

Change in this pattern of life has been effected in several ways But before we can study this in the concrete, it is necessary to understand some of the deeper factors involved A change of economy is the main background, and historically it is linked with Indo-British economic relations in the past two hundred years

By 1757, the British had succeeded in ousting other European competitors, and they exercised a monopoly in the trade of the country by means of extending their political power In the first stage of this process, agriculture was commercialised, and plantations of silk, indigo and the like became British monopoly It is interesting that the new trade also attracted Indian capital which occasionally formed an alliance with British capital However, a later policy of protection to British trade and enterprise displaced these Indian merchants, who were offered the bait of land instead by the Permanent Settlement This policy of protection also dealt a death-blow to the handicraft industries, and the artisans were deprived of their hereditary occupations The old Indian economy was severely dislocated The final stimulus to the reorientation of production centres in the new economy was given by the introduction of steam traction The population that migrated to these new centres showed selective tendencies based on the particular opportunities offered to them The Bolpur-Raipur-Ilambazar area offers a suitable illustration in this respect

Bolpur-Raipur-Ilambazar

This area lies along the northern bank of the Ajay river which forms the southern boundary of Birbhum district The river

bank at one time was lined by several trading stations like Supur, Raipur and Ilambazar The importance of the river was as a means of transit towards Katwa on the Ganges When the *diwani* of this area was ceded to the East India Company in 1765, commercial enterprise in the hands of the British began and the investment in a silk monopoly was as high as 4½ to 6½ lakhs of rupees Indigo cultivation was introduced by a British agent, John Cheap, and factories were established at Surul and Supur

A member of a prosperous Bengali Kayastha family of Raipur, Shyamkishore Sinha, served as an agent to the East India Company and supplied textiles to John Cheap for export to Europe Sitikantha, a grandson of Shyamkishore also entered into partnership with Henry Erskine in an indigo factory near Raipur In identifying their fortunes with the East India Company, the family amassed great wealth and soon became zamindars or landlords The sons of Sitikantha were sent to England for education One of them became a lawyer and was the first Indian to be raised to the British Peerage Other family members, subsequently, received English education and rotated to the city of Calcutta with employment in the various professions offered there *

The indigo industry declined, however, on account of competition from synthetic dyes produced more cheaply in Germany So that by the end of the 19th Century all the factories closed down, and the erstwhile flourishing centres of Surul and Supur declined At this time a new factor emerged which left its impress in a further shift of location of urban centres In 1855, the East Indian Railway constructed a shorter route connecting Bengal with the regions of northern India, and this railway cut across the Ajay in a north-south alignment The district of Birbhum has always been a good producer of surplus rice, and during the first world war, when the price of rice rose, rice-milling became a very profitable enterprise New centres of rice milling grew along the railway line, like Gushkara, Bolpur, Ahmedpur and Sainthia Bolpur, in particular, was raised from its insignificant position of a small village, six miles east of the old indigo centre of Supur, to its present importance as the foremost rice-trading centre in the region A good sized labour population has come into the town, while a seasonal influx of Santhals, who work during the sowing and the harvesting periods, is characteristic of the countryside Bolpur itself has grown very rapidly in fifty years, from a population of 3,831 in 1901 to 14,802 in 1951 The built-up area has spread from a small nucleus in the south, on the road to Ilambazar, in all directions northwards, engulfing neighbouring villages like Bandgora and Trisuliapatti within its municipal confines

Adra-Raghunathpur

Let us now take an example of a change in the character of livelihood pattern, caused by the development of a railway town in a predominantly rural area Raghunathpur which is a very old village in the Manbhum district was the headquarters of the Raja of Panchet Historically, it appears as a small *chatti* or post-station on the Gaya-Benares

* Nirmal Kumar Bose *Modern Bengal*, 1959, Pp 20 to 23

† T , area was collected by Kun , of the Department of Geography, Calcutta University

road from Bengal Sri Chaitanya (1485-1533) used this route when he made the pilgrimage to Gaya on foot To the south and east of Raghunathpur are several small villages which are also very old There are many brick temples in the Vishnupur style in the four villages of the Arrah mouza on the east, and they are situated on the route to Bankura and Burdwan The original population of the region was made up of the following the Raja of Panchet had settled five Brahmins from Kanauj (U P) to act as tax-collectors as well as priests giving them land in the Arrah mouza The Brahmin families of today claim descent from these The Bauri caste was the original population here, and they were appointed as palanquin-bearers by the Raja Besides these, there were also the other castes like blacksmith, potter, fisherman, carpenter and oil-presser, each following his own profession

The presence of important ore deposits in the neighbourhood, also in the Joychandi Pahar in Raghunathpur, brought about a new design in economic utilization of the area With a view to making industrial use of these raw materials in the future a railway was built across the region to connect the ore producing regions of Singhbhum with the coal of Raniganj and Barakar A new railway town named Adra was established between the mouzas of Kashipur and Arrah, and this has brought about a general change in the livelihood pattern of the population

The railway settlement has physically extended into two small *tolas* of Kashipur and Arrah—Palashkitola and Panchudanga Opportunities for employment in the railway workshops have drawn the neighbouring people into the new town Agricultural activity has languished to a great extent as have also the old caste occupations The Bauris are employed as coolie labour or as class IV staff in the railway The Brahmins who have lost much of their land by the abolition of the zamindari system work as railway office staff or as clerks in the Jharia coal field The blacksmiths and the carpenters have given up their caste occupations and are employed as railway fitters and welders and railway workshop carpenters Likewise, the oilpressers have found occupation in the railway, while the Marwari businessmen from Asansol and Raniganj have moved into the sphere of trade Thus there has occurred a revolutionary alteration in the caste occupations A very small part of the population still lives by agriculture, while in each family about 75 per cent of the members have been converted into wage-earners in the railway and the mines

Rishra

The third example is one of a purely industrial unit in the dense ribbon of continued urbanization on either side of the Hooghly river. Bipradas who wrote the *Manasa Mangal* in 1495 A D gives an account of the villages on either side of the Hooghly river On the river bank below Triveni there is mention of Saptagram, Kumarhatta (Halisahar), Hughli, Bhatpara, Boro (a locality which now lies within the territory of Chandernagore), Kankinara Mulajore, Garulia, Telinipara, Bhadreswar, Champdani, Ichapur, the Dviganga (Baidyabati Khal), Ramnan Akna Mahesh Rishra, Konnagar, Kotrung, Chanak, Sukchar, Kamarhati, Ariadaha, Ghusuri and finally Chitpur with the temple of Sarvamangala Devi Along this reach in the river the commercial interests of the East India

Company had become consolidated at Calcutta in the 18th century, in the nucleus which Job Charnock built at the site of Sutanuti, Govindapur and Kalikata A marked change was brought about in these villages which were either centres of Brahmin learning, small markets, trading settlements, or weaving centres and so on, within the rural atmosphere of the river's banks This was effected by a rapid development of industry

By about the middle of the 19th century the value of jute fibre as a packing medium in bulk commodity trade was realised Bengal held sole monopoly in this crop, so it was natural that jute milling was located along the river bank From the first mill established at Rishra in 1855 by 1940 there were 101 mills within the Hooghly side A careful examination of Rishra will explain the processes of urban growth more clearly

As a village, Rishra had the advantage of proximity to the adjacent village of Mahesh which was well-known for its car festival Rishra itself was famed for its betel gardens The old quarters of the present-day town, wards three and four, are marked by tortuous and narrow lanes only 2½ yards wide amidst a well built-up area There are three caste-wards within this, Baruipara, the Baruis being betel cultivators by tradition; Dhenkipara, the Dhenkis also being betel cultivators, and Chasapara, these being cultivators too So the character of the old village was that of a community dependent on specialized agriculture Upon this was imposed the industrial pattern Rishra was part of the Serampore municipality until 1865, and it was only after the railway station was opened in 1900, that it mainly grew A scrutiny of the development of the factory units will be of interest in this connection

Name of industrial unit	*Year of establishment*	*Number of employees*
Wellington Jute Mill	1855	3,861
Hastings Jute Mill	1876	4,500
Presidency Jute Mill	—	—
ACCI (ICI)	1931	1,400
Jayashree Textiles	1944	3,000
Shree Ram Silk Manufacturing Company Limited	1948	300
United Vegetable Manufacturing Company	1948	—
Calcutta Phosphate Company Limited	1948	—
Luxmi Narayan Cotton Mills	1952	1,100
J K Steel	1952	—
Bengal Wire Netting Factory	1952	—
Shree Engineering Products	1960	300
Govind Steel Company Limited	1962	300
Shree Dayal Porcelain Works	1962	—

Industrial development began with jute milling, and was responsible for an immigration of a large labour population An industrial tradition being already established, it was relatively easy to start other groups of industries The major development has taken place after independence, and the emphasis seems to be on the production of metallurgical goods of light types But the main point of observation is that the latter industries are found located either side of the railway line, while the jute mills with a river side location show the importance of the Hooghly river as a means of transport Presidency Jute Mill, situated on the

grand trunk road is a concern of later origin but it has its own jetty on the river for the transit of the raw materials It is interesting to note that 11 of the industrial concerns are in the hands of capitalists from outside Bengal Some of these were originally British, but were subsequently transferred to Indian hands

Recruitment of Labour

Physically, this industrial set-up has resulted in the segregation of population Where land is not occupied by industry, in wards one and two there are *bustees* housing labour Within the industrial sites themselves are quarters for executives, labour lines and the factory The land devoted to betel plantation has decreased greatly, most of it now is given over to industrial use The labour population, in the main non-Bengali, comes from Andhra (women recruits) Bihar, Uttar Pradesh and Orissa and is usually recruited from several castes The method of recruitment is as follows The mill maintains contact through a jobber, who may be an employee of the concern, and he is responsible for the recruitment of raw hands from the villages Naturally, he brings people from his native village, who are often connected by family ties For his services he charges a small fee to the labour he recruits Most of the hands thus brought in are unskilled and are then given apprentice training There are usually several such jobbers in the different sections of the industrial concerns But in the case of larger industrial units and where skilled labour is required, the method of recruitment is through a labour recruiting officer who is a paid employee of the concern

Labour recruited in the former way shows a community structure with strong village ties Often a particular skilled group has a traditional background of technical knowledge, as in the case of the weavers in the textile mills, who are all Muslim artisans from Uttar Pradesh Whatever may be the background for the immigration of the labour population it shows distinct preferences for grouping When not provided with mill housing, this population gravitates towards its own group in 'mohallas' composed of people from Chapra, or Ballia or Patna, or Gorakhpur, or Partabgarh and so on Mutual aid in times of crises, or on particular social functions like the festival of holi or muharram demarcates these distinctivenesses more clearly Yet during labour disputes between employer and employee the trade union cuts across these divisions and creates a fresh pattern of loyalties

Of the original Barui, Dhenki and Chasa population, only 20 families are still engaged in cultivation, while the rest are employed in factories The Bengali population finds employment as office staff in the industrial units, and is recruited locally or from Serampore, Konnagar and Chandernagore The economic stratification is placed thus Labour—non-Bengali, office-staff—Bengali, executives—non-Bengali

Social Segregation

Social segregation, as in the case of the labour group, is found at higher levels also For example, a women's association, Rishra Mahila Mandal, is composed of wives of executives from the industrial units in the neighbourhood There are altogether 36 members, of whom only three are Bengali, the president and secretary both being non-Bengali In the second instance, the Rotary Club, which represents an area from Bally to

Baidyabati is composed of professional executives from industries ranging from jute-milling to automobile manufacturing The total number of members is 21, of whom four are Bengali, while the president is a non-Bengali

New Economic Stratification

The changing economic pattern has led to the evolution of a new functional order in the spatial distribution of urban organization The population character also has undergone a complete change The wage-earner, in the new economic stratification, has invaded the scene of production, and the community interests show a variety of forms Some of these have not been freed by the urbanization as in the case of the labour groups in Rishra, where zilla loyalties still persist The new structure and functions of urbanism have thus initiated a process of change in the patterns of human relationships, in which earlier ties of caste, village or district are slowly subjected to disintegration.

Calcutta
17 August 1963

A born democrat is a born disciplinarian Democracy comes naturally to him who is habituated normally to yield willing obedience to all laws, human or divine I claim to be a democrat both by instinct and training Let those who are ambitious to serve democracy qualify themselves by satisfying first this acid test of democracy Moreover, a democrat must be utterly selfless He must think and dream not in terms of self or party but only of democracy Only then does he acquire the right of civil disobedience. I do not want anybody to give up his convictions or to suppress himself I do not believe that a healthy and honest difference of opinion will injure our cause But opportunism, camouflage or patched up compromises certainly will If you must dissent, you should take care that your opinions voice your innermost convictions and are not intended merely as a convenient party cry

Mahatma Gandhi

TOWARDS ECONOMIC SEED COLLECTION

P V SHRIKANTA RAO

Seed collection should be organised in such a way that the seed collector is assured of a proper income and those who have to use those seeds for industrial and other purposes find their product economical

IT is now about five years since there has been a greater realization of the need for conserving the non-edible oilseeds wealth in the country although the programme for the development of non-edible oils and soap industry was launched about 10 years ago by the erstwhile All India Khadi and Village Industries Board Though quite a number of steps were taken and incentives offered for proper collection, storage and processing of these seeds, the response for "qualitative collection" was rather slow in the initial stages "Qualitative collection" has to be aimed at taking due notice of the two main mutually contradictory factors, namely, that the seed collector has to be ensured of a proper income and that the economics of the operation of processing of seeds should be acceptable to those who use the seeds for industrial or other purposes It is no simple task to balance these two factors An answer to this problem may have to be found by simplifying the technology to suit our method of working Use of power to any degree required to quicken the process should be profitably resorted to wherever possible The time factor is an important aspect in all the activities

Increasing Earnings for Season

As it is today, the bulk of seed collectors are entities varying with seasons Efforts should be made to see that the seed collectors as well as those engaged in the processing do this work year after year In certain areas large quantities of seeds are collected or large number of people come forward and receive substantial amounts of money as wages in a short period (say a month), though this is an achievement from the point of view of providing additional earnings to families whose incomes are very scanty, this alone cannot lay the strong foundation which is so vital for any industrial activity The length of the seed collection season may not be so important a factor as the total earnings of the individual for the season The problem is to see that these earnings are improved considerably The organisational structure will have to be so geared as to ensure the fulfilment of this objective

Seed in Storage

The first and foremost thing is to realize that the term is 'seed collection', although it is the fruit which is first picked when ripe The use of the word 'seed' is significant in the sense that it is the seed which can be stored for long periods Hence, the need to convert the fruit into seed If in some cases, seed cannot be stored, then the kernel will be the seed for practical purposes, but in no case the 'fruit' can be 'seed'

When the aim is "qualitative collection"

of seeds the cost of collection should be reasonably economic By 'reasonably economic' is meant that a cost structure should have to be worked out in detail for different species and regions keeping in mind its effect upon the end product This is possible when the cost of the end product is not susceptible to variations in the prices of established oilseeds and oils But it is another question whether the price which a farmer gets for his oilseeds is the proper one, taking into account the normal standards of costing, the investments in the form of resources of labour and time

Success in seed collection has to be gauged from the extent to which the methodology has been able to convert the fresh 'fruit collection' into 'seed in storage' 'Seed in storage' is a significant phrase which indicates not only seeds collected in large quantities, but also seeds of such a quality that they can be retained in good condition for long periods This has significance in the sense that the seed stocks should be capable of yielding quality oil that is their oil content should be optimum and the percentage of moisture and free acid should not exceed the critical proportions allowed from the chemical standpoint

Flow Chart. Tree to Oil

The following is the flow chart indicating the primary product and the end product at each stage
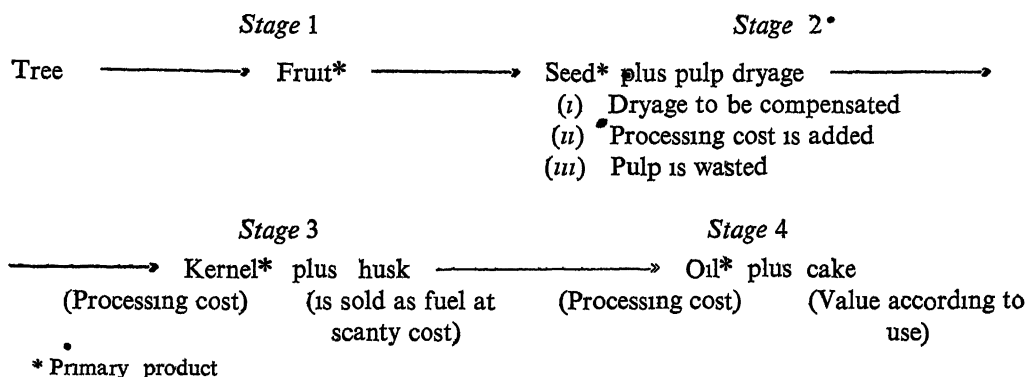
The tree is the primary source yielding fruits The fruits are in bunches and found at the end of branches They fall down from the tree as they become ripe and sometimes even the half-ripe and unripe ones get detached from the bunches on account of strong wind or storm It takes three to four weeks, at times, even more, for all the fruits to ripen and fall to the ground The ideal condition should imply picking all the fruits direct from the tree But since the tree is sometimes very tall, and the fruit bunches are at the peripheries it is not possible to collect them by climbing the tree as the end branches are not strong enough to bear the weight of a man Long bamboos with scythes could be used in the case of medium trees But this is apt to cause damage to the tree Hence, collection has to be made when the fruits fall to the ground naturally Cleaning the floor and hand-picking of fruits will eliminate the external impurities which cannot be avoided

by resorting to collection by sweeping the ground

Quality Collection

Hand picking of fruits should be practised as it is the ideal method whereas the sweeping method is bound to lead to inclusion of foreign material in the collection. This foreign material like stones, twigs and dirt besides raising the cost, has a bad effect upon the fruits if they are allowed to remain in the same condition for sometime. Unripe fruits fall on the ground either because of wind or as part of the bunches of fruits detached from the tree. The colour of the ripe fruit (yellow) is different from that of the unripe one which is somewhat greenish. A discerning eye can easily distinguish this by observing different varieties of fruits. In commercial collection it may be difficult to separate them as it is a time-consuming process.

Seeds of fruits which have their shells damaged, allow air and moisture to penetrate and affect the kernel. The kernel is oxidised and becomes rancid. Hence, care should be taken to see that the shell is not damaged.

The soiled fruit indicates that the pulp has been exposed to dirt and the shell inside may be damaged. Whenever there is storm or rain the fruits which have fallen on the ground, generally get soiled. These have to be washed with water and dried soon. But the best thing is to depulp them immediately. Soaking the fruits in water eliminates such of the extraneous materials which are heavier than water whereas others remain floating with the fruits. Sieves can be used profitably to remove these.

Steps should, therefore, be taken in the field, at the time of collection to ensure "qualitative collection". This requires an extension training programme which has to be conducted under patient and expert guidance. It offers ample scope for a study of problems directly connected with the people in the area. If at least this is achieved, the collection of quality fruits is more or less ensured.

The processes of depulping, drying, decortication, winnowing and oil extraction depend upon the technology, methodology, techniques, equipment, machinery and technical ability of the persons concerned.

Use of Bye-Products

There is also enough scope for exploring the possibilities of using the various bye-products obtained in the process, i.e. the different parts of the fruits collected. Taking neem fruit, for instance, the following flow chart shows products and processes at different stages of the activity.
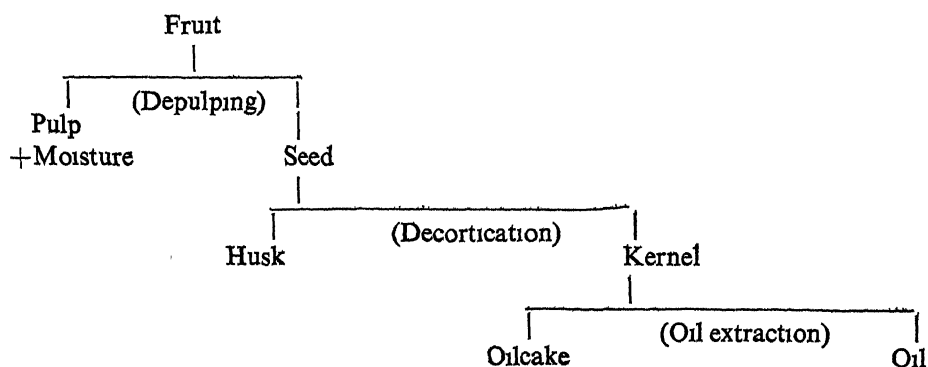
In the first stage, the fruit is depulped and dried The cost incurred on depulping the fruit can be offset if some use is found for the pulp which the fruit yields To the extent it can be done, the investment on seed collection is reduced Similarly, to the extent the economic value of husk and oilcake, the bye-products at the later stages, can be recovered the price of oil the final product, can be controlled

The cost of processing at each stage—pulping, decoration and oil-extraction—should be minimised For this purpose the machines and the tools should be efficient so as to ensure optimum output in minimum time

Developing the Skill

Along with the fabrication of the equipment and tools, the ability to operate them to advantage to secure optimum yield at each stage of the processes involved has also to be ensured For this purpose, adequate facilities to train persons have also to be provided There should be a planned programme for introducing improved equipments, techniques and methodology so that the persons who are to utilise them should be able to assimilate the new trends In this context the steps taken to study the present methodology in vogue and investigate possibilities of introducing improvements in them rather than adopting newer ones will be efforts in the right direction It will thus be easier, after some time, to introduce improved and newer equipments and techniques The seed processing observation units set up by the Directorate of Non-edible Oils and Soap Industry of the Khadi and Village Industries Commission is a right step in this direction These (S P O) units have been helpful in providing the basic data regarding the methods in vogue

Inspite of the precautions taken, there are possibilities of some of the impurities being retained in the product at each stage The ideal 'fruit' or 'seed' or 'kernel' should be defined with a permissible percentage of impurities This will facilitate determining the quality of lots of fruits or seed collected Prices to be paid for the fruits or seeds should be governed by the quality There is no common norm for the whole country at present It varies from region to region But a common norm has to be determined The data collected by the seed processing observation units can guide us in this direction

Sociological Aspects

There are other aspects also to the problem of economic seed collection With all efforts made to ensure optimum conditions, qualitatively and quantitatively, as well as technologically, it cannot be taken for granted that results could be achieved according to expectations There is always the element of 'lag behind' when the methodology is applied in the field for the simple reason that the entire follow-up will rest ultimately upon the local persons There is always the personal factor in the collection and processing activity, depending upon the receptivity and applicability of the standard techniques by the local people Besides, it should be remembered that seed collection is a dependent function of natural phenomenon and the vagaries of nature upon which it is difficult to exercise control under normal conditions

Unlike agricultural operations, where the farmer sets himself with certain known factors like the extent and type of land,

available his capacity to cultivate it and then take care of the crop till the time of harvesting when he knows also the approximate yield these non-edible oilseed bearing trees are scattered all over and one has to move from place to place tree to tree, in order to tap and muster the entire resource

Reduces Pressure on Land

Of the total estimated wealth of non-edible oilseeds neem accounts for approximately half of it Taking this at five lakh tons of fresh fruits the value comes to about three crores of rupees In all from all non-edible oilseeds over two lakh tons of non-edible oils worth Rs 28 crores can be obtained besides at least 4 lakh tons of oilcakes which can be used as manure for agriculture An acre of groundnut crop is estimated to yield about 200 lbs of oil Two lakh tons of non-edible oil will be equivalent to 22 4 lakh acres of groundnut crop The estimated 4 lakh tons of oilcake can be used as manure for four lakh acres of paddy and sugar-cane crop

Hence the need of the hour is to take steps for fully exploiting this resource of non-edible oilseeds The reasons for our inability to reach the targets have to be analysed These may be psychological, sociological or technical Illiteracy inhibitions to take up the programme lack of sufficient pecuniary allurements paucity of finances and lack of economic leadership may be some of them These will have to be tackled on a war-footing The strength of our organisation will lie in our preparedness to set right squarely even the smallest fault in our working and our success will depend on the extent to which the programme takes firm roots in the soil

Bombay
27 August 1963

We are grateful to our readers and contributors who so enthusiastically responded to our invitation for articles for the Annual Number of Khadi Gramodyog **We regret our inability to include all the contributions in the Annual Number due to pressure on space. We hope, however, to be able to publish them in future issues of** Khadi Gramodyog.—**Editor**

DILEMMA OF PROSPERITY*

SUBHASH CHANDRA SARKER

THE journey of man through the thousands of years since his first emergence on the earth has been an arduous one, full of constant struggle and hard toil for survival Most of human energy had to be spent in securing the necessities of life Nobody could live in comfort without compelling many others to remain in suffering because the total fund of available supplies was very much limited and could not be augmented Where few were rich many had to be poor Until recently this was true of all peoples in all lands The industrial revolution for the first time opened out possibilities whereby nations could produce enough not only to meet their needs but also to yield a large surplus Technological developments have made poverty and inequality irrelevant, since neither of these evils is a necessity That application of modern technology can wipe out poverty to a considerable extent has been demonstrated in more than one country Similarly, there need be no inequality since it is now possible to produce enough for everybody to have as much as he would

Continuing Rich-Poor Disparity

Unfortunately these possibilities have not so far been realized in practice universally The large mass of humanity still lives in dire poverty and inequality has not disappeared even in the most plentiful country in the world The geographical distribution of poverty and the character of inequality in the most prosperous countries are of considerable significance About half of the world's population enjoys only 16 per cent of the total world income, on the other side of the scale only 15 2 per cent of the population appropriates as much as fortyfive per cent of the total world income (28 per cent of the total income accruing to as few as 7 7 per cent of the population) As if this was not bad enough, per capita income in poorer countries is known to be growing at a slower rate than in the richer countries so that the divergence between the rich and poor countries is becoming increasingly pronounced Nationally also in many countries this international trend of greater divergence between different income groups has become gradually pronounced So that, despite technological possibilities to the contrary, prosperity has remained exceptional as much in the national sphere as in the international sphere

This is an abnormal situation and must be remedied urgently for the sake of a happy future for man The problem has two facets—one national and the other international Within every nation all efforts should be made to raise the standard of living of the masses and to reduce inequality In the particular context of the present-day world, where the countries have to face a worldwide competition, it is by no means easy to achieve this objective Many coun-

* *America and the World Revolution* by Arnold Toynbee, Oxford University Press, London, 1962 Pp 77, 12 s 6 d

tries find it exceedingly difficult to bring modern technology to the service of the people first because they do not possess the knowhow and do not command, immediately, the wherewithals with which to purchase the knowledge which, being in great demand, is selling a little dearer than it ought to, in the international market, and second, because the competition not only between the developed and the underdeveloped countries but also between the underdeveloped countries themselves has been becoming keener day by day, affecting the capacity of the latter to develop To make the second point clear, the India-China conflict has decidedly affected India's pace of growth, as the Soviet-Chinese conflict China's rate of growth Which leads to the second facet of the problem by underlining the need for international cooperation The more prosperous nations can make useful contribution in a number of ways In the modern world two colossi—the USA and the USSR—are striding the face of the earth Disarmament by the Western Powers and the USSR alone could release vast sums and energy for world welfare, it "would relieve the rich nations of their present fear and the poor nations of their present want" (p 71)

Isolation through Affluence

Dr Arnold Toynbee, in his three public lectures delivered at the University of Pennsylvania in the spring of 1961 which are brought together in the present volume, has dealt with the role of the USA, which commands a gigantic productive force, in the modern world How far has the USA sized up her responsibilities in the contemporary world and fulfilled these responsibilities? The USA, Dr Toynbee says, has not acted up to her responsibilities Although the American War of Independence had evoked a worldwide appeal, the USA, now grown rich, is not enthusiastic about that response which has ushered in an era of revolution throughout the world creating a stir among the down-trodden peasantry everywhere America, to quote Dr Toynbee, "has joined the minority" (p 17) and has "felt herself impelled to defend the wealth that she had now gained against the mounting revolutionary forces that she herself had first called into existence" (p 18)

Wealth had caused that isolation (It could also be caused by caste, Dr Toynbee, has mentioned an Indian Hindu brahmin professor who avoided taking food with him because he was a non-Hindu Christian) By 1924 the USA had closed its doors to others through the passing of the immigration laws which restricted the immigration of Europeans as well (the Asians never had any freedom of settlement in the USA) "This self-insulation is the inevitable penalty of finding that one has become rich and then taking steps to protect one's new found well-being" (pp 24-25) Yet, what is the nature of that well-being? The present day consumption in the USA was far in excess of people's genuine personal wants ("Our wants are vastly greater than our needs, even when our wants are not inflated by the artificial stimuli of advertising agencies") (p 69) And the wants have been magnified many times more by the advertising industry which had to find out new ways of keeping the vast productive forces, which could not find the natural outlet of producing the necessities for the general welfare and had turned to the production of less

essential commodities, moving "The measure of the difference, in the United States, between genuine wants and actual consumption is given by the scale of the wants manufacturing industry that is carried on today on Madison Avenue (where the leading advertising houses are situated)", Dr Toynbee writes (p 56) The result has not been quite happy

Limitation of Wants a Necessity

Some limitation of this ever-increasing want has become a vital necessity "American way of life is due for a check-up", Dr Toynbee warns, (p 67) because it does not help in realizing the true end of man which is the pursuit of spiritual aims While man's survival depends on the satisfaction of the necessities, seeking satisfaction of wants that are not primary needs cannot be properly made the prime mover in life It is spirituality which makes man human The opening out of possibilities of the eradication of poverty from the face of the earth has brightened the prospects of realizing these spiritual potentialities by making the satisfaction of basic needs much easier than before Starving men, when given food, are prone to glut themselves, but gluttony is not edifying or healthy. If the Americans, being the first people to attain affluence, should have been tempted in the first generation to surfeit themselves with consumer goods, it is not difficult to understand that But like gluttony this indulgence is also not healthy and as such is not desirable, it is bound to give way to sanity "I fancy", Dr Toynbee says, "that future generations in the West will look back on this episode of western history with astonishment mingled with disgust" (p 76)

The analysis of the world's greatest living historian deserves to be pondered over with all the seriousness Dr Toynbee was addressing an American audience and had therefore selected the American example to illustrate his point But every nation must apply the analysis to its own sphere so as to rectify its conduct Gluttony, whether American or Indian, is going to produce the same ill results Nothing would be more misleading than to believe that less prosperous countries need not bother about conspicuous consumption We know in India that despite all the grinding poverty, conspicuous consumption has already become a vice The American through his lone efforts cannot eradicate gluttony and inequality, he must have the cooperation of other national groups A great responsibility devolves on the less prosperous societies in this regard In a way, being far removed from the luxuries of the American way of life (which Dr Toynbee defines as the way of luxurious living), the people in the underdeveloped countries are in a better position since they can learn from that experience and avoid the mistakes of an advertisement-run society of artificial wants To us Indians, who have the teachings of generations of sages and philosophers, the philosophy of satiation was for long part of the way of life Of late, however, there have been in practice marked deviations from this cherished practice What is needed is the adoption of concrete steps to ensure its full realization in practice

Bombay
2 September 1963